ओ३म्

सामवेदभाष्यम्

(प्रथमो भागः)

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

सम्पादक :
परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट
हिण्डौन सिटी (राज०) ३२२२३०

श्री गोविन्दार्यजी 'निशात', ई-८/४१, भरतनगर, शाहपुरा, भोपाल (म०प्र०)
द्वारा प्रदत्त पचास सहस्र की धरोहर राशि के अंशदान द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशक : श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी (राजस्थान)

संस्करण : प्रथम, १ जनवरी, २००५ श्री प्रहलादकुमार आर्य जन्मदिवस

विक्रमसंवत् : २०६१

मूल्य : ३५०/- रु० (दोनों भाग)

मुद्रक : राधा प्रेस
कैलाशनगर, दिल्ली-३१

प्रस्तावना

वेद परमात्मा-प्रदत्त वैदिक ज्ञान है। पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग पूर्ण पैदा होते हैं। उनका ज्ञान स्वाभाविक होता है। मनुष्य अपूर्ण उत्पन्न होता है। उसका ज्ञान नैमित्तिक होता है। सृष्टि के आदि में मनुष्य को ज्ञान किसने दिया ? नि:सन्देह जगद् गुरु परमपिता परमात्मा ने। योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥ —योगदर्शन १.२६

वह परमात्मा पूर्व ऋषियों का भी गुरु है। और गुरु तो काल के कराल गाल में समा जाते हैं, परन्तु वह परमेश्वर तो काल का भी काल है।

यह संसार विधि है और वेद परमात्मा द्वारा प्रदत्त उसका विधान है। हम इस संसार में कैसे रहें ? हमारा अपने प्रति क्या कर्त्तव्य है ? हमारा दूसरों—परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के प्रति क्या कर्त्तव्य है ? हमारा ईश्वर के साथ क्या सम्बन्ध है ? हम परमात्मा की उपासना क्यों करें, कैसे करें, कहाँ करें—आदि सभी बातों का समाधान हमें वेद से प्राप्त होगा। इन सब बातों को जानने के लिए वेद का पठन-पाठन अत्यावश्यक है।

वेद चार हैं—**ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद** और **अथर्ववेद।**

आकार की दृष्टि से सामवेद सबसे छोटा है। इसमें केवल १८७५ मन्त्र हैं। गौरव और महत्त्व की दृष्टि से यह किसी भी वेद से कम नहीं है। ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड है, यजुर्वेद कर्मकाण्ड है सामवेद उपासनाकाण्ड है और अथर्ववेद विज्ञानकाण्ड है।

जीवन का चरम और परम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है। सामवेद बहुत विस्तार के साथ इसी लक्ष्य की ओर इङ्गित करता है। सामवेद में सङ्केतरूप में योग के सभी अङ्गों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—सभी का विवेचन है। योगाभ्यास कहाँ करें ? क्यों करें, कैसे करें—आदि सभी तत्त्वों का विवेचन है। श्री कृष्णजी इस वेद पर मोहित थे, इसलिए उन्होंने कहा—

वेदानां सामवेदोऽस्मि। —गीता १०.२२

अर्थात् वेदों में मैं सामवेद हूँ।

सामवेद की प्रशंसा में छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है—

ऋचः साम रसः। —छान्दोग्य० १.१.२

अर्थात् साम ऋचाओं का सार है।

तैत्तिरिय उपनिषद् के अनुसार ईश्वर-साक्षात्कार से कृतकृत्य जीवन्मुक्त पुरुष अपने आत्मानन्द की अभिव्यक्ति सामगान से ही करता है—

एतत् साम गायन्नास्ते, हा३उ हा३उ हा३उ इति।

अर्थात् अहो भाग्यम्, अहो ज्ञानम्, अहो ज्ञानम्।

स्वरचिह्न—सामवेद के मन्त्रों पर १, २, ३ आदि जो अङ्क दिये हुए हैं, उनका गान से कोई

सम्बन्ध नहीं है। वे उदात्त आदि स्वरों के चिह्न हैं। सामवेद के अतिरिक्त अन्य वेद में अनुदात्त आदि स्वर वर्णों के नीचे पड़ी [—] और खड़ी [।] रेखाओं से दिखलाये जाते हैं, परन्तु सामवेद के मन्त्रों में रेखाओं के स्थान पर अङ्कों का प्रयोग किया जाता है, जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उदात्त स्वर के लिए अक्षर के ऊपर '१' अङ्क लिखा जाता है, अनुदात्त के लिए '३' का अङ्क और स्वरित के लिए '२' का अङ्क लिखा जाता है। जिस अक्षर पर ये अङ्क न हों, उनका प्रचय स्वर होता है। ऋचा का अन्तिम उदात्त '२' अङ्क से दिखाया जाता है। कुछ वर्णों पर '२र' इत्यादि भी देखे जाते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—क्रमशः दो उदात्त वर्ण होने पर पहला उदात्त '१' अङ्क से दिखाया जाता है, दूसरे उदात्त के लिए कोई चिह्न नहीं होता, परन्तु उसके बाद के स्वरित को '२र' से दिखाया जाता है। अनुदात्त के पश्चात् स्वरित आने पर उसे भी '२र' से ही चिह्नित किया जाता है, किन्तु इसके पूर्व के अनुदात्त वर्ण पर '३क' का चिह्न दिखाया जाता है। क्रमशः दो उदात्त वर्णों के पश्चात् यदि अनुदात्त वर्ण आता हो तो पहले उदात्त वर्ण पर '२उ' यह चिह्न दिखाया जाता है और दूसरे उदात्त पर कोई चिह्न नहीं होता।

सामवेद मन्त्रसंख्या की दृष्टि से सबसे छोटा है, कदाचित् इसीलिए सामवेद पर अनेक व्यक्तियों ने भाष्य किये हैं। उनमें दो-चार को छोड़कर कुछ तो व्यर्थ ही हैं, उदाहरण के रूप में श्रीराम शर्मा का भाष्य ऐसा ही है। उनका तो सारा भाष्य ही कूड़ा है। अंग्रेज़ी के भाष्य भी गौरवपूर्ण नहीं है। कहीं-कहीं तो सिद्धान्तविरुद्ध हैं, कहीं-कहीं अर्थ सर्वथा निरर्थक हैं।

पं० हरिशरणजी का भाष्य अत्युत्तम है। यह सरल है, व्याकरण के अनुकूल है और गौरवपूर्ण है। इसे पढ़कर पाठक को वेद के महत्त्व और गुण-गरिमा का ज्ञान होगा। इस भाष्य में वेद की गहराई तक उतरने का प्रयत्न किया गया है। कुछ ऐसे तत्त्वों को उजागर किया है, जो अन्य किसी भाष्य में देखने को नहीं मिलेंगे। पढ़िए, वेद-सागर में गोते लगाइए, मोतियाँ लाइए। वेद की शिक्षाओं को जीवन में धारण करके अपने जीवन को सुजीवन बनाइए। स्वयं चमको और दूसरों को चमकाओ। ज्योतिष्मान् बनो और सर्वत्र ज्योति फैलाओ।

विदुषामनुचरः
(स्वामी) जगदीश्वरानन्द सरस्वती
१८.११.२००१

वेद-मन्दिर
इब्राहीमपुर, दिल्ली-११० ०३६
दूरभाष : ७२०२२४९

ओ३म्

प्रारम्भिक वक्तव्य

प्रिय पाठको !

प्रभुकृपा से यह सामवेद का भाष्य सम्पन्न हो पाया है। आर्यसमाज रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली के उत्साह से यह प्रकाशित होकर आपके सम्मुख प्रस्तुत है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद के भाष्य भी सम्पन्न होकर तैयार हैं। 'पाठकों की सहायता व उत्साह से वे भी शीघ्र छप सकेंगे,' ऐसी हमें पूर्ण आशा है। अपनी ओर से हमने यह प्रयत्न किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि 'समझ में नहीं आया और विद्वान् यह न कह सके कि 'यह व्याकरण के दृष्टिकोण से ठीक नहीं है'।

अपने से पूर्व के सब भाष्यकारों के प्रति तो हम कृतज्ञता प्रकट करते ही हैं। उनके भाष्यों से जो साहाय्य प्राप्त हुआ है, उसे भूलना तो सम्भव ही नहीं। साथ ही महर्षि दयानन्द को इस अवसर पर याद न करना सबसे अधिक कृतघ्नता की बात होगी। वस्तुतः उन्होंने ही वेदार्थ करने का ठीक मार्ग हम सबको दर्शाया है। उनका ऋण हम एक ही प्रकार से उतार सकते हैं और वह इस प्रकार कि हम प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय करें—इसके पढ़ने को पुण्य-पाठ समझें। आचार्य के शब्दों में यही परमधर्म है।

अन्त में सब विद्वानों से यही निवेदन है कि इसे पढ़ने पर वे जो भी निर्माणात्मक सुझाव देने का अनुग्रह करेंगे, तदर्थ हम उनके आभारी होंगे।

आपके सौहार्द का आकांक्षी

हरिशरण

॥ ओ३म् ॥

सामवेदभाष्यम्

पूर्वार्चिकः

आग्नेयकाण्डम् : प्रथमोऽध्यायः

प्रथमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रकाश 'अन्धकार का नाश'

१. **अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि॥ १॥**

१. हे **अग्ने**='आगे ले-चलनेवाले' प्रभो! आपका 'अग्नि' नाम ही वेद में सबसे अधिक बार आया है। यह मानव-जीवन के लक्ष्य का संकेत कर रहा है कि 'तुझे मोक्ष तक पहुँचना है, पहुँचेगा प्रभु की कृपा से', अतः वह प्रार्थना करता है—हे प्रभो! आप **आयाहि**=आइए और **वीतये**=हमारे हृदय-अन्धकार का ध्वंस कर दीजिए (वी=असन=परे फेंक देना)। उस प्रभु के प्रकाश में वृत्र का अन्धकार कहाँ? उस ज्योति में तो काम भस्मीभूत हो जाता है।

२. **गृणानः**=(गृणाति आह्वयति भक्तान् कल्याणवर्त्मनि) हमें कल्याण के मार्ग का उपदेश देते हुए **हव्य-दातये**=प्रीणयितव्य (हु प्रीणनार्थेऽपि) भक्तों के कर्म-बन्धनों के उच्छेद के लिए होओ। जो भक्त नहीं वे तो प्रभु का आह्वान सुनने ही क्यों लगे हैं? हव्य वे जीव हैं जो प्रभु में श्रद्धा से उसके कृपापात्र बनते हैं।

३. **होता**=महान् उपदेशक प्रभो! (ह्वेञ् शब्दे) **बर्हिषि**=(बर्ह्+इस्=नष्ट करना) जिसमें वासना व अज्ञान का अन्धकार नष्ट हो गया है, उस हृदयान्तरिक्ष में आप **नि सत्सि**=निरन्तर विराजमान होते हैं। सर्वव्यापक प्रभु का दर्शन पवित्र हृदय में ही होता है।

आपके साक्षात्कार से, आपके सम्पर्क में आकर, शक्तिसम्पन्न बनकर, मैं इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज'='अपने में शक्ति को भरनेवाला' बन पाऊँ।

भावार्थ—हृदय में प्रभु का प्रकाश होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है। इस प्रकाशमय हृदय में सन्मार्ग की प्रेरणा देते हुए प्रभु भक्तों के कर्म-बन्धनों का उच्छेद करते हैं। वासनाशून्य हृदय में ही उस महोपदेशक की प्रेरणा सुनाई देती है।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

करनेवाला वह प्रभु है

२. **त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने॥ २॥**

१. हे **अग्ने**=आगे और आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **विश्वेषाम्**=सब **यज्ञानाम्**=श्रेष्ठतम कर्मों के **होता**=सम्पादक हैं। जीव के द्वारा होते हुए सब शुभ कर्म उस प्रभु की दी हुई शक्ति से ही हो रहे हैं। जब जीव अल्पज्ञता के कारण उस शक्ति का ठीक प्रयोग नहीं करता तभी अशुभ कर्म हो जाते हैं और इनका उत्तरदायी वह जीव ही होता है।

२. आप **देवेभिः**=दिव्य गुणों के द्वारा **मानुषे जने**=मानवता (मननशीलता) से युक्त मनुष्य में **हितः**=प्रतिष्ठित होते हैं।

सर्वव्यापक होते हुए भी प्रभु का निवासस्थान मानवता से युक्त मनुष्य ही है, अर्थात् हम अपने अन्दर दिव्य गुणों की वृद्धि करके ही उस प्रभु का साक्षात्कार कर सकते हैं और तभी इस मन्त्र के ऋषि **'भरद्वाज'**=शक्तिसम्पन्न बन सकते हैं।

भावार्थ—संसार में सब उत्तम कर्म प्रभु की शक्ति से होते हैं। मनुष्य को उसका साक्षात्कार दिव्य गुणों के धारण करने से होता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

तपस्या की अग्नि में भक्त

३. **अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥ ३॥**

१. हम तो **अग्निम्**=अग्र-स्थान के प्रापक उस प्रभु को **वृणीमहे**=वरते हैं। जीव के सामने यह चुनाव है कि 'प्रकृति को वर ले या प्रभु को।' प्रकृति 'प्रेय-मार्ग' का प्रतीक है, प्रभु 'श्रेय-मार्ग' का। मन्दमति प्रेय-मार्ग का ही वरण करता है, उसकी हरियावल उसे मनोहर प्रतीत होती है, उसकी मधुरता से वह छला जाता है, परन्तु वह प्रभु तो **दूतम्**=उपतापक हैं (दु उपतापे), अपने भक्तों को तपस्या की अग्नि में तपाकर 'काञ्चन'=सोना बनाना चाहते हैं, **होतारम्**=परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर सब सम्पत्तियों के देनेवाले वही हैं (हु दाने), **विश्ववेदसम्**=वही सब सम्पत्तियों के ईश हैं। प्रकृति भी तो प्रभु की ही है। प्रभु के मिलने पर प्रकृति तो मिल ही जाती है।

२. प्रभु का वरण ही ठीक है, वे प्रभु **अस्य**=इस भक्त के **यज्ञस्य**=जीवनयज्ञ के **सुक्रतुम्**=उत्तम कर्त्ता होते हैं। हमारी जीवन-यात्रा को वे ठीक-ठाक ले-चलते हैं। हम अपने शरीर-रथ का चालक उस प्रभु को ही बनाएँ।

यदि हम प्रकृति के विलासों की ओर न जाकर प्रभु की प्रेरणा के अनुसार जीवन-यापन करेंगे तो इस बुद्धि-मार्ग को अपनाने के कारण इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि' बनेंगे।

भावार्थ—वे प्रभु तपस्या से परिपक्व हुए भक्त को सब इष्ट-सुख प्राप्त कराते हैं, और उसकी जीवन-यात्रा को सुन्दर प्रकार से पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

काम-संहार

४. **अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया। समिद्धः शुक्र आहुतः॥ ४॥**

मनुष्य की यह विवशता है कि वह चाहता हुआ भी काम-क्रोधादि वासनाओं को विनष्ट नहीं कर पाता। ये वासनाएँ अत्यन्त प्रबल हैं। ये मनुष्य की समझ पर पर्दा डाले रहती हैं

और उसे अपना शिकार बना लेती हैं, इसलिए इस वासना को 'वृत्र' कहते हैं।

इस वृत्र को वह **अग्निः**=प्रभु ही **जंघनत्**=नष्ट करता है। परमेश्वर का स्मरण ही एकमात्र उपाय है जिससे वासनाओं का संहार होता है, परन्तु वह अग्नि **द्रविणस्युः**=द्रविण को चाहता है। यदि मनुष्य अपने पास धन का संचय किये रक्खे और यह चाहे कि प्रभु उसकी वासनाओं को विनष्ट कर दें तो यह नहीं हो सकता। वस्तुतः **विपन्यया**=विशिष्ट स्तुति के द्वारा ही हम यह कार्य प्रभु से करा पाते हैं। उस प्रभु की विशिष्ट स्तुति यही है कि हम उसी से प्रीति करें, हमें धन से प्रीति न हो। प्रभु की यही 'ऐकान्तिकी भक्ति' है। प्रभु और धन दोनों की उपासना युगपत् सम्भव नहीं है, अतः हम धन उस प्रभु को अर्पित कर दें और तब हमारी इस विशिष्ट स्तुति से वे प्रभु हमारे लिए वृत्रों का संहार करेंगे।

प्रभु की प्राप्ति का क्रम यह होता है कि हम उसे अपने हृदयों में **समिद्धः**=दीप्त करते हैं। प्रकृति के सौन्दर्य, व्यवस्था आदि से उसका आभास (दीप्ति) हमारे हृदयों में होता है, तब हम उसकी ओर चलते हैं। वह हमसे **शुक्रः**=जाया जाता है (शुक् गतौ) और अन्त में उसकी ओर चलते-चलते हम उसे प्राप्त कर लेते हैं, वह **आहुतः**=हमसे समर्पित होता है। हम उसके प्रति आत्मसमर्पण करते हैं। किसी भी वस्तु की प्राप्ति का क्रम 'ज्ञान, गमन और प्राप्ति' ही है।

हमने प्रभु के प्रति अपना अर्पण किया, उसने हमें 'वृत्रविनाशरूप' कार्य के लिए शक्ति-सम्पन्न बनाया और हम इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज' कहलाये।

भावार्थ—अनन्य भक्ति, स्तुति के अनुरूप व्यवहार से आराधित प्रभु जीव की वासनाओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यात्रा का रथ

५. **प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्। अग्ने रथं न वेद्यम्॥ ५॥**

उपदेशक—इस मन्त्र का ऋषि 'उशना' सबका हित चाहनेवाला, अपने श्रोतृवृन्द (Audience) से कहता है कि वे प्रभु **प्रेष्ठम्**=अत्यन्त कान्तिमान् हैं। **'दिवि सूर्यसहस्रस्य'** हजारों सूर्यों के समान उस प्रभु की दीप्ति है। वे आदित्यवर्ण हैं, परन्तु इतने कान्तिमान् होते हुए भी वे प्रभु **वः**=तुम्हारे तो **अतिथिम्**=मेहमान की भाँति हैं। जिस प्रकार अतिथि के दर्शन घर पर कभी-कभी होते हैं, उसी प्रकार उस प्रभु का दर्शन भी कभी-कभी होता है। इसपर भी वह प्रभु **मित्रम् इव**=स्वाभाविक स्नेह करनेवाले मित्र की भाँति **प्रियम्**=विविध आवश्यक वस्तुओं की सृष्टि करके जीव को तृप्त करनेवाले हैं। जीव प्रभु की ओर अपनी दृष्टि करे या न करे, प्रभु तो उसपर अपनी कृपा-दृष्टि बनाये ही रखते हैं। माता-पिता के स्नेह में भी कुछ स्वार्थ हो सकता है, परन्तु उस स्वाभाविक मित्र का स्नेह स्वार्थ की गन्ध से परे है।

वे प्रभु **अग्ने**=(अग्निम्) जीव को आगे ले-चलनेवाले हैं। **रथं न**=रथ की भाँति **वेद्यम्**=जानने योग्य हैं। जिस प्रकार रथ से यात्रा की पूर्ति में सहायता मिलती है, उसी प्रकार मानव-जीवन की यात्रा भी इस प्रभुरूप रथ पर आरूढ़ होने से ही पूर्ण होगी। इस भावना को उपनिषदों में 'ब्रह्म-निष्ठ' शब्द से स्पष्ट किया गया है। यही 'ईश्वर-प्रणिधान'=अपने को ईश्वर में रख देना है। इस जीवन-यात्रा में होनेवाले विविध विघ्नों को जीतने का एक ही उपाय है—ब्रह्मरूपी

रथ में स्थित होना।

ऋषि उशना कहते हैं कि इस ब्रह्म का ही **स्तुषे**=मैं स्तवन करता हूँ, इसी के गुणों का गायन करता हूँ। यही तो कल्याण का मार्ग है।

भावार्थ--वे प्रभु अत्यन्त कान्तिमान्, जीव के मित्र, उसकी उन्नति के साधक तथा उसके लिए जीवन-यात्रा में रथ के समान हैं।

ऋषिः-**सुदीतिपुरुमीढौ तयोर्वान्यतरः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

दो दोषों से दूर

६. त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः। उत द्विषो मर्त्यस्य॥ ६॥

हे **अग्ने त्वम्**=प्रभो! आप **नः**=हमें **विश्वस्याः**=सब **अरातेः**=अदान की भावना से **उत**=और **मर्त्यस्य**=मनुष्य के **द्विषः**=(द्वेषणं द्विट्) द्वेष से **महोभिः**=तेजस्विता के द्वारा **पाहि**=बचाओ।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसके सामाजिक जीवन में दो बड़े दोष आ जाते हैं-एक 'अदान' की भावना और दूसरा 'द्वेष'। यदि मनुष्य में देने की वृत्ति न हो तो किसी भी सामाजिक कार्य का होना सम्भव न हो। सारी सामाजिक उन्नति दान की वृत्ति पर ही निर्भर है।

जिस प्रकार अदान की वृत्ति समाज के लिए घातक है उसी प्रकार द्वेष की। द्वेष में मनुष्य की शक्ति अपने उत्थान में न लगकर दूसरे के पतन में लगती है। द्वेष में हम दूसरे से प्रीति न कर वैर ठान लेते हैं।

इन दोनों अदान और द्वेषरूप सामाजिक दोषों से ऊपर उठने का उपाय **महोभिः** शब्द से सूचित हो रहा है। महस् का अर्थ है तेजस्विता। तेजस्वी पुरुष इन वृत्तियों को आत्मसम्मान की भावना से विपरीत समझता है, इसलिए इनसे दूर रहता है।

प्रभुकृपा से हम 'सुदीति' खूब दान देनेवाले तथा 'पुरुमीढ' द्वेष न करके सुखों का सेचन करनेवाले बनें। ये ही दोनों इस मन्त्र के ऋषि हैं।

भावार्थ-हम तेजस्वी बनकर अदान व द्वेष से दूर हों, तभी हम समाज व राष्ट्र को स्वर्ग बना सकेंगे।

ऋषिः-**भरद्वाजः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

प्रभु सामीप्य का परिणाम

७. एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः। एभिर्वर्धास इन्दुभिः॥ ७॥

हे **अग्ने**=प्रभो! **आ इहि**=आप मेरे हृदय में आइए, क्योंकि **ते**=आपके सामीप्य से मैं **इतराः**=सामान्य व्यवहार की बातों को भी **इत्था ब्रवाणि**=सत्य ही बोलता हूँ। प्रभु के सन्निकर्ष से मानव-जीवन में यह कितनी बड़ी क्रान्ति उत्पन्न हो जाती है कि वह सदा सत्य का पालन करता है। उसका व्यवहार शुद्ध होता है। उसे किसी भी बात का भय सत्य के मार्ग से विचलित नहीं कर पाता और लोभ इन्हें आकृष्ट नहीं कर सकता। इनकी दृढ़ता लोगों के आश्चर्य का कारण बनती है। इनके जीवन में उन्हें कोई महान् शक्ति कार्य करती हुई दृष्टिगोचर होती है। दूसरे शब्दों में, इनके जीवन लोगों के सामने प्रभु की महिमा को प्रकट

करते हैं। इसीलिए मन्त्र में कहा है कि **एभिः**=इन **इन्दुभिः**=शक्तिशाली पुरुषों से ('इन्द'=to be powerful) **वर्धासे**=आप (प्रभु) वृद्धि को प्राप्त करते हैं। आपकी लोगों में ख्याति होती है।

ये लोग सत्य पर दृढ़ता से चलने से सभी दिव्य गुणों को धारण कर इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज' बनते हैं।

भावार्थ—उपासना से मनुष्य का व्यवहार सत्यमय होता है और इन उपासकों में परमेश्वर की महिमा प्रकट होती है।

ऋषिः—**वत्सः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का प्यारा क्या चाहता है

८. आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात्। अग्ने त्वां कामये गिरा॥ ८॥

हे प्रभो! **ते वत्सः**=तेरा यह प्यारा व सदा सत्य व्यवहार करनेवाला पुत्र **परमात्**=सबसे उत्कृष्ट **सधस्थात्**=प्रभु के साथ रहने के लोक, अर्थात् मोक्षलोक से **चित्**=भी **मनः**=अपने मन को **आ यमत्**=क़ाबू करता है, अर्थात् अपने मन में मोक्षलोक की भी कामना नहीं करता। इसकी कामना होती है कि **अग्ने**=हे प्रभो! **गिरा**=वाणी से **त्वाम्**=तुम्हें **कामये**=चाहूँ, अर्थात् संसार मे रहते हुए मैं सदा सत्य का पालन करता रहूँ। आप सत्यस्वरूप हैं, मेरी वाणी भी सत्य को ही चाहे।

अपने सुखों को तिलाञ्जलि देकर सर्वहित-साधन में प्रवृत्त होने के कारण ये प्रभु के 'वत्स' (प्यारे) बनते हैं। 'वत्स' ही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—सर्वदा सत्य विचारना, सत्य बोलना और सत्य का आचरण करना मोक्ष के आनन्द के समान है।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु दर्शनार्थ दो बातें

९. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥ ९॥

इस संसार में अस्थिर चित्तवृत्तिवाले पुरुष को प्रभु का दर्शन नहीं होता। उस प्रभु का मन्थन व ज्ञान तो अथर्वा ही कर पाता है। इसी से मन्त्र में कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **अथर्वा**=निश्चल चित्तवृत्तिवाला पुरुष **पुष्करात् अधि**=इस हृदयदेश में **निरमन्थत**= अवगाहन कर जान पाता है, अर्थात् आपका दर्शन निरुद्ध चित्तवृत्तिवाले योगी को ही हृदय में हुआ करता है, परन्तु क्या यह योगी केवल हृदय के इस विकास व नैर्मल्य से ही प्रभु-दर्शन कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मन्त्र में कहा है कि उस प्रभु के ज्ञान का मन्थन **मूर्ध्नः**=मस्तिष्क से होगा। कौन से मस्तिष्क से? **विश्वस्य**=सारे ब्रह्माण्ड के ज्ञान को **वाघतः**=धारण करनेवाले मेधावी के मस्तिष्क से।

एवं, यह स्पष्ट है कि प्रभु का दर्शन केवल पवित्र हृदय से न होकर मेधावी के ज्ञानपरिपूर्ण मस्तिष्क से होता है। हृदय व मस्तिष्क दोनों का ही विकास आवश्यक है। जैसे दो अरणियों को रगड़कर अग्नि प्रकट होती है, उसी प्रकार उस प्रभुरूप अग्नि को प्रकट

करने के लिए हृदय व मस्तिष्करूपी दोनों अरणियों की आवश्यकता है।

'वज' धातु ज्ञान व गमन की वाचक है। उस प्रभु के ज्ञान और उस प्रभु की ओर जाने की भावना से भरा हुआ व्यक्ति इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' कहलाता है।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए उत्तम गुणों का पोषण करनेवाले (पुष्कर) हृदय व विश्व के ज्ञान से परिपूर्ण मस्तिष्क दोनों की ही आवश्यकता है।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञानियों के सम्पर्क में

१०. अग्ने विवस्वदा भरास्मभ्यमूतये महे। देवो ह्यसि नो दृशे ॥ १० ॥

हे **अग्ने**=प्रभो! आप **देवः हि असि**=निश्चय से देव हैं। **देवो दानात्, दीपनात्, द्योतनाद्वा**=सब-कुछ देनेवाले हैं, स्वयं दीप्तिमय-ज्योतिर्मय होते हुए औरों को ज्ञान की दीप्ति देनेवाले हैं। आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए भी **विवस्वत्**=ज्ञानी पुरुष को **आभर**=प्राप्त कराइए, जिससे—

१. **ऊतये**=उनसे उत्तम ज्ञान प्राप्त कर हम अपनी रक्षा के योग्य हों। ज्ञान ही हमें इन विषयों के जाल में फँसने से बचा सकता है।

२. **महे**=(महसे) तेज के लिए भी हमें ज्ञानियों की प्राप्ति कराइए।

३. **नः दृशे**=हमें इसलिए भी ज्ञानियों की प्राप्ति कराइए कि हम उनसे शब्दब्रह्म का=सृष्टिविद्या का ज्ञान प्राप्त करके प्राकृतिक रचनाओं में आपकी महिमा को अनुभव करते हुए आपका दर्शन व साक्षात्कार कर सकें।

आपके साक्षात्कार से सब मलिनता को भस्म करके सुन्दर गुणोंवाले हम इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' बन पाएँ।

भावार्थ—ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर हम (१) विषय-जाल से अपनी रक्षा करके, (२) भोगों में शक्ति को जीर्ण न कर तेजस्वी बनते हुए (३) प्रभु का साक्षात्कार करनेवाले बनेंगे।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**आयुङ्क्ष्वाहिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

भक्ति से शक्ति की प्राप्ति

११. नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः। अमैरमित्रमर्दय ॥ १ ॥

अग्ने ओजसे=हे प्रभो! बल-प्राप्ति के हेतु से हम **ते नमः**=तुझे नमस्कार करते हैं। अनन्त शक्ति के स्रोत आप ही हैं, भक्ति के द्वारा आपसे सम्बद्ध हो हम भी उस शक्ति को अपने अन्दर प्रवाहित करते हैं। भक्ति से वह शक्ति प्राप्त होती है जो पर्वत-तुल्य कष्टों में भी मनुष्य को विचलित न होने योग्य बनाती है।

२. परन्तु हे **देव**=सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले प्रभो! **कृष्टयः**=कृषि करनेवाले मनुष्य ही **गृणन्ति**=तेरी सच्ची आराधना करते हैं। वे अन्न-वस्त्रादि जुटाकर आपकी भाँति

आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं।

३. **अमैः**=शक्तियों से **अमित्रम्**=शत्रु को **अर्दय**=समाप्त कीजिए। हे प्रभो! शारीरिक शक्ति से, तेज व वीर्य से हम रोगकृमिरूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाले हों। मानस ओज व स्नेह के बल से हम काम, क्रोधादि को नष्ट कर विश्वप्रेम को अपने जीवन में ला सकें। बौद्धिक ज्ञान के बल से हम अज्ञानरूप शत्रु को समाप्त कर दें।

इस सबके लिए हमारे जीवन का आदर्श वाक्य—(**आयुङ्क्ष्व**) ''काम में लगे रहो'' तथा 'अहि' (अ-हन) "समय को नष्ट मत करो"—यह बने तथा हम इस मन्त्र के ऋषि 'आयुङ्क्ष्वाहि' बनें।

भावार्थ—(१) भक्ति से शक्ति मिलती है, (२) सच्ची भक्ति के लिए कृषक का जीवन आदर्श है, (३) शक्ति से शत्रुओं की समाप्ति हो जाती है।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दो प्रकार की परीक्षा

१२. दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम्। यजिष्ठमृञ्जसे गिरा॥ २॥

वे प्रभु **वः**=तुम सब भक्तों के **दूतम्**=सन्तापक, सन्ताप की अग्नि में डालकर परीक्षा करनेवाले हैं। वे प्रभु **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनोंवाले हैं। कष्टों की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर वे विविध ऐश्वर्यों को प्राप्त कराकर दूसरी परीक्षा लेते हैं कि यह सम्पत्तियों के लोभ में कहाँ तक नहीं फँसता? इन दोनों परीक्षाओं में उत्तीर्ण व्यक्ति ही हव्य हैं—प्राजापत्य यज्ञ में अपनी आहुति डालनेवाले हैं। वह प्रभु **हव्यवाहम्**=इन हव्य मनुष्यों को अपने समीप ले-जानेवाले हैं। (वह प्रापणे=to carry) और **अमर्त्यम्**=इन अपने सच्चे भक्तों को अमर्त्य करनेवाले—जन्म-मरण के चक्र से मुक्त करनेवाले हैं, **यजिष्ठम्**=अधिक-से-अधिक अपने साथ सङ्गत करनेवाले हैं, अर्थात् अपने समीप प्राप्तिरूप मोक्ष देनेवाले हैं। इस प्रभु को **गिरा**=मैं अपनी वाणी से **ऋञ्जसे**=प्रसाधित=आराधित करता हूँ।

मैं अपनी वाणी से सदा प्रभु का गुणगान करता हूँ और इस गुणगान से स्वयं भी उत्तम गुणों में प्रीतिवाला बनकर इस मन्त्र का ऋषि 'वामदेव' बनता हूँ।

भावार्थ—मनुष्य आपत्तियों और सम्पत्तियों की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर ही मोक्ष का अधिकारी बनता है।

ऋषिः—**प्रयोगः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वायु के समान बल की प्राप्ति

१३. उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः। वायोरनीके अस्थिरन्॥ ३॥

हविष्कृतः=(त्वयि एव हूयते निधीयते न तु विषयेषु इति हविः=शुद्धमनः, दानपूर्वकमदनशीलं मनः=हु दानादनयोः तत्करोति, तस्य) दानपूर्वक अदन=भक्षण को अपना स्वभाव बना लेनेवाले पुरुष की **त्वा उप**=तेरे समीप **जामयः**=गति करनेवाली, अर्थात् तेरी समीपता से कभी इधर-उधर न भटकनेवाली, **देदिशतीः**=निरन्तर तेरा निर्देश करती हुई **गिरः**=वाणियाँ भक्त को **वायोः अनीके**=वायु के बल में—वायु के समान शक्ति में **अस्थिरन्**=स्थित करती हैं।

जब एक मनुष्य अपने जीवन को भोगप्रधान न बनाकर अपनी शक्तियों को जीर्ण न होने देगा तो उसे वायु के समान अत्यधिक शक्ति क्यों न प्राप्त होगी? परन्तु जीवन को भोगप्रधान न बनने देने का साधन क्या है? यह साधन ही इस मन्त्र में **"उप त्वा जामयो गिरः"** इन शब्दों में वर्णित हुआ है 'निरन्तर तेरे समीप प्राप्त होनेवाली वाणियाँ।' जागते-सोते, खाते-पीते, उठते-बैठते सदा हमारी वाणी उस प्रभु का स्मरण करे, तभी ऐसा सम्भव है। 'देदिशतीः' हमारी वाणियाँ उस प्रभु का ही निर्देश करती हों। शरीर से कार्य चल रहे हों, परन्तु मन व वाणी प्रभु का ध्यान व जप कर रहे हों।

यदि इस प्रकार सब क्रियाओं को करते हुए भी हमारा सम्पर्क उस प्रभु से बना रहेगा, तो इस प्रकृष्ट योग=सम्बन्ध के कारण हम इस मन्त्र के ऋषि 'प्रयोग' बनेंगे।

भावार्थ—'हमारा प्रत्येक कार्य प्रभु-स्मरणपूर्वक चल रहा हो।' यही मार्ग है भोगों के शिकार न होने का और शक्ति के लाभ का।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञानपूर्वक कर्म ही उपासना है

१४. उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥ ४॥

हे **अग्ने! दोषावस्तः**=(वस आच्छादने, छद् अपवारणे) दोषों को समन्तात् अपवारित=दूर करनेवाले प्रभो! आप हमारे लिए उस छत के समान हैं जो ओलों आदि से बचाती है; उसी के समान आप सब ओर से आक्रमण करनेवाले दोषों से हमें बचाते हैं। **वयम्**=कर्मतन्तु का विच्छेद न करनेवाले आपके भक्त हम **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **त्वा उप**=आपके समीप **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्म से **नमः भरन्तः**=विनय का सम्पादन करते हुए **एमसि**=प्राप्त होते हैं। प्रभु 'दोषावस्तः' हमें सब ओर से सदा दोषों से बचाते हैं, परन्तु उसके लिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम सदा 'धिया' ज्ञानपूर्वक कर्म में लगे रहें। धी शब्द ज्ञान और कर्म दोनों ही अर्थों का वाचक है। मनुष्य शब्द का निर्वचन भी यास्क ने **'मत्वा कर्माणि सीव्यति'**, 'सोचकर कर्म करता है'—यह किया है। एवं, धिया शब्द की भावना को अपनाने से ही हम अपने मनुष्य नाम को चरितार्थ करते हैं। हमें "Man proposes and God disposes",, "अन्यथा चिन्तितं यत्तु अन्यथैव प्रजायते", "चाहा कुछ हुआ कुछ" का अनुभव इसी परिणाम पर पहुँचाता है कि संचालक शक्ति कोई और है। ऐसी ही घटनाएँ हमारे अभिमान को तोड़कर हमें नतमस्तक कर देती हैं, और हम विनीत होकर उस प्रभु के समीप उपस्थित होते हैं। हमारा अभिमान गल जाता है और हम आसुर भावनाओं को छोड़कर उत्तम इच्छाओंवाले बनते हुए इस मन्त्र के ऋषि 'मधुच्छन्दाः' होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानपूर्वक कर्म ही प्रभु की सच्ची विनय है।

ऋषिः—**शुनःशेपः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दीखनेवाली स्तुति

१५. जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय। स्तोमं रुद्राय दृशीकम्॥ ५॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **जराबोध**=जरा=बुढ़ापा, उसमें बुध्यते=जो चेतता है, अर्थात्

यौवन के नशे में मनुष्य की बुद्धि विलुप्त हो जाती है, मानव जीवन का लक्ष्य भूल जाने से वह पथ-भ्रष्ट हो जाता है। प्रायः शक्तियों के जीर्ण हो जाने पर–जरावस्था आने पर उसे होश आता है, परन्तु इस प्रकार तो सब जीवन ही व्यर्थ चला जाता है, अतः प्रभु कहते हैं कि हे जराबोध! **विशेविशे**=प्रत्येक प्राणी में **यज्ञियाय**=सङ्गतीकरण में–सम्पर्क में श्रेष्ठ उस **रुद्राय**=क्रियात्मक उपदेश देनेवाले प्रभु के लिए (रुत्+र) **तत्**='तनु विस्तारे' विस्तृत **दृशीकम्**=जो आँखो से दिखे (visible) नकि केवल वाणी से बोला जाए, ऐसे **स्तोमम्**=स्तोत्र को–स्तुतिसमूह को **विविड्ढि**=व्याप्त कर।

प्रभु प्रत्येक प्राणी में व्याप्त है, किसी से उन्हें घृणा नहीं है और इस प्रकार जीव को भी वे क्रियात्मक उपदेश दे रहे हैं कि मेरी स्तुति का प्रकार यही है कि तेरा सम्पर्क भी अधिक-से-अधिक प्राणियों से हो। Greatest good of the greatest number—**यद्भूतहितमत्यन्तम्**=अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित करना ही तेरा लक्ष्य हो।

इसी उद्देश्य से तेरे सारे कर्म चलें। ये तेरे कर्म ही वस्तुतः उस प्रभु की दृश्य स्तुति होंगे। इस मार्ग से चलकर ही हम वास्तविक सुख का (शुनः) निर्माण करनेवाले (शेपः) इस मन्त्र के ऋषि 'शुनःशेप' बनेंगे।

भावार्थ–प्रभु का अर्चन लोकहित के कर्मों द्वारा होता है, **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'**, कर्म ही उसके 'दृशीक स्तोम' हैं।

ऋषिः–**मेधातिथिः**॥ देवता–**अग्निः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

मैं यज्ञ करूँ, प्रभु रक्षक हों

२ ३ १ २र ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१६. प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ ६॥

त्यम्=उस **चारुम्**=करने योग्य (चर गतौ) **अध्वरं प्रति**=हिंसारहित यज्ञ में **गोपीथाय**=इन्द्रियों की रक्षा के लिए (गाव इन्द्रियाणि, पीथं=पानम्) हे **अग्ने**=प्रभो! आप **प्रहूयसे**=हमसे पुकारे जाते हैं। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि अपनी प्रत्येक इन्द्रिय से यज्ञ=उत्तम कर्मों का अनुष्ठान करे। इसी बात को मन्त्र का 'चारु' शब्द व्यक्त कर रहा है। हमारा कोई भी कार्य हिंसा की प्रवृत्तिवाला न हो। कार्य की श्रेष्ठता व यज्ञरूपता की यही कसौटी है। 'अ-ध्वर'=नहीं हिंसा। हमारे कार्य अधिक-से-अधिक प्राणियों का भला करनेवाले हों। प्रभु का स्मरण ही आसुर वृत्तियों के दूर करने का उपाय है। मन्त्र में उस प्रभु से प्रार्थना है कि हे प्रभो! **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ **आगहि**=आओ, हमें प्राप्त होओ। इस प्रकार वेद का यह संकेत स्पष्ट है कि इन्द्रियों की रक्षा के लिए प्राणों की साधना ही उपाय है। हम प्राणों की साधना द्वारा इन्द्रियों का संयम कर यज्ञ को नष्ट न होने दें। प्राण-साधना द्वारा इन्द्रिय-संयम ही श्रेय-मार्ग है। विरले धीरों में से एक होते हुए हम इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि' बनें।

भावार्थ–हे मनुष्यो! प्राणसाधना से जितेन्द्रिय बनकर जीवन को यज्ञमय बनाओ।

ऋषिः–**शुनःशेपः**॥ देवता–**अग्निः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

प्रभु-रक्षण से ही यज्ञ चलते हैं

२ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
१७. अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः। सम्राजन्तमध्वराणाम्॥ ७॥

हम **वार-वन्तं**=प्रशस्तरूप से शत्रुओं का निवारण करनेवाले (वार=निवारण, मतुप् प्रशंसायाम्) **अश्वं न**=घोड़े के समान **त्वा**=उस **अग्निम्**=प्रभु का **नमोभिः**=नमस्कारों से **वन्दध्या**=वन्दन के लिए प्रवृत्त हुए हैं। किस प्रभु का? **अध्वराणाम्**=सब यज्ञों के **सम्राजम्**=सम्राट् **तम्**=उस प्रभु का।

पिछले मन्त्र में यह भावना स्पष्ट थी कि इन्द्रियाँ यज्ञों में प्रवृत्त रहें, इसके लिए प्रभु-चिन्तन आवश्यक है। प्रभु-चिन्तन उन्हें असुरों के आक्रमण से बचाता है। इस मन्त्र में इसी भावना को इन शब्दों में कहा गया है कि जैसे उत्तम घोड़ा शत्रुओं पर आक्रमण कर उन्हें दूर भगा देता है, उसी प्रकार वे प्रभु भी सभी यज्ञध्वंसक बुरी वृत्तियों को दूर करके यज्ञ को निर्विघ्न पूरा कराते हैं। मनुष्य को सदा इस तत्त्व को समझते हुए प्रभु के प्रति नतमस्तक होना चाहिए। तभी हम अपने वास्तविक सुख का निर्माण कर सकेंगे, और 'शुनःशेप' कहलाने के योग्य होंगे।

भावार्थ—परमेश्वर रक्षक न हो तो हम किसी भी कार्य को सफलता से सम्पन्न नहीं कर सकेंगे, अतः कभी भी सफलता का गर्व नहीं करना चाहिए।

ऋषिः—**प्रयोगः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

तीन उपासक

१८. और्वभृगुवच्छुचिमप्रवानवदा हुवे। अग्निं समुद्रवाससम्॥ ८॥

इस मन्त्र में कहा है कि और्व की भाँति, भृगु की भाँति और अप्नवान् की भाँति शुचि, अग्नि और समुद्रवासस् प्रभु को **आहुवे**=आह्वयामि=पुकारता हूँ। वैदिक संस्कृति में एक नियम है—उपासना का ठीक प्रकार यही है कि उपास्य-जैसा बनने का यत्न किया जाए। **'विष्णुर्भूत्वा भजेद् विष्णुम्'**=विष्णु बनकर ही विष्णु की उपासना की जाती है।

इसी नियम के अनुसार मन्त्र में प्रथम बात यह कही गयी है कि वे प्रभु **शुचिम्**=निर्मल हैं। उनकी उपासना और्व बनने से होगी। और्व शब्द का अर्थ है उरोरपत्यम्=उरु की सन्तान=विशाल का पुत्र, अर्थात् अत्यन्त उदार हृदयवाला। 'शुचि' प्रभु का उपासक तो वही है जो विशाल हृदय रखता है, जिसके हृदय में अपकारियों के लिए भी स्थान है।

द्वितीय, उपासक 'भृगु' है, जो 'अग्नि' की उपासना करता है। प्रभु ज्ञानाग्नि के पुञ्ज हैं। उनकी उपासना आचार्य के समीप रहकर तपस्या की अग्नि में अपना परिपाक करके ज्ञानी बननेवाला भृगु (भ्रस्ज पाके) ही करता है।

तृतीय, उपासक 'अप्नवान्' है जो 'समुद्रवासस्' को अपना उपास्य बनाता है। 'अप्न' शब्द निघण्टु में कर्मवाचक है, 'वान्' का अर्थ कोश में Living=जीवन है। एवं, Activity is Life=क्रिया ही जीवन है, इस तत्त्व को अपने जीवन में अनूदित करनेवाला व्यक्ति 'अप्नवान्' है। 'वान्' शब्द का अर्थ weaving=बुनना भी है, अतः जिसका जीवन कर्मों के ताने-बाने से बुने वस्त्र के समान है, वही 'अप्नवान्' है। यही 'समुद्रवासस्' प्रभु का उपासक है। मुद्=हर्ष। स=सहित। सदा आनन्द के साथ निवासवाले वे प्रभु समुद्रवासस् हैं। वे वस्तुतः आनन्दमय हैं। **'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'**—क्रिया उनका स्वभाव है, यही उनकी आनन्दमयता का रहस्य है। मनुष्य भी अप्नवान्=क्रियामय जीवनवाला बनकर आनन्द में निवास कर सकता है। अप्नवान् से पूर्व भृगु का उल्लेख ज्ञानपूर्वक क्रिया का संकेत कर

रहा है। हम ज्ञानी बनकर कर्म करें, यही आनन्द प्राप्ति का साधन है। उस समय हमारे सब कर्म उदार व पवित्र होंगे, उनमें शुचिता होगी और उनका परिणाम वास्तविक आनन्द का लाभ होगा।

भावार्थ—हम विशाल-हृदय बनें, तपस्या में अपना परिपाक कर ज्ञान का संचय करें तथा क्रियाशीलता को ही जीवन समझें। इसी प्रकार हम इस मन्त्र के ऋषि 'प्रयोग'—उत्तम कर्मों में कुशलतावाले बनेंगे, या प्र=प्रकृष्ट, योग=उपासनावाले होंगे। ऐसा बनना ही प्रभु की सच्ची उपासना है।

ऋषि:—**प्रयोग:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

कर्म का सेवन

१९. अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः। अग्निमिन्धे विवस्वभिः॥ ९॥

मर्त्य:=मनुष्य **मनसा**=मन के द्वारा, चिन्तन के द्वारा **अग्निम्**=संसार के संचालक प्रभु को **इन्धान:**=अपने हृदय में दीप्त करता हुआ **धियम्**=ज्ञानपूर्वक कर्म का **सचेत**=सेवन करे। प्रभु अग्नि है, (अग् गतौ) गतिशील है। मनुष्य को चाहिए कि प्रभु के इस स्वरूप का चिन्तन करता हुआ कर्मशील बने, इसी में मानव-उन्नति का रहस्य छिपा हुआ है।

'धियं' शब्द भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। निरुक्त में उसके 'ज्ञान और कर्म' दोनों ही अर्थ दिये हैं। 'ज्ञानपूर्वक कर्म करना' धी शब्द का वाच्य है, अत: मनुष्य उन्हीं कर्मों को करे जो धी शब्द से कहे जाते हैं।

'प्रभु का ज्ञान प्राप्त कैसे होगा?' वेद कहता है कि **अग्निम्**=उस आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **विवस्वभि:**=ज्ञानियों के साथ, अर्थात् उनके सत्सङ्ग से **इन्धे**=दीप्त करे। प्रभु का ज्ञान विद्वानों के सङ्ग से, उनके उपदेशों के श्रवण से होगा। इस प्रकार ज्ञानियों के साथ सम्पर्क रखनेवाले हम इस मन्त्र के ऋषि '**प्र-योग**'=प्रकृष्ट सम्बन्धवाले बनेंगे।

भावार्थ—सत्सङ्ग से प्रभु का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य विचारपूर्वक कर्म करे।

ऋषि:—**वत्स:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

वासर ज्योति का दर्शन

२०. आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि॥ १०॥

यत् दिवि=जिस दिन **पर:**=क्लेश, कर्म, विपाकादि से परे होनेवाला वह प्रभु **इध्यते**=दीप्त किया जाता है **आत् इत्**=ठीक उसी समय **प्रत्नस्य रेतस:**=उस सनातन शक्ति की—प्रभु की **वासरम्**=बसानेवाली **ज्योति:**=ज्योति को **पश्यन्ति**=देखते हैं।

गत मन्त्र में ज्ञानपूर्वक कर्म करने का वर्णन था। 'मनुष्य उन कर्मों को अपनी शक्ति से होता हुआ न समझ ले, इसलिए इस मन्त्र में कहा गया है कि सनातन शक्ति तो वह प्रभु ही है। उसी से शक्ति प्राप्त कर जीव भी कर्म किया करता है। 'परन्तु बुरे कर्म भी उसी से हो रहे हैं, यह सोचकर जीव उनके फल से छूट नहीं सकता, क्योंकि वह प्रभु तो 'वासर-ज्योति' है। वह तो निवासक है, न कि ध्वंसक। उस प्रभु ने 'निर्माणात्मक कार्यों' के करने के लिए ही शक्ति दी है—उजाड़ने के लिए नहीं। वह प्रभु निवासक ज्योति है। यह देखकर जीव भी

शक्ति का प्रयोग बसाने में करे, नकि उजाड़ने में, तभी वह प्रभु का प्रिय बनेगा और इस मन्त्र का ऋषि 'वत्स' होगा।

भावार्थ—उस वासर ज्योति का दर्शन कर हम शक्ति का प्रयोग निर्माण के लिए करें, नकि ध्वंस के लिए।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—**प्रयोगः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उस प्रभु की ओर

२१. अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम्। अच्छा नप्त्रे सहस्वते॥ १॥

जीव के पास अल्पज्ञता के कारण आनन्द नहीं है। उसकी खोज में वह इधर-उधर जाता है। जाने के स्थान दो ही हैं—प्रकृति की ओर या प्रभु की ओर। 'प्रकृति में आनन्द नहीं' यह ज्ञान होने पर भी वह उसकी ओर जाता है। उसकी ओर भी क्या, उसी की ओर जाता है—क्योंकि चमकीली होने से वह इसे आकृष्ट कर लेती है। वेद कहता है कि हे जीवो! **अग्निं अच्छ**=उस प्रभु की ओर चलो जो **वः वृधन्तम्**=तुम्हारा सब प्रकार से बढ़ानेवाला है। अरे! प्रकृति तो अपने में फँसाकर उन्नति में विघ्न डालनेवाली है। **अध्वराणाम्**=हिंसारहित उत्तम कर्मों का **पुरूतमम्**=सर्वोत्तम पालन व पूरण करनेवाला वह प्रभु ही है। प्रकृति तो पारस्परिक कलह व विध्वंस की भावना को जन्म देनेवाली है।

प्रकृति की ओर न जाकर प्रभु की ओर क्यों जाना? इसका कारण स्पष्ट करते हुए वेद कहता है—**नप्त्रे**=अपने को न गिरने देने के लिए और **सहस्वते**=बलवान् बनने के लिए। प्रभु-प्रवण व्यक्ति पतित नहीं होता, प्रकृति में फँसा कि गिरा। प्रभु के सम्पर्क से शक्ति प्राप्त होती है—प्रकृति के सेवन से शक्ति जीर्ण हो जाती है। प्रकृति का सम्पर्क हीन है, प्रभु का सम्पर्क ही उत्तम है। प्रभुकृपा से हम इस उत्तम योग=सम्पर्क को करते हुए इस मन्त्र के ऋषि 'प्रयोग' बनें।

भावार्थ—सर्वाङ्गीन उन्नति, उत्तम कर्मों की पूर्ति, अपतन तथा शक्ति की प्राप्ति के लिए प्रभु की ओर चलो।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अत्रियों का नियन्त्रण

२२. अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यंसद्विश्वं न्या३त्रिणम्। अग्निर्नो वंसते रयिम्॥ २॥

अग्निः=वह आगे ले-चलनेवाला प्रभु, अग्र—मोक्ष-स्थान को प्राप्त करानेवाला प्रभु **तिग्मेन**=अति तीक्ष्ण **शोचिषा**=ज्ञान की दीप्ति से **विश्वम्**=हमारे अन्दर प्रवेश कर जानेवाले और हमें **अत्रिणम्**=खा जानेवाले, अर्थात् हमारी आत्मिक उन्नति को समाप्त कर देनेवाले काम, क्रोध, लोभ को **नियंसत्**=नियन्त्रित करता है।

काम, क्रोध, लोभ अनियन्त्रित अवस्था में मनुष्य के शत्रु हैं। नियन्त्रित होकर ये शत्रु न रहकर मित्र हो जाते हैं। ज्ञान-प्राप्ति में सन्तोष न होना ही ठीक है तथा **'सन्तोषस्त्रिषु**

कर्त्तव्यः स्वदारे भोजने धने। त्रिषु चैव न कर्त्तव्यो दाने तपसि पाठने'=अपनी पत्नी, भोजन और धन–इन तीन में सन्तोष होना चाहिए, परन्तु दान, तप और पठन में सन्तोष नहीं होना चाहिए। **'मृदुदण्डः परिभूयते'** 'अत्यन्त मृदु का पराभव ही होता है' चाणक्य के ये शब्द मर्यादित रूप में क्रोध की आवश्यकता को भी स्पष्ट कर रहे हैं, एवं इनका नाश न कर नियमन ही ठीक है।

इन नियन्त्रित कामादि से मनुष्य धर्मपूर्वक अर्थ कमाकर वांछनीय वस्तुओं को जुटाता है और जीवन-यात्रा को सफल कर उसकी समाप्ति पर मोक्ष भी प्राप्त करता है, परन्तु इन सब **रयिम्**=धनों को–उत्तम पदार्थों को **नः**=हमारे लिए **अग्निः**=वह प्रभु ही **वंसते**=(Wins) विजय करता है। मनुष्य को कभी यह गर्व न होना चाहिए कि रयि का विजेता मैं हूँ। इस भावना को अपने अन्दर सदा जाग्रत् रखना चाहिए कि 'मैं तो निमित्तमात्र हूँ।'

प्रभुकृपा से काम, क्रोध, लोभरूप महान् शत्रुओं को वशीभूत करके मैं सचमुच ही इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' बन सकूँगा, परन्तु उस शक्ति के गर्व का त्याग भी तो करना ही होगा।

भावार्थ–ज्ञान से काम-क्रोधादि नियन्त्रित=वशीभूत रहते हैं और उत्तम धनों की प्राप्ति होती है।

ऋषिः–**वामदेवः**।। देवता–**अग्निः**।। छन्दः–**गायत्री**।। स्वरः–**षड्जः**।।

सुख किसे प्राप्त होता है

२३. अग्ने मृड महाँ अस्यय आ देवयुं जनम्। इयेथ बर्हिरासदम्॥ ३॥

अग्ने=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **मृड**=हमें सुखी करो। **महान् असि**=आप अत्यन्त महान् हो–सर्वव्यापक हो, अतः आप सबको सुखी कर सकते हैं।

इस प्रार्थना का उत्तर प्रभु निम्न शब्दों में देते हैं–

देवयुं जनम्=शुभ गुणों को चाहनेवाले मनुष्य को **अयः**=शुभावह विधि=good fortune, good luck=उत्तम सम्पत्=कल्याण **आ**=आगच्छति=प्राप्त होता है।

जो व्यक्ति शुभ गुणों को अपनाने का संकल्प करता है, वह अशुभ भावनाओं को अपने हृदय से उखाड़ता है। उन्हें दूर करके ही दिव्य गुणों के बीज का वहाँ वपन होता है। 'बृह्' धातु का अर्थ उत्पाटन है, अतः दुर्गुणों का जिसमें से उत्पाटन हुआ, उस हृदय को भी 'बर्हि' नाम दिया गया है।

इस **बर्हिः**=शुद्ध हृदयाकाश में **आसदम्**=बैठने के लिए हे प्रभो! आप **इयेथ**=आते हो। शुद्ध हृदय में ही उस दिव्य ज्योति का दर्शन होता है। इस प्रकार सुख-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करके सुख तो पाया ही, साथ ही प्रभु को भी पा गये।

प्रभु करें कि हम 'देवयुजन'=शुभ गुणों को चाहनेवाले जनों में से हों तथा प्रयत्न करके उत्तम गुणों को अपनाकर इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' हों।

भावार्थ–'दिव्य गुणों को अपनाना' मनुष्य को सुखी करता है और प्रभु की प्राप्ति के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उन्नति का लक्षण

२४. अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति स्म देव रीषतः। तपिष्ठैरजरो दह॥ ४॥

अग्ने=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **रक्ष**=बचाइए। 'उन्नति' पाप से बचने का ही नाम है। सांसारिक दृष्टिकोण से उन्नति होना गौण है, मुख्य उन्नति तो यह अध्यात्म उन्नति ही है। अधिक धन का उपार्जन करने लगना, ऊँचे पद पर पहुँचना या प्रधान बन जाना आदि बातों का कुछ महत्त्व नहीं, यदि हम अपने जीवन को निष्पाप नहीं बनाते।

हे **देव! रीषतः**=हिंसा करते हुए शत्रुओं में से **प्रतिरक्ष**=एक-एक से हमारी रक्षा कीजिए। बाह्य शत्रुओं से रक्षा के साथ काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुओं में प्रत्येक से रक्षा के लिए हम प्रार्थना करते हैं। प्रभु को देव शब्द से सम्बोधित करने का अभिप्राय यह है कि हम भी देव बनें।

देव बनने के लिए मन्त्र के अन्त में उपदेश है कि **तपिष्ठैः**=तपस्वी जीवनों से **अजरः**=जीर्ण न होता हुआ **दह**=तू इन काम आदि को नष्ट कर डाल। बाल्य, यौवन और वार्धक्य हमारे तीनों जीवनकाल तपस्वी हों।

हम जीर्ण कर देनेवाले काम आदि को जला डालें और इन्हें पूर्णरूप से वशीभूत करके इस मन्त्र के ऋषि 'वसिष्ठ'=वशिष्ठ बनें।

भावार्थ—तपस्वी बनकर ही काम आदि को जलाया जा सकता है। इन्हें जलाकर मनुष्य देव बनता है और पापों से बचकर वास्तविक उन्नति करनेवाला होता है।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कैसे घोड़े?

२५. अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः। अरं वहन्त्याशवः॥ ५॥

हे **अग्ने**=देव! **ये**=जो **तव**=तेरे **साधवः**=यात्रा को सिद्ध करनेवाले **अश्वासः**=घोड़े हैं, उन्हें **हि**=ही **युङ्क्ष्व**=अपने रथ में जोड़ो, जोकि **आशवः**=शीघ्र मार्ग को व्याप्त करनेवाले **अरम्**=सुन्दरता से (अलं=भूषण तथा पर्याप्त) **वहन्ति**=रथ का खूब वहन करते हैं।

ये इन्द्रियरूप घोड़े कैसे होने चाहिएँ, इस बात का यहाँ प्रतिपादन इस प्रकार है कि—

१. **साधवः**=सिद्ध करनेवाले, निर्माण करनेवाले न कि नाश करनेवाले। हम प्रयत्न करें कि हमारी इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य ठीक रूप से करती हुई हमारे जीवन का सुन्दर निर्माण करें। ये इन्द्रियाँ भोगों के भोगने में ही न लगी रहें।

२. **अरम्**=सुन्दरता से, खूब। ये इन्द्रियाँ जो भी काम करें कुशलता से करें, उस कार्य में सौन्दर्य हो—अनाड़ीपन न टपके। यही तो योग है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'**, और ये इन्द्रियाँ अनथक हों, अर्थात् हम कभी अलसा न जाएँ, अन्यथा जीवन-यात्रा कैसे पूर्ण होगी?

३. **आशवः**=(अश् व्याप्तौ) शीघ्रता से मार्ग को व्यापनेवाले। यह जीवन-यात्रा अत्यन्त लम्बी है। प्राणायाम मन्त्र में इसकी सात मंज़िलों का सुन्दर वर्णन है, अतः सुस्ती से तो यहाँ काम चल ही नहीं सकता।

अपने इन्द्रियरूप घोड़ों को शक्तिशाली बनाकर ही हम इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज' बन

पाएँगे।

भावार्थ–हमारी इन्द्रियाँ कार्यों को सिद्ध करनेवाली हों, अपने कार्य को सुन्दरता से व न थकती हुई करती रहें, तेजस्विता के कारण उनमें मन्दता व शैथिल्य न हो।

ऋषिः–**वसिष्ठः**॥ देवता–**अग्निः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

प्रभु का किस रूप में ध्यान?

२६. नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्युमन्तं धीमहे वयम्। सुवीरमग्न आहुत॥ ६॥

हे **नक्ष्य**=गन्तव्य प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपका **निधीमहे**=ध्यान व आपको धारण करते हैं। प्रकृति की ओर जाने में मनुष्य का कल्याण नहीं, गन्तव्य तो प्रभु ही हैं। वे गन्तव्य क्यों हैं? क्योंकि **विश्पते**=प्रजा के पालक हैं। संसार में भी जो कोई पालक वृत्तिवाला होता है, वह सभी दुःखियों का शरणस्थान बन जाता है। वह पालक क्यों है? क्योंकि **द्युमन्तम्**=वे ज्योतिर्मय हैं। जो जितना ज्ञान के मार्ग पर आगे बढ़ेगा उतना ही वह स्वार्थ को छोड़ परमार्थ में लगेगा।

वे प्रभु **सुवीरम्**=(सु+वीः, वी गतौ) शोभन गति प्राप्त करानेवाले हैं। इसलिए उत्तम वीर भी हैं। सुवीर वही है जो औरों का हित करे।

अग्ने=वे सबको सदा अग्र स्थान की ओर ले–चल रहे हैं, इसलिए ही वे **आहुत**=हैं। उसने चारों ओर उत्तम पदार्थों को हमें प्राप्त कराया है। (आ=समन्तात् हुतं=दानं यस्य) हमारे उत्कर्ष साधन के लिए सभी आवश्यक पदार्थ उसने जुटा दिये हैं।

उल्लिखित रूप में प्रभु का ध्यान करनेवाला व्यक्ति अपने को भोगवाद का शिकार नहीं होने देता। अपने पर काबू करनेवाला वह इस मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' बनता है।

भावार्थ–प्रभु की भाँति हम भी गन्तव्य बनें, इसके लिए प्रजापालक बनें, ज्ञान प्राप्त कर प्रजा–पालन की योग्यता बढ़ाएँ, औरों को दुःख से छुड़ा उत्तम स्थिति प्राप्त कराने में ही वीरता समझें, औरों का पथ–प्रदर्शन करते हुए अग्नि बनें, उसके लिए अधिक–से–अधिक त्याग करें।

ऋषिः–**विरूपः**॥ देवता–**अग्निः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

शिखर पर

२७. अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपां रेतांसि जिन्वति॥ ७॥

अग्निः=जीवन तो वह है जो अपने को आगे ले–चलता है (अग्रे नयति)। आगे कहाँ तक? **मूर्द्धा**=शिखर तक, जो चोटी पर पहुँचकर ही दम लेता है। उनकी सारी साधना शिखर पर पहुँचने के लिए होती है। किसके शिखर पर? **दिवः ककुत्**=ज्ञान के शिखर पर। वह व्यक्ति ज्ञानरूप पर्वत के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करता है। मनुष्य का लक्ष्य वस्तुतः यही होना चाहिए कि वह अपने ज्ञान को चरम सीमा तक ले–चले।

ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही **पतिः पृथिव्याः अयम्**=यह इस पार्थिव शरीर का पति बना है। जो भी इस पार्थिव=भौतिक शरीर की भौतिक वासनाओं को संयम में रखता है, वही अपने ज्ञान को बढ़ाने में समर्थ होता है। संयम के अभाव में ज्ञान–वृद्धि सम्भव नहीं। किसी

भी इन्द्रिय का व्यसन लगा और प्रज्ञा का विनाश हुआ।

इस संयम-यज्ञ की सिद्धि के लिए वह **अपां रेतांसि जिन्वति**=जल-देवता के अंशावतार ('आपः रेतो भूत्वा'-ऐतरेय), अर्थात् वीर्य का अपव्यय नहीं करता-ब्रह्मचर्य का धारण करता है। यही तो ब्रह्म की ओर जाने का मार्ग है। यह व्यक्ति सांसारिक व्यवहारों की सिद्धि के लिए धनादि का अर्जन करता हुआ इस ज्ञान के शिखर पर पहुँचनेरूप महान् लक्ष्य को कभी नहीं भूलता। इसका जीवन अन्य मनुष्यों के जीवन से एक विशेषता लिये हुए होता है, क्योंकि इसका जीवन विशिष्ट रूपवाला होता है, अतः यह 'विरूप' कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ-मानव जीवन का लक्ष्य ज्ञान-पर्वत के शिखर पर पहुँचना है-इसी के लिए उसे संयमी बनना है।

ऋषिः-**शुनःशेपः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

देवों के तीन पाठ

२८. इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम्। अग्ने देवेषु प्र वोचः॥ ८॥

हे **अग्ने**=हमारी उन्नति व अग्रगति के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्माकम्**=हमारे **देवेषु**=देवों में (चक्षु आदि के रूप में अङ्ग-प्रत्यङ्ग में निवास करनेवाले सूर्यादि देवों में) **इमम्**=इस **सनिं गायत्रं, नव्यांसम्**=सनि आदि का उ=निश्चय से सु=अच्छी प्रकार **प्रवोचः**=प्रवचन कर दें, अच्छे प्रकार पाठ पढ़ा दें।

पहला पाठ 'सनि' का है (षणु दाने व षण संभक्तौ) हमारी प्रत्येक इन्द्रिय दान व संविभाग का पाठ पढ़े। आँख ज्ञान प्राप्त करे तो उस ज्ञान को औरों को लिए भी दे। हमारा हाथ धन कमाये तो उसे दान करना भी आये।

दूसरा पाठ 'गायत्र' का है (गायति अर्चनकर्मा) निघण्टु में इसका अर्थ अर्चन=पूजन है। हमारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रभु की अर्चना करे। हम उसके अनन्य उपासक हों। हम प्रजा व प्राणियों के सेवक बनें।

तीसरा पाठ **नव्यान्**=का है, (नू स्तुतौ) हमारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग खूब स्तुति करनेवाला हो। हमसे किसी की निन्दा न हो। हम प्रशंसा-ही-प्रशंसा करें। निन्दात्मक शब्दों का उच्चारण न करें, न सुनें। यदि हमारी इन्द्रियाँ सचमुच 'सनि, गायत्र व नव्यान्' अर्थात् दान, अर्चना और स्तुति का पाठ पढ़ेंगी तो हमारा जीवन तो उत्तम बनेगा ही, साथ ही हम इस संसार में सुख की वृद्धि का कारण बनेंगे और इस मन्त्र के ऋषि 'शुनःशेप' (सुख का निर्माण करनेवाले) कहलाने के अधिकारी होंगे।

भावार्थ-हमारा जीवन दानमय, प्राणी-सेवा में लगा हुआ व सदा सबके लिए शुभ भावनावाला हो।

ऋषिः-**गोपवनः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

गो-प्रवन

२९. तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः। स पावक श्रुधी हवम्॥ ९॥

हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! या ज्ञानाग्नि से वासनाओं को भस्म कर देनेवाले प्रभो! **अङ्गिर**=अङ्ग-अङ्ग में बल का संचार करनेवाले प्रभो! **तम्**=उस **त्वा**=तुझे **गोपवनः**=अपनी इन्द्रियों को पवित्र करनेवाला व्यक्ति ही **गिरा**=वाणी से-संकीर्तन के द्वारा **जनिष्ठत्**=आविर्भूत करता है।

प्रभु केवल कीर्तन से प्रकट नहीं होते। कीर्तन तो दम्भ के लिए भी होता है। प्रत्येक कीर्तन करनेवाला उस प्रभु को नहीं पा सकता। वेद कहता है कि प्रभु का आभास तो 'गोपवन' को ही होता है। गोपवन है गो=इन्द्रियों को, पवन=पवित्र करनेवाला। इन्द्रियों को पवित्र करने के लिए ही गत मन्त्र में आराधना थी कि मेरी इन्द्रियाँ दान, अर्चना व स्तुति का पाठ पढ़ें। इन तीन क्रियाओं में लगाकर इन्द्रियों को पवित्र बनानेवाला व्यक्ति ही प्रभु-दर्शन का अधिकारी होता है। प्रभु-दर्शन और उस 'सहस्रधार' में स्नान कर वह और भी अधिक पवित्र हो जाता है।

हम सब भी उस प्रभु की आराधना करते हैं कि हे **पावक**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **सः**=वे आप **हवम्**=मेरी भी प्रार्थना को-पुकार को **श्रुधि**=सुनिए। मुझे भी पवित्रता प्राप्त करने की कामना है-मैं भी आपको पुकार रहा हूँ। प्रभो! कृपा करो कि हमारी इन्द्रियाँ पवित्र हों। हम अपनी इन्द्रियों को पवित्र बनाकर इस मन्त्र के ऋषि 'गोपवन' बनें।

भावार्थ-हम अपनी इन्द्रियों को पवित्र बनाकर प्रभु-कीर्तन के अधिकारी बनें।

ऋषिः-**वामदेवः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

समर्पण

३०. परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद्रत्नानि दाशुषे॥ १०॥

वाजपतिः=सब अन्नों का पति और **कविः**=क्रान्तदर्शी **अग्निः**=अग्रगतिं व उन्नति को सिद्ध करनेवाला वह प्रभु **हव्यानि**=दानपूर्वक अदन करने योग्य इन पदार्थों को (हु दान+अदन) **परि अक्रमीत्**=चारों ओर व्याप्त कर रहा है। वह प्रभु अनगिनत अन्नों का स्वामी है। उसने सब प्राणियों के निवास-स्थानों में, उस-उस स्थान के जल-वायु के अनुकूल खाद्य पदार्थ प्राप्त कराये हैं। **दाशुषे**=आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए वे प्रभु **रत्नानि**=उत्तम पदार्थों को **दधत्**=धारण करते हैं।

उत्तमोत्तम पदार्थ हमारे चारों ओर विद्यमान हैं। 'उनमें कौन-सा हमारे लिए इस समय उपादेय है कौन-सा नहीं' यह बात अल्पज्ञतावश हम ठीक-ठीक नहीं समझते। वह प्रभु क्रान्तदर्शी=तत्त्वज्ञ होने से ठीक-ठीक समझता है। हमें चाहिए कि हम प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए परिश्रम के परिणाम के रूप में पदार्थों को प्राप्त कराने का भार उस प्रभु पर ही डाल दें। वे ठीक पदार्थों को-रत्नों को-सर्वोत्तम वस्तुओं को प्राप्त कराके हमारी अग्रगति का साधन करेंगे ,इसलिए तो वे प्रभु अग्नि कहलाते हैं।

जीव को चाहिए कि प्रभु के प्रति समर्पण कर दे और यही आराधना करे कि जिस स्थिति में आप ठीक समझते हैं, उसमें रखिए, तभी हम अपने जीवन को उत्तम गुणों से सम्पन्न बनाकर इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' होंगे।

भावार्थ-हम प्रभु के प्रति अपना समर्पण करें, वे हमें रत्न प्राप्त कराएँगे।

ऋषि:—**प्रस्कण्व:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

दर्शन

३१. उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ ११॥

पिछले मन्त्र में समर्पण का विषय चल रहा था। समर्पण उसी के प्रति होता है जिसे हम देख पाते हैं। अनदिखे के प्रति अर्पण क्या! जीव को भी प्रभु दिखेंगे तभी तो उनके प्रति अर्पण करेगा, अत: समर्पण के बाद दर्शन का विषय आता है।

उत् उ=ऊपर उठकर ही। जब तक जीव प्राकृतिक भोगों में उलझा हुआ है तब तक तो प्रभु-दर्शन कर ही नहीं सकता। जिस दिन हम प्रकृति की उलझनों से **उत्**=out=बाहर निकल जाएँगे उसी दिन **त्यम्**=उस दूर-से-दूर-सर्वत्र विद्यमान **जातवेदसम्**=प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान **देवम्**=ज्ञानाग्नि से दीप्त (देवो दीपनात्) **सूर्यम्**=सबको प्रकाशित करनेवाले उस प्रभु को **केतव:**=ज्ञानी, विचारशील (कित ज्ञाने) होकर ही **वहन्ति**=धारण करेंगे।

परमेश्वर की सत्ता हमारे हृदयों में है, परन्तु ज्ञान के अभाव में उसकी सत्ता हमारे लिए न होने के ही समान है। विचारशील बनने पर ज्ञानी प्रभु को अपने अन्दर धारण करते हैं, परन्तु प्रभु का दर्शन कर ये उस अद्भुत रस में ही निमग्न नहीं हो जाते, अपितु **विश्वाय दृशे**=(सर्वेषां दर्शनाय) जगद्रूपी जङ्गल में भटकते हुए अन्य जीवों को भी वे उस प्रभु का दर्शन कराने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करके भी वे स्वार्थी नहीं बन जाते। इनका जीवन ही यह प्रमाणित करता है कि ये स्वार्थ की गन्ध से दूर हैं, परिणामत: मूर्खता से भी दूर हैं। ये वस्तुत: मेधावी हैं, इस मन्त्र के ऋषि 'प्रस्कण्व' बनने के योग्य हैं।

भावार्थ—ज्ञानी चिन्तन करके, प्रकृति की उलझनों से ऊपर उठ, प्रभु का दर्शन करते हैं और अन्य मनुष्यों को भी उसका दर्शन कराने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषि:—**मेधातिथि:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

चार रूपों का स्मरण

३२. कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥ १२॥

हे जीव! **अ-ध्वरे**=इस हिंसारहित जीवन-यज्ञ में **अग्निम्**=उस आगे ले-चलनेवाले प्रभु की **उपस्तुहि**=समीप से स्तुति कर। जीवन में हमसे किसी की हिंसा न हो। हम यथासम्भव औरों का कल्याण ही करें। इस स्थिति में हमारे लिए वे प्रभु अवश्य अग्नि=आगे ले-चलनेवाले होंगे। वस्तुत: अहिंसा का मार्ग ही उन्नति का मार्ग है।

इस जीवन में हम उस प्रभु की समीप से स्तुति करें। उसे सदा समीप समझते हुए उत्तम गुणों में प्रीतिवाले बनें। ये उत्तम गुण इस मन्त्र के चार शब्दों से सूचित हो रहे हैं—

(क) **अमीवचातनम्**=नीरोगता, (ख) **देवम्**=दीपन, प्रकाश, (ग) **सत्यधर्माणम्**=सत्य का धारण, (घ) **कविम्**=क्रान्तदर्शी होना

अन्नमयकोश के दृष्टिकोण से प्रभु को हम **अमीवचातनम्** के रूप में स्मरण करें। वे रोगों का नाश करनेवाले हैं (अमीव=रोग, चातन=नाशक)। प्रभु-स्मरण से मानव-जीवन भोगप्रधान नहीं बनता, परिणामत: रोग भी नहीं होते।

प्राणमयकोश के दृष्टिकोण से वे प्रभु 'देव' हैं (देवो द्योतनात्) सब प्राणों=इन्द्रियों को (प्राणा वाव इन्द्रियाणि) वे द्योतित करनेवाले हैं। ज्ञान की साधनभूत ये इन्द्रियाँ ज्योतिर्मय हैं। इन्हें यह ज्योति प्रभु ने ही प्राप्त कराई है। प्रभु का स्मरण करनेवाले की इन्द्रिय-शक्तियाँ क्षीण नहीं होतीं।

मनोमयकोश के विचार से वे प्रभु सत्यधर्मा हैं। सत्य के द्वारा प्रभु ने मन की पवित्रता की व्यवस्था की है। सत्य मन को राग-द्वेषादि मलों से दूर रखता है। एक स्तोता को सत्य के द्वारा मन का नैर्मल्य सम्पादन करना है।

विज्ञानमयकोश के दृष्टिकोण से मन्त्र में प्रभु को कवि कहा गया है। वे क्रान्तदर्शी हैं। स्तोता को भी क्रान्तदर्शी बनना है। इस मार्ग पर चलना ही बुद्धिमत्ता है। प्रभुकृपा होगी तो हम भी बुद्धिमान् बनेंगे और इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि' होंगे।

भावार्थ—प्रभु रोगों से दूर, ज्योतिर्मय, सत्यस्वरूप व ज्ञान-धन हैं। स्तोता को भी ऐसा ही बनना है। स्तुति का तो लाभ ही उस प्रभु के गुणों में प्रीति है।

ऋषिः—**त्रित आप्त्यो वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दिव्य बुद्धियाँ (Libraries)

३३. शं नो देवीरभिष्टये शं नो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्त्रवन्तु नः ॥ १३ ॥

१. **देवीः**=दिव्य बुद्धियाँ, **नः शम्**=हमारे लिए शान्ति देनेवाली हों। ज्ञान ही मनुष्य को वास्तविक शान्ति प्राप्त करा सकता है। ज्ञान की पराकाष्ठा में वह शान्ति है, जो मनुष्य को वस्तुतः सुखी करती है।

२. **अभिष्टये**=ये दिव्य बुद्धियाँ ही आक्रमण के लिए होती हैं। हमपर जो भी आसुर भावनाएँ आक्रमण करती हैं, ज्ञान ही प्रत्याक्रमण द्वारा उनसे हमारी रक्षा करता है।

३. इस प्रकार **नः**=हमारे रोगों को **शम्**=शान्त करते हुए जल **पीतये**=रक्षा के लिए **भवन्तु**=हों। ज्ञान का अभाव विनाश का मार्ग है। ज्ञान ही वह कवच है जो मानव की आधि-व्याधियों से रक्षा करता है।

४. **शं-योः**=ये शान्ति देनेवाली तथा सब भय व रोगों का निवारण करनेवाली दिव्य बुद्धियाँ **नः**=हमारे **अभिस्त्रवन्तु**=चारों ओर बहें, अर्थात् हम सदा ज्ञान के वातावरण में रहें। हमारे चारों ओर ऋषि-महर्षि अपने ग्रन्थों के रूप में उपस्थित हों और उनके सङ्ग रहकर हम सदा अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए शान्ति, शक्ति, रक्षा तथा नीरोगता आदि का अनुभव करें।

ज्ञान के द्वारा तीनों प्रकार के कष्टों से उत्तीर्ण होकर हम इस मन्त्र के ऋषि 'त्रित' बनें।

भावार्थ—ज्ञान के समान पवित्र करनेवाली कोई वस्तु नहीं है। हम ज्ञान-समुद्र में डुबकी लगाने का अभ्यास करें।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान से सनी वाणियाँ

३४. कस्य नूनं परीणसि धियो जिन्वसि सत्पते। गोषाता यस्य ते गिरः ॥ १४ ॥

१. हे **सत्पते**=सयनों के रक्षक प्रभो! यह शब्द हमें बोध दे रहा है कि हम सयन बनें, वे प्रभु हमारी रक्षा करेंगे।

२. **नूनम्**=निश्चय से आप **कस्य**=सुख की **परीणसि**=पालन व पूरण करनेवाली (पॄ=पालन-पूरणयोः) **धियः**=बुद्धियों को **जिन्वसि**=देते हो। इस वाक्य का बोध स्पष्ट है कि प्रभु की दी हुई प्रेरणाएँ हमारे कल्याण की साधिका हैं। हम उन्हें सुनेंगे तो हमारा कल्याण अवश्य होगा। हृदयस्थ उस प्रभु की आवाज़ को हम न भी सुन पाएँ तो वेदस्थ उसके शब्दों को तो पढ़ व सुन ही सकते हैं। हमें उन्हें पढ़ और सुनकर अपने जीवन को कल्याणमय बनाना चाहिए।

३. हे प्रभो! **यस्य**=जिस **ते**=आपकी **गिरः**=वाणियाँ **गोषाता**=(गो+सन्) ज्ञान से सनी हुई हैं। प्रभु की वेदवाणियाँ ज्ञान-रस परिपूर्ण हैं। वेद क्या हैं? **"रायः समुद्रान् चतुरः"** ये ज्ञान के चार समुद्र हैं। समुद्र भी रत्नाकर होते हैं, ये भी ज्ञानरत्नों से भरे पड़े हैं। इससे हमें भी यह बोध लेना चाहिए कि हमारी वाणियाँ ज्ञान से भरी हों । हमारी परस्पर बातचीत हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाली हों । इस बोध को प्राप्त करके हम सभी के साथ प्रेम करनेवाले, सभी का हित चाहनेवाले इस मन्त्र के ऋषि 'उशना' बनेंगे।

भावार्थ—हम सयन बनें, प्रभु प्रेरणा को सुनें, हमारे वार्त्तालाप भी प्रकाशमय हों।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**शंयुः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अमर व ज्ञानी बनना

३ १ २   ३ १ २ ३ १ २   ३ १ २
३५. **यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे।**

१ २ ३ २ ३ १ २   ३ १ २   ३ २ ३ १   २र
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम्॥ १॥

इस मन्त्र के ऋषि 'शंयु' सबके लिए शान्ति चाहनेवाले हैं। उनकी कामना है कि **वयम्**=हम **अ-मृतम्**=उस अमर **जातवेदसम्**=प्रत्येक पदार्थ को जाननेवाले, सर्वत्र विद्यमान प्रभु की **प्रियं मित्रं न**=प्यारे मित्र की भाँति **प्र प्र शंसिषम्**=स्तुति करते हैं और खूब स्तुति करते हैं।

स्तुति का अभिप्राय गुणों में प्रीति करना है। हम भी प्रभु की भाँति अमर व ज्ञानी बनने का प्रयत्न करते हैं। शंयु के लिए ऐसा करना आवश्यक ही है, क्योंकि **"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः"**। उसे देखकर ही तो सामान्य लोग भी उसी मार्ग का अनुसरण करेंगे। इसीलिए मन्त्र में कहा गया है कि **यज्ञायज्ञा**=यज्ञों के द्वारा **अग्नये**=अग्रगति के लिए **च**=और **गिरागिरा**=वेदवाणियों द्वारा **दक्षसे**=योग्य बनने के लिए हम **वः**=तुझ प्रभु का सर्वज्ञरूप में शंसन करते हैं।

मनुष्य यज्ञों द्वारा ही उन्नत होता है और अमरता का लाभ करता है। एवं, ये यज्ञ उसके अभ्युदय (उन्नति) व निःश्रेयस (अमरता) का कारण बनते हैं।

इसी प्रकार वेदवाणी से मनुष्य का ज्ञान व योग्यता बढ़ती है। मनुष्य के सामने ये ही दो लक्ष्य हों कि यज्ञों के द्वारा अमर व वेदवाणी के द्वारा योग्य बनना है, तभी हमें चाही हुई शान्ति प्राप्त होगी।

भावार्थ—मनुष्य यज्ञों से अपनी उन्नति साधे और वेदवाणी से अपने ज्ञान को बढ़ाए।

ऋषिः—भर्गः **प्रागाथः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

चार वाणियों के द्वारा रक्षा

३६. पाहि नो अग्न एकया पाह्यू३त द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो॥ २॥

हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **एकया**=ऋग्रूपी प्रथम वाणी से **नः**=हमारी **पाहि**=रक्षा कीजिए, **उत**=और **द्वितीयया**=यजूरूप द्वितीय वाणी से भी **पाहि**=रक्षा कीजिए।

ऋग्वेद=विज्ञान-वेद है। बिना विज्ञान के मनुष्य की उन्नति सम्भव नहीं। संसार में जिन जातियों ने विज्ञान में प्रगति की, वे आगे बढ़ गयीं, परन्तु इसी अग्रगति के लिए 'यजूरूप वाणी' से भी रक्षा की प्रार्थना की गयी है। यजुर्वेद कर्मवेद है। उसमें उत्तम कर्मों का प्रतिपादन है। लोकहित के लिए कर्म करने का उपदेश है। जब विज्ञान का प्रयोग यज्ञमय कर्मों में न करके, नाशक कर्मों के लिए किया जाता है तब वही विज्ञान अवनति का कारण बन जाता है, अतः ऋग् और यजुः (विज्ञान व उत्तम कर्म) मिलकर हमारी उन्नति करें और हमारे रक्षक हों।

हे **ऊर्जां पते**=सामर्थ्यों के स्वामिन्! **तिसृभिः**=पहली दो वाणियों के साथ तृतीय सामरूप वाणी से भी हमारी **पाहि**=रक्षा कीजिए। यह साम ही उपासना है, परमेश्वर के सम्पर्क में आना है, और ट्राईन के शब्दों में "In tune with the Infinite" (अनन्त के साथ एक तान में होना) है, तभी तो उसकी शक्ति का प्रवाह हममें हो सकता है और हम भी उसकी शक्तियों से शक्ति-सम्पन्न हो जाते हैं।

वसो=हे निवासक प्रभो! हमें **चतसृभिः**=प्रथम तीन के साथ चौथी अथर्वरूप वाणी से भी **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। यह अथर्ववाणी मुख्यरूप से दो संकेत कर रही है। एक तो **'अ-थर्व'**=नहीं डाँवाँडोल होना और दूसरा **'अथ-अर्वाङ्'**=अब अपने अन्दर, अर्थात् औरों का अध्ययन करते रहने की बजाय अपना ही अध्ययन करना। ये ही दो बातें हमारे बसने व न उजड़ने का मुख्य साधन हैं। डाँवाँडोल होना, दृढ़ निश्चय से कार्यों को न करना तथा दूसरों के दोषों का दर्शन करते रहने की बजाय आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने दोषों को जानकर उन्हें दूर करना ही **वसु**=उत्तम निवासवाला बनने के साधन हैं। इस प्रकार चारों वेदों की ज्ञानाग्नियों से अपने को परिपक्व कर हम इस मन्त्र के ऋषि 'भर्ग' (भ्रस्ज पाके) बनेंगे और इस प्रकार प्रभु का सच्चा गायन करनेवाले 'प्रागाथ' होंगे।

भावार्थ—हम विज्ञान का यज्ञों में प्रयोग कर आगे बढ़ें। भक्ति द्वारा मानस बल को बढ़ाएँ तथा स्थिर संकल्प व स्वाध्याय से वसु (उत्तम बसने व बसानेवाले) बनें।

ऋषिः—**शंयुः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु का प्रकाश किनमें?

३७. बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवत् पावक दीदिहि॥ ३॥

हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **बृहद्भिः**=वृद्धि की कारणभूत **अर्चिभिः**=पूजाओं से

तथा हे **देव**=ज्ञान से दीप्यमान प्रभो! **शुक्रेण**=तीव्र **शोचिषा**=ज्ञान की दीप्ति से **भरद्वाजे**=अपने में शक्ति भरनेवाले में **समिधानः**=प्रकाशित होते हुए **यविष्ठ्य**=सर्वदा युवतम **रेवत्**=ज्ञानधन-सम्पन्न **पावक**=सबको पवित्र करनेवाले आप **दीदिहि**=दीप्त होओ।

प्रभु का प्रकाश पूजा करनेवाले के हृदय में होता है। प्रभु की पूजा उसकी आज्ञाओं के पालन तथा शम, दम, दया, दानादि से होती है। ये ही उसके आदेश हैं।

प्रभु का प्रकाश **रेवत्**=देदीप्यमान ज्ञान की ज्योति से होता है। जब हम अपने मस्तिष्क को निर्मल ज्ञान का निधान बनाएँगे, तभी उसके प्रकाश का अनुभव करेंगे।

प्रभु निर्बलों को प्राप्त नहीं होते। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**, अतः हम अपने में शक्ति का संचय करेंगे, तभी उस प्रभु को पाने के अधिकारी होंगे।

वे प्रभु 'पावक' हैं। हम उस प्रभु का स्मरण करते हुए शम, दमादि गुणों से अपने हृदयों को पवित्र करें। वे प्रभु 'रेवत्' हैं—सर्वोत्तम ज्ञानधन से पूर्ण हैं। हम भी स्वाध्यायादि द्वारा अपने ज्ञान को दीप्त करें।

प्रभु **'यविष्ठ'**=सर्वदा युवतम, अनन्त शक्तिशाली हैं, हम भी अपने अन्दर शक्ति भरें।

जो भी पुरुष 'शंयु' शान्ति की कामनावाला है, उसे अपना जीवन ऐसा बनाना ही होगा।

भावार्थ—पवित्र मन से, दीप्त मस्तिष्क से व शक्ति-सम्पन्न शरीर से ही प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु के प्यारे कौन?

३८. त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वं दयन्त गोनाम्॥ ४॥

स्वाहुत=जीव के हित के लिए अपनी उत्तम आहुति देनेवाले हे प्रभो! प्रभु ने बिना किसी स्वार्थ के अपने को पूर्णरूप से जीवों के हित के लिए दिया हुआ है। इसी भावना को वेद में अन्यत्र 'आत्म-दा' शब्द से कहा है। **अग्ने**=अग्रगति के साधक प्रभो! **त्वे**=तुझे **प्रियासः**=प्रिय **सन्तु**=हों। कौन?

१. **सूरयः**=ज्ञान का विकास करनेवाले, विद्वान्, स्वाध्यायशील लोग। प्रभु ने मनुष्य को सर्वोत्तम उपकरण बुद्धि दी है। जो उसका विकास नहीं करता, वह प्रभु को प्रिय नहीं होता।

२. **यन्तारः**=मन का नियमन करनेवाले। जो मन को वश में नहीं कर पाते, वे मूढ़ विषयासक्त हो प्रभु से दूर ही रहते हैं।

३. **ये**=जो **जनानाम्**=मनुष्यों में **मघवानः**=इन्द्र बनते हैं। इन्द्र ने जिस प्रकार जम्भ, वल, शुष्ण, शम्बर, नमुचि आदि असुरों को मारा, उसी प्रकार जो इन 'जम्भ' हर समय खाने की वृत्ति, 'वल' निर्बलों पर अत्याचार, 'शुष्ण' ईर्ष्या, 'शंवर' क्रोध तथा 'नमुचि' अभिमान आदि को नष्ट करते हैं, वे ही प्रभु के प्रिय होते हैं। और जो—

४. **गोनाम्**=इन्द्रियों के **ऊर्वम्**=समूह को **दयन्ते**=सुरक्षित करते हैं, वाणी आदि इन्द्रियों पर असुरों का आक्रमण नहीं होने देते। जो इन्हें असुरों के आक्रमण से बचाते हैं, वे प्रभु के

प्रिय होते हैं। इन गुणों से युक्त साधक ही इस मन्त्र के ऋषि 'वसिष्ठ' बनते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी, मनस्वी, आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाले, इन्द्रिय-रक्षक पुरुष ही प्रभु के प्रिय होते हैं।

ऋषि:—**भरद्वाज:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

न भटकनेवाला

३९. अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षसः।
अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः॥ ५॥

जीव परमात्मा की स्तुति करता है—हे प्रभो! आप **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले हैं, **जरित:**=पापों को जीर्ण करनेवाले हैं, **विश्पति:**=सब प्रजाओं के पालक हैं। हे **देव**=विजेतारूप में **रक्षस:**=राक्षसों के—आसुर भावनाओं के **तेपान:**=सन्तापक, नाशक हैं।

जब जीव इस प्रकार प्रभु की आराधना करता है, तब प्रभु जीव से कहते हैं—हे **गृहपते**= अपने शरीररूप घर के रक्षक! **अप्रोषिवान्**=यदि तू अन्यत्र भटकता नहीं रहता, अर्थात् परालोचन ही नहीं करता रहता, अथवा यदि तेरी सारी शक्तियाँ धनादि बाह्य वस्तुओं को जुटाने में ही समाप्त नहीं हो जातीं और तू अपने घर की रक्षा की चिन्ता करता है, **महाँ असि**=यदि तू हृदय के दृष्टिकोण से महान् बनता है तथा **दिव: पायु:**=विज्ञानमयकोश के दृष्टिकोण से ज्ञान का रक्षक बनता है अथवा अपनी दिव्यता को नष्ट नहीं होने देता तो तू **दुरोणयु:**=अपने इस मिट्टी के घर को (दुरोणम्=गृहम्) यु=पृथक् करनेवाला होता है, अर्थात् मोक्ष के लिए समर्थ होता है, तभी तूने अपनी शक्ति का ठीक परिपाक किया होता है और तू 'भरद्वाज' कहलाने का अधिकारी बनता है।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु की आराधना तो करे, परन्तु साथ ही स्वयं आत्मालोचनशील, विशाल-हृदय तथा दिव्यता की ओर झुकाववाला बने और इस प्रकार मुक्ति का अधिकारी हो।

ऋषि:—**प्रस्कण्व:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

ज्ञान के लिए ज्ञानियों का सङ्ग

४०. अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः॥ ६॥

हे **अग्ने अमर्त्य**=पूर्ण उन्नत, अमरणधर्मा प्रभो! **जातवेद:**=सर्वज्ञ परमात्मन्! मैं भी आप-जैसा अग्नि, अमर्त्य और ज्ञानी बन सकूँ, इसलिए **उषस:**=अज्ञान के (उच्छति विवासयति पथ्यापथ्यविचारमिति) **विवस्वत्**=निवर्तक (विवस्वान्=विवासनवान्) **चित्रम्**=ज्ञान के दाता (चित्+र) **राध:**=ब्रह्मज्ञानरूप धन को **दाशुषे**=मुझ समर्पण करनेवाले के लिए **आवह**=प्राप्त कराइए। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए **त्वम्**=आप मुझे **उषर्बुध:**=प्रात: जागरणशील अथवा अविद्यारूप नींद से जो जाग्रत् हो चुके हैं, उन **देवान्**=विद्वानों को **आवह**=प्राप्त कराइए।

मनुष्य में 'अग्नि, अमर्त्य व जातवेद' बनने की कामना होनी चाहिए। **अग्नि**=प्रगतिशील

वह है जो 'अमर्त्य' हो, उन्नति करते-करते मरणधर्मा न रहे, अर्थात् मुक्त हो जाए।

अमर्त्य वह बनता है जो कि **जातवेद**=ज्ञानी हो। ज्ञानी वह बनता है जो ज्ञानियों के सम्पर्क में आ पाये। ज्ञानी वे बनते हैं जो उषर्बुध होते हैं। ऐसा बोध यहाँ मन्त्र के शब्दों का क्रम दे रहा है। प्रभु की कृपा से हम भी ज्ञानी बनकर इस मन्त्र के ऋषि 'प्रस्कण्व' उत्तम मेधावी बनें।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में रहें।

ऋषिः—**शंयुः (तृणपाणिः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

यह (ज्ञानरूप) धन

४१. त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः ॥ ७ ॥

हे **वसो**=सबके बसानेवाले न कि उजाड़नेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **ऊत्या**=रक्षा के हेतु से (यहाँ हेतु में तृतीया है) **चित्रः**=ज्ञान देनेवाले हैं। प्रभु जीवों के उत्तम निवास के लिए शतशः साधन जुटाते हैं, परन्तु जीव उनका ठीक प्रयोग न करके कई बार लाभ के स्थान में अपनी हानि कर बैठता है। प्रभु ने जीव को अपनी रक्षा के लिए सर्वोत्तम साधन बुद्धि दी है। देव जिसका नाश चाहते हैं उसकी बुद्धि हर लेते हैं, **'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'** बुद्धि गयी तो मनुष्य गया।

इसलिए हे प्रभो! आप हमें **राधांसि**=सर्वकार्यसाधक ज्ञानरूप धन प्राप्त कराइए (राध संसिद्धौ)। यह ज्ञानरूप धन हमारे पास होगा तो हम संसार में सफल-ही-सफल होंगे। **'बुद्धिस्तु मा गान्मम'**=मेरी बुद्धि न जाए। इस ज्ञानरूप धन के लिए मैं और किससे याचना करूँ? **अस्य रायः**=इस धन के तो **अग्ने त्वम्**=हे प्रभो! आप ही **रथीः असि**=नियन्ता स्वामी हैं। इसे तो आप ही प्राप्त कराएँगे। लौकिक धन तो और भी दे सकते हैं, यह उत्कृष्ट धन तो आपकी कृपा से ही प्राप्त होता है।

आप **नः**=हमारे **तुचे**=युवक सन्तानों के लिऐ भी **गाधम्**=गम्भीर ज्ञान को **विदा**=प्राप्त कराइए। युवकों में जोश होता है, गम्भीरतापूर्वक न विचारने से व बदले की भावना से वे अकार्य कर बैठते हैं। तुच् शब्द तुर्वी धातु से बना है, जिसके अर्थ 'हिंसा, वृत्ति और पूर्ति' हैं। सम्मिलित अर्थ बनता है—हिंसा के द्वारा अपनी जीविका की पूर्ति करने में संकोच न करनेवाला। यौवन के मद में ऐसा करने की सम्भावना होती है, अतः प्रार्थना है कि हमारे युवकों को गम्भीर ज्ञान दीजिए; वे बदले की भावना में न बह जाएँ।

इस गम्भीर ज्ञान को महत्त्व देने पर ही हम सच्ची शान्ति फैला सकेंगे और तभी हम इस मन्त्र के ऋषि 'शंयु' होंगे। ऐसा न हो कि हम सोने-चाँदी को ही महत्त्व देनेवाले बने रहें और अन्त में यह अनुभव करें कि हम तो 'तृणपाणि' ही रह गये।

भावार्थ—प्रभो! ज्ञानरूप धन तो आप ही दे सकते हैं। आप हमें और हमारे युवकों को गम्भीर ज्ञान प्राप्त कराइए।

ऋषिः—**भर्गः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु के उपासक कौन?

४२. त्वमित् सप्रथा अस्यग्ने त्रातऋतः कविः।
त्वां विप्रासः समिधान दीदिव आ विवासन्ति वेधसः॥ ८॥

हे **अग्ने**=अग्ने! **त्वम्**=आप **इत्**=ही **स-प्रथाः**=विस्तारवाले **असि**=हैं, **त्रातः**=त्राण करनेवाले, **ऋतः**=सत्यस्वरूप, **कविः**=क्रान्तदर्शी हैं। इन शब्दों में प्रभु की स्तुति करते हुए हम सामान्यतः अन्नमयकोश के दृष्टिकोण से विस्तारवाले, प्राणमयकोश के दृष्टिकोण से रक्षा करनेवाले, मनोमयकोश के दृष्टिकोण से सत्यव्रती तथा विज्ञानमयकोश के दृष्टिकोण से क्रान्तदर्शी बनने का प्रयत्न करें।

हमारा शरीर विस्तृत हो; हम पतले-दुबले, संकुचित से शरीरवाले न हों। आत्मरक्षा के लिए हम सदा परतन्त्र न बनें रहें। हमारी इन्द्रियाँ सुरक्षित हों, हम उनपर असुरों का आक्रमण न होने दें, तदर्थ हम कानों से भद्र ही सुनें और आँखो से भद्र ही देखें। हम सत्य के द्वारा मन को सदा पवित्र रक्खें तथा बुद्धि को तीव्र बनाकर कवि बनने का यत्न करें।

हे प्रभो! आप **समिधान**=ज्ञान से सम्यक् दीप्त हैं, **दीदिवः**=ज्ञानज्योति से जगमगा रहे हैं। **त्वाम्**=आपको **विप्रासः**=ज्ञान के द्वारा अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **वेधसः**=मेधावी ही **आ विवासन्ति**=पूजते हैं। आपकी भक्ति तो ज्ञानी ही कर पाते हैं। ज्ञान ही हमें पवित्र करके आपकी गोद में पहुँचाता है। प्रभुकृपा से हम भी अपने को इस ज्ञानाग्नि में परिपक्व कर इस मन्त्र के ऋषि 'भर्ग' बनें।

भावार्थ—ज्ञानी बनकर स्वकर्म करना ही सच्ची प्रभु-भक्ति है।

ऋषिः—**भर्गः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

'ज्ञानधन' व 'प्राकृतिक धन'

४३. आ नो अग्ने वयोवृधं रयिं पावक शंस्यम्।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती सुयशस्तरम्॥ ९॥

इस मन्त्र में '**नः**=हमें **आ**=चारों ओर से **रयिम्**=धन **रास्व**=प्राप्त कराइए'—इन शब्दों में धन के लिए प्रार्थना की गयी है 'वह धन ज्ञानरूप है या प्राकृतिक' इस प्रश्न का उत्तर **अग्ने, पावक** व **उपमाते** इन विशेषणों से मिल सकता है। इनके अर्थ क्रमशः 'आगे बढ़ानेवाला, पवित्र करनेवाला, तथा उप=समीप रहकर माति=निर्माण करनेवाला है। प्राकृतिक धन के लिए निःसंकोच ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह तो पतन का कारण भी हो जाता है। ज्ञान के समान कोई पवित्र करनेवाली वस्तु नहीं, जबकि धन अपवित्र विचारों का कारण भी बन जाता है। ज्ञानरूप धन को प्रभु हमारे हृदयों में बैठे हुए ही निर्मित कर रहे हैं। **'ऋचो यस्मादपातक्षन्'**=अग्नि इत्यादि के हृदयों में ऋचाओं का प्रभु द्वारा निर्माण हुआ, अतः वे 'उपमाति' हैं। प्राकृतिक धन के लिए ऐसी बात नहीं कही जा सकती। एवं, इस मन्त्र में ज्ञानरूप धन के लिए ही प्रार्थना है। इन दोनों धनों का अन्तर निम्न विशेषणों से स्पष्ट है—

१. **वयोवृधम्**=जीवन को उन्नत करनेवाले। ज्ञान मानव-जीवन को उन्नत करने का प्रमुख

साधन है। सांसारिक सम्पत्ति तो व्यसनों में फँसाने का कारण हो जाती है।

२. **शंस्यम्**=प्रशंसा के योग्य अथवा विज्ञान की वृद्धि करनेवाले (शंसः=Science)। बाह्य धन ज्ञान की तुलना में प्रशस्य नहीं है।

३. **पुरुस्पृहम्**=(पुरु च स्पृहं च) जो पालन व पूरण करनेवाला है, अतएव वाञ्छनीय है (पृ=पालनपूरणयो; स्पृह=to desire, to aspire) ज्ञान मनुष्य की रक्षा करता है और उसकी न्यूनताओं को दूर करता है। बाह्य धन मृत्यु का कारण हो जाता है, पत्नी भी विष दे देती है, अतः वह वाञ्छनीय नहीं है।

४. **सुनीती सुयशस्तरम्**=उत्तम मार्ग पर ले-चलने के द्वारा खूब उत्तम यश का कारण है। ज्ञान मनुष्य को पवित्र मार्ग पर ले-चलकर उसे यशस्वी बनाता है। धन विपरीत मार्ग पर ले-जाकर अपयश का हेतु होता है। एवं, इस मन्त्र में ज्ञान-धन की याचना की गयी है।

भावार्थ—प्रभो! हमें ज्ञान देकर पवित्र जीवनवाला कीजिए। यही ज्ञान हमें परिपक्व करके 'भर्ग' बनाएगा।

ऋषिः—**सोभरिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रधान कर्त्तव्य 'ईश-स्तुति'

४४. यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम्।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये॥ १०॥

यः=जो **होता**=दाता **विश्वा वसु**=निवास के साधनभूत सब पदार्थों को **दयते**=देता है और इस प्रकार सब आवश्यकताओं को पूर्ण करता हुआ **जनानाम्**=मनुष्यों का **मन्द्रः**=आह्लाद करनेवाला है, उस **अग्नये**=अग्नि के लिए **प्रथमा**=सबसे पहले अतिथि को दिये जानेवाले **मधोः पात्रा न**=जल के पात्रों की भाँति **स्तोमाः**=स्तुतिसमूह **प्रयन्तु**=प्रकर्षेण (खूब) प्राप्त होते हैं।

प्रभु पुरुषार्थ करनेवालों की सब आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं। मनुष्य (**मत्वा कर्माणि सीव्यति**) विचारपूर्वक कर्म करता चले—आवश्यकता पूर्ण करना, योगक्षेम प्राप्त कराना प्रभु का काम है।

जीव का कर्त्तव्य है कि शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन प्रभु-चिन्तन से अपने जीवन का प्रारम्भ करे। उसकी स्तुतियाँ प्रभु को सर्वप्रथम उसी प्रकार प्राप्त हों जैसे अतिथि को सर्वप्रथम जल-पात्र प्राप्त होता है। ऐसा करने से हमारे अन्दर उस शक्ति के स्रोत से शक्ति का प्रवाह चलेगा और हम अपने को उस शक्ति से खूब भरनेवाले 'सोभरि' होंगे।

भावार्थ—हमारा प्रतिदिन का प्रथम कर्त्तव्य प्रभु-गुण-स्मरण होना चाहिए।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

स्तुति के लाभ

४५. एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्॥ १॥

वः=तुम सबके **अग्निम्**=आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **एना**=इस **नमसा**=नम्रता के द्वारा **आहुवे**=पुकारता हूँ।

इस आराधना का लाभ मन्त्र में प्रभु के कुछ विशेषणों द्वारा प्रकट किया गया है—

१. **ऊर्जः न-पातम्**=वे प्रभु शक्ति को न गिरने देनेवाले हैं। प्रभु की आराधना से मनुष्य का सम्पर्क शक्ति के स्रोत प्रभु से बना रहता है और इस प्रकार आराधक में शक्ति का प्रवाह चलता रहता है।

२. **प्रियम्**=प्रभु के आराधक का मन प्रभु-दर्शन के परिणामस्वरूप सदा प्रसन्नता से भरा रहता है।

३. **चेतिष्ठम्**=(अतिशयेन चेतयते) आराधक के हृदय में स्थित ये प्रभु उसे उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

४. **अरतिम्**=(अविद्यमाना रतिर्यस्मात्) प्रभु-दर्शन के बाद विषयों में रस व प्रीति समाप्त हो जाती है (रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते)। ब्रह्मानन्द की तुलना में विषयानन्द तुच्छ लगने लगता है।

५. **स्वध्वरम्**=(शोभनोऽध्वरो यस्मात्) प्रभु का आराधक सदा हिंसाशून्य उत्तम कर्मों में रत रहता है।

६. **विश्वस्य दूतम्**=यहाँ विश्व शब्द विशेषण व सर्वनाम न होकर संज्ञावाची है। यह विश् to enter से बना है। इसका अर्थ है—'जो घुस आये हैं' उनका। वेद के अनुसार यह शरीर **'देवानां पूः'** देवनगरी है। **'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'**=सात ऋषियों का आश्रम है, परन्तु असुर इस देवगृह में बलात् घुस जाते हैं। उन्हें यहाँ 'विश्व' शब्द से कहा गया है। प्रभु इन आसुर वृत्तियों के उपतापक हैं, उन्हें दूर भगानेवाले हैं और इस प्रकार—

७. **अमृतम्**=मोक्ष के साधक हैं—मृत्यु से बचानेवाले हैं।

यह सब प्रभु की आराधना से होता है और प्रभु की आराधना नम्रता से होती है। नम्रता अभिमान आदि वृत्तियों को पूर्णरूप से वशीभूत कर लेने पर आती है। यदि हम ऐसा कर सकेंगे तो मन्त्र के ऋषि 'वसिष्ठ' कहलाएँगे। सबसे बड़ा विजेता अपने को विजय करनेवाला है।

भावार्थ—प्रभु की आराधना नम्रता से होती है। आराधना के सात लाभ हैं—शक्ति, प्रसन्नता, प्रतिभा (Intuitional knowledge), विषय अरुचि, यज्ञशीलता, कामादि संहार व अमृत-प्राप्ति।

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

प्रभु का निवास किनमें?

४६. शेषे वनेषु मातृषु सं त्वा मर्तास इन्धते।

अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि॥ २॥

हे प्रभो! आप **वनेषु**=वनों में (वन=to win)—विजयशील पुरुषों में और **मातृषु**=निर्माण करनेवालों में **शेषे**=शयन करते हैं, निवास करते हैं। वेद में निवास करने के लिए 'शयन

करना' इसका प्रयोग बहुधा पाया जाता है। पुरि शेते=पुरुषः=जीव का नाम है—शरीररूपी नगरी में शयन करनेवाला।

जो हृदय-स्थली में चलनेवाले देवासुर-संग्राम में असुरों से पराजित नहीं हो जाते, वे विजयी हैं। वे असुरों का संहार करते हैं वस्तुतः वे ही सदाचारी हैं। 'विजय ही सदाचार है, पराजय ही अनाचार है।' अपराजित विजयी पुरुषों में ही प्रभु रहते हैं तथा **माता**=निर्माताओं में उनका निवास है। निर्माता पुरुष ध्वंसक वृत्तिवाले नहीं होते। **'तृणं न छिन्द्यात्'** यह मनु-वाक्य इस वृत्ति को न पनपने देने के लिए ही लिखा गया है। ये पुरुष रोग से घृणा करते हैं, रोगी से नहीं। ये पाप से घृणा करते हैं पापी से नहीं। ये पापी को निष्पाप बनाने का प्रयत्न करते हैं। ये शत्रु से घृणा नहीं करते, अपितु उसकी शत्रुता की भावना को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। ऐसे निर्माणशील पुरुषों में प्रभु का निवास होता है।

मर्तासः=(मृङ् प्राणत्यागे) जो धन व समय का ही नहीं, अपने छोटे-मोटे सुखों का ही नहीं, अपितु अपने प्राणों का भी परित्याग करना सीखते हैं, वे मर्त ही **त्वा**=तुझे **समिन्धते**=अपने में दीप्त करते हैं। लोक-संग्रह के लिए जो प्राणत्याग कर सकते हैं, उन्हीं में प्रभु का प्रकाश होता है।

हविष्कृतः=अपने जीवनों को हविरूप बनानेवालों को **हव्यम्**=देने योग्य पदार्थों को आप **अतन्द्रः**=बिना आलस्य के **वहसि**=प्राप्त कराते हैं। ये आत्मत्यागी लोग भूखे नहीं मरते। वस्तुतः जब ये परमेश्वर की प्रजा के हित में लगते हैं तब प्रभु इनके परिवार के पालने में। बस, इस प्रकार, **वन**=विजयी—जितेन्द्रिय, **माता**=निर्माता=निर्माण की वृत्तिवाले, **हविष्कृत्**=अपने जीवन को हविरूप बना देनेवाला मनुष्य, जब मनुष्य श्रेणी से ऊपर उठकर देव बन जाता है, **आत् इत्**=तब निश्चय से इन **देवेषु**=देवों में आप **राजसि**=शोभायमान होते हैं। उनकी एक-एक क्रिया में प्रभु की ज्योति दीखती है।

जीवन का पूर्ण विकास व परिपाक करनेवाले ये व्यक्ति इस मन्त्र के ऋषि 'भर्ग' होते हैं। ये ही प्रभु की क्रियात्मक भक्ति करने के कारण 'प्रागाथ' (उत्तम गायन करनेवाले) कहलाते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय, निर्माता और प्राणों को प्राजापत्य यज्ञ में उत्सर्ग करनेवाले बनें।

ऋषिः—**सोभरिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु को कौन देखता है?

४७. अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः॥ ३॥

अग्निम्=आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **नः**=हमारी **गिरः**=वाणियाँ **नक्षन्तु**=प्राप्त हों, अर्थात् हम सदा प्रभु को पुकारें, उसी का द्वार खटखटाएँ (नक्ष=to knock at) जो प्रभु **आर्यस्य**=उन्नति के मार्ग पर नियमपूर्वक चलनेवाले को (ऋ=गतौ, इयर्ति इति आर्यः) **वर्धनम्**=उत्साहित करनेवाले हैं **उ**=और **उप षु जातम्**=उत्तम प्रकार से समीप प्राप्त होनेवाले हैं। जो आर्यपुरुष इस देवमार्ग पर नियमपूर्वक चलते रहते हैं, वे एक दिन उस प्रभु के समीप पहुँच जाते हैं।

किस प्रभु के समीप? **यस्मिन् व्रतानि आदधुः**=जिसकी प्राप्ति के निमित्त (निमित्त

सप्तमी) विविध व्रतों को धारण किया करते हैं। **'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'**=जिस प्रभु को चाहते हुए ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किया करते हैं। वस्तुतः प्रत्येक उत्तम व्रत हमें उस प्रभु के कुछ समीप ही ले-जाता है।

इस प्रभु को **अदर्शि**=देखता है। कौन? **गातुवित्तमः**=(गातु+वित्+तमः) अतिशयेन देवमार्ग को प्राप्त करनेवाला। जो व्यक्ति इस देवमार्ग पर सर्वाधिक चलता है (विद् लाभे)।

हम सब अपने अन्दर आर्यत्व, व्रतशीलता तथा उत्तम मार्ग पर चलने की भावनाओं को भरकर इस मन्त्र के ऋषि 'सोभरि' हों।

भावार्थ—गत मन्त्र में देवमार्ग का उल्लेख हुआ था, जो नियम से इस मार्ग पर चलता है, वह प्रभु के समीप पहुँचकर उसका दर्शन करता है।

ऋषिः—मनुः॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

वरेण्य अव=चाहने योग्य रक्षा

४८. अग्निरुक्थे पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे।
ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पते देवा अवो वरेण्यम्॥ ४॥

१. **उक्थे**=स्तुति होने पर **अग्निः**=आगे ले-चलनेवाला वह प्रभु **पुरः**=सामने **हितः**=निहित, रक्खा हुआ होता है। हम प्रभु की स्तुति करेंगे तो हमें अवश्य प्रभु का साक्षात् होगा। 'प्रभु का सच्चा उपासक कौन है?' इस विषय में वेद ही कह रहा है कि **'पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत'**=अग्नि के समान तेजस्वी, राग-द्वेष से शून्य, शुचि मनवाले महान् ज्ञानी ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। जो ऐसा बनता है वह प्रभु का उपासक होता है और प्रभु के दर्शन करता है।

२. **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञों, उत्तम कर्मों के होने पर **ग्रावाणः**=इन्द्रियाँ (गृ=गिरन्ति,) विविध रूपादि विषयों का भोजन करती हैं, अथवा **गृणन्ति**=रूपादि विषयों का ज्ञान देती हैं। **बर्हिः**=खूब वृद्ध होती हैं (बृहि वृद्धौ) हिंसात्मक कर्मों से ही इन्द्रियों की शक्ति जीर्ण होती है। हम औरों से बदला लेने के कार्यक्रम बनाते रहें तो अवश्य हमारी शक्तियाँ क्षीण होंगी। क्रोधी, खीझनेवालों को ही जीर्णता प्राप्त होती है।

३. **ऋचा**=विज्ञान व मधुर भाषण से (ऋच्=स्तुतौ=पदार्थों का गुणवर्णन अर्थात् विज्ञान, स्तुति=निन्दा न करना, मधुर शब्द ही बोलना), **वरेण्यं अवः**=चाहने योग्य रक्षा को **यामि**=प्राप्त होता हूँ। इस विज्ञान व मधुर भाषण को जीवन का अङ्ग बनाने के लिए निम्न सम्बोधन उपाय बता रहे हैं—

१. **मरुतः**=हे प्राणो! (प्राणा वाव मरुतः) प्राणों के संयम से बुद्धि की तीव्रता प्राप्त होगी—हम ऊँचे ज्ञानी बनेंगे तथा इन्द्रियों के दोषों को दूर करके भद्र वाणीवाले होंगे।

२. **ब्रह्मणस्पते**=हे ज्ञान के पति प्रभो! प्रतिदिन प्रातः-सायं ज्ञानमय आपके सम्पर्क में आने पर हमारा ज्ञान क्यों न बढ़ेगा और परस्पर भ्रातृत्व की भावना में वृद्धि होकर कलहों की इतिश्री क्यों न होगी?

३. **देवाः**=प्राकृतिक शक्तियो व विद्वानो! विद्वानों के सम्पर्क में आने पर ही हम ज्ञानी

व शिष्ट बनेंगे, इसके साथ पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, वायु आदि के सम्पर्क से भी हम इन दिशाओं में अवश्य उन्नत होंगे। हम इन सब उपायों से अपने ज्ञान को बढ़ाकर तथा व्यवहार में सदा मधुरता का मनन करते हुए सच्चे मनुष्य बनें और इस मन्त्र के ऋषि 'मनु' हों।

भावार्थ—हम सच्चे स्तोता बनकर प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—**सुदीतिपुरुमीढौ**।। देवता—**अग्निः**।। छन्दः—**बृहती**।। स्वरः—**मध्यमः**।।

प्रभु किसको शरण देते हैं?

४९. **अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम्।**
अग्निं राये पुरुमीढ श्रुतं नरोऽग्निः सुदीतये छर्दिः ॥ ५ ॥

१. हे मनुष्य! तू **अवसे**=रक्षा के लिए **शीर**-(शॄ हिंसायाम्) हिंसक हैं **शोचिषम्**=ज्ञानाग्नि की ज्वालाएँ जिसकी, उस **अग्निम्**=प्रभु की **गाथाभिः**=गायन के द्वारा **ईडिष्व**=स्तुति कर। मनुष्य पर प्रतिक्षण काम-क्रोधादि वासनाओं का आक्रमण हो रहा है। उस आक्रमण से अपने बचाव के लिए एक ही उपाय है कि मनुष्य प्रतिक्षण प्रभु का चिन्तन करे। जैसे गडरिये अपनी रक्षा के लिए वन में चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर लेते हैं, उसी प्रकार हम काम-क्रोधादिरूप हिंस्र पशुओं से इस भव-कान्तार में अपने बचाव के लिए ज्ञानाग्नि के पुञ्ज प्रभु को अपने चारों ओर सदा दीप्त रक्खें।

२. हे **पुरुमीढ**=धन की खूब वर्षा करनेवाले पुरुष! तू तो धन की वर्षा करता ही रह। धन समाप्त हो जाने की चिन्ता न कर। **राये**=धन के लिए **अग्निम्**=उस प्रभु की **ईडिष्व**=स्तुति कर, अर्थात् देता जा, और धन के लिए उस प्रभु को पुकारता चल। तू बाँट, बाँटने के लिए धन प्रभु प्राप्त कराएँगे।

३. हे **नरः**=मनुष्यो! **श्रुतम्**=(शृणुत) सुनो। **अग्निः**=वे प्रभु **सुदीतये**=खूब दान देनेवाले के लिए **छर्दिः**=गृह, आश्रय, रक्षणस्थान (Shelter) हैं। जो खूब देता है, वह कभी वासनाओं का शिकार नहीं होता। पञ्चयज्ञ करके यज्ञशेष खानेवाले के पास विलास के लिए धन बचता ही नहीं।

प्रभु करें कि हम इस मन्त्र के ऋषि 'सुदीति' खूब देनेवाले और 'पुरुमीढ' खूब धन की वर्षा करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु रक्षक हैं। हे मनुष्य! तू दानी बन। प्रभु तुझे धन भी प्राप्त कराएँगे और वासनाओं से भी बचाएँगे।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**।। देवता—**अग्निः**।। छन्दः—**बृहती**।। स्वरः—**मध्यमः**।।

हृदय में किनका वास हो?

५०. **श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः।**
आ सीदतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावभिरध्वरे ॥ ६ ॥

हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले **श्रुत्कर्ण**=ज्ञान को विकीर्ण करनेवाले प्रभो! (श्रूयते इति

श्रुत्, तद् विकिरति) **श्रुधि**=मेरी पुकार को सुनिए। आप **देवै:**=दिव्य गुणों के साथ तथा **मित्र:**=स्नेह की देवता और **अर्यमा**=दान की देवता (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) ये सब **अध्वरे**=हिंसा की भावना से शून्य **बर्हिषि**=बढ़े हुए (विशाल, महान्) मेरे हृदय में **आसीदतु**=आकर विराजमान हों।

ये दिव्य भावनाएँ कैसी हैं—

(क) **वह्निभि:**=ये मुझे उस प्रभु के समीप ले-जानेवाली हैं (वह=to carry)। जितनी-जितनी दिव्यता हम प्राप्त करेंगे उतना-उतना प्रभु के समीप पहुँचते जाएँगे।

(ख) **सयावभि:**=(सह यान्ति) ये सब दिव्य गुण साथ-साथ चलनेवाले हैं। हम एक भी दिव्य गुण को अपनाने का यत्न करेंगे तो शेष गुण हमें स्वत: प्राप्त हो जाएँगे।

(ग) **प्रातर्यावभि:**=(प्रात: यान्ति) ये प्रात:काल ही प्राप्त करने के योग्य हैं। प्रात: उठते ही दिव्य भावनाओं के धारण का संकल्प करना चाहिए। यदि हम अपने हृदयों में दिव्य भावनाओं को न बिठाएँगे तो वहाँ आसुर भावनाएँ बैठ जाएँगी।

बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम इन अशुभ भावनाओं को दूर ही रक्खें। इस मन्त्र का ऋषि 'प्रस्कण्व'=बुद्धिमान् है। वह इस रहस्य को खूब समझता है।

भावार्थ—मेरा हिंसाशून्य, विशाल हृदय प्रभु का, देवताओं का, स्नेह का तथा देने की वृत्ति का निवासस्थान बने।

ऋषि:—**सोभरि:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

मोक्ष-प्राप्ति के चार साधन

५१. प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि॥ ७॥

१. **मातरं पृथिवीं अनु**=इस भूमिमाता पर रहने के पश्चात् **वि वावृते**=लौट जाता है और **नाकस्य**=मोक्षलोक के **शर्मणि**=सुख में **तस्थौ**=ठहरता है।

मन्त्र के उत्तरार्ध से यह स्पष्ट है कि जीव का पृथिवी पर निवास अस्थायी है, उसे यहाँ से लौटना है। जैसेकि यात्रा में प्रवास से लौटकर मनुष्य फिर घर में आता है, उसी प्रकार यह पृथिवीवास हमारा प्रवास है, यहाँ से हमें लौटना है। हमारा वास्तविक घर तो ब्रह्मलोक है, जहाँ हम यात्रा के सब कष्टों से मोक्ष पाकर आनन्द में ठहरेंगे।

यह जीवन जब यात्रारूप है तो यात्रा के दो सिद्धान्तों का हमें ध्यान रखना चाहिए। १. यात्रा में मनुष्य अधिक-से-अधिक हल्का रहना चाहता है, क्योंकि यात्रा में अधिक बोझ रुकावट बनता है, अत: हमें भी जीवन-यात्रा में बहुत बड़े-बड़े मकान, ट्रंक व अनावश्यक समान नहीं जुटाना है। २. यात्रा में आदमी आराम को ध्येय न बनाकर कुछ कष्ट से जैसे-तैसे गुज़ारा कर लेता है। हमारा भी जीवन-यात्रा का ध्येय आराम न होकर आ-श्रम (exertion) परिश्रम हो तभी हमारी यात्रा पूर्ण होगी और हम मोक्ष-सुख को प्राप्त करने के लिए अपने घर ब्रह्मलोक में पहुँच सकेंगे। यह कैसे हो? इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं—

१. **दैवोदास:**=देव का सेवक। हमें प्रभु का उपासक बनना है, नकि प्रकृति का दास।

प्रभु के सेवक के उठने-बैठने में यह विशेषता होती है कि वह स्वाद के लिए न खाकर शरीर-धारण के लिए खाता है, वह आमोद-प्रमोद के लिए ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग न करके उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है।

२. **अग्निः**=अग्रे-णीः। अपने को आगे पहुँचानेवाला। हमारे जीवन का यह सूत्र हो कि हमें शरीर, मन व बुद्धि—तीनों दृष्टिकोणों से आगे बढ़ना है। हमारा शरीर अधिक स्वस्थ बने, मन अधिक विशाल व बुद्धि अधिक तीव्र हो।

३. **देवः**=(दिवु=क्रीडा) हम संसार को क्रीड़ामय समझें, तभी हम चोटों को हँसते हुए सहेंगे और चोट लगानेवाले से खिझेंगे नहीं।

४. **इन्द्रो न**=(न=इव, इदि परमैश्वर्ये) हम प्रभु के समान परमैश्वर्यवाले बनें। उस प्रभु का अन्तिम ऐश्वर्य 'सहोऽसि' सहनशीलता है। मैं भी उसके समान तेजस्वी बनूँ, परन्तु यह होगा कैसे? **प्रमज्मना**=प्रकर्षेण उसमें लीन हो जाने के द्वारा। मस्ज्=Merge=लीन हो जाना।

जैसे लोहे का गोला अग्नि में लीन होकर अग्निमय हो जाता है, उसी प्रकार उस परमैश्वर्यवाले प्रभु में लीन होकर हम भी तन्मय हो जाएँ। इस प्रकार इस यात्रा को उत्तम प्रकार से पूरा करनेवाले हम इस मन्त्र के ऋषि 'सोभरि' होंगे।

भावार्थ—यह जीवन एक यात्रा है—इसे पूर्ण करने के लिए १. हम प्रभु-भक्त बनें, २. हमारे जीवन का सूत्र आगे बढ़ना हो, ३. हमारे अन्दर खिलाड़ी की आदर्श मनोवृत्ति हो, ४. हम सदा खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते अपने को प्रभुमय बनाये रक्खें। इस प्रकार यात्रा को पूर्णकर हम मोक्षसुख में स्थित होंगे।

ऋषिः—**मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

इसी मानव देह से

५२. अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि।
अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण॥ ८॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **जात**=उच्च योनि में उत्पन्न आत्मन्! तुझे मैंने सर्वोच्च योनि में जन्म दिया है, अतः **सुक्रतो**=उत्तम प्रज्ञा, उत्तम कर्मों तथा उत्तम संकल्पोंवाला होकर **पृण**= सुखी हो। मनुष्य को चाहिए कि मानवदेह को प्राप्त करके अपनी प्रज्ञा, कर्मों व संकल्पों को उत्तम बनाकर मस्तिष्क, भुजाओं व हृदय सभी का ठीक विकास करे। यह शरीर इसीलिए मिला है।

ये सब बातें होंगी कैसे? प्रभु कहते हैं कि **मम गिरा**=मेरी वेदवाणी के द्वारा। सृष्टि के आरम्भ में दिया गया यह वेदज्ञान मनुष्य का सर्वहितकारी है। इसी से मानव-कल्याण सम्भव है। प्रभु कहते हैं कि इस वेदज्ञान को अपनाकर **अया=अनया**=इस **तन्वा**=मानवदेह से **वर्धस्व**=तू वृद्धि को प्राप्त हो, आगे बढ़ और मोक्ष में अवस्थित हो। इस मानवदेह से ही मनुष्य मोक्ष तक पहुँच सकता है, अन्य पशु-पक्षियों के शरीर से यहाँ पहुँचने में समर्थ नहीं।

मनुष्य को आगे बढ़ना है, परन्तु कहाँ? **अध ज्मः**=पृथिवी से ऊपर, **अध वा दिवः**=और अन्तरिक्ष से ऊपर तथा **बृहतः**=इस विशाल **रोचनात्**=देदीप्यमान द्युलोक से **अधि**=ऊपर। यदि हम सारा समय केवल स्वास्थ्यनिर्माण में समाप्त कर देते हैं तो हम पृथिवीलोक से

ऊपर नहीं उठे। यदि हम द्वेषादि की भावना को दूर कर हृदय के परिमार्जन में लगे रहते हैं तो हम अन्तरिक्षलोक में ही स्थित हैं। इससे भी ऊपर उठकर हमें अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञान की ज्योति से ज्योतिर्मय करना है, परन्तु यहाँ भी रुक तो नहीं जाना। यह ज्ञान भी तो सात्त्विक बन्धन ही है। इससे भी ऊपर उठकर हमें स्वयं देदीप्यमान ज्योति (ब्रह्म) को प्राप्त करना है।

इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि' व 'मेध्यातिथि' हैं। अत् धातु का अर्थ 'निरन्तर जाना' होता है। जो निरन्तर मेधा की ओर चल रहा है वह मेधातिथि है, और वही मेध्य=पवित्र प्रभु की ओर जानेवाला भी बनता है। द्युलोक में पहुँचकर हम मेधातिथि होते हैं, और उससे भी ऊपर उठकर ब्रह्मलोक में पहुँच हम मेध्यातिथि बनते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी को अपनाकर हम इस मानवदेह में आगे बढ़ें, और मोक्षसुख में अवस्थित हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

आगे जाकर लौट पड़ना ठीक नहीं

५३. **कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः।**
न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद् दूरे सन्निहाभुवः॥ ९॥

प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=हे आगे बढ़नेवाले जीव! **त्वम्**=तू **वना**=उपासना तथा प्रकाश की किरणों, अर्थात् ज्ञान (Worshipping, Ray of light) को **कायमानः**=(कामयमानः) चाहता हुआ **यत्**=जो **मातॄः**=धन का निर्माण करनेवाले (मा) और धन में आसक्त करके उपासना व ज्ञान से दूर ले-जानेवाले अतएव हिंसक **अपः**=कर्मों को **अजगन्**=प्राप्त हुआ है, **ते**=तेरे **तत्**=उस **निवर्तनम्**=फिर लौट पड़ने को **न**=नहीं **प्रमृषे**=क्षमा करता हूँ, अच्छा नहीं समझता हूँ।

धन का एक अच्छा पहलू भी है। धन की उपयोगिता विवादास्पद नहीं, परन्तु इसके काले पहलू में एक बात यह भी है कि यह मनुष्य को लोभाभिभूत कर देता है। यह आध्यात्मिक उन्नति के लिए विघातक व अनावश्यक है। उपासना व ज्ञान की ओर चलकर, माया से आकृष्ट हो फिर धनार्जन के कामों में उलझ जाना, यह फिर लौट पड़ना अवनति का कर्म है, अतः त्याज्य है। प्रभु जीव से कहते हैं कि हे जीव! यह जो **दूरे सन्**=बहुत दूर आगे बढ़ा हुआ होकर **इह आभुवः**=फिर वहीं काम्य कर्मों में रह गया, यह ठीक नहीं।

जिस प्रकार गृहस्थ आश्रम बड़ा सुन्दर है। ब्रह्मचर्य के बाद एक व्यक्ति गृहस्थ में प्रवेश करता है तो सभी उसका सम्मान करते हैं, परन्तु वह गृहस्थ के बाद वनस्थ हो, संन्यासी बन फिर गृहस्थ में लौट पड़े तो अखरता है, ठीक नहीं लगता।

काम्य कर्मों से ऊपर उठकर फिर उन्हीं में उलझना ठीक नहीं। काम्य कर्मों से ऊपर उठ, राग-द्वेष से परे पहुँचकर हम इस मन्त्र के ऋषि 'विश्वामित्र' बनेंगे।

भावार्थ—मानव जीवन का सूत्र आगे बढ़ना है, न कि पिछड़ जाना—नीचे की ओर लौट पड़ना।

ऋषिः—**कण्वः**।। देवता—**अग्निः**।। छन्दः—**बृहती**।। स्वरः—**मध्यमः**।।

निवृत्त होकर प्रवृत्त होना

५४. नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥ १० ॥

प्रभु जीव से ही कहते हैं कि हे **अग्ने**=अपने को वृद्धि प्राप्त करानेवाले जीव! **त्वाम्**=तुझे तो **मनुः**=ज्ञानी मैंने **शश्वते**=(शश्वत् इति बहुनाम) अनेकविध (शश् गतौ) क्रियाओं को करती हुई **जनाय**=प्रजाओं के लिए **ज्योतिः**=प्रकाश के रूप में **निदधे**=रक्खा था।

सकामता से ऊपर उठकर काम करनेवाले के आदर्श को देखकर ही अन्य लोग क्रियाएँ करते हैं। यदि इसका जीवन क्रियाशून्य हो जाए तो इसे देखकर अन्य लोग भी अकर्मण्य हो जाएँ।

प्रभु कहते हैं कि तू तो **दीदेथ**=चमकता था—तेरा जीवन तो प्रकाशमय था, **कण्वः**=तू मेधावी था। कण-कण करके तूने उत्तम ज्ञान का संचय किया था, **ऋतजातः**=ऋत से, नियमित गति से तूने अपना विकास किया था, **उक्षितः**=(उक्ष् सेचने) तेरा हृदय करुणा आदि वृत्तियों से सिंचा था। एवं, तूने बौद्धिक, शारीर व मानस सभी उन्नतियों को सिद्ध किया था, इसीलिए **कृष्टयः**=सब मनुष्य **यम्**=जिस तुझे **नमस्यन्ति**=नमस्कार करते थे, वह तू यदि लौट पड़े और आर्थिक बन्धनों में फिर से जकड़ा जाए तो क्या यह ठीक है? नहीं। तुझे तो मैंने विविध क्रियाओं को करते हुए लोगों के लिए ज्योति के रूप में रक्खा है। तुझे घर के धन्धों से निवृत्त हो, लोकहित में प्रवृत्त होना है। 'निवृत्त होकर प्रवृत्त होना' यही मानव जीवन की सार्थकता है, अतः हम भी ज्ञानियों की भाँति निष्काम कर्म करनेवाले बनें, तभी इस मन्त्र के ऋषि 'कण्व' मेधावी होंगे।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिए कि बुद्धिमान्, संयमी व करुणाशील बनकर सामान्य मनुष्यों के लिए 'प्रकाश-स्तम्भ' हो।

प्रथमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**वसिष्ठः**।। देवता—**अग्निः**।। छन्दः—**बृहती**।। स्वरः—**मध्यमः**।।

दया का उमड़ता हुआ समुद्र (Overflowing kindness)

५५. देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम्।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद् वो देव ओहते ॥ १ ॥

हे मनुष्यो! **उत् सिञ्चध्वम्**=अपने हृदयों को दया की भावना से इतना सींचो कि वह दया तुम्हारे हृदयों से बाहर प्रवाहित होने लगे। **वा**=और **उप**=दुःखियों के समीप पहुँचकर **पृणध्वम्**=उनके जीवन को सुखी बनाओ (पृण=सुखी करना)।

दु:खी पुरुष जब हमारे समीप आएँ तो हम उनकी सहायता करें यह भी भद्रता है, परन्तु प्रभु इससे कुछ अधिक चाहते हैं। प्रभु की इच्छा है कि हम दु:खियों के आने की प्रतिक्षा क्यों करें, हम उनके समीप पहुँचकर उन्हें सुख पहुँचाएँ। पीड़ितों के पास पहुँचकर उनकी पीड़ा दूर करने पर **आत् इत्**=उसके पश्चात् अवश्य ही **देव:**=प्रभु **व:**=तुम्हें **ओहते**=प्राप्त होते हैं। प्रभु-प्राप्ति इन **'सर्व-भूत-हिते रत:'** को ही होती है।

वह प्रभु **पूर्णा आसिचम्**=हृदय में दया की भावना के पूर्ण सेचन को **विवष्टु**=चाहते हैं। दया की न्यूनता हमें प्रभु से दूर रखती है।

जब व्यक्ति करुणामय बनकर सबकी सहायता करता है तब उसके पास स्वयं अपनी आवश्यकताओं के लिए धन की कमी हो जाती है और कई बार ऐसा विचार आने लगता है कि इतने श्रम से कमाये हुए धन को इस प्रकार औरों पर कैसे व्यय कर दें? इस प्रश्न का उत्तर वेद इस रूप मे देता है कि **व:**=तुम्हें **देव:**=वह प्रभु ही **द्रविणोदा:**=धन देनेवाले हैं। सब धन उस प्रभु का है। उस प्रभु के धन को प्रभु की प्रजा के कल्याण में व्यय कर देना ही ठीक है।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए दो बातें आवश्यक हैं—हृदय का दया से पूर्ण होना और दु:खियों की सेवा करना। ये दोनों बातें तभी हो सकती हैं जब हम अपने मन को वश में करके इस मन्त्र के ऋषि 'वसिष्ठ' बनें।

ऋषि:—**कण्व:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—मध्यम:॥

यज्ञ के विस्तार के लिए आवश्यक तीन बातें

५६. **प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।**
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः॥ २॥

मानव-जीवन एक यज्ञ है। इस जीवन को यज्ञमय बनाना ही दोनों लोकों को सुखी बनाने का साधन है। 'हमारा जीवन यज्ञमय बना रहे' इसके लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

१. **ब्रह्मणस्पति:**=ज्ञान का पति सर्वज्ञ प्रभु **प्र एतु**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त हो। प्रात:-सायं तो हम उसका चिन्तन करें ही, दिन-रात में भी सभी क्रियाओं को करते हुए हम उसे स्मरण करें। प्रभु के स्मरण से हम भोग-विलास में न फँसेंगे और हमारा जीवन यज्ञमय बना रहेगा।

२. **सूनृता**=(सु ऊन् ऋत) उत्तम, दु:खों का परिहाण करनेवाला, सत्यवाणीरूप **देवी**=दिव्य गुण **प्र एतु**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त हो। सत्य के साथ सभी उत्तम गुण हमारे जीवन का अङ्ग बनते हैं और हमारा जीवन यज्ञमय बना रहता है।

३. **देवा:**=सब प्राकृतिक शक्तियाँ व सब विद्वान् हमारे इस **यज्ञं अच्छ**=यज्ञिय जीवन में **वीरम्**=ऐसी सन्तान **नयन्तु**=प्राप्त कराएँ जो **नर्यम्** (नरहितम्)=लोकहित करनेवाली हो तथा **पङ्क्तिराधसम्**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद पाँचों के हितकर कार्यों को सिद्ध करनेवाली हो। सन्तान की प्रतिकूलता में उस यज्ञ में कुछ शिथिलता आ जाना स्वाभाविक है।

हम पूर्ण प्रयत्न करके अपने इस जीवन को यज्ञिय बनाएँ, भोग-मार्ग धीरपुरुषों का मार्ग नहीं। यज्ञमय जीवनवाला धीरपुरुष ही इस मन्त्र का ऋषि 'कण्व'=मेधावी होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, सत्य को धारण करें व यज्ञिय प्रवृत्तिवाली सन्तान

को प्राप्त करें, जिससे हमारा यह जीवन यज्ञमय बना रहे।

ऋषि:—**कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु की रक्षा किनको प्राप्त होती है?

५७. ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे॥ ३॥

सविता=सब पदार्थों को उत्पन्न करनेवाला वह प्रभु **देवः न**=(देवो दानात्) दाता की भाँति **नः**=हमारी **सु ऊतये**=उत्तम रक्षा के लिए **ऊर्ध्वः तिष्ठ**=ऊपर ही खड़ा है, अर्थात् पूर्ण तैयार है और वह **वाजस्य**=शक्ति का **सनिता**=देनेवाला **ऊर्ध्वः**=सदा शक्ति देने के लिए उद्यत है। **यत्**=ज्योंहि हम **अञ्जिभिः**=(अञ्ज्=व्यक्ति) विषय का स्पष्टीकरण करने में निपुण **वाघद्भिः**=ज्ञान को खूब धारण करनेवाले (वह=to carry) विद्वानों के साथ **विह्वयामहे**=विशेषरूप से बातें (ज्ञानचर्चाएँ) करते हैं (ह्वेञ् शब्दे) तथा उनके साथ स्पर्धा करते हैं, उनसे भी आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील होते हैं (ह्वेञ् स्पर्धायाम्)। **'अति समं क्राम'** बराबरवाले से आगे लाँघ जाओ—इस वेद-वाक्य के अनुसार यह स्पर्धा अचित ही है। संसार का नियम है 'उन्नति या अवनति' (Either progress or regress), अतः हम आगे बढ़ेंगे तो ठीक है, अन्यथा अवनत हो जाएँगे। विद्वानों की स्पर्धा में आगे बढ़ने पर ही हम प्रभु की रक्षा के पात्र होंगे।

मानव जीवन के निर्माण में दो बातें आवश्यक हैं। एक बीज, दूसरी परिस्थिति। बीज हमें माता-पिता से प्राप्त होता है, परन्तु परिस्थिति का निर्माण हम स्वयं करते हैं। बीज की अपेक्षा परिस्थिति का जीवन-निर्माण में तीन गुणा भाग है, अतः अपने भाग्य का निर्माण बहुत कुछ मनुष्य के अपने ही हाथ में है। 'Man is the architect of his own fate.' यह कहावत ठीक ही है। उत्तम परिस्थिति हमें उत्तम बनाएगी, अधम परिस्थिति में हम अधम बन जाएँगे।

भावार्थ—ज्ञानियों के सम्पर्क में रहकर हम प्रभु की रक्षा व शक्ति-प्राप्ति के पात्र बनें। कण-कण करके ज्ञान व शक्ति का सञ्चय करनेवाले हम इस मन्त्र के ऋषि 'कण्व' बनें।

ऋषि:—**सोभरिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

उत्तम सन्तान किसे प्राप्त होती है?

५८. प्र यो राये निनीषति मर्तो यस्ते वसो दाशत्।
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम्॥ ४॥

यः=जो **मर्तः**=मनुष्य **राये**=धन के लिए **प्र निनीषति**=औरों को भी प्रकर्षेण ले-चलना चाहता है। यदि राष्ट्र-शासक इस विचारवाले होंगे तो वे चोरों को केवल क़ैद न करेंगे, अपितु उन्हें जेल में कोई शिल्प सिखाएँगे और मुक्ति पर उन्हें कार्य में लगाने की व्यवस्था करेंगे। एक गृहस्थ भी औरों को धन-प्राप्ति योग्य कार्य सिखाने की दशा में थोड़ा-बहुत काम कर ही सकता है।

परन्तु ऐसी वृत्ति होने पर हमारे पास लोकहित के लिए ही धन जुट पाएगा और हमें

अपने सुखों को तिलाञ्जलि देनी होगी, अतः मन्त्र कहता है कि **यः**=जो **ते**=तुझे **वसो**=हे सबको बसानेवाले प्रभो! **दाशत्**=आत्मसमर्पण कर देता है। अपनी मौज को समाप्त करके प्रभु की प्रजा के हित के कार्यों में जुटता है और उन कार्यों को करते हुए भी अभिमान नहीं करता कि अमुक पुरुष को बसाने में मेरा हाथ है। 'वसु' तो प्रभु हैं। बसानेवाले हम कौन? जो इस प्रकार निरभिमानता से आपके कार्य में लगा रहता है **सः**=वह **अग्ने**=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आपकी कृपा से **वीरम्**=पुत्र को **धत्ते**=प्राप्त करता है। कैसे पुत्र को? १. **उक्थशंसिनम्**=उक्थों=स्तुतियों के द्वारा प्रभु का कीर्तन करनेवाले को। जिस सन्तान का झुकाव प्रभु-कीर्तन की ओर होगा, वह सन्तान पाप में न फँसेगी। प्रभु 'शुद्धम्, अपापविद्धम्' हैं, यह भी वैसा ही बना रहेगा। २. **त्मना सहस्रपोषिणम्**=यह अपने द्वारा हज़ारों का पोषण करनेवाला होगा। औरों का हित करनेवालों की सन्तान ऐसी ही होनी चाहिए।

इस प्रकार प्रभु के प्रति अर्पण करनेवालों की सन्तान दूसरों का भला करनेवाली होती है। प्रभु करें कि हम स्वयं सदा औरों का उत्तम हित और उत्तम पोषण करनेवाले इस मन्त्र के ऋषि 'सोभरि' बने रहें।

भावार्थ—लोकहित करनेवालों को उत्तम सन्तति की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सूक्तों का आश्रय

५९. प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम्।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिर्वृणीमहे यं समिदन्य इन्धते ॥५॥

वः=मनुष्यों में से जो **पुरूणाम्**=अपना पालन व पूरण करनेवाले, अर्थात् आसुर वृत्तियों के आक्रमण से अपनी इन्द्रियों की रक्षा करनेवाले तथा अपनी न्यूनता को देखकर उसे दूर करनेवाले हैं, **विशाम्**=दूसरों के दुःखों में प्रवेश करनेवाले और उनके दुःखों को दूर करके शान्तिलाभ करानेवाले हैं। **देव-यतीनाम्**=(देवान् आत्मन इच्छन्तीनाम्) दिव्य गुणों को अपनाने की इच्छा करनेवाले हैं, उनका जो **प्र**=खूब **यह्वम्**=(यातश्च हूतश्च भवति) जाने योग्य व पुकारने योग्य है, अर्थात् उसी को पुकारते हैं—दूसरे से याचना नहीं करते। इस **अग्निम्**=आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **सूक्तेभिः**=मधुरता से बोले गये **वचोभिः**=वचनों से **वृणीमहे**=हम वरते हैं। **यम्**=जिस प्रभु को **अन्ये इत्**=अन्य लोग भी जप, तप, दान, अध्ययनादि के द्वारा **समिन्धते**=दीप्त करते हैं।

संसार में बालक दो प्रकार के हैं। एक वे जो सदा अपनी माता के चरणों में उपस्थित रहते हैं, किसी भी कार्य के लिए जाना हो तो माता से पूछकर जाते हैं। यदि माता मना कर दे तो नहीं जाते हैं। दूसरे वे बालक हैं जो माता से सदा दूर भागे रहते हैं, साथियों के साथ खेलने में लगे रहते हैं और माता की पुकार को सुनकर भी अनसुना कर देते हैं। हमें यह देखना है कि उस जगज्जननी के प्रति अपने व्यवहार से हम किन बालकों की श्रेणी में आते हैं। यह ठीक है कि खेलनेवाले बालक भी भूख से पीड़ित हो माता के समीप दौड़ते हैं। इसी प्रकार कट्टर-से-कट्टर नास्तिक को भी, "God is no where" के प्रचारक को भी आपत्ति आने पर "God is now here", दीखने लगता है और वे **'अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति'**

नास्तिक भी उस प्रभु के चरणों में पहुँचते हैं। इस प्रकार प्रभु सभी के लिए 'यह्व' हैं ही, पर हमें तो 'पुरु, विश् और देवयति' बनकर सदा प्रभु की शरण में रहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति कड़वे शब्द बोल ही कैसे सकता है? सबसे बड़ी मूर्खता कटु शब्द बोलना है, अतः हमें मधुर शब्दों को अपनाकर 'कण्व' मेधावी ही बनना है, न कि मूर्ख।

भावार्थ—हम मधुर भाषण द्वारा प्रभु का वरण करें।

ऋषिः—**उत्कीलः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अग्नि के तीन लक्षण

६०. अयमग्निः सुवीर्यस्येशे हि सौभगस्य।
राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम्॥ ६॥

अयम्=यह **अग्निः**=आगे बढ़ने के स्वभाववाला जीव **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीर्य का **ईशे**=ईश होता है। भोजन के अनुरूप शरीर में शक्ति का निर्माण होता है—तामस् भोजन से तामस् शक्ति, राजस् से राजस् व सात्त्विक से सात्त्विक। अग्नि सुवीर्य का ईश है, इसलिए **हि**=निश्चय से **सौभगस्य**=उत्तमता व सौन्दर्य का भी ईश है। अग्नि का यही पहला लक्षण है।

दूसरा लक्षण यह है कि यह अग्नि **रायः**=(रा दाने) देने योग्य धन का **इशे**=ईश होता है, क्योंकि यह धन का सदा दान में विनियोग करता है, इसीलिए **स्वपत्यस्य**=उत्तम सन्तान का भी ईश बनता है। "**श्रदस्मै वचसे नरो दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः**" प्रभु कहते हैं कि इस वचन पर श्रद्धा करो कि दिल खोलकर दान देनेवाले पति-पत्नी सुन्दर सन्तान प्राप्त करते हैं। दान लोभ को नष्ट कर सब व्यसनों को नष्ट कर देता है, अतः पवित्र पति-पत्नी उत्तम सन्तान क्यों न पाएँगे?

इस अग्नि का तीसरा लक्षण यह है कि यह **गोमतः**=गोमानों का **ईशे**=मुखिया होता है। उस समय जबकि सब गौ रखते थे, सभी गोमान् थे। उन गोमानों में भी जो खूब उत्तम गौवें रखता है वह गोमानों का ईश **वृत्रहथानाम्**=वृत्र को मारनेवालों का भी ईश बनता है। कामादि वासनाएँ वृत्र हैं, गो-दुग्ध का सेवन करनेवाला उनसे बचा रहता है। यह दुग्ध सात्त्विक होने से सात्त्विक भावों को ही जाग्रत् करता है, इसीलिए वेद में गौ को रुद्र और आदित्यों को पैदा करनेवाली कहा गया है।

भावार्थ—मनुष्य सुवीर्य का ईश बन सौभाग्य का ईश बने, धन का दान करते हुए उत्तम सन्तान प्राप्त करे, गो-दुग्ध के सेवन से सात्त्विक वृत्तिवाला बने। इस प्रकार अपने को इन तीन उत्तम नियमों में बाँधकर मनुष्य मन्त्र का ऋषि 'उत्कील' बने।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

वरणीय पदार्थ प्राप्त करने का मार्ग=(मोक्ष-मार्ग)

६१. त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे।
त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि यासि च वार्यम्॥ ७॥

१. इस मन्त्र में अग्नि=प्रगतिशील जीव को सम्बोधित करके कहा है कि **अग्ने**=हे

अग्ने! **त्वम्**=तू **गृहपतिः**=गृह का पति है। यह शरीर गृह है, अग्नि इसका स्वामी है। कभी-कभी हमारे अन्नमयकोश के स्वामी रोग-कृमि भी बन जाते हैं। अग्नि **''मिताशी स्यात् कालभोजी''** वाक्य को आदर्श बनाकर कृमियों को प्रबल नहीं होने देता। हमारे प्राणमयकोश पर असुरों का आक्रमण हो तो इन्द्रियाँ अशुभ कार्यों में प्रवृत्त हो जाती हैं, परन्तु अग्नि प्राणायाम के द्वारा इन्द्रिय-दोषों का दहन कर डालता है। मनोमयकोश राग, द्वेष, मोह आदि मलों से मलिन हो जाता है, परन्तु यह अग्नि सत्य का व्रत धारण कर उसे निर्मल बनाये रखता है। हमारी बुद्धि असद् विचारों का केन्द्र बन जाती है, परन्तु अग्नि स्वाध्याय के द्वारा बुद्धि को अपना सच्चा सारथि बनाये रखता है। हमें आनन्दमयकोश का नाममात्र भी ध्यान नहीं होता, परन्तु यह अग्नि 'अयुतता'-अपृथक्ता=सबके साथ एकता का ध्यान करता हुआ आनन्दमयकोश का अधिपति बन पूर्णरूपेण गृहपति बनता है।

२. हे अग्ने! **नः**=हममें से **त्वम्**=तू **अध्वरे**=हिंसारहित कर्मों में **होता**=आहुति देनेवाला है। यह अग्नि कभी कोई ऐसा कर्म नहीं करता जिससे दूसरे की हिंसा हो। यह किसी के व्यापार को हानि पहुँचाकर अपने लाभ की बात नहीं सोचता।

३. **विश्ववार**=सभी के चाहने योग्य! **त्वम्**=तू **पोता**=अपने को पवित्र बनाता है। अपवित्रता की स्थिति में मनुष्य न्याय-अन्याय सभी साधनों से धन कमाने में लग जाता है, परन्तु यह अग्नि अपने को इन अशुभ मार्गों से बचाकर ठीक मार्ग पर ही चलता है।

४. **यक्षि**=यह अपने को यज्ञरूप बना डालता है। इसने तन, मन, धन की प्राजापत्य यज्ञ में आहुति दी है **च**=और परिणामतः **वार्यम्**=वरणीय पदार्थ **यासि**=प्राप्त करता है। प्राणिमात्र से वरणीय होने के कारण मोक्ष वार्य है। सभी छुटकारा चाहते हैं, कभी रोगों से, कभी कष्टों से। छुटकारा ही मोक्ष है, चाहने योग्य होने से यही वरणीय है-वार्य है। इस मोक्ष को गृहपति, होता, पोता, विश्ववार व यज्ञशील बनकर यह अग्नि ही प्राप्त करता है। पूर्ण जितेन्द्रिय होने से वह इस मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' होता है।

भावार्थ-मोक्ष-मार्ग की पाँच मंजिलें हैं-गृहपति बनना, किसी की हिंसा न करना, पवित्रता, विश्वप्रिय बनना और यज्ञशील होना।

ऋषिः-**विश्वामित्रः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**बृहती**॥ स्वरः-**मध्यमः**॥

प्रभु की रक्षा का क्रम

६२. सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्तास ऊतये।
अपां नपातं सुभगं सुदंससं सुप्रतूर्तिमनेहसम्॥ ८॥

प्रभु ने जीव को स्वतन्त्रता दी है, अतः प्रभु जीव की रक्षा तभी करते हैं जब जीव रक्षक के रूप में उन्हीं का वरण करे। योग्य-से-योग्य डाक्टर किसी रोगी का बिना कहे इलाज शुरू नहीं कर देता। प्रभु ने तो हमें स्वतन्त्रता दी है, वह बिना कहे उसमें क्यों हस्तक्षेप करे! परन्तु जो समझदार हैं, वे डाक्टर के रूप में प्रभु का वरण करते हैं। **सखायः**=तेरे सखा बनकर **त्वा**=तुझे **ववृमहे**=वरते हैं। प्रभु से रक्षा चाहने का अधिकार भी तो हमें तभी है जब हम कुछ उस-जैसा बनने का प्रयत्न करें। यही भावना 'सखा' शब्द से व्यक्त की गयी है। **सखा**=समान ख्यातिवाले, कुछ-कुछ उस-जैसे स्वरूपवाले (God like)।

देवम्=आप तो सदा देने के लिए तैयार ही हो, **मर्तासः**=हम मर्त हैं, सदा मृत्यु=रोगों का

शिकार हैं; क्या शारीरिक और क्या मानस, आधि-व्याधियाँ हमें सदा व्याकुल किया करती हैं। **ऊतये**=रक्षा के लिए हम मर्त तुझ देव का वरण करते हैं।

प्रभु की रक्षा का प्रकार मन्त्र के उत्तरार्ध में दिये गये पाँच विशेषणों से स्पष्ट हो रहा है। १. **अपां न-पातम्**=आप शक्ति (आपः=रेतः) को नष्ट न होने देनेवाले हो। प्रभु-स्मरण से वीर्यरक्षा होती है। २. **सुभगम्**=उत्तम एश्वर्य प्रदाता हो। ३. **सुदंससम्**=आप उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाले हो। ४. **सुप्रतूर्तिम्**=अज्ञान का खूब ही ध्वंस करनेवाले हो (तुर्वी=हिंसायाम्) और इस प्रकार ५. **अनेहसम्**=पवित्र=Sinless=पवित्र बनानेवाले हो। इन्हीं पाँच क्रमों से प्रभु हमारी रक्षा करते हैं।

भावार्थ—हम सखा बनकर प्रभु को रक्षक के रूप में वरने के अधिकारी बनें। प्रभु का सखा प्राणिमात्र का मित्र होता है, अतः हम इस मन्त्र के ऋषि 'विश्वामित्र' बनेंगे।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**श्यावाश्ववामदेवौ**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हवि के द्वारा मार्जन, दान से अपना शोधन

६३. **आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम्।**
इडस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यता यजतं पस्त्यानाम्॥ १॥

प्रभु अपने सखा से कहते हैं कि १. **आजुहोत**=सर्वशः आहुति देनेवाले बनो। तन, मन, धन से लोकहित करनेवाले बनो। यह हवि तुम्हें पवित्र बनाएगी। **हविषा**=हवि के द्वारा **मर्जयध्वम्**=अपना मार्जन करो। जिसके अन्दर हवि=दान की वृत्ति उपजी, उसका अन्तःकरण पवित्र हुआ। दान शब्द 'डुदाञ् दाने', 'दो अवखण्डने' तथा 'दैप् शोधने' धातुओं से बनकर 'देना', दोषों का खण्डन करना और अपना शोधन इस क्रम को व्यक्त कर रहा है। दान वस्तुतः लोभ को नष्ट कर व्यसन-वृक्ष के मूल को ही समाप्त कर देता है।

२. इस दान की वृत्ति के उपजाने के लिए **नि**=(in) अपने अन्दर **होतारम्**=होतृत्व की भावना को तथा **गृहपतिम्**=गृहपतित्व की भावना को **दधिध्वम्**=धारण करो। हम सदा सोचें कि हमें होता बनकर गृहपति बनना है। प्रारम्भ से ही हममें होता बनने की भावना होगी तो बड़े होकर हम ऐसा क्यों नहीं बनेंगे?

३. यह होतृत्व हममें स्थिर रहे, इसके लिए हमें चाहिए कि **इडः पदे**=अपनी वाणी के स्थान हृदय में **नमसा**=नम्रता से उस प्रभु की **सपर्यत**=पूजा करें, जो प्रभु **रातहव्यम्**=हवि के योग्य पदार्थों, अर्थात् पवित्र पदार्थों के देनेवाले हैं। अपवित्रता व दुर्गन्ध तो हमारे दुष्प्रयोग का परिणाम है, 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च'=प्रभु ने तो पुण्य गन्ध को ही उपजाया है। जब प्रभु सब पदार्थों के देनेवाले हैं तब हमें प्रभु के दिये पदार्थों को प्रभु के प्राणियों को देते हुए क्यों संकोच होगा? वे प्रभु **पस्त्यानाम्**=सब घरों के साथ **यजतम्**=सङ्गति करनेवाले या सबको देनेवाले हैं। हम भी एक ही घर से अपना सम्बन्ध क्यों समझें? सभी घरों को अपना घर समझते हुए वस्तुतः 'सर्वभूतहिते रतः' बनकर, सच्चे प्रभु-भक्त बनें।

भावार्थ—१. पवित्रता के लिए अपने को हविरूप बनाना आवश्यक है। २. हविरूप बनने के लिए प्रारम्भ से होतृत्व का लक्ष्य अपने सामने रखना चाहिए तथा ३. इस लक्ष्य को

क्रियान्वित करने के लिए सभी को सब-कुछ देनेवाले उस प्रभु की विनय सहायक होती है।

ऋषिः-**उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

आदरणीय मानव-जीवन के चार पड़ाव

६४. चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो मातरावन्वेति धातवे।
अनूधा यदजीजनदधा चिदा ववक्षत्सद्यो महि दूत्यां३ चरन्॥ २॥

मानव जीवन का प्रथम पड़ाव ब्रह्मचर्यकाल है। इसमें **शिशोः**=शिशु (शो तनूकरणे) अपनी बुद्धि को तीव्र करनेवाले का तथा **तरुणस्य**=तरुण (तॄ) वासनाओं को तैर जानेवाले का **वक्षथः**=विकास (वक्ष=to wax, to grow) **चित्र इत्**=सचमुच अद्भुत है। ब्रह्मचर्यकाल में यदि उसने दो बातों का ही ध्यान रक्खा कि १. बुद्धि को तीव्र करना है तथा २. वासनाओं का शिकार नहीं होना है तो यह उसकी प्रशंसनीय सफलता होगी।

इसके बाद गृहस्थ में वह **धातवे**=पालन-पोषण के लिए **मातरौ अनु**=माता-पिता के पीछे **न एति**=नहीं जाता तो यह प्रशंसनीय है। गृहस्थ में तो प्रवेश ही तब करना चाहिए जबकि 'धीं श्रीं स्त्रीम्'=ज्ञान व धन का उसने सम्पादन कर लिया हो। गृहस्थ बनकर तो उसे स्वयं माता-पिता की सेवा करनी है, न कि सेवा लेनी।

अब गृहस्थ का सम्यक् पालन करने के बाद **यत्**=जब वह अपने को **'अनूधाः'**=अन्तःपुर (secret apartments)=निज घर के बिना **अजीजनत्**=कर लेता है, अर्थात् वानप्रस्थ बन जाता है और उसकी कुटिया का द्वार सबके लिए खुला रहता है तब यह भी बड़ी प्रशंसनीय बात है।

अध चित्=अब इस वानप्रस्थ के बाद ही, संन्यासी बन **सद्यः**=वह शीघ्र ही **महि दूत्याम्**=महान् दूतकर्म को **चरन्**=करता हुआ **आववक्षत्**=वेदज्ञान को सर्वत्र ले-जाता है, अर्थात् पहुँचाता है। इस प्रकार अपने जीवन के चारों पड़ावों को प्रशंसनीय प्रकार से बिताता हुआ यह सचमुच इस मन्त्र का ऋषि 'उपस्तुत' बनता है। हृदय की वासनाओं के उद्बर्हण के कारण स्तुति किये जाने से यह 'वार्ष्टिहव्य' कहलाता है।

भावार्थ-जीवन के चारों पड़ावों को हम बड़े सुन्दर प्रकार से तय करें।

सूचना-मातरौ का अर्थ माता-पिता करना कुछ कठिन है, उस स्थिति में रूप 'मातापितरौ' या 'पितरौ' बनता है। यहाँ वास्तव में माता और mother-in-law से तात्पर्य है। आजकल युवक पिता न भी दें तो माता से माँग लेते हैं और mother-in-law से माँगना तो अधिकार ही समझते हैं। वे भी तङ्ग हैं-यह तङ्गी **'जामाता दशमो ग्रहः'** इस वाक्य से व्यक्त है।

ऋषिः-**बृहदुक्थः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

तीन ज्योतियाँ

६५. इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व।
संवेशनस्तन्वे३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे॥ ३॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि १. **इदं ते एकम्** (ज्योतिः)=यह तेरी प्रथम ज्योति है।

स्वास्थ्य से प्राप्त होनेवाली शरीर की कान्ति ही जीव की प्रथम ज्योति है। यदि एक व्यक्ति स्वस्थ रहे तो उसके शरीर पर एक चमक होगी।

शरीर में अग्नि (जाठराग्नि) का कार्य ठीक चलता रहे तो रोग नहीं आते और स्वास्थ्य ठीक बना रहता है, अतः जिस प्रकार पृथिवी की ज्योति अग्नि है उसी प्रकार पार्थिव शरीर की ज्योति भी इसी जाठराग्नि से उत्पन्न होती है। इसके बाद प्रभु कहते हैं कि–

२. **उ**=और **ते**=तेरी **एकम्**=एक परम् (ज्योतिः) इस शारीरिक ज्योति से **परः**=अधिक उत्कृष्ट ज्योति है, जिसे 'मानस ज्योति' कहा जाता है। शरीर को स्वस्थ रखने से जैसे शारीरिक कान्ति प्राप्त होती है उसी प्रकार मन को स्वस्थ रखने से यह मानस ज्योति उपलब्ध होती है। मन में किसी के प्रति द्वेष न होने, राग-द्वेष-मोहादि मलों से शून्य होकर मन के शुचि होने से जो मानस आनन्द प्राप्त होता है, वह एक अनुपम आनन्द है। उस समय अन्तरिक्ष की ज्योति चन्द्रमा की भाँति यह हृदयान्तरिक्ष की ज्योति मन भी खूब दीप्तिमय होता है। निर्मल चन्द्र आह्लाद उत्पन्न करता है, निर्मल मन भी उसी प्रकार आह्लादमय होता है।

३. शरीर के स्वास्थ्य और मन की निर्द्वेषता के पश्चात् प्रभु कहते हैं कि तू अब **तृतीयेन**=तीसरी **ज्योतिषा**=ज्योति के साथ **संविशस्व**=आनन्द लेनेवाला बन (संविश्=to enjoy) तथा प्रतिक्षण उसी के प्राप्त करने में लगा रह। (संविश्=to be engaged in)। यह तृतीय ज्योति मस्तिष्करूप द्युलोक की ज्योति बुद्धिरूप सूर्य है। जीव के कर्त्तव्य की परिनिष्ठा स्वास्थ्य व निर्द्वेषता के साथ नहीं हो जाती, उसे तो बुद्धि का विकास करके ही विश्रान्ति लेनी है। जैसे सूर्य के बिना अग्नि व चन्द्र की सत्ता नहीं हो सकती, उसी प्रकार बुद्धि निर्द्वेषता व स्वास्थ्य को जन्म देती है।

मनुष्य ने केवल स्वास्थ्य पर ध्यान दिया तो उसने हाथी बनने को ही अपना लक्ष्य समझ लिया। केवल निर्द्वेषता को लक्ष्य बनाकर हम गौ, भेड़ से ऊपर नहीं उठ सकते। मनुष्य तो बुद्धि का विकास करके ही मनुष्य बन पाता है।

एवं, शारीरिक, मानस व बुद्धि तीनों ज्योतियों को प्राप्त करने में लगे रहनेवाला व्यक्ति **'संवेशनः'** कहलाता है। यह संवेशनः ही वस्तुतः **तन्वे**=शरीर में (तन्वाम्=तन्वे) **चारुः**=बड़ा सुन्दर बनकर **एधि**=रह रहा है। एकाङ्गी उन्नति करनेवाले के जीवन में वह सौन्दर्य नहीं, जो इस सर्वाङ्गीण उन्नति से उत्पन्न होता है।

इन तीनों उन्नतियों का करना ही परम=उत्कृष्ट जनित्र=विकास (प्रादुर्भाव) है। समविकास ही परम विकास है। इसी में सौन्दर्य है। इस **परमे जनित्रे**=परम विकास के होने पर ही मनुष्य **देवानाम्**=विद्वानों का **प्रियः**=प्रिय होता है। समझदार लोग इस समविकासवाले का ही आदर करते हैं।

परमेश्वर की स्तुति भी समविकास द्वारा ही होती है। **पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत**, अर्थात् अग्नि के समान कान्तिवाले, पवित्र विद्वान् ही वस्तुतः स्तुति-समूहों से प्रभु की स्तुति करते हैं। यह शरीर प्रभु का मन्दिर है, इसे नीरोग, निर्द्वेष, निर्जड़ रखना ही प्रभु का आदर करना है। यह महान् स्तुति करनेवाला 'बृहदुक्थ' इस मन्त्र का ऋषि है। बृहत्=महान्, उक्थ=स्तुतिवाला।

भावार्थ–प्रभु की सच्ची स्तुति यही है कि हम स्वस्थ, द्वेषरहित व तीव्र बुद्धिवाले बनने

का प्रयत्न करें।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

यह स्तोम=स्तुति

६६. इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ ४॥

इमं स्तोमम्=इस स्तुति को, जिसका गत मन्त्र में तीन ज्योतियों के समविकास के रूप में उल्लेख हुआ है, हम **अर्हते**=प्रशंसनीय प्रभु के लिए **संमहेमा**=संस्कृत करते हैं। इन तीनों ज्योतियों का विकास हमने क्या किया है? इनका विकास करनेवाला तो वह प्रभु ही है। यह सब प्रशंसा उसी की है। जहाँ-जहाँ विजय व सफलता है, उसका करनेवाला वही है, क्योंकि वह **जातवेदसे**=प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है (जाते जाते विद्यते)। नासमझ व्यक्ति इन विजयों को अपना समझ गर्वान्वित हो जाया करते हैं, परन्तु समझदार इन विजयों को अपना न समझ प्रभु का ही जानते हैं। इसी से मन्त्र में कहा है कि **मनीषया**=बुद्धि से हम इस स्तुति को उस प्रशंसनीय, सबमें विद्यमान प्रभु के लिए उसी प्रकार संस्कृत करते हैं **इव**=जैसे एक बढ़ई **रथम्**=रथ को।

जिस प्रकार रथ हमें यात्रा के अन्त तक पहुँचाता है, उसी प्रकार यह प्रभु की स्तुति भक्त की जीवन-यात्रा के लिए रथ का काम देती है। **अस्य**=इस प्रभु की **संसदि**=समीपता में सम्यक् बैठने से **नः**=हमारी **प्रमतिः**=बुद्धि **हि**=निश्चय से **भद्रा**=कल्याणी, शुभ विचारोंवाली बनी रहती है। अशुभ विचार आते ही मनुष्य व्यसनों में फँस यात्रा की प्रगति को समाप्त कर लेता है और उसकी महान् हानि (महती विनष्टिः) हो जाती है, परन्तु **अग्ने**=हे प्रभो! **वयम्**=हम तो **तव**=तेरी **सख्ये**=मित्रता में **मा**=मत **रिषाम**=हिंसित हों।

प्रभु की मित्रता में आसुर वृत्तियों को हमपर आक्रमण करने का साहस ही कैसे हो सकता है? प्रभु-सम्पर्क से शक्तिशाली बन हम इन आसुर वृत्तियों के कुचलनेवाले इस मन्त्र के ऋषि 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) बनते हैं। शक्तिशाली होने से 'आङ्गिरस' होते हैं।

भावार्थ—हम सदा प्रभु की स्तुति करें, उसी के सम्पर्क में रहें, उसी की मित्रता प्राप्त करें।

ऋषिः—भरद्वाजः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उन्नत पुरुष के लक्षण

६७. मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः॥ ५॥

जो पुरुष परमेश्वर के सम्पर्क में आकर उन्नत होता है, उसके क्या लक्षण हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह मन्त्र इस प्रकार देता है कि—

१. **दिवः मूर्धानम्**=ज्ञान व प्रकाश के मस्तक=शिखररूप इस पुरुष को **देवाः**=प्राकृतिक शक्तियाँ, विद्वान् व महादेव प्रभु **जनयन्त**=विकसित करते हैं। प्रभु की स्तुति करनेवाला पुरुष उत्तम परिस्थिति पाकर प्रकृष्ट पण्डित बनता है।

२. **पृथिव्याः अ-रतिम्**=इस पुरुष को पार्थिव भोगों के प्रति बहुत रति व प्रेम नहीं होता। इसकी रुचि भोजनों की स्वादुता व वस्त्रों की सुन्दरता में केन्द्रित नहीं होती।

३. **वैश्वानरम्**=विश्व-नर-हितम्=यह सब मनुष्यों के लिए हितकर कार्य करता हुआ जीवन बिताता है। यह केवल अपने लिए नहीं जीता।

४. **ऋते आजातम्**=यह सत्य का ही अनुभव करने के लिए पैदा होता है। सांसारिक सुखोपभोग की वृद्धि के लिए यह कभी असत्य का आश्रय नहीं लेता।

५. **अग्निम्**=इसके जीवन का सूत्र होता है—'आगे बढ़ना', अवनति-पथ पर यह कभी पग नहीं रखता।

६. **कविम्**=यह क्रान्तदर्शी बनता है। वस्तुओं की बाह्य आकृति (appearance) से यह धोखे में नहीं आता। यह तह तक पहुँचकर वस्तुतत्त्व को जानने का यत्न करता है।

७. **सम्राजम्**=(सम् राज्) इसका जीवन बड़ा नियमित (well-regulated) होता है।

८. **जनानाम्**=यह सदा मनुष्यों के सम्पर्क में आनेवाला होता है। मनुष्यों की ओर-न कि उनसे दूर-सतत गमन करनेवाला होता है। संसार को माथा-पच्ची समझ हिमालय की कन्दराओं की ओर नहीं भाग जाता।

९. **आसन्**=(आसन्=आस्य) मुख के द्वारा, अपने वेदानुकूल उपदेशों द्वारा **नः**=लोगों का **पात्रम्**=रक्षक (पा=रक्षणे) होता है।

इस प्रकार अपने जीवन में शक्ति का भरण करने से यह इस मन्त्र का ऋषि भरद्वाज होता है।

भावार्थ—उन्नत पुरुष ज्ञान के शिखर पर पहुँचता है, पार्थिव वस्तुओं में रुचि नहीं रखता, लोकहित का जीवन बिताता है, सदा सत्यवादी, प्रगतिशील, क्रान्तदर्शी, नियमित जीवनवाला होकर मनुष्यों के सम्पर्क में रहता हुआ सदुपदेशों से उनका कल्याण करता है।

ऋषिः—भरद्वाजः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

श्रव्य स्तुति के तीन लाभ

६८. वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवाः।
तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्याजिं न गिर्ववाहो जिग्युरश्वाः॥ ६॥

हे **अग्ने**=प्रभो! **उक्थेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **त्वत्**=आपसे **देवाः**=दिव्य गुण (divinity) **वि**=विशेषरूप से **जनयन्त**=प्रादुर्भूत होते हैं, **न**=जैसे **पर्वतस्य पृष्ठात्**=पर्वत-पृष्ठ से **आपः**=जल अवतीर्ण हुआ करते हैं। प्रभु का स्तोता अपने में दिव्यता को अवतीर्ण होता हुआ अनुभव करता है। क्रोध-द्वेषादि भावनाएँ उसे छोड़ जाती हैं।

२. **तम्**=देवरूप बने हुए इस पुरुष की **सुष्टुतयः**=उत्तम स्तुतियोंवाली **गिरः**=ये वाणियाँ **त्वा**=आपको (प्रभु को) **वाजयन्ति**=गमयन्ति=प्राप्त कराती हैं। सर्वत्र व्यापक होने के नाते तो प्रभु सर्वत्र हैं, परन्तु जीव अपने में दिव्यता को धारण कर, प्रभु का प्रतिरूप-सा बनकर प्रभु के समीप पहुँचता है।

३. प्रभु के समीप पहुँचनेवाले ये **गिर्ववाहः**=अतिशय स्तुतियों को धारण करनेवाले भक्त

अश्वाः न=घोड़ों की भाँति, शक्तिशालियों के समान (घोड़ा शक्ति का प्रतीक है) **आजिम्**=इस संसार-संग्राम को—हृदय-स्थली पर चलनेवाले देवासुर-संग्राम को **जिग्युः**=जीत जाते हैं। यह संसार एक नदी के समान है जो पग-पग पर प्रलोभनों की चट्टानों से भरा पड़ा है, इसे जीतना सुगम नहीं, परन्तु प्रभु का स्तोता प्रभु से शक्ति पाकर इसे पार कर लेता है। वह प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' (अपने में वाज=शक्ति को भरनेवाला) बनता है।

भावार्थ—स्तुति के क्रमिक तीन लाभ हैं—१. दिव्यता की प्राप्ति २. प्रभु की समीपता ३. संसार-संग्राम में विजय।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मृत्यु से पहले ही

६९. आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम्॥ ७॥

मनुष्य की उन्नति इसी में है कि उसके कार्य हिंसाशून्य हों। यदि मनुष्य अपने जीवन को 'अ-ध्वर'=हिंसाशून्य बना लेता है तो वह उत्तमता की मर्यादा पर पहुँच जाता है, परन्तु इस उत्थान का उसे गर्व न हो जाए, अतः वेद कहता है कि **वः**=तुम्हारे **अध्वरस्य**=इस हिंसाशून्य जीवन का **राजानम्**=दीप्त करनेवाला वह प्रभु है। उस प्रभु की कृपा से ही तुम अपने जीवन को ऐसा बना पाये हो। वह प्रभु ही इन **अध्वरस्य**=यज्ञों का **रुद्रम्**=वेदवाणी द्वारा उपदेश देनेवाला है। उसने वेद में सब उत्तम कर्मों का ज्ञान दिया है। यजुर्वेद मनुष्य द्वारा किये जाने योग्य यज्ञों का वेद है।

प्रभु ने उपदेश ही दे दिया हो, इतना ही नहीं उसने उन यज्ञों को कर सकने के लिए **होतारम्**=सब आवश्यक साधनों को भी प्राप्त कराया है। वे प्रभु **रोदस्योः**=इस पृथिवी और द्युलोक के मध्य में **सत्ययजम्**=सत्य का अनुष्ठान करनेवालों का आदर करते हैं, वे सत्यनिष्ठ प्रभु के प्रिय होते हैं, परन्तु इस सत्यनिष्ठा पर पहुँचानेवाले भी वे प्रभु ही हैं। वे ही **अग्निम्**=हमें आगे ले-चलते हैं।

हमें चाहिए कि **तनयित्नोः**=विद्युत् की चमक के समान आकस्मिक रूप से आ जानेवाली **अचित्तात्**=मृत्यु से **पुरा**=पहले ही प्रभु को जानने का प्रयत्न करें। न जाने कब मृत्यु आ जाए, अतः हम यथासम्भव शीघ्र **आकृणुध्वम्**=अपने चारों ओर व्याप्त प्रभु को जानने के लिए यत्नशील हों। वे प्रभु **हिरण्यरूपम्**=ज्योतिर्मय हैं। उनका जानना ही **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए है, अन्यथा उपनिषद् के शब्दों में आवागमन के चक्र में उलझे रहने के रूप में **महती विनष्टिः**=महान् हानि-ही-हानि है।

उस प्रभु को जानकर ही हमारा जीवन भी **राजानम्**=यज्ञों से दीप्त, **रुद्रम्**=औरों को सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाला, **होतारम्**=दानशील, **सत्ययजम्**=सत्यनिष्ठ, **अग्निम्**=उन्नतिशील व **हिरण्यरूपम्**=ज्योतिर्मय होगा और हम इन उत्तम दिव्य गुणों से सम्पन्न 'वाम'=सुन्दर 'देव' दिव्य गुणोंवाले इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' बनेंगे।

भावार्थ—मृत्यु से पूर्व ही प्रभु को जानने का प्रयत्न करो। इसी में मानव-जीवन की सफलता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मुमुक्षु के लक्षण

७०. इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन।
नरो हव्येभिरीडते सबाध आग्निरग्रमुषसामशोचि॥ ८॥

१. **अग्निः**=अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला यह मुमुक्षु **राजा**=बड़ा नियमित जीवनवाला होता है। इसकी सभी क्रियाएँ—खाना, पीना, सोना, जागना—बड़े नियम से चलती हैं, सूर्य-चन्द्र की गति के समान समय पर होती हैं। २. **अर्यः**=यह स्वामी होता है। किनका? अपनी इन्द्रियों का। इन्द्रियों के वशीभूत होकर यह कभी कोई अकार्य नहीं करता। इन्द्रियाँ उसकी उन्नति का साधन होती हुई उसकी दास होती हैं। प्राकृतिक जीवन में उसकी क्रियाएँ नियमित होती हैं, आध्यात्मिक जीवन में संयत।

इतना उत्कृष्ट जीवनवाला होता हुआ भी वह नम्र होता है और वस्तुतः ३. **नमोभिः**=इन नम्रताओं से **समिन्धे**=और भी अधिक चमकता है। ४. यह मुमुक्षु वह है **यस्य**=जिसका **प्रतीकम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग **घृतेन**=दीप्ति से **आहुतम्**=आहुत होता है। इसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग एक विशेष प्रकार की चमकवाला होता है। उसके मन की शान्ति चेहरे पर ज्योति के रूप में प्रकट होती है।

५. अपने जीवन को इस प्रकार बनाकर यह मुमुक्षु **नरः**=औरों को आगे ले-चलनेवाला बनता है और इस लोकहित की प्रवृत्ति में ६. **हव्येभिः**=तन, मन, धन की आहुतियों से यह प्रभु की **ईडते**=उपासना करता है। इस कार्य में यह ७. **सबाधः**=बलयुक्त होता है। इस लोकहित के कार्य को यह ढिलमिलपने से न करके शक्तिशाली बनकर करता है। ८. यह अग्नि **आ-उषसाम् अग्रे**=सदा उषाकाल के अग्रभाग में—बहुत तड़के **अशोचि**=अपनी गत दिन की कमियों पर पश्चात्ताप करता है और आगे से उन्हें न दुहराने के दृढ़-निश्चय से अपने को पवित्र व दीप्त बनाता है।

इस प्रकार सब इन्द्रियों को वश में करने के कारण यह मुमुक्षु इस मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' बनता है।

भावार्थ—मुमुक्षु को नियमित व संयत जीवनवाला होकर लोकहित के द्वारा प्रभु की उपासना में निरत रहना चाहिए।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

चार बातें

७१. प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध॥ ९॥

१. **अग्निः**=अपने जीवन को प्रगतिशील बनाकर 'अग्नि' नाम से पुकारा जानेवाला

व्यक्ति **बृहता**=सब प्रकार की वृद्धि के कारणभूत **केतुना**=नीरोगता के साथ **प्रयाति**=उत्तम प्रकार से जीवन-यात्रा में चलता है। स्वास्थ्य के बिना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष किसी भी पुरुषार्थ की प्राप्ति सम्भव नहीं, अतः यह अग्नि अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान करता है। यह पथ्य का ही सेवन करता है, इसके जीवन में स्वाद को प्रधानता नहीं मिलती।

२. यह अग्नि स्वस्थ बनकर **रोदसी**=द्युलोक से पृथिवीलोक तक सभी के लिए **वृषभः**=सुखों की वर्षा करनेवाला होकर **आरोरवीति**=खूब उपदेश देता है।

३. यह अग्नि लोगों को ज्ञान देने के लिए स्वयं **दिवः**=ज्ञान के **अन्तात्**=परले सिरों को तथा **उपमाम् चित्**=समीप के सिरों को **उदानट्**=व्याप्त करता है। सरस्वती=ज्ञान की देवता जब एक नदी के रूप में चित्रित की जाती है तब सृष्टि-विद्या उसका उरला किनारा होता है और ब्रह्मविद्या परला। यह अग्नि इन दोनों किनारों को व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। वह यह समझता है कि अलग-अलग ये दोनों विद्याएँ अन्धकार में ले-जानेवाली हैं। इनका मेल ही निःश्रेयस को सिद्ध कर सकता है।

४. इस प्रकार विज्ञान व ब्रह्मज्ञान को अपनाकर अग्नि **अपाम्**=कर्मों की **उपस्थे**=गोद में **ववर्ध**=आगे और आगे बढ़ता है। ज्ञानी बनकर यह सदा क्रियाशील होता है। यह लोकहित के लिए सदा कर्मों में लगा रहता है, अतएव **महिषः**=लोकों का पूजनीय होता है।

इस अग्नि का लक्ष्य उत्तम ज्ञान के द्वारा त्रिविध दुःखों को शीर्ण (नष्ट) करना होता है और इसी से यह इस मन्त्र का ऋषि 'त्रिशिराः' कहलाता है।

भावार्थ—'अग्नि'=प्रगतिशील जीव स्वस्थ, ज्ञानी व क्रियाशील होता है।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिपाद्विराड् गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अरणियों से अग्नि का दीपन

७२. अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम्।
दूरेदृशं गृहपतिमथर्व्युम्॥ १०॥

प्रभु कहते हैं कि हे **नरः**=मनुष्यो! तुम **अरण्योः**=ज्ञान और भक्ति की अरणियों की **दीधितिभिः**=दीप्तियों से **अग्निम्**=प्रगतिशील जीव का **जनयत**=विकास करो, अर्थात् ज्ञान और भक्ति का उचित समन्वय होने पर ही मनुष्य प्रगति कर सकता है। केवल ज्ञान या केवल भक्ति मनुष्य के उत्थान के लिए उसी प्रकार असमर्थ है, जैसे केवल दायाँ या केवल बायाँ पंख पक्षी के उत्पतन के लिए। हृदय व मस्तिष्क दोनों का मेल ही मनुष्य को ऊँचा उठा सकता है।

मनुष्य ज्यों-ज्यों ऊँचा उठता जाता है त्यों-त्यों वह **हस्तच्युतम्**=धन को हाथ से त्यागनेवाला बनता जाता है। धन उत्थान में विघ्न है, यात्रा में बोझ है। धन को त्यागनेवाला होकर ही यह **प्रशस्तम्**=उत्तम जीवनवाला होता है। इसके कार्य लोभशून्य होने से पवित्र होते हैं। यह इहलौकिक सुखों को ही प्रधानता न देने के कारण **दूरे दृशम्**=दूरदृष्टि होता है। केवल शारीरिक सुख इसका ध्येय नहीं बनता, आत्मिक उत्थान को यह अधिक महत्त्व देता है।

लोगों को भी सत्योपदेश द्वारा वैर-विरोध से दूर कर यह **गृहपतिम्**=उनके घरों का रक्षक होता है और इस सत्योपदेश के कार्य में **अथव्युम्**=सतत गमनशील होता है। इस प्रकार लोभादि को पूर्णरूप से वश में करके निरन्तर आगे बढ़नेवाला यह अग्नि इस मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' कहलाता है।

भावार्थ—उन्नति के लिए ज्ञान और भक्ति का समन्वय आवश्यक है।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—बुधगविष्ठिरौ॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

चार आश्रम

७३. **अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।**
यह्वाइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ॥ १॥

प्रथम आश्रम—मानव जीवन चार आश्रमों में विभक्त है। प्रथम आश्रम में आचार्य, जोकि स्वयं अग्नि के तुल्य ज्ञान से चमक रहा है, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के पदार्थों की ज्ञानरूप समिधाओं से ब्रह्मचारी की ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में इन समिधाओं का संकेत है, अतः **समिधा**=इन लोकों की ज्ञानरूप समिधाओं से ब्रह्मचारी **अग्निः**=अग्नि के रूप में **अबोधि**=उद्बुद्ध किया जाता है।

इस मन्त्र के ऋषि 'बुध तथा गविष्ठिर' हैं। बुध का अर्थ है ज्ञानी। आचार्य को ज्ञानी व ज्ञान का समुद्र होना ही चाहिए तथा ब्रह्मचारी को गविष्ठिर=इन्द्रियों पर अधिष्ठित, इन्हें वश में रखनेवाला होना आवश्यक है तभी अग्नि का उद्बोधन सम्भव होगा।

गृहस्थ आश्रम—यह उत्तम ब्रह्मचारी समावृत होकर जीवन-यात्रा के दूसरे पड़ाव में प्रवेश करता है। यहाँ उसे **प्रति-आय-तीम् उषासम्**=प्रत्येक आनेवाले उषःकाल में **जनानाम्**=मनुष्यों की **धेनुमिव**=गाय की भाँति औरों का पालन करना है। जैसे अपने उत्तम दूध से गाय अपने बछड़े व अन्य बन्धुओं का पालन करती है, वैसे ही गृहस्थ भी अपनी सन्तान व अन्य तीनों आश्रमवालों का पालन करता है। इसी उत्तरदायित्त्व के कारण गृहस्थ को ज्येष्ठाश्रमी कहा गया है।

यहाँ धेनु से समता कितनी सुन्दर है! गृहस्थ को भी स्वयं अपनी आवश्यकताएँ यथासम्भव कम रखकर औरों का पालन करना चाहिए।

वानप्रस्थ आश्रम—गृहस्थ आश्रम महान् है, पर मनुष्य को सदा इसी में नहीं बने रहना। वेद कहता है कि **यह्वाः**=बड़े पक्षी **इव**=जैसे **वयाम्**=शाखा को **प्र उज्जिहानाः**=छोड़कर आगे बढ़नेवाले होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य को भी बड़ी अवस्था में पहुँचकर घर को छोड़कर आगे बढ़ना ही चाहिए। उसे अब वनस्थ हो **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'** सदा स्वाध्याय में लगे रहना चाहिए।

चतुर्थ आश्रम—और फिर **भानवः**=ज्ञान-ज्योति से दीप्त सूर्य के समान ये संन्यासी **नाकम् अच्छ**=मोक्ष की ओर **प्र सस्रते**=अग्रसर होते हैं। लोकहित के लिए सूर्य के समान

अलिप्तभाव से अज्ञानान्धकार को दूर करते हुए ये संन्यासी राग-द्वेषादि सब बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थ—मनुष्य को क्रमशः 'अग्नि, धेनु, यह्व व भानु' बनकर जीवन के चार पड़ावों को उत्तमता से तय करने के लिए यत्नशील होना चाहिए।

ऋषिः—**वत्सप्रीः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु की गोद में

७४. प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरैरमूरं पुरां दर्माणम्।
नयन्तं गीर्भिर्वना धियं धा हरिश्मश्रुं न वर्मणा धनर्चिम्॥ २॥

प्रभु **प्रधाः**=विशेषरूप से धारण करते हैं। किसको?

१. **भूर्जयन्तम्**=प्राणों पर विजय पानेवाले को। जो सदा प्राण-साधना से आसुर वृत्तियों को पराजित करता है, वही प्रभु का प्रिय होता है।

२. **महाम्**=प्रभु का प्रिय वह होता है जो अपने हृदय को विशाल बनाता है।

३. **विपो-धाम्**=(विप इति मेधाविनाम—नि० ३.५.१४) प्रभु का प्यारा मेधा को धारण करता है। अपने विज्ञानमयकोश को धारक-ज्ञान का खज़ाना बनाता है।

४. **मूरैः अमूरम्**=यह मूर्खों के साथ मूर्ख नहीं बनता। अपने प्राणमयकोश को असुरों के आक्रमण से सुरक्षित करके यह प्रभुभक्त अपने मनोमयकोश को विशाल तथा विज्ञानमयकोश को ज्ञान से दीप्त बनाकर व्यवहार में बुद्धिमत्ता से चलता है। यह क्रोध को प्रेम से जीतने का प्रयत्न करता है।

५. **पुरां दर्माणम्**=यह तीनों पुरों का विदारण करनेवाला बनता है। वैदिक साहित्य में असुरों की तीन नगरियों का उल्लेख है—एक स्वर्ण की, दूसरी रजत की और तीसरी 'अयस्' (लोहे) की। इन्हीं तीन नगरियों का ध्वंस करके महादेव 'त्रिपुरारि' बने हैं। ये तीन नगरियाँ ही सात्त्विक, राजस्, तामस् सङ्ग कहे गये हैं। ये ही उत्तम, मध्यम व अधम बन्धन हैं। इन तीनों से ऊपर उठना ही तीन नगरियों का विदारण है और ऐसा करनेवाला ही प्रभु का प्रिय होता है।

६. **गीर्भिः वना धियं नयन्तम्**=स्तुतियों के द्वारा वननीय—सेवनीय बुद्धि को प्राप्त करनेवाला प्रभु का प्रिय होता है। प्रातः-सायं प्रभु के सम्पर्क में आने से मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होती है। उस शुद्ध बुद्धि में सदा शुद्ध विचार ही उत्पन्न होते हैं।

७. **हरिश्मश्रुं न**=यह प्रभुभक्त हरिश्मश्रु-सा (न=सा) बन जाता है। (श्म-श्रु=श्मनि श्रितम्) इसके शरीर में श्रित=रहनेवाली प्रत्येक वस्तु—बल, भावना व ज्ञान औरों के दुःखों का हरण करनेवाली होती है। यह कभी किसी की हिंसा नहीं करता। इसका जीवन एक 'अ-ध्वर' हिंसाशून्य यज्ञ हो जाता है।

८. **वर्मणा धनर्चिम्**=यह प्रभुभक्त धन की भी अर्चना=पूजा करता है, अर्थात् धन भी कमाता है, परन्तु 'वर्मणा' उसे अपने शरीर का कवच बनाने के दृष्टिकोण से, अर्थात् जितना शरीर की आवश्यकताओं के लिए चाहिए उतना ही उसका अपने लिए विनियोग करते हुए—कभी विलास का शिकार न बनते हुए।

इन सब बातों के कारण यह प्रभु का 'वत्स'=प्रिय होता है, क्योंकि यह अपने कर्मों से

प्रभु की क्रियात्मक स्तुति का उच्चारण (वद्=बोलना) करता है और अपने उत्तम कर्मों से प्रभु को प्रीणत=प्रसन्न करता है। इस प्रकार इस मन्त्र का ऋषि 'वत्सप्रीः' होता है।

भावार्थ—मन्त्र में वर्णित बातों को जीवन में धारण करते हुए हम प्रभु से धारणीय बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दो रूप

७५. **शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।**
विश्वा हि माया अवसि स्वधावन्भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु॥ ३॥

गत मन्त्र में प्रभु की ओर जानेवाले व्यक्ति का उल्लेख था, उसी का वर्णन इस मन्त्र में इस प्रकार करते हैं कि **ते**=तेरा **शुक्रम्**=चमकता हुआ रूप **अन्यत्**=विलक्षण है और **ते**=तेरा **यजतम्**=सबके साथ सङ्गति करनेवाला—मेलवाला रूप भी **अन्यत्**=विलक्षण है। तेरा मस्तिष्क उज्ज्वल है तथा तेरा हृदय सबके प्रति मेल की भावनावाला है। इस प्रकार तू **विषुरूपे**=विविध उत्तम रूपोंवाले **अहनी इव**=दिन और रात के समान **असि**=है। दिन उज्ज्वल है, रात्रि सबका सङ्गतीकरण करनेवाली है। रात में दिन के समय के सब वैर-विरोध व भेद-भाव समाप्त होकर सबका एकीभाव हो जाता है—उस समय न कोई लखपति है, न कोई गरीब। इसी प्रकार प्रभुभक्त का मस्तिष्क यदि दिन के समान चमकनेवाला है तो उसका हृदय रात्रि के समान सबके प्रति वैर-विरोध-शून्य व समानतावाला है। **द्यौः इव असि**=तू द्युलोक के समान है। द्युलोक प्रकाशमय है तथा सभी का निवास-स्थान है। इसी प्रकार इस प्रभुभक्त का मस्तिष्क प्रकाशमय है और इसके हृदय में सभी के लिए स्थान है।

पिछले मन्त्र में प्रभुभक्त को 'धनर्चिम्'=धन की अर्चना करनेवाला कहा गया था, अतः वह धन तो कमाता ही है पर 'वर्मणा' कवच की भाँति अत्यन्त आवश्यकता के लिए ही उसका प्रयोग करता है। **विश्वा हि मायाः**=शेष सब धनों को **अवसि**=(अव=भाग) बाँट देता है। न बाँटता तो ये धन उसे विलास में फँसाकर नाश की ओर ले-जाते। धनों को बाँटकर यह **स्वधावन्**=अपना ही धारण कर रहा होता है। हे **पूषन्**=औरों का पोषण करनेवाले! **इह**=यहाँ **ते**=तेरा यह **रातिः**=दान **भद्रा**=कल्याणकर **अस्तु**=हो, अर्थात् तू पात्रापात्र का विचार करके ही दान कर। इस प्रकार यह प्रभुभक्त धन को गौण तथा ज्ञान और प्रेम को अपने जीवन में प्रधान स्थान देता है। इसका हृदय स्वार्थ-त्याग की भावना से भरा होने के कारण यह 'भरद्वाज' है (भरद्=भरनेवाला, वाज=त्याग) इसका मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल होने के कारण यह 'बृहस्पतिपुत्र' वा बार्हस्पत्य=ज्ञानी की सन्तान कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें, हमारे हृदय मेल की भावना से भरे हों तथा हम धनों का संविभाग करनेवाले बनें।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हमें आपकी सुमति प्राप्त हो

७६. **इडामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।**
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे॥ ४॥

हे **अग्ने**=प्रभो! **हवमानाय**=तुझे पुकारनेवाले मेरे लिए **शश्वत्तमम्**=सनातन **इडाम्**=वेदवाणी को–जोकि मानव के लिए (इडा=इ+ला=a law) सृष्टि के आरम्भ में दिया गया विधान है, **साध**=सिद्ध कीजिए। मैं इस वेदवाणी को अच्छी प्रकार समझ सकूँ। यह वेदवाणी **पुरुदंसम्**=पूरक और पालक कर्मों का उपदेश देनेवाली है (पुरु=पृ पालनपूरणयो:, दंस:=कर्म)। 'मनुष्य को किस प्रकार अपनी न्यूनताओं को दूर करना और किस प्रकार पालक=अहिंसक कर्मों में प्रवृत्त होना' इस बात का उपदेश इस वेदवाणी में दिया गया है तथा यह वेदवाणी **गो:सनिम्**=ज्ञान की रश्मियों को देनेवाली है। प्रत्येक पदार्थ के तत्त्व का ज्ञान इसमें उपलभ्य है।

न:=हमारे **सूनु:**=पुत्र भी हमारे पदचिह्नों पर चलते हुए **तनय:**=विस्तार करनेवाले, शरीर, मन व बुद्धि को विशाल बनानेवाले, यज्ञ को विस्तृत करनेवाले, शारीरिक, आत्मिक व सामाजिक सभी प्रकार की उन्नति करनेवाले हों। वस्तुत: जिन घरों में इस वेदवाणी का अध्ययन व अनुष्ठान चलता रहेगा, वहाँ वंश उत्तम बना रहेगा। इसलिए **अग्ने**=हे प्रभो! हमारी यही आराधना है कि **सा**=वह **ते**=तेरी **सुमति:**=वेद में उपदिष्ट कल्याणी मति **अस्मे**=हममें **भूतु**=सदा बनी रहे। हम संसार की चमक से आकृष्ट होकर उस सद्बुद्धि को छोड़ न दें। धन-धान्य, स्तुति-प्रशंसाएँ व शानदार जीवनादि के प्रलोभन हमें वेदोपदिष्ट न्याय्य मार्ग से विचलित न कर दें। हम संसार-चक्र में उलझकर राग-द्वेष में न फँस जाएँ।

भावार्थ–हे प्रभो! आपकी कृपा से हम राग-द्वेष से ऊपर उठकर सदा आपका गायन करनेवाले 'गाथिन:' व प्राणिमात्र के मित्र 'विश्वामित्र' बन पाएँगे और इस प्रकार इस मन्त्र के ऋषि 'गाथिन विश्वामित्र' होंगे।

ऋषि:–**वत्सप्री:**॥ देवता–**अग्नि:**॥ छन्द:–**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:–**धैवत:**॥

कौन पूजा करता है?

७७. प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्मा सीददपां विवर्ते।
दधद्यो धायी सुते वयांसि यन्ता वसूनि विधते तनूपा:॥ ५॥

प्रभु का प्यारा, प्रभु की दी हुई सुमति को धारण करनेवाला, **प्र-होता**=प्रकृष्ट होता, लोक-संरक्षण यज्ञ में अपने तन, मन व धन सभी की खूब आहुति देनेवाला **जात:**=बनता है। अपने इस लोकहित के कार्य में वह **महान्**=उदार हृदयवाला होता है–वह सभी का हित करता है। वह तो विश्वामित्र=सभी का मित्र है न? हृदय की संकीर्णता नष्ट करने के लिए ही वह **नभोवित्**=द्युलोक को, प्रकाशमय लोक को प्राप्त करनेवाला बनता है। जैसे सूर्य अपना प्रकाश सभी को प्राप्त कराता है; इसी प्रकार यह प्रभु का उपासक भी सभी का हित करता है।

ज्ञानी बनकर वह संसार को माया या मिथ्या समझकर इस संसार से भाग नहीं खड़ा होता, अपितु अज्ञानवश विविध अकार्यों में लगे हुए **नृषद्मा**=लोगों में ही यह रहता है (सद्=to sit)। यह गङ्गा तीर को नहीं अपना लेता। मनुष्यों में ही रहता हुआ **अपाम्**=कर्मों के **विवर्ते**=चक्र में **सीदत्**=रहता है। कर्म मुझे बाँध लेंगे या अमुक कर्म से मैं अमुक का अप्रिय हो जाऊँगा, ऐसी बातों को सोचकर यह कर्मों से कतराता नहीं। लोकहित के कार्यों में निरन्तर लगा रहता हुआ **य:**=यह व्यक्ति **दधत्**=जगत् को धारण करने के हेतु से ही **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **धायी**=धारित होता है, जीता है। इसके जीवन का तथा जीवन में

कर्मशील होने का उद्देश्य लोकहित ही होता है।

लोक-संग्रह के लिए शरीर को धारण करनेवाला यह व्यक्ति **वयांसि**=अन्नों को **यन्ता**=नियमित करता है; अर्थात् शरीर-धारण के उद्देश्य से तदनुकूल अन्नों को खाता है और इस प्रकार **वसूनि यन्ता**=शरीर में उत्तम रत्नों को (रस-रुधिर आदि सप्त धातुओं व ओज को) स्थिर करता है।

शरीर की इस प्रकार रक्षा करनेवाला यह **तनूपाः**=शरीर-रक्षक **विधते**=प्रभु की उपासना करता है। प्रभु के दिये हुए शरीर का ठीक उपयोग करना प्रभु का आदर करना है। स्वादवश अनावश्यक भोजनों से शरीर को रोगी बना लेना प्रभु का निरादर है, क्योंकि हम प्रभु की दी हुई वस्तु का ठीक उपयोग नहीं कर रहे।

यदि हम प्रभु से दिये शरीर का ठीक रक्षण व उपयोग करेंगे तो प्रभु के प्रिय=वत्स होंगे और अपने इस कार्य से प्रभु को प्रसन्न करनेवाले '**प्री**' बनेंगे। यह 'वत्सप्रीः' ही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—शरीर का उचित रक्षण व लोकहित के लिए विनियोग ही प्रभु की सच्ची उपासना है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

क्या चाहें?

७८. प्र सम्राजमसुरस्य प्रशस्तं पुंसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य।
इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ=मन व इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में करनेवाला (वशिनां श्रेष्ठः) अथवा सर्वोत्तम ढङ्ग से इस शरीररूपी नगरी में रहनेवाला (वसूनां श्रेष्ठः) **प्र विवष्टु**=विशेषरूप से खूब कामना करे। कामना से रहित जीवन जड़ जीवन है, परन्तु काम में फँस जाना ठीक नहीं। '**कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता**'। वेदादि सच्छास्त्रों का पढ़ना तथा सारा वैदिक कर्मयोग भी कामना होने पर ही होता है। '**काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः**'। वसिष्ठ ने कामशून्य होना तो नहीं माना है, परन्तु प्रश्न यह है कि 'वह किन-किन वस्तुओं की कामना करे?'

असुरस्य सम्राजम्=प्राणशक्ति के पुञ्ज व प्रज्ञान-धन से सम्यक् शासित जीवन को (सम्=well राजम्=regulated) चाहे। असु शब्द प्राण व प्रज्ञा का वाचक है। 'र' प्रत्यय 'वाला' अर्थ में आता है। आदर्श मनुष्य वही है जो प्राणशक्ति व ज्ञान से सम्पन्न है—Body of an athlete and the soul of a sage. वसिष्ठ की दूसरी कामना हो कि—

प्रशस्तं पुंसः=उदार मनवाले पुरुष की भाँति मेरा प्रत्येक कर्म प्रशस्त हो (पुमान् पुरुमना भवति—नि० ९.१५)। अनुदारता व संकुचितता के कारण ही अपवित्रता आया करती है। जो उदार मनवाला पुरुष है, वह **कृष्टीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों की **अनुमाद्यस्य**=प्रसन्नता में प्रसन्न होनेवाला है (अनु=पीछे, मदी हर्षे) दूसरों के उत्कर्ष को देखकर जलना अपवित्र व संकुचित हृदय का चिह्न है। इस वसिष्ठ की तीसरी कामना यह हो कि—

प्र तवसः=प्रबल शक्तिवाले **इन्द्रस्य इव**=इन्द्र की भाँति मेरे **कृतानि**=उत्तम कर्म **वन्दमाना**=

(वन्द्यमानानि) वन्दना व स्तुति के योग्य हों। निर्बलता मूलक कोई भी कर्म शुभ नहीं हो सकता। 'तवस' शब्द शक्ति व उत्तमता का वाचक होते हुए इस भावना को ही सूचित कर रहा है। कायरता कभी धर्म की जननी नहीं हो सकती। वैदिक साहित्य में बल के सब कर्म इन्द्र के हैं, अतः वसिष्ठ के कर्म भी शक्तिशाली इन्द्र के कर्मों की भाँति होते हैं।

परन्तु ये तीन बातें १. कार्यों में नियमितता (regularity), २. हृदय में उदारता व ३. शक्तिसम्पन्नता आएँगी किस प्रकार इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—

वन्दद्वारा=वन्दना के द्वारा। प्रातः-सायं प्रभु की स्तुति से ही वसिष्ठ का जीवन उल्लिखित ढङ्ग का बन सकता है।

भावार्थ—हमारे कार्यों में नियमितता, उदारता व शक्तिसम्पन्नता का प्रकाश (आभास) हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दो अरणियोंवाला उपासक

७९. अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भइवेत् सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥७॥

वह **जातवेदाः**=प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान प्रभु **अरण्योः**=ज्ञान व भक्तिरूप अरणियों में (ऋ गतिप्रापणयोः=प्रभु की ओर ले-जानेवाले और उसे प्राप्त करानेवाले ज्ञान और भक्ति ही यहाँ अरणियाँ हैं।) **निहितः**=रक्खा हुआ है। जैसे सुप्तावस्था में विद्यमान अग्नि अरणियों की रगड़ होने पर ही दीप्त होता है, इसी प्रकार सर्वत्र वर्त्तमान प्रभु ज्ञान और भक्ति की रगड़ से ही दीखते हैं। वे प्रभु **गर्भिणीभिः**=गर्भिणी माता से **सुभृतः**=उत्तम प्रकार से पोषित **गर्भः इव इत्**=गर्भ की भाँति ही है। गर्भ जैसे माता के ही रस, रुधिरादि से पोषित होता है, किसी बाह्य वस्तु से नहीं, उसी प्रकार प्रभु का दर्शन भी आन्तर ज्ञान व भक्ति के विकास से ही होता है, प्रवचन आदि से नहीं।

इस **अग्निः**=प्रभु की **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **ईड्यः**=उपासना करनी चाहिए। यह प्रभु शक्ति का स्रोत है, उसकी उपासना हममें शक्ति का सञ्चार करेगी। उसकी उपासना होती है **जागृवद्भिः**=जागनेवालों से **हविष्मद्भिः**=हविरूप बननेवालों से तथा **मनुष्येभिः**=विचारशीलों से। जो प्रभु के उपासक हैं वे सदा जागते हैं, क्योंकि **'भूत्यै जागरणम्'**=जागना कल्याण के लिए है, **'अभूत्यै स्वप्नम्'**=सोना अकल्याण के लिए है। जागरूक होकर जीवन को त्यागमय व हविरूप बनाना ही ठीक है। जो मननशील होकर सब पदार्थों में ओत-प्रोत प्रभु को देखेगा वह **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'**=एकत्व को देखनेवाला राग-द्वेष से ऊपर उठकर सबको स्नेह की दृष्टि से देखनेवाला इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' होगा।

भावार्थ—ज्ञान और भक्ति के विकास से हम प्रभु का दर्शन करें। जागनेवाले (प्रमादरहित), त्यागशील व मननशील बनें।

ऋषिः—**पायुः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

राक्षसों का समूल-दहन

८०. सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
अनु दह सहमूरान् कयादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥८॥

हे **अग्ने**=प्रभो! आप हृदयान्तरिक्ष में ज्ञान व भक्ति की अरणियों से जगाये जाकर **सनात्**=सदा से **यातुधानान्**=पीड़ित करनेवाली राक्षसी वृत्तियों को (यातूनि यातना: पीडा धीयन्ते अस्मिन्) **मृणसि**=कुचलते हो। जीव की अपनी शक्ति नहीं कि वह इन अशुभ वृत्तियों को नष्ट कर सके। इनका विनाश तो 'नर' के हित के लिए 'नारायण' ही करेंगे।

प्रभो! **त्वा**=आपको **पृतनासु**=मनुष्यों के हृदयों में चल रहे देवासुर संग्रामों में **रक्षांसि**=(र+क्ष) रमण के द्वारा क्षय की ओर ले-जानेवाली ये अशुभ वृत्तियाँ **न जिग्युः**=पराजित नहीं कर सकतीं (पृतना=battle, encounter, fight)। जीव अकेला इन अशुभ वृत्तियों से हार जाता है, परन्तु जब वह प्रभु को अपने रथ पर बैठा लेता है तब वे वृत्तियाँ प्रभु को थोड़े ही हरा सकती हैं, परिणामत: जीव उनका शिकार होने से बच जाता है।

हे प्रभो! आप इन **कयादः**=(क्रव्यादः) मनुष्य का मांस ही खा जानेवाली अशुभ वृत्तियों को **सह मूरान्**=जड़ समेत, अर्थात् इनके उत्पत्तिकारणों के साथ **अनुदह**=क्रम से जला दीजिए। जब जीव प्रभु को अपना साथी बनाता है तब वे जीव के हित के लिए इन अशुभ वृत्तियों का 'समूल दहन' कर देते हैं। कामादि के ध्वंस के साथ उनके उत्पत्तिकारणों को भी प्रभु-स्मरण समाप्त कर देता है। हे प्रभो! **ते**=आपके **दैव्यायाः**=अलौकिक प्रकाशमय **हेत्याः**=हनन-साधन से कोई भी अशुभ वृत्ति **मा**=मत **मुक्षत**=छूटे। इन अशुभ वृत्तियों को नष्ट करनेवाला शस्त्र प्रकाश व ज्ञान ही है। ज्ञानाग्नि ही इन अशुभ वृत्तियों का दहन किया करती है।

हम सब प्रभु-दर्शनरूप ज्ञानाग्नि को अपने अन्दर प्रज्वलित करके ही इन अशुभ वृत्तियों से अपनी रक्षा कर सकते हैं। ऐसा करने पर हम इस मन्त्र के ऋषि 'पायुः'='रक्षा करनेवाले' कहलाएँगे।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण राक्षसी वृत्तियों का समूल दहन कर देता है।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**गय आत्रेयः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

महान् त्याग की तैयारी

२ ३ १ २३ १ २ ३ २ ३ १ २
८१. अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो।
१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
प्र नो राये पनीयसे रत्सि वाजाय पन्थाम्॥ १ ॥

इस मन्त्र में प्रभु को **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले तथा **अध्रिगो**=अधृतगमन=अप्रतिहत गतिवाले—इन दो शब्दों से सम्बोधित किया गया है। ये सम्बोधन उपासक को यही प्रेरणा दे रहे हैं कि तुझे आगे बढ़ना है, थककर इस अग्रगति में रुक नहीं जाना है। यह जीवन यात्रा ही तो है, और इस यात्रा में रुक गये तो यह अधूरी ही रह जाएगी।

इस यात्रा के प्रथम प्रयाण में हम प्रभु से याचना करते हैं कि **अस्मभ्यम्**=हमें **द्युम्नम्**=प्रकाशशील ज्ञानरूप धन **आभर**=प्राप्त कराइए, परन्तु वह ज्ञानरूप धन **ओजिष्ठम्**=हमें ओजस्वी व शक्तिशाली बनानेवाला हो। ज्ञान प्राप्त करके हम सुकोमल शरीर (delicate) न बन जाएँ, क्योंकि जीवन के अगले प्रयाण में यह शारीरिक श्रम की वृत्ति ही हमें अशुभ

मार्गों से धन कमाने से बचाएगी।

दूसरे प्रयाण के लिए प्रार्थना ही यह है कि **नः**=हमें **पनीयसे**=(पन=स्तुतौ) स्तुत्य **राये**=धन के लिए ले-चलिए, अर्थात् हम गृहस्थ बनकर प्रशंसा के योग्य मार्गों से धन कमाएँ। गृहस्थ में धन की आवश्यकता तो है ही—गृहस्थ को अपना ही नहीं अन्य तीनों आश्रमियों का भी पालन करना है। इस धन को वह उत्तम मार्ग से संचित करे। सबसे उत्तम मार्ग 'श्रम' ही है। **"अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व"**='पासों से जुआ मत खेल, खेती ही कर' यह वेदवाक्य श्रमसाध्य धन की उत्तमता का संकेत कर रहा है। हमारा ज्ञान ओजिष्ठ होगा तो हम सदा श्रमशील बने रहेंगे और तब हमारी टेढ़े-मेढ़े साधनों से धन कमाने की वृत्ति न होगी।

तीसरे प्रयाण में हम प्रभु से आराधना करते हैं कि **वाजाय**=(वाज=a sacrifice) त्याग के लिए **पन्थाम्**=मार्ग को **प्र-रंसि**=विशेषरूप से तैयार कर दीजिए (रद्=to chalk out)। गृहस्थ गृह को त्यागकर वनस्थ होता है। यह वानप्रस्थाश्रम त्याग का आश्रम है और इसके बाद संन्यास कुटिया व आश्रमादि को छोड़कर सर्वत्र विचरते हुए लोकहित में लगे रहने से 'महान् त्याग' का आश्रम है। इसी के लिए तो हमने इस रूप में तैयारी की थी कि शक्तिशाली ज्ञान प्राप्त किया और सदा स्तुत्य धन को अपनाकर धन के प्रति अपनी आसक्ति को बढ़ने नहीं दिया। आसक्ति तो हमें त्याग और महान् त्याग के अयोग्य बना देती।

'ओजिष्ठ द्युम्न' नींव है, 'स्तुत्य धन' उसपर खड़ी दीवारें हैं और त्याग व महान् त्याग इस 'मानव भवन' की छत हैं। प्रभुकृपा से हम इस सुन्दर भवन का निर्माण करनेवाले इस मन्त्र के ऋषि 'गय'=उत्तम गृहवाले बनें। (गयम् अस्यास्ति इति गयः)

भावार्थ—अपनी जीवन-यात्रा के चार पड़ावों में हमें शक्तिशाली ज्ञानवाला, स्तुत्य धन कमानेवाला, त्यागी व महान् त्यागी बनना है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

एक वीर का अखण्ड यज्ञ

८२. यदि वीरो अनु ष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः।
आजुह्वद्धव्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम्॥ २॥

यदि=यदि **वीरः**=विशेषरूप से शत्रुओं को कम्पित करनेवाला (वि+ईर) **अनुष्यात्**=होना चाहे (प्रार्थना में लिङ्लकार है) तो **मर्त्यः**=शत्रुओं से लड़ाई में जिसके मर जाने की सम्भावना है वह मनुष्य **अग्निम्**=शत्रुओं को जला डालनेवाले प्रभु को **इन्धीत**=अपने हृदय में, जहाँ काम-क्रोधादि शत्रुओं से युद्ध चल रहा है, दीप्त करे (इन्ध=दीप्त करना)। 'यदि' शब्द हमारे कर्म-स्वातन्त्र्य की सूचना दे रहा है, हमारी इच्छा पर निर्भर है कि हम प्रभु को याद करें या न करें। 'मर्त्य' शब्द स्पष्ट कर रहा है कि इन शत्रुओं को हम युद्ध में हरा न सकेंगे। 'अग्नि' शब्द स्पष्ट संकेत कर रहा है कि इन शत्रुओं को वे अग्निरूप प्रभु ही जलाएँगे। इन्हें भस्मसात् करना मानवशक्ति से परे है। हमें प्रभु को हृदय में दीप्त करना है—हृदय में बैठाना है न कि बाहर मन्दिर के मण्डप में। युद्धस्थली हृदय है—प्रभु का वहीं उपस्थित होना आवश्यक है।

अब यदि हम प्रभु की सहायता से वीर बनकर शत्रुओं को कम्पित कर परे भगा देंगे तो हम कामादि से ऊपर उठकर अपने जीवन को हव्यः=हविरूप बना सकेंगे—लोकहित के लिए न्यौछावर कर सकेंगे और **आनुषक्**=निरन्तर—जीवन के सौ-के-सौ वर्ष **हव्यम्**=पवित्र हविमय जीवन की **आजुह्वत्**=प्राजापत्य यज्ञ में आहुति देते हुए हम **दैव्यम्**=अलौकिक प्रभु की प्राप्तिरूप **शर्म**=दुःख-संयोग के वियोगरूप शुद्ध सुख (आनन्द) को **भक्षीत**=अनुभव करेंगे। सेवा में जो आनन्द है वह भोग के आनन्दों से अनन्तगुणा उत्तम है। प्राकृतिक सुखों में दुःख का मिश्रण है। यह प्रभु-प्राप्ति का आनन्द ही सब दुःखों को समाप्त कर शुद्ध आनन्द का अनुभव कराता है। यह जीवन को हव्य बना देने से ही मिलेगा। उस समय हमारा जीवन निर्दोष ही नहीं सुन्दर व दिव्य गुणोंवाला होगा। हम इस मन्त्र के ऋषि वामदेव होंगे।

भावार्थ—हम वीर बनकर जीवन को हविरूप बनाएँ और दिव्य सुख—मोक्ष के अधिकारी हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—गान्धारः॥

यदि प्रभु को हृदय में बैठाएँगे तो—

८३. त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि संच्छुक्र आततः।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे॥ ३॥

पिछले मन्त्र में कहा था कि मनुष्य वीर बनने के लिए उस अग्निरूप प्रभु को हृदय में दीप्त करने का प्रयत्न करे। यदि ऐसा करेंगे तो **दिवि**=उस चमकते हुए हृदयाकाश में हे प्रभो! **ते**=तेरा **त्वेषः**=प्रकाश—दीप्ति **ऋण्वति**=काम-क्रोधादि वासनाओं पर आक्रमण करता है। (ऋ=to attack) और इस प्रकार वह प्रकाश **धूमः**=इन हमारे आन्तर शत्रुओं को कम्पित करनेवाला होता है (धूञ् कम्पने)।

यह प्रकाश कैसा है? १. **सन्**='सत्' उत्तम सात्त्विक है; तामस् होकर यह औरों के संहार के लिए विनियुक्त नहीं होता; राजस् होकर इसका उद्देश्य 'धन का संग्रहमात्र' नहीं हो जाता। यह तो सात्त्विक है, अतः प्राणिमात्र में आत्मतत्त्व की अनुभूति कराता है। २. **शुक्रः**=यह ज्ञान हमें गतिशील बनाता है (शुक् गतौ)। सभी प्राणियों में आत्मानुभूति होने पर सभी के दुःखों को हम अपना दुःख समझते हुए उन्हें दूर करने के लिए प्रवृत्त होते हैं और अधिक-से-अधिक क्रियाशील होते हैं। ब्रह्मज्ञानी क्रियाशील होता ही है—**'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'**। ३. **आततः**=यह प्रकाश सब ओर विस्तारवाला होता है (आ+तन्+त) इस ज्ञान से उपासक का हृदय विशाल बनता है, वह सभी का हित करता है। वह सर्वत्र एकत्व देखता है और सर्व-भूत-हित में प्रवृत्त रहता है।

इस उपासक के जीवन में अब एक ज्योति (द्युत्) और शक्ति (कृप्=सामर्थ्य) आ जाती है, परन्तु यह ज्योति व शक्ति उसकी अपनी थोड़े ही है? उसे इसका गर्व क्यों करना? मन्त्र कहता है कि **सूरो न**=सूर्य के समान (न=इव) **हि**=निश्चय से **पावक**=हे पवित्र करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप ही तो **द्युता**=ज्योति से और **कृपा**=सामर्थ्य से, शक्ति से **रोचसे**=चमकते हैं। वस्तुतः यह ज्योति और शक्ति प्रभु को हृदय में प्रतिष्ठित करने का ही परिणाम है। सूर्य में चमक है, शक्ति है, वह पवित्र करनेवाला है—उपासक के हृदय का सूर्य यह प्रभु भी

चमकता है, शक्ति देता है और पवित्र करनेवाला है।

इस 'द्युति' को प्राप्त करके उपासक बृहस्पति के समान ज्ञान से चमकता है, 'बार्हस्पत्य' बनता है और शक्ति को प्राप्त करके वह इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' अपने में शक्ति को भरनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु को अपने हृदयों में आसीन करके हम ज्योति व शक्ति से सम्पन्न होकर पावक=पवित्र व पवित्र करनेवाले बन जाएँ।

ऋषि:—**भरद्वाजो बार्हस्पत्य:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥ स्वर:—गान्धार:॥

प्राण, ज्ञान व पोषण

८४. त्वं हि क्षैतवद्यशोऽग्ने मित्रो न पत्यसे। त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्यसि॥ ४॥

हे **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधनभूत प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **क्षैतवत्**=निवास और गतिवाले (क्षि=निवासगत्यो:, मत्=वाला) **यश:**=प्राणों के **पत्यसे**=स्वामी हैं **न**=जैसेकि **मित्र:**=सूर्य। जिस प्रकार सूर्य प्राणशक्ति का स्रोत है, उसी प्रकार आप उस सम्पूर्ण प्राणशक्ति के प्रथम स्रोत हैं, जो हमारे शरीर में निवास और गति का साधन होती है। हमारे हृदयों में प्रभु का निवास होने पर सूर्य की भाँति हमें जीवन प्राप्त होता है और शक्तिसम्पन्न होकर हम क्रियाशील बने रहते हैं। हे **विचर्षणे**=सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ प्रभो! **त्वम्**=आप हममें **श्रव:**=ज्ञान का **पुष्यसि**=पोषण करते हैं। प्रभु का हमारे हृदयों में निवास होगा तभी हमें प्रातिभिक (Intuitive) ज्ञान प्राप्त होगा। प्रभु को हृदय में बैठाने का तीसरा लाभ यह होगा कि **वसो**=हे बसानेवाले प्रभो! आप हमें **पुष्टिं न**=(न=च के अर्थ में है) पोषण भी **पुष्यसि**=प्राप्त कराते हो। प्रभु का हृदय में निवास होने पर हमें पोषण व दृढ़ता प्राप्त होती है जो हमारे जीवन के विकास का मूल बनती है, जो हमें विघ्नों से, असफलताओं से व्याकुल नहीं होने देती।

इस प्रकार हृदय में प्रभु का निवास होने पर हम प्राणशक्ति व दृढ़ता प्राप्त करके इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज' होते हैं तथा ज्ञान-सम्पन्न बनकर 'बार्हस्पत्य' होते हैं।

भावार्थ—हृदय में प्रभु का निवास होगा तो हम प्राण, ज्ञान व पोषण को प्राप्त करेंगे।

ऋषि:—**मृक्तवाहा द्वित:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥ स्वर:—गान्धार:॥

बुझे दीपक को फिर-फिर जगाना

८५. प्रातरग्नि: पुरुप्रियो विश स्तवेतातिथि:। विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्तास इन्धते॥ ५॥

विश:=हे संसार में प्रविष्ट मनुष्यो! **प्रात:**=प्रात:काल **स्तवेत**=उस प्रभु की स्तुति करो जो **अग्नि:**=आगे ले-चलनेवाला है, **पुरुप्रिय:**=पालन, पूरण (पॄ पालनपूरणयो:) और तृप्त करनेवाला है (प्रीञ् तर्पणे) तथा **अतिथि:**=जीवों के हित के लिए निरन्तर गतिशील है। यह प्रात:काल ही अपने में भावनाओं को भरने का समय है (प्रा पूरणे)।

उल्लिखित शब्दों में प्रभु-उपासना के निम्न लाभ दर्शाये गये हैं—(क) यदि हम प्रभु की उपासना करेंगे तो आगे बढ़ेंगे, धर्म के मार्ग पर हमारी प्रगति होगी, (ख) उस प्रभु को अपना पालन करनेवाला अनुभव करने के कारण हमारा जीवन निर्भीक होगा, व्याकुलता से शून्य होगा, (ग) हम अपने जीवन की न्यूनताओं को दूर कर प्रतिदिन जीवन का पूरण

करनेवाले होंगे तथा (घ) हम एक तृप्ति का अनुभव करेंगे जो किन्हीं भी सांसारिक पदार्थों से नहीं मिल सकती।

मन्त्र के उत्तरार्ध में कहते हैं कि उस प्रभु का स्मरण करो **यस्मिन्**=जिस **अमर्त्ये**=न मरनेवाले, न बुझनेवाले ज्ञान-दीपक में **विश्वे**=सब **मर्तासः**=बारम्बार मरनेवाले, बुझे ज्ञान-दीपकवाले मनुष्य **हव्यम्**=कान्त बनाये जाने के योग्य मन को (हु प्रीणनार्थः प्रीञ्=कान्ति) **समिन्धते**=अच्छी प्रकार दीप्त करते हैं। एवं, प्रभु-स्मरण का यह भी लाभ हुआ कि हमारा ज्ञानदीपक फिर प्रज्वलित हो उठता है। उसके प्रकाश में हमारे शरीररूप रथ के इन्द्रियरूप घोड़े ठीक मार्ग पर चलते हैं, वे भटककर पापपङ्क में नहीं गिरते और हम मृक्त=शुद्ध वाहाः-घोड़ोंवाले बनकर इस मन्त्र के ऋषि 'मृक्तवाहा' बनते हैं तथा तमोगुण और रजोगुण से ऊपर उठकर सदा सत्त्वगुण में अवस्थित होने के कारण 'द्वित'=दो को, तम और रज को, तैर जानेवाले होते हैं। हमारे सामने प्रकाश-ही-प्रकाश, सत्त्व-ही-सत्त्व होता है। इस मार्ग से जानेपर ही यह बारम्बार संसार में प्रवेश का क्रम समाप्त हो सकता है।

भावार्थ-प्रभु-प्रार्थना से जीवन उन्नत, अव्याकुल, पूर्णतावाला, कृतज्ञतामय तथा प्रकाश से दीप्त बनता है।

ऋषिः-**वसूयव आत्रेयः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

वैदिक समाजवाद

८६. यद्वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो। महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते॥ ६॥

पिछले मन्त्र में प्रातःवेला में प्रभु की आराधना का उल्लेख था। इस मन्त्र में कहते हैं कि हे **विभावसो**=ज्ञान को ही धन समझनेवाले जीव! तू **यत्**=जो **वाहिष्ठम्**=अत्यन्त चञ्चल मन है (मनो जगाम दूरकम्) **तत्**=उसे **अग्नये**=प्रभु के लिए अर्पित कर, तभी इसका भटकना समाप्त होगा। सान्त वस्तुओं में इसकी स्थिरता सम्भव नहीं-यह अनन्त प्रभु में ही स्थिर हो सकेगा। तू अपने मन को **बृहत्**=विशाल बना। तेरे मन में सभी प्राणियों के लिए स्थान हो। तेरे लिए सारी वसुधा एक कुटुम्ब हो जाए। इस प्रकार तू **अर्च**=उस प्रभु की सच्ची आराधना कर। आत्मौपम्येन सब प्राणियों को देखना ही प्रभु का सच्चा आराधन है। सांसारिक सम्पत्ति-सोने-चाँदी को धन समझने के स्थान पर ज्ञान को वास्तविक धन समझने पर मनुष्य का हृदय विशाल बनता है और **महिषी इव**=गृहपत्नी के समान **त्वत्**=उस उपासक से **रयिः**=धन तथा **त्वत्**=उसी उपासक से **वाजाः**=अन्न **उदीरते**=उद्गत होते हैं, अर्थात् जिन्हें आवश्यकता होती है उन तक पहुँचते हैं। एक घर में गृहपत्नी स्वप्न में भी यह कभी नहीं सोचती कि ये बच्चे कमाते तो हैं नहीं, इन्हें खाने को क्यों दिया जाए? वहाँ तो एक ही सिद्धान्त काम करता है कि जो-जो कुछ कर सकता है वह उससे कराया जाए और जो जिसे चाहिए वह उसे दिया जाए। यही समाजवाद का सिद्धान्त है और वेद के अनुसार प्रभु के उपासक अपने जीवन में इसी सिद्धान्त को अपनाते हैं। वे अपनी कमाई के धन व अन्न को पात्रों के लिए प्राप्त कराते हैं। प्रभु भी इनको योग्य न्यासी trustee समझकर खूब धन व अन्न देता है और ये व्यक्ति इस मन्त्र के ऋषि 'वसूयवः'=वसु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं (वसु+या+कु)।

भावार्थ-हम मन को प्रभु में स्थिर करें। मन को विशाल बनाना ही प्रभु-पूजन है।

गृहपत्नी के समान हम धनों व अन्नों के विभाजक बनें।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

अर्थभावनपूर्वक जप

८७. विशोविशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम्।
अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः॥ ७॥

वः=तुममें **विशः विशः**=प्रत्येक प्रजाको **अतिथिम्**=निरन्तर प्राप्त होनेवाले, दुःख के समय सदा सहायक होनेवाले **पुरुप्रियम्**=सबके पालक, पूरक तथा तृप्त करनेवाले **अग्निम्**=अग्रस्थान पर पहुँचानेवाले, **शूषस्य**=बल व सुख के **दुर्यम्**=धाम उस प्रभु को **वः**=तुममें से **वाजयन्तः**=शक्ति को चाहते हुए या अर्चना करते हुए लोग **मन्मभिः**=मनन के साथ **वचः**=वचन **स्तुषे**=कहते हैं।

वह प्रभु सुख में विस्मृत हो जाए, पर दुःख में तो मनुष्य को उसका स्मरण होता ही है और वस्तुतः दुःख में जब कोई भी दूसरा सहायक नहीं होता उस समय वे प्रभु ही हमारे कष्टों का निवारण करते हैं। वे प्रत्येक के अतिथि हैं, निरन्तर उसे प्राप्त होनेवाले हैं। वे पुरु हैं—पालन व पूरण करनेवाले हैं। सबके रक्षक हैं और सबकी कमियों को सदा दूर किया करते हैं। इस प्रकार **प्रियम्**=तृप्त करनेवाले हैं। सब प्रकार से हमारी कमियों को दूर कर वे हमें आगे ले-चलते हैं और उन्नत कराते-कराते हमें 'परागति'=मोक्ष को भी प्राप्त कराते हैं।

वे प्रभु सुख व शक्ति के धाम हैं। 'शूष' शब्द शक्ति व सुख दोनों का वाचक है। इस शब्द की मूल धातु शूष=उत्पन्न करने के अर्थ में आती है। वास्तव में सुख उत्पन्न करने व निर्माण में ही है और शक्ति भी वही है जो उत्पादक हो।

इस मन्त्र में वर्णित गुणों में प्रीति होने पर इस स्तोता की इन्द्रियाँ विषय-वासनाओं की ओर जाती ही नहीं। वह दुःखियों का सहायक बनता है, अनाथों का पालन करता है, अपनी कमियों को दूर करने का प्रयत्न करता है, सभी का प्रिय होता है, आगे-आगे पग रखता है और निर्माण के कार्यों में आनन्द का अनुभव करता हुआ अपनी शक्ति को बढ़ाता है—यही उसकी आराधना होती है। एवं, इसकी इन्द्रियाँ विषय-पंक में लिप्त नहीं होती और यह पवित्र इन्द्रियोंवाला बनकर इस मन्त्र का ऋषि गो-पवन होता है। काम, क्रोध, लोभरूप तीनों नरक-द्वारों से दूर होने के कारण 'अत्रि-पुत्र' कहलाता है (नहीं हैं तीनों जिसमें)। परिणामतः 'आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक' इन तीनों कष्टों से भी यह बचा रहता है। इसलिए भी यह 'अ-त्रि' है।

भावार्थ—हम सदा विचारपूर्वक प्रभु के नामों से उसका स्तवन करें, हमें उन गुणों में प्रीति हो। **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**=प्रभु का जप और अर्थ का चिन्तन हमें भी उत्तम बनने की प्रेरणा दे।

ऋषिः—पूरुरात्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

जीवन ज्ञान के लिए

८८. बृहद् वयो हि भानवेऽर्चा देवायाग्नये। यं मित्रं न प्रशस्तये मर्तासो दधिरे पुरः॥ ८॥

इस मन्त्र के ऋषि 'पुरु' हैं—अपना पालन व पूरण करनेवाले, आसुर वृत्तियों से अपनी रक्षा करनेवाले और अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले। वे अपने समान उपासकों को प्रेरणा देते हैं कि **बृहद् वयः**=इस बड़े जीवन को, वृद्धिशील व विस्तृत जीवन को **हि**=निश्चय से **भानवे**=दीप्ति के लिए अर्पित करो, अपना समय ज्ञान-प्राप्ति में लगाओ। यही वास्तव में ज्ञानी-भक्त बनने का प्रकार है। ज्ञान-प्राप्ति में जीवन को अर्पित करके उस **देवाय**=ज्ञान की ज्योति से जगमग, द्योतमान **अग्नये**=सबसे अग्रस्थान में स्थित परमेष्ठी प्रभु के लिए **अर्च**=उपासना कर। प्रभु की उपासना का प्रकार प्रभु-जैसा बनना ही है। प्रभु ज्ञानमय, ज्ञान के पुञ्ज, शुद्ध और चिद्रूप हैं, जीव भी ज्ञान-यज्ञ से प्रभु की अर्चना कर पाता है।

किस प्रभु की अर्चना करनी है? इस प्रश्न का उत्तर इन शब्दों में है कि **यम्**=जिस प्रभु को **मर्तासः**=संग्राम में बारम्बार मरनेवाले पुरुष **मित्रं न**=मित्र के समान **पुरः**=सामने **दधिरे**=स्थापित करते हैं। इस संसार में मानवमात्र का आसुर वृत्तियों से एक संघर्ष चल रहा है। उस संघर्ष में मनुष्य स्वयं जीत नहीं पाता। जीतने की तो बात ही क्या यह तो बार-बार मृत्यु का शिकार होता है। अन्त में यह अनुभवी और ज्ञानी बनकर इस प्रभु को सामने करता है। ये प्रभु **मि-त्र**=प्रमिति=मृत्यु से उसकी रक्षा करते हैं। ऐसा होनेपर मनुष्य आसुर वृत्तियों का शिकार होने से बच जाता है और उसका जीवन **प्रशस्तये**=उत्तमता के लिए होता है। अपने जीवनों को उत्तम बनाने का साधन यही है कि हम प्रभु को सदा अपने सामने रक्खें। वे प्रभु हमारी ढाल हैं, जो हमें सब आक्रमणों से सुरक्षित कर देते हैं। उस समय हमपर 'काम, क्रोध, लोभ' तीनों ही आक्रमण करने में विफल होते हैं और हम 'आत्रेय' इन तीनों से रहित होते हैं (अविद्यमानास्त्रयो यस्य)।

भावार्थ—हमारा जीवन ज्ञान-यज्ञ के लिए अर्पित हो तथा प्रभुरूपी ढाल हमें कामादि के वार से सुरक्षित करे।

ऋषिः—**गोपवन आत्रेयः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

श्रुतर्वा और आक्ष्र्य

८९. अगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम्। यः स्म श्रुतर्वन्नार्क्षे बृहदनीक इध्यते॥ ९॥

इन्द्रियों को पवित्र करनेवाला इस मन्त्र का ऋषि 'गोपवन' अपने मित्रों के साथ निश्चय करता है कि हम **अगन्म**=प्राप्त होते हैं, उस प्रभु को जोकि **वृत्रहन्तमम्**=ज्ञान को आवृत करनेवाले 'वृत्र' नामक काम का बुरी तरह से नाश करनेवाला है। मनुष्य जब प्रभु को अपनी ढाल बनाता है और उसे इन शत्रुओं के सामने करता है तब ये शत्रु नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

वे प्रभु **ज्येष्ठम्**=स्वयं प्रशस्यतम हैं, उनमें किसी प्रकार के पाप का अंश नहीं है। स्वयं प्रशस्य होते हुए वे **अग्निम्**=हमें आगे ले-चलनेवाले हैं। वे सदा अपने मित्र जीव के उत्थान की कामना करते हैं और इस उत्थान के लिए **आनवम्**=ये सदा उसे उत्साहित करनेवाले हैं (आनयति प्रोत्साहयति)।

प्रभु जीव को उन्नत करते हैं, परन्तु कब? जबकि **यः स्म इध्यते**=वे हृदय में दीप्त किये जाते हैं। अदीप्त अग्नि काष्ठ में होते हुए भी कार्य करनेवाली नहीं होती। इसी प्रकार सर्वव्यापकता से विद्यमान वह प्रभु हममें वृत्रहननादिरूप कार्यों को करते तभी हैं जब हम उन्हें अपने में प्रकाशित करते हैं। प्रभु का प्रकाश होता है **श्रुतर्वन् आर्क्षे**=श्रुतर्वा और आक्ष्र्य

में। **"श्रुतं प्रति ऋच्छति"**=सदा ज्ञान के प्रति जाने से जीव श्रुतर्वा होता है और ऋच् स्तुतौ=सदा स्तुतिरूप, नकि निन्दारूप वचनों के उच्चारण से आर्क्ष्य होता है। हम अपने मस्तिष्क को ज्ञान की ज्योति से दीप्त करें और हमारी वाणी सदा स्तुतिरूप वचनों को बोले। ऐसा करने पर हममें उस प्रभु का प्रकाश होगा, जोकि **बृहद् अनीकः**=विशाल व अनन्त बलवाले हैं।

अनन्त बल प्रभु से बलवाले होकर ही हम कामादि वृत्रों का विनाश कर सकेंगे और इस प्रकार कामादि के ध्वंस से हम अपनी इन्द्रियों को पवित्र कर इस मन्त्र के ऋषि 'गोपवन' बनेंगे।

भावार्थ—हम सदा ज्ञानमार्ग के पथिक श्रुतर्वा बनें और शुभ शब्दों का उच्चारण करनेवाले आर्क्ष्य हों, तभी हममें प्रभु का प्रकाश होकर पवित्रता का प्रसार होगा।

ऋषिः—**वामदेवः; कश्यपो वा मारीचः; मनुर्वा वैवस्वतः; उभौ वा**॥ देवता—**अग्निः**॥
छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

१०. जातः परेण धर्मणा यत् सवृद्भिः सहाभुवः।
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः॥ १०॥

यत्=क्योंकि **परेण**=सर्वोत्कृष्ट **धर्मणा**=धर्म के द्वारा तू **जातः**=विकसित हुआ है और **यत्**=क्योंकि **सवृद्भिः सह**=यज्ञों के साथ **अभुवः**=तूने अपने जीवन को युक्त किया है, अतः **कश्यपस्य**=तुझ ज्ञानी (समझदार) का **अग्निः**=आगे ले-चलनेवाला प्रभु **पिता**=रक्षक हुआ है, **श्रद्धा**=सत्य का ही धारण करनेवाला तथा विकास का **माता**=निर्माण करनेवाला बना है, और **कविः**=क्रान्तदर्शी, ज्ञानी **मनुः**=अवबोध देनेवाला उपदेष्टा हुआ है।

मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट धर्म 'ज्ञान-प्राप्ति' है। **'ब्रह्मचर्यं परो धर्मः'**=ब्रह्मचर्य परम धर्म है, ब्रह्म=ज्ञान, चर्=उसका भक्षण। ब्रह्मचारी आचार्यकुल में २४, ३६ वा ४८ वर्ष रहकर ज्ञान का विकास करता है और फिर समय पर गृहस्थ में प्रवेश करता है।

गृहस्थ में उसे यज्ञमय जीवन बिताना है। यज्ञों को **स-वृत्**=साथ होनेवाला कहा है। ये यज्ञ सृष्टि के आरम्भ से ही जीव के साथ होनेवाले=सवृत् हैं, मनुष्य को चाहिए कि इन यज्ञों के साथ ही अपना जीवन व्यतीत करे और यज्ञों से ही फूले-फले।

इस प्रकार ज्ञान व यज्ञ-प्रधान जीवनवाले मनुष्य को रक्षक प्रभु आगे ले-चलता हुआ मोक्ष तक पहुँचा देता है। वह अपने जीवन में सत्य-विश्वास के साथ चलता है। यह सच्चा विश्वास उसके उत्कर्ष का साधक होता है।

प्रभु की कृपा से जिसे समय-समय पर क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी उपदेष्टाओं का सङ्ग प्राप्त होता रहता है, वह उत्तम मनवाला बना रहता है। इस प्रकार निर्भयता, सत्य, विश्वास व सौमनस्य से युक्त होकर वह **वामदेव**=उत्तम गुणोंवाला होता है, **कश्यपः**=ज्ञानी बनता है और **मनुः**=औरों को भी अपने जीवन से बोध देनेवाला होता है। ये ही इस मन्त्र के ऋषि हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन ज्ञान व यज्ञ के लिए अर्पित हो। हम अपने को प्रभु-रक्षा का अधिकारी बनाएँ, सत्य-विश्वास से युक्त और सत्सङ्ग करनेवाले हों।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**अग्निस्तापसः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सोम से बृहस्पति तक

९१. सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे। आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि अग्नि=प्रगतिशील स्वभाववाला, जोकि तापस=तपस्वी है, अपने वैयक्तिक व सामाजिक जीवन को निम्न गुणों से अलंकृत करता है—

१. **सोमम् अनु आरभामहे**=सोम के साथ हम अपने जीवन को प्रारम्भ करते हैं, अर्थात् अपने जीवन में सौम्यता लाने का प्रयत्न करते हैं। (यहाँ अनु का प्रयोग तृतीया के अर्थ में हुआ है, **अनु**=के साथ)। मनुष्य का सबसे प्रथम गुण सौम्यता है। प्रभु सौम्य व्यक्तियों का ही पथ-प्रदर्शन करते हैं=**सोम्यानां भृमिरसि।** गुरु सौम्य विद्यार्थियों को प्रेम से पढ़ाते हैं। एवं, यह सौम्यता हमें उन्नत करती है।

राजानम्=अपने जीवन को हम राजा के साथ चलाते हैं। राजा शब्द नियमितता का प्रतीक है। राजा भी राजा इसीलिए कहलाता है कि वह प्रजा के जीवन को नियमित बनाता है। (राज्=to regulate)। हम अपने जीवन को सूर्य और चन्द्र की भाँति नियमित करते हैं, उसे clockwise चलाते हैं। यह नियमितता हमें स्वास्थ्य व दीर्घजीवन प्राप्त कराती है।

वरुणम्=हम श्रेष्ठ बनते हैं। परतन्त्रता के साथ अवगुणों का व स्वतन्त्रता के साथ सद्गुणों का वास है। यहाँ शरीर में इन्द्रियों की दासता हमारे सद्गुणों की दस्यु=destroyer बनती है और जितेन्द्रिता सद्गुणों की जननी, अतः हम स्वतन्त्र बनकर श्रेष्ठ बनते हैं। वरुण पाशी है, प्रचेता है। हम समझदारी से इन्द्रियों को मर्यादाओं से जकड़कर रखते हैं और श्रेष्ठ बनते हैं।

अग्निम्=हम अग्नि की भावना के साथ जीवन चलाते हैं। **'अधः कृतस्यापि तनूनपातो नाधः शिखा याति कदाचिदेव'**=नीचे की हुई भी अग्नि की ज्वाला ऊपर ही जाती है। हम भी अपने जीवन में समय-समय पर होनेवाली असफलताओं से नीचे नहीं बैठ जाते, अपितु आगे और आगे—शिखर पर—**"मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य"** यही हमारा जप होता है।

इस प्रकार सौम्यता, नियमितता, मर्यादाशीलता व उच्च लक्ष्यता से वैयक्तिक जीवन को सुन्दर बनाकर हम समाज में प्रवेश करते हैं और वहाँ—

आदित्यम्=आदित्य के साथ अपने जीवन का प्रारम्भ करते हैं। आदान=ग्रहण करने के कारण सूर्य को आदित्य कहते हैं। वह कीचड़ व खारी समुद्र में से भी मल व खारेपन को छोड़कर शुद्ध जल का ही ग्रहण करता है। हम भी दोषों को छोड़कर गुणों का ही ग्रहण कर अपने जीवन को गुणों से भूषित करते हैं और इसके लिए—

विष्णुम्=अपने जीवन को (विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक मनोवृत्ति से युक्त करते हैं। व्यापक व उदार मनोवृत्तिवाला ही सब स्थानों से गुणों का ग्रहण कर पाता है।

सूर्यम्=सामाजिक जीवन में हमारा यह सिद्धान्त होना चाहिए कि हम सूर्य की भाँति अपना कार्य करते चलें। सूर्य कभी इस प्रतीक्षा में रुकता नहीं कि औरों ने अपना कार्य किया है या नहीं।

ब्रह्माणम्=हम ब्रह्मा के साथ अपना जीवन प्रारम्भ करते हैं। ब्रह्मा creator है—कर्त्ता है, नकि ध्वंसक। हम भी समाज में 'निर्माण' को अपना लक्ष्य बनाकर चलें। हमारा सामाजिक जीवन गुणग्राही, उदार, क्रियाशील व निर्माणवाला हो।

यदि इस प्रकार हम वैयक्तिक व सामाजिक गुणों से अपने जीवन को अलंकृत करेंगे तो हम **बृहस्पतिम्**=ऊर्ध्वा दिक् के अधिपति होंगे, अर्थात् सर्वोच्च शिखर पर पहुँच पाएँगे—'परमेष्ठी' होंगे, ब्रह्मा—जैसे बन जाएँगे।

भावार्थ—हमारा जीवन सदा सोम से प्रारम्भ हो, जिससे हम बृहस्पति बन पाएँ।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**अङ्गिराः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ये ऊपर उठते हैं

१२. इत एत उदारुहन्दिवः पृष्ठान्या रुहन्। प्र भूर्जयो यथा पथोद् द्यामङ्गिरसो ययुः॥ २॥

एते=सौम्यता आदि वैयक्तिक व गुणग्राहकता आदि सामाजिक गुणों को अपने अन्दर धारण करनेवाले ये व्यक्ति **इतः**=इस पृथिवी-पृष्ठ से **उत्**=ऊपर **आरुहन्**=चढ़ते हैं, **दिवः**=द्युलोक के **पृष्ठानि**=पृष्ठों पर **आरुहन्**=आरूढ़ होते हैं। मनुष्य जीवन का यही लक्ष्य होना चाहिए कि **पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहम्**=पृथिवी-पृष्ठ से मैं अन्तरिक्ष में पहुँचूँ, और **अन्तरिक्षात् दिवम् आरुहम्**=अन्तरिक्ष से मैं द्युलोक में पहुँचूँ। इस **दिवो नाकस्य पृष्ठात्**=स्वर्गलोक के पृष्ठरूप द्युलोक से ही तो मैं **स्वर्ज्योतिः अगाम् अहम्**=स्वयं देदीप्यमान् ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करूँगा।

द्याम्=द्युलोक को **प्र-ययुः**=प्राप्त होते हैं। कौन?

१. **भूर्जयः**=(भूरिति प्राणः, तं जयति) प्राणों का विजय करनेवाला। प्राणों के विजय से सब आसुर भावनाएँ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। प्राणों के संयम से इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं, जैसे अग्नि में धातुओं के मल। एवं, प्राणविजय से निर्मल बन हम ऊपर उठते हैं।

२. **यथा पथा**=(पथं अनतिक्रम्य गच्छति) जो व्यक्ति मार्ग का उल्लंघन न करके चलता है, जिसकी सब क्रियाएँ नपी-तुली होती हैं।

३. **अङ्गिरसः**=अङ्गरसवाले व्यक्ति, जिनका शरीर सूखे काष्ठ की भाँति निर्जीव न हो गया हो। प्राणायाम और योगमार्ग से चलने का यह परिणाम होगा कि हम अपने नवें तथा दसवें दशक तक भी स्निग्ध त्वचावाले, सरस अङ्गोंवाले बने रहेंगे, हम नवग्व व दशग्व होंगे। (नवदशकपर्यन्तं गच्छतीति नवग्वः)। इसी प्रकार अङ्गिरस वही व्यक्ति हो सकता है जो विषयों का शिकार नहीं बनता। विषय तो उसे शीघ्र ही जीर्ण-शीर्ण शरीरवाला बना देंगे।

भावार्थ—हम प्राणों को वश में करनेवाले, योगमार्ग से चलनेवाले, अङ्गों को शक्ति-सम्पन्न रखनेवाले बनें और द्युलोक में पहुँचें।

ऋषिः—वामदेवः काश्यपोऽसितो देवलो वा॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

महान् त्याग

१३. राये अग्ने महे त्वा दानाय समिधीमहि।
ईडिष्वा हि महे वृषं द्यावा होत्राय पृथिवी॥ ३॥

हे **अग्ने**=उन्नत भावों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! हम **त्वा**=आपको **समिधीमहि**=अपने हृदयों में दीप्त करते हैं। किसलिए? **राये**=धन के लिए, उस धन के लिए जोकि (रा=दाने) लोकहित के लिए दिया जाता है। **महे**=महान् बनने के लिए, अपने हृदयों को विशाल बनाने के लिए। हम उदार हों, और **दानाय**=दिल खोलकर देने के लिए समर्थ हों। इस उदारता व दान के लिए हम आपकी ज्योति को अपने हृदयों में जगाते हैं। इस ज्योति के अभाव में धन की चमक हमारी आँखों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है और हम संकुचित हृदय बनकर उसका दान नहीं कर पाते।

वृषम्=सब धनों की वर्षा करनेवाले **महे**=महान् **द्यावा-पृथिवी होत्राय**=द्युलोक से पृथिवी-लोक तक सम्पूर्ण ऐश्वर्य के होत्र के लिए, अर्थात् सर्वस्व के दान के लिए **ईडिष्व हि**=हम आपकी स्तुति करते हैं। इस भावना के उदय होने पर ही मैं इन अर्थों=धनों में आसक्त न होऊँगा और तभी मुझे धर्म का ज्ञान होगा। **'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते'**=धन में आसक्त को धर्म का ज्ञान नहीं हुआ करता, मुझे धर्मज्ञ होने का सौभाग्य प्राप्त होगा तो मैं अपने अन्दर दिव्य गुणों का विकास करनेवाला वामदेव बन पाऊँगा और तभी मैं ज्ञानी=काश्यप भी कहला पाऊँगा। हे अग्ने! आपकी कृपा से मैं ऐसा ही बनूँगा।

भावार्थ—सब धनों के वर्षक उस प्रभु का स्मरण करते हुए हम अपने जीवन को 'महान् त्याग' का जीवन बना पाएँ।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

आनन्द-चक्र की परिधि

९४. दधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्मेति वेरु तत्।
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभुवत्॥ ४॥

दधन्वे वा=वे प्रभु निश्चय से धारण करते हैं, **यत् ईम्**=जब जीव उस परमेश्वर को **ब्रह्म इति**=ब्रह्मरूप में **उ**=और **तत् वेः**='संसार-जाल का संहार करनेवाले हैं', इस रूप में **अनुवोचत्**=स्मरण करता है। जीव को चाहिए कि प्रतिदिन प्रातः-सायं उस प्रभु को 'ब्रह्म' और 'वेः' इन शब्दों से स्मरण करे। **ब्रह्म**=(बृहि वृद्धौ) वह प्रभु ही महान् है। **'वर्द्धमानं स्वे दमे'**=अपने स्वरूप में सदा से बढ़े हुए उस प्रभु का स्मरण करते हुए जीव अहंकारशून्यता को प्राप्त करता है। वह प्रभु 'वेः' हैं, वही तो संसार के सब घटनाचक्र को चला रहे हैं, अतः जो कुछ हो रहा है वह सब ठीक ही है, सब मेरे हित के लिए ही है। यह भावना मनुष्य को कितना सन्तोष प्राप्त कराती है!

वास्तविकता तो यह है कि **इव**=जिस प्रकार **चक्रं परि**=एक पहिए के चारों ओर **नेमिः**=परिधि होती है, उसी के कारण पहिया स्थिर होता है, ठीक इसी प्रकार **विश्वानि**=सब **काव्यानि**=ज्ञानों व आनन्दों के **परि**=चारों ओर वे प्रभु **आभुवत्**=हैं। परिधि हटी कि पहिया टूटा। बस, ठीक इसी प्रकार प्रभु हमारे जीवनों से दूर हुए और हमारे सब आनन्द व ज्ञान समाप्त हुए। प्रभु से दूर होने पर प्रेम व शान्ति का स्थान द्वेष तथा संघर्ष ले-लेते हैं। मनुष्य बनने के लिए आवश्यक है कि हम उस प्रभु के **ब्रह्म**=महान् रूप को स्मरण करते हुए **सोम**=विनीत बनें और यह समझकर कि 'प्रभु से दूर हुए और वास्तविक आनन्द से भी दूर

हुए' उस प्रभु के प्रति अपना समर्पण करनेवाले 'आहुति' बनें। यह 'सोमाहुति' ही इस मन्त्र का ऋषि है। यह भृगु-पुत्र है, **भृगु**=परि-पाक करनेवाले का सन्तान है। यदि हम ज्ञान से अपने को परिपक्व बनाएँगे तभी 'सोमाहुति' भी हो पाएँगे।

भावार्थ—प्रभु की महिमा व सर्वकर्तृत्व का स्मरण कर हम विनीत व सन्तुष्ट बनें। प्रभु को अपने जीवन-चक्र की परिधि बना आनन्द को नष्ट न होने दें।

ऋषिः—**भरद्वाजः पायुः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

तीन असुरों का संहार

९५. प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणाहि विश्वतस्परि। यातुधानस्य रक्षसो बलं न्युब्ज वीर्यम्॥ ५॥

अग्ने=मुझे उन्नत अवस्था में प्राप्त करानेवाले प्रभो! **हरसा** (हरसः)=मेरा हरण करनेवाले, मुझे अपने-आपे में न रहने देनेवाले क्रोध नामक असुर के **हरः**=क्रोध को **विश्वतः परि**=सब ओर से, सब प्रकार से **प्रतिशृणाहि**=नष्ट कर दीजिए। मैं क्रोध को अपने से दूर रख सकूँ। इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि में कहीं भी इसका निवास न हो। इसके प्रबल होते ही मेरा सारा शरीर काँपने लगता है और मैं स्वस्थ नहीं रहता। मुझे एक सम्मोह-सा हो जाता है और मैं सुध-बुध भूल जाता हूँ। संक्षेप में, यह मुझे हर ले-जाता है और इस प्रकार 'हरस' इस सार्थक नाम-वाला होता है।

हे प्रभो! आप मेरे इस क्रोध को तो दूर कीजिए ही और **यातु-धानस्य**=(यातु=पीड़ा) पीड़ा का आधान करनेवाले काम नामक असुर के **बलम्**=बल को भी **न्युब्ज**=झुका दीजिए। **काम**—इच्छा पूर्ण नहीं होती और पूर्ण न होती हुई मनुष्य को पीड़ित करती है। पूर्ण होकर भी वासना मनुष्य को जीर्ण करके दुःखी बना डालती है। इसी से काम को यहाँ **यातुधान**=पीड़ा देनेवाला कहा गया है। इसका बल व वेग कम होगा तभी हमारा कल्याण होगा।

हे प्रभो! इस यातुधान को दूर करने के साथ ही **रक्षसः**=(र+क्ष.) अपने रमण (मौज) के लिए औरों के क्षय की वृत्ति—लोभ की **वीर्यम्**=शक्ति को भी **न्युब्ज**=कुचल दो।

काम, क्रोध व लोभ मनुष्य की दुर्गति का कारण बनते हैं—सुगति का नहीं। इनकी समाप्ति करके ही मनुष्य अपनी रक्षा कर सकता है और इस मन्त्र का ऋषि 'पायुः'=अपनी रक्षा करनेवाला बनता है। इनके समाप्त करने पर ही उसकी शक्ति में भी वृद्धि होगी और वह अपने में शक्ति भरनेवाला 'भरद्वाज' कहलाएगा (वाज=शक्ति)।

भावार्थ—काम, क्रोध तथा लोभ को समाप्त कर हम अपनी रक्षा करें और शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रभु का निवास किन सात में?

९६. त्वमग्ने वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत। यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम्॥ ६॥

हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **इह**=इस मानव-जीवन में **यज**=मेल करते हो। किनके साथ?

१. **वसून्**=वसुओं के साथ, जो लोगों को बसाते हैं। निराश्रय को आश्रय देना, भूखे को

रोटी और बेकार को काम देना उसे बसाना है। बसाने के कारण वह 'वसु' कहलाता है और प्रभु के सङ्ग के योग्य बनता है।

२. **रुद्रान्**=(रुत्=शब्द, ज्ञान; रा=देना) ज्ञान देनेवाला 'रुद्र' कहलाता है। स्वयं ज्ञान प्राप्त करके जो उस ज्ञान को औरों को देने के लिए प्रयत्नशील है, वह 'रुद्र' है। ये रुद्र उस महान् रुद्र के साथी बनते हैं, जो सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत है।

३. **उत**=और **आदित्यान्**=आदित्यों को भी प्राप्त होते हैं। सूर्य आदित्य कहलाता है, क्योंकि वह कीचड़ में से, खारे समुद्र में से और दुर्गन्धित जोहड़ों में से भी निरन्तर शुद्ध जल का आदान कर रहा है। इसी प्रकार जो प्रत्येक व्यक्ति से गुणों का ही ग्रहण करता है, वह आदित्य कहलाता है और प्रभु का प्रेमपात्र बनता है।

४. **स्वध्वरम्** (सु अध्वरम्)=उत्तम हिंसारहित जीवनवाले को प्रभु प्राप्त होते हैं। जो मन में द्वेष नहीं करता, सूनृत—मधुर वाणी का प्रयोग करता है और हिंसा से दूर रहता है वह 'स्वध्वर' कहलाता है और प्रभु उससे स्नेह करते हैं।

५. **जनम्**=जो जनयति=उत्पन्न करता है, निर्माणात्मक कार्य करता है न कि ध्वंसात्मक, उस 'जन' को प्रभु मिलते हैं।

६. **मनुजातम्**=जातो मनुर्यस्मिन्=जिसमें ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसे प्रभु मिलते हैं। जो व्यक्ति अपने में ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है, वह प्रभु का सङ्ग करता है।

७. **घृतप्रुषम्**=घृत शब्द घृ धातु से बना है। इसके दो अर्थ हैं—क्षरण तथा दीप्ति। प्रुष के भी दो अर्थ हैं—जला देना (to burn) तथा उँडेलना=छिड़कना (to pour out, sprinkle) जो व्यक्ति ज्ञानाग्नि द्वारा दोषों को जला डालता है वह 'घृतप्रुष' है। यह घृतप्रुष प्रभु को अत्यन्त प्रिय होता है।

इस प्रकार एक-एक करके, कण-कण करके उल्लिखित गुणों का अपने में संग्रह करनेवाला 'प्रस्कण्व' इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम अपने को प्रभु का निवास-स्थान बनाने के लिए अपने में उपर्युक्त गुणों का संग्रह करने में प्रयत्नशील हों।

द्वितीयप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—दीर्घतमाः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

उसी की ओर

९७. पुरु त्वा दाशिवाँ वोचेऽ रिरग्ने तव स्विदा। तोदस्येव श रण आ महस्य॥ १॥

गत मन्त्र में कहा गया था कि वसु आदि में परमेश्वर का वास होता है। हम भी उन सात श्रेणियों में से किसी एक श्रेणी में आ सकें, इसके लिए साधनरूप तीन बातों का उल्लेख इस मन्त्र में किया गया है—

१. हे प्रभो! **दाशिवान्**=(दाश् दाने) आपके प्रति समर्पण करनेवाला मैं **त्वा**=आपकी **पुरु**=बहुत **वोचे**=स्तुति करता हूँ। मैं सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते सदा आके नाम का जप करता हूँ। सदा प्रभु का स्मरण करनेवाला व्यक्ति उस शक्ति के स्रोत प्रभु को न भूलने से कर्मों का अहंकार नहीं करता—फल के लिए कभी व्याकुल नहीं होता, उसका जीवन शान्ति से चलता है। यह दाशिवान् प्रभु का प्रिय होता है।

२. यह दाशिवान् कहता है—हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! तव **स्वित्**=तेरा ही **आं**= सब प्रकार से **अरिः**=मैं भक्त बनता हूँ (अरिः=moving towards; devoted to)। मैं प्रत्येक कार्य इसी दृष्टिकोण से करता हूँ कि वह मुझे तेरी ओर लानेवाला बने। संसार में सब सन्त 'लोकहित में लगे दीखते हैं'। वस्तुतः यही तेरी ओर आने का मार्ग है। मैं अपनी आवश्यकताओं को न्यून करता हुआ अपने को परार्थ साधन के योग्य बनाता हूँ और इस प्रकार आपकी ओर बढ़ता हूँ। अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाना प्रकृति की ओर बढ़ना और आपसे दूर हटना है।

३. मैं इस मार्ग पर न जाकर **महस्य**=आदरणीय **तोदस्य इव**=प्रेरक के समान जो आप हैं, उन्हीं की **शरणे**=शरण में आता हूँ। प्रभु अपनी प्रेरणा में सदा मधुर व शान्त हैं। वे अनन्त धैर्य के साथ सदा हृदयस्थ हो जीव को उत्तम कर्मों के लिए उत्साह तथा अशुभ कर्मों के लिए चेतावनी दे रहे हैं। उन्होंने अपना सब-कुछ जीव को देकर उसके लिए महान् त्याग भी किया है, इसीलिए भी वे महनीय **तोद**=त्यागवाले (sacrificer) हैं। मैं तो आपकी ही शरण में आता हूँ।

जिस दिन जीव प्राकृतिक भोगों में सुख के भ्रान्त विचार को छोड़कर प्रभु की ओर चलेगा, उसी दिन वह अपनी भ्रान्ति को भगा देने के कारण इस मन्त्र का ऋषि 'दीर्घतमा'= 'अन्धकार का विदारण करनेवाला' बनेगा।

भावार्थ—हम प्रभु के नाम का सतत जप करें, उसी की ओर चलें और उसी की शरण में पहुँचें।

ऋषि:—**विश्वामित्र: गाथिन:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**उष्णिक्**॥ स्वर:—**ऋषभ:**॥

उसी का जप

९८. प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत्। विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे॥ २॥

इस मन्त्र का मुख्य वाक्य यह है कि उसी के लिए **वच:**=स्तुतिवचन का **प्र-भरत**=प्रकर्षेण सम्पादन करो। यह स्तुतिवचन ही **पूर्व्यम्**=पूरण तथा पालन करनेवाला होगा (पृ पालनपूरणयो:) तथा **बृहत्**=तुम्हारी वृद्धि का कारण बनेगा (बृहि वृद्धौ)। जब मनुष्य प्रभु के गुणों का गान करता है तब उन गुणों में प्रीति होकर वह अपने भक्तिभाजन के अनुरूप बनने का प्रयत्न करता है। यह प्रभु का स्मरण उसे अशुभ बातों की ओर जाने से बचाकर उसका पालन भी करता है। प्रभु के नाम का स्मरण वासना का विनाश करता है। यह नाम-स्मरण अहंकार आदि सभी भावनाओं को समाप्त करने के कारण पूर्व्यम् है। यह हमें आत्मस्वरूप का स्मरण करा उत्थान की ओर ले-चलने के कारण 'बृहत्' भी है।

'हम उस प्रभु का किस रूप में स्मरण करें?' इसका उत्तर मन्त्र में **'होत्रे'**, **'अग्नये'**, **'विपां ज्योतींषि बिभ्रते न'** तथा **'वेधसे'** इन शब्दो के द्वारा दिया गया है। वे प्रभु होता हैं (हु दाने) देनेवाले हैं। जैसे माता अपने लिए कुछ भी न बचाती हुई सब-कुछ बच्चों को देकर प्रसन्न होती है, उसी प्रकार यह जगज्जननी वस्तुत: होत्री है। अपने लिए कुछ न रखकर सब-कुछ जीव के लिए दे रही है। हमें भी अपने उस महान् सखा का अनुकरण करते हुए होता बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

'अग्नये' शब्द आगे ले-चलने की भावना को व्यक्त करता है। प्रभु हमें उन्नत करते-करते मोक्ष-स्थान तक पहुँचाएँगे।

(विपां न)=मेधावियों-जैसे लोगों के लिए **ज्योतींषि**=प्रकाश को **बिभ्रते**=धारण करते हुए प्रभु के लिए हम स्तुतिवचनों का उच्चरण करें। वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा आदि मेधावियों को वेद का ज्ञान प्राप्त कराते हैं और उनके द्वारा गुरु-शिष्य परम्परा से हमें भी ज्ञान देते हैं। अब भी जब हम अपनी बुद्धि को परिष्कृत करते हैं तब उस हृदयस्थ प्रभु से प्रकाश पाते हैं। हमें भी प्रकाश प्राप्त कर औरों को प्रकाश देने का प्रयत्न करना चाहिए।

वेधसे=वे प्रभु **वेधा**=विधाता हैं, प्राणिमात्र का विशेषरूप से धारण कर रहे हैं। हमें भी यथासम्भव इस दिशा में प्रयत्न करना ही चाहिए।

इस प्रकार प्रभु के लिए विशेषरूप से स्तुति-वचनों को धारण करनेवाला व्यक्ति 'गाथिन:' कहलाता है, यह सदा उसी का गायन करता है। यह प्राणिमात्र में प्रभु का ध्यान करता हुआ सभी का मित्र 'विश्वामित्र' होता है। इसका सभी के साथ स्नेह-ही-स्नेह होता है, यह द्वेष को अपने अन्दर नहीं आने देता।

भावार्थ—प्रभु के नाम का जप मनुष्य का पालन, पूरण व वृद्धि करनेवाला होता है।

ऋषि:—**राहुगणो गोतम:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**उष्णिक्**॥ स्वर:—**ऋषभ:**॥

प्रार्थना-त्रयी

९९. अग्ने वाजस्य गोमत ईशान: सहसो यहो। अस्मे देहि जातवेदो महि श्रव:॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले (प्रशंसायां मतुप्) **वाजस्य**=बल को **अस्मे**=हमें **देहि**=दीजिए। आप **ईशानः**=स्वामी हैं। इन शब्दों में यह पहली प्रार्थना है कि हम शक्तिशाली हों और शक्तिशाली होकर इन्द्रियों को वश में रखते हुए उन्हें निर्मल बनाये रक्खें। शक्ति ही न हो और शक्ति के अभाव में इन्द्रियाँ शान्त बनी रहें, यह वैदिक आदर्श नहीं। इसके लिए जहाँ सौम्य भोजन व सौम्य व्यायाम (भ्रमण, तैरना, आसन आदि) उपयोगी हैं, वहाँ 'अग्ने' और 'ईशानः' शब्द भी आवश्यक संकेत कर रहे हैं कि हमारे सामने आगे बढ़ने का लक्ष्य हो, साथ ही हम ध्यान रक्खें कि हमें 'ईशान' बनना है न कि दास। हमारा सदा यही जप हो कि 'आगे बढ़ना है, ईशान बनना है।' यह जप हमें धर्म के मार्ग पर चलने में सहायक होगा, हमारी शक्ति हमें असंयमी न बनने देगी।

२. **'यहो'**=हे महान् प्रभो! **अस्मे**=हमें **सहसः**=सहनशक्ति **देहि**=दीजिए। हममें सहिष्णुता हो। छोटी-छोटी बातों से हम क्षुब्ध न हो जाएँ। सहिष्णुता होने पर प्रायः सब सामाजिक व पारिवारिक झगड़ों का अन्त हो जाता है।

'यहो' शब्द हमें संकेत दे रहा है कि हम महान् बनें। महान् बनने पर हममें सहनशक्ति जागेगी।

३. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **अस्मे**=हमें **महि**=प्रशंसनीय **श्रवः**=उत्तम ज्ञान **देहि**=प्राप्त कराइए। हमारा कोई भी कर्म निन्दनीय न हो। वस्तुतः ज्यों-ज्यों हम अपना ज्ञान बढ़ाएँगे त्यों-त्यों हमारे कर्म प्रशस्त होते जाएँगे। **'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'**=ज्ञान के समान पवित्र करनेवाली अन्य कोई वस्तु नहीं है।

इस प्रकार अपनी इन्द्रियों को पवित्र बनानेवाला व्यक्ति इस मन्त्र का ऋषि 'गोतम' कहलाता है। यह भोगों, क्रोध और निन्द्य कर्मों को छोड़ता है। इस प्रकार छोड़नेवालों में श्रेष्ठ स्थान में गिना जाकर यह 'राहूगण' कहलाता है।

भावार्थ—हम भोगों तथा असहिष्णुता को छोड़ें और निन्द्य कर्मों का भी त्याग करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

दैवी-सम्पत्-त्रयी

१००. अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवां देवयते यज। होता मन्द्रो वि राजस्यति स्रिधः ॥ ४ ॥

अग्ने=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञरूप उत्तम कर्मों में **यजिष्ठः**=सर्वोत्तम सङ्गत करनेवाले तो आप ही हो, परन्तु प्रभु भी उसी को उत्तम मार्ग पर ले-चलते हैं जो स्वयं दिव्य गुणों की प्राप्ति की कामनावाला हो। प्रभु का द्वार तो खुलेगा, पर जीव को थपथपाना तो होगा। प्रभु की कृपारूपी वायु हमारी मनरूपी नाव को चलाएगी तो सही, परन्तु हमें नाव के बादवानों को खोलना होगा, इसीलिए मन्त्र में कहते हैं कि **देवयते**=दिव्य गुणों को अपनाने की कामनावाले मेरे लिए आप **देवान्**=दिव्य गुणों को **यज**=सङ्गत कराइए।

जीव की प्रार्थना को सुनकर प्रभु जीव से कहते हैं कि **होता**=तू दानपूर्वक अदन (भक्षण) करनेवाला बन। तू सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाला हो। यही तेरे लिए 'अमृत' है। इस अमृत के सेवन से तेरी सब अशुभ वृत्तियाँ मृत हो जाएँगी।

मन्द्रः=तेरी मनोवृत्ति सदा प्रसन्नतावाली हो। मनःप्रसाद ही सर्वोत्तम तप है। होता बनने से तू मन्द्र भी बन पाएगा। तेरे चेहरे पर कभी क्रोध न हो, तुझसे प्रसाद का प्रवाह चारों ओर प्रवाहित हो।

स्त्रिधः=हानि पहुँचाने की भावनाओं से (स्त्रिध् to injure) तेरा जीवन **अति**=परे हो। इन भावनाओं को तू लाँघ चुका हो। कोई तेरा अपमान करे, तुझे हानि पहुँचाए, उसके लिए भी तेरी मङ्गलकामना हो। तू सभी को अपने परमपिता प्रभु का पुत्र समझता हुआ द्वेष से शून्य हो।

संक्षेप में तू सभी के साथ स्नेह करनेवाला इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' बन तभी यह दानशीलता, सदा प्रसन्नता तथा अहिंसारूप सम्पत्-त्रयी तुझे प्राप्त होगी और **विराजसि**=तू इस संसार में विशेष शोभावाला होगा, तेरा जीवन चमक उठेगा।

भावार्थ—हम होता बनें, सदा प्रसन्न रहें और अपकारी को हानि पहुँचाने की भावना को भी अपने से दूर रक्खें।

ऋषिः—**त्रित आप्त्यः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

क्या माँगें?

१०१. जज्ञानः सप्त मातृभिर्मेधामाशासत श्रिये। अयं ध्रुवो रयीणां चिकेतदा॥ ५॥

योगदर्शन में योग-मार्ग आठ मञ्ज़िलोंवाला है। आठवीं मञ्जिल समाधि है (जिसमें प्रभु का साक्षात्कार हो जाना है।) उससे पहले सात मञ्ज़िलें हैं, जिन्हें हम साधना का नाम दे सकते हैं। ये सातों मानव-जीवन को स्वस्थ, सबल, सुन्दर व सुप्रज्ञ बनाकर बड़ा उत्तम बना देतीं हैं। इस निर्माण के कारण इन्हें मन्त्र में 'सप्त मातरः' कहा है। इन सात मंजिलों को पार कर मनुष्य प्रभु का साक्षात् कर पाता है। मन्त्र में कहा है कि **'सप्त मातृभिः'**=योग की इन सात (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान) मंज़िलों द्वारा **जज्ञानः**=वह प्रभु तुम्हारे सामने प्रादुर्भूत हुए हैं (जनी प्रादुर्भावे)।

'प्रभु से जीव क्या याचना करे?' याचना करने की सहस्त्रों वस्तुएँ हो सकती हैं—'प्रजा, पशु, आयु, प्राण, द्रविण, कीर्ति' एक-एक वस्तु मनुष्य के लिए आकर्षण रखती है। वेद कहता है कि **श्रिये**=अपने जीवन को सम्पन्न बनाने के लिए **मेधाम्**=मेधा बुद्धि को **आशासत**=माँगो। श्री शब्द 'धर्म, अर्थ, काम' तीनों पुरुषार्थों को एक शब्द से कहने के लिए प्रयुक्त होता है। यदि मनुष्य यह चाहता हो कि उसके जीवन में धर्म, अर्थ व काम तीनों का सुन्दर समन्वय हो तो वह मेधा की याचना करे। मेधा उसे कहीं भी आसक्त न होने देती हुई धर्म, अर्थ, काम इन सभी पुरुषार्थों की श्री से सम्पन्न कर देती है।

'प्रभु का दर्शन होने पर मेधा ही माँगनी है', ऐसा हम निश्चय करें, कहीं ऐसा न हो कि उस विस्मय में हमें कुछ सूझे ही नहीं या हम कुछ ग़लत वस्तु माँग बैठें। **अयम्**=यह प्रभु तो **रयीणाम्**=सब प्रकार की सम्पत्तियों के **ध्रुवः**=अवधिभूत स्थान हैं—पवित्र पात्र हैं। ऐसा ही वह प्रभु **आ**=सर्वत्र **चिकेतत्**=जाना गया है। उन सम्पत्तियों में से हम 'धर्म में स्थिर बुद्धि' को ही चाहें। हमारी याचना सात्त्विक सम्पत्ति के लिए हो। यह सर्वोत्तम सात्त्विक सम्पत्ति ही 'मेधा' है। इसके होने पर कुछ भी अप्राप्य न रहेगा। इस प्रकार हम प्राप्त करनेवालों में श्रेष्ठ, इस मन्त्र के ऋषि 'आप्त्य' होंगे और संसार-सागर को तैरनेवालों में उत्तम होकर तीर्णतम=त्रित कहलाएँगे।

भावार्थ—हम योग की सात भूमिकाओं से उस प्रभु का दर्शन करें और सदा मेधा की

कामना करें।

ऋषि:—**इरिम्बिठि:**॥ देवता—**अदिति:**॥ छन्द:—**उष्णिक्**॥ स्वर:—**ऋषभ:**॥

मेधा के साथ मननशीलता

१०२. उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्यागमत्। सा शन्ताता मयस्करदप स्त्रिध:॥ ६॥

उत=और **न:**=हमें **स्या**=वह **मति:**=विचारशीलता **आगमत्**=प्राप्त हो, जो **ऊत्या** [ऊत्यै]=रक्षा के लिए होती है। **"अविवेक: परमापदां पदम्"**—अविवेक सब आपत्तियों का आधार है। जब मनुष्य विचारकर कार्य करता है तब शुभ को ही प्राप्त होता है। मनुष्य तो है ही वह जो **"मत्वा कर्माणि सीव्यति"**=विचारकर कर्म करता है।

यह विचारशीलता **दिवा**=दिन के समान प्रकाशमय (as bright as day) है। इस प्रकाश में.हमें अपने कर्त्तव्य का मार्ग स्पष्ट दीखता है। यह विचारशीलता **अदिति:**=अखण्डन=अहिंसा का कारण है। इससे हमारी हिंसा नहीं होती। मार्ग अन्धकारमय न होने से हमें ठोकर नहीं लगती।

सा=वह **मति:**=विचारशीलता **शन्ताता**=शान्ति का विस्तार करनेवाली होती है। मन में शान्ति के कारण सारा नाड़ीसंस्थान ठीक कार्य करता है और हमारा शरीर नीरोग व सुखी होता है, अत: यह मति शान्ति के विस्तार के द्वारा **मय:**=सुख **करत्**=प्रदान करती है। विचारशीलता से हम बदले की भावना से दूर हो जाते हैं और यह मति हमें **स्त्रिध:**=हानि पहुँचाने की वृत्तियों से **अप**=दूर करती है। विचारने पर मनुष्य इससे ऊपर उठता है और शान्ति व सुख प्राप्त करता है। बदला तो क्या लेना, उसका हृदय अविचारशील लोगों के लिए करुणा से आर्द्र होता है। सभी महापुरुषों ने अपना अन्त करनेवालों के शुभ की ही कामना की। इनका **बिठ**=हृदयान्तरिक्ष **इरि**=दया के जल से आर्द्र होता है, अत: ये ''इरिम्बिठि" कहलाते हैं और इस मन्त्र के ऋषि होते हैं।

भावार्थ—हम विचारशील बनें, जिससे शान्ति व सुख का लाभ करते हुए हम घृणा की वृत्ति से सदा दूर रहें।

ऋषि:—**विश्वमना वैयश्व:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**उष्णिक्**॥ स्वर:—**ऋषभ:**॥

पूजा, सम्पर्क, समर्पण

१०३. ईडिष्वा हि प्रतीव्यां३ यजस्व जातवेदसम्। चरिष्णुधूममगृभीतशोचिषम्॥ ७॥

जीव कितना ही प्रयत्न करे, वह अपने को काम-क्रोधादि के विजय में असमर्थ पाता है, अत: मन्त्र में कहते हैं कि **हि**=निश्चय से **प्रतीव्यम्**=(प्रति+वी)=कामादि प्रतिकूल शत्रुओं के प्रति जानेवाले, अर्थात् उनपर आक्रमण करनेवाले प्रभु की **ईडिष्व**=स्तुति कर। वे प्रभु 'स्मर-हर' हैं—इन कामादि का तेरे लिए हरण करनेवाले हैं। हृदय में स्मर-हर का स्मरण होने पर वहाँ 'स्मर' कैसे आ सकता है!

हे जीव! तू **जातवेदसम्**=(जातं जातं वेत्ति) उस सर्वज्ञ प्रभु की **यजस्व**=पूजा कर। उसी की भाँति सर्वज्ञ बनने का प्रयत्न कर। जितना-जितना तेरा ज्ञान बढ़ता जाएगा, उतना-उतना तू इन वासनाओं से ऊपर उठता जाएगा।

वह प्रभु **चरिष्णुधूमम्**=क्रिया के स्वभाववाले (चर्+इष्णु 'ताच्छील्य अर्थ में') और धूम (धूञ् कम्पने) सब बुराइयों को कम्पित कर दूर करनेवाले हैं। उस प्रभु के साथ **यजस्व**=अपना सम्पर्क स्थिर रखनेवाला बन। तू उसी की भाँति स्वाभाविकरूप से क्रियाशील बन जा। इस प्रकार तू इन अशुभ भावनाओं को कम्पित करनेवाला बन सकेगा। आलस्य के साथ वासनाओं का साहचर्य है। प्रभु का सम्पर्क तुझे शक्ति-प्रवाह से शक्तिमान् बना देगा और अनथक रूप से क्रिया करनेवाला तू कभी इन वासनाओं का शिकार न होगा।

वे प्रभु **अगृभीतशोचिषम्**=सदा अनाक्रान्त ज्योतिवाले हैं, इनकी दीप्ति मलिनता से ग्रस्त नहीं होती। वे सर्वदा शुचि-ही-शुचि हैं-निर्मल हैं। हे जीव! तू भी निर्मल प्रभु के प्रति **यजस्व**=अपना दान-'अर्पण' कर दे। तू भी उसी की भाँति निर्मल बन जाएगा। देवपूजा, सङ्गतीकरण और दान=समर्पण में ही यज्ञ निहित है। यज्ञ करनेवाले जीव का जीवन यज्ञिय (पवित्र) हो जाएगा और वह सचमुच **वैयश्व**=व्यश्व (वि=विशिष्ट, अश्व=इन्द्रिय) का सन्तान, अत्यन्त उत्तम इन्द्रियोंवाला होगा। इसका मन काम-क्रोधादि की भावनाओं से दूर होने के कारण सबके प्रति प्रेमवाला होकर विश्वव्यापक, असंकुचित होगा और यह मन्त्र का ऋषि 'विश्वमनाः' बनेगा।

भावार्थ-हम उस सर्वज्ञ, पूर्ण-प्रज्ञ प्रभु की पूजा करें। स्वाभाविक क्रियावाले प्रभु के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ें और सदा पवित्र उस प्रभु के चरणों में अपना अर्पण कर दें।

ऋषिः-**विश्वमना वैयश्वः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**उष्णिक्**॥ स्वरः-**ऋषभः**॥

हम विश्वमना वैयश्व बनें

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

१०४. न तस्य मायया च न रिपुरीशीत मर्त्यः। यो अग्नये ददाश हव्यदातये॥ ८॥

यः=जो **अग्नये**=अग्रगति के साधक तथा **हव्यदातये**=(हव्यानां दातिर्दानं येन तस्मै) उत्तम पदार्थों को देनेवाले प्रभु के लिए **ददाश**=अपने को दे डालता है, अपना समर्पण कर देता है, **तस्य**=उसका **रिपुः**=(to rip open) नाश कर देनेवाला **मर्त्यः**=यह मार (काम) **मायया**=अपनी पूरी माया के द्वारा **चन**=भी **ईशीत न**=स्वामी नहीं बन पाता।

मनुष्य संसार में आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है, परन्तु उसे पग-पग पर अनुभव होने लगता है कि कोई शक्ति उसे आगे बढ़ने से रोक देती है। यह शक्ति ही यहाँ मन्त्र में 'रिपु' और 'मर्त्य' नामों से उल्लिखित हुई है। ये ही मनुष्य के शत्रु हैं-उसका शातन (नाश) करनेवाले हैं।

यह काम ही तेरा शत्रु है। यह मर्त्य है, मार है। अन्त में तेरी समाप्ति का कारण बनता है।

इसके मारने की प्रक्रिया भी कितनी माया से भरी है! बड़े ही आकर्षकरूप से वह हमारी ओर आता है और फिर फूलों के धनुषबाण से हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियों पर एक साथ आक्रमण करता है। हमें पता भी नहीं लग पाता, पता लगने से पूर्व ही यह अपना काम बड़ी मधुरता से कर चुकता है। हमारे ज्ञान को नष्ट कर (मन्मथ) यह हमें अपना शिकार बना लेता है। इसकी माया से ऊपर उठना मनुष्य की शक्ति से बाहर की बात है।

परन्तु जब मनुष्य प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर देता है तब फिर इस काम का कुछ

वश नहीं चलता। यह स्मर है, तो प्रभु स्मर-हर हैं। मनुष्यों के ज्ञानदीप को यह काम बुझा देता है, तो प्रभु की ज्ञानाग्नि में यह स्वयं भस्म हो जाता है। मनुष्य के हृदय में प्रभु का स्मरण होते ही इस काम की इतिश्री हो जाती है। मनुष्य पर इसकी माया प्रबल थी, परन्तु प्रभु की तो माया दासी ही है, इस प्रकार प्रभु-स्मरण से काम के समाप्त होने पर मनुष्य की वास्तविक उन्नति प्रारम्भ होती है, इसीलिए मन्त्र में प्रभु को 'अग्नि' कहा है—वे हमें आगे ले-चलनेवाले हैं। अब हम आत्मिक उन्नति के मार्ग पर निर्विघ्न हो आगे बढ़ पाते हैं। सांसारिक दृष्टिकोण से भी यह प्रभु का स्मरण घाटे का व्यापार नहीं है। वे प्रभु सब प्राप्तव्य पदार्थों के देनेवाले हैं। जो-जो वस्तु हमारे लिए उपयोगी है, वह हमें प्राप्त होगी। हमें तो उचित पुरुषार्थ करते चलना है। हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान स्वयं प्रभु करेंगे। वे 'हव्यदाति' हैं।

इस प्रकार काम के नाश से 'हमारा प्रेम का तत्त्व समाप्त हो जाता हो' यह बात नहीं। यह प्रेम संकुचित न रहकर व्यापक हो जाता है, हम सभी के प्रति प्रेमवाले होकर इस मन्त्र के ऋषि 'विश्वमनाः' बन जाते हैं। अब हमारे ज्ञानेन्द्रियरूपी घोड़े हीनमार्ग पर न जानेवाले होकर उत्कृष्ट मार्ग पर जाते हैं। ये सामान्य घोड़े न होकर विशिष्ट स्थितिवाले होते हैं। इनके स्वामी हम 'वैयश्व' बन जाते हैं—विशिष्ट अश्वोंवाले।

भावार्थ—प्रभु के प्रति समर्पण द्वारा हम 'विश्वमना वैयश्व' बनें।

ऋषिः—**ऋजिष्वा भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

दूर-से-दूर फेंकिए (सात समुद्र पार)

१०५. अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम्। दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम्॥ ९॥

हे **सत्पते**=सयनों के रक्षक! हमारे मार्ग को **सुगम्**=सुगमता से जाने योग्य, सरल **कृधि**=कीजिए। हम सब कभी-न-कभी उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ चलने का संकल्प अवश्य करते हैं, उस मार्ग पर चल भी पड़ते हैं, परन्तु उसपर चलना **'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'** सचमुच छुरे की तेज धार के समान कठिन प्रतीत होता है और हम फिर-फिर रुक जाया करते हैं, तब हम प्रभु से आराधना करते हैं कि **दविष्ठम्**=दूर-से-दूर (बहुत दूर) **अस्य**=इसे फेंकिए। यह बारम्बार लौटकर हमारे मार्ग को दुर्गम न बनाता रहे। स्पष्ट है कि यह मार्ग का विघ्न बड़ा धृष्ट (हठी obstinate) है, इसे हम परे फेंक भी दें, यह फिर आ जाता है, अतः हारकर हम प्रभु से कहते हैं कि आप इसे दूर-से-दूर (सात समुद्र पार) फेंकिए, जिससे यह फिर न लौट आये।

इस विघ्न का चित्रण ही 'वृजिनं, रिपुं, स्तेनं व दुराध्यम्' इन चार शब्दों से हुआ है। यह विघ्नरूप वासना (काम) **वृजिनम्**=वर्जनीय (वृजी वर्जने) है। इसकी आकृति अत्यन्त सुन्दर है, वस्तुतः सब देवों में सर्वाधिक सुन्दर 'काम' ही है। यह अत्यन्त कान्त है, परन्तु यह सुन्दराकृति सर्प के समान है, जो विषमय होने से बचकर चलने योग्य है। हम इसके फन्दे में पड़ गये तो यह 'रिपु' है, हमारा विदारण (Rip) करनेवाला है। यह हमें नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। भोगों को हम भोगने लगें तो हम उनका शिकार हो जाएँगें। ये हमारी इन्द्रियशक्तियों को जीर्ण कर देंगे—**सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः**। इतना ही नहीं, यह स्तेन है। **'संस्त्यानमस्मिन् पापकम्'** इसमें पाप घनीभूत होकर रह रहा है। इसके वशीभूत होने पर हमारा जीवन पापमय

हो जाएगा।

यह सब-कुछ होते हुए यह 'दुराध्य' है, **दुःखेन वशीकर्तुं योग्यम्**' (दयानन्द)। इसका वश में करना बड़ा कठिन है और इसे दूर किये बिना आगे बढ़ना असम्भव है, अतः हम प्रभु से कहते हैं कि **त्यम्**=इस प्रसिद्ध वासनारूप शत्रु को **अप-अस्य**=हमसे दूर फेंकिए (असु क्षेपणे) जिससे हम आगे बढ़ सकें। हे प्रभो! आप **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले हैं।

हम स्वयं आगे क्या बढ़ पाएँगे? आपकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर हम 'भरद्वाज' बनेंगे और तभी सरलता से अपने मार्ग पर आगे बढ़नेवाले '**ऋजिश्वा**' (ऋजु सरल, श्वि-गति) हो सकेंगे।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'ऋजिश्वा भरद्वाजः' बन पाएँ।

ऋषिः—**विश्वमना वैयश्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

तप से राक्षसों का दहन

१०६. श्रुष्ट्यग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते। नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह॥ १०॥

अग्ने=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **वीर**=काम-क्रोधादि अमित्रों को समाप्त करनेवाले और इस प्रकार **विश्पते**=प्रजाओं की रक्षा करनेवाले प्रभो! प्रभु ही हमें उन्नति के पथ पर आगे ले-चलते हैं। उन्नति के विघातक काम-क्रोधादि शत्रुओं को वे समाप्त करते हैं और इस प्रकार वे सब प्रजाओं की रक्षा करते हैं।

जीव प्रभु से याचना करता है कि **मे**=मेरे **नवस्य**=(नव गतौ—नि०) क्रियामय **स्तोमस्य**=स्तुतिसमूह को **श्रुष्टि**=सुनिए—सायण। प्रभु यान्त्रिक कीर्तन को नहीं सुनते। प्रभु की अर्चना तो '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' कर्मों के द्वारा होती है। यदि हम सकामता से ऊपर उठ अपने नियत कर्मों को कर्त्तव्य-बुद्धि से करते हैं तो हम प्रभु की आराधना कर रहे होते हैं। स्तुति नव अर्थात् क्रियामय हो, केवल शाब्दिक नहीं।

इस क्रियामय स्तुति का रूप ही मन्त्र के उत्तरार्ध में व्यक्त हुआ है। प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **मायिनः**=इन मायावी **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तियों को **तपसा**=तप के द्वारा **निदह**=नितरां भस्म कर डाल। ये काम-क्रोधादि वासनाएँ मायावी हैं। ऊपर से इनका स्वरूप कुछ और है, अन्दर से कुछ और। 'काम' देवों में सबसे अधिक सुन्दर है, मधुर है, परन्तु परिणाम में वह मार=घातक है। यही इसका मायावीपन है कि प्रतीत कुछ और होता है, है कुछ और। मायावी कामादि रक्षस् हैं, रमण के द्वारा हमारा क्षय करनेवाले हैं। हमें प्रतीत ऐसा होता है कि हम आनन्द प्राप्त कर रहे हैं, परन्तु उसी आनन्दोपभोग में हमारे क्षय का बीज निहित होता है। इसीलिए इसका नाम 'र' (रमण)+क्षस् (क्षय) है। इन मायावी कामादि का नाश तपसे होता है। तित्तिरि ऋषि के शब्दों में तप का अभिप्राय 'ऋत, सत्य, श्रुत, शान्ति और दम' है। नियमित जीवन, सत्य-पालन, शास्त्र-श्रवण, यथासम्भव शान्ति, इन्द्रियों का दमन—यही तप है।

जो अपने जीवन को तप से युक्त करने के लिए प्रयत्नशील होगा, वह इन राक्षसी वृत्तियों का दहन करके 'विश्वमनाः' व्यापक, उदार मनवाला बनेगा और विशिष्ट इन्द्रियरूप अश्वोंवाला होने से 'वैयश्व' होगा।

भावार्थ—हमारी स्तुति क्रियामय हो और हम तप से राक्षसी वृत्तियों का दहन करें।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**प्रयोगो भार्गवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

यथाविधि उपासना

१०७. प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे। उपस्तुतासो अग्नये॥ १॥

इस मन्त्र का दर्शन 'प्रयोग भार्गव' ऋषि ने किया था। प्रयोग शब्द का अर्थ है 'जो क्रिया में लाता है'। यहाँ स्तुति का प्रकरण है, अतः प्रयोग क्रियात्मक स्तुति के पक्ष में है। प्रयोग का अर्थ प्रकृष्ट सम्पर्कवाला भी है। हम अपने सन्तानों का सम्बन्ध जोड़ते समय ध्यान रखते हैं कि कुल ऊँचा हो, परन्तु अपना सम्बन्ध जोड़ते समय हमें यह ध्यान नहीं रहता और हम प्रायः प्रभु को छोड़ प्रकृति से अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। यह प्रयोग ऐसी ग़लती कभी नहीं करता। वह भार्गव है—भृगुपुत्र है। उसने तपस्या के द्वारा अपने जीवन का बड़ा सुन्दर परिपाक किया है (भ्रस्ज पाके)।

यह प्रयोग अपने साथियों से कहता है कि हे **उपस्तुतासः**=उपासको! **प्रगायत**=खूब गान करो। किसका? उस प्रभु का जो **१. मंहिष्ठाय २. ऋताव्ने ३. बृहते ४. शुक्रशोचिषे ५. अग्नये**—इन शब्दों से सूचित हो रहा है। यह सिद्धान्त है कि जिस रूप में हम प्रभु की उपासना करेंगे, वैसे ही बन जाएँगे, अतः हम प्रभु का निम्न पाँच रूपों में स्मरण करें—

१. मंहिष्ठाय प्रगायत=उस प्रभु के लिए स्तुति करो जोकिं 'दातृतम' है (मंह्=दानकर्मा)। जिसने सब-कुछ जीवों के हित के लिए दिया हुआ है। प्रभु सबसे महान् दाता हैं। इतना महान् कि उनकी अपनी आवश्यकता है ही नहीं। हम भी अपनी आवश्यकताएँ न्यून और न्यून करते हुए अधिक-से-अधिक दानी बनने का प्रयत्न करें।

२. ऋताव्ने=ऋत=ठीक के अवन=रक्षण करनेवाले प्रभु का गान करो। प्रभु की पूर्ण अधीनता में चलनेवाली प्रकृति में सब ठीक समय पर होता है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र ठीक समय पर प्रकट होते हैं। हम भी यथासम्भव सब कार्यों को ठीक समय पर करनेवाले बनें। विशेषतः 'सोना, जागना तथा खाना' नियत समय पर हो, जिससे हम पूर्ण आयुष्य तक चल सकें।

३. बृहते=वे प्रभु बृहत् हैं, महान् हैं। **'अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति'**=अपने न माननेवालों को भी वे भोजनाच्छादनादि प्राप्त कराते ही हैं। हम भी महान् बनें। हमारे विशाल हृदय में **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना हो।

४. शुक्रशोचिषे=दीप्त ज्योतिवाले प्रभु का गान करो। प्रभु का ज्ञान निर्मल, निर्भ्रान्त और देदीप्यमान है। हम भी अपने ज्ञान को दीप्त करने के लिए सतत प्रयत्न करें। यह ज्ञान हमारे सब कर्मों को पवित्र करेगा।

५. अग्नये=अग्रस्थान पर स्थित प्रभु के लिए गान करो। **'तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्'**—वे प्रभु तो अग्रस्थान पर स्थित हैं ही, मेरे जीवन का भी प्रतिदिन यही ध्येय हो कि 'आगे' और 'आगे'। यह ध्येय ही मुझे आलस्य व मार्गभ्रंश से बचाएगा।

भावार्थ—हम दाता, ऋत का पालन करनेवाले, दीप्त ज्ञानी व आगे बढ़ने के ध्येयवाले बनें।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

प्रभु-मित्रता के तीन लाभ

१०८. प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः। यस्य त्वं सख्यमाविथ॥ २॥

हे **अग्ने**=अग्रगति के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **यस्य**=जिसकी **सख्यम्**=मित्रता को **आविथ**=प्राप्त होते हो, **सः**=वह **तव**=आपके **ऊतिभिः**=रक्षणों से **प्रतरति**=तैर जाता है। यह संसार एक तेज बहती हुई पथरीली नदी के समान है। प्रलुब्ध करनेवाले शतशः विषय ही इसमें नुकीले पत्थर हैं। वे जीव को अपनी ओर आकृष्ट कर उसमें वासना के बीज अंकुरित कर देते हैं। ये विषय 'ग्राह' हैं। ये मनुष्य को पकड़ लेते हैं और वह उनमें डूब जाता है, परन्तु प्रभु जिसके मित्र होते हैं, उसे यह ग्राह पकड़ नहीं पाते, और वह सुरक्षित रूप से नदी के पार कल्याण-स्थान पर पहुँच जाता है।

परमेश्वर के संरक्षण कैसे हैं? इसका उत्तर **'सुवीराभिः'** तथा **'वाजकर्मभिः'** इन शब्दों से दिया गया है। ये रक्षण जिसे प्राप्त होते हैं उसे वे वीर बनाते हैं। उसमें कायरता नहीं होती। कायर के कर्म शक्ति-(वाज)-वाले हो ही कैसे सकते हैं? इसकी मनोवृत्ति कुछ दासता की-सी बन जाती है। यह संसार में खुशामद से भरा जीवन बिताता है। इसका आत्मसम्मान नष्ट हो चुका होता है। उसकी जीवन-नौका बहती चलती है, वह नदी की धारा को चीरकर उसे पार नहीं ले-जाती। प्रभु के साथ होते ही स्थिति बदल जाती है और वह शक्तिसम्पन्न हो नदी से पार हो जाता है।

एवं, प्रभु-मित्रता के तीन लाभ हैं—(क) संसार-समुद्र में विषय-ग्राहों से जकड़े जाकर डूब न जाना, (ख) कायरता से दूर होकर वीर बनना, तथा (ग) शक्तिशाली कर्मोंवाला होना।

प्रभु-मित्रता का अभिप्राय क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इस मन्त्र के ऋषि के नाम में उपलभ्य है। मन्त्र का ऋषि है "सोभरि काण्व"—कण्वपुत्र अर्थात् अत्यन्त मेधावी, सुभर=सन्तान का उत्तम प्रकार से पालन-पोषण करनेवाला। मेधावी होने से वह इस तत्त्व को समझ लेता है कि भोजन (भुज=पालनाभ्यवहारयोः) पालन के लिए खाने का नाम है। उसका वह उतना ही प्रयोग करता है जितना शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक है। अधिक खाने से मनुष्य भोगों में फँस जाता है और अपनी शक्तियों को जीर्ण कर निर्बल बन जाता है। मनुष्य को चाहिए कि भोगों का शिकार न बन प्रभु का मित्र बने, तभी वह अपना ठीक भरण व पोषण कर पाएगा।

भावार्थ—हम सोभरि काण्व बनें। मेधावी बनकर 'जीवन के लिए खाना, नकि खाने के लिए जीना' इस महान् तत्त्व को व्यवहार में लाएँ।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

स्वर्णर देव की उपासना

१०९. तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे। देवत्रा हव्यमूहिषे॥ ३॥

इस मन्त्र के ऋषि "सोभरि काण्व" हैं—यह कण्वपुत्र, अर्थात् अत्यन्त मेधावी (कण्व=मेधावी) उत्तम प्रकार से अपना पालन करनेवाला है। जीव स्वयं अपूर्ण होने से अपने पूरण

के लिए प्रकृति या परमात्मा की अपेक्षा करता है। शरीरधारी जीव के वस्तुतः दो अंश हैं—(१) क्षरांश—शरीर (२) अक्षरांश—आत्मतत्त्व, अतः इसे इन दोनों के पूरण के लिए क्रमशः प्रकृति व परमात्मा की आवश्यकता है। सामान्य मनुष्य केवल प्रकृति की ओर झुक जाता है और कुछ शारीरिक भोगों व आनन्द को प्राप्त करने के साथ उन्हीं में उलझकर अन्त में उनका शिकार हो जाता है। मन्त्र में कहते हैं कि **तम्**=उस प्रभु की **गूर्धय**=अर्चना कर जो **स्वर्णरम्**=स्वर्ग में—सुखमय स्थिति में पहुँचानेवाला है। प्रभु सुखमय स्थिति में किस प्रकार पहुँचाते हैं? इसका उत्तर मन्त्र में इस प्रकार दिया गया है कि **देवासः**=समझदार ज्ञानी लोग **देवम्**=उस दिव्य गुण परिपूर्ण **अरतिम्**=विषयों में अ-रममाण प्रभु की **दधन्विरे**=उपासना करते हैं। अ-रममाण प्रभु के उपासक ये देव स्वयं भी अ-रममाण बनने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः शरीर के लिए इन भोगों का उपादान आवश्यक है, इनमें फँस जाना हमारे अकल्याण का कारण होता है। यदि हम शरीर के लिए इनका सेवन करते रहें और 'अरति' परमात्मा की उपासना द्वारा इनमें फँसें नहीं तो ये भोग हमारे शारीरिक स्वास्थ्य का साधन बनते हुए आत्मिक पतन का कारण न बनेंगे। उस समय हमारा शरीर स्वस्थ होगा तथा आत्मा शान्त होगी। हम स्वर्ग में होंगे—सब कष्टों से ऊपर। भोगों में फँस जाने से हमारी आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं और हम उन्हीं को जुटाने में मर-खप जाते हैं। उस समय हम लोकहित के लिए कुछ व्यय नहीं कर सकते, परन्तु भोगों में न फँसने से **देवत्रा**=देवताओं में **हव्यम्**=देने योग्य पदार्थों को **ऊहिषे**=प्राप्त कराने में हम समर्थ होते हैं।

भावार्थ—अ-रममाण प्रभु की उपासना के द्वारा हम अपनी स्थिति को सुखमय बनाएँ।

ऋषिः—**प्रयोगो भार्गवः सोभरिः काण्वो वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

हम अतिथि को क्रुद्ध न करें

११०. मा नो हृणीथा अतिथिं वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः। यः सुहोता स्वध्वरः॥ ४॥

प्रभु अतिथि हैं। १. अतिथि की भाँति हमें प्रभु के दर्शन कभी-कभी होते हैं। २. वे हमें स्वर्ग प्राप्त करानेवाले हैं। ३. अतिथि की भाँति वे भी गमनशील हैं। प्रभु अरति हैं। ४. वे सभी के हित के लिए सदा क्रियाशील हैं (अत् सातत्यगमने)। **अतिथिम्**=अतिथि प्रभु को **नः**=हमारे लिए **मा**=मत **हृणीथाः**=क्रुद्ध करो। हमारा सारा प्रयत्न ऐसा हो कि हम इस अतिथि की ठीक आराधना कर पाएँ—हमारा व्यवहार उसे अप्रसन्न करनेवाला न हो। हमें चाहिए कि जैसे वे प्रभु 'वसु, अग्नि, पुरु, प्रशस्त, सुहोता और स्वध्वर' हैं, हम भी उसी प्रकार वसु आदि बनने का प्रयत्न करें—

१. **वसुः**=(वासयति) बसानेवाला है। प्रभु सबके बसानेवाले हैं, हमारे प्रयत्न भी इसी दिशा में हों। हम औरों के उजाड़नेवाले न बनें।

२. **अग्निः**=(अग्रे णीः) प्रभु स्वयं सर्वोच्च स्थान में स्थित (परमेष्ठी) होते हुए सब जीवों को आगे और आगे चलने की प्रेरणा दे रहे हैं। हम भी अपने जीवन को ऊँचा बनाकर औरों की उन्नति में सहायक हों।

३. **पुरु-प्रशस्तः**=प्रभु 'पुरु' हैं (पृ-पालनपूरणयोः) सबके पालक व पूरक हैं—कमियों को दूर करनेवाले हैं, अतएव 'प्रशस्त' प्रशंसा योग्य हैं। हमारा जीवन भी पालक व पूरक बनकर प्रशस्त (admirable) हो।

४. हम किस प्रभु को क्रुद्ध न करें? **यः**=जो **सुहोता**=उत्तम दाता हैं (हु दाने)। प्रभु की अपनी आवश्यकताएँ शून्य हैं, अतः वे खूब देनेवाले हैं—देने-ही-देनेवाले हैं। हम भी अपनी आवश्यकताओं को कम और कम करते हुए अपनी देने की क्षमता को बढ़ाएँ, सदा दानपूर्वक अदन (भक्षण) करनेवाले बनें। दें, और बचे हुए यज्ञशेष को खाएँ। यज्ञशेष ही अमृत है। यही 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' का पाठ है।

५. **स्वध्वरः**=(सु अध्वर, ध्वृ हिंसायाम्) वे प्रभु सर्वोत्तम अहिंसक हैं। हमारे जीवन का व्यवहार भी ऐसा हो कि वह औरों की किसी प्रकार की हिंसा व हानि करनेवाला न हो। अहिंसा परमधर्म है। शक्ति की परख निर्माण में है, हिंसा शक्ति की सूचक नहीं।

इन वसु आदि गुणों का अपने साथ उत्तम मेल करनेवाले—प्रकृष्ट योग=सम्बन्ध करनेवाले ही इस मन्त्र के ऋषि 'प्रयोग' हुआ करते हैं। यह सब तपस्या से साध्य है, अतः यह प्रयोग 'भार्गव'—भृगु=तपस्वी (भ्रस्ज पाके) का पुत्र है—खूब तपस्वी है, इस मार्ग पर चलनेवाला 'सोभरि'=उत्तम पालन करनेवाला है। यही 'काण्व'=मेधावी है।

भावार्थ—मनुष्य वसु आदि गुणों से सम्पन्न बनकर प्रभु की आराधना करे।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

चार प्रयाण : चार कर्त्तव्य

१११. भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः। भद्रा उत प्रशस्तयः॥ ५॥

इस मन्त्र के ऋषि 'सोभरि काण्व' हैं। यह उत्तम प्रकार से अपना भरण करता है, अतएव सचमुच मेधावी है। जीवन-यात्रा के चार प्रयाण हैं। एक-एक प्रयाण=पड़ाव के लिए यह अपना एक-एक आदर्शवाक्य (motto) बना लेता है। ब्रह्मचर्यरूप प्रथम पड़ाव में यह कहता है कि **आहुतः**=जिसके प्रति हमने पूर्णतया अपना समर्पण कर दिया है, वह **अग्निः**=पिता, माता और आचार्य **नः**=हमारे लिए **भद्रः**=कल्याणकर हों। इस आश्रम में बालक को पाँच वर्ष तक माता के प्रति, आठ वर्ष तक पिता के प्रति और फिर पच्चीस वर्ष की आयु तक आचार्य के प्रति अपने को सौंप देना चाहिए। वे जो कुछ खिलाएँ, पिलाएँ, पढ़ाएँ वही ठीक है, ऐसी इसकी भावना होनी चाहिए। जो ब्रह्मचारी इस प्रकार आचार्य के प्रति अपना समर्पण करेगा वह स्वभावतः आचार्य का अत्यन्त प्रिय होगा और आचार्य उसे पुत्र से भी अधिक समझते हुए अधिक-से-अधिक ज्ञानी बनाने का प्रयत्न करेंगे।

इसके बाद द्वितीय आश्रम गृहस्थ है। इसमें मूल कर्त्तव्य है कि 'हम दें'। **सुभगः**=घर को सौभाग्यशाली बनानेवाली **रातिः**=दान-वृत्ति **भद्राः**=हमारा कल्याण करनेवाली हो। **"जुहोत प्र च तिष्ठत"**=दान दो और प्रतिष्ठा पाओ। यह बात सबके अनुभव की है कि दान देनेवाले की लोक में प्रतिष्ठा होती है। **"श्रदस्मै वचसे नरो दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः"**= प्रभु कहते हैं कि हे मनुष्यो! इस वचन में श्रद्धा करो कि दिल खोलकर दान करनेवाले पति-पत्नी सुन्दर सन्तान प्राप्त करते हैं और **"दक्षिणां दुहते सप्त मातरम्"** दान दिये हुए धन को सप्त गुणित करके हम फिर प्राप्त करते हैं। इस प्रकार दान एक गृहस्थ को प्रतिष्ठित, उत्तम सन्तान से युक्त व धनधान्य-सम्पन्न बनाता है।

अब वानप्रस्थाश्रम अथवा यात्रा के तीसरे पड़ाव में यह सोभरि कहता है कि **अध्वरः**= अहिंसात्मक यज्ञ **भद्रः**=कल्याणकर हों। वानप्रस्थ को गृहस्थाश्रम छोड़ते हुए घर की सारी

सामग्री को ही छोड़ जाना होता है। केवल अग्निकुण्ड व हवन के हेतु चम्मच आदि लेकर ही वह वनस्थ हो जाता है। यह अग्निहोत्र उसके यज्ञिय जीवन का प्रतीक है, अब उसे सारा जीवन यज्ञमय बनाना है। गृहस्थ में वह थोड़ी-बहुत हिंसा कर बैठता था, परन्तु अब तो गृहस्थ-भार से मुक्त हो जाने पर उसे उतनी हिंसा से भी ऊपर उठना है।

उत=और अब इस अहिंसा की साधना के बाद चौथे पड़ाव में **प्रशस्तयः**=प्रभु की स्तुतियाँ, सदा प्रभु का स्मरण **भद्राः**=कल्याणकर हों। संन्यासी यदि प्रभु का स्मरण न करे तो किसी भी समय स्खलित हो सकता है, अतः उसे सदा प्रभु-स्मरण में लगे रहना है। ऐसा करने पर यह यात्रा निर्विघ्न पूरी हो जाएगी।

भावार्थ—हम समर्पण, दान, यज्ञ व प्रभु-स्मरणरूप चार केन्द्रीभूत कर्त्तव्यों का पालन करते हुए जीवन-यात्रा को निर्विघ्न पूर्ण करें।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—ऋषभः॥

यजिष्ठ प्रभु के वरण का लाभ

११२. यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥ ६॥

सोभरि काण्व प्रार्थना करता है कि हम **यजिष्ठम्**=दान देनेवालों में सर्वश्रेष्ठ **त्वा**=तुझे (प्रभु को) **ववृमहे**=वरते हैं। इस जीवन-यात्रा में जिसने प्रभु को वरा वही 'काण्व'=मेधावी है। प्रकृति का वरण बुद्धिमत्ता नहीं; यह घाटे का सौदा है। इसमें क्षणिक आनन्द के लिए हम अपनी इन्द्रिय-शक्तियों को जीर्ण कर लेते हैं और अपने ज्ञान को क्षीण करनेवाले बनते हैं, किन्तु सोभरि-जीवन यात्रा का भरण करनेवाला है—इसलिए वह प्रभु का वरण करता है।

वे प्रभु यजिष्ठ हैं। यजिष्ठ शब्द का ही व्याख्यान मन्त्र में इस प्रकार करते हैं कि **देवत्रा**=देवों में भी **देवम्**=वह प्रभु देव हैं। **'देवो दानात्'**=देव देता है। सूर्यादि प्रकाशादि देने से देव हैं। प्रभु महादेव हैं। और सब देवों की देने की शक्ति सीमित है—प्रभु की दानशक्ति असीम है। **होतारम्**=प्रभु तो जीव के हित के लिए अपनी आहुति दे देनेवाले हैं। **'आत्मदा'**=अपने को दे-देनेवाले हैं।

जो व्यक्ति इस प्रभु का वरण करता है—वह भी अपने जीवन को ऐसा ही बनाता है। यजिष्ठ के वरण का अभिप्राय यही तो है कि यह वरण करनेवाला भी यजिष्ठ बनने का निश्चय करता है। यह अधिक-से-अधिक दान देनेवाला बनता है। इसका लाभ यह होता है कि **अमर्त्यम्**=प्रभु तो न मरनेवाले हैं ही, दान देनेवाला भी अमर हो जाता है। अमर्त्य की भावना यह भी है कि इस त्यागवृत्ति के कारण भोगों का शिकार न होकर वह रोगों में नहीं फँसता। वह स्वाभाविक मृत्यु से ही शरीर छोड़ता है।

वे प्रभु **अस्य यज्ञस्य**=इस ब्रह्माण्ड-यज्ञ के **सुक्रतुम्**=उत्तम कर्त्ता हैं। प्रभु की अपनी आवश्यकताएँ नहीं, इसी का परिणाम है कि वे ब्रह्माण्ड-यज्ञ को उत्तम प्रकार से चला रहे हैं, हम भी अपनी आवश्यकताओं को कम करेंगे तो अपने जीवन-यज्ञ के उत्तम कर्त्ता बन पाएँगे।

भावार्थ—हम देनेवाले बनकर अमर्त्य बनें और जीवन-यज्ञ को उत्तम विधि से पूर्ण करें।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

उस ज्योति को

१ २   ३ १   २र ३ २   ३ २ ३ १ २ ३ १   २ ३ १ २   ३ १   २र   ३क २र
११३. तदग्ने द्युम्नमा भर यत्सासाहा सदने कं चिदत्रिणम्। मन्युं जनस्य दूढ्यम्॥ ७॥

अपना उत्तम पोषण करनेवाला मेधावी 'सोभरि काण्व' प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हे प्रभो! **तत् द्युम्नम्**=उस ज्योति को **आभर**=हममें पूर्णतया भर दो **यत्**=जो **सासाहा**=पराभूत कर दे **सदने**=उनके घर में, उनके निवास स्थान में। किनको?

१. अत्रिणम्=(अद् भक्षणे) खानेवाले को, कभी न तृप्त होनेवाले को, 'महाशन' काम को। **'कामो हि समुद्रः'** काम समुद्र है। समुद्र कभी भरता नहीं। काम भी कभी भरता—रजता नहीं। यह काम कुछ विचित्र है—तृप्त होता ही नहीं और कितना सुन्दर है! आते ही आकृष्ट कर लेता है। मित्ररूप में शत्रु यह काम कुछ विलक्षण ही है। यह ज्योति इस 'काम' को नष्ट करे। फिर किसको नष्ट करे?

२. मन्युम्=क्रोध को। अविचार (मन्=विचार, यु=पृथक् करना) से ही क्रोध उत्पन्न होता है। विचार करते ही यह उड़ जाता है। शिक्षा-विज्ञों ने इस तत्त्व के आधार पर ही यह सिद्धान्त बनाया कि दण्ड चौबीस घण्टे बाद दिया जाए। तत्काल दण्ड देने में अविचार के कारण क्रोध में अधिक दण्ड दिया जाता है। कुछ विलम्ब हो जाने से विचार का अवसर मिल जाता है और क्रोध-समाप्ति से दण्ड भी समाप्त हो जाता है।

३. अन्त में, यह ज्योति उस वृत्ति को समाप्त करे जो वृत्ति **जनस्य**=मनुष्य को **दूढ्यम्**=दुर्बुद्धि बना देती है (दुर्धियम्)। लोभ के कारण संसार में भाई-भाई की हत्या कर देता है, बहिन भाई को समाप्त करने की सोचती है। वस्तुतः लोभ मनुष्य की बुद्धि को नष्ट कर देता है—मनुष्य को दुर्बुद्धि बना देता है। हम प्रभु से याचना करते हैं कि हमें वह ज्योति दो जिसके तीव्र प्रकाश में यह लोभ पनपे ही नहीं।

यदि हमने काम, क्रोध, लोभ की विनाशक ज्योति को प्राप्त किया तो हम अपना ठीक भरण करनेवाले इस मन्त्र के ऋषि 'सोभरि काण्व' बन जाएँगे।

भावार्थ—हम वह ज्योति प्राप्त करें जिसमें काम, क्रोध, लोभ का अंकुर रहे ही नहीं।

ऋषिः—**विश्वमनाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

आत्मा को पतला कीजिए

१   २र ३ १ २   ३ १   २र ३ १ २   ३ २   २उ   ३ २उ   ३ १ २
११४. यद्वा उ विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशे। विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति॥ ८॥

यत्=जब **वा उ**=निश्चय से **विश्पतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक **अग्निः**=वह प्रभु **शितः**=पतला किया जाता है और **सु-प्रीतः**=जीव से सम्यक् प्रसन्न होता है **इत्**=निश्चय से तब **मनुषः**=मनुष्य के **विशे**=अन्दर, अर्थात् हृदय में **विश्वा**=न चाहते हुए भी अन्दर घुस आनेवाली और **रक्षांसि**=रमण के द्वारा क्षय करनेवाली राक्षसी वृत्तियों को **प्रतिसेधति**=निषिद्ध कर देता है, अर्थात् दूर कर देता है।

गत मन्त्र में उस ज्योति की याचना की थी जो काम, क्रोध, लोभ को पराभूत कर दे। इस मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि इन राक्षसी वृत्तियों के आक्रमण से बचानेवाला वह प्रभु ही

है—इसी से 'विश्-पति' है। यह काम, क्रोध, लोभ की वृत्तियाँ रमण के द्वारा क्षय करनेवाली होने से 'रक्षस्' हैं। आरम्भ में ये मधुर, परन्तु परिणाम में विष के तुल्य हैं। ये भोगों के द्वारा ही रोगी बनाती हैं। खिलाती-खिलाती ही खा जाती हैं। आराम (ease) के द्वारा बे-आरामी (disease) में ले-आती हैं। हम इन्हें क्या भोगते हैं, ये ही हमें अपना शिकार बना लेती हैं।

ये बड़ी प्रबल हैं। हम इन्हें क्या जीतेंगे? प्रभु ही हमारे लिए इनका विध्वंस करेंगे, परन्तु कब? जब वो 'शित' व 'सुप्रीत' होंगे। प्रभु को प्रसन्न करने का उपाय यह है कि प्रभु ने हमें जो कार्य सौंपे हैं हम उन्हें करनेवाले बनें। प्रभु की आराधना कर्म से ही होती है **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'**। हमारे कर्म निम्न हैं—१. मनुष्य, मानुष, मनुज, मानव—ये चारों शब्द 'मनु' की—ज्ञानी की सन्तान बनने का संकेत कर रहे हैं। हम खूब ज्ञानी बनें। २. मर्त्य=हम लोकहित के लिए प्राणों का भी त्याग करनेवाले हों। ३. नर=(न रम्) हम विषयों में विचरते हुए भी उनमें न फँसें। ४. पुमान्=(पूञ्) अपने को पवित्र बनाएँ। ५. पञ्चजनाः=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों की शक्ति का विकास करनेवाले बनें और अन्त में ६. पुरुष, पूरुष—अपने में पौरुष को सिद्ध करें। इन कार्यों के द्वारा प्रभु सु-प्रीत (well pleased with us) होंगे।

आत्मा को पतला करने का अभिप्राय उपनिषद् की 'मुञ्जादिवेषीकाम्'—मुञ्ज से सींक की भाँति, इस उपमा से स्पष्ट है। इषीका (सींक) पतली-सी होती है, उसपर मूँज का आवरण होने से वह सींक मोटी हो जाती है, आवरण हटाते जाएँ तो वह फिर से अपने रूप में आ जाती है। इसी प्रकार आत्मा के अन्दर परमात्मा निहित है और वह आत्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय—इन पाँच कोशों से आवृत है। इन आवरणों ने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आत्मतत्त्व को स्थूल बना दिया है। सामान्यतः हम इस स्थूल शरीर को ही 'मैं' के रूप में समझते हैं। ज्यों-ज्यों हम इन आवरणों का विश्लेषण कर इन्हें आत्मतत्त्व का आवरण नहीं रहने देंगे, त्यों-त्यों आत्मतत्त्व शित=पतला—सूक्ष्म होता जाएगा। अन्त में सब आवरण हटकर उसका शुद्ध रूप हम देखेंगे, उस समय ये कामादि हममें न दिखेंगे। ये अन्धकाररूप हैं, उस ज्योति में इनका रहना सम्भव कहाँ? उस समय व्यक्ति **"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानम्"** सब भूतों को आत्मा में और सब भूतों में आत्मा को देखता हुआ 'विश्वमनाः'=व्यापक मनवाला बन जाता है। उस समय उसके इन्द्रियरूप अश्व विशिष्ट शान्ति-सम्पन्न होने से यह व्यश्व की सन्तान 'वैयश्व' कहलाता है। इस समय इसकी इन्द्रियाँ कामादि का अधिष्ठान न रहकर शान्ति का अधिष्ठान बन गयी हैं।

भावार्थ—हम आत्मा को आवरणों से पृथक् करके देखें और अपने कर्त्तव्य कर्मों के द्वारा उस प्रभु की आराधना करें।

अथ ऐन्द्रं काण्डम् : द्वितीयोऽध्यायः

तृतीया दशतिः

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

निर्माण, नकि ध्वंस

११५. तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने। शं यद्गवे न शाकिने॥ १॥

तत्=उस प्रभु का **गाय**=गायन कर जो **पुरुहूताय**=बहुतों से पुकारा जाता है या जिसका आह्वान पालन व पूरण करनेवाला है। कट्टर-से-कट्टर नास्तिक भी कष्ट आ पड़ने पर प्रभु को पुकारता है। प्रभु उसकी पुकार को सुनते हैं, अवश्य उसकी रक्षा करते हैं और उसकी कमी को दूर करते हैं। उस प्रभु का गायन कर जोकि **सत्वने**=शत्रुओं का **सद्**=विशरण—नाश कर देते हैं। प्रभु का गायन करने पर काम-क्रोधादि की वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। वह प्रभु **यत्**=जोकि **वः**=तुममें से **गवे न शाकिने**=गौ-जैसे निर्दोष (innocent, harmless) तथा शक्ति के मद में चूर निर्बलों पर अत्याचारी (शाकी)—दोनों के लिए ही कल्याण करनेवाले हैं। प्रभु सभी का कल्याण करते हैं, चाहे वह भोला-भाला निर्दोष हो अथवा अत्याचारी। यदि वह प्रभु की शरण में आया है तो प्रभु उसका स्वागत ही करते हैं, क्योंकि उसने शुभ मार्ग पर चलने का निश्चय किया है।

प्रभु के गायन के लिए एक नियम ध्यान में रखना चाहिए कि घर के सभी सभ्य **सचा**=मिलकर उस प्रभु का गायन करें। इस सम्मिलित गायन से घर का सारा वातावरण बड़ा सुन्दर बनता है—एक अद्भुत वायुमण्डल।

यह गायन क्यों करें? **सुते**=उत्पादन के निमित्त। प्रभु के स्तवन से मनोवृत्ति इतनी सुन्दर बनती है कि किसी के ध्वंस का हमें ध्यान भी नहीं आता। प्रभु का गायन हममें सर्वबन्धुत्व की भावना को जन्म देता है। उस भावना के जाग्रत् होने पर हम किसी का भी बुरा क्यों चाहेंगे? इस मनोवृत्ति से परस्पर के संघर्ष समाप्त होकर शान्ति का विस्तार होगा। इस शान्ति का उपस्थापन करनेवाला 'शं-यु' इस मन्त्र का ऋषि है। उत्तम ज्ञान होने पर ही यह सब सम्भव है, अतः वह 'बार्हस्पत्य' है, ज्ञानियों का ज्ञानी है।

भावार्थ—हम सब मिलकर प्रभु का गायन करें, जिससे हममें निर्माण की, नकि ध्वंस की भावना जन्म ले।

*(**नोट**—इन्द्र का सम्बन्ध 'सुत'=निर्माण से है, निर्माण के बिना ऐश्वर्य नहीं।)*

ऋषिः—श्रुतकक्ष आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अद्भुत मस्ती

११६. यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्र द्युम्नितमो मदः। तेन नूनं मदेमदेः॥ २॥

हे **शतक्रतो**=अनन्त ज्ञान व कर्मवाले **इन्द्र**=सर्वैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यः**=जो **ते**=तेरा **नूनम्**=निश्चय ही **द्युम्नितमः मदः**=अत्यन्त प्रकाशमय मद है **तेन**=उससे **ऊनम्**=रहित मुझे **नु**=इस समय **मदे**=मद के निमित्त **मदेः**=मदवाला कर दीजिए।

मद का अर्थ नशा, धुन, मस्ती व ख़ब्त होता है। जब यह नशा शराब आदि के प्रयोग से उत्पन्न किया जाता है तब इसमें अच्छी भावना नहीं होती। अन्नमात्र के खाने से कुछ नशा उत्पन्न होता है। धन का भी नशा है, जो धतूरे के नशे से भी अधिक कहा गया है। किसी भी बाह्य वस्तु का नशा उत्तम नहीं। अन्दर का नशा इनकी तुलना में उत्तम होता है। मनुष्य बल का सम्पादन करे, बल-सम्पादन की उसे धुन हो। यह बल-सम्पादन धन-सम्पादन से अधिक उत्तम है। इससे भी उत्तम प्राणों की साधना है। प्राणों को निर्भीक बनाने की धुन बल-सम्पादन से अच्छी है। इस प्राणमयकोश से भी ऊपर उठकर मनोमयकोश को निर्मल बनाना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। मन से द्वेष को दूर हटाने में जुट जाना अधिक आनन्दप्रद होता है, परन्तु इससे भी उत्कृष्ट आनन्द विज्ञानमयकोश का है। उस आनन्द में डूबे हुए व्यक्ति को अन्य सब आनन्द फीके प्रतीत होते हैं। इस आनन्द से ऊँचा आनन्द तो केवल ब्रह्म-प्राप्ति का आनन्द है, जिसका यह साधन है। विज्ञान-प्राप्ति में लगा हुआ मनुष्य अन्य सब सांसारिक व्यसनों से बच जाता है और इस प्रकार यह विद्या का व्यसन मनुष्य को हीन व्यसनों से मुक्त कर ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य बनाता है। यह ज्ञान उसका शरण-स्थल बनता है, जहाँ छिपकर वह काम, क्राधादि के आक्रमणों से बच जाता है। एवं, ज्ञान को अपनी शरण (shelter) बनानेवाला यह व्यक्ति 'श्रुतकक्ष' (ज्ञान है शरण जिसका, hiding place) बना है। इससे उत्तम शरण और क्या हो सकती है! अतः यह 'सु-कक्ष'=उत्तम शरणस्थलवाला है। व्यसनों में न फँसने से अपनी शक्ति की रक्षा करनेवाला यह 'आङ्गिरस'=शक्तिसम्पन्न है।

भावार्थ—हमें ज्ञान की मस्ती प्राप्त हो। ज्ञान-प्राप्ति में हमें आनन्द आने लगे। यह ज्ञान-प्राप्ति का व्यसन हमें अन्य व्यसनों से बचा लेगा। यह ज्ञान हमारा शरण=shelter होगा।

ऋषिः—**हर्यतः प्रागाथः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभो! बोलो तो

११७. गाव उप वदावटे मही यज्ञस्य रप्सुदा। उभा कर्णा हिरण्यया॥ ३॥

इस मन्त्र का ऋषि 'हर्यत प्रागाथ' है। प्रभु का खूब ही गायन करनेवाला 'प्रागाथ' है। खाते-पीते, सोते-जागते यह प्रभु का स्मरण करना नहीं भूलता। इसकी वाणी निसर्गतः प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करती है, परन्तु प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करते हुए यह 'हर्यत' है (हर्य गतिकान्त्योः)। यह गतिमय है, इसमें पुरुषार्थ है तथा प्रबल इच्छाशक्ति है कि वह ज्ञान प्राप्त कर सके। पिछले मन्त्र में इसी ज्ञान की मस्ती की याचना थी। यह माता, पिता, आचार्य व विद्वान् लेखकों की पुस्तकों से खूब ज्ञान प्राप्त करने के बाद अभी अतृप्त ही है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि आप मेरे **अवटे**=उस हृदयाकाश में, जिसकी मैंने यथासम्भव काम-क्रोधादि की वृत्तियों के आक्रमण से रक्षा (अव् रक्षणे) की है, **गावः**=तत्त्व को जनानेवाली वेदवाणियों का **उपवद**=उच्चारण कीजिए। मैं प्राकृतिक भोगों में फँसा हुआ नहीं हूँ। इस समय मैं आपके ही समीप उपस्थित हूँ। आप बोलिए तो सही। मैं क्यों न सुनूँगा? इस समय मुझे सुनने की प्रबल कामना है।

कैसी वाणियों को? १. **महीः**=महिमा से भरी—अर्थगौरववाली। जिनके छोटे-छोटे शब्द महान् अर्थों से भरे हुए हैं। जैसे यहाँ ही 'अवट' शब्द उस हृदय का वाचक है जिसकी वासनाओं से अवन=रक्षा की गयी है। २. **यज्ञस्य रप्+सु+दा**=यज्ञ के उपदेश को उत्तम प्रकार से देनेवाली। ये वेदवाणियाँ सदा उत्तम कर्मों का उपदेश देती हैं। उपदेश भी इस प्रकार से कि पाठक के हृदय पर उत्तम प्रभाव पड़े। ३. **उभा कर्णा हिरण्यया**=जो वाणियाँ दोनों कानों के लिए हितकर व रमणीय हैं। अशुभ शब्दों का सुनना भी अहित व अरमणीय है। कुछ आपातरमणीय वह लगा करता है, परन्तु उसका परिणाम परिताप-कर है। वेदवाणियों का सुनना ही ठीक है।

भावार्थ—प्रभु बोलें और मैं सुनूँ। ये वेदवाणियाँ अर्थ से भरी, उत्तम उपदेश देनेवाली व हित-रमणीय हैं।

ऋषिः—**श्रुतकक्षः आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र का तेज

११८. अरमश्वाय गायत श्रुतकक्षारं गवे। अरमिन्द्रस्य धाम्ने॥ ४॥

इस मन्त्र का ऋषि 'श्रुतकक्ष आङ्गिरसः' है। श्रुत=शास्त्र-श्रवण है कक्ष=रक्षण स्थान (hiding place) जिसका, ऐसा श्रुतकक्ष आङ्गिरस=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला है। उसका शरीर सूखी लकड़ी नहीं बन गया। सब अङ्गों में एक लोच है, लचक है। ज्ञान को इसने अपनी शरणस्थली बनाया है और व्यसनों से बचकर अपनी शक्तियों को यह स्थिर रख सका है। यह श्रुतकक्ष व्यसनों से बचाव के लिए ही उस प्रभु का **अरम्**=खूब **गायति**=गायन करता है। प्रभु का स्मरण उसे सन्मार्ग से विचलित नहीं होने देता। यह प्रभु का गायन इसलिए करता है कि **अश्वाय**=इसकी कर्मेन्द्रियाँ उत्तम बनी रहें। कर्मेन्द्रियों की उत्तमता के लिए यह गायन करता है। (अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त होने से कर्मेन्द्रियाँ 'अश्व' कहलातीं हैं। प्रभु के स्मरण से वे निन्द्य कर्मों में प्रवृत्त नहीं होतीं। **श्रुतकक्ष अरम्**=हे श्रुतकक्ष! तू खूब गायन करता है **गवे**=गौओं के लिए। अर्थों=विषयों को प्राप्त करानेवाली होने से ज्ञानेन्द्रियाँ 'गावः' कहलाती है। इनके अपवित्र न होने देने के लिए श्रुतकक्ष प्रभु का गायन करता है और फिर **अरम्**=खूब गायन करता है **इन्द्रस्य धाम्ने**=आत्मा के तेज के लिए। प्रभु के गायन से आत्मा से मेल होता है और परमात्मा की शक्ति से आत्मा शक्तिसम्पन्न बनती है। यह शक्तिसम्पन्न आत्मा इन्द्रियों को अपने वश में रखती है और इन आत्मवश्य इन्द्रियों से विषयों में जाता हुआ भी उनमें फँसता नहीं, वरन् 'प्रसाद' प्राप्त करता है।

मनुष्य इन्द्रियों को निर्दोष रखते हुए आत्मा की शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करे। इन्द्रियों की शक्ति बढ़ाना और इन्द्र की शक्ति की ओर ध्यान न देना अन्त में इन्द्रियों की दासता का कारण बनता है। इन्द्रियों का दास बनकर मनुष्य दुःख-सागर में गिरता है। श्रुतकक्ष इन्द्रियों को पवित्र बनाता है और आत्मा को तेजस्वी।

भावार्थ—हम प्रभु का गायन करें, जिससे हमें इन्द्रियों की पवित्रता व आत्मिक तेज प्राप्त हो।

ऋषि:—**श्रुतकक्ष:**।। देवता—**इन्द्र:**।। छन्द:—**गायत्री**।। स्वर:—**षड्ज:**।।

आत्मिक शक्ति के चार लाभ

११९. तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे। स वृषा वृषभो भुवत्॥ ५॥

पूर्व मन्त्र में श्रुतकक्ष ने कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों व इन्द्र की तेजस्विता के लिए प्रभु का गायन किया था। वह श्रुतकक्ष ही इस मन्त्र में कहता है कि इन्द्रियों को शक्तिशाली बनाने की बजाय हम **तम्**=उस **इन्द्रम्**=आत्मा को ही **वाजयामसि**=शक्तिशाली बनाते हैं। किसलिए? **महे**=महत्त्व प्राप्ति के लिए। इन्द्रियों की शक्ति बढ़ा लेने से किसी ने इस लोक में महिमा प्राप्त नहीं की। वस्तुत: बाह्य साम्राज्य के स्थान में अन्त:साम्राज्य को बढ़ाना ही श्रेयस्कर है। हम इस अन्त:साम्राज्य में आत्मिक शक्ति को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, **वृत्राय हन्तवे**=ज्ञान को आवृत करनेवाले इस कामरूप वृत्र के विनाश के लिए। इन्द्रियों की शक्ति बढ़ाने से वासनाओं को कुछ बढ़ावा मिलता है—जबकि आत्मा की तेजस्विता इन वासनाओं को दग्ध कर देती है।

आत्मा की शक्ति बढ़ाकर **स:**=वह श्रुतकक्ष **वृषा**=शक्तिशाली **भुवत्**=बनता है। स्वयं शक्तिशाली होकर वह **वृषभ:**=औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला बनता है। इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ानेवाला व्यक्ति निजी भोगों को बढ़ाने के मार्ग पर चलता है, औरों को हानि पहुँचाकर भी वह अपने को सुखी बनाने के लिए प्रयत्नशील होता है।

भावार्थ—हम आत्मिक तेज प्राप्त करें। वह हमें महत्त्व प्राप्त कराएगा, कामादि के विध्वंस के योग्य बनाएगा, इस प्रकार शक्तिसम्पन्न होकर हम लोकहित करनेवाले बनेंगे।

ऋषि:—**इन्द्रमातरो देवजामय:**।। देवता—**इन्द्र:**।। छन्द:—**गायत्री**।। स्वर:—**षड्ज:**।।

माता का कर्त्तव्य

१२०. त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजस:। त्वं सन्वृषन्वृषेदसि॥ ६॥

इस मन्त्र की ऋषिका 'देवजामय इन्द्रमातर:' हैं। ये दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली हैं और इन्द्र का निर्माण करती हैं। यदि माता शैशव में ही उसे आत्मा की सम्पत्ति कमाने का उपदेश करेगी तो वह जीव सचमुच 'इन्द्र' बनेगा, अन्यथा इन्द्रियों को सबल बनाने में ही लगा रहेगा। माताओं को बालकों में आरम्भ से ही दिव्य गुणों को पैदा करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, अत: ये देव-जामियाँ जात=उत्पन्न बालक से कहती हैं कि **इन्द्र**=इन्द्र! **त्वम्**=तू **बलात् अधिजात: असि**=मानस बल से उत्पन्न हुआ है, तू **सहस:**=सहन-शक्ति से. उत्पन्न हुआ है, **ओजस:**=ओजस् से उत्पन्न हुआ है। तुझे अपने में मानस बल व ओज का सम्पादन करना है और सहन-शक्ति का पुञ्ज बनना है। मानस बल का सम्पादन करके **त्वम्**=तू **सन्**=एक विशेष सत्तावाला बनना। तू संसार में non-entity=सत्ताशून्य निर्बल-सा प्राणी न बनना। सहन-शक्ति का पुञ्ज होकर तू **वृषन्**=सुखों की वर्षा करनेवाला हो।

इस प्रकार ओजस्वी बनकर तू **इत्**=सचमुच **वृषा**=बलवान् बनना—प्रभावशाली बनना, औरों पर अपने प्रभाव की वर्षा करनेवाला होना। यह बल, सहस् व ओज ही तेरी आत्मिक सम्पत्ति हैं, तू इन्हीं को महत्त्व देना।

भावार्थ—माताएँ अपने बालकों में दिव्य गुणों को जन्म देकर उन्हें परमैश्वर्यशाली 'इन्द्र' बनाएँ।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मस्तिष्क का आभूषण

१२१. यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद्भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि॥ ७॥

इस मन्त्र के ऋषि 'गोषूक्ति' और 'अश्वसूक्ति' हैं। गौवों से—ज्ञानेन्द्रियों से उत्तम कथन करनेवाला गोषूक्ति है और अश्वों=कर्मेन्द्रियों से उत्तम कथन करनेवाला अश्वसूक्ति है, अर्थात् जिनकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दोनों ही ठीक मार्ग पर चल रही हैं—ऐसे ये ऋषि हैं। इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के ठीक चलने का रहस्य इस बात में है कि रथी 'इन्द्र' शक्तिशाली है। वह निर्बल होता तो ये घोड़े मार्ग से विचलित हो जाते, परन्तु यहाँ तो **यज्ञः**=यज्ञ की भावना ने **इन्द्रम्**=आत्मा को **अवर्धयत्**=बढ़ाया है। यज्ञ की भावना स्थूलरूप में त्याग की भावना है। जब मनुष्य इस भावना को अपने अन्दर जाग्रत् करता है तब उसकी आत्मिक शक्ति का विकास होता है। इसके विपरीत जब वह त्याग की भावना से दूर होकर भोगों को बढ़ाने में जुट जाता है, तब वह इन्द्रियों का दास बन जाता है और उसकी आत्मा निर्बल हो जाती है। यज्ञ 'इन्द्र' को बढ़ाता है तो यज्ञ का अभाव 'इन्द्रियों' को। इसलिए आत्मिक शक्ति का विकास चाहनेवाला अपने अन्दर यज्ञ की भावना का पोषण करता है। ये गोषूक्ति और अश्वसूक्ति तो खूब यज्ञ करते हैं, इतना **यत्**=कि **भूमिम्**=इस पृथिवी को ही **व्यवर्तयत्**=उलट देते हैं। जैसे खूब दान देनेवाला सारी थैली को ही उलट देता है, उसी प्रकार ये यज्ञशील व्यक्ति अपने सारे कोश को उलटकर खाली कर देता है। अपने पास कुछ बचाता नहीं। यही सर्वमेधयज्ञ कहलाता है। यह यज्ञिय भावना हमारे अन्दर उत्पन्न हो, इसके लिए ज्ञान की आवश्यकता है, अतः यह ऋषि **दिवि**=मूर्धा में (मस्तिष्क में) **ओपशम्**=मस्तक के ज्ञानरूप आभरण को **चक्राणः**=बनाने के स्वभाववाला होता है। यह ज्ञान उसे पवित्र करता है। उसमें यज्ञ की भावना को जगाये रखता है और इस प्रकार उसकी आत्मा को बलवान् बनाता है। **'कस्य स्विद् धनम्'**—भला यह धन किसका है? यह सोचना ही सबसे बड़ा ज्ञान है। यह धन आज तक किसी के साथ नहीं गया, यह समझकर मनुष्य यज्ञशील बनता है—भोगासक्त नहीं होता—धन व इन्द्रियों का दास नहीं बनता।

भावार्थ—मनुष्य यज्ञशील बने, दानी हो और अपने मस्तिष्क को ज्ञान से अलंकृत करे।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के प्रति भक्त का उपालम्भ

१२२. यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्। स्तोता मे गोसखा स्यात्॥ ८॥

गत मन्त्र में कहा गया था कि इन्द्र बनने के लिए यज्ञ की वृत्ति का होना आवश्यक है और यज्ञ की वृत्ति के लिए ज्ञान-प्राप्ति अनिवार्य है। ज्ञान-प्राप्ति का इच्छुक इस ज्ञान-प्राप्ति के लिए अपनी ओर से कोई कसर उठा नहीं रखता, परन्तु जब पूर्ण प्रयत्न के पश्चात् भी वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं होता तब प्रभु को इस रूप में उपालम्भ देता है कि—

यत्=यदि **इन्द्र**=सब ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभो! **अहम्**=मैं **यथा त्वम्**=आपकी भाँति **वस्वः**= ज्ञानादि सम्पूर्ण उत्तम वसुओं=रत्नों का **ईशीय**=ईश्वर होता तो **मे स्तोता**=मेरी स्तुति करनेवाला

तो **गोसखा**=खूब ज्ञानी **स्यात्**=हो जाता। हे प्रभो! मुझे ज्ञानरूप धन देने के लिए आपने किसी दूसरे साथी व साझीदार से परामर्श थोड़े ही करना है! आप इन सब वसुओं के **एकः इत्**=अकेले ही, अद्वितीय ईश्वर हैं। मैं कब से आपकी स्तुति में लगा हूँ। कोरी स्तुति में ही नहीं पूर्ण प्रयत्न करता हुआ मैं आपकी कृपा का अधिकारी बनने के प्रयत्न में हूँ। 'हे प्रभो! आप कृपा करेंगे और अवश्य करेंगे' ऐसा मेरा विश्वास है। मेरा स्तोता तो, यदि मैं आपकी भाँति ऐश्वर्यशाली होता, अब तक अभीष्ट ज्ञान को अवश्य प्राप्त कर चुकता। आपका स्तोता होता हुआ मैं उस ज्ञान को क्योंकर न प्राप्त करूँगा? करूँगा और उस ज्ञान को प्राप्त करने पर मेरी ज्ञानेन्द्रियों (गौवों) और कर्मेन्द्रियों (अश्वों) से उत्तम वृत्तियों का ही प्रवाह बहेगा और इस प्रकार मैं इस मन्त्र का ऋषि 'गोषूक्ति व अश्वसूक्ति' बनूँगा।

भावार्थ—प्रभु के स्तोता का कर्त्तव्य है कि वह पूर्ण पुरुषार्थ करके प्रभुकृपा से ज्ञान प्राप्त करे।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम का शोधक

१२३. पन्यंपन्यमित् सोतार आ धावत मद्याय। सोमं वीराय शूराय॥ ९॥

पिछले मन्त्र में ज्ञान-प्राप्ति के लिए भरपूर प्रयत्न करनेवाले ने प्रभु को उपालम्भ दिया था कि यही तेरी सर्वेश्वरता है कि मैं अब तक ज्ञानी नहीं बन पाया! यह उपालम्भ भी पूर्ण प्रयत्न के बाद ही दिया जा सकता है। वह प्रयत्न ही इस मन्त्र में संकेतित है।

इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि काण्व' है—(मेधां प्रति अतति) जो निरन्तर मेधा-प्राप्ति के प्रयत्न में लगा हुआ है—कण-कण करके उसी के सञ्चय में जुटा है। यह मेधातिथि समझता है कि बुद्धि की सूक्ष्मता के लिए वीर्यशक्ति (vitality) की रक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है, उसी को मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना है, यह मेधातिथि कहता है कि **सोतारः**=अपने में शक्ति का अभिषव करनेवाले प्रभु के प्यारो! **पन्यंपन्यं इत्**=सचमुच स्तुति के योग्य (पन स्तुतौ) भोज्य पदार्थों को ही अपने भोजन का अङ्ग बनाओ और इस प्रकार **सोमम्**=अपनी वीर्यशक्ति को **आधावत**=शुद्ध बनाओ (धावु=to cleanse)। वस्तुतः सौम्य भोजनों से उत्पन्न वीर्यशक्ति ही शुद्ध व निर्विकार होती है, वही शरीर के अन्दर स्थिर रहती है। मांस-मदिरादि आग्नेय पदार्थों से उत्पन्न शक्ति का शरीर में स्थिरता से रहना सम्भव नहीं होता।

सौम्य भोजनों से उत्पन्न शक्ति शरीर में **मद्याय**=(मदी हर्षे) हर्ष के लिए होती है। संयत शक्तिवाला पुरुष सदा प्रसन्न व उल्लासमय रहता है। इसके अभाव में वह क्रोधी व चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है। **वीराय**=यह शक्ति मनुष्य की वीरता के लिए होती है। संयत वीर्यवाला व्यक्ति उदारता आदि गुणों से विभूषित होता है। उसकी मानस स्थली गुणों (virtues) के अंकुरित होने के लिए अनुकूल होती है। **शूराय**=यह अपनी बुराइयों (vices) की शीर्णता के लिए (शृ हिंसायाम्) समर्थ होता है। इसका मानस व्यसनों के लिए ऊसर भूमि हो जाता है। एवं, संयत शक्ति के तीन लाभ सुव्यक्त हैं।

भावार्थ—सौम्य भोजनों से मैं संयमी होकर सदा मस्त, वीर व शूर बना रहूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम का पान

१२४. इदं वसो सु तमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम्। अनाभयिन् ररिमा ते॥ १०॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **वसो**=उत्तम ढङ्ग से शरीर में निवास करनेवाले जीव! **इदं अन्धः**=यह सोम **सुतम्**=उत्पन्न किया गया है। प्रभु ने इस शरीर की रचना इस प्रकार की है कि उसमें आहार से रस, रस से रुधिर और रुधिर से मांसादि के क्रम से सातवें स्थान में वीर्य=सोम की उत्पत्ति होती है। जिस जीव को इस शरीर में उत्तम ढङ्ग से रहना हो उसके लिए आवश्यक है कि वह सोम की रक्षा करे। **'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'**=इस सोम के बिन्दु के गिरने से हम मृत्यु के मार्ग पर जाते हैं और इसकी रक्षा से जीवन के मार्ग पर। एवं, यह सदा सब दृष्टिकोणों से (समन्तात्=आ) ध्यान देने योग्य होता है, इसीलिए इसे '**अन्धः**' (आध्यायनीय) कहा गया है। प्रभु ने इस अद्भुत सोम के उत्पादन की व्यवस्था तो कर दी है, अब जीव का कर्त्तव्य है कि वह प्रभु के इस उपदेश को क्रियारूप में लाये कि **पिब**=इसका तुम पान करो। इस वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित करने का प्रयत्न करो। इसकी रक्षा से यह **सुपूर्णम्**=तुम्हारा उत्तम प्रकार से पालन व पूरण करेगा और **अरम्**=तुम्हारे जीवन को सद्गुणों से अलंकृत कर देगा (अरं=to decorate)। वीर्य-रक्षा जहाँ हमें अशुभ वृत्तियों से बचाएगी वहीं उत्तम गुणों से अलंकृत भी करेगी। हमारे शरीर नीरोग होंगे, मन विशाल होंगे और बुद्धियाँ तीव्र होंगी। उस समय हम निर्भीक होकर इस जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ पाएँगे।

प्रभु जीव को सम्बोधित करते हैं कि **अनाभयिन्**=हे निर्भीक जीव! **ते**=तुझे **ररिमा**=हमने यही तो एक देन दी है। परमेश्वर की दी हुई वस्तुओं में सर्वोत्तम वस्तु यह वीर्य ही है। वेद-ज्ञान क्या इससे अच्छा नहीं है? ऐसा प्रश्न हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि उस वेद-ज्ञान का साधन भी तो वीर्यशक्ति की रक्षा ही है। प्रभु-प्रदत्त इस सर्वोत्तम वस्तु की हमें रक्षा करनी ही चाहिए। इसकी रक्षा से ही हम ज्ञान प्राप्त करके इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि काण्व' बन सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु ने वीर्य की उत्पत्ति की व्यवस्था की है। यह प्रभु द्वारा प्रदान की गयी सर्वोत्तम वस्तु है। हम इसकी रक्षा करें और निर्भीक बनें।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**सुकक्षश्रुतकक्षौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य का उदय

१२५. उद् घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम्। अस्तारमेषि सूर्य॥ १॥

सूर्य के उदय होने पर जिस प्रकार अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार हृदय-गगन में प्रभुरूपी सूर्य के उदित होने पर अविद्यान्धकार नष्ट हो जाता है। **सूर्य**=हे प्रभुरूपी सूर्य! आप **घ इत्**=निश्चय से **उत् एषि**=उदय होते हैं। **अभि**=उसकी ओर, उसके हृदय में जोकि **श्रुतामघम्**=श्रुत को ही, शास्त्र-श्रवण को ही अपना मघ=ऐश्वर्य समझता है। जो व्यक्ति बाह्य

सम्पत्ति की तुलना में इस ज्ञानरूप आन्तर सम्पत्ति को महत्त्व देता है, वह श्रुतामघ अपने हृदयाकाश में उस प्रभुरूपी सूर्य को उदित हुआ देखता है। यह सूर्य **वृषभम् अभि**=सुखों की वर्षा करनेवाले के हृदयाकाश में उदित होता है। जिसके जीवन का लक्ष्य केवल निजी सुख नहीं बन गया वह इस सूर्योदय का पात्र बनता है। फिर **नर्यापसम्**=(नर्य+अपस्) नर-हितकारी कर्मोंवाले के हृदय में यह सूर्य चमकता है। यह कोई ऐसा कार्य नहीं करता जो औरों का अहित करनेवाला हो। अन्त में यह सूर्य **अस्तारम्**=(अस्=फेंकना) काम, क्रोधादि वासनाओं की मैल को दूर फेंकनेवाले के हृदय में उदित होता है।

सूर्य के उदय होने पर अज्ञान नष्ट होकर ज्ञान मनुष्य का रक्षा-स्थान बनता है, अतः यह पुरुष 'श्रुतकक्ष' ज्ञानरूप रक्षा-स्थानवाला होता है। इससे बढ़कर और रक्षास्थान हो ही क्या सकता है! यह 'सु-कक्ष'=उत्तम रक्षास्थानवाला है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम 'श्रुतामघ' बनकर प्रभु की ज्योति को देखें और अज्ञानान्धकार से ऊपर उठें।

ऋषिः—**सुकक्षश्रुतकक्षौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

आज या फिर कभी

१२६. यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य। सर्वं तदिन्द्र ते वशे॥ २॥

गत मन्त्र में सूर्योदय का वर्णन था कि 'ज्ञान को ही धन समझनेवाले, लोगों पर सुखों की वर्षा करनेवाले, प्रत्येक कर्म को लोकहित को सामने रखकर करनेवाले, काम-क्रोधादि वासनाओं को परे फेंकनेवाले' के हृदयाकाश में प्रभु की ज्योति का उदय होता है। जो भी व्यक्ति इस प्रकार इन चार दिशाओं में प्रयत्नशील होगा उसके हृदय में यह ज्योति अवश्य उदित होगी, परन्तु एक सच्चा भक्त अनुभव करता है कि निरन्तर वासनाओं को परे फेंकने का प्रयत्न करता हुआ भी वह उन्हें जीत नहीं पाता। यह विजय तो प्रभुकृपा से ही होगी। ऐसा अनुभव करके वह कह उठता है कि **सर्वं तत्**=यह सब-कुछ **इन्द्र**=हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न प्रभो! **ते वशे**=आपके ही वश में है। जब तक सूर्य को बादलों ने ढका होता है तब तक सूर्य की ज्योति दीखती नहीं, इसी प्रकार सूर्य को ढकनेवाले बादलरूप वृत्रों की भाँति यहाँ वासनारूप वृत्र प्रभु-ज्योति को हमसे आवृत रखता है। इस वृत्र को हमें तो क्या मारना है! हे प्रभो! **वृत्रहन्**=वृत्र को मारनेवाले! इस वृत्र को आप ही समाप्त करेंगे। **यत् अद्य**=यदि आज समाप्त करें तो आपकी कृपा, **कत् च**=और यदि फिर कभी समाप्त करें तो आपकी कृपा। करना तो आपको ही है। **सूर्य**=हज़ारों सूर्यों की दीप्ति के समान चमकनेवाले प्रभो! आप कृपा करके **अभि**=मेरी ओर—मेरे हृदयाकाश में **उदगाः**=शीघ्र उदित होओ।

भक्त को चाहिए कि अपना पग बढ़ाता चले, अपने पुरुषार्थ में कमी न आने दे और प्रभु से आराधना करता चले। यही सच्चा समर्पण है। यही सच्चा ज्ञान है, इसी को अपनी शरण बनानेवाला 'श्रुतकक्ष' इस मन्त्र का ऋषि है। इससे उत्तम शरण हो ही नहीं सकती, अतः वह 'सु-कक्ष' है।

भावार्थ—हम वृत्र का नाश कर ज्ञानसूर्य के उदय के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हों और प्रभुकृपा में विश्वास रक्खें।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु ही हमारे युवा मित्र हैं

१२७. य आनयत् परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम्। इन्द्रः स नो युवा सखा॥ ३॥

सः=वह **इन्द्रः**=सब शक्तियों का ईश्वर, सब असुरों का संहारक इन्द्र **नः**=हमारा **सखा**=मित्र है। वह **युवा**=पाप से पृथक् करनेवाला (यु=अमिश्रण) और भद्र से मिलानेवाला (यु=मिश्रण) है। वह हमें असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर ले-चलता है। दुरितों से दूर कर भद्र को प्राप्त करानेवाला व कुटिल पाप से पृथक् कर सुपथ पर ले-चलनेवाला वही है। कौन-सा इन्द्र? **यः**=जो **परावतः**=बहुत दूर भटक गये, बहुत दूर हो गये को भी **आनयत्**=फिर सुमार्ग पर ले-आता है। जीव वस्तुतः कितना भटक गया है! कल्पना करके भी घबराहट होती है। वस्तुतः आत्मिक उन्नति के मार्ग पर चलना था। उसपर चलने की क्षमता के अभाव में बौद्धिक उन्नति का पथ था। उससे उतरकर मानस पवित्रता का मार्ग था। उससे भी उतरकर प्राणों की साधना थी, शरीर का ही पोषण था। हम तो इससे भी नीचे उतरकर धन जुटाने में ही लग गये और बहुत बार तो उससे भी उतरकर हमारे जीवन का लक्ष्य दूसरों को नीचा दिखाना ही हो गया। इस प्रकार सुदूर मार्ग-भ्रष्ट हमें वे प्रभु फिर से मार्ग पर ले-आते हैं। कैसे? **सुनीती**=उत्तम नीति के द्वारा। नीतिमार्ग में चार उपाय हैं—साम, दान, भेद और दण्ड। प्रभु साम=शान्ति से हमें सदा प्रेरणा देते हैं। प्रेरणा से कार्य न चलने पर, दान=जितने अंश में हम प्रेरणा पर चलते हैं, वह हमें उतना ऐश्वर्य प्राप्त कराके इस दाननीति से और भी सन्मार्ग पर लाने की व्यवस्था करते हैं। इसके भी असफल होने पर भेद=सांसारिक विषमता के द्वारा वे हमें प्रेरित करते हैं। अन्ततोगत्वा वे दण्ड के प्रयोग से हमें पापमार्ग पर बढ़ने के अयोग्य बना देते हैं।

परन्तु यह सुनीति किनके लिए बरती जाती है? जो **तुर्वशम्**=काम-क्रोधादि नाशक वृत्तियों को वश में करने की इच्छा करते हैं। (तुर्वी हिंसायाम्) केवल इच्छा ही नहीं, **यदुम्**=जो प्रयत्नशील भी होते हैं (यती प्रयत्ने)। जो व्यक्ति अपने उत्कर्ष की भावना से ही शून्य हैं और जो आत्मोत्कर्ष के लिए किञ्चिन्मात्र भी काम नहीं करते, वे प्रभु की सुनीति के प्रयोग के पात्र भी नहीं होते।

प्रभु अपने शिक्षणालय में प्रविष्ट जीव को वाज=शक्ति से भरत्=भर देते हैं और यह 'भरद्वाज' बन विघ्न-बाधाओं को पार-कर सन्मार्ग पर तीव्रता से बढ़ चलता है।

भावार्थ—हम कामादि को जीतने की इच्छा करें और उसके लिए प्रयत्नशील हों, जिससे वह प्रभु जो हमारे सच्चे मित्र हैं, हमें अशुभ से हटाकर शुभ से संयुक्त करें।

ऋषिः—**श्रुतकक्ष आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु से मिलकर

१२८. मा न इन्द्राभ्याऽऽदिशः सूरो अक्तुष्वा यमत्। त्वा युजा वनेम तत्॥ ४॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हमें **अक्तुषु**=रात्रि के समान अज्ञानान्धकारों में यह वासना **मा**=मत **आयमत्**=क़ाबू कर ले। मनुष्य का जीवन प्रायः अन्धकार में चलता है।

कभी-कभी उसके जीवन में प्रकाश की किरण (flash of light) चमक उठती है, परन्तु सामान्यत: अन्धकार ही रहता है। उसे अपने जीवन के उद्देश्य का ध्यान ही नहीं होता। 'क्या करने आया था और क्या करने में वह लगा हुआ है?' धन-सम्पत्ति के जोड़ने में और भोगों के भोगने में वह अहर्निश लिप्त रहता है। यही उसका रात्रि के समान अन्धकारमय जीवन है और इन रात्रियों में कामादि वासनाएँ उसे और अधिक काबू किये चली जाती हैं। वासनाओं से अभिभूत यह व्यक्ति अपनी दुर्गति का आभास होने पर प्रभु से इस रूप में प्रार्थना करता है कि ये व्यसन हमें दबा न लें। ये वासनाएँ कैसी हैं?

१. **अभि आ दिश:**='यह कमा लिया है', अब यह कमाओ; उस शत्रु को मार लिया है, अब इसे मारो; यह कर लिया है, अब वह करो; इतना जुटा लिया है, अब इतना जुटाने की व्यवस्था करो;—इस प्रकार ये वासनाएँ हमें चारों ओर अपने आदेशों से दौड़ लगवा रही हैं। इस व्यक्ति को शान्ति नहीं, घर में रहने का सुख नहीं।

२. **सूर:**=(सु अतिशयितम् उरो यस्य) यह वासना बड़ी बलवान् है। न चाहते हुए भी हम उससे धकेले जा रहे हैं। चाहते हुए भी इसे हम क़ाबू में नहीं कर पाते। क़ाबू किये बिना कल्याण नहीं, परन्तु क़ाबू करना भी कठिन है। हाँ, **त्वा युजा वनेम तत्**=हे प्रभो! तेरे साथ युक्त होकर हम इसे समाप्त कर डालें। आपके सहायक होने पर इस वासना ने हमारा क्या ब़िगाड़ना? आपकी तो दृष्टि से ही यह भस्म हो जाती है। मुझे आपका ज्ञान हुआ, आपका मेरे हृदय में वास हुआ और यह वासना नष्ट हुई। एवं, आपका ज्ञान ही मेरी शरण है।

हे प्रभो! कृपा करो। आपकी कृपा ही मुझे वासना पर विजयी बनाएगी। श्रुत-विज्ञान ही मेरा कक्ष है, सुरक्षा स्थान है और आपकी मित्रता ही मुझे शक्तिशाली 'आङ्गिरस' बनानेवाली है।

भावार्थ—प्रभु के ज्ञान द्वारा मैं प्रभु को अपना मित्र बनाऊँ और इस मित्रता द्वारा वासना का विनाश करने में समर्थ बनूँ।

ऋषि:—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्र:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

कैसा धन?

१२९. एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्। वर्षिष्ठमूतये भर॥ ५॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **रयिं आभर**=हमें धन प्राप्त कराइए। कैसा धन? १. **सानसिम्**=सम्भजनीय धन। धन को मैं अकेला ही न खा लूँ। मैं उसका पञ्चयज्ञों में विनियोग करके यज्ञशेष को खानेवाला बनूँ। **'केवलाघो भवति केवलादी'** अकेला खानेवाला पापी होता है—मैं इस तत्त्व को न भूलूँ। २. **सजित्वानम्**=उस धन को, जो मुझे सदा विजयशील बनाता है, जिस धन को पाकर मैं इन्द्रियों का दास नहीं बन जाता। ३. **सदासहम्**=जो धन सदा कामादि वासनाओं का अभिभव करनेवाला है। जिस धन से मैं लोभाभिभूत हो सदा मारा-मारा नहीं फिरता। ४. **वर्षिष्ठम्**=जो धन सदा अतिवृद्ध है और खूब बरसनेवाला है। धन की मात्रा भी मेरे पास पर्याप्त हो और मैं उसका खूब दान करनेवाला बनूँ। बस, ऐसा ही धन तो **ऊतये**=हमारी रक्षा के लिए होता है।

इन उल्लिखित गुणों से युक्त धन नाश का कारण न बनकर कल्याण का साधक होता है। इस स्थिति में मैं 'मधुच्छन्दा'=उत्तम इच्छाओंवाला, 'वैश्वामित्र:'=सभी का मित्र होता हूँ।

भावार्थ—हम सदा औरों के साथ बाँटकर धन का उपभोग करें। बादल जल जुटाते-जुटाते काला होता जाता है, बरसता है तो सफेद हो जाता है। हम भी बरसने पर ही शुभ्र होंगे।

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

महाधन और अल्पधन

१३०. इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे। युजं वृत्रेषु वज्रिणम्॥ ६॥

गत मन्त्र में धन का उल्लेख था। हम बाह्य धन को ही सर्वस्व समझ उसी के अर्जन में न जुट जाएँ, अतः इस मन्त्र में उस धन की आन्तरिक आत्मसम्पत्ति से तुलना कर उस धन को अल्पधन कहा गया है, जबकि यह आत्मसम्पत्ति 'महाधन' है। **वयम्**=हम **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **महाधने**=इस महाधन की प्राप्ति के लिए ही **हवामहे**=पुकारते हैं। पुरुष शरीर और आत्मा के मेल का ही नाम है। शरीर आत्मा का मानो घर है या वस्त्र है। जैसे घर की अपेक्षा घर में रहनेवाले का महत्त्व अधिक है, वस्त्र की तुलना में वस्त्र को धारण करनेवाला अधिक महान् है, उसी प्रकार आत्मा के साथ सम्बद्ध धन शरीर के लिए आवश्यक धन की तुलना में महान् है। हमें शरीर के लिए आवश्यक धन भी जुटाना चाहिए, क्योंकि शरीर-रक्षा भी नितान्त आवश्यक है, शरीर को नीरोग रखना भी महान् कर्त्तव्य है। इस बात के विचार से ही मन्त्र में इस बाह्य धन के लिए भी प्रार्थना की गयी है कि **इन्द्रम्**=उस सर्वैश्वर्यशाली प्रभु को **अर्भे**=अल्पधन के निमित्त **हवामहे**=हम पुकारते हैं। प्राकृतिक ऐश्वर्य ही अल्पधन है। उसके बिना संसार में जीवन-यात्रा सम्भव नहीं। प्रभु से हम दोनों धनों की याचना करते हैं। किस प्रभु से?

१. **युजम्**=जो हमारे साथ रहनेवाले हमारे मित्र हैं। १२८वें मन्त्र में **'त्वा युजा वनेम तत्'**—इस प्रभुरूपी साथी के साथ ही हमने कामविजय का निश्चय किया था। हृदय में आत्मा-परमात्मा दोनों का ही निवास है। २. **वृत्रेषु वज्रिणम्**=जो प्रभु वृत्रों पर वज्र गिरानेवाले हैं। हमारे ज्ञान पर आवरण डालनेवाला यह काम ही 'वृत्र' है। ये वासनाएँ हमें सत्य का स्वरूप देखने से वञ्चित किये रहती हैं। प्रभु का स्मरण होने पर ये नष्ट हो जातीं हैं—मानो प्रभु इनपर वज्रपात करके इन्हें समाप्त कर देते हैं।

इन वासनाओं के समाप्त हो जाने पर हम आत्मिक सम्पत्ति को प्रमुखता देते हैं। इस प्रमुखता देने का परिणाम होता है कि हमारी इच्छाएँ पवित्र बनी रहती हैं। हम 'मधुच्छन्दा' होते हैं और किसी से द्वेष न करने के कारण हम 'वैश्वामित्र' होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में बाह्य व आन्तर धनों को उनका उचित स्थान देनेवाले बनें।

ऋषिः—**त्रिशोकः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कुटिलता से दूर

१३१. अपिबत् कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे। तत्राददिष्ट पौंस्यम्॥ ७॥

जब मनुष्य अल्पधन, अर्थात् सांसारिक सम्पत्ति को महाधन का स्थान देकर उसे अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है तब वह टेढ़े-मेढ़े सभी साधनों से (by hook or crook) इसे कमाने में लग जाता है। उस समय यह धन का दास बन जाता है। इसका जीवन कुटिलता

से भर जाता है। 'कम-से-कम श्रम से किस प्रकार अधिक-से-अधिक धन कमा लूँ' यही सदा उसके चिन्तन का विषय बना रहता है। इस कार्य में वह सारी नैतिकता को तिलाञ्जलि दे देता है और इस प्रकार धनार्जन करता हुआ निधन=मृत्यु की ओर बढ़ रहा होता है। सर्प के समान कुटिल आचरणवाला बनकर वह सचमुच सर्प ही बन जाता है। लोभाविष्ट हो यह किन-किन कुटिलताओं को स्वीकार करता है, यह सोचकर ही अत्यन्त आश्चर्य होता है। यह आत्मिक शक्ति से शून्य हो वासनाओं का ही शिकार हो जाता है। यह इन्द्र जिस दिन **कद्रुवः**=सर्पिणी के **सुतम्**=पुत्र को, अर्थात् कुटिलता की वृत्ति को **अपिबत्**=पी जाता है, अर्थात् समाप्त कर देता है, उस दिन **इन्द्रः**=इन्द्र होता है, बाह्य ऐश्वर्य को महत्त्व न देकर आन्तर ऐश्वर्य को महत्त्व देनेवाला यह सचमुच 'इन्द्रः=परमैश्वर्यशाली बनता है। यहाँ 'कद्रुः' शब्द का प्रयोग है-(कत्+रु) 'बुरी तरह से रुलानेवाली।' यह कुटिलता की वृत्ति आरम्भ में चाहे कितना ही ऐश्वर्य प्राप्त कराती प्रतीत हो, परन्तु अन्त में रुलानेवाली ही है। इस तत्त्व को समझकर मनुष्य जब इसे समाप्त करता है तभी वह 'इन्द्र' बनता है। अब वह **'सहस्रबाह्वे'**=शतशः प्रयत्नों के लिए होता है। 'प्रयत्न न करना', 'कुटिलता से हथियाना' उसकी यह वृत्ति समाप्त हो जाती है, अब वह प्रयत्न का पक्षपाती होता है और **तत्र**=इस प्रयत्न में ही वह **पौंस्यम्**=शक्ति को **आददिष्ट**=धारण करता है। कुटिलता उसे पौरुष से दूर ले-जा रही थी, प्रयत्न असे पौरुष प्राप्त कराता है। प्रयत्न से पौरुष को प्राप्त कर हम अपने अन्दर दिव्यता को ला रहे होते हैं। इस दिव्यता से हमारा सारा सूक्ष्मशरीर-प्राणमयकोश, मनोमयकोश तथा विज्ञानमयकोश दीप्त हो उठता है, हम इन तीनों को दीप्त करके 'त्रिशोक' (शुच् दीप्तौ) बन जाते हैं। ऐसा बनना ही बुद्धिमत्ता है, मेधाविता है-अतः हम 'काण्व' मेधावीपुत्र कहलाते हैं।

भावार्थ-हम अन्त में रुलानेवाली कुटिलता से दूर होकर, प्रयत्न व पौरुष को अपनानेवाले 'इन्द्र' बनें।

ऋषिः-**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

हमें तो आत्मा को ही अपनाना है

१३२. वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र नोनुमो वृषन्। विद्धी त्वा३स्य नो वसो॥ ८॥

सामान्यतः संसार के विषय ऐसे लुभावने हैं कि मनुष्य उनसे आकृष्ट होकर उनमें उलझ जाता है। धन ही उसका आराध्य देव बन जाता है और सभी साधनों से वह उसके सञ्चय में जुट जाता है। सांसारिक भोग आपातरमणीय हैं। ये विषय प्रारम्भ में अमृतोपम लगते हुए भी परिणाम में विषतुल्य होते हैं। हमारी सभी इन्द्रिय-शक्तियों को ये जीर्ण कर देते हैं। इस प्रकार इन सांसारिक विषयों के परिणाम को देखता व सोचता हुआ व्यक्ति कभी भी इनकी आकांक्षा नहीं कर सकता।

काम-क्रोध को वशीभूत करनेवाला 'वसिष्ठ' भी कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **वयम्**=हम सब **त्वायवः**=तुझे ही चाहनेवाले हैं। हे **वृषन्**=सुखों की वर्षा करनेवाले प्रभो! **अभि**=आपको लक्ष्य करके हम **प्रनोनुमः**=बारम्बार स्तुति करते हैं। आप परमैश्वर्यशाली हैं और सब सुखों की वर्षा करनेवाले हैं, अतः आपको पाकर किस वस्तु की कमी रह जाएगी? वे वस्तुएँ सान्त हैं, आप अनन्त हैं। सान्त के लिए अनन्त को छोड़ना बुद्धिमत्ता नहीं

हो सकती। ये सान्त भोग्य पदार्थ कितने भी मधुर व आकर्षक हों, परन्तु हमने तो निश्चय कर लिया है कि आपको ही पाना है। हे **वसो**=उत्तम निवास के साधक प्रभो! **नः**=हमारे **अस्य**=इस निश्चय को **तु**=तो **विद्धि**=आप समझ लीजिए। हमें आत्मा व परमात्मा के तत्त्व को ही जानना है—विषयों की हमें चाहना नहीं। इस चाह को वशीभूत करके ही मैं इस मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' बना हूँ और वसिष्ठ बनने के लिए ही 'मैत्रावरुणि'=प्राणापान की साधना करनेवाला हुआ हूँ।

भावार्थ—हमारा यह निश्चय हो कि हमें प्रभु को पाना है। उसके लिए हम वसिष्ठ बनें।

ऋषिः—**त्रिशोकः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

तीन दीप्तियाँ

१३३. आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्। येषामिन्द्रो युवा सखा॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि 'त्रिशोक काण्व' है। शुच् दीप्तौ धातु से शोक शब्द बना है—इसका अर्थ है 'दीप्ति'। त्रिशोक उस व्यक्ति का नाम है जो 'तीन दीप्तियोंवाला' है। कण-कण करके शरीर, मन व बुद्धि तीनों को दीप्त बनानेवाला यह काण्व है—मेधावी है। इनको दीप्त बनाने में ही मेधाविता है। यह त्रिशोक उन व्यक्तियों में है **ये**=जो **घ**=निश्चय से **अग्निम्**=उस आगे ले-चलनेवाली प्रभुरूप ज्योति को **आ इन्धते**=सर्वतः दीप्त करते हैं। ये संसार में विचरण करते हुए प्रत्येक वस्तु में प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न करते हैं। इनका मस्तिष्क ब्रह्मज्ञान से दीप्त हो उठता है। इनका मस्तिष्करूप द्युलोक विज्ञान के नक्षत्रों से और ब्रह्मज्ञान के सूर्य से जगमगा उठता है। इस प्रकार मस्तिष्क को दीप्त बनाकर ये त्रिशोक **बर्हिः**=(उद्बर्हण=eradication) हृदय से द्वेषादि मलों के विनाश को **आनुषक्**=निरन्तर **स्तृणन्ति**=विस्तृत करते हैं। ये हृदय को राग-द्वेष और मोह के मलों से रहित करके दीप्त कर लेते हैं। मन की दीप्ति त्रिशोक की दूसरी दीप्ति है। इनकी तीसरी दीप्ति का वर्णन इस प्रकार हुआ है कि ये त्रिशोक वे हैं **येषाम्**=जिनकी **इन्द्रः**=बल के कार्यों को करनेवाली देवता **युवा**=शुभ से संयुक्त और अशुभ से विपृक्त करनेवाली होती हुई **सखा**=मित्र है। इनका शरीर बल के कारण तेजस्वी है। यह तेजस्विता ही शरीर की दीप्ति है।

इस प्रकार त्रिशोक का मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से, मन प्रेम के प्रकाश से और शरीर शक्ति के तेज से शुचि=दीप्त बन रहा है। इसी से तो इसका नाम त्रिशोक हुआ है।

भावार्थ—हम उज्ज्वल मस्तिष्क, निर्मल हृदय व तेजस्वी शरीर को सिद्ध करनेवाले हों।

ऋषिः—**त्रिशोकः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

स्पृहणीय धन

१३४. भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः। वसु स्पार्हं तदा भर॥ १०॥

१. हे प्रभो! **विश्वाः द्विषः**=हमारे अन्दर सहसा प्रविष्ट हो जानेवाली सब द्वेष की भावनाओं को (विश्=to enter, द्वेषणे द्विट्) **अपभिन्धि**=हमसे दूर विदीर्ण कर दीजिए। हमारे पास ये कुत्सित भावनाएँ फटकने भी न पाएँ। मन की मलिनताएँ 'राग, द्वेष और मोह' ही तो हैं—हम इन मलिनताओं को दूर करके अपने मनों को निर्मल बनाने में समर्थ हों। हमारा

यह सतत प्रयत्न हो कि 'हम द्वेष से दूर रहें'। हम सदा सबके मङ्गल की ही कामना करें—**'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु'** यही हमारी कामना हो। इसी प्रकार तो हम अपने मनों को दीप्त रख सकेंगे।

२. **बाधः मृधः परिजहि**=उन्नति के मार्ग में बाधारूप और अन्त में मृत्यु के कारणभूत रोगों को भी हमसे दूर कीजिए। **'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'**=धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सभी पुरुषार्थों का उत्तम मूल आरोग्य ही है, नीरोगता के अभाव में इन पुरुषार्थों की सिद्धि सम्भव नहीं होती। रोग इनकी प्राप्ति के मार्ग में बाधक होते हैं, अतः इन्हें 'बाधः' शब्द से स्मरण किया गया है। ये ही रोग असमय में मृत्यु का कारण हो जाने से 'मृधः'= murderers=हिंसक कहे गये हैं। हे प्रभो! हमारे शरीर इस प्रकार तेजस्वी हों कि हमें ये रोग अपना शिकार न बना सकें। हमें शरीर की वह दीप्ति प्राप्त हो, जिसमें ये रोग भस्म हो जाएँ।

३. **तत् स्पार्हं वसु आभर**=हे प्रभो! उस स्पृहणीय धन को हममें भर दीजिए। 'बाह्य धन' और 'आन्तर धन' ये दो शब्द सोना, चाँदी व ज्ञान के लिए प्रयुक्त होते हैं। मानव जीवन में दोनों धनों का स्थान है। शारीरिक आवश्यकताएँ बाह्य धन से पूरी होती हैं तो आत्मिक उन्नति ज्ञान की अपेक्षा रखती है। हमारा जीवन इस आन्तर धन से परिपूर्ण हो। बाह्य धन की तुलना में यह आन्तर धन स्पृहणीय है। हमारी शक्तियाँ बाह्य धन के जुटाने में ही समाप्त न हो जाएँ। हे प्रभो! आपकी कृपा से हमारा मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से दीप्त बने। हम ज्ञान की ही स्पृहावाले हों। शरीर, मन व बुद्धि तीनों को दीप्त करके हम इस मन्त्र के ऋषि त्रिशोक हों।

भावार्थ—ज्ञान ही हमारा स्पृहणीय धन हो।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कहना-करना

१३५. इहेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान्। नि यामं चित्रमृञ्जते॥ १॥

हम सब प्रभु से प्रार्थना करते हैं। कुछ की प्रार्थना सुनी जाती है, कुछ की नहीं। हमने गत मन्त्रों में तीन दीप्तियों के लिए प्रार्थना की थी। कुछ को ये प्राप्त हैं, कुछ को नहीं। यह क्यों? इस प्रश्न का उत्तर बड़े सुन्दर शब्दों में यहाँ इस प्रकार दिया गया है—**इह एव**=यहाँ ही **एषाम्**=इनकी बात **शृण्वे**=सुनी जाती है **यत्**=जब **कशा**=वाणी **हस्तेषु**=हाथों में **वदान्**=बोलती है, अर्थात् जब ये जैसा कहते हैं वैसा करते हैं, वचन के अनुसार क्रिया होने पर प्रार्थना सुनी जाती है, अन्यथा नहीं। **'यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति'** इन शब्दों में हमारी वाणी और कर्म का समन्वय होना चाहिए, तभी प्रभु हमारी प्रार्थना सुनेंगे और हम इसी जीवन में उन्नत होकर लक्ष्य-स्थान पर पहुँच जाएँगे। एक टन उपदेश से एक औंस उदाहरण कहीं अधिक प्रभावशाली होता है। शास्त्रों में भी क्रियावान् को ही पण्डित माना गया है। **'शास्त्राण्यधीत्यपि भवन्ति मूर्खाः'**=शास्त्रों को पढ़कर भी मूर्ख होते ही हैं। 'कहना कुछ, करना कुछ' यही मूर्खता है।

एवं, जिनकी वाणी हाथों में बोलती है, अर्थात् जो क्रियाशील हैं, वे लोग ही **यामन्**=इस

जीवन-यात्रा के मार्ग को **चित्रम्**=बड़े अद्भुत प्रकार से, बड़ी सुन्दरता से **निऋञ्जते**=निश्चय से अलंकृत करते हैं। शास्त्रानुकूल आचरण से जीवन का सुन्दर बन जाना स्वाभाविक है।

कण-कण करके-थोड़ा-थोड़ा करके उसने इस जीवन को उत्कृष्ट बनाया है, अत: इसका नाम 'कण्व' हो गया है। यह कण्व घोरपुत्र=अति घोर, अर्थात् बहुत उत्कृष्ट जीवनवाला (घोर=noble) है।

भावार्थ-जो कहें, वह करें। हमारे आगम व प्रयोग में समानता हो। कथनी व करनी में समता ही उच्च जीवन का लक्षण है। जैसा बोलूँ, वैसा करूँ।

ऋषिः-**त्रिशोकः काण्वः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

क्या भेंट लेकर जाएँ?

१३६. इम उ त्वा वि चक्षते सखाय इन्द्र सोमिनः। पुष्टावन्तो यथा पशुम्॥ २॥

संसार में हम देखते हैं कि जब लोग गौ आदि पशुओं के समीप उनके दोहन के लिए जाते हैं तब उनके लिए घासादि लेकर जाते हैं। जब पशु के समीप भी बिना कुछ लिये नहीं जाते तब फिर उस महान् राजाधिराज के चरणों में भी बिना कुछ भेंट लिये जाना कैसे ठीक हो सकता है? विद्यार्थी दीक्षान्त के दिन आचार्य के चरणों में दक्षिणा लेकर उपस्थित होता है, हमें भी उस महान् आचार्य के चरणों में दक्षिणा रखनी है। 'यह दक्षिणा-यह भेंट-क्या हो' यही इस मन्त्र का विषय है। कहते हैं कि **यथा**=जैसे **पुष्टावन्तः**=(संभृतघासाः-सा०) पशु के पोषण के लिए साधनभूत घास आदि सामग्रीवाले होकर **पशुम्**=(विचक्षते)=पशु के दर्शन के लिए उसके समीप जाते हैं, उसी प्रकार **इमे उ**=ये ही **त्वा**=हे प्रभो! आपको **विचक्षते**=दर्शन के लिए प्राप्त होते हैं (come to pay a visit to you) जोकि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **सखायः**=सखा हैं और **सोमिनः**=सोमवाले हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रभु के चरणों में हमारी भेंट यही है कि १. हम सखा बनें, २. हम सोमवाले बनें। सखा बनने का अभिप्राय यह है कि हम भी प्रभु के समान ख्यान=ज्ञानवाले बनने के लिए प्रयत्नशील हों। इसी ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से हम सोम-(semen)-वाले भी बनें। यह सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन होता है। इस सोम की रक्षा से ही हमारी ज्ञानाग्नि प्रज्वलित रह सकती है। इसी सोम-रक्षा को ही ब्रह्मचर्य व संयम कहते हैं, यह सोमरक्षा ही ब्रह्म=ज्ञान की चर=प्राप्ति करानेवाली है और उस ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा **ब्रह्म**=परमेश्वर की ओर **चर**=ले-जानेवाली है।

सोमरक्षा कर व्यक्ति शरीर से नीरोग व तेजस्वी होता है, मन से विशाल व निर्मल होता है। वीर्य का अपव्यय करनेवाले निस्तेज, चिड़चिड़े, द्वेषी व कुण्ठमति हो जाते हैं।

ये सखा और सोमी शरीर, मन व बुद्धि तीनों को दीप्त करके 'त्रिशोक' बनते हैं। कण-कण करके इन्होंने इस ज्ञान और शक्ति का सञ्चय किया है, अत: ये 'काण्व' कहलाते हैं।

भावार्थ-हम सखा व सोमी बनकर प्रभु के चरणों में उपस्थान के अधिकारी बनें।

ऋषिः-**वत्सः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

ज्ञान की ओर

१३७. समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः। समुद्रायेव सिन्धवः॥ ३॥

गत मन्त्र में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि मनुष्य को 'प्रभु के चरणों में ज्ञान की ही भेंट रखनी है' यही विषय इस मन्त्र में भी प्रतिपादित किया गया है। **इव**=जैसे **सिन्धवः**= बहनेवाली नदियाँ **समुद्राय**=समुद्र के लिए **संनमन्त**=झुकती हैं, अर्थात् समुद्र की ओर बहती चली जाती हैं, उसी प्रकार **विश्वाः**=इस संसार के अन्दर प्रविष्ट हुए-हुए और अब प्रभु की गोद में प्रवेश की इच्छावाले, **कृष्टयः**=(कृष्=उखाड़ना) हृदयस्थली से वासनारूप घास-फूँस को उखाड़ देने की इच्छावाले **विशः**=प्रजाजन **अस्य**=इस प्रभु के **मन्यवे**=ज्ञान के लिए, प्रभु से दिये गये वेद-ज्ञान के लिए **संनमन्त**=झुकते हैं, अर्थात् प्रयत्नशील होते हैं।

इस प्रलोभनों से भरे संसार में ज्ञानाग्नि में ही वासनाएँ भस्म हुआ करती हैं। वासनाओं को भस्म करके ज्ञान मनुष्य को पवित्र बनाता है। ज्ञान के प्रकाश में ही ठीक मार्ग दीखता है। यह ज्ञान हमारे ऐहिक सुख व शान्ति का साधन तो होगा ही—मृत्यु के बाद यही हमारी परामुक्ति का कारण बनेगा, अत: अभ्युदय व नि:श्रेयस का साधन होने से ज्ञान ही धर्म है।

ज्ञान की इस महिमा को अनुभव करते हुए काण्व=कण्वपुत्र, अर्थात् मेधावी लोग इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए सतत यत्नशील होते हैं। ऐसे ही लोग प्रभु को प्रिय होते हैं, अत: वे 'वत्स' कहलाते हैं। वत्स का निर्वचन ऐसा भी किया जा सकता है कि 'वदतीति वत्स:'—मन्त्रों का उच्चारण करता है—उनका व्यक्त प्रवचन करता है। यह वेद का अध्येता ही ज्ञानी बनता है और प्रभु-चरणों में पहुँचने के योग्य होता है।

भावार्थ—हमारा लक्ष्य सदा ज्ञान की वृद्धि करते चलना हो।

ऋषि:—**कुसीदी काण्व:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

सबसे महान् कार्य

१३८. देवानामिदवो महत्तदा वृणीमहे वयम्। वृष्णामस्मभ्यमूतये॥ ४॥

इस संसार में सबसे महान् कार्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इस वेदमन्त्र में इन शब्दों में दिया गया है कि **देवानाम् इत् अवः महत्**=देवताओं का रक्षण सर्वमहान् कार्य है। इस शरीर में इन्द्रियाँ देव हैं, इनका अधिष्ठाता आत्मा महादेव है। इन इन्द्रियों की रक्षा करना ही मानव-जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य होना चाहिए। **'वयम् तत् आवृणीमहे'**=हम इसी कार्य का सदा वरण करते हैं। मकान की रक्षा, सम्पत्ति का ध्यान, स्वास्थ्य का ध्यान, गृहस्थ का पालन—ये सब आवश्यक बातें हैं, परन्तु सबसे बेड़ी बात यह है कि हम अपनी इन्द्रियों की रक्षा करें।

ये इन्द्रियाँ वास्तव में तो **वृष्णाम्**=सुखों की वर्षा करनेवाली हैं। इन सुखवर्षक देवों के रक्षण को हम वरते हैं। वही इन्द्रियाँ जोकि सुरक्षित होकर हमपर सुखों की वर्षा करनेवाली हैं, विषयों में फँसकर हमारे नाश का कारण बनती हैं। जिन ज्ञानेन्द्रियों से प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके हमें मृत्यु को तैरना है और ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके अमृत को पाना है—वही इन्द्रियाँ विषयासक्त होने पर अपवित्र नरक में डाल देती हैं, अत: हमारा यही महान् कर्त्तव्य है कि **अस्मभ्यम् ऊतये**=ये हमारी रक्षा के लिए हों। रक्षा की हुई इन्द्रियाँ हमारी सब अभिलाषाओं को सिद्ध करनेवाली होती हैं और असुरक्षित होने पर ये ही हमारे विनाश का कारण बन जाती हैं।

जो व्यक्ति इन्द्रिय-रक्षारूप तप को अपनाता है, वह ओजस्वी होकर पनपता है, इस पृथिवी पर प्रतिष्ठित होता है, उसका नाश नहीं होता। इसीलिए वह 'कु-सीदी'=पृथिवी पर प्रतिष्ठित होनेवाला कहलाता है। एवं, बुद्धिमत्ता इन देवों की रक्षा में ही है। यह कुसीदी काण्व=मेधावी है। हमें भी चाहिए कि देव-रक्षा द्वारा कुसीदी काण्व बनें।

भावार्थ—जितेन्द्रियता ही सर्वमहान् विजय है। हम इन्द्रियों (देवों) की रक्षा करेंगे तो ये इन्द्रियाँ हमारी रक्षा करेंगी।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान के चार परिणाम

१३९. सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं य औशिजः॥ ५॥

इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि काण्व' है। यह मेधां अतति=निरन्तर मेधा की ओर चल रहा है। इसके सारे प्रयत्न ज्ञान-प्राप्ति के लिए हैं। कण-कण करके यह ज्ञान के संग्रह में लगा है, इसी से काण्व भी कहलाया है।

यह प्रभु को 'ब्रह्मणस्पति'=ज्ञान के पति के रूप में देखता है, और आराधना करता है कि **ब्रह्मणस्पते**=हे ज्ञान के पति प्रभो! आप मुझे **सोमानां स्वरणं कक्षीवन्तम्**=सोम, स्वरण व कक्षीवान् **कृणुहि**=बनाइए। आप मुझे ऐसा बनाइए कि **यः**=जो मैं **औशिजः**=औशिज बनूँ।

इस प्रकार मन्त्र में ज्ञान के चार परिणामों का उल्लेख है—

१. **सोमानाम्**=ज्ञान मनुष्य को सोम बनाता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य ज्ञानी बनता जाता है, त्यों-त्यों वह अधिक और अधिक सौम्य होता जाता है। **'विद्या ददाति विनयम्'**=विद्या विनय देती है। **ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति**=ज्ञान से मनुष्य नतदृष्टि बनता है।

सोम शब्द 'सू' धातु से बनकर 'उत्पादन' की भावना को भी व्यक्त करता है। ज्ञानी सदा उत्पादक कार्यों में—निर्माण के कार्यों में रुचिवाला होता है। इसे तोड़-फोड़ रुचिकर नहीं होती।

२. **स्वरणम्**='स्वर् to radiate'। यह ज्ञान-प्रकाशनवाला होता है। इससे चारों ओर ज्ञान का प्रकाश फैलता है। इसके समीप रहनेवाले भी इसके ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमय हो जाते हैं।

३. **कक्षीवन्तम्**=यह ज्ञान मनुष्य को उत्तम कक्ष्यावाला बनाता है। कक्ष्या कमर में बाँधी जानेवाली रस्सी का नाम है। एवं, ज्ञानी कमर में उत्तम रज्जु को बाँधता है, अर्थात् सदा कमर कसे, पुरुषार्थ के लिए तैयार होता है। क्रियाशीलता ज्ञान का अवश्यम्भावी परिणाम है। ज्ञान शक्ति है और शक्ति क्रिया को पैदा करती है। **'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'** ब्रह्मज्ञानियों में क्रियाशील सदा श्रेष्ठ होता है।

४. **औशिजः**=यह ज्ञानी उशिक् का पुत्र होता है। उशिक् शब्द 'वश कान्तौ' धातु से बना है। यह सबका भला चाहनेवाला होता है। उशिक् का अर्थ मेधावी भी है। वस्तुतः सबका भला चाहना ही सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता है।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्त करके विनीत, प्रकाश फैलानेवाले, क्रियाशील व सबके प्रिय बनें।

ऋषिः—श्रुतकक्ष आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

श्रुतकक्ष आङ्गिरस का जीवन

१४०. बोधन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुतिः। शृणोतु शक्र आशिषम्॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि 'श्रुतकक्ष'=ज्ञानरूपी शरणस्थानवाला 'आङ्गिरस'=रसमय अङ्गोंवाला, अर्थात् शक्तिशाली अङ्गोंवाला है। वह प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारे लिए **शक्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **इत्**=निश्चय से **बोधन्मनाः**=हमारे मनों को सुबोध करनेवाला **अस्तु**=हो। हमारे मस्तिष्करूपी द्युलोक में ज्ञान का सूर्य चमके। यह चमकता हुआ ज्ञान का सूर्य **वृत्रहा**=वृत्र का हनन करनेवाला हो। हमारे हृदयान्तरिक्ष में कामादि वासनाएँ उत्पन्न होकर ज्ञान को आवृत कर देती हैं। ज्ञान को आवृत करने के कारण ही इन्हें 'वृत्र' नाम दिया गया है। जैसे आकाश में उदय होकर प्रचण्ड सूर्य अन्तरिक्षस्थ मेघों को छिन्न-भिन्न कर देता है, उसी प्रकार यह ज्ञानरूपी सूर्य वासनारूप वृत्र का विनाश करनेवाला होता है। एवं, जब हमारा विज्ञानमयकोश ज्ञान से जगमगाता है तब वासना-विनाश होने से हमारा मन निर्मल हो उठता है। इस नैर्मल्य के परिणामस्वरूप **भूर्यासुतिः**=हमारा प्राणमयकोश अत्यधिक जीवनी शक्तिवाला होता है (भूरि=बहुत, आसुतिः=enlivenment)। वासना ही शक्ति के अपव्यय का कारण हुआ करती है; वासना गयी और शक्ति का कोश पूर्ण हुआ।

शक्ति के मद में हम औरों को घृणा से देखते हुए कहीं अपशब्दों का प्रयोग न करने लग जाएँ, अतः मन्त्र में आराधना है कि वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **आशिषम्**=हमसे बोले जाते हुए शुभ शब्दों को ही **शृणोतु**=सुने, अर्थात् हमारी वाणी से कभी अशुभ शब्दों का उच्चारण न हो। 'आशीः' का अर्थ है—'the act of bestowing blessings on others'=औरों के लिए आशीर्वादात्मक शब्द बोलना, अर्थात् हम शक्ति प्राप्त करके शुभ शब्दों का प्रयोग करें। 'श्रुतकक्ष आङ्गिरस' बनने का यही मार्ग है।

भावार्थ—हमारा जीवन, 'ज्ञान, नैर्मल्य, शक्ति व शुभ वाणी' से अलंकृत हो।

ऋषिः—श्यावाश्व आत्रेयः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विकास के अनुकूल सम्पत्ति

१४१. अद्या नो देव सवितः प्रजावत्सावीः सौभगम्। परा दुःष्वप्न्यं सुव॥ ७॥

इस मन्त्र का ऋषि 'श्यावाश्व आत्रेय है। 'श्यैङ् गतौ' धातु से श्याव शब्द बना है और अश्व का अर्थ घोड़ा है। इन्द्रियों को वैदिक साहित्य में अश्व से उपमा दी गयी है, अतः गतिशील इन्द्रियोंवाला व्यक्ति श्यावाश्व है। यह क्रियाशील व्यक्ति 'काम, क्रोध, लोभ' से परे रहता है, अतः यह 'अ-त्रि' व आत्रेय कहलाता है—'जिसमें तीन नहीं हैं'।

पिछले मन्त्र में शक्ति-सम्पन्न बनने का उल्लेख था। शक्ति प्राप्त करके वह 'श्रुतकक्ष आङ्गिरस' आज 'श्यावाश्व' बनता है। यह श्यावाश्व 'सौभग'=fortune सम्पत्ति प्राप्त करता है। 'यह सम्पत्ति उसके ह्रास का कारण न बन जाए' इस हेतु वह प्रभु से आराधना करता है कि **देव सवितः**=दानादि दिव्य गुणों से सम्पन्न प्रेरक देव! **नः**=हमारे लिए **अद्य**=आज ही **प्रजावत्**=(जनी प्रादुर्भावे) 'प्रकृष्ट प्रादुर्भाव'=उच्च विकास से सम्पन्न **सौभगम्**=सम्पत्ति **सावीः**=प्राप्त कराइए। धन से मैं विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमयकोशों की वृद्धि के लिए

अनुकूल साधनों को जुटाता हुआ अन्नमयकोश के स्वास्थ्य के लिए भी सामग्री का संग्रह करूँ। हे प्रभो! आप देव हैं, देनेवाले हैं। आप तो अपने लिए कुछ भी बचाते नहीं हैं, आपसे प्रेरणा प्राप्त करके मैं भी देनेवाला बनूँ।

हे प्रभो। इस प्रकार मुझे दानवृत्तिवाला बनाकर आप मुझसे **दुःष्वप्न्यम्**=बुरे स्वप्नों के कारणभूत पापों को **परासुव**=दूर कीजिए। यदि मैं धन को दान में विनियुक्त न करूँगा तो स्वभावतः विलास व पाप की ओर मेरा झुकाव हो जाएगा और ये पाप मुझे सुख की नींद न सोने देंगे। इनके कारण मैं दुःस्वप्नों को ही देखा करूँगा।

'दुःस्वप्न्यम्' का अर्थ 'बुरी तरह से सोनेवाली', 'अत्यन्त असंज्ञभूत' वृक्षादि योनि का कारण भी है। हम धन प्राप्त करके उन पापों में न फँस जाएँ, जो हमें वृक्षादि स्थावर योनि को प्राप्त कराने का कारण बनें।

भावार्थ—हमारा धन हमारे विकास के लिए हो, न कि विलास और परिणामतः विनाश के लिए।

ऋषिः—**प्रागाथः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पञ्चविध विकास

१४२. क्वा३स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः। ब्रह्मा कस्तं सपर्यति॥ ८॥

गत मन्त्र में ऐसी सम्पत्ति की आराधना थी जो विकास की साधिका है। इस मन्त्र में विकास का उल्लेख है। हमें उन्नति का ठीक-ठीक भाव ज्ञात नहीं। सामान्यतः अधिक धन-प्राप्ति को ही हम उन्नति समझते हैं। यह बात तथ्य से बहुत दूर है। उन्नत पुरुष का चित्रण प्रस्तुत मन्त्र में 'वृषभ, युवा, तुविग्रीव, अनानत, और ब्रह्मा' इन पाँच शब्दों में किया गया है। इनकी भावना इस प्रकार है—

१. **वृषभः**=इस शब्द का सामान्य अर्थ बैल होता है। बैल शक्ति का प्रतीक है। शेर अपने नेत्र, पंजो व दाढ़ों के कारण भले ही बैल को मार ले, परन्तु वह बैल की भाँति अस्सी मन(तीन टन) बोझ को नहीं खैंच सकता। यह घोड़े के लिए भी असम्भव है। एवं, शक्तिशाली शरीरवाला पुरुष 'वृषभ' है। इसकी शक्ति औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाली है—बैल की शक्ति भी औरों के लिए अन्न आदि के उत्पन्न करने में व्यय होती है। (वृष्=वर्षा करना)

२. **युवा**=यह शब्द 'यु' धातु से बना है। इसका अर्थ है (१) मिश्रण और (२) अमिश्रण, मिलना और अलग होना। **'सं मा भद्रेण पृङ्क्तं वि मा पाप्मना पृङ्क्तम्'**=भद्र से संपृक्त होना और अभद्र से पृथक् होना। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को शुभ कार्यों में युक्त करके अशुभ कार्यों से पृथक् करता है, वह युवा है। प्राणमयकोश के विकास का अभिप्राय यही है।

३. **तुविग्रीवः**=मनोमयकोश के विकास का संकेत 'तुविग्रीवः' शब्द कर रहा है। 'तुवि' का अर्थ है 'बहुत'। ग्रीवा का अर्थ है गरदन। तुविग्रीवः=बहुत गर्दनोंवाला। जो व्यक्ति अपने मन में सभी के लिए प्रेम धारण करता है—सभी में आत्मबुद्धि करता है—वह तुविग्रीव है। इस प्रकार मन को राग-द्वेष से शून्य बनाना ही मनोमयकोश का विकास है।

४. **अनानतः**=इस शब्द का अर्थ है 'नहीं दबा हुआ'। जो भी पुरुष अपने को ज्ञान-सम्पन्न बनाता है, उसमें खुशामद या दबकर कुछ करने की वृत्ति स्वतः समाप्त हो जाती है। यह

न दबता है, न किसी को दबाता है।

५. **ब्रह्मा**=बृहि वृद्धौ से बनकर ब्रह्मा शब्द "खूब बढ़े हुए का" वाचक है। **'यो वै भूमा तत्सुखम्'** बढ़े हुए होने के कारण इसका जीवन आनन्दमय होता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**=यह सारी वसुधा को अपना परिवार समझकर चलता है।

यह पञ्चविध विकास करनेवाला संसार में 'आश्चर्यवत्' ही कोई होता है। यही बात मन्त्र में **क्व स्यः**=कहाँ है वह? इन प्रश्नात्मक शब्दों से कही गयी है। **तम्**=इस व्यक्ति का तो **कः**=आनन्दस्वरूप प्रभु भी **सपर्यति**=आदर करते हैं।

भावार्थ—पञ्चविध विकास करके हम प्रभु के आदर-पात्र बनें।

ऋषिः—वत्सः **काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विकास के लिए उचित वातावरण

१४३. उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥ ९॥

'विप्रः' शब्द सामान्यतः ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त होता है। यह विकास की चरमावस्था की सूचना देता है। जो व्यक्ति अपने में ज्ञान को भरने में असमर्थ रहा, वह 'शुचा द्रवति' शोक से सन्तप्त होने के कारण 'शूद्र' कहलाया। विप्रः=वेदों के ज्ञान को अपने अन्दर वि=विशेषरूप से (प्रा=पूरणे) प्र=अपने अन्दर भरनेवाला ब्राह्मण यहाँ विप्र शब्द से कहा गया हैं। ऐसा ब्राह्मण **अजायत**=प्रादुर्भूत होता है। कहाँ? **गिरीणां उपह्वरे**=गिरियों के सान्निध्य में **च**=तथा **नदीनां सङ्गमे**=नदियों के सङ्गम में। कैसे? **धिया**=धी से।

यहाँ 'गिरीणां' और 'नदीनां' शब्दों के साथ-साथ प्रयोग से इनका अर्थ पर्वत व नदी करने का प्रलोभन होता है, परन्तु गिरि शब्द का अर्थ=आदरणीय, सम्माननीय venerable, respectable है। गिरि और गुरु शब्द इ और उ के भेद से भिन्न दिखते हुए भी एकार्थ-वाचक है। 'गृणन्ति इति गिरयः गुरवो वा'=उपदेश करने से ये गिरि या गुरु कहलाते हैं। **'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव', 'आचार्य देवो भव', 'अतिथि देवो भव'** इन वाक्यों में इन गिरियों का उल्लेख हो गया है।

पाँच वर्ष तक माता, फिर आठवें वर्ष तक पिता, आगे पच्चीसवें वर्ष तक आचार्य और फिर गृहस्थ में अतिथि आदरणीय गिरि (गुरु) होते हैं। इनके उपह्वरे (निकटे) निकट रहकर ही बालक ज्ञान का विकास करते-करते विप्र बन जाता है। माता-पिता को बालकों का पालन-पोषण भृत्यों पर न डालकर सदा स्वयं करना चाहिए। नौकरों से पाले जाकर वे क्या विप्र बनेंगे? विद्यार्थी के आचार्य के समीप रहने की भावना को अन्तेवासी शब्द सुव्यक्त कर रहा है। गृहस्थ सदा अतिथियों की सेवा करता हुआ उनका सान्निध्य प्राप्त करने का यत्न करे।

'नदीनाम्' में 'नदी' शब्द न लेकर 'नदि' शब्द लेना चाहिए। इसका अर्थ praise=स्तुति है। वह व्यक्ति जिसका जीवन ही स्तुतिमय हो गया है 'नदि' कहलाता है। इन ब्रह्मनिष्ठ, सदा प्रभु की स्तुति करनेवाले नदियों के **सङ्गमे**=सङ्ग में आकर मनुष्य 'विप्र' बनता है। जहाँ कहीं इन व्यक्तियों का प्रवचन हो, सत्सङ्ग हो, वहाँ एक सद्गृहस्थ को अवश्य सम्मिलित होने का यत्न करना चाहिए।

इन गिरियों के निकट व नदियों के सङ्गम में मनुष्य विप्र तो बनता है, परन्तु बनता तभी है यदि उसके पास 'धी' हो। धी शब्द के चार अर्थ हैं (१) बुद्धि=Intellect, (२)

प्रवृत्ति=Propensity, (३) भक्ति, श्रद्धा=Devotion, (४) त्याग=Sacrifice। बुद्धि के अभाव में हम उनके उपदेशों को समझ ही न सकेंगे, अतः हम उनसे क्या लाभ लेंगे? बुद्धि होने पर भी यदि हमारी उन उपदेशों के सुनने की प्रवृत्ति न हो, तो हम बुद्धि का अन्य ही प्रयोग करते रहेंगे। बुद्धि और प्रवृत्ति के साथ भक्ति व श्रद्धा भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि एकदम तो लाभ होता नहीं, श्रद्धा के अभाव में देर तक उस मार्ग पर चलना सम्भव नहीं रहता और अन्त में त्याग की आवश्यकता तो स्पष्ट ही है। कुछ-न-कुछ आराम व सुख का त्याग गुरुशुश्रूषा व सत्सङ्ग में सम्मिलित होने के लिए करना ही पड़ता है।

एवं, धी से यदि हम माता-पिता, आचार्य, अतिथि व ब्रह्मनिष्ठ विद्वानों के सम्पर्क में आकर कण-कण करके ज्ञान का सञ्चय करेंगे तो इस मन्त्र के ऋषि 'काण्व' व कण्वपुत्र कहलाएँगे और प्रभु के प्रिय बनकर 'वत्स' होंगे।

भावार्थ—गुरुओं का सान्निध्य तथा ब्रह्मनिष्ठ विद्वानों का सङ्ग हमें बुद्धि द्वारा विप्र=अपने को ज्ञान से पूरण करनेवाला बनाए।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-स्तवन

१४४. प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः। नरं नृषाहं मंहिष्ठम्॥ १०॥

प्रस्तोत=खूब स्तुति करो। किसकी? १. **चर्षणीनां सम्राजम्**=(चर्षणयः=कर्षणः) कृषि-तुल्य उद्योग करनेवाले पुरुषों को दीप्त करनेवाले की, २. **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यवाले की, ३. **गीर्भिः नव्यम्**=सब वेदवाणियों से स्तुति किये जानेवाले प्रभु की, ४. **नरम्**=आगे ले-चलनेवाले प्रभु की, ५. **नृ-षाहम्**=(षह-मर्षणे to show mercy), उन्नतिशील पुरुषों पर कृपा-दृष्टि रखनेवाले की, ६. **मंहिष्ठम्**=सर्वाधिक दानशील की।

१. प्रभु अपनी वेदवाणी में जीव को उपदेश देते हैं कि **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'**=जुआ न खेलकर, खेती कर। वस्तुतः श्रम में ही दीप्ति है। श्रमशील व्यक्ति ही प्रभु के प्रिय होते हैं। आलस्य हमें शैतान की प्रजा बनाता है।

२. श्रमशीलता होने पर हम उस ज्ञानरूप परमैश्वर्य को भी पाते हैं जो हमें प्राकृतिक भोग-पंक में फँसने से बचाकर प्रभु का सच्चा उपासक बनाता है।

३. इस ज्ञान का यह परिणाम होता है कि हम वेदवाणियों से उस प्रभु की महिमा का गायन करते हैं। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'**=सारे वेद उस प्रभु की ही महिमा का गायन कर रहे हैं।

४. यह प्रभु-गुण-गायन **नरम्**=हमें आगे ले-चलता है—हमारे उत्थान का कारण बनता हैं, प्रभु के गुणों में रुचि उत्पन्न होकर हम दैवी सम्पत्ति को अपने अन्दर बढ़ानेवाले बनते हैं।

५. यह दैवी सम्पत्ति प्रथम तो इस रूप में प्रकट होती है कि हम अन्य मनुष्यों पर दया-दृष्टिवाले बनते हैं, मनुष्य की अल्पज्ञता व स्खलनशीलता का ध्यान रखते हुए तैश में नहीं आते।

६. इसी दैवी सम्पत्ति का दूसरा परिणाम यह है कि हम **मंहिष्ठ**=बनते हैं। **'देवो दानात्'**=देव होते ही देनेवाले हैं। यह स्तोता उस महान् दाता प्रभु का स्मरण करके देनेवाला बनता है और देव हो जाता है।

यह स्तोता 'इरिम्बिठि' था। इसका विठम्=हृदयान्तरिक्ष सदा इरि=गतिशील था। उसमें निरन्तर प्रभु-स्मरण की धारा बह रही थी। इसी सतत प्रभुस्मरण ने उसे शनै:-शनै: करके जीवन-मार्ग में उन्नत किया था, अत: कण-कण करके दिव्य गुणों का भण्डार बनने के कारण यह 'इरिम्बिठि काण्व' कहलाया।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हम अपने जीवन-पथ को प्रशस्त बनाते हुए 'देव' बनें।

अथ द्वितीयप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषि:—**श्रुतकक्ष आङ्गिरस:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

अज्ञानान्धकार का नाश

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
१४५. अपादु शिप्र्यन्धसः सुदक्षस्य प्रहोषिणः। इन्दोरिन्द्रो यवाशिरः॥ १॥

शिप्री=ज्ञान के शिरस्त्राणवाले **इन्द्र:**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अन्धस:**=अन्धकार का (अन्ध+अस्) **अपात् उ**=निश्चय से पान कर जाते हैं—नाश कर देते हैं। शिप्र शब्द शिरस्त्राण=Helmet का वाचक है, अत: शिप्री का अर्थ हुआ शिरस्त्राणवाले। वे इन्द्र ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले हैं। वे प्रभु हमें उत्कृष्ट ज्ञान देते हुए हमारे अज्ञानान्धकार को नष्ट कर देते हैं।

१. **सु-दक्षस्य**=उत्तम मार्ग से आगे बढ़नेवाले के (दक्ष=to go, to move)। जिस व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य उत्तम मार्ग से आगे बढ़ना है, उसका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। ध्येय व क्रिया की उत्तमता उसे पवित्र बनाती है और पवित्र हृदय में ही ज्ञान का प्रकाश होता है।

२. **प्र-होषिण:**=प्रकृष्ट त्याग करनेवाले के (हु=त्याग)। वस्तुत: त्यागयुक्त क्रियाएँ ही मनुष्य को निर्मल बनाती हैं। **'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'**—दान मनुष्य को पवित्र करनेवाला है। यही पवित्रता हमें ज्ञान-प्राप्ति के योग्य बनाती है।

३. **इन्दो:**=इन्दु के। इन्दु शब्द सोम का वाचक है—semen, vitality=वीर्यशक्ति। जो व्यक्ति अपने को वीर्यशक्ति का पुञ्ज बनाता है, वह इन्दु है। प्रभु इसके अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं।

४. **यवाशिर:**=यवाशिर के। गो शब्द ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है (गमयन्ति अर्थान्) और यव शब्द कर्मेन्द्रियों का (यूयन्ते कर्मसु)। 'आशॄ' से बनकर आशिर् शब्द 'चारों ओर से हिंसा करनेवाले' को कह रहा है। यह कुमार्ग पर जानेवाली इन्द्रियों को काबू करता है। वस्तुत: उपस्थादि इन्द्रियों के संयम से ही तो यह 'इन्दु'=शक्ति का पुञ्ज बन पाया था।

वह नष्ट अज्ञानान्धकारवाला व्यक्ति 'श्रुतकक्ष'=ज्ञानरूप शरणवाला है, अतएव विषयों में आसक्त न होने के कारण 'आङ्गिरस'=शक्तिसम्पन्न है।

भावार्थ—हम उत्तम मार्ग से चलनेवाले, त्यागशील, शक्तिपुञ्ज और कर्मेन्द्रियों के वशकर्त्ता बनें, जिससे हमारा अज्ञानान्धकार पूर्णरूप से नष्ट हो जाए।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

प्रभु बछड़ा हो, मैं गौ

१४६. इमा उ त्वा पुरूवसोऽभि प्र नोनुवुर्गिर:। गावो वत्सं न धेनव:॥ २॥

हे **पुरुवसो**=पालक और पूरक निवास देनेवाले प्रभो! **इमा**=ये **गिर:**=मेरी वाणियाँ उ=निश्चय से **त्वा**=आपको ही **अभिप्रनोनुवु:**=लक्ष्य बनाकर निरन्तर स्तुति करनेवाली हों। **न**=जैसेकि **धेनव: गाव:**=नवप्रसूतिका गौएँ **वत्सम्**=बछड़े का ध्यान करनेवाली होती हैं।

प्रभु सभी को वास के उचित साधन प्राप्त कराते हैं। वे साधन उनका पालन व पूरण करनेवाले होते हैं। कुछ तो ज्ञान की कमी के कारण और कुछ मन को पूर्ण वश में न कर सकने के कारण हम उन पदार्थों का ठीक प्रयोग नहीं करते और परिणामत: हमारे उचित विकास में कुछ कमी आ जाती है। प्रभु पुरुवसु हैं। मैं सदा उस प्रभु का स्तवन करूँ, जिससे मेरा अज्ञानान्धकार दूर हो तथा मैं चित्तवृत्तियों को वश में कर सकूँ और इस प्रकार प्रभु से दिये गये उन पदार्थों का ठीक उपयोग करके उत्तम निवासवाला बनूँ। मेरा चित्त सदा उस प्रभु के लिए उसी प्रकार उत्कण्ठित रहे जिस प्रकार गौ बछड़े के लिए उत्सुक होती है। मेरी चित्तरूप नवसूतिका गौ के लिए प्रभु बछड़े के समान हों। ध्यान इधर-उधर न करती हुई गौ जैसे बछड़े की ओर ही चली आती है, उसी प्रकार मेरा मन इधर-उधर विषयों में भ्रान्त न होकर प्रभु की ओर ही लगा रहे।

चित्त को प्रभु में लगाने से बढ़कर बुद्धिमत्तापूर्ण कुछ और है भी नहीं। यह ठीक है कि यह सब-कुछ एक रात में होनेवाला नहीं। धीरे-धीरे अभ्यास से ही मन प्रभु में लगेगा। कण-कण करके हमें इस मार्ग पर आगे बढ़ना होगा। इस प्रकार थोड़ा-थोड़ा (कण-कण) करके निरन्तर आगे बढ़नेवाला 'कण्वपुत्र'=काण्व' इस मन्त्र का ऋषि है। यह सचमुच 'मेधाम् अतति'=ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ रहा है, अत: 'मेधातिथि' है।

भावार्थ—हम अपनी चित्तवृत्तियों को सदा प्रभु में अर्पित करें।

ऋषि:—**गोतमो राहूगण:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

चन्द्रमा के घर में

१४७. अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे॥ ३॥

इस मन्त्र का ऋषि 'गोतम राहूगण' है—(गो=इन्द्रिय, तम=अत्यन्त प्रशस्त, रह=त्यागे, गण=संख्याने) यह अत्यन्त प्रशस्त-इन्द्रियोंवाला है और वह ऐसा इसलिए बन पाया है कि त्यागवृत्तिवालों में उसका स्थान गणना के योग्य है। यह त्याग की भावना मनुष्य के अन्दर तब आती है जब वह **अत्र**=इस मानव-जीवन में **ह**=निश्चय से **अपीच्यम्**=अत्यन्त सुन्दर व सुगुप्त **नाम**=यशप्रद प्रभूनाम का **गो:**=वेदवाणी द्वारा **अमन्वत**=मनन करता है। वेदवाणी के अध्ययन से जब वह अपराविद्या को प्राप्त करता है तब उसे इन प्राकृतिक वस्तुओं में उस प्रभु की अद्भुत रचनाशक्ति दीखने लगती है। एक-एक पदार्थ उसके लिए एक आश्चर्य (miracle) हो जाता है। स्वयं वेद-वाक्यों की रचना भी उसे अनुपम बुद्धि से की गयी प्रतीत होती है। **इत्था**=ऐसा अनुभव वह तब करता है जब वह **चन्द्रमस:**=मन के (चन्द्रमा मनसो

जातः, मन=moon) **गृहे**=गृह में, स्थान में—स्थित होता है, अर्थात् मनुष्य क्षणभर भी विषयों से उपराम होकर अपने अन्तर मानस में स्थित हुआ और उसे प्रभु की महिमा का ध्यान आया। विषयों में स्थित होने पर भोगवृत्ति बढ़ती है, मन में स्थित होने पर विज्ञानवृत्ति, अतः मनुष्य को चाहिए कि भोगवृत्ति का त्याग करके (रह=त्याग) अपने मन व इन्द्रियों को निर्मल बनाये और वेदवाणी के द्वारा इस जगत् में प्रभु की महिमा को देखे।

भावार्थ—मनीषी बनकर हम मन से उस प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

रित् का जीवन

१४८. यदिन्द्रो अनयद्रितो महीरपो वृषन्तमः। तत्र पूषाभुवत् सचा॥ ४॥

रित्—**'रियति गच्छति इति रित्'** इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि रित् का अर्थ है 'गतिशील'। इन **रितः**=गतिशील व्यक्तियों को **यत्**=यदा, जब **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली **वृषन्तमः**=शक्तिशाली व सब सुखों का वर्षक प्रभु **महीः अपः**=पूजा व प्रशंसा के योग्य कर्मों को **अनयत्**=प्राप्त कराता है, **तत्र**=तब वहाँ **पूषा**=पुष्टि **सचा**=साथ **भवत्**=होती है।

इस मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि प्रभु जो कुछ प्राप्त कराते हैं, वह रितों=गतिशीलों को ही प्राप्त कराते हैं। अकर्मण्य व आलसी को कुछ प्राप्त नहीं होता। यह ठीक है कि God helps those who help themselves, प्रभु उन्हीं की सहायता करता है, जो अपनी सहायता स्वयं करता है।

प्रभु कैसे हैं? वे प्रभु 'इन्द्रः'=परमैश्वर्यशाली हैं। उनके ऐश्वर्य की सीमा नहीं है। केवल ऐश्वर्यशाली नहीं, वे 'वृषन्तमः'=सब कामनाओं व सुखों के वर्षक हैं। वे हमारी किस कामना को पूरा नहीं कर सकते, परन्तु करते तभी हैं जब हम रित्=गतिशील बनते हैं।

कामना-पूरण का प्रकार—हमारी कामनाओं को क्या वे सीधा पूरा कर देते हैं? नहीं। वे हमें 'महीः अपः'=महनीय=प्रशंसा के योग्य उत्तम कर्मों को प्राप्त कराते हैं। हमारी प्रवृत्ति शुभ कर्मों की ओर हो जाती है और उन शुभ कर्मों के परिणामरूप ही हम उस परमैश्वर्य के अंश को पाया करते हैं। क्रियाशीलता से हमें पुष्टि भी प्राप्त होती है।

इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाजः बार्हस्पत्यः' है। भरद्वाज का अर्थ शक्तिशाली है। परमैश्वर्य का अभिप्राय ज्ञान से था, अतः भरद्वाज ज्ञान को प्राप्त कर बार्हस्पत्य होता है।

भावार्थ—हम 'रित्' बनें और प्रभु के प्रिय हों।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वा आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

बिन्दुः, पूतदक्षः, आङ्गिरसः

१४९. गौर्धयति मरुतां श्रवस्युर्माता मघोनाम्। युक्ता वह्नी रथानाम्॥ ५॥

ऋषि—'बिन्दु' शब्द सामान्यतः वीर्य के लिए प्रयुक्त होता है। जो व्यक्ति इस बिन्दु का धारण करके अपने को शक्ति का पुञ्ज बनाता है, वह भी 'बिन्दु' कहलाता है। इसने अपने दक्ष=बल को पूत=पवित्र किया है, इसी से यह उस शक्ति को धारण कर पाया है। एवं, यह 'पूतदक्ष' अङ्ग-अङ्ग में रसवाला 'आङ्गिरस' हुआ है। यह ऐसा इसलिए बन पाया है कि इसने

शक्ति को अपने अन्दर ही पीया है। वैदिक भाषा में यही इन्द्र का सोमपान है। सामान्य भाषा में इसे शक्ति का शरीर में खपाना कहते हैं। इस शक्ति को शरीर में ही खपाने का उपाय यह है कि मनुष्य अपने को ज्ञान-प्रधान बनाए।

सोमपान का उपाय—**गौः**=वेदवाणी ही **धयति**=पीती है। वेदाध्ययन से मनुष्य इस शक्ति को अपने अन्दर ही पी लेता है। यह शक्ति ज्ञानाग्नि का ईंधन बन जाती है और शक्ति का अपव्यय नहीं होता। जो ज्ञान-प्राप्ति में लीन हो जाता है, उसकी शक्ति का अपव्यय वासनापूर्ति में नहीं होता।

यश=यह वेदवाणी इस प्रकार हमारे लिए सोमपान करती हुई हमें 'मरुत्'=मितरावी=कम बोलनेवाला बनाती है और इन **मरुताम्**=कम बोलनेवालों को यह वेदवाणी **श्रवस्युः**=यश से संयुक्त करनेवाली होती है। शक्तिशाली कर्मवीर बनकर यशस्वी होता है।

इन्द्रत्व—यह वेदवाणी **मघोनाम्**=इन्द्रों की **माता**=निर्माण करनेवाली है। 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य' (यास्क), बल के सब कर्म इन्द्र के हैं। वेदवाणी हमें शक्तिशाली कर्मों को करनेवाला बनाती है। इन्द्र ने सब असुरों का संहार कर दिया। वेदाध्ययन का हमारे जीवन पर यही परिणाम होता है कि हमारी आसुर-वृत्तियाँ समाप्त होती हैं। हम इन्द्रियों के दास न रहकर इन्द्रियों के स्वामी इन्द्र बन जाते हैं।

यात्रा की पूर्ति—अन्त में यह वेदवाणी **युक्ता**=शरीररूप रथ में जोती जाने पर (**शरीरं रथमेव तु**—उप०) **रथानाम्**=इन रथों को **वह्निः**=यथास्थान (at the destination) पहुँचानेवाली होती है, अर्थात् हमारी जीवन-यात्रा निर्विघ्न पूर्ण हो जाती है।

भावार्थ—वेदवाणी का अध्ययन शक्ति की रक्षा का मुख्य उपाय है। यह हमें मितभाषी, यशस्वी कर्मोंवाला, आसुर-वृत्तियों का संहार करनेवाला इन्द्र बना देती है और हमें जीवन-यात्रा को पूर्ण करने में समर्थ करती है।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आंगिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यज्ञमय जीवन का प्रारम्भ

१५०. उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते। उप नो हरिभिः सुतम्॥ ६॥

नाना मद—इस संसार में मानव को कितने ही मद=हर्ष प्राप्त हैं। १. मनुष्य का शरीर स्वस्थ हो, तो उसे जो हर्ष प्राप्त होता है, उसे 'तन्दुरुस्ती हज़ार नियामत है' इस लोकोक्ति में प्रतिक्षिप्त हुआ देख सकते हैं। २. कोई इन्द्रिय किसी भी विषयपङ्क से लिप्त न हो तो उस समय इस निर्मल इन्द्रियवाले पुरुष के चेहरे पर विद्यमान सतत स्मित उसके हर्ष की सूचना देती है। ३. सत्य से पवित्र हुए-हुए मन में एक विशेष प्रकार का ही उल्लास होता है। ४. ज्ञान की वृद्धि के साथ दीप्त होता हुआ विज्ञानमयकोश एक अद्भुत आनन्द का कारण बनता है। ५. जिस समय हम अज्ञानियों से किये जा रहे अपमानों से क्षुब्ध नहीं होते, उस समय वह सहनशक्ति का बल हमें आनन्द की सीमा पर पहुँचा देता है। ६. इन सब आन्तरिक आनन्दों के साथ बाह्य धन व सम्पत्ति का भी आनन्द है जो मनुष्य को घृत-लवण-तण्डुलेन्धन की चिन्ता से मुक्त-सा किये रखता है।

मदों के पति—इन सब हर्षों के स्वामी प्रभु हैं। उन्हें सम्बोधित करते हैं कि **मदानां**

पते=हे मदों के स्वामिन्! आपकी कृपा से ही हम इस जीवन में इन हर्षों को प्राप्त कर पाते हैं। हम इन मदों को प्राप्त कर सकें, अतः **हरिभिः**=इन इन्द्रियरूप घोड़ों के उद्देश्य से आप **नः**=हमें **सुतम्**=शक्ति (सोम=सुत) **उपयाहि**=प्राप्त कराइए। भोजन से उत्पन्न वीर्यशक्ति का अपव्यय हम क्षणिक आनन्द के लिए न कर डालें। वीर्य का पान शरीर में होगा तो वह वीर्य अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शक्तिशाली बनाएगा।

यज्ञों में—इस प्रकार जब हमारी इन्द्रियाँ इस सोमपान के द्वारा शक्तिशाली बनें तो हे प्रभो! आप **नः**=हमें **हरिभिः**=इन्द्रियों के द्वारा **सुतम्**=यज्ञ को **उपयाहि**=प्राप्त कराइए। शक्तिशाली बनी हुई हमारी इन्द्रियाँ यज्ञों में प्रवृत्त हों।

वस्तुतः मनुष्य का जीवन हर्ष से ओत-प्रोत तभी हो सकता है जबकि १. उसकी इन्द्रियाँ शक्तिशाली हों और २. शक्तिसम्पन्न इन्द्रियाँ यज्ञों में प्रवृत्त हो जाएँ।

ऐसा वही व्यक्ति हो सकता है जो 'श्रुतकक्ष'=ज्ञान को अपनी शरण बनाता है। इस ज्ञानरूप कवच को धारण करनेवाला 'सु-कक्ष'=उत्तम रक्षण स्थानवाला है। इस प्रकार इसकी इन्द्रियाँ आसुर भावनाओं से अनाक्रान्त रहकर इसे 'आङ्गिरस'=शक्तिसम्पन्न अङ्गोंवाला बनाती हैं। यही श्रुतकक्ष-सुकक्ष-आङ्गिरस इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम अपनी इन्द्रियों को वीर्य-रक्षा के द्वारा शक्तिशाली बनाएँ और उन सशक्त इन्द्रियों से यज्ञों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यज्ञान्त स्नान की ओर

३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३२ १ २ ३ १ २र
१५१. इष्टा होत्रा असृक्षतेन्द्रं वृधन्तो अध्वरे। अच्छावभृथमोजसा॥ ७॥

उत्तम यज्ञ—'हमारी इन्द्रियाँ सशक्त बन यज्ञों में प्रवृत्त हों' यह पिछले मन्त्र का सार था। इस मन्त्र में कहते हैं कि 'यज्ञों में निरन्तर प्रवृत्त हुई-हुई वे इन्द्रियाँ आगे और आगे बढ़ती चलें और इसी जीवन में हमें यज्ञान्त स्नान करने के योग्य बनाएँ।' **इष्टाः होत्राः**=वांछनीय यज्ञ **असृक्षत**=हमारे द्वारा निरन्तर किये जाएँ। कुछ यज्ञ ऐसे भी हैं जिन्हें हम अवांछनीय कह सकते हैं। अभिचार यज्ञ=किसी के विनाश के लिए की जानेवाली हीन क्रियाएँ, इसी कोटि में आएँगे। सशक्त, संयमी जीवनवाला पुरुष उत्तम यज्ञों को ही करता है।

इन्द्र-शक्ति का विकास—इन **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञों में ये लोग **इन्द्रं वृधन्तः**=अपने में इन्द्र-शक्ति का विकास करते हुए **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **अवभृथम्**=यज्ञान्त स्नान की **अच्छ**=ओर बढ़ते चलते हैं। हिंसारहित उत्तम यज्ञों से आत्मिक शक्ति का विकास होता है। इन यज्ञों का करनेवाला ओजस्वी बनता है। यह ओजस्विता इसे यज्ञमार्ग पर और अधिक आगे बढ़ने की योग्यता प्राप्त कराती है और इस प्रकार वह इन यज्ञों में ऐसी तीव्रता से आगे बढ़ता है कि इसी जन्म में उसके यज्ञान्त स्नान कर सकने की सम्भावना हो जाती है। जिस दिन वह यज्ञों को पूर्ण कर यज्ञमय बन जाएगा, उस दिन यह उस यज्ञरूप विष्णु की सचमुच यज्ञ के द्वारा उपासना करेगा। पातक=पाप जहाँ मनुष्य को 'पातयन्ति'=गिराते हैं, वहाँ यज्ञ मनुष्य को उपर उठाते हैं। पापों से शक्ति घटती है, पुण्य से उसकी अभिवृद्धि होती है।

एवं, यज्ञों से ओजस्वी बननेवाला पुरुष सचमुच 'आङ्गिरस' है—रसमय अङ्गोवाला है।

श्रुति-प्रतिपादित यज्ञों को अपनी शरण बनानेवाला यह श्रुतकक्ष व सुकक्ष है।

भावार्थ--हम इष्ट यज्ञों से आत्मिक शक्ति का विकास करें और उससे यज्ञों की चरम सीमा तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषि:—**वत्सः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य की भाँति

१५२. अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह। अहं सूर्यइवाजनि॥ ८॥

ज्ञान के बिना मनुष्य का कल्याण सम्भव नहीं, परन्तु ज्ञान-प्राप्ति बड़ा तीव्र तप व श्रम चाहती है, अतः मनुष्य कल्याण-प्राप्ति के किसी सरल मार्ग की खोज में रहता है। आधुनिक जगत् में सन्तों की वाणियों ने भक्ति के रूप में उसे वह सरल मार्ग प्राप्त करा ही दिया है, परन्तु क्या ज्ञानशून्य भक्ति से कभी कल्याण सम्भव हो सकता है? नहीं, और कभी नहीं। वेद स्पष्ट कह रहा है कि १. **'तमेव विदित्वाऽ तिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽ यनाय'** उस प्रभु के ज्ञान के बिना मृत्यु को लाँघने व मुक्त होने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। २. प्रभु ने मनुष्य को सृष्टि के आरम्भ में 'वेद'=ज्ञान ही दिया था। दो वस्तुएँ इसलिए नहीं कि मनुष्य उनमें तुलना न करने लग जाए। ३. प्रभु ने हमारा नाम ही 'मनुष्य' इसलिए रक्खा था कि हम सदा अवबोध व ज्ञान-प्राप्तिरूप लक्ष्य को न भूलें। ४. वेद में प्रभु ने तीन काण्ड रक्खे हैं—ज्ञान, कर्म और उपासना ५. प्रभु ने ज्ञानप्राप्ति के लिए ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्म करने के लिए कर्मेन्द्रियाँ दी हैं। इनके अतिरिक्त उपासना के लिए कोई उपासनेन्द्रिय नहीं दी। वस्तुतः ज्ञानपूर्वक कर्म करने से ही उपासना हो जाती है, अतः अलग इन्द्रिय की आवश्यकता भी नहीं है। ६. मस्तिष्क-प्रयोग में श्रम है, हस्तप्रयोग में श्रम है। हृदय-गति तो स्वयं होती रहती है एवं ज्ञान और कर्म होने पर उपासना स्वतः हो जाती है। ७. चतुर्विध भक्तों में **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'**=ज्ञानीभक्त ही प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय है।

इस ज्ञान-प्राप्ति के लिए इस मन्त्र का ऋषि 'वत्स' प्रभु से उच्चारण (पुरस्तात् शुक्रं उच्चरत्) किये गये वेदमन्त्रों का उच्चारण करता है (वदतीति वत्सः), इसीलिए यह प्रभु का प्रिय होता है (वत्सः=प्रिय)। कण-कण करके ज्ञान का संग्रह करते चलने से यह 'काण्व' कहलाता है। यह वत्स कहता है कि **अहम्**=मैं **इत् हि**=सचमुच, निश्चय से **पितुः**=ज्ञानदाता उस परमपिता से **ऋतस्य**=सत्य की (सत्यज्ञान की) **मेधाम्**=बुद्धि को **परिजग्रह**=सर्वतः ग्रहण करता हूँ। सब सत्य ज्ञानों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता हूँ। इस प्रकार सत्य ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करके **अहम्**=मैं **सूर्यः इव**=सूर्य की भाँति **अजनि**=हो गया हूँ। अज्ञानान्धकार के दूर हो जानेपर ही मानव का कल्याण होता है। यह प्रकाश सब पाप-कालिमा को धो डालता है।

भावार्थ--सत्य ज्ञान को प्राप्त करके हम सूर्य की भाँति चमकें।

ऋषि:—**आजीगर्तिः शुनःशेपः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शुनःशेप की प्रार्थना

१५३. रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः। क्षुमन्तो याभिर्मदेम॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि 'आजीगर्तिः शुनःशेपः' है। (शुनम्=सुखम्, शेप्=to make) सुख के

साधनों को जुटानेवाला व्यक्ति शुन:शेप है। यह उत्तरोत्तर (अज=गति=to go, गर्त=गड्ढा) अवनति के मार्ग पर ही आगे बढ़ता है। १. काम करने से इसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। २. भोग-सामग्री बढ़ जाने से रोग शरीर में घर कर लेते हैं। ३. अभिमान वृद्धि से यह निर्धनों व सेवकों को मनुष्य ही नहीं समझता।

यह कहता है कि **इन्द्रे**=प्रभु के चरणों में **न:**=हमें **तुविवाजा:**=खूब अन्न प्राप्त हों। वे अन्न **रेवती:**=धनोंवाले **सन्तु**=हों और **सधमादे**=सन्तानों व परिवारजनों के साथ मौज लेने योग्य हों (सध=साथ, माद्=हर्ष), अर्थात् हमारे पास अन्न हो, धन हो, और सन्तान हों, जिससे उन सन्तानों के साथ हम अपने धन-धान्य का आनन्द लूटें।

यह फिर प्रार्थना करता है कि-**क्षुमन्त:**=उत्तम अन्नवाले (खूब खा सकने की शक्तिवाले) हम उन धन-धान्यों को प्राप्त करें **याभि:**=जिनसे हम **मदेम**=इस संसार का मज़ा ले-सकें।

वस्तुत: सामान्य मनुष्य की प्रार्थना का स्वरूप यही होता है कि धन हो, सन्तान हो, अन्न हो और मुझमें खाने की शक्ति हो। यह जीवन पापवाला प्रतीत न होता हुआ भी 'भोगमय' तो है ही, अत: ऐसे जीवन के बिताने पर प्रभु अगला जीवन हमें भोगयोनियों में ही दे देते हैं। एवं, यह जीवन गर्त की ओर ही ले-जाता है। इस जीवन में भी शक्तिक्षीणता, रोग और औरों की घृणा के पात्र होने पर हमें कई बार यह जीवन असार व ग़लत प्रतीत होने लगता है। उस समय हमारी प्रार्थना का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है।

भावार्थ-सामान्य मनुष्य की प्रार्थना धन, सन्तान, अन्न और अन्न को पचाने की शक्ति के लिए होती है।

ऋषि:-शुन:शेपो वामदेवो वा॥ देवता-इन्द्र:॥ छन्द:-गायत्री॥ स्वर:-षड्ज:॥

वामदेव की प्रार्थना (सौम्यता व शक्ति)

१५४. सोम: पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्। देवत्रा रथ्योर्हिता॥ १०॥

'हे प्रभो! यह सांसारिक भोगों का जीवन तो ठीक नहीं है' यही मेरे अनुभव का निचोड़ है। इस जीवन ने तो मुझे अभिमानी व क्षीणशक्ति ही बना दिया। आप कृपा करो कि मुझ में **सोम:**=सौम्यता **च**=और **पूषा**=पोषण, अर्थात् पुष्टि व शक्ति **चेततु:**=चेत उठें, जाग उठें। मैं विनीत बन जाऊँ और शक्ति-सम्पन्न हो जाऊँ। सांसारिक भोगों से मैं ऊपर उठूँ और अभिमान व निर्बलता के मूल को ही समाप्त कर दूँ। ये सोम और पूषा **विश्वासां सुक्षितीनाम्**=सब उत्तम मनुष्यों में **हित:**=निहित होते हैं। सब उत्तम मनुष्यों का ये कल्याण करते हैं। इन्हें अपने में निहित कर मैं भी उत्तम मनुष्य बन जाऊँ। ये सोम और पूषा **देवत्रा हिता**=देवों में निहित होते हैं, इन्हें अपने में धारण कर मैं भी देव बन जाऊँ। **रथ्यो:** हिता=(रथी-रथ का अधिष्ठाता) ये सोम और पूषा उस दम्पती में निहित होते हैं जो रथी=शरीररूप रथ के अधिष्ठाता होते हैं। मैं भी उन्हीं-जैसा बनूँ।

कहाँ शुन:शेप की प्रार्थना धन, सन्तान, अन्न व भूख के लिए थी और कहाँ अब वह उन वस्तुओं के तत्त्व को पहचानकर सोम और पूषा का, विनीतता व शक्ति का अभिलाषी हो गया है। वह शुन:शेप न रहकर 'वाम-देव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बन गया है।

भावार्थ—हमारे जीवन का उद्देश्य भोगसामग्री जुटाना न होकर विनीतता व शक्ति का सम्पादन हो।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**आङ्गिरसः श्रुतकक्षः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-स्तवन से वासना का विनाश

१५५. पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत।
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम्॥ १॥

पिछले मन्त्र में सौम्यता व शक्ति की याचना थी। इस शक्ति का सम्पादन बिना सोम (semen)=वीर्य की रक्षा के सम्भव नहीं, और सोम का रक्षण प्रभु-स्तवन के बिना असम्भव है, इसीलिए मन्त्र में कहते हैं कि **इन्द्रम्**=उस सर्वैश्वर्यशाली प्रभु का **आ**=सर्वथा **अभिप्रगायत**=गान करो। उस प्रभु का जो **वः**=तुम्हारे **अन्धसः**=सोम की **पान्तम्**=रक्षा कर रहा है। अन्धस् शब्द ही सोम-रक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन करता है कि यह 'आध्यायनीयं भवति' (यास्क), सब प्रकार से ध्यान करने योग्य होता है। हमारा सारा आहार-विहार इसी की रक्षा के दृष्टिकोण से होना चाहिए। हम उष्णवीर्य वस्तुओं को कभी न खाएँ और उत्तेजक व्यायामों को न करें। इनसे बढ़कर आवश्यक बात यह है कि हम प्रभु का स्तवन करें। हमारे हृदयों में प्रभु का वास होगा तो वासना का वहाँ उत्थान न होगा और परिणामतः हम अपनी शक्ति को सुरक्षित रख सकेंगे।

१. **विश्वासाहम्**=वे प्रभु सबका पराभव करनेवाले हैं। हम भी उस प्रभु के स्तवन से सोमरक्षा द्वारा शक्तिशाली बनकर सबका अभिभव करनेवाले बनेंगे, तब हम संसार के प्रलोभनों से अभिभूत न होंगे।

२. **शतक्रतुम्**=वे प्रभु अनन्त (शत=अनन्त) उत्तम कर्मोंवाले हैं। उस प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी वीर्यवान् बन सदा उत्तम कर्मों में लगे रहेंगे।

३. **चर्षणीनां मंहिष्ठम्**=वे प्रभु मनुष्यों के लिए दातृतम हैं। 'प्रभु ने क्या नहीं दिया?' उसने जीवों के हित के लिए अपने को ही दे डाला है (आत्म-दा)। वीर्यवान् पुरुष भी विलास की ओर न जाने के कारण अपनी आवश्यकताओं को कम रखता है और अधिक-से-अधिक लोकहित करता है।

संक्षेप में प्रभु का स्तवन करनेवाला व्यक्ति १. सोमरक्षा के द्वारा शक्तिशाली बनता है। २. सब प्रलोभनों का अभिभव करने में समर्थ होता है। ३. सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा रहता है। ४. अपनी आवश्यकताओं को कम रखता हुआ सदा दानशील होता है।

यह सांसारिक भोगों व ऐश्वर्य को महत्त्व न देकर ज्ञान को महत्त्व देता है। ज्ञान ही उसका शरण होता है। इसी से उसका नाम 'श्रुत-कक्ष' हो गया है। ज्ञान से उत्तम कोई शरण है ही नहीं, अतः वह 'सु-कक्ष' है। भोगमार्ग की ओर न जाने से वह 'आङ्गिरस'=शक्तिशाली है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से वासना को दूर रखकर हम अपनी शक्ति की रक्षा करें।

ऋषिः—मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु हर्यश्व हैं

१५६. प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत। सखायः सोमपाव्ने॥ २॥

'मैत्रावरुणि वसिष्ठ' इस मन्त्र का ऋषि है। मित्र और वरुण की, अर्थात् प्राणापान की साधना करके यह वशियों में श्रेष्ठ बना है। यह कहता है **सखायः**=समान ख्यान=ज्ञानवाले मित्रो! ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से मिलकर चलनेवाले साथियो! **प्रगायत**=खूब गायन करो, दिन-रात स्तुति करो। सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते उस प्रभु का चिन्तन करो। किस प्रभु का? १. **वः इन्द्राय**=तुम्हें परमैश्वर्य प्राप्त करानेवाले प्रभु का। उस प्रभु का स्तवन करो जिसकी स्तुति से ज्ञानरूप परमैश्वर्य का लाभ होता है। सत्यज्ञान की प्राप्ति—ऋतम्भरा प्रज्ञा का लाभ प्रभु की कृपा से ही होता है। २. उस प्रभु का गायन करो जो **वः**=तुम्हारे **हर्यश्वाय**=इन्द्रियरूप घोड़ों का प्रत्याहरण करनेवाले हैं। **'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः'** इन्द्रियों से विषय पर=प्रबल हैं—इन्द्रियों को आकृष्ट कर लेते हैं। इन्द्रियाँ ग्रह हैं तो विषय अतिग्रह हैं। वे इन्द्रियाँ जोकि विषयों से आकृष्ट हो जाती हैं, प्रभु-स्मरण होनेपर उनका पुनः प्रत्याहार हो जाता है। **हर**=वापस लानेवाले, **अश्व**=घोड़ों को। ३. उस प्रभु का स्मरण करो जो **सोमपाव्ने**=सोम की रक्षा करनेवाले हैं। प्रभु का स्मरण करने से इन्द्रियाँ विषयों की ओर नहीं जातीं। विषयों में लिप्त न होने से हमारी शक्ति सुरक्षित रहती है। स्तुति किये जाने पर हमारे हृदयाकाश में महादेव की प्रतिष्ठा होती है—कामदेव का विध्वंस होता है और इस प्रकार हमारा सोम विलास में व्यय नहीं होता।

उल्लिखित प्रकार से प्रभु-नाम-गायन का परिणाम निम्न रूप में होता है—

१. ज्ञानरूप परमैश्वर्य की प्राप्ति, २. इन्द्रियों का विषयों में न जाना, ३. परिणामतः सोम का शरीर में ही सुरक्षित रहना।

यह महत्त्वपूर्ण प्रभु-गायन इस रूप में चले कि **मादनम्**=हमारे जीवन में एक मस्ती (मद) लानेवाला हो। हम गायन में तन्मय व तल्लीन हो जाएँ।

भावार्थ—ज्ञान-सम्पादन करते हुए हम प्रभु के अनन्य उपासक बनें, भक्ति में हमें एक मस्ती का अनुभव हो।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सच्ची उपासना

१५७. वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः। कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते॥ ३॥

हे इन्द्र! **त्वा**=आपकी **जरन्ते**=स्तुति करते हैं। कौन?

१. **वयम् उ**=निश्चय से कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले (वेञ् तन्तुसन्ताने)। जो व्यक्ति "कुर्वन्नेवेह कर्माणि.........एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति" (यजुः० ४०।२) कर्मों को करते हुए ही जीने की इच्छा करते हैं।

२. **तत् इत् अर्थाः**=(तत् इत् अर्थो येषाम्)=सर्वव्यापक प्रभु ही जिनका लक्ष्य है (तनु विस्तारे)। प्रभु निःसीम हैं, उनकी हित-साधन की प्रक्रिया सीमित नहीं है। इसी प्रकार जो

व्यक्ति मनोवृत्ति को व्यापक बना, संकुचितता को समाप्त कर देते हैं, वे विस्तृत बनते हुए प्रभु की सच्ची उपासना कर रहे होते हैं। प्रभु ब्राह्मण व चाण्डाल गृह में एक समान सूर्य-किरणों को पहुँचाते हैं। हम भी व्यवहार में संकुचित न हों।

३. **इन्द्र**=वे प्रभु इन्द्र हैं। शक्ति के सब कार्यों को करनेवाले हैं, अतः हम भी इन्द्र बनें। शक्तिशाली कार्यों के करनेवाले हों। इन्द्र ने असुरों का संहार किया, हम भी काम, क्रोध, लोभ, मोहादि आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाले बनें।

४. **त्वायन्तः**=तेरी ही कामनावाले हों, धनकामी न हों। जिसके जीवन का लक्ष्य धन जुटाना हो जाता है, वह प्रभु का उपासक नहीं बन सकता।

५. **सखायः**=जो तेरे सखा हैं—समान ख्यानवाले हैं। जैसे आप सर्वज्ञ हैं, इसी प्रकार जो सर्वज्ञ-कल्प बनने का प्रयत्न करते हैं, वे आपके सच्चे उपासक हैं।

६. **कण्वाः**=मेधावी लोग जो कण-कण करके विद्या का ग्रहण करते हैं, वे **उक्थेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा **जरन्ते**=आपकी स्तुति करते हैं।

एवं, स्पष्ट है कि प्रभु की सच्ची भक्ति १. निरन्तर कर्म करने, २. हृदय को विशाल बनाने, ३. आसुर वृत्तियों का संहार करने, ४. धन को ही जीवन का उद्देश्य न बना लेने तथा ५. प्रभु के समान सर्वज्ञ-कल्प बनने का प्रयत्न करने में है। इन पाँचों बातों में भी अन्तिम बात के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए कहा गया है कि कण्व=मेधावी ही तेरी स्तुति करते हैं।

इस मन्त्र के ऋषि मेधातिथि=निरन्तर मेधा की ओर चलनेवाला=मेधाम् अतति तथा प्रियमेध (प्यारी है मेधा जिसको) हैं। इन ऋषियों के नामों से भी स्पष्ट है कि सर्वोत्तम भक्ति ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहने में ही है। इनमें मेधातिथि काण्व—कण-कण करके मेधा के सञ्चय में लगा है। प्रियमेध विषयों में अरुचि के कारण शक्तिसम्पन्न होकर सचमुच आङ्गिरस है।

भावार्थ—हम प्रभु के सर्वोत्तम ज्ञानीभक्त बनने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सच्ची भक्ति में ही सच्चा आनन्द है

१५८. इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः। अर्कमर्चन्तु कारवः॥ ४॥

गत मन्त्र में जिस मार्ग पर चलने के लिए कहा गया है यह प्रेय=pleasant=आनन्दप्रद प्रतीत नहीं होता, कुछ नीरस-सा लगता है, परन्तु क्या यही वास्तविकता है? मन्त्र कहता है कि नहीं! **नः**=हमारी **गिरः**=वाणी **सुतम्**=भक्ति-भावना से उत्पादित (स्वनिर्मित) स्तुतिवाक्यों को **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **परिष्टोभन्तु**=प्रशंसा के रूप में उच्चारें, जो प्रभु **'मद्वने'**=हमारे लिए हर्ष को जीतनेवाले हैं अथवा हमारे लिए हर्ष का संविभाग करनेवाले हैं। वस्तुतः आनन्द की प्राप्ति प्रकृति की ओर न जाकर प्रभु की ओर जाने में ही है।

अकर्मण्य व्यक्ति कभी प्रभु का उपासक नहीं होता। मन्त्र स्पष्ट शब्दों में कहता है कि **अर्कम्**=उस उपासनीय प्रभु को **कारवः**=क्रियाशील लोग ही **अर्चन्तु**=पूजते हैं। 'कारु' शब्द सामान्य क्रियाशील व्यक्ति का वाचक नहीं है, यह 'शिल्पकारक', कलापूर्ण क्रियावाले का वाचक है। कुशलता से कर्म करनेवाला ही प्रभु का सच्चा उपासक है।

मन्त्र १५७ में सच्चे उपासक का प्रथम लक्षण यह दिया गया था कि वह कर्मतन्तु का सन्तान (विस्तार) करता है, उसे विच्छिन्न नहीं होने देता। यहाँ कहा गया है कि प्रभु की अर्चना करनेवाला उन कर्मों को कुशलता से करता है। एवं, दोनों का समन्वय करके हम कह सकते हैं कि 'निरन्तर कुशलता से कर्म करनेवाला ही प्रभु का सच्चा भक्त है'। ऐसे कर्म सत्यज्ञान का ही परिणाम होते हैं। वस्तुत: कर्म से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान कर्मों को पवित्र कर डालता है।

इस पवित्र ज्ञान को अपना शरण बनानेवाला 'श्रुत-कक्ष' इस मन्त्र का ऋषि है। इनसे बढ़कर उत्तम शरणवाला कौन होगा? यह 'सु-कक्ष' है। पवित्र जीवन के कारण यह शक्तिसम्पन्न 'आङ्गिरस' तो है ही।

भावार्थ—हम निरन्तर कुशल कर्मों के द्वारा प्रभु की वास्तविक आराधना करनेवाले बनें और परिणामत: उत्कृष्ट आनन्द का लाभ करें।

ऋषि:—इरिम्बिठि: **काण्व**:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—षड्ज:॥

उन्नत होता हुआ भी विनीत

१५९. अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि। एहीमस्य द्रवा पिब॥ ५॥

इस मन्त्र का ऋषि 'इरिम्बिठि काण्व' है। क्रतुमय है हृदय जिसका, कर्म-संकल्प से भरे हुए हृदयवाला यह इरिम्बिठि काण्व=कण्वपुत्र अत्यन्त मेधावी तो है ही। कर्म-संकल्प से रहित व्यक्ति कभी उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। यह क्रियाशीलता ही इस इरिम्बिठि की उन्नति का कारण बनती है। क्रमश: उन्नति-पथ पर बढ़ता हुआ यह समय आने पर उन्नति-शिखर पर आरूढ़ होता है। इस उन्नति-शिखर पर पहुँचकर भी यदि यह सोम=विनीत बना रहता है तो यह कह सकता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अयं सोम:**=उन्नति होने पर भी विनीत बना हुआ यह मैं **ते**=तेरा ही हूँ। वस्तुत: जो व्यक्ति उन्नत होने पर गर्ववाला हो जाता है, वह अपने को ईश्वर (ईश्वरोऽ हम्) मानने लगता है, वह ईश्वर का भक्त नहीं रहता। यह गर्व ही अन्त में उसके पतन का कारण बनता है।

यह इरिम्बिठि प्रभु से कहता है कि **निपूत:**=मैंने अपने को नितरां पवित्र किया है, वस्त्रों व बाह्य शरीर के दृष्टिकोण से नहीं, अपितु **अधिबर्हिषि**=हृदय के दृष्टिकोण से। मैंने अपने हृदय से काम, क्रोध, लोभ आदि वासनाओं को दूर किया है और इस प्रकार अपने हृदय को निर्मल बनाया है, क्योंकि इसमें से वासनारूपी घास को उखाड़ दिया है, अत: यह सचमुच 'बर्हि:' कहलाने योग्य हुआ है। इस प्रकार पवित्र बनकर मैं सचमुच आपका ही हो गया हूँ।

एहि=आइए **ईम्**=निश्चय से आइए। **अस्य**=इस आपके भक्त के प्रति **द्रव**=अनुकम्पित हृदयवाले होओ और **पिब**=इसकी रक्षा कीजिए। पिब का सामान्य अर्थ पीना ही होता है, परन्तु यहाँ 'रक्षा करना' अर्थ अधिक सङ्गत है।

भावार्थ—हम विनीत व पवित्रहृदय बनें, जिससे प्रभु-रक्षा के पात्र हों।

ऋषि:—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्र**:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—षड्ज:॥

मैं उस ग्वाले की उत्तम गौ बनूँ

१६०. सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि॥ ६॥

पवित्र मधुर इच्छाओंवाला 'मधुच्छन्दाः'=सभी के प्रति अत्यन्त स्नेह की भावनावाला 'वैश्वामित्रः' इस मन्त्र का ऋषि है। यह कहता है कि हे प्रभो! **ऊतये**=अपनी रक्षा के लिए **द्यविद्यवि**=प्रतिदिन **जुहूमसि**=हम आपको पुकारते हैं। आप **सुरूपकृत्नुम्**=उत्तम रूपों के निर्माता हैं। आपके स्मरण व आराधना से शरीर नीरोग, मन विशाल और बुद्धि तीव्र होती है। शरीर, मन व बुद्धि तीनों ही सुरूप हो जाते हैं। इन सुरूप अङ्ग-प्रत्यङ्गों को प्राप्त करके हम **गोदुहे**=ग्वाले के रूपवाले आपके लिए **सुदुघाम् इव**=उत्तम दूही जानेवाली गौ के समान हो जाते हैं।

हम अपने मानव-जीवन की रक्षा इसी प्रकार कर सकते हैं कि शरीर, मन व बुद्धि को सुन्दर बनाएँ, परन्तु इन्हें सुन्दर बनाना प्रभु-कृपा से ही सम्भव है। इन्हें सुन्दर बनाकर मनुष्य सुदुघा गौ के समान बन जाता है, जिस गौ का ग्वाला प्रभु ही होता है।

वेद में 'गौ' मानव-जीवन के साथ जोड़-सी दी गयी है। वह हमारी माता बन गयी है। हमारी शारीरिक नीरोगता, मानस विशालता व बुद्धि-सूक्ष्मता का निर्माण करनेवाली यह गौ ही है। इस गौ के दुग्ध से प्रभु ने हमारे शरीर, मन व बुद्धि को सुन्दर बनाने की व्यवस्था की है। 'करनेवाले प्रभु ही हैं, मैं कौन?' इस भावना को जाग्रत् करनेवाला ही सुदुघा गौ के समान बना रहता है।

भावार्थ—प्रभु गोपाल हैं, हम उनकी उत्तम गौएँ बनें।

ऋषिः—**त्रिशोकः काण्वः**।। देवता—इन्द्रः।। छन्दः—**गायत्री**।। स्वरः—षड्जः।।

प्रभु की आज्ञा में

१६१. अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये। तृम्पा व्यश्नुही मदम्॥ ७॥

इस मन्त्र का ऋषि 'त्रिशोक काण्व' है। इसका मस्तिष्क, मन व शरीर (त्रि) तीनों ही (शोक) दीप्त हैं (शुच् दीप्तौ)। इसने अपने जीवन को इस प्रकार चलाया है कि यह शारीरिक, मानस व बौद्धिक सभी प्रकार की उन्नतियाँ करने में समर्थ हुआ है। यह बुद्धिमत्ता से अपने जीवन को चलाने के कारण 'काण्व' है। यह प्रभु को अपना पूर्ण हितचिन्तक व हितसाधक मानता हुआ कहता है कि **वृषभ**=हे सब सुखों के वर्षक प्रभो! **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **त्वा अभि**=तेरी ओर देखकर ही मैं सब कार्य करता हूँ। 'प्रभु ने किन-किन कार्यों के लिए स्वीकृति दी है, इस विषय का विचार करने पर यह स्पष्ट है कि प्रभु का प्रथम आदेश ज्ञान-प्राप्ति के लिए है। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान ही दिया और मनुष्य का नाम भी 'ज्ञान-प्राप्त करनेवाला' ही रक्खा, अतः यह काण्व कहता है कि **पीतये**=मैं अपनी रक्षा के लिए **सुतम्**=ज्ञान को **सृजामि**=अपने में उत्पन्न करता हूँ। ज्ञान का नाम 'सुतम्' इसलिए है कि इसे विद्यार्थी को आचार्य से इसी प्रकार निकालना होता है जैसे हम गन्ने से रस प्राप्त करते हैं। आचार्य से इसे निकालने के उपाय **'प्रणिपातेन सेवया'** नम्रता व सेवा है। काण्व प्रभु के निर्देशानुसार सर्वप्रथम ज्ञान का सवन करता है। ज्ञान से उसका मस्तिष्क जगमगा जाता है।

यह काण्व अपने को प्रेरणा देता हुआ कहता है कि **तृम्प**=हे मेरे मन! तू सदा तृप्त रह। 'मन को सन्तुष्ट रखना' यही प्रभु की दूसरी आज्ञा है। इसी को सन्तोष कहते हैं कि 'प्रयत्न में कमी न रखना, फल के लिए ललचाना नहीं'। यही आस्तिकता है, प्रभु से की जा रही

व्यवस्था में कभी असन्तुष्ट न होना। इसका परिणाम यह होता है कि मन लोभादि आसुर वृत्तियों से रहित होकर निर्मल हो जाता है और चमक उठता है।

प्रभु के तीसरे निर्देश के अनुसार काण्व की आत्मप्रेरणा यह है कि **व्यश्नुही मदम्**=(मद= semen virile) तू अपनी वीर्य-शक्ति को शरीर में ही व्याप्त कर। इसे नष्ट न होने दे।

एवं, शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों को श्री-सम्पन्न बनाकर यह सचमुच 'त्रिशोक' बन जाता है।

भावार्थ--ज्ञानप्राप्ति के द्वारा मस्तिष्क को, सन्तोष की वृत्ति से मन को, और वीर्य को शरीर में व्याप्त कर हम शरीर को श्री-सम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः-कुसीदी काण्वः॥ देवता-इन्द्रः॥ छन्दः-गायत्री॥ स्वरः-षड्जः॥

तू ईश ही बन जाएगा.

१६२. य इन्द्र चमसेष्वा सोमश्चमूषु ते सुतः। पिबेदस्य त्वमीशिषे॥ ८॥

इस मन्त्र का ऋषि 'कुसीदी काण्व' है। 'कुस संश्लेषणे' धातु से यह शब्द बना है। जो प्रभु से संश्लिष्ट होना चाहता है, प्रभु से मिलने की प्रबल इच्छा रखता है, वह कुसीदी है। प्रभु की ओर जाने के मार्ग को अपनाना ही बुद्धिमत्ता है, अतः यह काण्व=मेधावी तो है ही। इस मार्ग पर चलने से ही वास्तविक शान्ति उपलभ्य है। इन्द्रियों को वश में रखनेवाला 'इन्द्र' ही इस मार्ग पर चल सकता है। इस इन्द्र से प्रभु कहते हैं कि-हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के वशकर्तः! **यः सोमः**=जो यह सोम (वीर्यशक्ति) **सुतः**=उत्पन्न किया गया है वह **ते**=तेरे **चमसेषु**=चमसों के निमित्त तथा **चमूषु**=चमुओं के निमित्त ही उत्पन्न किया गया है।

'चमस' शब्द का अभिप्राय **'तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तदासत ऋषयः सप्त साकम्।'** इस मन्त्र में स्पष्ट कर दिया गया है। यहाँ चमस का अभिप्राय मस्तिष्क से है और इसके तीर पर स्थित सात ऋषि **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'** ये इन्द्रियाँ ही हैं। इन इन्द्रियों के बहुत्व के दृष्टिकोण से ही 'चमसेषु' शब्द में बहुवचन का प्रयोग है। इन ज्ञानेन्द्रियों के निमित्त वीर्यशक्ति का उत्पादन हुआ है। इन्हें सबल बनाने के लिए ही इस वीर्यशक्ति का विनियोग होना चाहिए।

इसी प्रकार यह शक्ति चमुओं के निमित्त उत्पन्न की गयी है। 'चमू' शब्द का अर्थ यास्क 'द्यावापृथिव्यौ' द्युलोक और पृथिवीलोक करते हैं। अध्यात्म में इनका अभिप्राय मस्तिष्क व स्थूल-शरीर है। वीर्यशक्ति दोनों को सबल बनानेवाली है।

एवं, यह स्पष्ट है कि यह सोम शरीर को नीरोग, इन्द्रियों को शक्तिशाली व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाने के लिए प्रभु से उत्पन्न किया गया है। यदि हम इसका ठीक उपयोग करेंगे तो हम अपने शरीर, इन्द्रियों व मस्तिष्क तीनों को ही ऐश्वर्यसम्पन्न बना पाएँगे। प्रभु कहते हैं कि तू **अस्य पिब इत्**=इस सोम का ही पान कर। इसे अपने शरीर में ही सुरक्षित करने के लिए प्रयत्नशील हो। यदि हम इस सोम का पान करेंगे तो प्रभु कहते हैं कि **त्वम् ईशिषे**=तू भी ईश हो जाएगा। तेरा भी सामर्थ्य ईश्वर-तुल्य हो जाएगा। वेदान्त के शब्दों में जगत् को बनाने के व्यापार को छोड़कर इसका ऐश्वर्य भी प्रभु-जैसा हो जाता है, तो क्या इतना ऊँचा उठा देनेवाली शक्ति का अपव्यय कहीं न्याय्य हो सकता है?

भावार्थ—प्रभुकृपा से सोम का रक्षण करते हुए हम स्वस्थ, निर्मल व दीप्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शुनःशेप आजीगर्ति (वासना-विनाश)

१६३. योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये॥ ९॥

जिस व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य बहुत ऊँचा आध्यात्मिक उत्थान नहीं है, अपितु जो सामान्यतः शुनः=सुख के शेप=निर्माण में ही लगा है और परिणामतः समय-समय पर गर्त की ओर अज=गतिवाला होता है, यह शुनःशेप आजीगर्ति भी अपने अनुभवों से अपने मार्ग को ग़लत समझकर कहता है कि—**सखायः**=हे मित्रो! **इन्द्रम्**=उस शत्रुओं को दूर भगानेवाले प्रभु को ही **हवामहे**=पुकारते हैं जोकि **योगेयोगे तवस्तरम्**=जब-जब उसके साथ सम्पर्क होता है उस-उस समय पर शक्ति को बढ़ानेवाला है (तवः=बल, तृ=बढ़ाना)। चाहे कोई व्यक्ति कितने भी अपवित्र मार्ग पर जा रहा हो, उसे अपने जीवन में, दुःख के समय ही सही, प्रभु का ध्यान आने पर शक्ति प्राप्त होती प्रतीत होती है। इस समय वह कल्पना तो कर ही सकता है कि सदा प्रभु के सम्पर्क में रहने पर वह कितना शक्तिशाली हो जाएगा।

भोगमार्ग पर चलनेवाला बार-बार असफल होने पर अन्त में प्रभु से कहता है कि **वाजेवाजे**=प्रत्येक संग्राम में—वासनाओं के साथ होनेवाले संघर्ष में हम प्रभु को ही पुकारते हैं। आप प्रभु ही इन वासनाओं का विनाश करेंगे और **ऊतये**=हमारी रक्षा के लिए होंगे।

'वासना-विजय का मुख्य साधन प्रभु-स्मरण ही है' यह बात तो मन्त्र से स्पष्ट ही है, साथ ही 'सखायः' शब्द यह भी संकेत कर रहा है कि वासना के विजिगीषुओं को चाहिए कि वे सखा बनें—ज्ञानमूलक मैत्री बढ़ाएँ (सखा=समान ख्यानवाले), परस्पर मिलकर ज्ञान की चर्चा करें। 'प्रभु-स्मरण और ज्ञान का वातावरण' ये दोनों बातें मिलकर वासनाओं को विनष्ट कर देंगी।

भावार्थ—जब हमपर वासनाओं का आक्रमण हो तब हम प्रभु-स्मरण करें। यह प्रभु-स्मरण वासनाओं को विनष्ट कर देगा।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सामुदायिक उपासना (Congregational Prayers)

१६४. आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत। सखायः स्तोमवाहसः॥ १०॥

इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दाः=मधुर इच्छाओंवाला वैश्वामित्रः=सभी के साथ स्नेह करनेवाला है। यह वासनाओं से आक्रान्त प्राणियों को दुःखमग्न होते देख, करुणान्वित होकर कहता है कि **सखायः**=हे मित्रो! **आ तु एत**=निश्चय से आओ, चारों ओर से यहाँ पहुँचो, जहाँ-जहाँ भी कोई कार्य में लगा है, वह इस सन्ध्याकाल में कार्य को समाप्त करके यहाँ आये। **निषीदत**=हे मित्रो! यहाँ बैठो और **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **अभिप्रगायत**=गायन करो। यह प्रभु-गायन ही तुम्हें इस वासना-संग्राम में विजयी बनाएगा। हे मित्रो! इसी से तुम सदा **स्तोमवाहसः**=स्तुतिसमूहों के धारण करनेवाले बनो। यह स्तुति सदा तुम्हारी रक्षा करेगी।

इस मन्त्र के अर्थ व ऋषि से यह बात सुव्यक्त है कि किसी का भी हित चाहनेवाला व्यक्ति उसे प्रभु-चिन्तन व ध्यान के लिए प्रेरित करेगा। वास्तव में यही कल्याण का मार्ग है। साथ ही इस मन्त्र में सामुदायिक प्रार्थना के महत्त्व का संकेत भी स्पष्ट उपलभ्य है। समुदाय में सब परस्पर एक-दूसरे को साहस बँधाते हुए आगे ले-चलनेवाले होते हैं। प्रत्येक घर में सब गृह-सभ्य एकत्र होकर ध्यान करते हैं तो वह गृह पवित्र बनता जाता है। समुदाय में कुछ लोक-लज्जा का अंश भी वासनाओं के मार्ग पर जाने में प्रतिबन्धक होता है।

भावार्थ—हम सदा एक होकर प्रभु का गायन करें और वासनाओं को दूर भगाने का सतत प्रयत्न करें।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—विश्वामित्रो गाथिनः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोम का पान

१६५. इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते। पिबा त्वा३स्य गिर्वणः॥ १॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि—हे **राधानाम्**=सिद्धियों के, सफलताओं के **पते**=रक्षक! **इदम्**=यह सोम **हि**=निश्चय से **ओजसा**=ओज के हेतु से **अनुसुतम्**=रस, रुधिर आदि क्रम से पैदा किया गया है। ओज धातु का अर्थ वृद्धि है। ओजस् वह शक्ति है जो वृद्धि का हेतु है। इस शक्ति से जीव को इस संसार में विविध कार्यों में सफलता पानी है। यह शक्ति ही उसे 'राधानां पतिः' बनाएगी। जीवन-यात्रा को भी वह इसी से सफलतापूर्वक समाप्त कर पाएगा। इसीलिए प्रभु भी उस जीव से, जो प्रभु के गुणगान में लगा हुआ है, कहते हैं कि हे **गिर्वणः**=वाणियों से मेरी स्तुति करनेवाले जीव! **पिब तु अस्य**=तू इस शक्ति का पान कर। 'प्रभु-स्तुति' उत्तम कार्य न हो यह बात नहीं है, परन्तु प्रभु का ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि वाणी से मेरा गुणगान करते रहने से यह कहीं उत्तम है कि जीव शक्ति की रक्षा के लिए यत्नशील हो।

सोम के पान के लिए आवश्यक है कि उसका शरीर में ही व्यय हो। यह शरीर को वज्रतुल्य व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाएगा। प्रभु की सच्ची स्तुति ज्ञानपूर्वक कर्म करना ही है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रभु ने ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं, कर्म के लिए कर्मेन्द्रियाँ। कोरी भक्ति का मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं। ज्ञान और कर्म में तत्पर पुरुष सोम का पान कर शक्तिशाली बनता है और यह शक्तिशालिता उसे 'विश्वामित्र'=सभी के साथ स्नेह करनेवाला बनाती है। यह विश्वामित्र ही प्रभु का सच्चा भक्त है, 'गाथिन'=प्रभु के गुणों का गान करनेवाला है।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु के गुणों को ही न गिनाता रहे, अपितु ज्ञान और कर्म में लगकर सोमपान के लिए प्रयत्नशील होवे।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यदि सोमपान करेंगे तो

१६६. महाँ इन्द्रः पुरश्च नो महित्वमस्तु वज्रिणे। द्यौर्न प्रथिना शवः॥ २॥

प्रभु कहते हैं कि हे जीव! तू सोमपान करेगा तो 'राधानां पतिः'=सफलता का स्वामी

तो बनेगा ही, इसके अतिरिक्त तू १. **महान्**=बड़ा बनेगा, पूजनीय होगा। वस्तुत: सफलता ही उसके आदर का कारण बनती है। 'Nothing succeeds like success'=सफलता ही सबसे बड़ी विजय है। सोमपान करनेवाला महान्-से-महान् कार्य में सफल होता है और आदर पाता है। २. **इन्द्रः**=तू इन्द्र होगा। सोम का पान करनेवाला इन्द्र बनता है। इन्द्र ने असुरों का संहार किया, यह भी सब आसुर वृत्तियों को समाप्त कर डालता है। ३. **नु परः च**=और अब आसुर वृत्तियों को समाप्त करके यह आत्मा नहीं 'पर-आत्मा'=परमात्मा-जैसा ही बन जाता है। इसकी शक्ति सामान्य मनुष्य की शक्ति से इतनी अधिक होती है कि यह मानव न रहकर अतिमानव हो जाता है। ४. इस **वज्रिणे**=वज्रतुल्य शरीरवाले के लिए **महित्वम् अस्तु**=लोगों में पूज्यता की भावना हो। यह व्यक्ति संसार में यश का लाभ करता है। सोमपान से इसका शरीर वज्रतुल्य हो जोता है। ५. इस सोमपान करनेवाले का **शवः**=बल **द्यौः न**=द्युलोक के समान **प्रथिना**=विस्तार से युक्त होता है। अथवा विस्तार में द्युलोक के समान इसका बल होता है। इसकी यह विशाल शक्ति ही उससे महान् कार्यों को करानेवाली होती है।

इसकी यह उदारता ही इसे अपवित्रता से दूर करके अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाला 'मधुच्छन्दाः' बनाती है। किसी का नाममात्र बुरा चिन्तन न करने के कारण यह 'वैश्वामित्र' कहलाता है।

भावार्थ—मनुष्य सोमपान के द्वारा आत्मा से ऊपर उठकर परमात्मा-जैसा बनने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—**कुसीदी काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अद्भुत ज्ञानधन

१६७. आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय। महाहस्ती दक्षिणेन॥ ३॥

पिछले मन्त्र में आत्मा के परमात्मा-तुल्य बनने का उल्लेख था। इस मन्त्र का ऋषि 'कुसीदी' (कुस संश्लेषणे) उस प्रभु का आलिङ्गन करनेवाला है। उस प्रभु से मेल करके उसके अनन्त आनन्द में भागी बनने में ही बुद्धिमत्ता है। इसीलिए यह कुसीदी 'काण्व'=अत्यन्त मेधावी कहलाया है। यह 'कुसीदी काण्व' प्रभु से प्रार्थना करता है—

हे **इन्द्र**=ज्ञान के परमैश्वर्यवाले प्रभो! **नः**=हमें **क्षुमन्तम्**=शब्दोंवाले, **चित्रम्**=उत्तम ज्ञान देनेवाले, **ग्राभम्**=ग्राह्य पदार्थ (possession), अर्थात् वेदज्ञान को **तु**=निश्चय से **संगृभाय**=ग्रहण कराइए। 'तु' शब्द की ठीक भावना 'पक्षव्यावृत्ति' होती है। आप हमारी प्रवृत्ति को प्रकृति की ओर जाने व आसक्त होने से रोककर उस वेद-ज्ञान की ओर झुकाइए, जो हमें उत्तम ज्ञानधन का पोषण करनेवाली बनाएगी।

आप **महा-हस्ती** हैं। महान् गति=ज्ञानवाले हैं (हन्=गति=ज्ञान)। हस्त शब्द हन् धातु से बनता है। हन् का अर्थ हिंसा के अतिरिक्त ज्ञान भी है। उस प्रभु का ज्ञान महान्, अनन्त व पूजनीय है, अत: प्रभु 'महा-हस्ती' कहलाते हैं। हे प्रभो! आप **दक्षिणेन**=हमारी दक्षता=उन्नति के हेतु से हमें भी अपना महान् ज्ञान प्राप्त कराइए। इस महनीय ज्ञान को प्राप्त करके हम भी आपके सखा बनें। आपके साथ मेल करके हम इस मन्त्र के ऋषि 'कुसीदी' बनें। अज्ञानियों से दूर रहते हुए भी आप ज्ञानियों के समीप ही हैं। हम भी आपके इस सामीप्य को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम अद्भुत, सर्वज्ञानपूर्ण वैदिक सम्पत्ति के स्वामी बनें।

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यथार्थ ज्ञान के लिए

१६८. अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे। सूनुं सत्यस्य सत्पतिम्॥ ४॥

इस मन्त्र के ऋषि 'प्रियमेध' को धारण करनेवाली बुद्धि ही प्रिय है। ज्ञान-मार्ग पर चलने के कारण विषय-प्रवण न होने से यह 'आङ्गिरस'=शक्तिशाली है।

यह अपने को ही आत्मप्रेरणा (auto-suggestion) के रूप में इस प्रकार कहता है—**यथा विदे**=जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही समझने के लिए, अर्थात् प्रत्येक वस्तु के तत्त्वज्ञान के लिए **इन्द्रम्**=उस ज्ञानरूप परमैश्वर्य के निधिभूत प्रभु की **अर्च**=उपासना कर। वे प्रभु **गोपतिम्**=सब वेदवाणियों के पति हैं, **गिरा**=तू वेदवाणियों के ज्ञान के हेतु से इन्हीं के द्वारा **अभि प्र**=उस प्रभु की ओर प्रकर्षेण चल। सदा उस प्रभु के सम्पर्क में रहने का प्रयत्न कर।

वे प्रभु **सत्यस्य सूनुम्**=हृदयस्थ रूप से सदा सत्य की प्रेरणा (सू प्रेरणे) देनेवाले हैं। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि' आदि ऋषियों को वे प्रभु हृदयस्थरूपेण वेदज्ञान दिया करते हैं। ऋषियों में प्रविष्ट उस वेदवाणी को ही समय-प्रवाह में हम भी प्राप्त करने के योग्य होते हैं। वे ऋषि श्रेष्ठ व अरिप्र=निर्दोष अन्तःकरणोंवाले थे, इसीलिए उन्होंने प्रभु के प्रकाश को देखा। हम भी सत्=श्रेष्ठ बनें और उस दिव्य प्रकाश को देखनेवाले हों। वे प्रभु **सत्पतिम्**=सयनों के पति=रक्षक हैं। हमारा कर्त्तव्य सयन बनना है, रक्षा का भार तो प्रभु पर है। प्रभु ज्ञान द्वारा हमारी रक्षा करते हैं।

भावार्थ—उस गोपति की अर्चना कर मनुष्य भी गोपति=वेदवाणियों का पति बने।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उन्नति के दो मूलमन्त्र

१६९. कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता॥ ५॥

वे प्रभु **चित्रः**=उत्तम संज्ञान देनेवाले **कया ऊती**=आनन्दमय रक्षण के हेतु से **सदावृधः**=सदा हमारा वर्धन करनेवाले **नः**=हमारे **सखा**=समान ज्ञानवाले मित्र **आभुवत्**=सब प्रकार से होते हैं और साथ ही **कया**=कुछ अद्भुत आनन्दप्रद **शचिष्ठया**=अत्यन्त शक्तिप्रद **वृता**=आवर्त्तन के द्वारा सदा हमारी वृद्धि करनेवाले होते हैं।

उन्नति दो बातों पर निर्भर करती है, प्रथम ज्ञान प्राप्त करना है। बिना ज्ञान-प्राप्ति के उन्नति सम्भव नहीं और दूसरी बात कर्त्तव्य कर्मों का नियमित आवर्तन है। वेद के शब्दों में सूर्य-चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से हम आगे बढ़ते चलें—न रुकें, न सुस्त हों। इस नियमितता से शक्ति प्राप्त होती है। उन्नति के इन दोनों रहस्यों को समझकर यदि हमारा तदनुसार अनुष्ठान होगा तो हम सब दिव्य गुणों को प्राप्त करके इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' होंगे और उत्तम इन्द्रियोंवाले होने के कारण 'गोतम' होंगे।

भावार्थ—हम ज्ञान और नियमितता को अपने जीवन का सूत्र बना लें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्ष आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दिव्यता का अवतरण

१७०. त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम्। आ च्यावयस्यूतये॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि ज्ञान को अपनी शरण बनानेवाला 'श्रुतकक्ष'- उत्तम शरणवाला 'सुकक्ष' शक्तिशाली 'आङ्गिरस' है। यह कहता है कि हे मनुष्य! जो सदा **वः**=तुम सबके **सत्रासाहम्**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला है, और जो **विश्वासु गीर्षु**=सब वेदवाणियों के अन्दर **आयतम्**=फैला हुआ है, तुम **त्यम्**=उसे **उ**=ही **ऊतये**=रक्षा के लिए **आच्यावयसि**=अपने में अवतीर्ण करो।

यह मनुष्य की शक्ति से बाहर की बात है कि वह कामादि अत्यन्त प्रबल शत्रुओं का मुक़ाबला कर सके। उनसे रक्षा के लिए आवश्यक है कि वह अपने अन्दर प्रभु को, उसकी दिव्यता को अवतरित करे। प्रभु ही इन शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं। सारे वेदों में इस प्रभु की महिमा का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन है। प्रभु की शक्ति को अपने अन्दर अवतीर्ण करना ही हमारा परम-ध्येय होना चाहिए।

भावार्थ—मैं अपने हृदय में कामारि (महादेव) की प्रतिष्ठा करूँ, जिससे काम वहाँ से भाग जाए।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मेधा की याचना

१७१. सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषम्॥ ७॥

जिस प्रभु को हृदय में प्रतिष्ठित करने का उल्लेख गत मन्त्र में हुआ है, वे प्रभु **सदसः पतिम्**=इस विशरण, गति और अवसाद-(समाप्ति)-वाले जगत् के पति हैं, **अद्भुतम्**=अभूतपूर्व हैं। न कोई उनके समान व अधिक हुआ, न है और न ही होगा। वे **इन्द्रस्य प्रियम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के साथ प्रेम करनेवाले हैं। जीव प्रभु से प्रेम करे या न करे, प्रभु तो उसका भला चाहते ही हैं। **काम्यम्**=जीव को भी चाहिए कि वह प्रभु-प्राप्ति की कामना करे। प्रभु सचमुच चाहने योग्य हैं, प्रेम करने योग्य हैं।

उस प्रभु से प्रेम करके यदि मैं उसे आराधित कर पाता हूँ तो मैं उससे **सनिं मेधाम्**=संभजनीय, उत्तम सेवनीय बुद्धि को ही **अयासिषम्**=माँगता हूँ। प्रभु से खानपान, सन्तान व रुपया-पैसा ही माँगते रहने में बुद्धिमत्ता नहीं है।

मनुष्य के लिए सर्वश्रेयस्कर वस्तु मेधा ही है। इस मेधा की याचना करनेवाला, मेधा की ओर चलनेवाला इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' है। इस बुद्धिमत्तापूर्ण चुनाव के कारण यह 'काण्व'=अत्यन्त मेधावी है।

भावार्थ—ब्रह्माण्ड के पति प्रभु से हम अन्य वस्तुओं की याचना न करके बुद्धि ही माँगें।

ऋषिः—वामदेवो गोतमः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान के ही मार्ग पर

१७२. ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरयः। उत श्रोषन्तु नो भुवः॥ ८॥

हे प्रभो! **ये**=जो **ते**=तेरे **पन्थाः**=मार्ग **दिवः अध उ**=ज्ञान पर ही आश्रित हैं **येभिः**=जिनसे आप **व्यश्वम्**=विशिष्ट अश्वोंवाले, अर्थात् पवित्र इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले पुरुष को **ऐरयः**=गति करवाते हैं, **भुवः**=विचारशील लोग (भुव् अवकल्कने=चिन्तने; भुव्+क्विप्) **नः**=हमें **उत**=भी **श्रोषन्तु**=उन मार्गों को सुनाएँ, इन मार्गों का ज्ञान दें।

संसार में एक मार्ग श्रद्धामूलक है, दूसरा ज्ञानमूलक। जिस मार्ग का आधार केवल श्रद्धा पर है वह अन्ततोगत्वा मनुष्य के लिए हितकर नहीं हो सकता। मनुष्य उसमें गोते ही खाता रहता है, भटकता ही रहता है। वह लक्ष्य-स्थान पर नहीं पहुँच पाता।

मनुष्य को ज्ञानाश्रित मार्ग पर चलना चाहिए। इसपर चलकर ही मनुष्य प्रशस्त इन्द्रियोंवाला 'व्यश्व' बनता है। ज्ञानमूलक मार्ग पर चलने से अभय, सत्त्वशुद्धि आदि उत्तम गुणों से सम्पन्न होकर यह इस मन्त्र का ऋषि 'वामदेव' बनता है। अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनने से यह गोतम कहलाता है।

मन्त्र की समाप्ति पर प्रार्थना है कि विचारशील लोग सदा हमें इस मार्ग का श्रवण कराते रहें। इन विचारशीलों के सत्सङ्ग से ही तो मनुष्य उत्तम मनवाला बनता है। विवेक का स्रोत इनके उपदेशों का श्रवण है, इसलिए उपनिषत् कहती है कि **'उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान् निबोधत'**=उठो, जागो, श्रेष्ठों के समीप पहुँचकर ज्ञान प्राप्त करो। संसार में ज्ञान के अभाव में केवल श्रद्धा या अन्धश्रद्धा ने बहुत हानि की है। ज्ञान के मार्ग पर चलना ही ठीक है। यही व्यश्व वा वामदेव बन सकने का रहस्य (secret) है।

भावार्थ—हम जीवन में ज्ञानमूलक मार्ग का अवलम्बन करें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सात्त्विक भोजन

१७३. भद्रंभद्रं न आ भरेषमूर्जं शतक्रतो। यदिन्द्र मृडयासि नः॥ ९॥

पिछले मन्त्र में ज्ञानाश्रित मार्ग के अवलम्बन का उल्लेख हुआ है। ज्ञान बुद्धि से होता है और उसकी उत्तमता सात्त्विक भोजन पर निर्भर करती है, अतः इस मन्त्र में सात्त्विक भोजन का उल्लेख है। हे **शतक्रतो**=सैकड़ों प्रज्ञानोंवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! मैं भी सौ वर्ष तक उत्तम ज्ञानवाला बना रहूँ और ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला बन सकूँ, इसके लिए आप **नः**=हमें **भद्रंभद्रम्**=अत्यन्त कल्याण व सुखकर **इषम्**=अन्न व **ऊर्जम्**=रस को, अर्थात् सात्त्विक खान-पान को **आभर**=सब ओर से प्राप्त कराइए। इस सात्त्विक भोजन पर ही बुद्धि की सात्त्विकता निर्भर है। **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'**=भोजन के शुद्ध होने पर सत्त्व, अर्थात् अन्तःकरण भी शुद्ध होता है। मन्त्र की समाप्ति पर कहते हैं कि हे इन्द्र! **यत्**=यदि आप **नः**=हमें **मृडयासि**=सुखी करना चाहते हैं तो हमें शुद्ध बुद्धि के साधनभूत उत्तम अन्न और रसों की प्राप्ति कराइए।

इस मन्त्र का ऋषि ज्ञान को धारण करनेवाला 'श्रुतकक्ष', उत्तम शरणवाला 'सुकक्ष', शक्तिशाली 'आङ्गिरस' यह समझ लेता है कि वह द्रव्य अभक्ष्य है जो बुद्धि को लुप्त करता है। बुद्धि को सात्त्विक बनानेवाले भोजनों का ही सेवन करता हुआ यह सचमुच 'श्रुतकक्ष' बनता है।

भावार्थ—सात्त्विक आहार के सेवन से मनुष्य सात्त्विक बुद्धि का सम्पादन करे।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वा आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

उत्पन्न शक्ति की रक्षा

१७४. अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः। उत स्वराजो अश्विना॥ १०॥

गत मन्त्र में सात्त्विक बुद्धि के लिए सात्त्विक आहार के सेवन का विधान है। इससे भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस भोजन से उत्पन्न शक्ति की रक्षा की जाए। यह सुरक्षित शक्ति ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनती है और बुद्धि को तीव्र करती है। इसी से इस मन्त्र का ऋषि शक्ति-रक्षा के महत्त्व को समझता हुआ अपने को शक्ति का पुञ्ज बनाकर 'बिन्दु' कहलाता है। बिन्दु का अभिप्राय शक्ति के बूँद व कण हैं। यह शक्ति के एक भी कण को नष्ट नहीं होने देता। इसी उद्देश्य से यह अपनी शक्ति को पवित्र विचारों से पवित्र ही बनाये रखता है और 'पूतदक्ष' कहलाता है। शक्ति की रक्षा से यह शक्तिशाली बनकर 'आङ्गिरस' है। यह कहता है कि सात्त्विक भोजन से **अयम्**=यह **सोमः**=वीर्यशक्ति **सुतः अस्ति**=उत्पन्न हो गयी है। अब हमें इसकी रक्षा करनी है। इसकी रक्षा का उपाय एक ही है कि इसको शरीर में ही खपा दिया जाए। वैदिक भाषा में इसे ही 'सोम का पान' कहते हैं। **अस्य पिबन्ति**=इसका पान किया करते हैं **मरुतः**=मरुत् **उत्**=और **स्वराजः**=स्वराट् तथा **अश्विना**= अश्वी लोग।

१. **मरुतः**=मरुत् शब्द प्राणों के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ उन मनुष्यों को 'मरुतः' शब्द से स्मरण किया है जो प्राणों की साधना में लगे हैं। प्राणायाम वस्तुतः शक्ति-संयम का मुख्य साधन है। यह मनुष्य को ऊर्ध्वरेतस् बनने में सहायक होता है। शक्ति की ऊर्ध्वगति होकर ही वह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनती है और बुद्धि को तीव्र करती है।

२. **स्वराजः**=अपने जीवन को बड़ा नियमित बनानेवाला। सूर्य और चन्द्रमा की भाँति यदि हमारी सब प्राकृतिक क्रियाएँ बड़ी नियमित चलती हैं तो ये शक्ति-संयम में सहायक होती हैं।

३. **अश्विना**=(न श्व अस्य अस्ति) जो कल का जप नहीं करता, अर्थात् जो सतत क्रियाशील है। वस्तुतः क्रियाशीलता वासना को अपने से दूर रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

एवं, शक्ति के संयम के तीन साधन हैं—१. प्राणों की साधना, २. दिनचर्या की नियमितता और ३. कार्य-सातत्य (समारम्भ)।

भावार्थ—मनुष्य शक्ति का संयम करके अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करे।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—इन्द्रमातरो देवजामयः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शक्ति-रक्षा के तीन उपाय

१७५. ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते। वन्वानासः सुवीर्यम्॥ १॥

इस मन्त्र की ऋषिका **इन्द्रजामयः देवमातरः** हैं—इन्द्र को जन्म देनेवाली तथा अपने अन्दर दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली। इस नाम से एक भावना सुव्यक्त है कि जिसे प्रभु

के दर्शन करने हों उसे अपने अन्दर दिव्य गुणों की वृद्धि करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। दिव्य गुणों की वृद्धि करके ही हम अपने को प्रभु-दर्शन का पात्र बनाते हैं। इन दिव्य गुणों का विकास शरीर में 'सुवीर्य' की रक्षा से सम्भव है, इस **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य को **वन्वानासः**=विजय करने के हेतु से ये (इन्द्रजामयः देवमातरः) **ईंखयन्ती**=सदा गतिशील होती हुई जीवन-यात्रा में आगे बढ़ती हैं। गतिशीलता वीर्यरक्षा का सर्वप्रथम साधन है। गतिशील होती हुई ये ऋषिकाएँ **अपस्युवः**=सदा व्यापक कर्मों को (अपस्) अपने साथ जोड़नेवाली हैं (युवः)। स्वार्थ के कर्मों में लगा रहकर भी मनुष्य वासनाओं से पूरी तरह ऊपर नहीं उठ सकता। इसके लिए कुछ ऊँचे लक्ष्य का होना भी आवश्यक है, अतः ये 'लोकसंग्रह' रूप कर्मों को अपने जीवन में सम्बद्ध करती हैं। यह जीवन का ऊँचा लक्ष्य इन्हें भोग के निचले पृष्ठ पर उतरने से बचाता है, परन्तु यह लक्ष्य बन जाना भी सुगम नहीं इसके लिए ये ऋषिकाएँ **जातम्**=सदा से प्रसिद्ध उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की **उपासते**=उपासना करती हैं। यह प्रभु-उपासना उनके जीवन में विशाल मनोवृत्ति को जन्म देती है। 'हम सभी उस प्रभु के ही पुत्र हैं—हम सब आपस में भाई-भाई हैं'—ऐसे विचार मनुष्य के मन को छोटा नहीं होने देते और उपासक को परार्थकर्म में संलग्न किये रखते हैं। ये सुकर्मों में लगे रहकर सुवीर्य का विजय करते हैं तथा इस विजय से दिव्य गुणों का आधार बनते हैं और अन्त में प्रभु-दर्शन के अधिकारी होते हैं।

भावार्थ—हम सुवीर्य का विजय करें। इसके लिए हम गतिशील हों, परार्थ के उत्तम कर्मों में अपने को लगाये रक्खें और उस प्रभु की उपासना करें।

ऋषिः—**गोधाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उन्नत व विनीत

१७६. न कि देवा इनीमसि न क्या योपयामसि। मन्त्रश्रुत्यं चरामसि॥ २॥

इस मन्त्र की ऋषिका 'गोधा' है। **गां वेदवाचं धारयति इति गोधा**=यह वेदवाणी का धारण करती है। मन्त्र की समाप्ति पर यह भावना स्पष्ट शब्दों में व्यक्त हो गयी है—**मन्त्रश्रुत्यं चरामसि**=मन्त्रों का श्रवण करते हैं, अर्थात् नियमपूर्वक वेद का अध्ययन करते हैं और उन मन्त्रों में सुनी बातों का **चरामसि**=पालन करते हैं, उस श्रवण के अनुसार अपना आचरण बनाते हैं।

यह गोधा मन्त्रश्रुत बातों का अनुष्ठान करती हुई कभी गर्व न करते हुए कहती है कि हे **देवाः**=संसार की सब प्राकृतिक शक्तियो! आदित्य, चन्द्र, अनल, द्यौः, भूमि, जल, हृदय, यम, दिन-रात और दोनों सन्ध्याकाल तथा धर्म! आप सबको साक्षी करके कहती हूँ कि मैं **नकि इनीमसि**=वेद-प्रतिपादित नियमों की पूर्ण प्रभु तो नहीं हो गयी हूँ। (इन्=to be lord or master) परन्तु **न कि आयोपयामसि**=मैंने इन्हें अपने जीवन से बिल्कुल लुप्त भी नहीं होने दिया है (योपयति=to destroy)।

मनुष्य प्रथम स्थान प्राप्त न करे तो कोई बात नहीं, परन्तु पढ़े ही नहीं, यह तो ठीक नहीं। कवि का यह कथन ठीक है कि सयनों के मार्ग पर पूर्ण आक्रमण करना सम्भव नहीं तो भी उसपर चलना तो चाहिए न?

भावार्थ—मनुष्य-जीवन भी गोधा की भाँति धार्मिक व विनीत बने।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रकाश में, दृढ़ता से

१७७. दोषो आगाद् बृहद्गाय द्युमद्गामन्नाथर्वण। स्तुहि देवं सवितारम्॥ ३॥

मन्त्रश्रुत बातों पर हम आचरण करते रहें? इसके लिए आवश्यक है कि हम सदा सावधान रहें। **भूत्यै जागरणम्**=यह वेदवचन स्पष्ट कर रहा है कि 'विभूतिमय जीवन के लिए जागना आवश्यक है।' **अभूत्यै स्वप्नम्**=सोये और विभूति से पृथक् हुए। मन्त्र में कहा है कि **दोषा उ आगात्**=अब रात्रि आ गयी। **बृहत् गाय**=प्रभु का खूब गायन करो। यह प्रभु का स्मरण हमें वासनाओं से बचाएगा। हममें वासनाओं से लड़ने की शक्ति नहीं है। प्रभु-स्मरण से हमारे हृदयों में प्रकाश होगा। उस प्रकाश में हमारा कर्त्तव्य-पथ हमें स्पष्ट दीखेगा।

मन्त्र के शब्दों में हम **द्युमत् गामन्**=प्रकाशमय मार्गवाले होंगे। इतना ही नहीं, प्रभु के सम्पर्क में प्रभु से शक्ति प्राप्त करके हम **आथर्वण**=अपने मार्ग से डाँवाँडोल न होनेवाले (न थर्वति=चरति) होंगे। इसलिए रात्रि में सोने से पूर्व प्रभु का स्मरण अवश्य करें। वेद कहता है कि उस **देवम्**=सब दिव्य गुणों के भण्डार **सवितारम्**=सबको सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाले प्रभु की **स्तुहि**=स्तुति करो।

प्रभु के दिव्य गुणों का चिन्तन ही वस्तुतः स्तोता को उन दिव्य गुणों के धारण करने की प्रेरणा देता है। अपने जीवन को उत्तम बनाने के लिए यह स्तोता सदा प्रभु का ध्यान करता है। ध्यान करने के कारण ही 'दध्यङ्' कहलाता है। यह प्रभु का ध्यान ही इसे आथर्वण=अडिग बना देता है।

भावार्थ—हम प्रभु की स्तुति करते हुए सदा प्रकाश को देखें और दृढ़ता से मार्ग का आक्रमण करें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उषा का उपदेश

१७८. एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः। स्तुषे वामश्विना बृहत्॥ ४॥

उ=निश्चय से **एषा**=अब यह **उषा**=उषाकाल है। पिछले मन्त्र में रात्रि के आने का उल्लेख है। उस रात्रिकाल के प्रारम्भ में प्रभु-गायन का विधान था। उस गायन के पश्चात् अब यह उषाकाल आता है। यह सचमुच उषा (उष दाहे) सब मालिन्य को जला डालनेवाला है। इस शान्त समय में सामान्यतः अशुभ भावनाओं का उदय नहीं होता। इस समय ने मानो सब अशुभ को जला डाला है। यह 'अपूर्व्या' है—इसमें किसी भी प्रकार के पूरण (प्रा=पूरणे) की आवश्यकता नहीं। यह समय अधिक-से-अधिक पूर्ण है, इसी से यह **अ-पूर्व्या**=न पूरण करने योग्य है। **वि उच्छति**=यह अन्धकार को विशेषरूप से दूर भगा देती है। **प्रिया दिवः**=यह प्रकाश की प्यारी है। उषाकाल होता है और अन्धकार नष्ट हो प्रकाश हो जाता है।

यह उषाकाल जीव को भी उपदेश देता प्रतीत होता है कि १. तू राग-द्वेषादि सब मलों को जला डाल (उष्), २. अपने को अधिक-से-अधिक पूर्ण बना, ३. अन्धकार को दूर भगा दे, ४. प्रकाश का प्यारा बन, सदा ज्ञान की रुचिवाला हो।

यह इतना सुन्दर उषःकाल उन्हीं के लिए हुआ करता है जिनके जीवन में सारी रात्रि प्राणापानों के द्वारा प्रभु का जप होता रहा है। रात्रि के प्रारम्भ में यदि एक व्यक्ति उस गायन की प्रक्रिया में ही निद्रा में चला गया था तो सारी रात्रि प्राणापानों के द्वारा यह जप चलता है। इस मन्त्र का ऋषि प्राणापानों को सम्बोधन करता हुआ कहता है कि **अश्विना**=हे प्राणापानो! **वाम्**=आपके इस **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत महान् कार्य की **स्तुषे**=मैं स्तुति करता हूँ। प्राणापान 'अश्विना' कहलाते हैं, क्योंकि 'न श्वः' पता नहीं ये अगले दिन हैं या नहीं तथा (अशूङ् व्याप्तौ) सदा कर्म में व्याप्त रहते हैं। रात्रि में सबके सो जाने पर भी ये स्तोता के प्रभुस्तवनरूप कार्य को चालू रखते हैं और इस प्रकार प्रभु-दर्शन में सहायक होते हैं। रात्रिभर स्तुति चलेगी तो सदा उषःकाल में हमारे लिए सु-प्रभात होगा। इस सुप्रभात में मेधावी पुरुष कण-कण करके उत्तम भावनाओं को अपने में भरता है और इस मन्त्र का ऋषि 'प्रस्कण्वः काण्वः' होता है।

भावार्थ—हम उषःकाल से बोध लेकर अपने जीवन को निर्मल, पूर्ण, अन्धकारशून्य व प्रकाशमय बनाने का निश्चय करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दध्यङ् की प्रक्षेपण क्रिया

१७९. इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः। जघान नवतीर्नव॥ ५॥

जीवात्मा के लिए 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग तब होता है जब वह इन्द्रियों का स्वामी हो, न कि दास। उषःकाल में जागकर जो अपने को निर्मल व पूर्ण बनाने में लगा है, क्या वह इन्द्र न बनेगा? यह इन्द्र **वृत्राणि**=ज्ञान को आवृत करनेवाले काम, क्रोध व लोभ को **जघान**=समाप्त करता है, इसीलिए यह इन्द्र **नवतीः**=(नव् गतौ) निरन्तर गतिशील अत्यन्त चञ्चल इन **नव**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा चार अन्तःकरणों (मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार) इन नौ को **जघान**=मारता है। 'मन को मारना' इस मुहावरे का अर्थ इसे काबू करना ही होता है। वस्तुतः इन मन आदि को मारे बिना मनुष्य के लिए जीना कठिन है। मन न मरेगा तो मनुष्य मरेगा, मन को मार लिया तो जीवन को ठीक कर लिया।

इन्द्र यह कैसे कर पाता है? **दधीचः अस्थभिः**=(दध्यङ्=ध्याता) ध्यान करनेवाले की प्रक्षेपण (असु क्षेपणे) क्रियाओं से। जो मनुष्य सदा प्रातः-सायं ध्यान का अभ्यास करता है, और सब विषयों को चित्त से परे फेंकने का प्रयत्न करता है, वह इस मन को कुछ देर के लिए निर्विषय (**ध्यानं निर्विषयं मनः**) बनाने के अभ्यास से **अप्रतिष्कुतः**=नहीं दिया जाता है आह्वान (Challenge) जिसको (अ-प्रति-कु-तः, कु शब्दे), ऐसा अद्वितीय शक्तिशाली योद्धा बन जाता है। कामादि वृत्र अब इसपर आधिपत्य नहीं जमा पाते। इसने उनके सब क़िलों को जीत लिया है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ही इनके गढ़ थे। इन सबको इस इन्द्र ने जीत लिया है। इनको इसने ऐसा कुचल दिया है कि अब ये सिर उठा ही न सकें।

इस प्रकार अपनी इन्द्रियों को पवित्र बनाकर यह 'गो-तम' कहलाया है—प्रशस्त इन्द्रियोंवाला। वस्तुतः काम, क्रोध, लोभ का विजेता सर्वमहान् त्यागी है। इसने भोगों को त्यागकर त्यागियों में अपनी गणना कराई है, इसी से यह राहू-(छोड़ना)-गण कहलाया है।

भावार्थ—दध्यङ् की प्रक्षेपणादि क्रियाओं से हम 'गोतम राहूगण' बनें।

ऋषिः—**मधुछन्दा वैश्वामित्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गतिशील बन

१८०. इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः। महाँ अभिष्टिरोजसा॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि 'मधुछन्दा वैश्वामित्र' है—उत्तम इच्छाओंवाला—सबके साथ स्नेह करनेवाला। यह ऐसा बन सके, अतः प्रभु इससे कहते हैं—**इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर अपने 'इन्द्र' नाम को चरितार्थ करनेवाले हे जीव! तू **इहि**=गतिशील बन, सदा क्रियामय जीवनवाला बन। क्रिया तेरे लिए स्वाभाविक हो जाए। इस क्रियामय जीवन के परिणामस्वरूप ही तू **अन्धसः**=सोम के—वीर्य के **मत्सि**=मद—हर्ष को प्राप्त करनेवाला बन। आध्यायनीय—सर्वथा ध्यान देने योग्य होने के कारण सोम का नाम अन्धस् है। इस सोम के शरीर में रक्षण से एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। क्रियाशीलता इस सोम की रक्षा में सहायक होती है। क्रियाशील मनुष्य पर वासनाओं का आक्रमण होता ही नहीं और उसका सोम वासनाग्नि से प्रतप्त होकर शरीर से पृथक् नहीं होता। यह मधुछन्दा मधुर, सात्त्विक भोजनों का सेवन करके शरीर में सोम का उत्पादन करता है और **विश्वेभिः सोमपर्वभिः**=सोम का शरीर में सब प्रकार से पूरण करने से **महान्**=महनीय बनता है—महत्ता को प्राप्त करता है। विश्व शब्द का अर्थ 'सब' भी है और विश्व की भावना शरीर में ही व्याप्त हो जाना—प्रविष्ट हो जाना भी है। सात्त्विक सोम वासनाग्नि से प्रतप्त नहीं होता तो शरीर में ही व्याप्त हो जाता है। पृ=धातु पूरण=भरना अर्थ की वाचक है। इस प्रकार जब सोम का शरीर में भरण होता है तब यह सोम मनुष्य को महान् बनाता है। वीर्य-रक्षा करनेवाला पुरुष ही कोई महान् कार्य कर पाता है। यह वीर्य उसे अनथक श्रम करने की शक्ति देता है।

एवं, शक्तिशाली बनकर **ओजसा**=अपने ओज से यह मधुच्छन्दा **अभिष्टिः**=बुराई पर आक्रमण करनेवाला होता है (अभिष्टः=to attack)। उत्तम कार्यों में शक्ति का विनियोग करके यह महान् बनता है। इसकी शक्ति औरों की रक्षा करनेवाली होती है।

भावार्थ—हम गतिशीलता के द्वारा शक्ति का शरीर में ही भरण करें और महान् बनें।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के ऐश्वर्य को प्राप्त कर

१८१. आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि। महान्महीभिरूतिभिः॥ ७॥

सोम की रक्षा के द्वारा जीवात्मा सचमुच 'इन्द्र' बनता है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर ही वह सोम की रक्षा कर पाता है। ज्ञान के आवरणभूत कामादि वासनाओं का संहार करके यह 'वृत्रहन्' बना है। कामादि ही वृत्र हैं—ये ज्ञान को आवृत कर देते हैं। इन्द्र इस वृत्र का विनाश करनेवाला है। इस जीव से प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्र! **वृत्रहन्**=हे वृत्रहन्! तू **तु**=निश्चय से **आ नः**=सर्वथा हमारा है। वह विलास की ओर न जाकर वीर्य-रक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील हुआ है, अतः प्रभु का तो यह है ही। यह प्रकृति की ओर नहीं झुका। इससे प्रभु कहते हैं कि **अस्माकम् अर्धम्**=हमारे ऐश्वर्य को **आगहि**=तू सर्वथा प्राप्त हो। 'ऋधु वृद्धौ' धातु से बनकर 'अर्ध' शब्द ऋद्धि, समृद्धि व ऐश्वर्य का वाचक है।

जो व्यक्ति अपने को प्राकृतिक भोगों के प्रति नहीं दे डालता, वह दिव्य ऐश्वर्य को तो

प्राप्त करता ही है–उसके अन्दर दिव्यता (Divinity) का अवतरण होता है। इस दिव्यता के अवतरण से ही वह 'वामदेव'=उत्तम दिव्य गुणोंवाला कहलाता है और प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होने से वह 'गोतम' होता है।

इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव गोतम' से प्रभु कहते हैं कि **महीभिः ऊतिभिः**=महनीय रक्षणों के द्वारा ही तू **महान्=बड़ा** बना है। जब जीव प्रलोभनों से प्रलुब्ध न होकर वासनाओं को विनष्ट कर डालता है, तभी वह महान् बनता है, तभी वह प्रभु का होता है और प्रभु के ऐश्वर्यांश को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ–हम इन्द्र बनें–जितेन्द्रिय हों और वासनाओं के आक्रमण से अपनी रक्षा कर महान् बनें।

ऋषिः–वत्सः काण्वः॥ देवता–इन्द्रः॥ छन्दः–गायत्री॥ स्वरः–षड्जः॥

कब चमकता है?

१८२. ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत् समवर्तयत्। इन्द्रश्चर्मेव रोदसी॥ ८॥

यत्=जब **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय जीव **चर्म इव**=चमड़े की भाँति **उभे रोदसी**=द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों को **समवर्तयत्**=ओढ़ लेता है (संवर्त=to wrap up) **तत्**=तभी **अस्य**=इसकी **ओजः**=(ओज=Vigour, Vitality, Virility, Splendour) ज्योति **तित्विषे**=चमकती है।

किसी भी वस्तु का ओढ़ना रक्षा के उद्देश्य से होता है। वस्त्रों में से वर्षा का पानी सुगमता से अन्दर प्रविष्ट होकर हमें गीला कर सकता है, परन्तु चर्म का आवरण ऐसा नहीं। यहाँ भी ओढ़ने योग्य दोनों वस्तुएँ चर्म की भाँति ही हमें सुरक्षित रखनेवाली हैं।

रोदसी का अर्थ 'द्यावापृथिव्यौ' है, परन्तु अध्यात्म में वे बुद्धि व शरीर के वाचक होते हैं। शरीर तो पार्थिव है ही, 'मूर्ध्नो द्यौः', यह पुरुषसूक्त का वचन मस्तिष्क व द्युलोक के सम्बन्ध की सूचना दे रहा है।

इन बुद्धि व शरीर के ओढ़ने का अभिप्राय इन्हें ही अपना रक्षक बनाने से है। मनुष्य शरीर को सदा स्वस्थ रखने का ध्यान करे और बुद्धि को सात्त्विक व तीव्र बनाने का सतत उद्योग करे तो वह इन दोनों को अपना रक्षक बनाता है। रक्षा किया हुआ स्वास्थ्य व ज्ञान मनुष्य की रक्षा करता है–जो इनका हनन करता है, वह इनके हनन से अपना ही हनन कर रहा होता है।

केवल शारीरिक उन्नति व स्वास्थ्य ही मानव का उद्देश्य नहीं। हम स्वस्थ रहकर ओक वृक्ष की भाँति बड़े लम्बे-चौड़े होकर तीन सौ वर्ष भी जी लिये तो यह मानव-जीवन की सफलता नहीं है। इसके विपरीत हमने केवल ज्ञान-प्राप्ति की ओर ध्यान दिया और हम एक अद्भुत बुद्ध-दैत्य (Intellectual giant) बन गये तो यह भी स्वास्थ्य के अभाव में व्यर्थ-सा ही होगा। मन्त्र ने इसी भावना को 'उभे' शब्द से घोषित किया है। हमें स्वास्थ्य व बुद्धि दोनों का सम्पादन करना है। ब्रह्म और क्षत्र दोनों को श्रीसम्पन्न बनाना ही आदर्श है। अकेला पहलवान का शरीर व अकेली ऋषि की आत्मा मनुष्य को पूर्ण नहीं बनाती।

स्वास्थ्य व ज्ञान–शरीर व बुद्धि–ब्रह्म व क्षत्र–दोनों का समविकास होने पर ही मनुष्य की शोभा होती है। इन दोनों का कण-कण करके संग्रह करनेवाला 'काण्व' ही प्रभु का 'वत्स'=प्रिय होता है।

भावार्थ—ब्रह्म व क्षत्र को अपनी ढाल बनाकर हम संसार में चमकनेवाले बनें।

ऋषिः—**शुनःशेपः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मस्तिष्करूपी नौका

१८३. अयमु ते समतसि कपोतइव गर्भधिम्। वचस्तच्चिन्न ओहसे॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि 'शुनःशेप'=सुख का निर्माण करनेवाला, अनुभव से प्रकृति की ओर झुकाव को श्रेयस्कर न समझकर कहता है कि **अयम् उ ते**=यह मैं निश्चय से अब तेरा हूँ। शरीर के लिए आवश्यक प्राकृतिक भोगों को स्वीकार करके भी मैं उन भोगों में फँस नहीं गया हूँ, वे मेरे जीवन का ध्येय नहीं बन गये हैं।

मैं आपका हूँ, परिणामतः आप भी मुझे **समतसि**=प्राप्त होते हैं। जीव प्रभु का मित्र बनता है तो प्रभु जीव के मित्र होते ही हैं। मैं तेरा और तू मेरा। इस स्थिति मे मैं इस उदधि के समान गर्भ जिसमें धारण किये जाते हैं उस **गर्भधिम्**=जन्म-मरण के आवर्तोंवाले संसार-समुद्र को उस व्यक्ति की भाँति पार कर लेता हूँ जिसने कि **क-पोतः**=मस्तिष्क को अपनी नाव बनाया है। **कम्**=शिरः, **पोतः**=नौका, यह संसार-समुद्र बिना ज्ञान के क्या कभी तैरा जा सकता है? प्रलोभनरूप आवर्त इतने सुदुस्तर होते हैं कि मनुष्य उनमें डूब ही जाता है। सिवाय ज्ञान के इस संसार-समुद्र को तैरने का अन्य मार्ग नहीं है, परन्तु इस ज्ञान को भी वे प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। शुनःशेप कहता है कि हे प्रभो! आप ही **तत् वाचः**=उस ज्ञान देनेवाली वेदवाणी को **चित्**=निश्चय से **नः**=हमें **ओहसे**=प्राप्त कराते हैं (ओहः=bringing)। सृष्टि के प्रारम्भ में दी गयी इस वेदवाणी से ही हम उस सत्य ज्ञान को प्राप्त करते हैं, जो हमारे विवेक-चक्षुओं को खोलकर हमें प्रलोभनों में नहीं फँसने देता।

भावार्थ—हम ज्ञान को नाव बनाकर भवसागर को तैर जाएँ।

ऋषिः—**वातायन उलः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

परिस्थिति का प्रभाव

१८४. वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे। प्र न आयूँषि तारिषत्॥ १०॥

गत मन्त्र में ज्ञानरूप नौका से भवसागर को तैरने का उल्लेख है, परन्तु इस ज्ञान की ओर कोई विरल धीर ही प्रवृत्त होता है। इसका कारण क्या है? गर्भावस्था में तो यह जीव निश्चय कर रहा था कि 'इस बार गर्भ से निकलकर प्रभु का स्मरण करूँगा, प्रलोभनों में नहीं फसूँगा', परन्तु बाहर आते ही, संसार की हवा लगते ही उसके सारे संकल्प समाप्त हो जाते हैं, वह उन सबको भूल जाता है। बड़ा होने पर भी उसे जैसा वातावरण (atmosphere) प्राप्त होता है, वैसा ही उसका जीवन बन जाता है, अतः प्रभु से इस मन्त्र का ऋषि प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो कि **वातः आवातु**=हमारे लिए तो ऐसी हवा बहे जो **भेषजम्**=सब अहितों के लिए औषध-तुल्य हो। औषध जैसे रोग को समाप्त करती है, इसी प्रकार वह बुराइयों को दूर करनेवाली हो। **शम्भु मयोभु नो हृदे**=वह हवा हमें मानस शान्ति और शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त करानेवाली हो। परिस्थितिवश ही मनुष्य अशान्त चित्तवृत्तिवाला तथा अस्वस्थ भी बन जाया करता है। क्लबवालों के सङ्ग में पड़कर वह स्वस्थ व शान्तचित्त थोड़े ही बनेगा? अच्छी सङ्गति मिल गयी तो वह पापों में भी न फँसेगा, शान्त भी होगा और

स्वस्थ भी। इन सब बातों के द्वारा वे प्रभु **नः आयूंषि**=हमारे जीवनों को **प्रतारिषत्**=सब व्यसनों से पार कर देते हैं। प्रलोभनों को जीतकर हम अपने जीवनों को बड़ा सुन्दर बना लेते हैं।

ये सब बातें होती तभी हैं, जब हम 'वातायन'=(वातेन अयते) वातावरण के अनुसार ही चलनेवाले **उलः**=(उल=to go) उसी वातावरण में क्रिया करनेवाले बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मनुष्य को उत्तम परिस्थिति प्राप्त हो और वे गतिशील बनें।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कौन हिंसित नहीं होता?

१८५. यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा। न किः स दभ्यते जनः॥ १॥

सः जनः=वह विकासशील मनुष्य **न किः**=नहीं **दभ्यते**=हिंसित होता **यम्**=जिसकी **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **वरुणः मित्रः अर्यमा**=वरुण, मित्र और अर्यमा **रक्षन्ति**=रक्षा करते हैं।

'जनः' शब्द मनुष्य के लिए उस समय प्रयुक्त होता है, जब (जनी प्रादुर्भावे) प्रादुर्भाव व विकास का संकेत करना हो। जो मनुष्य अपना विकास करता है वह कण-कण करके अपने अन्दर उत्तमता का संग्रह करता है, अतः वह कण्व कहलाता है। यह कण्व ही मेधावी है, क्योंकि यह धैर्य और अध्यवसायपूर्वक अपने जीवन को उत्तम बनाने में लगा है। यह अपने अन्दर जिन भावनाओं को मूर्त्तरूप देने का प्रयत्न करता है, उनका संकेत निम्न शब्दों से हो रहा है—

१. **वरुणः**='वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'=वरुण अर्थात् श्रेष्ठ। श्रेष्ठ वह है जो अपने आन्तर शत्रुओं को जीतकर अपने जीवन को निर्मल बनाता है। बाह्य शत्रुओं के विजय की अपेक्षा इन आन्तर शत्रुओं को जीतना कहीं अधिक महत्त्व रखता है। इन्हें जीतकर हम त्रिभुवन को जीत लेते हैं।

२. **मित्रः**=यह (प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु व पाप से अपने को बचाता है। अथवा (मिद्=स्नेह करना) प्राणिमात्र के प्रति स्नेह की भावना को अपने अन्दर उपजाता है। श्रेष्ठ बनने के लिए द्वेष से दूर होना नितान्त आवश्यक है। यह यथासम्भव औरों को भी मृत्यु व पाप से बचाने के लिए यत्नशील होता है।

३. **अर्यमा**='अर्यमेति तमाहुः यो ददाति' इस ब्राह्मणवाक्य के अनुसार अर्यमा का अर्थ है दाता। यह देने की भावना को अपने अन्दर उपजाता है। वस्तुतः दान (दा=देना) ही मानव जीवन को शुद्ध (दा=शोधने) बनाता है तथा उसके बन्धनों को काटता है (दा=काटना)।

४. उपर्युक्त तीनों शब्दों का विशेषण मन्त्र में 'प्रचेतसः'='प्रकृष्ट ज्ञानी' दिया गया है। उन सब बातों के साथ 'उत्कृष्ट ज्ञान' होना भी आवश्यक है। वस्तुतः उत्कृष्ट ज्ञान के बिना उनका होना सम्भव भी नहीं।

इन सब बातों को जब कण्व अपने जीवन में लाता है तब वह कभी हिंसित नहीं होता, उल्लिखित दिव्य गुण उसकी रक्षा कर रहे होते हैं। वह 'कण्व घौर' बन जाता है।

भावार्थ—मनुष्य अपने जीवनों को ज्ञान, जितेन्द्रियता, निर्द्वेषता व दानशीलता से अलंकृत करने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**वत्सः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वरिवस्या=उपासना

१८६. गव्यो षु णो यथा पुराश्वयोत रथया। वरिवस्या महोनाम्॥ २॥

इस मन्त्र का ऋषि वत्स है, यह काण्व है। कण-कण करके उत्तमता का संग्रह करने के कारण यह वत्स=प्रभु का प्रिय बना है। प्रभु इस वत्स से कहते हैं कि तू **नः**=हमारी **सु वरिवस्या उ**=उत्तम प्रकार से पूजा कर ही, अर्थात् कल्याण-मार्ग यही है कि तू इस मन्त्र में प्रतिपादित प्रकार से मेरी (प्रभु की) उपासना कर—

१. **गव्या**=उत्तम गौओं की इच्छा से। 'गमयन्ति अर्थान्' इस व्युत्पत्ति से गो शब्द ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है और उससे इच्छा अर्थ में 'क्यच् प्रत्यय' आया है। तू अपनी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम बनाने का प्रयत्न कर। **यथा पुरा**=जैसे पहले सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों की ज्ञानेन्द्रियाँ निर्मल थीं, उसी प्रकार तू भी इन्हें निर्मल बना।

२. **अश्वया**='अश्नुते' व्याप्नोति=कर्म में व्याप्त होने से कर्मेन्द्रियों को अश्व कहते हैं। इन कर्मेन्द्रियों को भी तू उत्तम बनाने के लिए प्रयत्नशील हो। ज्ञानपूर्वक कर्म होने पर वे पवित्र होंगी ही।

३. **रथया**=इस शरीररूप रथ को **उत**=भी तू उत्तम बनाने की इच्छावाला हो। वीरता व भद्रता इसी में है कि हमें प्रभु से जैसा सुन्दर शरीर प्राप्त हुआ है, इसे वैसा ही लौटानेवाले बनें।

४. **महोनाम्**=तेजस्विताओं की प्राप्ति के द्वारा तू मेरी उपासना कर। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**=निर्बल मनुष्य प्रभु का उपासक नहीं है। तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु व सहस्रूप सब कोशों की शक्तियों को सिद्ध करनेवाला ही प्रभु का सच्चा उपासक है।

भावार्थ—वास्तविक उपासना तो ज्ञानेन्द्रियों व शरीररूप रथ को उत्तम बनाने की प्रबल कामना तथा तेजस्विता की उपलब्धि में ही है।

ऋषिः—**वत्सः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

स्वाध्याय का लाभ

१८७. इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम्। एनामृतस्य पिप्युषीः॥ ३॥

पिछले मन्त्र में प्रभु ने वत्स से कहा था कि तू मेरी उपासना ज्ञानसम्पादन द्वारा ही करेगा। अब वत्स प्रभु से कहता है—हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **इमा**=ये **ते**=तेरी **पृश्नयः**=प्रकाश को स्पर्श करनेवाली वेदवाणियाँ **आशिरम्**=(आ+शृ) सब प्रकार के मलों को नष्ट करनेवाली **घृतम्**=दीप्ति को **दुहते**=हममें खूब भरती हैं तथा ये वेदवाणियाँ **एनाम्**=इस गृहपत्नी को **ऋतस्य**=नियमितता के द्वारा **पिप्युषीः**=(प्यायी=वृद्धौ) वृद्धिशील बनाती हैं।

इस मन्त्र में वेदवाणियों को 'पृश्नि' कहा है। एक-एक वेदमन्त्र प्रकाश से परिपूर्ण है। अधिक-से-अधिक संक्षिप्त और अधिक-से-अधिक अर्थ से परिपूर्ण। इतना अर्थगौरव संसार के सारे साहित्य में कहीं भी उपलभ्य नहीं है। ये वेदवाणियाँ वत्स को—इनके व्यक्त उच्चारण करनेवाले को 'घृतम्' (घृ दीप्तौ) उस ज्ञान की दीप्ति से भर देती हैं, जो 'आशिर' है—सब

मलों को दूर कर देनेवाला है। स्वाध्याय ही हमारे ज्ञान को बढ़ाता हुआ हमारे मलों को क्षीण करता चलता है। ज्ञान-मलों को भस्म करनेवाली अग्नि ही तो है। यह पवित्र करने का सर्वोत्तम साधन है। स्वाध्याय का दूसरा लाभ यह है कि इससे मनुष्य के जीवन में नियमितता (ऋत) आ जाती है। वह प्रत्येक कार्य को यथासमय व यथास्थान पर करता है। यहाँ इस लाभ का वर्णन करते हुए 'एनाम्' इस स्त्रीलिङ्गी शब्द का प्रयोग हुआ है। वस्तुत: घर में गृहपत्नी की नियमितता सभी को नियमित बनानेवाली होती है। जिस घर में नियमितता होगी वह फूले-फलेगा इसमें तो सन्देह ही नहीं है।

भावार्थ—हम स्वाध्याय से निर्मल दीप्ति प्राप्त करके नियमित जीवनवाले बनें।

ऋषि:—श्रुतकक्ष:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—गायत्री॥ स्वर:—षड्ज:॥

स्वाध्याय का लाभ

१८८. अया धिया च गव्यया पुरुणामन्पुरुष्टुत। यत् सोमेसोम आभुव:॥ ४॥

स्वाध्याय करनेवाला यह वत्स ज्ञान (श्रुत) को ही अपनी शरण (कक्ष) बनाता है, अत: 'श्रुतकक्ष' नामवाला हो जाता है। यह प्रभु से कहता है कि **अया**=(अनया) इस **धिया**=बुद्धि से **च**=और **अया गव्यया**=इस ज्ञानेन्द्रियों के समूह से हे **पुरुणामन् पुरुष्टुत**=प्रभो! यह तो निश्चित ही है **यत्**=कि **सोमेसोमे**=प्रत्येक विनीत बने पुरुष में **आभुव:**=आप प्रकट हुआ करते हैं।

स्वाध्याय के दो लाभ गत मन्त्र में उल्लिखित हुए थे। स्वाध्याय का तीसरा लाभ यह है कि मनुष्य की बुद्धि व ज्ञानेन्द्रियों का सुन्दर विकास होता है। बुद्धि व ज्ञानेन्द्रियों का विकास होने पर यह संसार में एक महती शक्ति को कार्य करते हुए अनुभव करता है। यह उसी के नाम का खूब जप करता है और उसी का निरन्तर स्तवन करता है। उसका जप व स्तवन, पुरु है (पृ पालनपूरणयो:)—इसका पालन व पूरण करनेवाला है, इसे अभिमान आदि दुर्भावनाओं का शिकार होने से बचाता है और इसकी न्यूनताओं को दूर करता है।

जितना-जितना इसका जीवन पूर्ण होता जाता है उतना-उतना ही यह सोम बनता चलता है। एवं, स्वाध्याय का चौथा लाभ यह है कि मनुष्य में संसार की सञ्चालक रहस्यमयी शक्ति का चिन्तन होता है, वह उसका स्तवन व जप करता है। पाँचवाँ लाभ यह होता है कि यह उत्तरोत्तर विनीत बनता जाता है। इस सोमे-सोमे=विनीत और विनीत ही श्रुतकक्ष में **आभुव:**=प्रभु का प्रकाश होता है—यह श्रुतकक्ष प्रभु का साक्षात्कार कर पाता है। यह मानव-जीवन का चरम उत्थान है—इसी में इस जीवन की सार्थकता व सफलता है। यहाँ यह जीवन समाप्त होकर मानव को मुक्त कर देता है।

भावार्थ—स्वाध्याय से हम बुद्धि व ज्ञानेन्द्रियों का विकास करें, संसार की सञ्चालक शक्ति के नामों का जप व स्तुति करनेवाले बनें, सोम बनकर प्रभु का दर्शन करें।

***सूचना**—सोम शब्द के दोनों ही अर्थ हैं—स+उमा=ऊँचे अध्यात्म ज्ञानवाला तथा सौम्य=विनीत।*

ऋषि:—मधुच्छन्दा:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—गायत्री॥ स्वर:—षड्ज:॥

तीन मधुर अभिलाषाएँ

१८९. पावका न: सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसु:॥ ५॥

इस मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा'=मधुर इच्छाओंवाला प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारे लिए **सरस्वती**=प्रवाह से चलनेवाला ज्ञान **पावका**=पवित्र करनेवाला हो। यह ज्ञान की देवी हमारे लिए **वाजेभिः**=मनोमय, प्राणमय व अन्नमयकोशों के बलों से **वाजिनीवती**=बलों को देनेवाली, शक्तिशाली बनानेवाली हो तथा **धियावसुः**=ज्ञानरूप धन का धनी यह व्यक्ति **यज्ञं वष्टु**=यज्ञमय कर्म की कामना करे।

मधुच्छन्दा की तीन मधुर अभिलाषाएँ इस प्रकार हैं—

१. **ज्ञान मेरे जीवन को निर्मल बनाए**—वस्तुतः ज्ञान ही हमारे जीवन को पवित्र करता है। जिस प्रकार अग्नि में पड़कर सोना निखर जाता है, इसी प्रकार ज्ञानाग्नि में तपकर मानव निखरकर निर्मल हो जाता है।

२. **यह ज्ञान मुझे शक्तिशाली बनाए**—विज्ञानमयकोश का बल हमारे निचले सभी कोशों को बलयुक्त करेगा, क्योंकि सभी कोशों में चल रही क्रियाओं को उसे ही पवित्र करना है।

३. पवित्र और शक्तिशाली बनकर **मैं सदा यज्ञिय जीवनवाला बनूँ।** मेरे जीवन से कुछ-न-कुछ लोकहित का कार्य सदा चलता रहे। मैं अपने में ही रमा न रह जाऊँ, दूसरों के दुःखों में भी प्रवेश कर सकूँ।

भावार्थ—मुझे पवित्रता, शक्ति तथा यज्ञमय जीवन प्राप्त हो।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कौन भला कर सकता है?

१९०. क इमं नाहुषीष्वा इन्द्रं सोमस्य तर्पयात्। स नो वसून्या भरात्॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला। दिव्य गुणोंवाला बनने के लिए ही उसने यह तत्त्व अपनाया है कि वह वीर्यरक्षा व ब्रह्मचर्य के द्वारा आत्मिक शक्ति का विकास करे। मानव प्रजाओं को 'नाहुषी' कहते हैं, क्योंकि ये अन्य प्राणियों की अपेक्षा आपस में अधिक सम्बद्ध हैं (नह बन्धने)। सन्तान माता-पिता पर देर तक आश्रित रहती है। व्यक्ति समाज पर आश्रित है। एक राष्ट्र अन्य की अपेक्षा करता है एवं, मानव प्रजाएँ 'नाहुषी' कहलाती हैं। वामदेव कहता है कि **नाहुषीषु**=इन मानव प्रजाओं में **कः**=कौन व्यक्ति **इन्द्रम्**=इन्द्र को—आत्मा को **सोमस्य आतर्पयात्**=सोम के द्वारा पूर्ण तृप्त करता है। सोम वीर्य-शक्ति का नाम है। आत्मिक शक्ति का तर्पण इसी से होता है। वैदिक साहित्य में सोमपान से इन्द्र के शक्तिशाली बनाने का भी यही अभिप्राय है। सोमपान के बिना इन्द्र असुरों को जीत नहीं सकता। वीर्यरक्षा हमारी सब बुरी भावनाओं को समाप्त कर देती है। सोमरक्षा से आत्मिक शक्तियों का विकास होता है और **सः**=इन आत्मिक शक्तियों के विकास करनेवाला ही **नः**=हमें **वसूनि आभरात्**=कुछ उत्तम वस्तु प्राप्त करा सकता है। जिसका जीवन संयमी है, वही लोकहित के कार्यों के करने में रुचि व सामर्थ्यवाला हो पाता है। संसार के सभी बड़े-बड़े सुधारक ब्रह्मचारी हुए। जिन्होंने जितनी मात्रा में इसके महत्त्व को समझ जीवन में परिणत किया, वे उतने ही लोकहित के कार्य कर पाये।

भावार्थ—मनुष्य सोमपान के द्वारा आत्मिक शक्ति का विकास करे और लोकहित में प्रवृत्त हो।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मेरे हृदयान्तरिक्ष में

१९१. आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्। एदं बर्हिः सदो मम॥ ७॥

'इरिम्बिठि' शब्द की भावना 'क्रतुमय हृदयवाले' की है (ईर=गतौ, बिठं=हृदयान्तरिक्ष)। यह इरिम्बिठि प्रभु से प्रार्थना करता है कि **आयाहि**=आइए। **इदम्**=इस **मम**=मेरे **बर्हिः**=हृदयान्तरिक्ष में **आसदः**=विराजमान होओ। 'बर्हिः' उस हृदय का वाचक है जिसमें से वासनाओं का बहुत कुछ उद्बर्हण कर दिया गया है, अतः इरिम्बिठि प्रयत्नशील है, यह तो स्पष्ट ही है। अपने प्रयत्न के पश्चात् ही यह परमात्मा से प्रार्थना का अधिकारी बनता है। **'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'** यह उक्ति ठीक ही कह रही है कि देवों की मित्रता तो श्रम के उपरान्त ही प्राप्त होती है। इसी श्रम के विषय में प्रभु इरिम्बिठि से कहते हैं कि **ते**=तेरे लिए **हि**=निश्चय से **सुषुम**=हमने सोम के सवन की व्यवस्था की है। हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **इमं सोमं पिब**=तू इस सोम का पान कर। सोम के पान के लिए आवश्यक है उसका जीवन क्रियामय हो, अतः उसका नाम ही 'इरिम्बिठि' रख दिया है। सोमरक्षा के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है और क्रियाशीलता में सोमरक्षा सहायक होती है।

यह सुरक्षित सोम इरिम्बिठि को प्रभु के आवाहन का अधिकारी बनाता है। सोमरक्षा के लिए क्रियाशील बनने में ही काण्वता=बुद्धिमत्ता है। यह इरिम्बिठि 'काण्व' है।

इसकी प्रार्थना का प्रारम्भ 'प्रभो! आइए' इन शब्दों से होता है और समाप्ति 'मेरे हृदय में विराजिए' इन शब्दों पर है। मध्य में प्रभु ने इसे सोमरक्षा के लिए आदेश दिया है। जीव पुरुषार्थ करेगा तो परम-पुरुषार्थ मोक्ष को अवश्य प्राप्त करेगा।

भावार्थ—हम सोमपान द्वारा हृदय को प्रभु के आसीन होने योग्य बनाएँ।

ऋषिः—वारुणिः सत्यधृतिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

जीवन के तीन सिद्धान्त

१९२. महि त्रीणामवरस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः। दुराधर्षं वरुणस्य॥ ८॥

इस मन्त्र का द्रष्टा 'सत्यधृति वारुणि' है। अपने जीवन में तीन सत्यों को धारण करने के कारण यह सत्यधृति है और श्रेष्ठ जीवनवाला होने के कारण 'वारुणि' है।

यह प्रार्थना करता है कि **त्रीणाम्**=तीन का **अवः अस्तु**=रक्षण मुझे प्राप्त हो, अर्थात् निम्न तीन सिद्धान्तों को मैं अपने जीवन में सदा सुरक्षित कर पाऊँ।

प्रथम सत्य—मित्रस्य महि=मुझे मित्र का महनीय रक्षण प्राप्त हो। 'ञिमिदा स्नेहने' धातु से बनकर मित्र शब्द स्नेह का वाचक है। स्नेह का सिद्धान्त मेरे जीवन का प्रथम नियम बने। इस प्रकार मेरा जीवन 'महि'=महनीय—प्रशंसनीय हो, सयन के जीवन से माधुर्य का प्रवाह ही बहता है।

द्वितीय सत्य—अर्यम्णः द्युक्षम्=मुझे अर्यमा का रक्षण प्राप्त हो। 'अर्यमा इति तमाहुर्यो ददाति'—अर्यमा देनेवाले को कहते हैं। जीवन का सिद्धान्त देना हो। पञ्चयज्ञ मुझे देनेवाला ही तो बनाते हैं। यह दान मुझे 'द्यु-क्ष'=द्युलोक में—स्वर्ग में निवास करनेवाला बनाता है। यज्ञ

के अभाव में हमारा यह लोक भी नरक-सा हो जाता है।

तृतीय सत्य—दुराधर्षं वरुणस्य=वरुण का धर्षणशून्य रक्षण मुझे प्राप्त हो। वरुण पाशी है, संयम=बन्धनवाला है। मेरा जीवन आत्मसंयमवाला हो। संयमवाला होने पर यह धर्षणशून्य हो जाएगा। मेरे इस जीवन का कोई पराभाव न कर सकेगा।

भावार्थ—स्नेह, दान व संयम—ये तीन मेरे जीवन के सूत्र हों।

ऋषिः—वत्सः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

तेरे-जैसे का अनुगामी बनूँ

१९३. त्वावतः पुरूवसो वयमिन्द्र प्रणेतः। स्मसि स्थातर्हरीणाम्॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि 'वत्स'=प्रभु का प्यारा है अथवा ऋग्वेद के अनुसार 'वशी अश्व्यः' है—इन्द्रियरूप अश्वों को वश में करनेवाला।

यह प्रभु से कहता है—हे **परूवसो**=पालक व पूरक निवास देनेवाले! **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले! **प्रणेतः**=प्रकर्ष की ओर ले-चलनेवाले, प्रकृष्ट नेतृत्व देनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **त्वावतः**=तेरे-जैसे के **स्मसि**=हों, तेरे पीछे चलनेवाले बनें और **हरीणाम्**=इन्द्रियरूप घोड़ों के **स्थातः स्मसि**= अधिष्ठाता बनें।

प्रभु ने हमें इस शरीर में निवास दिया है, उसका दिया हुआ निवास सुपालित व पूरणवाला है। हम अज्ञान से वस्तुओं व इन्द्रियों का अवाञ्छनीय प्रयोग करके अपने जीवन को असुरक्षित व अपूर्ण बना लेते हैं। प्रभु के उपासक बनेंगे तो हम आसुर वृत्तियों से कभी आक्रान्त न होंगे तथा हमारा जीवन न्यूनताओं से रहित होगा। प्रभु वास्तव में इन्द्र=परमैश्वर्यवाले हैं। प्रभु का नेतृत्व हमें प्रकर्ष की ओर और प्रकृति का नेतृत्व सदा अपकर्ष की ओर ले-जाता है।

यद्यपि प्रभु की सर्वव्यापकता व निराकारता मुझे प्रभुदर्शन से वञ्चित कर देती है और उस साक्षात्कार के अभाव में मैं प्रभु का अनुगामी नहीं हो पाता—चकरा-सा जाता हूँ; तो भी **त्वावतः**—प्रभु-जैसों का—प्रभु-भक्तों का अनुगामी तो बन ही सकता हूँ।

प्रभु-जैसों का अनुगामी जितेन्द्रिय बनता है, अन्यथा इन्द्रियनिर्जित हो जाता है। जितेन्द्रिय प्रभु का प्यारा बनता है, अतः 'वत्स' कहलाता है और इन्द्रियों को वश में करने के कारण भी 'वशी' है, उत्तम इन्द्रियरूप घोड़ोंवाला होने के कारण 'अश्व्य' है।

भावार्थ—प्रभु-जैसों का अनुगमन करता हुआ मैं अपनी इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँ।

अथ तृतीयप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**प्रगाथः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के तीन उपदेश

१९४. उत्त्वा मन्दन्तु सोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः। अव ब्रह्मद्विषो जहि॥ १॥

प्रभु 'प्रगाथ काण्व' से कहते हैं कि यदि तुझे सचमुच प्रकृष्ट गायन करनेवाला बनना है, यदि तुझे सचमुच काण्व=मेधावी बनना है तो तू निम्न तीन बातो का ध्यान कर। मेरा सच्चा गायन व कीर्तन यही होगा कि तू मेरे इन आदेशों को अपने जीवन का अङ्ग बनाये—इसी में बुद्धिमत्ता है, यही तेरी क्रियात्मक भक्ति होगी।

पहली बात यह कि **त्वा**=तुझे **सोमः**=सोम के कण—शक्ति के बिन्दु **उत् मन्दन्तु**=उत्कृष्ट हर्ष प्राप्त करानेवाले हों। शक्ति के अभाव में मनुष्य का जीवन बड़ा हीन—(depressed)—सा बना रहता है। शक्ति के ये कण सुरक्षित होकर जीवन में एक अद्भुत मस्ती देनेवाले होते हैं। निःशक्त का जीवन निरानन्द व चिड़चिड़ा होता है।

प्रभु का दूसरा उपदेश यह है कि हे **अद्रिवः**=(अ+दृ=not to be torn away) चट्टान के समान दृढ़ (as firm as rock) जीव! तू **राधः कृणुष्व**=सिद्धि का सम्पादन कर। समय-समय पर होनेवाली असफलताएँ तुझे व्याकुल न कर दें, तेरा धैर्य स्थिर रहे और तू अध्यवसाय के द्वारा सफलता को प्राप्त करनेवाला बन।

प्रभु का तीसरा कथन यह है कि **ब्रह्मद्विषः**=ज्ञान के साथ अप्रीति की भावनाओं को तू **अवजहि**=अपने से दूर करके नष्ट कर दे। ज्ञान तेरे लिए सदा रुचिकर हो, ज्ञान का तुझे व्यसन ही लग जाए। यह व्यसन तुझे संसार में अन्य व्यसनों से बचानेवाला सिद्ध होगा।

भावार्थ—मनुष्य का जीवन सोमपान के द्वारा उत्कृष्ट मदवाला हो। वह सदा दृढ़तापूर्वक सफलता की ओर बढ़े तथा ज्ञान की रुचिवाला बने।

ऋषिः—**विश्वामित्रो गाथिनः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान+रस के साथ निरभिमानिता

१९५. गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे। इन्द्र त्वादातमिद्यशः॥ २॥

इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्रो गाथिन' है। सभी के साथ स्नेह करनेवाला, प्रभु का स्तोता—गायन करनेवाला। वस्तुतः जो प्रभु का गायन करना चाहता है, उसे सबके साथ स्नेह करनेवाला होना ही चाहिए। सबके साथ स्नेह वही कर सकता है जो सबमें 'एकत्व' का दर्शन करे। **'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजगुप्सते'**=सब प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सब प्राणियों में देखनेवाला ही घृणा से ऊपर उठ पाता है। ऊँचे ज्ञान की रक्षा के लिए प्रार्थना करता हुआ ऋषि कहता है कि

हे **गिर्वणः**=(गीर्भिः वननीयः) वेदवाणियों से सेवन करने योग्य प्रभो! आप **नः**=हमारे **सुतम्**=ज्ञान की **पाहि**=रक्षा कीजिए। ज्ञान को 'सुतम्' इसलिए कहते हैं कि जैसे किसी फल से उपकरणों द्वारा रस का सवन होता है, उसी प्रकार 'प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा' द्वारा ज्ञानियों से ज्ञान का सवन किया जाता है। यह ज्ञान ही विश्वामित्र को 'विश्व का मित्र=स्नेही' बनाता है। वही सभी को आत्मबुद्धि से (आत्मौपम्येन) देखता है। यह विश्वामित्र प्रभु से कहता है कि आप **मधोः धाराभिः**=मधु की धाराओं से **अज्यसे**=प्रकट होते हैं, अर्थात् आपका दर्शन उसी को होता है जिसके जीवन से माधुर्य की धारा का प्रवाह होता है। वास्तव में सच्चे ज्ञान का प्रकाश होता ही रस के रूप में है। अन्दर ज्ञान हो तो जीवन के व्यवहार में माधुर्य होना अनिवार्य है । प्रभु का स्वरूप भी यही है 'अन्दर ज्ञान, बाहर रस।' वे प्रभु 'विशुद्धाचित्त' हैं, **'रसो वै सः'**-(तै०) वे रस भी हैं। जीव भी ज्ञान व रसवाला बनकर प्रभु का ही छोटा रूप (ममैवांशः=After his image) बन जाता हैं और वास्तव में इस दिन ही वह प्रभु का सच्चा दर्शन कर पाता है।

इन व्यक्तियों को सामान्य जनता आश्चर्य व आदर से देखती है। इन लोगों की कीर्ति-सुरभि चारों ओर फैलने लगती है, परन्तु यह भी कितने आश्चर्य की बात है कि यह विश्वामित्र यही कहता है कि **इन्द्र**=हे सर्वैश्वर्यवाले प्रभो! **यशः**=यह यश भी तो **इत्**=सचमुच **त्वा दातम्**=तेरे द्वारा ही दिया गया है, या **त्वा दातम्**=तेरा ही यश उज्ज्वल हो रहा है, इसमें मेरा क्या? यह यश तो तेरा ही है। यह विभूति भी सब विभूतियों की भाँति आपके ही तेज का अंश है, एवं यह विश्वामित्र निराभिमान बना रहता है।

भावार्थ—मेरा जीवन ज्ञान से पूर्ण हो, मेरे व्यवहार में माधुर्य हो और मन में अभिमानशून्यता हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

हमने ही नहीं वरा? (कितना दुर्भाग्य)

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २र ३ २ २ ३ २ ३२उ ३ १ २
१९६. सदा व इन्द्रश्चर्कृषदा उपो नु स सपर्यन्। न देवो वृतः शूर इन्द्रः ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है उत्तम, दिव्य गुणोंवाला। यह अपने साथियों से अपने को ही प्रेरणा देता हुआ कहता है कि **सः इन्द्रः**=वह परमात्मा तो **वः**=आप सबको (वामदेव भी उनमें सम्मिलित है) **सपर्यन्**=आदर व प्रेम देता हुआ **सदा**=हमेशा **उप उ नु**=निश्चय से अपने समीप **आचर्कृषत्**=सर्वथा आकृष्ट कर रहा है। हम जब-जब विषय-वासनाओं में भटकते हैं, उस-उस समय वह-वह पदार्थ भी प्राप्त तो हमें प्रभु से ही होता है; परन्तु साथ ही प्रभु हमें कह रहे होते हैं कि इस ऐश्वर्य की चमक में मत फँस। 'इन्द्र' तो मैं ही हूँ, वास्तविक ऐश्वर्य तो तुझे मेरे समीप आने पर ही मिलेगा। जिस मार्ग पर तू चल पड़ा है वह प्रेय है—रमणीय है, परन्तु उसकी यह रमणीयता केवल ऊपर-ऊपर की है—अन्त में यह तुझे परिताप प्राप्त कराएगा। तू इधर आ, मेरी ओर आने में ही तेरा अन्तिम 'श्रेय' है। इधर आने पर तुझे मोक्ष व स्थायी शान्ति का लाभ होगा। इस प्रकार वे प्रभु हमें सदा भोगों को प्राप्त कराते हुए भी प्रेरणा दे रहे हैं और अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं।

परन्तु वामदेव कहते हैं कि यह कितना दुर्भाग्य है कि हमने उस **शूरः**=सब वासनाओं व कष्टों की इतिश्री कर डालनेवाले (शृ हिंसायाम्) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली **देवः**=सम्पूर्ण

दिव्य गुणों के निधान उस प्रभु को **न वृतः**=नहीं वरा। उस प्रभु को वरते तो हमें सन्तप्त करनेवाली वासनाएँ कभी की नष्ट हो गयी होतीं, हमने वास्तविक ऐश्वर्य को पाया होता और हम दैवी सम्पत्ति के स्वामी बन गये होते! कितने महान् लाभ से हम वञ्चित रह गये। क्यों न अब भी हम चेतें—प्रभु की प्रेरणा को सुनें और उसी के वरण का निश्चय करें। हम माया में न उलझ मायावी की शरण में चलें। उसी दिन हम उत्तम दिव्य गुणोंवाले बन सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु तो हमें सदा बुलाते हैं, हम ही नहीं सुनते। कितना दुर्भाग्य है? प्रभु का वरण कर हम सौभाग्यशाली बनें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मैं शिखर पर कब पहुँचूँगा?

१९७. आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः। न त्वामिन्द्राति रिच्यते॥ ४॥

इस मन्त्र के ऋषि 'श्रुतकक्ष' से, जिसने ज्ञान को ही शरण बनाने का निश्चय किया है, प्रभु कहते हैं—**त्वा इन्दवः आविशन्तु**=तुझमें सोमकण उसी प्रकार सब ओर प्रविष्ट हो जाएँ **इव**=जैसे **सिन्धवः समुद्रम्**=नदियाँ समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं। समुद्र में प्रविष्ट होकर नदियाँ अब और नीचे की ओर प्रवाहित नहीं होतीं, अपितु अब नदियों का जल सूर्य की उष्णता से वाष्पीभूत होकर ऊपर उठता है। इसी प्रकार तुझमें प्रविष्ट होकर ये सोमकण भी प्राणों की उष्णता से ऊर्ध्वगतिवाले हों और तू 'ऊर्ध्वरेतस्'=उत्तर मार्ग से जानेवाला—उत्तरायण से चलनेवाला बन। यही मोक्ष का मार्ग है और यही ज्ञानाग्नि को दीप्त करने का साधन है।

हम सोमकणों की रक्षा करेंगे तो ये रक्षित सोमकण हमारी रक्षा करेंगे, हमारी ज्ञानाग्नि दीप्त होगी और अन्त में हम मोक्षलाभ भी करेंगे। शारीरिक क्षेत्र में भी हमें इतनी शक्ति प्राप्त होगी कि हम संसार को हिलाने में समर्थ हो जाएँगे। **'हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा। कुवित् सोमस्यापामिति'**=हम कह सकेंगे कि मैंने खूब सोमपान किया है, अब तो मैं पृथिवी को भी उठाकर जहाँ कहो वहाँ रख दूँ। उस दिन मेरे अन्दर अद्भुत शक्ति होगी, परन्तु यह शक्ति क्या मुझे मदवाला कर देगी? नहीं, सोमजनित यह शक्ति मुझे और अधिक सौम्य बना देगी। तब मैं नम्रता से अपना उत्थान करता हुआ उन्नति के शिखर पर पहुँच जाऊँगा। प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्य को प्राप्त जीव! आज **त्वाम् न अतिरिच्यते**=तुझे कोई लाँघ नहीं सकता, कोई तुझसे अधिक नहीं हो सकता। तेरा जीवन सभी को लाँघ गया है—ex-cel=आगे निकल गया है, अतएव तू उत्तम (Excellent) बन गया है।

भावार्थ—मैं ब्रह्मचर्य द्वारा, सोमपान करता हुआ, शिखर पर पहुँचूँ और प्रभु के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करूँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सब प्रभु के स्तवन में लगे हैं

१९८. इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत॥ ५॥

वेद चार होते हुए भी त्रिविध मन्त्रोंवाले हैं। मन्त्र या ऋग्रूप हैं, या यजुः अथवा साम। ऋग्-मन्त्र पदार्थों के गुणों का वर्णन करते हैं। ये मन्त्र 'अर्क' शब्द से भी कहे जाते हैं।

इनमें पदार्थों के गुणों का वर्णन होता है, साथ ही ये मन्त्र पदार्थों के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए इनके निर्माता प्रभु का भी ध्यान कराते हैं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **अर्किणः**=ऋङ्मन्त्रों के ज्ञाता विद्वान् अथवा पदार्थों के गुणों के विवेचन में लगे हुए वैज्ञानिक इन **अर्केभिः**=ऋङ्मन्त्रों से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की **अनूषत**=स्तुति करते हैं। ये वैज्ञानिक प्रत्येक पदार्थ की रचना में रचयिता के कौशल को देखते हैं और उसके प्रति नतमस्तक होते हैं।

साम मन्त्रों से प्रभु का गायन करनेवाले 'गाथी' कहलाते हैं। ये **गाथिनः**=प्रभु का गायन करनेवाले **बृहत्**=(बृहता) बृहत् सामों के द्वारा **इन्द्रम् इत्**=उस प्रभु को ही **अनूषत**=स्तुत करते हैं। ये अध्यात्मविद्यावित् लोग उस प्रभु की महिमा के प्रसार को अनुभव करते हुए उस प्रभु का हृदय में स्मरण करते हैं और उनकी वाणी प्रभु की महिमा का गायन करती है।

यजुर्मन्त्र गद्यरूप में हैं, अतः उन्हें यहाँ 'वाणी' शब्द से कहा गया है। यजुर्मन्त्र मुख्यरूप से मनुष्य के कर्त्तव्यभूत यज्ञों का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु उस प्रभु के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन भी जीव का एक कर्त्तव्य है। प्रभु-स्मरण उसके अन्दर बन्धुत्व की भावना को जन्म देता है जो उसके जीवन को सभी के प्रति स्नेहमय कर देती है। एवं, ये **वाणीः**=यजुरूप वाणियाँ भी **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अनूषत**=प्रशंसित करती हैं।

एवं, ऋग्, यजुः, सामरूप सभी मन्त्रों से प्रभु की स्तुति करता हुआ इस मन्त्र का ऋषि सदा पवित्र इच्छाओंवाला बना रहता है, अतः 'मधुच्छन्दा' कहलाता है और सभी के प्रति स्नेह की भावनावाला होने के कारण 'वैश्वामित्र' होता है। यह तो एक ही बात देखता है कि क्या वैज्ञानिक, क्या अध्यात्मवेत्ता, क्या समाजशास्त्री सभी उस प्रभु के प्रति नतमस्तक हो रहे हैं।

भावार्थ—हम सदा उस प्रभु का गायन करते हुए 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्र' बनें।

टिप्पणी—*प्रकृति के नियमों का पालन न करेंगे तो स्वास्थ्य खोएँगे। जीव के नियमों का पालन न करेंगे तो शान्ति खोएँगे। प्रभु की उपासना न करेंगे तो कुछ खोएँगे नहीं, अपना मोक्ष नहीं होगा। प्रकृति दण्ड देती है, जीव दण्ड देता है। प्रभु अपनी उदारता से दण्ड नहीं देते। मोक्ष पाने का यत्न हमने स्वयं ही नहीं किया।*

ऋषिः—**श्रुतकक्ष आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु को प्राप्त करने के लिए

१९९. इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्षणमृभुं रयिम्। वाजी ददातु वाजिनम्॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि 'श्रुतकक्ष आङ्गिरस' है। ज्ञान को शरण बनानेवाला, अर्थात् खूब ज्ञानी, तथा अङ्ग-अङ्ग में रसवाला=शक्ति-सम्पन्न। वस्तुतः ज्ञान और शक्ति का विकास करनेवाला व्यक्ति ही प्रभु को पाने का अधिकारी बनता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमें **इषे** (इष गतौ)=प्रभु के ज्ञान व प्रभु की ओर जाने के लिए और अन्त में प्रभु को पाने के लिए **ऋभुक्षणम्**=महान् **ऋभुम्**=(ऋतेन भाति) सत्य से दीप्त **रयिम्**=ज्ञानरूप सम्पत्ति को **ददातु**=दे। वेदवाणी महान् है, वह सब सत्य ज्ञानों से दीप्त है। प्रभु मुझे उस वेदवाणी को प्राप्त कराएँ, जिससे मैं प्रभु को पा सकूँ।

ज्ञान के साथ शक्ति का भी उतना ही महत्त्व है। प्रभु ज्ञान के पुञ्ज हैं, 'विशुद्धाचित्' (Pure knowledge) हैं और साथ ही शक्ति के पुञ्ज हैं—'तेजोऽसि', अतः यह ऋषि

प्रार्थना करता है कि **वाजी**=शक्ति का भण्डार प्रभु **वाजिनम्**=शक्ति-सम्पन्न **रयिम्**=धन **ददातु**=दे।

'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्' इस यजुर्वाक्य के अनुसार 'श्रुतकक्ष आङ्गिरस' ज्ञान (ब्रह्म) व बल (क्षत्रम्) दोनों को शोभासम्पन्न बनाता है और चाहता है कि उसकी सम्पत्ति ज्ञान व बल के रूप में ही हो। यही सम्पत्ति उपादेय है। ज्ञान और शक्ति का सम्पादन करके ही हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। अकेला ज्ञान व अकेली शक्ति लङ्गड़े व अन्धे की भाँति हैं। दोनों का मेल ही पूर्णता को पैदा करता है। पूर्णता होने पर हम पूर्ण प्रभु के सखा बनते हैं। सखित्व के लिए समानशीलता आवश्यक है।

भावार्थ—मैं 'श्रुतकक्ष आङ्गिरस' (ज्ञानी व शक्तिसम्पन्न) बनूँ, जिससे प्रभु को पा सकूँ।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र का लक्षण

२००. इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत्। स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥ ७ ॥

इस मन्त्र का ऋषि 'गृत्समद शौनक' है। 'गृणाति इति गृत्सः, माद्यतीति मदः, शुनति इति शुनः, स एव शुनकः' इन व्युत्पत्तियों से प्रभु की स्तुति करनेवाला 'गृत्स' है, यह सदा प्रसन्न रहता है, अतः 'मद' है, क्रियाशील होने से 'शुनक' है। इससे प्रभु कहते हैं कि **अङ्ग**=हे प्रिय! **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय ही **महद्भयम्**=इस महान् भयरूप संसार का **अभीषत्**=अभिभव करता है। अभिभव ही नहीं, **अपचुच्यवत्**=संसार को अपने से पृथक् करता है। जीते जी जीवन्मुक्त हो जाने से वह संसार से दबता नहीं, अपितु संसार को दबा लेता है—पराभूत कर देता है। यह संसार उसे आसक्त नहीं कर पाता। देह छोड़ने के उपरान्त वह परामुक्ति को प्राप्त करके एक अनन्त-से काल के लिए आवागमन के चक्र से छूट जाता है। यही वस्तुतः मानव-जीवन का उद्देश्य है। इस उद्देश्य को पाने के लिए इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता—जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। यह जितेन्द्रिय ही प्रभु को प्रिय होता है। प्रभु ने मन्त्र में इसे 'अङ्ग' इस प्रकार सम्बोधित किया है। 'अङ्ग' इस सम्बोधन में क्रियाशीलता की भावना है (अगि गतौ)। अकर्मण्य व्यक्ति उस प्रभु को प्रिय हो ही कैसे सकता है, जिसका स्वभाव ही क्रिया है **'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'**। यह क्रियाशीलता उसे जितेन्द्रिय बनने में भी सहायक होती है।

सः=वह मोक्ष को पानेवाला इन्द्र **हि**=निश्चय से **स्थिरः**=स्थिर होता है—डाँवाँडोल न होकर स्थितप्रज्ञ होता है। इसकी बुद्धि वासनाओं से आन्दोलित न होकर 'अविकम्प' बनी रहती है। यह **विचर्षणिः**=विशेष दृष्टिकोण को अपनानेवाला होता है। उसे प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य के निर्माता का आभास मिलता है। विचर्षणि के अतिरिक्त यह कर्षणि=विशेष कर्म करनेवाला होता है। यह कर्म के महत्त्व को समझता है कि इस कर्म ने ही उसे जितेन्द्रिय बना देवों का प्रिय बनाया है। एवं, स्थिरता, विशेष दृष्टिकोण व कर्म—ये वे साधन हैं जो इन्द्र को इन्द्र बनाते हैं और इन्द्र बनकर वह मोक्ष व ब्रह्मनिर्वाणरूप लक्ष्य का लाभ करता है।

भावार्थ—मोक्ष ही मेरा जीवन-लक्ष्य हो, उसके लिए मैं स्थिरमति, विशेष गम्भीर दृष्टिवाला व सदा श्रमशील बनूँ।

सूचना—*इस मन्त्र में संसार को 'महद्भय' कहा है। धन-नाश, स्वास्थ्य-नाश व कीर्ति-नाश*

भी भय है। 'अयशोभयं भयेषु' कीर्तिनाश तो बहुत ही बड़ा भय है, परन्तु इससे बढ़कर भय क्या कि मुझे फिर से इस नौ मास के एकान्त कारागृह में बन्द होना पड़ेगा। गीता में इसे '**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**' इस श्लोक में महद् भय कहा गया है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**।। देवता—**इन्द्रः**।। छन्दः—**गायत्री**।। स्वरः—**षड्जः**।।

ज्ञानी भक्त

२०१. इमा उ त्वा सुतेसुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः। गावो वत्सं न धेनवः ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' है। यह अपने अन्दर शक्ति भरता है (भरत्+वाज) और ज्ञानियों का भी ज्ञानी—बृहस्पति=ब्रह्मणस्पति बनने का प्रयत्न करता है। मन्त्र में 'सुते-सुते' शब्द शक्ति व ज्ञान दोनों का ही उल्लेख करता है। शक्ति का भी रस-रुधिरादि क्रमेण सवन होता है और ज्ञान का भी विद्यार्थी आचार्य से प्रणिपात, परिप्रश्न व सेवा द्वारा सवन किया करता है। इस ज्ञान का सवन करने के कारण ही यह यहाँ गिर्वन्=वेदवाणियों का सवन करनेवाला कहलाया है। इन वेदवाणियों के सवन से इसका ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चलता है। प्रत्येक पदार्थ को यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने लगता है। प्रत्येक पदार्थ की रचना में इसे अद्भुत सौन्दर्य प्रतीत होने लगता है और यह उस सौन्दर्य के अदृश्य निर्माता के प्रति नतमस्तक हो वाणियों से उसका गायन करने लगता है।

यह 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' कहता है कि **सुते-सुते**=ज्यों-ज्यों मेरा ज्ञान बढ़ता है त्यों-त्यों मुझ **गिर्वणः**=वेदवाणियों का सवन करनेवाले की **इमाः गिरः**=ये वाणियाँ **उ**=निश्चय से **त्वा**=तुझे ही **नक्षन्ते**=प्राप्त होती हैं—तेरा ही गुणगान करती हैं। मेरी वाणियाँ तेरे प्रति उसी प्रकार प्रेम के प्रवाहवाली होती हैं **न**=जैसेकि **धेनवः गावः**=नवसूतिका गौवें **वत्सम्**=बछड़े के प्रति। नवसूतिका गौ का बछड़े के प्रति सहज प्रेम होता है, प्रभु के प्रति मेरा प्रेम भी स्वाभाविक हो उठता है। मुझे प्रभु के गायन में ही आनन्द आने लगता है। क्या सूर्य, क्या चन्द्र व क्या नक्षत्र—मुझे सभी प्रभु का गायन करते प्रतीत होते हैं। आकाश में उमड़ते मेघों में मुझे प्रभु की महिमा का स्मरण होता है। निरन्तर बहती नदियाँ मुझे प्रभु की याद दिलाती हैं। अपने शरीर में अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना मुझे प्रभु के प्रति नतमस्तक करती है और मेरी वाणी से उस प्रभु के नामों का उच्चारण होने लगता है। यह ज्ञानी भक्त ही प्रभु का अनन्य भक्त कहलाता है—यह प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के 'ज्ञानी-भक्त' बनने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**भरद्वाजः**।। देवता—**इन्द्रः**।। छन्दः—**गायत्री**।। स्वरः—**षड्जः**।।

'इन्द्रा-पूषणा' का स्मरण—भक्त की लक्षणत्रयी

२०२. इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये। हुवेम वाजसातये ॥ ९ ॥

पिछले मन्त्र में वर्णित भक्त प्रभु को सदा दो ही रूपों में स्मरण करता है। वे प्रभु 'इन्द्र हैं—परमैश्वर्यशाली हैं—ज्ञानधन से परिपूर्ण हैं। ज्ञानियों को भी ज्ञान देनेवाले होने से 'देव-सम्राट्' हैं। जहाँ सूर्यादि को प्रकाश देते हैं, वहाँ 'अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिराः' आदि ऋषियों के हृदय में भी ज्ञानसूर्य उदय होता है। प्रभु का दूसरा रूप 'पूषन्' का है, वे प्रभु ही सबका

पोषण करनेवाले हैं, अतः **वयम्**=हम सब **नु**=अब—कुछ समझदार बनने पर **इन्द्रापूषणा**=ज्ञानरूप परमैश्वर्य के कोश व शक्ति के भण्डार प्रभु को **हुवेम**=पुकारते हैं, इसलिए पुकारते हैं कि यह प्रभु-स्तुति हमारा लक्ष्य भी 'ज्ञान व शक्ति' ही बना दे। सदा ज्ञान व शक्ति की वृद्धि में लगे हुए हम **सख्याय**=उस प्रभु की मित्रता के लिए समर्थ हों। समान ख्यानवाला बनना इसलिए आवश्यक है कि ऐसा बने बिना हमारी उत्तम स्थिति व कल्याण सम्भव नहीं है, अतः **स्वस्तये**=सु अस्तये=उत्तम जीवन के लिए हम प्रभु का 'इन्द्रापूषणा' शब्दों से स्मरण करते हैं। ज्ञान व शक्ति को बढ़ाकर अपने जीवन को उत्तम बनाते हैं। प्रभु का स्मरण मुझे अन्य व्यसनों से बचाकर शक्तिशाली बनाता है, अतः **वाजसातये**=शक्तिशाली बनने के लिए (वाज=शक्ति, साति=प्राप्ति) हम 'इन्द्रापूषणा', का स्मरण करते हैं। एवं, प्रभु स्मरण के तीन लाभ हैं—१. हमारे मस्तिष्क में ज्ञान-सूर्य का उदय होकर हमें प्रभु के समान ख्याति, प्रभु का सख्य प्राप्त होता है, २. हमारा जीवन सब व्यसनों से शून्य व मन वासनाशून्य होकर हमें 'स्वस्ति'=उत्तम स्थिति प्राप्त होती है, ३. निर्व्यसनता हमारी शक्तियों को जीर्ण न होने देकर हमारे शरीरों को सबल बनाती है। हम बल-प्राप्ति के लिए समर्थ होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी भक्त का मस्तिष्क ज्ञानपूर्ण होता है, मन निर्व्यसन होकर उत्तम स्थितिवाला होता है तथा शरीर वर्चस्वी बन नीरोग होता है।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वह सर्व महान् है

२०३. न किं इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन्। न क्येवं यथा त्वम्॥ १०॥

वामदेव गोतम जितना-जितना संयमी और ज्ञानी बनता चलता है, उतना-उतना वह प्रभु का अधिक और अधिक भक्त होता जाता है। उसका अन्तिम उद्गार यही होता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वत्**=तुझसे **उत्तरम्**=उत्कृष्ट **न कि**=कुछ भी नहीं है। हे **वृत्रहन्**=सब वृत्र-वासनाओं को समाप्त करनेवाले प्रभो! तुझसे **ज्यायः**=बढ़ा हुआ **न अस्ति**=कोई नहीं है। ज्ञान की दृष्टि से आप 'इन्द्र' हैं—ज्ञान के सूर्य हैं—आपकी ज्ञान-ज्योति से ही ऋषि-मुनियों के हृदय द्योतित हुआ करते हैं। नैर्मल्य के दृष्टिकोण से आप काम को भस्म करनेवाले हैं—वासना के विनाशक हैं। आप महान् हैं—अपने न माननेवालों को भी निवास देनेवाले हैं (**अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति**)। हे प्रभो! आपसे उत्कृष्ट व अधिक बढ़े हुए की तो कथा ही क्या **एवं न कि**=ऐसा भी तो कोई नहीं **यथा त्वम्**=जैसे आप हैं। आपकी बराबरीवाला भी कोई नहीं। आप अ-द्वितीय हैं। आपकी महिमा का कोई अन्त नहीं। जितना-जितना सोचता हूँ, उतनी-उतनी आपकी उस महिमा के आनन्त्य में डूबता जाता हूँ। बस, मैं अपने को आपमें डुबाकर (निमग्न करके) आप-जैसा ही सुन्दर, दिव्य गुणोंवाला बन जाऊँ।

इस प्रकार कामना करनेवाला यह भरद्वाज 'वामदेव' बन जाता है। सुन्दर, दिव्य गुणों को अपने अन्दर उपजाता है। इसकी एक-एक इन्द्रिय निर्मल हो उठती है और यह गोतम=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला हो जाता है। यह सदा उस प्रभु का स्मरण करता है—उसे 'सर्वमहान्' के रूप में देखता है। उसका ध्यान करते-करते स्वयं भी उसका छोटा रूप बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु को 'सर्वमहान्' रूप में देखते-देखते हम भी महान् बन पाएँ।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**त्रिशोकः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु कब उत्साहित करते हैं?

२०४. तरणिं वो जनानां त्रदं वाजस्य गोमतः। समानमु प्र शंसिषम्॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि 'त्रिशोक काण्व' है—वह बुद्धिमान् जिसने अपने शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों को दीप्त किया है। यह 'त्रिशोक' कहता है कि मैं **उ**=निश्चय से **प्रशंसिषम्**=उस प्रभु की कीर्ति का गायन करता हूँ जो **वः जनानाम्**=तुम सब मनुष्यों के **तरणिम्**=तैरानेवाले हैं, अर्थात् जो प्रभु हम सबको इस वासनामय संसार-समुद्र से पार करते हैं। प्रभु के नाम-स्मरण से ही मनुष्य संसार के प्रलोभनों को जीत पाता है। विषय-वासनाओं को जीतकर मनुष्य वाजी=शक्तिशाली बनता है और इस शक्तिरूप ईंधन से ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर ज्ञान-सम्पन्न बन पाता है। वे प्रभु इस **वाजस्य**=शक्ति के पुञ्ज **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाले अथवा वेदवाणियों का उत्तम मन्थन करनेवाले व्यक्ति को **त्र-दम्**=त्राण देनेवाले हैं।

प्रभु की रक्षा का पात्र वही व्यक्ति बनता है जो मन को निर्व्यसन बनाकर शरीर को शक्तिशाली बनाता है और इस प्रकार शक्ति के संयम द्वारा सबल शरीरवाला होकर मस्तिष्क को वेदज्ञान से परिपूर्ण करता है। यही 'त्रिशोक' है—इसके मन, मस्तिष्क व शरीर तीनों ही उज्ज्वल हैं।

वे प्रभु 'समानम्' हैं—सम्=सम्यक् उत्तम प्रकार से आन (आनयति, सोत्साहान् करोति) उत्साहित करनेवाले हैं। त्रिशोक कहता है कि मैं इस **समानम्**=सदा सम्यक् उत्साहित करनेवाले प्रभु का ही गुणस्तवन करता हूँ, जिससे मेरी लक्ष्य-दृष्टि स्थिर रहे और जैसे वे प्रभु '**त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी**'=तीन ज्योतियों से समवेत हैं—कभी उनसे पृथक् नहीं होते, उसी प्रकार मैं भी शरीर की नीरोगता व सबलता से, मन के नैर्मल्य से तथा बुद्धि की तीव्रता से तीन ज्योतियों का अपने में समावेश करनेवाला बनूँ तभी तो मेरा त्रिशोक नाम सार्थक होगा।

भावार्थ—मैं त्रिशोक बनकर प्रभु के उत्साह का भाजन बनूँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मधुच्छन्दा की तीन प्रतिज्ञाएँ

२०५. असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत। सजोषा वृषभं पतिम्॥ २॥

इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा=अत्यन्त मधुर इच्छओंवाला निम्न तीन व्रत लेता है—

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ते गिरः**=तेरी वाणियों को **असृग्रम्**=सृजन-क्रिया का रूप देता हूँ, अर्थात् वेदोक्त कर्मों को करता हूँ। आपने वेद में जो-जो आदेश दिये हैं उन्हें मैं क्रिया में अनूदित करता हूँ। वेद पढ़ता हूँ, समझता हूँ, उसे क्रियान्वित करता हूँ।

२. मेरी ये सब क्रियाएँ मुझे **त्वाम् प्रति**=तेरे प्रति **उदहासत**=प्राप्त कराती हैं। मैं इन क्रियाओं को निष्कामता के साथ करता हूँ और सांसारिक फलों की कामना से ऊपर उठने के कारण वे मुझे आप तक पहुँचानेवाली होती हैं।

३. इन क्रियाओं को करते हुए मैं **वृषभम्**=सब सुखों के वर्षक **पतिम्**=पालन करनेवाले

आपको **स-जोषा**=उन क्रियाओं के साथ प्रीतिपूर्वक सेवन करता हूँ। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते मैं आपको नहीं भूलता, अर्थात् मेरी क्रियाएँ आपके स्मरण के साथ चलती हैं।

भावार्थ—मधुच्छन्दा के उपर्युक्त तीन व्रतों को सभी को स्वीकार करना चाहिए।

ऋषि:—**वत्स:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

उत्तम-मार्ग

२०६. सुनीथो घा स मर्त्यो यं मरुतो यमर्यमा। मित्रास्पान्त्यद्रुह: ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का ऋषि 'वत्स' है—जो अपने जीवन से वेदवाणी को कहता है (वदति इति), अर्थात् जिसकी जीवन-क्रियाएँ वेदानुकूल हैं, अतएव वह प्रभु का वत्स=प्रिय है।

यह वत्स कहता है कि **घ**=निश्चय से **स: मर्त्य:**=वह मनुष्य **सु-नीथ:**=उत्तम नयन (मार्ग) से चलनेवाला है १. **यम्**=जिसे **मरुत:**=प्राण **पान्ति**=रक्षित करते हैं, अर्थात् प्राणायाम द्वारा प्राणों की साधना करके जो अपने को रोगों व वासनाओं से बचाता है—वह मनुष्य सुनीथ है। २. **यम्**=जिसे **अर्यमा**=(अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) दान की भावना सुरक्षित करती है। दान की भावना से मनुष्य व्यसनों से बचकर अपने जीवन को शुद्ध बना पाता है। ३. **यम्**=जिसे **मित्रा:**=स्नेह की देवता रक्षित करती है। प्राणिमात्र के प्रति स्नेह की भावनावाला होने के कारण यह व्यक्ति राग-द्वेष से ऊपर उठता है।

'प्राणों की साधना, देने की वृत्ति और स्नेह की भावना' ये तीनों ही मनुष्य को गिरने नहीं देतीं, दूसरे शब्दों में ये तीनों मिलकर 'जीवन का मार्ग' हैं। इन वृत्तियों को अपनानेवाला व्यक्ति **अद्रुह:**=कभी हिंसित नहीं होता। हिंसित क्यों हो? यह तो प्रभु का 'वत्स'=प्यारा है।

भावार्थ—मरुत्, अर्यमा और मित्र के मार्ग पर चलकर मैं प्रभु का 'वत्स' बनूँ।

ऋषि:—**त्रिशोक:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

त्रिशोक का स्पृहणीय धन

२०७. यद्वीडाविन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम्। वसु स्पार्हं तदा भर॥ ४॥

'त्रिशोक' ऋषि वह है जिसके 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों दीप्त हैं। यह प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **यत्**=जो **वसु**=धन **वीडौ**=दृढ़ शरीरवाले पुरुष में है **यत्**=जो धन **स्थिरे**=स्थिर मनोवृत्तिवाले पुरुष के पास है, **यत्**=जो धन **पर्शाने**=विचारशील पुरुष में **पराभृतम्**=रक्खा गया है, **तत्**=वह **स्पार्हं वसु**=स्पृहनीय धन **आभर**=मुझे भी प्राप्त कराइए।

१. अश्मा व वज्रतुल्य शरीरवाले व्यक्ति में 'स्वास्थ्य' रूप धन का निवास है। यह उचित व्यायाम व भोजन के द्वारा अपने शरीर को नीरोग बना पाया है, स्वास्थ्य की कान्ति इसके चेहरे पर झलकती है।

२. स्थिर मनोवृत्तिवाले पुरुष में 'अनासक्ति' व व्यसनाभावरूप नैर्मल्य का धन है। इस निर्मलता व मन:प्रसाद ने इसके चेहरे को भी प्रसादमय कर दिया है। इसके चेहरे पर मानस शान्ति झलकती हुई उसे उज्ज्वल बनाती है।

३. विचारशील पुरुष संसार के स्वरूप का ठीक विवेचन करता हुआ उसमें उलझता नहीं। इसकी देदीप्यमान ज्ञान-ज्योति में सब मालिन्य भस्म हो जाता है। इस ज्ञान से इसका

भूतात्मा पवित्र हो उठता है और यह उज्ज्वल जीवनवाला बन जाता है।

ये ही तीन धन या दीप्तियाँ हैं जिनका सम्पादन करके साधक 'त्रिशोक' बन जाता है।

भावार्थ—हम त्रिविध धन व दीप्ति पाकर 'त्रिशोक' बनें।

ऋषिः—**सुकक्ष आङ्गिरसः**।। देवता—**इन्द्रः**।। छन्दः—**गायत्री**।। स्वरः—**षड्जः**।।

आशीर्वाद=साफल्य का महत्त्व

२०८. श्रुतं वो वृत्रहन्तमं प्र शर्धं चर्षणीनाम्। आशिषे राधसे महे॥ ५॥

मन्त्र का ऋषि 'सुकक्ष आङ्गिरस'=ज्ञानरूप उत्तम शरण स्थानवाला, वीर्यवान्, रसमय अङ्गोंवाला सुकक्ष कहता है कि १. **आशिषे**=शुभ आशीर्वादों (blessings, benedictions) के लिए २. **राधसे**=(राध्=संसिद्धि) सफलता के लिए और ३. **महे**=महत्त्व की प्राप्ति के लिए **श्रुतम्**=उस प्रभु का सदा श्रवण करो, जोकि **वः**=तुम्हारे **वृत्रहन्तमम्**=ज्ञान को आवृत करनेवाली वासनाओं का विनाश करनेवाला है और **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों का **प्रशर्धम्**=उत्कृष्ट बल है।

मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि मनुष्य के दो कर्त्तव्य हैं १. प्रभु के गुण-स्तवन को सुनना और २. सदा कर्मशील बनकर 'चर्षणि' नाम को सार्थक करना। यदि मनुष्य प्रभु के गुणों का श्रवण करता है तो प्रभु उसकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं और जब मनुष्य श्रमशील होता है तो यह श्रम उसकी शक्ति को बढ़ाता है। श्रम करनेवाले के प्रभु भी सहायक होते हैं और श्रमशीलता वासनाओं से बचने में सहायक होती है।

जब मनुष्य प्रभु का सेवक व श्रमशील बनता है तब उसे सदा शुभ आशीर्वाद प्राप्त होते हैं, वह संसार में कभी असफल नहीं होता अपितु महत्त्व प्राप्त करता है। 'प्रभु स्मरण के साथ कार्यों में लगे रहना' कारण बनता है और आशीर्वाद, साफल्य व महत्त्व उसके कार्य होते हैं।

भावार्थ—हम उन विरल व्यक्तियों में होने का प्रयत्न करें जो क्रियाशीलता द्वारा सदा प्रभु-स्तवन में लगे हैं।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**।। देवता—**इन्द्रः**।। छन्दः—**गायत्री**।। स्वरः—**षड्जः**।।

सत्सङ्ग व सदाचरण

२०९. अरं त इन्द्र श्रवसे गमेम शूर त्वावतः। अरं शक्र परेमणि॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि 'वामदेव गोतम' है—सुन्दर दिव्य गुणोंवाला, प्रशस्त इन्द्रियोंवाला अथवा उत्तम वेदवाणियोंवाला। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **शूर**=(शृ हिंसायाम्) सब वासनाओं का हिंसन करनेवाले प्रभो! हम **ते**=आपके **श्रवसे**=ज्ञान के श्रवण के लिए **त्वावतः**=आप-जैसे ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के समीप **अरं गमेम**=खूब प्राप्त हों और **शक्र**=हे सर्वशक्तिमन् प्रभो! **परेमणि**=उत्कृष्ट मार्ग पर (एमन्=course, way) **अरं गमेम**=खूब चलें।

उल्लिखित मन्त्रार्थ में सत्सङ्ग को कारण बताया गया है, सदाचरण को उसका कार्य। हमें सदा उन लोगों का सङ्ग करना जो **त्वावतः**=प्रभु-जैसे हों। ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियों के सङ्ग

से हमारी बुद्धि सुन्दर बनती है और हम उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करनेवाले बनते हैं। वेद के शब्दों में हमारा सङ्ग 'ज्ञानी ब्राह्मणों, रक्षा में तत्पर क्षत्रियों व दानी वैश्यों से हो, इस प्रकार उत्कृष्ट सङ्ग को पाकर हम अपने ज्ञान को तो बढ़ाएँ ही, साथ ही हम सदा उत्कृष्ट मार्ग पर चलनेवाले बनें। प्रभुकृपा से हम सत्सङ्ग को प्राप्त कर सदाचारी हों।

भावार्थ–सत्सङ्ग हमारे जीवन के मार्ग को उत्कृष्ट बनाए।

ऋषिः–**विश्वामित्रो गाथिनः**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

चतुर्भद्र

२१०. धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः॥ ७॥

प्रभु इन्द्र हैं–परमैश्वर्यशाली हैं। कौन-सा ऐश्वर्य प्रभु के कोश में नहीं है। ऐश्वर्यशाली होते हुए वे **प्रातः**=हैं–सब ऐश्वर्य से हमारा पूरण करनेवाले हैं (प्रा पूरणे)। हे प्रभो! आप **नः**=हमें **जुषस्व**=प्रेम दीजिए (जुष्=प्रीति)। हम योग्य बनकर आपके प्रेम के पात्र बनें। मन्त्र के पूर्वार्ध के चार शब्दों द्वारा उसी योग्यता का संकेत हुआ है--

१. **धानावन्तम्**=ध्यानी व्यक्ति को आपका प्रेम प्राप्त होता है। वस्तुतः हमें अपने जीवन के प्रथम प्रयाण में ध्यानवाला बनना है। जो कुछ माता-पिता व आचार्य कहें उसे बड़े ध्यान से सुनना है। यदि हम आचार्य-मुख से निकलते शब्दों को बड़े ध्यान से सुनेंगे, उन्हें पीते चलेंगे तो हमारा ज्ञान कितना बढ़ जाएगा? तब हम आचार्यों के प्रिय तो होंगे ही, प्रभु का प्रेम भी हमें प्राप्त होगा। जीवन-यात्रा के प्रथम प्रयाण का आदर्श-वाक्य 'ध्यान' है।

२. **करम्भिणम्**='करेण भ्रियते इति करम्भः'='जो हाथ से किया जाता है'--इस व्युत्पत्ति से करम्भ शब्द दान का वाचक है। गृहस्थ में हमें सदा कुछ देनेवाला बनना है। गृहस्थ को सदा पञ्चयज्ञों का करनेवाला बनना है। **'अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः'**=पञ्चयज्ञ न करनेवाला गृहस्थ 'चोर' है। यज्ञ की चरम सीमा दान है। दान देनेवाला गृहस्थ अपने जीवन को निर्व्यसन बनाकर प्रभु का प्रिय होता है।

३. **अपूपवन्तम्**='इन्द्रियम् अपूपः'–ऐ० २.२४ के अनुसार अपूपशब्द इन्द्रिय-वाचक है। प्रशस्त इन्द्रियोंवाला पुरुष 'अपूपवान्' है। शतशः प्रयत्न करने पर भी गृहस्थ में इन्द्रियाँ कुछ राग-द्वेष में पड़ गयी थीं। वानप्रस्थ तीव्र तपस्या के द्वारा उस स्नेह की चिक्कणता को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होता है और अपनी इन्द्रियों को राग-द्वेष के मल से पृथक् कर डालता है। यह अपूपवान् वानप्रस्थ प्रभु का प्रिय होता है।

४. **उक्थिनम्**=आचार्य ऋ० १.५.८ में उक्थ का अर्थ करते हैं–'परिभाषितुमर्हाणि वेदस्थानि सर्वाणि स्तोत्राणि'=वेदमन्त्रों में प्रतिपादित प्रभु के स्तोत्र। इन स्तोत्रोंवाला व्यक्ति प्रभु का प्रिय होता है। ब्रह्मचारी को पठन की चिन्ता, गृहस्थ को कुटुम्ब के पालन की और वानप्रस्थ को भी कुल के पालन की, परन्तु संन्यासी तो प्राणिमात्र के प्रति प्रेमवाला होता है। ऐसा ही व्यक्ति 'गाथिनः'=प्रभु का सच्चा स्तोता होता है। यह सदा प्रभु का स्मरण करता हुआ प्रभु-स्तोत्रों का गायन करनेवाला 'उक्थी' है–और प्रभु को सर्वाधिक प्रिय है।

भावार्थ–ध्यान, दान, प्रशस्तेन्द्रियता और प्रभु-स्मरण–इन चतुर्भद्रों को अपनाकर हम प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

नमुचि-संहार

२११. अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजय स्पृधः॥ ८॥

इस मन्त्र के ऋषि 'काण्वायन' अर्थात् कण्वों की बिरादरी के 'गोषूक्ति और अश्वसूक्ति' हैं, जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उत्तम कथन करनेवाली हैं। इसकी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से उत्तम ही व्यापार चलते हैं। इसने कण-कण करके उत्तमता का साधन किया है।

इस गोषूक्ति व अश्वसूक्ति पुरुष से प्रभु कहते हैं कि **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता ऐश्वर्यशाली जीव! तूने **अपाम्**=कर्मों की **फेनेन**=(स्फायी वृद्धौ) वृद्धि के द्वारा **नमुचेः**=अहंकार के **शिरः**=सिर को **उदवर्तयः**=उलट डाला है। **यत्**=जबकि तूने **विश्वा स्पृधः**=अन्दर घुस आनेवाली और हमारा पराभव करने की इच्छावाली सब वृत्तियों को **अजयः**=जीत लिया है।

'इन्द्र' नाम से जीव का सम्बोधन तभी होता है जब यह इन्द्रियों का विजेता बनकर वास्तविक ऐश्वर्य को पाता है। जब यह कर्मों में लगा रहता है तब वासनाओं का शिकार नहीं होता। सब वासनाओं को जीत लेने पर विजय के अहंकार की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, जो बड़ों-बड़ों का भी पीछा नहीं छोड़ती, जिसे Last infirmity of the noble mind कहा जाता है, यह उस 'न-मुचि' अन्त तक पीछा न छोड़नेवाली अहंकार-वृत्ति के सिर को भी कुचल देता है। सौन्दर्य तो यही है कि सारी "दैवी सम्पत्ति" होने पर 'नातिमानिता'=गर्व न हो। दैवी सम्पत्ति की यही तो चरम सीमा है। यह अभिमान की वृत्ति तभी कुचली जाती है जब हम निरन्तर कर्मों में लगे रहें। वस्तुतः कर्मशीलता ही हमें इस वृत्ति से बचाकर विनीत बनाती है।

भावार्थ—कर्मतन्तु के विस्तार के द्वारा हम विनय को अंकुरित करें।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु जीव के प्रति

२१२. इमे त इन्द्र सोमाः सुतासो ये च सोत्वाः। तेषां मत्स्व प्रभूवसो॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि 'वामदेव गोतम' है—सुन्दर दिव्य गुणोंवाला तथा प्रशस्तेन्द्रिय। इससे प्रभु कहते हैं कि **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **इमे**=ये **सोमाः**=शक्ति के कण **ये**=जो **सुतासः**=पैदा किये गये हैं **च**=और जो **सोत्वा**=आगे उत्पन्न किये जाएँगे ये सब **ते**=तेरे लिए हैं। वीर्यशक्ति अत्यन्त मूल्यवान् वस्तु है, उसे प्रभु जीव के लिए उत्पन्न करने की व्यवस्था करते हैं। यदि जीव उसका अपव्यय कर देता है तो वह प्रभु का प्यारा कैसे हो सकता है?

प्रभु कहते हैं कि **प्रभूवसो**=(प्रभुश्च वसुश्च) इन्द्रियों पर प्रभुत्व पानेवाले और निवास को उत्तम बनानेवाले जीव! **तेषां मत्स्व**=उन वीर्य-कणों की रक्षा के द्वारा तू आनन्द प्राप्त कर। संसार की छोटी-छोटी घटनाओं से मानव-जीवन विकल हो उठता है, परन्तु संयमी के जीवन में सांसारिक कष्टों में भी आनन्द की धारा विच्छिन्न नहीं होती।

भावार्थ—हम इस बात को सदा स्मरण रक्खें कि वीर्यशक्ति आध्यात्मिक विकास के लिए उत्पन्न की गयी है। सन्तान-निर्माण इसका गौण उद्देश्य है।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

जीव प्रभु के प्रति

२१३. तुभ्यं सुतासः सोमाः स्तीर्णं बर्हिर्विभावसो। स्तोतृभ्य इन्द्र मृडय॥ १०॥

गत मन्त्र में प्रभु ने जीव से कहा था कि ये सोमकण मैंने तेरे लिए उत्पन्न किये हैं, तूने इनका ठीक उपयोग करके 'वामदेव गोतम' बनना है। सुन्दर दिव्यगुणों को उत्पन्न करने में और इन्द्रियों को प्रशस्त बनाने में इनका उपयोग करना है। जीव कितने उत्तम शब्दों में इसका उत्तर देता है कि ये **सुतासः सोमाः**=उत्पन्न सोमकण **तुभ्यम्**=तेरे लिए विनियुक्त किये गये हैं, अर्थात् इनका अपव्यय करना तो दूर रहा, तेरी प्राप्ति के लिए इनका प्रयोग किया है। इससे बढ़कर उत्तम इनका विनियोग हो ही क्या सकता है? जड़ जगत् की यह सर्वोत्तम वस्तु है, इससे मैंने चेतन जगत् की सर्वोत्तम वस्तु आपको पाने का प्रयत्न किया है। हे **विभावसो**=ज्ञानधन प्रभो! आपके स्वागत के लिए ही मैंने **बर्हिः**=निर्मल हृदय को **स्तीर्णम्**=बिछाया है। 'बर्हि' उस हृदयान्तरिक्ष का नाम है जिसमें से सब वासनारूप झाड़-झंखाड़ को उखाड़कर परे फेंक दिया गया है। वस्तुतः सोमकणों की रक्षा का यह भी परिणाम है कि हृदय वासनामुक्त हो जाता है। इस वीर्यरक्षा से हम उस ज्ञानधन प्रभु से ज्ञान प्राप्त करनेवाले भी बनते हैं। एवं, वीर्यरक्षा के तीन लाभ होते हैं १. प्रभु की प्राप्ति २. हृदय की वासना-शून्यता तथा ३. ज्ञान की प्राप्ति।

वीर्यरक्षा के द्वारा इन तीनों परिणामों को अपने जीवन में प्रकट करनेवाले व्यक्ति ही प्रभु के सच्चे स्तोता हैं। वे प्रार्थना करते हैं—हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली, अज्ञानान्धकार के नाशक प्रभो! हम **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **मृडय**=सुख दीजिए।

ये स्तोता ज्ञान को अपनी शरण बनाने के कारण 'श्रुतकक्ष' हैं। ये प्रभु को 'विभावसु' के रूप में देखते हैं। सर्वोत्तम शरण ज्ञान ही है, अतः ये 'सुकक्ष' हैं, भोगमार्ग की ओर न जाने से ये शक्ति-सम्पन्न अङ्गोंवाले 'आङ्गिरस' हैं।

भावार्थ—हम वीर्यरक्षा के द्वारा ज्ञान व नैर्मल्य को प्राप्त करके प्रभु को पानेवाले बनें।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु को अपने में सींच लो

२१४. आ व इन्द्रं कृविं यथा वाजयन्तः शतक्रतुम्। मंहिष्ठं सिञ्च इन्दुभिः॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि 'शुनःशेप आजीगर्ति' है। 'शुनम्=सुखम्, शेप=बनाना 'to make', इस व्युत्पत्ति से सुख का निर्माण करनेवाला 'शुनःशेप है''। 'अज=गतौ, गर्त=A throne' इस निर्वचन के अनुसार 'स्वर्ग के सिंहासन की ओर जानेवाला', अर्थात् निःश्रेयस को सिद्ध करनेवाला 'आजीगर्ति' है। एवं, अभ्युदय और निःश्रेयसरूप धर्म के दोनों परिणामों को प्राप्त करनेवाला यह 'शुनःशेप आजीगर्ति' पूर्ण धर्म को अपने अन्दर साधता है। इस पूर्ण धर्म का प्रतिपादन यह इन शब्दों में करता है—

वः=तुम सबको **इन्द्रम्**=परमैश्वर्य देनेवाले **शतक्रतुम्**=सैकड़ों (अनन्त) प्रज्ञानोंवाले

मंहिष्ठम्=दातृतम उस प्रभु की **वाजयन्तः**=उपासना करते हुए अथवा अपने को शक्तिशाली बनाने के हेतु से (हेतु में 'शतृ') **इन्दुभिः**=सोमबिन्दुओं के द्वारा, उनके रक्षण के द्वारा **आसिञ्च**=अपने में सर्वथा इस प्रकार सींच लो **यथा**=जैसे **कूविम्**=कुएँ को खेत अपने में सींच लेता है।

प्रभु को अपने में सींच लेना—प्रभु की सर्वव्यापकता व संरक्षकता आदि भावनाओं से अपने जीवन को ओत-प्रोत कर लेना ही पूर्ण धर्म है। प्रभु की दिव्यता को अपने में भरेंगे तो १. **इन्द्रम्**=हमें परमैश्वर्य प्राप्त होगा, २. **शतक्रतुम्**=हमारा ज्ञान शतगुणित वृद्धि को प्राप्त करेगा ३. **मंहिष्ठम्**=हमें सब उत्तम आवश्यक पदार्थ प्राप्त होंगे। कुएँ के साथ सम्बद्ध खेत सदा लहलहाता है। प्रभु के साथ सम्बद्ध जीव भी उसी प्रकार शक्ति, ज्ञान व सब दिव्य भावनाओं से लहलहा उठता है। 'यह जीवन-क्षेत्र उस कुएँ से दूर हुआ और सूखा'। इसे न सूखने देने का एक ही उपाय है कि मैं कुएँ के समीप रहूँ। प्रभु का सान्निध्य ही जीवन के सौन्दर्य का कारण है। इस प्रभु का सान्निध्य 'इन्दुओं'=सोम-बिन्दुओं के द्वारा होता है। इस सोमपान का ही नाम 'ब्रह्मचर्य' है—'ब्रह्म की ओर चलना।' यही ब्रह्म के सान्निध्य का मूलकारण है। जड़ जगत् की सर्वोत्तम वस्तु सोम है, यह चेतन जगत् की सर्वोत्तम वस्तु 'परमात्मा' से हमारा मेल करा देती है और हमारा जीवन लहलहा उठता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण से अपने जीवन को ओत-प्रोत कर लें।

ऋषिः—**श्रुतकक्ष आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शतवाज इष्

२१५. अतश्चिदिन्द्र न उपा याहि शतवाजया। इषा सहस्रवाजया॥ २॥

पिछले मन्त्र में अपने को प्रभु की भावना से भर लेने का उल्लेख था। 'जब हम अपने को प्रभु की भावना से सींच लेते हैं तब हमारा जीवन कैसा बनता है' इस बात का वर्णन इस मन्त्र में है। मन्त्र का ऋषि 'श्रुतकक्ष आङ्गिरस'=ज्ञान को ही अपनी शरण बनानेवाला, शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति कहता है कि—

अतः चित्='तुझे अपनी इन्द्रियों में सींचने के इस मार्ग से' ही **इन्द्र**=हे ऐश्वर्यशाली प्रभो! तू **नः**=हमें **उपायाहि**=प्राप्त हो। प्रभु के समीप पहुँचने का मार्ग यही है कि हम १. अपने को प्रभु की भावना से ओत-प्रोत कर लें, और २. इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें। प्रभु कहते हैं कि हे जीव! तू हमें प्राप्त होगा **इषा**=इष् के द्वारा। इष् का अभिप्राय है ज्ञान, गमन व प्राप्ति। तू मेरा ज्ञान प्राप्त कर, ज्ञान प्राप्त करके मेरी ओर चल और मुझे प्राप्त कर। कौन-सी इष् से? जो **शतवाजया सहस्रवाजया**=सैकड़ों व सहस्रों त्यागोंवाली है। प्रभु का ज्ञान त्याग की अपेक्षा करता है, इसकी ओर गमन के लिए और अधिक त्याग अपेक्षित है और उसकी प्राप्ति तो सहस्रों त्यागों के होने पर ही होती है।

'आयुः, प्राणं, प्रजां, पशुं, कीर्तिं, द्रविणं, ब्रह्मवर्चसम्'—इन सबको प्रभु को लौटा देने पर ही 'व्रजत ब्रह्मलोकम्=ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। प्रभु की प्राप्ति के लिए त्याग-ही-त्याग करना होता है। हम अपने अन्दर प्रभु को सींच लेते हैं, तभी प्रभु को पाते हैं। प्रकृति के त्याग व प्रभु की ओर गमन में ही शक्ति का रहस्य निहित है। 'वाज' का अर्थ शक्ति भी होता है, अतः यह हमरी शक्ति=इष् को शतशः सहस्रशः बढ़ा देती है। हम शक्ति-सम्पन्न बनकर

प्रभु के और प्रिय हो जाते हैं **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'** यह आत्मा निर्बल को तो प्राप्त ही नहीं होती। शक्ति-सम्पन्न होकर यह लोकहित में प्रवृत्त होता है और अज्ञान, अन्याय व अभाव को दूर करने के लिए यत्नशील होता है। यही भावना अगले मन्त्र में ध्वनित हो रही है।

भावार्थ—हम त्याग व शक्ति के तत्त्वों को अपनाकर प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**त्रिशोकः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पर्दे को दूर करना (घूँघट के पट खोल रे)

२१६. आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छाद्वि मातरम्। क उग्राः के ह शृण्विरे॥ ३॥

गत मन्त्र में 'इषा' शब्द 'ज्ञान' का संकेत कर चुका है। 'शतवाजया' शब्द 'शक्ति' का। इस मन्त्र में 'वृत्रहा' शब्द ज्ञान को आवृत करनेवाले राग-द्वेषादि वृत्रों के विनाश की सूचना दे रहा है। इस प्रकार ज्ञान से मस्तिष्क को, नैर्मल्य से मन को तथा शक्ति से शरीर को चमकानेवाला यह 'त्रिशोक' तीन दीप्तियोंवाला 'काण्व' मेधावी पुरुष **जातः**=आचार्यकुल से दूसरा जन्म लेने पर (तं जातं द्रष्टुं अभि संयन्ति देवाः), अर्थात् आचार्य की भट्टी में परिपक्व होकर संसार में आने पर स्वयं **वृत्रहा**=सब वासनाओं का विनाश करनेवाला बनकर **बुन्दम्**=तीर को **आददे**=हाथ में ग्रहण करता है। यह **मातरम् विपृच्छात्**=माता के हिंसक को पूछता है। पता करता है कि कौन हिंसक है। **के उग्राः**=कौन उग्र हैं—तेज स्वभाव के हैं **के ह आशृण्विरे**=कौन निश्चय से चारों ओर अपनी उग्रता के कारण ख्यात (notorious) हैं। उन्हें जानकर यह उन्हें समाप्त करने के प्रयत्न में लग जाता है।

मनुष्य का उद्देश्य मज़े से खाते-पीते जीवन बिताना नहीं है। उसे अन्याय के विरुद्ध संग्राम करते हुए अन्याय को दूर करने में ही जीवन-यापन करना चाहिए।

भावार्थ—हमारा जीवन अन्याय के विरुद्ध एक 'दीर्घ संग्राम' हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु बृबदुक्थ हैं

२१७. बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये। साधः कृण्वन्तमवसे ॥ ४॥

निरुक्त ६।१।४ में 'बृबदुक्थं' शब्द का अर्थ 'महदुक्थो वक्तव्यमस्मा उक्थमिति बृबदुक्थो' इन शब्दों में 'महान् स्तुतिवाला अथवा कहने योग्य स्तुतिवाला' किया है। वस्तुतः मनुष्य को प्रभु के ही स्तोत्रों का उच्चारण करना चाहिए। उसके बनाये हुए संसार के और घट-घट में उसकी रचना के सौन्दर्य को देखकर उसकी महिमा का कीर्तन करना ही 'मेधातिथि काण्व' का काम है। जो व्यक्ति समझदार है, वह प्रभु का ही कीर्तन करता है। प्रभु **सृप्रकरस्नम्**=हैं। सर्पणशील भुजाओंवाले तथा कर्मों से वेष्टित भुजाओंवाले हैं—सदा स्वाभाविकरूप से क्रिया में लगे हैं। प्रभु का स्तोता भी प्रभु का अनुकरण करते हुए क्रियाशील हाथोंवाला बनता है। वह सदा लोकहित में लगा रहता है। किस लिए? **ऊतये**=रक्षा के लिए। वस्तुतः क्रियाशीलता ही हमें वासनाओं का शिकार होने से बचाती है। यदि इस प्रकार प्रभु-कीर्तन के साथ जीवनभर कर्म की प्रक्रिया चलती है तो प्रभु हमें सफलता, सिद्धि या मोक्ष प्राप्त कराते हैं।

मन्त्र में कहते हैं—**साधः**=सिद्धि को, मोक्ष को **कृण्वन्तम्**=करते हुए उस प्रभु को हम **हवामहे**=पुकारते हैं, जिससे **अवसे**=हम भी उस प्रभु के भाग का—दिव्यता के अंश का अपने में दोहन कर सकें (अव्=भागदुघे)।

एवं, वह जीवन जो प्रभु-कीर्तन के साथ क्रियामय बनता है, अवश्य सफल होता है। इसी प्रकार का जीवन बिताना ही बुद्धिमत्ता है।

इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' बुद्धिमत्ता के मार्ग पर चल रहा है। यह एक दिन में ऐसा नहीं बन गया है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए इसका पूरा नाम 'मेधातिथि काण्व' है—कण-कण करके यह अपने में दिव्यता का संग्रह करनेवाला है। यह जीवन ही सुन्दर जीवन है।

भावार्थ—प्रभु-कीर्तन व क्रियाशीलता से हम अपने में दिव्यता का सम्पादन करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सरलता के मार्ग से

२१८. ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयति विद्वान्। अर्यमा देवैः सजोषाः॥ ५॥

इस द्वन्द्वात्मक संसार में मनुष्य दो प्रकार के मार्गों से चल रहे हैं। एक मार्ग सरलता का मार्ग है और दूसरा कुटिलता का। कैवल्योपनिषत् के अनुसार **'सर्वं जिह्मं मृत्युपदं, आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'**=कुटिलता मृत्यु का मार्ग है, और सरलता मोक्ष का। इस सरल मार्ग का संकेत ही प्रस्तुत मन्त्र में उपलभ्य है। गत मन्त्र में मेधातिथि ब्रह्म के कीर्तन से जीवन-यापन कर रहे थे। जो व्यक्ति ब्रह्मस्मरण के साथ क्रियाशील बनता है वह सरल मार्ग से ही गति करता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **नः**=हमें **वरुणः मित्रः अर्यमा**=वरुण, मित्र और अर्यमा **ऋजुनीती**=सरल मार्ग से **नयति**=ले-चलते हैं। वस्तुतः सरलता का मार्ग यह है कि वरुण, मित्र व अर्यमा के सिद्धान्त को जीवन का सूत्र बनाना। वरुण=पाशी व व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधने की देवता है। यही सब वैयक्तिक उन्नतियों का मूलाधार है। मित्र स्नेह की देवता है—'प्राणिमात्र से स्नेह करना—सभी में एकत्व देखना'। यह विश्वप्रेम आध्यात्मिक उन्नति का आधार है। अर्यमा दान की देवता है। हमारा जीवन दानशील हो। एवं वरुण, मित्र व अर्यमा ये तीन देव ही त्रिविध उन्नति का मूल बनकर हमारे जीवन को दिव्य बनाते हैं।

इन तीनों का विशेषण **विद्वान्** दिया गया है। विद्वान् का अर्थ है 'समझदार'। हमें व्रतों का ग्रहण समझदारी के साथ करना है। मूर्खता से हम शरीर को पीड़ित करते हुए व्रत लेते हैं और हानि उठाते हैं। मूर्खता से अपात्र में दान देकर हम तामस् दानी बनते हैं, और मूर्खता से स्नेह करते हुए हम ममत्व में फँसते हैं। हमारे तीनों देवता विद्वान् हों—अर्थात् हम तीनों सिद्धान्तों को समझदारी से जीवन में स्थान दें।

ये जीवन के तीनों सिद्धान्त **देवैः सजोषाः**=दिव्य गुणों के साथ समानरूप से प्रीति करते हुए हमारे कल्याण के साधक होते हैं। हम केवल व्रती न बनें, केवल दानी न बनें और केवल प्रेम करनेवाले न बनें। हमारे जीवन में तीनों सिद्धान्त सम्मिलित रूप से चलें। ऐसा होने पर ही हम इस मन्त्र के ऋषि 'गोतम'—प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनेंगे तभी हम 'राहू-गण' त्यागशीलों में गिनती के योग्य समझे जाएँगे।

भावार्थ—हमारा जीवन व्रतमय, प्रेममय और त्यागमय हो।

ऋषिः—**ब्रह्मातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य की भाँति

२१९. दूरादिहेव यत्सतोऽरुणप्सुरशिश्वितत्। वि भानुं विश्वथातनत्॥ ६॥

इन्द्र इस मन्त्र का देवता है। इन्द्र नाम सूर्य का भी है और इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव का भी। सूर्य **अरुणप्सुः**=तेज को खानेवाला (प्सा भक्षणे), अर्थात् अत्यन्त तेजस्वी है। उदय होने पर सब तारों के व ज्योतिष्पिण्डों के तेज को मानो वह खा जाता है। **यत्**=यह सूर्य **दूरात् इह इव**=दूर से भी यहाँ की भाँति **सतः**=सब सत्तावाले पदार्थों को **अशिश्वितत्**=श्वेत कर देता है—चमका देता है। यह सूर्य अपनी **भानुम्**=किरणों को—प्रकाश को **विश्वधा**=चारों ओर **वि अतनत्**=फैला देता है। १. सूर्य यहाँ से १५ करोड़ किलोमीटर दूर है, परन्तु दूरी का ध्यान न करता हुआ **इह इव**=यहाँ की ही भाँति—मानो समीप ही हो इस प्रकार वह प्रकाश प्राप्त कराता है। इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को भी अपने प्रकाश-विस्तार के महान् कार्य में कभी किसी को अपने से दूर नहीं मानना। वह लोकहित के कार्य में सभी को अपना परिवार ही समझे। '**अयुतोऽहम्**'='मैं अपृथक् हूँ' यह उसकी भावना हो। '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' सारी पृथिवी उसका कुटुम्ब हो। २. **सतः**=सूर्य विद्यमान पदार्थमात्र को चमका देता है। इसी प्रकार इसके सत्सङ्ग में सभी का अव्याहत प्रवेश हो, तथाकथित दलित व अछूत न आ सकें, ऐसी बात न हो। यह सभी को ज्ञान देना अपना कर्त्तव्य समझे। ३. सूर्य अपने प्रकाश को सीधी किरणों के रूप में, तिरछी किरणों के रूप में, मृदुरूप में व प्रखररूप में सब प्रकार से फैलाता है, उसकी सब किरणें प्राणशक्ति देनेवाली होती हैं, इसी प्रकार यह इन्द्र भी सीधे शब्दों में व दृष्टान्तों के द्वारा, कभी मृदु शब्दों में और कभी तेजस्वी शब्दों में ज्ञान को फैलाने का कार्य किया करता है।

परन्तु यह सब-कुछ वह कर तभी सकेगा यदि वह 'अरुणप्सु' बनेगा। तेज का—तेजस्वी ज्ञान का—भक्षण करनेवाला बनेगा। 'ब्रह्मचर्य' की मूल भावना ज्ञान का भक्षण ही है। ग्रन्थों को निगलकर मनन करनेवाले व्यक्ति 'अरुणप्सु' बना करते हैं। ये अरुणप्सु ही सूर्य की भाँति प्रकाश फैलानेवाले होते हैं। ये स्वयं ब्रह्मातिथि ज्ञान की ओर चलनेवाले होते हैं तभी औरों को ज्ञान दे पाते हैं। कण-कण करके इन्होंने ज्ञान का संचय किया है, अतः ये 'काण्व' हैं। ये अपने ज्ञानकणों को औरों को भी प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम अरुणप्सु बनें और अपने ज्ञान के अरुण प्रकाश को चारों ओर फैलाएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रो गाथिनो जमदग्निर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

घृत व मधु से सेचन

२२०. आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजांसि सुक्रतू॥ ७॥

नः=हमारे **गव्यूतिम्**=(गो-यूतिम्) गौओं के प्रचारण क्षेत्र को, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान-प्राप्ति के विषय को **मित्रावरुणा**=हे प्राणापानो! **घृतैः**=ज्ञान-दीप्तियों और नैर्मल्य से **आ उक्षतम्**=खूब सींच दो। हे **सुक्रतू**=उत्तम कर्मोंवाले प्राणापानो! **रजांसि**=हमारी कर्मेन्द्रियों को **मध्वा**=मधु से सींच डालो।

मनुष्य की इस जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए प्रभु ने पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं, संसार में

पाँच ही विषय हैं—संसार पञ्चभौतिक ही तो है। कर्म भी दार्शनिकों से पञ्चविध माना गया है, अतः कर्मेन्द्रियों की संख्या भी पाँच है। इन ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का स्वास्थ्य प्राणापान के स्वास्थ्य पर निर्भर है। प्राणापान ठीक हों तो ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान से दीप्त व निर्मल रहती हैं और कर्मेन्द्रियों में माधुर्य बना रहता है। ज्ञानेन्द्रियों में घृत का सेचन और कर्मेन्द्रियों में माधुर्य का सेचन प्राणापान से ही होता है। **मित्रावरुण** हमारे ज्ञान व कर्मों को क्रमशः दीप्त व मधुर बनाएँगे। वरुण अपान है, वह सब दोषों को दूर करके हमारे ज्ञान को निर्मल करेगा और मित्र प्राण है, यह हमारे कर्मों को शक्तिशाली बनाता हुआ उनमें स्नेह का संचार करेगा।

संक्षेप में, प्राणापान की साधना से हम दीप्त ज्ञानवाले बनकर इस मन्त्र के ऋषि 'जमदग्नि'=प्रज्वलित ज्ञानाग्निवाले बनेंगे तथा यही साधना हमें मधुर कर्मोंवाला बनाकर इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र'=सभी के साथ स्नेह करनेवाला बनाएगी। ये दोनों बातें मिलकर हमें 'गाथिन'=प्रभु का सच्चा स्तोता बना रही होंगी। प्रभु का ठीक गायन यही है कि हम दीप्त ज्ञानवाले और मधुर कर्मोंवाले बनें।

भावार्थ—हम प्राणायाम द्वारा प्राणों को वश में करें, इस प्रकार बुद्धि को तीव्र करें और कर्मों को पवित्र व मधुर बनाएँ।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु की ओर

२२१. उदु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा यज्ञेष्वत्नत। वाश्रा अभिज्ञु यातवे ॥ ८ ॥

त्ये=वे—गत मन्त्र की भावना के अनुसार प्राणापान की साधना करनेवाले **उत्** उ=प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर **यातवे**=प्रभु की ओर जाने के लिए यत्नशील होते हैं। आत्मा चतुष्पात् है। तीन पग चल चुकने पर, चौथे पग में हम प्रभु को पा लेते हैं। संसार के भोगों में उलझ जानेपर मनुष्य इन पगों को नहीं उठा पाता।

बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम भोगों में न फँसकर आगे और आगे बढ़ने का ध्यान करें। ऐसा करनेवाला ही समझदार है—'प्रस्कण्व'=मेधावी है। यह प्रस्कण्व ही इस मन्त्र का ऋषि है। कण-कण करके मेधा का संचय करने के कारण यह काण्व है। इससे उठाये जानेवाले तीन पग इस प्रकार हैं—

१. यह प्रस्कण्व **गिरः**=वेदवाणियों को **सूनवः**=उत्पन्न करनेवाले होते हैं। प्रस्कण्व अपने को ज्ञान से परिपूर्ण कर लेता है तो उससे ज्ञानमय वाणियों का प्रवाह फूटने लगता है। यही ज्ञानकाण्ड का स्वीकार है।

२. **काष्ठाः यज्ञेषु अत्नत**=ये प्रस्कण्व सदा यज्ञों में समिधाओं का विस्तार करते हैं। इनका जीवन यज्ञमय होता है। **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**=यज्ञ ही सर्वोत्तम कर्म है। इनका मस्तिष्क ज्ञानकाण्ड का स्वीकार करता है तो इनके हाथ कर्मकाण्ड का। उत्तम कर्मों में व्याप्त रहकर ये अपने जीवन को विषयों का शिकार होने से बचा लेते हैं।

३. इसके बाद ये प्रस्कण्व **अभिज्ञु**=अभिगतजानु होकर—नमस् के आसन पर बैठकर **वाश्राः**=अपनी प्रार्थनाओं को उस प्रभु के प्रति उच्चारित करते हैं (वाश्=शब्द=voice)। इनका हृदय भक्ति-भावना से ओत-प्रोत होता है और ये अपने स्तुति-वचनों से प्रभु-महिमा के गीत गाते हैं। यह प्रभु-सम्पर्क उन्हें शक्तिशाली बनाता है और ये संसार के उथल-पुथल

में कभी क्षुब्ध नहीं होते। यही उपासनाकाण्ड के स्वीकार का परिणाम है।

एवं, प्रस्कण्व उस प्रभु की प्राप्ति के लिए आगे और आगे बढ़ता हुआ 'ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड व उपासनाकाण्ड' रूप तीन पगों को रखता है। चौथे पग में तो प्रभु को पा ही लेता है।

भावार्थ—हमारा जीवन ज्ञानमय, कर्ममय व भक्तिमय हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कहीं हम केवल कूड़ा तो जमा नहीं कर रहे?

२२२. इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पाँसुले॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि काण्व' **इदं त्रेधा पदम्**=गत मन्त्र में वर्णित तीन प्रकार से पग **निदधे**=रखता है। ये तीन पग मस्तिष्क में ज्ञानकाण्ड को भरना, भुजाओं में कर्मकाण्ड को भरना और अभिगतजानु होकर हृदय में उपासना की भावना को भरना थे। यदि यह ऐसा न करके केवल ज्ञान को अपना ध्येय बनाता तो इसकी यह उन्नति अधूरी होती। इसी प्रकार केवल कर्म व केवल उपासना को अपनानेवाले व्यक्ति भी अपूर्ण विकासवाले होते हैं। ठीक विकास तो उसी का हुआ जिसने कि शरीर, मन व बुद्धि अथवा कर्म, श्रद्धा व ज्ञान तीनों को अपना ध्येय बनाया। वस्तुतः इसी ने **विचक्रमे**=विशेष पुरुषार्थ किया—व्यापक उन्नति की। इस व्यापक उन्नति को करने के कारण यह **विष्णुः**=(विष्=व्याप्तौ) विष्णु नामवाला हुआ।

इस संसार में मनुष्य जब केवल ज्ञान को अपनाता है तो वैज्ञानिकों की भाँति ऐसे अस्त्र बनाता है, जो संसार का विनाश कर दें। यह कूड़े के ढेर को ही तो जुटाना है। जो व्यक्ति केवल कर्मकाण्ड का उपासक बन यज्ञों को ही महत्त्व देता है, वह अभिचार यज्ञों को करने में लगता है। ये भी तो यज्ञों का मल ही हैं। केवल श्रद्धा व उपासना के मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति परमेश्वर के नाम पर दूसरे का खून करते हैं। इन्होंने भी प्रेम को न अपनाकर द्वेष को अपनाया, इस प्रकार इनके भी भाग में कूड़े का ही जमा करना रहा। वस्तुतः इस **पांसुले**=धूल को ही अपनानेवाले लोगों से भरे संसार में **अस्य**=इस व्यापक उन्नति करनेवाले विष्णु ने ही **सम् ऊढम्**=प्रभु की आज्ञा को सम्यक् शिरोधार्य किया और जीवन-यात्रा का ठीक निर्वहण किया। वस्तुतः यही मेधया अतति=बुद्धिमत्ता से चला, अतः इसका नाम मेधातिथि है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—इस संसार में हम धूल जमा करनेवाले ही न बने रहें।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु दे रहे हैं, पी तो सही

२२३. अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमुपेरय। अस्य रातौ सुतं पिब॥ १॥

गत मन्त्र में तीन पगों के रखने का उल्लेख था। उन पगों को रखते हुए कितने ही विघ्न उपस्थित होते हैं, कितनी ही बार असफलता का मुख देखना पड़ता है। यदि इस व्यक्ति को कोई उत्साहित न कर निरन्तर निरुत्साहित करेगा, तब यह कभी भी संसार में सफल न हो सकेगा, इसीलिए मन्त्र में कहते हैं कि **मन्युषाविणम्**=(मन्यु=शोक) शोक, दुःख व निराशा

के बीजों को बोनेवाले व्यक्ति को **अति-इहि**=लाँघ जा। ऐसे व्यक्तियों के समीप मत उठ-बैठ। **सुषुवांसम्**=सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाले के **उप**=समीप **ईरय**=गति कर। संसार में निरुत्साहित करनेवाले व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर किसी ने सफलता प्राप्त नहीं की, इसलिए उत्साह बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि हमारा सम्पर्क निराशावादियों से न होकर सदा आशावादियों से रहे। आशावाद में भरे हुए मनुष्य को चाहिए कि **अस्य**=प्रभु की **रातौ**=देनों के होने पर **सुतम्**=शक्ति व ज्ञान का **पिब**=पान करे। प्रभु तुझे ज्ञान दे रहे हैं, तू उस ज्ञान को पी। प्रभु ने आहार से वीर्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया से शक्ति दी है—तू उसे अपने में सुरक्षित कर। मनुष्य निरुत्साहित न हो, ज्ञान का संचय करता चले और शक्ति को अपने में भरता चले तो वह उल्लिखित तीनों पगों को रखने में अवश्य समर्थ होगा।

भावार्थ—आशावादियों के सम्पर्क में चलो, ज्ञान व शक्ति का संचय करो। यही मेधातिथि का मार्ग है।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यही वचन उसे बढ़ानेवाला है

२२४. कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते। तदिद्ध्यस्य वर्धनम्॥ २॥

'वामदेव गोतम'=सुन्दर दिव्य गुणों और प्रशस्त इन्द्रियोंवाला इस मन्त्र का ऋषि कहता है कि देव के लिए **वचः**=स्तुतिवचन **शस्यते**=कहा जाता है। हम प्रभु की स्तुति करते हैं। किस प्रभु की? १. **प्रचेतसे**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले प्रभु की। **'तन्निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'** ज्ञान की पराकाष्ठा ही तो प्रभु है। २. **महे**=वह प्रभु महान् हैं। ऊँचे-से-ऊँचा मनुष्य भी ९९ बार क्षमा करके सौवीं बार दण्ड ही देता है, परन्तु प्रभु तो **'अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति'**=अपने न माननेवालों का भी पालन करते हैं। वहाँ राग-द्वेष का काम नहीं। ३. **देवाय**=प्रभु दिव्य गुणों से युक्त हैं। उनके सभी कर्म भी दिव्य हैं। देवमनोवृत्ति देने की ही होती है। प्रभु ने तो अपने को भी दिया हुआ है (य आत्मदा)। वे जीवहित के लिए ही सृष्टि का निर्माण करते हैं।

इस प्रभु के लिए स्तुतिवचन उच्चारण करनेवाले के लिए ये वचन **कत्** उ=निश्चय से सुखों का विस्तार करनेवाले होते हैं (कं तनोति इति कत्), क्योंकि इनसे उसका जीवन ऊँचा उठता है। **तत् इत् हि**=यह वचन निश्चय से **अस्य**=इस स्तोता का **वर्धनम्**=बढ़ानेवाला होता है। उसके सामने ये स्तुतिवचन लक्ष्य दृष्टि को पैदा करते हैं और उसे अपनी गति में तीव्रता लाने के लिए प्रेरणा देते हैं। इस स्तोता को ध्यान आता है कि मुझे भी ज्ञानी, महान् व देव बनना है। एवं, यह स्तोता प्रभु-स्तवन करता हुआ तीनों पगों को उत्साहपूर्वक रखता है और उन्नत होते-होते 'वामदेव गोतम' बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु के आदर्श को सामने रखकर मैं भी प्रचेताः, महान् व देव बनूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अगोरयि न बनें

२२५. उक्थं च न शस्यमानं नागोरयिरा चिकेत। न गायत्रं गीयमानम्॥ ३॥

ऋग्वेद के मन्त्र प्रकृति के पदार्थों का ज्ञान देते हैं। ऋचा का अर्थ (ऋच् स्तुतौ) पदार्थों

के गुण-धर्मों का वर्णन करना है। प्रकृति के पदार्थों का वर्णन करती हुई ये ऋचाएँ जब उन प्राकृतिक पदार्थों में प्रभु के माहात्म्य का दर्शन करने लगती हैं तब ये 'उक्थ' कहलाती हैं।

प्रस्तुत मन्त्र में शंस का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, परन्तु 'शस्यमानं' क्रिया के द्वारा उसका संकेत हो रहा है। यजुर्मन्त्र जीवों के कर्त्तव्यों का मुख्यरूप से वर्णन करते हैं, परन्तु उन कर्त्तव्यों के अन्दर भी जब हम जीवों की परस्पर सम्बद्धता (Interlinking) देखते हैं तो प्रभु का अद्भुत रचना-कौशल हमें प्रभु की ओर प्रेरित करता है और ये यजुर्मन्त्र 'शंस'=प्रभु की महिमा का शंसन करनेवाले हो जाते हैं।

साम के मन्त्र उपासनापरक हैं। जब जीव भक्ति के उत्कर्ष में उनका गायन करने लगता है तब वे 'गायत्र' कहलाते हैं। गायन करनेवाले का ये त्राण करते हैं।

इन **उक्थम्**=उक्थों को और **शस्यमानम्**=शंसों को **चन**=भी **अगोरयिः**=जो ज्ञान-धन से रहित है वह **न अचिकेत**=नहीं समझता है। उक्थों व शंसों के द्वारा स्तवन ज्ञानी ही कर पाता है। अज्ञानी ने पदार्थों की रचना में कर्त्ता की कुशलता को क्या देखना? और जीवों की परस्पर सम्बद्धता के सौन्दर्य को भी क्या समझना?

यह अगोरयि **गीयमानम्**=गाये जाते हुए **गायत्रम्**=गायत्र को भी **न अचिकेत**=नहीं समझता है। ज्ञानी पुरुष ही प्रभु की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, दयालुता आदि गुणों के प्रकर्ष से प्रभावित हो प्रभु की महिमा का गायन करता है।

हम भी 'गोरयि'=ज्ञान के धनवाले बनकर प्रभु के उक्थों, शंसों व गायत्रों का उच्चारण करें, जिससे वे हमारे वर्धन का कारण बनें।

यह ज्ञानी सदा ज्ञान के मार्ग पर चलता हुआ कण-कण का संचय करके ही तो ऐसा बना है, अतः (मेधाम् अतति) 'मेधातिथि काण्व' है। ज्ञान व बुद्धि का प्यारा होने से यह 'प्रियमेध' है। व्यसनों में न फँसने के कारण 'आङ्गिरस' है।

भावार्थ—हम ज्ञानधनी बनकर प्रभु के ज्ञानी-भक्त बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रो गाथिनः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—षड्जः॥

सभी का मित्र

१ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २ १२ ३ २ ३ १ २
२२६. इन्द्र उक्थेभिर्मन्दिष्ठो वाजानां च वाजपतिः। हरिवान्त्सुतानां सखा॥ ४॥

इन्द्रः=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव १. **उक्थेभिः**=स्तोत्रों से **मन्दिष्ठः**=उत्कृष्ट आनन्द लेनेवाला होता है। उसे प्रभु की स्तुति में आनन्द आता है। **वाजानां च वाजपतिः**=ज्ञान, शक्ति व त्याग का वह पति बनता है। उसका मस्तिष्क ज्ञान से, भुजा शक्ति से और मन त्याग की भावना से भरा होता है। वह तीनों ही पगों को उठाता है। वह विष्णु है।

इस प्रकार अपने जीवन को उत्तम बनाकर यह **हरिवान्**=औरों के दुःखों का हरण करनेवाला होता है (हृ=हरण=दूर करना)। दुःखहरण की प्रक्रिया में वह **सुतानां सखा**=उत्पन्न प्राणिमात्र का मित्र होता है। यह 'किसी एक समाज का हित करे' ऐसी भावना इसके अन्दर नहीं होती।

यह 'विश्वामित्र' है—सारे संसार के साथ स्नेह करनेवाला है। प्राणिमात्र के साथ स्नेह करना ही सच्ची प्रभुभक्ति है, अतः यही 'गाथिनः' प्रभु के गुणों का गान करनेवाला, प्रभु

को प्राणों के तुल्य प्रिय होता है।

एवं, इस 'विश्वामित्र गाथिन' का निजू जीवन—स्तोत्रों में आनन्द लेना तथा ज्ञान, शक्ति व त्याग की साधना करना है और सामाजिक जीवन—औरों के दुःख हरना व सभी से प्रेम रखना है।

भावार्थ—हम सब प्रभु-कीर्तन में आनन्द लें, ज्ञान, शक्ति व त्याग की साधना करें, औरों के दुःखों का हरण करें व सभी से प्रेम से बरतें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु इन्द्र से कहते हैं—क्रोध न करना

२२७. आ याह्युप नः सुतं वाजेभिर्मा हृणीयथाः। महाँइव युवजानिः॥ ५॥

आयाहि=प्रभु इन्द्र से कहते हैं कि तू अपने जीवन की साधना के लिए शान्त, एकान्त पर्वतो की कन्दराओं की ओर न जा, अपितु उन कन्दराओं में साधना करके **नः**=हमारे **सुतम्**=उत्पादित इस अशान्त व अज्ञान से पीड़ित जगत् के **उप**=समीप आ। इन्हें उपदेशामृत से शान्ति का लाभ करा। मनुष्य का आदर्श संसार से भागकर शान्ति-लाभ करना नहीं है, अशान्त संसार में शान्त बने रहना है।

संसार में उपदेशामृत वर्षण के लिए **वाजेभिः**=ज्ञान, शक्ति व त्याग की भावना से भरपूर होकर आना। ज्ञान न होने पर तू औरों को उपदेश ही क्या देगा? शक्ति के अभाव में तू प्रचार-कार्य न कर पाएगा। इन दोनों से बढ़कर त्याग की भावना की आवश्यकता है। इसके बिना संसार में कभी भी कोई लोकहित का कार्य नहीं हुआ।

मा हृणीयथाः=क्रोध न करना। लोकहित का कार्य करते हुए तुझे विचित्र अनुभव होंगे। जिनका तू भला कर रहा है वे तुझपर क्रोध करेंगे, गाली देंगे, परन्तु तुझे उनपर क्रोध नहीं करना।

एक विकृत मनवाला, अपने को स्वामी व बड़ा समझनेवाला युवक अपनी युवति पत्नी पर व्यर्थ में क्रोध करता है, परन्तु **महान्**=एक महान्=ऊँचे घरानेवाला कुलीन, महामना—उदार मनवाला **युवजानिः**=युवति पत्नीवाला **इव**=जैसे कभी क्रोध नहीं करता, इसी प्रकार तुझे भी क्रोध नहीं करना। अनुभवशून्य यह सारा संसार तेरी युवति जाया के ही समान है—उसे सिखाना, उसपर क्रोध न करना। तू पति है—रक्षक है न कि स्वामी। तू Husband=घर को बाँधनेवाला, अर्थात् घर के अन्दर टूट-फूट पैदा न होने देनेवाला है, नकि घर को तोड़नेवाला, अतः इस प्रजा पर क्रोध न करना।

यही मेधातिथि काण्व=समझदार व्यक्ति का मार्ग है। यही व्यक्ति प्रियमेध=ज्ञान के साथ प्रेम करनेवाला है और आङ्गिरस=शक्तिशाली बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु के आदेश के अनुसार परिव्राजक बन लोकहित में प्रवृत्त हों।

नोट—*यहाँ भ्रमवश 'अनमेल विवाह' की गन्ध प्रतीत होती है। वह इसलिए कि 'महान्' का अर्थ 'बड़ी उम्रवाला' करने की परिपाटी है, परन्तु महान् का अर्थ—'उदारमना' उच्च विचारोंवाला व कुलीन, बड़े घरानेवाला करना ही ठीक है। उपमा से प्रभु ने कितना सुन्दर उपदेश दिया है कि कुलीन, उदारमना व्यक्ति अपनी युवा पत्नियों पर क्रोध नहीं किया करते।*

जब सखा बने तब क्रोध का क्या काम?

ऋषि:—कौत्सो दुर्मित्रः सुमित्रो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्राणायाम के तीन लाभ

२२८. कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आ अव श्मशा रुधद्वाः। दीर्घं सुतं वाताप्याय॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि 'दुर्मित्र कौत्स' है। 'कुथ हिंसायाम्' धातु से कौत्स शब्द बना है, यह 'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर' इन छह शत्रुओं का संहार करता है, अतः कौत्स है। 'दुर्मित्र' की भावना यही है कि यह पापों व अपमृत्युओं से अपनी रक्षा करता है। काम-क्रोधादि का संहार करके ही तो वह ऐसा कर पाता है। इस दुर्मित्र कौत्स से प्रभु कहते हैं कि—१. **वसो**=हे उत्तम निवासवाले जीव! तेरे जीवन में **कदा**=कब **स्तोत्रम्**=प्रभु का स्तवन **हर्यते**=तेरी अन्तिम गति व तेरे काम्य प्रभु के लिए होगा, अर्थात् वह दिन कब आएगा जब तू काम-क्रोधादि में न उलझकर, उत्तम जीवनवाला बनकर मेरा स्तवन कर रहा होगा, जो मैं तेरी अन्तिम गति हूँ और तुझसे काम्य हूँ। मुझे प्राप्त कर, तू सभी कुछ प्राप्त कर लेता है। २. **कदा**=कब **श्मशा**=शरीर में जाल की तरह बिछी हुई ये नसें **आ**=सर्वथा **वा:**=वीर्यशक्ति को **अवरुधत्**=अपने में रोकेंगी? श्मशा शब्द यास्क ने कुल्या का पर्याय माना है। कुल्या नहर है, नस-नाड़ियाँ भी शरीर की कुल्याएँ हैं। इनके अन्दर बहनेवाले रुधिर में वीर्य उसी प्रकार व्याप्त होता है, जैसे दूध में घृत। मन में जब किसी प्रकार के कुविचारों का मन्थन चलता है तब यह वीर्य रुधिर से उसी प्रकार अलग हो जाता है, जिस प्रकार दूध से घृत (दही से मक्खन)। इस वीर्य के अलग होने पर रुधिर उतना ही अशक्त हो जाता है, जितना सपरेटा। न तो मनुष्य पूर्णरूपेण स्वस्थ रह पाता है और न ही उसका मस्तिष्क कोई गम्भीर अध्ययन कर पाता है। ३. अब प्रभु जीव से कहते हैं **दीर्घं सुतम्**=अन्धकार का विदारण करनेवाला (दृ विदारणे) ज्ञान तुझे **कदा**=कब प्राप्त होगा। ज्ञान ही वासनान्धकार को विलीन करनेवाला होता है।

एवं, प्रभु हमसे तीन बातें चाहते हैं १. हमारा झुकाव प्रकृति के भोगों की ओर न हो, हम प्रभु-स्तवन करनेवाले बनें, २. हम वीर्य का संयम करें और ३. हम अपने अन्दर ज्ञान-सूर्य का उदय करें। ये तीनों बातें कैसे होंगी?' इसके लिए मन्त्र के अन्तिम सम्बोधन में संकेत उपलभ्य है। **वाताप्याय**=हे वात को—अपने प्राणों को—आप्यायित=वृद्ध करनेवाले जीव! इस सम्बोधन के द्वारा प्रभु कह रहे हैं कि प्राणों की साधना करो—प्राणायाम करने पर मन्त्रनिर्दिष्ट तीनों ही बातें तुम्हारे जीवन में आ जाएँगी। निरुद्ध वीर्यशक्ति शरीर को नीरोग बनाएगी, मन को प्रभु-प्रवण और मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञान-सूर्य से दीप्त।

भावार्थ—हम प्राणायाम द्वारा शरीर को नीरोग, मन को पवित्र व ज्ञान को दीप्त बनाएँ।

ऋषि:—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

आचार्य-शिष्य का सम्बन्ध

२२९. ब्राह्मणादिन्द्र राधसः पिबा सोममृतूँरनु। तवेदं सख्यमस्तृतम्॥ ७॥

गत मन्त्र की समाप्ति पर 'दीर्घं सुतम्'=अज्ञानान्धकार के नाशक ज्ञान का उल्लेख हुआ

है, 'यह ज्ञान कैसे प्राप्त होगा' इस बात का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में है। जीव का ज्ञान नैमित्तिक है। प्रभु का ज्ञान स्वाभाविक है—सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु श्रेष्ठ, निर्दोष हृदयोंवाले 'अग्नि, वायु आदित्य, अङ्गिरा' ऋषियों को वेदज्ञान देते हैं। इस वेदज्ञान को अग्नि आदि से अन्य ऋषि प्राप्त करते हैं—उनसे अगले, और वे अगलों को ज्ञान देते हैं। इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से ज्ञान प्राप्त होता है। १. गुरु कैसे होने चाहिए? २. शिष्य का क्या कर्त्तव्य है? ३. और ज्ञान-प्राप्ति का क्या नियम है? इन विषयों का प्रस्तुत मन्त्र में विचार है।

गुरु—गुरु के गुणों का उल्लेख करनेवाले शब्द **ब्राह्मणात्** और **राधसः** हैं। १. **ब्राह्मणात्**=ब्राह्मण से, ब्रह्मवेत्ता से। जिसने अपरा विद्या के अध्ययन के अनन्तर पराविद्या भी पढ़ी हो उस आचार्य से विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त करना है। आचार्य को ज्ञान का समुद्र होना चाहिए। सभी विद्याओं का पारङ्गत आचार्य ही विद्यार्थी की श्रद्धा का आधार हो सकता है। वही स्वयं अग्निरूप होता हुआ विद्यार्थी में ज्ञानाग्नि को समिद्ध कर सकता है। २. **राधसः**=(राध=सिद्धि) सिद्धि को प्राप्त गुरु से। गुरु साधना को बहुत कुछ पूर्ण करके मन को वश में कर चुके हों, तभी वे विद्यार्थियों के आचार का निर्माण कर सकते हैं। एवं, आचार्य का मस्तिष्क ज्ञान से दीप्त हो और मन वशीभूत होने से निर्मल हो।

शिष्य—ऐसे आचार्य से हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **सोमं पिब**=ज्ञान का पान कर। १. जो शिष्य इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता न होगा, वह ज्ञान को ठीक प्रकार से प्राप्त न कर सकेगा। ज्ञान तभी प्राप्त होता है, जब वह केवल विद्या का ही अर्थी हो। २. शिष्य के लिए दूसरा नियम यह है कि वह नियमपूर्वक विद्या का अध्ययन करे। मन्त्र में 'ब्राह्मणात्' यह पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग इस नियमपूर्वक विद्याग्रहण का संकेत करता है। नियमपूर्वक विद्याग्रहण में ही 'आख्यातोपयोगे' सूत्र से पञ्चमी विभक्ति आती है। यह भावना स्पष्ट शब्दों में भी **ऋतून् अनु**=शब्दों से व्यक्त हुई है। ऋतुएँ जैसे नियमित गति से आगे और आगे चल रही हैं उसी प्रकार विद्यार्थी को नियमित गति से अध्ययन करना चाहिए। 'ऋतु' शब्द नियमित गति का प्रतीक है। नियमित गति के बिना अध्ययन हो ही नहीं पाता।

अविच्छिन्नता से—हे शिष्य **तव**=तेरा **इदम्**=यह **सख्यम्**=आचार्य के साथ ज्ञान-प्राप्ति के लिए हुआ-हुआ सम्बन्ध **अस्तृतम्**=अविच्छिन्न हो। तू सदा आचार्य के समीप रहकर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाला हो। तू 'अन्तेवासी' बन।

इस प्रकार विद्वान् एवं धार्मिक आचार्य के समीप रहकर नियम से ज्ञान प्राप्त करनेवाला जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि'=निरन्तर ज्ञान की ओर चलनेवाला बनता है। कण-कण करके ज्ञान प्राप्त कर यह 'काण्व' बन जाता है।

भावार्थ—आचार्य और विद्यार्थी का अविच्छिन्न सम्बन्ध ज्ञान की ज्योति को जगानेवाला हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र व उपेन्द्र शब्द

२३०. वयं घा ते अपि स्मसि स्तोतार इन्द्र गिर्वणः। त्वं नो जिन्व सोमपाः॥ ८॥

प्रभु इन्द्र हैं तो जीव उपेन्द्र है। उपेन्द्र इन्द्र से कहता है कि **वयम्**=(वेञ् तन्तुसन्ताने)

कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले हम **घ**=निश्चय से **ते**=तेरे **अपि**=ही **स्मसि**=हैं, अर्थात् कर्मों को करते हुए हम तेरा भी स्मरण करते हैं। तेरे स्मरण के साथ अपने कार्यों को करते हुए हम तेरे **स्तोतारः**=स्तुति करनेवाले हैं। हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! आप **गिर्वणः**= वेदवाणियों से स्तवन करने योग्य हैं। इस प्रकार जीव प्रभु से संकेतरूप में कहता है कि मैंने अपने जीवन में यथासम्भव कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड व ज्ञानकाण्ड को ही स्थान दिया है।

अब प्रभु जीव से कहते हैं कि **त्वम्**=तू **नः**=हमें **सोमपाः**=सोम का पान करनेवाला बनकर **जिन्व**=प्रीणत कर। जो सुचरितों से पिता को प्रीणत करे पुत्र तो वही है, अतः यहाँ भी हम अपने पिता उस प्रभु को अपने उत्तम कार्यों से ही प्रसन्न कर सकते हैं। यहाँ उन सब उत्तम कर्मों का संकेत 'सोमपाः' शब्द से हुआ है। ये कार्य क्रमशः १. सोम=Semen= Vitality की रक्षा करना, २. सौम्यता का धारण करना, ३. और मस्तिष्क को सोम=ज्ञान से परिपूर्ण करना है। सोम शब्द के तीनों अर्थ हैं—१. वीर्य २. सौम्यता और ३. ज्ञान। प्राणमयकोश में वीर्य का, मनोमयकोश में सौम्यता का और विज्ञानमयकोश में ज्ञान का पान करके प्रभु को प्रीणत करता हुआ जीव सचमुच उपेन्द्र बन जाता है।

भावार्थ—हम सोमपान द्वारा प्रभु को प्रीणत करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रो गाथिनोऽभीपाद् उदलो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शक्ति का संचार करना

२३१. एन्द्र पृक्षु कासु चिन्नृम्णं तनूषु धेहि नः। सत्राजिदुग्र पौंस्यम्॥ ९॥

प्रभु जीव से कह रहे हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **आ**=अपने चारों ओर **पृक्षु**=तेरे सम्पर्क में आनेवाले (पृची सम्पर्के) **कासुचित्**=जो कोई भी हों, उनमें बिना रूप-रङ्ग का भेद किये, बिना किसी जाति के भेद के **नः तनूषु**=हमारे सभी शरीरों में **नृम्णम्**=बल को **धेहि**=रख। मैं सब भूतों में समानरूप से निवास कर रहा हूँ। सभी शरीर मेरे ही रूप हैं, यह समझ सभी को बल व उत्साहयुक्त करने का ध्यान करना और सभी के अन्दर आशावाद का संचार करना। तू लोगों के अन्दर उस शक्ति का संचार करना जो **पौंस्यम्**=पुरुषार्थ व पवित्रता को उत्पन्न करनेवाली हो, जो उन्हें पुमान् न कि नपुंसक बनाती है और (पूञ् पवने)—उन्हें पवित्र बनाती है। प्रभु इन्द्र की केवल वैयक्तिक उन्नति से प्रसन्न नहीं होते, वे चाहते हैं कि जीव सोमपान द्वारा वैयक्तिक साधना करके लोकसंग्रह भी करे। संसार में आशावाद का संचार करे, लोगों को सत्कर्मों में प्रेरित करे।

परन्तु ऐसा वह कर कब पाएगा? तभी जबकि वह स्वयं **सत्राजित्**=सदा अपनी इन्द्रियों पर विजय पानेवाला होगा और **उग्र**=बड़ी उदात्तवृत्तिवाला (noble) होगा। स्वयं जितेन्द्रिय न होने पर वह अपने आप भी उत्साह-सम्पन्न न होगा, औरों को क्या उत्साहित करेगा? और यदि उसकी वृत्ति उदात्त न होगी तो वह सभी में प्रेम के साथ न विचर सकेगा।

सभी में प्रेम के साथ विचरनेवाला, यह उग्र सत्राजित् 'विश्वामित्र' है=सभी के साथ स्नेही। यह प्रभु का सच्चा उपासक है 'गाथिनः'। यह लोकहित के लिए सभी के प्रति जाता है—(अभिपद्यते), अतः 'अभीपाद्' है, तुच्छ भेदभावों से ऊपर उठकर (उत्) अपने को उत्कृष्ट गुणों से अलंकृत करनेवाला है, (अल् भूषणे) इसका नाम 'उदल' है।

भावार्थ—हम प्रभु के निर्देशानुसार लोगों में उत्साह का संचार करनेवाले बनें।

ऋषि:—श्रुतकक्ष आङ्गिरस:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—गायत्री॥ स्वर:—षड्ज:॥

यह तेरी सफलता है (स्थितप्रज्ञ)

२३२. एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिर:। एवा ते राध्यं मन:॥ १०॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि यदि तू १. सोमपान करता है और २. सोमपान करके शक्तिशाली बनता है, मन में सौम्यता को धारण करता है और मस्तिष्क में ज्ञान को भरता है तथा ३. इस प्रकार वैयक्तिक उन्नति करके लोकसंग्रह के लिए लोगों में उत्साह भरता है तो **एव हि**=निश्चय से तू **वीरयु: असि**=वीरता के साथ मेलवाला है, अर्थात् वीर है **एव शूर:**=इसी प्रकार तू बुराइयों का संहार करनेवाला है, **उत**=और **स्थिर:**=स्थिर मनोवृत्तिवाला, अर्थात् स्थितप्रज्ञ है तथा **एव**=इसी प्रकार **ते**=तेरा **मन:**=मन **राध्यम्**=सदा सिद्ध करने योग्य है।

इस प्रकार प्रभु ने 'स्थितप्रज्ञ' का लक्षण दिया है जो स्वयं उन्नत होकर लोकों को उत्साहित करने में लगा रहता है।

यही व्यक्ति 'श्रुतकक्ष आङ्गिरस' है—ज्ञान की शरण में रहनेवाला, शक्तिशाली।

भावार्थ—हम वीर, शूर, स्थिर व सिद्ध मनवाले बनें।

नोट—*मन्त्र संख्या २३० के उत्तरार्ध से यदि मन्त्रों का व्याख्यान प्रभु का जीव के प्रति कथन के रूप में करें तो प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ बड़ा सङ्गत हो जाता है, परन्तु यदि उन्हें परमात्मापरक लगाया जाए तो प्रस्तुत मन्त्र व्यर्थ-सा प्रतीत होता है। 'इसी प्रकार तेरा मन राध्य=सिद्धि के योग्य है', यह वाक्य जीव के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है, परमात्मा के लिए नहीं।*

पञ्चमी दशति:

ऋषि:—वसिष्ठो मैत्रावरुणि:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—बृहती॥ स्वर:—मध्यम:॥

स्वर्ग का दर्शन

२३३. अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धाइव धेनव:।
ईशानमस्य जगत: स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुष:॥ १॥

हे **शूर**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभो! **त्वा अभि**=तेरी ओर आते हुए तेरी **नोनुम:**=खूब स्तुति करते हैं। जब मन खाली हो तो उसे प्रभु की नामस्मरणरूपी बल्ली पर चढ़ाओ व उतारो तब वह मन कभी तुम्हारा संहार न कर पाएगा। उस समय यह मन हमारा उत्तम मित्र होगा और हमारे मोक्ष का साधन बनेगा। प्रभु-नाम-स्मरण में व्याप्त मन हमारा मित्र है—खाली मन हमारा शत्रु है।

अदुग्धा: धेनव: इव=जो गौवें दुग्धदोह नहीं हो चुकीं, उनके समान। 'धेनु' नवसूतिका गौ है—जिसका यौवन प्रारम्भ हुआ है। उस धेनु के समान यौवन के प्रारम्भ में ही हम आपके स्तोता बनें। यदि यौवन में प्रभु-स्मरण से पृथक् न होंगे तो यौवन से भी पृथक् न होंगे।

आप **अस्य**=इस **जगत:**=जङ्गम जगत् के **ईशानम्**=ईशान हैं। हे **इन्द्र**=सर्वैश्वर्यवाले प्रभो! आप **तस्थुष:**=स्थावर जगत् के भी **ईशानम्**=ईशान हैं। चराचर के स्वामी आपका हम ध्यान

करें। आपके ध्यान से ही हम भी संसार के दास न बनकर संसार के ईश होंगे। वस्तुतः इस प्रकार आप हमें दास के स्थान में स्वामी बनाकर **स्वर्दृशम्**=स्वर्ग का दर्शन कराते हैं। आपकी उपासना हमारे स्वर्ग का साधन बनती है। हम वसिष्ठ=उत्तम निवासवाले व वशियों में श्रेष्ठ बनते हैं। प्रभु की उपासना हमें सभी के साथ मित्रतावाली व राग-द्वेष से शून्य 'मैत्रावरुणि' बनाती है।

भावार्थ—हम यौवन में ही प्रभु के उपासक बनें। 'कर्म-उपासना-कर्म'—यह हमारे जीवन का क्रम हो। हमारे कर्मों के विच्छेद उपासनाओं से भरे हों।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त

२३४. त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः॥ २॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **वाजस्य सातौ**=शक्ति, त्याग व ज्ञान की प्रगति के निमित्त **त्वाम् इत् हि**=निश्चय से आपको ही **हवामहे**=पुकारते हैं। आपके उपासक बनने पर ही हमारे शरीर शक्ति-सम्पन्न, मन त्याग की भावना से परिपूर्ण तथा मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से दीप्त होते हैं, आपकी कृपा से ही सब-कुछ होना है, परन्तु आपकी कृपा को वे ही प्राप्त करते हैं जो **कारवः**=क्रियाशील होते हैं। बिना क्रियाशीलता के कोई आपकी कृपा का पात्र नहीं बन पाता। 'कारु' उस व्यक्ति को कहते हैं जो बड़े कलापूर्ण ढङ्ग से क्रिया करता है। क्रिया को कुशलता से करना ही योग है, अतः योगी बनकर जो सदा क्रिया में लगा रहता है, वह प्रभु की प्रार्थना का अधिकारी होता है।

हे इन्द्र! **वृत्रेषु**=ज्ञान को आवृत करनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि शत्रुओं के प्रबल होने पर हम **त्वाम्**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं, क्योंकि आप **सत्पतिम्**=सयनों का पालन करनेवाले हैं, परन्तु हम कब आपको पुकारते हैं? जबकि **नरः**=हम 'ना' बनते हैं। 'ना' शब्द 'नृ नये' से बनता है और उस व्यक्ति का वाचक है जो अपने को सदा आगे और आगे प्राप्त कराने में लगा है। दूसरे शब्दों में जो स्वयं पुरुषार्थी है, वही उस प्रभु को पुकारने का अधिकार रखता है।

हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **अर्वतः**=प्रयत्नों की (अर्व् गतौ) अथवा (अर्व=to kill) शत्रुओं के संहार की **काष्ठासु**=चरम सीमाओं पर पुकारते हैं। जब हम अपना पुरुषार्थ कर चुकते हैं और हममें और अधिक शक्ति शेष नहीं रहती, उसी समय हम आपकी सहायता की याचना करते हैं।

इस प्रकार इस मन्त्र में १. 'कारवः'=कलापूर्ण ढङ्ग से क्रिया करनेवाले, २. 'नर'=अपने को आगे और आगे प्राप्त करानेवाले तथा ३. अर्वतः 'काष्ठासु'=प्रयत्नों की चरम सीमा पर, इन तीन शब्दों से इस बात पर बल दिया गया है कि प्रार्थना के साथ पूर्ण पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुषार्थ करनेवाला यह व्यक्ति 'भरद्वाज'=अपने में शक्ति को भरनेवाला बनता है और ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करके बार्हस्पत्य होता है।

भावार्थ—हम सदा पुरुषार्थमय जीवन बिताते हुए प्रभु की प्रार्थना के अधिकारी बनें।

ऋषि:—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

पापशून्य, पर्याप्त, प्रमोदमय धन

२३५. अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति॥ ३॥

गत मन्त्र में उपासक 'ज्ञान, शक्ति व त्याग' के लिए तथा वासनाओं पर विजय-प्राप्ति के लिए प्रभु को पुकारते हैं। वस्तुतः इस संसार में वह प्रभु ही हमें सिद्धि प्राप्त करानेवाले हैं। इस मन्त्र का ऋषि 'प्रस्कण्व'=अत्यन्त मेधावी अपने सब साथियों से यह रहस्य की बात कहता है कि **वः**=आप सबको **सुराधसम्**=उत्तम सफलता प्राप्त करानेवाले **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अभि**=जब-जब कार्यों से अवकाश मिले तब, अर्थात् चारों ओर से प्रभु की ओर आकर **प्र-अर्च**=खूब अर्चना करो। इस अर्चना से आपको **यथाविदे**=यथार्थ-ज्ञान प्राप्त होगा। वस्तुतः ज्ञान का स्रोत अन्दर से ही उमड़ता है। बाह्य ज्ञान उस अन्तःस्रोत को क्रियाशील बनाने में सहायक होता है, अतः उस प्रभु की अर्चना हमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराएगी। **यः**=वे प्रभु **जरितृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **मघवा**=(मा-अघ) पापशून्य धनवाले हैं, **पुरूवसुः**=पालन और पूरण के लिए पर्याप्त धन देनेवाले हैं और **सहस्रेण इव**=आमोद के साथ सहस् **शिक्षति**=देते हैं। संक्षेप में प्रभु अपने भक्तों को पापशून्य, पालन-पूरण के लिए पर्याप्त, प्रमोदमय धन प्राप्त कराते हैं। प्रभु भक्तों को कभी खाने-पीने का कष्ट होता हो, ऐसी बात है नहीं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम अर्चना करनेवाले बनें, जिससे हमारा जीवन सफल, यथार्थज्ञानवाला, पापशून्य तथा पर्याप्त प्रमोदमय सम्पत्ति-सम्पन्न बने।

ऋषि:—**नोधा गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

गौएँ जिस प्रकार बछड़ों का

२३६. तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे॥ ४॥

इस मन्त्र का ऋषि 'नोधा गोतम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला है और नवधा=नवीन प्रकार से अपना धारण करनेवाला है। सामान्य प्रकार तो अपने मुख में आहुति देते हुए विचरनेवाले असुरों का है, विशेष प्रकार वह है जिसमें 'दूसरों को खिलाने द्वारा अपने को खिलाना'। यही वह नवीन धारण का प्रकार है, जिसके कारण इस मन्त्र का ऋषि 'नवधा' कहलाया है। नवधा की इन्द्रियाँ विषयाक्रान्त न होने से प्रशस्त बनी रहती हैं, अतः यह गोतम है। यह गोतम कहता है कि हममें धारण की यह नवीन वृत्ति बनी रहे—हम किसी को पराया समझें ही नहीं—अतः **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **नवामहे**=स्तुत करते हैं जो **वः दस्मम्**=तुम्हारे (दसु उपक्षये) शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं, **ऋतीषहम्**='काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर' नामक आक्रान्ताओं का पराभव करनेवाले हैं और साथ ही **वसोः अन्धसः मन्दानम्**=निवास के लिए पर्याप्त अन्न से तृप्त करनेवाले हैं (मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः)।

प्रभु-स्मरण से अन्तःकरण की पवित्रता प्राप्त होती है। पवित्र अन्तःकरणवाला व्यक्ति छल-बल से धनादि का संग्रह नहीं करता, परन्तु वह भूखा भी नहीं मरता। प्रभु उसे निवास के लिए पर्याप्त सात्त्विक अन्न प्राप्त कराते हैं, अतः यह भक्त उत्तम बुद्धिवाला बनकर और भी उत्तम मार्ग का आक्रमण करता है और सदा उस प्रभु का स्मरण करता है। **न**=जैसेकि **धेनवः**=नवसूतिका गौवें **स्वसरेषु**=गृहों पर स्थित **वत्सम् अभि**=बछड़े की ओर ध्यान रखती हैं, इसी प्रकार यह गोतम भी सांसारिक कार्यों को करता हुआ सदा प्रभु का स्मरण करता है। यह स्मरण ही उसे पथभ्रष्ट नहीं होने देता, अपितु उसे उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचानेवाला होता है। उस **'सा काष्ठा सा परागतिः'**=प्रभुरूप उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर वह अनुभव करता है कि प्रभु ही 'दस्मम्'=दर्शनीय (Beautiful) हैं। संसार में जहाँ-जहाँ सौन्दर्य है, वहाँ प्रभु के ही तेज का अंश उस सौन्दर्य का मूल है। वह प्रभु 'दस्मम्'=अद्भुत (wonderful) हैं, उनकी महिमा का पूरा-पूरा चिन्तन सम्भव नहीं।

भावार्थ--उस अचिन्त्यमहिम प्रभु के स्मरण द्वारा हम वासना-जगत् से ऊपर उठें।

ऋषिः--**कलिः प्रगाथः**॥ देवता--**इन्द्रः**॥ छन्दः--**बृहती**॥ स्वरः--**मध्यमः**॥

प्रभु विदद्वसु हैं

२३७. तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये।
बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम्॥ ५॥

इस मन्त्र का ऋषि 'कलिः प्रगाथः' है। कलि का शब्दार्थ है--संग्रह (Collect) करनेवाला। यह संसार के सभी घटनाचक्रों में उत्तम वस्तुओं का ही संकलन करता है। यही प्रभु का सच्चा गायन करनेवाला है। यह अपने साथियों से कहता है कि मैं उस **इन्द्रम्**= परमैश्वर्यशाली प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ जो **वः**=आप सबको **तरोभिः**=वेगों के द्वारा, स्फूर्ति के साथ किये जानेवाले कार्यों के द्वारा **विदद्वसुम्**=उत्तम धन व रत्नों को प्राप्त करानेवाला है। मैं उस प्रभु को पुकारता हूँ जो **भरम्**=मेरा भरण करनेवाले हैं **न**=और (न=च) **कारिणम्**=मुझसे पुरुषार्थ करानेवाले हैं। वस्तुतः **सबाधः**=(बाध्=आलोडन) इस संसार-समुद्र का आलोडन करनेवाले व्यक्ति **ऊतये**=रक्षा के लिए **सुतसोमे अध्वरे**=जिसमें शक्ति उत्पन्न की गयी है, उस हिंसाशून्य जीवन में **बृहद् गायन्तः**=उस प्रभु का खूब गान करनेवाले होते हैं। परमेश्वर का सच्चा उपासक १. अपने जीवन में शक्ति का सम्पादन करता है २. किसी की हिंसा नहीं करता, ३. संसार-समुद्र का मन्थन करनेवाला होता है, अर्थात् आलसी नहीं होता। ४. अनुकूल-प्रतिकूल सभी घटनाओं में अविचलित हो प्रभु का गायन करता है।

मन्त्र का ऋषि कलि इस तत्त्व को समझ चुका है कि प्रभु हमें सब आवश्यक उत्तमोत्तम पदार्थ प्राप्त कराते हैं, वे विदद्वसु हैं, परन्तु कब? जब हम १. **तरोभिः**=वेगों से युक्त हों, हमें आलस्य छू भी न गया हो। २. **सबाधः**=हम संसार-समुद्र का आलोडन करें, व्याकुल हो किनारे पर न बैठे रह जाएँ, ३. **कारिणम्**=प्रभु की प्रेरणानुसार कर्म करते चलें। वे प्रभु कारी हों, मैं कर्त्ता बनूँ।

भावार्थ--क्रियाशील बन मैं वसु-प्राप्ति का अधिकारी होऊँ।

ऋषिः—वसिष्ठो मैत्रावरुणिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

मैं प्रभु को झुकाता हूँ (आत्मा का सारथि—बुद्धि)

२३८. तरणिरित् सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा।
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्रुवम्॥ ६॥

गत मन्त्र का केन्द्रीभूत विचार यह था कि १. मनुष्य आलस्य को परे फेंककर वेग से कार्य में जुटे, २. संसार-समुद्र का मन्थन करे और ३. उस 'कारी' प्रभु के निर्देशानुसार कार्य करनेवाला बने। जो व्यक्ति इस प्रकार कार्य में लगा रहता है, वह वासनाओं को तैर जाता है। यह **तरणिः**=वासनाओं को तैरनेवाला **इत्**=सचमुच **वाजम्**=शक्ति, त्याग व ज्ञान का **सिषासति**=सम्यक् सेवन करता है। वासनाओं को तैरे बिना शक्ति, त्याग व ज्ञान को प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु ऐसा वह तभी कर पाता है जब वह **पुरन्ध्या युजा**=पालक और पूरक बुद्धि से संयुक्त होता है। (पृ पालनपूरणयोः से पुरं, धी=बुद्धि)। आत्मा रथी है तो बुद्धि सारथि है। बुद्धि के बिना यह शरीररूप रथ रथी=आत्मा को उद्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँचा सकता। एवं, तरणि=आत्मा पुरन्धी से युक्त हो वाज का सेवन कर पाता है और यही तरणि **वः इन्द्रम्**=हम सबके लिए उस परमैश्वर्यशाली **पुरुहूतम्**=बहुतों-से पुकारे जाने योग्य प्रभु को **गिरा**=वेदवाणियों के द्वारा **आनमे**=अपने प्रति नत=झुकाववाला=कृपादृष्टिवाला बनाता है। **इव**=जिस प्रकार **तष्टा**=बढ़ई=कारु **सुद्रुवम् नेमिम्**=उत्तम लकड़ीवाली नेमि को झुकाता है।

यहाँ प्रभु को अपनी ओर झुकाववाला करने के दो साधनों का संकेत है—१. **गिरा**=वेदवाणी के द्वारा तथा २. **तष्टेव**=बढ़ई की भाँति उत्पादक कार्य में लगे रहने के द्वारा। ज्ञान और कर्म हमें प्रभु की कृपा के पात्र बनाते हैं।

प्रभु को यहाँ 'सुद्रुवम् नेमिम्' का रूपक दिया है। उत्तम लकड़ीवाली नेमि सदा झुकने को तैयार है। प्रभु सदा कृपा के लिए उद्यत हैं। प्रभु इस संसार-चक्र की नेमि के समान हैं भी, वे ही इन पिण्डों को विच्छिन्न नहीं होने देते।

एवं जीव का कर्त्तव्य यही है कि वह वासनाओं को जीतकर 'वसिष्ठ' बने। वासना-विजय के लिए प्राणापान की साधना करनेवाला, 'मैत्रावरुणि' बने। यह मैत्रावरुणि वसिष्ठ ही तरणि है। यही प्रभु की कृपा का पात्र होता है।

भावार्थ—मैं तरणि बनूँ, पालक व पूरक बुद्धि से युक्त बनूँ, बढ़ई की भाँति उत्पादक कार्यों में लगा रहूँ और प्रभु को अपने प्रति कृपालु बनाऊँ।

ऋषिः—मेधातिथिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

कृपालु प्रभु का उपदेश

२३९. पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः।
आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधे३ऽस्माँ अवन्तु ते धियः॥ ७॥

गत मन्त्र में वसिष्ठ प्रभु को अपने प्रति कृपालु बनाता है। प्रभु कृपालु होकर अपने प्रिय

जीव से कहते हैं **पिब नः सुतस्य**=तू मेरे द्वारा उत्पादित सोम—वीर्यशक्ति का अपने अन्दर पान कर और इसके द्वारा अपनी ज्ञानाग्नि को समिद्ध करके **सुतस्य**=उत्पादित ज्ञान का पान कर। इस सोम का पान तू इसलिए कर कि यह १. **रसिनः**=तेरे जीवन को रसमय बनाएगा—तेरी वाणी से उच्चारित शब्दों में माधुर्य होगा तथा २. **गोमतः**=(गावः=इन्द्रियाणि, मतुप्=प्रशंसायाम्) यह तुझे प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनाएगा। यह सोम का पान तेरे चरित्र में उत्तमता तथा व्यवहार में मधुरता उत्पन्न करेगा। इस प्रकार हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **मत्स्व**=जीवन को आनन्दमय बना। जीवन का वास्तविक आनन्द माधुर्य व इन्द्रिय—नैर्मल्य में ही है।

प्रभु के इस उपदेश को सुनकर 'मेधातिथि'=निरन्तर मेधा की ओर चलने की कामना करनेवाला यह जीव प्रभु से कहता है—

१. **आपिः नः**=आप ही हमारे बन्धु हो। आपने हमें अपने अन्दर व्याप्त किया हुआ है, तभी आप हमारे हृदयों में व्याप्त हो रहे हो। २. **बोधि**=आप हमें बोध दीजिए, इसलिए कि (क) **सधमाद्ये**=हम आपके साथ (सह) रहने में हर्ष का अनुभव करें, (ख) **वृधे**=हम सदा वृद्धि व उन्नति के मार्ग का आक्रमण करनेवाले बनें। हे परम उदात्त मित्र! **अस्मान्**=हमें **ते**=आपकी **धियः**=दी हुई बुद्धियाँ **अवन्तु**=संसार—समुद्र में डूबने से बचाएँ। हम आपके निर्देशों के अनुसार चलते हुए अपना कल्याण सिद्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—मैं सोम=शक्ति व ज्ञान के पान से अपने जीवन को मधुर व प्रशस्तेन्द्रिय बनाऊँ। ज्ञान—रुचिवाला बनकर प्रभु के सम्पर्क में आनन्द का अनुभव करूँ और सदा उन्नति—पथ पर आगे बढ़ता चलूँ।

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

धन के तीन विनियोग

२४०. त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये।
उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये॥ ८॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **चेरवे**=निरन्तर चरण—शील—क्रियाशील मेरे लिए **एहि**=आइए। प्रभु उस व्यक्ति को प्राप्त होते हैं जो क्रियाशील है। अकर्मण्य व्यक्ति कभी भी प्रभु का प्रिय नहीं होता। हे प्रभो! मुझ श्रमशील को आप प्राप्त होओ और **भगं विदाः**=ऐश्वर्य प्राप्त कराइए। (विद् provide)। यह ऐश्वर्य आप मुझे क्यों प्राप्त कराएँ? **वसुत्तये**=धन देने के लिए। (वसु+दा+ति)। धन का सर्वोत्तम विनियोग 'दान' है। मनुष्य दान से अपनी पापवृत्तियों को नष्ट करके अपना परिमार्जन कर लेता है। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! आपसे प्राप्त कराया हुआ धन निष्पाप है (मा+अघ)। उस धन को आप **उत् वृषस्व**=मुझपर खूब बरसाइए, जिससे **गविष्टये**=मेरा ज्ञानेन्द्रियों का यज्ञ खूब चले। (गावो ज्ञानेन्द्रियाणि, इष्टि=यज्ञ)। धन का दूसरा उत्तम विनियोग यही है कि मैं उससे ज्ञान के साधनों को जुटाने में लग जाऊँ। ज्ञानयज्ञ में धन का व्यय सात्त्विक व्यय है। ३. हे **इन्द्र**=(उत् वृषस्व) अवश्य मुझपर बरसिए, जिससे **अश्वम् इष्टये**=मेरा कर्मेद्रियों का यज्ञ ठीक चले। अश्व=कर्मों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानयज्ञ चले, तो कर्मेन्द्रियों से कर्मयज्ञ चलते रहें। ज्ञानयज्ञ के लिए स्वाध्याय के साधनों को जुटाना था, अब कर्मयज्ञ

के लिए सामग्री को जुटाना है। धन का इससे सुन्दर विनियोग नहीं है कि १. दान किया जाए, २. उसका ज्ञानयज्ञ में विनियोग किया जाए ३. अग्निहोत्रादि कर्मयज्ञ किये जाएँ।

धन के इन तीन विनियोगों को करनेवाला व्यक्ति ही 'धन्य' है। वही सुकृति व पुण्यवान् है। जिसने धन का ठीक विनियोग किया वही 'भर्ग'=ठीक परिपाकवाला, शुद्ध चमकते हुए जीवनवाला बना। धन का दास न बनकर यह प्रभु का सच्चा गायन करनेवाला 'प्रागाथ' कहलाया है।

भावार्थ–मैं प्रभु-कृपा से धन प्राप्त करूँ और उसे दान, ज्ञानयज्ञ व कर्मयज्ञ में विनियुक्त करूँ।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

कामी का भी सोमपान, प्राणों की आराधना

२४१. न हि वश्चरमं च न वसिष्ठः परिमंसते।
अस्माकमद्य मरुतः सुते सचा विश्वे पिबन्तु कामिनः॥ ९॥

शरीर में प्राण मुख्यरूप से 'प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान' इन पाँच भेदों में तथा 'नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त व धनञ्जय' इन पाँच गौण भेदोंसहित कितने ही उपभेदों में विभक्त होकर कार्य कर रहा है। ये प्राण के ४९ भेद ही 'मरुतः' कहलाते हैं। इन्हें वशीभूत करके चित्तवृत्तियों के दमन द्वारा जो व्यक्ति इन्द्रियों को शान्त करता है, वह 'वसिष्ठ' कहलाता है। प्राणापानों की साधना के कारण ही यह 'मैत्रावरुणि' है। (मित्रावरुणौ=प्राणापानौ)।

प्राणापान का संयम वशी बनने का सर्वोत्तम प्रकार है। वसिष्ठ किसी गौण प्राणभेद की भी उपेक्षा नहीं करता। यह वशी कहता है कि **मरुतः**=हे मरुतो! **वसिष्ठः**=मैं वसिष्ठ **वः**=आपके **चरमं च न**=अन्तिम प्राणभेद को भी **परि**=छोड़कर **न हि मंसते**=आराधना नहीं करता हूँ। मैं मुख्य, गौण व गौणतर भेदों में विभक्त सभी प्राणों की स्तुति करता हूँ। इन प्राणों के वश में करने का ही यह परिणाम है कि **अद्य**=आज **विश्वे कामिनः**=नाना प्रकार के भोगों की कामना करनेवाले ये **अस्माकम्**=हमारे सब प्राण **सचा**=मिलकर **सुते**=(सुतं का द्विवचन) सोम व ज्ञान का **पिबन्तु**=पान करें। 'सुतम्' शब्द सोम=[vitality] का भी वाचक है तथा ज्ञान का भी। जब तक मनुष्य प्राणों की साधना नहीं करता तब तक उसकी प्राणशक्ति उसके भोगों के भोगने में व्यय होती है और ज्योंहि उसने इन प्राणों की साधना कर ली त्योंहि ये कामी न रहकर सोम व ज्ञान का पान करनेवाला इन्द्र बन जाता है। कितना महान् परिवर्तन उसके जीवन में आ जाता है!

भावार्थ–मैं कामी न रहकर सोमपान करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**प्रगाथो घौरः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

केवल उस प्रभु का शंसन

२४२. मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥ १०॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार प्राणों की साधना करके व्यक्ति जहाँ अपने शरीर को

स्वस्थ बनाता है, वहाँ अपने मन को निर्मल बनाता है और बुद्धि को तीव्र। ऐसा जीवन बनाकर यह जिस निर्णय पर पहुँचता है, उसकी घोषणा इस रूप में करता है—**सखायः**=हे मित्रो! **अन्यत्**=प्रभु को छोड़ किसी अन्य का **मा चित्**=मत **विशंसत**=शंसन करो। केवल प्रभु के ही उपासक बनों। केवल प्रभु के उपासक बनने का परिणाम यह होगा कि **मा**=मत **रिषण्यत**=हिंसित होओ। मनुष्य प्रभु को छोड़ प्रकृति व जीवों का उपासक बनकर सांसारिक दृष्टिकोण से कुछ आगे बढ़ा हुआ प्रतीत होता है, परन्तु उसे वास्तविक शान्ति कभी प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए इस मन्त्र का ऋषि 'प्रगाथ'=प्रभु का प्रकृष्ट गायन करनेवाला घौर=उदात्त स्वभाववाला काण्वः=अत्यन्त मेधावी कहता है कि **इन्द्रम् इत्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **स्तोत**=स्तुत करो **वृषणम्**=उस प्रभु को जो सब प्रकार के सुखों की वर्षा करनेवाले हैं। प्रभु परमैश्वर्यशाली होने के साथ बरसनेवाले भी हैं, अतः **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **सचा**=मिलकर **मुहुः**=फिर-फिर **उक्था च**=स्तोत्रों का **शंसत**=शंसन करो। घरों में प्रातः-सायं अवश्य ऐसा समय होना चाहिए जब घर में सभी मिलकर प्रभु का स्तवन करें। इस प्रकार का सम्मिलित स्तवन सारे वायुमण्डल को उत्कृष्ट बनाता है। हममें प्रभु की शक्ति का संचार होता है। हमारा जीवन प्रभुमय होकर वासनाजाल से ऊपर उठता है और परिणामतः ऊँचा बनता है।

भावार्थ—हम केवल प्रभु के ही उपासक बनें।

अथ तृतीयप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**आङ्गिरसः पुरुहन्मा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

न कर्मों से, न यज्ञों से

२४३. न किष्टं कर्मणा नशद् यश्चकार सदावृधम्।
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमोजसा॥ १॥

पुरुहन्मा आङ्गिरस=पालक व पूरक हिंसा व गतिवाला, अर्थात् जिसकी तोड़-फोड़ व निर्माण दोनों ही पालन व पूरण के दृष्टिकोण से होते हैं, वह आङ्गिरस=अङ्ग-अङ्ग में शक्ति से परिपूर्ण व्यक्ति कहता है कि **यः**=जो प्रभु **सदावृधम् चकार**=सदा हमारी वृद्धि करनेवाले हैं, **तम्**=उसे **कर्मणा**=भिन्न-भिन्न कामनाओं से किये जानेवाले कर्मों से **न किः नशत्**=कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता। कर्मों से व यज्ञों से प्राप्त होनेवाला स्वर्ग क्षीण होनेवाला है। ब्रह्मलोक 'सदावृध' लोक है। उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को मनुष्य **न यज्ञैः**=यज्ञों से भी प्राप्त नहीं करता। इन यज्ञों के द्वारा भी मनुष्य नाना वस्तुओं व लोकों की कामना करता है और परिणामतः उन्हीं को पाता है न कि प्रभु को। उस प्रभु को, जोकि **विश्वगूर्तम्**=सारे ब्रह्माण्ड का उद्यमन-धारण करनेवाले हैं, **ऋभ्वसम्**=(ऋभु असम्) 'उरुभाति'=खूब देदीप्यमान व सब मलिनताओं को दूर फेंकनेवाले हैं, **अधृष्टम्**=काम-क्रोधादि से जिनका धर्षण कभी नहीं होता और **ओजसा धृष्णुम्**=ओज के कारण सभी हीन भावनाओं का धर्षण करनेवाले हैं।

इस प्रभु को वही पा सकता है जो प्रभु की भाँति विश्व का धारण करनेवाला बनता

है। **'सर्वभूतहिते रतः'**=सब प्राणियों के हित में लगा होता है, ज्ञान से चमकता है और वासनाओं को ज्ञानाग्नि में भस्म कर देता है, कभी कामादि से आक्रान्त नहीं होता और ओज से सभी शत्रुओं का पराभव करता है। कर्मों और यज्ञों से प्रभु को पाना सम्भव नहीं। 'नास्त्यकृतः कृतेन'=वे अकृत प्रभु कृत=कर्मों से कैसे प्राप्य हो सकते हैं। **'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'**=प्रभु को प्राप्त कराने के लिए इन यज्ञरूप अदृढ़ प्लवों में शक्ति नहीं, ये तो स्वर्गादि उत्तम लोकों को ही प्राप्त करा सकते हैं।

भावार्थ—मैं निष्कामता से कर्म व यज्ञ करता हुआ प्रभु को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च**।। देवता—**इन्द्रः**।। छन्दः—**बृहती**।। स्वरः—**मध्यमः**।।

वह महान् चिकित्सक

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२४४. य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विहुतं पुनः॥ २॥

निष्काम कर्मों से हम उस प्रभु को पाते हैं **यः**=जो **अभिश्रिषः ऋते चित्**=सन्धान द्रव्य के बिना ही, **जत्रुभ्यः आतृदः पुरा**=ग्रीवास्थि (Coller bone) पूरा-पूरा कट जाने से पहले, अर्थात् यदि गला ही अलग न हो गया हो तो, **सन्धिं सन्धाता**=जोड़ों को फिर जोड़ देनेवाला है। संसार में इस प्रकार वे व्यक्ति भी जिनको डाक्टर असाध्य रोगी ठहरा देते हैं ठीक होते देखे जाते हैं। ये सब बातें प्रभु की अनिर्वचनीय महिमा को प्रकट करती हैं। आयुर्वेद में अन्तिम औषध 'भगवन्नाम-स्मरण' है। भगवान् के नाम-स्मरण से मनोवृत्ति में अन्तर आकर अन्दर की सोमशक्ति रोगों को दूर कर देती है। बिलकुल लटक गयी हड्डियों के जोड़ भी फिर से जुड़ जाते हैं। वे प्रभु सचमुच **मघवा**=पवित्र ऐश्वर्यवाले हैं **पुरूवसुः**=पालक और पूरक निवास देनेवाले हैं। **विहुतम्**=कटे हुए को **पुनः निष्कर्ता**=फिर संस्कृत कर देनेवाले हैं। संसार में होनेवाली ये अद्भुत घटनाएँ हमें प्रभु का स्मरण करातीं हैं। शरीर में सारे-के-सारे सन्धिबन्ध बिना चिपकानेवाले पदार्थों के बँधे हैं। उन बन्धनों को देखकर ही उस अद्भुत कृतिवाले प्रभु के प्रति हम नतमस्तक हो जाते हैं।

सचमुच 'मेधातिथि'=ज्ञान-मार्ग पर निरन्तर चलनेवाला व्यक्ति शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना में उस मेध्य=पवित्र प्रभु-माहात्म्य को देखता है और उसकी ओर चलनेवाला बनकर 'मेध्यातिथि' हो जाता है। मेधातिथि से आज वह मेध्यातिथि बना है।

भावार्थ—हम प्रभु की महिमा को समझें और उसके उपासक बनें।

सूचना—*'पुरा जत्रुभ्य आतृदः'='गला ही न कट गया हो' ये शब्द वेद के वास्तविकतावाद (Realism) को कितनी उत्तमता से सूचित कर रहे हैं। कुछ मूल बचा हो तो प्रभुकृपा से रोगी ठीक हो जाता है।*

ऋषिः—**मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च**।। देवता—**इन्द्रः**।। छन्दः—**बृहती**।। स्वरः—**मध्यमः**।।

ज्योतिर्मय रथ में

१ २ ३२ ३ २ ३२ ३ १ ३२ ३ १ २
२४५. आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये।

३ २ ३ १२ ३ २ ३ १२ ३ १ २
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये॥ ३॥

मेधातिथि पुरुष मेध्यातिथि बनता है। उसकी सभी चित्तवृत्तियाँ कोई भी कार्य करती हुई उस प्रभु का ध्यान करती हैं। उसकी ये चित्तवृत्तियाँ **ब्रह्मयुजः**=उसे ब्रह्म से मिलानेवाली होती हैं। सदा ब्रह्म की ओर लगी होने से ये **केशिनः**=प्रकाशवाली होती हैं। **हिरण्यये रथे**=इस ज्योतिर्मय शरीररूप रथ में **युक्ताः**=युक्त **शतं सहस्रम्**=सैकड़ों व हजारों अथवा सदा प्रसन्नता से युक्त सैकड़ों चित्तवृत्तियाँ **त्वा**=तुझे **आ**=सर्वथा **सोमपीतये**=शक्ति व ज्ञान के पान के लिए **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ।

हमारी चित्तवृत्तियाँ जब संसार के विषयों में उलझ जाती हैं तब क्षणिक आनन्द के पश्चात् विषादमय हो जाती हैं, परन्तु यदि संसार में विचरती हुई ये प्रभु को नहीं भूलतीं तो ये सदा प्रसादमय बनी रहती हैं। बड़ी-से-बड़ी सांसारिक विपत्तियों में भी ये अपने हास्य व विकास को नहीं छोड़तीं। इसी से मन्त्र में इन्हें 'सहस्रम्' (स-हस्)=हास्यसहित कहा गया है। प्रभु से दूर न होने के कारण ही ये सदा प्रकाश में रहती हैं—ऐसे व्यक्ति को कभी अपना कर्त्तव्य-पथ अन्धकारमय प्रतीत नहीं होता। उसका शरीररूप रथ ज्योतिर्मय रहता है। अन्त में ये ही चित्तवृत्तियाँ हमें प्रभु से मिलानेवाली—हमारा प्रभु से सायुज्य करनेवाली होती हैं, अतः 'ब्रह्मयुजः' कहलाती हैं, क्योंकि ऐसा मनुष्य सदा अपने शरीर की सर्वोत्तम वस्तु सोम को उस महान् सोम=ब्रह्म की प्राप्ति के लिए विनियुक्त करता है और अपनी ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त करके यह निरन्तर ज्ञानरूप सोम के पान में आनन्द का अनुभव करता है।

चित्तवृत्तियों को **'हरयः'** शब्द से कहा गया है—क्योंकि ये हमें उन-उन विषयों में हर ले-जाती हैं, परन्तु हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तुझे तो ये सोमपान ही कराएँ।

भावार्थ—हमारी चित्तवृत्तियाँ 'हरयः' के स्थान पर 'ब्रह्मयुजः' हो जाएँ। विषयों के स्थान में ब्रह्म की ओर जानेवाली हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रो गाथिनः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

मृगतृष्णा में न फँसें

२४६. आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
मा त्वा के चिन्नि येमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि॥ ४॥

चित्तवृत्तियों का ही उल्लेख करते हुए प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **मन्द्रैः**=सदा प्रसन्नता से परिपूर्ण—प्रसादगुणयुक्त **मयूररोमभिः**=(मिनन्ति हिंसन्ति दुर्विचारान्, रोमाणि=शब्दाः, रु शब्दे) दुर्विचारनाशक, प्रभुवाचक ओम् आदि शब्दोंवाली **हरिभिः**=चित्तवृत्तियों से **आयाहि**=मुझे प्राप्त हो। प्रसन्न चित्तवाले की बुद्धि पर्यवस्थित होती है और स्थितप्रज्ञ ही प्रभु को पाने में समर्थ होता है। मनुष्य प्रसन्न रहे और योग के शब्दों में **तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्**=प्रभु के वाचक प्रणव=ओम् का जप करे। सब क्रियाओं को प्रसन्नता से करते हुए प्रभु को न भूले। बस, यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

विषय इसीलिए विषय हैं कि ये विशेषरूप से (षिञ् बन्धने) बाँध लेते हैं। यहाँ इन्हें **पाशिनः**=पाशवाले, पाशों से जकड़ लेनेवाला कहा गया है। ये जाल में बाँधकर तेरा घात (जल=घातने) करनेवाले **केचित्**=कोई भी विषय **त्वा मत् इत् नियेमु**=तुझे मत रोक ले। प्रभु की ओर जाते हुए मनुष्य को मध्य में रोक लेनेवाले ये विषय हैं। ये इतने चमकीले हैं कि

हमारी आँखें इनसे आकृष्ट हो ही जाती हैं और ये हमारे मन को लुब्ध कर लेते हैं। प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **धन्वा इव**=मरुभूमि की भाँति **तान् अति इहि**=उन्हें पार कर जा, लाँघ कर आगे निकल जा। वस्तुतः ये विषय मरुभूमि की भाँति हैं। जब रेत के कणों पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं तब वे कण चमकते हैं तथा जल प्रतीत होते हैं। एक मूढ़ हरिण प्यास बुझाने के लिए उधर दौड़ता है, परन्तु वहाँ पानी थोड़े ही होता है? कुछ दूरी पर आगे फिर दीखता है, वह आगे दौड़ता है, पर वहाँ भी क्या उसकी प्यास बुझ पाती है? फिर आगे दौड़ता है और इसी प्रकार थककर समाप्त हो जाता है। यही मनुष्यरूपी मृग की विषयों में गति होती है। उनसे उसकी प्यास बुझती नहीं। उसकी भूख आगे और आगे बढ़ती है। सौ, हज़ार, दस हज़ार, लाख, करोड़, अरब का क्रम चलता है और इस चक्कर में ही चकराकर उसका अन्त हो जाता है। वह वास्तविक शान्ति नहीं पाता। विषयों के प्रेम से ऊपर उठकर हम शान्ति व प्रभु को पा सकते हैं।

विषय-प्रेम से ऊपर उठने की साधना यही है कि हम अपने प्रेम को व्यापक बनाकर 'विश्वामित्र' बन जाएँ। 'विश्वामित्र' विषयमित्र नहीं रहता। यही प्रभु का सच्चा स्तोता 'गाथिनः' कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम इस तत्त्व को समझें कि विषय मरुस्थल हैं—वहाँ हमारी प्यास नहीं बुझ सकती।

ऋषिः- **गोतमो** राहूगणः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

अनासक्ति (Detachment) के दो तत्त्व

२४७. त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः॥ ५॥

इस मन्त्र का ऋषि 'गोतम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला 'राहूगणः'=त्यागियों में गिनती करने योग्य है। इससे प्रभु कहते हैं कि हे **अङ्ग**=क्रियाशील अतएव प्रिय! **त्वम्**=तू **मर्त्यम्**=मरणधर्मा पुरुष की **प्रशंसिषः**=प्रशंसा ही करना, निन्दा नहीं। 'अङ्ग' इस सम्बोधन में यह संकेत स्पष्ट है कि जो सदा क्रिया में लगे होते हैं उनकी वृत्ति दूसरों के दोष देखने की नहीं होती। ऐसे ही व्यक्ति प्रभु के प्रिय होते हैं। अकर्मण्य व आलसी पुरुष ही सदा दूसरों के दोष देखा करते हैं और परिणामस्वरूप कभी प्रभु के प्रेम के पात्र नहीं हो पाते।

कमी को न देखकर प्रशंसात्मक बात को देखनेवाला बनकर ही मनुष्य **देवः**=देव बनता है। तू दोष-दर्शन को छोड़कर अच्छाइयों को देखनेवाला बन। हे **शविष्ठ**=तू अत्यन्त शक्तिशाली है। कमज़ोर लोग ही दोष देखा करते हैं। दोष देखना—१. मनुष्य को प्रभु-प्रेम से वंचित करता है, २. यह उसे देव न बनाकर दानव बना देता है और ३. इससे उसकी शक्ति क्षीण होती है, अतः हमें चाहिए कि हम प्रशंसात्मक शब्दों का ही सदा उच्चारण करते हुए १. प्रभु के प्यारे बनें २. देव बनें और ३. शक्तिशाली बनें।

यह व्यक्ति प्रभु से कहता है कि हे **मघवन्**=पापशून्य ऐश्वर्यवाले प्रभो! **त्वदन्यः**=आपसे भिन्न **मर्डिता**=मेरे जीवन को सुखी बनानेवाला **न अस्ति**=नहीं है। संसार का अनुभव प्रत्येक मनुष्य को अन्त में इसी परिणाम पर पहुँचाता है कि प्रभु के अतिरिक्त कोई अन्त तक साथ देनेवाला नहीं है, अतः गोतम निश्चय करता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यवाले प्रभो! **ते वचः ब्रवीमि**=मैं आपके ही स्तुतिवचनों का उच्चारण करता हूँ।

एवं, अनासक्ति के योग पर चलनेवाला व्यक्ति सामाजिक जीवन में किसी की निन्दा नहीं करता और आध्यात्मिक जीवन में केवल प्रभु का आश्रय लेता है—उसी को परागति मानता है।

भावार्थ—मैं परनिन्दा से परे (दूर) रहूँ, प्रभु को ही परमाश्रय समझूँ।

ऋषिः—**नृमेधपुरुमेधौ आङ्गिरसौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

विजय पताका फहराते हुए

२४८. त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पतिः।
त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत् पुर्वनुत्तश्चर्षणीधृतिः॥ ६॥

जो व्यक्ति अनासक्तभाव से कर्त्तव्यों को करता हुआ आगे बढ़ता चलेगा, वह अवश्य अपनी यात्रा में सफल होगा। प्रभु कहते हैं कि **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **त्वम्**=तू **यशाः असि**=यशस्वी है। तू अपनी यात्रा को पूर्ण करके विजय-पताका को फहरा पाया है। यात्रा की निर्विघ्न पूर्ति का सर्वप्रथम रहस्य यही है कि १. तू इन्द्र बना है, इन्द्रियों का अधिष्ठाता बना है। इन्द्रियाँ शरीररूप रथ के घोड़े हैं। जो व्यक्ति घोड़ों को काबू कर पाएगा वही उन्हें निर्दिष्ट स्थान की ओर ले-जाएगा।

२. **ऋजीषी**=तू ऋजीषी है। ऋजीषी शब्द के तीन अर्थ हैं—(क) पकड़ना, (ख) परे धकेलना, (ग) आगे बढ़ना। इन्द्र ऋजीषी है। यह यात्रा में बाधक बननेवालों को पकड़ता है, उन्हें परे धकेलता है और आगे बढ़ता है। कोई भी विघ्न इसकी यात्रा को रोक नहीं पाता।

३. **शवसः पतिः**=यह शक्ति का पति है। शक्तिशाली होने से यह थककर बीच में ही रुक नहीं जाता, ४. **त्वम्**=तू **अप्रतीनि**=अनन्त शक्तिवाले (of matchless strength) **वृत्राणि**=मार्ग रोकनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को **एकः इत्**=अकेला ही, औरों के भरोसे न बैठकर **हंसि**=नष्ट कर डालता है। ये काम-क्रोध जीव के मार्ग-निरोधक शत्रु हैं। जो इन्द्र होता है, वह इन्हें नष्ट कर डालता है।

५. **पुरु अनुत्तः**=इस यात्रा में वह अपने रथ का 'पालन व पूरण' करता है। इस रथ को वह अतिभोजन, अतिजागरण, अतिस्वप्नादि की दलदल में फँसने से बचाता है और स्वयं कभी शत्रुओं से विषय-गर्त में नहीं धकेला जाता।

६. **चर्षणीधृतिः**=इन्द्र इस यात्रा को पूरा कर पाया, इसका अन्तिम रहस्य यह है कि यह 'मनुष्यों का धारण करनेवाला' बना। **'सर्वभूतहिते रतः'** प्रभु का भक्ततम माना जाता है। लोकसेवा की वृत्ति उसे विषय-स्वार्थ में गिरने से बचाती है। 'चर्षणीधृति' का एक और भी अर्थ है। (चर्षणी=कर्षणी) ये कृषि व उत्पादक काम के सिद्धान्त को दृढ़ता से धारण करता है तथा 'चर्षणयः द्रष्टारः' यह द्रष्टा बनने का प्रयत्न करता है। खेलनेवाला उतनी अच्छी प्रकार खेल को नहीं देख पाता जितना कि 'खेल का द्रष्टा'। द्रष्टा बननेवाला संसार को ठीक रूप में देखता है और ठीक रूप में देखनेवाला फँसता नहीं। इसी का परिणाम होता है कि यात्रा निर्विघ्न पूर्ण हो जाती है।

इस मन्त्र के ऋषि 'नृमेधपुरुमेधौ आङ्गिरसौ' हैं। इस मन्त्र का ऋषि आङ्गिरस तो है ही—(शवसस्पतिः), नृमेध भी—मनुष्यों से मेल करनेवाला है (मेधृ सङ्गमे)। बिना इस मेल

के उसके लिए अपना भी पालन व पूरण सम्भव न होता, औरों का तो वह करता ही क्या? अत: यह 'पुरुमेध' है।

भावार्थ—हमें इस जीवन में यह लक्ष्य रखना चाहिए कि विजय-पताका फहराते हुए यात्रा को अवश्य पूर्ण करना है।

ऋषि:—**मेध्यातिथि:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

चतुर्दिक्-विजय

२४९. इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये॥ ७॥

१. **देवतातये**=देवत्व की वृद्धि के लिए **इन्द्रम् इत्**=उस ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभु को ही **हवामहे**=पुकारते हैं। हमारे जीवनों में सबसे पहला संग्राम—प्रकाश (ज्ञान) व अन्धकार का चलता है। 'हमारे अन्दर (दिव्=to shine) प्रकाश की वृद्धि हो और उत्तरोत्तर अन्धकार कम और कम होता जाए' इसके लिए हम प्रभु को पुकारते हैं। इस प्रथम युद्ध का क्षेत्र मानव-मस्तिष्क है। यहाँ देवत्व की विजय हो। **'विद्वांसो हि देवा:'**=देव विद्वान् हैं। हम विद्वान् बनें। प्रभुकृपा से हमारे मस्तिष्क में ज्योति का प्रादुर्भाव हो।

२. मानस क्षेत्र में **प्रयति**=चल रहे **अध्वरे**=हिंसा की भावना से शून्य यज्ञों के निमित्त **इन्द्रम्**=उस राग-द्वेषादि आसुर भावनाओं को भगा देनेवाले प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु का स्मरण होने पर हमारा मन उसी प्रकार द्वेष का आधार नहीं बनता जैसे मस्तिष्क अन्धकार का। मस्तिष्क में प्रकाश ने अन्धकार पर विजय पायी थी, यहाँ मानस क्षेत्र में प्रेम द्वेष पर विजय पाता है।

३. इसके बाद शरीर-क्षेत्र में रोगों व वीर्यशक्ति में चलनेवाले **समीके**=समर में **वनिन:**=प्रशस्त विजय चाहनेवाले हम **इन्द्रम्**=रोगों को दूर करनेवाले, शक्तिपुञ्ज प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु के स्मरण से विषय-वृत्ति के भाग जाने पर सुरक्षित वीर्य-शक्ति वस्तुत: सब रोगों को दूर कर देती है। इस क्षेत्र में भी हम विजयी होकर नीरोग बनते हैं।

४. अन्त में **धनस्य सातये**=धन की सम्प्राप्ति के लिए भी **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का ही स्मरण करते हैं। धन के लिए प्रभु को पुकारने की इतनी आवश्यकता न थी, परन्तु यहाँ प्रभु को पुकारने का प्रयोजन यह है कि मनुष्य धन में उलझकर उसे टेढ़े-मेढ़े सभी रास्तों से कमाने लगता है। प्रभु का स्मरण उसे 'सुपथा'=उत्तम मार्ग से ले-चलता है, अत: जो व्यक्ति मेधातिथि=समझदार बनकर मेध्यातिथि प्रभु की ओर निरन्तर चलनेवाला बनता है, वह कभी अन्याय्य मार्ग से धन का संग्रह नहीं करता। एवं, इस धनार्जन के क्षेत्र में भी वह विजयी ही बनता है—पराजित नहीं होता।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम उल्लिखित चारों संग्रामों में विजयशील बनें।

ऋषि:—**मेध्यातिथि:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—बृहती॥ स्वर:—मध्यम:॥

भक्त की परिभाषा (Definition), भक्ति-रसायन का सेवन

२५०. इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम।
पावकवर्णा: शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत॥ ८॥

मस्तिष्क, मन, शरीर व संसार (धन) के चारों क्षेत्रों में विजय प्राप्त करनेवाला व्यक्ति प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **पुरूवसो**=पालक व पूरक निवास देनेवाले प्रभो! **इमा याः मम गिरः**=ये जो मेरी वाणियाँ हैं, वे **उ**=निश्चय से **त्वा वर्धन्तु**=आपका वर्धन करें। मैं सदा आपके स्तुतिवचनों का उच्चारण करूँ। मेरे मुख से निकलनेवाला प्रत्येक शब्द आपकी महिमा का प्रतिपादक हो। मेरे श्वासोच्छ्वास के साथ आपका जप चले।

मेरा जीवन आपकी भक्तिरूप रसायन का सेवन करनेवाला हो। जो व्यक्ति इस रसायन का सेवन करता है, उसके जीवन में निम्न परिवर्तन दीखते हैं—

१. **पावकवर्णाः**=ये भक्त अग्नि के समान वर्णवाले होते हैं। शरीर का स्वास्थ्य व मन की शान्ति इन्हें अग्नि के समान चमका देती है।

२. **शुचयः**=प्रभु के भक्त धन के प्रति कभी आसक्त नहीं होते और इसी का परिणाम है कि वे धन की दृष्टि से सदा पवित्र होते हैं। वे किसी का ऋण न चुकाएँ. इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनके मन में धन का लोभ नहीं होता, इसी का बहुत कुछ परिणाम है कि वे राग-द्वेष से ऊपर उठे होते हैं।

३. **विपश्चितः**=ये भक्त विशेष सूक्ष्मता से देखते हुए चिन्तनशील होते हैं।

जिन व्यक्तियों के जीवन में उल्लिखित परिणाम दीखते हैं, वे ही वस्तुतः **स्तोमैः**=स्तुतियों से **अभि अनूषत**=प्रभु का स्तवन करते हैं। भक्त होगा तो उसका जीवन 'पावकवर्ण, शुचि व विपश्चित्' का जीवन होगा ही।

इसी व्यक्ति के लिए कहा जा सकेगा कि वह मेधातिथि है, समझदारी से चल रहा है और मेध्यातिथि है—प्रभु के मार्ग पर चल रहा है।

भावार्थ—मैं शरीर में पावकवर्ण, मन में शुचि व मस्तिष्क में विपश्चित् बनूँ।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

भक्त का सामाजिक जीवन

२५१. उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथाइव ॥ ९ ॥

गत मन्त्र में भक्त के निजी जीवन की तीन विशेषताओं का उल्लेख हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में उसके सामाजिक जीवन का चित्रण करते हैं। १. **त्ये स्तोमासः**=वे स्तुति के पुञ्जरूप भक्तलोग **उ**=निश्चय से **मधुमत्तमाः गिरः**=अत्यन्त मधुरवाणियों का **उदीरते**=उच्चारण करते हैं। इनके मुख से कभी कटु शब्दों का उच्चारण नहीं होता। स्तोम शब्द का अर्थ स्तुति होता है, परन्तु भक्ति-रसायन का सेवन करनेवाला यह व्यक्ति सदा स्तुतिरूप शब्दों का उच्चारण करने से 'स्तुति का पुञ्ज' बन गया है। २. **सत्राजितः**=क्रोध का ये सदा संयम करनेवाले हैं। ये अपने में दूसरों के प्रति क्रोध को उत्पन्न नहीं होने देते। ३. **धनसा**=(सन्=संविभाग) वे दीन-दुःखियों के लिए धन का संविभाग करनेवाले होते हैं। ४. **अ-क्षित-ऊतयः**=इसके यहाँ शरणागत की रक्षा का कभी नाश नहीं होता। ये अपने प्राण देकर भी शरण में आये हुए की रक्षा करते हैं। ५. **वाजयन्तः**=उल्लिखित सब कार्यों को करते हुए ये प्रभु की अर्चना

करते हैं, जिससे इन कार्यों का उन्हें गर्व न हो जाए।

इस प्रकार पवित्र व विनीत जीवन बिताते हुए ये **रथाः इव**=रममाणाः इव=प्रसन्नता का जीवन बिताते हैं, और रहंमाणाः—बड़ी तीव्र गति से अपनी जीवन-यात्रा के पथ पर बढ़ते हैं। ये ही वस्तुतः मेधातिथि व मेध्यातिथि हैं।

भावार्थ—मैं भी प्रभु का सच्चा भक्त बनूँ, मुझसे माधुर्य का प्रवाह बहे।

ऋषिः—**देवातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

मित्रता ही नहीं, शरण में

२५२. यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम्।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु सचा पिब॥ १०॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि तू आनन्द प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार प्रकृति व प्राकृतिक पदार्थों में भटकता रहा है **यथा गौरः**=(गुरी उद्यमने) जिस प्रकार उद्योगशील मृग **तृष्यन्**=प्यास से पीड़ित होता हुआ **अव इरिणम्**=सुदूर मरुभूमि को **एति**=प्राप्त होता है। मृग को दूर पानी प्रतीत होता है, उसे पाने के लिए वह उस सुदूर मरुभूमि की ओर दौड़ता है, परन्तु उसके पहुँचने पर वह जल का दृश्य तो **अपाकृतम्**=और दूरी पर दीखने लगता है, आगे दौड़ने पर वह और दूर हो जाता है। इसी प्रकार प्यास बुझाने की आशा में वह इस अपाकृत इरिण की ओर और भागता चला जाता है—न वह पानी पाता है, न उसकी प्यास बुझ पाती है। इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी आनन्द की प्यास को बुझाने के लिए धन की ओर चलता है। वह भी उसे कभी इच्छानुकूल नहीं मिल पाता, उत्तरोत्तर धन की प्यास बढ़ती चलती है। मनुष्य भी इसे जुटाता-जुटाता समाप्त हो जाता है और मृग की भाँति प्यासा ही रहता है।

इस जीव से प्रभु कहते हैं कि तू **तूयम्**=शीघ्र ही **नः**=हमारी **आपित्वे**=मित्रता में ही नहीं, **प्रपित्वे**=हमारे प्रति समर्पण में **आगहि**=आ जा। प्रकृति में आनन्द नहीं है, वह तो आनन्दरूप स्नेह के लिए रेतीले प्रदेश के समान है। उसे छोड़कर तू मेरी ओर आ, मेरी मित्रता को स्वीकार कर, मेरे प्रति अपना अर्पण कर डाल। मेरी मित्रता में तू अपने आनन्द की प्यास को बुझा पाएगा। मेरे प्रति अपना अर्पण कर देने पर तू सब्र प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो जाएगा। तेरा चिन्तामुक्त (निश्चिन्त) जीवन तेरे वास्तविक उल्लास का कारण बनेगा।

बुद्धिमत्ता इसी में है कि तू भी **कण्वेषु**=बुद्धिमानों में गिना जानेवाला हो। मेरी मित्रता व शरण में आकर **सचा**=मेरे साथ **सुपिब**=उत्तमता से आनन्दरस का पान कर।

जो व्यक्ति इस प्रकार करता है वह उस महान् देव का अतिथि होता है। प्रभु उसे आनन्दरस का पान कराते हैं। इसी से वह 'देवातिथि' कहलाता है।

भावार्थ—मैं प्रकृति के पीछे न भागकर प्रभु के प्रति अपना समर्पण कर डालूँ और उस महान् देव का अतिथि बनूँ।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**भर्गः प्रगाथः**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु के पीछे न कि धन के

२५३. शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि॥ १॥

प्रभु ने जीव से कहा था कि 'कहाँ भटकता है, मेरी मित्रता को स्वीकार कर, मेरी शरण में आ'। 'प्रकृति में आनन्द नहीं', अपने इस अनुभव के आधार पर जीव प्रभु से कहता है कि **शग्धि**=आप शक्तिशाली हो। आप सब-कुछ कर सकते हो, मेरा कल्याण करने में भी आप ही समर्थ हो। **उ**=और हे **सुशचीपते**=सब उत्तम शक्तियों व कर्मों के स्वामिन् प्रभो! हे **इन्द्र**=सब ऐश्वर्यों के स्वामिन्! आप **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों से युक्त हो। आपकी शरण में आ जाने पर आपसे सुरक्षित होकर मैं शक्तिशाली व उत्तम ऐश्वर्यवाला बनता हूँ। हमने तो आज यह निश्चय कर लिया है कि **भगं न**=हम धन के पीछे नहीं जाएँगे।

भग=धन का देवता अन्धा है, ऐश्वर्य-मदमत्त को धर्माधर्म का ज्ञान नहीं होता। लक्ष्मी का वाहन उल्लू है, वस्तुतः धनी आदमी कभी ठीक दृष्टिकोण से सोच नहीं पाता। धन शरीर, दृष्टि व ज्ञान सभी को विकृत कर देता है।

हि=निश्चय से हम तो हे प्रभो! **त्वा अनुचरामसि**=आपका अनुगमन करते हैं। आप १. **यशसम्**=यशस्वी हैं—आपका अनुगमन करके मेरा जीवन भी यशोन्वित होता है। मैं पापपूर्ण कर्मों से कोसों दूर रहता हूँ। २. **वसुविदम्**=आप निवास के लिए आवश्यक धन प्राप्त करानेवाले हैं। आपका अनुयायी बनकर मनुष्य भूखा थोड़े ही मरता है। ३. हे **शूर**='शॄ हिंसायाम्' आप जीव की शत्रुभूत अशुभवृत्तियों को समाप्त कर देनेवाले हैं।

धन के पीछे जाने से जहाँ वासनाओं का शिकार बनकर मैं अपने को क्षीणशक्ति कर लेता था, वहाँ आज आपकी शरण में आकर मैं वासनाओं का संहार करके अपने को तेजस्वी बना पाता हूँ और सचमुच इस मन्त्र का ऋषि 'भर्ग'—तेजस्वी बनता हूँ। वस्तुतः ऐसा बनना ही आपका गायन करनेवाला बनना है, अतः मैं 'प्रगाथः' होता हूँ।

भावार्थ—हम धन के पीछे न भागकर प्रभु के अनुयायी बनें।

ऋषिः—रेभः **काश्यपः पश्यन्मुनिः**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

दैवासुर सम्पद्-विभाग

२५४. या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः।
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः॥ २॥

'भुज पालने' धातु से भुज शब्द बना है। जो पदार्थ मानव के पालन के लिए आवश्यक हैं अथवा मनुष्य को जिनका अवश्य पालन करना है, वे भुज हैं। ये ही पुरुषार्थ कहलाते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—यह इनका क्रम है। इनका सामान्य अभिप्राय यह है कि धर्मपूर्वक धन कमाकर, संसार के उचित कामों को ही स्वीकार करना मोक्ष का मार्ग है। दैवी वृत्तिवाले

मनुष्य इस तत्त्व को कभी नहीं भूलते कि १. धर्मपूर्वक ही अर्थ कमाना है और २. जीवन का उद्देश्य काम को न बनाकर मोक्ष को रखना है। इसके विपरीत आसुरी सम्पत्तिवाले लोग धर्म और मोक्ष को भूल जाते हैं, वे चतुर्भुज नहीं रहते, उनके दो ही 'भुज' रह जाते हैं—'अर्थ और काम'। प्रभु का स्तोता 'रेभः' कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **याः भुजः**=जिन पुरुषार्थों को आपने **असुरेभ्यः**=अपने ही स्वार्थ में लगे हुए, प्राण–पोषण में तत्पर असुरों से **आभरः**=(आहरः) हर लिया है, हे **मघवन्**=पापलवशून्य ऐश्वर्यवाले प्रभो! **अस्य**=इन पुरुषार्थों से **इत्**=निश्चयपूर्वक **स्तोतारम्**=अपने उपासक को **वर्धय**=बढ़ाइए और **ये च**=जो **वृक्तबर्हिषः**=उच्छिन्न वासनाओंवाले, निर्मल हृदय पुरुष **त्वे**=आपकी शरण में आये हैं, उन्हें भी इन पुरुषार्थों से बढ़ाइए।

असुर लोग जिन अर्थ, काम के विषय में अत्यन्त जागरूक हैं, दैवी सम्पत्तिवाले उन्हें जीवन में गौण स्थान देते हैं, इसके विपरीत जिन धर्म और मोक्ष के विषय में ये जागरूक हैं, वहाँ असुर लोग सोये हुए हैं, उन्हें इनका ध्यान भी नहीं है। धर्म और मोक्ष ही महत्त्वपूर्ण हैं, ऐसी इस रेभ की दृष्टि है।

'रेभः काश्यप'—'पश्यन् मुनि' इस मन्त्र का ऋषि है। यह 'स्ववर्वान्'=स्वर्गलोकवाला होता है। इसके विपरीत अर्थ और काम को महत्त्व देना नरकरूप परिणामवाला है 'पतन्ति नरकेऽशुचौ'=कामासक्त, अपवित्र नरक में पड़ते हैं।

भावार्थ—मैं धर्म और मोक्ष को महत्त्व देता हुआ स्वर्ग में रहूँ। अर्थ व काम को महत्त्व देकर नरक का भागी न बनूँ।

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

पञ्चाङ्गपूर्ण जीवन

२ ३ २ ३ २ ३ १ २३क २र
२५५. प्र मित्राय प्रार्यम्णे सचथ्यमृतावसो।

३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
वरूथ्ये३ वरुणे छन्द्यं वचः स्तोत्रं राजसु गायत॥ ३॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **ऋतावसो**=हे ऋत के धनी! **मित्राय अर्यम्णे**=मित्र और अर्यमा के लिए **वरूथ्ये वरुणे**=वरूथ्य और वरुण के विषय में तथा **राजसु**=राजा के विषय में **सचथ्यम्**=समवेत हो जानेवाले तथा **छन्द्यम्**=प्रबल इच्छा पैदा करनेवाले **वचः**=स्तुतिवचन का **प्रगायत**=खूब गायन करो। ऋत का अर्थ है ठीक। जो ठीक स्थान में व ठीक समय पर हो वह 'ऋत' है। जो व्यक्ति प्रत्येक क्रिया को ठीक स्थान व ठीक समय पर करने पर बल देता है, वह ऋतावसु=ऋत का धनी है। इसे निम्न पाँच व्यक्तियों को अपने जीवन का आदर्श बनाना चाहिए—

१. **मित्राय**=जो मित्र है—स्नेह करनेवाला है, जो अपने जीवन में किसी के साथ कटु व्यवहार नहीं करता, सबके साथ स्नेहपूर्वक ही चलता है। २. **अर्यम्णे**='अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'=जो देनेवाला है, जो दान देता है, सदा पञ्च यज्ञ करके यज्ञशेष ही खाता है। ३. **वरूथ्ये**=जो धन के विषय में उत्तम है। (वरूथ=wealth)—अर्थात् धनी होकर धन का विनियोग सदा उत्तम कर्मों में ही करता है। धन के कारण उसमें शराब, व्यभिचारादि दुर्गुणों का प्रवेश नहीं हो गया है। ४. **वरुणे**=जो वरुण है—पाशी है—जो सैकड़ों व्रतों के पाशों में अपने को जकड़े रखता है। ५. **राजसु**=जिसका जीवन बड़ा नियन्त्रित (well regulated) है,

जिसकी प्रत्येक क्रिया सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमित चाल से चलती है।

हमारे जीवन के आदर्श उल्लिखित पाँच व्यक्ति हों, हम इनके लिए स्तुतिरूप वचनों को बोलें, परन्तु इनके गुणों का गान केवल शाब्दिक न हो। वे गुण-वचन **सचथ्य** हों-हममें समवेत होनेवाले हों, अर्थात् वे गुण हमारे जीवन के अङ्ग बन जाएँ।

इस प्रकार जो व्यक्ति उल्लिखित पुरुषों के गुणों को अपने जीवन का अङ्ग बनाता है वह 'जमदग्नि' है, उसकी अग्नि पाचनशक्ति से पूर्ण है। उसने सुन-सुनाकर वहीं पल्ला नहीं झाड़ दिया, उसे अपचन नहीं हुई। वह एक के बाद एक गुण को अपने जीवन का अङ्ग बनाता चला है। इस प्रकार अपने जीवन का परिपाक करने से वह भार्गव है। (भ्रस्ज् पाके)

भावार्थ-हम स्नेह, दान, धन का उत्तम विनियोग, व्रतबन्धन व नियमितता इन पाँच गुणों से अपने जीवनों को विभूषित करें।

ऋषिः-मेधातिथिः॥ देवता-इन्द्रः॥ छन्दः-बृहती॥ स्वरः-मध्यमः॥

प्रभु की स्तुति-प्रभु का उपदेश

२५६. अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम्॥ ४॥

जो व्यक्ति 'मेधातिथि'=निरन्तर मेधा से गति करनेवाले होते हैं, वे हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **पूर्व्यम्**=औरों में ऐश्वर्य भरनेवालों में उत्तम (पुर्व पूरणे) **त्वा**=आपको **स्तोमेभिः**=स्तुतिसमूहों से **अभि**=दोनों ओर (प्राकृतिक दृश्यों में बाहर, और शरीर की रचना में अन्दर) **समस्वरन्**=स्तुत करते हैं (स्वृ-शब्दे)। ऐसा वे क्यों करते हैं? **पूर्वपीतये**=अपना पूरण और अपनी रक्षा के लिए। आपकी स्तुति के द्वारा आपके सम्पर्क में आने से स्तोता में भी आपकी शक्ति का प्रवाह बहता है और शक्तिसम्पन्न होकर वह अपनी रक्षा कर पाता है (पुर्व पूरणे, पा रक्षणे)। वस्तुतः प्रभु की स्तुति कौन करते हैं?

१. **आयवः**=(इण् गतौ)=गतिशील-सदा कर्मशील व्यक्ति, जो प्रभु के **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** उपदेश को क्रियान्वित करते हैं-कभी अकर्मण्य नहीं होते।

२. **समीचीनासः**=(सम् अञ्च) जिनकी गति तोड़-फोड़ के लिए न होकर निर्माण के लिए होती है, सम्यक् गति के कारण ये अभिपूजित होते हैं। उन्हें यश की कामना तो नहीं सताती, परन्तु उत्तम गति के कारण यश की प्राप्ति होती ही है।

३. **ऋभवः**=ऋतेन भान्ति-ये ऋत से दीप्त होते हैं। क्रियाशीलता से इनका शरीर नीरोग तथा सत्य से उनका मन निर्मल हुआ है और अब ४. **रुद्राः**=(रुत् र)-ज्ञान का ग्रहण करने से उन्होंने अपने विज्ञानमयकोश को दीप्त किया है। वस्तुतः प्रभु की सच्ची स्तुति ये ही लोग करते हैं और ये ज्ञानी लोग उस **पूर्व्यम्**=सबका पूरण करनेवाले प्रभु का **गृणन्तः**=उपदेश करते हैं (गृणाति उपदिशति)।

इस मन्त्र में 'अभि' शब्द दोनों ओर अन्दर और बाहर इन अर्थों का संकेत कर रहा है। प्राकृतिक दृश्यों में भी ये सौन्दर्य के निर्माता उस प्रभु की महिमा को देखते हैं। शरीर के अन्दर भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना में ये उस प्रभु की रचना को देखते हैं। एवं, अन्दर-बाहर दोनों ओर प्रभु के माहात्म्य को देखने के कारण ये उसी में तन्मय रहते हैं, उसी की स्तुति

करते हैं और उसी का उपदेश देते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक हों, प्रभु के ही उपदेष्टा हों।

ऋषिः—**नृमेधपुरुमेधौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

उपदेश का स्वरूप (प्रभु-उपासना क्यों?)

२५७. प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत।
वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥ ५ ॥

पिछले मन्त्र में समाप्ति पर कहा गया था कि **रुद्राः गृणन्त**=ये ज्ञान देनेवाले प्रभु का उपदेश करते हैं। इस मन्त्र में उस उपदेश का ही स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। वे कहते हैं कि हे **मरुतः**=सांसारिक वस्तुओं के पीछे मरनेवालो! इनके लिए इतना उत्कण्ठित क्यों होना? सारा सांसारिक ऐश्वर्य तो प्रभु से प्राप्त होता है। इस सबके स्वामी तो वे प्रभु ही हैं, अतः **वः इन्द्राय**=तुम सबको ऐश्वर्य देनेवाले उस प्रभु के लिए ही **ब्रह्म**=वेदमन्त्रों के द्वारा **प्र अर्चत**=खूब स्तुति करो। प्रभु का स्तवन तुम्हारा कल्याण-ही-कल्याण करेगा। २. **बृहते**=उस प्रभु के लिए तुम अर्चना करो जोकि वृद्धि के लिए हैं, केवल ऐश्वर्य की दृष्टि से ही नहीं, सभी दृष्टिकोणों से तुम्हारी वृद्धि होगी (बृहि वृद्धौ), तुममें सत्य, यश व श्री का निवास होगा। तुम सभी प्रकार से फूलो-फलोगे। ३. यह प्रभु का स्तोता ऐश्वर्य व समृद्धि को ही प्राप्त करता हो ऐसी बात नहीं है। यह **वृत्रं हनति**=ज्ञान को आवृत करनेवाली वासनाओं को, जिन्हें वृत्र कहते हैं, नष्ट कर डालता है। अकेले हमारे लिए वासनाओं से लड़ना कठिन हो जाता है। प्रभु से मिलकर हम उन्हें सरलता से जीत पाते हैं। प्रभु के साहाय्य से वृत्र को नष्ट करके यह उपासक **वृत्रहा**=वृत्र का नाशक कहलाता है। ४. वृत्र-नाश का यह परिणाम होता है कि यह **शतक्रतुः**=सौ-के-सौ वर्ष उत्तम प्रज्ञानों व कर्मोंवाला बनकर जीता है। प्रभु के सम्पर्क में आने से अन्दर से ज्ञान का स्रोत तो उमड़ता ही है, हृदय संकल्पों से भरा रहता है और हाथ सदा उत्तम कर्मों में लगे रहते हैं। अन्त में ५. यह उपासक **शतपर्वणा वज्रेण**=सैकड़ों पर्वोंवाले वज्र से युक्त होता है। 'वज्र' शब्द 'वज गतौ' से बनकर गतिशीलता का वाचक है। मानव जीवन में एक-एक वर्ष के बाद दूसरा-दूसरा वर्ष आकर १०० पर्वों का आना होता है। उपासक के ये सौ-के-सौ पर्व क्रियाशीलता में बीतते हैं। यह 'शतपर्व वज्र', सदा क्रिया में लगे रहना—उपासक का लक्षण और पहचान है। जिस प्रकार प्रभु स्वाभाविक क्रियावाले हैं, इसी प्रकार यह उपासक भी स्वाभाविक क्रियावाला है। यह सदा **'सर्वभूतहिते रतः'** रहता है और इसी से नृ-मेध=(मनुष्यों से सङ्गमवाला) कहलाता है। इसका सङ्ग उनका पालन व पूरण करता है, अतः यह 'पुरुमेध' है। इस उपासना का ही यह परिणाम है कि सदा स्वास्थ्यजनक क्रिया में लगे रहने के कारण यह 'आङ्गिरस'=रसमय अङ्गोवाला रहता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से १. ऐश्वर्य मिलेगा, २. वृद्धि होगी, ३. वासनाओं पर विजय होगी ४. हम आजीवन उत्तम ज्ञान, संकल्प व क्रियायुक्त बनेंगे और ५. सर्वभूतहित साधक क्रिया हमारा स्वभाव बन जाएगी।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधावाङ्गिरसौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

सच्ची उपासना की पहचान

२५८. बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि॥ ६॥

गत मन्त्र में कहा था कि प्रभु की वेदमन्त्रों से स्तुति करो—तुम्हें ऐश्वर्य प्राप्त होगा, तुम्हारी वृद्धि होगी, तुम वासनाओं को नष्ट कर पाओगे और शतक्रतु बनोगे। इस मन्त्र में उसी बात को विलोम प्रकार से कहते हैं कि यदि तुम्हारी वृद्धि होती है, तुम वासनाओं का विनाश कर पाते हो, और तुम्हारे अन्दर एक ज्योति उत्पन्न होती है तब समझ लो कि तुम्हारा स्तवन ठीक है, अन्यथा नहीं। **मरुतः**=विषयों के प्रति लालायित होनेवाले पुरुषो! उस **इन्द्राय**=परमैश्वर्य के दाता प्रभु के लिए **गायत**=गायन करो, जो गायन **बृहत्**=तुम्हारी वृद्धि का कारण है। **वृत्रहन्तमम्**=वासनाओं का अधिक-से-अधिक विनाश करनेवाला है और **येन**=जिससे **ज्योतिः**=प्रकाश को (ज्ञान को) **अजनयन्**=उत्पन्न करते हैं। **देवम्**=जो प्रकाशमय है तथा **देवाय**=आत्मा को **जागृवि**=जगानेवाला है। कौन उत्पन्न करते हैं? **ऋतावृधः**=ऋत के द्वारा, नियमितता के द्वारा अपना वर्धन करनेवाले।

स्तवन से जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है वह ज्ञान प्रकाशमय होता है। उसमें आत्मा को अपना कर्त्तव्य-पथ स्पष्ट दीखता है। इस ज्ञान से—जीवात्मा सदा जागता रहता है। यह ज्ञानी ज्ञान के कारण विषयों की माया-ममता को देखकर उनमें फँसता नहीं।

स्तवन से प्राप्य इस ज्ञान को पाते वे हैं जो ऋतावृध्—ऋत से—नियमित गति से आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के सच्चे स्तोता बनें और वृद्धि, वासना-विनाश व विज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

पिता जिस प्रकार पुत्रों के लिए

२५९. इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥ ७॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हममें **क्रतुम्**=ज्ञान व संकल्प को **आभर**=सर्वथा भर दीजिए। उसी प्रकार **यथा**=जैसे **पिता पुत्रेभ्यः**=पिता पुत्रों के लिए। हे पुरुहूत=पालन व पूरण करनेवाले प्रभो! **अस्मिन् यामनि**=इस जीवन-यात्रा के मार्ग में **नः शिक्ष**=हमें उत्तम प्रेरणा दीजिए और उस प्रेरणा के अनुसार चलने के लिए समर्थ बनाइए (शक्+सन्)। आपकी कृपा से **जीवाः**=जीते-जी, इस जीवनकाल में ही हम **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश को **अशीमहि**=प्राप्त करें।

पिता का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने सन्तानों के मस्तिष्क में ज्ञान भरने की व्यवस्था करे। वह इस बात का ध्यान करे कि उनके हृदय उत्तम संकल्पों से पूर्ण हों तथा उनके हाथ सदा उत्तम कर्मों में लगे रहें। इस प्रकार उनके मस्तिष्क, हृदय व हाथों में क्रतु का निवास

हो। प्रभु हम सबके पिता हैं, अतः परमपिता से भी हम यही प्रार्थना करते हैं कि वे हमारे मस्तिष्कों को ज्योतिर्मय करें, हृदयों को संकल्पपूर्ण करें और हमारे हाथों में कर्म सामर्थ्य प्रदान करें।

पिता समय-समय पर सन्तानों को उत्तम प्रेरणा व कर्मशक्ति प्राप्त कराते रहते हैं। प्रभु से भी हमारी यही आराधना है कि वे हमें इस जीवन-यात्रा में सदा प्रेरणा प्राप्त कराते रहें और हमें शक्ति दें कि हम उस प्रेरणा को क्रिया में अनूदित कर सकें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम ज्योति प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**रेभः काश्यपः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

हमें अपने से दूर मत कीजिए

२६०. मा न इन्द्र परा वृणग्भवा नः सधमाद्ये।
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र परावृणक्॥ ८॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हमें **परावृणक्**=अपने से दूर (वृजी वर्जने) **मा**=मत कीजिए, आप **नः**=हमारे **सधमाद्ये भव**=(सह मद्) साथ आनन्द के लिए होओ। **त्वम्**=आप ही **नः**=हमारी **ऊती**=रक्षा के लिए होते हैं। **त्वम् इत्**=आप ही **नः**=हमारे **आप्यम्**=प्राप्य, पहुँचने योग्य अन्तिम लक्ष्य हैं। **इन्द्र**=प्रभो! **नः**=हमें **मा**=मत **परावृणक्**=परे कीजिए।

जिस समय जीव प्रभु से दूर हो जाता है, उस समय वह असुरों की भाँति केवल स्वार्थ की वृत्तिवाला होता है। आपस का बन्धुत्व उसे प्रतीत नहीं होता। प्रभु के समीप निवास का परिणाम यह होता है कि वह सभी प्राणियों के साथ अपना बन्धुत्व अनुभव करता है और अकेले खाने व पीने में उसे पाप प्रतीत होने लगता है—अकेला तो वह मुक्त होना भी पसन्द नहीं करता।

वस्तुतः औरों को बन्धु समझ, केवलादी न बनना और परमेश्वर को ही अन्तिम ध्येय समझना—ये दोनों बातें बड़े उच्च ज्ञान की अपेक्षा करती हैं, अतः इन दोनों बातों को काश्यप (पश्यक) वस्तुओं को ठीक रूप में देखनेवाला ज्ञानी ही अपने जीवन में ला सकता है। यह काश्यप परमेश्वर का सच्चा स्तोता भी है—स्तोता के लिए वैदिक शब्द 'रेभः' है। यह 'रेभ काश्यप' ही इस मन्त्र का ऋषि है। ऐहलौकिक जीवन में इसका लक्ष्य 'सधमाद्य'=मिलकर आनन्द प्राप्त करना है। यह यज्ञों के द्वारा सम्पत्ति का औरों के साथ विभाग करके सेवन करता है। अपने आध्यात्मिक जीवन में यह प्रभु को ही अपना लक्ष्य बनाता है (सा काष्ठा, सा परागतिः)।

भावार्थ—मैं अकेला खानेवाला न बनूँ, खाने में आसक्त न हो जाऊँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

पवित्र चश्मों में स्नान

२६१. वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
पवित्रस्य प्रस्त्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते॥ ९॥

हे प्रभो! **स्तोतारः**=स्तोता लोग **घ**=निश्चय से **त्वा**=आपके **परि आसते**=आस-पास ही रहते हैं, आपसे दूर नहीं जाते। हे **वृत्रहन्**=वृत्रों के नाशक! आपके समीप रहने से वे स्तोता भी वृत्रों को समाप्त करने में समर्थ होते हैं। आपके समीप रहनेवालों को ये वृत्र--वासनाएँ पीड़ित नहीं करतीं। ये लोग **पवित्रस्य**=परम पवित्र आपके **प्रस्रवणेषु**=सहस्रधार स्रोतों के अन्दर स्नान कर रहे होते हैं। जैसे **'स्विन्नः स्नातो मलादिव'** जल से स्नान करनेवाला व्यक्ति पसीना आदि मलों से रहित हो जाता है, उसी प्रकार आपमें स्नान करके यह स्तोता मन व बुद्धि के मलों से रहित हो जाता है।

आपके पवित्र चश्मों में स्नान करनेवाले व्यक्तियों के लक्षण निम्न हैं—

१. **वयम्**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) ये लोग कभी भी कर्मतन्तु का विच्छेद नहीं होने देते। इन्हें यह नहीं भूलता कि ये आत्मा हैं--(अत् सातत्यगमने) सतत गमन ही उनका स्वरूप है। उनके लिए प्रभु का आदेश **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** कर्म करते हुए ही जीने का है।

२. **सुतावन्तः**=(सुतं=ज्ञानम्) ये उत्तम ज्ञानवाले होते हैं। ये प्रकृति के तत्त्वों को समझने का प्रयत्न करते हैं—और जीवों की प्रकृति का अध्ययन करते हैं। इन दोनों में ही इन्हें प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है।

३. **आपः न**=ये जलों की भाँति होते हैं। जल पवित्र करनेवाला है। इनके सम्पर्क में आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति भी पवित्रता का अनुभव करता है। ये जलों की भाँति ही शान्त होते हैं और स्वाभाविक रूप से क्रिया करनेवाले होते हैं।

४. **वृक्तबर्हिषः**=(वृजी वर्जने) दूर किया है उखाड़ने योग्य वासनाओं को जिन्होंने। जैसे किसान खेत से घास-फूँस को उखाड़कर खेत को स्वच्छ कर डालता है, उसी प्रकार ये लोग मन की मलिनता को दूर कर उसे पवित्र कर डालते हैं। इसी पवित्र स्थान पर वे प्रभु को देखने का प्रयत्न करते हैं। इसमें बुद्धिमत्ता नहीं कि हम प्रभु को बाहर बैठा दें। मूर्त्तिपूजक यही ग़लती करता है। यदि हमारे जीवनों में उल्लिखित चार बातें नहीं हैं तो वस्तुतः हम प्रभु के पवित्र प्रस्रवणों में स्नान नहीं कर रहे।

भावार्थ—हमारे जीवनों में क्रियाशीलता हो, उत्तम ज्ञान हो, शान्ति हो और मन का नैर्मल्य हो।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

ओज, नृम्ण, द्युम्न, पौंस्य

२६२. यदिन्द्र नाहुषीष्वा ओजो नृम्णं च कृष्टिषु।
यद्वा पञ्च क्षितीनां द्युम्नमा भर सत्रा विश्वानि पौंस्या ॥ १० ॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली तथा बल के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो! **यत्**=जो **ओजः**=बल **च**=और **नृम्णम्**=धन **नाहुषीषु**=(नह बन्धने)=आपस में मिलकर चलनेवाले **कृष्टिषु**=उत्पादक श्रमवाले मनुष्यों में होता है, उसे **आभर**=सब प्रकार से हममें भर दीजिए। **यत् वा**=और **पञ्च क्षितिनाम्**=पाँचों भूमियों—कोशों की **द्युम्नम्**=ज्योति को **आभर**=हममें पूर्ण कर दीजिए। **विश्वानि**=सब **सत्रा पौंस्या**=सत्य पुरुषार्थों को हमें प्राप्त कराइए।

'कृष्टि' शब्द वेद में मनुष्य का वाचक है और यह संकेत कर रहा है कि मनुष्य को

कृषिप्रधान—श्रमशील जीवनवाला होना चाहिए। साथ ही उसे केवल अपने लिए न जीकर अपने जीवन को औरों के जीवनों के साथ सम्बद्ध करना चाहिए। इसी उद्देश्य से यहाँ 'नाहुषी' विशेषण दिया गया है। पशु, पक्षी सब अपने लिए ही जीते हैं, मनुष्य का सबके साथ मिलकर चलना ही ठीक है। जो औरों के लिए जीता है, वस्तुतः वही जीता है।

जो व्यक्ति श्रमशील जीवन बिताता है वह ओज प्राप्त करता है। क्रिया नीरोगता व शक्ति देती है। क्रिया के अभाव में मनुष्य को बीमारियाँ व अशक्ति आ घेरती हैं। क्रियाशीलता उसे जीवन के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराती है। वस्तुतः यह कृष्टि ब्रह्मचर्याश्रम में ओज प्राप्त करता है, तो गृहस्थ में धन।

वानप्रस्थ बनने पर यह अपने पाँचों कोशों को ज्योति से भरने का ध्यान करता है, क्योंकि ऐसा करके ही वह अपने संन्यासाश्रम में सफलता से सत्य पुरुषार्थों को सिद्ध कर पाएगा। इस प्रकार यह मन्त्र मानव-जीवन के चारों आश्रमों के चार केन्द्रीभूत लक्ष्यों को क्रमशः 'ओज, नृम्ण, द्युम्न व पौंस्य' इन शब्दों से प्रकट कर रहा है।

अपने अन्दर ओज=वाज=शक्ति भरने से यह 'भरद्वाज' बनता है और ज्योति भरने से यह 'बार्हस्पत्य' कहलाता है। इस ओज व द्युम्न से यह क्रमशः 'नृम्ण' व 'पौंस्य' को सिद्ध करता है। अपने ओज से प्राप्त धन 'नृम्ण' है, ज्ञानपूर्वक किया हुआ पुरुषार्थ 'सत्य पौंस्य' है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी जीवन-यात्रा के चारों लक्ष्य ठीक प्रकार पूर्ण हों।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

परलोक भी, इहलोक भी

२६३. सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽविता।
वृषा ह्युग्र शृण्विषे परावति वृषो अर्वावति श्रुतः॥ १॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि यदि तू सचमुच अपना जीवन पूर्वमन्त्र के चार शब्दों के अनुसार बिताता है तो **इत्था**=इस प्रकार **इत्**=निश्चय से **सत्यम्**=सचमुच **वृषा असि**=तू शक्तिशाली व धर्मयुक्त है (वृष=धर्म)। **वृषजूतिः**=ऐसा बनने पर तू शक्तिशाली व धर्मयुक्त क्रियाओंवाला कहलाएगा (जूति=क्रिया)। ऐसा करने पर ही तू **नः**=हमारे **अविता**=अंश का दोहन करनेवाला होगा (अव्=भागदुघे), अर्थात् तेरे लिए यह कहा जा सकेगा कि तू अपने अन्दर दिव्यता का अवतरण कर रहा है। हे **उग्र**=उदात्त-उत्कृष्ट स्वभाववाले जीव! **हि**=ऐसा करने पर ही तू **परावति**=दूर क्षेत्र में, अर्थात् परलोक व अध्यात्म के क्षेत्र में **वृषा**=शक्तिशाली **श्रुतः**=प्रसिद्ध होगा और ऐसा करने पर ही **अर्वावति**=समीप के, ऐहलौकिक क्षेत्र में भी **वृषः**=शक्तिशाली व धर्मयुक्त **शृण्विषे**=प्रसिद्ध होगा।

गत मन्त्र की चार बातों को अपने जीवन का लक्ष्य बनानेवाला व्यक्ति सचमुच शक्तिशाली व धार्मिक बनता है, उसकी प्रत्येक क्रिया धर्मानुकूल होती है। वह निरन्तर प्रभु की ओर बढ़ रहा होता है। उसे अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति ही समझदार है—मेधातिथि=यह निरन्तर मेधा के साथ चलनेवाला है

(मेधया अतति)।

भावार्थ—हम भी ओज व द्युम्न आदि को जीवन का ध्येय बनाकर अपने में दिव्यता का अवतरण करें।

ऋषिः—रेभः **काश्यपः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अपरा प्रकृति में भी, परा प्रकृति में भी

२६४. यच्छक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन्।
अतस्त्वा गीर्भिर्द्युगदिन्द्र केशिभिः सुतावाँ आ विवासति॥ २॥

इस मन्त्र का ऋषि 'रेभः काश्यपः' है। यह 'काश्यप' इसलिए है कि 'पश्यति' यह कण-कण में प्रभु की महिमा को देखता है। सूर्य, चन्द्र, तारे और सब लोकलोकान्तरों में यह उस प्रभु के कर्तृत्व को अनुभव करता है। उस प्रभु की अपार शक्ति को देखता हुआ यह उसका स्तोता 'रेभ' बनता है और कहता है कि हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन्! **इन्द्र**=सर्वैश्वर्यशाली प्रभो! **यत्**=क्योंकि आप **परावति**=अपनी परा-प्रकृति में, अर्थात् जीव के अन्दर भी विद्यमान हैं और **यत्**=क्योंकि **अर्वावति**=अपरा-प्रकृति, अर्थात् इन पृथिवी आदि पञ्चभूतों की उपादानकारणभूत प्रकृति में भी आपकी महिमा दृष्टिगोचर होती है, **अतः**=इसलिए **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **त्वा**=आपकी **आ**=सर्वथा **विवासति**=परिचर्या करता है। कौन? **सुतावान्**=जो उत्तम ज्ञानवाला है (सुत=ज्ञान, मतुप्=प्रशंसायाम्), अतएव **द्युगत्**=दिव्यता की ओर (द्युलोक की ओर) चल रहा है।

जो लोग खाने, पीने और सोने की दुनिया में ही विचरते हैं, वे पृथिवीलोक पर हैं। जो यश की इच्छा (ambition) से दुःखों की परवाह न करते हुए कुछ क्रूर कर्म भी कर जाते हैं, वे अन्तरिक्षलोक में विचरते हैं, और जो शान्त मनोवृत्ति से, यश की इच्छा से ऊपर उठकर अपने चारों ओर माधुर्य का प्रवाह बहाते हुए जीवन-यात्रा करते हैं, वे व्यक्ति द्युलोक में विचरनेवाले हैं। ये ही लोग वस्तुतः प्रभु के सच्चे उपासक हैं। ये सात्त्विक व्यक्ति नित्यसत्त्वस्थ होते हुए शरीर को छोड़ते ही सत्यस्वरूप प्रभु को प्राप्त करते हैं। ये द्युलोक के सूर्य की भाँति चमकते हैं। इनका ध्येय न तो आराम और न ही अर्थ व यश होता है। इनका लक्ष्य तो प्रभु का ज्ञान, दर्शन व प्राप्ति ही होता है, इसलिए ये प्रकृति का प्रयोग करते हुए भी उसमें आसक्त नहीं होते, नाना व्यक्तियों का विषम व्यवहार भी इन्हें व्यथित नहीं करता।

परन्तु प्रश्न यह है कि यह उच्च ज्ञान इन्हें प्राप्त कैसे होता है? इसका उत्तर मन्त्र में **'केशिभिः'** शब्द से दिया गया है। 'केशिनो द्युस्थाना देवताः' (नि०)=केशी द्युलोक की देवता है। वस्तुतः ये दिव्यता व प्रकाश में विचरणेवाले विद्वान् हैं। उनके सम्पर्क में आकर ही यह 'रेभः काश्यप' भी 'द्युगत् व सुतावान्' बना है। जैसों के सम्पर्क में हम आते हैं वैसे ही बन जाते हैं। 'द्युगत्' बनकर हम अनुभव करते हैं कि किस प्रकार प्रभु की महिमा के दर्शन ने हमें क्रोध व काम से (आसक्ति से) ऊपर उठाया है और हम कह उठते हैं कि हे प्रभो! आप सचमुच **वृत्रहन्**=वासना को विनष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम जीवों के व्यवहारों और प्रकृति के पदार्थों में प्रभु की महिमा को देखें, जिससे हम न तो किसी पर क्रुद्ध हों और न ही विषयों में आसक्त।

ऋषिः—**वत्सः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

ज्ञान का प्रकाश, शक्ति का प्रवाह

२६५. अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम्।
इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा॥ ३॥

इस मन्त्र का ऋषि 'वत्स' है—जो प्रभु की स्तुति का उच्चारण करता है (वदति), अतएव प्रभु का प्रिय है। यह अपने मित्रों से कहता है कि प्रभु **वः**=आपके शत्रुओं को **वीरम्**=विशेष रूप से कम्पित करके दूर करनेवाले हैं, **महा विचेतसम्**=महान् व विशिष्ट ज्ञानवाले हैं, उस प्रभु को लक्ष्य करके **अभिगाय**=खूब गायन करो। ऐसा तुम कर तभी सकोगे जब तुम्हारा निवास **अन्धसः**=आध्यातव्य सोम के **मदेषु**=मदों में होगा। सोम आध्यातव्य है। जो सोम अन्न के सप्तम स्थल में उत्पन्न होता है—वह सोम कितना ध्यान देने योग्य है? जब मनुष्य उसका ध्यान करता है तो उसका जीवन विशेष हर्ष व आनन्दवाला होता है। इस सोम की रक्षा करने पर शरीर नीरोग रहता है, मन निर्मल व बुद्धि तीव्र, इसीलिए इस सोम का पान करनेवाला व्यक्ति प्रभु का उपासक होता है—प्रभु के गुणों का गायन करता है।

वत्स कहता है कि **वचो यथा**=वेदवाणी में जैसा उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार उस प्रभु का गायन करो—जो **इन्द्रं नाम**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला है और बल के सब कार्यों को करनेवाला है। **श्रुत्यम्**=जो ज्ञान प्राप्त करानेवालों में सर्वोत्तम है। आचार्यों से भी ज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु सर्वमहान् आचार्य तो वे प्रभु ही हैं। उस प्रभु के सम्पर्क में आने पर सारा अन्तरिक्ष ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठता है, क्योंकि प्रभु के ज्ञान का स्रोत अन्दर से उमड़ता है। **शाकिनम्**=वे प्रभु हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं। प्रभु की शक्ति का प्रवाह हमारे अन्दर भी बहने लगता है। अग्नि के सम्पर्क में आकर लोहे का गोला भी अग्नि की भाँति तमतमाने लगता है। इसी प्रकार जीव भी ब्रह्म के सम्पर्क में आकर 'ब्रह्म इव' हो जाता है। जीव भी ब्रह्म का छोटा-सा रूप बन जाता है।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करें। सोम के आनन्द में प्रभु का गायन करें। प्रभु वीर हैं, उनके गुणगान से हममें शक्ति का प्रवाह बहेगा। प्रभु महाविचेतस् हैं—हममें भी ज्ञान का प्रकाश होगा।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

चमकता हुआ अस्त्र (The Bright Weapon)

२६६. इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तये।
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः॥ ४॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप हमें **त्रिधातु**=उचित मात्रा में होने पर सम्यक् धारण करनेवाले तीन तत्त्वों से युक्त कीजिए, अर्थात् वात, पित्त व कफ के साम्यवाला बनाइए। वात, पित्त व कफ साम्यावस्था में होते हैं, तो यह शरीर नीरोग रहता है। **शरणम्**=स्थूल शरीररूपी घर **यच्छ**=दीजिए।

हे इन्द्र! आप हमें **त्रिवरूथम्**=तीन वरूथ=रक्षाएँ (protection) **यच्छ**=प्राप्त कराइए। हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि आसुर भावनाओं के आक्रमण से सुरक्षित रहें। सुरक्षित होकर

ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति में लगी रहें, कर्मेन्द्रियाँ उत्तम कर्मों में व्याप्त रहें, मन शिवसंकल्पात्मक बने और बुद्धि विवेकमयी हो, इस प्रकार **स्वस्तये**=ये इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि हमारी उत्तम स्थिति के लिए हों। संक्षेप में स्थूलशरीर स्वस्थ हो तो सूक्ष्मशरीर सुन्दर व शिव हो।

हे इन्द्र! आप हमें **छर्दिः**=अपनी छत्रछाया—अपना रक्षारूप घर **यच्छ**=प्राप्त कराइए। आपकी छत्रछाया ही हमारे आनन्दमयकोश में निवास का साधन है, परन्तु यह छत्रछाया **मघवद्भ्यः च**=(मा—अघ) उन लोगों के लिए है, जिनकी सम्पत्ति पाप के लवलेश से शून्य उपायों से कमायी जाती है और **मह्यं च**=(मह् पूजायाम्) जो लोकसेवा के द्वारा आपकी पूजा में लगे हैं।

इस छत्रछाया का स्वरूप क्या है? **एभ्यः**=इन अपने कृपा-पात्रों के लिए आप **दिद्युम्**=देदीप्यमान ज्ञानरूप अस्त्र को **यावय**=संयुक्त कीजिए (यु=मिश्रण)। प्रभु जिसपर कृपा करते हैं, उसकी बुद्धि को निर्मल करके उसके ज्ञान को दीप्त करते हैं। यह चमकता हुआ ज्ञान ही वह अस्त्र है जिससे काम, क्रोधादि आन्तर शत्रुओं का संहार होता है।

एवं, यह प्रभु का कृपा-पात्र स्वस्थ शरीरवाला होकर सबल बनता है और 'भरद्वाज' कहलाता है। इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि के दीप्त होने से यह देदीप्यमान ज्ञानवाला होकर 'बार्हस्पत्य' बनता है। यह 'भारद्वाज बार्हस्पत्य' ही आदर्श पुरुष है।

भावार्थ—प्रभो! आपकी कृपा से हम स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व बुद्धिवाले बनकर सदा आपकी छत्रछाया में विचरें।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

साम्यवाद (१)—कार्य शक्ति के अनुसार, भोजन आवश्यकतानुसार

२६७. श्रायन्तइव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जातो जनिमान्योजसा प्रति भागं न दीधिमः॥ ५॥

श्रम—इस मन्त्र का ऋषि 'नृमेध' मनुष्यों के साथ मिलकर चलनेवाला है। यह कहता है कि **सूर्यम् इव**=सूर्य के समान **श्रायन्तः**=(श्रै=to sweat, to perspire) अत्यन्त श्रम के कारण पसीने से तर-बतर होते हुए **विश्वा इत्**=सभी मिलजुलकर **इन्द्रस्य**=उस प्रभु के अन्नों का **भक्षत्**=सेवन करो। 'श्रायन्त इव सूर्यम्'=इस उपमा से स्पष्ट है कि सबको अपनी शक्ति के अनुसार काम करना है, बिना श्रम के किसी को खाने का अधिकार नहीं है। साम्यवाद का मौलिक सिद्धान्त यही है 'जो जितना कार्य कर सकता है, वह उतना कार्य करे ही'।

भोजन—'उस श्रम से उत्पन्न धनों का आवश्यकतानुसार विभाजन हो।' वेद कहता है कि **ओजसा**=शक्ति से **जाता**=उत्पन्न हुए-हुए **उ**=और **जनिमानि**=पैदा होनेवाले **वसूनि**=धनों को **प्रतिभागं न**=आवश्यकता के अनुसार (भज=सेवायाम्, भागम्=जितना सेवनीय हो) **दीधिमः**=धारण करें।

वह समाज, 'जिसमें सब अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करते हैं, और आवश्यकता के अनुसार खाना पाते हैं', आदर्श समाज है। प्रत्येक घर में यही व्यवस्था चलती है। वहाँ शक्ति के अनुसार सभी कार्य करते हैं, परन्तु कुछ भी न कमानेवाले बच्चे को सबसे अधिक दूध मिलता है। बस, इस घर में लागू हुए-हुए नियम को ही सारे समाज में व्यापक कर देना चाहिए। इस नियम के पालन के बिना जैसे घर नहीं चल सकता, इसी प्रकार यह नियम

सामाजिक जीवन के उत्थान के लिए भी आवश्यक है। ऐसे समाज में सब मिल-जुलकर चलते हैं, 'नृ-मेध' हैं और अनासक्त होने से सदा कार्यों में व्याप्त रहने से ये 'आङ्गिरस' हैं। इनका एक-एक अङ्ग रस व शक्तिवाला है।

भावार्थ—हमारे समाज का आदर्श-वाक्य यह हो कि 'कार्य शक्ति के अनुसार और धन का विभाग आवश्यकता के अनुसार।'

ऋषिः—**पुरुहन्मा आङ्गिरसः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

साम्यवाद (२)—किसको अन्न मिले?

२६८. न सीमदेव आप तदिषं दीर्घायो मर्त्यः।

एतग्वा चिद्य एतशो युयोजत इन्द्रो हरी युयोजते॥ ६॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **दीर्घायो**=हे दीर्घ जीवनवाले! **अदेवः मर्त्यः**=क्रियाशून्य, आरामतलब मनुष्य **सीम्**=निश्चय से **तत् इषम्**=उस अन्न को(जो श्रम से पैदा किया जाता है) **न आप**=प्राप्त न करे। यहाँ 'दीर्घायो' सम्बोधन से यह बात सुव्यक्त है कि यदि घर में यह नियम न बनेगा और युवक निठल्ले व आरामपसन्द होंगे तो वह घर देर तक न चलेगा। यही बात समाज व राष्ट्र में लागू होती है। समाज के दीर्घ जीवन के लिए सबको कुछ उत्पन्न करना है। अकर्मण्य लोग राष्ट्र के लिए भाररूप होते हैं और राष्ट्र की अवनति का कारण बनते हैं। इसलिए नियम यही होना चाहिए कि **एतग्वाचित्**=वही (एतं 'इषं' गच्छति इति एतग्वा) इस अन्न को प्राप्त करनेवाला हो **यः**=जो **एतशः**=इस शरीररूप रथ में जुते इन चित्रित घोड़ों को **युयोजते**=निरन्तर जोते रखता है, अर्थात् जो सदा क्रियाशील हो, वही अन्न पाने का अधिकारी समझा जाए।

और वस्तुतः **इन्द्रः**=जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है वह **हरी**=ज्ञानेनिद्रय व कर्मेन्द्रियरूप दोनों घोड़ों को **युयोजते**=कर्म में व्यापृत रखता है। इन शब्दों में इन्द्रियों को कार्य-व्यापृत रखने का वैयक्तिक लाभ भी इस रूप में संकेतित हुआ है कि 'तुम इन्द्रियों के अधिष्ठाता बने रहोगे—इन्द्रियों के दास न बनोगे।

शक्तिभर कार्य करते रहने से दो लाभ हुए—१. सामाजिक लाभ तो यह कि समाज उन्नत, समृद्ध व दीर्घजीवी होता है और २. वैयक्तिक लाभ यह कि मनुष्य की इन्द्रियाँ उसे व्यसनों की ओर नहीं ले-जातीं।

इस प्रकार अपनी गति से अपना पालन व पूरण करनेवाला यह 'पुरुहन्मा' ('पृ=पालन व पूरण, हन्=गति) है और गति के ही परिणामस्वरूप शक्तिशाली अङ्गोंवाला 'आङ्गिरस' है।

भावार्थ—जो शक्ति होते हुए भी कार्य न करे, उसे अन्न न मिलना चाहिए।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधावाङ्गिरसौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

साम्यवाद (३)—साम्यवाद कैसे प्रचलित हो? प्रभु-स्मरण (ब्रह्म+सवन) के द्वारा

२६९. आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्रं समत्सु भूषत।

उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋचीषम॥ ७॥

गत दो मन्त्रों में उन दो सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है जो आज के युग में 'साम्यवाद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। किसी भी समाज के उत्थान व दीर्घजीवन के लिए वे आवश्यक हैं, परन्तु उन सिद्धान्तों का प्रचलन तभी हो सकता है जब समाज के अङ्गभूत व्यक्ति प्रभु को स्मरण करते हुए अपना पारस्परिक बन्धुत्व अनुभव करें। घर के अन्दर तो बन्धुत्व अनुभव होता है तभी यह सिद्धान्त वहाँ लागू हो पाता है, अतः मन्त्र में 'नृ-मेध' के द्वारा कहा जाता है कि **नः**=हमारी **विश्वासु समत्सु**=सब सभाओं में (सम्+अत्=अज्) **हव्यम् इन्द्रम्**=उस पुकारने योग्य प्रभु को **आभूषत**=सब प्रकार से अलंकृत किया जाए। इकट्ठा होने पर सदा, प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में हम उस प्रभु का स्मरण करें, जिससे हम पारस्परिक बन्धुत्व का अनुभव करें। हम एक हों और **उप**=सदा प्रभु के समीप रहने का प्रयत्न करें। उसके समीप रहने से हमारे जीवन में **ब्रह्माणि**=स्तोत्र होंगे, **सवनानि**=यज्ञ होंगे। प्रभु के समीप, उसकी महिमा को देखते हुए, उसके स्तोत्रों का उच्चारण तो हम करेंगे ही, साथ ही हमारा जीवन यज्ञमय होगा। हम सदा उत्तम कर्मों को करनेवाले होंगे।

हे **वृत्रहन्**=आप वृत्रों को समाप्त करनेवाले हैं, हम आपके समीप रहेंगे तो आप हमारी वासनाओं को विनष्ट कर डालेंगे। **परमज्या**=वे प्रभु तो एक प्रबल शक्ति हैं (ज्या=overpowering strength) उनके समीप रहकर मैं भी तो उस शक्ति से सम्पन्न होऊँगा।

ऋचीषम=वे स्तुति के समान गुणोंवाले हैं। जिस रूप में हम प्रभु का स्मरण करते हैं, तदनुरूप गुणों को हम धारण कर पाते हैं, अतः प्रभु का स्मरण करते हुए हम अपने जीवनों को उच्च बना पाएँगे।

प्रभु के साथ यह सङ्गम हमारा पालन व पूरण करेगा—हम 'पुरुमेध' होंगे। प्रभु के सम्पर्क में आकर बन्धुत्व अनुभव करने के कारण हम 'नृमेध' तो होंगे ही, सबके साथ मिलकर चलेंगे। उल्लिखित साम्यवाद के सिद्धान्त हमारे जीवन-व्यवहार में सहज समा जाएँगे।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हम सबके साथ बन्धुत्व का अनुभव करें।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

अवम, मध्यम व परम वसु

२७०. तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम्।
सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि न किष्ट्वा गोषु वृण्वते॥ ८॥

मन्त्र के ऋषि वसिष्ठ कहते हैं कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अवमं वसु**=सबसे निचली श्रेणी का वसु **तव इत्**=आपका ही है। **मध्यमं वसु**=मध्यम वसु को भी **त्वम्**=आप ही **पुष्यसि**=धारण करते हो। **सत्रा**=सचमुच **विश्वस्य**=सम्पूर्ण **परमस्य**=सर्वोत्कृष्ट वसु के भी **राजसि**=आप ही राजा हो—उससे भी आप ही देदीप्यमान हो। इस प्रकार सब वसुओं के धारण करनेवाले **त्वा**=आपको **गोषु**=इन्द्रियों में फँसे हुए व्यक्ति **नकिः**=नहीं **वृण्वते**=वरते हैं।

'वसु शब्द उस धन का वाचक है जो निवास के लिए उपयोगी है। वसु के द्वारा हम अपने निवास को उत्तम बनाते हैं। सबसे अवम वसु 'धन' है। धन के बिना यह प्राकृतिक शरीर अपनी आवश्यकताओं को कैसे पूरा कर सकता है? अन्न व वस्त्र सभी धन से प्राप्य हैं। मानस शिक्षा व बौद्धिक विकास के लिए भी साधनों को जुटाना धन से ही साध्य है।

मध्यम वसु 'स्वास्थ्य' है। अस्वस्थ मनुष्य किसी भी धर्म, अर्थादि पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं कर पाता।

परम वसु 'ज्ञान' है। इस ज्ञान के अभाव में मनुष्य पशुओं से ऊपर नहीं उठ पाता। ज्ञान-अग्नि ही उसके जीवन को पवित्र करती है और उसे मनुष्य पदवी के योग्य बनाती है।

धन, स्वास्थ्य और ज्ञान—इन तीनों वसुओं के चरम आश्रय वे प्रभु ही हैं। फिर भी न जाने क्यों मनुष्य उस प्रभु का वरण नहीं करते? यह सचमुच आश्चर्य ही है! प्रभु का वरण न करने का कारण वेदमन्त्र के अनुसार यह है कि 'गोषु'=मनुष्य इन्द्रियों में ग्रसित हो जाता है। प्रभु का वरण यह तभी कर पाएगा जब इन्द्रियों को वश में करके 'वसिष्ठ' बनेगा। वसिष्ठ ही प्रभु का वरण करता है। वसिष्ठ बनने के लिए उसे 'मैत्रावरुणि' मित्र और वरुण अर्थात् प्राणापान की साधना करनी होगी।

भावार्थ—प्रभु का वरण करके हम वसुत्रयी को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च**।। देवता—इन्द्रः।। छन्दः—**बृहती**।। स्वरः—**मध्यमः**।।

कहाँ भटकते रहे?

२७१. क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः।
अलर्षि युध्म खजकृत् पुरन्दर प्र गायत्रा अगासिषुः ॥ ९ ॥

गत मन्त्र में यह स्पष्ट हो चुका है कि जब इन्द्रियाँ मन को हर ले-जाती हैं और विषयों में भटकती रहती हैं तब वे प्रभु के वरण से कोसों दूर होती हैं। मेधातिथि=समझदार व्यक्ति शम और दम की साधना करता है और इन्द्रियों व मन को अपने में निरुद्ध करने के लिए यत्नशील होता है। यह अपने को इस रूप में प्रेरणा देता है कि—

अरे भाई! **क्व इयथ**=कहाँ भटकते रहे? **क्व इत् असि**=अब भी कहाँ भटक रहे हो? **ते मनः पुरुत्राचित् हि**=तेरा मन निश्चय से अनेक विषयों में जा रहा है। पृथिवी के एक कोने से दूसरे कोने तक यह भटकता है, समुद्रों, पर्वतों व दिशाओं के अन्तों तक यह जाता है। इसी प्रकार यह भटकता रहा तो मुक्ति कैसे होगी। इसलिए तू **अलर्षि**=(अल्=to prevent, ward off) आज अपने मन पर होनेवाले इन विषयों के आक्रमणों को रोकता है और इनको रोकने के द्वारा ही तू अपने मन को (अल् भूषणे) उत्तम गुणों से विभूषित करने का निश्चय करता है। **युध्म**=तू इनके साथ युद्ध करने में बड़ा कुशल बनता है, किसी भी प्रकार इनके धोखे में नहीं आता। **खजकृत्**=इनके विनाश के लिए ही तू अपना मन्थन (अन्तः निरीक्षण) करता है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि में अपना अधिष्ठान बना ये वासनाएँ हमारे अन्दर ही छिपी बैठी होती हैं। उन्हें क़िलों से ढूँढ निकालने के लिए ही तू अपने अन्दर टटोलता है, इनकी तीनों पुरियों का विदारण करनेवाला तू **'पुरन्दर'** बनता है। महादेव त्रिपुरारि हैं—तू भी आज त्रिपुरारि बनकर महादेव-सा ही बन जाता है।

ऐसा बनने के लिए ही **गायत्राः**=प्रभु के स्तोत्रों के गायन से अपना त्राण करनेवाले उपासक लोग **प्र अगासिषु**=प्रभु के गुणों का खूब ही गायन करते हैं। यह प्रभु का गुणगान अवद्य भावनाओं को हमसे दूर रखता है। यह गुणगान की ध्वनि असुरों को नहीं सुहाती। इस ध्वनि का उच्चारण हुआ और असुर दूर भागे।

इस प्रकार इन आसुर वृत्तियों को अपने से दूर भगाकर यह 'मेधातिथि'=समझदार आदमी 'मेध्य'=उस परम पवित्र प्रभु की ओर 'अतिथि' चलनेवाला 'मेध्यातिथि' बन जाता है।

भावार्थ—हम मन को वश में करके उसे प्रभु में युक्त करें।

ऋषिः—**कलिः प्रागाथः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

कलि के दो निश्चय

२७२. वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम्।
तस्मा उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते॥ १०॥

जो व्यक्ति अच्छी प्रकार हिसाब-किताब लगाकर समझ लेते हैं कि 'श्रेय और प्रेय में श्रेय ही उपादेय है, न कि प्रिय (pleasant) होता हुआ भी प्रेय'—वे इस संख्यान=हिसाब-किताब के कारण 'कलि' (कल् संख्याने) कहलाते हैं। इनका जीवन प्रभु के गुणगान में व्यतीत होता है, अतः ये 'प्रागाथ' कहलाते है।

इनका निश्चय है कि **वयम्**=कर्मतन्तु को अविच्छिन्न रखनेवाले **इत्**=निश्चय से **आ**=सब प्रकार से **ह्यः**=जैसे कल उसी प्रकार **इह**=आज के दिन भी **एनम्**=इस प्रभु को ही **अपीपेम**=आप्यायित करते हैं। स्तोत्रों के द्वारा उस प्रभु की महिमा को बढ़ाते हैं, क्योंकि ये प्रभु **वज्रिणम्**=वज्रवाले हैं। वज्र=गतिशीलता से मेरे सब शत्रुओं को कुचलनेवाले हैं (वज गतौ) गतिशीलता से वासनाओं व मलों का नाश सुप्रसिद्ध है।

तस्मै=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **उ**=ही **अद्य**=आज **सवने सुतम्**=(हवने हुतम्, स=ह) अग्निहोत्र में आहुतियों को **भर**=डालता हूँ। यज्ञ=स्वार्थत्याग प्रभु-प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्रकृति को छोड़े बिना हम प्रभु को पा ही नहीं सकते। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए ही कलि कहता है कि **नूनम्**=निश्चय से **श्रुते**=शास्त्र-श्रवण व ज्ञान के विषय में **भूषत**=अपने को अलंकृत करो। ज्ञान के बिना यज्ञिय भावना का उदय सम्भव नहीं है। एवं, ज्ञान और यज्ञ ये दो प्रभु-प्राप्ति के उपाय हैं।

भावार्थ—हम भी कलि के साथ यह निश्चय करें कि हम अपने हृदयों को यज्ञिय व मस्तिष्क को श्रुतपूर्ण बनाएँगे और इस प्रकार बनकर प्रभु को प्राप्त करनेवाले होंगे।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**पुरुहन्मा**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

पुरुहन्मा का जीवन

२७३. यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठं यो वृत्रहा गृणे॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि पुरुहन्मा है—पालक व पूरक गतिवाला। इसका जीवन इतना उत्तम बनता है कि प्रभु कहते हैं कि **गृणे**=मैं इसकी प्रशंसा करता हूँ। हम प्रभु से प्रशंसनीय हों,

इससे उत्तम बात क्या हो सकती है? 'गृणे' का अर्थ 'उपदेश देता हूँ' भी होता है। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा को वेदज्ञान दिया, क्योंकि **'यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्'**=इनका जीवन श्रेष्ठ व निर्दोष था। पुरुहन्मा के जीवन को भी प्रभु निर्दोष समझते हैं—और उसे उपदेश देते हैं। यह निर्दोष जीवन निम्न शब्दों में चित्रित हो रहा है—

१. **यः चर्षणीनां राजा**=जो श्रमशीलों के अन्दर चमकनेवाला है। उत्पादक श्रम करनेवाले पुरुषों का मुखिया है। (चर्षणयः—कर्षणयः)

२. **रथेभिः याता**=इस शरीररूप रथ तथा उसमें जुते हुए ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों, मनरूपी लगाम व बुद्धिरूप सारथि के द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करनेवाला बनता है। 'रथेभिः' यह बहुवचन का प्रयोग रथ के सारे अङ्गों के बाहुल्य के विचार से ही हुआ है।

३. **अध्रिगुः**=(अधृतगमनः)—अल्पज्ञता व अल्पशक्तिवश कहीं-कहीं इससे ग़लती हो ही जाती है—यह लड़खड़ा जाता है, परन्तु असफलताओं से निराश नहीं हो जाता, सँभलकर फिर आगे बढ़ता है। इसी का परिणाम है कि—

४. **विश्वासां पृतनानाम्**=अभ्यास के द्वारा, शक्तियों का विस्तार करनेवालों में यह सबसे आगे बढ़ जाता है, **तरुता**=इन्हें तैर जाता है। **'अति समं क्राम'** इस वेदोपदेश को यह क्रियान्वित करता है।

५. **ज्येष्ठम्**=सभी से आगे बढ़ जाने के कारण ही यह ज्येष्ठ है। **यः वृत्रहा**=यह सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाला है। इसे प्रभु प्रशंसित करते हैं और उपदेश देते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवनों में भी वह दिन आये जब हम प्रभु से प्रशंसित व उसके उपदेश के अधिकारी समझे जाएँ।

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः**।। देवता—**इन्द्रः**।। छन्दः—**बृहती**।। स्वरः—**मध्यमः**।।

अभय-याचना

२७४. यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये वि द्विषो वि मृधो जहि।। २ ।।

इस मन्त्र का ऋषि 'भर्गः प्रागाथः' है। पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार जो व्यक्ति 'पुरुहन्मा' के जीवन को अपनाएगा वह अवश्य तेजस्वी बनेगा और यदि प्रभु का गायन करते हुए 'प्रागाथ' इस नाम को सार्थक करेगा तो उसकी यह तेजस्विता बनी ही रहेगी, परन्तु ज्योंहि यह प्रभु से दूर हुआ इसे भय प्राप्त हुआ, अतः यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **इन्द्र**=हे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यतः भयामहे**=जहाँ-जहाँ से हमें भय प्राप्त हो **ततः**=वहाँ-वहाँ से **नः**=हमें **अभयं कृधि**=निर्भय कीजिए। मैं वासनाओं के साथ युद्ध तो करूँगा, परन्तु क्या अकेला मैं उन्हें जीत पाऊँगा? नहीं, कदापि नहीं। हे **मघवन्**=अनन्त ऐश्वर्यशाली प्रभो! **शग्धि**=आप शक्तिशाली हैं, इन वासनाओं से युद्ध में आप ही मुझे विजय प्राप्त कराएँगे। आप ही समर्थ हैं। इन वासनाओं पर यदि विजय होती है तो **तत्**=वह **तव**=आपकी ही है। उसमें मेरा क्या है? यह विचार ही **नः**=हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिए होता है अन्यथा वासनाओं पर विजय का गर्व होकर फिर हम अभिमान के शिकार हो जाते हैं और इस अभिमान में पड़कर राग-द्वेष के चक्र में चल पड़ते हैं, अतः प्रभो! आप कृपा

करो—हमारी वृत्ति को अभिमानरहित करो और **विद्विषः**=द्वेष की भावनाओं को, **विमृधः**=हिंसा की वृत्तियों को **जहि**=हमसे दूर करो। हमारा जीवन निर्भयता के साथ माधुर्यमय हो। '**भूयासं मधु संदृशः**'=मैं मधु-जैसा ही बन जाऊँ। अभिमान मुझे द्वेष और हिंसा की ओर न घसीट ले-जाए।

भावार्थ—मैं अनुभव करूँ कि मेरी जीवन-यात्रा को पूर्ण करनेवाले प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

इरिम्बिठि का प्रभु स्तवन

२७५. वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांसत्रं सोम्यानाम्।
द्रप्सः पुरां भेत्ता शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा॥ ३॥

वास्तोष्पते=हमारे शरीररूप घरों के रक्षक प्रभो! (वास्तु=घर, गृह) आप हमारे जीवन-भवन के **ध्रुवा स्थूणा**=ध्रुव स्तम्भ हो। **सोम्यानाम् अंसत्रम्**=निरभिमान भक्तों के कन्धों के रक्षक हो, अर्थात् उनपर सदा आपके वरदहस्त की छाया बनी रहती है। **द्रप्सः**=भक्तों को आप हर्षित करनेवाले हो—उन्हें पवित्र मनःप्रसाद प्राप्त होता है। आप अपने भक्तों के **शश्वतीनाम्**=सनातन काल से चले आ रहे **पुराम्**=शरीररूप नगरियों के **भेत्ता**=विदारण करनेवाले हैं। वासनाएँ इन्द्रियों, मन और बुद्धि को अपना अधिष्ठान बनाती हैं—प्रभु की कृपा से ये पवित्र होकर वासनाओं के दुर्ग नहीं रहते।

प्रभु इन वासनाओं का संहार करके हमें उच्च ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यवाले हैं और अन्त में **मुनीनां सखा**=वे प्रभु मुनियों के सखा हैं। **मौनान्मुनिः**=कम बोलनेवालों के वे प्रभु मित्र हैं। जो बोलते कम हैं और अपने कर्त्तव्य कर्म को अप्रमाद से करते चलते हैं, वे मुनि कहलाते हैं। प्रभु की मैत्री इन्हीं को प्राप्त होती है।

वस्तुतः 'ईर गतौ, बिठं=हृदयान्तरिक्षम्' जिसके हृदयान्तरिक्ष में कर्म संकल्प है, उस इरिम्बिठि को क्रियाप्रधान व मौनवाला होना ही चाहिए। बहुत बोलने से शक्ति का व्यर्थ में ही यापन होता है।

इस प्रकार स्तुति करता हुआ इरिम्बिठि निम्न बोध लेता है—१. मुझे प्रभु के दिये इस गृह की रक्षा करनी है—इसे स्वस्थ रखना है। २. जीवन का मूलाधार प्रभु को ही मानना है, ३. सौम्य बनकर प्रभु के वरदहस्त को अपने सिर से दूर नहीं होने देना है, ४. मनःप्रसाद को नष्ट नहीं करना है, ५. शरीर, मन व इन्द्रियों को असुर नगरी नहीं बने रहने देना है, ६. प्रभु के सम्पर्क में आकर परमैश्वर्य को पाना है और ७. यथासम्भव कम बोलते हुए प्रभु की मैत्री का पात्र बनना है। इस प्रकार का जीवन बनानेवाला ही 'काण्व'=मेधावी है।

भावार्थ—हम सौम्य बनें, जिससे सदा प्रभु की छत्रछाया में रहें।

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते

२७६. बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम मह्ना देव महाँ असि॥ ४॥

इस मन्त्र का ऋषि 'जमदग्नि भार्गव' है। जमत्=खूब खानेवाली है अग्नि=वैश्वानराग्नि जिसकी, ऐसा यह जमदग्नि ऋषि है। तेजस्वी होने से यह भार्गव है। इसने अपना खूब परिपाक किया है। पाचनाग्नि ठीक रहेगी तो शरीर स्वस्थ रहेगा। पाचनाग्नि ठीक तब रहेगी जब हम रस में फँस भोजन का अतियोग न कर बैठेंगे। **'रसमूला हि व्याधयः'**=सब बीमारियाँ इस रस=स्वाद के कारण ही उत्पन्न होती हैं। इस रस को हम तब जीत पाएँगे जब उस महान् रस का (रसो वै सः) अनुभव करेंगे। जमदग्नि प्रभु-दर्शन की कामना से प्रभु की विभूतियों में उसकी महिमा के दर्शन का प्रयत्न करता है और कहता है कि हे **सूर्य**=आकाश में निरन्तर आगे बढ़नेवाली ज्योति! तू **बट्**=सचमुच कितनी **महान् असि**=महान् है! पृथिवी से साढ़े तेरह लाख गुणा बड़ा, ६४ हज़ार मील ऊँची लपटोंवाला, साढ़े नौ करोड़ मील दूरी से इतनी तीव्र ज्योति प्राप्त करानेवाला सूर्य सचमुच महान् है। हे **आदित्य**=आदान करनेवाले **बट्**=तू सचमुच कितना **महान् असि**=महान् है। आदान करने की तेरी शक्ति की क्या कोई तुलना कर सकता है? समुद्र-के-समुद्र को उठाकर किस प्रकार तू अन्तरिक्ष में ले-जाता है। तेरे आदान की यह भी विशेषता है कि तू शुद्ध-मधुर जल का ही ग्रहण करता है। हम भी माधुर्य का ही ग्रहण करें। तेरी ही भाँति क्रियाशील बनकर तेजस्वी बनें।

हे प्रभो! आप तो **महः**=तेजस्विता के पुञ्ज ही हो, **तेजोऽसि**=तेज-ही-तेज हो, अतएव **सतः ते**=सत्ता व पवित्रतावाले तेरी **महिमा**=गौरव **पनिष्टमः**=स्तुत्यतम है—अधिक-से-अधिक स्तुति करने योग्य है। इस प्रकार ध्यान करता हुआ जमदग्नि कह उठता है कि हे **देव**=दिव्यशक्ते! तुम तो **मह्ना**=अपनी महिमा से **महान् असि**=सचमुच महान् हो—पूजा के योग्य हो। मैं सब ओर आपकी ही महिमा को देखता हूँ और आपके प्रति नतमस्तक होता हूँ।

भावार्थ—हमारे जीवन का आदर्श भी 'जमदग्नि भार्गव' बनना हो।

ऋषिः—**देवातिथिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु का मित्र

२७७. अश्वी रथी सुरूप इद्गोमाँ यदिन्द्र ते सखा।
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रैर्याति सभामुप॥ ५॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **यत्**=जो **ते सखा**=तेरा मित्र होता है, वह १. **अश्वी**=उत्तम कर्मेन्द्रियरूप अश्वोंवाला होता है (अश्नुते कर्मणि—अश्व=कर्मेन्द्रिय)। प्रकृति में न फँसा होने के कारण उसके कर्म पवित्र होते हैं। २. **रथी**=वह शरीररूप उत्तम रथवाला होता है। न व्यसन, न रोग—शरीर तो उत्तम होना ही हुआ। ३. **सुरूप इत्**=यह निश्चय से उत्तम रूपवाला होता है। स्वास्थ्य इसके उत्तम रूप का कारण बनता है। ४. **गोमान्**=इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रशस्त होती हैं (गमयन्ति अर्थान् गावः=ज्ञानेन्द्रियाणि)। वस्तुतः प्रभु का स्मरण करने व उसका सखा बनने पर शरीर, मन व बुद्धि सभी खूब स्वस्थ होते हैं। यह व्यक्ति ठीक दिशा में ही चिन्तन करता है। ५. यह व्यक्ति ऐसे **वयसा**=जीवन से **सचते**=समवेत होता है जो **श्वात्रभाजा**=(श्वि=गति, वृद्धि) सदा क्रियाशील होता है और वृद्धिशील होता है। इसके जीवन में प्रत्येक क्रिया इसे उत्थान की ओर ले-जा रही होती है। ६. यह व्यक्ति **सदा**=हमेशा **चन्द्रैः**=आह्लादक भावों के साथ **सभाम्**=सभा को **उपयाति**=प्राप्त होता है। जब सभा में आता है तो यह अपने विचारों से सभी को आह्लादित व उत्साहित करता है, यह कभी निराशा व निरुत्साह फैलानेवाला

नहीं होता। होता है। अपने जीवन

एवं, प्रभु का मित्र उल्लिखित छह गुणों से विभूषित जीवनवाला होता है। अपने जीवन को ऐसा बनाना ही बुद्धिमत्ता है। ऐसे व्यक्ति को 'देवातिथि'=दिव्य मार्ग पर चलनेवाला कहा गया है।

भावार्थ—प्रभु के मित्र बन हम भी उल्लिखित छह गुणों से अपने जीवनों को अलंकृत करें।

ऋषिः—**पुरुहन्मा आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु का विस्तार (अचिन्त्य विस्तार)

२७८. यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥ ६॥

'पुरुहन्मा आङ्गिरस' ऋषि प्रभु का स्मरण करता हुआ उसकी महिमा से अभिभूत व विस्मित हो उठता है और कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **यत् ते शतं द्यावः स्युः**=यदि आपके इस एक द्युलोक-जैसे सैकड़ों द्युलोक हों **उत**=और **शतं भूमीः स्युः**=सैकड़ों पृथिवियाँ हों तो भी **त्वा**=आपको **न अष्ट**=व्याप्त नहीं कर सकतीं। आप सैकड़ों द्युलोक व सैकड़ों पृथिवीलोकों से कितने ही विशाल हैं! वस्तुतः **रोदसी**=एक-दूसरे का आह्वान करते हुए (क्रन्दसी) ये द्युलोक व पृथिवीलोक अपने अन्तर्गत सारे अवकाश से **न अष्ट**=आपको समा नहीं लेते। आपका विस्तार अनन्त है—ये सब लोक तो आपके एक देश में है **'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः'**। आप समुद्र हैं ये लोक-लोकान्तर तो उसके एक कण के समान हैं। आप सचमुच अनन्त हैं।

हे **वज्रिन्**=(वज् गतौ) क्रियाशीलता, स्वाभाविक क्रिया से चमकनेवाले प्रभो! **जातम्**=विकसित हुए-हुए आपको **सहस्रं सूर्याः**=हज़ारों सूर्य भी **अनु न**=प्रकाश से अनुगत नहीं हो सकते। हज़ारों सूर्यों से भी आपका प्रकाश अधिक है **'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः'**=हज़ारों सूर्यों का प्रकाश भी शायद ही आपके प्रकाश के समान हो सके। एवं, अनन्त है अपका विस्तार और अनन्त है आपका प्रकाश।

आपको स्मरण करता हुआ मैं पालक व पूरक गतिवाला 'पुरुहन्मा' बनता हूँ और अव्यसनी बनकर 'आङ्गिरस' होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का स्मरण मेरे जीवन को प्रकाशमय बनाए।

ऋषिः—**देवातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

वह उत्साहित करनेवाला सारथि

२७९. यदिन्द्र प्रागपागुदन्यग्वा हूयसे नृभिः।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे॥ ७॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **यत्**=जो आप **प्राक् अपाक्**=पूर्व में या पश्चिम में उदक्

न्यक् वा=उत्तर में या दक्षिण में **नृभिः हूयसे**=मनुष्यों से पुकारे जोते हो, वे आप उसी दिशा में थोड़े ही रहते हो? आप तो **सिमा**=सब दिशाओं में व्याप्त हो। कहाँ आपकी सत्ता नहीं? आप समुद्र में हैं तो कटोरी के पानी में भी व्याप्त हैं। दूर-से-दूर भी हो और समीप-से-समीप भी। जगत् के अन्दर भी हो और बाहर भी। **पुरू**=आप सर्वत्र व्याप्त होकर सभी का पालन-पोषण कर रहे हो। ध्रुवों पर स्थित पशु भी अपना भोजन प्राप्त करते हैं, समुद्र-तल-स्थित जलचर भी और हिमाच्छादित पर्वतशृङ्गों पर रहनेवाले प्राणी भी। आस्तिक भी, नास्तिक भी—सभी आपसे भोजन पाते हैं। हे प्रभो! आप **नृ-षूतः असि**=यन्त्रारूढ़ सभी प्राणियों के सारथिभूत हो। आप **आनवे**=(अन प्राणने) जीव को उत्साहित करते हैं। हे **प्रशर्ध**=प्रकृष्ट शक्तिवाले प्रभो! आपके सम्पर्क में हमें शक्ति प्राप्त होती है और इस प्रकार **तुर्वशे असि**=आप हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम त्वरा से इन इन्द्रियों, मन व बुद्धि को वश में करनेवाले होते हैं। 'तुर्वशे' शब्द का अर्थ निघण्टु में 'अन्तिके'='समीप' भी है, अतः यह अर्थ भी सङ्गत है कि आप समीप होते हुए हमें 'प्रशर्ध'=अत्यन्त शक्तिशाली बनानेवाले हैं।

एवं, सर्वत्र प्रभु को देखनेवाला, वस्तुतः सदा प्रभु के साथ चलनेवाला और सदा प्रभुरूप सारथिवाला यह व्यक्ति 'देवातिथि' है—देव के साथ चलनेवाला व्यक्ति ही काण्व=समझदार है, क्योंकि प्रभु के साथ रहने में ही उत्साह व शक्ति है।

भावार्थ—मैं प्रभु से दिये गये शरीर-रथ का प्रभु को ही सारथि वरूँ।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

श्रद्धा व आस्तिकता

२८०. कस्तमिन्द्र त्वा वसवा मर्त्यो दधर्षति।
श्रद्धा हि ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति॥ ८॥

वसिष्ठ=वश करनेवालों में श्रेष्ठ इस मन्त्र का ऋषि है। वह ऐसा बन इसलिए पाया है कि वह मैत्रावरुणि=मित्र और वरुण, अर्थात् प्राण और अपान की साधना करनेवाला है। यह इन्द्रियों को वश में करके प्रभु का दर्शन करता है। इसे प्रभु में अटूट श्रद्धा है। इस श्रद्धा को यह इन शब्दों में व्यक्त करता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **कः**=कौन **मर्त्यः**=मनुष्य **तम्**=उसे **आदधर्षति**=धर्षित कर सकता है? जिसे **त्वा वसो**=हे वसो! आप बसानेवाले हों, जिसकी प्रभु रक्षा करते हैं उसे संसार की सारी शक्तियाँ मिलकर भी नष्ट नहीं कर सकतीं। **'अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम्'**। हमारे प्रयत्न होने पर भी वस्तुतः हमारी रक्षा तो प्रभुकृपा से ही होती है। वास्तविकता यह है कि प्रभुकृपा हमें प्रयत्नशील भी बनाती है।

हे **मघवन्**=निष्पाप ऐश्वर्यवाले प्रभो! **श्रद्धा हि ते**=निश्चय से आपपर की गयी श्रद्धा मनुष्य को उस **दिवि**=प्रकाश में रखती है, जोकि **पार्ये**=इस श्रद्धा-सम्पन्न पुरुष को सब उलझनों से पार पहुँचा देता है। श्रद्धावाला शिष्य आचार्य से ज्ञान पाता है, इसी प्रकार श्रद्धावाला भक्त प्रभु से प्रकाश पाता है। प्रकाश ही नहीं **वाजी**=शक्तिशाली बनकर **वाजं सिषासति**=बल का भी सेवन करनेवाला होता है एवं, श्रद्धा हमारे अन्दर प्रकाश और शक्ति दो तत्त्वों को जन्म देती है।

भावार्थ—मुझमें श्रद्धा हो, जिससे मैं प्रकाश को देखूँ और शक्ति को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**इन्द्राग्नी**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सभी घड़ी आगे और आगे (वह श्रद्धा)

२८१. इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात् पद्वतीभ्यः।
हित्वा शिरो जिह्वया रारपच्चरत् त्रिंशत् पदा न्यक्रमीत्॥ ९॥

गत मन्त्र में वर्णित श्रद्धा का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अपात् इयम्**=बिना पाँववाली भी यह श्रद्धा **पद्वतीभ्यः**=पाँववाली तर्क व क्रियाशक्तियों से **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्व तक **पूर्वा**=पहले **आगात्**=पहुँचती है। तर्क में चहल-पहल है, क्रिया तो है ही चहल-पहल का नाम। इन तर्क और क्रिया दोनों से विपरीत श्रद्धा शान्त है। मन्त्र में इसी बात को काव्यमय ढङ्ग से इस प्रकार कहा है कि श्रद्धा **अपात्**=बिना पाँववाली है और तर्क और क्रिया पाँववाले हैं। तर्क व क्रिया की अपेक्षा हमें शक्ति व ज्ञान तक पहुँचाने में श्रद्धा का अधिक स्थान है। श्रद्धा हमें शक्तिसम्पन्न और हमारे मस्तिष्क को प्रकाशमय बनाती है।

इस श्रद्धा को धारण करनेवाला व्यक्ति **शिरः**=मस्तिष्क को, अर्थात् ज्ञान को **हित्वा**=धारण करके **चरत्**=क्रियाशील होता हुआ **जिह्वया रारपत्**=जिह्वा से उस प्रभु के नामों का उच्चारण करता है।

यह श्रद्धा **त्रिंशत् पदा**=दिन के तीस-के-तीस मुहूर्त **न्यक्रमीत्**=(नि=निश्चय) निश्चय से आगे और आगे बढ़ती है।

श्रद्धा सदा हमारी उन्नति का कारण बनती है। हमें शक्ति-सम्पन्न करती है, अतः हम 'भरद्वाज' बनते हैं, हमें ज्ञान-सम्पन्न करती है, अतः हम 'बार्हस्पत्य होते हैं।

भावार्थ—हम इस तत्त्व को समझकर चलें कि तर्क और क्रिया की अपेक्षा श्रद्धा का स्थान अधिक ऊँचा है। तर्क और क्रिया रजःप्रधान हैं, श्रद्धा सात्त्विक है।

ऋषिः—**मेध्यः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

बुद्धि, शान्ति, मित्रता

२८२. इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः।
आ शन्तम शन्तमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभिः॥ १०॥

इस मन्त्र का ऋषि 'मेध्य'=पवित्र जीवनवाला है। वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आ**=सर्वथा **नेदीयः इत्**=बहुत ही समीप **इहि**=आइए। मेध्य की कामना है कि प्रभु उससे दूर न हों—वह सदा प्रभु के समीप रहे। वह प्रार्थना करता है—आप **ऊतिभिः**=अपने रक्षणों के साथ हमें प्राप्त होओ। आपके रक्षण **मित-मेधाभिः**=ऐसे हैं जो बुद्धि का निर्माण करते हैं। वस्तुतः प्रभु जिसे समाप्त करना चाहते हैं, उसकी बुद्धि का विपर्यास कर देते हैं और जिसे सुरक्षित करना चाहते हैं उसकी बुद्धि को निर्मल कर देते हैं। हे **आशन्तम**=सर्वतः, सर्वाधिक शान्त प्रभो! आप **शन्तमाभिः**=अत्यन्त शान्त **अभिष्टिभिः**=इच्छाओं से हमें प्राप्त होओ, अर्थात् हम संसार में शान्ति फैलानेवाले ही बनें नकि घातपात करते हुए अपने कोश भरने का ध्यान करें। हे **स्वापे**=उत्तम मित्रभूत प्रभो! आप हमें **स्वापिभिः**=

उत्तम मित्रताओं से युक्त कीजिए। जब संसार में सभी साथ छोड़ देते हैं, उस समय प्रभु ही हमारे मित्र होते हैं, ये कभी हमारा साथ नहीं छोड़ते। हम भी उत्तम मित्रतावाले हों।

उल्लिखित शब्दों में कहा गया है कि प्रभु के संरक्षण हममें १. बुद्धियों का निर्माण करेंगे, २. हमें शान्त इच्छाओं से भरेंगे और ३. हमें मित्र बनाएँगे। ऐसे जीवनवाला व्यक्ति ही मेध्य=पवित्र है। यही व्यक्ति काण्व=मेधावी है।

भावार्थ—मैं प्रभु के सामीप्य में रहकर बुद्धिमान्, शान्त व सभी का मित्र बनूँ।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

इस संसार से संरक्षण के लिए (प्रलोभन-पूर्ण संसार से बचने के लिए)

२८३. इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम्।
आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्रियावृधम्॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि 'नृमेध आङ्गिरस' कहता है कि **इतः**=इस प्रलोभनपूर्ण संसार से **वः ऊती**=(ऊत्या) अपने रक्षण के उद्देश्य से उस प्रभु का स्मरण करो जोकि १. **अजरम्**=जरा रहित है २. **प्रहेतारम्**=प्रकृष्ट प्रेरणा देनेवाला है ३. **अप्रहितम्**=स्वयं किसी दूसरे से भेजा नहीं गया ४. **आशुम्**=शीघ्र कार्यकर्ता है ५. **जेतारम्**=सदा विजयशील है ६. **होतारम्**=दान देनेवाला व स्वार्थशून्य है ७. **रथीतमम्**=सर्वोत्तम रथी है, ८. **अतूर्तम्**=हिंसारहित है। न हिंसित होनेवाला, न हिंसा करनेवाला तथा ९. **तुग्रियावृधम्**=शक्ति का बढ़ानेवाला है।

उल्लिखितरूप में प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी निश्चय करें कि विषयों में आसक्त होकर हमें भी जीर्ण नहीं होना। प्रभु अप्रहित हैं, मैं भी दूसरों से बहकाया जाकर किसी विषय का शिकार न बनूँगा, इसी उद्देश्य से मैं सदा स्फूर्ति से कार्यों में लगा रहूँगा। सदा वासनाओं को जीतनेवाला बनूँगा। वासनाओं को जीतने के उद्देश्य से ही मैं देनेवाला बनूँगा। इस तत्त्व को न भूलूँगा कि यह शरीर जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए रथ है। मैं रथी हूँ। मुझे यह ध्यान रखना है कि ये इन्द्रियरूप घोड़े सदा विषयों को चरते ही न रहें। मैं कभी भी हिंसा की वृत्तिवाला नहीं बनूँगा—स्वयं भी आसुर वृत्तियों से अहिंसित होने का प्रयत्न करूँगा। वे प्रभु अपने भक्त की शक्ति बढ़ानेवाले हैं, मेरे भी बल को वे क्यों न बढ़ाएँगे?

इस प्रकार प्रभु का स्मरण हमें प्रेरणा से सम्पन्न करेगा तो क्या हम कभी वासनाओं के शिकार होंगे? नहीं, इस बात की फिर कभी आशंका न होगी। इसी उद्देश्य से मैं 'नृ-मेध' बनूँ। वे प्रभु तो सभी के मित्र हैं, मैं भी सभी के साथ मित्रतावाला बनकर सचमुच नृमेध होऊँ। यही व्यापक प्रेम मुझे काम से ऊपर उठा आङ्गिरस=शक्तिशाली बनाएगा।

भावार्थ—मैं प्रभु का स्मरण करते हुए प्रलोभनों से अपने को बचा पाऊँ।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

समीप, समीपतर और समीपतम

२८४. मो षु त्वा वाघतश्च नारे अस्मन्नि रीरमन्।
आरात्ताद्वा सधमादं न आ गहीह वा सन्नुप श्रुधि॥ २॥

वसिष्ठ मैत्रावरुणि कहता है कि हे प्रभो! **त्वा**=तुझे **वाघतः**=तेरा वहन (धारण) करनेवाले विद्वान् लोग **चन**=भी **आरे अस्मत्**=हमसे दूर **सुनिरीरमन्**=आनन्दित **मा उ**=न करें, अर्थात् विद्वान् लोग आपकी जो चर्चा करें वह हमारे समीप हो। हम विद्वानों के सम्पर्क में हों और उनके द्वारा की जानेवाली आपके विषय की चर्चाओं को सुनें।

वा=अथवा हे प्रभो! **आरात्तात्**=दूर से **नः**=हमारे **सधमादम्**=आपके साथ मिलकर आनन्द का अनुभव करने के स्थान पर **आगहि**=आइए, अर्थात् हम घर के सब व्यक्ति मिलकर आपके साथ जहाँ आनन्द का अनुभव करें, उस हमारे उपासना-स्थान में ही आप आइए। हम विद्वानों के द्वारा आपके सम्पर्क में आने के स्थान पर सीधे आपके सम्पर्क में आकर आपके समीपतर हो जाएँ और सबसे उत्तम बात तो यह है कि **इह**=यहाँ हमारे हृदयों में ही **वा**=निश्चय से **सन्**=उपस्थित होते हुए **उपश्रुधि**=हमारी प्रार्थना-वाणियों को सुनिए अथवा हमें वेदवाणियों के द्वारा ज्ञान का श्रवण कराइए। जिस दिन हृदयस्थ आपसे हम वेदज्ञान को सुन रहे होंगे उस दिन हम आपके समीपतर हो जाएँगे।

इस प्रकार वसिष्ठ की कामना तो यही है कि वह प्रभु के समीप, समीपतर व समीपतम होता जाए। वस्तुतः मनुष्य जितना-जितना इन्द्रियों को वशीभूत करके वसिष्ठ बनता जाता है, उतना-उतना वह प्रभु के समीप पहुँचता जाता है। वशी समीप पहुँचता है तो वशीतर--समीपतर पहुँच जाता है और वशितम=वसिष्ठ समीपतम पहुँच जाता है।

भावार्थ—हम अधिकाधिक वशी बनते हुए प्रभु के अधिक और अधिक समीप पहुँचते जाएँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

चार पुरुषार्थ

२८५. सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे।
पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित् पृणन्नित् पृणते मयः॥ ३॥

यह मन्त्र भी वसिष्ठ का है। वह कहता है कि **सोमं सुनोत**=सोम का अभिषव करो। अपने अन्दर सोम को उत्पन्न करो। किसके लिए? १. **सोमपाव्ने**=सोम का अपने ही अन्दर पान करने-शरीर में ही खपाने के लिए। २. **इन्द्राय**=इन्द्र बनने के लिए। ऐश्वर्यशाली होते हुए शत्रुओं के विद्रावण के लिए और ३. **वज्रिणे**=(वज गतौ) गतिशील बनने के लिए। जिस समय एक व्यक्ति इस सोम की रक्षा करता है तो ये दो उसके अवश्यम्भावी परिणाम होते हैं (क) एक तो वह वासनाओं को जीत पाता है और (ख) दूसरे, वह आलस्य का अनुभव न कर क्रियाशील बना रहता है।

सोमपान के बाद मनुष्यों का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वे **पक्तीः पचता**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के ओदन का ठीक परिपाक करें। वेद में जीव को पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के भोजन के दृष्टिकोण से पञ्चौदन कहा गया है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के भोजन के ठीक पकाने का अभिप्राय इस पञ्चभौतिक सृष्टि का ठीक ज्ञान प्राप्त करने से है।

इसका ठीक ज्ञान प्राप्त करते हुए—प्रभु की महिमा के अनुभव के द्वारा **अवसे**=प्रभु की दिव्यता के अंश का हम अपने में दोहन **कृणुध्वम्**=करें। दिव्यता को अपने में उतारने के लिए हम पूर्ण प्रयत्नशील हों और इस दिव्यता के अवतरण के लिए हम इस तत्त्व का मनन करें कि वे प्रभु **इत्**=सचमुच **पृणन्**=देनेवाले हैं, **इत्**=वस्तुतः **पृणते**=देनेवाले के लिए ही

मयः=कल्याण होता है। दान से आसक्ति कम होती है। दान=देना, काटना व शुद्ध बनाना', इन तीन अर्थों का वाचक है, अतः दान देते हुए हम अपनी बुराइयों को काट डालें और अपने को शुद्ध बना लें।

मन्त्र में चार बातें कही गयी हैं। आधे मन्त्र में एक और शेष आधे मन्त्र में तीन। वस्तुतः हमारा पचास प्रतिशत प्रयत्न तो लगना ही सोमपान के लिए चाहिए, फिर ज्ञान का परिपाक, दिव्यता का अवतरण व देने की वृत्ति स्वयं ही पनपने लगेगी। ये तीन बातें कठिन न रहेंगी।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हममें मन्त्रवर्णित चारों बातों का विकास हो। हम सोमपान करें, ज्ञान का परिपाक करें, दिव्यता को अपने में उतारें और दान देनेवाले बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

ब्रह्मा, विष्णु, शिव

२८६. यः सत्राहा विचर्षणिरिन्द्रं तं हूमहे वयम्।
सहस्रमन्यो तुविनृम्ण सत्पते भवा समत्सु नो वृधे॥ ४॥

मन्त्र में आराधना करते हैं कि हे प्रभो! आप **समत्सु**=काम-क्रोधादि के साथ निरन्तर चलनेवाले संग्रामों में **नः**=हमारी **वृधे**=वृद्धि के लिए **भव**=होओ—हमारी वृद्धि करो। हम क्रोधादि को युद्ध में पराजित करनेवाले हों। हे प्रभो! आप तो **सहस्रमन्यो**=अनन्त प्रज्ञानोंवाले हो **तुविनृम्ण**=बहुत शक्तिवाले हो **सत्पते**=उत्तमता (व उत्तमजनों) के रक्षक हो। आपकी कृपा से मेरा मस्तिष्क ज्ञान से भरपूर हो, मेरी भुजाएँ शक्तिसम्पन्न हों और मेरा मानस उत्तम सात्त्विक भावनाओंवाला हो।

इसी विचार से कि हम तीनों दृष्टिकोणों से उन्नत हों **वयम्**=हम **ते**=उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **हूमहे**=पुकारते हैं **यः**=जो **विचर्षणि**=विशेषरूप से बड़ी सूक्ष्मता के साथ देखनेवाला है, वह हमारे गुप्त-से-गुप्त दोषों को जानता है। केवल जानता ही नहीं, **सत्रा-हा**=उन सबको नष्ट करनेवाला भी है। इन क्रोधादि को समाप्त करने में मेरा अपना सामर्थ्य नहीं है—प्रभु को ही इन्हें समाप्त करना है। मैं प्रभु को स्मरण करूँगा, स्मरण ही नहीं प्रभु के प्रति अपना समर्पण भी करूँगा तो वे प्रभु मेरे शत्रुओं को क्यों न समाप्त करेंगे? प्रभु के सम्पर्क में आकर तथा शक्ति-सम्पन्न बनकर मैं 'भरद्वाज' बनूँगा और ज्ञानी बनकर 'बार्हस्पत्य'। यह ज्ञान और शक्ति दोनों का समन्वय मुझे लक्ष्मी व सरस्वती का अधिष्ठान बनाएगा। मैं विष्णु बनूँगा। उसी दिन वस्तुतः मैं शिव (कल्याण) को प्राप्त करूँगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मैं आन्तर संग्रामों में विजयी बनूँ।

ऋषिः—**दैवोदासिः परुच्छेपः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रज्ञा, कर्म, दान

२८७. शचीभिर्नः शचीवसू दिवानक्तं दिशस्यतम्।
मा वां रातिरुप दसत्कदा चनास्मद्रातिः कदा चन॥ ५॥

वैदिक साहित्य में पति-पत्नी 'अश्विनौ' कहलाते हैं। उन्हें प्रभु कहते हैं कि हे **शचीवसू**=(शची=प्रज्ञा, शची=कर्म) प्रज्ञा और कर्मरूप उत्तम सम्पत्तिवालो! **नः**=हमें, हमारे प्रति

दिवानक्तम्=दिन-रात **शचीभिः**=ज्ञानों व कर्मों द्वारा **दिशस्यतम्**=(दिश अतिसर्जने) समर्पण करने की इच्छा करो। भक्ति समर्पण का ही नाम है, परन्तु समर्पण किसका? अपने भक्तिभाजन के प्रति समर्पण के लिए उत्तमोत्तम ज्ञानों व कर्मों का संग्रह करो, जिससे इनका प्रभु के प्रति समर्पण कर सको। जो गृहस्थ ज्ञान व सत्कर्मों का संचय नहीं करते, उनके जीवनों में प्रभु की उपासना का भी अभाव है।

ज्ञान और कर्म के साथ तीसरी आवश्यक वस्तु 'दान' है। प्रभु कहते हैं कि **वाम्**=तुम दोनों की **रातिः**=दान देने की प्रक्रिया **कदाचन**=कभी भी **उपदसत्**=नष्ट **मा**=न हो। जो मनुष्य देता रहता है वह प्रकृति में आसक्ति व लगाववाला नहीं होता। प्रभु कहते हैं कि **अस्मत् रातिः**=यह हमारा दान तेरे द्वारा चलता हुआ **कदाचन**=कभी **मा उपदसत्**=नष्ट न हो। दान तो प्रभु कर रहे हैं, जीव तो बीच में निमित्तमात्र है।

इस प्रकार 'प्रज्ञा, कर्म व दान' इस त्रयी को अपनानेवाला व्यक्ति इस महान् देव का सच्चा सेवक=दास है, अतः यह 'दैवोदासि' कहलाता है और इसके पर्व-पर्व में अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति होती है, अतः यह 'परुच्छेप' नामवाला होता है।

भावार्थ—प्रज्ञा हमारे मस्तिष्क को उज्ज्वल करे, कर्म हमें शक्तिशाली बनाएँ और दान हमें प्रकृति में अनासक्त बनाकर उस देव का सच्चा दास बनाए।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

खाली समय को नाम-स्मरण से भर दें

२८८. यदा कदा च मीढुषे स्तोता जरेत मर्त्यः।
आदिद् वन्देत वरुणं विपा गिरा धर्तारं विव्रतानाम्॥ ६॥

स्तोता मर्त्यः=स्तवन करनेवाला मनुष्य **यदा कदा च**=जब भी, अर्थात् जिस समय भी अवसर प्राप्त हो तो वह **मीढुषे**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले उस प्रभु की **जरेत**=स्तुति करे। खाली समय का इससे सुन्दर उपयोग और क्या हो सकता है? प्रभु-स्मरण के लिए किसी बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं। उसके लिए तो वाणी के व्यापार की भी आवश्यकता नहीं। यदि उस समय को प्रभु-नाम-स्मरण में बिताएँगे तो हमारा मन छोटी-छोटी व्यर्थ की बातों में न उलझेगा, उसमें तुच्छ भावनाएँ न पनपेंगी।

आत् इत्=और अब निश्चय से **वरुणम्**=उस श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभु की **विपा**=बुद्धिमत्ता से यह स्तोता **वन्देत**=वन्दना करे। पुस्तकों से प्राप्त 'ज्ञान' कहलाता है, यही ज्ञान प्राकृतिक संसार को देखने के बाद बुद्धिमत्ता (wisdom) में परिवर्तित हो जाता है। उसी समय यह मनुष्य प्रभु की सच्ची वन्दना कर पाता है। 'ज्ञानी' भक्त तो प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय है। ज्ञानी व्यक्ति कण-कण में प्रभु की महिमा को देखता है।

इस प्रकार भक्ति करनेवालों का प्रभु **गिरा**=वेदवाणी के द्वारा **धर्तारम्**=धारण करनेवाले हैं। परन्तु कब? **विव्रतानाम्**=जब वे विविध व्रतों का धारण करते हैं। हम वेदवाणी तो पढ़ें पर व्रतों का धारण न करें तो प्रभु हमारा धारण न करेंगे।

एवं, प्रस्तुत मन्त्र में तीन उपदेश हैं १. जो भी खाली समय मिले उसमें प्रभु का स्मरण करो, २. प्रभु के ज्ञानी भक्त बनो, ३. **मन्त्र श्रुत्यं चरामसि**=जो वेद में सुनें, उसे करें, जिससे

प्रभु के धारण के पात्र बनें।

भावार्थ—उल्लिखित तीन बातें हमारे जीवनों को वामदेव=सुन्दर दिव्यगुणोंवाला बनाएँ तथा हमारी इन्द्रियाँ उत्तम होकर हम 'गोतम' बनें।

ऋषि:—**मेध्यातिथि: काण्व:**।। देवता—**इन्द्र:**।। छन्द:—**बृहती**।। स्वर:—**मध्यम:**।।

वेदवाणी की रक्षा

२८९. पाहि गा अन्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे।
य: सम्मिश्लो हर्योर्यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री हिरण्यय:।। ७।।

'मेध्यातिथि काण्व' से प्रभु कहते हैं कि हे **मेध्यातिथे अन्धस:**=प्रभु की ओर चलनेवाले जीव! तू ध्यान देने के योग्य जो शक्ति है उसके **मदे**=मद में **गा: पाहि**=वेदवाणियों की रक्षा कर। किसी भी वस्तु की रक्षा उसे जीवन का अङ्ग बनाने से होती है। गोदुग्ध के सेवन का व्रत ले-लें तो गोरक्षा हो जाए। जिस मकान में रहते हैं—वह सुरक्षित रहता है। रहना छोड़ा और टूटना आरम्भ हुआ। एवं, यह व्यापक नियम है कि जो वस्तु जीवन का अङ्ग बन जाती है वही सुरक्षित रहती है। वेदवाणी भी तभी सुरक्षित रहेगी जब हमारे जीवन का अङ्ग बनेगी। शक्ति के मद में भी यदि हम वेदवाणी को अपना सकेंगे तो जीवन सुन्दरतम बन जाएगा। अन्यथा वह शक्ति का मद हमारे महान् पतन का कारण प्रमाणित होगा।

इन्द्राय=उस प्रभु-प्राप्ति के लिए, जोकि परमैश्वर्यशाली हैं, हे जीव! तू वेद को जीवन में ढाल, तभी तू सचमुच मेध्यातिथि=पूर्ण पवित्र प्रभु की ओर निरन्तर चलनेवाला होगा, तभी तू काण्व=समझदार होगा।

वेदवाणी को जीवन का अङ्ग बनाकर उस प्रभु की ओर चल—**य:**=जो **संमिश्ल:**=(संमिश्र) हम सबको मिलानेवाले हैं। वे हम सबके मूल पिता हैं—पितामह हैं। एक प्रभु के पुत्र होने के नाते हम सब एक हैं। **हर्य:**=वे कान्तिवाले हैं—सुन्दर-ही-सुन्दर हैं, वहाँ कुछ भी असुन्दर व अशुभ तत्त्व नहीं है। **अर्य:**=वे स्वामी हैं, किन्हीं वासनाओं के दास नहीं, क्रोधादि से वे आक्रान्त नहीं होते। **हिरण्यय:**=वे ज्योतिर्मय हैं, अन्धकार का वहाँ लवलेश नहीं है। **इन्द्र:**=वे परमैश्वर्यवाले हैं। **वज्री**=स्वाभाविक क्रिया से युक्त हैं (वज गतौ) और **हिरण्यय:**= सचमुच ज्योतिर्मय हैं।

हमें उस प्रभु का उल्लिखित प्रकार से स्तवन करते हुए अपना जीवन एकत्व की भावना से भरपूर करना चाहिए। इससे हम वासनाओं के शिकार नहीं होंगे। उस समय हमारा जीवन ज्योतिर्मय होगा। हम सचमुच परमैश्वर्य को प्राप्त करनेवाले, सर्वभूतहित के लिए सदा क्रियाशील होंगे और अन्धकार से ऊपर उठेंगे।

भावार्थ—हमारा जीवन वेदों को प्रकट करनेवाला हो।

ऋषि:—**भर्ग: प्रागाथ:**।। देवता—**इन्द्र:**।। छन्द:—**बृहती**।। स्वर:—**मध्यम:**।।

सुनिए और आइए

२९०. उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वच:।
सत्राच्या मघवान्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत्।। ८।।

मघवान्=पवित्र ऐश्वर्यवाले प्रभु से **उभयम्**=हम दोनों ही बातें चाहते हैं। प्रथम तो यह कि **इन्द्रः अर्वाक्**=परमैश्वर्यशाली अन्तःस्थित आप **नः**=हमारे **इदं वचः**=इस वेदवाणी के अनुकूल कहे गये प्रार्थनावाक्य को **शृणवत्**=सुनें **च**=और **शविष्ठः**=सर्वाधिक शक्तिवाले आप **आगमत्**=हमें प्राप्त हों। किसलिए प्राप्त हों? **सोमपीतये**=सोम की रक्षा के लिए, अर्थात् हम वासनाशून्य होकर सोम की--अपनी वीर्यशक्ति की–रक्षा कर सकें और **सत्राच्या धिया**=सह-गतिवाली बुद्धि से वे प्रभु हमें प्राप्त हों। हमारे अन्दर मिलकर कार्य करने की भावना हो। (सत्रा=सह अञ्च्=गति)। हम प्रभु से वस्तुतः तीन वस्तुओं के लिए याचना करते हैं १. शक्ति २. सोम की रक्षा और ३. मिलकर कार्य करने की भावाना। मनुष्य की वैयक्तिक उन्नति बहुत कुछ शक्ति और सोम की रक्षा पर निर्भर है। सोम की रक्षा के द्वारा शक्ति-सम्पन्न बनने पर ही मनुष्य उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता है। इसके बाद सभी सामाजिक उन्नतियों का रहस्य 'मिलकर काम करने की भावना' पर निर्भर करता है। जिस घर में, जिस शिक्षणालय में सहगति co-operation की भावना है वह फूलता-फलता है, और यही भावना राष्ट्र को समृद्ध बनाती है। प्रभु के साथ अपना सम्पर्क जोड़नेवाला यह व्यक्ति 'प्रागाथ' है–निरन्तर प्रभु का गायन करता है। इस निरन्तर गायन से शक्ति का अनुभव करता है, अतः 'भर्ग' है। प्रभु शविष्ठ हैं–उनके सम्पर्क में आकर यह शक्ति-सम्पन्न क्यों न बनेगा? इस निरन्तर प्रभु के गायन से ही वासनाएँ दूर रहती हैं और इसे सोमपान में समर्थ बनाती हैं। प्रभु का गायन ही इसे एकत्व का भी अनुभव कराता है और यह सहगति की भावनावाला होता है। यह मिलकर कार्य करने की भावना इसे सामाजिक उत्थान की ओर ले-जाती है।

भावार्थ–हमें प्रभु की कृपा प्राप्त होगी तो वे हमारी प्रार्थना को सुनेंगे ही नहीं, हमें प्राप्त भी होंगे। उस समय हम शक्तिशाली होंगे, सोमपान में समर्थ होंगे और सहगति की भावनावाले होंगे।

ऋषिः–**मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**बृहती**॥ स्वरः–**मध्यमः**॥

आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्

२९१. महे च न त्वाद्रिवः परा शुल्काय दीयसे।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ॥ ९॥

प्रभु **अद्रिवः**=(न दृ)–न विदारण करनेवाले हैं। परन्तु कब? जबकि मनुष्य संसार के प्रलोभनों में न फँसता हुआ अपने जीवन-पथ पर आगे बढ़ता जाता है। जब यह प्रकृति की ओर ही झुक जाता है और इसकी शक्ति प्राकृतिक सम्पत्ति को जुटाने में ही लग जाती है तब वे प्रभु उसके लिए **वज्रिवः**=वज्रवाले बन जाते हैं। वज्र से उसका वे विदारण कर देते हैं, अतः मेधातिथि तो निश्चय करता है कि हे प्रभो! **त्वाम्**=आप **महे च शुल्काय**=महान् धनराशि के लिए भी **न परा दीयसे**=मुझसे छोड़े नहीं जाते हो। कितना भी धन हो। '**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**'=धन से मनुष्य सदा अतृप्त रहता है, अतः धन के लिए प्रभु को क्यों छोड़ना? **स-हस्राय न**=आमोद-प्रमोदमय जीवन के लिए भी आप नहीं छोड़े जाते। ये आमोद-प्रमोद व विलास तो '**सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः**' इन्द्रिय-शक्तियों को जीर्ण करते हैं। इनके लिए प्रभु को छोड़ना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। **न अयुताय**=मैं इसलिए भी प्रभु को नहीं छोड़ता कि मैं फूले-फले पुत्र-पौत्रोंवाले परिवार से संयुक्त बना रहूँ। जो व्यक्ति प्रभु को

छोड़ देता है वह समय आने पर अनुभव करता है कि उसने सदा साथ देनेवाले प्रभु को छोड़ उनको अपनाया है जोकि अन्त तक साथ नहीं दे सकते। प्रभु के अतिरिक्त कोई भी अन्त तक साथ नहीं देता। **न शताय**=पूरे सौ वर्ष जीने के लिए भी मैं आपको नहीं छोड़ता, अतः प्रभु का परादान किसी भी प्रलोभन के लिए ठीक नहीं। वास्तविकता तो यह है कि ये **शतामघ**=सैकड़ों प्रकार के ऐश्वर्यवाले हैं। अन्ततोगत्वा सब ऐश्वर्य उसी प्रभु के हैं। प्रभु मिले, तो ऐश्वर्य तो अपने आप मिल गये, अतः यह मेधातिथि तो किसी भी प्रलोभन में न फँसता हुआ उस पवित्र प्रभु की ओर चलता है और इसी से 'मेधातिथि' नामवाला होता है। इसने प्रभु को पाकर सभी कुछ पा लिया। इसके विपरीत एक दूसरे व्यक्ति ने सब-कुछ जुटाने के प्रयत्न में प्रभु को खोकर सभी कुछ खो दिया, अतः मेध्यातिथि ही काण्व है—मेधावी है।

भावार्थ—न धन के लिए, न विलास के लिए, न समृद्ध कुटुम्ब के लिए और न ही दीर्घ जीवन के लिए हम प्रभु को छोड़ें। प्रत्युत हम आत्मा के लिए सम्पूर्ण पृथिवी व पार्थिव भोगों को छोड़नेवाले हों। **'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'।**

ऋषिः—**मेधातिथिर्मेध्यातिश्च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

पिता व भाई से बढ़कर, माता के समान

२९२. वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः।
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे॥ १०॥

प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि भी मेधातिथि और मेध्यातिथि ही हैं। गत मन्त्र की ही भावना को मेधातिथि इस रूप में कहता है कि **इन्द्र**=हे प्रभो! आप **मे पितुः वस्यान् असि**=मेरे पिता से अधिक श्रेष्ठ हैं व अधिक उत्तम निवास देनेवाले हैं। यदि मैं कहूँ कि आप मेरे पिता हैं तो मैं आपका ठीक वर्णन नहीं कर रहा। पिता में कुछ स्वार्थ की भावना काम कर रही होती है, जो आप में नहीं है। यह ठीक है कि एक भाई में स्वार्थ की भावनाएँ न होकर एकता की भावना होती है, परन्तु वह भी विवाहित होकर व अन्य किसी परिस्थितिवश भिन्न स्वार्थवाला हो जाता है। उस समय वह अपने भाई का सहायक नहीं होता, इसीलिए मेधातिथि कहता है कि **उत**=और **अभुञ्जतः भ्रातुः**=न पालन करनेवाले भाई से आप **वस्यान्**=अधिक श्रेष्ठ हो, अतः मैं आपको भाई के रूप में भी कैसे स्मरण करूँ? हे प्रभो! आप तो **वसो**=मुझे उसी प्रकार बसानेवाले हैं जैसेकि मेरी माता। **माता च मे**=मेरी माता और आप **समा**=समानरूप से, निःस्वार्थभाव से **छदयथः**=मुझे मुसीबतों से बचाते हो (छद्=to give shelter)। यह ठीक है कि सांसारिक माता में भी अल्पशक्ति के कारण सहायता देने की शक्ति सीमित है, परन्तु अधिक-से-अधिक निःस्वार्थता उसी के प्रेम में है, अतः मैं आपको माता के रूप में स्मरण करता हूँ।

आप मुझे **वसुत्वनाय**=निवास के लिए आवश्यक धन देने के लिए होते हैं। मुझे कभी जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन की कमी नहीं होती, **राधसे**=आप मुझे सिद्धि प्राप्त कराने के लिए होते हैं। आपकी कृपा से मुझे आवश्यक धन भी मिलता है और सिद्धि भी।

भावार्थ—वे प्रभु पिता से भी बढ़कर हैं, भ्राता से भी अधिक हैं। वे माता के समान हमें कष्टों से बचानेवाले हैं।

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

घर में आ भटक नहीं

२९३. इम इन्द्राय सुन्विरे सोमासो दध्याशिरः।

ताँ आ मदाय वज्रहस्त पीतये हरिभ्यां याह्योक आ॥ १॥

इमे सोमासः=ये सोमकण **सुन्विरे**=पैदा किये गये हैं। क्यों? **इन्द्राय**=प्रभु की प्राप्ति के लिए। जड़ जगत् की इस सर्वोत्तम वस्तु से हमने चेतन जगत् की सर्वोत्तम वस्तु को पाना है। 'ब्रह्मचर्य' शब्द, जिसका धात्वीय अर्थ 'ब्रह्म की ओर जाना है', का अर्थ ही शक्ति का संयम हो गया है। यह संयत शक्ति ही हमें परमेश्वर को प्राप्त कराती है। इस प्रकार मुख्यरूप से इन सोमकणों का लाभ प्रभु-प्राप्ति ही है। प्रासंगिक रूप से ये **दध्यशिरः**=धारणशक्ति से युक्त हैं, अर्थात् शरीर में धारण किये जाकर ये शरीर के स्वास्थ्य को स्थिर रखनेवाले होते हैं। मनःप्रसाद व बुद्धि-नैर्मल्य का भी ये कारण बनते हैं।

हे जीव! **तान्**=इन सोमकणों को तू इसलिए धारण कर कि ये तेरे **मदाय**=हर्ष का कारण होंगे। सोमरक्षा जीवन को उल्लासमय बना देती है, अतः 'प्रभु-प्राप्ति', 'धारणशक्ति' व 'हर्ष' इन तीन उद्देश्यों से हे **वज्रहस्त!**=तू **पीतये**=इनकी रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो। 'वज्रहस्त' शब्द का अभिप्राय है, जिसके हाथ में (वज=गतौ)=गतिशीलता हो। क्रियामय जीवन ही हमें सोमरक्षा के योग्य बनाता है। इसकी रक्षा के लिए ही प्रभु जीव से कहते हैं कि **हरिभ्याम्**=तू अपने इन इन्द्रियरूप घोड़ों से **ओके**=अपने शरीररूप घर में **आयाहि**=आ। इन्द्रियों को विषयों की ओर न जाने देगा तो तू वासनाओं में न फँसने के कारण इन सोमकणों की रक्षा कर पाएगा। एवं, सोमकणों की रक्षा के मुख्यरूप से ये दो ही साधन हैं—क्रियाशील बनना और इन्द्रियों को बाहर भटकने से रोकना। इस सुरक्षित वीर्य से जीवन उल्लासमय होगा, धारणशक्ति प्राप्त होगी और अन्त में प्रभु की प्राप्ति।

इन्द्रियों को वश में करके यह वसिष्ठ सचमुच प्रभु को प्राप्त कर सका है, परन्तु यह वसिष्ठ इसलिए बन पाया है, क्योंकि यह मैत्रावरुणि=प्राणापान की साधना करनेवाला हुआ। इस प्रकार क्रम यह है—१. प्राणापान की साधना से २. वसिष्ठ बनेंगे, ३. इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोक पाएँगे, ४. वासना का शिकार न होने से सोम की रक्षा सम्भव होगी, ५. इससे जीवन स्वस्थ व उल्लासमय होगा और अन्त में प्रभु की प्राप्ति होगी।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को विषयों में न भटकने दें।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

हमारी वाणियों को सुन

२९४. इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चिकित्र उक्थिनः।
मधोः पपान उप नो गिरः शृणु रास्व स्तोत्राय गिर्वणः॥ २॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **इमे सोमाः**=ये सोम **ते मदाय**=तेरे हर्ष के लिए हैं, तेरे जीवन को उल्लासमय बनाने के लिए हैं। ये सोम **चिकित्रे**=(कित—निवास, रोगापनयन, ज्ञान) तेरे उत्तम निवास के लिए हैं। इनके होने पर शरीर में तेरी स्थिति अधिकाधिक अच्छी ही होती जाएगी। ये सोम तेरे रोगों के दूर करने का कारण बनेंगे, साथ ही ये तेरी ज्ञान की वृद्धि का भी कारण होंगे। **उक्थिनः**=ये तुझे स्तोत्रोंवाला बनाएँगे, अर्थात् तेरी रुचि उस प्रभु के स्तवन की ओर होगी।

एवं, सोमरक्षा के 'हर्ष, उत्तमनिवास, नीरोगता, ज्ञान, प्रभु-भक्ति-प्रवणता' आदि लाभों का उल्लेख करके कहते हैं कि **मधोः**=इस मधुरतम वस्तु सोम का **पपानः**=खूब पान करते हुए **नः गिरः**=हमारी इन वेदवाणियों को **उपशृणु**=समीपता से सुननेवाला हो। **गिर्वणः**=वेदवाणियों का सवन करनेवाला होता हुआ **स्तोत्राय रास्व**=अपने को प्रभु के स्तोत्रों के लिए दे डाल, अर्थात् प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बन।

मानव-जीवन में मनुष्य का मूल कर्त्तव्य यही है कि संयमी बनकर हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुने और प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर डाले। ऐसा करने पर ही उसका जीवन सुन्दर और दिव्य गुणोंवाला बनता है, अर्थात् वह वामदेव होता है और इन्द्रियों की निर्मलता के कारण 'गोतम' होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन की ऐसी साधना करें कि प्रभु के उपदेशों को सुननेवाले बन सकें।

ऋषिः—**मेधातिथिमेध्यातिथी; विश्वामित्र इत्येके**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

मैं वेद का ही भिक्षुक हूँ

२९५. आ त्वा३ऽद्य सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम्।
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरङ्कृतम्॥ ३॥

मन्त्र का ऋषि मेधातिथि कहता है कि **अद्य**=आज **इन्द्रम्**=वेदरूप परमैश्वर्यवाले **त्वा**=आपसे वेदवाणी की भिक्षा की **हुवे**=प्रार्थना करता हूँ, माँगता हूँ, जो वेदवाणी १. **सबर्दुघाम्**=ज्ञानरूप दुग्ध का दोहन करनेवाली है। वेदवाणी धेनु है तो ज्ञान ही उसका दूध है, २. **गायत्रवेपसम्**=यह वेदवाणी गायन करनेवाले का त्राण करती है और कामादि वासनाओं को **वेप्**=कम्पित करनेवाली है, ३. **धेनुम्**=(धेट् पाने) यह ज्ञानदुग्ध का पान कराके पालनेवाली है, ३. **सु-दुघाम्**=सुगमता से दोहन के योग्य है, अर्थात् इसका समझना कठिन नहीं है, ५. **अन्याम्**=यह विलक्षण है। मनुष्कृत ग्रन्थों में अति विस्तार में थोड़ा-सा सार होता है, जबकि ये वेदवाणियाँ सार-ही-सार हैं। ६. **इषम्**=ये वेदवाणियाँ सदा मनुष्य को प्रेरणा देनेवाली हैं, ७. **उरुधारम्**=विशाल धारण शक्तिवाली हैं। धारण के द्वारा यह हमारे जीवन को बड़ा सुन्दर बनाती है। ८. **अरं-कृतम्**=यह

वेदवाणी हमारे जीवनों को उत्तम गुणों से अलंकृत करनेवाली है (अरं करोति इति अरंकृत्, तम्=अरंकृतम्)। ऋग्वेद के दस मण्डल मानो हमारे जीवनों को धर्म के दसों लक्षणों से मण्डित कर रहे हैं।

एवं, इस वेदवाणी को प्राप्त करना ही बुद्धिमत्ता है। इसे प्राप्त करके ही हम प्रभु को भी प्राप्त करनेवाले 'मेध्यातिथि' बनते हैं।

भावार्थ—मैं वेदवाणी की प्राप्ति के लिए ही तीव्र उत्कण्ठावाला बनूँ।

ऋषिः—**नोधा गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

नये-नये प्रकार से धारण करनेवाला

२९६. न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीडवः।
यच्छिक्षसि स्तुवते मावते वसु न किष्टदा मिनाति ते॥ ४॥

जब जीव दृढ़ निश्चयपूर्वक अपने जीवन-यात्रा के मार्ग पर चलता है तब प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **त्वा**=तुझे **बृहन्तः**=बड़े-बड़े **वीडवः**=अत्यन्त दृढ़ **अद्रयः**=अभेद्य पर्वतों-जैसे विघ्न भी **न वरन्ते**=रोक नहीं पाते। सांसारिक प्रलोभन तुझे रोक नहीं सकते। प्रभु **यत्**=जब जितेन्द्रिय व्यक्तियों को तथा **मावते**=मेरे-जैसे ज्ञानी व्यक्तियों को **वसु**=धन देता है, तब **ते**=तेरे **तत्**=उस दान के कार्य को **नकिः**=कोई भी काम, लोभादि वासना **आमिनाति**=नष्ट नहीं करती है। यह अपना दान देता ही है। उसके मस्तिष्क में दान को अधिक उपयोगी बनाने के भाव चक्कर काटते हैं। इसी से इसका नाम **नव-धा**=नये-नये प्रकार से धारण करनेवाला होता है। नवधा शब्द का ही परोक्षरूप 'नोधा' है। यही इस मन्त्र का ऋषि है। प्रतिक्षण इस उत्तम भावना में लगे होने से ही यह इन्द्रियों को विषयों में फँसने से बचानेवाला होता है, अतएव 'गोतम' कहलाता है, प्रशस्त इन्द्रियोंवाला।

भावार्थ—मैं लोकहित का ध्यान करते हुए प्रशस्तेन्द्रिय बनूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

केवलादी न बनने का महान् व्रत

२९७. क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः॥ ५॥

कः=कौन **ईम्**=निश्चय से **वेद**=पूरा ज्ञान रखता है कि इस प्रकार धन का विनियोग सर्वोत्तम होगा, परन्तु इतना नियम प्रत्येक व्यक्ति बतला सकता है कि मैं केवलादी न बनूँगा। ऐसा नियम बनाकर **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **सत्रा**=मिलकर **पिबन्तम्**=पान करते हुए को **क-द्वयः**=ऐहलौकिक व पारलौकिक दोनों सुख **दधे**=धारण करते हैं। सदा मिलकर खाने के सिद्धान्त पर चलनेवाले का दोनों ही लोकों में कल्याण सिद्ध होता है। **अयम्**=यह मिलकर खानेवाला वह व्यक्ति है **यः**=जो **पुरः**=काम, क्रोध और लोभ की नगरियों को **विभिनत्ति**=तोड़ डालता है। इन्हें तोड़कर ही 'त्रिपुरारि' के सदृश बनता है। यह व्यक्ति वह है जोकि **ओजसा मन्दानः**=ओज के कारण सदा ओजस्वी बनता है, और ओज के कारण सदा प्रसन्न होता है।

यह व्यक्ति वह है जो **अन्धसः**=सोम के द्वारा **शिप्री**=शिरस्त्राणवाला है, उस उत्कृष्ट ज्ञानवाला है जो उसकी रक्षा का कारण बनता है।

एवं, इस मन्त्र में केवलादी न बनने के निम्न लाभ दर्शाये गये हैं—१. यह उभयलोक का कल्याण प्राप्त करता है, २. तीनों असुर पुरियों का विध्वंस कर 'काम, क्रोध, लोभ' से ऊपर उठता है, ३. ओजस्विता से सदा प्रसन्न मनवाला होता है और ४. सोमरक्षा के द्वारा उत्कृष्ट रक्षक-ज्ञान को प्राप्त करनेवाला होता है।

इन लाभों को देखकर इस मार्ग को अपनानेवाला ही बुद्धिमान् है—'मेधातिथि' है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—मैं केवलादी बनकर 'केवलाघ'—पाप न बन जाऊँ।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

घर से निकाला जाना

२९८. यदिन्द्र शासो अव्रतं च्यावया सदसस्परि।
अस्माकमंशुं मघवन् पुरुस्पृहं वसव्ये अधि बर्हय॥ ६॥

हे **इन्द्र**=परम ऐश्वर्यशाली प्रभो! सबको शासन में चलानेवाले प्रभो! **यत्**=क्योंकि आप **अव्रतम्**=मिलकर खाने व जीवन को यज्ञिय बनाने के व्रत को धारण न करनेवाले को **शासः**=शासित करते हो, दण्डव्यवस्था से उसे अपने अनुशासन में चलाने की व्यवस्था करते हो, इतना ही नहीं, इस व्यक्ति को **सदसः**=घर से **परिच्यावया**=च्युत कर देते हो, अतः हमारे ज्ञान को तो आप ऐसा बढ़ाइए कि हम अव्रती न बनें।

हमारा वास्तविक घर तो ब्रह्मलोक है। अपने घर में पहुँचने के लिए आवश्यक है कि हम स्वार्थ की भावना छोड़कर परार्थ की भावना को विकसित करें। उसी के विकास के लिए प्रभु से याचना है कि **मघवन्**=पाप के लवलेश से शून्य ऐश्वर्यवाले प्रभो! **वसव्य**=सर्वोत्तम निवासस्थानभूत प्रभो! आप **अस्माकम्**=हमारे **पुरुस्पृहम्**=पालक व पूरक, अतएव स्पृहणीय **अंशुम्**=ज्ञान की किरण को **अधिबर्हय**=खूब बढ़ाइए।

यह ज्ञान मुझे स्वार्थ से ऊपर उठाते हुए फिर अपने घर में पहुँचाएगा। यह घर वस्तुतः ही sweet=मधुर है। हे प्रभो! आपमें रहता हुआ मैं सचमुच अनुभव करता हूँ कि आप 'वसव्य' हैं। आज मेरा जीवन अधिक-से-अधिक सुन्दर, दिव्यतावाला बनकर मुझे 'वामदेव' कहलाने का अधिकारी बनाता है, मेरी इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं, मैं 'गोतम' बन जाता हूँ।

भावार्थ—मैं फिर से अपने घर में वापस पहुँचूँ।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**बहवः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

चार व्रत

२९९. त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रामणं वचः॥ ७॥

वामदेव=सुन्दर, दिव्य गुणों की कामनावाला चाहता है कि—

१. **दैव्यं वचः**=दिव्य वचन, अर्थात् वेदवाणी **नः**=हमारी **त्वष्टा**=निर्माण करनेवाली हो। उसके अनुसार हमारा जीवन हो। **'मन्त्रश्रुत्यं चरामसि'**=मन्त्रों में जो कुछ सुना है, उसका हम आचरण करनेवाले हों। मन्त्रों का ही विचार, उच्चार और आचार हो।

२. **ब्रह्मणस्पतिः**=ब्रह्म-बुद्धि का नाम है। ब्रह्मा अधिदेव में चन्द्रमा है और अध्यात्म में मन। मन का 'पति'=अधिष्ठात्री बुद्धि है—इसीलिए इसे मनीषा 'मनसः ईष्टे' कहा गया है। यह बुद्धि हमारे लिए **पर्जन्यः**=परा-तृप्ति की जनयित्री हो। हमें बुद्धि के द्वारा ज्ञानोपार्जन में आनन्द का अनुभव हो—इसमें रस आने लगे।

३. **नु**=अब इस संसार में **पुत्रैः**=पुत्रों से तथा **भ्रातृभिः**=भाइयों से **अदितिः**=अदीनता हो। हमें इनके सामने कभी गिड़गिड़ाना न पड़े, दीन न बनना पड़े।

४. **दुष्टरं वचः**=वह वचन जो टल नहीं सकता—जिसका उल्लंघन सम्भव नहीं, वह पत्थर की लकीर के समान पक्का सत्यवचन **त्रामणम्**=जो वस्तुतः रक्षा करनेवाला है, **नः पातु**=हमें असत्यादि में गिरने से बचाये। सत्य से ही यह संसार धारण किया जा रहा है। यह सत्य वचन हमारा भी धारण करनेवाला हो। सत्य को यहाँ 'दुष्टरं वचः' कहा गया है। हमारा भी वचन 'दुष्टर' हो।

भावार्थ—हम 'वेदानुकूल आचरण, स्वाध्याय, अदीनता व सत्यवादिता' इन चारों व्रतों को धारण करनेवाले 'वामदेव' बनें।

ऋषिः—**श्रुष्टिगुः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु के साथ सम्पृक्त होना

३००. कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते॥ ८॥

जिसकी इन्द्रियाँ सुननेवली हैं, वह 'श्रुष्टिगुः' कहलाता है। 'दैव्यं वचः'=वेदवाणी ही तो इसके जीवन का निर्माण करनेवाली है। यह कहता है कि हे **इन्द्र**=सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभो! आप उल्लिखित चार व्रतों (वेदानुकूल आचरण, स्वाध्याय, अदीनता व सत्यवादिता) के धारण करनेवाले का **कदाचन**=कभी भी **स्तरीः**=संहार करनेवाले **न असि**=नहीं हैं। जब एक व्यक्ति स्वयं विनय में चलता है तो उसे दण्ड देने की आवश्यकता ही नहीं होती।

हे प्रभो! आप **दाशुषे**=दान देनेवाले के लिए **सश्चसि**=(to go to) प्राप्त होते हैं। जितना-जितना मनुष्य दान की वृत्तिवाला बनता है **उप उप**=उतना-उतना ही समीपता से **इत् नु**=निश्चय से हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! आप उसे प्राप्त होते हैं। **भूयः**=फिर **दानम्**=(charity incarnate) दान का पुतला बनकर तो वह **इत् नु**=निश्चय से **ते देवस्य**=तुझ देव के साथ **पृच्यते**=संयुक्त हो जाता है। इधर से सब-कुछ छोड़कर ही तो आपको प्राप्त हो सकता है। **'मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्'** आयु आदि सब वस्तुओं को लौटाकर ही वह ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। सांसारिक वस्तुओं से मोक्ष ही प्रभु-प्राप्ति का उपाय है। प्राजापत्य यज्ञ में सर्वस्व को आहुत करके ही वह प्रजापति को पाता है।

भावार्थ—मैं प्रभु-प्राप्ति का दीवाना बनकर सर्वस्व दान कर डालूँ।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

घोड़ों को जोत, ये चरते ही न रहें

३०१. युङ्क्ष्वा हि वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावतः।
अर्वाचीनो मघवन्त्सोमपीतय उग्र ऋष्वेभिरा गहि॥ ९ ॥

प्रभु मेध्यातिथि से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **वृत्रहन्तम**=वासनारूप विघ्नों को सर्वाधिक नष्ट करनेवाले! तू **हि**=निश्चय से **हरी युङ्क्ष्व**=इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को रथ में जोत। ये तेरा हरण करते हैं—तभी तो हरि हैं। दूर-दूर देशों में ये भटकते हैं। उन **परावतः**=दूर-दूर देशों से इन्हें वापस लाकर तू इस शरीररूप रथ में जोतकर अपनी जीवन-यात्रा में आगे बढ़नेवाला बन। भोग ही न भोगता रह—अपनी यात्रा प्रारम्भ कर।

इस यात्रा का आरम्भ इस प्रकार होगा कि तू **अर्वाचीनः**=अपने अन्दर गति करनेवाला बन। पराचीन नहीं अर्वाचीन। औरों के दोषों को ढूँढनेवाला न होकर अपने दोषों को ढूँढनेवाला बन। आत्मनिरीक्षण से ही इस यात्रा का प्रारम्भ होता है। काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु कहाँ-कहाँ छिपे बैठे हैं, उन्हें ढूँढ-ढूँढकर तू समाप्त कर डाल। 'शत्रु-घ्न' बन। **मघवन्**=पाप के लवलेश से शून्य (मा+अघ) इस सम्बोधन में भी तो यही प्रेरणा विद्यमान है। वासनाओं से ऊपर उठकर तू **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए समर्थ होगा, इससे **उग्रः**='उदात्त', तेरा जीवन ऊँचा होगा। तू तेजस्वी बनेगा। अब **ऋण्वेभिः**=महान्—उदार आशयों के साथ तू **आगहि**=मेरे समीप आ जा।

प्रभु तो जीव को पुकार-पुकार का अपने समीप बुला रहे हैं, पर जीव सुने तब न? प्रभु की वाणी को सुननेवाला जीव महान् बनता है—उदार बनता है। आत्मप्राप्ति के साथ इस यात्रा का अन्त होता है। आत्मनिरीक्षण से यह प्रारम्भ हुई थी, आत्मप्राप्ति पर आज समाप्त हुई है।

भावार्थ—यात्रा करनेवाला मैं निरन्तर मेध्य प्रभु की ओर चलनेवाला 'मेध्यातिथि' बनूँ।

ऋषिः—**नृमेधः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

घर में पहुँच

३०२. त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्णयः।
स इन्द्र स्तोमवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमा गहि॥ १० ॥

मनुष्य जब तक अज्ञानवश स्वार्थ में रहेगा, तबतक वह अपने घर से दूर ही भटकता रहेगा। ज्ञानवृद्धि के साथ, स्वार्थ का नाश होकर, वह पुनः अपने घर की ओर मुड़ेगा और अन्त में अपने ब्रह्मलोकरूप घर में पहुँच ही जाएगा। यह स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति सभी का कल्याण करनेवाला, सभी को 'मैं' समझनेवाला 'नृमेध' होगा, मनुष्यों से सम्पर्कवाला। सभी व्यसनों से ऊपर उठा हुआ होने के कारण 'आङ्गिरस' होगा। प्रभु इससे कहते हैं कि **उप स्वसरम् आगहि**=फिर घर के समीप आ जा। तू ब्रह्मलोक से कितनी दूर भटक गया। लौट, इसी जीवन में फिर घर के समीप पहुँच जाने के लिए प्रयत्न कर। इस उद्देश्य से **सः**=वह तू **इह**=इस मानव-जीवन में **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर **स्तोमवाहसः**=स्तुति-

समूहरूप वेदमन्त्रों को धारण कनेवाले ज्ञानियों से **श्रुधि**=ज्ञान का श्रवण कर। घर का नाम (स्व-सर) है—स्वतन्त्रतापूर्वक चलने का स्थान। इन्द्रियों के अधीन हुए और इनके होकर न जाने हम कहाँ-कहाँ भटकते रह जाते हैं। ज्ञान को प्राप्त कर फिर हम स्वाधीन होते हैं और 'स्व-सर'=स्वतन्त्रतापूर्वक विचरने के स्थानरूप अपने घर को प्राप्त होते हैं। प्रभु कहते हैं कि हे नृमेध! **त्वाम्**=तुझे **इदा**=आज और **ह्यः**=कल **भूर्णयः**=पालन करनेवाले--आसुर वृत्तियों के आक्रमणों से बचानेवाले **नरः**=आगे और आगे ले-चलनेवाले, स्वयं संसार में (न+रम्) न फँसे हुए ज्ञानी लोग **अपीप्यन्**=ज्ञान-जल का पान कराएँ। **वज्रिन्**=तू भी वज्रवाला बन। (वज गतौ) निरन्तर गतिशीलता ही तेरा वह वज्र हो जो तुझे सब अशुभों को संहार करने में समर्थ करे। 'आलस्य के अभाव' रूप वज्रवाला तू हो। इस प्रकार आलस्य को छोड़कर, ज्ञान से चमकता हुआ तू पूर्ण स्वतन्त्र हो और अपने घर में पहुँच।

मन्त्र में प्रसङ्गवश पढ़नेवालों के लिए दो बातें कही गयी हैं—१. **इन्द्र**=वह इन्द्रियों का अधिष्ठाता बने, २. **वज्रिन्**=वह गतिशीलतारूप वज्रवाला हो—निरालस हो। पढ़ानेवालों में निम्न गुण हों—१. **नरः**=वे विद्यार्थियों को सदा आगे और आगे ले-चलें। **न-रम्**=अनासक्त हों, किसी भी विषय में न फँसे हों। २. **भूर्जयः**=विद्यार्थियों का पालन करनेवाले हों, उन्हें विषयासक्ति से बचाने का सदा ध्यान करें। ३. **स्तोमवाहसः**=स्तुतिसमूह को धारण करनेवाले हों। वेदमन्त्र 'स्तोम' हैं, उनके वे धुरन्धर ज्ञाता हों, ज्ञान के समुद्र होते हुए प्रभु-प्रवण मानसी वृत्तिवाले हों।

भावार्थ—हम कुशल आचार्यों के सम्पर्क में आकर ज्ञान का श्रवण करें और स्वार्थ से ऊपर उठ कुशलतापूर्वक इस संसार में विचरनेवाले ब्रह्मनिष्ठ बनें।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**उषा**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

उषा का उपदेश

३०३. प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती दुहिता दिवः।
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥ १ ॥

उ=निश्चय से **प्रति आयती**=प्रत्येक व्यक्ति की ओर आती हुई यह उषा **अदर्शि**=देखी जाती है। **आयती**=निरन्तर गति करती हुई यह उषा यही कहती है कि जैसे मैं (उष दाहे) अन्धकार को जलाकर उषा बनी हूँ, उसी प्रकार तुम भी गतिशील बनोगे तो अन्धकार को समाप्त करनेवाले होओगे।

उच्छन्ती=(उच्छी विवासे) यह उषा अन्धकार को विवासित कर देती है—देश निकाला दे देती है। उषा से प्रेरणा लेनेवाला व्यक्ति भी अपने अन्धकार को दूर करने के लिए सतत प्रयत्न करता है। यह उषा **दिवः**=प्रकाश की **दुहिता**=पूरण करनेवाली होती है। मनुष्य को भी अपने अज्ञानान्धकार को दूर करके अपने मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करना है। एवं, उषा का उपदेश व्यक्ति को तीन शब्दों में दिया गया है। १. गतिशील बन, २. अन्धकार को दूर कर, ३. ज्ञान को अपने अन्दर भर।

मही=महनीय–पूजनीय यह उषा **चक्षुषा**=प्रकाश से **तमः**=अन्धकार को **उ**=निश्चय से **अपवृणुते**=दूर करती है। साधक को भी मानो यह प्रेरणा देती है कि तू इस उषाकाल में प्रभु की पूजा करनेवाला बन और स्वयं ज्ञानी बनकर औरों के अन्धकार को दूर कर। यह **सूनरी**=उत्तम ढङ्ग से हमें उत्तमता की ओर ले–चलनेवाली उषा **ज्योतिः**=प्रकाश **कृणोति**=कर देती है। हमें भी उपदेश देती है कि तुम्हें भी बड़े उत्तम प्रकार से माधुर्य के साथ ज्ञान–प्रसाररूप कार्य करना है। एवं, उषा का सामाजिक उपदेश यह है कि मनुष्य प्रभु का उपासक बनकर अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए यत्न करे और इस ज्ञान–प्रसाररूप कार्य को अत्यन्त मधुरता से करे।

इस उल्लिखित उषा के उपदेश को 'वसिष्ठ' ही क्रियान्वित कर सकता है। वश में करनेवालों में श्रेष्ठ, अर्थात् जितेन्द्रिय ही इस मार्ग का आक्रमण करता है और यह जितेन्द्रियता इसे 'मैत्रावरुणि' बनने से प्राप्त होती है। मैत्रावरुणि–प्राणापानों की साधना करनेवला।

भावार्थ–मैं उषा का योग्यतम शिष्य बनूँ।

ऋषिः–**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता–**अश्विनौ**॥ छन्दः–**बृहती**॥ स्वरः–**मध्यमः**॥

द्युलोक की ओर जानेवाला

३०४. इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः॥ २॥

वसिष्ठ कहता है कि हे **उस्रा**=उत्तम निवास देनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **इमाः वाम्**=इन आपको **उ**=निश्चय से **दिविष्टयः**=स्वर्गलोक की ओर जानेवाले **हवन्ते**=पुकारते हैं, द्युलोक में पहुँचने की कामना से वे आपकी आराधना करते हैं। वस्तुतः प्राणापान की आराधना करनेवाला व्यक्ति ही निःस्वार्थ और दग्धदोष इन्द्रियोंवाला होकर उत्कृष्ट स्थान पर पहुँचा है।

हे **शचीवसू**=प्रज्ञा व शक्तिरूप धनोंवाले प्राणापानो! (शची=प्रज्ञा, शची=कर्म) **अयम्**=यह मैं **वाम्**=आप दोनों को **अवसे**=अपनी रक्षा के लिए **अह्वे**=पुकारता हूँ। प्राणापान मुझे शारीरिक दृष्टिकोण से नीरोग बनाते हैं, मानस दृष्टिकोण से पवित्र और बौद्धिक दृष्टिकोण से तीव्र। शरीर, मन व बुद्धि के दोषों को दूर करनेवाले इन प्राणापानों को मैं क्यों न पुकारूँ? ये प्राणापान **विशं विशं हि गच्छथः**=मेरे अन्दर प्रवेश करनेवाले प्रत्येक शत्रु पर आक्रमण करते हैं। काम–क्रोध आदि हमारे न चाहते हुए भी हममें घुस आते हैं। इसीलिए इन्हें 'विश्वानि'=प्रवेश करनेवाला कहा गया है। यही भावना यहाँ 'विशं' शब्द से दी गयी है। मुझमें काम का प्रवेश होता है, मैं दीर्घश्वास लेता हूँ और यह प्राण काम का विध्वंस कर उसे दूर भगा देता है। मुझे क्रोध आने लगता है, गहरा श्वास लेते ही कुछ देर के लिए न जाने क्रोध कहाँ भाग जाता है? एवं, प्राणापान प्रत्येक अवांछनीय भावना को भगा देते हैं।

इस सारी बात का ध्यान करके ही वसिष्ठ 'प्राणापान' की साधना को अपनाता है। मैत्रावरुणि बनकर यह काम, क्रोध से ऊपर उठ जाता है। विष्णु के भक्त को विष्णु बनना ही है, प्राणापान के उपासक ने 'प्राणापान' का पुञ्ज क्यों नहीं बनना?

भावार्थ–प्राणापानों की साधना से हम १. उस्रा=उत्तम निवासवाले, २. अवसे=वासनाओं के आक्रमण से रक्षावाले, ३. शचीवसू=ज्ञान व शक्ति की प्राप्तिवाले ४. दिविष्टयः=द्युलोक में पहुँचनेवाले–सदा सत्त्वगुण में अवस्थितिवाले बनें।

ऋषिः—**वैवस्वतावश्विनौ**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

इस प्रकार भी, उस प्रकार भी

३०५. कुष्ठः को वामश्विना तपानो देवा मर्त्यः।
घ्नता वामश्नया क्षपमाणोंऽ शुनेत्थमु आद्वन्यथा॥ ३॥

प्राणापान की साधना करनेवाला व्यक्ति प्राणापान का पुञ्ज बनकर यहाँ 'अश्विनौ' इस नामवाला ही हो गया है—प्राणापान ने इसके अन्धकार को विवासित कर इसे 'वैवस्वतौ' इस यथार्थ नामवाला किया है। ज्ञान के सूर्य से चमकने के कारण यह 'विवस्वान्' तो है ही। यह **कुष्ठः**=इस पृथिवी पर स्थित हुआ-हुआ भी **कः**=कोई विरला ही **मर्त्यः**=व्यक्ति **अश्विना**=हे प्राणापानो! हे **देवाः**=ज्ञान की दीप्ति देनेवाले! **वाम्**=आप दोनों के **तपानः**=दीप्त करने के स्वभाववाला **वाम्**=आपकी **घ्नता अश्नया**=सब दोषों को नष्ट करनेवाली व्याप्ति से **क्षपमाणः**=शरीर के रोगों को, मन के दोषों को और बुद्धि की कुण्ठा को नष्ट करता हुआ **अंशुना**=प्रकाश की किरणों से **उ**=निश्चय से **इत्थम्**=ऐसे तो चमकता ही है जैसेकि इहलोक में कोई स्वस्थ, सम्पन्न, सबल व्यक्ति चमका करता है, परन्तु इसके **आत् उ**=साथ ही (अपि च) **अन्यथा**=उस विलक्षण (अन्य=विलक्षण) रीति से भी शोभायमान होता है, जिससे कि कोई सात्त्विक आध्यात्मिक उन्नति-सम्पन्न व्यक्ति चमका करता है, अर्थात् यह प्राणापान को दीप्त करनेवाला व्यक्ति अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाला होता है। प्रेय व श्रेय दोनों का इसके जीवन में उचित समन्वय होता है। यह इहलोक व परलोक दोनों का कल्याण प्राप्त करता है। प्राणापान की साधना इसे प्रभुता के आकर्षण से बचाकर प्रभु की ओर ले-जाती है। प्रभु की प्राप्ति इसे प्रभुता तो प्राप्त करा ही देती है।

'तपानः' संकेत कर रहा है कि प्राणापान की साधना हमारा स्वभाव बन जाए, उसके बिना हम रह ही न सकें। 'अंशुना' शब्द संकेत करता है कि यह साधना हमें दीप्त करेगी। सूर्य की किरणों की भाँति हम भी ज्ञान की किरणोंवाले होंगे। 'घ्नता अश्नया' से स्पष्ट है कि जहाँ-जहाँ इनका संयम करेंगे वहाँ-वहाँ ये दोषों को दग्ध कर देंगे, परन्तु इस पृथिवी पर कोई विरला व्यक्ति ही इस साधना में तत्पर होता है। प्राणापान हमारे भोजन को सूक्ष्म करता हुआ हमें भौतिकता से ऊपर उठाता है। **'कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्तिः'** इस योगसूत्र के अनुसार तो हम सचमुच 'अब्भक्ष' और 'वायुभक्ष' बनकर पार्थिवता से ऊपर ही उठ जाते हैं। हमें द्युलोक में पहुँचना तो है ही, अतः इस साधना को अपनाना ही ठीक है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से मैं ऐसे भी चमकूँ और वैसे भी।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

देवलोक में जाने के निमित्त

३०६. अयं वां मधुमत्तमः सुतः सोमो दिविष्टिषु।
तमश्विना पिबतं तिरोअह्न्यं धत्तं रत्नानि दाशुषे॥ ४॥

मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व अश्विनी देवों (प्राणापानों) से कहता है कि **अयम्**=यह **वाम्**=आप दोनों का **मधुमत्तमः**=अत्यन्त मधुरतम (सारभूत) **सोमः**=सोम **दिविष्टिषु**=द्युलोक में गमनों

के निमित्त (दिव्+इष्टि, निमित्त सप्तमी) **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। वस्तुतः यह सोम प्राणापान का है, उन्हीं की साधना से इसकी रक्षा होती है और इस सोम का मुख्य उद्देश्य द्युलोक में प्राप्त होना=ज्ञान के क्षेत्र में विचरना ही है। मनुष्य अज्ञान व मोहवश विलास में—विलास में क्या विनाश में, इसका व्यय करता है। सन्तान के निर्माण में इसका व्यय, सकाम कर्मकाण्ड के दृष्टिकोण से, पवित्र कर्म है, परन्तु इसे ज्ञानाग्नि का ईंधन बना देना तो इसका सर्वोत्तम उपयोग है। यह प्राणापान की साधना से ही सम्भव है, अतः प्रस्कण्व कहता है कि हे **अश्विना**=प्राणापानो! **तम्**=उस सोम को इस प्रकार **पिबतम्**=अपने अन्दर ही पान करने का प्रयत्न करो कि यह **तिरः**=अदृश्यरूप से **अह्नयम्**=(अह् व्याप्तौ, अह्नोति) अन्दर-ही-अन्दर व्याप्त हो जाए। रुधिर के साथ इसका इस प्रकार समन्वय हो जाए कि 'तिलेषु तैलं, दधिनीव सर्पिः' जैसे तिलों में तेल का व दही में घृत का व्यापन हो जाता है।

हे अश्विनीदेवो! आप **दाशुषे**=आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए **रत्नानि धत्तम्**=रमणीय पदार्थों को धारण कराते हो। वस्तुतः जो भी व्यक्ति नियम से प्राणों की साधना करता है, वह सोमरक्षा द्वारा 'शरीर की नीरोगता, मन की पवित्रता व बुद्धि की तीव्रता' रूप तीनों रत्नों को तो प्राप्त करता ही है।

भावार्थ—हम नियमित प्राण-साधना से, सोम रक्षा के द्वारा, रत्नों को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**मेधातिथिमेध्यातिथी**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

विनीत वाणी व अक्रोध के द्वारा

३०७. आ त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं ज्या।

भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत्॥ ५॥

मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि व मेध्यातिथि' हैं। जो मेधा से चलता है (मेधया अतति) बुद्धिपूर्वक व्यवहार करता है, वह 'मेध्यं अतति'=पवित्र प्रभु को पा ही लेता है। यह कहता है कि **अहम्**=मैं **सदा**=हमेशा **आ**=सर्वथा **ज्या**=जयनशील, दूसरे के हृदय को जीत लेनेवाली अथवा अत्यन्त आग्रह से परिपूर्ण (ज्या=Importunity) **सोमस्य**=अत्यन्त विनीत पुरुष की **गल्दया**=वाणी से **त्वा याचन्**=आपकी प्राप्ति का याचक हूँ। (लट् के स्थान में शतृ)। जो आप **भूर्णिम्**=सबका भरण करनेवाले हैं और **मृगम्**=(मृग्यम्) अन्वेषणीय हैं, अर्थात् आप ही अन्ततः सबके पाने योग्य हैं।

हे प्रभो! आपको पाने के लिए ही मैं **न सवनेषु चुक्रुधम्**=अपने जीवन के प्रातः (२४ वर्ष) माध्यन्दिन (४४ वर्ष) व सायन्तन (४८ वर्ष) सभी सवनों में क्रोध नहीं करता। प्रभु को पाने के लिए जीवन को क्रोधशून्य बनाना अत्यन्त आवश्यक है। मधुरवाणी व क्रोधशून्यता—ये दो उपाय हैं प्रभु-प्राप्ति के लिए। इनको अपने जीवन का अङ्ग बनाये बिना कोई भी व्यक्ति प्रभु को नहीं पा सकता।

वैसे प्रभु **ईशानम्**=ईशान हैं—सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं और उन्हें **कः न याचिषत्**=कौन प्राप्त न करना चाहेगा? परन्तु केवल चाहने से प्रभु मिल थोड़े ही जाते हैं। वे तो तभी मिलेंगे जब मेरी वाणी विनीत पुरुष की वाणी होगी और मेरा जीवन बाल्य, यौवन व वार्धक्य में क्रोध से शून्य होगा।

भावार्थ—मैं मधुर बोलूँ, क्रोध से दूर रहूँ।

ऋषिः—**देवातिथिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

घर में आ गया

३०८. अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्रः पिपासति।
उपो नूनं युयुजे वृषणा हरी आ च जगाम वृत्रहा॥ ६॥

जीव अपने को ही प्रेरणा देता हुआ कहता है कि **अध्वर्यो**=अपने साथ अहिंसात्मक यज्ञ को जोड़नेवाले जीव! **त्वम्**=तू **द्रावय** =काम, क्रोध और लोभ आदि की भावनाओं को दूर भगा दे, क्योंकि आज **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता यह जीव **सोमम्**=सोम को **पिपासति**=पीना चाहता है। काम, क्रोध आदि के होने पर सोमपान सम्भव नहीं रहता, इसलिए अहिंसाव्रती बनकर यह सब वासनाओं को दूर भगाता है।

अब यह **वृषणा**=शक्तिशाली इन्द्रियरूपी **हरी**=घोड़ों को **नूनं उ**=निश्चय से ही **उपयुयुजे**=शरीररूपी रथ में जोतता है **च**=और **वृत्रहा**=सब रुकावटों को दूर करता हुआ **आजगाम**=अपने घर में आ जाता है।

'हरी'=घोड़े हैं, 'इधर-उधर ले-जाते हैं', अतः हरि कहलाते हैं। इन्द्रियाँ भी न जाने कहाँ-कहाँ ले-जाती हैं, अतः ये भी हरि हैं। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के गणों के विचार से यहाँ द्विवचन आया है। इन्हें शक्तिशाली बनाना (वृषणा) आवश्यक है, निर्बल बनाकर क़ाबू करने का कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि तब ये यात्रा-पथ को तय न कर सकेंगी। जिस दिन यात्रा पूर्ण करके हम घर पहुँचेंगे उस दिन हम ब्रह्मलोक में उस देव के अतिथि-से होंगे। इसी से मन्त्र के ऋषि का नाम 'देवातिथि' है।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियरूप घोड़े चरते ही न रहें, हम इन्हें रथ में जोतकर यात्रा को पूर्ण करने का ध्यान करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

मैं छोटा भाई ही तो हूँ

३०९. अभीषतस्तदा भरेन्द्र ज्यायः कनीयसः।
पुरूवसुर्हि मघवन् बभूविथ भरेभरे च हव्यः॥ ७॥

जब जीव इन्द्रियरूप घोड़ों को शरीररूप रथ में जोतकर अपने ब्रह्मलोकरूप घर की ओर वापस चल देता है तब प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अभि**=ब्रह्मलोक की ओर **इषतः**=जाने की इच्छावाले मुझमें हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **तत् आभर**=वह शक्ति भरिए, जिससे कि मैं अपनी इस यात्रा को पूर्ण कर सकूँ। **ज्यायः**=आप बड़े हैं, **कनीयसः**=मैं छोटा हूँ, मुझ छोटे को आप शक्ति अवश्य ही देंगे। बड़ा भाई छोटे का ध्यान करता ही है। आप परमात्मा हैं, तो मैं आत्मा हूँ। आप इन्द्र और मैं उपेन्द्र। हे **मघवन्**=पवित्र एश्वर्यवाले प्रभो! **हि**=निश्चय से आप **पुरूवसुः**=पालक और पूरक धनवाले **बभूविथ**=हैं। मुझे भी यही धन प्राप्त कराइए जिससे मैं सब विघ्नों को जीतता हुआ यात्रा को पूर्ण कर सकूँ। **भरेभरे च हव्यः**=जब मुझे पुनः इस शरीररूप यन्त्र को शक्ति से भरने की (बैटरी को रि-चार्ज करवाने की) आवश्यकता होती है, तब आप ही पुकारने योग्य होते हैं। आपको ही तो फिर-फिर इस यन्त्र में शक्ति

भरनी है। आपसे शक्ति प्राप्त करके ही मैं इन कामादि शत्रुओं से संग्राम में विजयी हो सकूँगा। आपसे शक्ति प्राप्त करके ही मैं इन घोड़ों को पूर्णरूपेण वश में करनेवाला इस मन्त्र का ऋषि वशिष्ठ बन पाता हूँ, अथवा आपकी कृपा से मैं फिर से उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से अपने को जोड़कर मैं इस शरीररूप यन्त्र को शक्ति से फिर-फिर भर लेनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

एक मधुर उपालम्भ

३१०. यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय।
स्तोतारमिद्दधिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम्॥ ८॥

अपने घर की ओर वापस लौटता हुआ वसिष्ठ जब कभी शक्ति की कमी अनुभव करता है, या किन्हीं साधनों की विफलता को देखता है तब प्रभु को उपालम्भ देता हुआ कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! **यत्**=यदि **यावतः त्वम्**=जितने ऐश्वर्य के आप स्वामी हैं **एतावत्**=इतना **अहम्**=मैं **ईशीय**=ऐश्वर्यवाला होता तो **इत्**=निश्चय से **स्तोतारम्**=स्तोता को **दधिषे**=धारण करता। यह ठीक है कि **पापत्वाय**=पाप के लिए **न रंसिषम्**=मैं शक्ति व साधनों को न देता, परन्तु इस समय मैं कोई पाप के मार्ग पर थोड़े ही जा रहा हूँ? मैं तो फिर अपने उस सनातन गृह—'ब्रह्मलोक' की ओर लौटने का प्रयत्न कर रहा हूँ। इसलिए हे **रदावसो**=सब वसुओं के देनेवाले (रदति=ददाति) प्रभो! मुझे भी उत्तम निवास के लिए आवश्यक वसुओं को प्राप्त कराइए। मैं प्राप्त धनों व साधनों का पाप में विनियोग थोड़े ही करूँगा। मैत्रावरुणि बनकर, अर्थात् प्राणापान की साधना करनेवाला बनकर मैं अपनी इन्द्रियों को निर्दोष ही रक्खूँगा। काम, क्रोधादि को वश में करके 'वसिष्ठ' बनूँगा।

भावार्थ—हे प्रभो! मैं आपके दिये वसुओं का दुरुपयोग न करूँ।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

उत्साहजनक प्रेरणा

३११. त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः॥ ९॥

वसुओं की याचना करनेवाले जीव से प्रभु कहते हैं कि **त्वम्**=तू **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता! **प्रतूर्तिषु**=इन काम, क्रोध, लोभ, मोहादि के संग्रामों में (तुर्वि हिंसायाम्) **विश्वाः**=अन्दर घुस आनेवाले इन सब **स्पृधः**=स्पर्धापूर्वक संग्राम करनेवाली कामादि वृत्तियों को **अभि असि**=अभिभूत कर लेता है, (अस्=भू)। तू इनसे पराजित नहीं होता। तू तो अब इन्द्र बन गया है। इन्द्रियों को वश में करके ही तो तू यात्रा-पथ पर आक्रमण कर रहा है। तू **आशस्तिहा**=सब अशुभों का विनाश करनेवाला है। **जनिता**=अपना प्रादुर्भाव—विकास करनेवाला है, **वृत्रतूः असि**=मार्ग में आनेवाली सब रुकावटों को समाप्त करनेवाला है। **त्वम्**=तू **तरुष्यतः**=तेरी

हिंसा करनेवाली इन अशुभ वृत्तियों को **तूर्य**=समाप्त कर डाल।

इस उत्साहमय प्रेरणा को सुनकर यह जीव अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला बनता है। (नृ नये), अतः 'ना' (नृ) कहलाता है। उन्नति-पथ पर बढ़ते हुए अपने विरोधियों का मुक़ाबला करता है (meets them--मेधते) इसलिए मेध नामवाला होता है। यह नृमेध उसी उत्साहमय प्रेरणा से अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस-शक्ति का अनुभव करने से 'आङ्गिरस' है।

भावार्थ—हम प्रभु से दिये गये 'इन्द्र' नाम को सार्थक करनेवाले हों।

ऋषिः—**नोधा गोतमः**।। देवता—**इन्द्रः**।। छन्दः—**बृहती**।। स्वरः—**मध्यमः**।।

अपने को नवमश्रेणी में धारण करनेवाला

३१२. प्र यो रिरिक्ष ओजसा दिवः सदोभ्यस्परि।
न त्वा विव्याच रज इन्द्र पार्थिवमति विश्वं ववक्षिथ॥ १०॥

यः=जो **ओजसा**=आगे बढ़ने की शक्ति के द्वारा (ओज=to increase) **दिवः**=द्युलोक के **सदोभ्यः**=स्थानों से **परि**=परे **प्ररिरिक्षे**=निकल जाता है, **त्वा**=उस तुझे हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले जीव! **रजः**=यह अन्तरिक्षलोक अथवा **पार्थिवम्**=यह पृथिवीलोक **न**=नहीं **विव्याच**=व्याप्त कर लेता। इस इन्द्र को तमोगुण व रजोगुण ने क्या घेरना? यह तो सत्त्वगुण से भी ऊपर उठ नैस्त्रैगुण्य हो गया है, गुणातीत-सा हो गया है।

'प्ररिरिक्षे' शब्द का ठीक अर्थ (रिच्=खाली करना) पिछले स्थान को खाली करके आगे बढ़ जाना है। यह पृथिवीलोक से अन्तरिक्षलोक में उठता है, अन्तरिक्ष से द्युलोक में, और द्युलोक के स्थानों से भी यह आगे बढ़ने का ध्यान करता है। यही तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठ सत्त्वगुण में पहुँचना है। सत्त्वगुण में भी यह उत्तम सात्त्विक बनता है। यह निचली-निचली श्रेणी को छोड़कर, तीनों तामस्, तीनों राजस् तथा निचली दो सात्त्विक इन आठ श्रेणियों को छोड़कर आज अपने को नौवीं श्रेणी में धारण कनेवाला 'नो-धा' है। इसकी इन्द्रियाँ प्रशस्त तो हैं ही, अतः यह 'गोतम' है। यह **विश्वम्**=हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर घुस आनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **अति ववक्षिथ**=पार करके अपने को इस उत्तम स्थिति में प्राप्त करानेवाला है और इसीलिए **विश्वम्**=त्रिलोकी को **अतिववक्षिथ**=पार कर गया है। पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक को पार करके 'ब्रह्मलोक' में पहुँच गया है।

भावार्थ—हम उत्तम सात्त्विक गति को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**।। देवता—**इन्द्रः**।। छन्दः—**त्रिष्टुप्**।। स्वरः—**धैवतः**।।

सात्त्विक आहार के लाभ

३१३. असावि देवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मिन्निन्द्रो जनुषेमुवोच।
बोधामसि त्वा हर्यश्व यज्ञैर्बोधा न स्तोममन्धसो मदेषु॥ १॥

कैसा अन्न-अन्धः=भोजन वही उत्तम है जो **असावि**=पैदा किया गया है। (सु=पैदा करना (to sow)। भोजन वही ठीक है जो भूमिमाता से पैदा किया जाता है। इस कथन-शैली

से यह स्पष्ट है कि मांसभोजन हेय है, परन्तु इस प्रकार भावना लेने से तो दूध भी अनुपादेय हो जाएगा, अतः कहते हैं कि **गोऋजीकम्**=गोदुग्धयुक्तम् (ऋजीकम्=mixed up, ऋृज गतौ)। अन्यत्र वेद में 'पयः पशूनाम्' इन शब्दों से यही भावना व्यक्त की गयी है कि पशुओं का दूध ही लेना है, मांस नहीं। एवं, पृथिवी से उत्पन्न व्रीहि, यव, माष, तिल, फल-मूल, कन्द व गोदुग्ध ही मानव-भोजन है। यही भोजन सात्त्विक है। **देवम्**=दैवी सम्पत्ति को जन्म देनेवाला है।

लाभ—**अस्मिन्**=इस सात्त्विक भोजन में **ईम्**=निश्चय से **जनुषा**=स्वभाव से ही **इन्द्रः**=इन्द्रियों का शासक न कि इन्द्रियों का दास **नि उवोच**=निश्चय से **समवेत**=सङ्गत होता है (उच समवाये)। अभिप्राय यह कि सात्त्विक भोजन हमें जितेन्द्रिय बनाता है, जबकि राजस् भोजन का परिणाम इन्द्रियों का दास बन जाना होता है।

प्रभु कहते हैं कि हे **हर्यश्व**=आशुगामी इन्द्रियरूप अश्वोंवाले! **त्वा**=तुझे **यज्ञैः**=यज्ञों के द्वारा **बोधामसि**=ज्ञानयुक्त करते हैं। इस वाक्य में वस्तुतः क्रियाशीलता, यज्ञ की वृत्ति तथा ज्ञान—ये तीन लाभ सात्त्विक आहार के दिये गये हैं। जिस प्रकार एक भक्त 'मेरी माता अपनी आँखों से मेरे पुत्रों को सोने के पात्रों में खाता देखे' इस एक वाक्य से माता की आँखें, सन्तान व धन तीनों ही बात माँग लेता है, उसी प्रकार यहाँ भी एक वाक्य में वस्तुतः तीन लाभों का संकेत हो गया है।

तथा **अन्धसः मदेषु**=इन सात्त्विक भोजनों के आनन्दों में तू **नः स्तोमं बोध**=हमारी स्तुति को भी जान, अर्थात् इन सात्त्विक भोगों को भोगता हुआ भी पुरुष प्रभु को भूल नहीं जाता। उसे सदा प्रभु का स्मरण रहता है।

इस मन्त्र का ऋषि 'मैत्रावरुणि वसिष्ठ' सात्त्विक भोजन को ही अपनाता है, क्योंकि वह समझता है कि मानवता या वीरता वसिष्ठ बनने में ही है। वसिष्ठ वशियों में श्रेष्ठ है। जिसने काम, क्रोध को जीता है। संसारभर को जीतने की अपेक्षा अपने को जीतना अधिक उत्तम है। इस काम-क्रोध को जीतने के लिए ही मित्रावरुण की सन्तान, अर्थात् उत्तम प्राणापानवाला बनना आवश्यक है। उसी के लिए प्राणायाम है। इस प्राणायाम में सात्त्विक आहार मूलभूत वस्तु है। इसके बिना प्राणसाधना सम्भव नहीं, इसीलिए 'मैत्रावरुणि वसिष्ठ' सात्त्विक भोजन का उपादान करता है।

भावार्थ—हम सात्त्विक आहार के द्वारा १. जितेन्द्रिय (इन्द्र), २. क्रियाशील, ३. यज्ञशील, ४. ज्ञानी तथा ५. सदा प्रभु के स्तोता बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उपासना के लाभ

३१४. योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत प्र याहि। असो यथा नोऽविता वृधश्चिद्ददो वसूनि ममदश्च सोमैः॥ २॥

उपासना—गत मन्त्र का सात्त्विक आहार का सेवन करनेवाला अपनी सात्त्विक अन्तःकरण की वृत्ति के कारण प्रभु का स्तोता बनता है। यही सात्त्विक आहार का पञ्चम लाभ था। वह प्रभु से कहता है कि **इन्द्र**=हे सर्वैश्वर्यशाली प्रभो! **सदने**=इस तेरे द्वारा दिये गये मृण्मय गृह में **ते**=तेरे लिए **योनिः**=हृदयरूपी स्थान **अकारि**=मेरे द्वारा बनाया गया है—निश्चित किया गया

है। मैंने इस घर—हृदय को तेरे बिठाने के लिए ही अशुद्ध भावनाओं से खाली कर शुद्ध कर डाला है।

हे **नृभिः पुरुहूत**=मनुष्यों से बहुत पुकारे गये प्रभो! आपको ही तो प्रत्येक कष्ट-पतित पुरुष कष्ट-निवृत्ति के लिए पुकारता है। वे आप **तम्**=उस हृदयरूप स्थान में **आ-प्र-याहि**=सर्वतः प्रकर्षेण प्राप्त होओ, अर्थात् मैं अपने हृदय में आपका ही स्मरण करूँ।

लाभ—१. **यथा**=जिससे आप **नः**=हमारे **अविता**=रक्षक **असः**=हों। उपासक प्रभु को अपना रक्षक मानता है—अतएव वह निर्भीक है। उसी प्रकार निर्भीक जैसेकि मातृगोद में स्थित बच्चा। यह उपासक प्रभु को ही उपस्तरण व अपिधान के रूप में देखता है।

२. **वृधः चित्**=आप हमारी वृद्धि के लिए होओ। लोहे का गोला जब तक अग्नि के सम्पर्क में रहता है तब तक तेजस्वी बना रहता है, अलग हुआ और ठण्डा हुआ। वही अवस्था जीव की है—प्रभु के सम्पर्क में तेजस्वी, अलग हुआ और निस्तेज, फिर वृद्धि कहाँ?

३. **ददः वसूनि**=हे प्रभो! अपने उपासक का योगक्षेम आप ही तो चलाते हैं। निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुएँ आप मुझे देते हो।

४. भोगविलास से दूर रख यह उपासना मनुष्य को शक्तिशाली बनाती है, अतः कहते हैं कि **'सोमैः ममदः च'**=यह शक्ति के द्वारा मेरे जीवन को उल्लासमय बनाती है।

भावार्थ—उपासना के चार लाभ हैं—१. प्रभु द्वारा रक्षण २. वृद्धि—विकास, ३. वसुओं की प्राप्ति और ४. शक्ति के कारण उल्लासमय जीवन।

ऋषिः—**गातु आत्रेयः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उपासना के मुख्य दो लाभ—शक्ति का रहस्य—विषय-निवृत्ति में

३१५. अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानाँ अरम्णाः।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजद्धारा अव यद्दानवान् हन्॥ ३॥

प्रथम—गत मन्त्र में स्तुति का अन्तिम लाभ 'शक्ति के द्वारा जीवन में उल्लास' कहा गया था। उस शक्ति का रहस्य इस मन्त्र में वर्णित हुआ है। मनुष्य की इन्द्रियाँ विषयों में गयीं, और उनकी शक्ति जीर्ण हुई। हे प्रभो! आप **उत्सम्**=प्रस्रवण को, इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को **अदर्दः**=विदीर्ण कर देते हो (दृ=to tear) प्रभु स्मर-हर हैं, इन विषयों की उत्कण्ठा का हरण करनेवाले हैं। विषयोत्कण्ठा को समाप्त करके **खानि**=इन्द्रियों को **वि असृजः**=आप विषयों से मुक्त करते हो। ये विषय मनुष्य के लिए अतिग्रह नहीं रह जाते। इस प्रकार **त्वम्**=हे प्रभो! आप **बद्बधानाम्**=मुझे बुरी तरह से बाँधनेवाले **अर्णवान्**=विषय-समुद्रों को ('कामो हि समुद्रः' उप०) **अरम्णाः**=थाम देते हो। इस प्रकार विषयोत्कण्ठा की निवृत्ति, इन्द्रियों की विषयों से मुक्ति, अत्यन्त पीड़ित करते विषय-समुद्र का रुक जाना, यह उपासना का प्रथम लाभ है, इसी का परिणाम शक्ति का नष्ट न होना है और जीवन का उल्लासमय बनना है।

द्वितीय—इस उपासना का दूसरा परिणाम यह है **यत्**=कि **इन्द्र**=हे अज्ञानराशि को विदीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **महान्तं पर्वतम्**=महान् ग्रन्थियों-(पर्वों)-वाली अविद्या को **विवः**=विवृत कर देते हो—खोल डालते हो, उलझनों को सुलझा देते हो। संशयों की सब गाँठें खुल जाती

हैं और इस प्रकार **धारा**=ज्ञान-धाराओं को **विसृजत्**=आप प्रवाहित करते हो। पर्वत के विदीर्ण होने से जलप्रवाह बह उठता है, उसी प्रकार संशय-पर्वत की विदीर्णता से ज्ञान की जलधारा बह निकलती है। **ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा**=उपासना की पराकाष्ठा में सत्यपोषक बुद्धि तो प्राप्त होती ही है और **यत्**=वह ज्ञान **दानवान्**=दानव-वृत्तियों को **अवहन्**=दूर नष्ट कर देता है। उपासना से ज्ञानाग्नि भी अशुभ वृत्तियों को भस्म कर देती है और हमें शक्तिशाली बनाती है।

उपासना के इन दो लाभों का ध्यान करते हुए जो व्यक्ति सदा उस प्रभु का गायन करता है वह 'गातुः' है और इस गायन का ही यह परिणाम है कि वह 'त्रिविध' तापों से उठा हुआ आत्रेय बनता है।

भावार्थ—शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति के लिए हम प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—**पृथुर्वैन्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उपासना किस प्रकार?

३१६. सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा सनिष्यन्तश्चित्तुविनृम्ण वाजम्।
आ नो भर सुवितं यस्य कोना तना त्मना सह्याम त्वोताः॥ ४॥

गत दो मन्त्रों में उपासना के लाभों का सविस्तर वर्णन था। इस मन्त्र में 'उपासना-प्रकार' वर्णित है—

प्रथम साधन—हे **इन्द्र! सुष्वाणासः**=यज्ञों में सोमरस का अभिषव करते हुए, अर्थात् क्रतु नामक सोमयज्ञों को करते हुए हम **त्वा**=तेरी **स्तुमसि**=स्तुति करते हैं। जीवात्मा को शत-क्रतु कहा गया है, अर्थात् उसके सौ-के-सौ वर्ष क्रतुओं में ही बीतने चाहिएँ। शतक्रतु बनकर वह स्वयं इन्द्र ही बन जाता है। यज्ञों में लगा रहकर वह अपने जीवन को यज्ञमय कर डालता है, वह सचमुच **'पुरुषो वाव यज्ञः'**=यज्ञ बन जाता है।

द्वितीय साधन—हे **तुविनृम्ण**=बहुत बलवाले, अनन्त शक्तिमान् प्रभो! हम **चित्**=भी **वाजं सनिष्यन्तः**=शक्ति को प्राप्त करते हुए आपकी स्तुति करते हैं। शक्तिपुञ्ज प्रभु की यही सच्ची उपासना है कि हम भी शक्तिशाली बनें। शक्ति में ही सब गुणों का वास होता है। गुणी बन हम प्रभु के पास पहुँच जाते हैं।

तृतीय साधन—**नः**=हममें हे प्रभो! आप उस **सुवितम्** (सु+इतम्)=भद्र को, दुरित से विपरीत वस्तु को **आभर**=भरिए, **यस्य कोना**=जिसे आप चाहते हैं। इस भावना से बढ़कर और समर्पण क्या हो सकता है। यह समर्पक प्रभु का सच्चा उपासक है।

परिणाम—इस उपासना के होने पर **त्वा+ऊताः**=तुझसे रक्षित हुए हम **तना**=अपनी शक्तियों के विस्तार से **त्मना**=(आत्मना) स्वयं **सह्याम**=शत्रुओं का पराभव करें। उपासना से वह शक्ति प्राप्त होती है जो हमें पर्वत-तुल्य दृढ़ शत्रुओं को भी नष्ट करने में समर्थ बनाती है। इन शक्तियों के विस्तार के कारण ही यह उपासक 'पृथुः' (प्रथ विस्तारे) कहलाता है। यज्ञों के द्वारा इसने प्रभु की उपासना की, इसलिए यह 'वैन्य' कहलाया। (वेनः=यज्ञः—नि० ३।१४)। वेन यज्ञ का नाम है। यज्ञों को खूब करनेवाला वैन्य है।

भावार्थ—यज्ञों, बल-सम्पादन तथा समर्पण के द्वारा उपासना होती है। इस उपासना से वह शक्ति प्राप्त होती है जो हमें शत्रु-विजय के योग्य बनाती है।

ऋषि:—**सप्तगु आङ्गिरस:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

यदि प्रभु का हाथ पकड़ेंगे

३१७. जगृह्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दा:॥५॥

हाथ पकड़ना—पिछले मन्त्र में कहा गया था कि तुझसे रक्षित होकर हम शत्रुओं का पराभव करेंगे। इसी भाव को इस मन्त्र में और विस्तार से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=प्रभो! **ते**=तेरे **दक्षिणं हस्तम्**=दक्षिण हाथ को **जगृह्म**=हम पकड़ते हैं। 'हाथ पकड़ना' यह मुहावरा है, अर्थात् सहायता लेना। हम प्रभु का हाथ पकड़ें, अर्थात् प्रभु को अपना सहायक बनाएँ—उसकी सहायता के बिना हम इन शत्रुओं का पराभव कर ही कहाँ सकते हैं? प्रभु का यह हाथ 'दक्षिण' है, हमारी शक्ति का बढ़ानेवाला है, हमारी उन्नति का कारण है, हमें चातुर्य (कुशलता) प्राप्त करानेवाला है।

प्रथम लाभ—इस प्रभु का हाथ पकड़ते हैं, क्योंकि हम **वसूयव:**=वसूयु हैं, उत्तम वास के लिए आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छावाले हैं और हे प्रभो! आप **वसूनाम् वसुपते**=वसुपतियों में वसुपति हैं—सर्वश्रेष्ठ वसुपति हैं। प्रभु अपने उपासकों को **वसु**=जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराते ही हैं।

द्वितीय लाभ—वसु-प्राप्ति से उपासक का खाना-पीना तो चलता ही है, परन्तु बड़ा लाभ यह है कि हे **शूर**=काम, क्रोधादि आसुर वृत्तियों को शीर्ण करनेवाले (शृ हिंसायाम्) प्रभो! **हि त्वा**=निश्चय से आपको **गोनां गोपतिं विद्म**=हम इन्द्रियों के उत्तम पति के रूप में जानते हैं। प्रभु-उपासना से प्रभु का उपासक भी इन्द्रियों का पति—जितेन्द्रिय बनता है। उसकी वासनाएँ शीर्ण हो जाती हैं और परिणामत: वह जितेन्द्रिय बन पाता है। उसकी बुद्धि धर्म-मार्ग से विचलित नहीं होती।

सत्सङ्ग—प्रभु की उपासना की वृत्ति को जगाने के लिए ही उपासक सत्सङ्ग चाहता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अस्मभ्यं दा:**=हमें दीजिए, प्राप्त कराइए। किन्हें?

१. **चित्रम्**=(चित्+र) ज्ञान देनेवाले ब्राह्मणों को। २. **वृषणम्**=शक्ति से औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले क्षत्रियों को। ३. **रयिम्**=(दा दाने) धन का खूब दान करनेवाले वैश्यों को।

संसार में हमारा सङ्ग ज्ञान देनेवाले ब्राह्मणों, शक्ति से किसी का हनन न करनेवाले क्षत्रियों एवं धन का दान करनेवाले वैश्यों के साथ हो। इस सत्सङ्ग के द्वारा हम 'सुमना:' बनें। हमारे शुद्ध मनों में वासनाओं का मैल न हो। हमारी **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'** कान, नासिका, आँखें व मुख सातों इन्द्रियाँ उत्तम हों। ये विषयों में गयी हुई न हों, न ही हम इनके दास बन जाएँ। सातों इन्द्रियों के अधिष्ठाता हम 'सप्त-गु' सातों गोरूप इन्द्रियोंवाले हों और विलास से दूर होने के कारण ही हमारे अङ्ग रसमय बने रहें और हम 'आङ्गिरस' कहलाने के पात्र हों। दूसरे शब्दों में हम इस मन्त्र के ऋषि 'सप्तगु आङ्गिरस' बनें।

भावार्थ—उपासक प्रभु का हाथ पकड़ता है और 'वसुपति' व 'गोपति' बनता है। आवश्यक पदार्थों की उसे कमी नहीं होती और वह जितेन्द्रिय बन पाता है।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

संग्राम में विजयी बनेंगे

३१८. इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते यत्पार्या युनजते धियस्ताः।
शूरो नृषाता श्रवसश्च काम आ गोमति व्रजे भजा त्वं नः॥ ६॥

नेमधिता शब्द निरुक्त (२.१६.१३) में संग्राम वाचक है। **नेम**=आधे एक ओर और आधे दूसरी ओर **धिता**=रक्खे होते हैं, सम्भवतः इसलिए यह शब्द संग्राम के लिए प्रयुक्त हुआ है। कुछ दैवी वृत्तियाँ एक ओर हैं और दूसरी आसुर वृत्तियाँ दूसरी ओर। एवं, इनका भी यह दैवासुर संग्राम शाश्वतकाल से मानव हृदयस्थली में चला आ रहा है। जो **नरः**=(नृ नये) अपने को आगे ले-चलने की वृत्तिवाले लोग होते हैं वे इस संग्राम में **इन्द्रं हवन्ते**=प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु की सहायता से ही तो उन्हें विजय प्राप्त होगी। वासनाएँ तो बड़ी प्रबल हैं। इन्हें जीतना अत्यन्त दुष्कर है, परन्तु **यत्**=जब ये नर **ताः पार्याः धियः युनजते**=उन शत्रुओं से पार होने के निश्चयवाली बुद्धियों को अपने में युक्त करते हैं, अर्थात् इनसे पार पाने का निश्चय कर लेते हैं तब वे प्रभु को पुकारते हैं। ये प्रभु ही वस्तुतः **शूरः**=इन वासनाओं को शीर्ण करनेवाले हैं। '**नृ-षाता**' वे ही नरों को विजय-लाभ करानेवाले हैं। इस विजय के द्वारा **श्रवसः च कामः**=प्रभु हमारा यश चाहते हैं। करते तो सब प्रभु ही हैं, परन्तु जीव को निमित्तमात्र बना उसे वे यशस्वी बनाते हैं।

एक ज्ञानी भक्त इस तत्त्व को समझता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि इस प्रकार वासनाओं को समाप्त करके **नः**=हमें **त्वम्**=आप **गोमति व्रजे**=प्रशस्त गौओंवाले बाड़े में **आभज**=भागी बनाइए, अर्थात् आपकी कृपा से हमारी इन्द्रियरूप गौवें वासना-क्षेत्रों में चरने न जाकर संयम के बाड़े में निरुद्ध रहें।

यह इन्द्रियों को संयम के बाड़े में निरुद्ध करनेवाला व्यक्ति 'वसिष्ठ' है। बाह्य शत्रुओं को वश में करने की अपेक्षा इन आन्तर शत्रुओं को वश में करना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है—यही वसिष्ठ बनना है। इस वसिष्ठ बनने के लिए ही यह (मैत्रावरुणि)=प्राणापान की साधना करनेवाला बना था।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण के साथ दृढ़ निश्चय से हम वासनाओं से युद्ध करेंगे तो प्रभु अवश्य हमें विजय प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उपासक का स्वरूप व उपासक की प्रार्थना

३१९. वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्द्धि चक्षुर्मुमुग्ध्या३स्मान्निधयेव बद्धान्॥ ७॥

'प्रभु की उपासना का ठीक स्वरूप क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर इस मन्त्र में बड़े उत्तम प्रकार से दिया गया है। अकर्मण्य स्तोत्रपाठी प्रभु के उपासक नहीं हैं। **इन्द्रं उपसेदुः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु के समीप तो ये ही बैठते हैं, उसकी उपासना तो वे ही करते हैं जो—

१. **वयाः**=(वय गतौ) गतिशील हैं, अकर्मण्य नहीं। प्रभु की उपासना शब्दों से न होकर कर्मों से होती है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'** (pray to God, but keep the powder dry) यह उक्ति ठीक ही है। प्रार्थना पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त ही शोभा देती है।

२. **सुपर्णाः**=उत्तम प्रकार से अपना पालन करनेवाले प्रभु के उपासक हैं। काम, क्रोध, लोभादि आसुर वृत्तियों के आक्रमण से जो सदा अपने को बचाने में लगे हैं। इसी उद्देश्य से जो सदा आत्मालोचन करते हैं, वे प्रभु के सच्चे उपासक हैं।

३. **प्रिय मेधाः**=जिन्हें बुद्धि प्रिय है। शरीर रथ है तो बुद्धि सारथि। रथ भी ठीक होना ही चाहिए, परन्तु सारथि की कुशलता उससे कहीं अधिक आवश्यक है। एक घटिया रथ को भी कुशल सारथि आगे ले-जाएगा, परन्तु नये रथ को भी अनाड़ी सारथि विकृत कर देगा।

४. **ऋषयः**=जो देखनेवाले हैं। जो तत्त्व तक पहुँचते हैं।

५. **नाधमानाः**=नाध् आशीः=सभी के लिए मङ्गल की आशीः=कामना करनेवाले, किसी का भी अशुभ न चाहनेवाले ही सच्चे उपासक होते हैं।

यह उपासक प्रभु से प्रार्थना भी निम्न शब्दों में करता है—

१. **ध्वान्तम् अप ऊर्णुहि**=हे प्रभो! आप अन्धकार को दूर कीजिए। इस अन्धकार के कारण हम वस्तुओं के ठीक रूप को नहीं देख पाते। यह अन्धकार ही हमें अनित्य में नित्य का, अशुचि में शुचि का, दुःख में सुख का और अनात्मा में आत्मा का आभास कराये रहता है। यह चतुर्विध अविद्या ही हमारे सब दुःखों का मूल बनती हैं।

२. **पूर्धि चक्षुः**=हे प्रभो! अज्ञानान्धकार को दूर कर आप हमारे चक्षुओं को ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण कर दीजिए। जब हमारे नेत्र ज्ञान की ज्योति से परिपूर्ण होंगे तब हम सर्वत्र आपकी महिमा को देख पाएँगे। आपको देखने से उस एकत्व का भी दर्शन होगा, जोकि अन्तिम सत्य है।

३. **अस्मान् निधया इव बद्धान् मुमुग्धि**=हम विषय-जाल में इस अज्ञान के कारण ही फँसे हैं। अहंता और ममता की बेड़ी अज्ञानमूलक ही है। अविद्या को नष्ट कर विषय-जाल में बद्ध हमें आप मुक्त कर दीजिए।

हे प्रभो! इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करनेवाला (गौरी वाचं व्येति=प्राप्नोति इति) मैं इस मन्त्र का ऋषि 'गौरिवीति' बनूँ और अपने में अज्ञानमूलक निर्बलता को समाप्त कर शक्ति भरनेवाला 'शाक्त्य' बनूँ।

भावार्थ—हम क्रियाशील, लोभादि से अपनी रक्षा करनेवाले, प्रिय-मेध, तत्त्वद्रष्टा और सर्वहितैषी बन प्रभु के सच्चे उपासक बनें और हमारी सदा यही आराधना हो कि हे प्रभो! हमारे ज्ञान-नेत्रों को खोल दीजिए।

ऋषिः—**वेनो भार्गवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का आतिथ्य (Reception)

३२०. नाके सुपर्णमुप यत् पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्॥ ८॥

आतिथ्य=गत मन्त्र की प्रार्थना के अनुसार यदि हम विषय-जाल से मुक्त हो मोक्षलोक

में पहुँचेंगे तो वहाँ **नाके**='जहाँ दु:ख नहीं है' (न+अ+क) ऐसे उस उत्तम मोक्षलोक में तो वे प्रभु **सुपर्णम्** बड़े उत्तम प्रकार से हमारा पालन करनेवाले हैं ही, परन्तु जब तक हम उस मोक्षलोक में नहीं पहुँचते तब भी **यत्**=वे ब्रह्म **उपपतन्तम्**=उपासक के समीप आते ही हैं। सर्वव्यापक होते हुए भी वे प्रभु अज्ञानियों से 'तद्दूरे'=दूर हैं, ज्ञानियों के ही 'तत्' 'अन्तिके' वे समीप होते हैं। इस समीप आते हुए प्रभु का उपासक को स्वागत (Reception) करना है। वह उसका स्वागत किस वस्तु से करे? वह भूख-प्यास से परे है, अतः उसका स्वागत तो इसी प्रकार हो सकता है कि **हृदा वेनन्तः**=हृदय से तेरी अर्चना करते हुए **त्वा अभ्यचक्षत**=तेरा दर्शन करें।

इस प्रभु का आतिथ्य इसलिए करना है कि—

१. **हिरण्यपक्षम्**=(हिरण्यं वै ज्योतिः, पक्ष परिग्रहे) वे प्रभु ज्ञान की ज्योति का परिग्रह करानेवाले हैं। प्रभु के आतिथ्य से हमारा मस्तिष्क ज्ञान-ज्योति से जगमगा उठेगा।

२. **वरुणस्य दूतम्**=(यः प्राणः स वरुणः। —गो० ३.४.११, अपानो वरुणः) वे प्रभु वरुण, अर्थात् प्राणापान-शक्ति के प्रापक हैं। (दूतं=प्रापयितारं, सन्देशहर सन्देशा पहुँचाता है) या श्रेष्ठता को प्राप्त करानेवाले हैं। मनों को राग-द्वेष, मोह से शून्य करनेवाले हैं।

३. **यमस्य योनौ शकुनम्**=संयम के स्थान में, अर्थात् संयमी होने पर शक्ति देनेवाले हैं। प्रभु का स्मरण हमें संयमी बनाता है और परिणामतः हम शक्तिशाली बनते हैं।

४. **भुरण्यम्**=वे प्रभु हमारा भरण करनेवाले हैं। उपासना से केवल आध्यात्मिक लाभ होगा और अभ्युदय से हम वंचित रहेंगे, ऐसी बात नहीं है। उपासक का खान-पान प्रभु अवश्य चलाते हैं।

एवं अभ्युदय वा निःश्रेयस दोनों का हेतु होने से हमें अवश्य उस प्रभु की अर्चना करनी चाहिए। यह अर्चना करनेवाला '**वेन**' इस मन्त्र का ऋषि है। अपने को तपस्या-अग्नि में तपाने से ही वह ऐसा बन पाया है, अतः यह भार्गव है। वेन का अर्थ यास्क मेधावी भी करते हैं, वस्तुतः प्रभु की अर्चना ही मेधाविता है।

भावार्थ—हम अपने समीप प्राप्त प्रभु का स्वागत करें और उसकी कृपा से ज्ञानी व शक्तिशाली बनें।

ऋषि:—**बृहस्पितिर्नकुलो वा**।। देवता—**इन्द्रः**।। छन्दः—**त्रिष्टुप्**।। स्वरः—**धैवतः**।।

ब्रह्म दर्शन

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
३२१. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
२ ३क २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥ ९ ॥

ब्रह्मदर्शन किसे—गत मन्त्र में '**यमस्य योनौ शकुनम्**'=संयम के द्वारा शक्तिशाली बनाने का उल्लेख हुआ है। इस **विसीमतः**=(विशिष्टा सीमा यस्य) जिसका जीवन एक विशिष्ट मर्यादा=सीमा में चलता है उसके और **सुरुचः**=उत्तम रुचिवाले उपासक के **पुरुस्तात्**=सामने **जज्ञानम्**=प्रकट हुए-हुए **प्रथमं ब्रह्म**=सर्वोत्कृष्ट व सर्वविशाल ब्रह्म को **वेनः**=यह मेधावी उपासक **विआवः**=प्रकट करता है। स्वयं ब्रह्म के दर्शन करके औरों को भी ब्रह्मज्ञान देता है।

ब्रह्मज्ञान के लिए दो बातें आवश्यक हैं—१. आहार, विहार, स्वप्न, अवबोध आदि जीवन की सब क्रियाएँ नपी-तुली हों, २. रुचि परिष्कृत हो। हम इन्द्रियों के दास न बन गये हों।

यह क्या करता है?—प्रभु-दर्शन करके यह औरों को भी ब्रह्मज्ञान देने का प्रयत्न करता है। उसी ब्रह्मज्ञान को देने के लिए ही **सः**=वह निम्न बातों का भी **विवः**=व्याख्यान करता है—

१. **अस्य**=इस ब्रह्म के बनाये हुए **बुध्न्या**=(जलसम्बन्धे अन्तरिक्षे भवाः सूर्यचन्द्रपृथिवी-तारकादयो लोकाः) अन्तरिक्षस्थ **विष्ठाः**=(विविधेषु स्थानेषु तिष्ठन्ति ताः) विविध स्थानों में स्थित **उपमाः**=जीवों को कर्मानुसार दिये जानेवाले (उपमा=to give, to grant) लोकों का तथा २. **सतः च असतः च योनिम्**=अक्षर के क्षर के साथ—जीव के जड़देह के साथ सम्बन्ध का।

पाप-पुण्य के बराबर होने पर हमें मर्त्यलोक प्राप्त होता है। हमारे अन्दर रक्षावृत्ति के आने पर हम पितर बनते हैं और हमें चन्द्रलोक में जन्म प्राप्त होता है तथा ज्ञान से वासना विनष्ट होने पर हम सर्वलोक में जन्म लेनेवाले देव बनते हैं। इन्हीं विविध कर्मों के फल के रूप में ही जीव का जड़देह से सम्बन्ध उस प्रभु की व्यवस्था से होता है।

स्वयं ब्रह्मदर्शन कर औरों को भी ब्रह्मज्ञान देनेवाला 'बृहस्पति' देवताओं का भी गुरु इस मन्त्र का ऋषि है। **'नास्ति ज्ञाने समो यस्य कुले स नकुलः स्मृतः'**=उस कुल में ज्ञान के दृष्टिकोण से अद्वितीय होने के कारण वह 'नकुल' है।

भावार्थ—हमारा मर्यादित जीवन व हमारी परिष्कृत रुचि हमें ब्रह्म-दर्शन के योग्य बनाएँ।

ऋषिः—**सुहोत्रो भरद्वाजः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ब्रह्म के स्तोत्रों का उच्चारण

३२२. अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय तवसे तुराय।
विरप्शिने वज्रिणे शन्तमानि वचांस्यस्मै स्थविराय तक्षुः॥ १०॥

स्तुति से शान्ति—ब्रह्म का दर्शन होने पर इन उपासकों के मुख **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **वचांसि तक्षुः**=वचनों का निर्माण करते हैं। उनके मुख से प्रभु-गुणगान के रूप में स्तोत्र उच्चरित होने लगते हैं। ये वचन १. **अपूर्व्या**—अ-पूरणवाले, अर्थात् उस प्रभु के गुणों का पूर्णरूप से वर्णन करनेवाले नहीं होते। वह प्रभु तो शब्दातीत है। **'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्'**=गुरु का उस प्रभु के विषय में मौन ही व्याख्यान है, परन्तु फिर भी २. **पुरुतमानि**=(पृ—पूरणे) अधिक-से-अधिक पूरण करनेवाले हैं, अर्थात् शब्दों से जितना सम्भव है उतना ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाले हैं और ३. **शन्तमानि**=अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाले हैं। वे उपासक स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं और उन्हें चित्त की अद्भुत शान्ति का लाभ होता है।

स्तुति का स्वरूप—ये उपासक १. **महे**=महनीय—पूजनीय, २. **वीराय**=विशेषरूप से शत्रुओं को (वासनाओं को) कम्पित करनेवाले, ३. **तवसे**=बलवान्, ४. **तुराय**=त्वरा-सम्पन्न और ५. **विरप्शिने**=महान्, ६. **वज्रिणे**=दुष्टों के लिए वज्रहस्त, ७. **अस्मै स्थविराय**=इस स्थिर कूटस्थ निर्विकार, स्थाणुरूप प्रभु के लिए गुणगान करते हैं।

इन गुणों से उस प्रभु का स्मरण करता हुआ उपासक भी इन गुणों को अपनाना चाहता है। जिन नामों से स्मरण करना स्वयं भी उन गुणों को अपने अन्दर धारण करना ही तो सच्ची उपासना है। इस सच्ची उपासना को करनेवाला 'सुहोत्र' (सुशोभना होत्रा स्तुतिः praise या speech) इस मन्त्र का ऋषि है। इस सच्ची उपासना से शक्ति-सम्पन्न बनने के कारण वह 'भरद्वाज' है (भरत्+वाज्)।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम शान्ति लाभ करें और उत्तम उपासक बनते हुए वीर बनें।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**द्युतानो मारुतः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान-नदी से दूर

३२३. अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदीयानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नीहितिं नृमणा अधद्राः॥ १॥

द्रप्सः=(Dripping) जो व्यक्ति बारम्बार विषयसमुद्र में डूब जाता है, प्रयत्न करता है—परन्तु फिर-फिर असफल हो जाता है वह 'द्रप्सः' है। यह 'द्रप्स' **अंशुमतीम्**=ज्ञान की किरणोंवाली, ज्ञानरूप जल की धारावाली नदी से **अव**=दूर ही **अतिष्ठत्**=ठहरता है। यह तो **ईयानः**=इधर-उधर भटकता ही रहता है, क्योंकि **दशभिः सहस्रैः**=दसों हज़ारों, अर्थात् अनन्त वासनाओं से यह सदा **कृष्णः**=आकृष्ट होता रहता है। वासनाओं में उलझा हुआ वह ज्ञान की ओर झुकाववाला नहीं होता। इसे तो विषय ही अंशुमान्=चमकते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यह उन्हीं पर लट्टू हुआ रहता है—उन्हीं का शिकार बन जाता है।

जब कभी ठोकर लगने पर यह इनसे ऊपर उठने का निर्णय करता है तब **शच्या**=(शची प्रज्ञा व कर्म) अपनी शक्ति व ज्ञान के अनुसार **धमन्तम्**=हाथ-पैर पटकते हुए को, आलस्य को छोड़कर तपस्वी बनते हुए **तम्**=उसे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **आवत्**=बचाता है—इन वासनाओं के आक्रमणों से सुरक्षित करता है। जीव प्रयत्न करता है तो प्रभु भी सहायता करते हैं।

अध=अब, जीव के प्रयत्न करने पर ही **नृमणाः**=(नृषु मनो यस्य) अपने को आगे ले-चलनेवालों पर कृपादृष्टि करनेवाले प्रभु **स्नीहितिम्**=इन खा-जानेवाली कामादि वासनाओं को **अप-द्राः**=दूर भगा देते हैं।

प्रभु की उपस्थिति का अभिप्राय प्रभु के ज्ञान को अपने में द्योतित करनेवाला व्यक्ति 'द्युतान' है। इस ज्ञान को अपने में उत्पन्न करने के लिए प्राणों की साधना करता है। प्राण 'मरुत' हैं, अतः यह 'मारुत' कहलाता है।

भावार्थ—विषयों में फँसे रहकर हम ज्ञान से दूर ही रहेंगे। ज्ञान-प्राप्ति के लिए इनसे ऊपर उठकर हम प्राणों की साधना करें।

ऋषिः—द्युतानः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मरुतों=प्राणों से हमारी मित्रता हो

३२४. वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः।
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि॥ २॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि ज्ञान को आवृत कर लेनेवाले इस कामरूप **वृत्रस्य**=वृत्र की **श्वसथात्**=प्रबल, उत्तप्त श्वासों से **ईषमाणाः**=परे भागते हुए **ये**=जो **सखायः**=आज तक तेरे मित्र थे **विश्वेदेवाः**=वे सब दिव्य गुण **त्वा**=तुझे **अजहुः**=छोड़ गये। वस्तुतः वासना के प्रबल होने पर सब उत्तम गुण नष्ट हो ही जाते हैं। कामाक्रान्त व्यक्ति को धर्माधर्म कुछ भी नहीं सूझता। सब देव मानो उसका साथ छोड़ जाते हैं।

इस स्थिति में प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ **ते**=तेरी **सख्यम्**=मित्रता **अस्तु**=हो! **अथ**=और **इमाः**=इन **विश्वाः**=सब **पृतनाः**=संग्रामों को **जयासि**=तू जीत लेता है। प्राण-साधना का ही परिणाम है कि चित्तवृत्ति का निरोध होकर पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ बड़ी परिष्कृत हो जाती हैं। इस निरुद्ध मन व स्थिर ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक से उस शक्ति का अभ्युदय होता है जिससे सब आसुर वृत्तियों का कर्तन—छेदन व भेदन होकर, फिर से दैवी वृत्तियों का विजय हो जाता है।

भावार्थ—हम प्राण-साधना करें और हमारा देवों से फिर सम्बन्ध हो जाए।

ऋषिः—वामदेव्यो बृहदुक्थः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

नश्वरता—असारता का चिन्तन

३२५. विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान॥ ३॥

गत मन्त्र में 'प्राणों की साधना के द्वारा 'पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व मन की स्थिरता से वह वृत्ति उत्पन्न होती है जो सब आसुर वृत्तियों को पराजित कर देती है'—इन शब्दों में अभ्यास का वर्णन हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में अभ्यास के साथी 'वैराग्य' का उल्लेख करते हैं। यह वैराग्य जिस विवेक से उत्पन्न होता है वह विवेक शरीर के स्वरूप का ही विवेक है। विवेकी पुरुष देखता है—

१. **विधुम्**=चन्द्र के समान सुन्दर बालक को। बालक चन्द्रमा के समान सुन्दर है यह तो प्रत्यक्ष ही है। चन्द्र के समान ही क्या? बालक का मुख तो चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर है। चन्द्र सकलंक है, यह अकलंक है। चन्द्र के समान यह प्रिय लगता है और वस्तुतः उसका सौन्दर्य उस व्यक्ति को बींधता-सा है; जिसे वह अप्राप्य होता है। चन्द्रमा भी विरही पुरुषों को बींधने से 'विधु' है, जिनके लिए अप्राप्य है, उन्हें बींधने से 'विधु' कहलाता है। अब यह बच्चा बड़ा होता है, चलने-फिरने लगता है, और—

२. **बहूनाम्**=बहुतों के—माता-पिता व अन्य सगे-सम्बन्धियों की **समने**=उत्सुकता के निमित्त **दद्राणम्**=नाना प्रकार की चेष्टाओं को करते हुए को। बच्चों की चहल-पहल घर को

किस प्रकार शोभावाला कर देती है। इनकी चहल-पहल के बिना तो घर शून्य वन-सा प्रतीत होता है। अब यह और बड़ा होकर भरपूर युवा अवस्था में आता है, और

३. **बहूनाम्**=न जाने कितने व्यक्तियों की **समने**=उत्कण्ठा के निमित्त **युवानं सन्तम्**=युवा होते हुए को। निखरी जवानीवाला युवक जिधर से निकल जाए उधर ही लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। लड़कियोंवाले उसे अपना दामाद बनाना चाहते हैं और यह युवति हो तो लड़केवाले उसे अपनी बहू बनाने के लिए इच्छुक होते हैं। सभी उसे आदर देते हैं।

('समने बहूनाम्' शब्द देहलीदीपन्याय से दोनों ओर सम्बद्ध हो जाते हैं)।

४. इतने सुन्दर इस युवक का भी समय आता है कि **पलितः**=बुढ़ापे की सफेदी **जगार**=निगल लेती है और उस सारे सौन्दर्य का आकर्षण समाप्त हो जाता है। धीरे-धीरे बुढ़ापा प्रबल होता है और एक दिन हम कहते हैं कि-

५. **अद्य ममार**=आज वह मर गया **सः**=जो **ह्यः**=कल **समान**=बड़ी अच्छी प्रकार जीवन धारण करता था। यह मृत्यु हमें बड़ी विचित्र प्रतीत होती है, कुछ भयंकर-सी लगती है और इसे चाहते नहीं। हमारी इच्छा होती है कि हम सदा बने रहें। परमेश्वर ने 'यह मृत्यु बनाकर क्या मूर्खता की है?' ऐसा हमारा विचार होता है, परन्तु **महित्वा**=पूजनीय बुद्धि से, श्रद्धा की भावना से यदि हम मृत्यु पर विचार करेंगे तो हमारा विचार बदल जाएगा। अत्यन्त वृद्धावस्था में हम एकदम पराधीन हो जाते हैं, सब इन्द्रिय-वृत्तियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, हम प्रिय मित्रों के भी करुणा के पात्रमात्र रह जाते हैं। सब घरवाले हमारी सेवा से तङ्ग आ चुके होते हैं, वे भी दिल से हमारे चले जाने की ही कामना कर रहे होते हैं। ऐसे समय में **देवस्य**=प्रभु की भेजी हुई मौत तो हे जीव! यदि तू **पश्य**=देखे तो सचमुच **काव्यम्**=एक बड़ी सुन्दर वर्णनीय वस्तु ही हो जाए। (A thing worthy to be described.)

इस प्रकार जीवन के क्रमिक परिवर्तनों को देखता हुआ यह ऋषि उस प्रभु का खूब ही (बृहत्) गुणगान (उक्थ) करता है, अतएव 'बृहदुक्थ' कहलाता है। जीवन के इस क्रमिक क्षय को देखता हुआ कहीं भी आसक्त न होने से यह सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनकर 'वामदेव्य' बनता है।

भावार्थ-जीवन की नश्वरता का चिन्तन हमें उचित मार्ग से ले-चलनेवाला हो। हम अनासक्त रहकर वासनाओं के शिकार न बनें।

ऋषिः-**मारुतो द्युतानः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

ब्रह्मलोक के लिए

३२६. त्वं ह त्यत् सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र।
गूढे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः॥ ४॥

जिस समय मनुष्य अभ्यास और वैराग्य को अपने जीवन में स्थान देता है, उस समय प्रभु कहते हैं कि **त्वम्**=तू **ह**=निश्चय से **त्यत्**=उन प्रसिद्ध **सप्तभ्यः**=योग की सात भूमिकाओं से **जायमानः**=अपना प्रादुर्भाव करते हुए हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले जीव! **अशत्रुभ्यः**=उन कामादि का, जिनका कि कोई भी नाश करनेवाला नहीं हुआ (न शातयिता येषां) **शत्रुः**

अभवः=शातयिता हुआ है। तूने योगमार्ग पर आगे-आगे बढ़ते हुए कामादि का विध्वंस कर डाला है। योगमार्ग में अगली-अगली भूमिका में पहुँचने से तेरा अधिक और अधिक विकास हुआ है। सात भूमिकाओं को पार कर 'समाधि' में स्थित होने पर तू रजोगुण को पूर्णरूप से जीत चुका है। अब संसार के ये राग तुझे अनुरक्त नहीं कर पाते। वेद के शब्दों में **गूढे**=सुसंवृत—सुरक्षित **द्यावापृथिवी**=(मूर्ध्नो द्यौः, पद्भ्यां भूमिः) मस्तिष्क से पावों तक सब अङ्गो को **अन्वविन्दः**=तूने अपने को प्राप्त कराया है। तेरे शरीर पर रोगों का आक्रमण नहीं, मन पर राग-द्वेष-मोहादि का व मस्तिष्क में कुविचारों का उत्थान नहीं। तूने सिर से पावों तक (from tip to toe) अपने जीवन को सफल बनाया है। यह **भुवनेभ्यः**=उन लोकों के लिए जोकि **विभुमद्भ्यः**=उस सर्वव्यापक प्रभु के लोक हैं, अर्थात् ब्रह्मलोक के लिए **रणम्**=आनन्दपूर्वक (delightfully) **धाः**=अपने को स्थापित करता है, **'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा'**। ये विगत रजोगुणवाले उस अमृत अव्ययात्मा पुरुष के लोक में पहुँचा ही करते हैं।

मन्त्र का ऋषि 'द्युतान मारुत' ही है, जिसने कि प्राणों की साधना की है और अपने में दिव्यता को विस्तृत करने का प्रयत्न किया है।

भावार्थ—हम अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मनोनिरोध करते हुए अपने को पवित्र बनाएँ और ब्रह्मलोक के लिए प्रस्थानवाले बनें।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सब क्रियाओं के केन्द्र प्रभु

३२७. मेडिं न त्वा वज्रिणं भृष्टिमन्तं पुरुधस्मानं वृषभं स्थिरप्स्नुम्।
करोष्यर्यस्तरुषीर्दुवस्युरिन्द्र द्युक्षं वृत्रहणं गृणीषे॥ ५॥

यह संसार एक अन्न-गाहेन के फर्श [threshing flour] के समान है। उसमें यह जीव अन्न गाहेनवाले बैल के तुल्य है। यह निरन्तर चल रहा है। 'इसकी क्रियाओं का केन्द्र क्या हो?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार देते हैं कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **मेडिं न**=केन्द्रीभूत किले की भाँति **त्वा**=तेरे ही चारों ओर **वज्रिणम्**=गति करनेवाले को (वज-गतौ), जिसकी सब क्रियाओं के केन्द्र आप ही होते हो, अर्थात् क्रियामात्र को करता हुआ जो कभी भी आपको भूलता नहीं, **भृष्टिमन्तम्**=अतएव जो वासनाओं का भञ्जन कर डालता है अथवा अपने तप के द्वारा अपना ठीक परिपाक कर लेता है और इस प्रकार **पुरुधस्मानम्**=नाना प्रकार से अपना धारण (नियमन=holding) करता है (धा से धस्=धारण) और किसी भी इन्द्रिय को विषयों का शिकार नहीं होने देता, वह परिणामतः **वृषभः**=शक्तिशाली बनता ही है, स्वयं शक्तिशाली बनकर वह औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला है, इसी उद्देश्य से **स्थिरप्स्नुम्**=जो स्थिर भोजन करता है (प्सा भक्षणे)। 'स्थिर' शब्द सात्त्विक भोजन के विशेषणों का यहाँ प्रतीक है। सात्त्विक भोजन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यह 'पौष्टिक' है, न उत्तेजक है न मोहक। इस प्रकार के भोजन के द्वारा **द्युक्षम्**=सदा प्रकाशमय लोक में निवास करनेवाला और **वृत्रहणम्**=वासना को नष्ट करनेवाले व्यक्ति को हे प्रभो! आप **गृणीषे**=आदर देते हो। उल्लिखित विशेषणों से विशिष्ट व्यक्ति प्रभु से आदृत होता है।

यह 'वामदेव' प्रभु की कृपा से ही सब सुन्दर दिव्य गुणों को पा सका है, प्रभु ने उसे वह शक्ति प्राप्त कराई जिससे वह 'गोतम'=अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बना। मन्त्र में कहते हैं कि **दुवस्युः**=वे प्रभु सबके हित की कामनावाले हैं। अमन्तुओं को भी वह निवास देनेवाले हैं। प्रभु किसी का कल्याण न चाहें ऐसी बात नहीं है। ये प्रभु ही **अर्यः**=(ऋ गतौ) शत्रु के प्रति जानेवाला, उनपर आक्रमण करनेवाला और **तरुषीः**=उनको तैर जानेवाला **करोषि**=बनाते हैं। यह सब प्रभुकृपा से ही होता है। इस प्रकार प्रभु ही हमें उदात्त बनाकर अपना प्रेम प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम संसार की सब क्रियाओं को करते हुए प्रभु को न भूलें।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिपदाविराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

औरों के लिए गतिशील बन

३२८. प्र वो महे महेवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम्।
विशः पूर्वीः प्र चर चर्षणिप्राः॥ ६॥

वः=तुम्हारी **महेवृधे**=महान् वृद्धि के लिए **महे**=उस महान् प्रभु के लिए **प्रभरध्वम्**=नमन का सम्पादन करो। उस प्रभु के प्रति प्रातः-सायं नमन की वृत्ति को धारण करते हुए प्राप्त होओ। जितना ही हम प्रभु-सम्पर्क में रहेंगे उतना ही हमारा जीवन 'सत्य, शिव व सुन्दर' बनेगा।

प्रातः-सायं प्रभु को नमन के साथ प्रकृष्ट ज्ञान के लिए **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **प्र-कृणुध्वम्**=प्रकृष्टतया सम्पादित करो। हम सदा अपनी मति को कल्याणी बनाये रक्खें जिससे हमारा मस्तिष्क ठीक रहे, हमारी चेतना उत्कृष्ट बनी रहे।

इस प्रकार अपने जीवन को उन्नत बनाकर और अपने मस्तिष्क को स्वस्थ रखते हुए मनुष्य को चाहिए कि वह **चर्षणिप्राः**=मनुष्यों का पूरण करनेवाला बने (चर्षणि=मनुष्य, प्रा-पूरणे) और इसी उद्देश्य से **पूर्वीः विशः**=अपना पूरण करनेवाली (जिनमें उन्नत होने की सम्भावना है) उन प्रजाओं में **प्रचर**=प्रचार कर। जिस प्रकार जिसको भूख नहीं लगती उस मनुष्य को भोजन देने से कुछ लाभ नहीं, इसी प्रकार जो प्रजाएँ उन्नति की भावना से रहित हैं, उन्हें उत्तम उपदेश व्यर्थ लगते हैं, अतः प्रचारक को पहले क्षेत्र तैयार करना और तभी उसमें ज्ञान-बीज बोना चाहिए।

इन तीनों बातों को अपने जीवन में निरन्तर लाता हुआ यह ऋषि 'वसिष्ठ' है—बड़े संयम से चलनेवाला है। इसी संयम के लिए यह 'मैत्रावरुणि'=प्राणापान की साधना करता है।

भावार्थ—१. प्रभु नमन से हम अपनी महान् उन्नति करें। २. कल्याणी मति से अपने मस्तिष्क को स्वस्थ रक्खें। ३. लोगों को ज्ञान के लिए उत्सुक बनाकर उन्हें ज्ञान दें।

ऋषिः—**विश्वामित्रो गाथिनः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

नृतम (The best leader)

३२९. शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि सञ्जितं धनानि॥ ७॥

गत मन्त्र में अन्तिम शब्द था 'चर्षणिप्राः'=मनुष्यों का पूरण करनेवाला। यह 'चर्षणिप्राः' विशः प्रचर=प्रजाओं में विचरता हुआ प्रचार करता है। उनको उत्तम प्रेरणा देता हुआ यह उन्हें आगे और आगे ले-चलता है, आगे ले-चलने के कारण यह 'नृ' है (नृ नये one who leads) 'तम' यह अतिशय द्योतक प्रत्यय है। इस **नृतमम्**=नृतम को हम **हुवेम**=पुकारते हैं, जोकि—

१. **शुनम्**=(शुन गतौ) गतिशील है। नेता के अन्दर सबसे पहला गुण यह होना चाहिए कि इसका जीवन क्रियामय हो। आलसी व्यक्ति कभी नेतृत्व नहीं कर सकता। लोकहित में लगा हुआ व्यक्ति ही जनप्रिय हो सकता है। वही स्वयं क्रियामय होता हुआ अपने आदर्श से औरों को भी आगे ले-चल सकता है।

२. **मघवानम्**=इस नेता की क्रिया (मा+अघ)=पाप से शून्य होती है। उसमें स्वार्थ की गन्ध नहीं होती, साथ ही वह ऐश्वर्यवाला होता है, निजी आवश्यकताओं के लिए पराश्रित नहीं होता और दूसरों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने की शक्ति रखता है।

३. **इन्द्रम्**=यह जितेन्द्रिय होता है **'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः'**=जो स्वयं जितेन्द्रिय है वही तो औरों का नेतृत्व कर सकता है। अजितेन्द्रिय व्यक्ति औरों की दृष्टि में शीघ्र गिर जाता है।

४. **अस्मिन् भरे**=इस संसार-संघर्षरूप युद्ध में **वाजसातौ**=शक्ति की प्राप्ति के निमित्त हम इस **नृतमम्**=उत्तम नेता को **हुवेम**=पुकारते हैं। नेता को करना क्या है? उसे लोगों को एकत्र कर निराश होते हुए लोगों को उत्साहित करना है। 'चिड़ियों को बाज़ बना देना है।' एक नेता की सफलता इसी में है कि वह अनुयायियों की उत्साह-शक्ति को मन्द नहीं पड़ने देता। वह उनमें आत्मगौरव की भावना भरने का ध्यान रखता है।

५. **शृण्वन्तम्**=यह सुनता है, नेता वही ठीक है, जो अपने अनुयायियों की बात को सुने। जो अपने ऐश्वर्य व ठाठबाट के कारण निचलों के लिए अनभिगम्य हो जाए वह देर तक नेता नहीं बना रह सकता।

६. **उग्रम्**=यह उदात्त प्रकृति का होता है। इसके किसी व्यवहार में कमीनेपन की गन्ध नहीं आती।

७. **ऊतये**=यह सबकी रक्षा के लिए होता है, यह स्वयं अग्रभाग में स्थित होता हुआ औरों का रक्षक बनता है। यह रणाङ्गण से कोसों दूर बैठा हुआ तार नहीं खैंचा करता। इसका सूत्र होता है "At the head of the army".

८. **समत्सु**=युद्धों में यह **वृत्राणि**=हमारी उन्नति को आवृत करनेवाले शत्रुओं को **घ्नन्तम्**=मारनेवाला होता है और

९. **संजितं धनानि**=उपादेय धनों का जीतनेवाला होता है।

इन उल्लिखित विशेषताओं से बढ़कर इसकी विशेषता यह होती है कि यह पक्षपातशून्य होकर सभी के हित की भावना से क्रियाशील होता है, अतः यह 'विश्वामित्र' कहलाता है। इस प्रकार प्रभु की क्रियात्मक दृश्य स्तुति करनेवाला अपने चरित्र से प्रभु का गायन करनेवाला 'गाथिनः' है।

भावार्थ—प्रभु करें कि हम अपने जीवन को उन्नत व प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनाकर औरों को उत्तम नेतृत्व देनेवाले बन सकें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान, उपासना व कर्मवाला जीवन

३३०. उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ।
आ यो विश्वानि श्रवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि॥ ८॥

'श्रवस्' शब्द के ज्ञान, यश व श्री तीनों ही अर्थ हैं, 'य' प्रत्यय इच्छा अर्थ में आता है। **श्रवस्या**=ज्ञान, यश व श्री की इच्छा से **ब्रह्माणि**=वेदमन्त्रों को **उ**=निश्चय से **उद्‌ऐरत**= उच्चारण करो ही। वेदमन्त्रों का अभ्यास यहाँ स्वाध्याय का द्योतक है। स्वाध्याय के बिना ज्ञानादि की प्राप्ति सम्भव नहीं।

हे **वसिष्ठ**=सर्वोत्तम निवास चाहनेवाले अथवा वशियों में सर्वश्रेष्ठ! तू **सम् अर्ये**=उत्तम जितेन्द्रिय बनने के निमित्त **इन्द्रम्**=उस परमैश्‍र्यशाली प्रभु को **महय** =पूज। उस प्रभु का गुणगान तुझे वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित रक्खेगा। 'समर्ये का दूसरा अर्थ 'स-मर्ये' (सह मर्याः यत्र) जहाँ घर के सब व्यक्ति समवेत हों वहाँ प्रभु की पूजा कर, अर्थात् प्रातः-सायं मिलकर प्रभु-उपासना कर।

यः=जो प्रभु **श्रवसा**=अपनी सर्वज्ञता से व श्री से **विश्वानि**=इन सब लोक-लोकान्तरों को **आततान**=विस्तृत करता है, वह प्रभु **ईवतः**=(ई=गमन) गमनशील **मे**=मेरे **वचांसि**=वचनों को **उपश्रोता**=समीप से श्रवण करता है। यदि मैं स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता, केवल प्रार्थना-ही-प्रार्थना करता हूँ तो मेरे वचन व्यर्थ हैं, वे प्रभु से सुने नहीं जाते। प्रभु का साहाय्य तो मुझे तभी प्राप्त होता है जब मैं स्वयं क्रियाशील बनता हूँ।

इस प्रकार एक आदर्श जीवन में 'ज्ञान, उपासना व कर्म' तीनों को उचित स्थान प्राप्त होता है। ज्ञान और कर्म के मध्य में यहाँ उपासना को इसलिए रक्खा गया है कि ज्ञानपूर्वक कर्मों से ही वह साध्य होती है। उपसना से ज्ञान उज्ज्वल होता है तो कर्म पवित्र होते हैं।

केवल ज्ञानी ज्ञानदैत्य बन जाता है, केवल भक्त अन्धभक्त (fanatic) हो जाता है और केवल कर्म मनुष्य को अनन्त रीतियों (rituals) के जंजाल में फँसा देता है। इन तीनों के समन्वय से उसका जीवन अत्युत्तम बनता है और इस उत्तम निवासवाला यह 'वसिष्ठ' होता है। इस ज्ञान-उपासना व कर्म की त्रयी को अपने में घटित करने के लिए ही यह 'मैत्रावरुणि' प्राणापान की साधना करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से प्राणसाधना करते हुए हम इस ज्ञान, कर्म व उपासना की त्रयी से अपने जीवनों को अलंकृत करें।

ऋषिः—**गौरिवीति शाक्त्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञचक्र—इष्टकामधुक् हो

३३१. चक्रं यदस्याप्स्वा निषत्तमुतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात्।
पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो गोष्वदधा ओषधीषु॥ ९॥

यत्=जो **अस्य**=इस जीव का (प्रजापति से सृष्टि के प्रारम्भ में दिया हुआ) **चक्रम्**=यज्ञ-

चक्र है, वह **अप्सु**=कर्मों में **आ**=सर्वथा **निषत्तम्**=स्थित है, आश्रित है। 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः'=यज्ञ कर्म से ही तो होनेवाला है। कोई भी यज्ञ कर्म के बिना सम्भव नहीं। **अस्मै**=इस क्रियाशील के लिए **तत्**=यह यज्ञ-चक्र **उत उ**=अब निश्चय से **मधु इत्**=माधुर्य को ही **चच्छद्यात्**=खूब चाहे, अर्थात् इस यज्ञ से उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण होकर उसका जीवन माधुर्य से परिपूर्ण हो। यज्ञमय जीवनवाले को मोक्ष तो प्राप्त होता ही है, उसका यह लोक भी अत्यन्त मधुर बनता है। 'इस लोक में उसे क्या-क्या प्राप्त होता है?' इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र के उत्तरार्ध में इस रूप में दिया है कि–

१. **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **अतिषितम्**=(अति=पूजायाम्, सितम्=बन्धुत्व)=उत्तम बन्धनों (सम्बन्धों), बन्धु-बान्धवोंवाला **यत्**=जो **ऊधः**=(The apartment where the friends are invited) सुरक्षित घर है तथा २. **गोषु पयः**=गौवों में जो दूध है और ३. **ओषधीषु पयः**=ओषधियों में जो रस है ये तीन वस्तुएँ **अदधाः**=इसका धारण करती हैं। दूसरे शब्दों में इसे मित्रों और बन्धुओं से भरा घर प्राप्त होता है, इसे गौवों के दूध की कमी नहीं होती और इसके घर में ओषधियों का रस सदा सुलभ रहता है। संक्षेप में घर है, मित्र हैं, खानपान के उत्तमोत्तम पदार्थ हैं। इस प्रकार घर एक छोटा-सा स्वर्ग बना हुआ है। संसार में बन्धु-शून्यता व मित्रों का अभाव अत्यन्त चुभनेवाला होता है और परिवार भरपूर हो तो निर्धनता एक अभिशाप के समान प्रतीत होती है, परन्तु जहाँ मित्र हैं—वहाँ तो स्वर्ग ही बन जाता है। यह यज्ञ-चक्र का प्रवर्त्तक अपने मित्रों के साथ 'गोदुग्ध व ओषधियों के मधुर रसों' का सेवन करता हुआ 'गौरि-वीतिः' उज्ज्वल, शुभ्र सात्त्विक भोजन से शान्त प्रकृतिवाला होने के कारण वासनाओं से दूर रहता हुआ शाक्त्य=शक्ति-सम्पन्न है।

भावार्थ—यज्ञ-चक्र को चलाते हुए हम अपनी सब मधुर इच्छाओं को प्राप्त करें।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः**॥ देवता—**तार्क्ष्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

एक नेता का निजू जीवन, अरिष्टनेमि-तार्क्ष्य

३३२. त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥ १॥

त्यम्=उसे **उ**=निश्चय से **इह**=यहाँ—अपने जीवन में **आहुवेम**=सब ओर से, अर्थात् सब मिलकर पुकारते हैं, अर्थात् प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हमें ऐसा नेता प्राप्त कराइए–

१. **सुवाजिनम्**=जो उत्तम गतिवाला है (वज गतौ)। जिसका जीवन क्रियाशील है और क्रिया करने का प्रकार भी ऐसा मधुर है कि उसकी क्रिया से किसी की हानि नहीं होती। उसका ध्यान रहता है कि **'मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्'** मेरा जाना भी मधुर हो, आना भी मधुर हो।

२. **देवजूतम्**=वह अपनी क्रियाओं में देवताओं से प्रेरणा प्राप्त करता है। सूर्य-चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से चलता है तो पृथिवी के समान क्षमाशील बनता है और समुद्र के समान गम्भीर होता है, अग्नि के समान तेजस्वी और जल के समान रसमय। इस प्रकार

देवांशों से ही उसका जीवन बना हुआ प्रतीत होता है।

३. **सहोवानम्**=यह बलवाला हो। निर्बल चाहता हुआ भी कुछ नहीं कर सकता।

४. **रथानाम् तरुतारम्**=प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीररूप रथ पर आरूढ़ हुआ-हुआ आगे और आगे बढ़ रहा है। यह उन सब रथों को लाँघ जानेवाला है। उन्नति-पथ पर सबसे आगे बढ़ जानेवाला है। **'अति समं क्राम'** इस उपदेश को यह क्रिया में अन्वित करता है।

५. **अरिष्टनेमिम्**=इसके जीवन-चक्र की परिधि कभी हिंसित नहीं होती है, अर्थात् इसका जीवन बहुत ही मर्यादित होता है। यह धर्म के मार्ग से रञ्चमात्र भी विचलित नहीं होता।

६. **पृतनाजम्**='पृतना' संग्राम का नाम है। वासनाओं के साथ चल रहे सनातन संग्राम में यह अज=गतिशीलता से वासनारूप शत्रुओं को परे फेंकनेवाला होता है।

७. **आशुम्**=यह कार्यों में शीघ्रता से व्याप्त होनेवाला होता है। 'प्रमाद, आलस्य, निद्रा' इसके समीप नहीं फटकते। यह प्रत्येक कार्य को स्फूर्ति के साथ (promptly) करता है।

८. **तार्क्ष्यम्**=(तृक्ष गतौ) हम उस नेता को पुकारते हैं जोकि गतिशील है--गति का ही पुञ्ज है, गति जिसका स्वभाव बन गया है।

ऐसे नेता को हम इसलिए चाहते हैं कि **स्वस्तये**=हमारी स्थिति उत्तम हो, हमारा कल्याण हो।

यहाँ प्रारम्भ में 'सुवाजिनम्' शब्द है, समाप्ति पर 'तार्क्ष्यम्'। दोनों की भावना 'गति' है। वस्तुतः उत्तम जीवन का प्रारम्भ भी गति है और समाप्ति भी गति है। गतिमय जीवन ही उत्तम है--उत्तम क्या है, गतिमयता ही जीवन है। गति नहीं तो जीवन नहीं। आर्य शब्द का अर्थ भी तो 'गतिशील' ही है, अतः हम गतिमय 'तार्क्ष्य' तो हों ही, परन्तु इस गतिमयता में 'अरिष्टनेमि' हों=अहिंसित मर्यादावाले हों। सदा मर्यादित गतिवाले हों। यह मर्यादित गतिवाला 'अरिष्टनेमि तार्क्ष्य' ही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम उल्लिखित आठ गुणों से युक्त नेता को प्राप्त करें।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भारद्वाजः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वह महान् नेता

३३३. त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रमिदं हविर्मघवा वेत्विन्द्रः॥ २॥

मैं **इन्द्रम्**=शत्रुओं को दूर भगानेवाले उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ, जो **त्रातारम्**=रक्षा करनेवाले हैं। हमारे मनरूपी पात्र को ईर्ष्या-द्वेष आदि की मलिनताओं से बचानेवाले हैं। प्रभुकृपा से यह पात्र मलिन भावनाओं से भरे जाने से सुरक्षित रहता है, परन्तु क्या यह खाली रहता है? नहीं।

अवितारम् इन्द्रम्=(अव् भागदुघे) इसे वे प्रभु अपने गुणों से पूरित करते हैं (दुह् प्रपूरणे)। प्रभु-स्मरण से इसमें दिव्यता का अंश अवतीर्ण होता है और धीमे-धीमे यह दिव्यता से भर जाता है। **हवे-हवे**=जब-जब इन वासनाओं का हमपर आक्रमण होता है और इनके साथ हमारा संग्राम चलता है, उस-उस संग्राम (हव) के अवसर पर ये प्रभु **सुहवम्**=सम्यक्तया पुकारने योग्य हैं। हम प्रभु को पुकारते हैं—उस पुकार को सुनकर ही वासनाएँ भाग जाती हैं। **शूरम् इन्द्रम्**=वे प्रभु (शॄ=हिंसायाम्) इन वासनाओं की हिंसा करनेवाले हैं। इस इन्द्र को

नु=अब हम **हुवे**=पुकारते हैं। **पुरुहूतम्**=इसका आह्वान् निश्चय से हमारा पालन करनेवाला है। वे प्रभु **सुहवम्**=सुगमता से पुकारने योग्य हैं। ये प्रभु **शक्रम्**=समर्थ हैं। हमें संग्राम में अवश्य विजयी बनानेवाले हैं। हमारे अन्दर विजय की प्रबल इच्छा हो और हम भी कुछ हाथ-पैर मारें तो वे प्रभु हमें सब-कुछ बना सकते हैं—सब-कुछ प्राप्त करा सकते हैं। लौकिक नेता से प्रभु में यही तीन महान् अन्तर हैं १. प्रभु सुहव हैं, २. पुरुहूत हैं और ३. शक्र हैं।

यह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **मघवा**=पापांश से शून्य ऐश्वर्यवाले प्रभु तुझमें **इदम्**=इस **हविः**=दान की वृत्ति को (हु=दान) **वेतु**=उत्पन्न करें (वी=प्रजनने)। मुझमें दान की वृत्ति होगी तो मैं भोगों के अन्दर ग्रसित ही कैसे होऊँगा। इन भोगों से बचकर मैं अपनी शक्ति को सुरक्षित कर 'भारद्वाज' बनूँगा। वासनारूप आवरण को नष्ट करके दीप्त ज्ञानवाला 'बृहस्पति' बनूँगा। 'बार्हस्पत्यो भारद्वाजः' यही इस मन्त्र का ऋषि है।

एवं सम्पूर्ण मन्त्र का निष्कर्ष यह है कि १. मैं वासनाओं से बचूँ, २. इनसे बचने के लिए दान की वृत्ति को अपनाऊँ। ३. वासनाओं से बचकर 'बार्हस्पत्य भारद्वाज' बनूँ।

भावार्थ—हम प्रभु को ही सदा अपना महान् नेता समझें।

ऋषिः—**वसुकृद् वासुक्रः, एन्द्रो विमदो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हम किसे आदर देते हैं?

३३४. यजामह इन्द्रं वज्रदक्षिणं हरीणां रथ्यां३ विव्रतानाम्।
प्र श्मश्रुभिर्दोधुवदूर्ध्वधा भुवद्वि सेनाभिर्भयमानो वि राधसा॥ ३॥

इन्द्रियमनोयुक्त होकर जीव भोक्ता होता है, परन्तु जिस दिन यह इनसे अपने पार्थक्य को समझ लेता है, उस दिन इनमें न उलझा रहने के कारण यह जीवन्मुक्त हो जाता है। यह लोकहित के लिए मानवमात्र का पथप्रदर्शन करता है और हम सब **यजामहे**=इसका आदर करते हैं। किसका?

१. **इन्द्रम्**=जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, २. **वज्रदक्षिणम्**=(वज गतौ, दक्षिण=Dextrous) प्रत्येक कार्य को कुशलता से करता है। 'योगः कर्मसु कौशलम्'=यह बात जिसके जीवन-व्यवहार में स्पष्ट दीखती है, ३. जो **विव्रतानाम्**=विविध व्रतोंवाले **हरीणाम्**=इन्द्रियरूप घोड़ों का **रथ्यम्**=उत्तम नियन्ता है। आँख-कान इत्यादि इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न कार्यों में व्यापृत हैं, इन सबको जो सुन्दरता से संयत करता है, ४. **श्मश्रुभिः**=(श्मनि श्रितं) शरीर में आश्रित प्राण-मन व बुद्धि से जो **प्रदोधुवत्**=वासनाओं को कम्पित कर दूर भगा देता है, ५. **ऊर्ध्वधा भुवत्**=अपने को सदा विषयों से ऊपर रखनेवाला होता है और अन्त में ६. **राधसा**=योगसिद्धियों के द्वारा (राध=सिद्धि) तथा **सेनाभिः**=(स, इन=प्रभु) प्रभुसहित विचारधाराओं के द्वारा **वि**=विशेषरूप से **भयमानः**=शत्रु- सेनाओं को डरानेवाला होता है। योगसिद्धि व सदा प्रभु-स्मरण अशुभ विचारों को दूर भगानेवाले हैं। 'योगसिद्धि' अभ्यास है; विचार 'वैराग्य' को पैदा करनेवाला है। अभ्यास और वैराग्य के होने पर मन विषय-वासनाओं में थोड़े ही फँसता है?

यह व्यक्ति मद व अहंकार से सर्वथा दूर होने के कारण 'विमद' है। इन्द्र=परमात्मा का, न कि प्रकृति का होने से 'ऐन्द्र' है। इसने अपने अन्दर उत्तमोत्तम भावनाओं को जन्म देकर

'वसुओं' का निर्माण किया है, अतः यह 'वसुकृत्' है। प्राकृतिक भोगों को छोड़कर इसने दिव्य योगसिद्धियों को, उत्तम विचारशक्तियों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है, अतः यह 'वासुक्र' है—उत्तम विनिमयवाला।

भावार्थ—हम भी यथासम्भव जीवन्मुक्त बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

आदरणीय व्यक्ति के तेरह गुण

३३५. सत्राहणं दाधृषिं तुम्रमिन्द्रं महामपारं वृषभं सुवज्रम्।
हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा सुराधाः॥ ४॥

गत मन्त्र की 'यजामहे' क्रिया ही यहाँ भी अनुवृत्त होती है—हम आदर करते हैं, किसका?

१. **सत्राहणम्**='सत्र' शब्द उन यज्ञों का नाम है जो तेरह दिन से लेकर सौ-सौ दिन तक चलते हैं। इन यज्ञों के प्रति जो निरन्तर जानेवाला है (हन्=गतौ)। जो व्यक्ति यज्ञों के प्रति निरन्तर चलता है, वह 'सत्राहन्' है। २. **दाधृषिम्**=जो वासनारूप शत्रुओं का बुरी तरह से धर्षण (crushing defeat) करनेवाला है।

३. **तुम्रम्**=(Impelling) आत्मप्रेरणा देनेवाला। यह 'सत्राहन्, दाधृषि' इन शब्दों में आत्मप्रेरणा देता है कि **'अहमिन्द्रः'**=मैं इन्द्र हूँ, **'न पराजिग्य इद् धनम्'**=मैं अपने ऐश्वर्य के कारण पराजित नहीं होता हूँ **'न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन'**=मैं कभी मृत्यु के लिए स्थित नहीं होता हूँ। इस प्रकार अपने को प्रेरणा देता हुआ यह सचमुच ही—

४. **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय बनता है, ५. **महाम्**=अपने हृदय को विशाल बनाता है, ६. **अपारम्**=यह कभी भी कर्मों को समाप्त नहीं करता (पार=कर्मसमाप्तौ), अर्थात् सदा क्रियाशील बना रहता है और इसी का परिणाम है कि ७. **वृषभम्**=यह शक्तिशाली बना रहता है, ८. यह क्रियाशील होता है, परन्तु इस बात का सदा ध्यान करता है कि **सुवज्रम्**=यह सदा उत्तम गतिशील बना रहे, ९. इस उत्तम गतिशीलता के द्वारा **यः**=जो **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **हन्ता**=नष्ट करता है, १०. **उत**=और वासना के नष्ट होने पर **वाजम्**=अपने धन को **सनिता**=संविभागपूर्वक खानेवाला होता है, ११. धीमे-धीमे यह प्राजापत्य यज्ञ में आगे बढ़ता हुआ अपने **मघानि**=धनों का **दाता**=देनेवाला होता हैं, १२. परन्तु क्या इस धन के देने से उसका धन घट जाता है? नहीं। **मघवा**=वह तो और अधिक पवित्र धनवाला हो जाता है। यह वह स्थिति है जबकि वह १३. **सु-राधाः**=प्रत्येक कार्य में उत्तम सफलता प्राप्त करता है। इसके अन्दर प्रभु की दिव्यता का अधिकाधिक अवतार होकर यह 'वामदेव' बनता है, प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होने से गोतम होता है।

यहाँ मन्त्र में वामदेव का चित्रण १३ विशेषणों से हुआ है। सत्र १३ दिन में ही पूर्ण होता है, वामदेव का जीवन-सत्र भी इन सत्य के १३ आकारों में पूर्णता पाता है। 'सत्याकाराः त्रयोदश'=सत्य के भी तेरह ही आकार हैं।

भावार्थ—मैं भी सत्य के इन तेरह आकारों को अपने जीवन में स्थान दे पाऊँ।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

आधिभौतिक संग्राम

३३६. यो नो वनुष्यन्नभिदाति मर्त उगणा वा मन्यमानस्तुरो वा।
क्षिधी युधा शवसा वा तमिन्द्राभी ष्याम वृषमणस्त्वोताः ॥ ५ ॥

गत मन्त्रों में विस्तार से आध्यात्मिक संग्राम का चित्रण हुआ है। वस्तुतः बाह्य शत्रुओं से आन्तर शत्रुओं के विजय का महत्त्व निर्विवादरूप में अधिक है। सेनाओं को जीतने के स्थान में अपने क्रोध को जीतनेवाला बड़ा विजेता कहलाता है। आध्यात्मिक संग्राम में विजय श्रेय का मार्ग है, जबकि बाह्य शत्रुओं का विजय प्रेयमार्ग का ही एक पड़ाव है। बाह्य शत्रुओं को जीतकर हम 'राज्य, भोग और सुखों' को पा सकते हैं। इनके विजय से आत्मिक उन्नति सम्भव नहीं।

एवं, बाह्य संग्राम से अध्यात्मसंग्राम उत्कृष्ट है, पर बाह्य संग्राम का भी मानव जीवन में स्थान है ही। मनुष्य केवल शरीर से बना हुआ नहीं हैं, यह शरीर में रहनेवाले आत्मा का नाम है। शरीर व शारीरिक वस्तुओं की रक्षा के लिए बाह्य संग्राम भी आवश्यक ही है, अतः वेद में कहा है कि **यः**=जो **नः**=हमें **वनुष्यन्**=(win) पराजित करना चाहता हुआ **मर्तः**=मनुष्य **अभि**=आगे-पीछे व दाएँ-बाएँ **दाति**=काट-छाँट करता है, जो **उगणाः**=सुती हुई तलवारोंवाले सैनिकों से युक्त हुआ (with drawn swords), **वा**=या **मन्यमानः**=अपने बल के गर्व से अभिमानी बना हुआ, **तुरः वा**=इसीलिए हिंसक मनोवृत्तिवाला बनकर जो हमारा घातपात करने में प्रवृत्त होता है, हे प्रभो! आप उसे **क्षिधी**=क्षीण कर दें, नष्ट कर दें। प्रभु ही युद्ध की स्थिति को समाप्त कर दें तब कितना अच्छा है! परन्तु यदि ऐसा न हो और युद्ध आवश्यक हो जाए तो यह 'वामदेव गोतम' कहता है कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं को दूर भगानेवाले प्रभो! **युधा**= युद्ध के द्वारा **त्वा ऊताः**=तुझसे रक्षा किये जाते हुए हम **वृषमणः**=शक्तिशाली, उत्साह से भरे मनोंवाले होते हुए **तम्**=उस शत्रु को **अभीष्याम्**=पूर्णरूप से अभिभूत करनेवाले हों।

'वृषमणः' शब्द स्पष्ट कर रहा है कि उत्साह के अभाव में विजय सम्भव नहीं।

'त्वोता' शब्द की भावना सुव्यक्त है कि विजय प्रभु की सुरक्षा से ही होनी है, हमारी शक्ति हमें विजय नहीं प्राप्त करा सकती, अतः हमें विजय का गर्व भी क्यों हो? विजयी होकर भी उस विजय के गर्व से पराजित न होने में ही उस विजय का सौन्दर्य है।

'क्षिधी' शब्द की भावना भी स्पष्ट है कि युद्ध जहाँ तक टल सके उतना ही ठीक। युद्ध का दिन आ जाने पर भी सेनापति का बाण न गिरे, इससे अधिक सुन्दर और क्या हो सकता है! परन्तु आवश्यक हो जाने पर युद्ध तो करना ही है, कायर थोड़े ही बनना है। युद्ध में शत्रुओं को जीतकर अभ्युदय की सिद्धि भी तो धर्म ही है। क्रोध का विजय निःश्रेयस देता है तो विवशता में क्रोधी को समाप्त करके हम अभ्युदय को सिद्ध करते हैं। क्रोध को जीतना 'ब्रह्म' का परिणाम है, क्रोधी को समाप्त करना 'क्षत्र' का। 'ब्रह्म-क्षत्र' का समन्वय ही ठीक है। यह समन्वय ही हमें 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनाता है। यह ठीक है कि 'क्षत्र' ब्रह्म से नियन्त्रित होना चाहिए, परन्तु यह ठीक नहीं है कि क्षत्र का अभाव ही हो जाए। क्षत्र

के अभाववाली कोई भी संस्कृति पनप नहीं सकती।

भावार्थ—मैं अपने जीवन में ब्रह्म और क्षत्र का समन्वय कनेवाला बनूँ।

ऋषि:—**गोतमो वामदेव:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

जिसे सभी पुकारते हैं

३३७. यं वृत्रेषु क्षितय: स्पर्धमाना यं युक्तेषु तुरयन्तो हवन्ते।
यं शूरसातौ यमपामुपज्मन् यं विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्र: ॥ ६ ॥

निरुक्त (२.१०.२७) में वृत्र धन का नाम है। वृत्र जो वरा है—धन को कौन नहीं वरता? अध्यापन, याजन व प्रतिग्रह से ब्राह्मण धन को लेने में लगा है, क्षत्रिय तो अधिकारी है ही, वह तो औरों से धन ले ही लेता है। वैश्य का लक्ष्य ही धन है—शूद्र भी रुपये के लिए इतना परिश्रम कर रहा है। धन के बिना किसी का काम नहीं चलता, अत: **क्षितय:**=इस पृथिवी पर निवास करनेवाले (क्षि=निवास) सभी मनुष्य—विशेषत: वैश्य **स्पर्धमाना:**=परस्पर स्पर्धा करते हुए, एक-दूसरे से अधिक और अधिक धन जुटा पाने की कामना करते हुए **वृत्रेषु**=धनों के निमित्त **वाजयन्त:**=धन चाहते हुए **यम्**=जिसे **हवन्ते**=पुकारते हैं, **स:**=वह **इन्द्र:**=प्रभु हैं—परमैश्वर्यशाली हैं। प्रत्येक वैश्य प्रभु-स्मरण के साथ अपने कार्य को प्रारम्भ करता है और प्रार्थना करता है कि **तन्मे भूयो भवतु मा कनीय:**=मेरा व्यापार में लगा धन बढ़ता ही चले, कम न हो।

युनक्त सीरा:=हलों को जोतो—इस वेदाज्ञा को क्रियान्वित करते हुए कृषक हलों को जोतते हैं और **युक्तेषु**=हलों के जोते जाने पर **तुरयन्त:**='तुर-तुर' ध्वनि से बैलों को चलाते हुए **वाजयन्त:**=अन्न की कामनावाले ये कृषक **यम्**=जिसे **हवन्ते**=पुकारते हैं, **स:**=वह **इन्द्र:**=वृष्टि का अधिष्ठातृदेव इन्द्र है। कृषक का तो मन्त्र ही है कि प्रभु बरसेंगे तभी तो अन्न प्राप्त होगा।

शूरसातौ=संग्रामों में **यम्**=जिसे **वाजयन्त:**=शक्ति की कामना करते हुए पुकारते हैं **स:**=वह **इन्द्र:**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु हैं।

अन्त में **विप्रास:**=ब्राह्मण लोग **वाजयन्त:**=त्याग की भावना को अपने में उत्पन्न करना चाहते हुए **अपाम्**=कर्मों को **उपज्मन्**=करने के समय **यम्**=जिसे **हवन्ते**=पुकारते हैं **स:**=वह **इन्द्र:**=सब शक्तिशाली कर्मों का अधिष्ठातृदेव परमात्मा है। एक ब्राह्मण वस्तुत: यह समझता है कि कर्मों की शक्ति प्रभु की है, मैं तो निमित्तमात्र हूँ, अत: सब कर्मों को ब्रह्म में आहित करके चलता है।

क्या वैश्य, क्या कृषक, क्या क्षत्रिय और क्या ब्राह्मण सभी अपने-अपने धन, अन्न, बल व त्याग आदि उपादेय वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रभु को ही पुकारते हैं। प्रभु को न भूलनेवाला 'वामदेव व गोतम=उत्तम गुणोंवाला व प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बना रहता है।

भावार्थ—कोई भी कर्म करते हुए हम प्रभु को न भूलें।

***सूचना**—मन्त्र के 'वाजयन्ते' पद का अर्थ लट् के स्थान में शतृ करके 'वाजयन्त:' रूप में किया है। लोक मे 'वाजयमाना:' होता है।*

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः**॥ देवता—**इन्द्रापर्वतौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

इन्द्र और पर्वत क्या करें?

३३८. इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहतं सुवीराः।
वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिडया मदन्ता॥ ७॥

'इन्द्र' शक्ति का देवता है। यास्क लिखते हैं कि 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य'=सब बल के कर्म इन्द्र के हैं। 'पर्वत' शब्द का अर्थ आचार्य दयानन्द यजुर्वेद (३५।१५) में 'ज्ञान व ब्रह्मचर्य' करते हैं। आचार्य के द्वारा ज्ञान की एक-एक पर्व (Layer) विद्यार्थी के मस्तिष्क में स्थापित की जाती है, अतः ज्ञान का नाम 'पर्वत' हो गया। इन दोनों देवताओं को सम्बोधन करके कहते हैं कि हे **इन्द्रापर्वता**=बल व ज्ञान की देवताओ! **बृहता**=वृद्धिशील (बृहि वृद्धौ) **रथेन**=हमारा शरीररूप रथ आगे और आगे बढ़ता चले, इस दृष्टि से **वामीः**=सुन्दर व सात्त्विक दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले तथा **सुवीराः**=उत्तम वीरता को जन्म देनेवाले **इषः**=अन्नों को **आवहतम्**=प्राप्त कराओ। संक्षेप में, हम सदा सात्त्विक व सारप्रद अन्नों का ही सेवन करें।

इन अन्नों को भी एकदम स्वयं न खा लें, अपितु हे **देवाः**=बल व ज्ञान की देवताओ! **अध्वरेषु**=यज्ञों में इनका विनियोग करते हुए **हव्यानि**=देने से बचे हुए अन्नों को ही (हु=दान-अदन) **वीतम्**=खाओ। यज्ञशेष अमृत है—अमृत का सेवन ही देवों को शोभा देता है।

इस प्रकार सात्त्विक व पौष्टिक अन्नों का यज्ञशेष में सेवन करते हुए पति-पत्नी **गीर्भीः**=वेदवाणियों के द्वारा **वर्धेथाम्**=वृद्धि को प्राप्त हों, वे उत्तरोत्तर अपने ज्ञान को बढ़ाएँ और यथासम्भव अपने जीवन को वेदानुकूल बनाएँ।

जीवन में नीरसता ले-आना यह वेद का अभिप्राय नहीं है। **मदन्ता**=जीवन को बड़े आनन्दपूर्वक बिताओ, परन्तु वे हमारे सारे आनन्द **इडया**=कानून=वेदवाणी के अनुसार हों। (इडा=A law, वेदवाणी)। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु की ओर से जो ज्ञान दिया गया उस ज्ञान के अनुकूल ही हम जीवन के आनन्दों का उपयोग करें।

इस प्रकार सात्त्विक अन्नों का यज्ञशेष के रूप में सेवन करते हुए—वेदज्ञान को बढ़ाते हुए—जीवन के उचित आनन्द का ही सेवन करते हुए हम किसी का घातपात नहीं करते। सभी के साथ प्रेम से चलते हुए हम 'विश्वामित्र' होते हैं और प्रभु के वास्तविक गुणगान करनेवाले 'गाथिन' बनते हैं।

भावार्थ—हम सात्त्विक व पौष्टिक अन्न के सेवन से अपने में 'ज्ञान' व 'बल' का पोषण करें।

ऋषिः—**रेणुः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'रेणु वैश्वामित्र' का जीवन

३३९. इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अपः प्रैरयत् सगरस्य बुध्नात्।
यो अक्षेणेव चक्रियौ शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम्॥ ८॥

'रीङ् गतौ' धातु से रेणु शब्द बना है—नदी की भाँति निरन्तर गतिशील बना रहनेवाला

रेणु है। क्रिया इसका स्वभाव बन गया है। यह सबका मित्र है—सभी का भला चाहनेवाला है। 'क्रियाशील रहना और सबका भला चाहना' ही मनुष्यत्व है। इस रेणु के जीवन में निम्न बातें हैं—

१. यह **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **अ-निशित-सर्गाः**=जो कभी क्षीणः=नष्ट नहीं होतीं, उन **गिरः**=वाणियों को सदा **प्रैरयत्**=मुख से उच्चारण करता है। सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते प्रभु का नाम इसे विस्मृत नहीं होता।

२. यह **सगरस्य**=हृदयान्तरिक्ष के **बुध्नात्**=मूल से **अपः**=कर्मों को **प्रैरयत्**=प्रेरित करता है, अर्थात् यह कोई काम अधूरे मन से नहीं करता।

३. **यः**=यह **अक्षेण इव**=जैसे धुरे (Axel) से **चक्रियौ**=दोनों चक्रों को, इसी प्रकार **शचीभिः**=शक्तियों व प्रज्ञानों के द्वारा **पृथिवीम्**=शरीर को **उत्**=और **द्याम्**=मस्तिष्क (मूर्ध्नो द्यौः) को **विष्वक्**=दोनों ओर (वि) अत्यन्त (सु) पूजितरूप से (अञ्च पूजायाम्) **तस्तम्भ**=धारण करता है। यह रेणु शरीर व मस्तिष्क दोनों का ही समानरूप से ध्यान करता है। यह शरीर रथ है तो अन्नमय और विज्ञानमयकोश दोनों ही तो उसके चक्र हैं। एक चक्र ठीक होने से कैसे काम चल सकता है?

भावार्थ—हम भी सदा प्रभु के नाम का जप करें, मन से कार्य करें, शरीर व मस्तिष्क दोनों का ध्यान करें।

इस मन्त्र का आधिदैविक अर्थ यह है—उस प्रभु के लिए निरन्तर न ढीली पड़ी भक्ति से गायन करो जोकि अन्तरिक्षलोक से जलों को प्रेरित करता है और जो अक्ष से चक्रों की भाँति पृथिवी व द्युलोक का धारण करता है।

आधिभौतिक अर्थ—उस राजा के लिए सदा प्रशंसात्मक वाणियों को बोलो जो प्रजाओं को मन से उत्तम मार्ग पर प्रेरित करता है और लोगों की शारीरिक व आर्थिक उन्नति की ओर उतना ही ध्यान देता है जितना कि उन्हें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराने का।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

एक आदर्श घर (पारिवारिक जीवन)

३४०. आ त्वा सखायः सख्या ववृत्युस्तिरः पुरू चिदर्णवां जगम्याः।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अस्मिन् क्षये प्रतरां दीद्यानः॥ ९॥

आदर्श घर वह है जिसमें सब व्यक्ति १. **त्वा सखायः**=प्रभुरूप मित्रवाले होते हुए **सख्या**=परस्पर मित्ररूप से **आ**=सर्वथा **ववृत्युः**=बर्ताव करते हैं। परस्पर मित्रभाव रखने के लिए आवश्यक यह है कि सब उस प्रभु को मित्र बनाकर चलते हैं तो आपस में भी मित्रता से चल पाते हैं—आपस का माधुर्य बना रहता है। २. इस घर में रहकर गृहस्थ **तिरः**=प्राप्त, परन्तु **पुरुचित्**=निश्चितरूप से पालक व पूरक **अर्णवान्**=कामों को (कामो हि समुद्रः) **जगम्याः**=प्राप्त हो। गृहस्थ में यद्यपि **'कामात्मता न प्रशस्ता'**=कामात्मता ठीक नहीं है तो **न चैवेहास्त्यकामता**=बिल्कुल काम-शून्यता भी सम्भव नहीं। औरों के भोगों को देखकर जलना तो ठीक नहीं, परन्तु प्राप्त (तिरः) भोगों के सेवन में पाप भी नहीं बशर्ते कि वे

नाशक न होकर **पुरूचित्**=पालक व पूरक हों। ३. इस गृहस्थ में **वेधाः**=मेधावी प्रजापालक गृहस्थ **पितुः**=पिता के **न पातम्**=वंश को उच्छिन्न न करनेवाली सन्तान को **आदधीत**=धारण करें। **'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'**=इस वेद के आदेश के अनुसार एक सद्गृहस्थ प्रजा के द्वारा अपने को अमर बनाने का प्रयत्न करे। ४. और **अस्मिन्**=इस **क्षये**=घर में **प्रतराम्**=खूब **दीद्यानः**=चमकने का प्रयत्न करे—अपने मस्तिष्क को ज्ञान की ज्योति से उज्ज्वल बनाए।

'वामदेव गोतम' का कर्त्तव्य है कि वह अपने घर में उल्लिखित चार बातों को अवश्य उत्पन्न करे। इनके बिना घर कभी 'उत्तम घर' नहीं बन सकता।

भावार्थ—हम प्रभु मित्रता में परस्पर मित्रता से चलें, संसार के उचित आनन्दों को प्राप्त करें और ज्ञान से अपने को उज्ज्वल बनाएँ।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सामाजिक जीवन

३४१. को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्नेषामप्सुवाहो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात्॥ १०॥

कोई भी व्यक्ति अपने को केवल अपने परिवार में ही सीमित करके नहीं रख सकता। उसे समाज से सम्बद्ध होना ही पड़ता है। समाज में आकर इस वामदेव गोतम का जीवन निम्न प्रकार का होता है—१. **कः**=प्रजापति **अद्य**=आज **धुरि**=अग्रभाग में **युंक्ते**=इसे जोतता है। वामदेव ने प्रभु को अपना सखा बनाया है (त्वा सखायः) और उस प्रभु ने प्रेरणा देकर इसे कार्यक्षेत्र में अग्रभाग में नियत किया है। सामाजिक हित के कार्य करनेवालों का यह मुखिया बनता है। २. **ऋतस्य गाः**=(**युंक्ते**)=प्रभु इसके साथ सत्य की वाणियों को जोड़ते हैं। यह कभी असत्य की ओर झुकाववाला नहीं होता। यह प्रिय सत्य का ही उच्चारण करता है। ३. **शिमीवतः**='शिमी' कर्म का नाम है—उन कर्मों का जिनमें कि मनुष्य व्यग्र न होकर शान्त रह पाता है। ये अव्यग्रता से महान्-से-महान् कार्य को करनेवाले होते हैं, ४. **भामिनः**=ये तेजस्वी होते हैं, ५. **दुर् हृणायून्**=ये बुराई के लिए लज्जा अनुभव करते हैं। (हृणीय—feal ashamed at) ६. **एषाम्**=प्रभु इनके **आसन्**=मुख में **युंक्ते**=उन वाणियों को जोड़ते हैं जो **अप्सुवाहः**=उन्हें कर्मों में ले-चलनेवाली हैं और **मयोभून्**=कल्याण को जन्म देनेवाली हैं, अर्थात् इनकी वाणी किसी का हृदय दुखाने के लिए तो कभी उच्चरित होती ही नहीं; और यह क्रियारूप में परिणत होती है।

इस प्रकार के जीवनवाले व्यक्ति ही समाज का हित कर सकते हैं, **यः**=जो **एषाम्**=इन व्यक्तियों की **भृत्याम्**=दासता को **ऋणधत्**=प्राप्त होता है, **सः जीवात्**=वही जीये, अर्थात् जीवन तो उसी व्यक्ति का सफल है जो इस प्रकार के लोगों का दास बनता है—ऐसे ही लोगों का अनुगामी बनता है।

भावार्थ—हमारा सामाजिक जीवन निम्न प्रकार का हो—हम सदा कार्यों में लगे रहें, सत्यवादी हों—अव्यग्र, तेजस्वी व बुराई से शर्म करनेवाले हों। हमारी वाणी कल्याणकर व क्रिया में परिणत होनेवाली हो।

चतुर्थ प्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सभी तेरा गुणगान करते हैं

३४२. गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥ १॥

वेद चार हैं, परन्तु उनमें मन्त्र तीन ही प्रकार के हैं। वे या तो ऋङ्मन्त्र हैं या यजुः या फिर साम। इसीलिए 'त्रयीविद्या' शब्द प्रचलित है। 'ऋच् स्तुतौ' धातु से बना ऋच् शब्द उन मन्त्रों का वाचक है जो पदार्थों के गुणधर्मों का वर्णन करते हैं—यही विज्ञान है। इसीलिए 'ऋग्वेद' विज्ञानवेद=A Book of Natural Sciences है। यजुर्मन्त्र यज्ञों व मानव-कर्त्तव्यों का वर्णन करनेवाले हैं। यजुर्वेद कर्मवेद—A Book on Social Sciences है। साममन्त्र उपासनामन्त्र हैं—इनमें जीव को किस प्रकार प्रभु का स्मरण करना है, इस बात का प्रतिपादन है। इन वेदों को समझनेवाले व्यक्तियों में सामन्त्रों से प्रभु का गायन करनेवाले 'गायत्र' हैं--क्योंकि ये मन्त्र गान करनेवालों का त्राण करते हैं। प्रभु का स्मरण इन्हें वासनाओं के आक्रमण से बचाए रखता है—इस तत्त्व को समझते हुए **गायत्रिणः**=साममन्त्रों से प्रभु-गुणगान के द्वारा अपनी रक्षा करनेवाले ये व्यक्ति **त्वा**=हे प्रभो! आपको **गायन्ति**=गाते हैं। **अर्किणः**=ऋचाओंवाले वैज्ञानिक भी, यह अनुभव करते हुए कि अन्त में सूर्यादि में उस-उस शक्ति का आधान करनेवाले आप ही हैं। **अर्कम्**=अर्चना के योग्य आपकी **अर्चन्ति**=उपासना करते हैं। विज्ञान का गम्भीर अध्ययन आपके प्रति उनकी अटूट श्रद्धा का कारण बनता है। **ब्रह्माणः**=यज्ञों के करनेवाले ब्रह्मा आदि ऋत्विज (होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा) भी **शतक्रतो**=हे सैकड़ों यज्ञ करनेवाले प्रभो! **त्वा**=आपको ही **उद्येमिरे**=उन्नत करते हैं **इव**=जैसेकि अपरिमित **वंशम्**=ध्वजदण्ड को, अर्थात् ये याज्ञिक भी पग-पग पर आपकी महिमा का अनुभव करते हैं। किस प्रकार अग्नि की शिखा सदा ऊपर ही जाती है? अग्नि में हव्यद्रव्यों को किस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों में विभक्त करने की शक्ति है? अग्नि में डाली हुई आहुति किस प्रकार सूर्य तक पहुँचती है? इस प्रकार ये याज्ञिक यज्ञों में भी आपकी महिमा का अनुभव करते हैं। इनके अनुभव का सार यही है कि आप सर्वोपरि हैं।

क्या कर्मकाण्डी, क्या ज्ञानकाण्डी और क्या उपासनाकाण्डी सभी प्रभु के गुणगान में लगे हैं। प्रभु का यह गुणगान ही इन्हें सदा मधुर इच्छाओंवाला='मधुच्छन्दाः' बनाये रखता है। यह प्रभु का उपासक किसी का वैरी न होकर 'वैश्वामित्रः'=सभी का स्नेही होता है।

भावार्थ—हम 'कर्म, ज्ञान व उपासना' किसी भी क्षेत्र में विचरते हुए उस प्रभु को न भूलें।

ऋषिः—**जेता माधुच्छन्दसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

इतना ही जानना पर्याप्त है

३४३. इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम्॥ २॥

विश्वाः गिरः=सब वाणियाँ चाहे वे ऋग्रूप, यजुरूप या सामरूप हैं **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अवीवृधन्**=बढ़ाती हैं। सभी उसकी महिमा का वर्णन करती हैं, परन्तु क्या वेदवाणियाँ उस प्रभु का पूर्ण वर्णन कर देती हैं? नहीं। वे प्रभु तो 'अनाद्यनन्तम्' अनादि व अनन्त हैं। वे तो **समुद्रव्यचसम्**=समुद्र के समान विस्तारवाले हैं। जैसे समुद्र-मध्यस्थ पुरुष को समुद्र का ओर व छोर दिखाई नहीं देता, इसी प्रकार प्रभु के गुणधर्मों का अन्त नहीं है। वे किस रूप में इस ब्रह्माण्ड का निर्माण, धारण व प्रलय करते हैं? कितने दिन में करते हैं? इत्यादि बातें हमारे लिए अज्ञेय हैं—उनका जानना अत्यावश्यक भी नहीं है। किस प्रकार कौन-से कर्म का क्या फल मिल रहा है? यह जानना गहन व अनावश्यक है। इतना ही जानना पर्याप्त है कि वे प्रभु **रथीतमं रथीनाम्**=जो रथी जीव हैं उनके भी रथीतम हैं—सर्वोत्तम सारथि हैं। यदि हम अपने इस रथ की बागडोर प्रभु-हाथों में सौंप देंगे तो इसके कहीं टकराने का व नष्ट-भ्रष्ट होने का खतरा न होगा। २. वे प्रभु **वाजानां पतिम्**=गति (वज गतौ), शक्ति (वाज=Strength), त्याग (वाज=Sacrifice), व ज्ञान (वज=गति=ज्ञान) के पति हैं। मैं प्रभु से सम्पर्क बनाता हूँ तो वे प्रभु मेरे अन्नमयकोश को गतिमय बनाये रखते हैं, मेरी सब इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनी रहती हैं, मेरा मानस त्याग की भावना से पूर्ण होता है और मेरी बुद्धि ज्ञान से दीप्त हो उठती है और फिर प्रभु ३. **सत्पतिम्**=सयनों के पति हैं। में सयन बनूँ तो प्रभु की रक्षा का पात्र बनूँगा ही।

संसार में अज्ञेय=Unknowable बहुत है, ज्ञेय=Knowable बहुत कम। हम इस रहस्यमय संसार को थोड़ा ही जान सकते हैं—प्रभु को तो बहुत ही थोड़ा, परन्तु उल्लिखित तीन बातें जान लेना ही बड़ा पर्याप्त है। हमारे चरित्रों के निर्माण में इन बातों का ही सर्वप्रधान स्थान है, हम प्रभु को इस रूप में समझते हुए अपने रथ की बागडोर प्रभु को ही सौंप दें, तो क्या हम संसार में विजयी न होंगे? अवश्य होंगे। इस विजय के कारण ही इस मन्त्र का ऋषि 'जेता' कहलाया है। यह माधुच्छन्दस् है—अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाला है—ऐसा हो भी क्यों न? इसकी तो सब इच्छाएँ प्रभु-प्रेरणा से प्रेरित हो रही हैं।

भावार्थ—हम प्रभुरूप सारथिवाले हों, सयन बनकर प्रभु की रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—**राहूगणो गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ऋत के सदन में

३४४. इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम्।
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन् धारा ऋतस्य सादने॥ ३॥

हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **इमं सुतम्**=(शुक्रम्) इस उत्पन्न वीर्य को **पिब**=तू अपने अन्दर पान करने का प्रयत्न कर। यह १. **ज्येष्ठम्**=प्रशस्यतम वस्तु है—इससे उत्तम वस्तु संसार में और कोई नहीं। यह तेरे जीवन को भी प्रशस्यतम बना देगी। २. **अमर्त्यम्**=इससे तू अमरता को प्राप्त करेगा **'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'**=इन सोमबिन्दुओं के धारण से ही जीवन धारित होता है और इनके नाश से ही मृत्यु हो जाती है। ३. **मदम्**=इनसे जीवन में (मदी हर्षे) उल्लास होता है। जीवन सदा हर्षमय बना रहता है।

प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **शुक्रस्य**=इस पवित्र, दीप्त व स्फूर्तिमय सोम की **धाराः**=धारण

शक्तियाँ **ऋतस्य सादने**=ऋत के स्थान में **अभ्यक्षरन्**=टपका दें, पहुँचा दें। यह सुरक्षित सोम हमारे योगमार्ग=योग-भूमिकाओं में आगे बढ़ने का भी साधन बनता है। योग-भूमिकाओं में आगे और आगे बढ़ते हुए हम सप्तम भूमिका में पहुँचते हैं, जहाँ **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'** (योगदर्शन) सत्य का पोषण करनेवाला ज्ञान प्राप्त होता है, जिसे 'भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्' इस क्रम में सत्यलोक यह नाम दिया है। यहाँ पहुँचकर मनुष्य सर्वज्ञकल्प हो जाता है।

सोमरक्षा से हम सब मलों से ऊपर उठकर पूर्ण पवित्र बन जाते हैं। मलों को छोड़नेवाला 'राहू' (रह त्यागे) है, उनमें भी मूर्धन्य गिना जानेवाला 'राहूगण' है। निर्मल होकर अत्यन्त पवित्र इन्द्रियोंवाला होने के कारण यह 'गोतम' है।

भावार्थ—सोमरक्षा के द्वारा हम ऐहिक जीवन को पवित्र, दीर्घ व उल्लासमय बनाएँ और पारमार्थिक दृष्टिकोण से सत्यलोक में पहुँचनेवाले बनें।

ऋषिः—**भौमोऽत्रिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वह धन जो मेरे पास नहीं?

३४५. यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति त्वादातमद्रिवः।
राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर॥ ४॥

हे **इन्द्र**=सब शक्तियों के स्वामिन्! **चित्र**=(चित्+र) सब ज्ञानोंवाले व ज्ञानों के देनेवाले प्रभो! **यत्**=जो **राधः**=धन **इह**=यहाँ इस जीवन में **मे**=मेरा **न अस्ति**=नहीं है और जो धन हे **अद्रिवः**=न विदारण के योग्य (अ+दृ) तथा आदरणीय (आदृ) प्रभो! **त्वा आदातम्**=आपसे सर्वथा ग्रहण किया गया है **तत् राधः**=उस सिद्धि (राध्=सिद्धि) देनेवाले धन को **नः**=हमें हे **विदद्वसो**=वसुओं के प्राप्त करानेवाले! **उभया हस्त्या**=दोनों हाथों से **आभर**=दीजिए।

इस मन्त्र में प्रभु को 'इन्द्र व चित्र' शब्दों से स्मरण करके यह संकेत हुआ है कि वे प्रभु शक्ति के पुञ्ज व ज्ञान के समुद्र हैं। जीव ने ग़लती से भोगमार्ग (Enjoyment) को अपनाकर शक्ति को तो क्षीण कर ही लिया, ज्ञान से भी शून्य हो गया, कामना ने उसके ज्ञान पर भी पर्दा डाल दिया। चाहिए था कि वह योगमार्ग पर चलकर प्रभु से अपना मेल बनाता। चला वह भोग के मार्ग पर और परिणामतः प्रभु से दूर हो गया। जीव अभ्युदय-साधन में ही उलझा रहा, निःश्रेयस का उसे स्मरण ही न रहा। प्रेयमार्ग को उसने पसन्द किया—श्रेय उसे रुचिकर न हुआ। प्रकृति ने उसे आकृष्ट किया—प्रभु को वह उसकी चकाचौंध में देख नहीं पाया। शरीर को ही उसने 'मैं' समझा, अपना वास्तविक स्वरूप उससे ओझल ही रहा। धन ही उसके लिए सब-कुछ हो गया, धनाध्यक्ष का उसे ध्यान ही नहीं आया। स्थूल आनन्दों में उलझा हुआ वह सूक्ष्म आनन्दों को भूल गया। शरीर के लिए खाना तो आवश्यक था, परन्तु उसका शरीर नहीं अपितु मन खाने में लग गया।

अब वह प्रभु से प्रर्थना करता है कि मुझे वह धन दीजिए जो मेरे पास नहीं है। प्रभु ने भोगों को स्वीकार नहीं किया, इसी से प्रभु ज्ञान व शक्ति के पुञ्ज बने रहे।

प्रभु ने ही हमें भी इन दोनों वसुओं को प्राप्त कराना है। ये ही राधः हैं—सिद्धि के देनेवाले हैं। प्रभु एक हाथ से मुझे ज्ञान दें तो दूसरे से शक्ति, इन दोनों को अलग-अलग

करके मैं अपना कल्याण सिद्ध नहीं कर सकता। इनके समन्वय में ही मेरे सारे कष्टों की समाप्ति है, मैं ज्ञान और शक्ति का पुञ्ज बनकर त्रिविध तापों से ऊपर उठूँगा, 'अ-त्रि' होऊँगा। मैं उस दिन अपनी इस मातृभूमि का सच्चा पुत्र होऊँगा—'भौम' बनूँगा।

भावार्थ—मैं भी उस ज्ञान व शक्ति का स्वीकारनेवाला बनूँ जिन्हें प्रभु ने स्वीकार किया है।

ऋषिः—**तिरश्चीराङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

क्या करूँ कि पुकार सुनी जाए

३४६. श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति।
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि॥ ५॥

'तिरश्चीः आंगिरसः' मन्त्र का ऋषि है। तिरः अञ्चति=अपने अन्दर ही गति करता है—बाह्य विषयों में नहीं भटकता रहता। **तिरश्च्याः**=इस अन्तर्मुख यात्रा करनेवाले की **हवम्**=पुकार को **श्रुधि**=सुनिए। उस तिरश्ची की **यः**=जो हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वा**=आपको **सपर्यति**=पूजता है। वस्तुतः प्रार्थना तो उसी की सुनी जाती है जो अन्तर्मुख यात्रावाला हो। बाह्य विषयों में न रमकर जो हृदयस्थ प्रभु के समीप प्रतिदिन बैठने का प्रयत्न करता है, प्रभु का प्रिय वही बनता है।

इस तिरश्ची की प्रार्थना भी बाह्य धनों के लिए न होकर आन्तर धनों की होती है। यह कहता है कि **रायः**=धन का **पूर्धि**=हममें पूरण कीजिए, परन्तु कौन-से धन का? १. **सुवीर्यस्य**=जो उत्तम शक्तिवाला है, और २. **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है। शक्ति+ज्ञान की प्रार्थना ही सर्वोत्तम प्रार्थना है, क्योंकि इनके अभाव में हमारे हृदय संकुचित बन जाते हैं। **महाँ असि**=प्रभु महान् हैं। ज्ञान व शक्ति से सम्पन्न बनकर मैं भी महान् बनता हूँ, ज्ञान की कमी के साथ संसार में संकुचित हृदयता दिखती है। अशक्त व्यक्ति कमीनेपन (meannes) पर उतर आता है। वह छोटी-छोटी बातों को भूल नहीं पाता। शक्तिशाली का ध्यान उन तुच्छ बातों की ओर जाता ही नहीं। उदार व महान् ही धर्म है, प्रभु महान् हैं—मैं भी महान् बनने का प्रयत्न करता हूँ—और इसीलिए ज्ञान व शक्ति की याचना करता हूँ। शक्तिसम्पन्न बनकर मैं आङ्गिरस होता हूँ, तिरश्ची बनकर मैं ज्ञानी बना था। आत्मनिरीक्षण से ही सभी ज्ञान उपलभ्य हैं।

भावार्थ—ज्ञान व शक्ति का सम्पादन करके मैं महान् बनूँ।

ऋषिः—**राहूगणो गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ज्ञान व शक्ति का सम्पादन कैसे हो?

३४७. असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि।
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रजः सूर्यो न रश्मिभिः॥ ६॥

'सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि' जीव की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **ते**=तेरे लिए **सोमः**=सोम=वीर्यशक्ति **असावि**=उत्पन्न

कर दी गयी है। हे **शविष्ठ**=गतिशील, और हे **धृष्णो**=कामादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले **आगहि**=तू उस सोम को प्राप्त कर। सोम की रक्षा के लिए दो ही साधन हैं। एक तो—**शविष्ठ**=सदा कर्म में लगे रहना, खूब क्रियाशील होना। यह क्रियाशीलता मनुष्य को वासनाओं से बचाने में सर्वमहान् साधन है। दूसरा **धृष्णो**=हम वासनाओं का धर्षण करनेवाले बनें। हम अपने वातावरण को ऐसा बनाएँ कि वह वासनाओं को कुचलनेवाला हो। हमारा भोजन, अध्ययन और सङ्ग सभी कुछ सात्त्विक हो। इस प्रकार हम अपने सोम की रक्षा करेंगे तो प्रभु कहते हैं कि १. **त्वा**=तुझे **इन्द्रियम्**=शक्ति **आपृणक्तु**=सर्वथा प्राप्त हो—शक्ति का तेरे साथ सम्पर्क हो तथा तेरा २. **रजः**=यह हृदयान्तरिक्ष **रश्मिभिः**=ज्ञान की किरणों से **आपृणक्तु**=सम्पृक्त हो—उसी प्रकार **न**=जैसे **सूर्यः**=सूर्य प्रकाश से युक्त है। संक्षेप में—सोम की रक्षा से तू शक्तिशाली हो और तेरा हृदय ज्ञान के प्रकाश से आभासित हो। 'रश्मि' शब्द प्रकाश की किरण के अतिरिक्त लगाम का भी वाचक है, अतः जैसे सूर्य ने अपनी रश्मियों से लोकों को अपनी ओर आकृष्ट किया हुआ है, उसी प्रकार हमारा आत्मा मनरूप लगाम के द्वारा सब इन्द्रियों को आकृष्ट किये रहे और हम आत्मवश्य इन्द्रियों से ही संसार में विचरण करें। इस प्रकार विषयों में विचरण को त्यागनेवाले हम 'राहूगण' बनें (रह त्यागे), हमारी इन्द्रियाँ विषय-पंक में न फँसें और हम 'गोतम' प्रशस्त इन्द्रियोंवाले हों।

भावार्थ—निरन्तर क्रियाशील बनकर व वासनाओं को नष्ट-भ्रष्ट करके हम सोम की रक्षा करनेवाले बनें।

ऋषिः—**काण्वो नीपातिथिः**।। देवता—**इन्द्रः**।। छन्दः—अनुष्टुप्।। स्वरः—**गान्धारः**।।

प्रसाद नकि प्रासाद

३४८. एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम्।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ ७ ॥

हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **हरिभिः**=अपनी इन्द्रियों के द्वारा मेधावी पुरुष की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **उपायाहि**=समीपता से प्राप्त हो। तू मेधावी पुरुष की स्तुति करना, अभिप्राय यह है कि तू प्रासादों=महलों की प्रार्थना न करके मेधा की प्राप्ति के लिए प्रार्थना कर। मेधावी पुरुष की प्रार्थना करता हुआ तू **अमुष्य दिवः**=उस प्रकाशमय **शासतः**=प्रकृति का शासन करते हुए और जीव का भी हृदयस्थरूप से अनुशासन करते हुए प्रभु के **दिवम्**=प्रकाशमयलोक को **यय**=प्राप्त हो। **दिवावसो**=प्राप्त तू तभी होगा जब तू ज्ञान को ही अपना धन समझेगा।

जीव जब मेधावी बनकर प्राकृतिक वस्तुओं की प्रार्थना न करके ज्ञान की रुचिवाला होता है तब वह प्रभु को प्राप्त करता है। वह इस जीवन-यात्रा में आगे बढ़ता हुआ एक दिन अचिन्त्य, अप्रमेय, नीप (Deep) **'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्'** उस गुह्य प्रभु का अतिथि बनता है। यह नीपातिथि ही इस मन्त्र का ऋषि है। यही काण्व=मेधावी है।

भावार्थ—मैं प्रासादों की याचना ही न करता रहूँ, प्रत्युत प्रभु के प्रसाद को पाने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—तिरश्चीराङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

(धर्मं जिज्ञासमानानां) प्रमाणं परमं श्रुतिः

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
३४९. आ त्वा गिरो रथीरिवास्थुः सुतेषु गिर्वणः।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
अभि त्वा समनूषत गावो वत्सं न धेनवः॥ ८॥

अपने अन्दर गति करनेवाला ऋषि तिरश्ची है। यह अन्तःस्थित प्रभु का दर्शन करता है। प्रभु इससे कहते हैं कि हे **गिर्वणः**=वेदवाणियों का सेवन करनेवाले तिरश्ची! **त्वा**=तुझे **गिरः**=ये वेदवाणियाँ **सुतेषु**=उस-उस उत्पन्न धर्म-संकट के समय **रथीः इव**=सारथियों की भाँति, मार्गदर्शकों के समान **आ अस्थुः**=समन्तात् प्राप्त हों। वे तेरी जीवन-यात्रा में तेरे चारों ओर तेरी समस्याओं का समाधान करनेवाली हों। **गावः**=ये वेदवाणियाँ (गमयन्ति अर्थान्) **त्वा**=तुझे **अभि**=दोनों ओर—अन्दर व बाहर पाठमात्रस्वरूप में और विशदार्थरूप में **सम्**=अच्छी प्रकार **अनूषत**=प्राप्त हों (नु=to praise)। ये तुझे उसी प्रकार प्रशंसित बना दें **न**=जैसे **धेनवः**=नवसूतिका गौवें **वत्सम्**=बछड़े को। नवसूतिका गौवें चाट-चूटकर बछड़े की बाह्य त्वचा को शुद्ध कर डालती हैं और पौष्टिक दूध पिलाकर उसे पुष्ट बनाती हैं। इसी प्रकार ये वेदवाणियाँ पाठमात्र से उच्चारण की जाकर भी हमें असद् व्यसनों से बचाकर आध्यात्मिक दृष्टि से नीरोग बनाती हैं और अर्थज्ञान हो जाने पर तो हमारे मस्तिष्क व मन पर एक विशेष प्रभाव डालती हुई हमारे जीवनों को ऊँचा बनाती हैं।

जब कभी हमारे सामने कोई धर्मसंकट उपस्थित होता है तब ये वेदवाणियाँ हमें उस उलझन से निकलने में सहायक होती हैं। 'धर्म क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर यही है कि 'जिसकी वेद प्रेरणा दे रहा है।' धर्मसंकट की स्थिति सबके जीवनों में उपस्थित होती है। यदि हम नियमितरूप से वेदवाणियों का सेवन करते हैं तो ये वाणियाँ हमारी पथप्रदर्शक बनती हैं। उनके अनुसार मार्ग का आक्रमण करके हम भोगमार्ग से बचे रहते हैं, परिणामतः रोगों से भी बचे रहते हैं, हमारी इन्द्रिय-शक्तियाँ जीर्ण नहीं होतीं और हम 'आङ्गिरस' बने रहते हैं।

भावार्थ—धर्म-ज्ञान के लिए हम प्रभु-वाणी को परम प्रमाण माननेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रो गाथिनः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

क्या मैं प्रभुभक्त हूँ?

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
३५०. एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान् ममत्तु॥ ९॥

सबके साथ स्नेह करनेवाले विश्वामित्र कहते हैं कि **एत उ**=निश्चय से चारों ओर से आओ ही। जहाँ कहीं भी होओ, इस प्रभु-प्रार्थना के समय एक स्थान पर एकत्र हो जाओ। **नु**=अब **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का हम **स्तवाम**=स्तवन करें, जो **शुद्धम्**=पूर्ण शुद्ध हैं—किसी भी प्रकार की मलिनता का जिनसे सम्पर्क नहीं है।

प्रभु के स्तवन का प्रकार क्या है?

१. **शुद्धेन साम्ना**=शुद्ध शान्ति की मनोवृत्ति से। हमारे मनों में किसी के प्रति द्वेष की कोई भावना न हो। हमारे हृदय शुद्ध हों और शान्ति की मनोवृत्ति से परिपूर्ण हों। २. **शुद्धैः उक्थैः**=शुद्ध वचनों से **वावृध्वांसम्**=बढ़नेवाले प्रभु का हम स्तवन करें। हमारे शुद्ध वचनों से प्रभु की महिमा बढ़ती है। ऋत और सत्य बोलकर ही तो हम अपने जीवनों से ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। (ब्रह्म वदिष्यामि, ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि)। प्रभु सत्य हैं और हमारे छलशून्य सत्य वचनों से ही ब्रह्म का प्रतिपादन होता है। ३. प्रभु के उपासक को चाहिए कि **शुद्धैः**=शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन सब उपकरणों को शुद्ध बनाकर **आशीर्वान्**=सबके लिए शुभ इच्छाओंवाला होता हुआ (with blessings for all) **ममत्तु**=सदा प्रसन्न मनवाला होकर विचरे। उसके चेहरे पर मानसप्रसाद की झलक हो।

संक्षेप में, प्रभु का गुणगान करनेवाले 'गाथिन' हैं—१. उसका मन सबके प्रति शान्तिवाला होता है, २. उसके वचन छलशून्य, ऋजु व सत्य होते हैं, और ३. उसके चेहरे पर प्रसाद की झलक होती है—उसका जीवन उल्लासमय होता है।

भावार्थ—निर्द्वेष मन, सत्यवाणी व प्रसन्नवदन ही प्रभुभक्त के लक्षण हैं।

ऋषिः—**तिरश्चीराङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

रयि और प्राण

३५१. यो रयिं वो रयिन्तमो यो द्युम्नैर्द्युम्नवत्तमः।
सोमः सुतः स इन्द्र तेऽस्ति स्वधापते मदः॥ १०॥

आत्मनिरीक्षण करनेवाला तिरश्ची यह अनुभव करता है कि सोम की रक्षा होने पर उसका जीवन उल्लासमय होता है और सोम-रक्षा के अभाव में उसे निराशा व उदासी प्रतीत होती है। इस शरीर को व्याधिशून्य व मन को आधिशून्य बनाने का एक ही उपाय है कि हम शरीर की रयि व प्राण दोनों शक्तियों को सुरक्षित करें। तिरश्ची ऋषि कहते हैं कि **वः**=तुम्हारा **यः**=जो **रयिं रयिन्तमः**=रयियों के रयि, अर्थात् सर्वोत्तम रयि हैं और **यः**=जो तुम्हारा **द्युम्नैः**=(प्राणो वा आदित्यः) आदित्य के समान ज्योतियों से **द्युम्नवत्तमः**=सर्वाधिक चमकता हुआ प्राण है, **सः**=वह वस्तुतः **सुतः सोमः**=उत्पन्न हुआ यह सोम ही है। रयि अपान का वाचक है। स्थूल दृष्टि से अपान दोषों के दूर करने की शक्ति है और प्राण बल का संचार करनेवाली शक्ति है। इन दोनों प्राणापानों का मूल 'सोम'=वीर्यशक्ति है। प्रभु ने आहार से रस आदि के क्रम द्वारा इसके उत्पादन की व्यवस्था की है। हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **सः**=वह सोम **ते**=तेरे लिए, अर्थात् तेरी उन्नति के लिए **अस्ति**=है।

इस सोम के धारण से तू स्व=अपना धाः=धारण करनेवाला बनता है। जो भी व्यक्ति इस प्रकार अपना धारण करते हैं वे सब स्वधा हैं। इनमें भी धुरन्धर बननेवाले हे **स्वधापते**=स्वधारकों के मुखिया जीव! **मदः**=तू हर्षयुक्त हो, तेरा जीवन उल्लासमय हो। इस स्वधापति ने सोम रक्षा से अपने जीवन को शक्तिशाली बनाया है, इसी से यह 'आङ्गिरस' कहलाया है। अन्तर्मुख यात्रावाला व्यक्ति 'आङ्गिरस' होना ही चाहिए। बहिर्मुख यात्रा में ही भोग-विलास में फँसकर मनुष्य जीर्णशक्ति होता है, अन्तर्मुख यात्रा में नहीं।

भावार्थ—हम स्वधापति बनें और अपने जीवन को उल्लासमय बनाएँ।

द्वितिया दशतिः

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भारद्वाजः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

पीछे कदम न रखनेवाला

३५२. प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर। अरङ्गमाय जग्मयेऽपश्चादध्वने नरः॥ १॥

अस्मै=इस **प्रति**=प्रत्येक व्यक्ति को **नरः**=(ना का द्वितीया बहुवचन) आगे ले-चलने की भावनाओं को **भर**=पूर्ण कीजिए। किसके लिए—

१. **पिपीषते**=जो रयि और प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए सोमपान करना चाहता है। इस सोमपान से उसमें रयि=चन्द्रमा व प्राण=आदित्य तत्त्वों का मेल होता है। यह व्यक्ति आदित्य के समान अन्धकार को दूर करता है, परन्तु चन्द्र की भाँति आह्लादमय बना रहता है।

२. **विश्वानि**=हमारे न चाहते हुए भी अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाली काम, क्रोध व लोभ आदि भावनाओं को **विदुषे**=अच्छी प्रकार समझनेवाले के लिए। लोकहित में लगे हुए व्यक्ति को इन भावनाओं को समझना ही चाहिए। हम शत्रु को समझेंगे ही नहीं तो उसे जीतेंगे कैसे?

३. **अरङ्गमाय**=(अरं=वारण) यह लोगों के दुःखों व अज्ञानों को दूर करने के लिए गतिशील होता है तथा अपने इस कार्य में ४. **जग्मये**=निरन्तर क्रियाशील बना रहता है। कार्य के गौरव व आयुष्य की सीमितता को समझता हुआ यह आलसी हो ही कैसे सकता है? ५. **अपश्चादध्वने**=यह अपने जीवन में पीछे कदम नहीं रखता। जब लोकहित के मार्ग को अपनाता है तब काम, क्रोध व लोभ से वह अपने मार्ग से विरत नहीं होता। लोगों के अपशब्द, लोगों के पत्थर व विषदान भी उसे अपने कार्य से उपरत नहीं कर पाते।

शरीर से अपने को शक्ति-(वाज)-सम्पन्न बनाता है, इन्द्रियों को क्रियाशील (वाज=क्रिया) मन को त्याग की भावना से युक्त (वाज=sacrifice) और बुद्धि को ज्ञान परिपूर्ण (वाज=ज्ञान) बनाता हुआ यह 'भारद्वाज' निरन्तर लोकहित के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है। यह ज्ञान पुञ्ज 'बार्हस्पत्य' बनकर औरों के अज्ञान को भी दूर करता है।

भावार्थ—हम 'बार्हस्पत्य भारद्वाज' बनकर औरों को भी आगे ले-चलनेवाले बनें। इस कार्य में सफलता के लिए हम अपने में चन्द्र व सूर्य—माधुर्य और प्रकाश—दोनों तत्त्वों का समन्वय करें।

***नोट**—नेता की तो यही भावना होनी चाहिए कि—*

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

ऋषिः—वामदेवः शाकपूतो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

क्या उपादेय है, क्या हेय है

३५३. आ नो वयो वयःशयं महान्तं गह्वरेष्ठाम्।
महान्तं पूर्विनेष्ठामुग्रं वचो अपावधीः॥ २॥

हे प्रभो! **नः**=हमें **आ**=सर्वथा **अवधीः**=(हन्=प्राप्त करना) प्राप्त कराइए—क्या-क्या?

१. **वयः**–(क) यज्ञिय भोजन=Sacrificial food। सात्त्विक भोजन जीवन–निर्माण का मूल है, (ख) सात्त्विक शक्ति Energy, strength=सात्त्विक भोजन से हमें उत्तम शक्ति प्राप्त हो, (ग) soundnes of constitution=स्वस्थ शरीर। संक्षेप में सबसे प्रथम प्राप्य वस्तु यह है कि हम सात्त्विक भोजन के द्वारा शक्ति प्राप्त करके स्वस्थ शरीरवाले बनें।

वयःशयम्–(शय=couch=बैठने की जगह)–हमें वे वस्तुएँ प्राप्त हों जिनका कि यह स्वस्थ शरीर शय=आधार है। प्रभु ने यह शरीर देवताओं के निवास के लिए बनाया है। देवताओं ने भी इसे पसन्द किया '**अयं नो बत सुकृतेति**' और सारे देवता इसमें निवास करने लगे, '**सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते**'। सूर्य आँखों में, दिशाएँ कानों में, अग्नि मुख में—इसी प्रकार भिन्न–भिन्न स्थानों में देव रहने लगे। हमें इन देवों को प्राप्त कराइए। हमारी सब इन्द्रियाँ ठीक हों।

यद्यपि मन व बुद्धि भी इन देवों के अन्दर समाविष्ट हैं तो भी विशेषता प्रदर्शन के लिए '**ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायातः**' इस न्याय से मन और बुद्धि का अलग उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **३. महान्तं गह्वरेष्ठाम्**=हृदयरूप गुहा में ठहरनेवाले (हृत्प्रतिष्ठम् महान्तम्)=मन को (महान् ही मन है, मन महान् होना ही चाहिऐ) प्राप्त कराइए। हमारा मन हृत्प्रतिष्ठ=श्रद्धरूपी मूलवाला और महान् हो।

४. **महान्तं पूर्विनेष्ठाम्**=पूर्विणे=पुराणतत्त्व आत्मा के लिए इस शरीररूप रथ पर स्थित होनेवाले बुद्धितत्त्व को हमें प्राप्त कराइए। आत्मा रथी है—उसका सारथि बुद्धि है। समष्टि में जो महान् तत्त्व है, वही व्यष्टि में बुद्धि है। इस प्रकार आत्मा की उन्नति के साधनभूत बुद्धि की यहाँ प्रार्थना है।

चार वस्तुएँ उपादेयरूप से कही गयी हैं—स्वस्थ शरीर, सब दिव्य शक्तियाँ—उत्तम इन्द्रियाँ, महान् मन और आत्मा की सारथिभूत बुद्धि। इन चार वस्तुओं को उपादेयरूप से कहकर हेय वस्तु का संकेत इन शब्दों में करते हैं कि **नः**=हमसे **उग्रं वचः**=तेज शब्दों को, कटु वाक्यों को **अपअवधीः**=दूर कीजिए। हम कभी कड़वी वाणी न बोलें।

इन सब उपादेय वस्तुओं की प्राप्ति व हेय वस्तु का त्याग इसी बात पर निर्भर करता है कि हम सात्त्विक भोजन (वय) को अपनाएँ। इसे अपनानेवाला व्यक्ति 'शाकपूत'=शक्ति देनेवाले वानस्पतिक भोजनों से अपने को पवित्र करनेवाला ही इस मन्त्र का ऋषि है। यह दिव्य गुणोंवाला तो बनता ही है, अतः 'वामदेव' होता है।

भावार्थ–हम सात्त्विक भोजन का सेवन कर सात्त्विक वाणी का ही उच्चारण करें।

ऋषिः–**प्रियमेध आङ्गिरसः**।। देवता–**इन्द्रः**।। छन्दः–अनुष्टुप्।। स्वरः–**गान्धारः**।।

वह महान् रथ

३५४. आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्रं शविष्ठ सत्पतिम्।। ३ ।।

इस मन्त्र का ऋषि 'प्रियमेध' है, जिसे मेधा=ज्ञान प्रिय है। यह प्रियमेध कहता है कि हे प्रभो! **त्वा**=आपको **रथं वर्तयामसि**=अपनी जीवन–यात्रा के रथ के रूप में वर्तते हैं। मैं अपनी जीवन–यात्रा का आधार प्रकृति को न बनाकर प्रभु को बनाता हूँ। ऐसा मैं इसलिए

करता हूँ कि–

१. **यथोतये**=मैं अपनी यथायोग्य रक्षा कर पाता हूँ। प्रभुमूलक जीवन बनाने पर मेरा खान–पान न चले, ऐसी बात कभी नहीं होती। प्रभुभक्तों का योगक्षेम तो प्रभु चलाते ही हैं। मनुष्य वासनाओं का शिकार बनने से भी बचा रहता है और परिणामत: २. **सुम्नाय**=सुख के लिए मैं प्रभु को अपना रथ बनाता हूँ। मेरी सब इन्द्रियाँ उत्तम बनी रहतीं हैं। उनमें असुरों के आक्रमण का कोई विकार नहीं आ जाता, वाणी अशुभ शब्द नहीं बोलने लगती, कान अशुभ नहीं सुनने लगते।

हम उस प्रभु को अपने जीवन का रथ बनाते हैं जो १. **तूविकूर्मिम्!**=महान् धारक कर्मोंवाले हैं। २. **ऋतीषहम्**=दुर्गति का पराभव करनेवाले हैं। ३. **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। ४. **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिशाली हैं और ५. **सत्पतिम्**=सयनों के पालक हैं।

ऐसे प्रभु को रथ बनाने का अभिप्राय स्पष्ट है कि हम स्वयं ऐसा बनने का प्रयत्न करते हैं। हमारे सब कर्म औरों का धारण करनेवाले होते हैं–हम दुर्गति को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। अपने काम–क्रोधादि को दूर भगाने के लिए यत्नशील होते हैं, शक्तिशाली बनते हुए सयनों के रक्षक बनते हैं।

यहाँ मन्त्र में 'सत्पतिम्' तथा 'ऋतीषहम्' शब्द विशेषत: ध्यान देने योग्य हैं। जहाँ सयनों की रक्षा का उल्लेख है, वहाँ दुर्जनों के नाश के स्थान पर 'दुर्गति' का उल्लेख है। हमने बुरे व्यक्ति को नहीं मार डालना उसकी बुराई को मारने व हटाने का प्रयत्न करना है।

इस प्रकार अपने जीवन को बिताकर ही हम यात्रा को पूर्ण कर सकते हैं। यही बुद्धिमत्ता है, यही प्रियमेध बनना है। यह प्रियमेध' अलिप्त रहकर आङ्गिरस तो बनता ही है।

भावार्थ–हम अपनी जीवन–यात्रा का रथ प्रभु को बनाएँ।

ऋषि:–**प्रगाथ: काण्व:**॥ देवता–**इन्द्र:**॥ छन्द:–**अनुष्टुप्**॥ स्वर:–**गान्धार:**॥

जिसने उस रथ को अपनाया

३५५. स पूर्व्यो महोनां वेन: क्रतुभिरानजे।
यस्य द्वारा मनु: पिता देवेषु धिय आनजे॥ ४॥

स:=प्रभु को अपनी जीवन–यात्रा का रथ बनानेवाला व्यक्ति १. **महोनाम्**=तेजस्वियों में **पूर्व्य:**=प्रथम होता है। प्रभु को आधार बनानेवाला भोगमार्ग पर नहीं जाता, परिणामत: क्षीण शक्ति न होकर तेजस्वियों का मूर्धन्य बना रहता है। २. **वेन:**=मेधावी होता है। जैसों के समीप उठते–बैठते हैं वैसी ही हमारी बुद्धि बन जाती है। सर्वज्ञ के समीप बैठने से यह मेधावी क्यों नहीं बनेगा? ३. **क्रतुभि:**=यज्ञों से यह अपने जीवन को **आनजे**=अलंकृत करता है। प्रभु की समीपता में यह उत्तम कर्म ही तो करेगा? प्रभुरूप रथ में आरूढ़ होने पर इसका शरीर तेजस्वी, मन यज्ञिय भावनाओं से परिपूर्ण और मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से जगमगाता है। इस प्रकार इसके जीवन का ठीक परिपाक हो जाता है।

अपने जीवन को परिपक्व कर लेने से इसने किसी शान्त कन्दरा में नहीं पहुँच जाना, अपितु संसार में रहते हुए ही लोगों में ज्ञान का प्रकाश भरना है। यह परमेश्वर का निमित्त (Agent) बनता है **यस्य द्वारा**=जिसके द्वारा **मनु:**=ज्ञान देनेवाला सर्वज्ञ **पिता**=सबका रक्षक

परमात्मा **देवेषु धियः**=३३ देवों=प्रकृति-शक्तियों व ३४वें आत्मदेव-विषयक ज्ञान को (विषय सप्तमी) **आनजे**=लोगों को प्राप्त कराता है। एवं, स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्ति प्रभु के दूत बनकर लोगों को वह प्रकाश प्रदान करते हैं जो उन्हें प्रभु से प्राप्त होता है।

यहाँ मन्त्र में यह भी द्रष्टव्य है कि जीवन को परिपक्व करने के लिए जो मन्त्रांश है वह तीन वाक्यों से बना है और परिपाक के बाद ज्ञान फैलाने का काम एक वाक्य में कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ ये तीनों ही साधना के आश्रम हैं और संन्यास अकेला प्रचार के लिए। इस प्रकार अपने जीवन को उपयुक्त करनेवाला व्यक्ति ही वस्तुतः प्रभु का सच्चा स्तोता है, 'प्रगाथ' है। ऐसा बनना ही 'काण्व'=मेधावी बनना है।

भावार्थ—हम भी प्रभु को जीवनाधार बनाकर तेजस्वी, मेधावी व यज्ञशील बनें।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः**॥ देवता—**दधिक्रावा अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

यहाँ और वहाँ

३५६. यदी वहन्त्याशवो भ्राजमाना रथेष्वा।
पिबन्तो मदिरं मधु तत्र श्रवांसि कृण्वते॥ ५॥

रथेषु=शरीररूप रथों में जुते हुए ये घोड़े **यत्**=जब **ई**=अवश्य **आवहन्ति**=हमें सर्वथा लक्ष्य की ओर ले-चलते हैं तब वहाँ लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाकर हमारे यश का कारण बनते हैं। 'ये घोड़े कैसे हैं?' १. **आशवः**=(अश्नुते अध्वानम्) मार्ग को शीघ्रता से व्यापनेवाले हैं। कर्मेन्द्रियरूप ये घोड़े बड़े चुस्त (active) हैं। तीव्र गति से हमें लक्ष्य की ओर ले-चलते हैं। २. **भ्राजमानाः**=(भ्राजृ दीप्तौ) ये दीप्त हैं, चमकते हैं। ज्ञानेन्द्रियरूप घोड़े अपने ज्ञान-प्राप्तिरूप व्यापार को अच्छी प्रकार करते हुए इस रथ को सदा प्रकाशमय रखते हैं। दो ही प्रकार के घोड़े हैं—शीघ्रता से कार्य करनेवाले व चमकनेवाले। इन्हें ही कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ कहा जाता है। पहले शक्ति की वृद्धि का कारण बनते हैं तो दूसरे ज्ञान की वृद्धि का। वस्तुतः जीवन के निर्माण में ये ही दो मुख्य तत्त्व हैं—शक्ति और ज्ञान। ये ही 'ब्रह्म व क्षत्र' कहलाते हैं। संसार भी तो दृढ़ (शक्तिशाली) पृथिवी व उग्र=तेज़स्वी=प्रकाशमय द्युलोक में ही समाप्त हो जाता है। यहाँ रथ शब्द 'रंह' धातु से बनकर, 'वहन्ति' क्रिया तथा 'आशवः' विशेषण 'अश् व्याप्तौ' से बनकर गतिशीलता का उपदेश दे रहे हैं। ज्ञान के लिए भी तो कर्म आवश्यक है।

इस प्रकार अपनी इस जीवन-यात्रा में जब हम इस सुन्दर रथ पर बैठकर उन उत्तम घोड़ों के द्वारा आगे बढ़ते हैं तब हमें चाहिए कि **पिबन्तो मदिरं मधु**=आनन्द देनेवाले मधु का पान करते हुए आगे बढ़ें। हम जिस-जिसके सम्पर्क में आएँ उसके गुण को ग्रहण करते हुए आगे बढ़ते चलें। 'पिबन्तः' में पीते हुए यह नैरन्तर्य भावना हमें यही तो कह रही है कि रुको नहीं। मधु लेते हुए चलेंगे तो हम भी मधुमक्षिकाओं की भाँति किसी उत्तम वस्तु का निर्माण कर पाएँगे और ऐसा करनेवाले ही **तत्र**=वहाँ परलोक में प्रभु-चरणों में लौटने पर **श्रवांसि**=यशों को **कृण्वते**=करते हैं। उनकी कीर्ति होती है। परलोक में ही कीर्ति हो इस प्रकार का जीवन बनाने का लाभ नहीं, यहाँ भी यह जीवन 'मदिरम्' आनन्दमय होता है।

हमारे इन्द्रियरूप अश्व श्याव (श्यैङ् गतौ) गतिमय हों और हम 'श्यावाश्व' बनें तथा

काम-क्रोध और लोभ से ऊपर उठकर हम 'अ-त्रि' (आत्रेय) बनें।

भावार्थ—हम गुण-ग्रहण करते हुए चलें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः**।। देवता—**इन्द्रः**।। छन्दः—**अनुष्टुप्**।। स्वरः—**गान्धारः**।।

नर कौन है?

३५७. त्यमु वो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम्।
इन्द्रं विश्वासाहं नरं शचिष्ठं विश्ववेदसम्॥ ६॥

प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुममें से **त्यम् उ नरम्**=उसी मनुष्य को **गृणीषे**=स्तुत करता हूँ, आदर देता हूँ, अर्थात् वही मेरे प्रेम का पात्र होता है जो १. **शवसः पतिम्**=बल का पति है, परन्तु **अप्रहणम्**=हिंसा करनेवाला नहीं है। शक्ति होते हुए हिंसा न करना यह सयनता का महान् लक्षण है। निर्बल की विवशतावाली अहिंसा शोभा नहीं पाती। सबल होते हुए अहिंसक होना, शक्ति को रक्षा के लिए विनियुक्त करना ही नर बनना है। २. **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यवाला है, परन्तु उसे धन का मद नहीं। वह अभिमान में आकर छोटी-छोटी बातों पर तैश में नहीं आ जाता। **विश्वासाहम्**=सब बातों को सहनेवाला है। यह सदा विनीत बना रहता है, क्षमा की वृत्तिवाला होता है। 'अभ्युदये क्षमा'—यही तो महात्माओं का स्वभाव होता है कि सम्पन्नता में भी विनीत व क्षमाशील बने रहते हैं। ३. ये **विश्ववेदसम्**=सर्वज्ञ होते हैं—विश्व=सब-कुछ जाननेवाले होते हैं, परन्तु सर्वज्ञकल्प होते हुए भी ये कर्म को हेय नहीं समझते। **शचिष्ठम्**= अधिक-से-अधिक क्रियाशील होते हैं। ये क्रिया को अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल नहीं समझते। यही वस्तुतः सच्चा ज्ञानी है—'बार्हस्पत्य' है। इसी का जीवन शान्ति से युक्त होता है, अर्थात् यह अपने जीवन को शान्ति से युक्त करता है, इसी से यह 'शंयु' कहलाता है।

भावार्थ—हम शक्तिशाली हों, परन्तु शक्ति का विनियोग रक्षा में करें, सम्पन्न होकर भी विनीत बने रहें तथा सर्वज्ञकल्प होकर भी सतत क्रियाशील हों।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**।। देवता—**मरुतः**।। छन्दः—**अनुष्टुप्**।। स्वरः—**गान्धारः**।।

मधुर भाषण व दीर्घ-जीवन

३५८. दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत् प्र न आयूँषि तारिषत्॥ ७॥

मैं **अकारिषम्**=स्तुति करता हूँ। किसकी? उस प्रभु की जो १. **दधिक्राव्णः**=दधत् क्रामति—धारण करता हुआ चलता है, अर्थात् जिसकी प्रत्येक क्रिया धारण करनेवाली है। इस रूप में प्रभु की स्तुति करते हुए मुझे भी संसार में धारणात्मक कार्य ही करने चाहिएँ। २. **जिष्णोः**=मैं उस प्रभु की स्तुति करता हूँ जो जिष्णु है, विजयशील है। **'अहमिन्द्रो न पराजिग्ये'** मैं इन्द्र हूँ, अतः कभी पराजित नहीं होता। मुझे भी प्रभु का स्मरण करते हुए सदा विजयशील बनना है, जब तक विजय न हो तब तक युद्ध में स्थिर रहना है। ३. **अश्वस्य**=(अश् व्याप्तौ) मैं उस प्रभु को याद करता हूँ जो सर्वव्यापक है। इस सर्वव्यापक को याद करके मैं भी अधिक-से-अधिक व्यापक बनने का प्रयत्न करता हूँ। मैं सबके साथ एकता का

अनुभव करने की साधना करता हूँ। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** को अपना सिद्धान्त बनाता हूँ। ४. **वाजिनः**=शक्तिशाली प्रभु की मैं उपासना करता हूँ। उपासना करता हुआ मैं भी शक्तिशाली बनता हूँ।

अपने जीवन को ऐसा बनाकर हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वे **नः मुखा**=हमारे मुखों को **सुरभि करत्**=सुगन्धित करें। हम सदा मधुर ही बोलें। यह सुभाषित रस तो ऐसा है कि इसके सामने सुधा भी भयभीत हो स्वर्ग को भाग गयी, शर्करा पत्थर बन गयी और द्राक्षा म्लानमुखी हो गयी। मधुर भाषण के लिए ही प्रभु ने हमें भेजा है। मधुर भाषण ही संसार को मधुर बनाता है। इस मधुर भाषण से प्रभो! **नः**=हमारे **आयूँषि**=जीवनों को **प्रतारिषत्**=बढ़ाइए। मधुर भाषण से दीर्घ-जीवन प्राप्त होता है, क्योंकि यह हमें शान्त रखता है।

एवं, मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह रचनात्मक कार्य ही करे, तोड़-फोड़ के नहीं। विजयशील हो, उदार हो, शक्ति का सम्पादन करे, मीठा बोले। इन सुन्दर गुणों को अपने में धारण करनेवाला यह 'वामदेव' है। यही प्रभु का सच्चा स्तोता है। इसकी सब इन्द्रियाँ प्रभु का गुणगान करने में लगी रहती हैं, अतः प्रशस्त बनी रहती हैं और इसे 'गोतम' बना देती हैं।

भावार्थ—हम भी दधिक्रावा बनें।

ऋषिः—**जेता माधुच्छन्दसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

असुर पुरियों का विध्वंस

३५९. पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः॥ ८॥

जीव तीन दीवारोंवाले एक क़िले के अन्दर क़ैद है। इन्हें ही 'स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीर' कहा जाता है। स्थूलशरीर तो समय पाकर स्वयं ही समाप्त हो जाता है और कारणशरीर प्रकृतिरूप होने से इतना व्यापक है कि वह बन्धनरूप प्रतीत नहीं होता। बीच का सूक्ष्मशरीर जो 'इन्द्रियों, मन और बुद्धि' से बना हुआ है, यही जीव के बन्ध का सबसे बड़ा कारण है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ही असुरों के आक्रमण से आक्रान्त होकर असुरपुरियाँ बन जाती हैं और जीव का बन्धनागार हो जाती हैं। जीव का कर्त्तव्य है कि वह इन काम-क्रोध-लोभ को जीते और इस प्रकार इन असुरपुरियों का ध्वंस कर दे। जिष्णु तो इसने बनना ही है, इन पुरियों का विदारण करके ही यह ऐसा बनेगा। मन्त्र में कहते हैं **पुरां भिन्दुः**=इन असुरनगरियों का भेदन करनेवाला ही **इन्द्रः**=इन्द्र है। इन्द्र के द्वारा ही सब असुरों के विध्वंस का वर्णन है। इन्द्र देव-सम्राट् हैं—असुरों का संहार करनेवाले हैं।

इस असुर-संहार के लिए ही इसे **युवा**=(यु=मिश्रण, अमिश्रण) बुराई को अपने से दूर करना है और अच्छाई को अपने से जोड़ना है। **'सं मा भद्रेण पृङ्क्ष्व वि मा पाप्मना पृङ्क्ष्व'**। इसके लिए यह तभी सम्भव होगा यदि यह **विश्वस्य कर्मणो धर्ता**=सबके हित के कर्मों का धारण करनेवाला बनेगा। जितना-जितना स्वार्थ कम होकर परार्थ का अंश इसमें बढ़ता जाएगा उतना-उतना भद्र से युक्त और अभद्र से दूर होकर युवा बनता जाएगा।

भद्र से मेल व अभद्र से पार्थक्य साधन के लिए इसे **कविः**=क्रान्तदर्शी बनना है। वस्तुओं के तात्त्विक विवेचन से ही यह दुरितों से दूर और सुवितों के समीप होगा। धर्माधर्म

का विवेक ही इसके अन्दर अधर्म के प्रति वैराग्य पैदा कर सकता है। कवि बनकर यह **वज्री**=निरन्तर क्रियाशील भी बनता है। कवि संसार के इस तत्त्व को समझ लेता है कि क्रियाशीलता ही संसार है। संसार के इस तत्त्व को समझनेवाला यह कवि **वज्री**=गतिशील क्यों न होगा?

इस प्रकार तत्त्वज्ञान के कारण भोगमार्ग से सदा दूर रहने के कारण यह **अमितौजाः**=अनन्त शक्तिवाला **अजायत**=बनता है (अमित+ओजस्) और इस अनन्त शक्ति से **पुरुष्टुतः**=सदा स्तुत होता है। अथवा इस अनन्त शक्ति के लिए यह सदा (पुरुस्तुतं यस्य) प्रभु की स्तुति में लगा रहता है। प्रभु से दूर होना ही तो इसे प्रकृति में फँसाकर निर्बल कर देता है।

इस प्रकार सदा प्रभु के साथ रहनेवाला यह विजयी तो बनता ही है, अतः 'जेता' कहलाता है और सदा उत्तम इच्छाओंवाला बने रहने के कारण यह 'माधुच्छन्दस्' होता है।

भावार्थ—हम प्रयत्न करें कि हम असुर-पुरियों का विध्वंस करके मुक्त हो सकें।

द्वितिया दशतिः

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सबके साथ मिलकर

३६०. प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषं वन्दद्वीरायेन्दवे।
धिया वो मेधसातये पुरन्ध्या विवासति॥ १॥

प्रियमेध आङ्गिरस उस प्रभु की **प्रप्र विवासति**=खूब ही स्तुति करता है जो **वः**=तुम्हारे **त्रिष्टुभम्**=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक तीनों दुःखों को समाप्त करनेवाला है। अथवा जो प्रभु काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोक देता है। यह उस प्रभु की स्तुति करता है जो **इषम्**=निरन्तर प्रेरणा देनेवाला है। वह प्रभु हृदयस्थ होकर सदा सबको सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते ही हैं।

'प्रियमेध' प्रभु की उपासना इसलिए करता है कि १. **वन्दद्वीराय**=उसे सदा स्तुत्य शक्ति की प्राप्ति हो, अर्थात् 'उसे यशस्वी बल प्राप्त हो'। प्रभु का उपासक जहाँ प्राकृतिक भोगों में न फँसने से शक्ति-लाभ करता है, वहाँ वह सभी के साथ बन्धुत्व का अनुभव करता हुआ और उस बल का रक्षण में विनियोग करता हुआ स्तुति का पात्र भी होता है। उसका बल स्तुत्य होता है। यह वन्दद्वीर बनता है—अभिवादनीय व स्तुत्य वीर होता है। २. **इन्दवे**=परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए। अवम ऐश्वर्य—धनधान्य तो प्रकृति के उपासक भी आसानी से प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु ज्ञान व भक्ति आदि का उत्कृष्ट ऐश्वर्य तो प्रभु से ही प्राप्त होता है। ३. **धिया**=बुद्धि के द्वारा **वः**=तुम सबके **मेधसातये**=(मेधृ सङ्गमे) मिलकर सेवन के लिए (साति=सम्भजन=सेवन)। प्रभु का उपासक एक व्यापक कुटुम्ब की भावना को अपनाने के कारण अकेला खा ही नहीं पाता। उसका सिद्धान्त **'केवलाघो भवति केवलादी'** का होता है। वह अकेले खाने को पाप मानता है और अन्त में ४. **पुरन्ध्या**=वह पालक व पूरक बुद्धि के लिए प्रभु की उपासना करता है। संसार में विचारशील पुरुष इस तत्त्व को समझ लेता है कि सुखी वही है जिसने **'नैराश्यमवलम्बितम्**=निराशा को अपनाया है। वस्तुतः संसार में

आशाओं से चलना ही दु:ख का कारण है। निराशा की प्रथमावस्था मनुष्य को सन्मार्ग पर ले-चलता है। यह उसे संसार में फँसने नहीं देती। निराशा की प्रबलता भोगों में फँसा देती है—मनुष्य सदा नशे में रहना चाहता है। इसी निराशा की अत्यन्त प्रबलता आत्मघात=Suicide की ओर ले-जाती है। प्रभु का उपासक निराशा की प्रथमावस्था में रहता हुआ सदा पालक बुद्धि को अपनाता है। वह घातपात करके अपने राज्य, सुखों व भोगों को बढ़ाने की चिन्ता नहीं करता।

एवं, यह प्रभु का उपासक सांसारिक भोगों का इच्छुक न हो 'प्रियमेध'=बुद्धि व ज्ञान को प्रिय वस्तु समझनेवाला होता है। अ-विनष्ट-शक्ति होने से 'आङ्गिरस' तो होता ही है।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनकर स्तुत्य बलवाले, ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले, सबके साथ मिलकर खानेवाले और पालक बुद्धिवाले बनें।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मुक्तात्मा व परमात्मा

३६१. कश्यपस्य स्वर्विदो यावाहुः सयुजाविति।
ययोर्विश्वमपि व्रतं यज्ञं धीरा निचाय्य॥ २॥

जो व्यक्ति क्रान्तदर्शी बनकर वस्तुओं के तत्त्व को देखता है, यह 'पश्यक' होता हुआ 'कश्यप' कहलाता है। यह कश्यप आपातरमणीय विषयों में फँसता नहीं। यह जीता हुआ भी, विषयों में विचरता हुआ भी, उनमें आसक्त न होने से मुक्त होता है और जीवन्मुक्त कहलाता है। प्रभु तो सदा अपने देदीप्यमान रूप में ही विद्यमान हैं, अतः वे प्रभु 'स्वर् विद्' हैं। (स्वर्=to radiate) उस प्रभु से ही प्रकाश चारों ओर फैल रहा है **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'** **धीराः**=धीर, ज्ञानी पुरुष **कश्यपस्य**=मुक्तात्मा के और **स्वर्विदः**=इस सदा देदीप्यमान रूप में अवस्थित प्रभु के **ययोः**=इन दोनों के **विश्वम् अपि**=सभी **व्रतम्**=नियमों को तथा **यज्ञम्**=लोकहित के लिए किये जाते हुए कर्मों को **निचाय्य**=सम्यक्तया विवेचन करके **यौ**=इन दोनों को **आहुः**=कहते हैं कि **सयुजौ इति**=ये तो सयुज हैं—एक ही श्रेणी में स्थित हैं। प्रभु सर्वज्ञ हैं तो यह कश्यप भी **'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्'**=सूर्यनाड़ी में संयम करके सब भुवनों का ज्ञान प्राप्त करनेवाला बना है। प्रभु अन्तर्यामी हैं, यह भी दूसरों के हृदय की बातों को जान लेता है। प्रभु ईश हैं, यह भी सब भूतों का ईश्वर बना है—उनमें फँसता नहीं। जल के ऊपर भी आराम से चल सकता है। अणिमादि अष्टसिद्धियों को प्राप्त करके यह परमेश्वर-जैसा ही तो बन गया है। प्रभु के सयुज होने से इसे सायुज्य मुक्ति प्राप्त हो गयी है। हाँ, यह ठीक है कि यह **'जगद्व्यापारवर्जम्'**=नई दुनिया की सृष्टि नहीं कर सकता। इसका शेष सब ऐश्वर्य परमात्मा के बराबर है।

इस मुक्तात्मा का निजू जीवन व्रतमय होने से शुद्ध बना रहता है। इसका सामाजिक जीवन यज्ञमय लोकहित में प्रवृत्त होता है। परमात्मा तो पूर्ण व्रती, अतएव पूर्ण शुद्ध हैं और यज्ञरूप ही हैं। यह जीवन्मुक्त परमात्मा का ही एक छोटा रूप होता है। परिमाण का अन्तर होते हुए भी यह गुणों में प्रभु-जैसा ही होता है।

सुन्दर-ही-सुन्दर गुणोंवाला होने के कारण यह 'वामदेव' है। इसकी सब इन्द्रियाँ प्रशस्त हैं, अतः यह 'गोतम' है।

भावार्थ—हम स्वर्विद प्रभु के साथी कश्यप बनें।

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

पञ्चायतन पूजा

३६२. अर्चत प्रार्चता नरः प्रियमेधासो अर्चत। अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद् धृष्ण्वर्चत॥ ३॥

प्रस्तुत मन्त्र में मुक्तात्मा बनने के साधनों का उल्लेख है। 'अर्च पूजायाम्' धातु से बनी क्रिया का इस मन्त्र में पाँच बार प्रयोग उस पूजा का संकेत कर रहा है। **नरः**=हे आगे बढ़ने की वृत्तिवाले व्यक्तियो! **प्रियमेधासः**=जिन्हें बुद्धि प्रिय है ऐसे व्यक्तियो! **अर्चत**=पूजा करो। पूजा का क्रम निम्न है—

१. **अर्चत**=पूजा करो, आदर करो। माता को देवता समझो, क्योंकि चरित्र का निर्माण मातृकृपा से ही होता है।

२. **प्रार्चत**=खूब आदर करो। पिताजी जिस प्रकार निर्देश करें उसी प्रकार सभा-समाजों में अपने उठने-बैठने का ध्यान करो। इन निर्देशों की अवहेलना से हम अपने जीवनों में शिष्ट न बन पाएँगे, हम कुछ अशिष्ट (ill-mannered)-से, अभद्र-से बने रहेंगे।

३. इसके पश्चात् हम **अर्चत**=आचार्यों का आदर करें। हम उनको उचित आदर देकर उनके प्रिय बनते हैं और ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

४. **उत**=अब गृहस्थ में आने पर विद्वान् अतिथियों के **पुत्रकाः**=पुत्र-तुल्य ये गृहस्थी **अर्चन्तु**=उन व्रती विद्वानों का आदर करें। उनका आदर करने से घर स्वर्गतुल्य बना रहता है, परस्पर वैमनस्य उत्पन्न नहीं होता और जीवन में माधुर्य विद्यमान रहता है। इस अर्चन से कुलधर्म नष्ट नहीं होते।

५. इन सब पूजाओं के अतिरिक्त **इत्**=निश्चय से **पुरम्**=उस पूरण करनेवाले सब प्रकार की न्यूनताओं को दूर करनेवाले **धृष्णु**=काम, क्रोध, लोभ आदि की सब वासनाओं का धर्षण करनेवाले प्रभु की **अर्चत**=उपासना करो। इस प्रभु की उपासना के अभाव में ही हम भद्र होते हुए भी अभद्र-से रह जाते हैं—हम काम से ऊपर नहीं उठ पाते।

'प्रियमेध आङ्गिरस' तो वही बन सकता है जो पाँच वर्ष तक माता, आठ वर्ष तक पिता, पच्चीस वर्ष तक आचार्य, पचास वर्ष तक अतिथियों व अग्रिम जीवन में प्रभु के निर्देशों के अनुसार जीवन बिताने का ध्यान करे।

मातृ-अर्चन से चरित्र, पितृ-अर्चन से शिष्टाचार, आचार्यार्चन से बुद्धि और ज्ञान, अतिथि-अर्चन से कुलधर्म का और अविनाशी प्रभु-अर्चन से पालन, पूरण तथा वासना-धर्षण सिद्ध होता है।

भावार्थ—पञ्चायतन पूजा हमारे जीवन को सर्वाङ्ग सम्पूर्ण बनानेवाली हो।

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सख्य-भाव (पाँचवें आयतन की पूजा)

३६३. उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरुनिष्षिधे।
शक्रो यथा सुतेषु नो रारणत् सख्येषु च॥ ४॥

इन्द्राय=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **उक्थ्यम्**=स्तोत्र या स्तुतिवचन **शंस्यम्**=उच्चारण करना चाहिए, क्योंकि यह उक्थ सब प्रकार से **वर्धनम्**=हमारी वृद्धि करनेवाला है। प्रभु के ये स्तोत्र हमें विषय-वासनाओं से बचाकर हमारी शारीरिक शक्ति को ठीक रखते हैं, परस्पर बन्धुत्व का अनुभव कराने से हमारे मनों को राग-द्वेष-शून्य करते हैं और साथ ही विषय-वासनाओं व राग-द्वेष के अभाव में हमारा मस्तिष्क ठीक कार्य करता है। इस प्रकार ये प्रभु के स्तोत्र सब प्रकार से हमारा वर्धन करते हैं।

हमें उस प्रभु की स्तुति करनी चाहिए जो **पुरुनिःषिधे**=पुरु—पालक और पूरक हैं तथा हमपर आक्रमण करनेवाली सभी आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाले हैं। **शक्रः**=(शक्नोति) करने का सब सामर्थ्य तो प्रभु में ही है। हमें चाहिए कि हम सदा स्तोत्रों के द्वारा उस प्रभु के सम्पर्क में रहें, जिससे उस प्रभु का सामर्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञान हममें भी प्रवाहित हो। जीव प्रभु की समीपता से ही शक्ति-सम्पन्न, निर्मल व ज्ञानी बनेगा।

हमें चाहिए कि हम अपने जीवनों को ऐसा बनाएँ कि **यथा**=जिससे प्रभु **नः**=हमारे **सुतेषु**=शक्ति-उत्पादन के कार्यों में तथा लोकहित के लिए किये जानेवाले किसी भी निर्माणात्मक कार्य में **च**=और **सख्येषु**=अपने साथ मित्रत्व के स्थापन में **रारणत्**=अत्यन्त प्रसन्न हों (रण्= to rejoice)। **'यः प्रीणयेत् सुचरितैः पितरं स पुत्रः'**=जो सुचरितों से पिता को प्रसन्न करे वही तो पुत्र है। हम भी अपने को शक्ति-सम्पन्न बनाते हुए, निर्माणात्मक कार्यों में लगाते हुए तथा उस प्रभु को ही अनन्य मित्र समझते हुए उन्हें प्रसन्न करनेवाले बनें। 'प्रभु की मित्रता' से ऊँची मनुष्य की स्थिति नहीं हो सकती। इस स्थिति में हमारे मनों में किसी प्रकार की अशुभ इच्छाओं का आना सम्भव नहीं। तब तो हम 'मधुच्छन्दा'=मधुर इच्छाओंवाले होंगे। 'वैश्वामित्रः=सभी का हित चाहनेवाले होंगे।

भावार्थ—मैं प्रभु के प्रति अपने सख्यभाव को दृढ़ करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रभु किसे वरते हैं

३६४. विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः। एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम्॥ ५॥

मैं प्रभु का सखा बनूँ। प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनूँ, परन्तु यह भी तो प्रभुकृपा से ही होता है। **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'**=प्रभु हमें वरेंगे तो हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनेंगे। 'प्रभु किसे वरते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में है—

प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुममें से **हुवे**=मैं उसे पुकारता हूँ जो—

१. **शवसः**=शक्ति का **पतिम्**=पति हो। कैसी शक्ति का? (क) **विश्वानरस्य**=सबको आगे ले-चलनेवाली शक्ति का। जिसकी शक्ति का विनियोग सबकी उन्नति के लिए होता है,

(ख) **अनानतस्य**=जो दबना नहीं जानती। दबाव में आकर किया गया कर्म कभी ठीक नहीं होता। भद्र कर्म का पहला लक्षण यही है कि 'अब्दधासः'=जो दबकर नहीं किये गये। न हम स्तुति-निन्दा से दबें, न धन व निर्धनता से और न ही जीवन-मरण से। प्रभु का प्रिय वही बनता है जो 'सबकी उन्नति की साधक तथा न दबनेवाली शक्ति का पति बनता है।'

२. प्रभु **चर्षणीनाम्**=(चर्षणि=कर्षणि) कृषि करनेवालों की, अर्थात् उत्पादक श्रम करनेवालों की **एवैः**=गतियों से, क्रियाओं से हमें अपने समीप पुकारते हैं। प्रभु के प्रिय हम तब बनते हैं जब हम सदा गतिशील होते हैं और हमारी सारी गति निर्माण में व्यय होती है।

३. प्रभु के प्रिय बनने का तीसरा साधन **रथानाम् ऊती**=शरीररूप रथों के रक्षण से प्रभु हमें अपने समीप पुकारते हैं। इस शरीररूपी रथ के रक्षण के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात हमारी सब क्रियाएँ—'खाना-पीना, सोना-जागना' इत्यादि नपी-तुली हों तथा साथ ही सर्वोच्च तप 'मनःप्रसाद' का ध्यान करें। हम सदा सब स्थितियों में सन्तुष्ट रहें। प्रभु की दी हुई यह चादर बिना फाड़े व मैला किये लौटाएँगे तभी तो हम प्रभु के प्रिय हो सकेंगे।

उल्लिखित तीन बातें हमें प्रभु का प्रिय बनाएँगी। शक्ति, गति व स्वास्थ्य को स्थिर रखनेवाला यह व्यक्ति 'आङ्गिरस' तो है ही, परन्तु यह ऐसा तभी बन पाया है, क्योंकि 'प्रियमेध' है।

भावार्थ—शक्ति, गति व स्वास्थ्य का ध्यान करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रभु का कौन? जो द्वेष से दूर है

३६५. स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्तस्य शमतः।
ऊती स बृहतो दिवो द्विषो अंहो न तरति॥ ६॥

सः=वह **नरः**=मनुष्य **यः**=जो **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से (द्वेषणं द्विट्) **अंहो न**=पापों की भाँति, अर्थात् बड़ा पाप समझता हुआ **तरति**=तैर जाता है, **घ**=निश्चय से **दिवः ते**=ज्ञानस्वरूप आपका है। 'हम प्रभु से अपने समीप पुकारे जाएँ', यह तभी होगा जब हम द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठेंगे। यह द्वेष की भावना से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति ही **नरः**=नर है, अपने को आगे प्राप्त करानेवाला है। द्वेष त्यागे बिना आगे बढ़ना सम्भव नहीं है। यह नर **धिया**=बुद्धि से—समझदारी से हमेशा द्वेषों से दूर रहने का प्रयत्न करता है। यह समझदारी से चलनेवाला मनुष्य इसलिए द्वेषों से ऊपर उठता है, क्योंकि—

१. **मर्तस्य शमतः**=इस मर्त को—मरणधर्मा मनुष्य को भी कुछ शान्ति प्राप्त हो सके। शम-तः=शम के दृष्टिकोण से। द्वेष से दूर नहीं होगा तो उन भावनाओं में सदा झुलसता रहेगा। द्वेष से ऊपर उठा और शान्ति का अनुभव हुआ।

२. **ऊती**=यह समझदारी से चलनेवाला मनुष्य इसलिए भी द्वेष से ऊपर उठता है कि इससे ऊपर उठकर ही वह अपने शरीर की रक्षा कर पाएगा। जैसे इञ्जन बहुत गर्म होकर फट पड़ता है, उसी प्रकार द्वेषाग्नि में मनुष्य का शरीररूप रथ भी जल जाता है। 'उस समय मनुष्य का रक्तचाप बढ़ जाना, स्नायु-संस्थान का विकृत हो जाना' आदि कितने ही रोगों से पीड़ित हो जाता है।

३. **सः**=वह **बृहतः**=वृद्धि के कारणभूत **दिवः**=प्रकाश के दृष्टिकोण से द्वेषों से ऊपर उठता है। द्वेष की भावनाएँ मनुष्य के मस्तिष्क को चकराये रखती हैं। यह द्वेष में डूबा हुआ मनुष्य कभी स्वस्थ विचारवाला नहीं होता।

भावार्थ—द्वेष से ऊपर उठने से हम (क) परमेश्वर के प्रिय बनेंगे, (ख) हमारे मन शान्त होंगे (ग) हमारे शरीर स्वस्थ होंगे और (घ) हमारा मस्तिष्क सदा सुलझा हुआ होगा।

ऋषिः—**भौमोऽत्रिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

विश्व की नागरिकता (World Citizenship)

३६६. विभोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वी रातिः शतक्रतो।
अथा नो विश्वचर्षणे द्युम्नं सुदत्र मंहय॥ ७॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार जो व्यक्ति द्वेष से ऊपर उठ जाता है उसका दृष्टिकोण व्यापक होता जाता है। वह समाज, नगर, प्रान्त व देश की भावनाओं से ऊपर उठकर 'भौमः'=सारी भूमि का, सारे विश्व का चर्षणि=मनुष्य (विश्वचर्षणि) बनने का प्रयत्न करता है। मन्त्र में इसी उद्देश्य से प्रार्थना है—हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **विभोः ते**= सर्वव्यापक आपकी **राधसः**=सम्यक् सिद्धि के—उत्तम कार्यों की सिद्धि के साधनभूत धन के **रातिः**=दान भी **विभ्वी**=व्यापक हैं। उस दान के द्वारा आप ही हे प्रभो! **शतक्रतो**=सैकड़ों यज्ञिय कर्मों के करनेवाले हैं। वस्तुतः धन का प्रथम पति प्रभु ही है (इन्द्र)। धन हमारा है ही नहीं। उस प्रभु के धन को प्राणियों को देते हुए संकोच ही क्यों हो? यह धन उत्तम कार्यों की सिद्धि के लिए ही दिया गया है (राध=संसिद्धि)। उसका विनियोग हमें सदा उत्तम कार्यों में करते रहना चाहिए, परन्तु उन कार्यों का कभी गर्व नहीं करना, क्योंकि वस्तुतः शतशः कार्यों को करनेवाले तो प्रभु ही हैं, मैं तो उनका निमित्तमात्र हूँ (**शतक्रतो**) हमारा दान देश-जाति के बन्धनों से ऊपर उठकर हो तो अच्छा है (विभ्वी रातिः)।

अथ=और **विश्वचर्षणे**=हे विश्व के नागरिक प्रभो! आप किसी देशविशेष व जाति-विशेष के हों, ऐसी बात तो है ही नहीं। मैं भी आपकी स्तुति करता हुआ ऐसा ही बनूँ। **सुदत्र**=हे उत्तम (सु) दान (द) से रक्षा (त्र) करनेवाले प्रभो! आपका दान कितना सात्त्विक है। उस दान में स्वार्थसाधना का लवलेश भी नहीं। हे प्रभो! **नः**=हमें भी **द्युम्नम्**=उस धन को जिसने हमें पागल नहीं बना दिया है, जिसके कारण हमारे मस्तिष्कों की द्युति नष्ट नहीं हो गयी है, **मंहय**=देने की प्रेरणा दीजिए। हम भी आपसे प्रेरणा प्राप्त करके दान देनेवाले बनें।

राष्ट्र में राजा का भी कर्त्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र के लोगों को दान देने के लिए प्रेरित करे (दापयेत्)। यहाँ प्रभु से हम यही प्रार्थना करते हैं कि प्रभु हमसे दान दिलाते ही रहें। यह देना (दा=देना) मेरी बुराइयों को नष्ट करेगा (दा=काटना) और मेरे जीवन को शुद्ध बनाएगा (दा=शोधन)। शुद्ध होकर मैं सभी कष्टों से ऊपर उठकर इस मन्त्र का ऋषि 'अत्रि' बनूँगा। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का पाठ पढ़कर मैं 'भौम' बन जाऊँगा।

भावार्थ—द्वेष से ऊपर उठकर मैं व्यापक दान की वृत्ति को अपनानेवाला बनूँ।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

नियमित जीवन

३६७. वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपाच्चतुष्पादर्जुनि। उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि॥ ८॥

हम द्वेष से ऊपर उठकर शुभवृत्तिवाले बनें। इस शुभवृत्ति के लिए स्वस्थ शरीर की नितान्त आवश्यकता है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। इस शरीर के स्वास्थ्य की सबसे अधिक आवश्यक बात नियमित जीवन की है, उसी का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में है। हे **उषः**=उषः काल (उष दाहे)। सब अन्धकार को जला देनेवाले प्रभात समय! तू **अर्जुनि**=श्वेत है, धवल है। प्रकाश से तू जगमगाती है। **वयः**=(way) अपने नियमित मार्ग पर चलनेवाले **पतत्रिणः**=सदा गतिशील (पद गतौ) ये **द्विपात् चतुष्पात्**=पशु-पक्षी **चित्**=भी **ते**=तेरा प्रादुर्भाव होने पर **प्रारन्**=प्रकर्षेण गतिमय हो जाते हैं। अपने-अपने घोंसले व गोष्ठों को छोड़कर आजीविका-अर्जन के लिए चल देते हैं। ये सदा एक नियमित गति से चलते हैं, प्रकाश में अपना कार्य करते हैं, अन्धकार होने पर सो जाते हैं। इनके सब प्राकृतिक कार्य बड़े नियमित होते हैं। इसी का परिणाम है कि ये स्वस्थ-शरीर रहते हैं। हमें भी इनसे शिक्षा लेते हुए अपने प्राकृतिक कार्यों को बड़ी नियमित गति से करना है, **ऋतून् अनु**=ऋतुओं के अनुसार। ऋतुभेद से हमारे उठने व सोने के समय में, भोजन-पदार्थों में, स्नान आदि की प्रक्रिया में कुछ भेद अवश्य होगा, परन्तु उस भेद में भी नियमित गति तो दीखेगी ही। **दिवः अन्तेभ्यः परि**=हम द्युलोक के परले सिरे पर हों तो भी हमारी दैनिकचर्या का क्रम तो ठीक चलना ही चाहिए। कहीं भी हों, हम समय पर कार्य करने के प्रसङ्ग को पूरा करें ही। यह नियमित गति हमें स्वस्थ बनाकर स्वस्थ मनवाला भी बनाएगी। बुद्धिमत्ता इसी मार्ग को अपनाने में है। जो अपनाते हैं वे 'प्रस्कण्व' मेधावी हैं। इस मार्ग पर चलना भी तो मेधा को बढ़ाने का साधन है।

भावार्थ—मैं अपने शरीर-धर्मों में ऋतुओं के अनुसार नियम से चलनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रितः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ऋत, अमृत, आहुति

३६८. अमी ये देवा स्थन मध्य आ रोचने दिवः।
कद्व ऋतं कदमृतं का प्रत्ना व आहुतिः॥ ९॥

गत मन्त्र में नियमित जीवन=ऋत का उल्लेख हुआ था। इस मन्त्र में ऋत के साथ दो अगली सीढ़ियों का भी उल्लेख करते हैं, जिनसे हम द्युलोक का आरोहण करके देव बन जाएँगे। असुर्यलोकों से ऊपर उठकर हम मनुष्य बने हैं। अब इस पृथिवीलोक से भी ऊपर उठकर हमें अन्तरिक्षलोकवासी देवयोनियों में पहुँचना है और वहाँ से ऊपर उठकर द्युलोक के देव बनना है। उन द्युलोक के देवों को सम्बोधन करते हुए इस मन्त्र का ऋषि त्रित, जिसने असुर्य, मानव, देवयोनि—इन तीनों लोकों को तैर जाना है और तैरकर जो देवलोक को प्राप्त करनेवालों में श्रेष्ठ 'आप्त्य' बनेगा, यह आप्त्य देवों से कहता है कि **अमी ये देवाः**=वे जो देव **दिवः**=द्युलोक के **आरोचने मध्ये**=समन्तात् दीप्त मध्यभाग में **स्थन**=हैं **वः**=तुम्हें

कत्=शिर:स्थान में अथवा सुखमय स्थिति में पहुँचानेवाला **ऋतम्**=ऋत ही तो है, **कत्**=उसी प्रकार तुम्हारी उच्च स्थिति करनेवाला अथवा सुखी बनानेवाला **अमृतम्**=अमृत ही तो है। और अन्त में **व:**=आपकी **प्रत्ना**=प्राचीन होते हुए भी नवीन, अर्थात् निरन्तर चलनेवाली **आहुति:**=प्राजापत्ययज्ञ में सर्ववेदस् की आहुति **का**=आपको शिखर पर पहुँचाकर स्वर्ग प्राप्त करानेवाली हुई है।

१. 'ऋत' का अभिप्राय नियमित जीवन है, यह युक्ताहार-विहारवाला नियमित जीवन हमें पृथिवीलोक के विजय के योग्य बनाता है। ऋत का पालन करके जहाँ हम इस पृथिवी-लोक पर उन्नत होते हैं, वहाँ सुखी जीवनवाले भी होते हैं।

२. अमृतम् का अभिप्राय है—'यज्ञशेष' (यज्ञशेषं तथामृतम्)। पञ्चयज्ञ करके बचे हुए का सेवन करनेवाले अन्तरिक्षलोक का विजय करते हैं। हमारा जन्म किसी अन्तरिक्ष के पिण्ड में होता है। 'अपञ्चयज्ञो मलिम्लुच:'=पञ्चयज्ञ न करके हम चोर होते हैं—अन्तरिक्षलोक में पहुँचने का तो प्रश्न ही क्या?

३. अन्त में प्राजापत्य यज्ञ में सम्पूर्ण धन की आहुति देकर हम 'देवलोक' में पहुँचने के अधिकारी बनते हैं। सूर्यमण्डल का भेदन करनेवाला यही संन्यासी होता है।

उल्लिखित प्रकार से 'ऋत, अमृत, आहुति' एक सीढ़ी बन जाती है जो हमें ऊपर और ऊपर जाने में समर्थ करती है।

भावार्थ—मेरा जीवन 'ऋत का पालन करे, अमृत का सेवन करे और आहुति देनेवाला हो।

ऋषि:—**गोतमो वामदेव:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥ स्वर:—**गान्धार:**॥

विद्या+श्रद्धा

३६९. ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते।
वि ते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु वक्षत:॥ १०॥

हम अपने जीवनों में **ऋचम्**=विज्ञान को और **साम**=भक्ति व उपासना को **यजामहे**=सङ्गत कर देते हैं। मैं मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करने का प्रयत्न करता हूँ तो हृदय को भक्ति की भावना से भरने के लिए यत्नशील होता हूँ। अथर्ववेद के **'मूर्धानमस्य संसीव्य अथर्वा हृदयं च यत्'** इस उपदेश के अनुसार मस्तिष्क व हृदय को सी देने का प्रयत्न करता हूँ। जैसे सामवेद ऋग्वेद में समा-सा गया है उसी प्रकार मैं अपने ज्ञान में श्रद्धा का समावेश करता हूँ। ज्ञान शक्ति है, जिसे भक्ति क्रिया में परिणत कर देती है। इस प्रकार **याभ्याम्**=जिस ज्ञान और भक्ति से **कर्माणि**=कर्मों को **कृण्वते**=करते हैं, उन ज्ञान और भक्ति को मैं अपने जीवन में सङ्गत कर देता हूँ।

ते=ये दोनों मिले हुए ही **सदसि**=सभा में अथवा जीव के निवासस्थानभूत इस शरीर में **विराजत:**=विशेष दीप्ति-(शोभा)-वाले होते हैं। अकेला ज्ञानी शोभावाला नहीं लगता। वह ब्रह्मराक्षस-सा प्रतीत होता है और अकेला भक्त तो कभी शोभा पाता ही नहीं।

ये ज्ञान और श्रद्धा मिलकर **देवेषु**=विद्वानों में **यज्ञम्**=उत्तम कर्मों को **वक्षत:**=कराते हैं। **'यदेव श्रद्धया विद्यया क्रियते तदेव वीर्यवत्तरं भवति'**=उपनिषद् के इन वचनों के अनुसार श्रद्धा और ज्ञान के समन्वय से ही इनमें उत्तम दिव्य गुणों की उत्पत्ति होती है और

ये 'वामदेव' बनते हैं—प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनकर 'गोतम' बनते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवनों में श्रद्धा और विद्या का समन्वय हो।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**रेभः काश्यपः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

दृढ़ तीव्रगतिवाली नौका (The Strong Swift Ship)

३७०. विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरः सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे।
क्रत्वे वरे स्थेमन्यामुरीमुतोग्रमोजिष्ठं तरसं तरस्विनम्॥ १॥

पिछले मन्त्र में 'विद्या+श्रद्धा' का उल्लेख था। इस मन्त्र का ऋषि उन दोनों तत्त्वों का मेल करनेवाला रेभ (श्रद्धा)=स्तोता और काश्यप (विद्या)=ज्ञानी है। यह कहता है कि **नरः**= अपने को आगे ले-चलनेवाले मनुष्यो! **विश्वाः पृतनाः**=सब संग्रामों में शत्रुओं को **अभिभूतरम्**=अत्यधिक कुचल डालनेवाले **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **सजूः**=आपस में मिलकर प्रीतिपूर्वक **ततक्षुः**=बनाओ। सृष्टि के तत्त्वों का विचार करते हुए उस प्रभु का कुछ विचार अपने अन्दर उत्पन्न करो। **च**=और उसकी सत्ता का विचार बनाकर उस विचार को **जजनुः**=प्रादुर्भूत करो—विकसित करो, जिससे **राजसे**=तुम्हें दीप्ति प्राप्त हो। जिस समय प्रभु की सत्ता व महिमा का विचार हमारे हृदयों में पुष्पित होता है उस समय इस दीप्ति का अनुभव होता है—इस दीप्ति से इस स्तोता का चेहरा भी दीप्त हो उठता है। **उत**=और, इस प्रभु के विचार को विकसित करके **वरे क्रत्वे**=उत्तम कर्म व संकल्पों में **स्थेमनि**=स्थिरता के लिए **ईम्**=निश्चय से **आमुः**=उस प्रभु की ओर चलते हैं (अम गतौ)। जो मनुष्य प्रभु की ओर चल पड़ता है उसका जीवन कभी भी अशुभकर्म-धारा में प्रवाहित नहीं होता।

वे प्रभु तो हमारे लिए **तरसम्**=एक बेड़े के रूप में हैं (तरस्=Raft) जो बेड़ा **तरस्विनम्**= शक्तिशाली—दृढ़ भी है और तीव्र गतिवाला भी है (Strong and Swift)। यज्ञरूप बेड़े भी उत्तम हैं, परन्तु वे अदृढ़ हैं। यह प्रभुरूप नाव दृढ़ है। **उग्रम्**=यह हमें निरन्तर आगे और आगे ले-चलती है और **ओजिष्ठम्**=हमारी वृद्धि व उन्नति का हेतु है। (ओज्=to increase)। इस नाव का आश्रय करके हम कल्याणपूर्वक परले पार पहुँच जाएँगे।

भावार्थ—हम अपने हृदय में सर्वशक्तिमान् प्रभु का विचार उत्पन्न करें, उसे विकसित करें और प्रभु की ओर चलनेवाले बनें।

ऋषिः—**सुवेदाः शैलूषिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु का प्रिय कैसे बनूँ?

३७१. श्रत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन् यद् दस्युं नर्यं विवेरपः।
उभे यत्त्वा रोदसी धावतामनु भ्यसात्ते शुष्मात् पृथिवी चिदद्रिवः॥ २॥

गत मन्त्र में 'रेभ काश्यप' ने प्रभु को अपनी जीवन-यात्रा का जहाज बनाने का निश्चय किया था। यहाँ वही काश्यप 'सुवेदा' नाम से कहा गया है—उत्तम ज्ञानी। यह अपने को

'शैलूषि'=ऐसा नर समझता है जो इस संसार-नाटक के सूत्रधार प्रभु के निर्देशानुसार अपना नृत्य करता चलता है। १. प्रभु इससे कहते हैं कि **ते**=तेरे **प्रथमाय मन्यवे**=इस सर्वोत्कृष्ट संकल्प के लिए **श्रत् दधामि**=तुझे आदरणीय समझता हूँ—श्रद्धा के योग्य मानता हूँ। 'प्रभु जो नाच नचाएँगे वही नाचूँगा' यही सर्वोत्तम संकल्प है। प्रभु की नाव में ही बैठूँगा—यही निश्चय प्रशस्य है।

प्रभु कहते हैं कि मैं इसलिए भी तुझे अच्छा समझता हूँ कि २. **यत्**=जो तूने **दस्युम्**=काम-क्रोध-लोभ आदि दस्युओं को **अहन्**=नष्ट कर दिया और फिर ३. **नर्या अपः**=नर हितसाधक कर्मों को तूने **विवेः**=विशेषरूप से सन्तत=विस्तृत किया। तूने औरों के भले के लिए अपने सुख, समय व सम्पत्ति का त्याग किया और अपने जीवन को एक यज्ञ का रूप दे दिया। इसी का यह परिणाम था **यत् उभे रोदसी**=कि दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक **त्वा अनुधावताम्**=तेरे पीछे दौड़ कर आये। जिस किसी को भी कोई कष्ट हुआ वह तेरे समीप पहुँचा, सारा संसार तेरी ही ओर दौड़ा।

प्रभु कहते हैं कि मुझे तू इसलिए भी अच्छा लगा कि ४. हे **अद्रिवः**=वज्रतुल्य शरीरवाले नर! **ते**=तेरे **शुष्मात्**=बल से **पृथिवीचित्**=सारी पृथिवी भी **भ्यसात्**=काँप उठी। तुझे अपनी रक्षा के लिए रक्षकों की आवश्यकता नहीं हुई। तू इस लोकहित के कार्य में निर्भीक होकर जुटा रह सका। शरीर के नाजुक होने की दशा में जहाँ तू इतना अधिक कार्य न कर सकता, वहाँ तुझे कितने ही कार्यों को करने में भय भी लगता, इसलिए यह भी तूने ठीक ही किया कि अपने शरीर को वज्रतुल्य बनाया।

भावार्थ—'मैं प्रभु का आदर-पात्र बनूँ, अतः १. प्रभु को आधार बनाने का संकल्प करूँ, २. काम-क्रोधादि को कुचल डालूँ, ३. नरहित के कार्यों का विस्तार करूँ और ४. शरीर को वज्रतुल्य बनाऊँ।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सब मार्ग उसी की ओर जा रहे हैं

३७२. समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्यो नूतनमाजिगीषं तं वर्त्तनीरनु वावृत एक इत्॥ ३॥

वामदेव ऋषि गतमन्त्र की अन्तिम पंक्ति का ध्यान करते हुए सबसे कहता है कि **विश्वाः**=तुम सब **ओजसा**=ओज—शक्ति के द्वारा **दिवः पतिम्**=उस द्युलोक के पति—द्युपितर (Jupiter) अथवा प्रकाशमय लोक के पति प्रभु को **समेत**=सम्यक्तया प्राप्त होओ। वह प्रभु बलहीनों से प्राप्य नहीं हैं। भोगासक्ति से ऊपर उठे हुए शक्तिशाली से ही प्रभु प्राप्य हैं। वे प्रभु **यः**=जो **एकः इत्**=एकमात्र ही निश्चय से **जनानाम्**=लोगों के **अतिथिः भूः**=सतत जाने योग्य हैं (अत् सातत्यगमने) **'सा काष्ठा सा परागतिः**—वह प्रभु ही सबका अन्तिम लक्ष्यस्थान हैं। मनुष्य और कहीं पहुँचकर शान्तिलाभ नहीं कर पाता। प्रभु को पाकर ही शान्ति पाता है। प्रभु को पाना इसलिए आवश्यक है कि **सः**=वह **पूर्व्यः**=पूरण करनेवालों में सर्वश्रेष्ठ है। प्रभु-सम्पर्क से जो पूर्ति आती है वह विलक्षण है। उसके आते ही वह 'वीतशोक' हो जाता है, शोक-मोह से ऊपर उठकर शान्ति का अनुभव करता है।

वामदेव कहता है कि हे मनुष्य! तू निश्चय कर कि **नूतनम्**=स्तुति के विस्तार के योग्य उस प्रभु को **आ**=सर्वथा **जिगीषम्**=मैं जीतूँगा, अवश्य प्राप्त करूँगा। **तम् अनु**=उस प्रभु की ओर ही तो **वर्त्तनीः**=सब मार्ग **वावृते**=जा रहे हैं। मैं मार्गों में क्यों उलझूँ? देर-सवेर में सभी को वहाँ पहुँचना है। उस प्रभु की सत्ता में विश्वास करके मैं चल दूँ। वहाँ पहुँचकर प्रभु के दर्शन तो करूँगा ही। वे **एकः इत्**=एक ही हैं। प्रभु के अनेक रूपों की कल्पना छोड़कर 'अस्ति इति'='प्रभु हैं' यह मानकर हम चल दें और उस प्रभु का साक्षात्कार करें। शास्त्रार्थ करते हुए बैठे ही न रह जाएँ और परस्पर लड़ते ही न रहें। उसकी ओर चलेंगे तो अधिकाधिक दिव्यता को पाकर 'वामदेव' बनेंगे। हमारी इन्द्रियाँ प्रशस्त होंगी और हम 'गोतम' होंगे।

भावार्थ—मैं प्रभु को जीतने=पाने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

हम तेरे ही तो हैं

३७३. इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणीरिव प्रति तद्धर्य नो वचः॥ ४॥

इमे=ये हम **ते**=तेरे हैं **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ते**=तेरे हैं **वयम्**=हम सब। **पुरुष्टुत**=बहुतों से स्तुति करने योग्य अथवा पालक व पूरक स्तवनवाले प्रभो! हे **प्रभूवसो**=पालक व पूरक धन के प्रभो! हम सब तो वे हैं **ये**=जो **त्वा आरभ्य**=तेरा आश्रय करके **चरामसि**=संसार में विचरण करते हैं। मनुष्य को प्रभु का ही आश्रय करके विचरण करना। प्रभु परमैश्वर्यशाली हैं अन्य न्यून ऐश्वर्यवालों की आराधना में क्यों उलझना? वे प्रभु सदा पुकार को सुननेवाले हैं उनकी पुकार हमारी पूरक है औरों के आगे तो बहुधा पुकार व्यर्थ भी जाती है, हाथ हिलाने पर वे प्रभु तो अवश्य निवास के लिए पर्याप्त धन देते हैं, अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम प्रभु को आधार बनाकर चलें।

हे **गिर्वणः**=सब वेदवाणियों से सेवनीय अथवा सब वेदवाणियों का सेवन व संविभाग करनेवाले प्रभो! **त्वदन्यः**=आपसे भिन्न कोई भी **गिरः**=वेदवाणियों को **नः**=नहीं **सघत्**=व्याप्त करता है। सब वेदज्ञान को देनेवाले तो आप ही हैं। आपके आश्रय से जहाँ धन प्राप्त होगा, वहाँ ज्ञान भी प्राप्त होगा। ज्ञान से मैं उस धन का ठीक ही विनियोग करूँगा, उसमें आसक्त नहीं होऊँगा।

हे प्रभो! **क्षोणीः इव**=जैसे यह पृथिवी माता हमारी पुकार को सुनती है और हमारी कामनाओं को पूरा करती है, उसी प्रकार आप **नः**=हमारे **प्रति**=प्रत्येक के—सबके लिए **तत् वचः**=उस प्रार्थना-वचन को **हर्य**=प्राप्त कराएँ, अर्थात् हम सबकी प्रार्थना के अनुकूल सर्व हितकारी वस्तु हमें प्राप्त कराएँ। मेरे अकेले की प्रार्थना मानी जाए, ऐसा मैं नहीं चाहता, हम सबकी प्रार्थना का ध्यान करके आप हमारी प्रार्थना को पूर्ण कीजिए।

जिस व्यक्ति का जीवन इस आदर्श को लेकर चलता है कि प्रार्थना भी केवल मेरी नहीं अपितु सभी की स्वीकृति हो उस व्यक्ति का जीवन तो सचमुच यज्ञमय है। वह 'सव्य'=सव अर्थात् यज्ञ करनेवालों में उत्तम है। यह सव्य भोगमय जीवन से ऊपर उठा होने के कारण 'आङ्गिरस' तो है ही।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे जीवनों का आधार हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रो गाथिनः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

छोड़ें और पाएँ

३७४. चर्षणीधृतं मघवानमुक्थ्या३मिन्द्रं गिरो बृहतीरभ्यनूषत।
वावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाणं दिवेदिवे॥ ५॥

बृहतीः=हमारा वर्धन करनेवाली **गिरः**=वेदवाणियाँ **अभ्यनूषत**=उसी प्रभु का लक्ष्य करके स्तवन करती हैं, अर्थात् सभी वेदवाणियाँ अन्ततोगत्वा उस प्रभु का ही प्रतिपादन कर रही हैं। किस प्रभु का? १. **चर्षणीधृतम्**=जो सब मनुष्यों का धारण करनेवाले हैं। चर्षणी शब्द, उस मनुष्य का द्योतक है जो उत्पादक कार्य में लगा हुआ है, परमेश्वर उसका धारण करते ही हैं। २. **मघवानम्**=जो प्रभु पाप के लेश से भी शून्य ऐश्वर्यवाले हैं, ४. **इन्द्रम्**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाले हैं, असुरों का संहार करनेवाले हैं, ५. **वावृधानम्**=अपने स्वरूप में सर्वोत्कृष्ट वृद्धि को प्राप्त और ६. **पुरुहूतम्**=जिनकी पुकार पालक व पूरक है, ७. **अमर्त्यम्**=जो किसी भी वस्तु के पीछे मर नहीं रहे, अर्थात् जो अनासक्त हैं, ७. और अन्त में **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **सुवृक्तिभिः**=उत्तम वर्जनों के द्वारा—त्याग के द्वारा **जरमाणम्**=स्तुति किये जा रहे हैं।

स्तुति का अभिप्राय उन गुणों को अपने में धारण करना होता है, अतः हमें चाहिए कि हम उत्पादक श्रम में सहयोग दें, सुपथ से धनार्जन करें, स्तुतिवचनों को ही मुख से उच्चरित करें, आसुर वृत्तियों का संहार करें, छोटे न बनें, अपने दिलों को छोटा न करें, हमारे प्रति किसी की भी पुकार व्यर्थ न जाए और आसक्ति से ऊपर उठें।

उल्लिखित प्रकार से अपने जीवन को बिताते हुए हम इस तत्त्व को न भूलें कि हम उस-उस व्यसन को छोड़कर ही प्रभु का सच्चा स्तवन कर पाते हैं। इस प्रकार इन काम-क्रोधादि की भावनाओं को छोड़नेवाला ही सबके प्रति स्नेहवाला इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' बन पाता है और यही प्रभु का सच्चा गायक 'गाथिन' है।

भावार्थ—हम वासनाओं को छोड़कर प्रभु को पाने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**कृष्ण आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

पत्नी जैसे पति के साथ

३७५. अच्छा व इन्द्रं मतयः स्वर्युवः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परि ष्वजन्त जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये॥ ६॥

जिसने संसार की वासनाओं से अपने को ऊपर उठा लिया है (कृष्) बाहर निकाल लिया है, वह व्यक्ति कृष्ण है। न उलझने के कारण ही वह 'आङ्गिरस' है। यह कहता है कि **वः**=तुम सबकी **मतयः**=बुद्धियाँ, इच्छाएँ **इन्द्रं अच्छ**=उस प्रभु की ओर चलनेवाली हों, **स्वर्युवः**=उस स्वयं देदीप्यमान् ज्योति से अत्यन्त (यु+मेल) मेल करनेवाली हों। प्रभु की ओर जाने में ही कल्याण है। प्रकृति की ओर जाना अन्त में उलझन का कारण बनकर हानि-ही-हानि का कारण बनता है। प्रभु की ओर आने से ऐश्वर्य तो मिलता ही है, क्योंकि प्रभु

'इन्द्र'=परमैश्वर्यशाली हैं, साथ ही वहाँ 'स्वर्'=प्रकाश है, अन्धकार नहीं। परमेश्वर की ओर चलनेवाले को अपना कर्त्तव्यपथ बड़ा स्पष्ट दिखता है। इनकी मतियाँ **सध्रीचीः**=मिलकर चलने की उत्तम भावनावाली होती है (सह अञ्च्)। ये केवल अपनी उन्नति में ही सन्तुष्ट नहीं होते। **विश्वाः उशतीः**=सब प्रजाओं के हित को चाहती हुई इनकी मतियाँ वस्तुतः **अनूषत**=उस प्रभु का स्तवन करती हैं। प्रभु का उपासक औरों के साथ मिलकर चलता है और सभी के हित की भावना रखता है। यह किसी का अकल्याण नहीं चाहता।

ये लोग **परिष्वजन्त**=प्रभु का आलिङ्गन उसी प्रकार करते हैं **यथा**=जैसेकि **जनयः**=पत्नियाँ **पतिम्**=पति का आलिङ्गन करती हैं। पति-पत्नी प्रेम से आलिङ्गन कर एक हो जाते हैं, इसी प्रकार जीवरूप पत्नियाँ भी प्रभु का आलिङ्गन कर प्रभु के साथ एक हो जाती हैं। जीव बाहुल्य के कारण यहाँ 'जनयः' बहुवचनान्त है, प्रभु एक हैं तो 'पतिम्' एकवचन है। जैसे सती नारी स्वपति के अतिरिक्त किसी का चिन्तन नहीं करती, उसी प्रकार जीव प्रभु के साथ अनन्य प्रेमवाला हो।

दूसरी उपमा यह दी है कि हम अपनी **ऊतये**=रक्षा के लिए प्रभु की ओर उसी प्रकार जाएँ **न**=जैसे लोग **शुन्ध्युम्**=शुद्ध चरित्रवाले **मघवानम्**=ऐश्वर्य-सम्पन्न **मर्यम्**=व्यक्ति की ओर जाते हैं। प्रभु पूर्ण शुद्ध हैं—ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं, इसीलिए वे अधिक-से-अधिक हमारा हित कर पाते हैं। जो भी व्यक्ति इसी प्रकार शुद्ध व सम्पन्न होता है वही लोकहित करता है। हम अपनी रक्षा के लिए प्रभु की ओर इसी प्रकार जाते हैं, जैसे इन लोगों की ओर जाया जाता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति मेरा अनन्य प्रेम हो। मैं सर्वभावेन उनका भजन करूँ।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

वे धन के समुद्र हैं

३७६. अभि त्यं मेषं पुरुहूतमृग्मियमिन्द्रं गीर्भिर्मदता वस्वो अर्णवम्।
यस्य द्यावो न विचरन्ति मानुषं भुजे मंहिष्ठमभि विप्रमर्चत॥ ७॥

अपने जीवन को यज्ञमय बनानेवाला 'सव्य आङ्गिरस' इस मन्त्र का ऋषि है। सवों में=यज्ञों में यह उत्तम है और विषयासक्त न होने से 'शक्तिशाली' है—आङ्गिरस है। यह कहता है कि **त्यम्**=उस प्रभु की **अभि**=ओर चलो जो—१. **मेषम्**=सींचनेवाले हैं, धनों की वर्षा करनेवाले हैं, २. **पुरुहूतम्**=जिनके प्रति पुकार पालन व पूरण करनेवाली है और इसीलिए जो ३. **ऋग्मियम्**=अर्चनीय व पूजनीय हैं, ४. **इन्द्रम्**=जो परमैश्वर्यशाली हैं, ५. **वस्वो अर्णवम्**=निवास के लिए उत्तम धनों के समुद्र हैं, ६. **यस्य**=जिनके **मानुषम्**=मानवहित के कार्य **द्यावः न**=सूर्य की किरणों के समान या आकाश के समान सर्वत्र **विचरन्ति**=विचरते हैं, अर्थात् विद्यमान हैं, ७. और जो प्रभु **भुजे**=पालन के लिए **मंहिष्ठम्**=दातृतम हैं। प्रभुभक्त कभी भूखे थोड़े ही मरते हैं? आवश्यक धन उन्हें प्राप्त हो ही जाता है। वे प्रभु तो ८. **विप्रम्**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं।

इस प्रभु को **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **मदता**=आनन्दित करो। यदि मनुष्य वेद का अध्ययन करता है—ज्ञान प्राप्ति को अपने जीवन का मुख्य अङ्ग बनाता है तो वह सचमुच उस प्रभु को ज्ञानयज्ञ से आराधित करता है। जीवों को चाहिए कि **अभि अर्चत**=सब प्रकार से इस

प्रभु की अर्चना को वे अपने जीवन का लक्ष्य बनाएँ।

भावार्थ—मैं प्रभु का भक्त बनूँ, वे धन के समुद्र हैं, अतः मुझे धन की क्या चिन्ता?

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

उत्तम व्रतों के द्वारा

३७७. त्यं सु मेषं महया स्वर्विदं शतं यस्य सुभुवः साकमीरते।
अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथमिन्द्रं ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः॥ ८॥

गत मन्त्र की भाँति सव्य कहते हैं कि **त्यम्**=उस **सुमेषम्**=उत्तम बरसनेवाले **स्वर्विदम्**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले प्रभु को **महय**=पूजो, **यस्य**=जिसकी **शतम्**=सैकड़ों **सुभुवः**=जीव को उत्तम स्थिति में लाने की प्रक्रियाएँ **साकम्**=साथ-साथ **ईरते**=चलती हैं। प्रभु धन देते हैं, ज्ञान देते हैं और न जाने कितने अचिन्त्य प्रकारों से हमारी स्थिति उत्तम बनाते हैं।

वे प्रभु **अत्यम्**=सतत गतिशील **वाजं न**=घोड़े के समान हैं। यदि मैं प्रकृति का आश्रय न करके प्रभु का आश्रय करता हूँ तो मेरी यह जीवन-यात्रा आगे-और-आगे बढ़ती ही चलती है। वे प्रभु तो निरन्तर गतिशील घोड़े के समान हैं, प्रभु पर मैं आरूढ़ हुआ और मेरी यात्रा पूरी हुई। वे प्रभु **हवनस्यदम्**=पुकार सुनते ही वेग से आनेवाले हैं। वे **रथम्**=सर्वोत्तम सारथि हैं। यदि मैं अपने रथ का सारथित्व प्रभु को सौंपता हूँ तो क्या कभी कोई ग़लती हो सकती है? अतः मैं इस कठिन जीवन-यात्रा में **अवसे**=रक्षा के लिए **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की ओर **ववृत्याम्**=अपने को मोड़ता हूँ। प्रभु की ओर मेरी चित्तवृत्ति मुड़ी और मेरा कल्याण हुआ।

यह प्रभु की ओर मुड़ना होता कैसे है? **सुवृक्तिभिः**=उत्तम वर्जनों के द्वारा। मैं काम-क्रोध को छोड़ता हूँ तो बस, मैं प्रभु की ओर मुड़ता हूँ। इस छोड़ने की प्रक्रिया को ही व्रतग्रहण कहते हैं। व्रत में हम किसी पाप को छोड़ते हैं। पाप को छोड़कर मैं प्रभु की ओर चलता हूँ।

यह प्रभु की ओर चलना सांसारिक दृष्टिकोण से भी तो किसी प्रकार घाटे का सौदा नहीं, प्रभु प्रकाश प्राप्त कराते हैं (स्वर्विदम्), तो धन के समुद्र भी हैं (वस्वो अर्णवम्) और बरसनेवाले ही नहीं (मेषम्) खूब बरसनेवाले हैं (सुमेषम्)। उनकी मानव-पालन की प्रक्रियाएँ सैकड़ों हैं, सैकड़ों ही क्या सारे आकाश में व्याप्त हैं। पालन के लिए पर्याप्त धन तो प्रभु प्राप्त कराते ही हैं।

भावार्थ—मैं सदा उत्तम व्रतों से प्रभु की प्रार्थना करूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

द्यावापृथिवी

३७८. घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा॥ ९॥

वेद में **'मूर्ध्नो द्यौः'** इस संकेत के अनुसार मस्तिष्क के लिए द्युलोक और **'पृथिवी शरीरम्'** इस संकेत के अनुसार शरीर के लिए पृथिवी शब्द का प्रयोग उपलभ्य है। एवं, **द्यावापृथिवी**=हमारा मस्तिष्क और शरीर कैसा हो? इसका विवेचन प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार है कि—

१. **घृतवती**=मस्तिष्क दीप्तिवाला हो। (घृ–दीप्ति) और शरीर सब प्रकार के मलों के (घृ–क्षरण) क्षरण=पार्थक्यवाला हो। मलों (foreign matter) के अभाव में शरीर स्वस्थ होगा और स्वस्थ शरीर में ही वस्तुतः स्वस्थ मस्तिष्क भी होगा।

२. **भुवनानाम्**=लोकों कें **अभिश्रिया**=आश्रयणीय ये हों। हमारा ज्ञान व हमारी शक्ति लोकहित में विनियुक्त हो।

३. **उर्वी**=हमारा दृष्टिकोण विशाल हो। ज्ञान की वृद्धि के अनुपात में ही तो यह दृष्टिकोण विशाल होगा। **पृथ्वी**=हमारा शरीर भी विस्तृत हो (प्रथ=विस्तारे)।

४. **मधुदुघे सुपेशसा**=हमारा मस्तिष्क मधु का दोहन व पूरण करनेवाला हो तो शरीर का गठन बड़ा सुन्दर हो। शरीर सु=उत्तम पेशस्=आकृतिवाला हो।

इस प्रकार का मस्तिष्क व शरीर **विष्कभिते**=तभी बने रह सकते हैं जब हम अपने जीवनों को **वरुणस्य धर्मणा**=वरुण के धर्म से ले–चलें। वरुण पाशी है, बाँधनेवाला है। यदि हम अपने जीवनों को व्रतों के बन्धन से बाँधते हैं तो हमारे ये शरीर व मस्तिष्क **विष्कभिते**=थमे रहते हैं। **अजरे**=ये जीर्ण नहीं हो जाते और **भूरि रेतसा**=बड़े शक्ति–सम्पन्न बने रहते हैं। शरीर को शक्ति–सम्पन्न बनाकर यह व्यक्ति 'भरद्वाज' कहलाता है और मस्तिष्क को उज्ज्वल करके यह 'बार्हस्पत्यः' होता है। अव्रती जीवन भोगासक्त हो शरीर व मस्तिष्क दोनों को ही क्षीण कर लेता है।

भावार्थ—मेरा जीवन व्रतमय हो। मैं अन्त तक अक्षीणशक्ति व दीप्त मस्तिष्क बना रहूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**द्यावापृथिवीः**॥ छन्दः—**महापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उषाकाल के उपकार

२७९. उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषाइव। महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम्।
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥ १०॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **यत्**=जब तू **उभे रोदसी**=द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों का, अर्थात् मस्तिष्क और शरीर का **उषा इव**=उषा की भाँति **आपप्राथ**=सब प्रकार से पूरण करता है, अर्थात् जैसे उषःकाल अँधेरे को नष्ट कर देता है और सारे द्युलोक को प्रकाश से भर देता है उसी प्रकार तू भी शरीर के मलों को नष्ट कर देता है और मस्तिष्क को ज्ञान की ज्योति से भर देता है। उषा की इस प्रेरणा का परिणाम यह होता है कि यह **त्वा**=तुझे **महीनां महान्तम्**=आदरणीयों में आदरणीय बनाती है और **चर्षणीनाम्**=श्रमशील व्यक्तियों में **सम्राजम्**=खूब चमकनेवाला बनाती है। अपनी देदीप्यमान ज्ञानज्योति से तू आदर का पात्र बनता है और श्रम के कारण निर्मल शरीरवाला होकर स्वास्थ्य के सौन्दर्य से चमक उठता है। वस्तुतः यह उषःकाल **देवी जनित्री**=दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाली तथा ज्ञान का विकास करनेवाली है।

उषःकाल का अरुण प्रकाश मनुष्य के मानस के तम को भी दूर कर देता है। **अजीजनत्**=यह उषः हमारा ऐसा विकास करे ही। यदि किन्हीं अन्य विरोधी कारणों से यह उषः हमें देव व विकसित ज्ञानवाला न भी बनाए तो भी **भद्रा जनित्री**=यह कल्याणमय स्थिति में प्राप्त करानेवाली तो होती ही है, यह हमारी शारीरिक शक्तियों का विकास तो करती ही है। यह **अजीजनत्**=हमारा इस प्रकार विकास अवश्य करे। प्रस्तुत मन्त्र में 'महान्तं त्वा महीनाम्' शब्द मस्तिष्क से सम्बद्ध है तो 'सम्राजं चर्षणीनाम्' शरीर से, 'देवी जनित्री' शब्द मस्तिष्क के दृष्टिकोण से कहा गया है तो 'भद्रा जनित्री' शरीर के दृष्टिकोण से। उषःकाल की प्रेरणा मस्तिष्क के लिए भी है, शरीर के लिए भी। इस प्रेरणा को प्राप्त करके तदनुसार चलनेवाला व्यक्ति ही 'मेधातिथि' है—समझदारी से चलनेवाला है। कण-कण करके ज्ञान व शक्ति का सञ्चय करता हुआ यह व्यक्ति 'काण्व' है।

भावार्थ—उषःकाल मुझे अन्धकारनाश व प्रकाश के प्रसार की प्रेरणा देनेवाला हो।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

कैसा मित्र

३८०. प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना।
अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हुवेमहि॥ ११ ॥

१. **मन्दिने**=सदा प्रसन्नता प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिए **पितुमत् वचः**=रक्षणात्मक प्रार्थना-वचन **प्र अर्चत**=खूब उच्चारण करो, रक्षणात्मक प्रार्थना-वचनों से प्रभु की पूजा करो। वस्तुतः प्रभु से सांसारिक सुख-भोगों की याचना करके हम प्रभु का भी आदर नहीं कर रहे होते। 'प्रभु हमें काम-क्रोधादि आसुर वृत्तियों से सुरक्षित करें' यही सर्वोत्तम प्रार्थना है, यही प्रभु की सच्ची पूजा भी है। इन प्रार्थनाओं को क्रियारूप में अपने जीवन में लाकर हम अपने जीवनों को प्रसादमय बना पाते हैं। प्रभु **मन्दिन्**=हमें प्रसन्न करनेवाले तो हैं ही।

२. उस प्रभु के लिए हम रक्षणात्मक प्रार्थना वचन कहें **यः**=जो **कृष्णगर्भाः**=मनुष्यों के गर्भ में विद्यमान कालिमा को, काली=अशुभ पापमयी चित्तवृत्तियों को **ऋजिश्वना**=सरल मार्ग से **निरहन्**=नष्ट करते हैं। **'युयोधि अस्मज्जुहुराणमेनः'**=हमसे कुटिल पाप को दूर कीजिए।

३. हमारी वृत्ति शुभाशुभ बहुत कुछ सङ्ग व साथ से बनती है, इसीलिए कहते हैं कि **अवस्यवः**=रक्षण चाहते हुए हम **सख्याय**=मित्रता के लिए **हुवेमहि**=पुकारते हैं। किसको?

(क) **वृषणम्**=जो बरसनेवाला है, कृपण नहीं है।

(ख) **वज्रदक्षिणम्**=जो शरीर में वज्रतुल्य है और मस्तिष्क में चतुर है। निर्बल शरीरवाला अधिक लोकहित नहीं कर सकता और मूर्ख व्यक्ति हमें संकटों से बचा नहीं सकता।

(ग) **मरुत्वन्तम्**=जो प्राणोंवाला है। जिसने प्राणों की साधना की है। प्राणसाधना चित्त व इन्द्रियों के मलों को दूर कर उन्हें निर्मल बनाती है। निर्मल मनवाला मित्र ही सर्वोत्तम मित्र है। सब वसनाओं को कुचल डालने से ही यह इस मन्त्र का ऋषि 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति मैं रक्षणात्मक प्रार्थना-वचन कहूँ। सरल मार्ग से चलकर हृदय

की कालिमा को धो डालूँ। दानी, सबल, चतुर व साधुस्वभाव मित्रों के साथ विचरूँ।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**नारदः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

महत्त्व की प्राप्ति

३८१. इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम्। विदे वृधस्य दक्षस्य महाँ हि षः॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि 'नारद' है—नर-समूह को जो शुद्ध बनाता है। (दैपृ शोधने)। अपने आप शुद्ध बने बिना दूसरे को शुद्ध बनाना सम्भव नहीं। अपने को अधिक-से-अधिक शुद्ध बनाकर ही यह औरों को भी शुद्ध बनाता है—और इस प्रकार **हि**=निश्चय से **सः**=वह **महान्**=बड़ा बनता है। यह बड़ा तभी बनता है यदि—

१. **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **सुतेषु सोमेषु**=सोमों (Semen) के उत्पन्न होने पर यदि तू आत्मशासन कर पाता है।

बड़ा बनने के लिए आत्मसंयम नितान्त आवश्यक है। इसके बिना बड़ा बनना सम्भव ही नहीं। यह आत्मसंयम भी प्रथम आयुष्य में ही नितान्त आवश्यक है, क्योंकि धातुओं के क्षीण होनेपर तो शान्ति हो ही जाती है। प्रभु कहते हैं कि हे इन्द्र! तू—

२. **क्रतुं पुनीषे**—इस आत्मसंयम से मस्तिष्क में ज्ञान (क्रतु) को, हृदय में संकल्प को और हाथों (शरीर) में कर्म को पवित्र करता है। शरीर में रेतस् होने पर ही ज्ञान, संकल्प व कर्म Head, heart और hands तीनों की शुद्धि हो जाती है। वस्तुतः इन तीन के अतिरिक्त मनुष्य है भी क्या, और इन तीनों के अतिरिक्त उसे करना भी क्या है? इन तीनों को विकसित करके वह—

३. **उक्थ्यम्**=स्तोत्रों में साधु होता है। उत्तम ज्ञान, संकल्प व कर्मों का उसे अभिमान नहीं होता। प्रभु का स्तवन उन्नत होने पर भी उसे विनीत बनाये रखता है। जितना-जितना वह ऊँचा उठता जाता है उतना-उतना ही विनीत होता जाता है। इस प्रकार प्रतिदिन विनीतता को धारण करता हुआ यह—

४. **वृधस्य दक्षस्य विदे**=शरीर की वृद्धि, मानस-विकास (दक्ष् to grow) व दाक्षिण्य की प्राप्ति के लिए होता है। उसका शरीर वज्रतुल्य होता है और मन व मस्तिष्क बड़े सुलझे हुए—दक्षतावाले होते हैं।

भावार्थ—मैं महत्त्व की प्राप्ति के लिए १. यौवन में ब्रह्मवादी बनूँ, २. अपने क्रतु को पवित्र करूँ ३. प्रभु-स्तोत्रों को अपनाऊँ और ४. वृद्धि व दक्षता का लाभ करूँ।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

महत्त्व की रक्षा

३८२. तमु अभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम्। इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत॥ २॥

गत मन्त्र के आत्मसंयम, क्रतु-पवित्रता, प्रभु-स्तवन, वृद्धि व दक्षता के लाभ से हमें महत्त्व की प्राप्ति हुई। अब इस महत्त्व की रक्षा के लिए इस मन्त्र में कहते हैं कि महान् बने रहने के लिए उस महान् प्रभु की उपासना करो। **उ**=निश्चय से **तम्**=उसे **अभि**=लक्ष्य करके **प्रगायत**=खूब ही गायन करो, जिस प्रभु की **पुरुहूतं पुरुष्टुतम्**=पुकार (हूतम्) व जिनका स्तवन (स्तुतम्) तुम्हारा पालक व पूरक (पुरु) है। प्रभु को पुकारने से व स्तुत करने

से हमारी प्रयत्न-सिद्ध महत्ता की रक्षा होगी और जो कमी होगी उसका पूरण हो जाएगा। **इन्द्रम्**=वे प्रभु तो परमैश्वर्यशाली व सर्वशक्तिमान् हैं, **तविषम्**=महान् हैं, उस महान् प्रभु को **गीर्भिः**=इन वेदवाणियों के द्वारा **आविवासत**=सर्वथा परिचरित करो, पूजो। हमारी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाले हम 'गोषूक्ति' बनें और कर्मेन्द्रियों से इनका कथन करनेवाले 'अश्वसूक्ति'। कण-कण करके इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से वेदवाणियों को समझेंगे और कर्मेन्द्रियों से उनको क्रियान्वित करेंगे तो क्यों न महान् बने रहेंगे? उस तविष=महान् प्रभु के सम्पर्क में हम भी महान् बने रहेंगे (तु=वृद्धौ)। वे प्रभु अपने प्रकाशमान स्वरूप में सदा बढ़े हुए हैं, उनके सम्पर्क में रहता हुआ मैं भी महान् बना रहूँगा। जो व्यक्ति प्रभु से दूर हुआ उसी ने अपनी महत्ता को खोया। कारण यह कि प्रभु से दूर होते ही अभिमान दबा लेता है—और अभिमान पतन का कारण बन जाता है।

भावार्थ—मैं सदा प्रभु को स्मरण करूँ जिससे अधोगति को प्राप्त न हो जाऊँ।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

शूरवीर कौन है

३८३. तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृक्षु सासहिम्। उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम्॥ ३॥

जो व्यक्ति वीर होता है उसमें एक मद-सा होता है। गर्व तो अच्छी वस्तु नहीं, परन्तु इसका एक उत्तम रूप 'गौरव' होता है। आत्मसम्मान (Self-respect) हेय वस्तु नहीं। **'स्वं महिमानमायजताम्'** अपनी महिमा का आदर करो, यह वेद का उपदेश गौरव को ही अनुभव करने की बात कह रहा है, अतः मनुष्य में एक मद तो होना ही चाहिए, परन्तु कौन सा? प्रभु कहते हैं कि **ते**=तेरे **तम्**=उस **मदम्**=मद को हम **गृणीमसि**=स्तुत करते हैं, उत्तम समझते हैं जो—

१. **वृषणम्**=बरसनेवाला है। खूब दान देनेवाला है। एक कायर व्यक्ति दान देने से घबराता है, वीर ही दान दे पाते हैं। २. **पृक्षु**=संग्रामों में **सासहिम्**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला है। यहाँ संग्राम से अभिप्राय हृदयस्थली पर निरन्तर चलनेवाले काम-क्रोधादि से संग्राम का है। इस संग्राम में जो इन वासनाओं को जीतकर संयमशूर बनता है, उसी का मद प्रशंसनीय है। ३. **उ**=और **लोककृत्नुम्**=जो मद लोकों का निर्माण करता है, उसकी हम प्रशंसा करते हैं। निर्माणात्मक कार्यों में, परोपकार के कार्यों में लगा हुआ व्यक्ति ही शूरवीर है। और अन्त में **अद्रिवः**=वज्रतुल्य शरीरवाले शूर हम तेरे उसी मद की प्रशंसा करते हैं जो ४. **हरिश्रियम्**=दुःखी मनुष्यों से आश्रयणीय होता है। लोग कष्टों में होते हैं, तुझे रक्षा करने में शूर जान तेरी शरण में आते हैं, तेरा श्रयण करते हैं और तू 'हरिश्रीः' बनने में जिस मद का अनुभव करता है, उसकी हम प्रशंसा करते हैं।

इस प्रकार के 'दानशूर, संयमशूर, निर्माणशूर व परोपकार और शरणागत-रक्षा में शूर व्यक्ति 'गोषूक्ति और अश्वसूक्ति' होते हैं। इनकी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से उत्तम ही कथन होता है। ये अशुभ की ओर झुकी हुई नहीं होतीं।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम 'दान, संयम, निर्माण व शरणागत-रक्षा' में शूर बनें। इसी शूरवीरता को वांछनीय समझें। इसमें समर्थ होने के लिए अपने शरीर को पाषाण व वज्रतुल्य दृढ़ बनाएँ, क्योंकि निर्बल शरीर से हम इन बातों में शूर न बन सकेंगे।

ऋषिः—**काण्वः पर्वतः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

कौन-सी शूरवीरता

३८४. यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये। यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥ ४ ॥

गत मन्त्र में (अद्रिवः) शब्द से संकेत किया था कि शूरवीर के लिए वज्रतुल्य शरीरवाला होना आवश्यक है। प्रस्तुत मन्त्र का तो ऋषि ही 'पर्वत' है, इसने थोड़ा-थोड़ा करके तपस्या व साधना से अपने शरीर को पत्थर के समान दृढ़ बनाया है, अतः यह 'कण्व' है। यह **इन्दुभिः**=(बिन्दुभिः) सोमकणों से **संमन्दसे**=सम्यक् आनन्दित होता है। किन सोमकणों से?

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **यत् सोमम्**=जो सोम **विष्णवि**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक मनोवृत्तिवाले में है। वस्तुतः शूर वही है जिसका हृदय विशाल है। छोटे दिलवाला कभी शूर नहीं होता।

२. **यत्**=जो **वा घ**=निश्चय से **त्रिते**=(त्रीन् तनोति) काम की विरोधी भावना सत्य को विस्तृत करता है उस त्रित में जो वीरता है, उससे तू आनन्द का अनुभव करता है।

३. **आप्त्ये**=परमेश्वर को प्राप्त करनेवालों में जो उत्तम हैं, उनमें जो वीरता है वह तेरे आनन्द का कारण होती है। और अन्त में—

४. **यद्वा**=जो निश्चय से **मरुत्सु**=प्राण-साधना करनेवालों में वीरता है, उससे तू आनन्दित होता है।

पिछले मन्त्र में दानशूर, संयमशूर, निर्माणशूर और परोपकारशूर—इन चार व्यक्तियों का उल्लेख हुआ था। इस मन्त्र में उदारता (विशालमनस्कता) में शूर, ब्रह्मचर्य, अहिंसा व सत्य के पालन में शूर, प्रभु-प्राप्ति में शूर और प्राणसाधना में शूर का वर्णन हुआ है। ऐसा शूर बनने के लिए 'इन्द्र' इस सम्बोधन के द्वारा 'इन्द्रियों को वश में करना' रूप साधन का वर्णन हुआ है। बिना जितेन्द्रिय बने सोमरक्षा नहीं, और बिना सोमरक्षा के उदारता इत्यादि गुणों का सम्भव नहीं। इन गुणों के पर्वों को उत्तरोत्तर धारण करते चलने से यह 'पर्वत' नामवाला हो गया है।

भावार्थ—मैं उदारता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, प्रभु-प्राप्ति और प्राणसाधना में शूर बनूँ।

ऋषिः—**विश्वमना वैयश्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

शूर सदावृध है

३८५. एदु मधोर्मदिन्तरं सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः। एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥ ५ ॥

उल्लिखित सब प्रकार की वीरताओं को प्राप्त करने के लिए हे **अध्वर्यो**=जीवन को हिंसाशून्य यज्ञरूप बनानेवाले जीव! **मधोः**=मधु से भी **मदिन्तरम्**=अधिक मद का अनुभव करानेवाले **अन्धसः**=(आध्यातव्य) सोम का **इत् उ**=निश्चय से **आसिञ्च**=अपने में सेचन कर। इस सोम को नष्ट न होने दे। **एव**=इस प्रकार ही **हि**=निश्चय से **वीरः**=तू वीर बनेगा और **सदावृधः**=सदा वर्धनवाला होगा।

सोम ही वह शक्ति है जो सब उन्नतियों के मूल में है। इसके बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। यही जड़ जगत् की सर्वोत्तम वस्तु है, जो चेतन जगत् की सर्वोत्तम वस्तु

प्रभु को प्राप्त कराती है, इसलिए सबसे बड़ा वीर तो वही है जो सोम के संयम में वीर बना है। यही वीर **स्तवते**=सदा स्तुत होता है—प्रभु की प्रशंसा का पात्र होता है। उसकी मनोवृत्ति व्यापक होती है, अतः यह 'विश्वमनाः' कहलाता है और इसकी सब इन्द्रियाँ विशिष्टता को लिये होती हैं, इसलिए यह 'वैयश्व' कहलाता है। यह 'सदावृध' है—सदा आगे और आगे चल रहा है। पिछले दो मन्त्रों के साथ मिलकर इस मन्त्र तक नौ शूरवीरों का उल्लेख हो गया है। ये वीर ही प्रभु से आदर पाते हैं—प्रभु के प्रिय बनते हैं।

भावार्थ—मैं सोम के सिञ्चन में वीर बनकर सदावृध बनूँ। इसके लिए मैं अध्वर्यू—सदा अहिंसक, अनुत्तेजित रहूँ। जितेन्द्रियता और अनुत्तेजना से ही सोम-पान सम्भव होगा।

ऋषिः—**विश्वमना वैयश्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

सोम सेचन के लाभ

३८६. एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु। प्र राधांसि चोदयते महित्वना॥ ६॥

१. **इन्दुम्**=सोम को **इन्द्राय**=उस सर्वैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **आसिञ्चत**=अपने अन्दर सींचो। सोम-पान का सर्वोत्तम लाभ तो यही है कि इससे मनुष्य प्रभु की प्राप्ति-योग्य बनता है। भोगमार्ग में सोम का अपव्यय है—योगमार्ग में सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, और तब उस तीव्र-बुद्धि से मनुष्य परमेश्वर का दर्शन करता है।

२. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वमना वैयश्व' इस सारी बात का ध्यान करके **सोम्यं मधु**=सोम-सम्बन्धी मधु का **पिबाति**=पान करता है। अन्य मधु सौम्य नहीं है, यह सोमपान रूपी मधुपान ही सौम्य है। यह हमें सोम व विनीत बनानेवाला है। अन्य मधुओं के पान से मनुष्य गर्वित हो जाता है तो इस सोम का पान करके वह गौरव का अनुभव करते हुए भी अधिक-से-अधिक विनीत होता है।

३. यह सोम **महित्वना**=महिमा की प्राप्ति के द्वारा **राधांसि**=सफलताओं को (राध्=संसिद्धि) **प्रचोदयते**=प्रकर्षेण प्रेरित करता है, अर्थात् सोमपान करनेवाले को यह सोम सदा सफल बनाता है। सोमपान करनेवाला कभी असफल नहीं होता।

सोमपान के तीन लाभ हैं १. प्रभु की प्राप्ति २. विनीतता ३. तथा साफल्य

भावार्थ—सोमपान के द्वारा मैं सफल बनूँ, परन्तु विनीत रहूँ और इस प्रकार प्रभु को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**विश्वमना वैयश्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्—एक ओर सारा संसार, दूसरी ओर प्रभु

३८७. एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम्। कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत्॥ ७॥

सोम का शरीर में सेचन आवश्यक है। उसके लिए 'जितेन्द्रिय होना' (इन्द्र ३८४) और अध्वर्यु=अहिंसक बने रहना (३८५), उत्तेजित न होनारूप उपायों का निर्देश हो चुका है, परन्तु सर्वमहान् साधन तो 'प्रभु-स्तवन' है, उसी का प्रस्तुत मन्त्र में उल्लेख है—

एत उ=निश्चय से आओ। **तु**=अब **इन्द्रम्**=उस प्रभु का **स्तवाम**=स्तवन करें। **सखायः**=हम सब समानरूप से प्रभु का ध्यान करनेवाले सखा हैं। सच्चा सखित्व तो यही है। वह प्रभु **स्तोम्यम्**=स्तोमों के—स्तुतिसमूहों के योग्य हैं। प्रभु की ही मनुष्य को स्तुति करनी चाहिए। प्रभु **नरम्**=हमें सदा आगे और आगे ही ले जानेवाले हैं। प्रभु की स्तुति हमारी लक्ष्य-दृष्टि

को ऊँचा बनाती है और हम उसी अनुपात में उन्नत होते चलते हैं।

यः=जो प्रभु एक हैं, परन्तु **एकः इत्**=वे अकेले ही **विश्वाः कृष्टीः**=सब उद्योगों में लगे मनुष्यों को **अभ्यस्ति**=दबा लेते हैं। सारा संसार मेरे विरोध में हो, पर प्रभु मेरे साथ हैं तो मेरा विजय निश्चित है। इसके विपरीत सारा संसार साथ है—और मैं प्रभु से दूर होऊँ तो मेरा पराभव भी उतना ही निश्चित है, इसीलिए आत्मा के लिए सारी पृथिवी के त्याग का उपदेश है। जो ऐसा कर सके वे महापुरुष हो गये, इसलिए चाहिए यही कि हम स्वर्ग के राज्य के लिए इस पृथिवी के राज्य को छोड़ने के लिए तैयार हो जाएँ। जिस दिन हम यह कर सके, उस दिन सोम के विनष्ट न होने से हम सचमुच आगे बढ़ेंगे।

भावार्थ—जितेन्द्रियता, अनुत्तेजना व प्रभु-स्तवन—सोमपान के इन तीन साधनों को क्रिया में लाकर हम आगे बढ़नेवाले नर हों।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

स्तुति क्यों?

३८८. इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥ ८॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नृमेध आङ्गिरस' है—मनुष्यों के साथ मिलकर चलनेवाला, शक्तिशाली। सबको अपना ही समझनेवाला राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है। इस भावना का पूर्ण विकास प्रभु-स्तवन से ही होता है। 'सबमें आत्मा और सब आत्मा में' यह चिन्तन हमें एकत्व का अनुभव कराता है। इसी से नृमेध कहता है कि उस प्रभु के लिए **बृहत् साम गायत**=बृहत साम का गायन करो। सामों में प्रभु के गुणों का गान है। सामों में भी 'बृहत्साम' का विशेष महत्त्व है। ये साम प्रभु के गुणों को हमारे सामने उपस्थित करके हमें भी उन गुणों को अपने जीवन का अङ्ग बनाने की प्रेरणा देते हैं। उस प्रभु के लिए हम गायन करें जो—

१. **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली हैं, बल के कार्यों को करनेवाले हैं और असुरों का संहार करते हैं। प्रभु के सम्पर्क में आकर हम भी परमैश्वर्य को प्राप्त करेंगे, शक्तिशाली होंगे और आसुर वृत्तियों को समाप्त कर पाएँगे।

२. **विप्राय**=विप्र के लिए। वे प्रभु वि-प्र=विशेषरूप से हमारी कमियों को दूर करनेवाले हैं। जैसे एक चित्रकार अपने निर्मित चित्र को अन्तिम स्पर्श (finishing touch) देता है, इसी प्रकार प्रभु-स्तवन हमारे जीवन-चित्रों की सूक्ष्मतम न्यूनताओं को दूर कर देता है।

३. **बृहते**=सदा वर्धमान के लिए। वे प्रभु हमारी न्यूनताओं को दूर करके सब प्रकार से हमारा वर्धन करते हैं।

४. **ब्रह्मकृते**=ब्रह्मकृत के लिए। वे प्रभु हमारी अन्तरात्मा में स्थित हुए वेदज्ञान का प्रकाश करते हैं।

५. **विपश्चिते**=विपश्-चित् के लिए। प्रभु के स्तोता के अन्दर भी सदा वस्तुओं को सूक्ष्मता से, गहराई तक देखकर सोचने की वृत्ति उत्पन्न होती है।

६. **पनस्यवे**=स्तुति को चाहनेवाले के लिए। जैसे एक पिता स्वयं मान का भूखा न होता हुआ भी सन्तानों में विनीतता चाहता है कि वे **'मातृदेव व पितृदेव'** हों, उसी प्रकार जीवों के हित के लिए ही प्रभु चाहते हैं कि जीव उनका उपासक हो, प्रकृति की ओर झुकाववाला न हो।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हुए ऐश्वर्य व बल के स्वामी होकर असुरों का संहार करें, न्यूनताओं को दूर कर वृद्धिशील हों। अन्दर ज्ञान के प्रकाश को देखते हुए वस्तुतत्त्व को देखकर चिन्तन करनेवाले बनें और प्रभु-प्रवण हों। यही आध्यात्मिकता है।

ऋषि:—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

उस लोक के साथ यह लोक भी

३८९. य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे। ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग॥ ९॥

प्रभु का स्तवन करनेवाला व्यक्ति निर्मल बनता है—प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होता है—'गोतम' कहलाता है। आत्मतत्त्व के लिए सारी पृथिवी को छोड़ने के लिए उद्यत यह व्यक्ति राहूगण= त्यागशीलों में गिना जानेवाला तो है ही। इसका सिद्धान्त है कि आध्यात्मिक लाभों के लिए हमें प्रभु-स्तवन करना ही चाहिए और कभी भी यह भय न करना चाहिए कि संसार-यात्रा कैसे चलेगी? क्योंकि **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—प्रभु के प्रति अपना समर्पण कर देनेवाले **मर्ताय**=मनुष्य के लिए **यः**=वे प्रभु **एकः इत्**=अकेले ही **वसु**=निवास के लिए आवश्यक धन **विदयते**=प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु ही तो **ईशानः**=सारे एश्वर्य के स्वामी हैं और फिर **अप्रतिष्कुतः**=किसी से न रोके जा सकनेवाले हैं। वे तो अकेले ही सारे मनुष्यों का पराभव करनेवाले हैं। वे सहस्रबाहु, हमें देने लगें तो हमने अपनी दो भुजाओं से सँभालना क्या? और छीनने लगें तो बचाना क्या? **इन्द्रः**=वे तो परमैश्वर्यशाली व सर्वशक्तिमान् हैं। **अङ्ग**=हे प्रिय! इन शब्दों में प्रभु जीव को सम्बोधित करते हैं। 'अगि गतौ' से बना यह शब्द सुव्यक्तरूप से कह रहा है कि प्रभु को वही जीव प्रिय है जो गतिशील है। हम गतिशील बनें। धन की कोई कमी न होगी, प्रभु का उपासक क्या कभी भूखा मर सकता है?

भावार्थ—प्रभु का उपासक प्रकृति से दूर भागता है और प्रकृति उसके पीछे आती है।

ऋषि:—**विश्वमना वैयश्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

आओ, मिलकर उसका स्तवन करें

३९०. सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे। स्तुष ऊ षु वो नृतमाय धृष्णवे॥ १०॥

विश्वमनाः=व्यापक मनवाला वैयश्वः=उत्तम इन्द्रियरूपी घोड़ोंवाला इस मन्त्र का ऋषि कहता है कि **सखायः**=मित्रो! हम **इन्द्राय**=सर्वशक्ति-सम्पन्न और **वज्रिणे**=सदा स्वाभाविक क्रियावाले प्रभु के लिए **ब्रह्म**=स्तोत्र को **आशिषामहे**=चाहते हैं, अर्थात् हम सब मिलकर उस प्रभु का स्तवन करें। प्रभु के स्तवन से हमारे अन्दर भी शक्ति का संचार होगा और हम भी स्वाभाविक रूप से क्रिया करने की प्रवृत्तिवाले होंगे।

एवं, विश्वमना सबको प्रेरणा देकर कहता है कि मैं तो **उ**=निश्चय से उस प्रभु का **सुस्तुषे**=पूजा की भावना से स्तवन करता ही हूँ, जो **वः**=तुम्हें **नृतमाय**=सबसे अधिक आगे ले-चलनेवाले हैं और इस उन्नति के मार्ग में आनेवाले शतशः विघ्नों का **धृष्णवे**=धर्षण करनेवाले हैं। मैं तो उसकी स्तुति करता ही हूँ।

भावार्थ—प्रभु के स्तवन के लिए मैं अपने सब साथियों को प्रेरित करूँ और प्रभु-स्तवन में लग जाऊँ।

अथ पञ्चमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**काण्वः प्रगाथः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

वृत्र का हनन

३९१. गृणे तदिन्द्र ते शव उपमां देवतातये। यद्धंसि वृत्रमोजसा शचीपते॥ १॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **ते**=तेरे **तत् शवः**=उस बल को **गृणे**=मैं मान देता हूँ जो तुझे १. **उपमाम्**=मेरे समीप लाता है। 'शव' शब्द 'शव गतौ' से बनकर उस शक्ति का वाचक है जो गतिमय है। मृत-शरीर को भी इसी लिए 'शव' कहते हैं कि वहाँ से कुछ चला गया है (प्र+इत=प्रेत)। एवं, शव के अन्दर गति की भावना है। क्रियाशील (Dynamic) शक्ति को 'शव' कहते हैं और यही हमें परमेश्वर तक पहुँचाती है। २. **देवतातये**=यह क्रियाशील शक्ति हममें दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाली होती है। वीरत्व के साथ ही दिव्य गुणों का निवास है। आचार्य के शब्दों में 'विजय ही सदाचार है, परजय ही अनाचार है'। क्रियाशील शक्ति से हम विजयी बनते हैं और इस विजय में ही दिव्यता का निवास है। वस्तुतः शक्ति से ही दिव्यता का विस्तार होता है।

३. प्रभु कहते हैं कि मैं तो तेरी इसी बात की प्रशंसा करता हूँ कि **यत्**=जो तू **ओजसा**=शक्ति से **वृत्रम्**=वृत्र को=ज्ञान के आवरणभूत काम को **हंसि**=नष्ट कर देता है। वासना का विनाश भी शक्ति की अपेक्षा करता है। कमज़ोर को वासना भी अधिक सताती है। ४. हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! मैं तेरी इसी लिए प्रशंसा करता हूँ कि तू **शचीपते**=शक्ति का पति=स्वामी बनता है। जीव शक्ति के बिना कुछ है ही नहीं। जीव में शक्ति है? नहीं, जीव शक्ति ही है। इस शक्ति से उसने १. प्रभु के समीप पहुँचना है, २. अपने में दिव्य गुणों का विस्तार करना है, ३. और ज्ञान के आवरणभूत काम का विध्वंस करना है। इस शक्ति को प्राप्त करने का साधन यह है कि वह **इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है तो **शचीपति**=शक्तियों का स्वामी भी बनता है। यही व्यक्ति प्रभु का सच्चा गायन करनेवाला 'प्रगाथ' है, उत्कृष्ट स्वभाववाला '**घोर**' है और कण-कण करके शक्ति का संचय करने से 'काण्व' है।

भावार्थ—मैं इन्द्र बनूँ, शचीपति बनूँ। प्रभु के समीप पहुँचूँ, दिव्य गुणों का विस्तार करूँ और वृत्र का विनाश करूँ।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

शम्बर का शमन

३९२. यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयन्। अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब॥ २॥

प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **अयम्**=यह **सः**=वह **सोमः**=वीर्यशक्ति है जो **ते**=तेरे लिए **सुतः**=उत्पन्न की गयी है, तुझे चाहिए कि तू **पिब**=इसका पान कर। इसका

अपव्यय न होने दे। यह वह सोम है **यस्य**=जिसकी **मदे**=शक्ति का गौरव अनुभव होने पर **त्यत् शम्बरम्**=उस शम्बर को **रन्धयन्**=तू समाप्त करनेवाला होता है।

गत मन्त्र में 'वृत्र-विनाश' का उल्लेख था, प्रस्तुत मन्त्र में 'शम्बर-शमन' का प्रकरण है। शम्=शान्ति का वर=वारण कर देनेवाला यह ईर्ष्या-द्वेष नामक असुर है। ईर्ष्यालु पुरुष का मन कभी शान्ति का अनुभव नहीं करता, क्योंकि यह स्वास्थ्य, धन, सुप्रजा, यश पाकर भी दूसरे को कुछ आगे बढ़ा देखकर जलता ही रहता है। **ईर्ष्यालोर्मृतं मनः**=ईर्ष्यालु पुरुष का मन मृत-सा रहता है। इसे तो तभी शान्ति आती है, जब यह दूसरे का पतन देखता है। एक के पतन के बाद किसी और की स्पर्धा चल पड़ती है—फिर उसका मन अशान्त हो जाता है। इस शम्बरासुर=ईर्ष्या का ही तो नाश करना है। इसका नाश सोम-पान से हो सकता है। सोम का पान जहाँ वृत्र का विनाश करता है, वहाँ इस शम्बर का भी। संयमी पुरुष ईर्ष्या से दूर रहता है। ईर्ष्या से दूर होकर इसका मन प्रसन्न होता है। इस प्रसन्नता से दुःखों का नाश ही नहीं, अपितु बुद्धि का विकास भी होता है और मनुष्य ज्ञान के प्रकाश के मार्ग में आनेवाले विघ्नों को समाप्त करनेवाला बनकर 'दिवोदास' कहलाता है। **दिवोदासाय**=दिवोदास के लिए शम्बर का रन्धन आवश्यक है। दिवः=प्रकाश के मार्ग में आनेवाले विघ्नों को दास=नष्ट करनेवाला। ईर्ष्या को नष्ट करके यह अपने ज्ञान को उज्ज्वल करता है—'बार्हस्पत्यः' कहलाता है और शक्ति-संयम करके भरद्वाजः' होता है।

भावार्थ—मैं सोम की रक्षा के द्वारा ईर्ष्या की वृत्ति से ऊपर उठूँ।

ऋषिः—**नृमेधः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

पर्वत के समान पृथु (Grand like a Mountain)

३९३. एन्द्र नो गधि प्रियं सत्राजिदगोह्य। गिरिर्न विश्वतः पृथुः पतिर्दिवः ॥ ३ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नृमेध'=सब मनुष्यों से सम्पर्क रखनेवाला='वसुधैव कुटुम्बकम्' की वृत्तिवाला, आङ्गिरस=एक-एक अङ्ग में रसवाला है। वृत्र और शम्बर (काम और ईर्ष्या) का विनाश करके इसे ऐसा बनना ही था। प्रभु इससे कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **नः**=हमें **आगधि**=प्राप्त होओ, आओ हमारे पास बैठो। हे **प्रिय**=अपने काम और ईर्ष्या के विनाशरूप कर्मों से हमें प्रीणत करनेवाले, आओ। तू तो **सत्राजित्**=सचमुच विजेता है। तूने आन्तर शत्रुओं पर विजय पाई हैं **अगोह्य**=तेरा कोई भी कर्म छिपाने योग्य नहीं, तामस् कर्म ही हमारी लज्जा के कारण व छिपाने योग्य हुआ करते हैं। तेरे कर्म तो सात्त्विक हैं, उनमें कुछ भी गोप्य नहीं है।

तूने तो अपने जीवन को ऐसा बनाया है कि **गिरिः न**=पर्वत के समान वह **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **पृथुः**=विस्तृत है। तेरा शरीर भी विशाल है, मन भी विशाल है और दृष्टिकोण भी—मस्तिष्क से सोचने की दिशा में दूरदृष्टि बना हैं। जहाँ शरीर के दृष्टिकोण से तूने अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शक्ति-सम्पन्न बनाकर दृढ़ बनाया है और तू 'भरद्वाज' कहलाया है, वहाँ **दिवः पतिः**=तू ज्ञान का पति बना है, ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति बनकर तू बार्हस्पत्य हुआ है। ऐसा बनकर तू हमारा बड़ा प्रिय बना है। ज्ञानी तो मुझे आत्मतुल्य प्रिय है, अतः आओ, मेरे समीप आओ। मुझमें स्थित हो जाओ।

भावार्थ—मैं १. जितेन्द्रिय, २. कामादि के नाश से प्रभु को प्रीणत करनेवाला, ३. सत्य

विजेता, ४. प्रकाशमय कर्मोंवाला, ५. पर्वत की भाँति विशाल व ६. प्रकाश का पति बनकर प्रभु के पास पहुँचूँ।

ऋषिः—**काण्वः पर्वतः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

अत्रि निहनन

३९४. य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति। येना हंसि न्या३त्रिणं तमीमहे॥ ४॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार पर्वत की भाँति विशाल (Grand) बनकर यह 'पर्वत' ही बन गया है। यह पर्वत बनने की साधना कण-कण करके हुई, अतः यह 'काण्व' है। प्रभु इससे कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता और अतएव **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिसम्पन्न जीव! **यः**=जो **सोमपातमः**=सोम (Vitality) का अधिक-से-अधिक पान करनेवाला तेरा **मदः**=गौरव का अनुभव **चेतति**=तुझे चेतनामय बनाता है—जागरित करता है, और इसलिए तुझे प्रमाद की मदिरा पीकर उन्मत्त नहीं होने देता, हम तो तेरे **तम्**=उसी मद को **ईमहे**=चाहते हैं। वस्तुतः प्रभु जीव से यही चाहते हैं कि वह 'इन्द्रियों का अधिष्ठाता बने, सोम का अधिक-से-अधिक पान करे, गौरव का अनुभव करें, शक्तिशाली बनें, और सदा चेतना में रहे—अपने स्वरूप को भूल न जाए।

जिस समय जीव अपने स्वरूप को भूलता नहीं तब वह चित्तवृत्तियों को अपने पर प्रबल नहीं होने देता—यह कभी क्रोध के वश में नहीं हो जाता। इसी से मन्त्र में कहते हैं कि हम तेरे उस मद को चाहते हैं **येन**=जिससे तू **अत्रिणम्**=अपने आधार को खा जानेवाले (अद् भक्षणे) इस क्रोध को **निहंसि**=निश्चय से मार डालता है। सोम का पान करनेवाला शक्तिशाली पुरुष क्रोधाभिभूत होता ही नहीं। क्रोध को अत्रि कहा है, क्योंकि क्रोध करनेवाला इस क्रोध से शतशः नाड़ी-संस्थान के रोगों से पीड़ित हो जाता है। यह क्रोध उसे खा-सा जाता है, परन्तु जब मनुष्य संयम से उत्पन्न अपने गौरव की भावना से भर जाता है तब क्रोध को कुचल देता है और प्रभु का प्रिय बनता है।

भावार्थ—मैं क्रोध को अपने गौरव से गिरा हुआ समझूँ और कभी उसके वश में न होऊँ।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः काण्वः**॥ देवता—**आदित्याः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

प्रकाशमय जीवन

३९५. तुचे तुनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे। आदित्यासः समहसः कृणोतन॥ ५॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'इरिम्बिठि काण्व' है—जिसका हृदयान्तरिक्ष गति के संकल्प से पूर्ण है (बिठ=अन्तरिक्ष, ईर=गतौ)। यह निरन्तर गति करता हुआ थोड़ा-थोड़ा करके प्रकाश को अपने अन्दर भरने का प्रयत्न करता है, अतः 'काण्व' है। यह प्रार्थना करता है कि हे **स-महसः**=तेजस्वितावाले **आदित्यासः**=आदित्यो! **नः तत् आयुः**=हमारे उस आयुष्य को **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिए **द्राघीयः**=विदीर्ण अन्धकारवाला (दृ—विदारणे) **सुकृणोतन**=उत्तमता से करो। दीर्घ शब्द का अर्थ लम्बा है। हिन्दी में 'चल लम्बा हो' इस मुहावरे में लम्बे होने का अर्थ भाग जाना ही है। इस भावना को लेकर भी प्रार्थना का स्वरूप यही है कि हमारे जीवन को ऐसा बनाओ जिसमें से अन्धकार भाग गया है। आदित्यों का विशेषण 'समहस्' देकर प्रकाश के साथ तेजस्विता की याचना का भी संकेत है। हमारा जीवन प्रकाशमय व तेजस्वी हो। जीवन तो है ही वह जो विज्ञान व विक्रम के यशों से सम्पन्न है। इनके बिना

तो जीवन लोहार की भस्त्रा=धौंकनी के समान है, वह भी तो श्वास लेती ही है।

हमारे पश्चात् भी हमारा घर प्रकाश व तेज से रहित न हो, अतः मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि **तुचे**=हमारे पुत्रों के लिए भी प्रकाशमय जीवन दीजिए। पुत्र के पश्चात् **तुनाय**=पौत्र (तुन=वंश-विस्तार करनेवाला) के लिए भी प्रकाश प्राप्त कराइए। पौत्र के लिए ही क्या! 'अपत्यं पौत्र-प्रभृति गोत्रम्' इस नियम से कि पौत्र से लेकर सब सन्तान गोत्र कहलाते हैं, हमारे गोत्र को आप प्रकाशमय और तजस्वी बनाएँ।

आदित्यों से प्रार्थना का अभिप्राय यह है कि सूर्य की बारह संक्रान्तियों से बारह आदित्य कहलाते हैं और इन्हीं से बारह मास बनते हैं। हम उन मासों के नक्षत्रवादी नामों से यह बोध लें कि १. हम इस संसार-वृक्ष की 'विशाखा'=विशिष्ट-सर्वोत्तम शाखा बनेंगे, २. यह संकल्प ही हमें 'ज्येष्ठा' ज्येष्ठ बनाएगा, ज्येष्ठ बनने का अभिप्राय 'अषाढ़ा' काम आदि शत्रुओं से पराजित न होना है, ४. इसके लिए आवश्यक है कि 'श्रवणा' हम विद्वानों के उपदेश का श्रवण करें, ५. यही 'भद्रपदा' कल्याण का मार्ग है, ६. इसपर चलने के लिए 'अश्विनी'=कल-कल की (श्वः श्वः) उपासना नहीं करनी, ७. कृत्तिका=कामादि शत्रुओं का अभी से छेदन प्रारम्भ कर देना है, ८. इन्हें ढूँढ-ढूँढकर इनका नाश करना है, अतः हम 'मृग-शिरस्'=ढूँढनेवालों के मुखिया बनें, ९. इन्हें नष्ट करके 'पुष्य' अपना पोषण करें, १०. जिससे हमारे जीवनों में (मा-अघ) पाप का लवलेश भी न हो और यह निर्मलता के उस एश्वर्य से सम्पन्न हो, जिससे कि ११. संसार का ऐश्वर्य 'फल्गुनी' फोक-सा प्रतीत हो और १२. चित्रा हमारे जीवनों में यह 'आश्चर्य' कर सकनेवाले हम बनें।

भावार्थ—आदित्यों से प्रेरणा प्राप्त करके हम अपने जीवनों को प्रकाशमय बनाएँ।

ऋषिः—**विश्वमना वैयश्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

दुर्गति से दूर व निर्मल

३९६. वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम्। अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव॥ ६॥

हे **वज्रहस्त**=(वज गतौ) गतिशील हाथवाले—अर्थात् सदा क्रियामय जीवन बितानेवाले! तू **हि**=निश्चय से **निर्ऋतीनाम्**=दुर्गतियों के **परिवृजम्**=सर्वथा वर्जन को **वेत्थ**=जानता है। तू अनुभव करता है—**'नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति'**=शुभ कार्यों को करनेवाला कोई भी कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। जिसका भी जीवन क्रियाशील है, वह सांसारिक ऐश्वर्य को प्राप्त करता ही है। निर्धनता उसका भाग्य नहीं है। **'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः'**, उसके दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है तो बायें में विजय। **'कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ'**=कर्म करने के लिए ही हाथ दिये गये हैं। जो भी व्यक्ति इनको क्रिया में व्याप्त रखता है, वह सदा अभ्युदय को प्राप्त करता है।

इसके साथ ही **अहरहः**=प्रतिदिन **परिपदाम् इव**=जो सदा गतिवाले होते हैं उनके समान यह **शुन्ध्युः**=अपना शोधन करनेवाला होता है। क्रियाशील व्यक्ति आत्मिक दृष्टिकोण से निर्मल रहता है, उसके मन में अशुभ विचार उत्पन्न नहीं होते। इसका मन निर्मल होकर उदार बन गया है। सभी के प्रति उत्तम मनवाला यह 'विश्वमना' है और उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला होने से 'वैयश्व' है।

भावार्थ—मैं क्रियाशील बनकर दुर्गति व मलों से दूर रहूँ।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः**॥ देवता—**आदित्याः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

रोग, कुत्सा व दुर्मति का यावन

३९७. अपामीवामप स्त्रिधमप सेधत दुर्मतिम्। आदित्यासो युयोतना नो अंहसः॥ ७॥

हे **आदित्यासः**=आदित्यो! निरन्तर क्रियाशीलता का उपदेश देनेवाले सूर्यो! **नः**=हमें अपनी प्रेरणा से क्रियाशील बनाकर **अंहसः**=कुटिलता से **युयोतन**=पृथक् करो। तमोगुणी—आलसी पुरुष अत्यधिक बदले की भावना से चलता है। वह कुटिलता की दिशा में ही सोचता है। हम आदित्यों की प्रेरणा से क्रियाशील बनकर कुटिलता से दूर हों। जिस प्रकार सूर्य सतत क्रियाशील है इसी प्रकार हम भी क्रियाशील बनें। क्रियाशीलता ही हमें कुटिलता से बचा सकती है।

कुटिलता से बचने के साथ क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप ये आदित्य **अमीवाम्**='रोगकृमियों को हमसे **अपसेधत**=दूर करते हैं। अकर्मण्य व आलसी शरीर में ही बीमारियाँ आती हैं। व्यायामशील के समीप तो बीमारियाँ उसी प्रकार नहीं आती जैसे गरुड़ के समीप सर्प। हे आदित्यो! **स्त्रिधम्**=कुत्सा को, हिंसा को, औरों के प्रति द्वेषादि की भावना को हमसे दूर करो। स्तुति-निन्दा में वे ही व्यक्ति चलते हैं जो अकर्मण्य होते हैं। इसी प्रकार **दुर्मतिम्**=अशुभ विचारों को हमसे दूर करो। क्रियाशील व्यक्ति का मस्तिष्क कभी भी दूषित विचारधाराओं को अपने मस्तिष्क में स्थान नहीं देता, इसीलिए हमें 'इरिम्बिठि' बनना ही चाहिए। हम थोड़ा-थोड़ा करके इस बात का अभ्यास करें कि हमारे हृदय कर्म-संकल्पवाले हों।

भावार्थ—मैं आदित्यों से क्रिया की प्रेरणा प्राप्त करके रोग, कुत्सा व दुर्गति से दूर हो जाऊँ।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिपदाविराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रभु का अन्तिम निर्देश

३९८. पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः। सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा॥ ८॥

वेद में स्थान-स्थान पर हम यह देखते हैं कि जहाँ कहीं शरीर, मन व बुद्धि के उत्थान की प्रार्थना है, वहाँ प्रभु ने 'सोमपान' का निर्देश किया है। चारों वेदों की समाप्ति पर अथर्व के २०वें काण्ड में **'पिब सोममृतुना'**=यही उपदेश है कि समय रहते सोमपान करना। युवावस्था में ही सोमरक्षा का ध्यान करना। प्रस्तुत मन्त्र में भी प्रभु यही कहते हैं कि यदि तूने 'रोग, कुत्सा व दुर्गति' को दूर करना है तो हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **सोमं पिब**=सोम का पान कर। यह सोम **त्वा**=तुझे **मन्दतु**=हर्षित करे। इसके कारण तेरा जीवन उल्लासमय हो। उस सोम को तू पी **यम्**=जिसे **ते**=तेरे लिए **हर्यश्वाद्रिः**=हरि=मनुष्यों के हृदय में स्थित होकर प्रेरणा देनेवाले और वज्रहस्त प्रभु ने **सुषाव**=उत्पन्न किया है। प्रभु प्रेरणा देते हैं, परन्तु लाचारी में वज्र-प्रहार भी करते हैं। वस्तुतः प्रभु के इसी वज्र से जीव धर्म के मार्ग पर चलता है।

यह सोम **सोतुः**=जिसके लिए सोम का सवन हुआ है, उस जीव के **बाहुभ्याम्**=हाथों से निरन्तर किये जानेवाले प्रयत्नों से (बाहृ प्रयत्ने) **सुयतः**=उत्तम प्रकार से नियन्त्रित होता है।

निरन्तर प्रयत्न में लगा हुआ व्यक्ति वासनाओं का शिकार नहीं होता और इस प्रकार सोम की रक्षा में समर्थ होता है। सोम की रक्षा करके यह **अर्वा न**=अश्व की भाँति शक्तिशाली होता है। अश्व शक्ति का प्रतीक है। यह सोमपान करनेवाला भी अश्व—शक्ति का पुञ्ज बनता है।

सोम को सुयत=उत्तम प्रकार से नियन्त्रित करनेवाला यह सचमुच वसिष्ठ=वशियों में सर्वश्रेष्ठ है। इस वशित्व के लिए ही यह 'मैत्रावरुणि' प्राणापान की साधनावाला बना है।

भावार्थ—'सोमपान' यह प्रभु का अन्तिम निर्देश है—मैं उसके पालन को अपना पवित्र कार्य समझूँ।

नोट—*सोता=जीव—जिसके लिए सोम पैदा किया गया है। सविता=परमात्मा—जो सोम के उत्पादन की व्यवस्था करता है।*

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

(जीव स्वभावतः पवित्र है) तीन प्रकार का युद्ध

३९९. अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि। युधेदापित्वमिच्छसे॥ १॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **इन्द्र**=हे जीवात्मन्! **त्वम्**=तू **जनुषा**=जन्म से **सनात्**=अनादिकाल से **अभ्रातृव्य**=शत्रु से रहित **असि**=है, **अना**=(नृ=नेता) नेता से रहित है और **अनापि असि**=(आपि=a friend) मित्र से रहित है। संसार में वैयक्तिक संघर्षों में ईर्ष्या-द्वेष यहाँ तक बढ़ जाता है कि भाई-भाई नहीं रह जाता, वह भ्रातृव्य=शत्रु बन जाता है। इन युद्धों में पड़कर मनुष्य का जीवन अशान्त हो जाता है। उसकी शक्ति अपने उत्थान में न लगकर दूसरों को गिराने में लगती है। इन वैयक्तिक युद्धों के द्वारा वह कितने ही भ्रातृव्यों को पैदा कर लेता है।

इसी प्रकार कई बार राष्ट्रों के परस्पर हित टकराते-से प्रतीत होते हैं—या एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को स्वार्थवश दबाना चाहता है, उस समय राष्ट्रीय हित की भावना (देशभक्ति= Patriotism) राष्ट्रों को परस्पर लड़ा देती है। अपने प्राणों को हथेली पर लेकर देशभक्त लोग एक-दूसरे को कुचल डालने के लिए और अपने राष्ट्र के गौरव की स्थापना में तुल जाते हैं। इस कार्य के लिए उन्हें अपना एक नेता चुनना पड़ता है। यह जैसा-जैसा कहता है वैसा-वैसा ही यह अनुयायिवर्ग करता है। ये सब इन युद्धों के कारण 'ना'—नेतावाला हो जाते हैं।

इन दोनों युद्धों के अतिरिक्त एक युद्ध और भी है। वह युद्ध हृदयस्थली पर चलनेवाला दैवी व आसुरी वृत्तियों का संघर्ष है। इसे ही देवासुर संग्राम भी कहते हैं। इस देवासुर संग्राम में हमें काम बड़ा प्रमाथि व कुचल देनेवाला दिखता है=क्रोध अजय्य-सा प्रतीत होता है। बार-बार असमर्थ होकर हम उस अचिन्त्य शक्ति की ओर झुकते हैं और उससे कहते हैं कि **"त्वया स्विद् युजा वयम्"**—तुझसे मिलकर ही हम इन्हें जीत सकेंगे। सचमुच इस आध्यात्मिक **युधा इत्**=युद्ध के द्वारा ही, प्रभु कहते हैं कि हे जीव! तू मेरी मित्रता **इच्छसे**=चाहता है।

वैयक्तिक ईर्ष्या-द्वेष की लड़ाइयों के द्वारा भ्रातृव्यों को, राष्ट्र व युद्धों के द्वारा नेताओं को और इस आध्यात्मिक युद्ध के द्वारा मनुष्य प्रभु की मित्रता को चाहता है। हम आध्यात्मिक

संग्राम के द्वारा प्रभु की मित्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। जिसने भी अपने जीवन में इन संग्रामों को महत्त्व दिया उसी ने वस्तुतः अपने कर्त्तव्य का उत्तम पालन किया। इस संसार–नाटक में अपने कर्त्तव्यभाग का उत्तम प्रकार से भरण करने से वह 'सोभरि' कहलाया। ऐसा वह कण–कण करके कर पाया, अतः वह 'काण्व' हुआ।

भावार्थ—आध्यात्मिक संग्राम के द्वारा हम प्रभु के मित्र बनें।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

उत्तम धनों की प्राप्ति

४००. यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे। सखाय इन्द्रमूतये॥ २॥

सोभरि ऋषि कहते हैं कि **यः**=जो प्रभु **नः**=हमारे और **वः**=तुम्हारे लिए **इदम् इदम्**=इस–इस प्रत्यक्ष दृश्य व प्राप्त **प्रवस्यः**=प्रकृष्ट धन को **आनिनाय**=प्राप्त कराता है **तम्**=उस प्रभु को **उ**=ही **स्तुषे**=स्तुत करते हैं। हम उस प्रभु की ही स्तुति करते हैं। उस प्रभु ने हमारे शरीर की रक्षा व धारण के लिए किस प्रकार उत्तमोत्तम फलों, शाकों व अन्नों को उत्पन्न किया है। मानस उन्नति के लिए सृष्टि को विविध सौन्दर्यों से किस अद्भुत प्रकार से भर दिया है? और संसार के रहस्यों को समझने के लिए हमें बुद्धि दी है।

सोभरि कहते हैं कि **सखायः**=हे मित्रो! **इन्द्रम्**=हम उस प्रभु को ही पूजें, जिससे **ऊतये**=अपनी रक्षा के लिए समर्थ हों। उस प्रभु की उपासना से दूर होने पर ये प्राकृतिक शाक–फल–भोज्य पदार्थ विविध भोगों में परिणत हो जाते हैं और हमारी इन्द्रिय–शक्तियों को जीर्ण कर देते हैं। प्रभु की उपासना से दूर होने पर ये प्राकृतिक सौन्दर्य मन को प्रसन्नता से भरने के स्थान पर प्रलोभनों से भर देते हैं। इसी प्रकार प्रभु की उपासना से दूर होने पर हमारी बुद्धि भी नाश को उपस्थित कर देती है। प्रभु की उपासना ही ऊतये=रक्षा के लिए है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना के बिना सब उत्तम वसु रक्षा के स्थान पर नाश के कारण बन जाते हैं।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

दूर क्यों?

४०१. आ गन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावानो माप स्थात समन्यवः।
दृढा चिद्यमयिष्णवः॥ ३॥

क्योंकि प्रभु की उपासना के बिना सभी उत्तम वसु=धन नाश का कारण बन जाते हैं, अतः **आगन्त**=आओ, प्रभु की उपासना में सम्मिलित होओ। सखा बनकर सब मिलकर उस प्रभु की स्तुति करो और इस प्रकार **मा**=मत **रिषण्यत**=हिंसित होओ। प्रभु की उपासना करने पर न तो हम भोगों में फँसेंगे, न सौन्दर्य के प्रलोभनों का शिकार होंगे और न ही बुद्धि का दुरुपयोग करेंगे।

प्रस्थावानः=हे उत्तम (प्र) स्थिति (स्था) वालो! शम–दमादि उत्तम विचारों में स्थित–साथियो!

मा अपस्थात=दूर स्थित मत होओ, प्रभु की स्तुति में शामिल होओ। **स-मन्यवः**=सदा उत्तम ज्ञानवाले बनो अथवा सदा उत्साह सम्पन्न होओ। **दृढाचित्**=तुम अपने उत्तम संकल्पों में इसी प्रकार दृढ़ बनोगे और **यमयिष्णवः**=अपने को सदा व्रतों व नियमों के बन्धन में बाँधने के स्वभावाले होओगे। एवं, प्रभु की उपासना से उत्साह, दृढ़ता व व्रतरुचिता प्राप्त होती है और मनुष्य का जीवन बड़ा सुन्दर व्यतीत होता है। वह आगे और आगे ही बढ़ता है, अतः प्रभु की उपासना से दूर क्यों होना?

भावार्थ—मैं सदा प्रभु की उपासना की रुचिवाला बनूँ, जिससे मेरी हिंसा न हो, मेरी शम-दमादि में स्थिति बनी रहे, मैं उत्साहवाला, दृढ़ व संयमी बनूँ।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

प्रभु का आमन्त्रण

४०२. आ याह्ययमिन्दवेऽश्वपते गोपत उर्वरापते। सोमं सोमपते पिब॥ ४॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **आयाहि**=आ **अयम्**=यह सोम **इन्दवे**=तेरे परमैश्वर्य के लिए होगा। हे **सोमपते**=सोम की रक्षा करनेवाले या सोम के स्वामिन् जीव! तू **सोमं पिब**=सोम का पान कर। इस सोम के पान से तुझे **अश्वपते, गोपते, उर्वरापते**=इन शब्दों से सम्बोधित किया जा सकेगा। तू अश्वपति, गोपति और उर्वरापति कहलाएगा। कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियाँ 'अश्व' कहलाती हैं। तू इनका पति बनकर इन्हें सदा यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों में व्याप्त रक्खेगा। **गमयन्ति अर्थान्**=तत्त्वज्ञान देने के कारण ज्ञानेन्द्रियाँ 'गो' कहलाती हैं। तू इनका पति बनेगा, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का ठीक उपयोग करनेवाला होगा। नव-नव उन्मेषशालिनी=नये-नये विचारों को सुझानेवाली अथवा विचारों को नये-नये प्रकार से प्रकट करनेवाली प्रतिभा=बुद्धि को यहाँ 'उर्वरा कहा गया है। सोम के पान से यह जीव उर्वरापति बनेगा।

कर्मेन्द्रियों का उत्तम होना, ज्ञानेन्द्रियों का सूक्ष्मता तक देखनेवाला होना और बुद्धि का तीव्र होना—ये सोमपान के लाभ हैं। यही सर्वोच्च ऐश्वर्य है। सोम के पान से यह सोभरि इस ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला बना है, इसीलिए तो प्रभु ने उसे आमन्त्रित किया था कि वह आये और इस सोम का पान करे।

भावार्थ—हम प्रभु के आमन्त्रण को स्वीकार करके सोमपान करनेवाले बनें।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

जितेन्द्रियों के सम्पर्क में

४०३. त्वया ह स्विद्युजा वयं प्रति श्वसन्तं वृषभ ब्रुवीमहि। संस्थे जनस्य गोमतः॥ ५॥

प्रभु ने सोमपान के लिए आमन्त्रण दिया। सोभरि उस आमन्त्रण को सुनकर अनुभव करता है कि इस आमन्त्रण के स्वीकार में सबसे बड़ा विघातक 'काम' है। उसे पराजित करना भी तो उसके लिए सुगम नहीं है, अतः वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ह स्विद्**=निश्चयपूर्वक **त्वया**=आप-से **युजा**=साथी से मिलकर **वयम्**=हम **वृषभ**=शक्तिशालिन् व सुखों की वर्षा करनेवाले प्रभो! **श्वसन्तम्**=इस फुँकार मारते हुए, बल के दर्पवाले इस कामरूप शत्रु को **प्रतिब्रुवीमहि**=युद्ध के लिए ललकार दें। उसके आह्वान का ठीक प्रत्युत्तर

दे दें। हे प्रभो! आपकी सहायता के बिना मेरे लिए इसे जीत सकना सम्भव नहीं। इसे जीते बिना मेरे लिए सोमपान के आमन्त्रण का स्वीकार भी तो असम्भव है।

हाँ, आपकी निराकारता मुझ घबराये हुए के लिए एक बड़ी समस्या उपस्थित कर देती है। मैं आपके पीछे आऊँ भी तो कैसे? देखूँ, तभी तो। न आपको देख पाता हूँ और न आपका अनुगामी बन पाता हूँ। ऐसी स्थिति में इसका एक ही समाधान है कि मैं उन व्यक्तियों का अनुगामी बनूँ जो आपका साक्षात्कार करके आपके पीछे आ रहे हैं। **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **जनस्य**=लोगों के **संस्थे**=साथ मिलकर ठहरने में ही मेरा कल्याण है। ये लोग आप तक पहुँचेंगे तो इनके पीछे चलता हुआ मैं भी आप तक क्यों न पहुँचूँगा? आपकी छत्रछाया में रहते हुए ये कामादि वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते तो इनकी छत्रछाया मुझे भी इस आक्रमण से बचाएगी ही। वे निराकार के उपासक हैं तो मैं निराकार के इन साकार उपासकों का साकार उपासक हूँ। आपके सङ्ग से ये तरेंगे, और इनके सङ्ग मैं भी। हे प्रभो! आपकी कृपा से इन प्रशस्तेन्द्रिय, विकासशील सन्तों का सम्पर्क पाकर, कामादि को जीतकर मैं आपके सोमपान के आमन्त्रण को स्वीकार करनेवाला बनूँ तभी तो मैं अपने जीवन-कर्त्तव्य का सुभरण कर पाऊँगा।

भावार्थ—मैं सदा प्रशस्तेन्द्रिय सन्तों के सम्पर्क में रहनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

जीवन-यात्रा की तीन बातें

४०४. गावश्चिद्धा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः। रिहते ककुभो मिथः॥ ६॥

सयनों के सम्पर्क में रहते हुए हमें प्रयत्न करना चाहिए कि **गावः**=हमारी इन्द्रियाँ **चित् घ**=निश्चय से **समन्यवः**=मन्युसहित हों। 'मन्यु' शब्द 'दैन्य, क्रतु व क्रोध' इन अर्थों का वाचक है। 'क्रतु' में 'ज्ञान और कर्म' दोनों समाविष्ट हैं। 'गावः' शब्द इन्द्रियों का वाचक है। जब 'गौ और अश्व' दोनों शब्दों का प्रयोग होता है तब गौ का अर्थ ज्ञानेन्द्रिय है, अश्व का अर्थ कर्मेन्द्रिय है, परन्तु ये दोनों शब्द अलग-अलग भी इन्द्रियों के वाचक हैं। केवल गौ शब्द ही सब इन्द्रियों को कह देता है और केवल अश्व शब्द भी सब इन्द्रियों को कहता है। ज्ञान को मुख्यता देनी हो तो 'गौ', कर्म को मुख्यता देनी हो तो 'अश्व'। एवं, यहाँ कहना यह है कि हमारी इन्द्रियाँ ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाली हों, अतः 'गावः' का प्रयोग हुआ है। ये इन्द्रियाँ ज्ञान+कर्म को अपना ध्येय बनाएँ। ये इन्द्रियाँ 'ज्ञानयज्ञ व कर्मयज्ञ' का विस्तार करनेवाली हों। इस जीवन में मैं कर्मशून्य, थोथे ज्ञानवाला न बनूँ और ज्ञानशून्य अन्धे कर्मवाला भी न होऊँ।

मैं इस बात का अनुभव करूँ कि **सजातेन**=समान जाति के कारण, मनुष्यत्व के नाते **मरुतः**=सब मनुष्य **सबन्धवः**=सामान्यरूप से मेरे बन्धु हैं। इस-(एकत्व)-का अनुभव करके मैं शोक और मोह से ऊपर उठ जाऊँ, किसी से भी घृणा न करूँ। एकत्व भावना का प्रतिदिन अभ्यास करते हुए मैं अन्त में इस स्थिति में पहुँचूँ कि **ककुभः**=सब दिशाएँ—सब दिशाओं में रहनेवाले लोग **मिथः**=आपस में **रिहते**=प्रेम से चुम्बन लेनेवाले हों। सबमें किस प्रकार प्रेम हो जैसेकि **'वत्सं जातमिवाघ्न्या'**=उत्पन्न बछड़े को गौ प्रेम करती है। किस प्रेम से चूम-चाटकर वह बछड़े को पवित्र कर डालती है। इसी प्रकार हम प्रेम से एक दूसरे के जीवन को सुन्दर

बनानेवाले हों।

जिस भी मनुष्य ने इन्द्रियों में ज्ञान व कर्म का समुच्चय कर सभी के साथ बन्धुत्व को अनुभव किया और प्रेम से सभी के जीवनों को निर्मल कर दिया वह सचमुच 'सोभरि' है। उसने अपनी जीवन-यात्रा का भाग उत्तमता से पूर्ण किया है।

भावार्थ—मैं केवल ज्ञानी व केवल कर्मकाण्डी न बन जाऊँ। मैं सभी के साथ एक हो जाऊँ। मेरा सभी के साथ सम्पर्क प्रेमपूर्ण हो।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

ओज-नृम्ण-सहस्

४०५. त्वं न इन्द्रा भर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे। आ वीरं पृतनासहम्॥ ७॥

हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हममें **ओजः**=शक्ति को **आभर**=सर्वथा भर दीजिए। 'ओज' वह शक्ति है जो (ओज=to increase) सब प्रकार की वृद्धि का कारण हुआ करती है। यह वीर्य की भी सारभूत वस्तु है। इससे अपने को भर सकने का उपाय एक ही है कि हम भी 'इन्द्र'—इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें। इन्द्र की अराधना करनेवाले को इन्द्र बनना ही चाहिए। इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनकर हम शक्ति-सम्पन्न बनेंगे और उस दिन उस सर्वशक्तिमान् 'इन्द्र' के सच्चे उपासक होंगे।

हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व यज्ञरूप कर्मोंवाले प्रभो! **नः**=हमें **नृम्णम्**=सुख **आभर**=प्राप्त कराइए। वस्तुतः सुख प्राप्त करने के लिए हमें भी 'शतक्रतु' बनना है। हमारे सौ-के-सौ वर्ष क्रतुमय—यज्ञमय बीतें। यज्ञमय जीवन होनेपर हमारा घर स्वर्गतुल्य बन जाएगा। इससे हम फूलें-फलेंगे और यह यज्ञ हमारी सब इच्छाओं को पूर्ण करनेवाला होगा।

हे **विचर्षणे**=विशेषरूप से देखनेवाले प्रभो! हमें **आवीरम्**=सब प्रकार से वह वीरता प्राप्त कराइए जोकि **पृतनासहम्**=हमें सब मनुष्यों को सह सकने योग्य बनाये, अर्थात् हममें वह शक्ति हो जो हमें इतना उदार बना दे कि हम अज्ञ लोगों से समय-समय पर किये जानेवाले मानापमानों को सह सकें। उनकी स्तुति-निन्दा हमें विचलित करनेवाली न हो। यह गुण—यह सहनशीलता हममें आएगी तभी जब हम 'विचर्षणि' बनेंगे—प्रत्येक वस्तु को सूक्ष्मता से देखनेवाले बनेंगे। विचारशील सदा सहिष्णु होता है।

यह ओजस्वी व सहनशील व्यक्ति सुखी जीवनवाला तो होता ही है—यह औरों के साथ मिलकर चलने से 'नृमेध' कहलाता है और शक्तिसम्पन्न होने से 'आङ्गिरस' है।

भावार्थ—मैं जितेन्द्रिय बनकर 'ओजस्वी' बनूँ। यज्ञमय जीवनवाला बनकर सुख को सिद्ध करूँ और तत्त्वज्ञानी बनकर मानापमान व स्तुति-निन्दा में सम रहूँ।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

मुमुक्षुत्व

४०६. अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे ससृग्महे। उदेव ग्मन्त उदभिः॥ ८॥

अध=अब—ओजस्वी, यज्ञशील व सहस्वाला बनकर **हि**=निश्चय से **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमन् प्रभो! हे **गिर्वणः**=वेद-वाणियों से वननीय-सेवनीय व जीतने योग्य प्रभो!

कामे=आपको प्राप्त करने की प्रबल इच्छा होने पर **ईमहे**=हम आपको पाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं और **त्वा**=आपका **उप**=समीप से **ससृग्महे**=मेल करनेवाले होते हैं।

कोई भी व्यक्ति प्रभु को पाएगा कब? जब उसके अन्दर प्रभु को पाने की प्रबल कामना होगी। प्रबल कामना होनेपर वह पुरुषार्थ करेगा और पुरुषार्थ के परिणामस्वरूप प्रभु को पानेवाला होगा। पुरुषार्थ का स्वरूप भी 'इन्द्र और गिर्वणः' इन सम्बोधनों से सूचित हो रहा है। जीव को जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करना (इन्द्र) और सदा वेदवाणियों का सेवन करनेवाला बनना (गिर्वणः)। जितेन्द्रियता व ज्ञान-प्राप्ति ही ये दो साधन हैं, जिनसे जीव प्रभु के साथ मेल को सिद्ध कर पाएगा। जितेन्द्रियता व ज्ञानप्राप्ति के लिए जीव में प्रबल कामना होनी चाहिए। इनके होने पर वह प्रभु को उसी प्रकार पा सकेगा **इव**=जैसेकि **उदा**=पानी की प्रबल कामना से **उदभिः**=पानियों के साथ **ग्मन्त**=मेल प्राप्त करते हैं। जब मनुष्य प्रबल तृषार्त होकर पानी की इच्छा से प्रयत्न में लगता है तब पानी को पा ही लेता है, इसी प्रकार प्रभु-प्राप्ति की प्रबल अभिलाषा मुझे प्रयत्नशील बनाकर प्रभु को प्राप्त कराएगी ही। यह जिज्ञासु राग-द्वेष से ऊपर उठकर सब मनुष्यों से मिलकर चलता है, अतः 'नृ-मेध' है, शक्तिशाली होने से 'आङ्गिरस' है। जो अपने सजात्य बन्धुओं से मिलकर नहीं चल पाता उसने प्रभु को क्या पाना?

भावार्थ—मुझमें प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना हो।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

अभ्यास

४०७. सीदन्तस्ते वयो यथा गोश्रीते मधौ मदिरे विवक्षणे। अभि त्वामिन्द्र नोनुमः॥ ९॥

गत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रयत्न का संकेत है। वह प्रयत्न ही इस मन्त्र में प्रतिदिन के 'अभ्यास' के रूप में चित्रित हुआ है। **यथा**=जैसे **गोश्रीते**=इस पृथिवी पर पके हुए **मदिरे**=अत्यन्त मादक **विवक्षणे**=(to increase) प्राणशक्ति की वृद्धि के कारणभूत **मधौ**=पुष्परस पर **वयः**=पक्षी **सीदन्तः**=बैठते हैं, इसी प्रकार हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! हम **ते**=तेरे **गोश्रीते**=वेदवाणियों से सेवित **मदिरे**=उल्लास देनेवाले **मधौ**=अत्यन्त माधुर्य से युक्त—जहाँ किसी प्रकार के राग-द्वेष के पोषण की सम्भावना नहीं, उस **विवक्षणे**=विशिष्ट (वक्षणा=नदी) नदीवाले स्थान पर **सीदन्तः**=बैठे हुए **त्वाम् अभि**=तेरा लक्ष्य बनाकर **नोनुमः**=खूब स्तवन करते हैं।

उपासना का स्थान कैसा होना चाहिए? १. जिस स्थान पर वेदवाणियों का उच्चारण हो रहा हो, २. जहाँ किसी प्रकार के राग-द्वेष की सम्भावना न हो, ३. जहाँ सारी प्रकृति में उल्लास-ही-उल्लास हो ४. और नदी आदि के रूप में शान्त जल की उपस्थिति हो। भ्रमरादि भी तो ऐसे फूल पर ही बैठते हैं जो १. पृथिवी पर पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ है, २. रसमय है, ३. हर्ष देनेवाला है ४. और प्राणशक्ति को बढ़ानेवाला है। मन्त्र में 'गोश्रीते' आदि शब्द श्लेष से दोनों अर्थों को कह रहे हैं। प्रतिदिन प्रातः उल्लिखित शान्त स्थान में प्रभु का ध्यान करते हुए हम इस निरन्तर के अभ्यास से एक दिन प्रभु को अवश्य पानेवाले होंगे। प्रतिदिन अभ्यास करनेवाला व्यक्ति ही अपने कर्त्तव्य का सु-भरण करनेवाला 'सोभरि' बनता है। प्रतिदिन प्रभु का ध्यान करते हुए यह धीमे-धीमे उस प्रभु-जैसा बन पाता है। जिसका सतत

ध्यान व जप करते हैं, वैसे ही बन जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए हम दैनन्दिन अभ्यास अवश्य करें।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

वैराग्य

४०८. वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽ वस्यवः। वज्रिञ्चित्रं हवामहे॥ १०॥

प्रभु के साथ मेल के लिए चित्तवृत्तिनिरोध आवश्यक है। चित्तवृत्तिनिरोध का ही नाम 'योग' हो गया है। इस योग के प्रमुख साधन 'अभ्यास और वैराग्य' हैं। अभ्यास का उल्लेख गत मन्त्र में हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में 'वैराग्य' का वर्णन करते हैं। प्रकृति के प्रति राग का न होना ही वैराग्य है। यह प्रकृति के प्रति वैराग्य तभी होगा जब हम प्रभु व प्रकृति का विवेक करेंगे। बिना विवेक के वैराग्य सम्भव नहीं। इसी विवेक को इस रूप में कहते हैं कि हे **अपूर्व्य**=न पूरण करने योग्य प्रभो! **वयम्**=हम **उ**=निश्चय से **त्वाम्**=आपको **हवामहे**= पुकारते हैं। प्रभु सब प्रकार से पूर्ण होने से 'अपूर्व्य' हैं। प्रभु की प्राप्ति होने पर जीव सन्तोष व तृप्ति का अनुभव करता है। प्रभु की प्राप्ति में ही पूर्णता है।

स्थूरम् भरन्तः कच्चित् न=क्या हम उस स्थिर अवलम्बनभूत प्रभु का अपने अन्दर भरण न करेंगे? प्रभु ही एक स्थिर अवलम्बन हैं। प्रभु को आश्रय बनानेवाला कभी भटकता नहीं।

अवस्यवः=रक्षा चाहते हुए हम आपको पुकारते हैं। प्रकृति की ओर जाकर तो मनुष्य उसके पाँव तले कुचला जाता है। प्रभु की शरण में रहने पर वह प्रकृति का शिकार नहीं होता। प्रभु के उपासक के प्रकृति चरण चाटती है और अपने उपासक को वह खा जाती है। 'ओ३म्' शब्द की रचना में अ (परमात्मा) की ओर जाकर (उ) हम जीव उसके मस्तक पर होते हैं, और (म्) प्रकृति की ओर जाने पर उसके पाँव के तले रौंदे जाते हैं।

वज्रिन्=हे प्रभो! आप स्वाभाविक गतिवाले हैं (वज गतौ) और प्रकृति 'तम' (inert, गतिशून्य) है। आपको प्राप्त करने पर मैं गति व जीवन को प्राप्त करता हूँ तो प्रकृति की ओर जाकर मैं गतिशून्यता व मृत्यु का भागी होता हूँ।

चित्रम्=आप (चित्र) ज्ञान के देनेवाले हैं और प्रकृति मेरे ज्ञान को नष्ट कर मुझे अन्धा बनानेवाली है।

एवं, प्रकृति और प्रभु में विवेक करनेवाला व्यक्ति कभी भी प्रकृति में आसक्त नहीं हो सकता और यह विवेक-जनित वैराग्य उसे परमेश्वर की प्राप्ति के योग्य बनाता है।

भावार्थ—मैं प्रभु और प्रकृति में विवेक करूँ। १. प्रभु प्राप्ति में तृप्ति है प्रकृति में अतृप्ति। २. प्रकृति का अवलम्बन अस्थिर है, प्रभु का स्थिर। ३. प्रभु की ओर आने में रक्षा है, प्रकृति की ओर जाने में विनाश, ४. प्रभु-प्राप्ति में जीवन है—प्रकृति में मृत्यु, ५. प्रभु प्रकाशमय हैं, प्रकृति अन्धकारमय। इस विवेक के द्वारा मैं प्रकृति के प्रति अनासक्त बनूँ।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—**सम्मदो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

स्वराज्य के बाद

४०९. स्वादोरित्था विषूवतो मधोः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथा वस्वी रनु स्वराज्यम् ॥ १ ॥

वेदवाणी का आस्वादन—वेद में गौरी शब्द 'वाक्' का पर्यायवाची है। वाणी अन्य इन्द्रियों की भी प्रतिनिधि है। अग्नि ही तो वाणी का रूप धारण करके मुख में प्रविष्ट हुई। यह अग्नि देवताओं का मुख वा द्वार है। यह उन सबका 'अग्रणीः' है। एवं, वाणी अन्य सब इन्द्रियों का प्रतिनिधित्व करती है। यहाँ 'गौर्यः' इस बहुवचन का प्रयोग भी यह स्पष्ट करता है कि 'गौर्यः' शब्द से सभी इन्द्रियों को लेना है। इन इन्द्रियों के लिए कहते हैं कि **गौर्यः**=मेरी सब इन्द्रियाँ शुद्ध बनी हुई (गौर=धवल, शुभ्र) **स्वादोः इत्था**=सचमुच आनन्द देनेवाले **विषुवतः**=सर्वव्यापक प्रभु के **मधोः**=मधुरूप अत्यन्त सारभूत वेदज्ञान का **पिबन्ति**=पान करती हैं। 'वेदज्ञान रसवाला है' यह अनुभव प्रत्येक स्वाध्यायशील व्यक्ति का होता है। प्रारम्भ में अगम, दुर्बोध, नीरस प्रतीत होनेवाले मन्त्र ज़रा-सा प्रवेश होने पर सरस प्रतीत होने लगते हैं। अन्त में उनका आनन्द शब्द से वर्णनीय ही नहीं रहता। उनका एक-एक शब्द महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगता है—उनके शब्दों का क्रम चमत्कारिक दिखता है। ये वेदवाणियाँ मधुरूप हैं—अत्यन्त सारभूत हैं। इनका एक-एक शब्द ज्ञान का भण्डार है। इनमें सम्पूर्ण ज्ञान बीजरूप से निहित है, इसलिए हम अपनी इन्द्रियों से सदा इसका पान करें।

कैसी इन्द्रियाँ—परन्तु कौन-सी इन्द्रियाँ इसका पान करती हैं! १. **याः**=जो **इन्द्रेण**=आत्मा के साथ **सयावरीः**=मिलकर चलनेवाली हैं। जब इन्द्रियाँ आत्मा से दूर प्राकृतिक भोग्य पदार्थों में विचरती हैं, तब उनके लिए वेदवाणियाँ रुचिकर नहीं होती। २. **वृष्णाः**=जो शक्तिशाली हैं। आत्मा के साथ विचरने के कारण भोगमार्ग पर न जाने का परिणाम है कि ये शक्तिशाली बनी हुई हैं। ३. **मदन्ति**=जो हर्षित होती हैं। एक-एक इन्द्रिय जब शक्तिशाली होती है तब जीवन में एक उल्लास होता है। ४. **शोभथाः**=उस समय ये इन्द्रियाँ शक्ति-उल्लास व शक्तिजन्य उत्तम कर्मों से शोभावाली होती हैं। ये चमकती हैं। इसी दिन इनका 'देव' नाम सार्थक होता है, ५. **वस्वीः**=ये उत्तम निवासवाली होती हैं, अर्थात् इन्द्रियों का आत्मा के साथ विचरण करने, शक्तिशाली, उल्लासमय व शोभायुक्त होने पर ही जीव का शरीर में उत्तम वास होता है।

कब—अब प्रश्न यह है कि 'इन्द्रियाँ ऐसी बनेंगी कब'? मन्त्र में उत्तर देते हैं कि **अनुस्व-राज्यम्**=स्वराज्य के बाद। जब मनुष्य अपना राजशासन कर पाएगा, तभी उसकी इन्द्रियाँ उल्लिखित प्रकार की बन पाएँगी। आत्मनियन्त्रण के बिना इन्द्रियों का उत्तम बनना सम्भव नहीं। **'सर्वमात्मवशं सुखम्'** आत्मा के वश होने पर ही सब 'सु-ख'=इन्द्रियों की उत्तमता होती है। स्वाधीनता में ही आनन्द है। स्वराज्य=आत्मसंयम (Self-control) के बाद इस उल्लास व हर्ष का अनुभव करनेवाला 'सम्मद' (उत्तम हर्षवाला) इस मन्त्र का ऋषि है। सब विषयों को त्यागकर (रह त्यागे) ही यह ऐसा बना है, अतः राह=त्यागनेवाला है।

त्यागनेवालों में भी प्रथम स्थान में गणनीय होने से 'राहूगण' है।

भावार्थ—आत्मसंयम से मैं इन्द्रियों को आत्मा के साथ विचरनेवाला बनाकर इनसे वेदवाणियों का रस लेनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**सम्मदो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

षट्क-सम्पत्ति

४१०. इत्था हि सोम इन्मदो ब्रह्म चकार वर्धनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ २॥

जिस समय जीव की सब इन्द्रियाँ प्रभु की सारभूत, रसमयी वेदवाणी का पान करती हैं तब **इत्था**=सचमुच **हि**=निश्चय से १. **सोमः**=वह विनीत बनता है। 'ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति'—ज्ञान से नीचे देखता है। जब सब इन्द्रियाँ ज्ञान का पान करेंगी तो क्या यह विनीत न बनेगा? २. उस समय **इत्**=निश्चय से इसका जीवन **मदः**=उल्लासमय होगा। संसार में सारे कष्ट अज्ञान के कारण हैं, अज्ञानवश मनुष्य बड़ी-बड़ी इच्छाएँ व आशाएँ करता है और उनके पूरा न होने पर दुःखी होता रहता है। ३. इस तत्त्व को समझकर यह सदा **ब्रह्म वर्धनं चकार**=ज्ञान को बढ़ाता है। ४. यह व्यक्ति **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिशाली बनता है। विद्याव्यसनी व्यसनान्तरों से बचकर शक्तिशाली क्यों न बनेगा? ५. शक्ति का सम्पादन करके **वज्रिन्**=यह गतिशील होता है। यह कर्मशील बने रहना ही इसे पवित्र भी बनाये रखता है। ६. इस प्रकार क्रियाशील होता हुआ यह **ओजसा**=ओज व शक्ति के द्वारा **पृथिव्याः**=अपने इस पार्थिव शरीर से **अहिम्**=कुटिलता व (आहन्तति अहिः) हिंसा की भावना को **निःशशाः**=दूर भगा देता है। इसके जीवन में सरलता होती है, सरलता ही तो ब्रह्मशक्ति का मार्ग है।

इस उल्लिखित षट्कसम्पत्ति को यह पाता तभी है जब यह **अनुस्वराज्यम्**=आत्मसंयम का **अर्चन्**=आदर करता है। आत्मसंयम की भावना और ज्ञान की रुचि होने पर ही उसे यह षट्कसम्पत्ति प्राप्त होगी। इसे प्राप्त करके यह बाह्य सम्पत्ति को तुच्छ समझनेवाला और त्यागनेवाला 'राहूगण' होगा और उल्लासमय जीवनवाला 'सम्मद' होगा।

भावार्थ—विनीतता, उल्लास, ज्ञानवर्धन, शक्ति, क्रियाशीलता तथा कुटिलता व हिंसा का अभाव—इस षट्कसम्पत्ति को मैं प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**सम्मदो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

संयम-यज्ञ

४११. इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।
तमिन्महत्स्वाजिषूतिमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत्॥ ३॥

इन्द्रः=इन्द्रियों को वश में करनेवाला व्यक्ति **मदाय वावृधे**=आनन्द के लिए बढ़ता चलता है। भोग-मार्ग प्रारम्भ में रमणीय है, परन्तु उत्तरोत्तर उसकी रमणीयता कम होती जाती है। इसके विपरीत संयम-मार्ग में प्रारम्भ में नीरसता व कठिनता है, परन्तु उत्तरोत्तर उसका सौन्दर्य बढ़ता जाता है। जितेन्द्रियता व संयम का पहला परिणाम यही है कि जीवन अधिकाधिक

उल्लासमय होता चलता है। २. इसका दूसरा परिणाम यह है कि यह संयमी पुरुष **शवसे**='क्रियाशील शक्ति के लिए (शव गतौ, शवस्=बल) **वावृधे**=बढ़ता है। इसकी शक्ति बढ़ती चलती है और शक्ति-वृद्धि के साथ यह अधिकाधिक क्रियाशील होता चलता है और यह क्रियाशीलता इसे ३. **वृत्रहा**=वृत्रों का—वासनाओं का नष्ट करनेवाला बनाती है।

क्रियाशीलता ही उसे वासनाओं के मालिन्य से बचाये रखती है। ४. यह संयमी आगे और आगे बढ़ता है, परन्तु अकेला नहीं **नृभिः**=मनुष्यों के साथ, उन मनुष्यों के साथ जिनकी आगे बढ़ने की वृत्ति है (नृ नये)। यह संयमी पुरुष अकेले तो अपनी मुक्ति भी नहीं चाहता। यह औरों के साथ ही अपने को मुक्त करना चाहता है।

५. इस संयम-यज्ञ में शतशः असुरों द्वारा विघ्न किये जाते हैं। उन विघ्नों को अकेले जीत लेना यह संयमी असम्भव-सा समझता है, अतः यह कहता है कि हम **इत्**=निश्चय से **तम्**=उस सर्वव्यापक (तनु विस्तारे) **ऊतिम्**=रक्षा करनेवाले प्रभु को **महत्सु आजिषु**=बड़े-बड़े संग्रामों में तथा **अर्भे**=छोटे-छोटे संग्रामों में **हवामहे**=पुकारते हैं। महाव्रत और अल्पव्रतों के रूप में बड़े-बड़े युद्ध और छोटे-छोटे युद्ध हमारे जीवन में चला करते हैं। उनमें उस प्रभु की सहायता से ही हम विजयी बनते हैं।

सः=वह प्रभु **वाजेषु**=उत्कट युद्धों (Battles) में **नः**=हमें **प्र अविषत्**=प्रकर्षेण रक्षित करे। (आजि=war, वाज=Battle)। उस प्रभु की सहायता से मैं भी इन वासनाओं के साथ होनेवाले छोटे-बड़े सभी संग्रामों को जीत पाऊँगा और मेरा यह संयम-यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण होगा।

भावार्थ—प्रभु की सहायता से मैं अपने संयम-यज्ञ को पूर्ण करूँ।

ऋषिः—**सम्मदो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उपाय-पञ्चक

४१२. इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम्।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तव त्यन्माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ ४॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! हे **अद्रिवः**=(अ+दृ) अपने निश्चय से पृथक् न किये जाने योग्य, अर्थात् दृढ़ संकल्प व पक्के व्रतोंवाले जीव! हे **वज्रिन्**=गतिशील जीव! **तुभ्यम् इत्**=तेरे लिए ही **वीर्यम्**=वह शक्ति है जोकि **अनुत्तम्**=कभी भी परे नहीं धकेली जा सकती। जिस समय जीव इन्द्रियों को वश में कर लेता है, दृढ़ संकल्पवाला होता है और सतत क्रियाशील बन जाता है तब उसे वह शक्ति प्राप्त होती है जो किसी भी प्रकार न्याय्यमार्ग से विचलित नहीं की जा सकती। इस अपराजेय शक्ति को प्राप्त करने का रहस्य यह भी है कि **यत्**=जो **ह**=निश्चय से **त्यम्**=उस **मयिनं मृगम्**=मायावी मृगतृष्णा के दृश्य के समान कभी भी तृष्णा को शान्त न होने देनेवाले 'काम' को **तव**=तूने अपने **त्यत् मायया**=उस ज्ञान से **अवधीः**=मार डाला। यहाँ 'काम' को 'मायी मृग' कहा है। यह हमें कहाँ-का-कहाँ ले-जाता है, परन्तु कभी हमारी तृप्ति का कारण नहीं बनता। मृगतृष्णा के दृश्य के समान यह मायामय है। 'मां याति' 'मुझे प्राप्त हो रहा है'—ऐसी प्रतीति होती है, परन्तु प्राप्त थोड़े ही होता है। इस काम का ध्वंस भी माया=ज्ञान से ही होता है। काम ज्ञान का शत्रु है। ज्ञान की मन्द ज्योति को काम बुझा देता है और ज्ञान की प्रचण्ड

ज्वाला में वह स्वयं भस्म हो जाता है।

इस शक्ति की प्राप्ति का पाँचवाँ साधन 'अर्चन्ननु-स्वराज्यम्' इन शब्दों से सूचित हो रहा है कि **ननु**=निश्चय से तूने **स्वराज्यम्**=आत्मसंयम का **अर्चन्**=आदर किया है। आत्मसंयम को महत्त्व देने का ही परिणाम है कि तू अदम्य शक्ति को संचित कर सका है। इस अदम्य शक्ति के कारण इसका जीवन सदा उल्लासमय है।

भावार्थ—मैं जितेन्द्रियता, दृढ़ संकल्प, क्रियाशीलता, प्रचण्डज्ञान की ज्योति तथा संयम के आदर के द्वारा उस शक्ति को प्राप्त करूँ जो कभी पराजित न हो सके।

ऋषिः—**सम्मदो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रबल आक्रमण

४१३. प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ ५॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **प्रेहि**=प्रकर्षेण गतिवाला हो। तेरे एक-एक पग से उत्साह टपके। एक सत्त्ववान् योद्धा की चाल में जो उत्साह है वह तेरी भी चाल में हो। **अभीहि**=तू अपने शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए बढ़ चल—उनकी ओर न कि उनसे दूर। तेरी चाल में किसी प्रकार का भय व आशंका न हो। इस प्रकार आक्रमण करके तू **धृष्णुहि**=अपने इन काम-क्रोधादि शत्रुओं का धर्षण कर। इन्हें तू कुचल डाल। इस आक्रमण में **ते**=तेरी **वज्रः**=गति **न**=नहीं **नियंसते**=रोकी जाती। गत मन्त्र के उपायपञ्चक से अपराजेयशक्ति प्राप्त करके जब तू इन शत्रुओं पर आक्रमण करता है तब तेरा आक्रमण शत्रुओं से विहत नहीं होता। प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न जीव! **ते**=तेरा **शवः**=बल **हि**=निश्चय से **नृम्णम्**=(नृ नयन) शत्रुओं को झुका देनेवाला होता है। इस प्रकार तू **वृत्रं हनः**=ज्ञान के नित्य वैरी इस काम को नष्ट कर देता है और **अपः जय**=यज्ञरूप व्यापक कर्मों का विजेता बनता है। यह तू कर इसलिए पाएगा कि तू **ननु**=निश्चय से **स्वराज्यम्**=आत्मसंयम का **अर्चन**=आदर करता है। संयमी पुरुष वासनाओं को जीतकर प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं।

भावार्थ—हम वृत्र का विनाश करके स्वार्थ-शून्य उत्कृष्ट कर्म करनेवाले बनें।

ऋषिः—**सम्मदो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

आत्मनेपद (आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते)

४१४. यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धनम्।
युङ्क्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः॥ ६॥

यत्=जब **उदीरत**=उत्पन्न होते हैं **आजयः**=युद्ध, तब **धृष्णवे**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले के लिए **धनम्**=आध्यात्मिक सम्पत्ति **धीयते**=धारण की जाती है। जिन व्यक्तियों के जीवन में युद्ध की भावना उत्पन्न ही नहीं होती वे कभी उन्नत नहीं होते। परिवाार की आपस में लड़ाई तो तामस् लड़ाई है, राष्ट्रों के युद्ध राजस हैं, परन्तु यह अध्यात्म युद्ध सात्त्विक है।

जिसके जीवन में यह हृदयस्थली पर चलनेवाला देवासुर संग्राम उत्पन्न ही नहीं होता और जैसी इच्छा उत्पन्न हुई उसे पूरा कर लेता है, वह व्यक्ति कभी उन्नत नहीं हो पाता। उन्नति के लिए यह अध्यात्मसंग्राम आवश्यक है—यह प्रभु-पूजा का अङ्ग है। मनुष्य को युद्ध में प्रवृत्त होना ही चाहिए, इच्छाओं का विवेक करके अशुभ इच्छा को दबाना ही चाहिए और जब तक पूर्ण विजय प्राप्त न हो तब तक 'युधि-ष्ठिर'=युद्ध में स्थिर होना चाहिए।

विजय पाने के पश्चात् तू अभिमान नामक असुर का शिकार न हो जाए, अत: प्रभु कहते हैं कि इस विजय के पश्चात् तू **मदच्युता-हरी**=अभिमान से रहित घोड़ों (इन्द्रियों) को इस शरीररूप रथ में **युंक्ष्व**=जोत। 'युंक्ष्व' यह आत्मनेपद का प्रयोग यह संकेत करता है कि मनुष्य ने अपनी उन्नति के लिए यह करना ही है। अन्यथा यह अभिमान तो न जाने **कम्**=किस-किसको **हन:**=मार डालता है, **कम्**=उस एक-आध व्यक्ति को ही यह **वसौ दध:**=वसु में—सर्वोत्तम स्थिति में धारण करता है जो इस अभिमान को ही कुचल डालता है। हम प्रभु से आराधना करते हैं कि **अस्मान्**=हमें तो हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **वसौ**=उत्तम स्थिति में ही **दध:**=धारण कीजिए।

भावार्थ—१. मैं अध्यात्मसंग्राम को अपने अन्दर उत्पन्न करूँ, २. इसमें शत्रुओं का धर्षण करनेवाला बनूँ, ३. विजय-प्राप्ति के क्षण में अभिमान का शिकार न हो जाऊँ, ४. और अभिमान को जीतकर उत्तम निवासवाला बनूँ। इसके लिए मैं सदा कर्मशील बनूँ—क्रिया को अपनाऊँ।

ऋषि:—**सम्मदो राहूगण:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**पङ्क्ति:**॥ स्वर:—**पञ्चम:**॥

परस्मैपद (लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि)

४१५. अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी॥ ७॥

योगारूढ़ व्यक्ति का चित्रण गत मन्त्र में हुआ है। 'क्या यह योगारूढ़ खाता-पीता नहीं? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र इन शब्दों में देता है कि **अक्षन्**=ये खाते हैं, **अमीमदन्त**=आमोद-प्रमोद (enjoy) भी करते हैं। सामान्य लोगों की भाँति योगी भी—अध्यात्मसंग्राम विजेता भी खाते-पीते हैं और आनन्द लेते हैं, परन्तु ये **प्रिया:**=शरीर के तर्पण के लिए ही भोजनादि के चाहनेवाले (प्री, तर्पण, कान्ति) प्रभु के प्यारे **हि**=निश्चय से **अव अधूषत**=वासना को कम्पित करके अपने से परे फेंक देते हैं। ये खाते हैं, परन्तु स्वाद के लिए नहीं खाते। ये भी सब कर्म करते हैं—परन्तु अनासक्त होकर।

इस प्रकार इन यज्ञरूप कर्मों से ही ये लोग **अस्तोषत**=प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु का स्तवन करते हुए ये **स्वभानव:**=आत्मप्रकाशवाले बनते हैं। ये 'अन्तर्ज्योति' बन जाते हैं। यह अन्दर का प्रकाश इन्हें आत्मालोचन में प्रवृत्त करके **विप्रा:**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाला बनाता है। ये अपनी कमियों को दूर करते हुए **नविष्ठयामती**=अत्यन्त गतिशील (नव गतौ) स्तुति व ज्ञान से युक्त होते हैं। ब्रह्मज्ञानी बनकर गौरव से कह सकते हैं कि जब कर्म हमें बाँधता ही नहीं तो कर्म से क्या घबराना? नि:शंक होकर हमें तो लोकहित के लिए कर्म करना ही है। प्रभु भी कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **ते**=अपने

इन **हरी**=घोड़ों को **नु**=निश्चय से **योज**=लोकहित के लिए—औरों के भले के लिए जोत ही। तुझे अपने लिए कुछ नहीं करना—योगारूढ़ होकर तेरी साधना पूर्ण हो गयी है तो तू औरों के लिए इस रथ को चलाता ही चल।

गत मन्त्र में 'युङ्क्ष्व' यह आत्मनेपद प्रयोग था। वहाँ अपनी उन्नति के लिए कर्म करने थे। प्रस्तुत मन्त्र में 'योज' परस्मैपद है। अब उसे औरों के हित के लिए कर्म में लगे रहना है। यह परस्मैपद और आत्मनेपद के प्रयोगमात्र से कर्मतत्त्व का सुन्दर उपदेश वेद की ही अद्भुत शैली है।

भावार्थ—१. मैं शरीर-धारण के लिए भोजन व प्रमोद को जीवन में स्थान दूँ, २. वासना को अपने से दूर रक्खूँ, ३. प्रभु का स्तोता बनूँ, ४. अन्तःप्रकाशवाला बनूँ, ५. मेरी स्तुति क्रियामय हो और मैं लोकसंग्रह की भावना से क्रियामय बना रहूँ।

ऋषिः—**सम्मदो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

हम ऐसे-वैसे न हों

४१६. उपो षु शृणुही गिरो मघवन्मातथाइव।
कदा नः सूनृतावतः कर इदर्थयास इद्योजा न्विन्द्र ते हरी॥ ८॥

जीव प्रभु से तीन प्रार्थनाएँ करता है—१. **उप उ**=समीपता से ही **सु**=उत्तम प्रकार से **गिरः**=हमारी वाणियों को **शृणुहि**=सुनिए। संसार में हम देखते हैं कि जो व्यक्ति बात ही करे और करे कुछ नहीं, उसकी बात सुनने की इच्छा नहीं होती। जो असम्बद्ध-सी बातें करे उसकी बात भी सुनने की इच्छा नहीं होती, अतः हे प्रभो! हम केवल वाग्वीर, असम्बद्ध प्रलाप करनेवाले न हों, जिससे हमारी प्रार्थनाएँ सुनी जाएँ। २. दूसरी प्रार्थना यह है कि **मघवन्**=हे पापशून्य ऐश्वर्यवाले प्रभो! **मा अतथा इव**=हम ऐसे-वैसे जीवनवाले न हों। हम वैसा ही बनने का प्रयत्न करें जैसे आप हैं, आपका प्रतिरूप ही तो मुझे बनना चाहिए। "After thy own image" आपकी प्रतिमूर्त्ति ही मैं बनूँ। आपकी प्रतिमूर्त्ति बनता हुआ मैं भी प्रयत्न करूँ कि मेरी कमाई पाप के लवलेश से रहित हो और मैं भी 'मघवा' बनूँ। ३. तीसरी बात जीव यह चाहता है कि **कदा**=कब **नः**=हमें **इत्**=सचमुच **सूनृतावतः**=(सू+ऊन+ऋत) उत्तम, दुःख-परिहाण करनेवाली, सत्यवाणीवाला **करः**=आप करेंगे। हे प्रभो! **इत् अर्थयासे**=आप मुझसे यही याचना किये जाते हैं। मैं कभी भी जलानेवाली वाणी न बोलूँ, भद्रा वाणी ही मेरे मुख में निहित हो। मेरी वाणी दुःखी को सान्त्वना देकर उसके दुःख को कम करनेवाली हो। मेरी वाणी कभी भी असत्य न हो।

जीव की इन तीन प्रार्थनाओं को सुनकर प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय! तू **नु**=अब **ते हरी**=अपने इन इन्द्रियरूप घोड़ों को **योज**=परहित के लिए इस शरीररूप रथ में जोत। परहित तेरे जीवन का ध्येय बन जाए और तू लोकसंग्रह के लिए सदा कर्म में लगा रहे। परहित में लगने से तेरी तीनों उल्लिखित इच्छाएँ अवश्य पूरी होंगी और इस प्रकार परार्थ से तू स्वार्थ को सिद्ध कर रहा होगा। तेरी प्रार्थनाएँ अवश्य सुनी जाएँगी, तेरा जीवन व्यर्थ का न होगा, तेरी वाणी सारभूत होगी।

भावार्थ—हम परहित-परायण होकर अपने जीवन को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

दो महत्त्वपूर्ण बातें

४१७. चन्द्रमा अप्स्वा३ऽन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ ९॥

हमारे जीवन में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। पहली तो यह कि **चन्द्रमाः**=हमारा मन (चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्) सदा **अप्सु अन्तरा**=व्यापक कर्मों में स्थित रहे। दूसरी यह कि **सुपर्णः**=अपना पालन करनेवाला जीव **दिवि**=प्रकाशमय ज्ञान में **धावते**=गतिशील होता है और उसमें सदा स्नान करता हुआ अपने को पवित्र करता है। अध्यात्म में 'चन्द्रमा' का अर्थ मन होता है। यहाँ चन्द्रमा शब्द का प्रयोग इस उद्देश्य से किया गया है कि (चदि आह्लादे) हम जिन कार्यों को करें उन्हें बड़े आह्लादपूर्वक करें। प्रसन्नतापूर्वक किया हुआ कार्य ही उत्तम फल पैदा करता है। दिनभर कार्यों में प्रसन्नतापूर्वक रमे रहने से हम वासनाओं के शिकार कभी नहीं होते।

जीवात्मा का नाम 'सुपर्ण' है, क्योंकि वह उत्तम प्रकार से आसुरवृत्तियों के आक्रमण से अपने को बचाने का प्रयत्न करता है, उसी के लिए यह ज्ञान की नदी में स्नान करता है और अपने को शुद्ध बनाता है।

प्रभु कहते हैं कि हे जीवो! **वः**=तुममें से **हिरण्यनेमयः**=स्वर्ण की परिधिवाले लोग, जो कि धन के चक्र में ही फँसे हुए हैं, वे **विद्युतः**=उस विशेष ज्ञानी के **पदम्**=स्थान को **न विन्दन्ति**=नहीं प्राप्त कर पाते। अर्थ में आसक्त को धर्म का ज्ञान नहीं होता। धन तो अन्धा है।

जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **मे रोदसी**=मेरे द्युलोक और पृथिवीलोक, अर्थात् मेरा मस्तिष्क व शरीर तो **अस्य वित्तम्**=इस पद को अवश्य पानेवाले हों। मैं अपने सब कोशों की ऐसी साधना करूँ कि मैं आपका ज्ञानीभक्त बन सकूँ। यह ज्ञानीभक्त ही प्रभु को प्राप्त करनेवालों में सर्वोत्तम है—'आप्त्य' है, यह काम-क्रोध-लोभ सभी को तैर चुका है—'त्रि-त' बन गया है। त्रिविध कष्टों से भी यह ऊपर उठ गया है। ज्ञान, कर्म, उपासना तीनों का इसने अपने में विस्तार किया है।

भावार्थ—मेरा मन सदा प्रसन्नतापूर्वक कर्मों में लगा रहे और मैं ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सतत यत्नशील रहूँ।

ऋषिः—अवस्युः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

रथ का सजाना

४१८. प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम्।
स्तोता वामश्विनावृषि स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम्॥ १०॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अवस्यु' है, जो अपने शरीर आदि की रक्षा की कामनावाला है। यह अपने प्राणापानों को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! **वाम्**=आपके **स्तोमेभिः**=एकत्रीकरण (Assemblage) के द्वारा अथवा आपकी सम्पत्ति के द्वारा (स्तोमम्=

riches) **स्तोता**=प्रभु का स्तवन करनेवाला, **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा **प्रियतमम्**=इस अत्यन्त प्रिय—तर्पण के योग्य **वृषणम्**=शक्तिशाली **वसुवाहनम्**=अष्ट वसुओं के वाहनभूत **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **प्रतिभूषति**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में अलंकृत करता है। यह शरीर प्रभु की ओर से दिया गया रथ है, जिससे जीव को अपनी जीवन-यात्रा पूरी करनी है। यह रथ तर्पण के योग्य है (प्री-तर्पण), इसमें होनेवाली कमी को तत्काल दूर करना चाहिए। शरीर की इच्छा को पूरा करना ही चाहिए। वह तो शरीर की आवश्यकता है; मन की इच्छा का संयम करना आवश्यक है, क्योंकि उसे पूरा करने में लगें तो हम शरीर को हानि पहुँचा लेते हैं। मन:संयम व शरीर-तर्पण से यह शरीररूप रथ शक्तिशाली (वृषणम्) बनता है। यह अष्ट वसु—अष्ट धातुएँ—रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, वीर्य तथा ओजस् वाहनभूत हैं। प्रभु का स्तोता व तत्त्वज्ञानी इस शरीर को प्राणों की साधना के द्वारा स्वास्थ्य व सौन्दर्य से अलंकृत करता है। जहाँ कहीं भी प्राणों का संयम किया वहीं उसके अङ्ग निर्मल व स्वस्थ हो जाते हैं। यह स्तोता ऋषि जब जिस अङ्ग में प्राणों को एकत्र करता है उस प्राणों के स्तोम से (प्राणायामैर्दहेद् दोषान्) उस स्थान में उत्पन्न दोषों को जला देता है। वे अङ्ग स्वास्थ्य की ज्योति से चमक उठते हैं। एवं, ये प्राणापान कितने महत्त्वपूर्ण, मधुर व सुन्दर हैं! अवस्यु कहता है कि **माध्वी**=हे मधुर प्राणापानो! मधुतुल्य महिमावाले प्राणापानो। **मम हवं प्रति श्रुतम्**=मेरी इस प्रार्थना को सुनो। मैं तुम्हारी कृपा से इस रथ को शक्तिशाली व वसुओं का वाहन बना पाऊँ। अपने मन को प्रभु के स्तवन में लगाऊँ और मस्तिष्क को ज्ञानज्योति से परिपूर्ण करके तत्त्वद्रष्टा बन पाऊँ। यह सब प्राणसाधना से ही होता है। प्राणसाधना करनेवाला ही 'अवस्यु' बन पाता है।

भावार्थ—मेरी प्राण-साधना मेरे शरीर को दृढ़, मन को प्रभु-प्रवण, मस्तिष्क को तीव्र ज्ञानज्योति से जगमगाता हुआ बनाए।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

एक पग और (स्तोता को भी चलने की प्रेरणा दीजिए)

४१९. आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर॥ १॥

हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो!—आगे-और-आगे ले-चलनेवाले परमात्मन्! **ते**=तरी उस समिधा को हम **आ इधीमहि**=सर्वथा दीप्त करते हैं जो **द्युमन्तम्**=प्रकाशमय है और **देव**=हे ज्योतिर्मय प्रभो! **अजरम्**=न जीर्ण होनेवाली है। ब्रह्मचर्यसूक्त में पृथिवी, अन्तरिक्ष, व द्युलोकरूप तीन समिधाओं का उल्लेख है। अध्यात्म में ये क्रमश: शरीर, मन व मस्तिष्क हैं। गत मन्त्र में शरीर को शक्तिशाली, मन को स्तोता व प्रभु-प्रवण और मस्तिष्क को 'तत्त्वद्रष्टा' बनाने का संकेत है। प्रस्तुत मन्त्र में मस्तिष्क को ज्ञानाग्नि से दीप्त करने पर बल दिया है। यह प्रकाशमय (द्युमान्) तो है ही, यह अजरम्—कभी जीर्ण न होनेवाली है—इसका क्षय नहीं होता। देने से यह बढ़ती ही जाती है। शरीर के नष्ट होने पर भी यह ज्ञान हमारे साथ ही जाता है, अत: प्रभो! हम आपकी उस समिधा को दीप्त करते हैं **यत्**=जो **ह**=निश्चय से **ते**=तेरी **पनीयसी**=स्तुत्य **समित्**=समिधा है, जो **द्यवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **दीदयति**=चमकती

है। शरीर की पुष्टता उत्तम है, मन की प्रभु-प्रवणता उत्तमतर है मस्तिष्क की ज्ञान-ज्योति उत्तमतम है, यही स्तुत्य है।

शरीर को शक्तिशाली बनाकर तो विरले ही व्यक्ति होंगे जो अपने को कृतकृत्य मान लें, परन्तु मन के अन्दर स्तुति की भावना आते ही कृतकृत्यता की भावना उत्पन्न होने लगती है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **स्तोतृभ्यः**=इन स्तोताओं के लिए **इषम् आभर**=सर्वथा प्रेरणा प्राप्त कराइए कि ये यहीं दूसरी सीढ़ी पर रुक न जाएँ। ये एक पग और भी आगे बढ़ाएँ, और ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें। प्रभु यही चाहते हैं कि उनका स्तोता ज्ञान को ही अपना धन समझनेवाला 'वसुश्रुत' (श्रुतम् एव वसु यस्य) हो। यह आत्रेय=काम, क्रोध, लोभ तीनों से ऊपर उठा हुआ हो।

भावार्थ—हम शरीर को शक्तिशाली बनाकर, मन को प्रभु-प्रवण बनाएँ, परन्तु यहाँ ही रुक न जाएँ। एक पग और आगे बढ़कर स्तुत्यतम ज्ञान की समिधा को उद्दीप्त करें।

ऋषिः—**विमदः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उल्लास व विकास

४२०. अग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे।
शीरं पावकशोचिषं वि वो मदे यज्ञेषु स्तीर्णबर्हिषं विवक्षसे॥ २॥

न=जैसे **स्ववृक्तिभिः**=अपने कुछ वर्जन व त्याग से **अग्निम्**=अग्नि को वरते हैं, अर्थात् घृत-सामग्री आदि में कुछ व्यय करके जैसे हम अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों को करते हैं, उसी प्रकार हम **होतारम्**=सर्वस्व दान करनेवाले **त्वा**=आपको **स्ववृक्तिभिः**=अपने कामादि दोषों के वर्जन से तथा यज्ञादि उत्तम कर्मों के आपमें समर्पण से **आवृणीमहे**=आपका वरण करते हैं। प्रभु होता हैं—अपने को भी जीवहित के लिए दे डालनेवाले हैं। हम प्रभु का वरण दान द्वारा ही कर सकते हैं। अपने सब कर्मों का प्रभु में समर्पण ही वह महान् त्याग है, जिससे हम प्रभु का वरण करते हैं। 'तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च'=यही वेद का उपदेश है कि कर्म करो और प्रभुचरणों में उसका त्याग कर दो। अपना अहंभाव न रक्खो—यही 'स्ववृक्ति'='अपने को छोड़ना' है। वे प्रभु **शीरम्**=(शायिनं, आशिनं वा) सबमें निवास करनेवाले व सबमें व्याप्त हैं। मैं भी उस हृदयस्थ प्रभु को अनुभव करने का प्रयत्न करूँ। वे प्रभु तो **पावकशोचिषम्**=पवित्र करनेवाली ज्ञानदीप्तिवाले हैं। उस ज्ञानाग्नि में मेरा जीवन और पवित्र हो उठेगा।

वे प्रभु **यज्ञेषु स्तीर्णबर्हिषम्**='यज्ञों में बिखेर दी है—व्याप्त कर दी है हमारी वृद्धि (बृहि वृद्धौ) जिन्होंने, ऐसे हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञों को उत्पन्न करके प्रभु ने यही तो कहा कि 'इससे फूलों-फलो, यह तुम्हारी सब इष्ट-कामनाओं को पूरा करे'। ये यज्ञ **वः**=तुम्हारे **विमदे**=विशेष उल्लास के निमित्त हैं और **विवक्षसे**=विशेष उन्नति के साधन हैं (वक्षस्=growth)। यहाँ 'विमदे व विवक्षसे' इन दोनों शब्दों में निमित्त सप्तमी है। यज्ञों के द्वारा हमारा जीवन उल्लासमय व विकासमय बनता है। प्रातः का अग्निहोत्र सायं तक और सायं का प्रातः तक चित्त को प्रसन्न रखता है। यज्ञों के बिना कोई भी विकास सम्भव ही नहीं।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो, हम उस महान् होता के उपासक बनकर एक छोटे

होता ही बनें, परन्तु हमें उस होतृत्व का मद=गर्व न हो। उस यज्ञ को भी प्रभु-चरणों में अर्पित कर हम 'वि-मद' (मदशून्य) ही बने रहें।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

कहाँ जाएँ

४२१. महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते॥ ३॥

हे **दिवित्मती उषः**=प्रकाशवाली उषः **नः**=हमें **अद्य**=आज **महे राये**=महान् ऐश्वर्य के लिए **बोधय**=जागरित करो। तुमसे हमें ऐसी प्रेरणा प्राप्त हो कि **यथाचित्**=जिससे निश्चयपूर्वक **नः**=हमें तुम **अबोधयः**=इन-इन बातों में जगाओ—१. **सत्यश्रवसि**=सत्यज्ञान की प्राप्ति में। वेद सब सत्य विद्याओं का (पुस्तक) भण्डार है। हम सदा इन सत्य विद्याओं की प्राप्ति के लिए प्रमादरहित होकर प्रयत्न में लगे रहें। हमारा मस्तिष्क व विज्ञानमयकोष सब सत्यज्ञानों के नक्षत्रों से चमकनेवाला हो। २. **वाय्ये**=विस्तार (फैलाव) में हम सदा जागरित हों। हम अपने मनों को संकुचित न होने दें। हमारा मन विशाल और विशाल होता जाए। ३. **सुजाते**=उत्तम प्रादुर्भाव में—उत्तम विकास में हम अप्रमत्त हों। प्राणमयकोश में स्थित इन इन्द्रियों को विकसित करने में हम सदा सावधान हों, ये असुरों के आक्रमण से आक्रान्त होकर नष्ट न हो जाएँ। ४. **अश्वसूनृते**=व्यापक, उत्तम, दुःखों को न्यून करनेवाले न्याय्य कर्मों में हम अपने इस शरीर को सदा व्यापृत रक्खें। आलसी होकर कर्मों से दूर न हो जाएँ। 'अकर्मण्य हुए और पतन की ओर गये' यह हमें भूल न जाए।

उषःकाल जगाता है—वह हमें भी उल्लिखित चार बातों में जागरित करे। उषःकाल से उचित प्रेरणा लेनेवाला ऋषि सत्यज्ञान प्राप्त करके 'सत्यश्रवाः' बन जाता है। यह काम-क्रोध-लोभ की सब वासनाओं से ऊपर होने के कारण 'आत्रेय' है।

भावार्थ—उषाः प्रकाशमय है, मैं भी ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करूँ। उषाःकाल क्षितिज को विस्तृत कर देता है, मैं भी अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बनाऊँ। उषा में सब शक्तियाँ विकसित होती हैं—मैं भी विकासवाला सुजात बनूँ। उषा से प्रेरणा प्राप्त कर सदा उत्तम कर्मों में लगा रहूँ।

ऋषिः—**विमदः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

भलमानस न कि भोंदू

४२२. भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।
अथा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणा गावो न यवसे विवक्षसे॥ ४॥

हे प्रभो! **नः**=हमारे **मनः**=मन को **भद्रम् अपि वातय**=भद्रता की ओर प्रेरित कीजिए। हमारे मन कभी अभद्रता की ओर न झुकें, कभी अशुभ का चिन्तन न करें। भद्रता के साथ **दक्षम्**=हमारे मन को दक्षता की ओर प्रेरित कीजिए। कठिन-से-कठिन समस्या को हम सुगमता से सुलझानेवाले हों। हमारा मन सदा उपाय का चिन्तन कर सके—resourceful हो।

हम संकट में घबरा न जाएँ। भद्र बनें पर भोंदू न हों। इस भद्रता और दक्षता के साथ **उत क्रतुम्**=हमारे मनों में कर्म-संकल्प भी प्राप्त कराइए। हमारा मन कभी आलस्य, तन्द्रा व निद्रा की ओर झुकाव न रक्खे।

इस प्रकार भद्रता, दक्षता तथा क्रतुमयता की साधना के **अथ**=बाद **ते सख्ये**=हे प्रभो! हम तेरी मित्रता में **रणा:**=आनन्द का अनुभव करें। वस्तुत: प्रभु की उपासना इन तीन बातों के बिना सम्भव भी तो नहीं।

जिस समय जीव प्रभु से यह प्रार्थना करता है उस समय बीच में टोकते हुए प्रभु कहते हैं कि **व:**=अपने **अन्धस:**=सोम के **वि-मदे**=उत्कृष्ट हर्ष में तू **रण**=आनन्द का अनुभव कर। सोम की रक्षा ही मेरी उपासना है। जीव प्रभु की इस प्रेरणा को सुनता हुआ कहता है कि मैं आपकी उपासना में उसी प्रकार आनन्द का अनुभव करूँ **न**=जैसेकि **विवक्षसे यवसे**=बढ़ी हुई चरी में **गाव:**=गौवें आनन्द का अनुभव करती हैं। उस समय उनकी पीठ पर पड़ा हुआ एक-आध डण्डा उन्हें दु:खी नहीं करता। इसी प्रकार एक भक्त प्रभु के प्रेम में निमग्न हुआ-हुआ कष्टों को कष्ट ही नहीं समझता।

इसी ऊँची स्थिति को प्राप्त हुआ-हुआ भी यह 'विमद'=मदशून्य, गर्वरहित बना रहता है। यही तो इसके जीवन का सौन्दर्य है। ऊँची स्थिति में पहुँचना योग है, परन्तु वहाँ पहुँचकर गर्वित हो जाना योगभ्रष्ट हो जाना है। यह व्यक्ति योगभ्रष्ट नहीं होता।

भावार्थ—मेरा जीवन भद्रता, दक्षता, क्रतुमयता, प्रभु-मित्रता, सोमरक्षा व गर्वशून्यता से अलंकृत हो।

ऋषि:—**गोतमो राहूगण:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**पङ्क्ति:**॥ स्वर:—**पञ्चम:**॥

सात्त्विक अन्न का सेवन

४२३. क्रत्वा महाँ अनुष्वधं भीम आ वावृते शव:।
श्रिय ऋष्व उपाकयोर्नि शिप्री हरिवां दधे हस्तयोर्वज्रमायसम्॥ ५॥

गत मन्त्र में हृदय में क्रतु होने का उल्लेख है। वस्तुत: क्रतु से ही मनुष्य की महत्ता है। **क्रत्वा**=कर्मशीलता से **महान्**=तू पूज्य होता है (मह पूजायाम्)।

'यह वार्धक्य तक कर्म करता रह सके' इसके लिए यह सात्त्विक अन्न से अपने शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाता है। 'स्वधा' उस सात्त्विक अन्न का नाम है, जिससे यह अपना धारण करता है। **अनुष्वधम्**=उस सात्त्विक अन्न के सेवन के अनुपात में ही **भीम: शव:**=सब विघ्न-बाधाओं को पार कर जानेवाली प्रबल शक्ति **आवावृते**=प्रचुरता से प्रवृत्त होती है। राजस् भोजन विद्यमान शक्ति में एक उबाल लाता है। सात्त्विक भोजन 'स्थिर' होता है, यह मनुष्य को अन्त तक शक्तिशाली बनाये रखता है।

यह **श्रिये**=शोभा के लिए **ऋष्व:**=महान् बनता है। यह कहीं भी छोटेपन को प्रकट नहीं करता।

शिप्री=शिरस्त्राणवाला बनकर तथा **हरिवान्**=उत्तम इन्द्रियरूप घोड़ोंवाला होकर यह **उपाकयो: हस्तयो:**=(उप+अञ्च) प्रभु की ओर (उसके समीप) ले-जानेवाले हाथों में

आयसं वज्रम्=लोहे के बने वज्र को **निदधे**=धारण करता है। यह अपने मस्तिष्क को शुद्ध रखता है और अपनी इन्द्रियों को मलिन नहीं होने देता। प्रशस्त ज्ञान व उत्तम इन्द्रियोंवाला बनकर यह अपने हाथों में अनथक (आयसम्) क्रियाशीलता (वज्रं=वज गतौ) को स्थान देता है। न थकनेवाले को हिन्दी में इसी रूप में कहते हैं कि इसकी टांगें तो लोहे की हैं। अनथक होकर यह कर्म करता रहता है। यह कर्म ही उसे प्रभु के समीप प्राप्त कराता रहता है। इस कर्म से उसकी सब इन्द्रियाँ शुद्ध बनी रहती हैं–यह 'गोतम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होता है। आलस्य, राजस् व तामस् भोजन तथा आराम आदि को छोड़ने के कारण यह 'राहूगण'=त्यागियों में गिनने योग्य कहलाता है।

भावार्थ–मैं क्रतु से महान् बनूँ, सात्त्विक अन्न से स्थिर शक्ति सम्पादन करूँ। शोभा के लिए हृदय में विशालता को धारण करूँ और मेरे हाथों में अनथक क्रियाशीलता हो।

ऋषिः–**गोतमो राहूगणः**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**पङ्क्तिः**॥ स्वरः–**पञ्चमः**॥

हारियोजन-पात्र

४२४. स घा तं वृषणं रथमधि तिष्ठाति गोविदम्।
यः पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्रा चिकेतति योजा न्विन्द्र ते हरी॥ ६॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि–**सः**=वह **घ**=निश्चय से **तम्**=उस **वृषणम्**=शक्तिशाली **गोविदम्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाले **रथम्**=शरीररूप रथ का **अधितिष्ठाति**=अधिष्ठाता बनता है, **यः**=जो हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठता! **हारियोजनम्**=(हरियोजनाय इदम्) परमेश्वर के सम्पर्क के लिए दिये गये इस **पात्रम्**=जीव के आधारभूत-रक्षा के योग्य शरीर को **पूर्णम्**=पूर्णतया **चिकेतति**=रोगशून्य करता है तथा **पूर्णम् चिकेतति**=इसमें पालनात्मक प्रकार से रहना जानता है (कित निवासे रोगापनयने च) इसलिए **नु**=अब **इन्द्र**=शक्तिसम्पन्न कार्यों को करनेवाले जीव! तू **ते**=अपने **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **योज**=इस शरीररूप रथ में जोत–सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगा रह और कार्यव्यापृत हो। न मूढ़ हो, न अलस बन।

प्रस्तुत मन्त्र में शरीर को 'रथ व पात्र' शब्दों से स्मरण किया है। यह रथ तो इसलिए है कि जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए दिया गया है, और पात्र इसलिए कि यह आत्मा का आधार है। यह रथ शक्तिशाली (वृषणम्) व ज्ञान के प्रकाशवाला (गोविदम्) होना चाहिए। हमें भी चाहिए कि हम इसमें रहना सीखें और इसे नीरोग रक्खें (पूर्ण चिकेतति)। कभी असमय पर न खाएँ, तमस् व तामस् वस्तुओं का सेवन न करें। हम इस बात को न भूल जाएँ कि यह शरीर हमें इसलिए दिया गया है कि इसके द्वारा अपनी साधना को पूर्ण करके हमें प्रभु को प्राप्त करना है। यह शरीर भोग भोगने के लिए नहीं मिला। इसका मुख्य उद्देश्य प्रभु-प्राप्ति है–**'इदं शरीरम् परमार्थसाधनम्'**, परन्तु यह तभी हो सकता है जब हम इसके अधिष्ठाता बने रहें (अधितिष्ठाति)। यदि इस शरीररूप रथ की बागडोर हमारे हाथ में रहेगी तभी हमारी यात्रा पूर्ण होगी, अन्यथा ये घोड़े हमें न जाने किस गर्त में जा गिराएँगे। प्रभु की ओर से जीव को कितना मित्रतापूर्ण निर्देश मिला है कि तू इन ज्ञानेन्द्रियरूप घोड़ों को ज्ञान-प्राप्ति में और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि शुभ कर्मों में व्याप्त किये रह। इनको वश में करने का सर्वोत्तम साधन यही है। ऐसा करने पर तू अवश्य अपनी जीवन-यात्रा को पूर्ण करनेवाला

होगा और इस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त करानेवाला यह शरीररूप पात्र सचमुच हारियोजन बनेगा। इस चमकीले, अत्यन्त सुन्दर सु-कृत शरीररूप पात्र में ही वह सत्यरूप आत्मा छिपा है। कल्पना की आँखों से इस पात्र की पाँचों तहों को अलग करके ही हम उस आत्मतत्त्व को देखेंगे। अन्नमयादि कोशों के उपभोगों को त्याग करनेवाले हम 'राहूगण' होंगे और निर्मलेन्द्रिय होने से गोतम होंगे।

भावार्थ—हम यह कभी न भूलें कि यह शरीर प्रभु-प्राप्ति के लिए प्राप्त हुआ है।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अग्नि, अस्त व स्तोता

४२५. अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ ७॥

किसी भी बात को समझने का सबसे अच्छा प्रकार उसका लक्षण करना है। इसी शैली पर यहाँ अग्नि, अस्त और स्तोता का लक्षण किया गया है। **अग्निं तं मन्ये**=मैं अग्नि—उन्नतिशील उसको मानता हूँ **यः वसुः**=जो वसु है—रहने का प्रकार जानता है। प्रभु ने मुझे यह शरीररूप घर दिया है। यदि इस शरीर में रोग हैं, मन में ईर्ष्या-द्वेष व मस्तिष्क में कुविचार व अन्धकार है तो मुझे क्या रहना आता है? मैं वसु नहीं, परिणामतः मैं अग्नि नहीं—अग्रेणीः प्रगतिशील नहीं। प्रगतिशील वही है जो इस शरीर में रहना जानता है। सात्त्विक भोजन का सेवन ही एकमात्र साधन है, जिससे मनुष्य अपने निवास को सर्वथा उत्तम बना सकता है।

'अस्तम्' शब्द संस्कृत में गृह का पर्याय है। **अस्तम् तं मन्ये**=घर मैं उसी को मानता हूँ **यं धनेवः यन्ति**=जिसमें गौवें प्राप्त होती हैं। **'आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः**=यह गृहसूक्त का वाक्य सायंकाल उछलती-कूदती गौवों के घर में लौटने का चित्रण करता है। गौ मनुष्य का दायाँ हाथ है। इसका दूध ही मनुष्य में सात्त्विकता की वृद्धि करता है। फिर **अस्तम्**=घर मैं उसको मानता हूँ **यम् आशवः अर्वन्तः**=जिसमें तीव्रगतिवाले घोड़े प्राप्त होते हैं। ये घोड़े उत्तम व्यायाम के साधन बनकर मनुष्य की शक्ति की वृद्धि करेंगे। गौवें ब्रह्म को तो घोड़े क्षत्र को बढ़ानेवाले होंगे। इसके बाद **अस्तम्**=घर वह है जिसमें **नित्यासो वाजिनः**=स्थिर वाजवाले पुरुष निवास करते हैं। सात्त्विक भोजनों के सेवन का परिणाम यह होता है कि उनमें स्थिर शक्ति की उत्पत्ति होती है, ये जीर्ण नहीं होते—स्थविर बने रहते हैं। एवं, घर वही है जहाँ गौवें, घोड़े व स्थिर शक्तिवाले पुरुष हैं। प्रस्तुत परिस्थिति में जहाँ गोदुग्ध का सेवन है, आसनादि का उचित व्यायाम है तथा सशक्त पुरुष हैं, वे ही आदर्श घर हैं।

स्तोता वे हैं जिन **स्तोतृभ्यः**=अपने भक्तों के लिए प्रभु **इषम्**=प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराते हैं और फिर **स्तोतृभ्यः**=जिन स्तोताओं से प्रभु लोक में समन्तात् **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=भरते हैं। सच्चे स्तोता को प्रभु से प्रेरणा प्राप्त होती है और वह उस प्रेरणा को लोगों तक पहुँचाता है। यही ज्ञानधनी स्तोता 'वसुश्रुत' है, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठा हुआ आत्रेय है।

भावार्थ—हम अग्नि बनें, घरों को उत्तम बनाएँ, सच्चे स्तोता बनें।

ऋषिः—अंहोमुग्वामदेव्यः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—उपरिष्टाद् बृहती:॥
स्वरः—मध्यमः॥

न कुटिलता—न दुर्गति (मित्रता का दर्शन)

४२६. न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम्।
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयति वरुणो अति द्विषः॥ ८॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अंहोमुक्' है, जिसने कुटिलता को दूर भगा दिया है, जो सुन्दर दिव्य गुणोंवाला होने से 'वामदेव्य' है। परिणामतः यह दुर्गति से भी दूर है। यह कहता है कि **देवासः**=हे देवो! **तम् मर्त्यम्**=उस पुरुष को **न अंहः**=न तो कुटिलता **न दुरितम्**=न ही दुर्गति **अष्ट**=व्याप्त करती है **यम्**=जिसे **अर्यमा मित्रः वरुणः**=अर्यमा, मित्र और वरुण **सजोषसः**= समानरूप से प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से **अतिनयति**=पार ले-जाते हैं।

कुटिलता और दुर्गति में कार्यकारणभाव है। कुटिलता कारण और दुर्गति उसका कार्य है। **'सर्वं जिह्मं मृत्युपदम्'**, कुटिलता मृत्यु का मार्ग है। संसार में कुटिलता से ही हमारा जीवन कड़वा बना है। सरलता उसमें माधुर्य ला सकती है। दुर्गति को दूर करने का मार्ग कुटिलता से दूर होना है। कुटिलता से दूर हम तभी होंगे जब द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठेंगे।

इन द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठने के लिए निम्न तीन बातें हमारे जीवन में होनी चाहिएँ।

१. **अर्यमा**='अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' इस वाक्य के अनुसार अर्यमा 'दान' की प्रवृत्ति का प्रतीक है, २. **मित्र**=ञिमिदा स्नेहने' धातु से बना यह शब्द 'स्नेह' का सूचक है, ३. और **वरुणः**=वरुण का पर्याय 'पाशी' है। अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधने की भावना है। वस्तुतः 'दान, स्नेह और व्रतित्व' की भावनाएँ हमें निर्द्वेष बनाती हैं।

यहाँ प्रसङ्गवश यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि मित्र शब्द को मध्य में रखकर वेद ने यह संकेत किया है कि मित्रता के लिए दान व व्रतित्व दोनों बातें आवश्यक हैं। संकट में हम सदा मित्र को देने के लिए उद्यत रहें, परन्तु उस मित्र को भी चाहिए कि वह अपने को इस प्रकार व्रतों के बन्धन में बाँधकर रक्खे कि प्रतिज्ञानुसार धन के लौटाने का ध्यान अवश्य ही करे। देनेवाला दे और लौटानेवाला ठीक लौटाए तो मित्रता बढ़ती है। लेन-देन ही न हो तो मित्रता कैसी? **'ददाति प्रतिगृह्णाति'** ये तो छह लक्षण ही हैं। मन्त्र में कहीं वरुण पहले है तो कहीं अर्यमा। मध्य में सदा मित्र को रक्खा है। उसका अभिप्राय इतना ही है कि 'व्रतित्व व दातृत्व' दोनों ही समान रूप से आवश्यक हैं-अन्यथा मित्रता कभी चल ही नहीं सकती, पारस्परिक मित्रता जीवन को दुर्गति से बचाकर सुखमय बनाती है।

भावार्थ—मैं इस तत्त्व को समझूँ कि कुटिलता के साथ दुर्गति का कार्यकारण भाव है। कुटिलता से ऊपर उठने के लिए मैं द्वेष से ऊपर उठूँ। द्वेष से ऊपर उठने के लिए मैं तीन भावनाओं को अपने अन्दर समानरूप से प्रवुद्ध करूँ—'दान, मित्रता व व्रतित्त्व'।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**धिष्ण्या ऐश्वरयोऽग्नयः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

पवमान सोम (आध्यात्मिक दृष्टिकोण से)

४२७. परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे भगाय ॥ १ ॥

हे **सोम**=मेरे शरीर को पवित्र बनानेवाले सोम! तू **इन्द्राय**=उस सर्वशक्ति-सम्पन्न प्रभु के लिए **परिप्रधन्व**=दौड़ चल—तीव्रता से उसे मुझे प्राप्त करा। उस प्रभु के लिए जो **मित्राय**=वस्तुतः मेरा हितचिन्तक है, **पूष्णे**=मेरा पोषण करनेवाला है और **भगाय**=ऐश्वर्य-वीर्य-यश-श्री-ज्ञान और वैराग्य को प्राप्त करानेवाला है।

संसार के सभी मित्रों व हितचिन्तकों की अपनी सीमाएँ (limitations) हैं—वे उसी सीमित क्षेत्र में हमारा भला कर सकते हैं। प्रकृति से सब प्रकार का पोषण अन्ततोगत्वा प्रभु के द्वारा ही प्राप्त कराया जा रहा है। भग के स्वामी तो हैं ही भगवान्। उन्हीं की समीपता में मैं भी भग के अंश को प्राप्त करनेवाला बनूँगा। प्रभु की समीपता मुझे इस सोम के द्वारा ही प्राप्त होगी। सोम मुझे निरन्तर प्रभु की ओर ले-चल रहा है। यह मेरे जीवन को पवित्र कर डालता है और मैं प्रभु-सामीप्य का अधिकारी बनता हूँ। यह सोम मुझे प्रभु के समीप तो पहुँचाता ही है, साथ ही मेरे इस भौतिक जीवन को भी **स्वादुः**=मधुर बना देता है। मैं प्रभु को ही अपनी अन्तिम शरण समझता हूँ और संसार में बड़ी मधुरता से वर्तता हूँ।

भावार्थ—मैं सोम के संयम से अपने जीवन को मधुर बनाऊँ और प्रभु को अपना लक्ष्य समझूँ।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**त्रिपदानुष्टुप्पिपीलिकामध्या**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

पवमान सोम (भौतिक दृष्टिकोण से)

४२८. पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥ २ ॥

हे सोम! तू **उ**=निश्चय से **सु**=अति उत्तमता से **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए **परिप्रधन्व**=निरन्तर आगे और आगे चलता चल। सोम की रक्षा से सबसे स्थूल लाभ यही है कि हमारी शक्ति की वृद्धि होती है। शक्ति के बिना संसार में कहीं भी हमारी कुछ भी स्थिति नहीं होती। 'धर्मार्थ, काम, मोक्ष' का मूलसाधन शक्ति है।

हे सोम! तू **वृत्राणि**=मेरे ज्ञान पर पर्दा डालनेवाले कामादि वृत्रों का **परि सक्षणिः**=पूर्ण पराभव करनेवाला होता है। सोम का रक्षण मनुष्य को क्रोध, ईर्ष्या आदि सब अशुभ वृत्तियों से ऊपर उठाता है। **द्विषः**=सब द्वेष की भावनाओं से **तरध्या**=तैरने के लिए यह सोम सहायक होता है। संयमी पुरुष शक्तिशाली बनकर द्वेष से आन्दोलित नहीं होता। हे सोम! तू **ऋणया न**=ऋणों को दूर करनेवाला-सा बनकर **ईरसे**=गति करता है। सोमी पुरुष पितृ-ऋण, ऋषिऋण व देवऋण आदि सभी ऋणों को चुकाने के लिए उत्साहवाला होता है। दूसरे शब्दों में यह

माता-पिता का सेवक, स्वाध्यायशील, व यज्ञमय जीवनवाला होता है। इस प्रकार सोम की रक्षा से यह सांसारिक जीवन कितना सुन्दर बन गया है!

सोम की रक्षा करनेवाला यह व्यक्ति निरन्तर प्रभु की ओर चल रहा है, इसलिए 'ऋण' (ऋ गतौ) कहलाता है। यह मार्ग में आनेवाले विघ्नों को भयभीत करके दूर भगा देने के कारण 'त्रसदस्यु' होता है। सचमुच वासनारूप विघ्नों को कम्पित कर दूर करता हुआ यह प्रभु की ओर निरन्तर चल रहा है।

भावार्थ—सोम की रक्षा से मेरा जीवन शक्तिसम्पन्न व कर्त्तव्यनिष्ठ हो।

ऋषिः—**धिष्ण्या ऐश्वरयोऽग्नयः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अध्यात्म उत्कर्ष

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २र

४२९. पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥ ३ ॥

हे **सोम**=सोम! तू **पवस्व**=मेरे जीवन को पवित्र कर दे। मैं तेरी रक्षा के द्वारा शक्ति व ज्ञान से सम्पन्न बनकर १. **महान्**=उदार बनूँ और परिणामतः **समुद्रः**=मेरा जीवन आनन्द से युक्त हो (स+मुद्)। **'यो वै भूमा तत्सुखम्'** विशालता में ही सुख है **'नाल्पे सुखमस्ति'** अल्पता में सुख नहीं है। केवल शक्ति व केवल ज्ञान मनुष्य को विशाल नहीं बनाता, परन्तु शक्ति व ज्ञान दोनों मिलकर मनुष्य को अल्पता से ऊपर उठाते हैं। वह छोटी-छोटी बातों में उलझता नहीं। परिणामतः इसका जीवन आनन्दमय बना रहता है। निर्बलता व मूर्खता में मनुष्य खिझता है और अकारण दुःखी बना रहता है। २. यह सोम **देवानां पिता**=दिव्य गुणों का जन्म देनेवाला होता है, अतएव **विश्वा धाम अभि**=मुझे सब तेजों की ओर ले-चलता है। मैं विषयों का शिकार नहीं होता और मेरी शक्तियाँ जीर्ण नहीं होती, दिव्य गुण बढ़ते हैं, आसुर वृत्तियाँ कम होती हैं और मेरी शक्तियाँ सुरक्षित रहती हैं। एवं, सोम की रक्षा से मेरे जीवन में दो बातें होती हैं—१. उदारता आनन्द को जन्म देती है, और २. दैवी सम्पत्ति तेजस्विता को।

भावार्थ—मैं सोम-संयम से आनन्दमय व तेजस्वी बनूँ।

ऋषिः—**धिष्ण्या ऐश्वरयोऽग्नयः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

भौतिक उत्कर्ष

१ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २र

४३०. पवस्व सोम महे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥ ४ ॥

हे **सोम**=सोम! तू **पवस्व**=मेरे जीवन को पवित्र कर, जिससे **महे दक्षाय**=महान् दक्षता के लिए मैं समर्थ होऊँ। मैं प्रत्येक कार्य को कुशलता से करूँ। मेरी आत्मा अत्यन्त संस्कृत हो, जिससे मेरा व्यवहार पूर्ण सभ्यतावाला हो। मेरे किसी भी कार्य में अनार्यता—अकुशलता न टपके। **'योगः कर्मसु कौशलम्'**=कर्मों में कुशलता ही तो योग है। मैं इस योग को इस सोमपान के द्वारा प्राप्त करनेवाला बनूँ।

इस सोमपान से मेरा जीवन **अश्वो न निक्तो वाजी**=(निज्=शुचि व पोषण) एक बड़े शुद्ध व पुष्ट घोड़े के समान शक्तिशाली हो। जिस घोड़े को बड़ा साफ-सुथरा रक्खा जाता है और जो उचित पोषण प्राप्त करता है उसकी भाँति मैं इस सोमपान से शक्तिशाली बनूँ।

धनाय=यह सोमपान मुझे धन प्राप्त करने योग्य बनाए। स्वस्थ, नीरोग व सुन्दराकृति पुरुष धन कमाने में भी सफल होता ही है।

भावार्थ—सोमपान से मुझे दक्षता, शक्ति व धन-प्राप्ति की योग्यता प्राप्त हो।

ऋषिः—**धिष्ण्या ऐश्वरयोऽग्नयः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उत्कर्ष की परिनिष्ठा

४३१. इन्दुः पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे कविर्भगाय॥ ५॥

सोम का नाम 'इन्दु' भी है। यह बिन्दु का ही रूपान्तर है। बिन्दु सोमकणों का नाम है—**'मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्'**। (इन्दति to be powerful) इसका नाम इन्दु इसलिए पड़ा कि यह सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत है। यह **पविष्ट**=मेरे जीवन को पवित्र बनाता है। सोम से उत्पन्न 'शक्ति, पवित्रता व ज्ञान' ये सब तत्त्व मिलकर **चारुः**=मेरे जीवन के सौन्दर्य का हेतु होते हैं। **मदाय**=यह जीवन मेरे उल्लास के लिए होता है। सौन्दर्य के साथ उल्लास का स्वाभाविक सम्बन्ध है। सौन्दर्य व उल्लास से युक्त होकर यह **अपाम्**=कर्मों के **उपस्थे**=मध्य में विराजता है। यह कर्मों से घबराकर पर्वत-कन्दराओं का आश्रय नहीं करता। यह कवि बनकर कर्म करता है, जिससे उनमें उलझ न जाए। **कविः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वद्रष्टा होने से उन कर्मों को यह असक्तभाव से करता चलता है। कर्म उसके लिए स्वाभाविक हो जाते हैं। यह **भगाय**=ऐश्वर्यादि छह भगों की प्राप्ति में समर्थ होता है। उन्हें प्राप्त करके भगवान्-सा बन जाता है। विद्वान् लोग इन्हें वीर मानकर आदर देने लगते हैं। यह मनुष्य के उत्कर्ष की परिनिष्ठा होती है—उसका उत्कर्ष यहाँ चरम विकास पर होता है।

भावार्थ—मैं सोमपान से सुन्दर, उल्लासमय, कर्मठ, क्रान्तदर्शी व अनासक्त (वैराग्ययुक्त) जीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**त्रिपदानुष्टुप्पिपीलिकामध्याः**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सोम के अनुपात में

४३२. अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि महे समर्यराज्ये। वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे॥ ६॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **सुतम्**=उत्पन्न हुई **त्वा अनु**=तेरे अनुपात में **हि**=निश्चय से **मदामसि**=हम उल्लासमय जीवनवाले होते हैं। सोमरक्षा का जीवन पर सबसे स्थूल प्रभाव तो यही है कि जीवन में एक उल्लास होता है। संसार असार-सा नहीं लगता। उस पूर्ण प्रभु की बनाई हुई यह रचना अपूर्ण हो ही कैसे सकती है? दूसरा परिणाम यह होता है कि यह सोम हमें **महे**=महान् **समर्यराज्ये**=उत्तम स्वामी के राज्य में समर्थ बनाता है। हम अपनी बुद्धि, मन व इन्द्रियों के स्वामी होते हैं—इनपर हमारा राज्य होता है। ये आत्मा के वश में होकर विषयों में विचरण नहीं करतीं। इनकी प्रत्येक क्रिया नियमित होती है। यहाँ इन्द्रियों, मन व बुद्धि का शासन नहीं चलता—आत्मा का शासन होता है।

इस सोमरक्षा का तीसरा परिणाम इन शब्दों में कहा है कि **पवमान**=पवित्र करनेवाले

सोम! तू **वाजान् अभि**=वाजों को लक्ष्य बनाकर **प्रगाहसे**=इस शरीर का आलोडन करता है। तेरे कारण अन्नमयकोश में (वाज=वज गतौ) गतिशीलता—क्रियामयता होती है। प्राणमयकोश में वाज=शक्ति का संचार होता है। मनोमयकोश में यह सोम वाज=त्याग (sacrifice) की भावना भरता है और यही विज्ञानमयकोश में वाज=ज्ञान का भी कारण बनता है। इस प्रकार यह सोम प्रत्येक कोश को उस कोश की विभूति से अलंकृत करनेवाला होता है। यह व्यक्ति इस सोम से चमक उठता है।

भावार्थ—सोम मेरे जीवन में उल्लास दे, इसके कारण मेरे शरीर में आत्मा का राज्य हो और मेरा प्रत्येक कोश विभूति-सम्पन्न हो।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ये कौन?

४३३. क ईं व्यक्ता नरः सनीडा रुद्रस्य मर्या अथा स्वश्वाः ॥ ७ ॥

सोम के प्रभाव से अपने को श्रीसम्पन्न व ऊर्जावाले बनाकर ये लोग जब समाज में लोकसंग्रह के लिए विचरते हैं तब सामान्य जनता कह उठती है—**के**=कौन हैं ये? ये **ईम्**=सचमुच **व्यक्ताः**=(वि अक्ताः) अद्भुत कान्तिवाले, **नरः**=नियमितरूप से अपने को आगे और आगे प्राप्त करानेवाले, **सनीडाः**=प्रभु के साथ एक ही निवास-स्थान में रहनेवाले, **रुद्रस्य मर्याः**=सबको उपदेश देनेवाले प्रभु के ही मनुष्य **अथ**=और सबसे बड़ी बात यह कि **स्वश्वाः**=उत्तम इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले हैं।

सोम के पान ने इनके जीवन में उपर्युक्त अद्भुत प्रभाव उत्पन्न किये हैं। इन प्रभावों के कारण सामान्य जनता की दृष्टि में ये अतिमानव बन जाते हैं। ये प्रकृति के उपासक न होकर प्रभु के उपासक होते हैं, इसी कारण प्रकृति का अन्याय्य प्रयोग नहीं करते। ये अपने को प्रभु का निमित्तमात्र मानते हैं। प्रकृति के agent तो बनते ही नहीं। इसी बात को मन्त्र में 'रुद्रस्य मर्याः' शब्दों से कहा गया है। इन्द्रियों पर पूर्ण प्रभुत्व पाकर ही मनुष्य परमेश्वर का होता है—ये प्रभु के व्यक्ति 'वसिष्ठ' हैं, 'मैत्रावरुणि' हैं।

भावार्थ—सोम के सेवन से ही हम कान्तिसम्पन्न, आगे बढ़नेवाले, प्रभु के साथ रहनेवाले उसके सेवक बनें।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उदारता+क्रियाशीलता

४३४. अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्। ऋध्यामा त ओहैः ॥ ८ ॥

हे **अग्ने**=प्रकाश व क्रिया के मूर्त्तरूप प्रभो! **तम्**=उस आपको **अद्य**=आज हम **ऋध्याम**=बढ़ाते हैं। प्रभु प्रकाशस्वरूप हैं, स्वाभाविक क्रियावाले हैं। अग्रगति के लिए इन्हीं दो तत्त्वों की आवश्यकता है। क्रिया के अभाव में बढ़ना सम्भव ही नहीं और प्रकाश के अभाव में ग़लत दिशा में चले जाने की सम्भावना है। प्रभु प्रकाश और क्रिया दोनों के समन्वय से हमें निरन्तर आगे ले-चल रहे हैं। सचमुच वे अग्नि हैं—मैं उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करूँ।

वे प्रभु **अश्वं न**=(अश् व्याप्तौ) व्यापकता के अनुरूप तथा **क्रतुं न**=कर्मसंकल्प के

अनुरूप **भद्रम्**=हमारा कल्याण करनेवाले हैं। जितनी-जितनी हमारी वृत्ति व्यापकता को लिये हुए होती है और जितना हमारा हृदय कर्मसंकल्प से पूर्ण होता है, उसी अनुपात में हमें कल्याण की भी प्राप्ति होती है। प्रभु की मौलिक प्रेरणाएँ यही दो हैं कि 'उदार बनो, क्रियाशील बनो'। उदारता के अभाव में औरों का भला करने की वृत्ति ही नहीं होती, क्रिया के अभाव में हम भला कर ही नहीं पाते। दोनों का मेल होते ही मनुष्य औरों का भला करने में समर्थ होता है और ऐसा करने पर प्रभु से कल्याण-प्राप्ति का अधिकारी बनता है।

'हमारे कर्म पवित्र बने रहें' इसके लिए यह आवश्यक है कि हम उस प्रभु को **हृदिस्पृशम्**=हृदय में बसनेवाला, इस रूप में स्मरण करें। हमारी कौन-सी बात उनसे छिपी है? हमें तो भ्रम था कि हम अकेले हैं, उस हृदयस्थ पुराणमुनि को जानकर हमारा मन पाप की ओर थोड़े ही झुकेगा?

हम इस प्रभु को **ते स्तोमैः**=उसके स्तुतिसमूहों से जो **ओहैः**=उस प्रभु को प्राप्त करानेवाले हैं, **ऋध्याम**=बढ़ाते हैं। हम प्रभु के गुणों का स्मरण इस प्रकार से करते हैं कि उन गुणों को धारण करते हुए हम प्रभु के समीप पहुँचते जाते हैं। हमारे अन्दर भी सुन्दर दिव्य गुणों का विकास होकर हमें 'वामदेव' बना देता है, इन्द्रियों की निर्मलता से हम 'गोतम' होते हैं। उदारता हमें वामदेव बनाती है तो क्रियाशीलता (गो-गच्छति) गोतम।

भावार्थ-मैं उदारता व क्रियाशीलता को अपनाकर 'वामदेव गोतम' बनूँ।

ऋषिः-**वामदेवः**॥ देवता-**वाजिनां स्तुतिः**॥ छन्दः-**पुरउष्णिक्**॥ स्वरः-**ऋषभः**॥

चार पग-(स्वर्ग का विजय)

४३५. आविर्मर्या आ वाजं वाजिनो अग्मं देवस्य सवितुः सवम्।
स्वर्गां अर्वन्तो जयत॥ ९॥

प्रभु कहते हैं कि **मर्याः**=हे मनुष्यो! **आविः**=अपना विकास करो-'उन्नति' यह तुम्हारे जीवन का लक्ष्य-शब्द हो। उन्नति का स्वरूप यह है कि तुम यह निश्चय करो कि **वाजिनः**=उस वाजी के **वाजम्**=वाज को **आ अग्मन्**=प्राप्त होऊँ। विज्ञानमयकोश में मैं उस वाजी=ज्ञानस्वरूप प्रभु के ज्ञान को प्राप्त करूँ, मनोमयकोश में उस वाजी-त्याग के पुञ्ज प्रभु के वाज=त्याग को अपनाऊँ। प्राणमयकोश में उस वाजिनः=शक्तिमय प्रभु की वाजं=शक्ति को धारण करूँ और अन्नमयकोश में वाजिनः=उस स्वाभाविक क्रियावाले प्रभु की वाजं=क्रिया को मैं भी अपना स्वभाव बनाऊँ। इसके लिए मैं उस **देवस्य**=सारी दिव्यता के निधान **सवितुः**=सदा प्रेरणा देनेवाले प्रभु की **सवम्**=प्रेरणा को **अग्मन्**=प्राप्त होऊँ-सुननेवाला बनूँ। विकास व उन्नति को लक्ष्य बनाना प्रथम पग है-उस विकास का स्वरूप है-वाज को प्राप्त करना। उस वाज की प्राप्ति के लिए प्रभु की प्रेरणा को सुनना दूसरा पग है। इस प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति 'अर्वन्' होता है, यह (अर्व to kill) काम-क्रोधादि वासनाओं का संहार करता है और **अर्वन्तः**=कामादि का संहार करते हुए तुम लोग **स्वर्गं जयत**=स्वर्ग को जीतनेवाले बनो। पारलौकिक स्वर्ग की बात का न भी ध्यान करें, मनुष्य ऐहलौकिक स्वर्ग का लाभ तो कर ही लेता है। क्रोधादि से ऊपर उठ जाने पर मनुष्य का जीवन कितनी अद्भुत शान्तिवाला हो जाता है। वासनाओं को जीते बिना मनुष्य की सुखमय स्थिति कभी नहीं हो सकती, इसलिए

आवश्यक है कि हम विकास को जीवन का लक्ष्य बनाकर 'वाज' को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—विकास हमारा लक्ष्य हो, हम वाजी बनें, प्रभु की प्रेरणा को सुनें, वासनाओं को नष्ट करके स्वर्ग के विजेता बनें।

ऋषिः—**धिष्ण्या ऐश्वरयोऽग्नयः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ज्योति व अमरता

४३६. पवस्व सोम द्युम्नी सुधारो महाँ अवीनामनुपूर्व्यः ॥ १० ॥

हे **सोम**=सोम! **अनुपवस्व**=तू हमारे जीवन को अनुकूलता से पवित्र कर। **द्युम्नी**=ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर हमारे मस्तिष्क को द्युतिमय—ज्योतिर्मय कर, **सुधा-रः**=हमें अमृतत्त्व देनेवाला हो। हम तेरा पान करनेवाले बनें और अमृतत्व का लाभ करें। **महान्**=तेरे धारण से हमारे हृदय तुच्छता से दूर और विशालता से सम्पन्न हों। तू **अवीनाम् पूर्व्यः**=रक्षकों में सर्वप्रथम है। सोम की रक्षा होने पर रोग शरीर को पीड़ित नहीं कर सकते, इन्द्रियों को निर्बलता आक्रान्त नहीं कर पाती, मन ईर्ष्या-द्वेषवाला नहीं होता और बुद्धि कुण्ठता को प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार यह सोम प्रत्येक कोश की रक्षा करनेवाला है।

वस्तुतः सोम ही जीवन का आधारभूत तत्त्व है। इसी से जीवन का धारण व उत्थान होता है।

भावार्थ—हम सोम की महिमा को समझें और उसके धारण को महत्त्व दें।

पञ्चमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु-नाम-स्तवन (विश्वतोदावन्–शविष्ठ)

४३७. विश्वतोदावन् विश्वतो न आ भर यं त्वा शविष्ठमीमहे॥ १ ॥

यम्=जिस **शविष्ठम्**=सर्वाधिक शक्तिवाले **त्वा**=आपकी **ईमहे**=हम याचना करते हैं। **विश्वतोदावन्**=हे सर्वतः दानशील प्रभो! **विश्वतो नः आभर**=वे आप हमारा सर्वतः भरण कीजिए। हमारे शरीरों को नीरोगता से तथा मस्तिष्क को ज्योति से भर दीजिए। हे प्रभो! आप ही सब-कुछ देनेवाले हैं। इस सोम की रक्षा की शक्ति भी तो आप ही देंगे। आपके सम्पर्क में आकर ही मैं शक्ति-सम्पन्न होता हूँ और शत्रुओं का संहार कर पाता हूँ।

भावार्थ—वे प्रभु 'विश्वतोदावन्' हैं—मुझे भी शक्ति क्यों न देंगे, 'शविष्ठ' हैं—मुझे भी शक्ति-सम्पन्न क्यों न बनाएँगे?

***सूचना**—'विश्वतोदावन्' शब्द का अर्थ सब अशुभ के विध्वंस करनेवाले (दाप् लवने) तथा सब प्रकार से शोधन करनेवाले भी हैं (दैप्-शोधने), यहाँ 'विश्वतो नः आभर' इस वाक्यांश के साथ सब-कुछ देनेवाले यह अर्थ किया गया है।*

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ब्रह्मा-ऋत्विय-इन्द्र

४३८. एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे॥ २॥

एषः=ये विश्वतोदावन् प्रभु **ब्रह्मा**=ब्रह्मा हैं—सब प्रकार से बढ़े हुए हैं—प्रत्येक गुण की पराकाष्ठा हैं। अपने सखा जीव को भी सब प्रकार से बढ़ानेवाले हैं। ये प्रभु वे हैं **यः**=जो **ऋत्वियः**=ऋतु-ऋतु में, अर्थात् सदा पुकारने के योग्य हैं। जीव को जब कभी दुःख होता है उस समय तो वह प्रभु को पुकारता ही है, परन्तु सुख के समय भी ये प्रभु पुकारने योग्य हैं, जिससे हमारा मस्तिष्क स्वस्थ रहे। वे प्रभु **इन्द्रः नाम श्रुतः**='इन्द्र' इस नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सब असुरों का संहार करनेवाले हैं—आसुर वृत्तियों को नष्ट करनेवाले हैं। सर्वशक्तिमान् हैं, परमैश्वर्यशाली हैं।

इस ब्रह्मा, ऋत्विय व इन्द्र नाम से प्रसिद्ध प्रभु को **गृणे**=मैं स्तुत करता हूँ। प्रभु-स्तवन करता हुआ मैं भी ब्रह्मा व इन्द्र बनने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु ब्रह्मा हैं—मैं भी वर्धमान होऊँ। प्रभु ऋत्विय हैं—मेरी लोकहित की वृत्ति मुझे भी ऋत्विय बनाए। प्रभु इन्द्र हैं—मैं भी आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाला शची=शक्ति का पति बनूँ।

ऋषिः—**अवस्युः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अहि-हनन

४३९. ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्धयन्नहये हन्तवा उ॥ ३॥

ब्रह्माणः=ज्ञानी लोग **इन्द्रम्**=सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभु को **महयन्तः**=पूजते हुए (मह पूजायाम्) **अर्कैः**=(अर्चन्त्यनेनेति, अर्को मन्त्रः) मन्त्रों से उस प्रभु को **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं, उसकी दिव्यता को अपने में भरते हैं। प्रभु न्यायकारी है—मैं भी न्यायकारी बनूँ, प्रभु दयालु हैं—मैं भी दया की वृत्तिवाला बनूँ। यही प्रभु को बढ़ाना है। इसके बिना हम अपने से कुटिलता की वृत्ति को दूर नहीं कर सकते। ज्ञानी लोग **उ**=निश्चय से उस प्रभु का वर्धन **अहये हन्तवा**=अहि के हनन के लिए करते हैं। 'अहि' कुटिलता का प्रतीक है—हिंसा का प्रतिनिधि है। प्रभु का स्मरण मुझे कुटिलता व हिंसा से दूर करता है। प्रभु से दूर होते ही मुझसे यह अहि आ चिपटता है।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण मुझे कुटिलतारूपी सर्पदंश से दूर रक्खे, जिससे मैं स्वर्ग में रह सकूँ।

ऋषिः—**अवस्युः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सफल जीवन

४४०. अनवस्ते रथमश्वाय तक्षुस्त्वष्टा वज्रं पुरुहूत द्युमन्तम्॥ ४॥

अनवः=मनुष्य **ते**=वे हैं जो **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **अश्वाय**=(अश् व्याप्तौ) उस सर्वव्यापक परमात्मा के लिए **तक्षुः**=बनाते हैं। वस्तुतः मनुष्य वह है जो प्रेयमार्ग की चमक

से न चुँधियाकर श्रेयमार्ग का अवलम्बन करता है। प्रकृति के भोगों में न फँसकर जिसने प्रभु-प्राप्ति के मार्ग का अवलम्बन किया वही मनुष्य कहलाने के योग्य है। संसार के भोगों में उलझकर जीवन यापन कर देना पाशविक जीवन है। मनुष्य प्रभु की ओर चलता है—पशु प्रकृति की ओर।

त्वष्टा=निर्माता वह है जो **वज्रम्**=अपनी क्रिया को **द्युमन्तम्**=प्रकाशमय (ततक्ष) बनाता है। वस्तुतः जिस क्रिया में प्रकाश है, अर्थात् जो क्रिया विवेकपूर्वक की जाएगी वह सदा निर्माण करनेवाली होगी। हे **पूरुहूत**=पूरण करनेवाले प्रभो! मैं तो आपका निमित्तमात्र हूँ। निर्माण में गौरव है—गौरव का अनुभव करना ही चाहिए, परन्तु यही गर्व में परिणत होकर हमारी विजय को पराजय में परिवर्तित कर देता है।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलकर मानव-जीवन को सफल करें। प्रकाशमय क्रियावाले होकर कुछ-न-कुछ निर्माण करनेवाले हों।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

पूर्ण शान्ति व ऐश्वर्य

४४१. शं पदं मघं रयीषिणे न काममव्रतो हिनोति न स्पृशद्रयिम् ॥५॥

मघम्=निर्मल ऐश्वर्य से पूर्ण **शं पदम्**=पूर्ण शान्ति के स्थान को **रयीषिणे**=(ईष=to give) धन को दे डालनेवाले—दानी प्राप्त करते हैं। पूर्ण शान्ति को, ब्रह्म को वही प्राप्त करता है जो धन के प्रति आसक्त नहीं होता। जो भी व्यक्ति **अव्रतः**=इस दान के व्रत को धारण नहीं करता वह **कामम्**=बेशक कितना ही हाथ-पैर मारे **न हिनोति**=इस शान्ति के पद को प्राप्त नहीं करता। धन के संग्रह में शान्ति है भी तो नहीं। यह अव्रत पुरुष उस ऐश्वर्यपूर्ण शान्त स्थान को प्राप्त भी क्योंकर करे **न स्पृशत् रयिम्**=इसने धन का दान भी तो नहीं किया। (स्पर्शनम्=दानम्)। धन का दान करे, प्रकृति में आसक्त न हो, तभी उस शान्तपद को प्राप्त कर सकता है।

भावार्थ—शान्ति की प्राप्ति ब्राह्मीभाव में है, यह भाव सर्वलोकहित में रत होने से प्राप्त होता है। उसी भूतहित का प्रतीक दान है।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

निष्पापता

४४२. सदा गावः शुचयो विश्वधायसः सदा देवा अरेपसः ॥६॥

देवाः=देनेवाले **सदा**=हमेशा **अरपेसः**=निष्पाप होते हैं। दान=देना, दान=खण्डन, दान=शोधन। दान शब्द के उल्लिखित तीन अर्थ ही दान की निष्पापता को जन्म देनेवाली शक्ति को व्यक्त करते हैं। लोभ सब पापों का मूल है—दान उस मूल पर कुठाराघात करता हुआ पापों का उन्मूलन कर देता है। इस बात को वेद एक उदाहरण से भी इस रूप में व्यक्त करता है कि **गावः**=गौएँ **सदा**=हमेशा **शुचयः**=पवित्र हैं। इनका मल-मूत्र भी कृमिघातक होकर शोधक हो जाता है। गोमूत्र कितने ही रोगों को दूर करता है, गोमय किस प्रकार यज्ञवेदि के नैर्मल्य का कारण बनता है? गौवों की इस पवित्रता का हेतु भी वेद के दृष्टिकोण में यही है कि

ये **विश्वधायसः**=सभी को दूध पिलाकर पालनेवाली हैं। गौवें जीवन देती हैं, देने से ही पवित्र हैं। मनुष्य भी देता है, तो दान से देव बन जाता है और निष्पापता का लाभ करता है। यह निष्पापता ही उसके ब्राह्मीभाव का कारण बनेगी।

भावार्थ—दानी निष्पाप होता है, देव बनता है और महादेव को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**संवर्तः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उपासना के लाभ

४४३. आ याहि वनसा सह गावः सचन्त वर्तनिं यदूधभिः ॥ ७ ॥

वन् धातु का अर्थ है—'सम्भक्ति'। सम्भजन का अभिप्राय है 'एकाग्रचित्त से प्रभु का ध्यान'। मनुष्य प्रभु के ध्यान में तल्लीन हो, उसे किसी सांसारिक वस्तु का ध्यान न हो—वह योगनिद्रागत हो—ऐसे ध्यान को 'वनस्' कहते हैं। जब मनुष्य इस ध्यान की स्थिति में होता है तब **वनसा सह**=इस उपासना के साथ हे प्रभो! **आयाहि**=आप मुझे प्राप्त होओ। वस्तुतः तन्मयता के बिना प्रभु-प्राप्ति सम्भव नहीं।

इस उपासना का परिणाम यह होता है कि **गावः**=इन्द्रियाँ **वर्तनिं सचन्त**=मार्ग का सेवन करती हैं। उपासक की इन्द्रियाँ, प्रभु का राज्य हो जाने पर, अपने मार्ग से विचलित नहीं होतीं। दिन में तो क्या? **यत् ऊधभिः**=जब रातों में भी इन्द्रियाँ मार्ग से विचलित नहीं होतीं, तब समझना चाहिए कि उपासना ठीक हुई। मेरी वाणी दिन में ही असत्य नहीं बोलती यह नहीं, रात को स्वप्न में भी मैं असत्य नहीं बोलता—यही तो उपासना की महिमा है। इससे जीवन का मार्ग ही पलट गया। असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर चल पड़ने से यह ऋषि 'संवर्त' नामवाला हुआ है। 'संवर्तते इति संवर्तः'=जो उत्तम मार्ग पर चल रहा है।

भावार्थ—मैं अनन्यभाव से प्रभु का भजन करूँ। परिणामतः प्रभु का दर्शन करनेवाला बनूँ और दिन में तो क्या रात्रि में भी मेरी इन्द्रियाँ मार्ग से विचलित न हों।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

मधुमान् प्रक्ष में निवास

४४४. उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र ॥ ८ ॥

'प्रक्ष' शब्द का अर्थ है—निवास का प्रकृष्ट स्थान। केवल निवास ही नहीं, 'क्षि=निवासगत्योः' धातु से बना यह शब्द यह निर्देश कर रहा है कि इस शरीर में हमारा उत्तम निवास हो और हम सदा गतिशील हों। इस प्रक्ष को हम 'मधुमति'=मधुमान् बनाएँ, हमारा सारा व्यवहार माधुर्य को लिये हुए हो। **'मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्'**=मेरा आना-जाना भी माधुर्य को लिये हुए हो। इस **मधुमति प्रक्षे**=माधुर्यमय शरीर में **उपक्षियन्तः**=निवास करते हुए और गतिशील रहते हुए हम **रयिं पुष्येम**=धनों का पोषण करें। **इन्द्र**=हे प्रभो! हम **ते धीमहे**=आपका ध्यान करें और आपको धारण करें।

'हम गतिशील रहते हुए धन कमाएँ' इस वाक्य का अभिप्रय स्पष्ट है कि हम पुरुषार्थ-प्राप्य धन को ही उपादेय मानें। 'यह धन हमारे जीवनों में किसी प्रकार के धब्बों को लगानेवाला

न हो जाए' इसलिए हम प्रभु का ध्यान व उसे धारण करें। 'धनसम्पन्न-प्रभुभक्त' गृहस्थ कितना सौभाग्यशाली है? धन से उसके सब कार्य चलते हैं और प्रभु-भक्ति उसकी हानि नहीं होने देती। प्रभुभक्ति धन की हानियों का प्रतीकार है।

एवं, उल्लिखित दो मन्त्रों में उपासना के निम्न लाभ परिगणित हुए हैं—

१. प्रभु-प्राप्ति (आयाहि), २. इन्द्रियों का मार्ग से विचलित न होना, ३. शरीर में उत्तम निवास व गतिशीलता (प्रक्षे), ४. माधुर्य (मधुमति) ५. ऐश्वर्यलाभ (रयिं पुष्येम), ६. दिव्यता का धारण (ते धीमहि)।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मेरा मन अवश्य उपासना-प्रवण हो।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

कष्टों का अन्त

४४५. अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आ स्तोभति श्रुतो युवा स इन्द्रः ॥ ९ ॥

'अर्क' शब्द का अर्थ परमात्मा है (यद् एनम्-अर्चन्ति), इसका अर्थ मन्त्र है (यदनेन अर्चन्ति) इसका अर्थ अन्न है (अर्चन्ति भूतानि)। इस प्रकार **स्वर्काः**=सर्वोत्तम उपास्यदेव का उत्तम मन्त्रों से अर्चना करनेवाले, अतएव उत्तम सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाले **मरुतः**=मनुष्य **अर्कम्**=उस उपास्य प्रभु की **अर्चन्ति**=अर्चना करते हैं। **'य एक इत् हव्यश्चर्षणीनाम्'**=इत्यादि मन्त्रों में मनुष्य के लिए एकमात्र उस प्रभु की ही उपासना का निर्देश है। जो मनुष्य सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हैं और परिणामतः जिनका ज्ञान उत्तम होता है उनका जीवन इस उपासना से ओत-प्रोत हुआ करता है।

ऐसा होनेपर **सः**=वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु जो **युवा श्रुतः**=अशुभ को दूर करनेवाला (यु=अमिश्रण) और शुभ को प्राप्त करनेवाला (यु=मिश्रण) प्रसिद्ध है, **आस्तोभति**=इनके सब कष्टों को रोकता है। प्रभुकृपा से न इन्हें आध्यात्मिक कष्ट पीड़ित करते हैं, न ये आधिभौतिक कष्टों के शिकार होते हैं और न ही आधिदैविक कष्टों का प्रकोप इन्हें सहना पड़ता है।

भावार्थ—मैं प्रभु का सच्चा उपासक बनूँ। यही सत्य का मार्ग है।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

शोधन-पूरण

४४६. प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते ॥ १० ॥

गाथं प्रगायत=गाथा का खूब गायन करो। किसके लिए? **वः इन्द्राय**=परमैश्वर्य प्राप्त करानेवाले के लिए, **वृत्रहन्तमाय**=वासनाओं का अधिक-से-अधिक नाश करनेवाले के लिए और **विप्राय**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले के लिए।

प्रभु का हम गायन करते हैं तो वे प्रभु परम ऐश्वर्य तो प्राप्त कराते ही हैं, परन्तु महत्त्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि हमारी वासनाओं का विनाश हो जाता है। वासनाओं का विनाश ही मलों का दूर होना है। उस निर्मल हृदय में प्रभु के सान्निध्य से दिव्य भावनाओं का भरण होता है। राग-द्वेष का स्थान प्रेम ले लेता है, औरों को तुच्छ समझने का स्थान

करुणा ले-लेती है, ईर्ष्या के स्थान में आगे बढ़ने की भावना उत्पन्न होती है, अभिमान का स्थान विनय लेती है और भय के स्थान में देवपूजा की भावना उत्पन्न हो जाती है। इस परिवर्तन का अनुभव करनेवाले विद्वान् **यम्**=जिस प्रभु को **जुजोषते**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं, हम भी उसी प्रभु की उपासना करें।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हमारे हृदयों का शोधन होगा और उनमें दिव्यता का पूरण होगा।

ऋषिः—**पृषध्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**द्विपदागायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अग्नि का समिन्धन

४४७. अचेत्यग्निश्चिकितिर्हव्यवाड् न सुमद्रथः ॥ १ ॥

प्रभु अग्नि हैं। उनके सान्निध्य से जीव भी **अग्निः अचेति**=अग्निरूप में चैतन्य हो उठता है। **'अग्निनाग्निः समिध्यते'** प्रभु का उपासक उस महान् के सम्पर्क में आकर अग्निरूप में प्रज्वलित हो उठता है। **चिकितिः**=(कित निवासे रोगापनयने च) यह उत्तम निवासवाला होता है और इसका शरीर रोगशून्य होता है। प्रभु के उपासक का मस्तिष्क यदि ज्ञानाग्नि के प्रकाशवाला होता है तो उसका शरीर 'अनामय'=रोगशून्य होकर स्वास्थ्य की दीप्तिवाला होता है। **हव्यवाट् न**=हव्यों—सात्त्विक पदार्थों के वहन—सेवन करनेवाले की भाँति यह प्रभुभक्त शरीर, मन व मस्तिष्क—सभी में सत्त्वगुण प्रधान बनता है। स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति के रूप में सत्त्वगुण का परिणाम उसके जीवन में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। **सु-मद्रथः**=यह उत्तम हर्षयुक्त शरीररूप रथवाला होता है। इसका मनःप्रसाद इसके वक्त्र को स्मितयुक्त बनाये रखता है। इसका प्रसन्न-वदन (smiling face) इसके अन्तःप्रसाद की सूचना देता है। यह अपने इस मनःप्रसाद व मुस्कुराहट को चारों ओर बखेरता है। इसी से इसका नाम 'पृषध्र' (पर्षते इति पृषः=one who sprinkles, धरति इति ध्रः) हो गया है। प्रभु के उपासक को पृषध्र होना ही चाहिए। यह पृषध्र 'सुमद्रथ'=स्वयं रममाण, अर्थात् आत्मरति, आत्मक्रीड व आत्मतृप्त होता है—यह आनन्द के लिए बाह्य वस्तुओं पर निर्भर नहीं करता (सुमत्-स्वयम्)।

भावार्थ—अग्नि के सम्पर्क में आकर मैं भी अग्नि बन जाऊँ। आत्मानन्द का अनुभव करते हुए सब बाह्य आनन्द इसके लिए तुच्छ हो जाते हैं।

ऋषिः—**बन्धुः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

बन्धु की उपासना

४४८. अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भुवो वरूथ्यः ॥ २ ॥

'पृषध्र' सबपर प्रसाद बखेरता हुआ और उसके द्वारा सभी का धारण करता हुआ यह सबका 'बन्धु' बनता है। यह केवल अपना कल्याण नहीं चाहता, अपितु सबके कल्याण के लिए सदा प्रवृत्त रहता है, परन्तु उस सेवा के कार्य में भी अभिमान के अंश को न उत्पन्न होने देने के लिए प्रभु का स्मरण इन शब्दों में करता है—हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **त्वं नः अन्तमः**=आप ही हमारे अन्तिकतम (Intimate) मित्र हो। संसार में जब सभी साथ छोड़ जाते हैं उस समय आपकी मित्रता ही हमारा अवलम्बन होती है **उत**=और **त्राता**=आप ही हमारे रक्षक हैं। रक्षक ही नहीं **शिवः**=कल्याण करनेवाले हैं। **वरूथ्यः**=आप हमारे उत्तम

आवरण (Cover, Shelter) **भुवः**=हैं। आप ही हमारे उत्तम धन (Wealth) हैं। प्रभुरूप धन की तुलना में अन्य सब धन तुच्छ हैं ही।

भावार्थ—मैं प्रभु को अपनी सम्पत्ति समझूँ।

ऋषिः—**सुबन्धुः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**द्विपदागायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्युलोक-पृथिवीलोक

४४९. भगो न चित्रो अग्निर्महोनां दधाति रत्नम्॥ ३॥

'बन्धु' प्रभु की उपासना करता हुआ प्राणिमात्र के साथ ऐक्य का अनुभव करनेवाला 'सुबन्धु' बन जाता है और अनुभव करता है कि **अग्निः**=प्रकाश का पुञ्ज प्रभु **भगो न**=देदीप्यमान सेवनीय सूर्य की भाँति **चित्रः**=हमें ज्ञान का प्रकाश देनेवाला है। प्रभु की उपासना से उपासक का मस्तिष्करूप द्युलोक उसी प्रकार प्रकाशित हो उठता है जिस प्रकार द्युलोक सूर्य से। वह अग्नि **महोनाम्**=(मह पूजायाम्) उपासकों के इस पार्थिव शरीर में **रत्नं दधाति**=रस, रक्त आदि रमणीय सप्त रत्नों को धारण करती है। वे ही यहाँ रत्न हैं—इनसे शरीर रमणीय बना रहता है। पृथिवी जैसे 'वसुन्धरा' है, उसी प्रकार उपासक का शरीर भी रत्नों का धारण करनेवाला बनता है। इन रत्नों से शरीर दृढ़ बना रहता है।

संक्षेप में उपासक का मस्तिष्करूप द्युलोक उग्र व तेजस्वी होता है तो उसका यह पार्थिव शरीर दृढ़ होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से मैं उग्र व दृढ़ बनूँ।

ऋषिः—**श्रुतबन्धुः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदागायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अन्तरिक्षलोक

४५०. विश्वस्य प्र स्तोभ पुरो वा सन् यदि वेह नूनम्॥ ४॥

प्रभु की उपासना से दीप्त मस्तिष्कवाला सुबन्धु 'श्रुतबन्धु' बन गया है—ज्ञान का मित्र। इस ज्ञान के बढ़ने का यह स्वाभाविक परिणाम है कि उसके जीवन में वासनाओं का क्षय हो जाए। वस्तुतः यह वासनाओं का विनाश भी प्रभुकृपा से ही होता है। यह श्रुतबन्धु प्रभु की उपासना करता हुआ कहता है—हे प्रभो! आप ही **विश्वस्य**=(विश्=to enter) हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाली इन आसुर भावनाओं के **प्रस्तोभ**=रोकनेवाले हैं। (स्तुभ्=to stop)। **पुरो वा सन्**=यदि आप मेरे हृदयान्तरिक्ष में पहले ही—मृत्यु-क्षण से बहुत पूर्व ही स्थापित हुए, तब तो आप मेरी इन वासनाओं को नष्ट करके मेरे जीवन में शान्ति प्राप्त कराते ही हो, **यदि वेह**=परन्तु यदि 'इह'=यहाँ मृत्युक्षण में भी हृदय में प्रतिष्ठित किये जाते हो तो भी **नूनम्**=निश्चय से आप मेरी वासनाओं की समाप्ति के कारण बनते हो। कितना सौभाग्यशाली वह व्यक्ति है जो जीवन के यौवन में ही प्रभु को हृदय में प्रतिष्ठित करके सब वासनाओं के लिए उस हृदयद्वार को बन्द कर देता है, परन्तु वह भी भाग्यशाली ही है जो अन्तिम अवस्था में भी ऐसा करने में समर्थ हो जाता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मैं अवसान से बहुत पहले ही हृदयद्वार को वासनाओं के लिए बन्द कर दूँ।

ऋषिः—**संवर्त आङ्गिरसः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उषा का उपदेश—प्रकाश व कुलीनता

४५१. उषा अप स्वसुष्टमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता ॥ ५ ॥

अस्त होता हुआ सूर्य रात्रि को जन्म देता है और उदय होता हुआ उषःकाल को। एवं, रात्रि व उषा दोनों ही बहिनें हैं। उषा आती है और अपनी बहिन रात्रि के अन्धकार को दूर भगा देती है। मन्त्र में इसी बात को इन शब्दों में कहा गया है **उषाः**=उषःकाल **स्वसुः**=अपनी बहिन रात्रि के **तमः**=अन्धकार को **अप**=दूर **संवर्तयति**=भगा देती है। उषःकाल होते ही प्रकाश हो जाता है—अन्धकार का नाम व चिह्न भी नहीं रहता। इस प्रकार उषःकाल का प्रथम उपदेश यही है कि हम अन्धकार को दूर करके प्रकाश प्राप्त करें।

उषा रात्रि के अन्धकार को दूर करके **सु-जा-त-ता**=कुलीनतापूर्वक **वर्तनिम्**=मार्ग को **संवर्तयति**=तय करती है। कुलीनता के अभाव में कुछ अभिमान व औद्धत्य की गन्ध आती है। सूर्य में कुछ तेजी है—परन्तु उषा कितनी शान्त है—कितनी प्रसादमय है। प्रकाश के साथ सर्वत्र ताप है, परन्तु उषा के प्रकाश में ताप नहीं है। ज्येष्ठ मास में भी, जबकि सूर्य असह्य तापवाला हो जाता है, उषा शान्त ही बनी रहती है। हम भी अपने व्यवहार में कुलीन बनें। हमें ज्ञान व किसी भी शक्ति का गर्व न हो। हम प्रकाश व कुलीनता के साथ अपने मार्ग पर उत्तम ढङ्ग से चलते चलें—'संवर्त' बनें। 'संवर्त'=उत्तम ढङ्ग से चलनेवाला होने के कारण ही यह 'आङ्गिरस' है—शक्ति-सम्पन्न अङ्गोंवाला है।

भावार्थ—मैं उषा से उपदेश लेकर प्रकाशमय जीवनवाला बनूँ तथा मेरा व्यवहार कुलीनता का सूचक हो—उसमें कमीनेपन=meannes की गन्ध न हो।

ऋषिः—**भौवनः साधनः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

साध्य तथा साधन (Ends and Means)

४५२. इमा नु कं भुवना सीषधेमेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ॥ ६ ॥

इस मन्त्र का ऋषि 'भौवन-साधन' है—जो भुवनों के ठीक स्वरूप को समझता है कि वे मेरे साधन हैं—साध्य नहीं। वस्तुतः यह अनुभव करता है कि जब तक हम इन भुवनों—सब लौकिक वस्तुओं को—साधन के रूप में ही देखते हैं तब तक हममें इनके प्रति आसक्ति उत्पन्न नहीं होती, परिणामतः ये हमारे दुःखों का कारण नहीं बनते, परन्तु ज्योंही ये हमारे साध्य बन जाते हैं त्योंही हम इनमें आसक्त हो जाते हैं, परिणामतः हमारे व्यवहार विकृत होते हैं और हम दुःखी हो जाते हैं। भुवनों को साध्य समझनेवाला इन भुवनों में ही आसक्त रहता है। ये उसे सुखी नहीं बनाते।

इस तत्त्व को अनुभव करनेवाला 'भौवन-साधन' कहता है कि **इमा भुवना**=इन भुवनों को हम **नु**=अब **कम्**=सुख-प्राप्ति के लिए **सीषधेम**=साधन बनाएँ। ये हमारे साध्य न बन जाएँ। साध्य तो **इन्द्रः च**=वह परमात्मा है और **विश्वे च देवाः**=वे सब दिव्य गुण हैं। जितना-जितना दिव्य गुणों को मैं अपनाता जाता हूँ, उतना-उतना मैं प्रभु के अंश को अपनाता जाता हूँ और दिव्यता के पूर्ण होते ही प्रभु को पा जाता हूँ। दिव्य गुण वे सीढ़ियाँ

हैं जिन्हें लाँघता हुआ मैं प्रभुरूप छत पर पहुँच जाता हूँ। शरीर, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि इन साधनों का ठीक प्रयोग करते हुए हम सब दिव्य गुणों व प्रभुरूप साध्य को सिद्ध करनेवाले बनें।

भावार्थ—ये सब भुवन साधन हैं, इन्द्र और दिव्य गुण साध्य हैं।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**द्विपदागायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दान के प्रवाह बहें

४५३. वि स्रुतयो यथा पथ इन्द्र त्वद्यन्तु रातयः ॥ ७ ॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि 'तू चाहता है कि ये सब भुवन तेरे लिए साधन ही बनें रहें, साध्य न हो जाएँ' इसके लिए हे **इन्द्र**=तू जितेन्द्रिय बन। इन्द्रियों को वश में करना ढाल है जो मनुष्य को वासनाओं के आक्रमण से बचाती है। ये जितेन्द्रियतारूप ढाल तुझे इस इला=पृथिवी में ष=समाप्त न होने देगी। तू इन पार्थिव भोगों का अन्त करके 'ऐलूष' बनेगा। इस जितेन्द्रियता व अनासक्ति की वृत्ति को जगाने के लिए **त्वत्**=तुझसे **रातयः**=दान के प्रवाह उसी प्रकार **यन्तु**=चलें **यथा**=जैसे **वि-स्रुतयः**=विविध नदियों के प्रवाह **पथः**=मार्ग से बहते हुए चले जाते हैं।

पर्वतों से नदियों के प्रवाहों की भाँति दान-प्रवाहों के चलने पर मनुष्य इन धनादि पदार्थों में आसक्त नहीं होता। ये उसके लिए साधन ही बने रहते हैं। दान सचमुच आसक्ति का दान= छेदन करनेवाला है और दान=शोधन का कारण है। इस प्रकार यह दान जीव की कवच=ढाल बन जाता है। इस ढालवाला ऋषि 'कवष' नामवाला हो गया है। यह सब पार्थिव भोगों को समाप्त करने के कारण 'ऐलूष' तो है ही।

भावार्थ—हम धन को साधन ही समझें और हमसे दान के प्रवाह बहते रहें।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदात्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवहित-वाज

४५४. अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ ८ ॥

अया=(अनया) इस साधन को साधन समझने की भावना से हम **देवहितम्**=देवों के लिए हितकर **वाजम्**=ज्ञान को **सनेम**=प्राप्त करें। जब मनुष्य अर्थ, अर्थात् धन तथा अन्य काम्य पदार्थों को साधन न समझकर साध्य बना लेता है तब उनमें फँसकर प्राप्त ज्ञान को भी नष्ट कर लेता है। मनुष्य का ज्ञान तभी स्थिर रहता व विकसित होता है जब वह साधनों को साधन समझने की भावना से दूर नहीं होता।

अर्थ और काम साधन ही बने रहते हैं तो ज्ञान-प्राप्ति के अतिरिक्त यह परिणाम भी होता है कि **मदेम**=हम आनन्दपूर्वक जीवन बिताते हैं और **शतहिमाः सुवीराः**=हमारे सौ-के-सौ वर्ष बड़े वीरतापूर्ण बीतते हैं। न हम वासनाओं के शिकार होते हैं और न ही हमारी शक्तियाँ जीर्ण होती हैं। एवं, साधनों को साधन समझने की भावना हमारे ज्ञान को स्थिर रखकर हमें 'बार्हस्पत्य' बनाती है और शक्ति से भरकर 'भरद्वाज' बनाती है।

भावार्थ—मैं ज्ञानी बनूँ, प्रसन्न रहूँ और शक्तिशाली होऊँ।

ऋषिः—आत्रेयः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—द्विपदात्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

स्नेह-व्रत-सम्पत्ति

४५५. ऊर्जा मित्रो वरुणः पिन्वतेडाः पीवरीमिषं कृणुही न इन्द्र॥ ९॥

मित्रः=स्नेह की देवता और **वरुणः**=(पाशी) अपने को व्रतों में बाँधने की भावना **ऊर्जा**=शक्ति से **इडाः**=हमारी वेदवाणियों को **पिन्वत**=बढ़ाएँ। हमारे अन्दर शक्ति हो, और शक्ति के साथ ज्ञान की वाणियों का पोषण हो। इसके लिए हम मित्र और वरुण से आराधना करें। हम अपने में 'मित्र=स्नेह' की भावना को प्रबुद्ध करें। स्नेह 'काम' को समाप्त कर—ज्ञान को दीप्त करता है और शक्ति की वृद्धि का हेतु होता है। इस स्नेह की भावना के साथ अपने को 'व्रतों के बन्धन में बाँधने की भावना' तो सब उन्नतियों का मूल ही है। वरुण व्रतों की देवता है, साथ ही 'प्रचेताः' प्रकृष्ट ज्ञानवाला है। व्रतमय जीवन बुद्धि के नैर्मल्य व तीक्ष्णता के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। संक्षेप में ये मित्र और वरुण हमारी शक्ति व ज्ञान की वृद्धि के कारण बनते हैं और इस प्रकार हमारा अध्यात्मजीवन उत्कृष्ट होता है। सामाजिक जीवन के उत्कर्ष के लिए **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हमें **पीवरीम् इषम्**=पर्याप्त सम्पत्ति **कृणुहि**=प्राप्त कराइए। धन के बिना हम धर्म के कार्य भी नहीं कर पाते। सामाजिक स्थिति के उत्कर्ष के लिए सम्पत्ति की आवश्यकता है ही। उससे औरों की सहायता कर पाऊँगा। शक्ति व ज्ञान अध्यात्मजीवन को सुन्दर बना रहे थे, तो सम्पत्ति ने उनके साथ मिलकर मेरे सामाजिक जीवन को भी ऊँचा कर दिया है। इस उच्च जीवन को—सुखी, सम्पन्न व यशस्वी जीवन को प्राप्त करके मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक—इन सभी कष्टों से ऊपर उठ गया हूँ और इस मन्त्र का ऋषि 'आत्रेय' (अ-त्रि) बन गया हूँ।

भावार्थ—मैं अपने जीवन को स्नेह व व्रतों के बन्धनवाला बनाऊँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—एकपदागायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अभिमान-निरास

४५६. इन्द्रो विश्वस्य राजति॥ १०॥

'उच्च स्थिति को प्राप्त करके कहीं अभिमान का आक्रमण न हो जाए', अतः मनुष्य को ध्यान रखना चाहिए कि **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु ही वस्तुतः **विश्वस्य**=सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त, सारे ऐश्वर्य का **राजति**=प्रभुत्व करते हैं। सब ऐश्वर्य उस प्रभु का है मुझे तो उस प्रभु ने अपनी सम्पदा का न्यासी (Trustee) बनाया है। यह विचार इसे अभिमानी नहीं बनने देता।

भावार्थ—उस इन्द्र के ऐश्वर्य का व भगवान् के भग का ध्यान करता हुआ मैं उन्नति में भी विनीत बना रहूँ।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—गृत्समदः शौनकः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अष्टिः॥ स्वरः—मध्यमः॥

महान् कर्म के लिए

४५७. त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृम्पत्सोममपिबद्विष्णुना सुतं यथावशम्। स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम्॥ १॥

त्रिकद्रुकेषु=तीनों आह्वानों के समय पर (कदि=आह्वाने), अर्थात् प्रातः, मध्याह्न और सायम् **महिषः**=उस प्रभु की पूजा करनेवाला (मह पूजायाम्), अतः **तुविशुष्मः**=बहुत शक्तिवाला **यवाशिरम्**=सब कर्मेन्द्रियों को पवित्र करनेवाले **सोमम्**=सोम को **तृम्पत् अपिबत्**=तृप्त होता हुआ, अर्थात् खूब पीता है। यव शब्द कर्मेन्द्रियों का वाचक है। **यु**=मिश्रण और अमिश्रण--संयोग और विभाग करनेवाली ये कर्मेन्द्रियाँ ही हैं। इन कर्मेन्द्रियों के मल को (शॄ हिंसायाम्) नष्ट करने से यह सोम 'यवाशिर' कहलाता है। स्थानान्तर में इसका विशेषण 'गवाशिर' भी है=ज्ञानेन्द्रियों के मलों को दूर करनेवाला; **दध्याशिरम्**=धारणशक्ति की कमी को दूर करनेवाला। यह सोम **विष्णुना सुतम्**=प्रभु से उत्पन्न किया गया है। वस्तुतः जीव को प्रभु की यह महान् भेंट है। इसका अपव्यय तो स्पष्ट ही प्रभु का निरादर है। इस सोम का पान **यथावशम्**=उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में हम काम-क्रोधादि वासनाओं को वश में कर पाते हैं।

जो व्यक्ति इस सोम का पान करता है **सः**=वह **ईम्**=निश्चय से १. **ममाद**=मदयुक्त, प्रसन्न होता है। इसके जीवन में एक उल्लास होता है, २. यह व्यक्ति **महि कर्म**=महान् कर्म को **कर्तवे**=करने के लिए समर्थ होता है। इसका जीवन खाने-पीने व सोने में ही समाप्त नहीं हो जाता, ३. **सः**=वह **एनम्**=इस **महान्**=महान् **उरुम्**=विशाल प्रभु को **सश्चद्**=प्राप्त होता है। महान् कर्म करनेवाला ही तो प्रभु को पाता है। खाओ-पिओ और मौज उड़ाओ के सिद्धान्तवाला तो कभी भी उस प्रभु को पाने का अधिकारी नहीं होता। ४. **देवः देवम्**=यह सोमपान करनेवाला देव बनकर उस देव को पाता है। **सत्यः सत्यम्**=सत्य बनकर उस सत्यस्वरूप के समीप पहुँचता है। **इन्दुः इन्द्रम्**=शक्तिशाली बनकर उस शक्ति के देवता का उपासक होता है। 'इन्दु' शब्द शरीर की शक्ति का संकेत कर रहा है। 'सत्य' मन की पवित्रता का (मनः सत्येन शुध्यति) तथा 'देव' विद्वत्ता का (विद्वाꣳसो हि देवाः)।

यह व्यक्ति 'महिषः' होने से 'गृत्स' है (गृणाति) प्रभु का उपासक है। (ममाद) उल्लासमय जीवनवाला होने से 'मद' है (माद्यति)। क्रियाशील होने से शौनक है (शुन गतौ)=महि कर्म कर्तवे। एवं, इस मन्त्र का ऋषि 'गृत्समद शौनक' है।

भावार्थ--हम भी 'गृत्समद शौनक' बनने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः--**गौराङ्गिरसः**॥ देवता--**सूर्यः**॥ छन्दः--**जगती**॥ स्वरः--**निषादः**॥

हज़ारों के समान

४५८. अयं सहस्रमानवो दृशः कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्म।
ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयदरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमन्तश्चिता गोः ॥ २ ॥

गत मन्त्र में **'महि कर्म कर्तवे'** इन शब्दों से महान् कर्म करने की प्रेरणा दी गयी थी। यही तो महान् परमेश्वर को पाने में समर्थ होता है। यह इन्द्र=शक्तिशाली बना हुआ व्यक्ति कभी यह नहीं सोचता कि 'मैं इस कार्य को कैसे कर पाऊँगा?' यह अपने को अकेला अनुभव ही नहीं करता। **अयं सहस्र-मानवः**=यह तो हज़ारों मनुष्यों के तुल्य है। यह एक थोड़े ही है। **कवीनाम्**=क्रान्तदर्शियों के दृष्टिकोण से **दृशः**=देखनेवाला है। यह केवल आपाततः

किसी वस्तु को न देखकर उसके तत्त्व तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। अच्छी प्रकार समझकर दृढ़ निश्चय से कार्य करेगा तभी तो किसी महान् कार्य को कर सकेगा।

मतिः=अपने दृष्टिकोण को ठीक रखने के लिए यह अपनी बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है और **ज्योतिः**=मनन के द्वारा उस बुद्धि से प्रकाश पाने का प्रयत्न करता है। इस ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके यह **विधर्म**=विशेषरूप से धारण करनेवाला बनता है। धारण करने की प्रक्रिया में इसका शैथिल्य इसलिए नहीं होता कि यह **ब्रध्नः**=महान् है (नि० २.३)। इसका हृदय इतना विशाल है कि यह सभी का उपकार करता है। यह अपने **उषसः**=उषःकालों को **समीचीः**=सुन्दर गतिवाला **समैरयत्**=करता है, अर्थात् यह अपने उषःकालों को बड़े सुन्दर रूप से बिताता है।

१. **अरेपसः**=पाप से शून्य। उस समय यह किसी के प्रति अशुभ भावना को अपने अन्दर नहीं आने देता।

२. **सचेतसः**=चैतन्यता से युक्त। उषःकालों में यह स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाता है।

३. **स्वसरे**=घर में **मन्युमन्तः**=उत्साहवाला होता है। उस समय यह प्रत्येक व्यक्ति में उत्साह भरने का ध्यान करता है।

४. **चिता गोः**=वाणियों से उपचित प्रत्येक उषःकाल में यह वेदवाणियों या अन्य उत्तम वाणियों को स्मरण करने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार अपने मस्तिष्क को सुभाषितों का भण्डार बना लेता है। इन वाणियों के उचित प्रयोग से ही यह किसी भी अर्थ का निश्चय करानेवाला होने से (गमयति अर्थान् इति गोः) 'गौः' कहलाता है, शक्तिशाली होने से 'आङ्गिरस'।

भावार्थ—मैं प्रत्येक उषःकाल को सुन्दर रूप में बिताऊँ।

ऋषिः—**दैवोदासिः परुच्छेपः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ज्ञानयज्ञों में नकि क्लबों (Clubs) में

४५९. एन्द्र याह्युप नः परावतो नायमच्छा विदथानीव सत्पतिरस्ता राजेव सत्पतिः। हवामहे त्वा प्रयस्वन्तः सुतेष्वा पुत्रासो न पितरं वाजसातये मंहिष्ठं वाजसातये॥ ३॥

हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **परावतः**=दूर-से-दूर तक भटके हुए हमें उन सुदूर स्थानों से **अच्छ**=अपनी ओर **नायम्**=प्राप्त कराते हुए (नी=प्रापणे) आप **नः**=हमें **उप आयाहि**=अपने समीप प्राप्त कराइए। प्रभु जीव के समीप आते हैं या जीव प्रभु के समीप आता है—परिणाम तो एक ही है, परन्तु 'जीव में प्रभु की ओर चलने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाए' यही उत्तम है; और यही भावना 'अच्छ नायम्' इन शब्दों से व्यक्त हो रही है।

इव=हे प्रभो! हमें आप अपने समीप उसी प्रकार प्राप्त कराइए, जैसेकि **सत् पतिः**=एक उत्तम पति **विदथानि**=अपने परिवार के व्यक्तियों को ज्ञानयज्ञों में ले-जाता है। ज्ञानयज्ञों में कुछ-न-कुछ उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती है। कितना दौर्भाग्य है उस परिवार का जो ज्ञानयज्ञों में सम्मिलित न होकर आनन्द की खोज में क्लबों में जा पहुँचते हैं। प्रभो! हमें उस प्रकार अपने समीप प्राप्त कराइए **इव**=जैसेकि **सत्पतिः राजा**=राष्ट्रों में सयनों का रक्षक राजा **अस्ता**=लोगों को अपने घरों में प्राप्त कराता है। राजा का यह कर्त्तव्य होता है कि वह इस ढङ्ग से व्यवस्था करे कि लोग बहुत भटकें नहीं। उन्हें घर पर ठहर कर सुप्रजा-निर्माण का

अवसर भी प्राप्त हो।

त्वा=तुझ प्रभु को हम **हवामहे**=पुकारते हैं, परन्तु **प्रयस्वन्तः सुतेषु**=प्रयत्नशील होते हुए सोमरस के अभिषववाले यज्ञों में। **नः**=जैसे **पुत्रासः**=पुत्र **पितरम्**=पिता को पुकारते हैं उसी प्रकार हम **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए उस प्रभु को पुकारें। प्रभु की समीपता में मैं उसी प्रकार शक्ति का अनुभव करूँगा जैसे पुत्र पिता की समीपता में अनुभव करता है।

प्रभु सामीप्य में मेरा अङ्ग-प्रत्यङ्ग--एक-एक पर्व शक्तिवाला हो उठता है—मैं 'परुच्छेप' इस मन्त्र का ऋषि बन जाता हूँ। दैवोदासिः=यह होता तब है जब मैं उस दिव्य प्रभु का दास बनकर जीवन बिताता हूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु का दास बनूँ और शक्ति का पुञ्ज हो जाऊँ।

ऋषिः—**रेभः काश्यपः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

पवित्र ऐश्वर्य

४६०. तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं श्रवांसि भूरि।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्त राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री॥ ४॥

'रेभः काश्यपः'=ज्ञानी स्तोता इस मन्त्र का ऋषि है। यह कहता है कि मैं **तम्**=उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली परमात्मा को **जोहवीमि**=पुकारता हूँ जो **मघवानम्**=पापशून्य ऐश्वर्यवाले हैं, अतएव **उग्रम्**=उदात्त हैं। वस्तुतः धन के बिना ऊँचा उठना सम्भव नहीं। धर्म के छोटे-छोटे कार्यों के लिए भी धन की आवश्यकता पड़ती है। दूसरों की सहायता धन के बिना कुछ शाब्दिक-सी रह जाती है, परन्तु धन की दृष्टि से ऊपर न उठने पर मनुष्य सुखभोग व विलास में फँस जाते हैं। 'ऐसा न हो', इसके लिए आवश्यक है कि हमारा ऐश्वर्य 'मघ' हो—पाप से अर्जित न हो। हम 'मघवान्' बनें और 'उग्र' हों।

मैं उस प्रभु को पुकारता हूँ जो **सत्रा दधानम्**=सचाई को धारण करनेवाले हैं और **अप्रतिष्कुतम्**=किसी से विरोध में प्रतिशब्दित (challanged) नहीं होते, प्रभु सत्यस्वरूप हैं और परिणामतः अजेय हैं। सत्य सदा विजयी होता है। हम भी सत्य पर दृढ़ होंगे तो अन्त में अवश्य विजयी होंगे।

मैं उस प्रभु को पुकारता हूँ जो **भूरि श्रवांसि**=धारण करनेवाले ज्ञानों का **मंहिष्ठः**=देनेवाला है **च**=और **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **यज्ञियः**=पूजा के योग्य है। मनुष्य का धारण ज्ञान से होता है। प्रभु द्वारा दिये हुए ज्ञान को धारण करने से हम प्रभु की पूजा कर रहे होते हैं।

आ ववर्त=वे प्रभु सब ओर वर्त्तमान हैं। कौन-सा स्थान है जहाँ प्रभु की सत्ता नहीं? वे मेरे हृदय में भी वर्त्तमान हैं। प्रभु की इस सर्वव्यापकता का स्मरण **नः**=हमें **विश्वा सुपथा**=सब उत्तम मार्गों से **राये कृणोतु**=धनैश्वर्य की प्राप्ति के लिए करे-ले-चले। प्रभु का स्मरण करके हम कभी कुपथ से धन कमाने में प्रवृत्त न होंगे।

धन को सुपथ से कमाने का संकेत 'वज्री' शब्द में भी है। वे प्रभु **वज्री** हैं—(वज गतौ) सदा गतिशील हैं। हमें भी पुरुषार्थ से, पसीना बहाकर ही धनार्जन करना चाहिए। **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'** 'पासों से मत खेलो, खेती करो' इस उपदेश में भी यही कहा गया है। धन के बिना उन्नति नहीं, परन्तु तामस् धन से सब उन्नति समाप्त हो जाती है।

भावार्थ—'सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण करो और पुरुषार्थ में लगे रहो। इस प्रकार कमाया हुआ धन ही सात्त्विक है। यह धन हमारे उत्कर्ष का कारण बनेगा और हम उस उत्कर्ष को स्थिररूप से प्राप्त करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**परुच्छेपः दैवोदासिः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

दैवी शक्ति का वरण

४६१. अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निं धिया दध आ नु त्यच्छर्धो दिव्यं वृणीमह इन्द्रवायू वृणीमहे। यद्ध क्राणा विवस्वते नाभा सन्दाय नव्यसे। अध प्र नूनमुप यन्ति धीतयो देवाँ अच्छा न धीतयः ॥ ५ ॥

हे प्रभो! आपकी कृपा से **श्रौषट् अस्तु**=मेरे जीवन में श्रवण का स्थान हो—मैं सुनने के स्वभाववाला बनूँ। श्रवण ही ज्ञान-प्राप्ति का सर्वोच्च साधन है। जब मैं कानों को ज्ञान-प्राप्ति का साधन बनाता हूँ तो शिरः=मस्तकपर्यन्त ज्ञान-जल में स्नान कर रहा होता हूँ। इस श्रवण से प्राप्त ज्ञान का प्रथम परिणाम मेरे जीवन पर यह होता है कि मैं **अग्निम्**=उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा को **धिया**=ज्ञानपूर्वक **पुरः दधे**=अपने सामने धारण करता हूँ। उस प्रभु को अपना पुरोहित (आदर्श=model) बनाता हूँ। उन्हीं के अनुसार मैं अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करता हूँ।

प्रभु को अपना आदर्श बनाकर **नु**=अब हम **दिव्यं शर्धः**=अलौकिक बल को **आ वृणीमहे**=वरते हैं। मनुष्य अपना लक्ष्य यह बनाता है कि हमारे अन्दर दिव्यता व दिव्यशक्ति का अवतरण हो। इसके लिए हम **इन्द्रवायू वृणीमहे**=इन्द्र और वायु को पुकारते हैं। इन्द्र सब असुरों का संहार करनेवाली देवता है और **वायु**=(वा गतौ) गति का प्रतीक है। मैं अपने अन्दर किसी आसुर भावना को जागरित न होने दूँ और सदा क्रियाशील बनूँ। मेरा जीवन प्रकाशमय व कर्मनिष्ठ हो। प्रकाश और शक्ति व शक्तिजन्य क्रिया के समन्वय का नाम ही 'दिव्यता' है, यही दैवी शक्ति है—जिसका हमें अपने में अवतरण करना है। यह दिव्यता मुझे प्राप्त होती है **यत्**=जब मैं निश्चय से **विवस्वते**=(विवस्वान्=इन्द्र=सूर्य) प्रकाश और **नव्यसे**=(नव् गतौ)=गति के लिए **नाभा सन्दाय**=केन्द्र में ध्यान को बाँधकर; इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि को रोककर, **क्राणा**=उपासन करनेवाला होता हूँ। प्रभु का ध्यान मुझे प्रकाश व गति प्राप्त कराता है। इन्द्र का पर्याय यहाँ विवस्वान् है, वायु का नव्यान् (वा=नव्=गतौ)। इन्द्रवायु का वरण अथवा 'विवस्वान् व नव्यान् का वरण' एक ही बात है।

जब मैं ध्यान को केन्द्रित कर इस प्रकार प्रतिदिन भक्ति करता हूँ तब **अध**=अब मुझे **नूनम्**=निश्चय से **धीतयः**=प्रज्ञा व कर्म **उपप्रयन्ति**=समीपता से और खूब प्राप्त होते हैं **न**=जैसेकि **देवान् अच्छ**=ये देवों को लक्ष्य करके प्राप्त होते हैं। इन्द्र प्रज्ञा का प्रतीक है और वायु 'कर्म' का। प्रस्तुत मन्त्र में 'दिव्यं शर्ध' का व्याख्यान इस प्रकार है—

दिव्यं शर्धः

इन्द्र विवस्वान् — वायु नव्यान्

धीतयः

प्रज्ञा — कर्म

मेरा जीवन प्रज्ञा व कर्मवाला हो। यही दिव्य शक्ति की प्राप्ति का मार्ग है। इस दिव्य

शक्ति को प्राप्त करके मैं अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिवाला बनता हूँ, 'परुच्छेप' होता हूँ। मैं परुच्छेप बन पाया हूँ, क्योंकि 'दैवोदासिः'-देव का दास बना हूँ।

भावार्थ-मैं प्रतिदिन ध्यानाभ्यास से दिव्य शक्ति प्राप्त करूँ।

ऋषिः-**आत्रेय एवयामरुत्**॥ देवता-**मरुतः**॥ छन्दः-**जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

दशकं धर्मलक्षणम्

४६२. प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवयामरुत्।
प्र शर्धाय प्र यज्यवे सुखादये तवसे भन्ददिष्टये धुनिव्रताय शवसे॥ ६॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'एवयामरुत आत्रेय' है। (एव=लक्ष्य, या=जाना, मरुत्=मनुष्य') इसका अर्थ है 'लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़नेवाला मनुष्य जोकि (अ+त्रि) काम-क्रोध-लोभादि तीनों वासनाओं से परे है, अतएव आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक इन सभी तापों से ऊपर उठा हुआ है। वस्तुतः लक्ष्यभ्रष्ट व्यक्ति ही त्रिविध वासनाओं का शिकार होता है और उनसे सन्तप्त होता है।

प्रस्तुत मन्त्र में मानव-जीवन का लक्ष्य दस शब्दों में वर्णित हुआ है। प्रभु कहते हैं कि **एवयामरुत्**=लक्ष्य की ओर चलनेवाले मनुष्य **वः**=तुम्हारी **मतयः**=बुद्धियाँ जोकि **गिरिजाः**=वेदवाणियों में उत्पन्न हुई हैं, अर्थात् ज्ञानमूलक हैं, वे **प्रयन्तु**=प्रकर्षेण चलें। किस ओर-

१. **महे**=(मह पूजायाम्) पूजा के लिए। मनुष्य में बड़ों के आदर की भावना हो। पाँच वर्ष तक वह 'मातृदेव' बने, आठ वर्ष तक 'पितृदेव', पच्चीस वर्ष तक 'आचार्यदेव' पचास वर्ष तक 'अतिथिदेव' और आगे 'परमात्मदेव'। यही इस विस्तृत जीवन की 'पञ्चायतन पूजा' है। पूजा ही जीवन-यज्ञ का प्रारम्भ है।

२. **विष्णवे**=(विष् व्याप्तौ) व्यापकता के लिए। मनुष्य का हृदय विशाल हो। विशालता में ही धर्म है, उदार धर्म है, अनुदार अधर्म है। विशालता में पवित्रता है, संकोच में अपवित्रता।

३. **मरुत्वते**=मरुत्वान् बनने के लिए। मरुतः प्राणाः=प्राणवान् बनना आवश्यक है। **'एवा मे प्राण मा बिभेः'** इस मन्त्रभाग से स्पष्ट है कि प्राणों के साथ निर्भीकता का सम्बन्ध है। दैवी सम्पत्ति का प्रारम्भ निर्भीकता से ही होता है। प्राण-शक्तिसम्पन्न पुरुष ही अनथक होकर लोकहित में लगा रह सकता है।

४. **प्रशर्धाय**=उत्कृष्ट बल के लिए। हमें उत्कृष्ट आध्यात्मिक बल प्राप्त करना है। दिव्य शक्ति की प्राप्ति तो हमारे जीवन का लक्ष्य ही होना चाहिए।

५. **प्रयज्यवे**=प्रयज्यु बनने के लिए। शक्ति प्राप्त करके हम 'यज्यु' बनें। हमारी शक्ति का विनियोग यज्ञों में हो। यज्ञ की मौलिक भावना 'अध्वर'-हिंसारहित कर्म है। हमारे कर्मों में हिंसा की गन्ध भी न हो।

६. **सुखादये**=उत्तम सात्त्विक आहार के लिए। सात्त्विक भोजन से हमारी बुद्धि सात्त्विक होगी और उसका विनियोग यज्ञों ही में होगा। 'खादि' का अर्थ आभूषण भी है, हम उत्तम आभूषणवाले हों। सर्वोत्तम आभूषण 'विद्या' है। हमारा जीवन उससे अलंकृत हो।

७. **तवसे**=बल के लिए। इस सात्त्विक भोजन व ज्ञान से हमें वह शक्ति प्राप्त होगी-क्या

शरीर में और क्या मस्तिष्क में जो हमारी (तु वृद्धौ) वृद्धि का ही कारण बनेगी।

८. **भन्दद् इष्टये**=(भदि कल्याणे) कल्याण चाहनेवाली इच्छा के लिए। हम शक्तिशाली बनकर कभी किसी का अकल्याण चाहनेवाले न हो।

९. **धुनिव्रताय**='दस्युओं को कम्पित करने के व्रत के लिए। समाज का कल्याण चाहते हुए हम समाज से दस्युओं को दूर करने का व्रत लें। हममें उनके दस्युत्व को समाप्त करने की भावना हो।

१०. **शवसे**=(शव गतौ), गतिशीलता के लिए। हममें गतिशीलता हो, क्योंकि अकर्मण्यता से तो कुछ भी साध्य नहीं 'कर्मशीलता ही जीवन है' इस तत्त्व को हम समझें।

भावार्थ—मैं एवयामरुत् बनूँ—यह 'दशक' मेरे जीवन का लक्ष्य हो। इसे मैं जीवन में अनूदित करूँ।

ऋषिः—**अनानतः परुच्छेपिः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अ–पिशुनता (No backbiting)

४६३. अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः।
धारा पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः।
विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः ॥ ७ ॥

जब मनुष्य धर्म के दस लक्षणों से युक्त होता है तब उसके चेहरे पर एक विशेष प्रकार की कान्ति होती है। उस कान्ति से वह औरों पर भी एक विशेष प्रभाव डालता है और उनके जीवन को पवित्र करता है। **अया रुचा**=इस कान्ति से, **हरिण्या**=जो सबकी दुर्भावनाओं का हरण करनेवाली है; अतएव **पुनानः**=उनके जीवनों को पवित्र करती है, यह **सयुग्वभिः**=मेल की—प्रेम की वृत्तियों से **विश्वा द्वेषांसि तरति**=सब द्वेषों को तैर जाता है। वस्तुतः ही **सूरः न**=एक विद्वान्—समझदार मनुष्य की भाँति **सयुग्वभिः**=मेल व प्रेम की वृत्तियों से इस संसार में चलता है।

इसके जीवन की सबसे सुन्दर बात यह है कि इसे **पृष्ठस्य धारा**=पीठ पीछे धारणात्मक बातें—न कि निन्दा की चर्चाएँ **रोचते**=रुचिकर होती हैं।

औरों की निन्दा न करता हुआ यह **पुनानः**=अपने जीवन को पवित्र रखता है, **अरुषः**=कभी क्रोध नहीं करता, **हरिः**=औरों के दुःखों के हरण में सदा प्रयत्नशील रहता है।

यह **विश्वा रूपा**=सब व्यक्तियों के प्रति (रूप=व्यक्ति, रूपाणि पशवः) **ऋक्वभिः**=सूक्तों से—मधुर भाषणों से **परियासि**=जाता है। **सप्तास्येभि ऋक्वभिः**=उन मधुर भाषणों से **यत्**=जो मेल की बातों को परितः प्रक्षिप्त करते हैं (षप् समवाये, अस् क्षेपणे) इसकी वाणी में माधुर्य होता है—इसकी वाणी मेल की बातें करती हैं।

इस प्रकार इसका जीवन नम्रता से परिपूर्ण, माधुर्यमय, कठोरता से शून्य होता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह अशक्त होता है। यह अनानतः=अन्याय से कभी भी दबनेवाला नहीं होता, पारुच्छेपिः=अङ्ग–प्रत्यङ्ग में शक्ति से पूर्ण होता है। शक्ति के साथ माधुर्य इसके जीवन को बड़ा ही सुन्दर बना देता है। सबसे बड़ी बात यह कि यह कभी भी

पीठ पीछे किसी की निन्दा नहीं करता।

भावार्थ—अपिशुनता समाज को अत्यन्त सुन्दर बनानेवाली है।

ऋषिः—नकुलः॥ देवता—**सविता**ः॥ छन्दः—**अतिशक्वरी**॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अनन्त-प्रकाश

४६४. अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम्।
ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः ॥ ८ ॥

मैं **त्यं देवं अभि**=उस देव को लक्ष्य बनाकर चलता हूँ जो वस्तुतः **देवम्**=इस संसाररूप क्रीड़ा का करनेवाला है (दीव्यति=क्रीडति)। संसार उस प्रभु का खेल है—इसे खेल समझने पर ही यह आनन्दप्रद बना रहता है। उस प्रभु की ओर जोकि **ओण्योः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के **सवितारम्**=उत्पन्न करनेवाले हैं, **कविक्रतुम्**=जिनके एक-एक कर्म में कविता निहित है—प्रत्येक कर्म बुद्धिमत्तापूर्ण है। प्रभु की कौन-सी कृति है जो काव्यमय नहीं है?

मैं उस प्रभु की **अर्चामि**=अर्चना करता हूँ जो **सत्यसवम्**=(हृदयस्थ होकर सदा) सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं। **रत्नधाम्**=हमारे शरीरों में रमणीय रत्नों के धारण करनेवाले हैं। **अभि**=मैं उस प्रभु की ओर चलता हूँ जो **प्रियम्**=तृप्ति देनेवाले हैं—जिनको पाकर जीव सन्तोष का अनुभव करता हैं। **मतिम्**=वे प्रभु ज्ञान के पुञ्ज हैं, **यस्य**=जिन प्रभु की **भाः**=दीप्ति **ऊर्ध्वा**=सर्वोच्च है और **अमतिः**=अ-मित है—अपरिमेय Immeasurable है। हज़ारों सूर्यों की दीप्तियाँ भी उसकी दीप्ति की तुलना नहीं कर सकतीं। उस प्रभु की ये दीप्तियाँ=विभूतियाँ **सवीमनि**=उत्पन्न जगत् में **अदिद्युतत्**=चमक रही हैं। क्या हिमाच्छादित पर्वतों में, क्या समुद्र में, क्या पृथिवी पर और क्या आकाश को आच्छादित करनेवाले तारों में उसकी महिमा दृष्टिगोचर हो रही है। कण-कण उसकी महिमा का गायन कर रहा है।

वह प्रभु '**हिरण्यपाणि**' हैं, हितरमणीय हाथोंवाले हैं। उनका वरदहस्त हम सबके सिर पर है। **सुक्रतुः**=वे प्रभु सदा उत्तम कर्मों को करनेवाले हैं। वे **कृपा**=करुणा से **स्वः**=स्वर्गलोक को **अमिमीत**=बनाते हैं। इस स्वर्गलोक को पाता वही है जो अपने सारे घराने में सबसे आगे बढ़ जाता है। 'न-कुल' का अर्थ है—'जिसके समान कुल में कोई नहीं है। इस प्रकार उत्कर्ष का साधनेवाला ही स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।

भावार्थ—उस प्रभु का प्रकाश अ-मित है—मेरा प्रकाश भी अमित नहीं तो परिमित तो अवश्य ही हो।

ऋषिः—**दैवोदासिः परुच्छेपिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रभु का कृपापात्र

४६५. अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोः सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशोचिष आजुह्वानस्य सर्पिषः ॥ ९ ॥

मैं **अग्निम्**=प्रकाशमय–हमें आगे ले-चलनेवाले **होतारम्**=सब-कुछ देनेवाले प्रभु का **मन्ये**=मनन और चिन्तन करता हूँ। वे प्रभु **वसोः दास्वन्तम्**=निवास के लिए आवश्यक धन देनेवाले हैं--उत्कृष्ट सम्पत्ति प्राप्त करानेवाले हैं। **सहसः सूनुम्**=बल उत्पन्न करनेवाले हैं--मैं प्रभु के सम्पर्क में आता हूँ तो मुझमें बल का संचार होता है। **जातवेदसम्**=जातं वेदा यस्मात्, उनके सम्पर्क में आने पर मुझमें बल के साथ ज्ञान का भी प्रकाश होता है। **विप्रं न**=जैसे एक ब्राह्मण के सम्पर्क में आने पर **जातवेदसम्**=मुझमें ज्ञान की वृद्धि होती है–उसी प्रकार प्रभु-सम्पर्क मेरे जीवन को ज्योतिर्मय कर देगा।

एवं, प्रभु-सम्पर्क से मुझे उत्तम धन, शक्ति व ज्ञान मिलेगा। उस प्रभु के सम्पर्क से **यः**=जो **ऊर्ध्वया**=सर्वोत्कृष्ट और सब सहारों के असफल सिद्ध होने के बाद **देवाच्या**=देवों को प्राप्त होनेवाली **कृपा**=कृपा से **देवः**=(दानात्) हमें सब उत्तमोत्तम पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं और **स्वध्वरः**=अत्युत्तम प्रकार से हमें हिंसा से बचानेवाले हैं।

जब संसार के सभी आश्रय निरर्थक सिद्ध होते हैं उस समय हमें उस प्रभु की कृपा प्राप्त होती है। सब रोगों का अन्तिम औषध प्रभु-कृपा ही है। यह कृपा हमें तब प्राप्त होती है जब हमारी वृत्ति दैवी बनती है। देव की कृपा का अधिकारी देव ही बन पाता है। यह कृपा हमें सब इष्ट पदार्थ प्राप्त कराती है और हमें सब प्रकार की हिंसाओं व अकल्याणों से बचाती है।

इस प्रभु का दर्शन हमें **घृतस्य**=मलों को दूर करनेवाली ज्ञानदीप्ति (घृ क्षरण व दीप्ति) का **विभ्राष्टिम् अनु**=प्रकाश होने पर ही हो पाएगा, जो ज्ञानदीप्ति **शुक्रशोचिषः**=चमकते हुए प्रकाशवाली है **आजुह्वानस्य**=आहुति देनेवाली, अर्थात् त्याग की भावनावाली है तथा **सर्पिषः**=(सृप् गतौ) बड़ी क्रियाशील है। वास्तविक ज्ञान होने पर मनुष्य में त्याग व क्रिया की भावना तो उत्पन्न होती ही है। यह प्रभु-दर्शन करनेवाला प्रभु का ज्ञानीभक्त प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय होता है। उसके सम्पर्क में यह अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति का अनुभव करता हुआ 'परुच्छेप' होता है और यह तब तक 'परुच्छेप' बना रहता है जब तक कि दैवोदासिः=प्रभु के प्रति अपने को दे डालनेवाला बना रहता है।

भावार्थ–मैं देव बनूँ, जिससे मुझे प्रभु की कृपा प्राप्त हो।

ऋषिः–**गृत्समदः शौनकः**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**अतिशक्वरी**॥ स्वरः–**पञ्चमः**॥

साक्षात्कार

४६६. तव त्यन्नर्यं नृतोऽ प इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्रवाच्यं कृतम्।
यो देवस्य शवसा प्रारिणा असु रिणन्नपः।
भुवो विश्वमभ्यदेवमोजसा विदेदूर्जं शतक्रतुर्विदेदिषम्॥ १०॥

ज्ञान के प्रकाश से प्रभु का दर्शन करता हुआ व्यक्ति एक अद्भुत अनुभव करता है। वह

इस सारे संसार को प्रभु का ही खेल समझता है। प्रभु नर्तक हैं, वे सारे संसार को नृत्य करा रहे हैं। **'भ्रामयान् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'**=वे प्रभु सबसे महान् मायावी हैं और इस संसार को इधर-उधर घुमा रहे हैं। यह द्रष्टा कहता है कि हे **नृतो**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नृत्य करानेवाले प्रभो! **तव**=आपका **त्यत्**=वह **अपः**=कर्म **नर्यम्**=मनुष्य के लिए कितना हितकर है! हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! आपका वह **प्रथमम्**=सर्वमुख्य, सृष्टि के प्रारम्भ में किया गया अथवा अत्यन्त विस्तृत **पूर्व्यम्**=सब प्रकार से हमारा पूरण करनेवाला **दिवि**= प्रकाशविषयक (वैषयिक सप्तमी में 'दिवि' का प्रयोग है) **कृतम्**=कार्य वस्तुतः **प्रवाच्यम्**=अत्यन्त प्रशंसनीय है। वेदज्ञान प्रभु का **प्रथमम्**=सर्वमुख्य कार्य है, यह वेदज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में दिया गया है तथा अत्यन्त विस्तृत है, अर्थात् इसमें कोई भी आवश्यक विषय छोड़ा नहीं गया। प्रभु का यह वेदज्ञान-दान कर्म सर्वोत्तम है—अत्यन्त प्रशंसनीय है।

प्रभु ने ज्ञान के साथ जीव को शक्ति भी दी है, **यः**=जो भी व्यक्ति **देवस्य शवसा**=उस प्रभु से दिये गये ज्ञान व शक्ति से **असु रिणन्**=जीवन को चलाता हुआ **अपः प्रारिणाः**=कर्मों को प्रेरित करता है, वह **ओजसा**=ओज के द्वारा **विश्वं अदेवम्**=सब अदिव्य भावनाओं को **अभिभुवः**=दबा लेता है। **विदेद् ऊर्जम्**=वह प्राणशक्ति को प्राप्त करता है, **शतक्रतुः**=सैकड़ों प्रज्ञानों, संकल्पों व यज्ञमय कर्मोंवाला होता है **उ**=और **विदेद् इषम्**=अपनी इच्छाओं को प्राप्त करता है, अर्थात् एक आत्मतृप्ति का अनुभव करता है, अतृप्त नहीं रहता।

वेदवाणी के अनुसार कार्य करने के चार परिणाम हैं—आसुरी भावनाओं पर विजय, बल की प्राप्ति, शतशः प्रज्ञानमय कर्मोंवाला जीवन व आत्मतृप्ति। यह व्यक्ति प्रभु की स्तुति करता है, उल्लासमय जीवनवाला होता है और क्रियाशील होता है, अतएव इसका नाम 'गृत्समदः शौनकः' है।

भावार्थ—मुझे प्रभु का साक्षात्कार हो।

सूचना—*यहाँ ऐन्द्रकाण्ड की समाप्ति है। इन्द्र के साक्षात्कार के साथ समाप्ति कितनी सङ्गत है! और वह भी प्रभुकृपा से ही होती है, यह प्रतिपादन कितना सुन्दर है! यही जीव का (इन्द्र का) चरम विकास है। इसी के लिए वह अपने को पवित्र बनाने का निश्चय करता है और 'पवमानकाण्ड' प्रारम्भ होता है—*

पावमानकाण्डम्

प्रभु के साक्षात्कार के साथ ऐन्द्रकाण्ड समाप्त होता है। इस साक्षात्कार की योग्यता के सम्पादन के लिए 'पवमानकाण्ड' का प्रारम्भ होता है—

चतुर्थी दशतिः

ऋषि:—**अमहीयु:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

आकाश में होता हुआ भूमि पर

४६७. उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे। उग्रं शर्म महि श्रव:॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अमहीयु:' है—'न महीं यौति युनक्ति वा'=जो अपने साथ पृथिवी का सम्पर्क नहीं करता—भौतिक भोगों में नहीं फँसता, अतएव शक्तिशाली बना रहता है। इससे प्रभु कहते हैं कि **ते**=तेरा **अन्धस:**=इस आध्यायनीय सोम के द्वारा **उच्चा जातम्**=अत्यन्त उच्च विकास हुआ है। जो व्यक्ति सोम की रक्षा का ध्यान नहीं करता वह 'निषाद' बनता है—'निषीदति अस्मिन् पापमिति'=उसमें आसुरी वृत्तियाँ आश्रय करती हैं, परन्तु जब यह सोम-रक्षा का निश्चय कर लेता है तब यह शु+उत्+र=शक्ति की शीघ्र ऊर्ध्वगति करनेवाला 'शूद्र' हो जाता है। सोम के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रवेश करने पर (विश् to enter) वैश्य=विश् होता है। उस-उस स्थान में क्षतों से त्राण करने के कारण यह 'क्षत्रिय' बनता है और ज्ञानशक्ति के दीप्त होने से ब्रह्म को जानने के कारण यह 'ब्राह्मण' बन जाता है। इस प्रकार सोम की महिमा से मनुष्य ऊँचा और ऊँचा उठता चलता है—इसका अत्यन्त उच्च विकास होता है, परन्तु सौन्दर्य की बात तो यह है कि **दिवि सत्**=द्युलोक में होता हुआ यह **भूमि आददे**=भूमि का ग्रहण करता है। अधिक-से-अधिक ऊँचा होता हुआ यह अत्यन्त विनीत होता हैं। दैवी सम्पत्ति का सर्वोच्च शिखर=climax 'नातिमानिता' ही तो है।

उग्रं शर्म=इसका आनन्द भी उदात्त होता है। यह राजस् व तामस् सुखों में नहीं फँसता। इसका सात्त्विक सुख उत्तरोत्तर बढ़ता ही चलता है। उस ज्ञान के क्षेत्र में विचरता हुआ यह सांसारिक सुखों की तुच्छता को अनुभव करता है।

महि श्रव:=चारों ओर इसकी महनीय कीर्ति फैल जाती है। इसका जीवन इतना सुन्दर बन गया है कि उसकी सुगन्ध चारों ओर फैलती है। लोग उसकी तेजस्विता, उसके ज्ञान व उसकी प्रशस्त मनोवृत्ति की गाथा गाते नहीं अघाते।

भावार्थ—सोम-रक्षा से मनुष्य उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है, विनीत बना रहता है, सात्त्विक सुख में ही आनन्द लेता है और महनीय कीर्तिवाला होता है।

ऋषि:—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्र:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

'मधुर व्यवहार', स्वादिष्ट व मदिष्ठवृत्ति, 'उल्लासमय जीवन'

४६८. स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुत:॥ १॥

सुतः='उत्पन्न हुआ-हुआ' यह सोम हमारे जीवन को कैसा बनाए' इस विषय का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है। हे **सोम**=सोम! तू **स्वादिष्ठया**=अत्यन्त स्वादवाली--माधुर्यवाली **धारया**=धारा से तथा **मदिष्ठया**=अत्यन्त मदवाली—उल्लासवाली धारा से **पवस्व**=हमारे जीवन को पवित्र कर दे, हमारे जीवन में प्रवाहित हो। सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर हमारा सामाजिक व्यवहार बड़ा मधुर होता है। हमारे व्यवहार में खिझ नहीं होती—किसी प्रकार की कटुता नहीं होती तथा हमारे निजू जीवन में उल्लास होता है। शक्ति बनी रहने से शरीर में क्षीणता नहीं आती और क्षीणता के परिणामस्वरूप होनेवाली निरुत्साहता नहीं होती।

हे सोम! तू **इन्द्राय**=जीव के परमैश्वर्य के लिए **सुतः**=उत्पन्न हुआ है। मनुष्य शक्तिशाली व स्वस्थ बनकर धन कमाने में भी सक्षम होता है, परन्तु इससे भी बढ़कर बात यह है कि यह सोम हमारे ज्ञानैश्वर्य को बढ़ानेवाला होता है।

पातवे=तू रक्षा के लिए होता है। सोम के शरीर में संयत होने पर शरीर पर रोगों का आक्रमण नहीं होता—यह सोमशक्ति सब रोगों को दूर करती है। मन में भी सोम के परिणामस्वरूप आसुरवृत्तियाँ नहीं पनपती। यह सोम मनुष्य को ईर्ष्या-द्वेष से बचाये रखता है। यह किसी प्रकार की मलिन इच्छा को मन में उत्पन्न नहीं होने देता। सोम का पान करनेवाला मनुष्य 'मधुच्छन्दाः'=मधुर इच्छाओंवाला बना रहता है, यह किसी का अहित न चाहनेवाला सभी का मित्र 'वैश्वामित्रः' होता है।

भावार्थ—सोम की धारण-शक्ति के परिणामस्वरूप १. मेरा व्यवहार मधुर हो, २.जीवन उल्लासमय हो, ३. मैं ज्ञानरूप परमैश्वर्य को पानेवाला होऊँ, और ४. अपनी रक्षा कर सकूँ--अपने को ईर्ष्या-द्वेष से बचाए रक्खूँ।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दीर्घ ओजस्वी जीवन

४६९. वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः। विश्वा दधान ओजसा ॥ ३ ॥

हे सोम! तू **वृषा**=शक्तिशाली होता हुआ **धारया**=अपनी धारणशक्ति से **पवस्व**=हममें प्रवाहित हो। सोम का शरीर में प्रवेश हमारे शरीर को शक्तिशाली बनाता है। **च**=यह सोम **मरुत्वते**=मरुत्वान् के लिए—प्राणों की साधना करनेवाले के लिए **मत्सरः**=आनन्द प्रवाहित करनेवाला होता है। प्राण-साधना के बिना सोम का पूर्णरूप से पान नहीं होता, प्राणायाम ही मनुष्य को ऊर्ध्वरेतस् बनाता है, ऊर्ध्वरेतस् बनने पर उसका शरीर नीरोग व सशक्त और मन निर्मल व आह्लादमय बनता है।

यह सोम ही **विश्वा**=सबको **ओजसा दधानः**=ओज से धारण करनेवाला होता है। सोम से केवल दीर्घायुष्य प्राप्त हो यही नहीं—यह जीवन अन्त तक शक्तिशाली भी बना रहता है।

प्राणायामरूप तप से अपना परिपाक करके ही यह सोम का पान कर पाता है, अतः यह 'भृगु' (तपस्वी) है। इसका जीवन इस सोमपान से सुन्दर व श्रेष्ठ बनता है, अतः 'वारुणि' है। इसकी पाचन-शक्ति अन्त तक ठीक बनी रहती है, अतः यह 'जमदग्नि' है।

भावार्थ—सोमपान से मैं १. 'शक्तिशाली' बनूँ २. उल्लासमय जीवनवाला होऊँ और ३. जीवन के अन्तिम क्षण तक ओजस्वी बना रहूँ।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वरेण्य–मद

४७०. यस्ते मदो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा। देवावीरघशंसहा ॥ ४ ॥

इस संसार में कितने ही 'मद' हैं। धन का मद है—जो धतूरे के मद से भी कहीं बढ़कर है। बल का भी मद होता है—एक पहलवान कुछ इतराता हुआ-सा चलता है। कई बार योगसाधना करते हुए तपस्वी को अपने तप की शक्ति का भी मद हो जाता है। कइयों में विद्या का मद देखा जाता है, ये सब हेय हैं—इनका परिगणन 'काम-क्रोध; लोभ-मोह; मद-मत्सर, इन छह शत्रुओं में है। शत्रु होने से ये मद त्याज्य हैं, परन्तु प्रभु ने **अन्धसा**=अधिक-से-अधिक ध्यान देने योग्य (आध्यायनीय) सोम के द्वारा भी एक मद हममें उत्पन्न किया है। इस सोम के सुरक्षित होने पर इसका अनुभव होता है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अमहीयु'=प्राकृतिक भोगों की कामना न करनेवाला 'आङ्गिरस'= शक्तिशाली व्यक्ति प्रभु से प्रार्थना करता है कि **यः**=जो **ते**=तेरा **अन्धसा**=सोम के द्वारा उत्पन्न **वरेण्यः मदः**=वरणीय, श्रेष्ठ मद है **तेन**=उससे **आपवस्व**=हमारे जीवनों को पवित्र कीजिए। यह सोमजनित उल्लास **देवावीः**=(देव-आवी) हमें सब प्रकार से दिव्यता की ओर ले-चलनेवाला है। इससे हममें उत्तरोत्तर दिव्यता का विकास होता है और यह सोम **अघशंसहा**=पाप के नाम को भी नष्ट करनेवाला है—इससे हमारे अन्दर पाप का नामशेष भी नहीं रहता। हमारा जीवन सचमुच पवित्र व दिव्य बन जाता है।

भावार्थ—सोमजनित 'मद' सचमुच वरणीय है। १. यह हमारे अन्दर दिव्यता को बढ़ाता है और २. पाप का नाम भी शेष नहीं रहने देता।

ऋषिः—**त्रित आप्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु गर्जते हुए आते हैं

४७१. तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः। हरिरेति कनिक्रदत् ॥ ५ ॥

सोम की रक्षा करनेवाले व्यक्ति के जीवन में **तिस्रः वाचः**=तीन वाणियाँ **उदीरते**=उच्चरित होती हैं—इसके जीवन में **धनेवः गावः**=(धेट् पाने) ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणीरूप गौवें **मिमन्ति**=शब्द करती हैं, अर्थात् यह सदा उन वेदवाणियों का उच्चारण करता है और ये वेदवाणियाँ उसे तीन बातें कहती हैं—तू ज्ञानी बन, ज्ञानपूर्वक कर्म कर, इन पवित्र कर्मों को प्रभु के अर्पण करता हुआ प्रभु का उपासक बन। एवं, यह सोमपान करनेवाला व्यक्ति ज्ञान-कर्म व उपासना—तीनों को ही अपने जीवन का ध्येय बनाता है। तीनों का विस्तार करने से इसका नाम 'त्रि-त' (त्रीन्-तनोति) है। यह प्रभु को प्राप्त करनेवालों में भी श्रेष्ठ होने के कारण 'आप्त्य' है। ऐसा बनने पर इसके जीवन में सबके दुःखों का हरण करनेवाला **हरिः**=दुःखहर्त्ता—अन्धकार के हरणकर्त्ता प्रभु **एति**=आते हैं। कैसे? **कनिक्रदत्**=गर्जना करते हुए। इसे सदा प्रभु की आवाज़ स्पष्ट सुनाई पड़ती है। हम उस हृदयस्थ प्रभु की ध्वनि को सुनते हैं, क्योंकि धन-प्रधान जीवन में इस हिरण्यमय संसार की 'धनं धनं धनं' ध्वनि बड़ी ऊँची होती रहती है, परन्तु सोमपान करनेवाला व्यक्ति तो इसमें उलझता ही नहीं। उसके जीवन में प्रभु का साक्षात्कार व प्रभु से आलाप ही महत्त्वपूर्ण होता है।

भावार्थ—सोमपान करनेवाले व्यक्ति को प्रभु का साक्षात्कार होता है।

ऋषिः—**कश्यपो मारीचः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अत्यन्त मधुर बनकर (इन्दु)

४७२. इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः। अर्कस्य योनिमासदम्॥ ६॥

प्रस्तुत मन्त्र में सोम को 'इन्दु' नाम से स्मरण किया गया है। इन्द=to be powerful धातु से बना यह शब्द बतला रहा है कि यह सोम मनुष्य को अत्यन्त शक्तिशाली बनानेवाला है। इस इन्दु को सम्बोधित करते हुए मन्त्र का ऋषि 'कश्यप मारीच' कहता है कि हे **इन्दो**=शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय के लिए—इन्द्रियों की अधीनता में न चलकर उन्हें अपना उपकरण बनानेवाले और **मरुत्वते**=प्राणशक्ति-सम्पन्न मेरे लिए **मधुमत्तमः**= अत्यन्त माधुर्यवाला होकर **पवस्व**=बह या मेरे जीवन को पवित्र कर। वस्तुतः सोम का रक्षण 'इन्दु व महान्' बनने से ही सम्भव है। जितेन्द्रियता व प्राणसाधना मनुष्य को ऊर्ध्वरेतस् बनाती है। सोमरक्षा के लिए जीभ मेरे वश में होनी चाहिए। साथ ही ब्रह्मचर्य के लिए प्राणायाम अत्यन्त आवश्यक है। इन दोनों साधनों से मैं सोमरक्षा करूँगा तो यह सोम मेरे जीवन को अत्यन्त माधुर्यवाला बना देगा। **'भूयासं मधुसन्दृशः'** यह वेदवाक्य मेरे जीवन में घटित होता दिखेगा। यह माधुर्य आवश्यक है, इसके बिना मैं उस 'रस'-स्वरूप परमात्मा को कैसे पा सकता हूँ? अतः **अर्कस्य**=उस अर्चनीय परमात्मा के **योनिम्**=स्थान व पद को **आसदम्**=पाने के लिए मैं मधुर बनूँ। मधुर बनूँगा सोमरक्षा से और सोमरक्षा होगी इन्द्र और मरुत्वान् बनने से। इन्द्र बनकर मैं सब असुरों को मारनेवाला 'मारीच' बनूँ और मरुत्वान् बनकर ज्ञानदीप्ति को बढ़ाकर 'कश्यप' बनूँ। संसार के स्वाद को मारना प्रभु-प्राप्ति का स्वाद पाने के लिए आवश्यक है। यह स्वाद ज्ञान से ही आएगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मैं 'इन्द्र और मरुत्वान्' बनूँ—दूसरे शब्दों में 'मारीच कश्यप' बनूँ।

ऋषिः—**जमदग्निर्भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के स्थान में पहुँच जाऊँ (अंशु)

४७३. असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः। श्येनो न योनिमासदत्॥ ७॥

सोम को यहाँ अंशु कहा है, क्योंकि यह मनुष्य को प्रभु का अंश=छोटा रूप ही बना डालता है। यह **अंशुः**=मुझे परमेश्वर का ही छोटा रूप बना देनेवाला सोम **असावि**=उत्पन्न हुआ है। यह उत्पन्न होकर १. **मदाय**=मेरे जीवन में एक विशेष मद को जन्म देनेवाला है—मेरा जीवन इससे सदा उत्साहमय बना रहता है। इस सोम से २. मनुष्य **अप्सु**=कर्मों में **दक्षः**=चतुर बनता है। **'योगः कर्मसु कौशलम्'**=कर्मों में कुशलता ही योग है। यह सोमी पुरुष कभी आकुल नहीं होता। यह **गिरिष्ठाः**=उन्नति के पर्वत-शिखर पर स्थित होता है—अथवा वाणी पर इसका पूर्ण प्रभुत्व होता है। यहाँ वाणी उपलक्षण है अन्य सब इन्द्रियों का। इस प्रकार आत्मवश्य विधेय मनवाला **श्येनो न**=प्रशंसनीय गतिवाले पक्षी की भाँति **योनिम्**=उस प्रभु के स्थान को **आसदत्**=पा लेता है। प्रभु को पाने के लिए गत मन्त्र में 'मधुमत्तमः' शब्द से १. 'माधुर्य' का संकेत हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में २. उल्लास—मनःप्रसाद (मदाय), ३. कार्यकुशलता—

सिद्धि व असिद्धि में सम होकर निर्लेपता से कर्म करना तथा ४. इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनना (गिरिष्ठाः)—इन नये उपायों का उल्लेख हो गया है। उस सोम की रक्षा तो साधन है ही जो माधुर्य आदि को हमारे जीवन में उत्पन्न करता है। इस सोम की रक्षा का यह भी परिणाम होता है कि यह शरीर-यन्त्र अन्त तक ठीक रहता है—मनुष्य अन्त तक 'जमदग्नि'=बना रहता है। इस सोम की रक्षा में प्राणायामादि तपस्या भी आवश्यक है। इस तपस्या का करनेवाला 'भार्गव' है। यह जमदग्नि-भार्गव प्रभु का अंश=छोटा रूप बन जाता है। ऐसा बनानेवाला यह सोम 'अंशु' है।

भावार्थ—मैं अंशु की रक्षा द्वारा प्रभु का अंश=छोटा रूप बनूँ।

ऋषिः—**दृढच्युत आगस्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रत्न सप्तक (हरि)

४७४. पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे। मरुद्भ्यो वायवे मदः॥ ८॥

हे सोम! **पवस्व**=मेरे जीवन में प्रवाहित हो अथवा मेरे जीवन को पवित्र कर। १. **दक्षसाधनः**=तू मेरी दक्षता को सिद्ध करनेवाला है। सोम के संयम से मेरा प्रत्येक कार्य कुशलता से होता है। २. **देवेभ्यः**=यह सोम मेरे जीवन में देवों के लिए होता है, अर्थात् इससे मुझमें दिव्य गुणों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, ३. **पीतये**=यह सोम मेरे पान=रक्षण के लिए हो—मैं आसुर वृत्तियों के आक्रमण से बचा रहूँ, ४. **हरे**=हे सोम! तुम तो हरि हो—मेरे सब रोगों व मलों का हरण करनेवाले हो, ५. **मरुद्भ्यः**=तुम प्राणों के लिए हितकर होते हो, अर्थात् सोम के संयम से प्राणशक्ति बढ़ती है। 'प्राणायाम से सोमरक्षा तथा सोमरक्षा से प्राणशक्ति की वृद्धि' इस प्रकार सोम और प्राण परस्परोपकारक होते हैं, ६. **वायवे**=(वा गतौ) प्राणशक्ति की वृद्धि के द्वारा यह सोम मेरी क्रिया-शक्ति को बढ़ानेवाला होता है। मेरा जीवन कर्मठ बनता है, ७. **मदः**=यह सोम मेरे मद=उल्लास व उत्साह को स्थिर रखता है।

इस प्रकार दक्षता, दिव्यता, दानववृत्ति दमन, रोगहरण, प्राणवर्धन, कर्मसामर्थ्य व उल्लास को जन्म देता हुआ यह सोम मुझे 'अग+स्त्य'=पापसमूह को नष्ट करनेवाला तथा असुरों के दृढ़-से-दृढ़ दुर्गों का च्यवन=नाश करनेवाला 'दृढ़च्युत' बनाता है।

भावार्थ—सोम के द्वारा मैं दक्षता आदि सात रत्नों से अपने जीवन को सुशोभित करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**काश्यपोऽसितो देवलः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गिरिष्ठा व स्वान

४७५. परि स्वानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षरत्। मदेषु सर्वधा असि॥ ९॥

सोमः=सोम **परि-सु-आनः**=शरीर में सर्वत्र उत्तमता से प्राणशक्ति को बढ़ानेवाला है। ४९ प्रकार के वायु जो १० प्राणों के रूप से कहे जाते हैं—जिनमें 'प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान' ये पाँच विशेषरूप से प्रसिद्ध हैं और उनमें भी 'प्राण-अपान-व्यान' का 'भूर्भुवः स्वः' के रूप में उल्लेख किया जाता है—इन तीन का भी संक्षेप 'प्राणापान' में हो जाता है और एक शब्द में इन्हें प्राण के रूप में हम स्मरण करते हैं। यह प्राण इस सोम के रक्षण

से पुष्ट होता है। यह हमें **गिरिष्ठाः**=उन्नति के शिखर पर पहुँचाता है—और **पवित्रे**=पवित्रता के निमित्त **अक्षरत्**=सब मलों को क्षरित करता है। 'मलों को दूर करके पवित्रता का उत्पादन' यह सोम का कार्य है। इसी से हमारे शरीर नीरोग रहते हैं, मन ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठे रहते हैं और मस्तिष्क उज्ज्वल बना रहता है। एवं, यह सोम **मदेषु**=मद—उत्साहजनक वस्तुओं में **सर्वधा असि**=सर्वाधिक धारण करनेवाला है। यह हमें रोगादि के जाल से और ईर्ष्या-द्वेषादि के बन्धनों से मुक्त करके 'असित' बनाता है। हमारे ज्ञान को उज्ज्वल करके हमें 'काश्यप' बनाता है तथा हमारे अन्दर दिव्यता का संचार करता हुआ हमें 'देवल' बना देता है।

भावार्थ—सोम की रक्षा से मैं जीवन में सोत्साह, पवित्र, व स्थिर बनूँ।

ऋषिः—**काश्यपोऽसितो देवलः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

क्रान्तदर्शी सोम (कवि)

४७६. परि प्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः। स्वानैर्याति कविक्रतुः ॥ १० ॥

यह सोम **दिवः कविः**=प्रकाश के द्वारा क्रान्तदर्शी है। इसके संयम से मनुष्य की बुद्धि में जो तीव्रता आती है, उससे वह प्रत्येक वस्तु को बारीकी से देखनेवाला होता है। सूक्ष्मता से देखने के कारण ही वह उनके तत्त्वों को समझता है और उनमें उलझता नहीं। यह सोम **कविक्रतुः**=क्रान्तदर्शी बनकर कर्म करनेवाला है। क्रान्तदर्शी बनकर कर्म करते हुए उसके कर्म अनासक्ति से चलते हैं और उसके बन्धन का कारण नहीं बनते। **नप्त्योः हितः**=(न-पतत्योः) पतन की ओर न जानेवाले द्यावापृथिवी का—मस्तिष्क व शरीर का हित करनेवाला है। सोम की रक्षा से जहाँ शरीर का आरोग्य बना रहता है वहाँ मस्तिष्क की तीव्रता भी बनी रहती है। ऐसा यह सोम **स्वानैः**=(सु आनैः) उत्तम उत्साह के संचारों द्वारा **परि**=चारों ओर **प्रिया वयांसि**=प्रिय व मधुर (वी गतौ) गतियों को **याति**=करता है, अर्थात् यह संयमी पुरुष सदा उत्साहयुक्त होकर अत्यन्त मधुर कर्मों में व्यापृत रहता है।

क्रान्तदर्शी होने से यह संयमी पुरुष 'काश्यप' है, न उलझने के कारण 'असित' है और अपने अन्दर दिव्य गुणों को बढ़ाने के कारण 'दे-वल' है।

भावार्थ—हम सोम के संयम से ज्ञान के दृष्टिकोण से क्रान्तदर्शी बनें, हमारे कर्म प्रज्ञापूर्वक हों और हम शरीर व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से अक्षीणशक्ति हों।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**श्यावाश्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उत्साह-यश-श्री

४७७. प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम्। सुता विदथे अक्रमुः ॥ १ ॥

सोमासः=सोम **प्र**=प्रकर्षेण (खूब) **मदच्युतः**=उत्साह के टपकानेवाले हों। सोम के कारण हमारा जीवन उल्लासमय हो—हम कभी निराशा की बातें न करें। ये सोम **मघोनाम्**=(मा अघ) पापांशशून्य ऐश्वर्यवाले **नः**=हमारे **श्रवसे**=यश के लिए हों। उत्साह-सम्पन्न पुरुष ऐश्वर्य को प्राप्त करता ही है—वह ऐश्वर्य सुपथ से अर्जित हुआ करता है और इसका दानादि उत्तम

कार्य में विनियोग से मनुष्य यश का भागी बनता है। **'जुहोत प्र च तिष्ठत'**='दान दो और प्रतिष्ठा पाओ' इस वेदवाक्य के अनुसार यह संयमी पुरुष कमाता है—देता है और प्रतिष्ठा पाता है। जितना देता है उतना ही अधिक कमाता भी है। वस्तुतः **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए ये सोम **विदथे**=(विद् लाभे)=धन के लिए **अक्रमुः**=गतिशील होते हैं। सोम मनुष्य को उस पुरुषार्थ के योग्य बनाता है जिससे यह सोमी खूब कमाता है। इसकी सब इन्द्रियाँ गतिशील बनी रहती हैं—गतिशील बने रहने से ही यह 'श्यावाश्व'=गतिशील इन्द्रियरूप घोड़ोंवाला कहलाता है (श्यैङ् गतौ)।

भावार्थ—मैं सोमी बनूँ। सोम मुझे उत्साह, यश और श्री प्राप्त कराए।

ऋषिः—**त्रित आप्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान-कर्म-उपासना

४७८. प्र सोमासो विपश्चितोऽ पो नयन्त ऊर्मयः। वनानि महिषाइव॥ २॥

सोम के संयम से मैं 'विपश्चित्' बनता हूँ। 'वि-पश्-चित्'=विशेषरूप से सूक्ष्मता के साथ देखकर मैं प्रत्येक पदार्थ का चिन्तन करनेवाला बनता हूँ। इससे मन्त्र में कार्य-कारण का अभेद करते हुए सोम को ही विपश्चित् कहा गया है। **सोमासः**=ये सोम **प्र**=खूब **विपश्चितः**=ज्ञानी हैं या मुझे ज्ञानी बनानेवाले हैं। **ऊर्मयः**=हमारे अन्दर उत्साह की तरङ्गों को भरनेवाले ये सोम **अपो नयन्त**=हमें कर्मों को प्राप्त कराते हैं, अर्थात् सोम के द्वारा मेरा जीवन प्रकाशमय होता है और मैं बड़े उत्साह से कर्मों में—लोकसंग्रह के कार्यों में प्रवृत्त होता हूँ। ज्ञानी बनकर कर्मशील होता हूँ। एवं, ज्ञानपूर्वक होने से ही मेरे ये कर्म पवित्र होते हैं। इन पवित्र कर्मों के द्वारा ही तो मुझे प्रभु की उपासना करनी है। **महिषा इव**=(मह पूजायाम्) प्रभु की पूजा करनेवालों के समान ये सोम मुझे **वनानि**=(वन संभक्ति) संभजनों व उपासनाओं को **नयन्त**=प्राप्त कराते हैं, मेरा जीवन इन पवित्र कर्मों को प्रभु-चरणों में निवेदित करता हुआ उपासनामय बनता है।

सोम के द्वारा 'ज्ञान-कर्म-उपासना' इन तीनों का ही विस्तार करने से ये 'त्रित' है। प्रभु को प्राप्त कराने से 'आप्त्य' है। **'ज्ञानपूर्वक कर्म'** करने से उपासना तो स्वतः ही हो जाती है, अतः यह ज्ञान और कर्म का विस्तार करनेवाला 'द्वित' भी कहलाता है और ज्ञान का विस्तार इसको क्रियावान् बना ही देता है, अतः ज्ञान का विस्तार करनेवाला यह 'एकत' नामवाला हो जाता है। 'एकत' का ही विस्तार 'द्वि-त' है' और 'द्वित' का 'त्रित'। एवं, यह त्रित अपने को प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाता हैं।

भावार्थ—मैं सोमी बनूँ। सोम मुझे ज्ञान-कर्म-उपासना का विस्तार करनेवाला बनाकर 'त्रित-आप्त्य' बनाए।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शक्ति-यश-प्रेम

४७९. पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने। विश्वा अप द्विषो जहि॥ ३॥

'अमहीयुः'=जो अपने साथ पृथिवी को—पार्थिव भोगों को नहीं जोड़ता, अर्थात् पार्थिव भोगों में नहीं फँसता वह 'आङ्गिरस'=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिवाला पुरुष प्रार्थना करता है कि **इन्दो**=हे शक्ति का संचार करनेवाले सोम! **पवस्व**=तू मेरे जीवन को पवित्र कर। **सुतः**=उत्पन्न

हुआ-हुआ तू **वृषा**=शक्तिशाली बनानेवाला है। तू **नः**=हमें **जने**=अपने समाज में **यशसः कृधी**=यशस्वी कर और **विश्वा द्विषः**=द्वेष की सब भावनाओं को **अपजहि**=हमसे दूर कर।

सोम के संयम से जीवन पवित्र बनता है। पवित्र ही नहीं, शक्तिशाली भी होता है। इस पवित्रता और शक्ति के परिणामस्वरूप यह अमहीयु कोई भी ऐसा कर्म नहीं करता जो उसके अपयश का कारण बने। स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठकर यह लोकहित के लिए कर्म करता है और परिणामतः इसके यश की गन्ध चारों ओर फैलती है। यह किसी के साथ द्वेष भी नहीं करता। इसका जीवन सबके प्रति प्रेम के बर्तावताला होता है।

भावार्थ—सोम के संयम से मैं पवित्र, शक्ति-सम्पन्न, यशस्वी तथा निर्द्वेष बन जाऊँ।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्रविण=शक्ति, दीप्ति, दर्शन

४८०. वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे। पवमान स्वर्दृशम्॥ ४॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भृगु' है—जो अपना परिपाक करता है। यह भृगु तपः-परिपाक से अपने जीवन को पवित्र करता है। यह कहता है कि हे **पवमान**=मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले सोम! तू **हि**=निश्चय से **भानुना**=दीप्ति के साथ **वृषा**=मुझे द्रविण-(पराक्रम)-सम्पन्न करनेवाला **असि**=है। सोम के संयम से उत्पन्न शक्ति ज्ञान की दीप्ति से युक्त होती है। सोम शरीर को बलवान् बनाता है तो साथ ही मस्तिष्क को भी ज्ञान की दीप्ति से युक्त करता है। शक्ति कार्य करती है तो दीप्ति कार्यों में ग़लती व मालिन्य नहीं आने देती। भृगु कहते हैं कि हे सोम! **द्युमन्तम्**=दीप्तिवाले **त्वाम्**=तुझे **हवामहे**=हम पुकारते हैं। सोम को हम इसलिए चाहते हैं कि यह हमारे जीवन को **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'**=अन्धकार से प्रकाश की ओर ले-चलता है। पवमान=यह पवित्र करनेवाला तो है ही। सोम! तू मुझे असत् से सत् की ओर ले-चल। संयमी पुरुष कोई असत्कार्य नहीं करता। मुझे पवित्र बनाकर हे सोम! तू **स्वः**=उस स्वयं देदीप्यमान् ज्योतिर्मय प्रभु को **दृशम्**=देखने के योग्य बनाता है। एवं, सोम से मेरे जीवन में तीन परिणाम होते हैं—द्रविण, दीप्ति व दर्शन। शक्ति (द्रविण) का संचयन करने से हम निर्बलता की अयोग्यता को अपने से दूर करते हैं। यह दर्शन ही हमारे जीवन की अन्तिम साधना है। **'मृत्योर्मामृतं गमय'**=हे सोम! तू मुझे प्रभु का दर्शन कराके मृत्यु से बचाकर अमरता का लाभ कराता है। यह दर्शन मुझे इसलिए प्राप्त हुआ है कि पवमान सोम ने मेरे सब मालिन्य को दूर कर दिया है।

भावार्थ—मैं प्राणसाधना करके 'द्रविण व दीप्तिसम्पन्न' बनकर प्रभु-दर्शन करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**कश्यपो मारीचः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सदा सावधान

४८१. इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मतिः। सृजदश्वं रथीरिव॥ ५॥

इन्दुः=मुझे शक्तिशाली बनानेवाला सोम **पविष्ट**=मुझे पवित्र बनाता है। **चेतनः**=यह मुझमें चैतना उत्पन्न करता है—मैं जागरित हो जाता हूँ, जीवन-यात्रा में मैं सावधान होकर चलता हूँ—नशे में नहीं हो जाता। अपने स्वरूप को पहचानता हूँ तथा अपने लक्ष्य को भूल नहीं जाता। यह सोम **कवीनां प्रियः**=क्रान्तदर्शियों को प्रीणत करनेवाला होता है। संयमी पुरुष

अपने अन्दर तृप्ति व आनन्द का अनुभव करता है। वस्तुतः आनन्द बाह्य वस्तुओं में नहीं है। **मतिः**=यह सोम मननशील बनाता है—बुद्धि को तीव्र करता है। यह मननशीलता इसे न्याय्यमार्ग से भटकने नहीं देती। इस प्रकार यह संयमी न्याय्यमार्ग से न भटकता हुआ **रथीः इव**=उत्तम रथी की भाँति **अश्वं सृजत्**=इन्द्रियरूप घोड़ों को इस शरीररूप रथ में जोड़ता है।

रथी सोया हुआ न हो, चेतन हो, साथ ही तत्त्वज्ञानियों की दृष्टिवाला होकर अन्दर-ही-अन्दर आनन्द का अनुभव करता हो और वह मननशील भी हो तो कभी भटकने की आशंका हो सकती है? यह 'कश्यप' है—अपने मार्ग को देखता है और उस मार्ग में आनेवाले विघ्नों को नष्ट कर डालता है, इसलिए यह 'मारीच' है—सब विघ्नों को मार डालनेवाला। विघ्नों को दूर कर आगे बढ़ता हुआ यह लक्ष्य-स्थान पर पहुँच ही जाता है।

भावार्थ—मैं सदा जाग्रत् रहूँ—अपने लक्ष्य को भूल न जाऊँ।

ऋषिः—**कश्यपो मारीचः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

घोड़ों (ज्ञान-कर्म-वीरता) का रथ में जोतना

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २र

४८२. असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया। शुक्रासो वीरयाशवः॥ ६॥

ये **सोमासः**=सोम **वाजिनः**=ज्ञान को दीप्त करनेवाले हैं, और वाजी होते हुए ये इस शरीररूप रथ को **गव्या**=ज्ञानेन्द्रियों से **प्र असृक्षत्**=अच्छी प्रकार संयुक्त करते हैं। ये सोम ही **शुक्रासः**=शीघ्रता से कार्य करनेवाले होते हुए **अश्वया**=कर्मेन्द्रियों से इस रथ को संसृष्ट करते हैं और अन्त में **आशवः**=सारे शरीर में व्याप्त होनेवाले (अश् व्याप्तौ) ये सोम इसे **वीरया**=वीरता की भावना से युक्त करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के योग से ज्ञान में वृद्धि होती है, कर्मेन्द्रियों के योग से शक्ति की और वीरता की भावना से हृदय में सद्गुणों की। इस प्रकार ये सोम 'ज्ञान, शक्ति व सद्गुणों' से हमें आप्यायित करनेवाले होते हैं। मस्तिष्क में ज्ञान, शरीर में शक्ति और हृदय में वीरता [virtue] ही तो त्रिविध विकास है। यह विकास करनेवाला 'कश्यप मारीच' है—तत्त्वज्ञानी भी है, विघ्नों को मारकर आगे बढ़नेवाला भी।

भावार्थ—मैं अपने शरीर-रथ में इन्द्रियरूप घोड़ों को ठीक से जोड़कर आगे बढ़ता चलूँ।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

स्थिरता व ध्रुवता

१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ ३र३ १ २

४८३. पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः। वायुमा रोह धर्मणा॥ ७॥

हे सोम! तू मुझमें **देवः**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाला है। तू **आयुषक्**=मुझे आजीवन **पवस्व**=पवित्र कर डाल। सोम वस्तुतः मनुष्य को सोम=शान्त बनानेवाला है। इससे जीवन में स्थिरता बढ़ती है। अशान्ति तभी होती है जब मल की अभिवृद्धि होती है। रोग दूर करके यह सोम शरीर की शान्ति देता है और मानस मलों को दूर करके यह मन की अशान्ति को दूर भगा देता है। यह शान्त मानस व्यक्ति 'निध्रुवि'=निश्चय से अपने स्थान पर ध्रुवता से रहनेवाला होता है। 'काश्यप'=ज्ञानी होने से यह व्यर्थ की व्यग्रता में नहीं फँसता।

अव्यग्रता व मनःप्रसाद के साथ यह अपने जीवन-पथ पर चलता है और सोम से कहता है कि **ते मदः**=तेरे द्वारा उत्पन्न ये मद **इन्द्रं गच्छतु**=(गमयन्तु)=मुझे परमात्मा को प्राप्त

करानेवाला हो। धन का मद विलास की ओर ले-जाता है, शरीर की शक्ति का मद निर्बलों पर अत्याचार की ओर, योग का बल विभूतियों के प्रदर्शन की ओर और ज्ञान का मद विरोधी को पराजित करने की भावना की ओर। यह सोम का ही मद है जो हमें प्रभु की ओर ले-चलता है।

हे सोम! तू **धर्मणा**=अपनी धारकशक्ति से **वायुम्**=(अनु) प्राणों की साधना के अनुपात में **आरोह**=ऊर्ध्वगतिवाला हो। प्राणायाम के द्वारा इस सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है—मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् बनाता है।

भावार्थ—सोम मुझे पवित्र करे, प्रभु को प्राप्त कराए और मेरे जीवन का धारण करनेवाला हो।

ऋषिः—**आङ्गिरसोऽमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

लोकहितकारी ज्ञान

४८४. पवमानो अजीजनद् दिवश्चित्रं न तन्यतुम्। ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत्॥ ८॥

पवमानः=हमारे जीवन को पवित्र करनेवाला यह सोम **दिवः**=द्युलोक के **चित्रम्**=अद्भुत **तन्यतुम्**=विद्युत्-प्रकाश के समान **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश को **अजीजनत्**=उत्पन्न करता है। कौन-से ज्ञान के प्रकाश को? जो **वैश्वानरम्**=(विश्वनरहितम्) सब लोकों का कल्याण करनेवाला है तथा **बृहत्**=(बृहि वृद्धौ) लोकवृद्धि का कारण है।

आधुनिक युग में ज्ञान की वृद्धि हो रही है, परन्तु यह ज्ञान-वृद्धि अणु-बम्बों आदि का निर्माण करके लोकहित के लिए कल्याणकारी प्रमाणित नहीं हो रही। ज्ञान बढ़ा है, परन्तु यह लोकवृद्धि का कारण न बनकर लोकसंक्षय का कारण हो गया है। संयमी पुरुषों का ज्ञान हितकर व वृद्धिकर होता है। जैसे आकाश में बिजली चमकी और सूचिभेद्य तम में भी मार्ग दिख गया, इसी प्रकार संयमी के मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-विद्युत् का प्रकाश होता है और उसे गूढ़-से-गूढ़ विषय भी स्पष्ट हो जाते हैं। यह अज्ञान-ग्रन्थियों को सुलझाता हुआ उस ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करता है जो सभी का हितकर व वृद्धिकर होता है। संयमी होने से यह उस ज्ञान का दुरुपयोग नहीं करता, उसे अपने भोगों की वृद्धि का साधन नहीं बनाता। यह तो है ही 'अमहीयु'=पार्थिव भोगों को न चाहनेवाला, इसी से यह 'आङ्गिरस' है और इसी से यह अपने ज्ञान को 'वैश्वानर, बृहत्' बना पाया है।

भावार्थ—सोम से मुझे वह ज्योति प्राप्त हो जो सभी की अभिवृद्धि का हेतु बने।

ऋषिः—**काश्यपोऽसितो देवलः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मधु की धारा

४८५. परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा। मधो अर्षन्ति धारया॥ ९॥

इन्दवः=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम **परि-सु-आनासः**=चारों ओर—सारे शरीर में, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में उत्तम प्राणशक्ति का संचार करनेवाले हैं। ये सोम **बर्हणा गिरा**=वृद्धि की

कारणभूत वेदवाणी के साथ—ज्ञान की वाणी के साथ **मदाय**=उल्लास के लिए होते हैं। सोम से मुझे ज्ञान के साथ शक्ति प्राप्त होती है, मेरा प्रत्येक अङ्ग प्राणशक्ति-सम्पन्न होता है, मेरा जीवन सात्त्विक व उल्लासमय होता है। इस उल्लास को प्राप्त व्यक्ति **मधोः धारया अर्षन्ति**=माधुर्य की धारा के साथ गति करते हैं। ये जिस भी व्यक्ति के सम्पर्क में आते हैं उसे मधुरता का ही अनुभव होता है। इनके व्यवहार में धारणशक्ति होती है—इनके व्यवहार से औरों का पोषण होता है। यहाँ धारा शब्द का प्रयोग इसलिए भी है कि जैसे जल की धारा न रुकते हुए, न चिपटते हुए, अनासक्ति से आगे और आगे बढ़ती जाती है, उसी प्रकार ये व्यक्ति भी अपने कार्यक्रम में आगे और आगे चलते जाते हैं। ये किसी भी वस्तु से बद्ध नहीं होते—ये 'अ-सित' हैं, समझदार होने से 'काश्यप' और दिव्य गुणोंवाले होने से 'देवल' हैं।

भावार्थ—मैं मधु की धारा के साथ बहता चलूँ।

ऋषिः—**काश्यपोऽसितो देवलः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ब्रह्मचर्य (Aspiring to be great)

४८६. परि प्रासिष्यदत् कविः सिन्धोरूर्मावधि श्रितः। कारुं बिभ्रत् पुरुस्पृहम्॥ १०॥

कविः=यह क्रान्तदर्शी सोम **परिप्रासिष्यदत्**=मेरे जीवन में चारों ओर बहता है। मुझे तत्त्व को जाननेवाली दृष्टि प्राप्त होती है और मेरी प्रत्येक इन्द्रिय गहराई तक पहुँचनेवाली होती है। यह सोम **सिन्धोः**=सारे रुधिर-प्रवाह को बहानेवाली, मानस-सरोवर में भावना की **ऊर्मौ**=तरङ्गों से **अधिश्रितः**=सेवित होता है, अर्थात् इस सोम के कारण मेरे मानस में ऊँची-ऊँची भावनाओं की तरंगें उठती हैं। वस्तुतः जिस व्यक्ति का हृदय तरंगित नहीं होता वह कोई महान् कार्य भी नहीं कर पाता। सोम मनुष्य के मस्तिष्क को तीव्र ज्ञान की ज्योतिवाला बनाता है तो उसके हृदय को ऊँचे-ऊँचे संकल्पों से भर देता है। ये ज्ञान और संकल्प मिलकर उसे महान् कार्यों को करने योग्य बनाते हैं।

यह सोम उसी पुरुष का **बिभ्रत्**=धारण करता है जो १. **कारुम्**=शिल्पमयता से वस्तुओं का निर्माता होता है और **पुरुस्पृहम्**=महान् स्पृहावाला होता है। 'कार्यों को कुशलता से करते चलना, और एक ऊँचे लक्ष्यवाला होना' ये दोनों बातें सोम के धारण में सहायक होती हैं। ऊँचे लक्ष्य की ओर चलना ही 'ब्रह्मचर्य' है—बड़े की ओर चलना। **'अति समं क्राम'**—'आगे लाँघ जा' यह वेद का आदेश है। **'बहुलाभिमानः'**=तुझमें गौरव की भावना हो। यह भावना संयम के लिए सहायक हो जाती है। महत्त्वाकांक्षा न होने पर ब्रह्मचर्य व संयम कठिन है।

भावार्थ—मैं कारु व पुरुस्पृह बनकर सोम का धारण करूँ।

अथ षष्ठप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देव-लोग

४८७. उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम्। इन्दुं देवा अयासिषुः॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अमहीयु'=पार्थिव भोगों की कामना न करनेवाला कहता है कि **उप**=समीपता से, **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तम प्रकार से **जातम्**=विकास करनेवाले **इन्दुम्**=सोम को **देवाः**=देवलोग **अयासिषुः**=प्राप्त करते हैं। यदि एक बालक ब्रह्मचर्याश्रम में माता, पिता व आचार्य की समीपता में निवास करता है और गृहस्थ बनने पर विद्वान् अतिथियों के सान्निध्य को प्राप्त करता है, प्रातः-सायं प्रभु की उपासना करता है तो उस व्यक्ति का जीवन संयम-प्रवण रहता है और सोम उसके शरीर में व्याप्त होकर उसके उत्तम विकास का कारण बनता है। यह सोम **गोभिः**=ज्ञानप्रद वेदवाणियों के साथ **अप्-तुरम्**=उसके अन्दर कर्मों को त्वरा से—शीघ्रता से करानेवाला होता है। सोमी पुरुष को आलस्य नहीं व्यापता। न ही काम-क्रोध आदि वासनाएँ उसके मार्ग में विघातक होती हैं। यह **भङ्गम्**=कामादि का मर्दन करनेवाला है—उन वासनाओं को कुचल डालनेवाला है और इस प्रकार **परिष्कृतम्**=यह जीवन को बड़ा परिष्कृत—शुद्ध बनानेवाला है।

एवं, सोम के सुरक्षित होने पर जीवन में निम्न परिणाम उत्पन्न होते हैं—१. उत्तम विकास, २. ज्ञानपूर्वक शीघ्रता से कार्य करने की शक्ति ३. वासनाओं का भङ्ग और ४. जीवन का परिमार्जन। इस प्रकार जीवन को उत्तम बनानेवाले इस सोम को प्राप्त वे ही करते हैं जो 'देवाः'=देव बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—मैं देव बनने का निश्चय करूँ।

ऋषिः—**बृहन्मतिराङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ध्यान के द्वारा

४८८. पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः। शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः॥ २॥

पुनानः=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ यह सोम **विचर्षणिः**=बहुत सूक्ष्म दृष्टिवाला—तत्त्व-ज्ञानी की दृष्टि को उत्पन्न करनेवाला **विश्वा मृधः**=अन्दर घुस आनेवाली, कुचल डालनेवाली (मृध् murder) सभी काम-क्रोधादि वृत्तियों को **अभि अक्रमीत्**=आक्रान्त करता है। सोम की रक्षा से हमारा जीवन पवित्र होता है। यह सोम रोगकृमियों पर आक्रमण करके हमारे शरीरों को स्वस्थ बनाता है और वासनाओं पर आक्रमण करके हमारे मनों को निर्मल बनाता है। बुद्धि की कुण्ठा को दूर कर उसे तीव्र बनाता है। एवं, यह सोम 'वि-प्र' है—हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले सोम को देवलोग **धीतिभिः**=ध्यान के द्वारा **शुम्भन्ति**=अपने शरीर में सुशोभित करते हैं। इस सोम के शरीर में सुरक्षित रखने का सर्वमहान् उपाय प्रभु

का ध्यान ही है। सदा प्रभु का चिन्तन करनेवाला व्यक्ति वासनाओं का शिकार नहीं होता और सोम को सुरक्षित रख पाता है। इसकी रक्षा से यह बड़ी तीव्र बुद्धिवाला बनता है, अतः 'बृहन्मति' कहलाता है और शक्तिशाली बनने से 'आङ्गिरस' होता है।

भावार्थ—मैं सदा प्रभु का स्मरण करनेवाला बनूँ।

ऋषि:—**जमदग्निर्भार्गव:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

सोम का धारण करते हैं

४८९. आविशन् कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नभि श्रियः। इन्दुरिन्द्राय धीयते॥ ३॥

इस मानव-शरीर में सोलह कलाओं का निवास है, अतएव पुरुष को 'षोडशी' कहा जाता है। 'कला: शेरते अस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से शरीर 'कलश' है। **सुत:**=उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **कलशम्**=इस शरीर में **आविशन्**=समन्तात् प्रवेश करता हुआ या व्याप्त होता हुआ **विश्वा:**=सम्पूर्ण **श्रिय:**=श्रियों—उत्तमताओं—शोभाओं को **अभि अर्षन्**=प्राप्त कराता है। सोम स्वयं सोलह कलाओं में केन्द्रीभूत एक महत्त्वपूर्ण कला है। इसके ठीक होने पर अन्य सब कलाएँ ठीक होती हैं—शरीर का अङ्ग-प्रत्यङ्ग शोभामय होता है।

इन्दु:=यह अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शक्तिशाली बनानेवाला सोम **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता के लिए **धीयते**=धारण किया जाता है, अर्थात् इस सोम का धारण इन्द्र ही करता है—वही व्यक्ति जो इन्द्रियों का दास नहीं बन जाता। 'जीभ ने चाहा और हमने खाया' ये वृत्ति हमें सोम धारण के योग्य नहीं बनाती, मैं इन्द्र बनता हूँ—सोम को धारण करता हूँ और परिणामत: 'जमदग्नि:'=ठीक पाचन शक्तिवाला बना रहता हूँ और मेरी सब शक्तियों का ठीक परिपाक भी होता है, अत: 'भार्गव' होता हूँ।

भावार्थ—मैं इन्द्र=जितेन्द्रिय बनकर सोम का धारण करूँ।

ऋषि:—**आङ्गिरस: प्रभूवसु:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

लक्ष्य की ओर

४९०. असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्वो: सुत:। कार्ष्मन् वाजी न्यक्रमीत्॥ ४॥

यथा=जैसे **रथ्य:**=रथ में जोतने योग्य उत्तम घोड़ा होता है, उसी प्रकार इस शरीररूप रथ में यह सोम **असर्जि**=जोता गया है। घोड़ों के उत्तम होने पर यात्रापूर्ति की बड़ी आशा होती है, इसी प्रकार शरीर में सोम के होने पर हमारी जीवन-यात्रा पूर्ण हो जाया करती है। यह सोम **पवित्रे**=हृदय की पवित्रता के निमित्त **सुत:**=उत्पन्न किया गया है। शरीर में सोम के होने पर मन में ईर्ष्या-द्वेष आदि कलुषित भावनाएँ उत्पन्न नहीं होती—मन निर्मल बना रहता है। यह सोम **चम्वो:**=चमुओं के निमित्त **सुत:**=उत्पन्न किया गया है। (चम्वो:-द्यावापृथिव्यौ) निघण्टु में 'चमू' नाम द्यावापृथिवी का है। जिस प्रकार दो सेनाएँ एक-दूसरे का आह्वान करती हुई एक-दूसरे के सामने खड़ी होती हैं (क्रन्दसी), उसी प्रकार ये द्युलोक व पृथिवीलोक हैं। इस पिण्ड में ये मस्तिष्क व शरीररूप में हैं—**पृथिवी शरीरम्, द्यौ: मूर्धा।** सोम शरीर को दृढ़ बनाता है और मस्तिष्क को उग्र—तेजस्वी।

इस प्रकार मन को पवित्र, शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता हुआ यह सोम

वाजी=सतत गतिवाला होता हुआ **कार्ष्मन्**=लक्ष्य-स्थान पर पहुँचता है और **नि**=निश्चय से **अक्रमीत्**=पहुँचता है। 'सोम हमें हमारे जीवन-यात्रा के लक्ष्य पर पहुँचाता है', यह सोम का कितना महान् लाभ है। उस लक्ष्य-स्थान पर पहुँचकर हम 'प्रभु' रूप वसु=सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं, इससे बढ़कर और अधिक उत्कृष्ट सम्पत्ति क्या हो सकती है? प्रभु के सामीप्य में अपने जीवन में शक्ति का अनुभव करता हुआ यह 'आङ्गिरस' होता है।

भावार्थ—सोम के सेवन से 'पवित्र मन, दृढ़ शरीर व उज्ज्वल मस्तिष्क' बनकर मैं जीवन के लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः काण्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

काले आवरण को हटाते हुए

४९१. प्र यद्गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः। घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम्॥ ५॥

यत्=जब **गावः न**=गौवों के समान या वेदवाणियों के समान **भूर्णयः**=भरण करनेवाले ये सोम **प्र अक्रमुः**=गति करते हैं तब **कृष्णां त्वचम्**=काले आवरण—पर्दे को **अपघ्नन्तः**=नष्ट करते हुए गति करते हैं। सोम हमारे जीवन का भरण करनेवाले हैं, उसी प्रकार जैसे गौवों का दूध हमारे शरीर को नीरोग, मन को सात्त्विक तथा मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता है। वेदवाणियाँ भी हमारे जीवन के पोषण में पर्याप्त स्थान रखती हैं। **त्वेषाः**=ये दीप्तिवाली हैं—इनके कारण हमारा जीवन-मार्ग प्रकाशमय बना रहता है। **अयासः**=ये निरन्तर गतिवाले हैं। सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर यह थकता नहीं है। अनथकरूप से निरन्तर आगे बढ़ता हुआ यह मार्ग में आनेवाली रुकावटों को दूर करता जाता है। ये रुकावटें ही ज्ञान के आवरण हैं। काम, क्रोध, लोभादि आवरण काली त्वचा के रूप में हैं—सोम इनका नाश कर देता है। विघ्नों के दूर हो जाने पर, यात्रा को पूर्ण करके यह उस मेध्य=पवित्र प्रभु का 'अतिथि' बनता है, अतः इसका नाम मेध्यातिथि हो जाता है। यह ऐसा एक-एक कदम चलते-चलते कण-कण करके बन पाया है, अतः इसका नाम 'काण्व' है।

भावार्थ—हम सोम का धारण करें। ये हमारा धारण करेंगे। हमारे मार्ग को प्रकाशमय बनाएँगे। हम अनथकरूप से आगे बढ़ेंगे, सब विघ्न-बाधाओं को पार कर जाएँगे।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अदेवयु का नोदन (Giving of a shock to अदेवयु)

४९२. अपघ्नन् पवसे मृधः क्रतुवित् सोम मत्सरः। नुदस्वादेवयुं जनम्॥ ६॥

'निध्रुविः'=निश्चय से स्थिरता की मनोवृत्तिवाला काश्यप=ज्ञानी कहता है—हे **सोम**=सोम! तू **मृधः**=हिंसक कामादि को **अपघ्नन्**=नष्ट करता हुआ **पवसे**=हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है। कामादि वासनाओं को नष्ट करके तू **क्रतुवित्**=उत्तम कर्म-संकल्पों को व यज्ञिय भावनाओं को प्राप्त करता है (विद्-लाभे)। काम-वासना की समाप्ति व यज्ञिय भावना के उदय से यह सोम **मत्सरः**=आनन्द व उल्लास का जनक है।

हे सोम! **अदेवयुम्**=देव की ओर न जानेवाले—प्रभु की कामना न करनेवाले **जनम्**=मनुष्य को **नुदस्व**=एक धक्का लगा—उसे कुछ ऐसी प्रेरणा कर कि वह भोग की वृत्ति को छोड़कर

आत्मा की ओर झुकाववाला बने। आत्मा की ओर झुक जाने पर इसकी चित्त-वृत्ति डाँवाँडोल नहीं रहती—यह 'स्थितिप्रज्ञ'-सा बन जाता है, 'निध्रुवि:' हो जाता है। वस्तुत: स्थितिप्रज्ञ बनना ही ऊँचा ज्ञानी बनना है—'काश्यप' होना है।

भावार्थ—सोम १. मेरी वासना को समाप्त करता है २. यह यज्ञिय भावनाओं को मुझमें जन्म देता है। ३. उल्लास का कारण होता है और ४. मुझे 'देवयु:'—आत्मप्रवण बनाता है।

ऋषि:—**निध्रुवि: काश्यप:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

मानव हितकारी कर्म

४९३. अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचय:। हिन्वानो मानुषीरप:॥ ७॥

हे सोम! **अया**=(अनया) इस **धारया**=धारणशक्ति से **पवस्व**=मेरे अन्दर बह या मेरे जीवन को पवित्र कर **यया**=जिससे तू **सूर्यम्**=मेरी चक्षु को (सूर्य: चक्षुर्भूत्वा) **अरोचय:**=दीप्त करता है। सोम से जीवन का धारण तो होता ही है, साथ ही मनुष्य की ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और उसका दृष्टिकोण ठीक हो जाता है। प्रत्येक वस्तु को ठीक रूप में रखने के कारण वह किसी भी वस्तु में आसक्त नहीं होता और न किसी प्राणी के साथ द्वेष की भावनावाला होता है। दृष्टिकोण को ठीक करने से यह **मानुषी:**=मानव हितकारी **अप:**=कर्मों को **हिन्वान:**= प्रेरित करता है। वस्तुत: दृष्टिकोण की विकृति ही मनुष्य को स्वार्थपूर्ण—केवल अपने प्राण-पोषण के कर्मों में उलझाये रखती है। सोम के संयम का यह परिणाम है कि हमारा दृष्टिकोण ठीक बनता है और हम परार्थ में ही स्वार्थ को सिद्ध होता देखते हैं। हमें परहित के कार्यों में रस आने लगता है।

भावार्थ—सोम १. जीवन का धारण करता है—हमें दीर्घायुष्य बनाता है, २. हमारी चक्षु को दीप्त कर हमारे दृष्टिकोण को ठीक करता है ३. हमारा झुकाव लोकहित के कार्यों में हो जाता है।

ऋषि:—**अमहीयु:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

महान् कर्मों का वरण

४९४. स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे। वव्रिवांसं महीरप:॥ ८॥

हे सोम! **स:**=वह तू **पवस्व**=मेरे जीवन को पवित्र बना **य:**=जो तू **आविथ**=मेरी रक्षा करता है। यह सोम मुझे काम-क्रोधादि वासनाओं का शिकार होने से बचाता है। सोमी पुरुष न क्रोध करता है न ईर्ष्यालु होता है। यह सोम **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **आविथ**=(अव भागदुघे) दिव्य शक्ति के भाग—अंश से पूरित करता है, जिससे यह इन्द्र '**वृत्राय हन्तवे**=ज्ञान के आवरणभूत वृत्र—काम को नष्ट कर सके।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि प्रभु की दिव्य शक्ति का यह अंश प्राप्त किसे होता है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **मही: अप: वव्रिवांसम्**=महान् अथवा महनीय—प्रशंसनीय कर्म करनेवाले इन्द्र को यह दिव्य शक्ति प्राप्त हुआ करती है। जो भी व्यक्ति अपने जीवन में कोई महान् कर्म करने की प्रेरणा लेकर उसे मूर्त्तरूप देने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है, उसी व्यक्ति को प्रभु का यह दिव्यांश प्राप्त हुआ करता है। यह व्यक्ति महान् उद्देश्य से चलने के

कारण पार्थिव भोगों में कभी फँसता नहीं—उनकी ओर इसका झुकाव भी नहीं होता, इसलिए इसे 'अ–मही–यु'=पार्थिव भोगों को न चाहनेवाला कहा गया है। शक्तियों के जीर्ण न होने से यह 'आङ्गिरस' है।

भावार्थ—मैं महान् कर्म को अपना लक्ष्य बनाऊँ, जिससे मुझमें दिव्य शक्ति का अवतरण हो।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

नवतीर्नव का हनन या परमगति की प्राप्ति

४९५. अया वीती परि स्रव यस्त इन्दो मदेष्वा। अवाहन्नवतीर्नव॥ ९॥

हे **इन्दो**=शक्ति देनेवाले सोम! तू **अया**=इस **वीती**=मार्ग से **परिस्रव**=मेरे अङ्ग–प्रत्यङ्ग में प्रवाहित हो **यः**=जिससे **ते**=तेरा स्रवण–प्रवाह–**आ**=सब अङ्गों में चारों ओर **मदेषु**=मदों के निमित्त हो। सोम के शरीर में व्याप्त होने पर जीवन उल्लासमय बनता है। यह सोमी पुरुष **नवतीः**=(नव गतौ) गतिमय–चञ्चल **नव**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों व अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) को **अवाहन्**=दूर कर देता है। चञ्चलता के हनन से चञ्चल इन्द्रियों का हनन हो जाता है। शत्रुता के नाश से शत्रु के मित्र बन जाने पर शत्रु नष्ट हो जाता है। चञ्चलता के नष्ट हो जाने पर ये नवती=अत्यन्त अस्थिर इन्द्रियाँ भी नष्ट हो जाती हैं और उनके स्थान में अवस्थित इन्द्रियों व मन का उदय होता है। **'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहुः परमां गतिम्॥'**=इस उपनिषद्–वाक्य के अनुसार यही परमगति है। अमहीयु पुरुष ही इस परमगति को जानता है। पार्थिव भोगों की कामनाएँ तो मनुष्य को अत्यन्त चञ्चल बनाये रखती हैं।

यहाँ 'नव' से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रियों का भी ग्रहण हो सकता है। इसमें वाक् या जिह्वा ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों में समान होने से वस्तुतः संख्या नौ ही है।

भावार्थ—मेरा जीवन सोम के द्वारा उल्लासमय हो और मैं इन अस्थिर इन्द्रियों को स्थिर करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**उचथ्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सच्चे स्तोता की सम्पत्ति

४९६. परि द्युक्षं सनद्रयिं भरद्वाजं नो अन्धसा। स्वानो अर्ष पवित्र आ॥ १०॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'उचथ्य आङ्गिरस' है=उत्तम स्तोता जो शक्ति–सम्पन्न है। यह प्रभु से अराधना करता है कि **नः**=हममें **अन्धसा**=आध्यायनीय सोम के द्वारा **रयिम्**=सम्पत्ति को **परिसनत्**=अङ्ग–प्रत्यङ्ग में प्राप्त कराइए। कौन–सी सम्पत्ति को? जोकि १. **द्युक्षम्**=ज्ञान में निवास करनेवाली है और २. **भरद्वाजम्**=हममें शक्ति का भरण करनेवाली है।

इस प्रकार स्तोता की सम्पत्ति का चित्रण इन शब्दों में हुआ है कि 'वह प्रकाशमय है, और शक्ति से पूर्ण है।' आदर्श मनुष्य वही है जो पहलवान के शरीर में ऋषि की आत्मा रखता है। प्रकाश और शक्ति का चयन करनेवाला ही सच्चा स्तोता है। सोम इन दोनों ही तत्त्वों का मूल है, इसलिए यह स्तोता सोम को अन्धस्=आध्यायनीय मानता है। यह सोम से

कहता है कि **स्वानः**=उत्तम प्रकार से मुझे प्राणित करनेवाला, सब प्रकार से ध्यान देने योग्य तू **पवित्रे**=पवित्रता के निमित्त **आ अर्ष**=समन्तात् गति कर। यह कहता है कि सोम इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में व्याप्त हो और इसके द्वारा इसका शरीर पवित्र होकर प्राणित हो उठे। यदि मैं अपने जीवन को इस प्रकार बनाता हूँ तभी मैं प्रभु का सच्चा स्तोता होता हूँ।

भावार्थ—मैं ज्ञान, शक्ति, प्राणों के बल व पवित्रता को ही अपनी सम्पत्ति समझूँ।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य के समान

४९७. अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान् मित्रो न दर्शतः। सं सूर्येण दिद्युते॥ १॥

सोम **अचिक्रदत्**=पुकारता है—पुकारकर मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि' से कहता है कि मुझे अपनाकर तो देखो। देखो कि मैं किस प्रकार १. **वृषा**=तुम्हारे लिए सुखों का वर्षक होता हूँ, किस प्रकार तुम्हें शक्ति-सम्पन्न (वृष) बनाता हूँ। २. **हरिः**=मैं तुम्हारे दुःखों का हरण करनेवाला हूँ—सब मलिनताओं को दूर भगानेवाला हूँ। तुम्हारे शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाता हूँ तो मन को निर्मल। ३. **महान्**=मैं तेरे हृदय को (मह पूजायाम्) पूजा की वृत्ति से परिपूर्ण करके **महान्**=उदार बनाता हूँ। ४. **मित्रो न दर्शतः**=मेरे द्वारा तू सूर्य के समान दर्शनीय होता है—तेजस्वी बनता है। सूर्य 'मित्र' है—मृत्यु से बचानेवाला है। यह सोम भी सूर्य की भाँति ही रोगों से बचाकर मृत्यु से बचाता है और हमें सूर्य के समान तेजस्वी बनाता है।

इस सोम के द्वारा यह मेधातिथि **सूर्येण**=(सूर्यः चक्षुः) अपनी चक्षु से—दृष्टिकोण से—**संदिद्युते**=सम्यक् चमकता है। सोमी पुरुष का दृष्टिकोण बड़ा सुन्दर होता है। यह संसार में समझदारी से चलता है। मेधा के साथ चलने से यह 'मेधातिथि' कहलाता है। कण-कण करके इसने मेधा का संचय किया है, अतः यह 'काण्व' है।

भावार्थ—सोम मेरे दृष्टिकोण को सुन्दर बनाए।

ऋषिः—**वारुणिर्भृगुर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—पवमानः **सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दक्षता=कुशलता

४९८. आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे। पान्तमा पुरुस्पृहम्॥ २॥

गत मन्त्र का मेधातिथि 'भृगु'=तपस्या के द्वारा अपना परिपाक करनेवाला बनता है—तपस्या से परिपक्व होकर ही तो यह मेधा का संचय करनेवाला ज्ञानी बनेगा। यह हृदय को पवित्र करके अथवा अपने को व्रतों के बन्धनों में बाँधकर 'वारुणि' होता है और यही मेधातिथि खाने-पीने में भी ठीक दृष्टिकोण होने के कारण 'जमदग्नि' बनता है। यह प्रभु से कहता है कि हम **अद्य ते**=आज ही आपके इस सोम का **आवृणीमहे**=सर्वथा वरण—चुनाव करते हैं। इस सोम को ही सुरक्षित करने का ध्यान करते हैं, जोकि १. **दक्षम्**=मुझे दक्ष=चतुर—कार्यकुशल बनाता है। २. मैं उस सोम का वरण करूँ जोकि **मयोभुवम्**=स्वास्थ्य का सुख उत्पन्न करनेवाला है। सोम के संयम से मैं सब रोगों का अभिभव कर पाता हूँ। रोगों से दूर हो स्वास्थ्य सुख का अनुभव करता हूँ। ३. **वह्निम्**=यह सोम मुझे सब विघ्न-बाधाओं से और

अन्त में संसार से पार ले-जानेवाला है (वह=to carry)। सोम से मनुष्य में शक्ति, उल्लास व ऐसे उत्साह का संचार होता है कि पहाड़ जैसे विघ्नों में भी व्याकुल नहीं होता। ४. **पान्तम्**=यह सोम मेरी रक्षा करता है। सोम मुझे रोगों का शिकार तो होने ही नहीं देता—प्रलोभनों का शिकार होने से भी बचाता है—इससे मेरे मन में ईर्ष्या-द्वेष आदि भी नहीं उत्पन्न होते। ५. **आपुरुस्पृहम्**=यह सोम मेरे अन्दर महान् स्पृहा को जन्म देता है। मेरे अन्दर महान् कार्य कर जाने की भावना उत्पन्न होती है। वस्तुतः यह 'पुरुस्पृहता' प्रलोभनों से बचने में भी सहायक होती है।

भावार्थ—सोम मुझे दक्षता प्राप्त कराता है—मैं संसार में उत्कृष्ट स्पृहावाला बनता हूँ।

ऋषि:—**उचथ्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उत्तेजना से दूर

४९९. अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आ नय। पुनाहीन्द्राय पातवे॥ ३॥

हे **अध्वर्यो**=हिंसा की भावना से दूर रहनेवाले स्तोतः! **सोमम्**=तू सोम को **आनय**=समन्तात् अपने शरीर में प्राप्त करा। वस्तुतः सोम को शरीर में सुरक्षित रखने के लिए अध्वर्यु=हिंसादि की भावनाओं से ऊपर उठना आवश्यक है। किसी भी प्रकार की उत्तेजना 'सोम-रक्षा' के लिए विघातक है। इसी से ब्रह्मचारी के लिए 'शोक-मोह-क्रोध' सभी वर्जित हैं। यह सोम **अद्रिभिः**=पाषाणों के हेतु से **सुतम्**=उत्पन्न किया गया है। **'अश्मा भवतु नस्तनूः'** इस अथर्ववाक्य के अनुसार पाषाण-तुल्य दृढ़ शरीर का ही यहाँ 'अद्रि' शब्द से संकेत है। सोम की रक्षा से शरीर वज्रतुल्य बनता ही है। इस सोम को **पवित्रे**=पवित्रता के निमित्त हमें शरीर में प्राप्त करना चाहिए। यह स्थूलशरीर में से रोगरूप मलों को दूर करता है—मन के द्वेषादि मलों को हरता है तथा बुद्धि की कुण्ठा को भगाता है।

हे सोम! तू **पुनाहि**=पवित्र कर और **इन्द्राय**=इस जीवात्मा की **पातवे**=रक्षा के लिए हो। सोम के संयम से अपने को पवित्र बनाकर—प्रलोभनों से अपने को सुरक्षित करके यह सचमुच प्रभु का उत्तम स्तोता 'उचथ्य' बनता है। भोगासक्ति के अभाव में यह 'आङ्गिरस' होता है। वस्तुतः आङ्गिरस=शक्तिशाली पुरुष ही उत्तेजना से दूर व 'अध्वर्यु' बनता है और सोम की और अधिक रक्षा कर पाता है।

भावार्थ—मैं सब प्रकार की उत्तेजनाओं से दूर रहकर सोमपान करनेवाला बनूँ।

ऋषि:—**अवत्सारः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

तैरते हुए

५००. तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः। तरत् स मन्दी धावति॥ ४॥

जो व्यक्ति सोम की, जो सारे भोजन का सार है, रक्षा करता है वह 'अवत्सार' कहलाता है। यह ज्ञानी=काश्यप तो है ही। **सः**=वह संसार में आनेवाली विघ्न-बाधाओं को **तरत्**=तैरता हुआ **मन्दी**=उल्लासवाला **धावति**=दौड़ता चलता है। 'धाव्' धातु के दोनों अर्थ हैं गति और शुद्धि। यह मार्ग में आनेवाले विघ्नों का शोधन—सफ़ाया करता है और आगे बढ़ता है। यह **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **अन्धसः**=सर्वथा ध्यान देने योग्य सोम की **धारा**=(धारया) धारणशक्ति

से आगे और आगे बढ़ता चलता है। ज्ञानी होने से रमणीय विषयों का भोग करता हुआ भी उनमें उलझता नहीं है। **सः**=वह तो **तरत्**=तेजी से तैरता हुआ **मन्दी**=सदा उत्साह में स्थित **धावति**=आगे बढ़ता ही चलता है।

भावार्थ—मैं १. तैरते हुए, २. उत्साह में कमी न आने देते हुए, ३. आगे और आगे बढ़ता चलूँ।

ऋषिः—निध्रुविः **काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उल्लास व शक्तिमयी (सम्पत्ति)

५०१. आ पवस्व सहस्त्रिणं रयिं सोम सुवीर्यम्। अस्मे श्रवांसि धारय॥ ५॥

हे **सोम**=सोम! **रयिं आपवस्व**=मुझे उस सम्पत्ति को सर्वथा प्राप्त करा जो **सहस्त्रिणम्**=मेरे जीवन को सदा उल्लासवाला और **सुवीर्यम्**=मुझे उत्तम शक्तिवाला बनाती है। सम्पत्ति और समृद्धि शब्दों में यह अन्तर है कि समृद्धि जहाँ बाह्य वस्तु है वहाँ सम्पत्ति आन्तर वस्तु है। यह सम्पत्ति 'तेज-वीर्य-बल-ओज-मन्यु-सहस्' आदि शब्दों से सूचित होती है और क्रमशः अन्नमयादि कोशों को अलंकृत करती है। सोम वस्तुतः इस सम्पूर्ण सम्पत्ति का मूल है। यहाँ वीर्य व सहस् दो का ही संकेत प्रतीक रूप में है। वस्तुतः सोम से तो सारी सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं।

शक्ति और सतत प्रसाद को प्राप्त कराके हे सोम! तू **अस्मे**=हममें **श्रवांसि धारय**=ज्ञान व यश को धारण कर। मेरे जीवन से ऐसे ही कार्य हों जो कीर्तिकर हों। वस्तुतः संयमी पुरुष का जीवन-क्रम इस प्रकार सुन्दरता से चलता है कि शत्रु भी उसका यशोगान करते हैं। इसके जीवन में एक ऐसी स्थिरता होती है कि सभी उससे प्रभावित होते हैं। यह 'नि-ध्रुवि'=ध्रुव बुद्धिवाला—स्थितप्रज्ञ होता है। सदा ज्ञानमार्ग से विचरण करनेवाला 'काश्यप' होता है।

भावार्थ—सोम हमें सदा उल्लासमय, शक्तिशाली, ज्ञानी व उत्तम कीर्तिवाला बनाता है।

ऋषिः—**काश्यपोऽसितो देवलः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पुनर्यौवन (नव-यौवन)

५०२. अनु प्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः। रुचे जनन्त सूर्यम्॥ ६॥

सोम के संयम से **रुचे**=कान्ति व शोभा के लिए संयमी पुरुष अपने अन्दर **सूर्यम्**=(सूर्यः=चक्षुः) एक विशिष्ट दृष्टिकोण को **जनन्त**=उत्पन्न करते हैं। इस दृष्टिकोण का ही परिणाम होता है कि वे 'असित्'=विषयों से अबद्ध रहते हैं—'काश्यप'—अपने ज्ञान को उत्तरोत्तर दीप्त करते हैं—'देवल'=दिव्य गुणों को अपने अन्दर ग्रहण करते हैं। इस प्रकार का जीवन बनाने से **प्रत्नासः आयवः**=पुराण व वृद्ध होते हुए भी ये मनुष्य **नवीयः पदम्**=अत्यन्त नवीन पद—युवावस्था में **अनु अक्रमुः**=शनैः-शनैः, क्रमशः प्रवेश करते हैं। इनकी सब शक्तियाँ ठीक होकर ये फिर से नौजवान हो जाते हैं। सोम के संयम से मनुष्य धीमे-धीमे अधिकाधिक स्वस्थ होता चलता है और वस्तुतः यौवन को पुनः प्राप्त कर लेता है। आचार्य ने सोम को वह 'मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र' माना है जो सब रोगों की औषध है। देवों की भाँति मनुष्य कभी जीर्ण नहीं होता—अधिकाधिक युवा होता चलता है। वही स्तुत्यतम जीवन है (नु-स्तुतौ,

नवीयः स्तुत्यतम)।

भावार्थ—सोम का संयम 'पुनर्युवा' बनानेवाला है।

ऋषिः—**वारुणिर्भृगुर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ऊर्ध्व-गति

५०३. अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत्। सीदन् योनौ वनेष्वा॥ ७॥

हे **सोम**=सोम! तू **द्युमत्तमः**=मेरे जीवन को सर्वाधिक प्रकाशमय बनानेवाला है। सोम की ऊर्ध्वगति होकर यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और ज्ञानाग्नि दीप्त होकर मेरे जीवन को प्रकाशमय बनाती है। **रोरुवत्**=निरन्तर प्रभु के नामों का जप करता हुआ तू **द्रोणानि अभि**= ऊर्ध्वगति का लक्ष्य करके **अर्ष**=प्रवाहित हो। 'द्रुम' (वृक्ष) शब्द में द्रु धातु है जो गतिवाचक है। वृक्ष में जैसे मूल में डाला हुआ जल ऊपर शिखर तक पहुँचकर पत्ते-पत्ते को हरा-भरा करनेवाला होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वगतिवाला सोम मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि को ही नहीं सभी अंशों को सबल बनाता है।

हे सोम! तू **योनौ**=अपने उत्पत्ति-स्थान इस शरीर में ही **सीदन्**=स्थित होता हुआ **वनेषु**=उत्तम सम्भजनीय वस्तुओं के निमित्त **आ**=समन्तात् शरीर में व्याप्त हो। यदि सोम शरीर में ही, जहाँ वह उत्पन्न हुआ है, रहे, तो यह अपने धारक को सब सेव्य वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला होता है। वस्तुतः शरीर में जहाँ सोम उत्पन्न हुआ है, यही इसका धारण करने का सर्वोत्तम स्थान है। इसके धारण से उत्तमोत्तम गुणों की वृद्धि होती है।

इसका धारण तप की अपेक्षा करता है—आरामपसन्दगी इसके लिए विघातक है, इसका धारण करनेवाला 'भृगु'—तपस्वी है, अपना परिपाक करनेवाला है। उसका जीवन श्रेष्ठ होने से यह 'वारुणि' है। पूर्ण स्वस्थ होने से यह 'जमदग्नि' है—इसकी जठराग्नि दीप्त है।

भावार्थ—मैं प्रभु के नामों का जप करूँ और 'ऊर्ध्वरेतस्' बनूँ।

ऋषिः—**कश्यपो मारीचः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वर्षा-शक्ति-धर्म

५०४. वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः। वृषा धर्माणि दध्रिषे॥ ८॥

हे **सोम**=सोम! तू **वृषा**=हमारी सब कामनाओं का पूरण (अभिवर्षण) करनेवाला होता हुआ **द्युमान् असि**=ज्योतिर्मय है—हमारे जीवनों को तू प्रकाशमय बनाता है। हे **देव**=हमारे जीवनों को ज्योतिर्मय बनानेवाले सोम! तू **वृषा**=मुझे शक्तिशाली बनाता हुआ **वृषव्रतः**=शक्तिशाली कर्मोंवाला बनाता है। **वृषा**=मेरी प्रवृत्ति को धर्मप्रवण करता हुआ तू **धर्माणि दध्रिषे**=मेरे जीवन में धर्मों का धारण करनेवाला होता है।

सोम के संयम का पहला परिणाम मेरे जीवन में यह है कि मैं उत्तम इच्छाओंवाला होता हूँ—मेरी वे इच्छाएँ सामान्यतः पूर्ण भी हो जाती हैं। मैं अपने जीवन में 'घृत-लवण-तण्डुल व ईंधन' की चिन्ता से ही व्याकुल नहीं रहता। परिणामतः यह चिन्ता मेरी बुद्धि को अव्यवस्थित करनेवाली नहीं होती। दूसरा परिणाम यह होता है कि मैं शक्ति-सम्पन्न होता हूँ—मेरे सब कार्य शक्ति के चिह्नों को प्रकट करते हैं। तीसरा परिणाम यह होता है कि मेरी

प्रवृत्ति धर्मकर्मों के साधन का कारण बनती है।

सोम मुझे द्युमान् बनाता है, अतः मैं 'कश्यप' होता हूँ। वासनाओं की अशुभ भावनाओं को समाप्त करनेवाला होने से 'मारीच' बनता हूँ।

भावार्थ—सोम मेरी अभिलाषाओं को पूर्ण करे, मुझे शक्तिशाली बनाए तथा मेरी प्रवृत्ति को धर्म-प्रवण करे।

ऋषिः—**कश्यपो मारीचः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-प्रेरणा-श्रवण

५०५. इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः। इन्दो रुचाभि गा इहि॥ ९॥

यह सोम मेरे जीवन में **इषे**=प्रभु की प्रेरणा के लिए **पवस्व**=पवित्रता करे। सोम के धारण से वासनाओं का नाश होकर मेरा जीवन इस प्रकार पवित्र हो कि मुझे हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़े। यह सोम **मनीषिभिः**=मन को बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित करनेवाले समझदार लोगों से **धारया**=धारण के उद्देश्य से **मृज्यमानः**=शुद्ध किया जाता है। मनीषी बनना—मन को बुद्धिपूर्ण रखना—सोम-संयम का सर्वोत्तम साधन है। धारित होकर यह हमारा धारण करता है। **धारया**=धारण के हेतु से ही तो विद्वानों ने इसका संयम किया।

इन्दो=मुझे शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **रुचा**=दीप्त के हेतु से **गाः अभि इहि**=वेदवाणी की ओर चल। वेदवाणी 'ब्रह्म' है--इसकी ओर चलना 'ब्रह्मचर्य' है। वेदवाणी का अध्ययन मुझे सोम के संयम में भी सहायक होता है। इसी संयम से मैं प्रभु-प्रेरणा को भी सुननेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—यह सोम मुझे पवित्र कर प्रभु-प्रेरणा को सुनने के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**काश्यपोऽसितो देवलः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

स्व-स्थ-ता

५०६. मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः। अव्या वारेभिरस्मयुः॥ १०॥

हे **सोम**=सोम! तू **मन्द्रया धारया**=उल्लासमयी धारणशक्ति के साथ **वृषा**=मेरे जीवन को शक्तिशाली बनानेवाला है। **देवयुः**=मेरे साथ दिव्य गुणों को जोड़नेवाला है। तू **पवस्व**=मेरे जीवन को पवित्र कर और मुझमें प्रवाहित हो। तू **अव्या**=रक्षण के द्वारा और **वारेभिः**=बुराइयों व रोगों के निवारण के द्वारा **अस्मयुः**=हमें हमारे साथ जोड़नेवाला है। जब मैं अपने से जुड़ा होता हूँ तब स्व-स्थ होता हूँ। यह सोम मेरे स्वास्थ्य का कारण है—शारीरिक स्वास्थ्य का भी और मानस स्वास्थ्य का भी। वस्तुतः इस स्वास्थ्य के द्वारा ही यह मेरे उल्लास का कारण बनता है। रोग-कृमियों का नाशक होने से यह मेरा धारण करता है। शक्ति का स्रोत तो यह है ही—स्रोत क्या शक्ति ही है (वृषा)। शक्ति-सम्पन्न बनाकर ही यह मुझमें दिव्यता भरता है। यह सोम रोगों से भी मेरी रक्षा करता है और ईर्ष्या-द्वेष की वासनाओं से भी। इस सारी प्रक्रिया के द्वारा यह हमें हमारे साथ जोड़ता है—हमें 'स्व-स्थ' बनाता है। यह सोमी पुरुष 'असित' विषयों से अबद्ध, 'कश्यप'=ज्ञानी और देवल=दिव्य गुणों का उपादान करनेवाला होता है। सोम 'देवयुः' तो है ही।

भावार्थ—सोम का संयम मुझे स्वस्थ बनाये।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम का महान् सुकर्म

३ १ २ ३ १ २ ३२उ ३क २र ३ १ २र
५०७. अया सोम सुकृत्यया महान्त्सन्नभ्यवर्धथाः। मन्दान इद् वृषायसे॥ ११॥

गत मन्त्र का 'काश्यप' यहाँ 'कवि' है—यह क्रान्तदर्शी है, भार्गव है—तपस्या से अपना परिपाक करनेवाला है। यह सोम से कहता है कि हे **सोम**=सोम! तू **अया**=इस **सुकृत्यया**=उत्तम कर्म के द्वारा—मेरे जीवन को उल्लासमय, शक्तिशाली व दिव्य गुणयुक्त बनाने के द्वारा **महान् सन्**=(मह पूजायाम्) मुझे पूजाप्रवण बनाता हुआ **अभि अवर्धथाः**=सब दृष्टिकोणों से बढ़ाता है। संयमी पुरुष का जीवन प्रभुपूजा की ओर झुकाववाला होता है और उसका जीवन शरीर, मन व मस्तिष्क सभी दृष्टिकोणों से उन्नतिवाला होता है।

हे सोम! **मन्दानः इत्**=निश्चय से मुझे उल्लासमय बनाता हुआ **वृषायसे**=मेरे जीवन में शक्तिशाली के रूप में आचरण करता है। मेरा जीवन निर्बल नहीं होता। सब प्रकार की निर्बलता से दूर होकर आज मैं प्रभु को पाने के योग्य बना हूँ।

भावार्थ—सोम के द्वारा मेरी सर्वाङ्गीण उन्नति होती है।

ऋषिः—**जमदग्निर्भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सदा-चेतन

३ १ २र ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र ३ २
५०८. अयं विचर्षणिर्हितः पवमानः स चेतति। हिन्वान आप्यं बृहत्॥ १२॥

अयम्=यह सोम **विचर्षणिः**=मुझे विशेषरूप से द्रष्टा बनाता है। मैं क्रान्तदर्शी बनकर प्रत्येक वस्तु को उसके वास्तविक रूप में देखता हूँ। इसी का परिणाम है कि उस-उस वस्तु की आपात-रमणीयता मुझे उलझा नहीं पाती। इस प्रकार यह सोम **हितः**=मेरे लिए हितकर होता है। **पवमानः**=यह मुझे पवित्र करनेवाला है और **सः**=वह **चेतति**=चेतनामय है। इस सोम के संयम से मैं मोहमयी प्रमाद-मदिरा पीकर बेसुध नहीं हो जाता, अपितु मेरी चेतना स्थिर रहती है।

इस प्रकार यह सोम मुझे सदा **बृहत् आप्यम्**=सर्वमहान्, प्राप्त करने योग्य प्रभु की ओर **हिन्वानः**=प्रेरित करता है। प्राप्त करने योग्य वस्तु 'आप्यम्' है, सर्वोत्तम आप्य प्रभु हैं। उस सर्वोत्तम 'आप्य' की प्राप्ति के लिए मुझे यह स्मृति सदा बनी ही रहनी चाहिए कि **कोऽहं, किमिहागतः**=मैं कौन हूँ, यहाँ क्यों आया हूँ? सोम इस चेतना को स्थायी रखता है और मुझे प्रभु-दर्शन कराता है। प्रभु-दर्शन के लिए दो बातें आवश्यक हैं—१. शक्ति २. चेतना। गत मन्त्र में सोम के लिए कहा था कि **वृषायसे**=यह मुझे शक्तिशाली बनाता है और प्रस्तुत मन्त्र में कहा है कि **सः चेतति**=यह मेरी चेतना को स्थिर रखता है। शक्ति का तत्त्व 'जमदग्नि' बनने में है, मेरी जाठराग्नि सदा तीव्र बनी रहे—मैं 'जमत्+अग्नि' बना रहूँ। जाठराग्नि ठीक रहने से ही सब धातुओं का ठीक उत्पादन होकर मेरी शक्ति स्थिर रहती है। चेतना के लिए 'भार्गव'—तपस्वी बनना आवश्यक है।

भावार्थ–'जमदग्नि भार्गव' बनकर तथा 'शक्ति व चेतना' का सम्पादन करके मैं प्रभु-प्राप्ति का अधिकारी बनूँ।

ऋषि:–**अयास्य आङ्गिरस:**॥ देवता–**पवमान: सोम:**॥ छन्द:–**गायत्री**॥ स्वर:–**षड्ज:**॥

अनथक

५०९. प्र न इन्दो महे तु न ऊर्मिं न बिभ्रदर्षसि। अभि देवाँ अयास्य:॥ १३॥

हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **न:**=हमारे **महे तुने**=महनीय–प्रशंसनीय ज्ञानरूप धन के लिए **ऊर्मिं न बिभ्रत्**=हृदय में तरङ्ग-सी धारण करता हुआ **प्र अर्षसि**=खूब गतिशील होता है। सोम के धारण से हृदय में गम्भीर ज्ञान के लिए उसी प्रकार उत्साह होता है जैसाकि समुद्र में तरङ्गे उठती हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के अतिरिक्त यह सोम हमें निरन्तर **देवान् अभि**=दिव्य गुणों की ओर ले-चलता है। इससे हमारे अन्दर दैवी सम्पत्ति की वृद्धि होती है।

यह **अयास्य:**=अनथक होता है। संयमी पुरुष कभी थकता नहीं। उसके शरीर में शक्ति होती है जो उसे निरन्तर कार्य करने में समर्थ बनाती है।

सोम का मस्तिष्क पर परिणाम गम्भीर ज्ञान के लिए सामर्थ्य है, हृदय में दैवी गुणों का विकास है तथा शरीर को यह अनथक काम करने के योग्य बनाता है। मन्त्र का ऋषि ही 'अयास्य आङ्गिरस' है–न थकनेवाला शक्तिशाली पुरुष।

भावार्थ–सोम मुझे अयास्य बनाये।

ऋषि:–**आङ्गिरसोऽ महीयु:**॥ देवता–**पवमान: सोम:**॥ छन्द:–**गायत्री**॥ स्वर:–**षड्ज:**॥

अन्-ऋणता (Repayment of the debt)

५१०. अपघ्नन् पवते मृधोऽप सोमो अराव्ण:। गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम्॥ १४॥

यह **सोम:**=सोम हमारे जीवनों में **पवते**=प्रवाहित होता है। क्या करता हुआ? १. **मृध: अपघ्नन्**=(murderer=मृधर्) हिंसकों को दूर नष्ट करता हुआ। सोम के संयम से मानव-जीवन से 'काम-क्रोध-लोभ' दूर हो जाते हैं। ये मनुष्य के सर्वमहान् शत्रु हैं। ये उसका हिंसन करनेवाले हैं। उसकी आत्मा का हनन करनेवाले हैं। यह सोम **अराव्ण:**=(दा दाने) न देने की वृत्तियों को **अप**=दूर करता है। सोम का संयम मनुष्य को उदार बनाता है–इसके जीवन में कृपणता को स्थान नहीं मिलता।

इस प्रकार कामादि का संहार तथा आदानवृत्ति के परिहार से यह जीव **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **निष्कृतम्**=आनृण्य को **गच्छन्**=जाता है। प्रभु के अनन्त उपकार हैं, उन उपकारों से अनृण होने का प्रकार एक ही है कि हम लोभादि से बचें और प्रभु से दिये धन को लोकहित में विनियुक्त करें–प्रभु ने वस्तुत: धन दिया ही इसीलिए है–उसका प्रभु की इच्छानुसार विनियोग ही प्रभु की उपासना है–यही प्रभु के उपकारों का प्रत्युपकार है। प्रभु पूर्ण हैं; मैं भी प्रभु के प्राणियों की यत्किञ्चित् पूर्णता के लिए प्रभु से दी हुई शक्तियों का प्रयोग करूँ। स्वयं भोगों में न फँस जाऊँ–'अ-मही-यु'=पार्थिव भोगों के प्रति अनासक्त बनूँ। इससे मैं 'आङ्गिरस'=शक्तिशाली भी तो बन पाऊँगा।

भावार्थ—हम प्राणियों की सेवा करके प्रभु के ऋण से अनृण होने का प्रयत्न करें।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः॥** देवता—**पवमानः सोमः॥** छन्दः—**बृहती॥** स्वरः—**मध्यमः॥**

सप्त-ऋषि

५११. पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि।
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः ॥ १ ॥

सोम=हे सोम! तू **धारया**=धारण के हेतु से **पुनानः**=मेरे शरीर को पवित्र कर डालता है। तू इस शरीर में मलों का संचय नहीं होने देता, न रोग होते हैं, न शक्ति क्षीण होती है। उत्तरोत्तर शक्ति का संचय होकर मैं 'भरद्वाज'—अपने में शक्ति को भरनेवाला बनता हूँ। शक्ति के साथ मस्तिष्क की पवित्रता से मैं ज्ञान–सम्पन्न 'बार्हस्पत्य' बनता हूँ। मेरे स्वस्थ शरीर में मन भी स्वस्थ होता है। मेरा दृष्टिकोण ठीक होता है, मैं संसार के तत्त्व को देखता हूँ 'कश्यप' बनता हूँ। आलस्य इत्यादि की भावनाओं को मारनेवाला 'मारीच' होता हूँ। ऐसा व्यक्ति सारे संसार को क्रियाशील देखता हुआ, क्रिया को ही संसार का मूलतत्त्व समझता हुआ, **अपो वसानः अर्षसि**=कर्मों को धारण करता हुआ गति करता है। **'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'**=ब्रह्मज्ञानियों में क्रियावान् ही श्रेष्ठ है।

हे सोम! तू **आ**=सब ओर—सब इन्द्रियों में **रत्नधा**=रमणीयता को धारण करनेवाला है। मेरी एक–एक इन्द्रिय को तू रमणीय बनाता है। रमणीय इन्द्रियोंवाला मैं 'गोतम'=प्रशस्तेन्द्रिय कहलाता हूँ। इन्द्रियों के सब दोषों का त्याग करनेवाला मैं त्यागियों में गिनने योग्य 'राहूगण' (रह त्यागे) बनता हूँ।

हे सोम! तू **ऋतस्य**=ऋत के **योनिम्**=उत्पत्ति स्थान परमात्मा में **सीदसि**=स्थित होता है। 'ऋत और सत्य प्रभु के दीप्त तप से ही उत्पन्न होते हैं। यह सोम का संयम करनेवाला भौमः=इस भूमि का व्यक्ति होता हुआ भी 'अत्रि'=काम–क्रोध–लोभ–तीनों से ऊपर उठकर तीनों कष्टों से अतीत प्रभु के अंक का आश्रय करता है।

उत्सः=यह सोमी पुरुष तो एक प्रेम का स्रोत—झरना ही है।

देवः=तू दीप्त है, तू ज्ञान से सभी को द्योतित करनेवाला है (देवो दीपनाद् वा द्योतनाद्वा)। दीप्त ज्ञानाग्निवाला यह 'जमदग्नि' है—इसकी ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है। यह भार्गव—ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाला होता है।

हिरण्ययः=इसका जीवन स्वर्णिम (Golden) हो जाता है। यह किसी भी अति (Extreme) में न पड़कर सदा मध्यमार्ग से चलता है—यही तो वास्तविक संयम है। इस संयम का पुतला यह 'वसिष्ठ' है—सर्वोत्तम वशी है।

इस प्रकार सोम मेरे सभी ऋषियों को ठीक रखनेवाला है।

भावार्थ—सोम के संयम से मैं सप्तर्षियों का आराधन करूँ।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः॥** देवता—**पवमानः सोमः॥** छन्दः—**बृहती॥** स्वरः—**मध्यमः॥**

सोम को व्याप्त करना

५१२. परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः।
दधन्वाँ यो नर्यो अप्स्वा३न्तरा सुषाव सोममद्रिभिः॥ २॥

परीतः=(व्याप्त) जिस प्रकार सोम सारे शरीर में व्याप्त रहे इस प्रकार इस **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमः**=सोम को **सिञ्चत्**=सिक्त करो। उस सोम को **यः**=जो **उत्तमं हविः**=सर्वोत्तम आदान करने योग्य वस्तु है। (हु=आदान अथवा अदन)। यह सोम सचमुच सर्वोत्तम अदन=भक्षण के योग्य है (ब्रह्म=महत्—उत्तम, चर=भक्षण)। यही ब्रह्मचर्य है। यह धारण किया हुआ **दधन्वान्**=हमारा धारण करनेवाला है। **यः**=जो सोम **नर्यः**=नरों के लिए हितकर है। सोम से बढ़कर हितकर अन्य वस्तु तो है ही नहीं।

सोम धारण के लिए **'अप्सु आ अन्तरा'**=हमें सदा कर्मों में स्थित रहने का प्रयत्न करना है। 'कर्मों में लगे रहना' मनुष्य को वासना से बचाता है और वासना से ऊपर उठकर ही वह सोम की रक्षा कर पाता है। 'कर्मों में लगे रहना' साधन है, 'सोम-रक्षा' साध्य। प्रभु ने **सोमम्**=सोम को **सुषाव**=उत्पन्न किया है। क्यों? **अद्रिभिः**=न विदारण के योग्य—स्थिर—शरीर, मन व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से। सोमरक्षा के द्वारा शरीर स्थिर—दृढ़ बनता है, मन स्थिर व वासनाओं से अनाक्रान्त बनता है तथा मस्तिष्क बड़ा परिशुद्ध व स्थिर विचारोंवाला होता है। एवं, 'सोमरक्षा' साधन है और 'शरीर, मन व मस्तिष्क की स्थिरता' साध्य।

भावार्थ—सोम के धारण के लिए मैं सदा कर्ममय रहूँ। यह सोम मेरे शरीर, मन व मस्तिष्क को स्थिर बनाएगा। सोम के धारण के लिए उसे सम्पूर्ण रुधिर में व्याप्त रखना आवश्यक है।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः॥** देवता—**पवमानः सोमः॥** छन्दः—**बृहती॥** स्वरः—**मध्यमः॥**

अदृश्य सोम

५१३. आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया।
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दध्रिषे॥ ३॥

हे सोम! तू **अद्रिभिः**=अविदारणीय—स्थिर शरीर, मन व मस्तिष्क के द्वारा **आ सु आनः**=सारे शरीर को उत्तमता से प्रीणत करनेवाला है। जब यह सोम सारे रुधिर में व्याप्त हो जाता है तब **तिरः**=अदृश्य हो जाता है। सारे शरीर में व्याप्त हुआ-हुआ सोम चाहे दिखता नहीं, परन्तु यह **वाराणि**=रोग का निवारण करता है। सोम के शरीर में स्थिर होने पर रोग आ ही नहीं पाते, आ भी जाएँ तो शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। **अव्यया**=इस सोम को प्रभु ने हमारे रक्षण के उद्देश्य से शरीर में रक्खा है। यह हमारे मन को वासनाओं से बचाता है। वार होने से शरीर को नीरोग रखता है, और **'अ वि अय'** होने से मन को निर्व्यसन'।

जनः न=जैसे एक मनुष्य **पुरि**=नगरी में प्रवेश करता है उसी प्रकार यह सोम **चम्वोः विशत्**=द्यावा-पृथिवी में, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर में प्रवेश करता है। शरीर में प्रवेश कर यह उसे दृढ़ बनाता है, मस्तिष्क में प्रवेश करके उसे तेजस्वी बनाता है। **हरिः**=शरीर व मन के मलों का हरण करके यह उन्हें नीरोग व निर्मल करता है। **सदा उ**=सदा निश्चय से **वनेषु**=वननीय-सेवनीय उत्तम वस्तुओं का **दधिषे**=धारण करता है।

सोम मलों को दूर करता है-सेवनीय वस्तुओं को प्राप्त कराता है। 'घृत' का ऋणात्मक कार्य मलों का क्षरण है और धनात्मक कार्य 'दीप्ति प्राप्त कराना' (घृ क्षरणदीप्त्योः)। इसी प्रकार सोम का ऋणात्मक कार्य 'मलों का हरण' और धनात्मक कार्य 'वननीय वस्तुओं का प्रापण है'। बुराई को दूर करके अच्छाई को यह प्राप्त कराता है।

भावार्थ-सोम मेरे शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाए।

ऋषिः-**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः**।। देवता-**पवमानः सोमः**।। छन्दः-**बृहती**।। स्वरः-**मध्यमः**।।

आनन्दमयकोश की ओर

५१४. प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा।
अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम्॥ ४॥

हे **सोम**=सोम! तू **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए होता है (वीतिं=प्राप्ति)। **प्र**=अपने इस कार्य को तू प्रकर्ष के साथ करता है। तेरे संयम का परिणाम होता है कि संयमी पुरुष दिव्य गुणों से इस प्रकार **पिप्ये**=आप्यायित हो जाता है **न**=जैसे **सिन्धुः**=समुद्र **अर्णसा**=जल से। जैसे समुद्र जल से भरता चलता है, उसी प्रकार संयमी पुरुष दिव्य गुणों से पूर्ण होता जाता है। दिव्यता को भरता हुआ यह सोम धीरे-धीरे मनुष्य को देव ही बना डालता है। जीव महादेव का ही छोटा रूप बन जाता है-अंश (miniature) हो जाता है। इसी कारण सोम को अंशु=अंश बनानेवाला कहा गया है। **अंशोः**=इस सोम की **पयसा**=(पय गतौ) शरीर में सर्वत्र गति से **मदिरः न**=मनुष्य मदिर-सा (उन्मत्त-सा) हो जाता है। उसके जीवन में ऐसा उल्लास होता है कि सामान्य मनुष्य उसे स्वस्थ नहीं समझता। यह संयमी **जागृविः**=जागरित होता है। दुनिया सोई है-पर यह जागता है। 'मैं कौन हूँ?, यहाँ क्यों आया हूँ? मुझे कहाँ जाना है?' इत्यादि प्रश्न सामान्य मनुष्य के अन्दर उत्पन्न ही नहीं होते। इस संयमी के सामने ये प्रश्न सदा रहते हैं। यह उनको कभी भूलता नहीं, परिणामतः अपने को भी नहीं भूलता। यह योगी तो निरन्तर **मधुश्चुतं कोशम्**=मधु को टपकानेवाले-आनन्दमयकोश की **अच्छ**=ओर चला आ रहा है। सामान्य लोगों की बहिर्मुख यात्रा है, इसकी यात्रा अन्तर्मुख है, लोग बाहर जा रहे हैं-यह अन्दर जा रहा है। लोग विषयों की ओर तो ये विषयों से दूर आत्मा की ओर, क्योंकि विषयों में अशान्ति है, आत्मा में शान्ति।

भावार्थ-सोम के संयम से मुझमें दिव्य गुण उत्पन्न हों, मैं मदिर व जागृवि बनूँ, आनन्दमयकोश की ओर चलूँ।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

नीरोगता व उल्लास

५१५. सोम उ ष्वाणः सोतृभिरधि ष्णुभिरवीनाम्।
अश्वयेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति धारया॥ ५॥

सोमः=सोम **उ**=निश्चय से **सु आनः**=उत्तम प्राणशक्ति का संचार करनेवाला है। **सोतृभिः**= सोम के उत्पन्न करनेवालों से अथवा उत्पादक कार्य करनेवालों से और **अवीनां स्नुभिः**=रक्षणों के प्रवाहों से यह सोम **अधियाति**=ऊपर की ओर जाता है। वस्तुतः सोम की रक्षा का उपाय उत्पादक कार्यों में लगे रहना ही है। जो व्यक्ति अपने को आसुर भावनाओं से बचाते हैं, उन लोगों के अन्दर इस सोम का प्रवाह ऊर्ध्वगतिवाला होता है। एवं, सोम-रक्षा के उपाय दो हैं १. उत्पादक कार्यों में लगे रहना और २. वासनाओं से अपनी रक्षा करना।

यह सुरक्षित सोम **अश्वया**=सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त (अश् व्याप्तौ) **इव**=सी **हरिता**=सब रोगों व मलों का हरण करनेवाली **धारया**=धारणशक्ति से **याति**=शरीर में गति करता है। जब यह सोम सुरक्षित रहता है तब सारे रुधिर में व्याप्त होकर सब रोगों को दूर करनेवाला बनता है। जब यह सोम **मन्द्रया धारया**=उल्लासमयी धारणशक्ति से **याति**=संयमी को प्राप्त होता है तब मन भी स्वस्थ व सानन्द चलता है। 'शरीर में नीरोगता व मन में उल्लास' ये सोम के परिणाम हैं।

भावार्थ—सोम मेरे जीवन में नीरोगता व उल्लास भर दे, उसके लिए मैं उत्पादक कार्यों में लगा रहूँ और यथासम्भव वासनाओं से अपने को बचाऊँ।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

चक्करों से दूर

५१६. तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे।
पुरूणि बभ्रो नि चरन्ति मामव परिधीँरति ताँ इहि॥ ६॥

हे **सोम**=सोम! **अहम्**=मैं **तव**=तेरी **सख्ये**=मित्रता के निमित्त **रारण**=प्रभु के नामों का जप करता हूँ। वस्तुतः सोम की मित्रता का साधन प्रभु के नाम का जप ही है। प्रभु नाम स्मरण से मनुष्य वासना से बच पाता है और सोम की रक्षा में समर्थ होता है। हे **इन्दो**=मुझे शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **पुरूणि**=अनेक वासनाएँ **माम्**=मुझे **निचरन्ति**= नीचे दबाती हैं (trample upon me) हे **बभ्रो**=मेरा भरण करनेवाले सोम! तू मुझे **अव**= उनसे सुरक्षित कर। प्रभु-नाम का स्मरण मुझे वासनाओं से बचाएगा, वासनाओं से बचकर मैं सोम की रक्षा कर पाऊँगा और सोमरक्षा से ईर्ष्या-द्वेष आदि की भावनाएँ मुझे दबा न सकेंगी।

इस संसार में मनुष्य एक चक्र में फँस जाता है। कोई धन के, कोई विलास और कोई

प्रमाद के। ये उसका घेरा बन जाती हैं—इन्हें परिधियाँ कहते हैं। 'नेमि' परिधि का ही पर्याय है। 'हिरण्यनेमयः' वे पुरुष हैं जो धन के ही चक्कर में हैं। हे सोम! तू **तान् परिधीन्**=उन परिधियों को **अति इहि**=पार कर जा।

'दिवे-दिवे' शब्द की भावना प्रतिदिन है। सोमरक्षा के लिए भी संकल्प आवश्यक है। प्रतिदिन का संकल्प ही हमें सोमरक्षा में समर्थ बनाएगा।

भावार्थ—वासनाएँ मुझे दबाती हैं—संयमी बन मैं इनको कुचल दूँ।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः**, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

पिशंग-रयि की प्राप्ति (प्रभु की वाणी का श्रवण)

५१७. मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वसि।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥ ७ ॥

यह सोम **सुहस्त्या**=शोभन कर्मों के द्वारा—कर्मों को कुशलता से करने के द्वारा **मृज्यमानः**=शुद्ध किया जाता है। मनुष्य कर्मों में लगा रहे और कर्मों को भी उत्तमता से करे, ऐसा करने से यह वासनाओं का शिकार नहीं होता और उसका सोम शुद्ध बना रहता है। हे सोम! शुद्ध रहता हुआ तू **समुद्रे**=(स-मुद) प्रसन्न, 'निर्मल' हृदयान्तरिक्ष में **वाचम्**=वाणी को **इन्वसि**=प्रेरित करता है। हृदयस्थ प्रभु की वाणी को हम तभी सुनते हैं जब हमारा मन सब प्रकार से निर्मल हो। इस वाणी के श्रवण-योग्य बनकर हे सोम! तू **रयिम्**=उस ज्ञानरूप सम्पत्ति की **अभि**=ओर **अर्षसि**=गति करता है जो १. **पिशंगम्**=हमें सब प्रकार से पापशून्य बनाती है (पिश्=free from sin)। ज्ञान हमारे सब कर्मों को पवित्र कर अपवित्रता को भस्म कर देता है। २. **बहुलम्**=यह ज्ञानरूप सम्पत्ति बहुल है—विशाल है ३. **पुरुस्पृहम्**=यह ज्ञानरूप सम्पत्ति मुझमें महती स्पृहा पैदा करनेवाली है—मेरे जीवन का लक्ष्य अत्यन्त ऊँचा बनता है। यह सोम **पवमानः**=पवित्र करनेवाला है। पवित्र करनेवाला होने से ही हमें यह हृदय की वाणी को सुनने योग्य बनाता है। कलुषित हृदय में प्रभु-वाणी सुनाई नहीं देती। प्रभु-वाणी को सुनने योग्य होने पर हमें वह ज्ञान प्राप्त होता है जो पापशून्य, विशाल व उच्चाकांक्षावाला है।

भावार्थ—मैं सोम के संयम से प्रभु की वाणी को सुननेवाला बनूँ।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः**, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

उत्साह का संचार

५१८. अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम्।
समुद्रस्याधि विष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः ॥ ८ ॥

समुद्रस्य=प्रसादगुणयुक्त हृदय के **अधिविष्टपे**=स्थान में, अर्थात् निर्मल अन्तःकरण में **मनीषिणः**=मन का शासन करनेवाली बुद्धिवाले **मत्सरासः**=उल्लासमय जीवनवाले **मदच्युतः**=मद

व उल्लास का सारे समाज में संचार 'वर्षा' करनेवाले **सोमासः**=सोम की रक्षा के द्वारा सोम के पुञ्ज बने हुए **आयवः**=गतिशील मनुष्य **मद्यम्**=मद=मस्ती से युक्त **मदम्**=उल्लास को **अभिपवन्ते**=सर्वत्र प्रवाहित करते हैं।

'कामो हि समुद्रः' इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार समुद्र का अर्थ काम है। उस काम का स्थान है 'हृदय'। समुद्र शब्द उस हृदय के लिए भी प्रयुक्त होता है जो उल्लासमय है। इस उल्लासमय कामना के अधिष्ठान—हृदय में जो मनीषी लोग हैं, अर्थात् जो मन का पूर्ण संयम करनेवाले हैं—अतएव उल्लासमय हैं—वे औरों के जीवनों में भी उत्साह का संचार करते हैं। ये सोम के पुञ्ज सर्वत्र एक मस्तीवाले उल्लास को प्रवाहित करते हैं। ये न स्वयं निराश होते हैं न इनके सम्पर्क में आनेवाले लोग निराश हुआ करते हैं।

भावार्थ—हम संयमी बनें और हमारे जीवन में एक मस्ती हो।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

हमारा जीवन माधुर्यमय हो

५१९. पुनानः सोम जागृविरव्या वारैः परि प्रियः।
त्वं विप्रो अभवोऽङ्गिरस्तमं मध्वा यज्ञं मिमिक्ष णः॥ ९॥

हे **सोम**=सोम! तू **पुनानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करता है, जागृविः=हमारी चेतना को स्थिर रखता है। संयमी पुरुष 'अपने स्वरूप व अपने जीवन के लक्ष्य' को कभी भूलता नहीं। इसी का यह परिणाम होता है कि वह कभी भी सांसारिक प्रलोभनों में नहीं फँसता। यह सोम **अव्या**=रक्षण के द्वारा, सब प्रकार के राग-द्वेषादि अशुभ भावों से तथा **वारैः**=सब रोगों के निवारण के द्वारा **परि-प्रियः**=हमारे शरीर में सर्वत्र तृप्ति व कान्ति पैदा करनेवाला है (प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च)। जिस समय मनुष्य ईर्ष्या-द्वेषादि से दूर होता है तथा शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं होता, उस समय मनुष्य एक अद्भुत सन्तोष अनुभव करता है।

इस प्रकार हे सोम! **त्वम्**=तू **विप्रः अभवः**=विशेषरूप से मेरा पूरण करनेवाला है, मेरी सब प्रकार की न्यूनताओं को दूर करनेवाला है। तू **अङ्गिरस्तमः**=मुझे अत्यन्त मेधावी बनानेवाला है अथवा **'ये अङ्गारा आसन् ते अङ्गिरसोऽभवन्'** इस वाक्य के अनुसार तू हमें प्रज्वलित अङ्गारे के समान देदीप्यमान् व शक्तिसम्पन्न बनानेवाला है। प्रभु के 'वरेण्य भर्ग'=वरणीय तेज को प्राप्त करके जीव प्रभु के समान ही चमकने लगता है।

इतना तेजस्वी हो जाने के बाद सौन्दर्य इसी में है कि हमारा जीवन नम्र हो, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे सोम! तू **नः**=हमारे जीवन-यज्ञ को (पुरुषो वाव यज्ञः) **मध्वा**=माधुर्य से **मिमिक्ष**=सिक्त कर दे। हमारा जीवन माधुर्यमय हो। हमारी कोई भी क्रिया किसी के लिए कटुता लिये हुए न हो।

भावार्थ—मैं तेजस्वी व मधुर बनूँ।

ऋषि:—भरद्वाजः कश्यपो गोतमोऽत्रिर्विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

सहस्रधार सोम का शोधन

५२०. इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः।
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमी मृजन्त्यायवः॥ १०॥

सोमः=सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय के लिए **मदः**=उल्लासजनक होकर **पवते**=शरीर में प्रवाहित होता है। सोम के संयम के लिए इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है। रसना का संयम किये बिना क्या कभी ब्रह्मचर्य सम्भव है? 'इन्द्र' प्रातः, मध्याह्न व सायं तीनों सवनों में सोम का पान करता है, अर्थात् बाल्य, यौवन व वार्धक्य में सोम को सुरक्षित रखता है, इसलिए उसका जीवन मद=उल्लास लिये हुए है। यह सोम **मरुत्वते**=प्राणवाले के लिए **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। प्राणसाधना करनेवाला पुरुष ही इस सोम की ऊर्ध्वगति कर पाता है।

धारण किया हुआ यह सोम **सहस्रधारः**=हज़ारों प्रकार से धारण करनेवाला होता है। यह जीवात्मा की सभी शक्तियों को विकसित करनेवाला होता है। यह सोम **अव्यम्**=रक्षा करनेवाले पुरुष को **अति अर्षति**=अतिशयेन प्राप्त होता है। प्रतिदिन कण-कण संग्रह करके भी यह राशिभूत हो जाता है। **ईम्**=निश्चय से **तम्**=उस सोम को **आयवः**=गतिशील पुरुष **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। गतिशीलता से वासना को स्थान नहीं मिलता और वासना के अभाव में यह सोम शुद्ध बना रहता है। शुद्धता के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है।

भावार्थ—मैं सहस्रधार सोम का शोधन करूँ। इसके लिए क्रियाशील बना रहूँ।

ऋषि:—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

सब वरणीय वस्तुओं की प्राप्ति

५२१. पवस्व वाजसातमोऽभि विश्वानि वार्या।
त्वं समुद्रः प्रथमे विधर्म देवेभ्यः सोम मत्सरः॥ ११॥

हे **सोम**=सोम! तू **वाजसातमः**=सर्वाधिक शक्ति प्राप्त करानेवाला है, **विश्वानि वार्या**=हमें सब वरणीय वस्तुओं की ओर **अभि पवस्व**=ले-चल। सोम के संयम से शक्ति और सभी वरणीय वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। हे सोम! **त्वम्**=तू **समुद्रः**=उल्लास से युक्त है, **विधर्मन्**=विशेषरूप से धारण करनेवाली वस्तुओं में तू **प्रथमे**=प्रथम स्थान में स्थित है। धृति, क्षमा, दम आदि धर्म के सभी अङ्ग मनुष्य का धारण करनेवाले हैं, परन्तु उन सबका भी मूल यह 'सोम' ही है। जितने वरणीय गुण हैं, उन्हें प्राप्त करानेवाला यह सोम ही है। दैवी सम्पत्ति हमारा धारण करती है—दैवी सम्पत्ति को यह सोम ही हमें प्राप्त कराता है। एवं, मुख्य धारक यही है। हे सोम! **त्वम्**=तू **देवेभ्यः**=देवों के लिए—दैवी सम्पत्ति को प्राप्त व्यक्तियों के लिए **मत्सरः**= उल्लास देनेवाला है। वस्तुतः मन में दिव्यता होने पर जीवन उल्लासमय होता ही है। मैं सोमी बनकर जीवन में एक मस्ती से चलता हूँ, मुझे संसार निराशामय तथा उदास प्रतीत नहीं होता।

भावार्थ—मैं सोम-संयम के द्वारा शक्ति, वरणीय वस्तुओं, प्रसन्नता व विशेष उल्लास को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

पवित्रता

५२२. पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया।
मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभि प्रयांसि च॥ १२॥

धारया=धारण के उद्देश्य से (हेतु में तृतीया) इसलिए कि सोम हमारे शरीर में ही संयत रहे, उसका नाश न हो, ये **पवमानाः**=पवित्र करनेवाले सोम **अतिपवित्रं असृक्षत**=बहुत पवित्र बनाये गये हैं। वासना-जनित उष्णता ही इन्हें अपवित्र करती है। इससे इन्हें शून्य रखने का प्रयत्न किया गया है। यदि सचमुच हम इन पवमानों को पवित्र बनाये रक्खें तो ये १. **मरुत्वन्तः**=हमारी प्राणशक्ति को बढ़ानेवाले होते हैं—ये हमें प्रशस्त प्राणोंवाला बनाते हैं। २. **मत्सराः**=ये हमारे अन्दर उल्लास को जन्म देते हैं। हमारा जीवन एक विशेष मस्तीवाला होता है। ३. **इन्द्रियाः**=ये सोम हमारी एक-एक इन्द्रिय को शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं (इन्द्रियं=बलम्) ४. **हयाः**=(हय गतौ) सोम के संयम से हमारी गतिशीलता बढ़ती है, हम स्फूर्ति-सम्पन्न होते हैं। ५. **मेधाम् अभि**=ये सोम हमें मेधाबुद्धि की ओर ले-चलते हैं **च**=और ६. **प्रयांसि अभि**=इनके द्वारा हम इस योग्य बनते हैं कि 'काम-क्रोध-लोभ' का नियमन कर सकें। 'नियन्त्रित काम-क्रोध-लोभ' हमारे उत्थान का कारण होंगे। नियन्त्रित काम से ही वेदाधिगम व यज्ञादि कार्य हुआ करते हैं। नियन्त्रित क्रोध से हमें पाप के प्रति घृणा होती है और नियन्त्रित लोभ हमें सद्गुणों के अर्जन में सन्तुष्ट होकर कभी रुकने नहीं देता।

भावार्थ—मैं सोम को सदा पवित्र रखूँ, जिससे सोम मुझे पवित्र बनानेवाला हो।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**उशनाः काव्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

कामयमान क्रान्तदर्शी

५२३. प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष।
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा बर्ही रशनाभिर्नयन्ति॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'उशना काव्य' है—यह कामनावाला है, परन्तु क्रान्तदर्शी है। क्रान्तदर्शी होने से ही इसकी कामना पवित्र है। यह सोम को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे सोम! **तु**=नष्ट होने के बजाय तू **प्र-द्रव**=प्रकृष्ट गतिवाला हो—तेरी अधोगति न होकर ऊर्ध्वगति हो और **कोशं परि निषीद**=इस पञ्चकोशमय शरीर में ही सर्वतः स्थित हो। **नृभिः**=मनुष्यों से **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **वाजम्**=वाज को **अभि अर्ष**=लक्ष्य करके गतिवाला हो। अन्नमयकोश में तू गति (वाज गतौ) प्राप्त करा, प्राणमयकोश में शक्ति

(वाज=power), मनोमयकोश में त्याग की भावना (वाज=sacrifice) तथा विज्ञानमयकोश में ज्ञान (वाज=ज्ञान) देनेवाला हो। **अश्वम्**=शक्तिशाली घोड़े की **न**=(इव) भाँति **वाजिनम्**=शक्तिशाली **त्वा**=तुझे **मर्जयन्तः**=शुद्ध करते हुए **रशनाभिः**=लगामों व संयमों के द्वारा **बर्हिः अच्छ**=हृदयान्तरिक्ष की ओर ले-जाते हैं। घोड़े को लगाम से उद्दिष्ट स्थान पर ले-जाया जाता है। इसी प्रकार 'वाक्, मन व कर्म' के संयमों से सोम को ऊर्ध्वगतिवाला किया जाता है। यह सोम हमें हृदय में प्रभु-दर्शन के योग्य बनाता है। सोम की रक्षा संयम से ही सम्भव है। 'रशनाभिः' यह बहुवचन उन्हीं वाणी, शरीर व मन के संयम का उल्लेख कर रहा है। इस संयम के लिए ही कामना को शुद्ध रखना आवश्यक है और कामना की शुद्धि बिना क्रान्तदर्शित्व सम्भव नहीं, अतः 'उशना काव्य' ही सोम की ऊर्ध्वगति कर पाता है।

भावार्थ—मैं संयम से सोम को ऊर्ध्वगतिवाला करूँ।

ऋषिः—**वृषगणो वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

धार्मिक जीवन

५२४. प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन्॥ २॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वृषगणो वासिष्ठ' है—(वृष=धर्म) जिसका जीवन धर्ममय है, इतना धर्ममय कि मानो धर्म ही शरीर हो गया है—वह धर्म का पुञ्ज है। धर्मात्माओं में विशेषरूप से उसकी गिनती होती है। वह उत्तम वशी है—अथवा शरीर में सर्वोत्तम निवास करनेवाला है। इस व्यक्ति के जीवन में हम निम्न बातें देखते हैं—

१. उशना इव काव्यं प्रब्रुवाणः=रुचिपूर्वक प्रभु के अजरामर काव्य—वेद का उच्चारण करता है। मनुष्यकृत काव्य समय पाकर मध्यम दीप्तिवाले हो जाते हैं। यह वेदरूप काव्य अजरामर है—इसकी दीप्ति शाश्वत है। धर्म के ज्ञान का यही स्रोत है। वेद में जिसकी प्रेरणा दी गयी है वही तो धर्म है **चोदना लक्षणो धर्मः।** यह धार्मिक जीवनवाला व्यक्ति वेद-पाठन को अपना प्रथम धर्म समझता है।

२. **देवः**=वेद का स्वाध्याय इसके जीवन में पवित्रता लाता है। अपने जीवन में दिव्य गुणों को बढ़ाता हुआ यह 'देव' बन जाता है।

३. **देवानाम्**=सूर्यादि ३३ देवों के—सभी प्राकृतिक पदार्थों के **जनिमा**=प्रादुर्भाव व विकास को **विवक्ति**=यह विशेषरूप से उच्चारित करता है। इन पदार्थों के विकास में यह उस निर्माता प्रभु की महिमा देखता है। यह विज्ञान उसे प्रभु की सत्ता में दृढ़ विश्वासी बनानेवाला होता है।

४. **महिव्रतः**=यह अपने जीवन में किसी-न-किसी महान् व्रत को लेकर चलता है। व्रती जीवन ही वस्तुतः धर्ममय जीवन हुआ करता है। बिना व्रतग्रहण के हम कभी धार्मिक नहीं बन सकते।

५. **शुचिबन्धुः**=यह पवित्र धनवाला होता है (बन्धु=धनम्—नि० २.१०)। सबसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक धर्म 'शुचिबन्धुत्व' ही है। यजुर्वेद में अन्तिम निर्देश 'नय सुपथा राये' ही है—धन को उत्तम मार्ग से कमाना। मनु ने इसी को शुचिता माना है—**'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न**

मृद्वारि शुचिः शुचिः।

'शुचिबन्धु' शब्द का अर्थ पवित्र मित्रोंवाला भी है। वस्तुतः जीवन के निर्माण में मित्रों का बड़ा हाथ होता है। अच्छे मित्र जीवन को अच्छा बना देते हैं और बुरे बुरा।

६. **पावकः**=यह जिनके भी सम्पर्क में आता है, उनके जीवन को पवित्र बना डालता है। अग्नि में पड़कर सोना निखर उठता है, इसके सम्पर्क में आकर लोगों का जीवन पवित्र हो जाता है।

७. **पदा वराहः**=गतिशीलता के द्वारा यह सुन्दर दिनवाला (वर+अहन्) होता है। **'सुदिनत्वमह्नाम्'** दिन की भद्रता जीवन का कितना श्रेष्ठ द्रविण है।

८. यह **रेभन्**=स्तुति करता हुआ **अभ्येति**=उस प्रभु की ओर चलता है। सदा प्रभु के स्मरण से इसके सामने लक्ष्य-दृष्टि बनी रहती है, अतः यह मार्ग से विचलित न होकर प्रभुरूप लक्ष्य की ओर बढ़ता चलता है।

भावार्थ—वेदाध्ययन को प्राथमिक धर्म बनाकर मैं अपने जीवन को धर्म-प्रधान बनाऊँ।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु के मार्ग पर

५२५. तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः॥ ३॥

'पराशृणाति इति पराशरः'=शत्रुओं को सुदूर नष्ट करनेवाला शाक्त्य=शक्ति का पुत्र, अर्थात् शक्ति का पुञ्ज यह ऋषि **वह्निः**=सब वेदवाणियों का धारण करनेवाला **तिस्रः वाचः**=ऋग्, यजुः, सामरूप तीनों वाणियों को **प्र ईरयति**=प्रेरित करता है। स्वयं उनका निरन्तर उच्चारण करता है और लोगों में उनका प्रचार करता है, लोगों को ज्ञान-कर्म व उपासना तीनों का बड़ा उत्तम उपदेश देता है। **ब्रह्मणः**=उस प्रभु को **ऋतस्य धीतिम्**=सत्य का धारण करनेवाली **मनीषाम्**=बुद्धि को, ज्ञान को **प्रेरयति**=प्रचारित करता है। प्रभु से दी हुई यह वेदवाणी सत्य का ही धारण करनेवाली है—यह मनुष्य को नियमित जीवन बिताने का (ऋत का) उपदेश देती है। यह पराशर स्वयं उस वेदवाणी का धारण करके औरों को उसका उपदेश देता है।

१. **गावः**=वेदवाणियाँ **गोपतिम्**=इन्द्रियों के पति को (गावः=इन्द्रियाणि) **पृच्छमानाः**=पूछती हुई **यन्ति**=प्राप्त होती हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति पूछते-पूछते किसी के घर जा पहुँचता है, उसी प्रकार ये वेदवाणियाँ जितेन्द्रिय के समीप पहुँच जाती हैं। दूसरे शब्दों में, यदि मैं जितेन्द्रिय बनूँगा तो ये वेदवाणियाँ मुझे प्राप्त होंगी, इनका अर्थ समझने के लिए जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। **मतयः**=यह मननशील मनुष्य **वावशानाः**=प्रभु-प्राप्ति की प्रबल इच्छावाले **सोमं यन्ति**=सोम नामक प्रभु को प्राप्त करते हैं। प्रभु सोम हैं, सोम बनकर ही मनुष्य भी उसे प्राप्त करनेवाला होगा।

प्रभु की प्राप्ति के मार्ग में विघ्न तो पग-पग पर आएँगे ही। यह पराशर उन विघ्नों को दूर करता हुआ प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता चलता है। यह शाक्त्य है—कोई भी विघ्न ऐसा नहीं जिसे यह अपनी शक्ति से दूर न कर पाए।

भावार्थ—मैं जितेन्द्रिय बनूँ, जिससे वेदवाणियों का आश्रय होऊँ।

ऋषि:—**वसिष्ठो मैत्रावरुणि:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

इस घर से उस घर में

५२६. अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभि: समपृक्त रसम्।
सुत: पवित्रं पर्येति रेभन् मितेव सद्म पशुमन्ति होता ॥ ४ ॥

'वसिष्ठ मैत्रावरुणि' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है—उत्तम निवासवाला अथवा वशियों में श्रेष्ठ जो प्राणापान की साधना करता है। यह **अस्य प्रेषा**=इस प्रभु की प्रेरणा से और **हेमना**=(हि गतौ) गतिशीलता—क्रियाशीलता के द्वारा **पूयमान:**=अपने जीवन को पवित्र बनाता हुआ **देव:**=मनुष्य से देव बन जाता है। जीवन की पवित्रता के लिए दो साधन हैं, १. प्रभु की प्रेरणा को सुनना और २. क्रियाशील जीवन बिताना।

इस मार्ग पर चलने से पवित्र और पवित्रतर होता हुआ यह देव बनता है और **देवेभि:**=दिव्य गुणों के द्वारा **रसम्**=(रसो वै स:) उस आनन्दमय प्रभु के **समपृक्त**=सम्पर्क में आता है। देवो 'देवेभिरागमत्' (ऋ०) वे प्रभु देव हैं–देवाधिदेव हैं। वे दिव्य गुणों से ही हमें प्राप्त होते हैं।

सुत:=प्रेरणा को प्राप्त हुआ–हुआ यह व्यक्ति **रेभन्**=सदा उस प्रभु का स्तवन करता हुआ **पवित्रम्**=उस पूर्ण पवित्र प्रभु को **पर्येति**=सर्वथा प्राप्त होता है। उसी प्रकार **इव**=जैसे **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **मिता**=मापकर—स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से आवश्यक लम्बाई–चौड़ाई से बनाये हुए **पशुमन्ति**=गौ आदि (अश्व, अजा, अवि) पशुओंवाले **सद्म**=घरों में प्रवेश करता है।

यहाँ उपमा के द्वारा घरों के विषय में दो बातें कही गयी हैं—१. वे ठीक माप से बने हुए हों तथा २. गौ इत्यादि उत्तम पशुओं की उसमें स्थिति हो। **'उपहूता इह गाव उपहूता अजावय:'** घर में गौवें, बकरी व भेड़ें हों। **'स न: पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते'**—गौओं और घोड़ों से हमारे घर शान्ति की वृद्धिवाले हों। एवं, घरों का संकेत करके घर में रहनेवालों के लिए 'होता' शब्द से बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है कि वे दानपूर्वक अदन करनेवाले हों—यज्ञशेष खानेवाले हों।

यह होता का जीवन भी तो प्रभु–प्रेरणा को सुनने पर ही बनेगा। **पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्**=शक्तिशाली होता हुआ याचक के लिए दे ही, यही तो प्रभु की प्रेरणा है। होता बनकर यह इस घर को बड़ा सुन्दर बनाता है और परिणामत: इस जीवन की समाप्ति पर इस घर से यह उस प्रभुरूप वास्तविक घर में प्रवेश करता है।

भावार्थ—मैं प्रभु–प्रेरणा को सुनूँ तथा पवित्र बनकर पवित्र प्रभु को प्राप्त करूँ। इस घर से उस घर में प्रवेश करूँ। मेरा वास्तविक घर तो प्रभु ही है।

ऋषि:—**प्रतर्दनो दैवोदासि:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

सोम हमें मनुष्य ही नहीं अपितु देव बनाता है

५२७. सोम: पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्या:।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णो: ॥ ५ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्र-तर्दन' है—प्रकर्षेण विघ्नों का हिंसन करनेवाला। यह 'दैवोदासि' है—देव का—उस प्रभु का अनन्य दास है, भक्त है। यह प्रभु-भक्ति के द्वारा संयमी जीवनवाला बनता है। इसके जीवन में **सोमः**=सोम—वीर्यशक्ति—Vitality **पवते**=प्रवाहित होती है और उसके जीवन को पवित्र बनाती है। यह **मतीनाम्**=मननशक्तियों की **जनिता**=उत्पन्न करनेवाली होती है। वस्तुतः इसके अभाव में मनुष्य पशुओं की भाँति पश्यति=देखता है—कार्यों को विचारपूर्वक नहीं करता। उपाय-अपाय को सोचकर कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता। **'मत्वा कर्माणि सीव्यतीति मनुष्यः'** इस यास्कवचन के अनुसार सोम मनुष्य को मनुष्य बनाता है। **जनिता दिवः**=यह सोम दिव्यता को जन्म देनेवाला होता है, मनुष्य से भी ऊपर उठाकर यह हमें देव बनाता है। हमारा जीवन प्रकाशमय होता है। देव बनने का मुख्य अभिप्राय यह है कि **जनिता पृथिव्याः**=यह सोम हमारे अन्दर विस्तार (प्रथ-विस्तारे) उत्पन्न करता है। हम संकुचित मनोवृत्ति से नहीं चलते। एवं, मननशीलता, दिव्यता—प्रकाश और विस्तार—उदारता ये गुण समुदित होकर हमारे वैयक्तिक जीवन को बड़ा सुन्दर बना देते हैं।

सामाजिक क्षेत्र में सोम उसमें **जनिता अग्नेः**=अग्नि को जन्म देता है—उसे उत्साहवाला बनाता है। समाज में उत्साही व्यक्ति ही आशा व उन्नत भावनाओं का संचार करता है। उन्नत व उत्साहमयी भावनाओं के साथ यह सोम **जनिता सूर्यस्य**=गतिशीलता को जन्म देनेवाला होता है। सूर्य की भाँति इसे अनथक श्रमशील बनाता है। इन क्रियाओं में विघ्नों का आना स्वाभाविक है। यह सोम इसे इन विघ्नों का ध्वंस करनेवाला बनाता है **जनिता इन्द्रस्य**=इसके अन्दर इन्द्रतत्त्व का विकास करता है। 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य'=सब बल के कार्य इन्द्र के हैं। इन्द्र असुरों का संहार करता है। सोम के द्वारा हम भी इन्द्र बनते हैं और विघ्नरूप आसुर वृत्तियों का विनाश करनेवाले होते हैं। **उत**=और यह सोम **विष्णोः जनिता**=विष्णु का जन्म देनेवाला है। 'विष्णु' धारण की देवता है। संयमी पुरुष व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र व संसार का धारण करनेवाला होता है। 'उत्साह, गतिशीलता, शक्ति व धारक वृत्ति' इन सामाजिक गुणों को लेकर यह प्रतर्दन सचमुच लोकसंग्रह करनेवाला होता है।

भावार्थ—सोम मुझे वैयक्तिक व सामाजिक उन्नति के योग्य बनाये।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

क्या पाप क्षमा होते हैं? वरुण न कि सिन्धु, पाशोंवाला, न पसीजनेवाला

५२८. अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामङ्गोषिणमवावशन्त वाणीः।
वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वार्याणि॥ ६॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि मैत्रावरुणी वसिष्ठ कहता है कि—**वाणीः**=वेदवाणियाँ (वाणीः वाण्यः) **अवावशन्त**=पुकार-पुकार कर कह रहीं हैं कि **अभि**=उस प्रभु की ओर चलो जो १. **त्रिपृष्ठम्**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों का आधार है—जिस प्रभु की भक्ति से त्रिविध उन्नति सम्भव होती है, २. **वृषणम्**=जो हमारे सब कोशों में शक्ति को प्राप्त करानेवाला है। अन्नमयकोश में तेजस्, प्राणमयकोश में वीर्य, मनोमयकोश में ओज व बल, विज्ञानमयकोश में मन्यु=ज्ञान तथा आनन्दमयकोश में सहस् देनेवाले प्रभु ही हैं। ३. **वयोधाम्**=प्रभु आयु के धारण करनेवाले हैं—दीर्घजीवन प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु की उपासना का अभाव ही असमय

मृत्यु का कारण बनता है। ४. **अङ्गोषिणम्**=वे प्रभु दीर्घ जीवन ही प्राप्त नहीं कराते, वे दीर्घ जीवन के साथ **अंगूष**=आघोषवाले हैं। हृदयस्थरूप से हमें वेदवाणियों का ज्ञान दे रहे हैं। यह हमारा कितना दुर्भाग्य है कि हम उस वेदवाणी को सुनते नहीं। वे प्रभु तो उन वेदों के द्वारा ५. हमें निरन्तर **वना वसानः**=ज्ञान की रश्मियाँ प्राप्त करा रहे हैं (वन=रश्मि—नि० १-५-८)। हमें क्या करना है, किस बात से निवृत्त होना है, इसका ज्ञान प्रभु दे रहे हैं। वेद वस्तुतः सृष्टि के प्रारम्भ में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान देने के लिए ही तो उच्चरित हुआ था। अब यदि मैं अध्ययन न करके कर्त्तव्याकर्त्तव्य को नहीं जान पाता और अकर्त्तव्यों में ग्रसित हो जाता हूँ तो मुझे यह न भूलना चाहिए कि वे प्रभु ६. **वरुणः**=पाशी हैं—**'ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः। छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु।'** वरुण के ये पाश अनृत की ओर जानेवाले को जकड़ते हैं, इनसे तो सत्यवादी ही बच सकते हैं। यदि मैं यह सोचूँ कि प्रार्थना व विनती के द्वारा मैं पाप क्षमा करा लूँगा तो यह मेरा भ्रम है। वे प्रभु ७. **न सिन्धुः**=(स्यन्द-प्रस्त्रवणे) पिघलनेवाले नहीं। मेरी प्रार्थना से उनका हृदय पसीजेगा नहीं। वे प्रभु कुछ क्रूर नहीं हैं। यदि मैं कर्त्तव्य का पालन करूँगा तो वे प्रभु ८. **विरत्नधा**=विशेष-विशेष रत्नों को धारण करानेवाले हैं। सब रमणीय वस्तुओं के देनेवाले हैं। दण्ड देते हुए वे 'रुद्र' प्रतीत होते हैं, वास्तव में हैं तो वे 'शिव' ही। इन दण्डों को भी वे हमारे कल्याण के लिए ही देते हैं। ९. वे **वार्याणि दयते**=सब वरणीय (desirable) वस्तुएँ हमें प्राप्त कराते हैं। पाप क्षमा नहीं, परन्तु पापमोचन तो वे प्रभु ही कराते हैं। दण्ड आदि की व्यवस्था से वे हमारी पाप-प्रवृत्ति को ही दूर कर देते हैं। निष्पाप होकर हम 'वसिष्ठ' बनते हैं—उत्तम निवासवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु वरुण हैं, न कि सिन्धु। पाप-क्षमा न कर वे पापमोचन की व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हृदय में, मस्तिष्क में

५२९. अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मं जनयन्प्रजा भुवनस्य गोपाः।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे स्वानो अद्रिः॥ ७॥

समुद्रः=सदा आनन्द के साथ निवास करनेवाला प्रभु **प्रथमे**=इस अत्यन्त विस्तृत **विधर्मन्**=भौतिक आधार से शून्य विस्तृत अन्तरिक्ष में (अस्कम्भाने=विधर्मन्=खम्भे से रहित) **प्रजाः**=प्रजाओं को **जनयन्**=जन्म देता हुआ तथा **भुवनस्य गोपाः**=सब भुवनों का रक्षक **अक्रान्**=सबको लाँघकर विद्यमान है (अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्)। वस्तुतः यह अन्तरिक्ष कितना विशाल है? इसकी तो कोई सीमा ही प्रतीत नहीं होती। फिर इतना विशाल यह लोक बिना किसी भौतिक स्तम्भ के अपनी स्थिति में विद्यमान है। सचमुच ही ये आश्चर्य की बात है। लोक-लोकान्तर इसके आधार से हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि यह किसके आधार से है? इसका आधार वस्तुतः वही सब प्रजाओं को जन्म देनेवाले तथा सब लोकों के रक्षक प्रभु ही हैं, जो इस सम्पूर्ण सृष्टि को लाँघकर भी विद्यमान् हैं।

वह परमात्मा **वृषा**=शक्तिशाली है, हमें प्रत्येक कोश की शक्ति देनेवाला है। हमपर

शक्तियों की वर्षा करता हुआ वह **बृहत् सोमः**=सारे संसार का वर्धन करनेवाला परमात्मा **पवित्रे**=हमारे पवित्र हृदयों में तथा **अधिसानो अव्ये**=मेरु पर्वत के शिखररूप सुरक्षित स्थान (मस्तिष्क) में **वावृधे**=बढ़ता है। प्रभु का दर्शन हृदय व मस्तिष्क में होता है। हृदय आत्मा का निवासस्थान है तो मस्तिष्क कार्यालय है। आत्मा उस प्रभु का दर्शन इन दोनों स्थानों पर ही कर सकता है।

वे प्रभु **स्वानः**=हृदयस्थरूप से उच्च स्वर से वेदमन्त्रों का आघोष कर रहे हैं। वे 'अङ्गोषिन्' हैं। वे प्रभु **अद्रिः**=अविदारणीय, अविनश्वर हैं। उनका यह वेद-ज्ञान भी अनश्वर है। इसके अनुसार हम अपना जीवन बनाएँगे तो वे प्रभु हमारे लिए शिव-ही-शिव हैं, अन्यथा हमें उनके रुद्ररूप का अनुभव करना होता है। 'प्रार्थना से हम पाप क्षमा करा लेंगे' ऐसा तो हमें भ्रम होना ही नहीं चाहिए। वे प्रभु तो अद्रि हैं, अपने न्याय-मार्ग से किसी भी प्रकार विचलित नहीं किये जा सकते।

भावार्थ—उस प्रभु की वेदवाणी को सुननेवाला व्यक्ति सब वासनाओं को नष्ट करनेवाला 'पराशर' तथा शक्ति-सम्पन्न 'शाक्त्य' होता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शुद्ध करनेवाली गौ

५३०. कनिक्रन्ति हरिरा सृज्यमानः सीदन् वनस्य जठरे पुनानः।
नृभिर्यतः कृणुते निर्णिजं गामतो मतिं जनयत स्वधाभिः॥ ८॥

आसृज्यमानः हरिः=उत्पन्न किया जाता हुआ वह अज्ञान का हरण करनेवाला परमात्मा **वनस्य**=(वन् संभक्तौ) उत्तम भक्त के **जठरे**=मध्य में, हृदय में **सीदन्**=निवास करता हुआ **पुनानः**=उसे पवित्र बनाने के हेतु से (हेतौ शानच्) **कनिक्रन्ति**=वेदशब्दों का पुनः-पुनः उच्चारण करता है। प्रभु तो अजरामर हैं, सर्वव्यापक हैं। हाँ! अज्ञानियों के लिए उनका होना न होना बराबर होता है, परन्तु जब कभी हमारे ज्ञान के चक्षु कुछ खुलते हैं तब वे प्रभु मानो हमारे लिए भी उत्पन्न-से हो जाते हैं। वे तो सदा से ही थे, परन्तु हमारे लिए तो आज ही हुए। ये प्रभु अपने भक्तों के हृदय में निवास करते हैं। उन्हें और अधिक पवित्र बनाने के लिए वेदशब्दों का पुनः-पुनः उच्चारण कर उन्हें ज्ञान-जल द्वारा शुद्ध कर डालते हैं। ये प्रभु **नृभिः**=अपने को आगे ले-चलनेवाले इन भक्तों से **यतः**=वश में किये हुए उनके हृदयों में **निर्णिजं गाम्**=निश्चय से पूर्ण शुद्ध करनेवाली इस वेदवाणीरूप गौ को **कृणुते**=करते हैं। जो भी मनुष्य जितेन्द्रिय बन अनन्यमना होकर प्रभु का स्मरण करते हैं वे प्रभु को अपने वश में करनेवाले बनते हैं। भक्त प्रभु के सिवाय किसी से प्रेम नहीं करता, तो प्रभु भी भक्तों को अत्यन्त प्रेम करनेवाले क्यों न हों? वेद कहता है कि मनुष्यो! प्रभु तुम्हारे हृदय में है। तुम्हें चाहिए कि—

अतः=इस प्रभु से **स्वधाभिः**=आत्मार्पण के द्वारा **मतिम्**=बुद्धि व ज्ञान को **जनयत**=उत्पन्न करो। 'अतः' यह पञ्चम्यन्त प्रयोग नियम से विद्या पढ़ने में होता है। हमें बिना अनध्याय के उस महान् गुरु के चरणों में उपस्थित होना है। 'स्वधा' शब्द पितरों के प्रति अर्पण के लिए आता है—'पितृभ्यः स्वधा'। हमें इस प्रभु को पिता समझते हुए निःसंकोचभाव से—बिना

झिझक के–शतशः प्रश्न करते हुए ज्ञान को बढ़ाना चाहिए। ज्ञान 'परिप्रश्नेन' (all round
questioning) शतशः प्रश्नों से ही तो बढ़ता है। हम ज्ञान के पात्र उतने–उतने अधिक होते
जाएँगे जितना–जितना कि हमारा समर्पण पूर्ण होगा। कण–कण करके हमारा ज्ञान बढ़ता ही
चलेगा। हम 'प्रस्कण्व' मेधावी होंगे।

भावार्थ–मैं अपने हृदय में उस प्रभु की सत्ता का अनुभव करूँ और उनके प्रेम का
पात्र बनकर ज्ञानी बनूँ।

ऋषिः–**उशनाः काव्यः**॥ देवता–**पवमानः सोमः**॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः**॥

पवित्र हृदय में प्रभु

५३१. एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमो वृषा वृष्णः परि पवित्रे अक्षाः।
सहस्रदाः शतदा भूरिदावा शश्वत्तमं बर्हिरा वाज्यस्थात्॥ ९॥

हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के सामीप्य से सामीप्य, दूर-से-दूर वर्त्तमान **सोमः**=प्रभु
एषः=यह **स्यः**=समीप-से-समीप, दूर-से-दूर वर्त्तमान **सोमः**=प्रभु हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के
अधिष्ठाता जीव! १. **मधुमान्**=रसमय है। प्रभु को अपनाने पर तेरा जीवन रसमय होगा।
अद्भुत आनन्द प्राप्त होगा जो वाणी का विषय नहीं है। 'एतत्' शब्द समीप का और 'तत्'
दूर का वाचक है। वे प्रभु सर्वत्र हैं, अधिक-से-अधिक दूर और अधिक-से-अधिक समीप।
२. **वृषा**=वे प्रभु शक्तिशाली हैं, हमें सब कोशों में शक्तिशाली बनानेवाले हैं और **वृष्णः**=
शक्तिशाली पुरुष के **पवित्रे**=पवित्र हृदय में **परि अक्षाः**=व्याप्त होते हैं। शक्ति मनुष्य को
पवित्र बनाती है–पवित्र हृदय प्रभु का निवासस्थान होता है।

अपने हृदय को पवित्र बनाकर मैं उस प्रभु का निवास–स्थान बनता हूँ तो वे प्रभु ३.
सहस्रदाः=(स+हस्+दा) मुझे आनन्दमय जीवन प्राप्त कराते हैं, ४. **शतदाः**=पूरे सौ वर्ष का
दीर्घ जीवन देते हैं और ५. **भूरिदावा**=आशा से भी अधिक धन (भूरि=more) प्राप्त करानेवाले
हैं। संक्षेपतः उपासना से आनन्द, दीर्घजीवन व ऐश्वर्य–सभी उपलब्ध होते हैं। उपासना के
लाभ देखकर कौन उस प्रभु का उपासक न बनेगा? 'काव्य'=क्रान्तदर्शी–वस्तुओं के वास्तविक
स्वरूप को देखनेवाला व्यक्ति तो उस प्रभु की अवश्य कामना करेगा। ऐसी कामना करनेवाला
यह 'उशनाः'–कहलाता है। यह कहता है कि **आवाजी**=मुझे प्रत्येक कोश में शक्ति देनेवाला
वह प्रभु **शश्वत्तमम्**=सदा **बर्हिः**=मेरे पवित्र हृदय में, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर
दिया गया है, **अस्थात्**= ठहरे–विराजमान हो। मैं प्रभु के सामीप्य से सामीप्य मुक्ति का
आनन्द तो अनुभव करूँ ही।

भावार्थ–वे प्रभु मेरे जीवन को रसमय कर देते हैं। मैं उन्हीं की कामना करनेवाला
उशना बनूँ।

ऋषिः–**प्रतर्दनो दैवोदासिः**॥ देवता–**पवमानः सोमः**॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः**॥

दिव्यता का अवतरण

५३२. पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावापो वसानो अधि सानो अव्ये।
अव द्रोणानि घृतवन्ति रोह मदिन्तमो मत्सरः इन्द्रपानः॥ १०॥

वीर्य=vitality के वाचक सोम का सदा आरोहण ही होना चाहिए (ऊर्ध्वगमन) न कि अवरोहण। प्रस्तुत मन्त्र में अवरोहण की प्रार्थना है, अतः स्पष्ट है कि यहाँ 'सोम' से परमात्मा का ग्रहण है। इस परमात्मा का हम अपने में अवरोहण कर पाते हैं, तो कहते हैं कि—

१. हे सोम! **पवस्व**=हमारे जीवनों को पवित्र कीजिए। २. **मधुमान्**=आप रस हैं—हमारे जीवन को भी रसमय—माधुर्यमय बना दीजिए, ३. **ऋतावा**=प्रभु 'ऋत' का अवन रक्षण करनेवाले हैं। प्रभु का उपासक प्रत्येक क्रिया को ऋत=ठीक ही करता है—उसका जीवन मर्यादावाला होता है। ४. **अधि सानो अव्ये**=मेरुपर्वत के (रीढ़ की हड्डी के) शिखर पर सुरक्षित स्थान में—अर्थात् मस्तिष्क में **अपो वसानः**=यह कर्मों का धारण करनेवाला है। अभिप्राय यह है कि प्रभु का उपासक सदा सोचकर कर्म करता है।

इस प्रकार प्रभु की उपासना से हमारे जीवन में पवित्रता, माधुर्य, मर्यादा तथा विवेकपूर्वक क्रियाशीलता आदि गुणों का विकास होता है। इसी से हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! आप **द्रोणानि घृतवन्ति अवरोह**=हमारे (द्रु अभिगतौ) सदा क्रियाशील—क्रिया के द्वारा लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए, मन में मालिन्य के क्षरण—विनाशवाले तथा मस्तिष्क में दीप्तिवाले (घृ=क्षरण+दीप्ति) शरीर में अवतीर्ण होओ। यदि हम ऐसा कर सके तो वे प्रभु हमारे लिए १. **मदिन्तमः**=अत्यन्त आनन्दमय होते हैं—हमें आनन्द की अद्भुत अनुभूति प्राप्त करानेवाले हैं। २. **मत्सरः**=आनन्दपूर्वक क्रिया करनेवाले वे प्रभु हमें भी कर्म में श्रम नहीं अपितु विश्राम का अनुभव कराते हैं। हमें कर्म में आनन्द आने लगता है। ३. **इन्द्रपानः**=वे प्रभु जितेन्द्रिय के रक्षक भी तो हैं। हम प्रभु की रक्षा के पात्र बनते हैं। प्रभु से सुरक्षित यह इन्द्र सभी आसुर वृत्तियों को कुचलता हुआ प्रतर्दन कहलाता है और प्रभु का अनन्य भक्त होने से यह 'दैवो-दासि' है।

भावार्थ—मैं अपने में प्रभु की दिव्यता का अवतरण करूँ। उसके लिए गति—नैर्मल्य व दीप्ति को सिद्ध करूँ।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**प्रतर्दनः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु सेनानी हैं—मैं उनका सैनिक

५३३. प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना ।
भद्रान्कृण्वन्निन्द्रहवान्त्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते ॥ १ ॥

'प्रतर्दन' प्रभु का अपने में अवतरण करता है और प्रभु अब उसके सेनापति बनते हैं। तब वह **सेनानीः**=सेनापति **शूरः**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं। जीव भी प्रभु से प्रेरित होकर ही शत्रुओं का हनन किया करता है। **रथानां अग्रे**=रथों के अग्रभाग में वह सेनानी स्थित है। शरीर ही रथ है, इसका उत्तमाङ्ग सिर है। मस्तिष्क में स्थित हुए-हुए ये प्रभु **गव्यन्**=वेदवाणियों का उच्चारण करते हुए **प्रएति**=गति कर रहे हैं। प्रभु ज्ञान देते हैं—जीव उसकी आज्ञा-अनुसार क्रियाशील होता है।

उस प्रभु के आह्वान के अनुसार चलती हुई **अस्य सेना**=प्रभु की यह सेना **हर्षते**=हर्ष का अनुभव करती है। प्रभु के सैनिक आनन्द में न होंगे तो कौन आनन्द में होगा? प्रेयमार्ग प्रारम्भ में चमकता हुआ उत्तरोत्तर क्षीणकान्ति होता जाता है। श्रेयमार्ग में उत्तरोत्तर आनन्द बढ़ता ही जाता है—वहाँ अन्त में दुःखों का पूर्ण अन्त है।

इस मार्ग पर अपने पीछे आते हुए **सखिभ्यः**=अपने मित्रों को उत्साहित करने के लिए **भद्रान्**=बड़े शुभ **इन्द्रहवान्**=सेनापति की पुकारों को **कृण्वन्**=करता है (लट्—शतृ)। प्रभु सेनापति हैं। सेनापति को सैनिकों को उत्साहित करना ही चाहिए। इस प्रकार समय-समय पर उत्साहित किये जाते हुए ये सैनिक विजयी बनते हुए लक्ष्य-स्थान पर पहुँच ही जाते हैं। प्रभु सेनापति हों, और सैनिक हार जाए यह कभी सम्भव है?

विजयी बनकर जब योद्धा अपने शिविर में पहुँचते हैं तब कवच उतार देते हैं, इसी प्रकार इन विजयी योद्धाओं के **रभसानि वस्त्रा**=इन जबर्दस्त शरीररूप वस्त्रों को **सोमः**=वह परमात्मा **आदत्ते**=वापस ले-लेता है। शरीर 'वस्त्र' है—यह विजयी बनने तक मिलता ही रहेगा। विजय-प्राप्ति के बाद प्रभु इसे वापस ले लेंगे—यही मोक्ष है। आज सचमुच 'दैवोदासि प्रतर्दन' नाम सार्थक हुआ है।

भावार्थ—प्रभु सेनानी है—मैं उनका सैनिक।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अध्यात्म संग्राम में विजय

५३४. प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन् वारं यत्पूतो अत्येष्यव्यम्।
पवमान पवसे धाम गोनां जनयन्त्सूर्यमपिन्वो अर्कैः॥ २॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'पराशर शाक्त्य' है—शत्रु को नष्ट करनेवाला और शक्तिसम्पन्न। यह काम-क्रोधादि को नष्ट करने में तत्पर है। **अव्यम्**=रक्षण करनेवालों में सर्वोत्तम ज्ञान के **वारम्**=विघ्नभूत काम को यह पराशर नष्ट करने के लिए सतत प्रयत्न में लगा है। काम ज्ञान का शत्रु है—और ज्ञान काम का विध्वंस करनेवाला। ज्ञान-जल कामाग्नि को उसी प्रकार बुझा देता है जैसे प्रचण्ड सूर्य की किरणें बादल को छिन्न-भिन्न कर देती हैं। प्रभु इस पराशर से कहते हैं कि **यत्**=जब **अव्यं वारम्**=इस सर्वोत्तम रक्षक ज्ञान के विघ्नभूत (वृ=वृत्र, वार) काम को **पूतः**=ज्ञान से पवित्र हुआ तू (**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**) **अत्येषि**=लाँघ जाता है, तब **ते**=तेरी **मधुमतीः धारा असृग्रन्**=योग की अन्तिम भूमिका में उत्पन्न होनेवाली आनन्दरस टपकानेवाली धाराएँ उत्पन्न होती हैं। यह आनन्द की वर्षा तुझे इस मार्ग में और स्थिर होने की प्रेरणा देती है।

पराशर नम्रतापूर्वक प्रभु से कहता है कि हे प्रभो! **पवमान**=आप ही तो मुझे पवित्र करनेवाले हैं। १. **गोनां धाम पवसे**=मेरी इन्द्रियों को तेज प्राप्त कराते हैं, २. **सूर्यं जनयन्**=आप ही मुझमें ज्ञान-सूर्य का उदय करनेवाले हैं। आपकी कृपा से ही मेरा ज्ञान सूर्य की भाँति चमकता है—मेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य आपके द्वारा ही तो उदित किया जा रहा है और ३. हे प्रभो! आप ही मेरे हृदय को **अर्कैः**=स्तुतिमन्त्रों से—स्तोमों से—भक्ति की भावनाओं से **अपिन्वः**=भर रहे हैं—पूरित कर रहे हैं। मेरे शरीर में तेजस्विता, मस्तिष्क में

ज्ञानाग्नि की प्रचण्डता तथा हृदय में भक्ति की भावनाएँ—ये सब आपसे ही तो पैदा की जा रही हैं। यह अत्यन्त विनीत पराशर प्रभु की गोद में क्यों न पहुँचेगा?

भावार्थ—मैं काम का संहार कर, प्रभुकृपा से इस अध्यात्म-युद्ध का विजेता बनूँ। प्रभु सेनानी हों और मैं हार जाऊँ, यह कैसे हो सकता है?

ऋषि:—**इन्द्रप्रमतिर्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मैं रसमय बनकर उस 'रस' को पी जाऊँ

५३५. प्र गायताभ्यर्चाम देवान्त्सोमं हिनोत महते धनाय ।
स्वादुः पवतामति वारमव्यमा सीदतु कलशं देव इन्दुः ॥ ३ ॥

प्रस्तुत मन्त्र में 'इन्द्रप्रमति वासिष्ठ' के जीवन का चित्रण है। इन्द्र—प्रकृष्ट मतिवाला है—उत्तम बुद्धिवाला है। वासिष्ठ—काम-क्रोध को वशीभूत करनेवाला है। यह जीवन के निम्न सूत्रों से ऐसा बना है—

१. **प्रगायत**=उस प्रभु का खूब ही गायन करो। सोते-जागते सदा उस प्रभु का स्मरण करो। यह स्मरण और गायन हमें अधर्म से बचाएगा और हमारे सामने सदा लक्ष्य-दृष्टि बनी रहेगी।

२. **अभ्यर्चाम देवान्**=हम देवों की अर्चना करें। बड़े व्यक्तियों के आदर की भावना हममें सदा बनी रहे। 'माता-पिता, आचार्य व अतिथियों' का आदर करनेवाले बनें—ये हमारे लिए देव हों।

३. **सोमं हिनोत महते धनाय**=ज्ञानरूप महान् धन के लिए संयमी बनकर हम सोम को अन्दर प्रेरित करनेवाले हों। vitality व वीर्यशक्ति हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग को स्वस्थ बनानेवाली होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बने। रुपया-पैसा तो विषय-ग्रसित पुरुष भी कमा सकता है।

४. **स्वादुः**=अत्यन्त माधुर्यमय जीवनवाले बनकर हम **अव्यं वारम्**=सर्वोत्तम रक्षणीय वस्तु ज्ञान के विघ्नभूत काम को **अतिपवताम्**=लाँघ जाएँ। काम को जीतने का वास्तविक उपाय जीवन को मधुर बनाना ही है—प्राणिमात्र के लिए मैं माधुर्य लिये हुए होऊँ। संकुचित प्रेम ही काम है—यही व्यापक होकर माधुर्य बन जाता है।

५. जब मैं अपने जीवन को उल्लिखित प्रकार से बनाता हूँ तब मेरा यह शरीर सचमुच 'कलश' बनता है। 'कलाः शेरते अस्मिन्' इसमें सोलह-की-सोलह कलाओं का प्रवेश होता है और इस **कलशः**=सुन्दर सकल शरीर में **इन्दुः देवः**=वह सर्वशक्तिमान् सर्वैश्वर्य-सम्पन्न दिव्य प्रभु **आसीदतु**=आकर विराजमान हों। मेरा शरीर प्रभु का निवास-स्थान बने। इस दिन प्रभु से ज्ञान प्राप्त करता हुआ मैं 'प्रमति' क्यों न बनूँगा?

भावार्थ—स्तुति, बड़ों का आदर, संयम तथा माधुर्य मेरे जीवन को प्रभु के निवास के योग्य बनाएँ।

ऋषि:—**वसिष्ठो मैत्रावरुणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु की ओर

५३६. प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो रथो न वाजं सनिषन्नयासीत् ।
इन्द्रं गच्छन्नायुधा संशिशानो विश्वा वसु हस्तयोरादधानः ॥ ४ ॥

'वसिष्ठ' जब काम-क्रोध को वशीभूत करके प्रभु की ओर चलता है तब इसका जीवन ऐसा बनता है--

१. **प्र हिन्वानः**=यह सोम को अपने शरीर में प्रकर्षेण व्याप्त करता है। इसमें उसे रस का अनुभव होता है।

२. **जनिता रोदस्योः**=यह द्यावापृथिवी का विकास करनेवाला होता है। यह शरीर के स्वास्थ्य का भी पूरा ध्यान करता है और मस्तिष्क के विकासवाला भी होता है।

३. **रथः न**=शरीर को यह जीवन-यात्रा के लिए रथ ही बनाये रखता है—इसे वह भोग भोगने का साधन नहीं बनाता।

४. **वाजं सनिषन्**=शरीर में गति, प्राणों में शक्ति, मन में त्याग तथा बुद्धि में ज्ञान को धारण करता हुआ यह **अयासीत्**=आगे और आगे बढ़ता जाता है। किधर?

५. **इन्द्रं गच्छन्**=यह उस परमैश्वर्यवाले प्रभु की ओर निरन्तर चल रहा है।

६. **आयुधा संशिशानः**=इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप आयुधों को यह निरन्तर तीव्र कर रहा है। प्रभु-प्राप्ति के मार्ग में कितने ही विघ्न हैं। आसुर भावनाओं से संग्राम के लिए यह अपने अस्त्रों को तीव्र रखता है।

७. **विश्वा वसु हस्तयोः आदधानः**=सम्पूर्ण धनों को यह हाथों में धारण किये हुए है। ऐश्वर्य की कमी नहीं, परन्तु यह उसमें फँसता नहीं। योगी भी विभूतियों को लेकर चलता है तथा कामादि असुर विघ्नरूप में उपस्थित होते ही हैं, परन्तु योगी उनमें फँसता नहीं।

भावार्थ—वसिष्ठ बनकर हम प्रभु की ओर चलें। मार्ग में आनेवाले विघ्नों को जीतने के लिए हम अपने अस्त्रों को तीव्र रखें।

ऋषिः—**वासिष्ठः कर्णश्रुत्**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

साधन-त्रयी

५३७. तक्षद्यदी मनसो वेनतो वाग् ज्येष्ठस्य धर्मं द्युक्षोरनीके।
आदीमायन् वरमा वावशाना जुष्टं पतिं कलशे गाव इन्दुम्॥ ५॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वासिष्ठ कर्णश्रुत्' है। जो संयमी है, वह 'वासिष्ठ' है। संयमी होता हुआ 'कर्णश्रुत्' है—कानों से ध्यानपूर्वक सुननेवाला। यह कर्णश्रुत् **यत् ई**=जब निम्न तीन बातों को करता है **आत्**=तभी **ईम्**=निश्चय से **गावः**=इसकी इन्द्रियाँ **आवावशानाः**=प्रबल कामना करती हुई **कलशे**=इस स-कल शरीर में उस **वरम्**=सर्वोत्कृष्ट **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन के योग्य **पतिम्**=रक्षक **इन्दुम्**=सर्वशक्तिशाली प्रभु को **आयन्**=प्राप्त होती हैं। 'आवावशानाः' शब्द इस बात को सुव्यक्त कर रहा है कि प्रबल कामना होने पर ही वे प्रभु मिलेंगे। कोई भी वस्तु अनिच्छा से प्रयत्न होने पर प्राप्त नहीं होती, 'मुमुक्षुत्व'=संसार के बन्धनों से छुटने की प्रबल इच्छा प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रथम साधन है। 'कलशे' शब्द की भावना यह है कि हम जिस शरीर में प्रभु का दर्शन करना चाहते हैं उसे 'सकल'=सर्वकला सम्पूर्ण बनाने का प्रयत्न करें। वे 'षोडशी' प्रभु तो तभी मिलेंगे यदि हम भी सोलह कला सम्पूर्ण बनने का प्रयत्न करें। अस्तु, वे तीन बातें निम्न हैं—

१. **वेनतः**=कामयमान मेधावी पुरुष से जब **मनसः**=मन से—हृदय से—इच्छापूर्वक **वाक्**=वेदवाणी **तक्षत्**=अपने अन्दर निर्माण की जाती है। हम हृदय को पवित्र करेंगे तभी ये वेदवाणियाँ हमारे हृदय में प्रभु द्वारा उच्चरित होंगी। हमारे अन्दर इस बात की प्रबल कामना हो और हृदय से इस वेदज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

२. **ज्येष्ठस्य धर्मम्**=बड़े के धर्म को जब **तक्षत्**=अपने में बनाता है। बड़े का धर्म क्या है? बड़ा बनना—क्षुद्रता=meanness—कमीनेपन से ऊपर उठना। 'उदार' ही तो धर्म है। काम-क्रोध से पराजित न होना यह है—बड़प्पन।

३. **द्युक्षोः**=दिव्यता में निवास करनेवाले के (द्यु-क्षु) **अनीके**=मुख में—अग्रभाग में या शक्ति में **तक्षत्**=अपने को बनाता है। उत्तरोत्तर दिव्यता को अपने अन्दर बढ़ाने का प्रयत्न करने पर हम देव बनकर उस देवाधिदेव को क्यों न प्राप्त करेंगे? 'ज्ञान को बढ़ाना' उस 'सर्वज्ञ' के समीप पहुँचने के लिए आवश्यक है ही।

भावार्थ—हम ज्ञान, धर्म तथा दिव्यता के द्वारा प्रभु की ओर बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—**नोधा गोतमः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

एकाग्रता व आत्मनिष्ठा

५३८. साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः।
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी॥ ६॥

दुःख-सुख से ऊपर उठ जानेवाले इस **धीरस्य**=धीर पुरुष की **धीतयः**=ध्यानवृत्तियाँ—अन्तःकरण की वृत्तियाँ १. **साकमुक्षः**=(साकम् उक्षः) सदा साथ रहनेवाली होती हैं। सामान्यतः मनुष्य का मन विविध विषयों के ध्यान में भागता रहता है—कभी पर्वतों, कभी समुद्रों और कभी दिशाओं में भटकता रहता है (मनो जगाम् दूरकम्), परन्तु धीर पुरुष इसे इधर-उधर भागने से रोककर एकाग्रवृत्तिवाला बनाता है। उसकी चित्तवृत्ति आत्मा के साथ निवास करनेवाली होती है—वस्तुतः 'स्व-स्थ' तो यही पुरुष है। फिर २. **मर्जयन्त**=धीर की चित्तवृत्तियाँ उसे (मृज् शुद्धौ) शुद्ध बनाती हैं। विषय-पङ्क में न उलझकर यह शुद्ध बना रहता है। ३. **स्व-सारः**=धीर की चित्तवृत्तियाँ 'स्व'=आत्मा की ओर 'सारः=चलनेवाली होती हैं, अतएव ४. **धनुत्रीः**=विशेष प्रेरणा को प्राप्त करानेवाली होती हैं। इन विशेष प्रेरणाओं को प्राप्त इस विशिष्ट जीवनवाले धीर पुरुष का चरित्र निम्न विशेषताओं से युक्त होता है—५. **हरिः**=यह औरों के दुःखों का हरण करनेवाला होता है, ६. **पर्यद्रवत्**=यह जहाँ भी कष्ट देखता है उसी स्थान पर पहुँचता है, यह **परि**=चारों ओर **अद्रवत्**=गति करता है, 'परिव्राजक' बनता है ७. उस-उस स्थान पर पहुँचकर **सूर्यस्य जाः**=यह ज्ञान के सूर्य का प्रकाशक होता है। लोगों के अज्ञान-अन्धकार को दूर करता है। ८. यह **द्रोणम्**=नानाविधि कष्टों से उप-द्रुत—पीड़ित संसार के प्रति **ननक्षे**=जाता है, अर्थात् अपनी ही समाधि के आनन्द में न फँसकर लोगों के दुःखों व अज्ञानों को दूर करने में समय व्यतीत करता है ९. यह **अत्यः न**=सतत गतिशील घोड़े के समान होता है। आराम को तिलाञ्जलि देकर यह लोकहित में लगा हुआ है—थकता नहीं, **वाजी**=शक्तिशाली जो है। वस्तुतः आत्मा के साथ रहनेवाली ध्यानवृत्तियों ने इसके जीवन को बड़ा शक्तिशाली बना दिया है। प्रेयमार्ग में क्षीणता है, श्रेयमार्ग में शक्ति। इस

शक्ति को प्राप्त करके यह 'सर्वभूतहिते रतः' है, उसके लिए सतत गतिशील है।

उल्लिखित नौ बातों से युक्त जीवनवाला 'नवधा'=नोधा है। प्रभु की दृश्य नव=स्तुति को धारण करनेवाला है (नू=स्तुतौ)।

भावार्थ—मेरा जीवन एकाग्रता व दिव्यशक्ति के द्वारा लोकहित में अर्पित हो।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शुभ गुणों में स्पर्धा

५३९. अधि यदस्मिन् वाजिनीव शुभः स्पर्धन्ते धियः सूरे न विशः।
अपो वृणानः पवते कवीयान् व्रजं न पशुवर्धनाय मन्म॥ ७॥

यत्=यह सत्य है कि **अस्मिन्**=इस **वाजिनि**=शक्तिशाली पुरुष में **शुभः धियः**=शुभ कर्म या शुभ प्रज्ञाएँ **अधि**=आधिक्येन **स्पर्धन्ते इव**=स्पर्धा-सी करती हैं। सब प्रज्ञाएँ उस शक्तिशाली पुरुष में स्थान पाने के लिए लालायित-सी रहती हैं। वस्तुतः वीरता सब शुभ गुणों का आधार है। इस शक्तिशाली को आधार बनाने के लिए गुण स्पर्धावाले होते हैं। **न**=जैसे **विशः**=प्रजाएँ **सूरे**=सूर्य में। सूर्य के प्रकाश के लिए जैसे प्रजाएँ लालायित होती हैं उसी प्रकार गुण शक्तिशाली पुरुष के लिए।

यह शक्तिशाली पुरुष **अपः वृणानः**=कर्मों का वरण करता है—सदा कर्मनिष्ठ होता है। **पवते**=कर्मनिष्ठता के द्वारा अपने को पवित्र बनाता है। **कवीयान्**=यह अत्यधिक क्रान्तदर्शी होता है, वस्तुओं के तत्त्व को देखता है। **पशुवर्धनाय**=('कामः पशुः, क्रोधः पशुः') काम-क्रोध पशु हैं। इनके वर्धन=छेदन के लिए **मन्म**=ज्ञान को **व्रजम् न**=बाड़े की भाँति बनाता है। जैसे बाड़े में बन्द करके पशु को हम वश में कर लेते हैं, इसी प्रकार ज्ञानरूप बाड़े में हम काम-क्रोधरूप पशुओं को वशीभूत कर लेते हैं। वशीभूत काम पुरुषार्थ है—यह हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाने के लिए आवश्यक है। घोड़ा बेक़ाबू होता है तो सवार को घसीटता है, परन्तु क़ाबू हुआ-हुआ वही उसे उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचाता है। इसी प्रकार वशीभूत काम की बात है। उच्छृङ्खल काम हमें कुचल डालता है—नियन्त्रित काम प्रभु-प्राप्ति में सहायक होता है। यह काम-क्रोध का वशीकरण कण-कण करके, चींटी की चाल से धीमे-धीमे ही होगा, अतः इसका साधक 'कण्व' कहलाता है। धीमे-धीमे इसका जीवन उदात्त, उदात्ततर व उदात्ततम—घौर होता जाता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को ऐसा बनाएँ कि सब गुण हमें अपना आधार बनाएँ।

ऋषिः—**मन्युर्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान की तरङ्गें—ज्ञान का प्लावन

५४०. इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय।
हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं वरिवस्कृण्वन् वृजनस्य राजा॥ ८॥

कामादि पशुओं के संहार के लिए जब मनुष्य ज्ञानरूप बाड़ा बनाता है तब उसका जीवन निम्न प्रकार से चलता है—१. **इन्दुः**=(इन्द To be powerful) यह शक्तिशाली बनता है।

कामादि वासनाएँ ही मनुष्य की शक्ति को जीर्ण करती हैं। २. **वाजी**=यह शक्ति इसे रोगों से युद्ध करने में समर्थ बनाती है। इसकी वीर्यशक्ति (vitality) रोगकृमियों के विरोध में युद्ध करती है (Wages a war)। एवं, इसका अन्नमयकोश वज्र-तुल्य दृढ़ होता है तो प्राणमयकोश रोगकृमियों के संहार की शक्तिवाला होता है। ३. **पवते**=इसका मन पवित्र होता है, और ४. **गो नि ओघाः**=इसके विज्ञानमयकोश में ज्ञान की वाणियों का प्लावन-(flood)-सा आ जाता है, अर्थात् इसकी बुद्धि सूक्ष्म होकर इसका ज्ञान बहुत ही बढ़ जाता है। ५. इन चारों कोशों में उत्कर्ष के साथ सबसे बड़ी बात यह होती है कि इस **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय व्यक्ति में **सोमः**=वह शान्तरूप प्रभु **सह**=साथ रहते हुए **इन्वन्**=सदा इसे प्रेरणा देते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि **मदाय**=इसके जीवन में मद व उल्लास होता है।

इस शक्ति के मद में यह ६. **हन्ति रक्षः**=सब राक्षसी वृत्तियों को समाप्त कर देता है। **अरातिम्**=न देने की वृत्ति को **परिबाधते**=सर्वतः कुचल देता है। इसका जीवन अशुभ वृत्तियों से शून्य होकर पवित्र हो जाता है। पवित्र हृदय होकर यह ७. **वरिवः**=प्रभु की पूजा **कृण्वन्**=करता है और **वृजनस्य**=सब दोषों का वर्जन करनेवाली शक्ति का **राजा**=स्वामी होता है। शक्ति से इसका जीवन चमकता है। इस जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि यह 'गोन्योघाः'=ज्ञानजल के प्लावनवाला होता है। ज्ञानातिरेक से ही इसका नाम 'मन्युः' (ज्ञानी) हो गया है। यह 'वासिष्ठ' है—काम-क्रोध को वश में किये हुए है।

भावार्थ—मैं ज्ञान-जल में तैरनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु ही मेरे प्राण हों

५४१. अया पवा पवस्वैना वसूनि माँश्चत्व इन्दो सरसि प्र धन्व।
ब्रध्नश्चिद्यस्य वातो न जूतिं पुरुमेधाश्चित्तकवे नरं धात्॥ ९॥

अया=इस **पवा**=पावन क्रिया से **एना वसूनि**=इन वास के साधनभूत शरीर, मन व बुद्धि आदि को **पवस्व**=पवित्र कर। गत मन्त्र में 'गोन्योघाः'=ज्ञान के प्लावनवाला बनने का उल्लेख है, 'सह'=परमेश्वर के साथ रहने का संकेत है और 'वरिवः कृण्वन्'=उसकी पूजा करने का वर्णन है। यही वस्तुतः अपने को पवित्र बनाने की प्रक्रिया है। इसी मार्ग पर चलने से मनुष्य इस शरीर के अङ्गभूत वसुओं को पवित्र बनाये रख सकता है। 'अया पवा' में 'अया' शब्द सर्वनाम होता हुआ गत मन्त्र की पवन-क्रिया का ही संकेत करता है। हमें ज्ञान व भक्ति से अपने को पूर्ण पवित्र बनाने का ध्यान करना है।

प्रभु कहते हैं कि अपने को पवित्र बनाकर हे **इन्दो**=शक्तिशाली जीव! तू **मांश्चत्वे**=कर्म में तथा **सरसि**=(सरं इति वाङ्नाम—नि० १.११.५५) ज्ञान में **प्रधन्व**=प्रकर्षेण गतिवाला हो। निघण्टु में (१.१४.१८) 'मांश्चत्व' का अर्थ 'अश्व' दिया है। यह अश्व कर्म का प्रतीक है। **'अनध्वा वाजिनां जरा'**='न चलना' घोड़ों को बूढ़ा कर देता है। इससे 'अश्व' को कर्म का प्रतीक बनाया गया है। 'मांश्चत्व' शब्द मन् तथा चर् धातु के मेल से बना है, कर्म सदा मननपूर्वक करने योग्य है, इसलिए भी इसे 'मांश्चत्व' कहा गया है। ज्ञानाधिदेवता को 'सरस्वती' कहते हैं, अतः स्पष्ट है कि 'सरस्' नाम ज्ञान का है। मनुष्य को पवित्रता से

शक्ति का सम्पादन करके मननपूर्वक कर्म [मांश्चत्वे] और ज्ञान में [सरस्] प्रवृत्त होना है तथा मनुष्य को अपना जीवन ऐसा बनाना है कि **ब्रध्नः चित्**=वह महान् परमात्मा ही **यस्य**=उसका **वातः न**=प्राण की भाँति हो (He must live in God)। प्रभु को वह अपना जीवन समझे। प्रभु स्वाभाविकी क्रियावाले हैं, क्रिया इसका भी स्वभाव बन जाए। वस्तुतः **पुरुमेधाः**=पालक-पूरक बुद्धिवाला मनुष्य **चित्**=निश्चय से **तकवे**=गति के लिए **जूतिम्**=वेग को **न रन्धात्**=कभी पृथक् नहीं करता, अर्थात् बड़ी स्फूर्ति के साथ यह सदा कार्यों में लगता है। कार्यों में लगे रहने से इसके जीवन में दो परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। यह शरीर में रोगों को उत्पन्न नहीं होने देता हुआ 'आङ्गिरस' बना रहता है और मन में बुरी भावनाओं को कुचलने में समर्थ होकर 'कुत्स' कहलाता है।

भावार्थ—मैं सदा मननपूर्वक कार्य करनेवाला बनूँ, मैं ज्ञान में विचरूँ तथा प्रभु ही मेरे प्राण हों।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अपां गर्भ बनना, तीन महान् कार्य (The greatest achievement)

५४२. महत् तत् सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽ वृणीत देवान्।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽ जनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः॥ १०॥

सोमः=सौम्य स्वभाववाला अथवा शक्ति का पुञ्ज **महिषः**=सदा प्रभु की पूजा करनेवाला **तत्**=उस **महत्**=कर्म को **चकार**=करता है, **अपां यत् गर्भः**=कर्म ही जिसके गर्भ में है, अर्थात् सदा कर्म करनेवाला बनकर **देवान् अवृणीत**=दिव्य गुणों का वरण करता है। यह कभी अकर्मण्य नहीं होता और परिणामतः इसकी दिव्यता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। **अकर्मा दस्युः**=कर्म न करनेवाला दिव्यता के क्षय से दस्यु बन जाता है। कर्म करने से दिव्यता की वृद्धि होती है—साथ ही शक्ति भी बढ़ती है, परन्तु यह **पवमानः**=अपने को पवित्र करनेवाला व्यक्ति **ओजः**=अपनी इस शक्ति को **इन्द्रे**=उस प्रभु में **अदधात्**=स्थापित करता है। इसे उस शक्ति का गर्व नहीं होता। यह प्रभु को ही शक्ति का स्रोत मानता है। शक्ति की वृद्धि के साथ यह **'इन्दुः'**=शक्तिशाली अथवा परमैश्वर्य-सम्पन्न जीव **सूर्ये**=उस चराचर के प्राणभूत-सब गतियों के मूल प्रभु में **ज्योतिः**=प्रकाश को **अजनयत्**=उत्पन्न या विकसित करता है।

भावार्थ—सोम के द्वारा तीन महान् कार्य किये जाते हैं—१. 'अपां गर्भः' सर्वदा क्रियाशील बनकर यह दिव्य गुणों का वरण करता है। २. यह अपनी शक्ति का गर्व नहीं करता तथा ३. प्रभु के विषय में अपने ज्ञान को अधिकाधिक विकसित करता है। अपनी जीवन-यात्रा के मार्ग में आये हुए विघ्नों को कुचलता हुआ 'पराशर' बनता हुआ यह 'शाक्त्य' होता है—शक्ति का पुतला बनता है।

ऋषिः—**कश्यपो मारीचः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अध्यात्मसंग्राम में सेनापति

५४३. असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ धिया मनोता प्रथमा मनीषा।
दश स्वसारो अधि सानो अव्ये मृजन्ति वह्निं सदनेष्वच्छ॥ ११॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कश्यपो मारीचः' है—ज्ञानी व वासनाओं का विध्वंस करनेवाला'।

इसके द्वारा **यथा**=जैसे **आजौ**=युद्ध में किसी सेनापति को नियुक्त किया जाता है उसी प्रकार **रथ्ये**=इस शरीररूप रथ में चलनेवाले **आजौ**=अध्यात्म-संग्राम में वह प्रभु **असर्जि**=सेनापति बनाया जाता है, जो—

१. **वक्वा**=सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान का उच्चारण करनेवाला है। इस समय भी वह वेदवाणी का उच्चारण तो करता है, परन्तु मैं उसे सुन तभी पाता हूँ जब 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' बनूँ।

२. **धियां मनोता**=जो निराकार होने के कारण बुद्धि से ही विचारा जा सकता है। **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'। 'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु'।** वह प्रभु सूक्ष्म बुद्धि तथा मन से ही जाना जाता है।

३. **प्रथमा मनीषा**=जो अत्यन्त विस्तृत बुद्धि व ज्ञान ही है। प्रभु ज्ञान की ही तो चरम सीमा है। **'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'**=ज्ञान का तारतम्य जहाँ विश्रान्त होता है—वे ही तो प्रभु हैं।

इस प्रभु को जब हम सेनापति बनाते हैं तब वे **दश**=दस इन्द्रियाँ जो अभी तक विषयों से अभिभूत हो जाती थीं, अब वे विषयासक्त न होकर **स्व-सारः**=आत्मतत्त्व की ओर चलने लगती हैं और हमें **सानोः**=मेरुपर्वत के **अव्येअधि**=अत्यन्त सुरक्षित शिखर पर पहुँचाती हैं। शरीर में मेरुदण्ड ही मेरुपर्वत है, इसके शिखर पर आत्मा का कार्यक्षेत्र है। मस्तिष्करूप कार्यालय में स्थित आत्मा प्रभु का दर्शन करता है। इस प्रकार ये इन्द्रियाँ **मृजन्ति**=हमें अधिक और अधिक शुद्ध बनाती चलती हैं। इस शुद्धता के द्वारा वे भक्तों को **सदनेषु**=इन शरीररूप घरों में **वह्निं अच्छ**=मोक्ष प्राप्त करानेवाले प्रभु की ओर ले-चलती हैं।

भावार्थ—अध्यात्म-संग्राम में प्रभु को सेनानी बनाकर मैं विजयी बनूँ।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञातुं-द्रष्टुं-प्रवेष्टुं च (ज्ञान-दर्शन-प्रवेश)

५४४. अपामिवेदूर्मयस्तर्त्तुराणाः प्र मनीषा ईरते सोममच्छ।
नमस्यन्तीरुप च यन्ति सं चाच विशन्त्युशतीरुशन्तम्॥ १२॥

प्रभु को सेनापति बनाने पर **अपाम् ऊर्मयः इव**=जलों की तरङ्गों के समान **मनीषाः**=बुद्धियाँ **तर्त्तुराणाः**=सब विघ्न-बांधाओं की हिंसा करती हुई (तुर्वि हिंसायाम्) अथवा त्वरा से कार्यों को सिद्ध करती हुई (त्वर) **इत्**=निश्चय से **सोमम् अच्छ**=उस प्रभु की ओर हमें **प्र ईरते**=प्रकर्षेण प्रेरित करती हैं। बुद्धियों के द्वारा ही हमें ज्ञान प्राप्त होता है, मन का शासन करनेवाली बुद्धि हमें प्रभु-प्रवण करती हैं। ज्ञान के बढ़ने के साथ ज्यों-ज्यों हम उस महान् प्रभु की महिमा को सर्वत्र व्याप्त देखते हैं त्यों-त्यों हमें कण-कण में उस प्रभु की सत्ता का आभास होने लगता है—इस दर्शन का ही परिणाम होता है कि **नमस्यन्तीः**=उस प्रभु के प्रति हम नतमस्तक होते हैं। **उप च यन्ति**=और अब हम उस प्रभु की ओर चल देते हैं। इस मार्ग पर आगे बढ़ते हुए भक्त एक दिन **समाविशन्ति**=उस प्रभु में प्रवेश कर जाते हैं। नष्ट नहीं होते तद्रूप हो जाते हैं। प्रभु से इनका भेद नहीं रहता। भेद में ही तो भय है—ये अभय स्थिति में पहुँच जाते हैं। पहुँचते तभी हैं यदि **उशतीः**=उस प्रभु की प्राप्ति की प्रबल कामनावाले बने रहते हैं। ये

उस प्रभु को पाते हैं जो **उशन्तम्**=सदा अपने प्रिय मित्र जीव का भला चाहते हैं। प्रभु तो हमारा कल्याण ही चाहते हैं—उसके लिए सब आवश्यक साधन भी जुटा देते हैं। हमारी ही कामना प्रबल नहीं होती तो हम प्रभु के मेल से वञ्चित रह जाते हैं। प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चाहे हम धीमे-धीमे बढ़ें—रुकें नहीं तो लक्ष्य तक पहुँचेंगे ही। कण-कण करके आगे बढ़नेवाला यह 'प्रस्कण्व' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। थोड़ा-थोड़ा संग्रह करते चलना ही मेधाविता भी तो है—इसलिए भी यह प्रस्कण्व=मेधावी कहलाया है। उपदेशों से हमें प्रभु का ज्ञान होता है—तप, स्वाध्याय व ईश्वर-प्रणिधान से उसका दर्शन होता है और अन्त में विषयों के प्रति पूर्ण अरुचि तथा प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना से प्रभु से मेल होता है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में भी यही ज्ञान-दर्शन व प्रवेश (मेल) का क्रम सतत चलता चले।

षष्ठप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**अन्धीगुः श्यावाश्विः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

जिह्वा-रस से दूर

५४५. पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे।
अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्व्यम्॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अन्धीगु श्यावाश्वि' है। अन्ध उस संन्यासी को कहते हैं जिसने अपनी इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में किया है। 'अन्धः गावो यस्य' उस साधु की भाँति हैं ज्ञानेन्द्रियाँ जिसकी, ऐसा यह व्यक्ति 'अन्धीगुः' है। 'अन्धीगुः बनने के लिए ही वस्तुतः इसने (श्यैङ् गतौ) सदा कर्मेन्द्रियों को कर्मव्याप्त रक्खा है। यह अन्धीगु **अन्धसः**=आध्यायनीय सोम के **पुरोजिती**=(जित्या)=पूर्ण विजय के हेतु से कहता है कि हे **सखायः**=मित्रो! **वः**=तुम्हारे **दीर्घजिह्व्यम्**=दीर्घ जिह्वावाले **श्वानम्**=कुत्ते को **अपश्नथिष्टन्**=अपने से दूर हिंसित कर दो। **'जहि श्वयातुम्'** मन्त्रभाग में भी यही कहा गया है कि कुत्ते के मार्ग को छोड़ दो। कुत्ता जिह्वालौल्य का प्रतीक है—वह टुकड़े को अपने सजातीय से छीनने के लिए लड़ता है। वान्त=कै का भी अशन कर जाता है। इस जिह्वा के असंयम का परिणाम उपस्थ का असंयम है। जिह्वा के रस में फँसा हुआ व्यक्ति कभी भी सोम का पूर्ण संयम नहीं कर सकता।

पर प्रश्न तो यह है कि इस सोम के संयम की आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि १. **सुताय**=उत्पादन के लिए सोम का संयम आवश्यक है। संयमी पुरुष ही कुछ निर्माण का कार्य कर सकते हैं। २. **मादयित्नवे**=प्रसन्न बनाने के लिए यह संयत सोम साधन बनता है। संयमी पुरुष का जीवन उल्लासमय होता है—वह कभी मुरझाए हुए चेहरेवाला नहीं दिखता। एवं, 'हमारा जीवन सदा उल्लासमय हो' और 'हम कुछ-न-कुछ निर्माणात्मक कार्य कर पाएँ' इन दोनों बातों के लिए संयम की आवश्यकता है और उस संयम के लिए जिह्वारस को कुचलना आवश्यक है। जिह्वारस से बचेंगे और कर्म में लगे रहेंगे तो ज्ञानेन्द्रियों पर अवश्य प्रभुत्व पा लेंगे। यह पाँचों 'ज्ञानेन्द्रियों को [illegible] करनेवाला'

व्यक्ति ही अन्धीगु है।

भावार्थ—मैं जिह्वा का संयम साधूँ।

ऋषि:—**नहुषो मानव:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥ स्वर:—**गान्धार:**॥

नहुष-मानव (मिलनसार मनुष्य)

५४६. अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति।
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे॥ २॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नहुष मानव' है। मननपूर्वक प्रत्येक कर्म को करनेवाला यह (नह बन्धने) औरों के साथ अपने जीवन को सम्बद्ध करके चलता है। अपनी ही मौज में मस्त न होकर यह औरों के साथ सहानुभूति रखता है—उनके दु:ख में दु:खी होता है, सुख में सुखी। इसका जीवन भोग-प्रवण न होने से ही **अयम्**=यह **पूषा**=अपने स्थूलशरीर को ठीक पुष्ट रख पाता है—इसका शरीर दुर्बल नहीं होता। भोग ही तो रोगों व क्षीणता के कारण होते हैं। यह उनसे दूर ही है। इसका प्राणमयकोश **रयि: भग:**=चान्द्रमस् तत्त्व व सौर तत्त्व की शक्तिवाला होता है। 'रयि' चन्द्रमा है, 'भग' सूर्य है, सूर्य प्रजाओं का प्राण है, प्राण के स्थान में भग का प्रयोग ठीक ही है। इन दोनों तत्त्वों के समन्वय पर ही पूर्ण स्वास्थ्य निर्भर है। शरीर के विकास व दोषों के दूरीकरण व नैर्मल्य का परिणाम यह होता है कि यह **सोम:**=सौम्यता को धारण करता है—अभिमान से शून्य होता है और अपने मनोमयकोश को **पुनान:**=पवित्र करता हुआ **अर्षति**=(ऋष् गतौ) ऋषि बनता है—तत्त्वद्रष्टा होता है। इस तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने के उपरान्त यह **विश्वस्य**=सब **भूमन:**=(यो वै भूमा तत्सुखम्) सुख का **पति:**=पति होता है। विज्ञानमयकोश में ज्ञान की दीप्ति के उपरान्त ही आनन्दमयकोश में सुखानुभव होता है।

इस प्रकार अपने पञ्चकोशों का ठीक विकास करता हुआ यह 'नहुष' **उभे रोदसी**=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक को **व्यख्यत्**=प्रकाशित करता है। इसके यश का प्रकाश सर्वत्र फैलता है, इतना ही नहीं, यह सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैलाता है। ज्ञान के प्रकाश द्वारा अन्धकार को दूर कर सभी के जीवनों को सुखी व उन्नत बनाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को सुन्दर बनाकर औरों के मङ्गल में प्रवृत्त हों।

ऋषि:—**ययातिर्नाहुष:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥ स्वर:—**गान्धार:**॥

हम दिव्यता में आनन्द लें

५४७. सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः।
पवित्रवन्तो अक्षरन्देवान्गच्छन्तु वो मदाः॥ ३॥

औरों के साथ अपने जीवन को सम्बद्ध करके चलनेवाला 'नाहुष' सदा गतिमय रथवाला (वायोरिव रथं 'याति' यस्य स:) 'ययाति' इस मन्त्र का ऋषि है। इन ययातियों का जीवन निम्न प्रकार का होता है—

१. **सुतासः**=ये सदा निर्माणात्मक कार्य ही करते हैं, इनका जीवन ध्वंस के लिए नहीं होता। अ-ध्वर=यज्ञमय जीवन हिंसा व तोड़-फोड़ से रहित होना ही चाहिए।

२. **मधुमत्तमाः**=ये अत्यन्त माधुर्य को लिये हुए होते हैं। इनकी वाणी से कभी कोई कटु शब्द उच्चरित नहीं होता। वे मधुर-ही-मधुर शब्दों का प्रयोग करते हैं।

३. **सोमाः**=ये सौम्य, विनीत व अतिमानिता से दूर होते हैं। अभिमान इनकी दिव्यता को कभी कलंकित नहीं करता। नम्रता से ये सदा उन्नत बने रहते हैं। अभिमान के कारण ये लोगों के द्वेष्य नहीं बनते।

४. **इन्द्राय**=सौम्य बने रहने के लिए ये सदा उस परमैश्वर्यवान् प्रभु के लिए **मन्दिनः**=(मन्दतेः स्तुतिकर्मणः) स्तुति करनेवाले होते हैं। प्रभु की स्तुति ही इनकी उदात्तता को स्थिर रखती है।

५. **पवित्रवन्तः**=ज्ञानवाले बनते हैं। ज्ञान के कारण ही तो ये सुखों में फँसकर स्वार्थी नहीं हो जाते।

६. **अक्षरन्**=ज्ञान के द्वारा ये मलों को अपने से दूर करते हैं। उत्तरोत्तर पवित्रता का साधन ही इनके जीवन का उद्देश्य होता है। ये अपवित्र वस्तुओं में आनन्द का अनुभव नहीं करते। प्रभु के इस आदेश को ये नहीं भूलते कि **वः मदाः**=तुम्हारे आनन्द **देवान् गच्छन्तु**=दिव्य गुणों की ओर चलें, अर्थात् तुम अच्छी बातों में आनन्द लेने का प्रयत्न करो। इसीलिए यह 'ययाति नाहुष' जीवन की साधना, दिव्य गुणों की प्राप्ति व निर्माणात्मक कार्यों में आनन्द लेने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—मैं दिव्यता की वृद्धि में आनन्द लेनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**मनुः सांवरणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ठीक चुनाव (A right choice)

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५४८. सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ १ २
मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः॥ ४॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति पर कहा गया है कि हम दिव्यता में आनन्द लेने का प्रयत्न करें। वस्तुतः संसार में दो ही मार्ग हैं—एक दिव्यता का और दूसरा भौतिकता का। ये ही श्रेय व प्रेय कहे गये हैं। हमें इनमें चुनाव करना है। उपनिषद् कहती है कि **'तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः'**=धीर पुरुष सब दृष्टिकोणों से इनका विवेक करता है और विवेक करके श्रेय का ग्रहण करता है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि भी 'मनु' है—विचारनेवाला है और विचार का ही परिणाम है कि यह 'सांवरण' है=सम्यक्-उत्तम-वरणवाला है—प्रेय को न चुनकर यह श्रेय का ही वरण करता है। यह श्रेयोमार्ग पर चलनेवाला अपने जीवन को निम्न प्रकार का बनाता है—

१. **सोमाः**=ये सौम्य—विनीत होते हैं—विनीतता से ही तो ये उन्नत हैं। अभिमान से इनकी दिव्यता कलंकित नहीं होती।

२. **पवन्ते**=ये गतिशील होते हैं और अपने को पवित्र बनाते हैं। वस्तुतः गतिशीलता ही इनके जीवन को पवित्र करनेवाली है।

३. **इन्दव:**=पवित्रता के कारण—भोगग्रसित न होने के कारण ये शक्तिशाली हैं।

४. **अस्मभ्यं गातुवित्तमा:**=हमारे लिए बड़े उत्तम प्रकार से मार्ग का ज्ञान देनेवाले व मार्ग को प्राप्त करानेवाले हैं। इनके शब्द ही नहीं इनका जीवन हमारे लिए पथ-प्रदर्शन का काम करता है।

५. **मित्रा:**=ये सचमुच हमारा हित चाहनेवाले होते हैं, हित चाहने के कारण ही इनके वाक्यों का हमारे हृदयों पर विशेष प्रभाव होता है।

६. **स्वाना:**=(सु+आना:) ये अपने उपदेशों से हम सबके अन्दर उत्साह का संचार करते हैं। अत्यन्त पतित भी इनके सम्पर्क में आकर उत्साह से पाप को तैरने में प्रवृत्त होता है।

७. **अरेपस:**=स्वयं इनका जीवन निर्दोष होता है तभी यह औरों को प्रभावित कर पाता है।

८. **स्वाध्य:**=जीवन को निर्दोष बनाने के लिए ये उत्तम ध्यानवाले होते हैं। (सुष्ठु ध्यानवन्त:) प्रभु का ध्यान इन्हें पापों से बचाए रखता है।

९. **स्वर्विद:**=ये उस स्वर=स्वयंप्रकाश ब्रह्म को प्राप्त (विद्) करनेवाले होते हैं—ब्रह्मनिष्ठ होते हैं। ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही गुह्य अन्धकार—हृदय के अज्ञान को दूर करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम संसार में श्रेय का ही वरण करें। प्रेय का वरण कर भटकते ही न रह जाएँ।

ऋषि:—**अम्बरीषो वर्षागिर ऋजिष्वा भरद्वाज:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥ स्वर:—**गान्धार:**॥

उत्तम सांसारिक जीवन

५४९. अभी नो वाजसातमं रयिमर्ष शतस्पृहम्।
इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं विभासहम्॥ ५॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अम्बरीषो वर्षागिर ऋजिष्वा भरद्वाज:' है। (अम्ब to sound) ये आये-गये का 'आइए, बैठिए' इत्यादि मधुर शब्दों से स्वागत करता है, अतएव 'अम्बरीष' है। इसकी वाणी (गिर्) माधुर्य की वर्षा करनेवाली होने से यह 'वार्षागिर' है। (ऋजु) सदा सरल मार्ग से चलने (श्वि) के कारण यह 'ऋजिष्वा' है—इस मार्ग पर चलकर अपने में शक्तिसंचय करनेवाला यह 'भरद्वाज' है। यह प्रभु से आराधना करता है—**इन्दो**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **न:**=हमें **रयिम्**=सम्पत्ति की **अभि**=ओर **अर्ष**=ले-चलिए। सम्पत्ति के बिना यह आतिथ्य भी तो नहीं कर सकता। कोई भी लोकहित का कार्य यह सम्पत्ति से ही तो करेगा। सब सम्पत्ति के स्वामी वे प्रभु हैं—वे लोकहित के कार्यों के लिए मुझे अपनी सम्पत्ति का अंश प्राप्त कराएँ।

परन्तु यह सम्पत्ति कहीं काले धन के रूप न होकर हमारे लिए सदा—

१. **वाजसातमम्**=(सन्=प्राप्त कराना)—शक्ति प्राप्त करानेवाली हो। सम्पत्ति प्राप्त करके भी मैं कर्म करूँ और शक्तिसम्पन्न बना रहूँ।

२. **शतस्पृहम्**=हमारी सम्पत्ति शतश: पुरुषों से स्पृहणीय हो। मैं सम्पत्ति का अर्जन

परपीडन से न करूँ और उसका विनियोग सार्वजनिक कार्यों के लिए भी करूँ, जिससे लोग मेरे लिए कहें कि 'सम्पत्ति हो तो ऐसी ही हो'।

३. **सहस्रभर्णसम्**=मेरी सम्पत्ति से सहस्रों पुरुषों का भरण-पोषण चलता हो। मैं 'केवलादी' बनकर 'केवल+अघ (पाप)' न बन जाऊँ।

४. **तुविद्युम्नम्**=महान् ज्योति को लिये हुए मेरी सम्पत्ति हो। सामान्यत: 'सरस्वती व लक्ष्मी' में विरोध समझा जाता है। मेरी सम्पत्ति ज्ञान की सहायिका हो। सम्पत्ति मेरे घर को एक सुन्दर पुस्तकालय से अलंकृत कर दे।

५. **विभासहम्**=ज्ञान प्राप्त कराके यह मुझे क्षमाशील बनाए। धन के मद में मैं अहंकार में रत न हो जाऊँ, औरों की कमियों को सह सकूँ—क्षमा की वृत्ति को अपनानेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं धन-सम्पन्न होकर भी शक्ति-सम्पन्न, न्यायमार्ग पर चलनेवाला, औरों का पोषण करनेवाला, ज्ञानप्रवण और क्षमाशील बना रहूँ।

ऋषि:—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥ स्वर:—**गान्धार:**॥

अ-हिंसा

५५०. अभी नवन्ते अद्रुहः प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
वत्सं न पूर्व आयुनि जातं रिहन्ति मातरः ॥ ६ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि रेभ=स्तोता, सूनू=प्रेरणा को सुननेवाले तथा काश्यप=ज्ञानी हैं। ये **अद्रुह:**=सब प्रकार के द्रोहों से ऊपर उठते हुए, किसी की हिंसा करना न चाहते हुए, सभी के मङ्गल की भावना से **प्रियम्**=जीवमात्र के साथ प्रेम करनेवाले **इन्द्रस्य काम्यम्**=जितेन्द्रिय जीव से चाहने योग्य उस प्रभु के प्रति **अभिनवन्ते**=जाते हैं, (नव गतौ)—उसकी स्तुति करते हैं (नु स्तुतौ) या उसके प्रति नतमस्तक होते हैं (नम)। सदा प्रभु का स्तवन करनेवाले कभी भी किसी के प्रति द्वेष की भावना नहीं रख सकता। प्रभु का भक्त तो 'सर्वभूतहिते रत:' होता है। प्रभु की कृपा से वह सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त है तो उसे प्रभु के प्राणियों के कल्याण में प्रवृत्त होना ही चाहिए। गत मन्त्र में एक 'पवित्र+धन-सम्पन्न घर का' चित्रण हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में उस घर में उत्पन्न 'योग-प्रवण' (प्रभु-भक्त) का चित्रण करते हैं कि 'वह किसी से भी कभी द्वेष नहीं करता'।

'क्या पापी से भी हमें घृणा न हो?' इस प्रश्न का उत्तर वेद इस प्रकार से देता है कि **न**=जिस प्रकार **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए **पूर्वे आयुनि**=प्रथम अवस्था में वर्त्तमान **वत्सम्**=बछड़े को **मातर:**=उसकी माताएँ—गौएँ **रिहन्ति**=चाटती हैं। बछड़े का शरीर मलिन होता है—परन्तु उसकी माता उसे चाट-चूटकर शुद्ध कर देती है। इसी प्रकार हमें भी प्राणियों से घृणा न करके बड़े कोमल उपायों से उसे शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। हम पाप को दूर करने का प्रयत्न करें, न कि पापी को समाप्त करने का। पाप को दूर करना ही वस्तुत: पापी को समाप्त करना है। गौ को जैसे बछड़े से प्रेम है, उसी प्रकार प्रेम की भावना से पूर्ण होने पर मैं पापी को अपनी ओर आकृष्ट करके पाप को समाप्त कर पाऊँगा।

भावार्थ—मैं अहिंसावृत्ति का पोषण करूँ, तदर्थ प्रभु का स्तोता बनूँ।

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

आत्मरूप शरवाला धनुष (प्रणवो धनुः)

५५१. आ हर्यताय धृष्णवे धनुष्टन्वन्ति पौंस्यम्।
शुक्रा वि यन्त्यसुराय निर्णिजे विपामग्रे महीयुवः ॥ ७ ॥

शुक्राः=जो व्यक्ति अपने जीवन को (शुच् दीप्तौ) शुद्ध बनाते हैं या शक्तिशाली (शुक्र=वीर्यम्) बनाते हैं, वे **हर्यताय**=(हर्य=कान्ति) कामना के योग्य—जीव से चाहने योग्य **धृष्णवे**=हमारे कामादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्रभु के लिए **पौंस्यम्**=(पूञ्+तुमुन्) पवित्र किये हुए आत्मरूप तीरवाले **धनुः**=धनुष को **आतन्वन्ति**=खूब तानते हैं। उपनिषदों में इस धनुष का रूपक इस रूप में दिया है—**प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्**=ओंकार धनुष है, आत्मा ही बाण है, ब्रह्म उसका लक्ष्य है। बड़ी सावधानी से उसका वेध करना चाहिए। शर जिस प्रकार लक्ष्य में प्रविष्ट हो जाता है, इसी प्रकार आत्मरूप शर भी ब्रह्मरूप लक्ष्य में प्रविष्ट हो जाए। वास्तव में ही **शुक्राः**=अपने को शुद्ध बनानेवाले ये उपासक **असुराय**=(असून् राति) प्राणों के प्राण, प्राणों के दाता उस प्रभु के लिए **वियन्ति**=विशेषरूप से जाते हैं और उसी में प्रवेश कर जाते हैं (अभिसंविशन्ति)। इस प्रभु में प्रवेश के द्वारा वे **निर्णिजे**=पूर्णरूप से अपने शोधन के लिए समर्थ होते हैं (णिजिर्=शुद्धि)। वे प्रभु सहस्रधार=पवित्र हैं, उनमें यह उपासक सर्वथा शुद्ध हो जाता है।

इस प्रकार अपना शोधन करनेवाले ये व्यक्ति **विपाम् अग्रे**=मेधावियों के प्रमुख होते हैं। **महीयुवः**=ये भौतिक सुखों की आसक्ति से ऊपर उठ चुके होते हैं। महनीय प्रभु से मेल चाहनेवाले के लिए यह आवश्यक ही है।

भावार्थ—मैं प्रवणरूप धनुष के द्वारा आत्मरूप शर से ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेधन करूँ।

ऋषिः—**वर्षागिराम्बरीषौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ठीक चुनाव, ठीक प्रगति

५५२. परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण।
यो देवान्विश्वाँ इत्परि मदेन सह गच्छति॥ ८ ॥

'अम्बरीष'=आये-गये का मधुर शब्दों में स्वागत करनेवाला 'वर्षागिर'=जिसकी वाणी से मधु टपकता है, वह अपने जीवन को उस व्यक्ति जैसा बनाता है **यः**=जो **विश्वा देवान्**=सब दिव्य गुणों की ओर **इत्**=सचमुच **मदेन सह**=आनन्द के साथ **परिगच्छति**=जाता है। दिव्य गुणों में आनन्द लेनेवाला व्यक्ति उस उत्तम मार्ग पर उत्साह से चलता है और लक्ष्य-स्थान पर अवश्य ही पहुँचता है, परन्तु इस मार्ग पर प्रसन्नतापूर्वक चलना तभी सम्भव हो सकता है जब हम अपने जीवन का ठीक चुनाव कर लें। इसी ठीक चुनाव का उल्लेख मन्त्र के पूर्वार्द्ध में है। ये लोग **त्यम्**=उस **हर्यतम्**=काम्य—कामना करने के योग्य—चाहने योग्य **हरिम्**=सब दुःखों के हरनेवाले तथा **बभ्रुम्**=भरण-पोषण करनेवाले प्रभु को **वारेण**=वासनाओं के वारण

के द्वारा **परिपुनन्ति**=ज्ञान का विषय बनाते हैं—प्रभु का चिन्तन करते हैं। प्रभु सर्वव्यापक होने से हमारे अन्दर भी विद्यमान हैं ही, परन्तु सामान्यतः हमें प्रभु का आभास नहीं होता। जब काम-क्रोध का निवारण करके हम अपने ज्ञान को आवृत नहीं होने देते तब हमें प्रभु की प्रतीति होती है। उसमें जो आनन्द व शान्ति प्राप्त होती है, वह सांसारिक ऐश्वर्यों से भरपूर होने पर भी प्राप्त नहीं हो सकती। यह व्यक्ति विचार कर अब ठीक निश्चय करता है और प्रेय की बजाय श्रेयमार्ग को ही चुनता है। ठीक चुनाव करने के पश्चात् वह आनन्दपूर्वक इस दिव्यता की प्राप्ति के मार्ग पर बढ़ता है। संसार की चकाचौंध से इसकी आँखें चुँधयाती नहीं, यह प्रसिद्धि या यश का भूखा नहीं बनता। अप्रसिद्धि में ही रहकर, चुपचाप लोक-सेवा करता हुआ, यह दिव्यता के मार्ग पर आगे-और-आगे बढ़ता ही जाता है।

भावार्थ—मेरा चुनाव ठीक हो और तब उस श्रेयमार्ग पर मैं प्रसन्नता से आगे बढ़ूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिर्विश्वामित्रो वाच्यो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

महान् विघ्न का अपाकरण

१　२　　३　१　　　२र　३　२　३　१　२３　१　　२र
५५३. प्र सुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः।
२３　　१　२　　３१२३　२　३　१　　　　२र
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः॥ ९॥

गत मन्त्र में प्रेय और श्रेय में ठीक चुनाव करनेवाले व्यक्ति का उल्लेख था। उसने संसार की चमक को देखकर अपने मन में लालच उत्पन्न नहीं होने दिया। यह अपने उपास्य प्रभु का अनुकरण करके, छोटे रूप में, 'प्रजा-पति' बना, औरों का रक्षक बना। सभी का मित्र होने पर 'वैश्वामित्र' कहलाया, सभी की प्रशंसा प्राप्त करके 'वाच्य' (one who is praised) हुआ। यह कहता है कि **भृगवः**=(भ्रस्ज पाके) अपना परिपाक करनेवाले तपस्वियो! **अराधसम्**=सिद्धि न होने देनेवाले—सिद्धि के विघ्नभूत **श्वानम्**=लोभवृत्ति को **उ**=निश्चय से **अपहत**=दूर (विनष्ट) करो, **न मखम्**=यज्ञिय भावना को नहीं। स्वार्थ व लोभ मनुष्य को आगे नहीं बढ़ने देते। वे सिद्धि के मार्ग के सर्वमहान् विघ्न हैं—उनका अपाकरण सिद्धि के लिए आवश्यक है। जितना-जितना हम लोभ को जीतते हैं उतना-उतना सिद्धि के समीप पहुँचते हैं। प्रभु यज्ञ हैं, उन्हें हम अपने अन्दर यज्ञिय भावना को विकसित करके ही तो पा सकेंगे।

हे **मर्तः**=मनुष्यो! **अन्धसः**=आध्यातव्य परमात्मा के **प्रसुन्वानाय**=अपने अन्दर खूब विकास करनेवाले के लिए **तद्वचः**=वेदों के वे अर्थवादरूप वचन, जिनमें विविध यज्ञों की फल-श्रुतियों का उल्लेख हुआ है, **न वष्ट**=रुचिकर=काम्य नहीं होते। वह अर्थवाद वाक्यों में फँसकर सांसारिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए उन-उन साधनों को नहीं जुटाता रहता। वह तो प्रभु का ध्यान करता है—प्रभु के प्राणियों का हित करता है। लोभ से दूर रहता है—यज्ञिय भावना को नष्ट नहीं होने देता। परिणामतः सिद्धि प्राप्त करता है।

भावार्थ—लोभ को दूर करके मैं लक्ष्य का लाभ करने में समर्थ होऊँ।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—कविर्भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

कवि भार्गव का जीवन

५५४. अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते।
आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि रथं विष्वञ्चमरुहद् विचक्षणः॥ १॥

कवि शब्द का अर्थ है क्रान्तदर्शी—वस्तुओं को गहराई तक देखनेवाला। इसी भावना को मन्त्र की समाप्ति पर 'विचक्षणः' शब्द से कहा गया है—**वि**=विशेषरूप से, विविध दृष्टिकोणों से, बारीकी से **चक्षणः**=देखनेवाला। यह विचक्षण अपना जीवन निम्न प्रकार से बिताता है—

१. **चनो हितः**=(चनस्=Delight, satisfaction, pleasure) सदा आनन्द में निहित, जो सदा आत्मतृप्त है, वह **प्रियाणि नामानि**=प्रिय लगनेवाले नामों को **अभिपवते**=पवित्र करता है—निरन्तर विचार के द्वारा, 'तदर्थभावन' द्वारा उन्हें परिमार्जित कर डालता है। अथवा अन्तर्भावितण्यर्थ पवते का प्रयोग होने पर अर्थ इस प्रकार होगा कि उन नामों से अपने को **अभि**=अन्दर-बाहर दोनों ओर से **पावयति**=पवित्र कर डालता है। किन-नामों के द्वारा? **यह्वः**=वह सबसे जाया गया और पुकारा गया प्रभु (यातश्च हूतश्च) **येषु**=जिनमें **अधिवर्धते**= अधिकाधिक बढ़ता है—अर्थात् जिन नामों के अन्दर उस प्रभु की भूरि-भूरि महिमा वर्णित हुई है। वस्तुतः इन नामों के निरन्तर अर्थभावन से ही तो वह अपने जीवन के लक्ष्य को भी स्थिर कर पाया है और उस लक्ष्य की ओर चलकर अपने जीवन को पवित्र कर सका है। उसने क्या किया है—

२. **रथं अधि अरुहत्**=रथ पर अधिष्ठातृरूपेण आरूढ़ हुआ है। यह शरीर ही रथ है—इसपर वह अधिष्ठाता बनकर बैठा है, अर्थात् वह पूर्णरूपेण उसके वश में है। इसी का परिणाम है कि यह रथ—

(क) **सूर्यस्य**=सूर्य का हुआ है, अर्थात् अत्यन्त प्रकाशमय है। इसकी छत के समान मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य का उदय हुआ है। इसने विचक्षण व कवि होने के नाते प्रत्येक वस्तु को ठीक ही रूप में देखा है।

(ख) **बृहतो बृहन्**=यह रथ बड़े-से-बड़ा है—खूब बढ़ा हुआ है। इसका हृदयरूप मध्य विशाल है उसमें सभी के बैठने के लिए स्थान उपलभ्य है तभी तो यह सम्पूर्ण वसुधा को अपना कुटुम्ब बना पाया है।

(ग) **विष्वञ्चम्**=यह रथ विविध दृष्टिकोणों से उत्तम प्रकार से पूजित है (वि षु अञ्चम्), अर्थात् इसमें किसी एक अङ्ग का विकास किया गया हो ऐसी बात नहीं है। इसका प्रत्येक अंग सुन्दर बना है और इसीलिए सबने इसे सराहा है।

इस प्रकार इस शरीररूप रथ में इस कवि का मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से जगमगा रहा है, इसका मन विशाल और विशालतर हो गया है और इसने इसके प्रत्येक अङ्ग को सबल बनाया है।

भावार्थ—कवि प्रभु के नामों का जप करता है और अपने जीवन को अधिकाधिक

सुन्दर बनाता है।

ऋषि:—**कविर्भार्गव:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**जगती**॥ स्वर:—**निषाद:**॥

कवि की कान्त-कामना

५५५. अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दवः प्र स्वानासो बृहद् देवेषु हरयः।
वि चिदश्नाना इषयो अरातयोऽर्यो नः सन्तु सनिषन्तु नो धियः॥ २॥

कवि इस प्रकार कामना करता है कि—

१. **न:**=हमारे **इन्दव:**=(**बिन्दव:**)=सोम=वीर्य के कण **अचोदस:**=(not excited, restrained, calm, prevented) अनुत्तेजित हुए-हुए, संयम में रखे हुए-हुए शान्त व निरुद्ध होकर **प्र-धन्वन्तु**=उच्चता की ओर गति करनेवाले हों और इस प्रकार हमें पवित्र बना डालें।

२. **हरय:**=हमारी इन्द्रियाँ (हरणात् हरय:) **देवेषु**=दिव्य गुणों में **बृहत् प्रस्वानास:**=खूब गर्जनेवाली हों। हमारी इन्द्रियों से दिव्य गुणों का उच्चारण हो रहा हो, अर्थात् एक-एक इन्द्रिय शुभ कार्य में ही प्रवृत्त हो।

३. **इषय:**=(इष्=विष्= wish) नाना प्रकार की इच्छाएँ, कामनाएँ जोकि **अरातय:**=अपनी ही आवश्यकताएँ बढ़ जाने से हमें दान भी नहीं देने देतीं (अविद्यमाना रातिर्याभ्य:), अतएव हमारी शत्रु हैं। ये वासनाएँ **चित्**=निश्चय से **वि-अश्नाना**=विहीन भोजनवाली हों। इनको भोजन न प्राप्त हो और ये भूखी ही मर जाएँ। निराहार देही के विषय निवृत्त हो जाते हैं। यही तो उपवास का दर्शन है। यह उपवास वासनाओं से दूर कर हमें प्रभु के समीप **वास**=निवास देनेवाला होता है।

४. **न: अर्य: सन्तु**=उल्लिखित प्रकार से वासनाओं को दूर करके हमारे सब व्यक्ति स्वामी (अर्य) इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय हों और अन्त में—

५. **न:**=हम सबकी **धिय:**=बुद्धियाँ **सनिषन्तु**=संविभागपूर्वक सेवन करने के विचारवाली हों। जितेन्द्रिय ही संविभाग के विषय का पालन कर सकता है। अजितेन्द्रिय की तो अपनी ही भूख समाप्त नहीं होती। उसे क्या संविभाग करना?

यह पञ्चविध कामना कितनी सुन्दर है? परन्तु इसे कवि ही कर सकता है, जिसने कि आपातरमणीय विषयों की गहराई तक जाकर उनके खोखलेपन को देख लिया है। दूसरों को तो विषयों की चमक आकृष्ट कर ही लेती है।

भावार्थ—कवि की उपर्युक्त कान्त-कामना की हम भी कामना करें।

ऋषि:—**कविर्भार्गव:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**जगती**॥ स्वर:—**निषाद:**॥

कवि का निवासस्थान व कार्यप्रणाली

५५६. एष प्र कोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टमः।
अभ्यू३तस्य सुदुघा घृतश्चुतो वाश्रा अर्षन्ति पयसा च धेनवः॥ ३॥

१. **एष:**=यह कवि **प्र-कोशे**=सर्वोत्कृष्ट आनन्दमयकोश में निवास करता हुआ **मधुमान्**=

माधुर्यवाला होता है। यह मधु-जैसा ही हो जाता है। अन्नमयादि कोश ही तो हमें द्वैत में रखते हैं। आनन्दमयकोश में पहुँचकर यह एकत्व का दर्शन करता है और शोक-मोह से ऊपर उठकर किसी से भी घृणा नहीं करता (ततो न विजुगुप्सते)।

२. **अचिक्रदत्**=यह प्राणिमात्र के कल्याण के लिए सदा प्रभु का आह्वान करता है (Sends his constant prayers unto God) (क्रद्+यङ् का लुङ्)। इसका जीवन प्रार्थनामय होता है, अतएव वासनाशून्य। वासनाओं को तो मानो यह रुला देता है कि हम कहाँ रहेंगी? इसी का परिणाम है कि—

३. **इन्द्रस्य वज्रः**=यह इन्द्र बनता है। जितेन्द्रिय-इन्द्रियों का अधिष्ठाता। इसका शरीर वज्रतुल्य दृढ़ हो जाता है। यह तो हुआ कवि का निजू जीवन। इसके सामाजिक जीवन में **वाश्राः अभि अर्षन्ति**=इसकी आवाजें (उपदेश-वाणियाँ) चारों ओर तीव्रता से पहुँचती हैं (अर्ष=rush)। यह परिव्राट् जो हुआ। कैसी वाणियाँ? (क) **ऋतस्य**=सत्य की। यह असत्य तो कभी बोलता ही नहीं, (ख) **सुदुघा**=उत्तमता से पूरण करनेवाली। इसकी वाणी जले पर नमक छिड़कनेवाली न होकर घावों को भरनेवाली होती हैं, (ग) **घृतश्चुतः**=दीप्ति का स्रावण करनेवाली, अर्थात् उत्साह भरनेवाली अथवा ज्ञान देनेवाली, **च**=और (घ) **पयसा**=वृद्धि के द्वारा **धेनवः**=पान करानेवाली-तृप्त करानेवाली। इसकी वाणियाँ वृद्धि का ही कारण बनती हैं, ह्रास का नहीं। यह धर्म का प्रचार अत्यन्त श्लक्ष्ण व मधुर वाणी से करता है।

भावार्थ—कवि सदा आनन्दमयकोश में निवास करता है और मधुर शब्द ही बोलता है।

ऋषिः—**सिकतानिवावरीऋषिगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सिकता निवावरी

५५७. प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्र मिनाति सङ्गिरम्।
मर्यइव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयामना पथा॥ ४॥

'सिकता' शब्द ब्राह्मणग्रन्थों में 'रेतः' का पर्याय है। यह ऋषिका अपने को शक्ति का पुञ्ज बनाती है और इसी उद्देश्य से निवावरी=निश्चय से प्रभु का वनन=उपासन-सम्भजन करती है। प्रभु-उपासना से वासनाएँ दूर रहती हैं और शक्ति की रक्षा सम्भव होती है। यह इसी निश्चय पर पहुँची है कि १, **इन्दुः**=(बिन्दुः) शक्ति का धारण करके शक्ति का पुञ्ज बननेवाला व्यक्ति ही **उ**=निश्चय से **इन्द्रस्य**=प्रभु के **निष्कृतम्**=शुद्ध पद को अथवा अनृणता को **प्र अयासीत्**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है। २. **सखा**=यह प्रभु का मित्र **सख्युः**=अपने मित्र प्रभु की **सङ्गिरम्**=उत्तम वाणी को अथवा प्रभु के साथ की गयी प्रतिज्ञा को **न प्रमिनाति**=नहीं तोड़ता है। सच्चा मित्र प्रतिज्ञा नहीं तोड़ता। ३. यह **मर्यइव**=उस मनुष्य की भाँति जोकि **युवतिभिः समर्षति**=युवतियों के साथ गति करता है और उनके साथ होने से उचित मर्यादित नम्रता (modesty) से चलता है, उसी प्रकार **सोमः**=सोम व विनीत होता है तथा ४. **कलशे**=शरीररूप कलश में **शतयामना पथा**=शतशः नियन्त्रणोंवाले, प्रतिदिन लिये जानेवाले अल्पव्रतों के नियमवाले मार्ग से चलता है। इसने कितने ही व्रतों में अपने को संयत किया हुआ होता है। यह संयम=बन्धन ही इसके बन्धन-छेद का कारण बनता है। यह संयम ही इसके शरीर को भी १६ कला सम्पन्न बना 'कलश' इस सार्थक नामवाला करता है।

भावार्थ—शक्ति का धारण, प्रभु से की गयी प्रतिज्ञाओं का पालन, उचित विनीतता व व्रतमय जीवन ये चार बातें हमें परम-पद को प्राप्त कराने में साधन होती हैं।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

कवि का कार्यक्षेत्र

५५८. धर्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः।
हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुषे नदीष्वा॥ ५॥

यह कवि १. **दिवः**=ज्ञान का **धर्ता**=धारण करनेवाला होकर **पवते**=अपने को पवित्र करता है—और गतिमय होता है। ज्ञान के द्वारा यह अपने जीवन को पवित्र बनाता ही है, साथ ही गतिशील होता हुआ उस प्रकाश को सर्वत्र फैलाता है। २. **कृत्व्यः**=यह सदा क्रियाशील होता है—कर्म करनेवालों में उत्तम।

यह वासनाओं से निवृत्त होता है—कर्म से नहीं। ३. **रसः**=इसकी कार्यप्रणाली में माधुर्य होता है। इसकी क्रियाएँ व उपदेश सभी रसमय होते हैं। ४. **देवानाम् दक्षः**=विद्वानों में भी निपुण, यह अपने कार्य को दक्षता से करता है। ५. **अनुमाद्यः नृभिः**=मनुष्यों से यह सदा अनुमाद्य होता है। यह ऐसी दक्षता से कार्य करता है कि मनुष्य आनन्द-ध्वनियों से गूँज उठते हैं (There are always loud cheers whenever he speaks)। मनुष्य उसे देखकर प्रसन्न होते हैं (Men are delighted to see him)। ६. **हरिः**=इसका लक्ष्य सदा जन-दुःख-हरण होता है। दुःख-हरण से ही यह हरि कहलाता है। ७. **सृजानः**=इसीलिए यह स्वभावतः निर्माणात्मक कार्यों में लगा रहता है। तोड़-फोड़ के कार्य नहीं करता। ८. **अत्यो न सत्वभिः**=यह इतना कार्य इसलिए कर पाता है कि यह बल में घोड़े के समान होता है। कार्य के अभाव में यह निरानन्दता अनुभव करता है। यह निरन्तर गतिशीलता में ठीक रहता है (अत् सातत्यगमने)। ८. यह अपना कार्यक्षेत्र **आ नदीषु**=(Crying with pain) चारों ओर से दुःख से कराहती प्रजाओं में बनाता है। यह हिमालय की कन्दराओं में जाकर समाधि का आनन्द नहीं लेने लगता। इन प्रजाओं में यह **पाजांसि**=अपनी शक्तियों को **कृणुते**=विनियुक्त करता है और इस कार्य में **वृथा**=यह अनायास ही प्रवृत्त होता है। अपने किसी निज लाभ के लिए यह उस कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, बिना किसी स्वार्थ ही लगा रहता है।

भावार्थ—कवि निःस्वार्थभाव से जनहित के कार्यों में सदा प्रवृत्त रहते हैं।

ऋषिः—**सिक्तानिवावरीऋषिगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगति**॥ स्वरः—**निषादः**॥

बुद्धि के धनी का प्रभु में प्रवेश (Crossing of three rivers)

५५९. वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः।
प्राणा सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्द्या विशन्मनीषिभिः॥ ६॥

'सिकता निवावरी' समझती है कि १. **मतीनाम्**=बुद्धियों की **वृषा**=शक्तिवाला **पवते**=अपने जीवन को पवित्र बनाता है। २. **विचक्षणः**=यह विशेष-सूक्ष्म दृष्टिवाला होता है, अतएव **सोमः**=विनीत होता है। ज्ञान के ये दो परिणाम निश्चित ही हैं—पवित्रता और विनीतता। ३.

यह पवित्र व विनीत व्यक्ति **अह्नाम्**=(अ+हन्) जिनका नष्ट करना कठिन है उन अभिमान की भावनाओं का **उषसाम्**=(उष् दाहे) अन्दर ही सन्तप्त करनेवाली काम-वासनाओं का तथा **दिवः**=लोभ के कारण उत्पन्न द्यूतवृत्ति का **प्रतरीतः**=तैर जानेवाला होता है। ज्ञान के कारण यह अभिमान, काम व लोभ का शिकार नहीं होता। ४. इन वासनाओं का शिकार न होकर यह **सिन्धुनां प्राणा**=(सिन्धुनाम्=अपाम्=रेतसाम्) वीर्यशक्ति का अपने में (प्रा=पूरणे) पूरण करनेवाला होता है। इस प्रकार अपने जीवन को 'ज्ञानमय, पवित्र, विनीत, निर्वासन व शक्ति-सम्पन्न' बनाकर यह ५. **कलशान्**=शरीरधारियों के प्रति **अचिक्रदत्**=पुकार-पुकार कर धर्म का उपदेश देता है और इस प्रकार लोकसंग्रह करता हुआ ६. **मनीषिभिः**=सदा मननशील विद्वान् मित्रों के साथ चर्चा करता हुआ **इन्द्रस्य**=उस प्रभु के **हार्दि**=हृदय में **आविशत्**=प्रवेश करता है। वैसे तो प्रभु सभी के हृदयों में सदा से हैं, परन्तु इस विनीत ज्ञानी का हृदय तो वासनाओं का निवास-स्थान न रहकर प्रभु का ही निवास-स्थान हो जाता है। और यह सदा इस प्रभु के हृदय में प्रवेश करता है। इस अन्तिम वाक्य का अर्थ इस रूप में भी कर सकते हैं कि वह प्रभु के रहस्य को समझने लगता है।

भावार्थ—हम 'अभिमान, काम व लोभ' के समुद्रों को तैरनेवाले बनें।

सूचना—*इस मन्त्र में 'अहन्, उषस् व दिव्' तीन शब्दों का प्रयोग अत्यन्त प्रसिद्ध अर्थ में न होकर अभिमान, काम व लोभ के लिए हुआ है।*

ऋषिः—**रेणुर्वैश्वामित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगति**॥ स्वरः—**निषादः**॥

रेणुः वैश्वामित्रः

५६०. त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परमे व्योमनि।
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत॥ ७॥

इस मन्त्र का ऋषि **रेणु**=गतिशील, नदी की भाँति स्वाभाविक, सरल, निरन्तर गतिवाला, सदा नीचे और नीचे, अर्थात् अधिक और अधिक विनीत बनता हुआ यह व्यक्ति **वैश्वामित्रः**=सभी के साथ स्नेहवाला है। यह स्वाभाविक नम्रता, पूर्णगति और प्रेम उसे इस योग्य बनाते हैं कि **सप्त धेनवः**=सात छन्दों में चलनेवाली ये वेदवाणियाँ (ज्ञान-दुग्ध का पान कराने से ये वेद-वाणियाँ धेनु हैं) **अस्मै**=इस वैश्वामित्र रेणु के लिए **त्रि**=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक भेद से तीन प्रकार से **आशिरम्**=वासनाओं को शीर्ण करनेवाले **सत्याम्**=सत्यज्ञान को **परमे व्योमनि**=उत्कृष्ट मूर्धारूप द्युलोक में **दुदुह्रिरे**=पूर्ण करती हैं (दुह प्रपूरणे)। गति, नम्रता और सभी के साथ स्नेह—ये तीन ऐसे उत्तम गुण हैं जो रेणु के मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण कर देते हैं। गति से भूलोक को, नम्रता से भुवर्लोक को तथा स्नेह को सबके साथ व्यापक बना देने से यह स्वर्लोक को जीतता है। अब **चत्वारि अन्या भुवनानि**=चार दूसरे, महः, जनः, तपः, सत्यम्' लोकों का **निर्णिजे**=शोधन व पोषण करने के लिए यह रेणु **चारुणि**=सुन्दर कर्मों को **चक्रे**=करता है और **यत्**=जब यह **ऋतैः**=बिल्कुल ठीक समय व स्थान पर क्रियाओं के द्वारा **अवर्धत**=बढ़ता है, तब उन लोकों का आक्रमण करता ही है। अन्त में वह सत्यलोक में पहुँचता है। यह सत्यलोकवास ही उसका अन्तिम पग होता है। ऋत-पालन के बिना यहाँ कैसे पहुँचा जा सकता है?

भावार्थ—हम रेणुवत् वेदवाणी के द्वारा ज्ञान का दोहन कर, सुन्दर कर्मों को करते हुए और ऋत को पालते हुए सत्यलोक में अवस्थित हों।

ऋषिः—**वेनो भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

वेनो भार्गवः

५६१. इन्द्राय सोम सुषुतः परि स्त्रवापामीवा भवतु रक्षसा सह।
मा ते रसस्य मत्सत द्वयाविनो द्रविणस्वन्त इह सन्त्विन्दवः ॥ ८ ॥

'वेन शब्द का अर्थ 'प्रबल इच्छावाला' है। प्रभु-प्राप्ति की प्रबल इच्छा होने के कारण यह भार्गवः=अपना उत्तम परिपाक करनेवाला है। यह 'वेन भार्गव' अपनी शक्ति को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि १. हे **सोम**=सोम! तू **सुषुतः**=उत्तम भोजनों से उत्पन्न हुआ-हुआ **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **परिस्त्रव**=मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में परिस्त्रुत हो। मैं तेरा विनियोग सांसारिक सुखों की प्राप्ति में न करके प्रभु-प्राप्ति में करूँ। २. प्रसङ्गवश **अमीवा**=सब रोग व रोग के कीटाणु **अपभवतु**=दूर हों। वीर्यशक्ति रोगकृमियों का संहार करके मुझे रोगों से बचानेवाली हो। ३. **रक्षसा सह**=सब राक्षसी वृत्तियों के साथ मेरे रोग दूर भाग जाएँ। वीर्य के अपव्यय से जहाँ शरीर के अन्दर रोग उत्पन्न हो जाते हैं, वहाँ मन में भी अशुभ विचार आ जाते हैं। मनुष्य अपने रमण के लिए औरों का क्षय करने लगता है। यह रमण के लिए क्षय ही 'रक्षस्' वृत्ति कहलाती है। जीवन के संयमी होने पर हमारे अन्दर ये अशुभ वृत्तियाँ नहीं पनपतीं।

इस **ते**=तुझ सोम के **रसस्य**=रस का **द्वयाविनः**=प्रभु व लोक दोनों की ओर जाने की कामनावाले लोग **मा मत्सत्**=आनन्द प्राप्त न कर सकें। वस्तुतः संसार की कामना के साथ प्रभु का ध्यान सांसारिक वस्तुओं की वृद्धि के लिए ही होता है। यह सकाम 'प्रभु का ध्यान' उसे विषयों से बचा नहीं पाता। क्या ये सांसारिक सुख-भोग सचमुच द्रविण हैं? वेद कहता है नहीं। **इह**=इस संसार में **इन्दवः**=सोम-कणों को अपने में सुरक्षित करके शक्तिशाली बननेवाले लोग ही **'द्रविणस्वन्तः'**=उत्तम द्रविणवाले **सन्तु**=हों, उन्होंने ही उत्कृष्ट परमार्थ धन को कमाया है। द्वयावी पुरुषों को प्रभु से भोगादि सामग्री प्राप्त होती है, परन्तु इन्दुओं को तो प्रभु ही प्राप्त हो जाते हैं। वेन की प्रबल कामना यही थी कि मैं प्रभु को पा सकूँ। आज उसकी यह इच्छा परिपूर्ण हुई है। उसने अपना परिपाक भी तो किया था।

भावार्थ—हममें प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रबल कामना हो और उसके लिए हम अपना परिपाक करें।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

वसुः भारद्वाजः

५६२. असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा अचिक्रदत्।
पुनानो वारमत्येष्यव्ययं श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदत्॥ ९ ॥

'वसुः' शब्द का अर्थ है 'उत्तम निवासवाला' और 'भारद्वाजः' का अर्थ है जिसने

मस्तिष्क में ज्ञान को, मन में त्याग को तथा शरीर में क्रियाशीलता को भरा है। इसका जीवन कैसा है?

१. **असावि**=यह उत्तम विकास कर चुका है (He has grown), उन्नति के शिखर पर पहुँच चुका है, परन्तु इतना उन्नत होते हुए भी यह **सोमः**=विनीत है। उन्नत, परन्तु नत।

२. **अरुषः**=यह क्रोध से शून्य है। कभी क्रोध में नहीं आता, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह निर्बल है। यह वसु तो क्रोध न करता हुआ **वृषा**=अत्यन्त शक्तिशाली है। वस्तुतः शक्तिशाली होने से ही वह क्षमाशील—अक्रोधी है।

३. **हरिः**=यह औरों के दुःखों का हरण करनेवाला है, **राजा इव**=जैसे राजा प्रजा के दुःखों को दूर करता है, उसी प्रकार यह औरों के दुःखों को दूर करने में लगा रहता है।

४. **दस्मः**='औरों के दुःखों को दूर कर सकूँ', इसीलिए यह सब विषय-विकारों को अपने से दूर रखता है (दसु उपक्षये)—सर्वविकारों का यह उच्छेप्ता होता है।

५. **अभि**=विषय-विकारों को दूर करने को लक्ष्य में रखकर ही यह **गाः अचिक्रदत्**=शुभ शब्दों व नामों का उच्चारण करते हुए मन को शुभ बनाता है।

६. **पुनानः**=सदा शुभ वेदवाणियों का उच्चारण करता हुआ यह अपने जीवन को पवित्र बना लेता है। प्रभु और जीव में यही तो भेद था कि प्रभु शुद्ध और अपापविद्ध थे तो जीव मलिन कर्मों को भी कर बैठता था। आज वसु ने अपने को शुद्ध कर डाला है। शुद्ध करके यह **वारम्**=(भेदम्, वृङ् संभक्तौ—division) भेदक पंक्ति को **अत्येषि**=लांघ गया है। प्रभु जैसा-ही बन गया है।

७. **श्येनो न**=प्रशंसनीय गतिवाला होकर—सदा उत्तम कर्मों में लगा रहकर यह **योनिम्**=जगत् के मूलकारणभूत प्रभु की गोद में **आसदत्**=बैठा है। जो गोद **अव्ययम्**=अव्यय है—जिसमें पहुँच जाने पर फिर विविध योनियों में आना नहीं होता। (अ+वि+अय) तथा **घृतवन्तम्**=जो दीप्तिमय (घृ दीप्तौ) है, जहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है—अन्धकार नहीं। यही तो शुक्लमार्ग की 'चरम सीमा' है।

भावार्थ—हम भी वसु की भाँति उन्नत होकर नम्र बनें, क्रोध न करते हुए शक्तिशाली हों, औरों के दुःखों का हरण करें, व्यसनों से दूर रहें। मुख से मन्त्रों को उच्चरित करें। पवित्र होकर प्रभु-जैसे बनें और उसकी प्रकाशमय गोद में पहुँचें।

ऋषिः—**भालन्दनो वत्सप्रीः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

वत्सप्रीः भालन्दः

५६३. प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवोऽसिष्यदन्त गाव आ न धेनवः।
बर्हिषदो वचनावन्त ऊधभिः परिस्रुतमुस्त्रिया निर्णिजं धिरे॥ १०॥

वदतीति वत्सः=वेदवाणियों का उच्चारण करता है—प्रीणाति इति प्रीः—प्रभु को प्रसन्न करता है और भालं ददाति=अपने व्याख्यानों से प्रभु का जीवित-जागरित चित्रण करता है। यह भालन्द सदा—

१. **प्र देवम्**=उस प्रकृष्ट महादेव की **अच्छ**=ओर गतिवाला होता है। २. **मधुमन्तः**=ये

सदा माधुर्यवाले होते हैं। ३. **इन्दवः**=शक्तिशाली होते हैं। ४. **धेनवः गावः नः**=नवसूतिका गौवों के समान औरों का पोषण करते हुए (धेट् पाने) **आ असिष्यदन्त**=बड़ी स्निग्ध गतिवाले होते हैं। ये बिना किसी को ठोकर लगाये शान्तिपूर्वक जीवन-पथ पर बढ़ते चले जाते हैं। ५. **बर्हिषदः**=ये उस हृदय में निवास करनेवाले होते हैं जो वासनाओं को उखाड़ देने से 'बर्हि' नामवाला हुआ है, अर्थात् ये सदा निर्मल हृदय में आसीन होते हैं। ६. **वचनावन्तः**=ये अपने वचनों के बड़े पक्के होते हैं। ७. **उस्त्रियाः**=ज्ञान की रश्मियोंवाले ये लोग **ऊधभिः परिस्त्रुतम्**=रसों को चुवाते हुए **निर्णिजम्**=शोधन को, **धिरे**=धारण करते हैं, अर्थात् ये व्यक्ति सदुपदेशों व सन्मन्त्रों द्वारा औरों के जीवनों को भी पवित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु इनके वे उपदेश माधुर्य को टपकानेवाले शब्दों में दिये जाते हैं। इनकी वाणी से रस चू रहा होता है। रस-स्राविणी वाणियों से ये सब मलों को स्रुत करने, बहाने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—हमारी एक-एक क्रिया हमें प्रभु की ओर ले-जा रही हो, हम माधुर्यवाले, परन्तु शक्तिशाली हों, औरों का भी पालन करें। पवित्र हृदयवाले हों, वचन के पक्के हों, औरों को धर्म का ज्ञान रसस्रावि-शब्दों में दें।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनिकः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अलंकृत करते हैं

५६४. अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मध्वाभ्यञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमप्सु गृभ्णते॥ ११॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गृत्समद शौनक' है। (गृणाति इति गृत्सः, माद्यति इति मदः, शुनति इति शुनः स एव शौनकः) प्रभुस्तवन करता है, प्रसन्न रहता है और गतिशील होता है। ये गृत्समद शौनक लोग **अञ्जते**=अपने जीवनों को अलंकृत करते हैं **वि-अञ्जते**=विशेषरूप से अलंकृत करते हैं और **समञ्जते**=सम्यक्तया पूर्णरूपेण अलंकृत करते हैं।

जीवनों को अलंकृत करने के लिए वे **क्रतुं रिहन्ति**=यज्ञ का स्वाद लेते हैं। यज्ञ कहते हैं 'लोकहित के कर्मों को'। उन कर्मों में ये लोग आनन्द लेते हैं, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक करते हैं। मनुष्य कर देता है—वह भी लोकहित का कार्य है, परन्तु मनुष्य को वह देना पड़ता है—उसमें उसे आनन्द नहीं, कष्ट का अनुभव होता है, परन्तु जब इन कार्यों में हम आनन्द लेने लगते हैं, तब हमारा जीवन अलंकृत हो जाता है।

अब, अपने जीवनों को विशेषरूप से अलंकृत करने के लिए वे **मध्वा**=माधुर्य से **अभ्यञ्जते**=पूर्णरूपेण अपने को लिप्त कर लेते हैं। इनका आना-जाना, बोलना—सब माधुर्यमय हो जाता है। क्रोधरूप राक्षस का वहाँ नामावशेष भी नहीं रहता। उनका मनःप्रसाद उनके चेहरे पर भी झलकता है।

जीवन के सौन्दर्य को अन्तिम रूप (Finishing touch) देने के लिए, पूर्णता तक पहुँचाने के लिए ये लोग **पशुम्**=काम को (कामः पशुः) **अप्सु**=कर्मों में **गृभ्णते**=निग्रहीत करते हैं। ये सदा कर्मव्यापृत रहकर काम को जीत लेते हैं। उस काम को जोकि **सिन्धोः**=स्पन्दनशील जीवन के—नाना योनियों में विचरण करनेवाले प्राणी के **उच्छ्वासे**=श्वास

लेना प्रारम्भ करने पर ही **पतयन्तम्**=आ टपकता है और **उक्षणम्**=उसे सींच डालता है, अर्थात् उसकी रग-रग में व्याप्त हो जाता है। बाल्यकाल के प्रारम्भ में बिन्दुरूप यह काम यौवन में उन्हें मारने लगता है। बीजरूप यह काम एक महान् वृक्ष बन जाता है। इस काम को **हिरण्यपावा**=हिरण्यं वै ज्योतिः, हिरण्यं सोमः, सोम=शक्ति व ज्ञान का पान करनेवाले लोग सदा कार्यव्यापृत रहने के द्वारा समाप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं।

यज्ञों से ये लोभ को जीतते हैं, माधुर्य से क्रोध को और कार्यव्यापृतता से काम को। इन तीनों नरकद्वारों को जीतकर ये अपने जीवनों को अत्यन्त सुन्दर बना लेते हैं।

भावार्थ—हम भी गृत्स बनकर प्रभु के, न कि प्रकृति के, स्तोता बनकर लोभ के विजेता बनें। मद—सर्वदा प्रसन्न बनकर क्रोध को जीतें। शुनक—सदा क्रियाशील होकर काम को समाप्त कर दें।

ऋषिः—**पवित्र आङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

पवित्र आङ्गिरस

५६५. पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद् वहन्तः सं तदाशत॥ १२॥

काम-क्रोध व लोभ को जीतकर पवित्र बना हुआ 'हिरण्यपावा' बनकर 'आङ्गिरस' शक्तिशाली हुआ यह पवित्र आङ्गिरस प्रार्थना करता है कि हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के पति प्रभो! **ते**=आपका **पवित्रम्**=पवित्र करनेवाला स्वरूप **विततम्**=चारों ओर व्याप्त है—विस्तृत है। आप **प्रभुः**=अत्यन्त प्रभाववाले हैं। स्वयं पूर्ण पवित्र होते हुए औरों को पवित्र करनेवाले हैं। **विश्वतः**=सब ओर से **गात्राणि पर्येषि**=हमारे शरीरों को व्याप्त किये हुए हैं। अपनी पवित्रता को निरन्तर हममें संचरित कर रहे हैं, परन्तु **अतप्ततनूः**=जिसने अपने शरीर को तपाया नहीं, जो अपने जीवन को तपस्वी नहीं बना पाया, अतएव **आमः**=अपरिपक्व है वह **तत्**=उस पवित्र प्रभु को न **अश्नुते**=नहीं पाता। **शृतासः इत**=केवल वे ही जोकि (शृ पाके) अपना पाक करते हैं, **संवहन्तः**=उत्तम प्रकार से जीवन-यात्रा को चलाते हैं **तत्**=उस प्रभु को **आशत्**=प्राप्त होते हैं। परिपक्व होने पर ही मनुष्य प्रभु को पाता है और फिर आवागमन के चक्र से छूट जाता है।

भावार्थ—हम पवित्र प्रभु में समाकर पवित्र हो जाएँ। इस समा जाने के लिए ही अपने आपको तीव्र तपस्वी बनाएँ।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—**अग्निश्चाक्षुषः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

परमकल्याण के लिए

५६६. इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः। श्रुष्टे जातास इन्दवः स्वर्विदः॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का छन्द 'उष्णिक्' है (उत् स्निह)—उत्कृष्ट स्नेह का यह संकेत कर रहा है। 'उत्कृष्ट स्नेह' करनेवाला व्यक्ति ही 'अग्नि'=आगे बढ़नेवाला होता है। जीवन का सूत्र 'आगे बढ़ना' यही होना चाहिए। ऐसा सूत्र बनानेवाला सफल तभी होता है जब वह 'चाक्षुष'

होता है–प्रत्येक वस्तु को सूक्ष्मता से देखता है।

इस व्यक्ति का ध्येय होता है कि **इमे**=ये **सुताः**=सात्त्विक भोजन से उत्पन्न हुए सोम **इन्द्रम् अच्छ**=उस प्रभु की ओर **यन्तु**=चलें, जो प्रभु **वृषणम्**=शक्तिशाली हैं–हमपर सुखों की वर्षा करनेवाले हैं। यह सोम हमें उस 'बृहत् सोम'=परमात्मा से मिलाता है।

ये सोम **हरयः**=हमारे सब दुःखों का हरण करनेवाले हैं। ये शरीर में रोगकृमियों को उत्पन्न ही नहीं होने देते और उत्पन्न रोगकृमियों का संहार कर हमारी व्याधियों का हरण करते हैं। शक्तिशाली बनाकर हमारे मनों को भी निर्मल कर देते हैं, बुद्धि की कुण्ठा को दूर करते हुए ये सचमुच **श्रुष्टे**=परमकल्याण के लिए ही (श्रुष्टी=सुख–नि०) **जातासः**=आविर्भूत हुए हैं। इनका उत्पादन प्रभु ने हमारे परमसुख के लिए किया है, क्योंकि **इन्दवः**=ये शक्तिशाली बनानेवाले हैं। सोम हमें पवित्र भी करते हैं और सशक्त भी बनाते हैं। इस प्रकार ये हमें **स्वः विदः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति–प्रभु को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ–सोम मुझे 'बृहत् सोम' को प्राप्त कराए।

ऋषिः–**चक्षुर्मानवः**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**उष्णिक्**॥ स्वरः–**ऋषभः**॥

ज्योतिर्मय बल

५६७. प्र धन्वा सोम जागृविरिन्द्रायेन्दो परि स्रव। द्युमन्तं शुष्ममा भर स्वर्विदम्॥ २॥

प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को देखनेवाला 'चक्षुः' इस मन्त्र का ऋषि है। यह 'मानव'–ज्ञानी तो है ही। यह कहता है कि हे सोम! तू **प्रधन्व**=प्रकृष्ट गतिवाला हो। तेरी गति निचले मार्ग की ओर न होकर उत्तर व उत्कृष्ट मार्ग की ओर हो। इसी साधना को करता हुआ तू 'उत्तरायण' (उत्तर मार्ग) में अपने अन्तिम क्षणों को बिता। यह उत्तरायण ही 'शुक्ल–मार्ग' है–प्रकाशमय है।

हे **सोम**=सोम! तू मुझे **जागृविः**=इस प्रकाशमय मार्ग में स्थापित करता हुआ सदा चेतनामय=जाग्रत् बनाए रख। मैं मोहमयी प्रमाद–मदिरा के नशे में उन्मत्त न हो जाऊँ। हे **इन्दो**=मुझे शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **इन्द्राय**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **परिस्रव**=परिस्रुत हो। तू मुझे निरन्तर उस प्रभु के समीप और समीप प्राप्त करानेवाला हो।

इस लोकयात्रा में तू **शुष्मम्**=कामादि सब अन्तःशत्रुओं का शोषण करनेवाली उस शक्ति को मुझमें **आभर**=भर दे जो **द्युमन्तम्**=प्रकाशमय है। मेरा बल ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो। ऐसा ही बल **स्वर् विदम्**=मुझे उस प्रभु को प्राप्त कराएगा। प्रभु 'स्वर्' हैं–स्वयं राजमान हैं। मैं भी ज्ञान से राजमान होकर उस प्रभु को पाता हूँ

भावार्थ–संयम के द्वारा मनुष्य सोम की रक्षा करता है। यह सोम संयमी को 'ज्योतिर्मय बल' प्राप्त कराता है, जिससे यह उस परम ज्योति को प्राप्त होता है।

ऋषिः–**पर्वतनारदौ**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**उष्णिक्**॥ स्वरः–**ऋषभः**॥

निश्छल, निर्मल जीवन–मिलकर प्रभु का गान

५६८. सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत। शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये॥ ३॥

अपने को पवित्रता से निरन्तर पूर्ण करनेवाला (पर्व पूरणे) 'पर्वत' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि

है। अपने को पवित्र बनाकर यह अन्य 'नरों' को भी पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है, अतः 'नारद' कहलाता है।

जीवन की पवित्रता के सम्पादन के लिए यह प्रस्ताव करता है कि **सखायः**=मित्रो! **आ**=चारों ओर से आकर **नि**=नम्रता से **षीदत**=बैठो। **पुनानाय**=उस पवित्र करनेवाले प्रभु के लिए **प्रगायत**=खूब गान करो। प्रभु के गुणों का गान हमारे जीवनों को पवित्र बनाएगा। स्तुति इस लक्ष्य को सदा हमारे सामने उपस्थित रखती है। अपने जीवन को **शिशुं न**=बच्चे की भाँति (Child like) निश्छल, निश्छिद्र, निर्दोष बनाने का एकमात्र मार्ग यही है। इस मार्ग की विशेषता यह है कि यह हमसे बच्चे के अज्ञान को दूर करता है और उसकी निष्कपटता को हमें प्राप्त कराता है। हमें मूर्ख=childish न बनाता हुआ बच्चे की भाँति=child like बना देता है।

इस प्रकार तुम **यज्ञैः**=स्वार्थपरता से शून्य कर्मों के द्वारा अपने जीवनों को **श्रिये**=शोभा के लिए **परिभूषत**=अलंकृत करो। प्रभु यज्ञरूप हैं—उन्होंने तो 'आत्मदा'—अपने को भी जीव-हित के लिए दे डाला है, प्रभु की स्तुति करते हुए हम भी अपने को यज्ञिय कर्मों द्वारा ऊपर उठानेवाले बनें। स्वार्थशून्यता ही हममें दिव्यता भरेगी और हमारा जीवन अधिकाधिक श्रीसम्पन्न बनेगा, तभी हम औरों को भी उस श्री का प्रकाश प्राप्त करा पाएँगे।

भावार्थ—यज्ञों से हमारा जीवन श्रीसम्पन्न हो।

ऋषिः—**पर्वतनारदौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

प्रभु-प्राप्ति-रसास्वादन

५६९. तं वः सखायो मदाय पुनानमभि गायत। शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्तिभिः॥ ४॥

पर्वत ऋषि पुनः कहते हैं कि **सखायः**=मित्रो! **तं पुनानम्**=उस निरन्तर पवित्र करते हुए प्रभु का **वः मदाय**=अपने उल्लास के लिए **अभिगायत**=सदा गायन करो। प्रभु को जितना जपूँगा, उतना ही पवित्र बनूँगा। यह पवित्रता मेरे जीवनयापन को उल्लासमय बनाएगी। प्रभु के स्मरण से मेरा जीवन **शिशुं न**=बच्चे की भाँति पवित्र बना रहता है।

इन सभी बातों का ध्यान करते हुए समझदार व्यक्ति **हव्यैः**=(यज्ञैः) अपने जीवन को हव्य बनाने के द्वारा—अपनी सम्पत्तियों को लोकहित के यज्ञ में आहुत करने के द्वारा तथा **गूर्तिभिः**=(स्तुतिभिः) प्रभु के गुणों के गान द्वारा **स्वदयन्त**=प्रभु-प्राप्ति के आनन्द का रस लेते हैं। प्रभु की समीपता में ये अद्भुत आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—निःस्वार्थ लोकसेवा व प्रभु-स्तवन मेरे जीवन को रसमय बना दें।

ऋषिः—**त्रित आप्त्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

अथ द्विता (ज्ञान के पश्चात्)

५७०. प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम्। विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता॥ ५॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'त्रित'=ज्ञान, कर्म व उपासना—तीनों का विस्तार करनेवाला है, अतएव यह 'आप्त्य' प्रभु को प्राप्त करनेवालों में साधु है।

यह **शिशुः**=(शो तनूकरणे) बुद्धि को सूक्ष्म करने का प्रयत्न करता है। सात्त्विक भोजन

व आसनों के व्यायाम को यह इसी उद्देश्य से अपनाता है कि बुद्धि को तीव्र कर सके। बुद्धि को तीव्र करके यह **महीनाम्**=महनीय–महत्त्वपूर्ण वेदवाणियों का (मही=वाणी) **प्राणा**=अपने में भरनेवाला होता है (प्रा=पूरणे)। इन वेद–वाणियों को अपनाने का परिणाम यह है कि यह अपने में **ऋतस्य दीधितिम्**=सत्य की किरणों को **हिन्वन्**=प्राप्त करनेवाला व बढ़ानेवाला होता है।

इस प्रकार प्रकाश के क्षेत्र में पहुँचने से यह कटुता के जगत् से ऊपर उठकर माधुर्यमय संसार में प्रवेश करता है **विश्वा परिप्रिया भुवत्**=चारों ओर सबका प्रिय बनता है। **'प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्'**=यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र सभी का प्रिय होता है। अज्ञान के कारण ही सारी कटुता व लड़ाई है–अज्ञान गया–कटुता गयी। यह 'त्रित' बुद्धि को तीव्र करके वेदवाणियों के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाता है।

अध=अब ज्ञान को खूब बढ़ाने के पश्चात् यह **द्विता**=(द्वौ तनोति) कर्म और उपासना का विस्तार करनेवाला बनता है। ज्ञानपूर्वक किये गये कर्म पवित्र होते हैं, और इन्हीं पवित्र कर्मों के द्वारा प्रभु की उपासना होती है (**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**)। ज्ञानपूर्विका श्रद्धा मनुष्यों को परस्पर प्रेम करना सिखाती है, इसीलिए यहाँ मन्त्र में ज्ञानपूर्वक कर्म व उपासना पर बल दिया गया है।

भावार्थ–हमारे कर्म व हमारी उपासना ज्ञान से अनुप्राणित हों।

ऋषिः–**मनुराप्सवः**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**उष्णिक्**॥ स्वरः–**ऋषभः**॥

दिव्यता का प्रापक सोम

५७१. पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा। आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः॥ ६॥

गत मन्त्र में ज्ञान–प्राप्ति पर बल दिया गया है–उसी के लिए सर्वमहान् साधन का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है। ज्ञान–प्राप्ति का मूल ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य से सुरक्षित सोम हमारी ज्ञानाग्नि को सूर्य के समान द्योतित करता है, इसलिए विचारशील पुरुष–'मनु' सदा इसी मार्ग पर चलता है। वह कहता है कि **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले हे सोम! तू **धाराभिः**=अपनी धारणशक्तियों से तथा **ओजसा**=विकास के मूलकारणभूत ओज के द्वारा **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **पवस्व**=हमारे जीवनों में प्रवाहित हो तथा उन्हें पवित्र कर। सोम से ही जीवन का धारण है–**'जीवनं बिन्दुधारणात्'**। यही हमारे शरीर में सब प्रकार की उन्नतियों के विकास का हेतु है। हममें उत्तरोत्तर दिव्यता की वृद्धि करने के साथ यह सोम **मधुमान्**=माधुर्यवाला है, हमारे जीवनों को मधुर बनाता है–इसके कारण परस्पर व्यवहार में कटुता नहीं आती, अतः मनु कहता है कि **सोम**=हे सोम! तू **नः**=हमारे **कलशम्**=इस सोलह कलाओं के आधारभूत शरीर में **आसदः**=समन्तात् स्थित हो। यह सोम शरीर में ही व्याप्त हो जाए। शरीर के धारण व विकास में व्यय होकर यह उसे सोलह कला सम्पूर्ण बनानेवाला हो। प्रभु षोडशी हैं–मुझे भी सोम षोडशी (सोलह कलाओंवाला) बनाकर प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाला हो।

मनु इस सोम का संचय 'आप्सव' बनकर करता है। 'अप्सु कर्मसु भव आप्सवः'=जो सदा कर्मों में लगा रहता है वह 'आप्सव' है। कर्म–व्यापृत रहना ही वासना से बचने का

उपाय है।

भावार्थ—मैं कर्म-व्यापृत होकर सोम की रक्षा करूँ। यह सोम मुझे दिव्यता प्राप्त कराए।

ऋषि:—**अग्निश्चाक्षुष:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**उष्णिक्**॥ स्वर:—**ऋषभ:**॥

ज्ञान के शिखर पर

५७२. सोमः पुनान ऊर्मिणाव्यं वारं वि धावति। अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत्॥ ७॥

जो व्यक्ति संसार के घटनाचक्र को बारीकी से देखता है वह 'चाक्षुष' है। यह कहीं भी न उलझता हुआ आगे बढ़ता जाता है, 'अग्नि' है। यह **सोम:**=शक्ति का पुञ्ज तथा विनीत **पुनान:**=अपने को निरन्तर पवित्र बनाने के स्वभाववाला **ऊर्मिणा**=अपने हृदय में उत्कर्ष को प्राप्त करने की उमंगों से **अव्यम्**=(अवनं अव:, तत्र साधु:) सर्वोत्तम रक्षणीय ज्ञान की **वारम्**=रुकावट, अर्थात् कामादि वासनाओं को **विधावति**=विशेषरूप से नष्ट कर डालता है। इन वासनाओं को समाप्त करके ही यह **वाच: अग्रे**=वाणी के—ज्ञान के शिखर पर पहुँचता है। यह **पवमान:**=औरों को भी पवित्र बनाने के हेतु से **कनिक्रदत्**=उन ज्ञानवाणियों का खूब उच्चारण करता है—इस ज्ञान का औरों को भी उपदेश देता है।

भावार्थ—स्वयं ज्ञानी बनकर औरों को ज्ञान प्राप्त कराना ही मानव का लक्ष्य होना चाहिए।

ऋषि:—**द्वित आप्त्य:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**उष्णिक्**॥ स्वर:—**ऋषभ:**॥

गुरु शुश्रूषा

५७३. प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वच उच्यते। भृतिं न भरा मतिभिर्जुजोषते॥ ८॥

प्रपुनानाय=ज्ञान के द्वारा पवित्र करनेवाले **वेधसे**=मेधावी—ब्रह्मा के समान निर्माण के कार्य में लगे हुए **सोमाय**=सौम्यता के पुञ्ज आचार्य के लिए (आचार्यो मृत्यु: वरुण: सोम ओषधय: पय:) हमसे **वच: उच्यते**=प्रशंसा के शब्द कहे जाते हैं। आचार्य सदा शिष्य के जीवन को पवित्र करने के लिए प्रयत्नशील होता है। ब्रह्मा की भाँति वह भी एक महान् निर्माण के कार्य में लगा है—इसपर मनुष्य के निर्माण का उत्तरदायित्व है। अत्यन्त उन्नत ज्ञान में स्थित होता हुआ भी यह विनीत है। शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह गुरु के लिए सदा प्रशंसात्मक शब्दों का उच्चारण करे। गुरु-निन्दा करना तो दूर रहा—उसका श्रवण भी पाप है। सत् शिष्य गुरु की प्रशंसा करता है—प्रशंसा ही नहीं **भृतिं न आ भर**=एक भृत्य की भाँति सेवा करनेवाला होता है।

'गुरु शुश्रूषा' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं—गुरु की सेवा व गुरु से सुनने की इच्छा। सच्छिष्य सेवक होता है, परन्तु ज्ञान के श्रवण में प्रमाद नहीं करता। एवं, सेवा व सुनना दोनों का ही विस्तार करने से यह 'द्वित' है।

ऐसा ही शिष्य ज्ञान प्राप्त करनेवालों में उत्तम होता है, अत: 'आप्त्य' है। यह शिष्य उस आचार्य की सेवा करता है जो **मतिभि:**=ज्ञानों के द्वारा **जुजोषते**=शिष्य का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है।

शिष्य भी 'द्वित' हो—सेवा करे और सुने। गुरु भी 'द्वित' हो—प्रेम की भावनावाला हो

और ज्ञान का सतत विकास करे। इस प्रकार दोनों द्वित होंगे तो ज्ञान को प्राप्त करने–करानेवाले ये 'आप्त्य' कहलाएँगे।

भावार्थ–'सेवा भी, सुनना भी' यह शिष्य के जीवन का सूत्र है।

ऋषिः–**काश्यपौ पर्वतनारदौ काश्यपे शिखण्डिन्यावप्सरसौ वा**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**उष्णिक्**॥ स्वरः–**ऋषभः**॥

मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य

५७४. गोमन्न इन्दो अश्ववत् सुतः सुदक्ष धनिव। शुचिं च वर्णमधि गोषु धारय॥ ९॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'पर्वत'–अपने ज्ञान का पूर्ण करनेवाला तथा 'नारद'=नरसमूह को पवित्र करनेवाला है। ये 'काश्यपौ'=ज्ञानी तथा 'अप्सरसौ'=सुन्दर रूपवाले अथवा निरन्तर कर्मों में सरण करनेवाले हैं, अतएव 'शिखण्डिन्यौ' (शिखाम् अयति)=शिखर तक पहुँचनेवाले हैं। इस शिखर तक पहुँचने के लिए इन्होंने सब उन्नतियों के मूल 'संयम' को अपनाया है। संयमी बनने का प्रयत्न करते हुए ये 'सोम' से कहते हैं–

हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **नः**=हमारे लिए **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला तथा **अश्ववत्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला होकर **धनिव**=हमारे शरीर में गति कर। 'गमयन्ति अर्थान्' इस व्युत्पत्ति से ज्ञानेन्द्रियाँ 'गो' शब्द वाच्य हैं और 'अश्नुवते कर्मसु' इस व्युत्पत्ति से कर्मेन्द्रियाँ अश्व हैं। सोम इन दोनों को ही शक्तिशाली बनाता है। यह सोम **सुदक्ष**=उत्तम बलवाला है। सोम का संयम करनेवाला मनुष्य संसार में दक्षता से चलता है।

हे सोम! तू **गोषु**=हमारी ज्ञानेन्द्रियों में **शुचिं वर्णम्**=दीप्तरूप को **अधिधारय**=आधिक्येन धारण कर। तू उन्हें खूब चमका दे। इन सुन्दर रूपवाली इन्द्रियों को धारण करनेवाला यह सचमुच अप्सरस्=सुन्दर रूपवाला है।

भावार्थ–सोम सुरक्षित होकर हमें उन्नति के शिखर पर ले-जानेवाला हो।

ऋषिः–**काश्यपौ पर्वतनारदौ काश्यपे शिखण्डिन्यावप्सरसौ वा**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**उष्णिक्**॥ स्वरः–**ऋषभः**॥

प्रभु के रंग में रंगा जाना

५७५. अस्मभ्यं त्वा वसुविदमभि वाणीरनूषत। गोभिष्टे वर्णमभि वासयामसि॥ १०॥

प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि पूर्वोक्त हैं। वे यह अनुभव करते हैं कि किस प्रकार प्रभु ने सोम के उत्पादन के द्वारा उन्हें उत्तम कर्मेन्द्रियाँ, उत्तम दक्षता=बल तथा उज्ज्वल रूप प्राप्त कराया है। ये सब वस्तुएँ (वसु)=निवास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, अतः ये कहते हैं कि **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वसुविदम्**=उत्तम पदार्थों को प्राप्त करानेवाले **त्वा**=आपको **वाणीः**=वेदवाणियाँ **अभि अनूषत**=सब ओर से, सब दृष्टिकोणों से स्तुत करती हैं। वेदों में विविध रूपों में उस प्रभु के गुणों का गान है। ऋषि लोग उन वाणियों के अर्थों का विचार करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो! **गोभिः**=तत्त्वज्ञान देनेवाली इन वेदवाणियों के द्वारा **ते वर्णम्**=तेरे वर्ण को **अभिवासयामसि**=अपने में सर्वतः धारण करने का प्रयत्न करते हैं। तेरे रूप से अपने

को आच्छादित करने के लिए यत्नशील होते हैं। 'तेरे रंग में रंगे जाएँ' यही हमारी कामना होती है।

प्रभु का वर्ण=रूप क्या है? "आदित्यवर्णम्"=मैं उस प्रभु को 'आदित्य' के समान वर्णवाला जानता हूँ। 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योति:'=ब्रह्म सूर्य के समान ज्योति है। उस ब्रह्म के ज्योतिर्मय रूप—वरेण्य भर्ग—को मैं भी धारण करता हूँ। प्रकाशतम मार्ग पर चलना मानव-जीवन का लक्ष्य है। यही 'शुक्ल-मार्ग' है—उत्तरायण है—मोक्षमार्ग है। ब्रह्म 'विशुद्धाचित्' हैं—मैं भी ज्ञानी बनूँ।

भावार्थ—वेदवाणियों का अध्ययन करता हुआ मैं प्रभु के 'ज्ञानमय दीप्तरूप' का धारण करनेवाला बनूँ।

ऋषि:—**अग्निश्चाक्षुष:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**उष्णिक्**॥ स्वर:—**ऋषभ:**॥

सरलता व यशोयुक्त वीरता

५७६. पवते हर्यतो हरिरति ह्वरांसि रंह्या। अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो वीरवद्यश:॥ ११॥

हर्यत:=जाने योग्य और चाहने योग्य (हर्य गतिकान्त्यो:) वह **हरि:**=सब दु:खों का हरण करनेवाले प्रभु **रंह्या**=बड़े वेग से, अर्थात् शीघ्र ही **ह्वरांसि**=कुटिलताओं के **अतिपवते**=पार ले-जाते हैं। वे प्रभु हम सबकी अन्तिम शरण हैं। संसार में अन्य सब शरण नश्वर हैं, केवल प्रभु ही अन्त में सहायक होते हैं, इसलिए वे ही जानने योग्य हैं—वे ही चाहने योग्य हैं। इस प्रभु का स्मरण करनेवाला व्यक्ति छलछिद्र से दूर तथा सरल होता है। सरलता ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है।

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'चाक्षुष' है—सब मार्गों को ठीक प्रकार से देखनेवाला। वह कुटिलता व सरलता के मार्गों का ठीक से निरीक्षण करके सरलता के मार्ग को अपनाता है, इसीलिए यह 'अग्नि'=आगे और आगे बढ़ता जाता है।

यह प्रभु से आराधना करता है कि **स्तोतृभ्य:**=अपने स्तोताओं के लिए **वीरवत् यश:**=वीरता से पूर्ण यश **अभ्यर्ष**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—मैं अपने अन्दर सच्चे स्तोता के लक्षणों को धारण करने का प्रयत्न करूँ। स्तोता वीर होता है और वीरता के सदुपयोग से यशस्वी होता है।

ऋषि:—**द्वित आप्त्य:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**उष्णिक्**॥ स्वर:—**ऋषभ:**॥

सरसता, सौम्यता, स्तुति

५७७. परि कोशं मधुश्चुतं सोम: पुनानो अर्षति। अभि वाणीर्ऋषीणां सप्ता नूषत॥ १२॥

शरीर में आनन्दमयकोश का नाम ही 'मधुश्चुत् कोश' है। **सोम:**=शक्ति व सौम्यता का पुञ्ज बननेवाला व्यक्ति **पुनान:**=अपने को पवित्र बनाता हुआ **मधुश्चुतं कोशं**=माधुर्य का क्षरण करनेवाले आनन्दमयकोश की ओर **परिअर्षति**=सब प्रकार से गति करता है। अन्नमय आदि कोशों से ऊपर उठकर यह आनन्दमयकोश में स्थित होने का प्रयत्न करता है। 'शक्ति, सौम्यता व पवित्रता' इस अन्तर्मुख यात्रा के पाथेय हैं—मार्ग के भोजन हैं।

इस आनन्दमय कोश में स्थित होनेवाले **ऋषीणाम्**=तत्त्वद्रष्टा लोगों की **सप्ता वाणी:**=सप्त

द्वारों में (कर्णौ, नासिके, चक्षणी, मुखम्) अवकीर्ण वाणी **अभि अनूषत**=सदा स्तुति ही करती है। ये किसी के लिए निन्दात्मक शब्दों का प्रयोग नहीं करते। ये आनन्दमयकोश में रहते हैं और आनन्दप्रद शब्दों को ही बोलते हैं।

अन्तिम मन्त्रभाग का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि इनकी सात छन्दों में उच्चारण की जाती हुई वाणियाँ सदा उस प्रभु का स्तवन करती हैं। एवं, यह आनन्द में रहता है और उस आनन्दमय प्रभु का स्तवन करता है।

इन दोनों तत्त्वों को विस्तृत करनेवाला यह सचमुच 'द्वित' है। द्वित होने से ही यह 'आप्त्य'=प्रभु को प्राप्त करानेवालों में उत्तम भी है।

भावार्थ—हम निचली भूमिकाओं से ऊपर उठकर उच्च भूमिकाओं में विचरनेवाले बनें।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

सोम-स्तवन

५७८. पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः। महि द्युक्षतमो मदः॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गौरिवीति'=सात्त्विक भोजनवाला, अतएव 'शाक्त्य' शक्ति का पुतला, सात्त्विक भोजन से उत्पन्न 'सोम'=vitality को सम्बोधित करता हुआ कहता है—**सोम**=हे शक्तिप्रद सोम! तू **इन्द्राय**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने का प्रयत्न करनेवाले मेरे लिए **मधुमत्तमः**=अत्यन्त माधुर्यवाला होकर **पवस्व**=मेरे शरीर में प्रवाहित हो। शरीर में तेरी व्याप्ति के द्वारा मेरा जीवन अत्यन्त माधुर्यमय हो। सोम-सम्पन्न पुरुष कभी कड़वी वाणी का प्रयोग नहीं करता—इसका कोई भी व्यवहार कटुता को लिये हुए नहीं होता। हे सोम! तू **क्रतुवित्तमः**= मुझे अधिक-से-अधिक क्रतु=कर्मशक्ति, संकल्पशक्ति तथा ज्ञान प्राप्त करानेवाला है। सोम के रक्षण से मेरा मस्तिष्क ज्ञानपूर्ण, हृदय उत्तम संकल्पों से युक्त तथा मेरा अङ्ग-प्रत्यङ्ग अधिक कार्यक्षम होता है। **मदः**=इस सोम से मेरा जीवन उल्लासमय बना रहता है—मैं कभी निराशा व निरुत्साह में नहीं डूब जाता। **महि**=यह सोम मुझे (मह=पूजायाम्) पूजा-प्रवण बनाता है—मेरा झुकाव देवपूजा की ओर रहता है। **द्युक्षतमः**=इसके द्वारा मेरा जीवन सदा प्रकाश-ज्ञान में (द्यु) स्थित (क्षि) होता है। इस प्रकार **मदः**=मेरा जीवन सदा हर्ष, आनन्द व रस से परिपूर्ण रहता है।

भावार्थ—सोम के संयम से मैं सदा 'ज्ञानावस्थित-चेताः' बनूँ।

ऋषिः—**ऊर्ध्वसद्मा आङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

ऊर्ध्व-सद्मा

५७९. अभि द्युम्नं बृहद्यश इषस्पते दिदीहि देव देवयुम्। वि कोशं मध्यमं युव॥ २॥

गत मन्त्र में सोम के लाभों का वर्णन करते हुए गौरिवीति ने कहा था कि सोम मुझे ज्ञानावस्थित चित्तवाला बनाता है। ज्ञान में स्थित यह व्यक्ति ऊपर और ऊपर उठता हुआ 'ऊर्ध्व-सद्मा' बनता है। यह अन्नमयकोश को अपना घर न बनाकर आनन्दमयकोश को

अपना घर बनाता है। इसका शरीर—अङ्ग-प्रत्यङ्ग—सदा लोच—लचकवाला, रसमय बना रहता है, अत: यह 'आङ्गिरस' होता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि—

१. **अभिद्युम्नम्**=मुझे ज्योति की ओर ले-चलिए। मैं अधिकाधिक प्रकाश को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

२. **बृहद् यश:**=मुझे सदा यशस्वी जीवन प्राप्त कराइए। मेरी विद्या विवाद के लिए न होकर ज्ञान के लिए, मेरा धन मद के लिए न होकर दान के लिए और मेरी शक्ति पर-पीड़न के लिए न होकर पीड़ितों के रक्षण के लिए विनियुक्त हो।

३. **इषस्पते**=हे प्रभो! आप सब प्रेरणाओं के पति हैं। मुझे आप अपनी प्रेरणाओं का सुननेवाला बनाइए।

४. **देव**=सब दिव्य गुणों से सम्पन्न प्रभो! **देवयुम्**=आप देव को अपने साथ जोड़ने की कामनावाले मुझे **दिदीहि**=सब बन्धनों से मुक्त कीजिए, बन्धनों से मुक्त होकर ही में आपसे मिल सकूँगा।

ऊर्ध्वसद्मा की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु उसे प्रेरणा देते हैं कि **मध्यमं कोशम्**=अपने मध्यम कोश को, अर्थात् मनोमयकोश को **वियुव**=अधर्म से पृथक् करके धर्म में विशेषरूप से संयुक्त कर। **'सं मा भद्रेण पृङ्क्तम्, वि मा पाप्मना पृङ्क्तम्'**=इस प्रार्थना को तू अपने जीवन में मूर्त्तरूप दे। मन की साधना से तेरी ये प्रार्थनाएँ पूरी होंगी।

भावार्थ—ऊर्ध्वसद्मा अपने जीवन में ज्ञान, यश, प्रभु-प्रेरणा व दिव्य गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

ऋषि:—ऋजिश्वा भारद्वाज:॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वर:—**ऋषभ:**॥

प्रभु की भावना से अपने को ओत-प्रोत करो

५८०. आ सोता परि षिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरं रजस्तुरम्। वनप्रक्षमुदप्रुतम्॥ ३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'ऋजिश्वा भारद्वाज' है—सरलमार्ग से चलनेवाला, अतएव कुटिलता से दूर। कुटिलता से दूर होने के कारण ही वस्तुत: यह 'भारद्वाज' है—अपने में शक्ति को भर पाया है। कुटिल व्यक्ति का मन व मस्तिष्क सदा चिन्ताओं से पूर्ण रहता है, अतएव उसमें नैसर्गिकरूप से शक्ति की कमी हो जाती है। कुटिल व्यक्ति प्रकृति की ओर चलता है—ऋजु प्रभु की ओर। यह अपने सब मित्रों को यही प्रेरणा देता है कि **आ**=सर्वथा **सोत**=उस प्रभु की भावना को अपने में उत्पन्न करो—उसका चिन्तन करो, **परिषिञ्चत**=उसके चिन्तन से ही अपने को सींच लो—तुम्हारे रग-रग में प्रभु की भावना समायी हो। उस प्रभु को तुम सदा याद करो जो—

१. **अश्वम्**=(अश् व्याप्तौ) सर्वव्यापक है। सर्वत्र विद्यमान होता हुआ यदि वह हमारे कर्मों का सतत द्रष्टा है तो हमें आच्छादित करके हमारी रक्षा भी कर रहा है।

२. **न: स्तोमम्**=हमारे द्वारा स्तुति करने योग्य है। प्रभु की स्तुति से हमारे सामने हमारे जीवन का लक्ष्य सदा उपस्थित रहता है और हम अपने जीवन का उत्थान करनेवाले होते हैं।

३. **अप्तुरम्**=वे प्रभु हमें उत्तम कर्मों की (अप्) प्रेरणा देनेवाले हैं। वस्तुत: उसे दयालुरूप

में स्मरण करना हमें अपने को दया की भावना से भरने के लिए प्रेरित करता है और इसी प्रकार उसका न्यायकारित्व हमें न्यायकारी बनने का ध्यान कराता है।

४. **रजस्तुरम्**=वह प्रभु हमें प्रकाश प्राप्त कराते हैं, जिससे उस प्रकाश में हम सदा उत्तम कर्म करनेवाले बनें।

५. **वनप्रक्षम्**=(वन=संविभाग)—वे प्रभु संविभाग की भावना से हमारा सम्पर्क करनेवाले हैं। 'हम सब एक प्रभु के पुत्र हैं'—यह भावना ही हमें संविभाग का पाठ पढ़ाती है। जब वे प्रभु हम सबके पिता हैं तब हम सब एक हुए। एक घर में रहनेवाले हम क्या मिलकर न खाएँगे?

६. **उदप्रुतम्**=वे प्रभु अपनी करुणा से हमारे अन्दर भी करुणा-जल (उद्) को उँडेलनेवाले हैं (प्रु)। प्रभु का स्मरण हमें 'करुणार्द्र हृदय' बनाता है।

भावार्थ—मैं सदा प्रभु में निवास करूँ।

ऋषिः—कृतयशा आङ्गिरसः॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

उस वसुओं के धारण करनेवाले को

५८१. एतमु त्यं मदच्युतं सहस्रधारं वृषभं दिवोदुहम्। विश्वा वसूनि बिभ्रतम्॥ ४॥

प्रभु को अश्वम्=सर्वव्यापक रूप में स्मरण करनेवाला ऋजिश्वा सदा यश के ही कार्य करता है, अतः वह इस मन्त्र का ऋषि 'कृतयशाः' बन जाता है। भोगासक्त न होने से यह सदा 'आङ्गिरस'=रसमय बना रहता है। यह कहता है कि स्मरण करो—

एतम्=इस प्रभु को उ=निश्चय से **त्यम्**=उसे जोकि **मदच्युतम्**=हमपर हर्ष की वर्षा करनेवाले हैं। **सहस्रधारम्**=हज़ारों प्रकार से हमारा धारण करनेवाले हैं। **वृषभम्**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं। **दिवोदुहम्**=शक्ति के साथ हममें **दिवः**=प्रकाश का **दुहम्**=पूरण करनेवाले हैं।

शक्ति और ज्ञान दोनों को अपने में जोड़नेवाला 'भारद्वाज बार्हस्पत्य' है अथवा 'कृतयशा' (यशः=ज्ञान आङ्गिरस) है। इन दोनों को सङ्गत करने के द्वारा ही वे प्रभु **विश्वा वसूनि बिभ्रतम्**=हमें सब उत्तम पदार्थों के—निवास के लिए आवश्यक साधनों के—प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से मैं सब वसुओं का धारण करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—राजर्षिर्ऋणञ्चयः॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**यवमध्यागायत्रीः**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के शिक्षणालयों में

५८२. स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इडानाम्। सोमो यः सुक्षितीनाम्॥ ५॥

'ऋणञ्चय' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है—यह 'ऋण' (ऋ गतौ) प्राप्तव्य वसुओं का चय=संग्रह करता है। 'राजर्षि' अपने जीवन को बड़ा नियमित (Regulated) बनाता है और ऋषि=तत्त्वद्रष्टा बनता है। इस प्रकार यह ऋणञ्चय राजर्षि बनकर आङ्गिरस होता है।

यह कहता है कि हमसे **सः**=वह प्रभु **सुन्वे**=अपने में उत्पन्न किया जाता है—स्मरण किया जाता है **यः**=जो **वसूनाम्**=सब उत्तम पदार्थों का **आनेता**=प्राप्त करानेवाला है। **यः**=जो प्रभु **रायाम्**=निर्माण के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त करानेवाले हैं। भौतिक शरीर के

निर्माण व धारण के लिए भौतिक सम्पत्तियों की आवश्यकता है ही। **यः**=जो **इडानाम्**=(इ-डा=A law) विधान की प्रतिपादिका वेदवाणियों के प्राप्त करानेवाले हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान देकर उस प्रभु ने हमें उन वस्तुओं व धनों के यथोचित प्रयोग का निर्देश किया जिससे इनका अयोग व अतियोग कहीं हमारी हानि का कारण न बन जाए। इस प्रकार वे प्रभु ऐसे हैं **यः**=जो **सुक्षितीनाम्**=उत्तम भूमिकाओं के **सोमः**=निर्माण करनेवाले हैं। अन्नमयकोश आदि पञ्चकोश ही इस जीवन-भवन की भूमिकाएँ हैं। प्रभु इनके अत्यन्त सुन्दर निर्माण की व्यवस्था करते हैं। क्षिति का अर्थ 'मनुष्य' भी है। प्रभु अपने शिक्षणालय में 'वसु' धन व 'वेदज्ञान' को प्राप्त कराके उत्तम मनुष्यों का निर्माण करते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य ही होगा यदि हम उस शिक्षणालय में प्रविष्ट नहीं होते।

भावार्थ—मैं प्रभु के शिक्षणालय का विद्यार्थी बनूँ।

ऋषिः—**शक्तिर्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

मैं उत्तीर्ण घोषित किया जाऊँ

५८३. त्वं ह्या३ङ्ग दैव्य पवमान जनिमानि द्युमत्तमः। अमृतत्वाय घोषयन्॥ ६॥

प्रभु के शिक्षणालय में अपने जीवन को शक्ति-सम्पन्न बनाकर यह 'शक्ति' नामवाला हो गया है। यह काम-क्रोध को जीतने के कारण 'वासिष्ठ' है। यह प्रभु से निवेदन करता है कि—

हे प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **अङ्ग**=(अगि गतौ) मेरे जीवन में सब उत्कृष्ट गति के साधक हैं, **पवमान**=आपके स्मरण से मेरा जीवन पवित्र होता है, आप **द्युमत्तमः**=सर्वाधिक प्रकाशमय हैं। आचार्य ने विद्यार्थी के जीवन में 'पवित्रता व ज्ञान प्रकाश' ही भरना होता है। परमेश्वर से उत्कृष्ट आचार्य सम्भव ही कहाँ है? इस शिक्षणालय में रहकर प्रभु के प्रति समर्पण द्वारा यदि सचमुच इनमें दिव्यता-दैवी सम्पत्ति का विकास हो जाता है तो इन्हें अन्य जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रह जाती। **दैव्य जनिमानि**=दिव्यता के विकासवाले मनुष्य को वे प्रभु **अमृतत्वाय घोषयन्**=अमरता के लिए उद्घोषित करते हैं। ये व्यक्ति जन्म-मृत्यु के चक्र से ऊपर उठकर मुक्त हो जाते हैं, ब्रह्मसंस्थ होकर अमरता को पा लेते हैं।

भावार्थ—मैं सदा उत्तीर्ण होता हुआ अमरता की ओर बढ़ूँ।

ऋषिः—**उरुराङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**काकुभः प्रगाथः (ककुबुष्णिक्)**॥
स्वरः—**ऋषभः**॥

विशालता

५८४. एष स्य धारया सुतोऽव्या वारेभिः पवते मदिन्तमः। क्रीडन्नूर्मिरपामिव॥ ७॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'उरुः आङ्गिरस' है। यह शब्द 'ऊर्णुञ् आच्छादने' धातु से बना है। यह प्राणिमात्र को अपने प्रेम से आच्छादित करने का प्रयत्न करता है। अपने प्रेम को विशाल बनाकर ही यह वासना से ऊपर उठकर 'आङ्गिरस'=शक्तिशाली हुआ है।

यह इस निश्चय पर पहुँचा है कि **एषः**=यह **स्यः**=वह प्रसिद्ध सोम=वीर्य (vitality) **धारया**=जीवन के हेतु से **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। इसको शरीर में ही खपाकर हमें अपने

अङ्ग-प्रत्यङ्ग को 'स्वस्थ, सबल व सशक्त' बनाना है। यह सोम हमें **अव्या**=रक्षण में सर्वोत्तम-ज्ञान के मार्ग में आनेवाली रुकावटों (Bars) से **पवते**=परे ले-जाता है--उनसे हमें ऊपर उठा देता है। वस्तुतः यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे दीप्त कर देता है। ज्ञान की प्राप्ति के साथ **मदिन्तमः**=यह हमें अत्यन्त मद व उल्लास को प्राप्त करानेवाला है। **इव**=जैसे **अपाम् उर्मिः**=जलों की तरङ्ग **क्रीडन्**=क्रीड़ा करती हुई होती हैं उसी प्रकार यह मनुष्य सारी क्रियाओं को 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'=गुणों की परस्पर होती हुई क्रीड़ा ही समझता है। क्रीड़ा में उत्साह है—निराशा नहीं। सोम-सम्पन्न व्यक्ति गिरकर भी उत्साह-शून्य नहीं होता।

भावार्थ—प्रेम को विशाल बनाकर हम वासना पर विजय पाएँ।

ऋषिः—**उरुराङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**काकुभः प्रगाथः (सतोबृहती)**॥
स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभुरूपी कवचवाला

५८५. य उस्त्रिया अपि या अन्तरश्मनि निर्गा अकृन्तदोजसा।
अभि व्रजं तत्निषे गव्यमश्व्यं वर्मीव धृष्णवा रुज।
ओ३म् वर्मीव धृष्णवा रुज॥ ८॥

गाः=वेदवाणियों को **निर् अकृन्तत्**=खूब विश्लिष्ट करता है, एक-एक शब्द को छाँट-छाँटकर उसमें निहित भाव को देखने का प्रयत्न करता है। यह वेदवाणियों का तर्क ऋषि के द्वारा अध्ययन करता है। तर्क से अनुसन्धान करता हुआ यह उन **उस्त्रियाः**=ज्ञान की किरणों को प्राप्त करता है **ये**=जो **अपि याः**=उस प्रभु को प्राप्त करानेवाली हैं। ये ज्ञान-किरणें वे हैं जो **अन्तः अश्मनि**=(अश्मा भवतु नस्तनूः) आङ्गिरस के पाषाणतुल्य दृढ़ शरीर के अन्दर निवास करती हैं। ऋजिश्वा का यह ज्ञान **ओजसा**=ओज के साथ होता है।

इस प्रकार का जीवन बना सकना इसके लिए इसलिए सम्भव हुआ है कि यह **व्रजम्**=एक बाड़े को **अभितत्निषे**=विस्तृत करता है, जो बाड़ा **गव्यम्**=ज्ञानेन्द्रियरूप गौओं को घेरने के लिए है, और जो बाड़ा **अश्व्यम्**=कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को घेरता है। यह इन्द्रियों को उस-उस विषय से रोककर आत्मवश करने का प्रयत्न करता है। इस जितेन्द्रियता ने ही इसे ऋषि का मस्तिष्क तथा मल्ल का शरीर प्राप्त कराया है। अब यह आङ्गिरस ज्ञान का कवच (ब्रह्म वर्म ममान्तरम्) पहनकर कामादि शत्रुओं का पूर्ण संहार करता है। **वर्मी इव**=कवचवाले की भाँति हे **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले! **आरुज**=तू इनका पराजय कर डाल। 'परन्तु इस विजय का कहीं तुझे गर्व न हो जाए, अतः **ओ३म् वर्मीव**=उस प्रभुरूप कवच को धारण करनेवाला बनकर **धृष्णो**=हे धर्षण करनेवाले! **आरुज**=शत्रुओं को भङ्ग कर, अर्थात् इस विजय को तू अपनी विजय मत समझ बैठ। यह सब उस प्रभु की शक्ति व कृपा से ही हुआ है, ऐसा जान।

भावार्थ—मैं प्रभु को अपना कवच बनाकर अन्तः शत्रुओं को छिन्न-भिन्न कर दूँ। मेरा ज्ञान ओजस्विता से युक्त हो। वज्र-तुल्य दृढ़ शरीर मेरी ज्ञान की किरणों का अधिष्ठान हो।

आरण्यकाण्डम् : षष्ठोऽध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**बार्हस्पत्यः शंयुः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

गृहस्थाश्रम के बाद

५८६. इन्द्र ज्येष्ठं न आ भर ओजिष्ठं पुपुरि श्रवः।
यद्दिधृक्षेम वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र पप्राः॥ १॥

वैदिक संस्कृति में गृहस्थ के बाद मनुष्य को वानप्रस्थ बनना होता है। यह वानप्रस्थ 'शंयु'=शान्ति को अपने साथ जोड़ता है। 'बार्हस्पत्यः' ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनने का प्रयत्न करता है। नगरों से दूर शान्त वातावरण में यह प्रभु से प्रार्थना करता है—

इन्द्र=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हममें उस **श्रवः**=ज्ञान को **आभर**=सर्वतः भरिए जो १. **ज्येष्ठम्**=उत्कृष्ट है। मैं ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करानेवाली 'पराविद्या' प्राप्त करना चाहता हूँ। २. **ओजिष्ठम्**=यह ज्ञान मुझे अत्यन्त ओजस्वी बनानेवाला है। ३. **पुपुरि**=(पृ=पालन व पूरण) यह ज्ञान मेरा पालन व पूरण करनेवाला है। यह मुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाता है और मेरी न्यूनताओं को दूर कर मेरा पूरण करता है।

हे **वज्रहस्त**=(वज गतौ) क्रियाशील हाथवाले और **सु-शिप्र**=शोभन शिरस्त्राणवाले प्रभो! आप हमें यह ज्ञान इसलिए प्राप्त कराइए **यत्**=जिससे **दिधृक्षेम**=हम कामादि शत्रुओं का धर्षण—पराभव करने में खूब समर्थ हों। हे प्रभो! आप **उभे रोदसी**=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक का **पप्राः**=पूरण करते हैं। हाथों की क्रियाशीलता पृथिवीलोक, अर्थात् शरीर को शक्तिशाली बनाती है तथा शोभन शिरस्त्राण (ज्ञान की रक्षा) द्युलोक, अर्थात् मूर्धा को उज्ज्वल बनाता है (येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा)।

एवं वनस्थ निरन्तर ज्ञान-प्राप्ति में लगा है। यह ज्ञान के द्वारा अपनी न्यूनताओं को दूर कर अपना पूरण कर रहा है। यह पूर्ण होकर ही 'ब्रह्माश्रमी' (संन्यासी) बन पाएगा।

भावार्थ—मैं उस ज्ञान को प्राप्त करूँ जो मुझे शान्ति प्राप्त करने में समर्थ बनाए।

ऋषिः—**मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

निर्धनता, अपयश व असफलता से दूर

५८७. इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधिक्षमा विश्वरूपं यदस्य।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतं चिदर्वाक्॥ २॥

'शंयु'=शान्ति-प्राप्ति की साधना करता हुआ 'वसिष्ठ' बना है। यह काम-क्रोध को

पूर्णरूप से वश में कर पाने के लिए ही 'मैत्रावरुणि'=प्राणापान की साधना करनेवाला बना है। यह प्रभु की स्तुति निम्न शब्दों में करता है–

इन्द्रः=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **जगतः**=इस सारे ब्रह्माण्ड का–सम्पूर्ण प्राकृतिक पदार्थों का तथा **चर्षणीनाम्**=मनुष्यों का–श्रमशील प्राणियों का **राजा**=शासक है। इन्हें दीप्त करनेवाला है (राजृ दीप्तौ)। कहीं भी, जो कुछ दीप्ति दीखती है वह उस प्रभु की ही है। **अधिक्षमा**=इस पृथिवी पर **यत् विश्वरूपम्**=जो अनेक रूपोंवाली धन-धान्य सम्पदा है, वह **अस्य**=इसकी है। सब सम्पत्ति का स्वामी प्रभु ही है।

ततः=अपने उस सम्पदा के भण्डार से प्रभु **दाशुषे**=अपना समर्पण करनेवाले के लिए **वसूनि**=निवास के लिए उत्तम धनों को **ददाति**=देते हैं। वे प्रभु **अर्वाक्** अपने प्रति समर्पण करनेवाले जीव के लिए **चित्**=निश्चय से **उपस्तुतम्**=स्तुत्य–प्रशंसनीय **राधः**=धन को **चोदत्**–प्रेरित करते हैं। प्रभु से दिया गया यह धन १. वसु के लिए पर्याप्त होता है, २. **उपस्तुतम्**=सदा स्तुत्य साधनों से कमाया जाता है और ३. **राधः**=यह अवश्य सफलता (सिद्धि) प्राप्त करानेवाला होता है। प्रभु-भक्त अपने जीवन में निर्धनता, अपयश व असफलता की परवाह नहीं करता।

भावार्थ–मैं उस प्रभु का भक्त बनूँ जो मुझे सफलता प्राप्त कराएँ।

ऋषिः–**गोतमो वामदेवः**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

ज्ञान किसे प्राप्त होता है?

५८८. यस्येदमा रजोयुजस्तुजे जने वनं स्वः। इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत्॥ ३॥

'प्रभु गुणों से लिप्त होते हों' ऐसा तो है नहीं, परन्तु सृष्टि के निर्माण, धारण व प्रलय के शब्दों में प्रभु को भी रज, सत्त्व व तम से संयुक्त रूप में स्मरण किया जाता है। सृष्टि के निर्माण-समय में वे रज से युक्त होते हैं–इसी समय निर्माण के कार्य के कारण ये 'ब्रह्मा' कहलाते हैं। सृष्टि के निर्माण के साथ वे सर्वतोमुख होते हुए मानो अपने चतुर्दिक् मुखों से अपने मानस पुत्रों को वेदज्ञान भी प्राप्त कराते हैं। उस **रजो-युजः**=रजोगुण से युक्त **यस्य**=जिस ब्रह्म का **आ**=समन्तात् विस्तृत **इदम्**=यह ज्ञान है, वह **तुजे जने**=देनेवाले (तुज्=giving) मनुष्य को प्राप्त होता है। लोभ ज्ञानप्राप्ति का महान् विघ्न है। लोभ से बुद्धि विचलित हो जाती है। **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का यह ज्ञान १. **वनम्**=सेवनीय है–संभजनीय है, सत्य होने से उपादेय है। २. **स्वः**=यह प्रकाशमय है–अथवा सुख देनेवाला है। ३. **रन्त्यम्**=यह अत्यन्त रमणीय है। प्रारम्भ में वह रमणीय प्रतीत नहीं होता, परन्तु अभ्यास से वह अधिकाधिक सुन्दर लगने लगता है। ४. **बृहत्**=यह (बृहि वृद्धौ) हमारी सर्वतोमुखी वृद्धि का हेतु है।

इस ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य दिव्य गुणों का विकास करता हुआ 'वामदेव' बन जाता है और प्रशस्तेन्द्रिय बनकर 'गोतम' कहलाता है।

भावार्थ–तुज्=देनेवाले बनकर हम प्रभु के उस ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें जो हमें सुखी, सुन्दर व समृद्ध बनाएगा।

ऋषिः—**शुनःशेपः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गायत्री**॥

पाशों का निराकरण

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ २र ३ १ २
५८९. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
१ २ ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
अथादित्य व्रते वयं तवानागसो अदितये स्याम॥ ४॥

जब मनुष्य अपने जीवन में आराम व सुख को लक्ष्य बनाकर चलता है तब यह 'शुनः शेप'=सुख का निर्माण करनेवाला (शुनं=सुखं, शेप्=to create) पतन—गर्त की ओर चलता है—'आजीगर्ति' (अज गतौ, गर्त=गढा)।

प्रारम्भ में यह मानस पवित्रता व प्रभु–महिमा के दर्शन के लिए शास्त्रों का अध्ययन न करके आमोद–प्रमोद के लिए पढ़ने लगता है। यह इसका 'ज्ञानसंग' कहलाता है। यह एकदम भौतिक बन्धन तो नहीं, पर है बन्धन ही। यही यहाँ 'उत्तम बन्धन' कहलाता है और पाशों के अधिष्ठाता वरुण' से प्रार्थना की गयी है कि हे **वरुण**=अनृतवादियों को जालों में जकड़नेवाले प्रभो! **अस्मत्**=हमसे इस **उत्तमं पाशम्**=उत्तम बन्धन को **उत्**=बाहर (out) करो। हमें इस बन्धन से बाहर निकाल दो।

सुख को लक्ष्य बनानेवाला मनुष्य नाना प्रकार की व्यवस्थाओं में लगा हुआ भी शान्त नहीं हो पाता। कभी कुछ और कभी कुछ वह करता ही रहता है। यह उसका 'कर्मसङ्ग' कहलाता है। इसे दूर करने के लिए प्रार्थना करते हैं कि हे वरुण! हमारे इस **मध्यमम्**=मध्यम बन्धन को **वि–श्रथाय**=ढीला कीजिए। व्यर्थ हाथ–पैर पटकना छोड़कर हम 'शान्त–भाव' से जीवन यापन कर सकें। भाग–दौड़ में न होकर 'शनैःचर' हों।

सुख की ओर बढ़नेवाला मनुष्य सम्पत्ति जुटाकर नौकरों से कार्य कराता हुआ स्वयं आराम लेने लगता है। इस समय इसका जीवन 'प्रमाद, आलस्य व निद्रा' में चलता है। 'खाना, सोना', बस यही इसका कार्य रह जाता है। यह इसका निकृष्ट बन्धन है। इसलिए प्रार्थना करते हैं कि **अधमम्**=इस निकृष्ट बन्धन को भी **अव**=हमसे दूर कीजिए।

निद्रा व आलस्य को परे फेंककर **अथ**=अब हे **आदित्य**=आदानकर! खारे समुद्र से भी शुद्ध जल का ग्रहण करनेवाले सूर्य! **वयम्**=हम **तव व्रते**=तेरे व्रत में चलकर—तेरे व्रत में स्थिर होकर **अनागसः**=निष्पाप होते हुए **अदितये**=बन्धनों से मोक्ष के लिए **स्याम**=समर्थ हों। सूर्य निष्कामवृत्ति से अपने पथ पर आगे और आगे बढ़ता चलता है, हम भी इसी क्रिया को अपनाएँ।

भावार्थ—सूर्य के सतत–सरणरूप व्रत में चलता हुआ मैं अपने को सभी पाशों से मुक्त कर सकूँ।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

संग्राम में विजय के लिए

१ २ ३ १ २र ३ १२ ३ १ २र ३ १ २
५९०. त्वया वयं पवमानेन सोम भरे कृतं वि चिनुयाम शश्वत्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ५॥

'सब प्रकार के बन्धनों को तोड़कर सूर्य के व्रत में चलता हुआ मनुष्य विजयी न हो' यह कैसे हो सकता है? अतः गत मन्त्र का 'शुनःशेपः' यहाँ 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) शत्रुओं का संहार करनेवाला हो जाता है। 'सूर्य के व्रत में चलता हुआ' यह सूर्य की भाँति ही चमकने लगता है और अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला 'आङ्गिरस' बनता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि–

हे **सोम**=(स उमा)–ज्ञान के भण्डार प्रभो! **पवमानेन**=अपने ज्ञान से पवित्र करनेवाले **त्वया**=आपसे मिलकर **वयम्**=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले हम **भरे**=काम-क्रोधादि के साथ निरन्तर चल रहे अध्यात्म संग्राम में (भृ भर्त्सने) **शश्वत्**=सदा **कृतम्**=सफलता को **विचिनुयाम**= विशेषरूप से संचित करनेवाले हों। प्रभु के आश्रय के बिना इस संग्राम में विजय पाना सम्भव नहीं। प्रभु अपने ज्ञान से मुझे पवित्र करते हैं और उत्तरोत्तर पवित्र होते चलना ही इस संग्राम का विजय है। 'विजय मुझे प्रभु ही प्राप्त कराएँगे' इसमें सन्देह नहीं। प्रभु से प्राप्त कराई जानेवाली यह विजय बड़ी शानदार होगी यदि हम भी निम्न प्रकार से प्रयत्नशील होंगे। **नः तत्**=हमारी इस विजय को **मामहन्ताम्**=अत्यन्त गौरवपूर्ण बना डालें। कौन–

१. **मित्रः वरुणः**=प्राण और अपान, अर्थात् हमारा पहला कर्त्तव्य यह है कि हम प्राणापान की साधना करें। इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर आक्रमण करनेवाले अन्तःशत्रुओं को दग्ध करने का मूलसाधन प्राणायाम ही है। इससे इन्द्रियों के दोष उसी प्रकार दग्ध हो जाते हैं, जैसे तपाये हुए धातुओं के मल।

२. **अदितिः सिन्धुः**=अहिंसा की वृत्ति (दो अवखण्डने) और शक्ति का सागर। यह अदिति=अहिंसा सिन्धु=शक्ति के समुद्र के साथ है। निर्बलता के साथ अहिंसा का निवास नहीं। 'सिन्धु' जलों का वाचक है। अध्यात्म में जल शक्ति के रूप में है (आपः रेतो भूत्वा०)। **'शक्तौ क्षमा'** शक्ति के साथ क्षमा हमारे जीवनों को अलंकृत करती है और हमें विजयी बनाती है।

३. **पृथिवी उत द्यौः**=पृथिवी और द्युलोक–शरीर और मस्तिष्क। 'पृथिवी च दृढा'=दृढ शरीर ही शरीर है। वायु के नाममात्र झोंके से हिल जानेवाला–रोग-पीड़ित हो जानेवाला शरीर भी क्या शरीर है? 'द्यौः उग्रा' हमारा मस्तिष्क विज्ञान के नक्षत्रों व ब्रह्मज्ञान के सूर्य से दीप्त हो। 'हम शरीर को पृथिवी तुल्य दृढ़ और मस्तिष्क को द्युलोक के समान तेजस्वी बनाएँ' यही हमारा तृतीय प्रयत्न होगा और हम प्रभु-कृपा से शत्रुओं को तीर्ण कर जाएँगे, 'कुत्स' बन पाएँगे।

भावार्थ–प्रभु-कृपा से प्राणायाम, पवित्रता व 'प्रज्ञान' में लगे हुए हम शत्रुओं को जीतनेवाले बनें।

ऋषिः–**वामदेवो गोतमः**॥ देवता–**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः–**एकपदाजगती**॥ स्वरः–**निषादः**॥

शक्ति का पुञ्ज बन जाएँ

५९१. इमं वृषणं कृणुतैकमिन्माम्॥ ६॥

यह 'एकपाद जगती' छन्द का मन्त्र है। एक ही चरण में इसमें सारे ब्रह्माण्ड की याचना हो गयी है। 'वृद्धा-जरती-न्याय' के अनुसार यहाँ एक ही वाक्य में सब-कुछ माँग लिया गया

है। 'मैं अपने युवा पुत्रों को सोने के पात्रों में प्रातराश करती पाऊँ। इस वाक्य में वृद्धा ने १. मृत पति का नवजीवन २. अपना यौवन ३. उत्तम सन्तान व ४. सम्पत्ति सभी वस्तुएँ माँग ली। इसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में 'वामदेव गोतम' सभी दिव्य गुणों को तथा प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करता है–

इमं माम्=इस मुझे–गत मन्त्र के उत्तरार्ध में संकेतित प्रयत्न करनेवाले मुझे **इत्**=निश्चय से **एकं वृषणम्**=अद्वितीय शक्तिशाली **कृणुत**=कर दो–बना दो। शक्ति के साथ सब गुणों का निवास है। गुण (virtue) वीरत्व है और दुर्गुण (evil)–अवीरता। शक्ति संयम साध्य है और संयम सब गुणों का मूल है। शक्ति होने पर सब दिव्य गुण आ जाते हैं। इस बात का संकेत प्रस्तुत मन्त्र के 'विश्वेदेवा:' देवता से भी हो रहा है। याचना शक्ति की है–विषय 'सब दिव्य गुणों की प्राप्ति' है। शक्ति से ही सब दिव्य गुणों को अपनाकर हमें 'वामदेव' बनाना है। यह सुन्दर दिव्य गुणोंवाला वामदेव प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। 'इसकी सब इन्द्रियाँ पवित्र हैं', अत: यह गोतम है।

भावार्थ–प्रभु 'तेजपुञ्ज' हैं। मुझे तेजस्वी बनाएँ। मैं भी 'तेजपुञ्ज' बनने का प्रयत्न करूँ।

ऋषि:–**आङ्गिरसोऽ महीयु:**॥ देवता–**पवमान: सोम:**॥ छन्द:–**गायत्री**॥ स्वर:–**षड्ज:**॥

'इन्द्र, यज्यु, वरुण और मरुत्' बनना

५९२. स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्य:। वरिवोवित् परिस्रव॥ ७॥

हे **वरिवोवित्**=उपासना की वृत्ति (वरिवस्=पूजा) अथवा धन (वरिव:=wealth) प्राप्त करानेवाले प्रभो! **स:**=आप **न:**=हमें **परिस्रव**=उपासना की वृत्ति व धन प्राप्त कराइए। किन हमारे लिए–

१. **इन्द्राय**=इन्द्र–इन्द्रियों के अधिष्ठाता के लिए। वस्तुत: मनुष्य चित्तवृत्ति का निरोध करके ही प्रभु की उपासना कर पाता है और इस उपासक के योगक्षेम के लिए प्रभु इसे आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं।

२. **यज्यवे**=यज्यु–स्वार्थ की भावना से रहित होकर कर्म करनेवाले के लिए। स्वार्थ के साथ प्रकृति के प्रति आसक्ति है–वहाँ प्रभु की ओर झुकाव नहीं।

३. **वरुणाय**=पाशी के लिए–अपने को यम-नियम के बन्धनों में बाँधनेवाले के लिए। जो अपने को यम-नियमों के बन्धन में बाँधता है वह विषय-बन्धन से मुक्त हो जाता है। यही प्रभु का सच्चा उपासक होता है।

४. **मरुद्भ्य:**=मरुतों–(मरुत: प्राण:) प्राणापान की साधना करके प्राणों का पुञ्ज बननेवालों के लिए प्रभु उपासना की वृत्ति व धन प्राप्त कराते हैं। उपासना की वृत्ति मोक्ष के लिए और धन सांसारिक चिन्ता से मुक्त रहकर आत्मोन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ सकने के लिए।

उल्लिखित सब शब्दों की मूलभावना पार्थिव भोगों से ऊपर उठने की है। **इन्द्र**=जितेन्द्रिय, **यज्यु**=नि:स्वार्थ लोकहित में लगनेवाला व्यक्ति, **वरुण**=यम-नियमों के बन्धनों में बद्ध, **मरुत्**=प्राणापान की साधना में लगा व्यक्ति स्पष्ट ही 'अ-मही-यु' है–पार्थिव भोगों से ऊपर उठा हुआ है। पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर यह 'आङ्गिरस' तो है ही।

भावार्थ—हम पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर ही प्रभु के सच्चे उपासक हो सकते हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसोऽ महीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पूजा और विभाग

५९३. एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम्। सिषासन्तो वनामहे॥ ८॥

पार्थिव भोगों में न फँसने के लिए यह 'अमहीयु' प्रभु का **अर्य**=स्वामिन् शब्द से सम्बोधन करता है। यह अमहीयु प्रार्थना करता है कि **एना**=इन **विश्वानि**=सब **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के लिए हितकर **द्युम्नानि**=प्रकाशमय—'जिन धनों ने हमारे मस्तिष्क को अस्वस्थ नहीं कर दिया' उन्हें **सिषासन्तः**=बाँटते हुए और बाँटने के द्वारा—यज्ञों के द्वारा प्रभु की उपासना करते हुए **वनामहे**=सेवन करते हैं। **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**=इसलिए त्याग की भावना से ही हम भोग करते हैं। हम केवलादी नहीं बनते, केवल अपने लिए पकानेवाले नहीं बनते।

जिस समय मनुष्य 'अमहीयु' नहीं रहता उसी समय वह इस 'विभाग द्वारा पूजा' की भावना से दूर हो जाता है। देव लोग यज्ञ से उस यज्ञरूप प्रभु की उपासना करते हैं, परन्तु असुर अपने ही मुख में आहुति देते हुए, उदरम्भरि बन प्रभु की उपासना से कोसों दूर रहते हैं। उस समय ये भोग हमारे ज्ञान पर पर्दा डाल देते हैं और हमारे ये धन 'द्युम्न=प्रकाशमय' नहीं रहते।

भावार्थ—संविभाग द्वारा ही हम प्रभु के उपासक बनते हैं।

ऋषिः—**आत्मा**॥ देवता—**अन्नम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वह प्रभु ही हमारा 'अन्न' हो

५९४. अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥ ९॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **ऋतस्य**=सत्य-ज्ञान से परिपूर्ण वेदवाणी का **प्रथम-जा**=सृष्टि के प्रारम्भ में सबसे पहला उत्पत्तिस्थान **अस्मि**=हूँ। प्रभु ने ही अग्नि आदि ऋषियों को हृदयस्थरूपेण वेदज्ञान दिया। जीव का ज्ञान नैमित्तिक है—उसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता है। हमने अपने गुरुओं से ज्ञान प्राप्त किया और उन्होंने अपने गुरुओं से। इस प्रकार यह गुरु-परम्परा हमें प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ तक पहुँचाती है, जिस समय **देवेभ्यः**=सब विद्वानों से **पूर्वम्**=पहले होनेवाला वह प्रभु श्रेष्ठ—अरिप्र (निर्दोष) ऋषियों को ज्ञान देता है। वह ज्ञान जो **अमृतस्य**=मोक्ष को हमारी ओर **नाम**=झुकानेवाला है (नमयति)।

वस्तुतः **यः**=जो भी **मा**=मेरे प्रति अपने को **ददाति**=देता है **सः**=वह **इत्**=ही **एव**=इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा **आवत्**=अपनी रक्षा करता है। ज्ञान उसे वासनाओं का शिकार नहीं होने देता। यह भोगों में फँसता ही नहीं। उस व्यक्ति के लिए प्रभु कहते हैं कि **अहम् अन्नम्**=मैं ही अन्न हूँ—वह मेरा ही सेवन करता है—मेरा ही उपासक होता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति इन पार्थिव भोगों में फँस जाते हैं और नाना प्रकार से स्वादु

अन्नों को खाने लगते हैं, उन **अन्नम् अदन्तम्**=स्वाद से अन्नों को खाने में लगे हुओं को **अद्मि**=मैं खा जाता हूँ। ऐसे व्यक्तियों के लिए प्रभु 'रुद्र' होते हैं और ये स्वाद से अन्नों को खानेवाले व्यक्ति अन्त में उस प्रभु से रुलाये जाते हैं।

भोगों में न फँसकर, ज्ञानप्रधान जीवन बिताते हुए हम चित्तवृत्ति के निरोध से अपने स्वरूप को देखें (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्) और इस मन्त्र के ऋषि 'आत्मा' बनें। वास्तविक अन्न यह 'आत्मा' ही है। इसी 'अन्न' का इस मन्त्र में वर्णन है। इसी से मन्त्र 'अन्न' देवताक है। 'इस अन्न का सेवन हमारे त्रिविध कष्टों को समाप्त करनेवाला होगा' इस बात की सूचना मन्त्र के छन्द 'त्रि-ष्टुप्' शब्द से भी आ रही है। (Stoping of the three)।

भावार्थ—मैं आत्मदर्शन करूँ। आत्मा ही मेरा अन्न हो—मैं उसी का सेवन करूँ। इस अन्न के सेवन से मेरे त्रिविध कष्ट दूर हों।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**आङ्गिरसः श्रुतकक्षः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देदीप्यमान पयः

५९५. त्वमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च। परुष्णीषु रुशत् पयः॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'श्रुतकक्ष'=ज्ञान को अपनी शरण बनानेवाला अतएव 'आङ्गिरस' शक्तिशाली है। प्रभु के प्रति समर्पण के द्वारा गत मन्त्र में ज्ञान-प्राप्ति का उल्लेख था। ज्ञान प्राप्त करनेवाले इस 'श्रुतकक्ष' से प्रभु कहते हैं कि **त्वम्**=तू **एतत्**=इस **रुशत्**=देदीप्यमान **पयः**=आप्यायित करनेवाले ज्ञान को **अधारयः**=सब प्रजाओं के अन्दर धारण कर। किन प्रजाओं में—

१. **कृष्णासु**=तमोगुण की प्रधानता के कारण अन्धकार में रहनेवालों में। स्वयं ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को औरों तक पहुँचाना ही श्रुतकक्ष का उद्देश्य होना चाहिए। स्वयं ज्ञानी बनकर अकेले मुक्त होने के लिए उद्यत होना ठीक नहीं है। अज्ञान में वर्त्तमान इन प्रजाओं को जब श्रुतकक्ष मधुर शब्दों में समझाने का प्रयत्न करता है तब कृष्ण-प्रजाएँ उसे अपना गुरु बनाकर आदर देती हैं। अज्ञान का रंग काला है, अतः इन प्रजाओं को 'कृष्णा' नाम दिया गया है।

२. **रोहिणीषु**—उन प्रजाओं में जो सत्त्वगुण प्रधानता के कारण रोहणशील, उन्नतिशील हैं। ये ज्ञान की बातों को रुचिपूर्वक सुनती हैं। ये अपने आचार्यों का ज्ञान-ग्रहण द्वारा सम्मान करती हैं। इनके अतिरिक्त—

३. **परुष्णीषु**=(कुटिलगामिनी इति यास्कः) कुटिलगामिनी प्रजाओं में भी ज्ञान का प्रचार करना है। ये रजोगुण प्रधान होती हैं और अर्थ को ही उद्देश्य बनाकर चलती हैं। नानाविध वासनाओं से आक्रान्त होने से इन्हें ज्ञान रुचिकर नहीं होता। ये ज्ञानदाता से प्रेम के स्थान में उसपर क्रोध करती हैं। इनके द्वारा उसे अधिकाधिक कष्ट दिये जाते हैं, परन्तु यह उन्हें ज्ञान देने में अपने प्राणों की भी बाज़ी लगा देता है। उनका अमङ्गल न चाहता हुआ यह उन्हें ज्ञानदुग्ध पिलाता ही रहता है। पयः=ज्ञान है, क्योंकि यह आप्यायित करनेवाला है। ज्ञान का पुञ्ज होने से आचार्य भी 'पयः' कहलाया है।

भावार्थ—हम श्रुतकक्ष बनकर सब प्रजाओं को ज्ञान देनेवाले बनें।

ऋषिः—**आङ्गिरसः पवित्रः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ज्ञान का प्रचारक

५९६. अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा मिमेति भुवनेषु वाजयुः।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः॥ २॥

'ज्ञान के प्रचारक का जीवन कैसा होता है?' इस बात का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में है। यह प्रचारक १. **अरूरुचत्**=खूब चमकता हुआ—स्वास्थ्य व ज्ञान की ज्योति से बड़ी शोभावाला प्रतीत होता है २. **उषसः**=अज्ञानान्धकार व वासनओं को जला देनेवाले (उष दाहे) ज्ञान का **पृश्निः**=(स्पृशतेः) स्पर्श करनेवाला होता है, अर्थात् अपने ज्ञान-नेत्र से कामादि वासनाओं को भस्म करनेवाला होता है, ३. **अग्रियः**=इसका जीवन आगे और आगे बढ़ते चलना' इस सूत्र को अपनानेवाला होता है, ४. **उक्षा**=(उक्ष सेचने) यह प्रजाओं पर ज्ञान की वर्षा के द्वारा सुखों का सेचन करनेवाला होता है, ५. **मिमेति**=ज्ञान देने के हेतु यह मन्त्रों का उच्चारण करता है, ६. **भुवनेषु वाजयुः**=अपने सभी कोषों में यह 'वाज' को जोड़ने का प्रयत्न करता है। 'शरीर में गति, प्राणमयकोश में शक्ति, मनोमयकोश में त्याग, विज्ञानमयकोश में ज्ञान—यह सब 'वाज' ही हैं।

७. **अस्य मायया**=इसके ज्ञान-प्रचार से **मायाविनः**=बड़े-बड़े ठग भी **ममिरे**=कुछ बन जाते हैं। यह अहिंसा के द्वारा उपदेश देता हुआ मधुर शब्दों से उनमें अभीष्ट परिवर्तन लाने में समर्थ होते हैं।

८. **नृचक्षसः**=ये मनुष्य को बारीकी से देखते हैं। उसकी मनोवृत्ति को समझकर ही तो ये उन्हें हृदयस्पर्शी उपदेश दे पाते हैं। ९. **पितरः**=इस प्रकार ये सभी के पितर=रक्षक बन जाते हैं। १०. **गर्भमादधुः**=हिरण्य नामक परमात्मा को ये सदैव अपने हृदयों में धारण करते हैं। यह प्रभु-स्मरण इन्हें उत्कर्ष की ओर ले-चलता है। इनका नाम 'पवित्र' हो जाता है। पवित्र होने से यह 'आङ्गिरस' बनता है।

भावार्थ—हमारा जीवन प्रचारक के उल्लिखित गुणों से युक्त हो।

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र कहलाने योग्य कौन?

५९७. इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा। इन्द्रो वज्री हिरण्ययः॥ ३॥

गत मन्त्र का 'पवित्र' यहाँ मधुच्छन्दाः=मधुर इच्छाओंवाला वैश्वामित्रः=प्राणिमात्र का मित्र है। ऐसा बनने के लिए यह **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **इत्**=निश्चय से **हर्योः सचा**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को सदा साथ-साथ रखता है। शरीररूप रथ से उन्हें इधर-उधर भटकने नहीं देता। **सम्मिश्लः**=यह इन इन्द्रियों को सम्यक् मिश्रित करनेवाला होता है। इन्हें सदा उत्तम कार्यों में लगाये रखता है। **वचोयुजः**=यह इन इन्द्रियरूप घोड़ों को वेदवाणी के अनुसार **आ**=सर्वथा कर्मों में युक्त करता है। वेदानुकूल जीवन बनाने से यह इन्द्र

वज्री=वज्रतुल्य शरीरवाला बनता है और **हिरण्ययः**=मस्तिष्क में ज्योतिर्मय होता है। वेद की प्रेरणा के अनुसार मनुष्य तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में अवस्थित होता हुआ मस्तिष्क को प्रकाश से पूर्ण करता है और शरीर को आमय-शून्य बनाता है। निरामय शरीर सारवान् बनता हुआ वज्रतुल्य दृढ़ होता है।

ज्ञानी और पूर्ण स्वस्थ मनुष्य किसी से द्वेष नहीं करता। यह सचमुच 'वैश्वामित्रः' होता है, सबके लिए मङ्गल-ही-मङ्गल चाहता हुआ यह 'मधुच्छन्दा' कहलाता है।

भावार्थ—हम शरीर से वज्री हों, मस्तिष्क से हिरण्यय।

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उदात्त रक्षण

५९८. इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च। उग्र उग्राभिरूतिभिः॥ ४॥

इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव जब इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करने लगता है तब उसे यह अनुभव होता है कि यह मन तो अत्यन्त चञ्चल है। इसे वश में करना सम्भव नहीं है। इसलिए हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली, सब शत्रुओं का द्रावण करनेवाले प्रभो! **वाजेषु**=वासनाओं के साथ होनेवाले संग्रामों में (When we wage a war against them) **नः**=हमारी **अव**=रक्षा कीजिए। इन्द्रियाँ और मन विषयों के प्रति रागवाले होकर उनकी ओर भागते हैं और मैं उन्हें रोकता हूँ। आप मेरी रक्षा करेंगे तभी मैं इन्हें रोक पाऊँगा। **च**=और **सहस्रप्रधनेषु**=सैकड़ों प्रकार से मेरा विदारण करनेवाले इन संग्रामों में **उग्र**=तेजस्वी प्रभो! **उग्राभिः**=उत्कृष्ट **ऊतिभिः**=रक्षणों से आप हमें **अव**=सुरक्षित कीजिए। ये विषय प्रबल हैं, परन्तु आपके सम्पर्क में आकर मैं प्रबल हो जाता हूँ। 'काम' प्रद्युम्न=उत्कृष्ट बलवाला है। यह प्रिय लगता है, परन्तु आप प्रियतम हैं। आपके साथ होने पर सब वैषयिक आनन्द तुच्छ हो जाते हैं और मैं उनका शिकार नहीं होता।

विषयों की प्राप्ति के लिए की जानेवाली सब कुटिलताओं से ऊपर उठकर मैं 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्र' हो जाता हूँ। वस्तुतः काम व्यापक होकर विश्वप्रेम का रूप धारण कर लेता है। वही आदर्श जीवन होता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मैं अध्यात्म-संग्रामों में विजयी बनूँ।

ऋषिः—**प्रथो वासिष्ठः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रमणीयतर स्वरूप

५९९. प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हविर्यत्।
धातुर्द्युतानात् सवितुश्च विष्णो रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः॥ ५॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रथः वासिष्ठः' है। मन्त्र का प्रारम्भ भी 'प्रथः' तथा अन्त 'वसिष्ठः' शब्द से हुआ है। यह अकस्मात् हो गया हो, ऐसा नहीं है। यह 'प्रथ वासिष्ठ' **रथन्तरम्**=अतिशयेन रमणीय रूप को अथवा उत्कृष्ट शरीररूप रथ को **आजभार**=प्राप्त करता है। इसे प्राप्त करने के लिए निम्न साधना करनी होती है—

१. **प्रथः च**=(प्रथ=विस्तारे) यह अपने को विशाल हृदय बनाता है। संकुचित हृदय में मलिनताएँ होती हैं–विशाल हृदय में पवित्रता। **'महः पुनातु हृदये'**=विशालता हमें हृदय में पवित्र बनाये। **'उदारं धर्ममित्याहुः'**=उदार ही धर्म है। इस प्रकार **यस्य**=जिसके जीवन में **प्रथः**=विस्तार होता है, वही रमणीयता को प्राप्त करता है, परन्तु विस्तार के लिए आवश्यक है कि यह विस्तार केवल शरीर का न होकर मन व बुद्धि का भी हो। इसी से कहते हैं कि २. **सप्रथः च**=जिसके जीवन में **स**=समानरूप से शरीर, मन व बुद्धि का **प्रथः**=विस्तार होता है–यह सम विकासवाला व्यक्ति ही रमणीय रूप को पाता है। केवल शरीर का विकास हमें पहलवान बना देता है–केवल मन की शुद्धता हमें करुणा का विषय बनाती है और केवल ज्ञान हमें 'साक्षर' न बना 'राक्षस' बना देता है। ३. रमणीयता के लिए तीसरी आवश्यकता यह है कि **आनुष्टुभस्य**=वेदवाणी के अधिष्ठाता प्रभु का **नाम**=स्तवन हमारी जिह्वा पर हो। हम सदा प्रभु का स्मरण करें। प्रभु–स्मरण हमें अहंकारादि विकारों से सुरक्षित करेगा। ४. रमणीय वह बनता है **यत्**=जो **हविषः हविः**=हवि का भी हवि बनता है, अर्थात् अत्यन्त त्यागशील होता है। रमणीयता के लिए विकास, समविकास, प्रभु का नामस्मरण व त्याग चार साधन हैं।

इस रमणीय स्वरूप को **वसिष्ठः**=काम–क्रोध को वश में करनेवाला ही पाता है। किससे–

१. **धातुः**=सब वस्तुओं का निर्माण करनेवाले धाता=विधाता=ब्रह्मा (creator) से।

२. **द्युतानात्**=सृष्टि को उत्पन्न करके (द्यु)=ज्ञान का (तानात्) विस्तार करनेवाले से। सृष्टि की रचना करके प्रभु मनुष्य को ज्ञान देते हैं–जिसके अनुसार उसे अपना जीवन बनाना होता है।

३. **सवितुः च**=उस सविता से जो सम्पूर्ण विकास व ऐश्वर्य का मूल है। वेदज्ञान के द्वारा प्रभु हमें समृद्धि के सब साधनों का उपदेश करते हैं।

४. **विष्णोः**=उस व्यापक परमेश्वर से। विशालता में ही सौन्दर्य है वसिष्ठ प्रभु को इन नामों से स्मरण करता हुआ स्वयं भी निर्माण, ज्ञान–विस्तार, ऐश्वर्य व व्यापक मनोवृत्ति का व्रत लेता है और इन व्रतों के द्वारा अपने जीवन को अधिकाधिक रमणीय बनाता चलता है। विष्णु की भाँति व्यापक बनने के कारण इसका नाम ही 'प्रथ' हो गया है।

भावार्थ–प्रभुकृपा से हम रमणीयतर स्वरूप को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः–**गृत्समदः शौनकः**॥ देवता–**वायुः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

अग्निहोत्र करनेवाले के लोक में

६००. नियुत्वान् वायवा गह्ययं शुक्रो अयामि ते। गन्तासि सुन्वतो गृहम्॥ ६॥

'वायुरनिलममृतमथेदम्–शरीर को धारण करनेवाला आत्मा 'वायु' है। इसके इन्द्रियरूप घोड़े 'नियुत' कहलाते हैं–जिन्हें पाप से पृथक् करना है (यु=अमिश्रण) और पुण्य से जोड़ना है (यु=मिश्रण)। 'मतुप्' प्रत्यय भी प्रशस्त अर्थ में यहाँ आया है। प्रभु इसे सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे **वायो नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले! तू **आगहि**=हमारे समीप आ। **अयम्**=यह मैं **ते**=तेरे लिए **शुक्रः**=शुद्धस्वरूप का कर्त्ता होकर **अयामि**=तुझे प्राप्त होता

हूँ। जीव प्रयत्न करता है तो उसे प्रभु का साहाय्य प्राप्त होता है। जीव प्रभु की ओर चलता है तो प्रभु भी उसे प्राप्त होते हैं। जीव इन्द्रियों को शुद्ध करने का प्रयत्न करता है तो प्रभु भी उसकी शुचिता करनेवाले होकर उसे प्राप्त होते हैं। प्रभु से मिलकर जब यह शोधन-क्रिया चलती है तब प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **सुन्वतः गृहम्**=सुन्वन् के घर को—यज्ञशील पुरुषों के लोक को **गन्तासि**=जानेवाला होगा। 'अग्निहोत्रहुतो यत्र लोकः=जहाँ अग्निहोत्र करनेवाले जाते हैं, वहाँ तू भी जाएगा।

यह 'नियुत्वान् वायु' ही गृत्स=प्रभु का सच्चा स्तोता है, इसका जीवन मद=आनन्दमय बनता है और शौनकः=यह गतिशील होता है।

भावार्थ—हम नियुत्वान् बनें। अपने इन्द्रियरूप घोड़ों को अशुभ से हटाकर शुभ में प्रेरित करें।

ऋषिः—**नृमेधपुरुमेधौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

पृथिवी का प्रथव, दिव् का स्तम्भन

१ २र ३ १ २ ३१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
६०१. यज्जायथा अपूर्व्य मघवन्वृत्रहत्याय। तत्पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतो दिवम्॥ ७॥

अपूर्व्य=अपने में प्रभु की भावना का पूरण करनेवालों में उत्तम **मघवन्**=पाप के लवलेश से शून्य जीव! **यत्**=जब तू **वृत्रहत्याय**=वृत्र के नाश के लिए **जायथा**=सन्नद्ध होता है **तत्**=तब **पृथिवीम्**=पृथिवी को=अपने इस पार्थिव शरीर को **अप्रथयः**=विस्तृत करता है **उत उ**=और निश्चय से **तत्**=तभी **दिवम्**=द्युलोक को, अर्थात् अपने मस्तिष्क को **अस्तभ्नाः**—स्थिर करके—'स्थितप्रज्ञ' होता है।

'वृत्र' वासना है। वासना का विनाश शरीर के स्वास्थ्य के लिए भी आवश्यक है और मस्तिष्क की तीव्रता व स्थिरता के लिए भी। इस वासना-विनाश के लिए जीव प्रभु की भावना को अपने अन्दर भरने का यत्न करता है। जहाँ प्रभु की भावना है—उस हृदय में वासना कहाँ?

वासना से बचने के लिए यह 'नृमेध व पुरुमेध' बनता है—केवल स्वार्थमय जीवन न बिताकर यह औरों के सम्पर्क में आता है और इसका सम्पर्क उनका पालन व पूरण करनेवाला होता है। यह लोकहित में लगना ही प्रभु की भावना को अपने अन्दर भरना है। इससे शरीर स्वस्थ बनता है और बुद्धि स्थिर। यही पृथिवी का प्रथव है और द्युलोक का स्तम्भन। वैदिक साहित्य में 'पृथिवी शरीरम्, मूर्ध्नो द्यौः'—'पृथिवी' शरीर है और 'द्युलोक' मस्तिष्क।

भावार्थ—मैं वृत्रहत्या के—वासना-विनाश के द्वारा स्वस्थ शरीर व स्थिर बुद्धि बनूँ।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**प्रजापतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वर्चस्वी, यशस्वी और पयस्वी

२ ३ २ ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २र
६०२. मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः।

३ २ ३ १ २ ३ १ २र
परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु॥ १॥

जीव प्रार्थना करता है **परमेष्ठी**=सर्वोच्च स्थान में स्थित **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का

रक्षक परमात्मा **मयि**=मुझमें **वर्चः**=वर्चस्—शरीर में रोगों से युद्ध करके शरीर को स्वस्थ बनानेवाली शक्ति को **दृंहतु**=दृढ़ करे। मेरा शरीर पत्थर की भाँति दृढ़ हो। यह वज्रतुल्य हो। इसपर वायु व ऋतुओं के छोटे-मोटे आक्रमणों का प्रभाव न पड़े।

अथ उ=अब इस स्वस्थ शरीर में **यशः**=(सत्यम्) यश का निवास हो। मेरी इन्द्रियाँ कोई ऐसा कार्य न करें जो यश देनेवाला न हो। मैं अपने कार्यों से चमकूँ। **अथ उ**=इसके अतिरिक्त **यज्ञस्य यत् पयः**=यज्ञ का जो वर्धन है, उसे प्रभु मुझमें दृढ़ करें। औरों के क्षय के द्वारा वर्धन राक्षसीवृत्ति है। साधुवृत्तिवाला पुरुष कभी भी औरों के क्षय से अपने को नहीं बढ़ाता। इसका वर्धन यज्ञ-सम्बद्ध होता है—यह अन्यों के हित में अपना हित देखता है। 'ओप्यायी वृद्धौ' से पयः शब्द बना है—अतः इसका वर्धन अर्थ ही यहाँ सङ्गत है।

ये 'वर्चस्, यशस् व पयस्' मुझे परमेष्ठी ने प्राप्त कराने हैं। मेरा लक्ष्य परम-स्थान में स्थित होने का होगा तभी मैं इन्हें पा सकूँगा। प्रभु 'प्रजापति' हैं, मैं भी प्रजापालन का व्रत लूँगा तभी मेरा वर्धन 'यज्ञ का वर्धन' होगा। परमेष्ठी प्रजापति **इव**=जैसे **दिवि**=द्युलोक में **द्याम्**=प्रकाशमय सूर्य को **दृंहति**=दृढ़ करता है, उसी प्रकार प्रभु मुझमें 'वर्चस्, यशस् व पयस्' को दृढ़ करें। ऐसा होने पर मैं 'वामदेव गोतम' बनूँगा—प्रशस्त दिव्य गुणोंवाला व उत्तम इन्द्रियोंवाला।

भावार्थ—प्रभुकृपा मुझे वर्चस्वी, यशस्वी व पयस्वी बनाये।

ऋषिः—**राहूगणो गोतमः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

निरभिमानिता (अभिमान का अभाव)

६०३. सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व॥ २॥

मनुष्य जितना-जितना दिव्यता की ओर बढ़ता चलता है उतना-उतना बुराइयों को छोड़ने से वह 'राहूगण'=त्यागियों में गिनने योग्य हो जाता है (रह त्यागे)। अन्तिम अवगुण 'अभिमान' है, इसे भी छोड़कर यह अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला 'गोतम' बन गया है।

प्रभु इसे प्रेरणा देते हैं कि **अभिमातिषाहः**=अभिमान का भी पराभव करनेवाले **ते**=तेरे **पयांसि**=वृद्धि के कार्य **सम्**=मिलकर हों, अर्थात् तू केवल अपनी वृद्धि से ही सन्तुष्ट न हो, सभी की उन्नति में अपनी उन्नति समझ। **उ**=और **वाजाः**=धनादि की शक्तियाँ भी **संयन्तु**=मिलकर प्राप्त हों। शरीर का एक ही अङ्ग अधिकतावाला हो तो शरीर सुन्दर नहीं दीखता। **वृष्ण्यानि**=तुम्हारे शक्ति-सम्पादन के कार्य भी **सम्**=मिलकर हों। तुम्हारी 'वृद्धि, धन, शक्ति' ये सभी सम्मिलित हों। अहंकार इस कार्य में सबसे अधिक विघातक है, अतः तू अभिमाति को—अहंभाव को पराभूत कर डाल, कुचल डाल। तू अत्यन्त विनीत बन और हे **सोम**=अहंकार को नष्ट करनेवाले 'गोतम'! तू **अमृताय**=मोक्ष के लिए—इस जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठने के लिए **आप्यायमानः**=सब गुणों के दृष्टिकोण से उन्नति करता हुआ **दिवि**=प्रकाश व ज्ञान के क्षेत्र में **उत्तमानि श्रवांसि**=उत्तम यशों को **धिष्व**=धारण कर। तू ज्ञान के दृष्टिकोण से यशस्वी बन। ज्ञान को प्राप्त करके तू ज्ञानधन प्रभु को पाएगा। यह ज्ञानी 'अभिमातिषाट्' होता है। अहं को मारकर ही प्रभु की प्राप्ति सम्भव है। जब तक 'मैं' है तब तक प्रभु नहीं है,

प्रभु प्राप्त होते हैं तो 'मैं' का विलय हो चुका होता है। 'मैं' को समाप्त करके यह राहूगण सबमें समा गया है—तभी तो यह सबकी वृद्धि में अपनी भी वृद्धि समझता है—और सबकी शक्ति में यह शक्ति अनुभव करता है—यह 'अयुत'=अपृथक् हो गया है। एकत्व देखनेवाला होकर यह प्रभु के चरणों में स्थित हो चुका है। खुदी को समाप्त कर खुदा को पा चुका है।

भावार्थ—'मैं' को समाप्त कर मैं सबके साथ मिलकर वृद्धि व शक्ति का सम्पादन करूँ।

ऋषि:—**राहूगणो गोतम:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

राहूगण गोतम ने क्या किया है?

६०४. त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमातनोरुर्वा३न्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥ ३॥

प्रभु राहूगण से कहते हैं कि—हे **सोम**=विनीत! १. **त्वम्**=तूने **इमा:**=इन **विश्वा:**=सब **ओषधी:**=दोष-दहन की प्रक्रियाओं को **अजनय:**=उत्पन्न किया है, अर्थात् तूने अपने दोषों को भस्म कर दिया है (उष् दाहे)। ओषधि भी ओषधि इसीलिए कहलाती है कि वह दोषों को जला देती है। २. **त्वम्**=तूने **अप:**=व्यापक कर्मों को **अजनय:**=अपने में विकसित किया है। यह राहूगण 'स्वार्थ' को छोड़ने के कारण व्यापक हित के दृष्टिकोण से कर्म करता है। इसके कर्म अधिक-से-अधिक भूतों का हित करनेवाले, अतएव सत्य व व्यापक होते हैं। ३. **त्वम्**=तूने **गा:**=अपने अन्दर वेदवाणियों को उत्पन्न किया है। राहूगण ने अपने कर्मों को पवित्र बनाये रखने के लिए ज्ञान का सम्पादन आवश्यक समझा और इस ज्ञान से ही वस्तुत: वह स्वार्थभाव से ऊपर उठ सका। ४. **त्वम्**=तूने **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को **आतनो:**=विस्तृत किया। वास्तव में एक ओर कर्म है, दूसरी ओर हृदय की विशालता है। इन दोनों के बीच में ज्ञान है। ज्ञान ने ही कर्मों को पवित्र बनाया है और हृदय को विशाल। ५. इस प्रकार हे राहूगण! **त्वम्**=तूने **ज्योतिषा**=ज्योति के द्वारा **तम:**=अन्धकार को **विववर्थ**=विवृत—दूर कर दिया है।

यह राहूगण 'अपने दोषों को जलाना, कर्मों को पवित्र करना, ज्ञान को दीप्त करना व हृदय को विशाल बनाना' इन बातों को सिद्ध करता हुआ अपने जीवन को सुन्दर बनाता है। इसके पश्चात् यह ज्ञान के प्रसार से लोक के अन्धकार को दूर करने का प्रयत्न करता है। यह पूर्ण त्याग का जीवन बिताते हुए सचमुच 'राहूगण' होता है। इसे ही हम सामान्य भाषा में संन्यासी कहते हैं।

भावार्थ—हम दोष-दहन, व्यापक कर्म, ज्ञान व विशाल हृदयता को सिद्ध करते हुए ज्ञान की ज्योति के प्रसार से अन्धकार को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषि:—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्र:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

'मधुच्छन्दा' की प्रथम आराधना

६०५. अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ ४॥

राहूगण=त्याग की वृत्तिवाला सदा '**मधुच्छन्दाः**'=उत्तम इच्छाओंवाला बनता है, यह '**वैश्वामित्रः**'=सभी के साथ स्नेह करनेवाला होता है। यह आराध्यदेव की स्तुति निम्न प्रकार से करता है–

मैं **इडे**=आराधना करता हूँ। मैं अपने मन, वचन, कर्म से स्तुति करता हूँ, उस प्रभु की जो १. **अग्निम्**=अग्नि हैं। सम्पूर्ण अग्रगति के साधक हैं। जिनका स्मरण मेरी उन्नति का साधक होता है। जो प्रभु अनुकूल परिस्थिति प्राप्त कराकर तथा उत्साहवर्धक प्रेरणाएँ देकर मुझे उन्नत करने में लगे हैं। २. **पुरोहितम्**=वे प्रभु (**पुरः**) सृष्टि से पहले से (**हितम्**) विद्यमान हैं **अग्रे समवर्त्तत**=वे तो सभी निर्माणों से पहले से ही हैं। **पुरः**=सर्वाधिक **हितम्**=हित करनेवाले हैं और वस्तुतः **पुरः**=हम सबके सामने **हितम्**=आदर्शरूप से उपस्थित हैं। जैसे प्रभु दयालु हैं वैसे ही हमें भी दयालु बनना है। ३. **यज्ञस्य देवम्**=वे प्रभु मेरे हृदय में यज्ञ की भावना का प्रकाश करनेवाले हैं। सदा मुझे 'देवपूजा, सङ्गतीकरण और दान की प्रेरणा देनेवाले हैं। उन्होंने ही वेदज्ञान द्वारा मुझे सभी यज्ञों=श्रेष्ठतम कर्मों का उपदेश दिया है। ४. **ऋत्विजम्**=वे प्रभु समय-समय पर उपासना करने योग्य हैं। कष्ट के आने पर तो प्रत्येक जीव प्रभु का ध्यान करता ही है। सन्तों से वे सदा स्मरणीय हैं। ५. **होतारम्**=वे सब उत्तम व आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं। हमारे शरीर, मन व बुद्धियों के विकास के लिए उन्होंने प्रत्येक सहायक पदार्थ का निर्माण किया है और उन्हें हमें प्राप्त कराया है। ६. **रत्नधातमम्**=रमणीय-ही-रमणीय पदार्थों को हमें प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु ने अन्न से रस-रुधिरादि के क्रम से सप्त धातुओं के निर्माण की व्यवस्था की है। उनमें से एक-एक कितनी रमणीय है यह वैज्ञानिक अध्ययन हमें बतलाते हैं। इन रत्नों को हम प्रायः रत्न न समझकर नासमझ किसान की भाँति पत्थर समझते हुए फेंक देते हैं। प्रभु-स्तवन हमें स्वस्थ मस्तिष्क बनाएगा और हम इन रत्नों को रत्न समझेंगे। ऐसा समझने पर हमारा जीवन रमणीय बन पाएगा।

भावार्थ–मैं भी 'मधुच्छन्दा' की भाँति प्रभु की आराधना करनेवाला बनूँ।

ऋषिः–**वामदेवः**॥ देवता–**अग्निः**॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः**॥

मानव विकास

६०६. ते मन्वत प्रथमं नाम गोनां त्रिः सप्त परमं नाम जानन्।
ता जानतीरभ्यनूषत क्षा आविर्भुवन्नरुणीर्यशसा गावः॥ ५॥

अध्ययन–१. सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के **ते**=उन मानस पुत्रों ने **प्रथमम्**=सबसे पहले **गोनाम्**=वेदवाणियों के **नाम**=वाचकता का–अर्थ का **अमन्वत्**=मनन किया–जानने का प्रयत्न किया। एक-एक शब्द के अर्थ को समझने का प्रयत्न किया जोकि इन वेदवाणियों में **त्रिः**=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक–इन तीन दृष्टियों से **सप्त**=सात छन्दों में वर्णित हुए हैं। सात मुख्य छन्दों में वेदमन्त्र कहे गये हैं और उनमें प्रयुक्त अग्नि आदि शब्द भौतिक अग्नि, राजा तथा आत्मतत्त्व आदि के वाचक होकर त्रिविध अर्थों को प्रकट करनेवाले हैं।

आत्मज्ञान–इस प्रकार वेदवाणियों का अध्ययन करते हुए इन लोगों ने **परमं नाम**=वेदवाणियों के अन्तिम प्रतिपाद्य-विषय उस प्रभु को **जानन्**=जाना। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'**–सभी

वेदमन्त्र अन्त में उस प्रभु का ही प्रतिपादन करते हैं। 'प्रकृति के ज्ञान के द्वारा प्रभु को जानना' यही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। **शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्मणि गच्छति**=शब्द-ब्रह्म में निपुण होकर ही परब्रह्म को जाना जाता है।

स्तुति—ताः जानतीः=इस प्रकार इन वेदवाणियों को अच्छी प्रकार जाननेवाली **क्षाः**=पृथिवीस्थ प्रजाएँ **अभ्यनूषत**=उस प्रभु का स्तवन करती हैं। इन्हें एक-एक प्राकृतिक रचना में प्रभु की महिमा दीखती है और ये उस महान् प्रभु के प्रति नतमस्तक हो उठती हैं। इनके मुख से स्वभावतः ये शब्द निकल पड़ते हैं कि 'नमस्ते वायो'=हे सारे संसार को गति देनेवाले प्रभो! तुझे नमस्कार है।

ज्ञान-प्रसार—इन प्रभु-भक्तों का जीवन अकर्मण्य नहीं होता। ये पर्वत-कन्दराओं में स्तोत्रों का ही उच्चारण नहीं करते, अपितु ये प्राप्त ज्ञान को फैलाने के लिए यत्नशील होते हैं। **अरुणीः**=प्रकाशमयी, प्रभातकालीन सूर्य के प्रकाश की भाँति अन्धकार को दूर करनेवाली **गावः**=वाणियाँ **आविर्भुवन्**=इनसे प्रकट होती हैं। ज्ञान के प्रसार के कार्य में ये मध्याह्न के प्रचण्ड सूर्य की भाँति न होकर प्रातःकालीन अरुण प्रकाश के समान होते हैं। मधुर, श्लक्ष्ण (smooth, not harsh) वाणी से ही ज्ञान देनेवाले होते हैं।

उत्तम कर्म—ये प्रभुभक्त कोरे उपदेशक ही नहीं होते **यशसा**=इनका जीवन भी यशस्वी—उत्तम कार्यों से युक्त होता है। इनके मुख से ज्ञान का प्रकाश होता है, हाथों से उत्तम कर्मों का सम्पादन हुआ करता है। इनकी वाणी ज्ञान को और हाथ यश को फैलानेवाले होते हैं।

इस प्रकार जीवन बितानेवाले ये व्यक्ति सचमुच 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाले 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रिय बनते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन 'अध्ययन, आत्मज्ञान, स्तुति, ज्ञानप्रसार व यशोयुक्त' कर्मोंवाला हो।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

समान ऊर्व में निवास

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३क २र
६०७. समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्वं नद्यस्पृणन्ति।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपान्नपातमुप यन्त्यापः ॥ ६ ॥

गत मन्त्र में मानव-जीवन के विकास का उल्लेख था। उस विकास के मार्ग पर चलनेवाले मनुष्यों की संख्या विरल होती है। प्रस्तुत मन्त्र में 'अन्याः' शब्द का प्रयोग इसी भावना को द्योतित कर रहा है। **अन्याः**=कोई एक ही **आपः**=(आपो वै नरसूनवः) नर-सन्तान, अर्थात् मनुष्य **संयन्ति**=प्रभु के आदेशानुसार मिलकर चलते हैं। **'सं गच्छध्वं सं वदध्वम्'**=ऋग्वेद की समाप्ति पर प्रकृति का ज्ञान देने के पश्चात् प्रभु ने आदेश दिया था—'मिलकर चलेंगे' तभी प्रकृति तुम्हारा हित करेगी, 'फटकर चलेंगे' तो यह प्रकृति तुम्हें फाड़ देगी। प्रकृति में न फँसेंगे तो हमारा परस्पर मेल होगा—तभी हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनेंगे। मन्त्र में आगे कहते हैं कि **अन्याः**=ऐसे विरल पुरुष ही **उपयन्ति**=उस प्रभु के समीप प्राप्त होते हैं। ये इहलोक में प्रभु के समीप रहते हैं—शरीर छोड़ने के बाद उस प्रभु के समीप पहुँच ही जाते हैं। 'इस जीवन में वे प्रत्येक क्रिया करते हुए उस प्रभु का विस्मरण नहीं करते' यही प्रभु

के समीप रहने की भावना है। सोते, जागते, खाते-पीते ये सदा प्रभु का नाम स्मरण करते हैं। **नद्यः**=सदा प्रभु के गुणों का गान करनेवाले (नद् स्तुतौ) ये उपासक **समानम्**=वृद्धि और क्षय से रहित सदा एकरस **ऊर्वम्**=अत्यन्त विस्तृत उस सर्वव्यापक प्रभु में **स्पृणन्ति**=(स्पृ-to live) निवास करते हैं। **तम्**=उस **शुचिम्**=पवित्र, निर्मल, अपापविद्ध प्रभु को **दीदिवांसम्**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त होते हुए प्रभु को, **अपां न पातम्**=कर्मों को कभी नष्ट न होने देनेवाले प्रभु को, स्वाभाविकी ज्ञान, बल व क्रियावाले उस परमात्मा को **उ**=निश्चय से **शुचयः**=पवित्र जीवनोंवाले **आपः**=ज्ञान के द्वारा अपने जीवन को व्यापक-विशाल बनानेवाले (आप्=व्याप्तौ) कर्मशील (आप्=कर्म) व्यक्ति ही **उपयन्ति**=समीपता से प्राप्त होते हैं।

ज्ञान से मनुष्य का दृष्टिकोण विशाल बनता है। इस समय इसके कर्म स्वार्थ की संकुचित दृष्टि से न किये जाकर सर्वभूतहित की दृष्टि से किये जाते हैं, अतः व्यापकता को लिये हुए होते हैं। ये व्यापक कर्म ही इसे प्रभु का सच्चा भक्त बनाते हैं। प्रकृति में विचरते हुए भी ये प्रकृति में नहीं उलझते, परिणामतः प्रकृति से सदा ऊपर उठे रहते हैं और उस प्रभु में जीवन-यापन करते हैं। यही जीवन्मुक्ति कहलाती है-यही सदेह होते हुए भी विदेह होना होता है। शरीर छोड़ने के पश्चात् **'सह ब्रह्मणा विपश्चिता'**=ये उस ज्ञानी ब्रह्म के साथ विचरते हैं।

यह प्रभु का सच्चा स्तोता होने से 'गृत्स' कहलाता है-मनःप्रसाद को अनुभव करता हुआ यह 'मद' होता है और गतिशील, कर्मनिष्ठ होने से यह 'शौनक' है।

भावार्थ-हम भी उन विरल व्यक्तियों में गिने जाएँ जो मिलकर चलते हैं, प्रभु के उपासक हैं, प्रभु में निवास करते हैं और अपने जीवन को पवित्र, ज्ञान से दीप्त व कर्मनिष्ठ बनाते हैं।

ऋषिः-**वामदेवो गोतमः**॥ देवता-**रात्रिः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

मेरे जीवन में 'रात्रि' आये

६०८. आ प्रागाद्भद्रा युवतिरह्नः केतून्त्समीर्त्सति।
अभूद्भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री॥७॥

प्रस्तुत मन्त्र में वामदेव गोतम प्रार्थना करता है कि **आ**=सब प्रकार से **प्र**=खूब **आगात्**=आये। कौन? **रात्री**=रात। कैसी रात? जो १. **भद्रा**=भद्र है २. **युवतिः**=युवति है, ३. **अह्नः**=अहन् के **केतून्**=ज्ञानों को, विचारों को **समीर्त्सति**=दबा देती है (stored up, shelved कर देती है)-दाखिल-दफ़्तर कर देती है। ४. जो **विश्वस्य जगतः**=सारे जगत् को **निवेशनी**=निवेश देनेवाली है-जिसमें मैं ही मैं रह जाऊँ ऐसी भावना नहीं है।

इस 'रात्रि' का स्वरूप क्या है? इस विषय में **'रात्रिर्वै संयच्छन्दः'** (यजुः० १५।५) यह वाक्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है-'संयम की इच्छा (छन्द)' ही यह 'रात्री' है। **'वारुणि रात्रिः'** इस ब्राह्मणग्रन्थ के वाक्य का भी अभिप्राय यही है। वरुण 'पाशी' हैं-जो मनुष्य अपने को पाशों में-व्रतों के बन्धनों में जकड़ता है वह इस रात्री को अपनाता है। शत० ९.२.३.३० में कहते हैं कि 'रात्रिर्वै कृष्णा शुक्लवत्सा तस्या असौ आदित्यो वत्सः'-कृष्णा=इन्द्रियों को विषयों से वापस आकृष्ट करनेवाली संयमवृत्ति ही रात्रि है, यह सफ़ेद वत्स-पुत्रवाली है,

'आदित्य' ही इसका पुत्र है। इस संयमवृत्ति को अपनाने से मनुष्य उस आदित्यवर्ण प्रभु को देख पाता है। इस कारण ही ('राथन्तरी वै रात्रिः' ऐ० ५.३०) रात्रि को राथन्तरी=शरीररूप रथ को उत्तम बनानेवाली कहा गया है।

भद्राः—यह रात्रि सचमुच **भद्रा**=अभद्र मनुष्य का कल्याण करनेवाली है। शतपथ (१३.१.४.३) में इसे 'क्षेमो रात्रि' शब्दों में कल्याणकर प्रतिपादित किया है। यह प्रतिदिन आनेवाली रात्रि भी मनुष्य का कल्याण करती है। रोगी अपनी पीड़ा को भूल जाता है। वस्तुतः सब विकल्पों से मुक्त कर रात्रि मनुष्य का कल्याण करती ही है। प्रस्तुत 'संयम' रूप रात्रि भी इसी प्रकार मनुष्य का कल्याण करनेवाली है।

युवतिः—यह संयमरूप रात्रि युवति है। (यु मिश्रण, अमिश्रण)—नाना प्रकार की ईर्ष्या-द्वेष की भावनाओं से यह हमें पृथक् कर देती है। संयमी पुरुष के जीवन में 'भेदवृत्ति' समाप्त हो जाती है।

अहन्='अहन्' शब्द दिन का वाचक है। यहाँ यह बड़ी कठिनता से नष्ट (हन्) करने योग्य अहंकार का वाचक है। पुत्रैषणा और वित्तैषणा को जीत लेना आसान है पर लोकैषणा को जीतना सुगम नहीं। अहंभाव Last infirmity of the noble mind है—बड़े-बड़े व्यक्तियों में भी यह निर्बलता उपलभ्य है। वेद में इसे 'नमूचि' नाम दिया है—पीछा न छोड़नेवाला। संयम की रात्रि इस अभिमान के विचारों को दबा डालती है। **सोमो रात्रिः** (श. ३.४.४.१५) इन शब्दों में याज्ञवल्क्य इस रात्रि को विनीत बतला रहे हैं। जैसे प्रस्तुत रात्रि में मनुष्य को अपने धनादि का अभिमान नहीं रहता, उसी प्रकार इस संयम की रात्रि में भी वह इस अभिमान से ऊपर उठ जाता है।

विश्वस्य—इस संयम-रात्रि में मनुष्य केवल अपने आनन्द का ध्यान कभी नहीं करता। यह सभी के आनन्द में आनन्द का अनुभव करता है। संयम की रात्रि में भी मैं केवल अपने सुख का ध्यान नहीं करता। संयम की रात्रि 'उपरमयति ध्रुवी करोति' (निरुक्त) मुझे शान्त बनाती है, मैं डाँवाँडोल नहीं रहता। भोगों की इच्छा से आन्दोलित न होने से मैं सभी के सुख में सुखी होता हूँ।

इस प्रकार यह रात्रि मुझे उत्तम गुणोंवाला बनाकर 'वामदेव' बनाती है—इसके द्वारा मैं प्रशस्तेन्द्रिय 'गोतम' बनता हूँ।

भावार्थ—मैं संयम की रात्रि द्वारा कल्याण प्राप्त करूँ, औरों से एकत्व अनुभव करूँ, अहंकार की वृत्ति को दबा दूँ तथा सभी के सुख में सुख अनुभव करूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**वैश्वानरः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु के तेज की चर्चा

६०९. प्रक्षस्य वृष्णो अरुषस्य नू महः प्र नो वचो विदथा जातवेदसे।
वैश्वानराय मतिर्नव्यसे शुचिः सोमइव पवते चारुरग्नये॥ ८॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज बार्हस्पत्य'=दृढ़ शरीर व दीप्त मस्तिष्कवाला व्यक्ति (Who possesses a body of an athlete and the soul of a sage) कहता है कि **नः**=हमें **विदथा**=ज्ञानयज्ञों में प्रभु के **महः**=तेज का **प्रवचः**=खूब प्रवचन कर जो **प्र-क्षस्य**=(प्रकर्षेण

क्षिपति) प्रकृष्टरूप से सर्वत्र निवास कर रहे हैं—सर्वव्यापक हैं, **वृष्णः**=शक्तिशाली हैं अथवा सुखों की वर्षा करनेवाले हैं, **अरुषस्य**=जो क्रोधशून्य—शान्त हैं। इस प्रभु के तेज का हमें इसलिए प्रवचन कर जिससे हम भी इसी तेज को अपना लक्ष्य बनाएँ। (भर्गः धीमहि) हम भी प्रभु की भाँति व्यापक मनोवृत्तिवाले, शक्तिशाली व शान्त बनने का प्रयत्न करें। उस प्रभु को पाने का मार्ग तो उस-जैसा बनना ही है। यह ठीक है कि—

१. **जातवेदसे**=प्रत्येक पदार्थ को जाननेवाले (जातं-जातं वेत्ति) उस प्रभु के लिए **मतिः**=मननशील, ज्ञानपुञ्ज व्यक्ति ही **पवते**=जाता है—प्राप्त होता है।

२. **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले उस प्रभु के प्रति **शुचिः**=पवित्र, स्वार्थ से शून्य पुरुष ही **पवते**=जाता है। प्रभु प्राणिमात्र का हित करते हैं—उस प्रभु को मैं भी 'सर्वभूतहिते रतः' होकर पा सकता हूँ। शुचिः=पवित्र—स्वार्थशून्य होकर मैं ऐसा कर सकूँगा।

३. **नव्यसे**=(नु=स्तुतौ) उस स्तुत्यतम प्रभु के प्रति **सोमः इव**=विनीतता का पुतला बना हुआ व्यक्ति ही **पवते**=जाता है। अभिमान में अपनी स्तुति है, न कि प्रभु की। जितना-जितना मनुष्य अभिमान से ऊपर उठता है उतना-उतना उस प्रभु की स्तुति करनेवाला बनता है।

४. **अग्नये**=उस आगे और आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **चारुः**=चरणशील—सुन्दर गतिवाला पुरुष ही प्राप्त होता है। आगे बढ़ने की वृत्ति से ही हम 'अग्नि' नामक प्रभु को प्रसन्न कर सकते हैं।

भावार्थ—प्रभु को पाने के लिए हमें सदा प्रभु के तेज की चर्चा को सुनना है और मननशील, स्वार्थशून्य, विनीत, सुन्दर आचरणवाला बनने का प्रयत्न करना है।

ऋषिः—**भारद्वाज ऋजिष्वा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

चार कामनाएँ

६१०. विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञमुभे रोदसी अपां नपाच्च मन्म।
मा वो वचांसि परिचक्ष्याणि वोचं सुम्नेष्विद्वो अन्तमा मदेम॥ ९॥

'ऋजिष्वा भारद्वाज' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह ऋजु=अपने जीवन में सरल मार्ग से गति करता है (श्वि गतौ)। सरल मार्ग से चलने के कारण ही यह व्यर्थ की उलझनों से बचा रहता है—सुख की नींद सोता है और इसीलिए स्वस्थ व सबल बना रहता है—'भारद्वाज' होता है। इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति भरी होती है। यह अपने जीवन में जहाँ ज्ञान को महत्त्व देता है, वहाँ इसके साथ इसका जीवन यज्ञमय होता है। यह प्रयत्न करता है कि इसके जीवन में कोई अयज्ञिय कर्म न हो।

यह चाहता है कि १. **विश्वे**=सब **देवाः**=भद्र पुरुष **मम**=मेरे **यज्ञम्**=यज्ञ को ही **शृण्वन्तु**=सुनें। उन्हें कभी ऐसा सुनने को न मिले कि मैंने कोई अयज्ञिय कर्म किया है।

२. मैं **उभे रोदसी**=द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों के **च**=तथा **अपां नपात्**=प्रजाओं का पतन न होने देनेवाले प्रभु के **मन्म**=ज्ञान को प्राप्त करूँ, अर्थात् पृथिवीलोक व द्युलोक का ज्ञान तो प्राप्त करूँ ही, इनके साथ मैं उस प्रभु का भी ज्ञान प्राप्त करूँ जो अपने स्मरण करनेवाली प्रजाओं का पतन नहीं होने देते। दोनों लोकों का ज्ञान प्रकृतिविद्या है तो प्रभु का ज्ञान 'ब्रह्मविद्या'। ये दोनों 'परा व अपरा' विद्याएँ हैं। दोनों का मैं पारंगत बनने का प्रयत्न

करूँ।

३. हे **विश्वेदेवाः**=भद्रपुरुषो! मैं **वः**=आपका बनकर **परिचक्ष्याणि**=त्याज्य **वचांसि**=वचनों को **मा वोचम्**=न बोलूँ, अर्थात् मैं सदा शुभ ही शब्दों को बोलूँ।

४. **वः**=आपकी **सुम्नेषु**=स्तुतियों में **इत्**=निश्चय से **अन्तमा**=अन्तिकतम होते हुए **मदेम**=हम आनन्दित हों। जैसे देव लोग प्रभु का स्तवन करते हैं, उसी प्रकार प्रभु की स्तुति करते हुए हम विद्वानों के सङ्ग में आनन्द प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारी चार कामनाएँ हों १. हमारा जीवन यज्ञिय हो, २. हम परा व अपरा विद्या में निष्णात हों, ३. हम कभी अपशब्द न बोलें तथा ४. प्रभु की स्तुति में निरत रहें।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः**॥ छन्दः—**महापंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

यशो-लाभ, यशस्वी वक्ता

६११. यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती।
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम्।
यशस्व्या३स्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम्॥ १०॥

दिव्य गुणोंवाला प्रशस्तेन्द्रिय ऋषि 'वामदेव गोतम' प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. **मा**=मुझे **द्यावापृथिवी**=तारारूप विज्ञानों से तथा सूर्यरूप ब्रह्मज्ञान से दीप्त मस्तिष्करूपी द्युलोक तथा पाषाण व वज्रतुल्य दृढ़ पार्थिव शरीर **यशः**=यश **प्रतिमुच्यताम्**=प्राप्त कराएँ। ज्ञान-ज्योति से चमकनेवाले मस्तिष्क और वज्रतुल्य दृढ़ शरीर के द्वारा मैं यशस्वी बनूँ। २. **मा**=मुझे **इन्द्रबृहस्पती**=सब बल कर्मों की अधिष्ठातृ देवता तथा ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता **यशः**=यश देनेवाली हो। मैं क्षत्र और ब्रह्म के कारण (बल और ज्ञान के कारण) यशस्वी बनूँ। ३. मुझे **भगस्य**=ऐश्वर्य-वीर्य-कीर्ति-श्री-ज्ञान और वैराग्य (non-attachment) का **यशः**=यश **विन्दतु**=प्राप्त हो। इस षड्विध भग को प्राप्त कर मैं अपने जीवन को यशोयुक्त करूँ। **यशः**=यश-ही-यश **मा**=मुझे **प्रतिमुच्यताम्**=प्राप्त हो।

इस प्रकार अपने जीवन को **यशसा**=यशस्वी बनाकर ही मैं **अस्याः**=इस **संसदः**=सभा का **प्रवदिता**=उत्कृष्ट वक्ता **स्याम्**=बनूँ। यदि उपदेष्टा का अपना जीवन उत्कृष्ट व यशस्वी न हो तब उसकी वाणी का कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। अपने जीवन को उत्तम बनाकर ही उपदेष्टा को सभा में प्रवचन करना चाहिए।

भावार्थ—मैं शरीर को उत्तम बनाऊँ, मस्तिष्क को उन्नत करूँ। मेरे ब्रह्म व क्षत्र का विकास हो। मैं भग के यश को प्राप्त करूँ। यशस्वी बनकर मैं प्रभावशाली उपदेष्टा बन सकता हूँ।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हिरण्यस्तूप का उपदेश

६१२. इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्॥ ११॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'हिरण्यस्तूप आङ्गिरस' है। 'हिरण्यं वै वीर्यम्'=हिरण्य वीर्यशक्ति का नाम है—उसकी ऊर्ध्वगति करनेवाला 'हिरण्यस्तूप' वीर्य की ऊर्ध्वगति के कारण ही एक-एक अंग में रसवाला है—'आङ्गिरस' है। यह कहता है कि मैं **नु**=अब **इन्द्रस्य**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के **वीर्याणि**=शक्तिशाली कर्मों का **प्रवोचम्**=प्रवचन करता हूँ। **यानि**=जिन कर्मों को, जो **प्रथमानि**=अत्यन्त विस्तारवाले हैं—स्वार्थ के दृष्टिकोण से नहीं किये गये, **वज्री**=वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाले हिरण्यस्तूप ने **चकार**=किया है। जितेन्द्रिय बनकर जीव वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाला बनता है (वज्री), इसके कर्म स्वार्थ से कुछ ऊपर उठे हुए होते हैं (प्रथमानि), साथ ही इसके कर्म शक्तिशाली (वीर्याणि) होते हैं।

१. पहला कर्म तो इसने यह किया कि **अहिम् अहन्**=अहि को मार डाला। अहि का सामान्य अर्थ सर्प है—इसने सर्प को मार डाला। सर्प कुटिलवृत्ति का प्रतीक है। इसने अपने से कुटिलवृत्ति को दूर कर दिया।

२. **अनु**=इसके पश्चात् इसने **अ-पः**=(न पाति) न रक्षा करनेवाले दुष्ट मन को (अजित मन को) **ततर्द**=नष्ट कर दिया। **'अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्'** अजित मन हमारा शत्रु=Shatterer हो जाता है। इस हिरण्यस्तूप ने नष्ट करनेवाले (अ-प) दुष्ट मन का दमन कर दिया। सरल मार्ग पर चलने के लिए दुष्ट मन का दमन आवश्यक ही है।

३. दुष्ट मन के दमन के लिए इसने **पर्वतानाम्**=पाँच पर्वोंवाली अविद्या के **वक्षणाः**=प्रवाहों को **प्र अभिनत्**=विदीर्ण कर दिया है। अविद्या के नष्ट होने पर ही वासना नष्ट होगी—दुष्ट मन का दलन हो पाएगा।

भावार्थ—मैं कुटिलता का, दुष्ट मन का तथा पञ्चपर्वोंवाली अविद्या का नाश करके सरल, सुमन तथा सु-यज्ञ बनता हूँ।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उपदेष्टा का जीवन

६१३. अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
त्रिधातुरर्को रजसो विमानोऽजस्रं ज्योतिर्हविरस्मि सर्वम्॥ १२॥

वीर्य के संयम—उसकी ऊर्ध्वगति द्वारा अपने जीवन को 'आङ्गिरस' बनाकर मनुष्य 'विश्वामित्र'=सभी के साथ स्नेह करनेवाला और सच्चे अर्थों में 'गाथिनः'=प्रभु का स्तोता बनता है। यह अपने जीवन का निर्माण निम्न प्रकार आत्मप्रेरणा देता हुआ करता है—१. **अग्निः अस्मि जन्मना**=मुझे प्रभु ने स्वभावतः अग्नि=आगे बढ़नेवाला बनाया है। मैं अपने स्वभाव को क्यों नष्ट करूँ? 'आगे बढ़ो' यही मेरे जीवन का लक्ष्य हो। २. क्या शरीर, क्या मन और क्या बुद्धि सभी दृष्टिकोणों से आगे बढ़ता हुआ मैं **जातवेदाः**=अधिक-से-अधिक ज्ञानी—सर्वज्ञ-कल्प बनने का प्रयत्न करूँ। ३. **घृतं मे चक्षुः**=मेरी आँखों में दीप्ति हो—सर्वप्रथम स्वास्थ्य के कारण, उससे बढ़कर मनःप्रसाद के द्वारा और वास्तव में तो ज्ञान मेरी आँखों को दीप्त करनेवाला हो। ४. **अमृतं मे आसन्**=मेरे मुख में अमृत हो। मैं उस ज्ञान का प्रचार अमृतमयी वाणी से करनेवाला बनूँ। ५. मैं **त्रिधातुः**=सात्त्विक, राजस् व तामस् तीनों प्रजाओं का धारण करनेवाला बनूँ। अथवा शरीर, मन व बुद्धि तीनों को स्वाधीन करनेवाला मैं ६.

अर्कः=सूर्य की भाँति तेजस्वी बनूँ। ७. **रजसो विमानः**=मैं अपने जीवन में रजोगुण का विशेष मानपूर्वक धारण करनेवाला होऊँ। रजोगुण के नितान्त अभाव में मेरी क्रियाशीलता का ही अन्त हो जाएगा। रजोगुण के प्राबल्य में मेरा ज्ञान आवृत होने की आशंका है, अतः उसके विशेष मानपूर्वक निर्माण से ८. **अजस्त्रं ज्योतिः**=मैं अपने जीवन को सतत ज्योतिर्मय बनाऊँ और ९. **हविः अस्मि सर्वम्**=पूर्णरूप से अपने को हवि बना डालूँ। प्राजापत्य यज्ञ में अपनी आहुति दे दूँ। मैं सतत लोकहित में लगा रहूँ।

भावार्थ—मैं अपने जीवन को उन्नत करके प्राजापत्य यज्ञ में प्रवृत्त हो जाऊँ।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

चार आश्रम

६१४. पात्यग्निर्विपो अग्रं पदं वेः पाति यह्वश्चरणं सूर्यस्य।
पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्निः पाति देवानामुपमादमृष्वः॥ १३॥

'विश्वामित्र गाथिन' जब प्राजापत्य यज्ञ में प्रवृत्त होता है तब प्रजाओं को चारों आश्रमों का, जिनमें मनुष्य को जीवन यापन करना है, निम्न प्रकार से उपदेश करता है—

१. **अग्निः**=सब प्रकार की उन्नतियों का साधक, प्रकाश का प्रतीक प्रभु **अग्रं पदम्**=अग्रगति को, उन्नति को **पाति**=सुरक्षित करता है। किसकी उन्नति को? (क) **विपः**=मेधावी की और **वेः**=('वी' गति-प्रजनन-कान्ति-असनखादनेषु) गति के द्वारा अपना विकास करनेवाले की। मानव-जीवन का प्रथम प्रयाण 'ब्रह्मचर्याश्रम' है। इसमें उन्नति तो उस प्रभु की कृपा से ही होती है, परन्तु उस प्रभु की कृपा की प्राप्ति की शर्त यह है कि हम मेधावी बनने का प्रयत्न करें। हमारा कोई कार्य बुद्धि के प्रतिकूल न हो तथा हम क्रियाशील हों। हममें विकास के लिए प्रबल इच्छा हो—(कान्ति) विकास के विरोधी विघ्नों को हम दूर फेंकनेवाले हों (असन) तथा ज्ञान का उत्तरोत्तर भक्षण करते चलें (खादन=ब्रह्मचर्य)। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम में प्रभुकृपा हमारे दो प्रयत्न चाहती है, १. हम मेधावी बनें २. हम 'वी' बनें।

२. अब गृहस्थाश्रम आता है। वह **यह्वः**=(यातश्च हूतश्च) जाने योग्य और पुकारने योग्य परमात्मा **सूर्यस्य**=सूर्य के समान निरन्तर सरण करनेवाले और आलस्य से सर्वथा शून्य गृहस्थ की **चरणम्**=गति को, आगे बढ़ने को **पाति**=सुरक्षित करता है। गृहस्थ के मौलिक कर्त्तव्य दो हैं (क) प्रभु को सदा स्मरण करना, उसे अपना आश्रय समझना और (ख) आलस्य को परे फेंककर अपने कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहना। सूर्य की भाँति क्रियाशील होना।

३. अब वानप्रस्थाश्रम आता है। यहाँ भी **अग्निः**=वह प्रकाश का प्रतीक प्रभु **पाति**=उस वनस्थ की रक्षा करता है जो **नाभा**=केन्द्र में **सप्तशीर्षाणम्**=अपने शिरस्थ सातों ऋषियों को केन्द्रित रखता है। ये सात ऋषि 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो चक्षु और एक मुख' हैं। वानप्रस्थ का मुख्य कर्त्तव्य 'आत्मचिन्तन' ही है—उसे अपनी ज्ञानेन्द्रियों को सदा प्रभु में केन्द्रित करने का प्रयत्न करना है। इसमें सिद्धि प्राप्त कर वह संन्यस्त होता है और वह—

४. **ऋष्वः**=(ऋष् गतौ) अन्त में सबसे जाने योग्य वह प्रभु **देवानाम्**=दिव्यता को अपने अन्दर स्थापित करनेवाले इन संन्यस्त पुरुषों के **उपमादम्**=(उप=समीप, मद=हर्ष) अपने समीप आनन्दमय स्थिति में रहने की **पाति**=रक्षा करता है। एक संन्यासी चौबीसों घण्टे उस प्रभु के

चरणों में स्थित है, अतएव आनन्द में भी स्थित है। सर्वोच्च मनःप्रसाद की साधना करके ही तो यह संन्यासी बना है। संन्यासी का मूल कर्त्तव्य 'देव' बनना व प्रभु की समीपता से दूर न होना है।

भावार्थ—मैं ब्रह्मचर्याश्रम में विप्=मेधावी व वी=गतिशील बनूँ। गृहस्थाश्रम में प्रभु को सदा पुकारता हुआ सूर्य के समान क्रिया में लगा रहूँ। वानप्रस्थ बनने पर अपनी सभी इन्द्रियों को प्रभु में केन्द्रित करने का प्रयत्न करूँ। इस प्रकार देव बनकर आदर्श संन्यासी बनूँ और सदा प्रभुचरणों में रहूँ।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु-दर्शन के लिए

६१५. भ्राजन्त्यग्ने समिधान दीदिवो जिह्वा चरत्यन्तरासनि।
स त्वं नो अग्ने पयसा वसुविद्रयिं वर्चो दृशेऽदाः॥ १॥

१. प्रभु-दर्शन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमारी जिह्वा सदा प्रभु के नाम का जप करे। **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**=उसके नाम का जप और उस नाम के अर्थ का चिन्तन यही योग में ईश्वर-साक्षात्कार का प्रथम उपाय बताया है। मन्त्र में कहते हैं कि हे **समिधान**=तेज से प्रकाशमान प्रभो! **दीदिवः**=ज्ञान की ज्योति से देदीप्यमान **अग्ने**=सारे संसार को अग्रगति देनेवाले प्रभो! **भ्राजन्ती**=आपके नामस्मरण से चमकती हुई **जिह्वा**=जीभ सदा **अन्तः आसनि**=मुख में **चरति**=गतिशील होती है, अर्थात् मैं मुख से सदा आपके नामों का उच्चारण करता हूँ। प्रभु के नामोच्चारण से मेरी जिह्वा सदा चमकती रहती है। अपशब्दों से वह मैली नहीं होती।

२. हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक सब साधनों को प्राप्त करानेवाले **नः**=हमें **पयसा**=(प्यायतेः) आप्यायन=वृद्धि के दृष्टिकोण से **रयिम्**=धन तथा **वर्चः**=तेजस्विता **अदाः**=दीजिए, जिससे हम **दृशे**=आपका दर्शन कर सकें। प्रभुदर्शन के लिए 'नमक, तेल, ईंधन' की चिन्ता से मुक्त होना भी आवश्यक है। 'भूखे भजन न होई'। योगभ्रष्ट को प्रभु श्रीमताम्=धन-सम्पन्न घर में इसीलिए जन्म देते हैं। धन के साथ शरीर की शक्ति भी आवश्यक है। निर्बलता से शरीर रोगाक्रान्त होकर ध्यान को विचलित करनेवाला हो जाता है। धन और स्वास्थ्य का लाभ करके ही हम अपना आप्यायन=वर्धन कर सकते हैं। एवं, जहाँ प्रभु के नाम का जप आवश्यक है, वहाँ धन व तेजस्विता भी प्रभु-दर्शन के लिए सहायक हैं। मैं धन प्राप्त करके धन में आसक्त न हो जाऊँ, परन्तु इतना निर्धन भी न होऊँ कि मेरी सारी शक्ति व समय पेट की व्यवस्था करने में ही समाप्त हो जाए।

भावार्थ—उचित धन व शक्ति के साथ प्रभु-स्मरण मनुष्य को 'वामदेव गोतम'=प्रशस्त गुणोंवाला, प्रशस्तेन्द्रिय बनाता है।

ऋषिः—**गौतमो वामदेवः**॥ देवता—**ऋतुः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

रमणीयता-ही-रमणीयता

६१६. वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिरः इन्नु रन्त्यः॥ २॥

जैसा मन होता है, वैसा ही संसार प्रतीत होता है। मन उदास है तो संसार भी उदास लगता है और मन प्रसन्न हो तो संसार भी प्रसन्न दीखता है।

संसार-चक्र में फँसे मनुष्य को, ऊँच-नीच से विक्षुब्ध होने पर, शतशः आशाओं के भङ्ग होने पर मन की आकुलता से सभी ऋतुएँ व्याकुल-सा करनेवाली हो जाती हैं। उसके मुख से ऐसे वाक्य सुनाई पड़ते हैं कि 'क्या आफ़त की गर्मी है? अरे! ये झड़ तो ख़त्म ही नहीं होता; पतझड़ की हवाओं ने क्या शुष्कता उत्पन्न कर दी है, सरदी तो मारे ही चली जाती है, ये शिशिर तो शीर्ण ही कर देगी, वसन्त क्या आयी—कफ़ के उपचय व प्रकोप से यह हमारा अन्त ही कर देगी।' मन की प्रसन्नता के अभाव में सभी ऋतुएँ खराब लगती हैं और मनुष्य सदा रोता ही रहता है, परन्तु स्वास्थ्य, आवश्यक धन व प्रभुनाम-स्मरण से प्रसन्न अन्तःकरणवाला व्यक्ति कहता है कि—१. **वसन्त इत् नु रन्त्यः**=अब निश्चय से वसन्त ऋतु कितनी रमणीय है। यह कुसुमों की आकरभूत ऋतु सारे संसार में ह्रास का विकास करनेवाली है। सारा संसार कैसा खुला हुआ प्रतीत होता है। २. **ग्रीष्म इत् नु रन्त्यः**=वसन्त के बाद अब ग्रीष्म भी कितनी सुन्दर है! शरीरों से पसीने की धाराओं का प्रवाह करती हुई यह शरीर के शोधन में लगी है। सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से सब मल व दुर्गन्धि को भस्म करके ही रुकेगा। ३. **वर्षाणि**=सूर्य के प्रचण्ड ताप के बाद ये वर्षा की बौछारें अत्यन्त सुन्दर लग रहीं हैं। भस्मीभूत मल को ये प्रवाहित करके समुद्र में पहुँचा कर विश्राम लेंगी। ४. **अनु**=अब वर्षा की शीतल बौछारों के बाद **शरदः**=सबको शीर्ण करनेवाली यह शरद् ऋतु भी कितनी सुन्दर है! वर्षा में निर्मर्याद बढ़े हुए मलिन जल अब फिर मर्यादा में आ गये हैं और कितने स्वच्छ प्रतीत होते हैं! मयूरों का उग्र मद शान्त हो गया है—वनस्पतियों की अतिमात्र उपज भी परिमित हो गयी है। शरद् ऋतु ने सभी को विनीत-सा कर दिया है। ५. **हेमन्तः शिशिरः इत् नु रन्त्यः**=शरद् ऋतु के शोधन के बाद शरीर को फिर से उपचित करती हुई ये हेमन्त और शिशिर ऋतुएँ भी सुन्दर हैं। वस्तुतः प्रभु से समय-समय पर लायी गयी ये ऋतुएँ असुन्दर हो भी कैसे सकती हैं? प्रभु पूर्ण हैं तो उनका बनाया यह संसार क्या अपूर्ण होगा? नहीं! सब सुन्दर है—यदि मेरा मन सुन्दर है तो, अतः मुझे अपने मन को सुन्दर बनाकर 'वामदेव' बनना है—अपनी इन्द्रियों को निर्मल करके 'गोतम' बनना है।

भावार्थ—मनःप्रसाद को सिद्ध करके मैं संसार में प्रसाद को—रमणीयता को देखनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**नारायणः**॥ देवता—**पुरुषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

संसार का निर्माता प्रभु

६१७. सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ ३॥

एक छोटी-सी घड़ी का निर्माण करनेवाला शिल्पी कितना कुशल व तीव्र मस्तिष्कवाला प्रतीत होता है। घड़े को बनानेवाला कुम्हार कितनी विलक्षण आँख की शक्तिवाला है। किसी एक साधारण-सी वस्तु के निर्माण करनेवाले को भी किस प्रकार भाग-दौड़ करनी पड़ती है? इन सब वस्तुओं का निर्माण करनेवालों के मस्तिष्क, चक्षु व पाँवों की शक्ति का ध्यान करते हुए जब एक भक्त इस अनन्त-से संसार के निर्माता का ध्यान करता है तब वह कह उठता है कि-**सहस्रशीर्षाः पुरुषः**=वह प्रभु तो अनन्त सिरोंवाला होगा। इस सारे ब्रह्माण्डरूप पुर में निवास करनेवाला (पुरि वसति) वह प्रभु कितने महान् मस्तिष्कवाला होगा? **सहस्राक्षः**=उसकी आँखे अनन्त होंगी और **सहस्रपात्**=उसके पाँव भी अनन्त होंगे। क्या कोई ऐसा स्थान भी होगा जहाँ उस प्रभु की सोचने, देखने व चलने की शक्ति का अभाव हो। नहीं! वह तो सर्वत्र व्यापक ज्ञानमय है, सर्वद्रष्टा तथा सर्वशक्तिमान् है। प्राणी के मस्तिष्क में भी उसी प्रभु की शक्ति का अंश है, आँखों में उसी प्रभु की दर्शनशक्ति काम कर रही है और पाँव में चलने की शक्ति भी उसी की दी हुई है।

इतना ही नहीं, वे प्रभु इस ब्रह्माण्ड से भी सीमित नहीं हो गये। **सः**=वे प्रभु **भूमिम्**=(भवतीति) इस उत्पन्न ब्रह्माण्ड को **सर्वतः**=चारों ओर से **वृत्वा**=आवृत करके **दशांगुलम्**=इस दशांगुल ब्रह्माण्ड को **अत्यतिष्ठत्**=लाँघ कर विद्यमान हैं। गर्भ जैसे माता के एक देश में होता है उसी प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड उस प्रभु के एक देश में है-वे प्रभु 'हिरण्यगर्भ' हैं-सारे ज्योतिर्मय पिण्डों को अपने गर्भ में लिये हुए हैं। यह सारा संसार उस प्रभु के सामने दशांगुल मात्र है। पञ्च तन्त्रात्माओं व पञ्चस्थूलभूतों का खेल होने से भी यह 'दशांगुल' है। प्रभु इस दशांगुल संसार से परे भी रह रहें हैं। जीव का हृदय भी दशांगुल कहलाता है। प्रभु का दर्शन जीव इस दशांगुल हृदय में ही करता है। प्रभु का यही 'परम परार्ध'=सर्वोत्कृष्ट निवास स्थान है।

इस प्रकार प्रभु का ध्यान करनेवाला व्यक्ति प्रभु को नार=नरसमूह है अयन=निवासस्थान जिसका, उस 'नारायण' के रूप में देखता है और स्वयं भी नरसमूह का शरण बनता हुआ 'नारायण' हो जाता है।

भावार्थ-नारायण का स्मरण करते हुए मैं नारायण ही बन जाऊँ।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

त्रिपाद् पुरुष

६१८. त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
तथा विष्वङ् व्यक्रामदशनानशने अभि॥ ४॥

वह परमात्मा 'त्रिपात्' है-(त्रीन् जन्मजरामृत्यून् पातयति) जन्म-मृत्यु, जरा से अतीत है, (त्रिषु कालेषु पद्यते प्राप्यते विद्यते) तीनों कालों में सदा रहनेवाला है, (त्रिषु लोकेषु पद्यते) तीनों लोकों में व्यापक है, (त्रीणि ऋग्यजुषं साम च पादयति प्रापयति) ऋग्यजुः सामरूप मन्त्रों का ज्ञान देनेवाला वह **त्रिपात् पुरुषः**=सर्वव्यापक परमात्मा **ऊर्ध्वः**=क्लेश, कर्म, विपाक व आशयों से अपरामृष्ट **उदैत्**=ऊपर उठा हुआ है। 'असक्तम्' वह इस संसार में सक्त नहीं है। यद्यपि वे प्रभु इस संसार में सक्त नहीं हैं **पुनः**=फिर भी **अस्य**=इस त्रिपात् पुरुष की

पादः=(पद् गतौ) सारी क्रिया **इह**=इस त्रिगुणात्मक संसार में **अभवत्**=होती है। असक्त होते हुए भी वे प्रभु 'सर्वभृत् चैव' सबका भरण करनेवाले हैं ही **तथा**=इसलिए वे प्रभु **विष्वङ्**=(वि सु अञ्चति) सर्वतो व्याप्त हुए **अशनानशने**=चेतन और अचेतन—खानेवाले और न खानेवाले—उभयविधि जगत् को **अभि**=सब ओर से **व्यक्रामत्**=विक्रम के द्वारा अपने वश में स्थापित किये हुए हैं। प्रकृति पूर्ण परतन्त्र है, जीव भी कर्म करने में कुछ स्वतन्त्र होता हुआ फलभोग में परतन्त्र ही है। किसी प्रकार की आसक्ति न होने से ही उस प्रभु का शासन उत्कृष्टतम है। उस प्रभु के शासन में चलने पर मैं भी इस संसार में गतिशील रहता हुआ 'धर्मार्थ, काम' तीनों पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला 'त्रिपात्' बनता हूँ।

भावार्थ—त्रिपात् प्रभु का स्मरण करता हुआ मैं भी त्रिपात् बनने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—**नारायणः**॥ देवता—**पुरुषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सर्वाधार प्रभु

६१९. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ ५॥

इदम्=यह **सर्वम्**=सब-कुछ **यत्**=जो **भूतम्**=हो चुका है—सिद्ध है **यत् च**=और जो **भाव्यम्**=भविष्य में सिद्ध होना है, वह सब **पुरुषे एव**=इस सारे ब्रह्माण्डरूप पुर में निवास करनेवाले प्रभु में ही है, अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड प्रभुरूप आधार में स्थित है। सर्वभृत्—सबका भरण करनेवाले वे प्रभु ही हैं। 'हिरण्यगर्भ' होने से सब पदार्थों को उन्होंने गर्भ में धारण किया हुआ है।

सर्वा भूतानि=सब भूत **अस्य**=इस प्रभु के ही **पादः**=चतुर्थांशमात्र हैं अथवा उसी से गति दिये जा रहें हैं, अतएव उसी के पादाक्रान्त—वशवर्ती हैं। **अस्य**=इस प्रभु का **त्रिपात्**=जगत् से अश्लिष्ट 'सत्, चित्, आनन्द' स्वरूप **अमृतम्**=अमृत है—अविनश्वर है और वह **दिवि**=सदा प्रकाश में है।

जिस दिन जीव यह समझ लेता है कि मैं उस प्रभु का ही 'पाद' हूँ—उसी से गति दिया जा रहा हूँ, उस दिन यह जीव सब क्रियाओं का अहंकार छोड़कर प्रभु के त्रिपाद्रूप को धारण करने की योग्यता प्राप्त करता है। इसका जीवन भी सत्य, चैतन्यता व आनन्द को धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—मैं प्रभु को अपने आधार के रूप में समझूँ।

ऋषिः—**नारायणः**॥ देवता—**पुरुषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ईशान

६२०. तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ ६॥

जितना फैला हुआ अनन्त-सा यह ब्रह्माण्ड है **तावान्**=उतनी ही **अस्य महिमा**=इस सर्वाधार प्रभु की महिमा है।

जहाँ-जहाँ विभूति, श्री व ऊर्जा है, वह सब प्रभु की विभूति का अंश ही है। सूर्य-चन्द्र-तारे सभी उस प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो रहे हैं (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति)। वस्तुतः हिमवान् पर्वत, समुद्र, सम्पूर्ण पृथिवी ये सब उस प्रभु की महिमा का कीर्तन कर रहे हैं। वह **पुरुषः**=सारे ब्रह्माण्ड में निवास करनेवाला प्रभु **ततः च**=उस सारे ब्रह्माण्ड से भी **ज्यायान्**=बहुत बड़े हैं। बड़े क्या वे तो अनन्त हैं, यह सान्त जगत् उस प्रभु के एक देश में ही तो है। उस प्रभु की महिमा का क्या कोई अन्त है?

वे प्रभु जहाँ इस जन्म-मृत्युवाले संसार के स्वामी हैं, वहाँ **अमृतत्वस्य उत**=मोक्षलोक के भी वे **ईशानः**=ईशान हैं। मुक्तात्मा स्वच्छन्दता से उस प्रभु में विचरते हुए भी नये जगत् का व्यापार करने में समर्थ नहीं है। उन्हें यह स्वतन्त्रता नहीं कि वे एक नया सूर्य रचकर अलग दुनिया बना डालें। उस प्रभु की व्यवस्था के अनुसार परामुक्ति की समाप्ति पर इन्हें इहलोक में लौटना है।

यत्=जो कुछ **अन्नेन**=अन्न के द्वारा **अतिरोहति**=बढ़ता है, उस शरीरादि के प्रभु ही ईशान हैं। मुझे उन्नति के साधन के लिए यह शरीर प्रभु ने साधन के रूप से प्राप्त कराया है। इसपर मेरा स्वामित्व नहीं—स्वामित्व उस प्रभु का ही है। इस तत्त्व को समझ लेने पर ही मैं (निर्भयः, निरहंकारः) होकर शान्ति का लाभ करनेवाला बनूँगा।

भावार्थ—मैं इस तत्त्व को समझूँ कि मेरे शरीर के भी ईशान वे प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**नारायणः**॥ देवता—**पुरुषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

विराट् की उत्पत्ति

६२१. ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥७॥

प्रभु ने जब प्रकृति-समुद्र से ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया **ततः**=तब प्रारम्भ में एक चमकता हुआ **विराट्**=विराट् पिण्ड **अजायत**=उत्पन्न हुआ। यही वैज्ञानिकों का नेब्युला (Nebula) है।

विराजः अधि पुरुषः=इस विराट् पिण्ड का अधिष्ठाता वह सर्वव्यापक प्रभु ही था। **सः**=प्रभु से अधिष्ठित यह विराट् पिण्ड **जातः**=जब प्रादुर्भूत हुआ तो **अति**=अतिशयेन **अरिच्यत**=विरेचन-सा करनेवाला हुआ और **पश्चात्**=इस क्रिया के होने पर **भूमिम्**=प्राणियों के निवासस्थानभूत (भवन्ति भूतानि यस्याम्) लोकों को **अथो**=और **पुरः**=पालन-पूरण करनेवाले सभी पदार्थों को उसने अपने में से विवक्त कर डाला, अर्थात् लोकलोकान्तर और उनमें जीवन के लिए सब आवश्यक पदार्थ उत्पन्न हुए।

भावार्थ—हम प्रभु की निर्मित इस सृष्टि के निर्माण को समझें और इसमें उसकी महिमा को देखने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**द्यावापृथिवी**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उत्तम पालक द्यावापृथिवी

६२२. मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेथाममितमभि योजनम्।
द्यावापृथिवी भवतं स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः॥८॥

व्यक्ति जितना-जितना विचारता है उतना-उतना सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की रचना-कौशल की महिमा का अनुभव करता है। उसे प्रत्येक व्यवस्था में प्रभु की कृपा दृष्टिगोचर होने लगती है। वह कहता है कि हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोको! तदन्तर्गत सब पदार्थो! **वाम्**=आपको **सुभोजसौ**=बड़ा उत्तम पालन करनेवाला **मन्ये**=मानता हूँ। प्रकाश व वृष्टि के द्वारा द्युलोक पृथिवी में उन अन्नों व फूल-फलों को जन्म देता है, जिनसे हमारा अत्युत्तम पोषण होता है। ये 'द्यावापृथिवी' हमारे 'माता-पिता' ही हैं। माता-पिता जैसे पुत्र का पूर्ण पोषण करते हैं उसी प्रकार ये पृथिवी और द्युलोक हमारा पोषण करते हैं। 'इनमें हमारे निवास के लिए किसी प्रकार की कमी हो' ऐसी बात नहीं। **ये**=जो **अमितम्**=अनन्त **अभियोजनम्**=कोसों तक चारों ओर **अप्रथेथाम्**=फैले हुए हैं। 'हमारे लिए' कम पड़ जाएँगे ऐसी आशंका नहीं है। पृथिवी 'वसुन्धरा' है—सभी के लिए पर्याप्त वसु इसमें विद्यमान है। यह 'रत्नगर्भा' है—यहाँ रत्नों की कोई कमी है?

'वामदेव गोतम' प्रार्थना करता है कि **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **स्योने**=हमें सुख देनेवाले **भवतम्**=हों।

ते=वे द्यावापृथिवी **नः**=हमें **अंहसः**=पाप व कष्ट से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें। जब अज्ञानवश हम इनमें फँस जाते हैं, इनका अन्याय से संग्रह करने लगते हैं और इनके अतियोग में ग्रसित हो जाते हैं तब हम दुःखभागी हुआ करते हैं। सुख देनेवाले द्यावापृथिवी हमारे दुःख का कारण हो जाते हैं, परन्तु यदि हम 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाले 'गोतम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनेंगे तो कभी भी अंहस्=कष्ट के भागी न होंगे। हम द्यावापृथिवी को 'सुभोजसौ'=उत्तम पालन करनेवालों के रूप में ही देखें और इनकी अनन्तता का ध्यान करते हुए इनमें परस्पर शान्ति से निवास करनेवाले बनें। ये इतने विशाल हैं—यहाँ सभी के लिए स्थान है—लड़ने की आवश्यकता ही क्या?

भावार्थ—द्यावापृथिवी की विशालता और भोग-सामग्री का हम ध्यान करें।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**पुरुषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

कौन स्तुति करते है?

६२३. हरी त इन्द्र श्मश्रूण्युतो ते हरितौ हरी।
तं त्वा स्तुवन्ति कवयः पुरुषासो वनर्गवः॥ ९॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **हरी**=मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ **ते**=तेरे **श्मश्रूणी**=(श्म=शरीर, श्रि=आश्रय करना) शरीर में आश्रय करनेवाली हैं। इन्द्रियाँ 'हरी' कहलाती हैं, क्योंकि ये मनुष्यों का हरण करनेवाली हैं—उन्हें इधर-उधर भटकानेवाली हैं और वश में होने पर ये अज्ञान व कष्टों का हरण-निवारण करनेवाली हैं। भक्त प्रयत्न करता है कि उसकी इन्द्रियाँ प्रभु में ही निवास करें, इधर-उधर न भटकें। यह भक्त कहता है कि **उत उ**=और निश्चय से **हरी**=ये मेरी इन्द्रियाँ **ते हरितौ**=मुझे तेरी ओर ले-चलनेवाली हैं। वस्तुतः सारी साधना यही है कि हम इन्द्रियों को विषयों से हटाकर प्रभु में स्थिर करने का प्रयत्न करें।

ये भक्त **त्वाम्**=आपकी **स्तुवन्ति**=स्तुति करते हैं। कौन—

१. **कवयः**=जो क्रान्तदर्शी हैं—वस्तुओं के असली स्वरूप को देखने का प्रयत्न करते हैं।

ये गहराई तक जाकर वस्तु के तत्त्व को जानते हैं और उसका ठीक प्रयोग करते हैं। वस्तुओं का ठीक प्रयोग भी उस प्रभु का स्तवन व आदर ही है।

२. **पुरुषासः**=प्रभु का स्तवन वे करते हैं जो पुरुष हैं—जिनमें 'पौरुष' है। प्रभु का भक्त कभी अकर्मण्य नहीं होता। भक्ततम वे ही हैं जो 'सर्वभूतहिते रतः' हैं। प्रभु का हममें निवास 'पौरुष' के ही रूप में है। यदि मुझमें पौरुष नहीं तो प्रभु का भक्त क्या?

३. **वनर्गवः**=(वन=संभक्ति=संविभाग, गावः=इन्द्रियाणि)—प्रभुभक्त वे हैं जिनकी इन्द्रियाँ संविभाग का पाठ पढ़ती हैं। वे व्यक्ति जो संविभागपूर्वक खाते हैं, केवल अपने लिए नहीं पकाते—प्रभु के भक्त हैं। सारा संसार ही प्रभुभक्त का कुटुम्ब होता है। ऐसी स्थिति में वह संविभागपूर्वक क्यों न खाएगा?

एवं, प्रभुभक्त क्रान्तदर्शी होता हुआ, वस्तुओं को ठीक रूप में देखता हुआ सदा पौरुषमय जीवनवाला होता है और पौरुष-प्राप्त सम्पत्ति का संविभागपूर्वक सेवन करता है। यह व्यक्ति 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला होता है और 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रियोंवाला बनता है।

भावार्थ—मैं कवि, पुरुष व वनर्गु बनकर प्रभुभक्त बनूँ।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**आत्मन आशी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वर्चस् की प्राप्ति

६२४. यद्वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत।
सत्यस्य ब्रह्मणो वर्चस्तेन मा सं सृजामसि॥ १०॥

हे प्रभो! **यत्**=जो **वर्चः**=तेज **हिरण्यस्य**=वीर्यशक्ति का है **तेन**=उससे **मा**=मुझे **संसृजामसि**= संयुक्त कीजिए। यह शक्ति रोगों को दूर कर रमणीयता प्राप्त कराने से सचमुच 'हिरण्य' है और वस्तुतः यही मूलशक्ति है—इसी पर अन्य शक्तियाँ निर्भर करती हैं। **वा**=और **यत्**=जो **वर्चः**=शक्ति **गवाम्**=इन्द्रियों की है, उससे मुझे युक्त कीजिए। मेरी एक-एक इन्द्रिय आजीवन सशक्त बनी रहे। अपने-अपने कार्यों को करने में इन्द्रियों की शक्ति अन्त तक ठीक बनी रहे। संक्षेप में—शरीर नीरोग हो और इन्द्रियाँ सबल **उत**=शरीर व इन्द्रियों की शक्ति के साथ जो **सत्यस्य**=सत्य का तेज है, वह मेरे मन को सबल बनाये। **ब्रह्मणः वर्चः**=ज्ञान का तेज मेरे विज्ञानमयकोश को उज्ज्वल करे।

गत मन्त्र में प्रभु के स्तोता का उल्लेख था। वह अपने जीवन को जिन वर्चस् व तेजों से अलंकृत करता है, उनका वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है। 'अनुष्टुप्' छन्द के परिणामस्वरूप ही यह 'वामदेव गोतम' अपने सब शोकों को समाप्त (stop) करनेवाला होता है। 'शरीर नीरोग है, इन्द्रियाँ शक्तिशाली हैं, शक्ति के द्वारा मन पवित्र हो गया है और ज्ञान से मस्तिष्क उज्ज्वल है, इससे अधिक और चाहिए ही क्या?

भावार्थ—मुझे शक्ति व इन्द्रियों की संसिक्तता के साथ सत्य व ज्ञान का नेत्र प्राप्त हो।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वृत्रों में शत्रु का पराभव

६२५. सहस्तन्न इन्द्र दद्ध्योज ईशे ह्यस्य महतो विरप्शिन्।
क्रतुं न नृम्णं स्थविरं च वाजं वृत्रेषु शत्रून्त्सुहना कृधी नः॥ ११॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हमें **तत् सहः**=वह बल—वह सहनशक्ति व आनन्दमयकोश का बल **दद्धि**=दीजिए और **ओजः**=मानसबल प्राप्त कराइए। हे प्रभो! आप सहस् और ओज के पति हैं—मुझे भी सहस् व ओज दीजिए। 'सहस्' के द्वारा ही मेरा जीवन आनन्दमय होगा। मानस ओज के अभाव में मेरा किसी प्रकार का उत्थान नहीं होता। ओज 'उन्नति' का हेतु है, 'सहस्' आनन्द का। ओज और सहस् से मेरा जीवन उन्नति-पथ पर चलता है और आनन्दमय होता है। हे प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **अस्य**=इस **महतः**=महान् ब्रह्माण्ड के **ईशे**=शासक हैं—ईश्वर हैं। प्रकृतिरूप बीज से बढ़कर यह संसाररूप वृक्ष बनता है, अतः बढ़ने के कारण यह 'महत्' कहलाता है। प्रकृति के विकास की प्रथम सीढ़ी 'महत्' ही है (प्रकृतेर्महान्)। दर्शनों की परिभाषा में 'समष्टि बुद्धि' को भी महान् कहा जाता है—प्रभु ही समष्टिरूप में बुद्धितत्त्व के ईश हैं। ये बुद्धि के ईश प्रभु **विरप्शिन्** हैं—सृष्टि के प्रारम्भ में ही विशेषरूप से विविध विज्ञानों का उपदेश देनेवाले हैं। यह निर्मल वेदज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में ही उच्चारण किया गया है।

इस प्रकार वामदेव गोतम प्रभु से प्रार्थना करता है कि—१. **क्रतुं न नृम्णम्**=(न इव) हमें पुरुषार्थ के अनुसार धन प्राप्त कराएँ। 'नृम्णं' शब्द सामान्यतः सुख का वाचक है। सुख का साधन होने से धन भी 'नृम्णं' शब्द का वाच्य हो जाता है। यदि हम धन में उलझते नहीं तो यह सुख का साधन बना रहता है, परन्तु धन में वही नहीं उलझता जो धन को 'क्रतुं न'=पुरुषार्थ के अनुपात में चाहता है—'सुपथा'=उत्तम मार्ग से ही धन कमाता है और साथ ही हे प्रभो! **स्थविरं च वाजम्**=आप हममें स्थिर, सदा वर्द्धमान त्याग की भावना को भरिए। (वाज=त्याग, स्थविर=स्थिर या सदा विद्यमान)। यह त्याग की भावना मनुष्य को धन का दास नहीं बनने देती। वह धन का स्वामी बना रहता है। **'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'।**

धन का दास बनने पर धन मनुष्य के ज्ञान का आवरण (पर्दा) बन जाने के कारण 'वृत्र' (ढकनेवाला) कहलाता है—काम-विलास की इच्छा ही उससे यह सब करवाती है और विलास की इच्छा 'महान् वृत्र' है। एवं, अर्थ और काम में एक ऐसा तत्त्व है जो हमारा नाश करनेवाला होता है। इस नाशक तत्त्व को ही 'शत्रु' कहते हैं—(which shatters), मन्त्र में प्रार्थना है कि **वृत्रेषु**=ज्ञान पर पर्दा डालनेवाले इन अर्थ, काम में **शत्रून्**=जो नाशक तत्त्व हैं **नः**=हमें उन्हें **सहना**=सहन करनेवाला—पराभूत करनेवाला **कृधि**=कीजिए। नाशक तत्त्व को पराभूत करके हम 'अर्थ और काम को शत्रू न रहने दें अपितु पुरुषार्थ में परिवर्तित कर दें। 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' ये चतुर्विध पुरुषार्थ रहते हैं जब तक वे धर्म और मोक्ष से आवृत रहें। मनुष्य धर्मपूर्वक इनका अर्जन करे और मोक्ष को अपने जीवन का ध्येय बनाये। धर्मपूर्वक अर्थ कमाकर उचित कामों—आनन्दों का सेवन करता हुआ पुरुष ही मोक्ष प्राप्त करता है।

भावार्थ—हे प्रभो! मुझे सहस्, ओज, ज्ञान, पुरुषार्थानुसार धन, स्थिर त्याग की वृत्ति तथा अर्थ और काम में आसक्ति से विरति प्राप्त कराइए।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**गौः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सात्त्विक गोदुग्ध का सेवन

६२६. सहर्षभाः सहवत्सा उदेत विश्वा रूपाणि बिभ्रतीर्द्व्यूध्नीः।
उरुः पृथुरयं वो अस्तु लोक इमा आपः सुप्रपाणा इह स्त॥ १२॥

गत मन्त्र की प्रार्थना को कार्यान्वित करने के लिए 'वामदेव गोतम' प्रस्तुत मन्त्र में उत्तम गौवों के अभ्युदय का उल्लेख करता है, जिससे उसके दुग्धादि सेवन से सात्त्विक ज्ञान व सात्त्विक भक्ति का विकास हो। यह प्रार्थना करता है कि हे गौवो! **सहर्षभाः**=उत्तम ऋषभों–बैलोंसहित तथा **सहवत्साः**=उत्तम बछड़ों के साथ **उदेत**=उदय को प्राप्त होओ। गौवों की उत्तम नस्ल के लिए उत्तम साँडों की आवश्यकता है ही। गौवों में दुग्ध प्रवर्त्तन ठीक होता रहे उसके लिए बछड़ों का होना आवश्यक है। हे गौवो! आप **विश्वा रूपाणि**=सब मनुष्यों को–प्राणियों को **बिभ्रतीः**=धारण करती हुई **द्व्यूध्नीः**=दुगने ऊधस्वाली उदित होओ। गौओं का दूध पूर्ण भोजन के रूप में बहुत उत्तम प्रकार से सब मनुष्यों का धारण करता है और यदि हम गौवों का उचित ध्यान करें तो वे दुगना दूध देनेवाली हो जाती हैं, अर्थात् उनका दूध पर्याप्त मात्रा में बढ़ाया जा सकता है। इनका दूध बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि इन्हें सदा घर में ही न बाँधे रक्खा जाए। मन्त्र में कहते हैं कि हे गौवो! **वः**=तुम्हारा **अयम्**=यह **उरुः**=विशाल **पृथुः**=विस्तृत **लोकः**=लोक **अस्तु**=हो। खुले आकाश में भ्रमण करनेवाली गौवों का दूध अधिक प्राणशक्तिवाला होता है। इन गौवों को पीने के लिए पानी भी अत्यन्त शुद्ध मिलना चाहिए। **सुप्रपाणाः**=सुख से पीने योग्य **इमाः आपः**=ये उत्तम जल **इह स्त**=यहाँ हों।

भावार्थ–मानव उत्कर्ष के लिए गौवों का उत्कर्ष आवश्यक है।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः–**शतं वैखानसाः**॥ देवता–**अग्निः पवमानः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

पवमान के प्रध्यान से पवित्रता

६२७. अग्न आयूँषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥ १॥

मानव जीवन में उत्पन्न होनेवाली सैकड़ों बुराइयों को उखाड़कर नष्ट कर देनेवाला व्यक्ति 'शतं वैखानसः' है, (शतम्=सौ, वि=विशेषरूप से खन्=खोद डालना)।

यह प्रभु से आराधना करता है कि **अग्ने**=सब बुराइयों को भस्म करके उन्नति को सिद्ध करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे **आयूँषि**=जीवनों को **पवसे**=पवित्र करते हो। हे प्रभो! आप **नः**=हमें **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति **च**=तथा **इषम्**=प्रेरणा व प्रकृष्ट-गति **आसुव**=प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से हममें शक्ति हो और उस शक्ति को हम उत्कृष्ट क्रियाओं में ही नियुक्त करें। कृपया आप **दुच्छुनाम्**=दुर्वृत्ति को हमसे **आरे**=दूर **बाधस्व**=भगा दीजिए। 'दुच्छुना' दुर्वृत्ति का नाम है, क्योंकि इसे दुष्ट उपायों से भी अपना ही सुख-साधन अभीष्ट होता है। (दुत्=दुष्ट, शुनम्=सुख), परन्तु प्रभु-कृपा होने पर मनुष्य को उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती है–अशुभवृत्तियाँ दूर होती हैं, शरीर में शक्ति का संचय होता है और जीवन पवित्र हो जाता है। एक-एक करके सब बुराइयाँ दूर हो जाती हैं और हम सचमुच 'शतं वैखानसः' बन जाते हैं। समूह में रहने के कारण 'शतं वैखानसाः' कहलाते हैं।

बाह्य अग्नि धातुओं के मलों को दूर कर देती है–प्राणायाम की अग्नि इन्द्रियों के मलों का अपाकरण करती है और प्रभु जोकि 'अग्नि पवमान' हैं, हमारे ज़ीवनों को पवित्र कर देते हैं।

भावार्थ—पवमान प्रभु के ध्यान से मेरे पाप दूर हों और मेरा जीवन पवित्र हो जाए।

ऋषिः—**विभ्राट् सौर्यः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

जीवन-यात्रा के चार प्रयाण

६२८. विभ्राड् बृहत् पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम्।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपर्ति बहुधा वि राजति॥ २॥

ब्रह्मचर्य—मानव-जीवन की यात्रा में प्रथम प्रयाण 'ब्रह्मचर्याश्रम' कहलाता है। इसमें मनुष्य १. **विभ्राट्**=विशेषरूप से (भ्राज=दीप्ति) दीप्त होनेवाला, चमकनेवाला बने। आचार्य द्वारा इसकी ज्ञानाग्नि पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोकरूपी तीन समिधाओं से समिद्ध की जाती है और यह ब्रह्मचारी ज्ञान की दीप्ति से चमक उठता है। इस आश्रम का मूल कर्त्तव्य 'ब्रह्म'=ज्ञान का 'चर'=भक्षण ही तो है। २. **बृहत्**=(बृहि वृद्धौ) ब्रह्मचारी को सब दृष्टिकोणों से—'शरीर-मन व बुद्धि' के विचार से—वृद्धि का सम्पादन करना है। ३. ज्ञान की दीप्ति के लिए तथा सब दृष्टिकोणों से वृद्धि के लिए ही ब्रह्मचारी **सोम्यं मधु**=सोम-सम्बन्धी मधु का **पिबतु**=पान करे। सोम=semen=वीर्य का नाम है, आहार का सार होने से यह 'मधु' है। मधु=शहद भी पुष्प-रसों का सार ही होता है। इस वीर्यरक्षा से ही यह अपनी ज्ञानाग्नि को समिद्ध करेगा। इसी से रोग-कृमियों को नष्ट करके यह शरीर को नीरोग बनाएगा और वीर्यवान् होने पर द्वेष की भावना से ऊपर उठकर निर्मल मनवाला होगा।

गृहस्थ—अब यह ब्रह्मचारी गृहस्थ में प्रवेश करता है। यहाँ इसे 'ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेव यज्ञ' नामक पाँच यज्ञों को करते हुए चलना है, परन्तु इन यज्ञों के कर्तृत्व का स्वयं गर्व न करके इसने उस प्रभु को ही इन यज्ञों के पति के रूप में देखना है। प्रभु-कृपा से ही ये पूर्ण होते हैं, वे प्रभु 'यज्ञस्य देवम्'=यज्ञों के प्रकाशक हैं, 'होतारम्'=वस्तुतः 'होता' प्रभु ही हैं। **यज्ञपतौ**=उस यज्ञों के रक्षक प्रभु में **अविह्रुतम्**=कुटिलताशून्य **आयुः**=जीवन को **दधत्**=धारण करता हुआ यह गृहस्थ जीवन-यात्रा में आगे बढ़े। एवं, गृहस्थ के लिए तीन बातें हैं—१. यज्ञमय जीवन बिताये, २. यज्ञों का गर्व न कर प्रभु को ही यज्ञपति माने, ३. कुटिलता से दूर रहे।

वानप्रस्थ—अब यह गृहस्थ 'वनस्थ' बनता है। वानप्रस्थ वह है **यः**=जो **वातजूतः**=प्राणों से प्रेरित हुआ-हुआ **त्मना**=आत्मना—अपने मन के द्वारा **अभिरक्षति**=अपनी सर्वतः रक्षा करता है। प्राणायाम की नियमित साधना से यह चित्तवृत्ति का निरोध करता है और इस निरुद्ध चित्त के द्वारा यह अपनी रक्षा करता है। **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'**=मन ही तो मनुष्यों के बन्ध व मोक्ष का कारण है। मन मित्र भी है, शत्रु भी। मन को वश में कर लिया तो यह मित्र है और यदि हम मन के वश में हो गये तो यह शत्रु है। इस मन की वृत्ति को वशीभूत करने के लिए साधकतम 'प्राणायाम' है। एवं, वनस्थ—१. प्राणायाम करता है, २. इसके द्वारा चित्तवृत्ति को वश में करने का प्रयत्न करता है, ३. रक्षित चित्त के द्वारा आसुर वृत्तियों के आक्रमण से अपनी रक्षा करता है।

ब्रह्माश्रमी—उपर्युक्त साधना के बाद आज यह मानव-जीवन यात्रा की अन्तिम मंजिल में प्रवेश करता है और यहाँ **प्रजाः**=प्रजाओं का **पिपर्ति**=पालन व पूरण करता है। उन्हें प्रभु

का उपदेश देता हुआ कर्त्तव्य-पथ पर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता है। उनके दोषों को उचित प्रेरणा द्वारा दूर करने का प्रयत्न करता है और यह **बहुधा**=बहुतों का धारण करनेवाला **विराजति**=विशेषरूप से दीप्त होता है।

मानवममात्र का पालन करते हुए सब प्रकार के स्वार्थों से ऊपर उठ जाने के कारण यह विशेष चमकवाला होता है। सबके पालन करनेवाले सूर्य की भाँति चमकने से यह 'विभ्राट् सौर्यः' कहलाता है और इस प्रकार अपनी जीवन-यात्रा को सफलता के साथ समाप्त करता है।

भावार्थ—हम अपनी जीवन-यात्रा के सभी प्रयाणों को उत्तमता से पूर्ण करनेवाले हों।

ऋषिः—**आङ्गिरसः कुत्सः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ब्रह्माश्रमी का ब्रह्मोपस्थान—उप-स्थान

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
६२९. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ ३ ॥

गत मन्त्र का ब्रह्माश्रमी प्रजापालन के लिए सर्वत्र प्रवचन करता हुआ उस प्रभु का स्मरण इन शब्दों में करता है १. **देवानाम्**=सूर्यादि सब देवों का **चित्रं अनीकम्**=अद्भुत बल—सब देवताओं को देवत्व प्राप्त करानेवाला वह प्रभु **उदगात्**=मेरे हृदयान्तरिक्ष में उदित हुआ है। २. वह प्रभु **मित्रस्य**=द्युलोकस्थ सूर्य का **वरुणस्य**=अन्तरिक्ष-समुद्र-स्थित 'चन्द्र' का और **अग्नेः**=पृथिवीलोक में स्थित अग्निदेव का **चक्षुः**=प्रकाशक है। ये सब देव उस प्रभु के प्रकाश से ही प्रकाशित हो रहे हैं। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। ३. वे प्रभु **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक को **आ-प्राः**=समन्तात् व्याप्त किये हुए हैं—वह प्रभु सर्वत्र परिपूर्ण हैं। ४. **सूर्यः**=सब जड़ जगत् को वे गति दे रहे हैं और चेतन-जगत् को प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। ५. वे **जगतः तस्थुषः च**=जङ्गम और स्थावर की **आत्मा**=आत्मा हैं। वस्तुतः यह सारा चराचर जगत् उस प्रभु का शरीर ही है—वह सबके अन्दर स्थित हुआ-हुआ अन्तर्यामिरूपेण इस सारे जगत् का नियमन कर रहा है।

इस प्रकार प्रभु का उपस्थान करनेवाला यह ब्रह्माश्रमी सर्वत्र उस प्रभु की महिमा को देखता है, अपने हृदय में भी उसी को व्याप्त अनुभव करता है। उसकी अन्तर्यामिता को अनुभव करने के कारण यह सब दुर्भावनाओं को कुचलनेवाला 'कुत्स' कहलाता है (कुथ हिंसायाम्)। सद्भावों के कारण इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का भी सद्भाव होता है और यह 'आङ्गिरस' बनता है।

भावार्थ—अन्दर-बाहर सर्वत्र प्रभु की व्याप्ति का अनुभव करते हुए हम दुर्भावनाओं व दुर्बलताओं से ऊपर उठें।

ऋषिः—**सार्पराज्ञी**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

जिज्ञासु

१ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
६३०. आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ ४ ॥

अयम्=यह **गौः**=(गच्छति इति) पुरुषार्थशील—आलस्य से सदा दूर रहनेवाला **पृश्निः**=(प्रच्छ ज्ञीप्सायम्) ज्ञानप्राप्ति की प्रबल इच्छावाला **आ**=समन्तात् **अक्रमीत्**=क्रमण करता है। वेद में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करने के कारण जीव को 'पञ्चौदनः' कहा है। यह पञ्चौदन 'पञ्चधा विक्रमताम्', 'पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से पुरुषार्थ करे' ऐसा वेद का आदेश है। यह पृश्नि=जिज्ञासु ऐसा ही करता है। ज्ञान 'परिप्रश्नेन'=नानाविध प्रश्न (all round questioning) करने से ही प्राप्त होता है। यह पृश्नि **पुरः**=सर्वप्रथम **मातरम्**=वेदमाता को (स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्) **असदत्**=प्राप्त करता है—उसे समझने का प्रयत्न करता है। **च**=और इस वेदज्ञान के मार्ग से **पितरम्**=रक्षक प्रभु को **प्रयन्**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है, जो प्रभु **स्वः**=स्वयं प्रकाशमान हैं।

प्रभु की प्राप्ति की कामनावाले को निम्न बातें करनी चाहिएँ—

१. **गौः**=वह गतिशील हो, 'पौरुषं नृषु' मनुष्यों में पौरुष ही प्रभु का रूप है।

२. **पृश्निः**=उसके अन्दर प्रबल जिज्ञासा हो। जिज्ञासु भक्त ही अन्त में ज्ञानी भक्त बनता है।

३. **आ अक्रमीत्**=यह सब ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करे। इस ज्ञान से इसे कण-कण में प्रभु की महिमा के दर्शन होंगे।

४. **असदत् मातरं पुरः**=यह सर्वप्रथम वेदमाता को अपनाये, क्योंकि **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'**=सारे वेद उस प्रभु का प्रतिपादन करते हैं। यह वेदवाणी माता की भाँति कल्याणी है—हमारे जीवन का निर्माण करके ज्ञान को बढ़ाकर हमें प्रभुदर्शन कराती है।

ऐसा करने पर हमें उस प्रभु का दर्शन होता है—वह ज्योतिर्मय रूप में हमारे हृदयों में प्रकट होता है। हमें पग-पग पर उस प्रभु के रक्षण-विधानों का आभास मिलता है और हम उसे 'पिता' के रूप में देखते हैं।

प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'आत्मा' है। इस आत्मा का दर्शन उसी को होता है जो अपने जीवन को 'सार्प'=गतिशील बनाता है और 'राज्ञी' इस गतिशीलता से अपने जीवन को दीप्त बनाता है। एवं, ऋषि का नाम 'सार्पराज्ञी' हो गया है।

भावार्थ—जिज्ञासु को ही प्रभु का ज्ञान होता है।

ऋषिः—**सार्पराज्ञी**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान का प्रकाश

३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ २र ३ १ २र
६३१. अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम्॥ ५॥

अस्य=इस (गत मन्त्र के पृश्नि) के **अन्तः**=अन्तःकरण में **रोचना**=उस प्रभु की दीप्ति **चरति**=विचरती है। गत मन्त्र में 'गतिशीलता, जिज्ञासा, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगाना, वेदमाता को प्राप्त करना' इन उपायों द्वारा प्रभु-दर्शन का उल्लेख हुआ है। जिस समय इस 'सार्पराज्ञी' के हृदय में उस प्रभु का प्रकाश होता है तब यह **रोचना**=प्रभु की दीप्ति **प्राणात्**=प्राणशक्ति के द्वारा—शरीर में बल-संचार के द्वारा—**अपानती**=सब दोषों को दूर करनेवाली होती है। शरीर के मल दूर होकर नीरोगता प्राप्त होती है। इस नीरोगता के अनुभव से इसकी प्रभु-भक्ति की भावना और प्रबल होती है और **महिषः**=(मह पूजायाम्) प्रभु की

पूजा करनेवाला **दिवम्**=उस प्रकाशमय प्रभु को **व्यख्यत्**=लोकों के अन्दर प्रकाशित करता है, अर्थात् यह उस प्रभु का प्रवचन करता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त श्रोताओं के सामने प्रभु-महिमा का व्याख्यान करता है।

ऋषि:—सार्पराज्ञी॥ देवता—सूर्यः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

निरन्तर जप

६३२. त्रिंशद्धाम वि राजति वाक् पतङ्गाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः॥ ६॥

इस प्रभुभक्त के हृदय में **त्रिंशद् धाम**=तीसों घड़ी (अत्यन्त संयोग में यहाँ द्वितीया है) वे प्रभु **विराजति**=शोभायमान होते हैं। यह सदा प्रभु का स्मरण करता है और **वाक्**=इसकी वाणी **पतङ्गाय**=(पतन् गच्छति) ऊपर-नीचे व्यापक उस प्रभु के लिए **धीयते**=धारण की जाती है, यह सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते सदा उस प्रभु का स्मरण करता है। उस प्रभु का जप इसके श्वास-प्रश्वासों के साथ सदा चलता है। इस जप के चलने से **प्रतिवस्तोः**= प्रतिदिन (वस्तोः=दिव) **अह**=निश्चय से इसका जीवन **द्युभिः**=प्रकाशों से युक्त होता है। यह पृश्नि १. प्रभु को सदा हृदय में धारण करता है, २. वाणी से सदा उसका जप करता है और परिणामतः ३. इसका हृदय सदा प्रकाशमय रहता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, जिससे सदा प्रकाशमय रहें।

ऋषि:—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—सूर्यः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

काम-क्रोधादि का विलय

६३३. अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे॥ ७॥

प्रतिदिन प्रभु-स्मरण द्वारा जो व्यक्ति अपने जीवन को प्रकाशमय बनाता है वही वस्तुतः 'प्रस्कण्व'=मेधावी है। यह शनैः-शनैः-कण-कण करके अपनी ज्ञान-ज्योति को बढ़ानेवाला 'काण्व' एक दिन सूर्य की भाँति ज्ञान-ज्योति से चमकने लगता है।

इस **सूराय**=सूर्य की भाँति चमकनेवाले के लिए (अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह। अहं सूर्यइवाजनि)=मैं परमपिता के ध्यान से, प्रभु से सत्य ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बना हूँ और सूर्य की भाँति हो गया हूँ तथा **विश्वचक्षसे**=केवल अपने को न देखकर सारे संसार को देखनेवाले के लिए **त्ये**=वे **तायवः**=(तायु=चोर—नि० ३.२४) चोरी (चोर जैसे सम्पत्ति का अपहरण करनेवाले होते हैं, इसी प्रकार अध्यात्मसम्पत्ति का उपक्षय, दसु=उपक्षये) करनेवाली आसुर वृत्तियाँ इस प्रकार **अपयन्ति**=दूर व नष्ट हो जाती हैं (अप=away) **यथा**=जैसे **अक्तुभिः**=रात के समय चमकनेवाले **नक्षत्रा**=नक्षत्र। रात्रि के समय आकाश में नक्षत्र खूब चमकते हैं, इसी प्रकार मानव-मस्तिष्क में अज्ञानान्धकार होने पर आसुर वृत्तिरूपी नक्षत्र चमका करते हैं, परन्तु ज्यों ही वहाँ ज्ञानसूर्य का उदय होता है तो (आकाश में सूर्योदय होने पर नक्षत्रों के समान) ये आसुर वृत्तियाँ भी विलीन हो जाती हैं। मनुष्य का दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है—वह देव बन जाता है। अपना ही ध्यान न करके वह विश्व का ध्यान करनेवाला 'विश्वचक्षस्' बन जाता है। काम 'प्रेम' बन जाता है और क्रोध का स्थान 'करुणा' ले-लेती है। यही 'प्रस्कण्व'=मेधावी बनना है।

भावार्थ—मेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का उदय हो—जिससे काम-क्रोध आदि तारों की चमक शान्त हो जाए।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान का प्रसार

६३४. अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा॥ ८॥

प्रस्कण्व स्वयं ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान का प्रकाश औरों तक पहुँचाता है। इसका जीवन व इसकी वाणियाँ औरों को प्रभु का प्रकाश प्राप्त कराती हैं। **अस्य**=इस मन्त्र के ऋषि प्रस्कण्व की **केतवः**=(कित निवासे रोगापनयने च) उत्तम निवास की कारणभूत तथा रोगों को दूर करनेवाली **रश्मयः**=ज्ञान की रश्मियाँ—किरणें—**जनान् अनु**=लोगों का लक्ष्य करके **वि अदृश्रन्**=सब वस्तुओं को यथावत् दिखलाती हैं, अर्थात् प्रस्कण्व वेद में उपदिष्ट परमात्मा से दिये गये ज्ञान को लोगों में इस प्रकार प्रचारित करता है कि लोगों का निवास—रहने का ढङ्ग उत्तम होता जाए तथा वस्तुओं के यथावत् ज्ञान से उनका यथायोग करते हुए—उनके अतियोग व अयोग से बचते हुए—वे रोगों का शिकार न हों और परस्पर उनका व्यवहार ऐसा हो जैसा एक उत्तम नागरिक का होना चाहिए।

इस कण्व से दिये गये ज्ञान इस प्रकार के होते हैं **यथा**=जैसे **भ्राजन्तः**=दीप्त होती हुई **अग्नयः**=अग्नियाँ। दीप्त अग्नि जैसे सब मलों का विध्वंस कर देती हैं, इसी प्रकार इस प्रस्कण्व से प्रसारित ज्ञान की रश्मियाँ लोगों के मनों की मलिनताओं को नष्ट कर उन्हें पवित्र बना देती हैं। वह ज्ञान का प्रचार ही क्या जो हृदयान्धकार को नष्ट न करे?

भावार्थ—हम स्वयं प्रस्कण्व=प्रकृष्ट मेधावी बनकर ज्ञानरश्मियों को इस माधुर्य से फैलाएँ कि १. लोगों का निवास उत्तम हो, २. उनके रोग दूर हों, उनके मनों की मलिनताएँ ऐसे भस्म हो जाएँ जैसे चमकती अग्नि में कूड़ा-करकट भस्म हो जाता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रचारक व प्रचार का ढङ्ग (प्रकार)

६३५. तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमाभासि रोचनम्॥ ९॥

प्रभु इस कण्व से कहते हैं कि तू सूर्य तो बना है। अब हे **सूर्य**=ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाले! तुझे यह ध्यान करना है कि तू १. **तरणिः असि**=काम-क्रोधादि को तैर जानेवाला है। प्रचार-कार्य में—प्राजापत्य यज्ञ में—सैकड़ों प्रकार के लोगों से तेरा वास्ता पड़ेगा। कोई कुछ कहेगा और कोई कुछ, तुझे क्रोध में नहीं आना। २. **विश्वदर्शतः**=तुझे सबका देखनेवाला बनना है, कभी अपने में ही केन्द्रित न हो जाना। तेरा आदर्श दुःखतप्त प्राणियों का आर्तिनाशन हो। तू लोकहित में आनन्द लेनेवाला बनना। ३. **ज्योतिः कृत् असि**=लोकहित के दृष्टिकोण से तू ज्ञान की ज्योति को चारों ओर फैलाना। अज्ञानग्रस्त व्यक्ति ही सब प्रकार के कष्टों के भाजन होते हैं। अविद्या सब कष्टों की जननी है, अतः इस अविद्या के नाश के लिए तुझे सदा यत्नशील होना है। ४. परन्तु इस बात को न भूलना कि तू **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार को—सभी लोगों को—**रोचनम्**=बड़े रुचिकर ढङ्ग से, किसी प्रकार की कड़वाहट के

बिना--बड़ी मधुरता से **आभासि**=दीप्त करता है। उपदेश में बड़ी मधुर व श्लक्ष्ण (smooth) वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

भावार्थ--ज्ञान के प्रचार में मधुर वाणी का ही प्रयोग करना चाहिए।

ऋषि:--**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता--**सूर्यः**॥ छन्दः--**गायत्री**॥ स्वरः--**षड्जः**॥

प्रभु के दर्शन के लिए उपाय-त्रयी

६३६. प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्। प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे॥ १०॥

हे प्रस्कण्व तू १. **देवानां विशः**=देव-प्रजाओं की **प्रत्यङ्**=ओर जाता हुआ **उदेषि**=उदय को प्राप्त होता है--अपने जीवन को उन्नत करता है। मनुष्य को यही चाहिए कि वह प्रतिदिन दिव्य गुणोंवाले लोगों को अपना लक्ष्य बनाकर अपने जीवन को अधिकाधिक दिव्य बनाने का प्रयत्न करे। अपने में दैवी सम्पत्ति का अवतारण ही मनुष्य का चरम उद्देश्य है। २. हे प्रस्कण्व! तू **मानुषान्**=जो मनुष्य हैं--human--दयालु हैं--जिनमें क्रूर राक्षसीवृत्ति नहीं है, उनकी **प्रत्यङ्**=ओर जाता हुआ **उदेषि**=अपने जीवन को उन्नत करता है। 'दया' वह गुण है जो मनुष्य को मनुष्य बनाती है। यही गुण मनुष्य को परमेश्वर के समीप प्राप्त कराता है। ३. हे प्रस्कण्व! तू अपने जीवन को दिव्य तथा दयालु बनाकर **विश्वम्**=संसार के सभी प्राणियों के **प्रत्यङ्**=प्रति जानेवाला बन। सभी के दुःखों को दूर करने के लिए तुझे सचेष्ट होना चाहिए। ये ही गुण तुझे **स्वर्दृशे**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योतिर्मय प्रभु के दर्शन के योग्य बनाएँगे।

भावार्थ--प्रभु का दर्शन उसी को होता है जो १. अपने अन्दर दिव्यता को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हो, २. दयालु बने तथा ३. मानवहित के लिए सदा प्रयत्नशील हो।

ऋषि:--**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता--**सूर्यः**॥ छन्दः--**गायत्री**॥ स्वरः--**षड्जः**॥

प्रभु कौन-सी आँख से दीखता है?

६३७. येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि॥ ११॥

प्रभु प्रस्कण्व से कहते हैं--हे **पावक**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले! **वरुण**=अपने को व्रतों के बन्धनों में बाँधनेवाले (पाशी) और इस प्रकार अपने को श्रेष्ठ बनानेवाले प्रस्कण्व! **त्वम्**=तू **येन**=जिस **चक्षसा**=दृष्टि से **जनान् अनुपश्यसि**=मनुष्यों के हित का ध्यान करता है (looks after=अनुपश्यसि), उसी दृष्टि से तू **भुरण्यन्तम्**=सभी के भरण करनेवाले उस प्रभु को **पश्यसि**=देख पाता है। जिस दृष्टि से तू लोकों के हित का ध्यान करता है, वही दृष्टि तुझे प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है। 'अनु'='पीछे' यह शब्द स्पष्ट कर रहा है कि पहले 'लोकहित' और पीछे 'प्रभु-दर्शन'। यदि मनुष्य लोकहित में प्रवृत्त नहीं होता तो वह प्रभु-दर्शन भी नहीं कर पाता।

इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह प्रभु को 'भुरण्यन्तम्'=पालन करनेवाले के रूप में देखता है और अनुभव करता है कि भरण तो सभी का प्रभु कर रहे हैं। मैं तो बीच में निमित्तमात्र बनता हूँ। इस निमित्त बन सकने के लिए आवश्यक है कि १. मैं पावक बनूँ--अपने जीवन को पवित्र बनाऊँ और २. वरुण बनूँ--व्रतों के बन्धनों में अपने को बाँधकर

अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाऊँ। वरुण 'प्रचेताः' है—प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनकर मैं वरुण बनूँगा और तब निष्कामभाव से लोकहित में प्रवृत्त हुआ-हुआ प्रभु-दर्शन कर पाऊँगा।

भावार्थ—लोकहित का ध्यान करनेवाली दृष्टि ही प्रभु का दर्शन कराती है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सबके हित को देखनेवाला

६३८. उद् द्यामेषि रजः पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः। पश्यञ्जन्मानि सूर्य॥ १२॥

प्रस्कण्व अपने को ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनाने का प्रयत्न करता है। वह ज्ञान से सूर्य की भाँति चमकने लगता है और ज्ञान को सूर्य की भाँति निरन्तर सरणशील, क्रियाशील भी बनाता है। जैसे यह सूर्य द्युलोक में उदित होता है उसी प्रकार हे प्रस्कण्व! तू भी १. **द्याम् उत् एषि**=इस मस्तिष्करूप द्युलोक में उदय को प्राप्त होता है, अर्थात् तू अपने ज्ञान को अधिक और अधिक बढ़ाता चलता है। इस ज्ञान-विस्तार के परिणामरूप ही तू २. **पृथुरजः**=इस विस्तृत हृदयान्तरिक्ष में उदित होता है, अर्थात् तू अपने हृदय को विशाल बनाता है। ३. तू **अक्तुभिः**=ज्ञान की रश्मियों के द्वारा अपने जीवन के **अहा**=दिनों को **मिमानः**=उत्तम बनानेवाला होता है। 'सुदिनत्वमह्नाम्'='मुझे दिनों का शोभनत्व प्राप्त हो' यह प्रार्थना तेरे जीवन में क्रियात्मकरूप धारण करती है।

एवं, मस्तिष्क को दीप्त, हृदय को विशाल और प्रकाश से दिनों को उत्तम बनाता हुआ तू **जन्मानि**=जन्म धारण करनेवाले सब प्राणियों को **पश्यन्**=देखनेवाला होता है—उन सबके हित का ध्यान करता है। जैसे सूर्य अपने लिए थोड़े ही चमकता है? वह लोगों को प्रकाश देने के लिए अपने मार्ग पर निरन्तर चल रहा है, इसी प्रकार तू भी लोकहित के लिए क्रियाशील हो रहा है—और इस प्रकार तू सचमुच ही सूर्य है।

भावार्थ—मस्तिष्क को उज्ज्वल, हृदय को विशाल व दिनों को शुभ बनाता हुआ मैं लोकहित में प्रवृत्त रहूँ।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सात घोड़ों को जोतना

६३९. अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः। ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः॥ १३॥

अपने मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से उज्ज्वल करनेवाला यह **सूरः**=विद्वान् **रथस्य**=शरीररूप रथ के **नप्त्यः**=न गिरने देनेवाले—पतन की ओर न ले-जानेवाले—और **शुन्ध्युवः**=शोधन करनेवाले **सप्त**=सात अश्वों को **अयुक्त**=जोड़ता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सात घोड़े हैं जो इस शरीररूप रथ को आगे और आगे ले-चलते हैं। वश में किये हुए ये पतन के कारण नहीं बनते और मनुष्य का जीवन शुद्ध बना रहता है। इसी उद्देश्य से **सूरः**=विद्वान्—समझदार व्यक्ति इन्हें उस प्रभु में लगाने का प्रयत्न करता है। **ताभिः**=उन इन्द्रियों को **स्वयुक्तिभिः**=(स्व=आत्मा) आत्मा में लगाने की प्रक्रिया से यह समझदार (प्रस्कण्व) व्यक्ति **याति**=उस प्रभु को प्राप्त करता है। आत्मा में इन्हें लगाने पर ये पतन के कारण भी नहीं होते और हमारे जीवन को शुद्ध बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—मैं इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आत्मा में समाविष्ट करने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु–मन्दिर में पहुँचना

६४०. सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षण॥ १४॥

वह व्यक्ति जो इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आत्मा में संयुक्त करने का प्रयत्न करता है, पतन की ओर न जाकर शुद्ध बनता हुआ दिव्य गुणों से युक्त होकर 'देव' बनता है। विशेष दृष्टिकोणवाला होने से 'विचक्षण' होता है, लोकहित के लिए निष्कामभाव से क्रियाशील होने के कारण 'सूर्य' होता है। ज्ञानरश्मियों की दीप्ति के कारण यह 'शोचिष्केश' कहलाता है।

मन्त्र में कहते हैं कि हे **देव! सूर्य! विचक्षण! शोचिष्केशम्**=दीप्त ज्ञानरश्मिवाले **त्वा**=तुझे **रथे**=इस शरीररूप रथ में **सप्त हरितः**=ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप सात घोड़े **वहन्ति**=उस प्रभु की ओर ले–चलते हैं। यह जीव अपने अन्दर उस प्रभु की प्रभा को देखता है। उसे अपने शरीररूप रथ का नियन्ता वह प्रभु ही प्रतीत होता है। इन्द्रियरूप घोड़े 'हरितः' हैं—हरण करनेवाले हैं। इन्हें हम वश में करने का प्रयत्न करते हैं तो ये हमें उस प्रभु को प्राप्त कराते हैं। अवशीभूत होने पर हमें विषयों में जा फँसाते हैं। 'प्रस्कण्व' को ये प्रभु को प्राप्त कराते हैं। इस प्रस्कण्व की वृत्ति दैवी होती है न कि दानवी। 'इसके ज्ञान पर कभी काम का आवरण नहीं आता', अतः यह 'शोचिष्केश' कहलाता है।

भावार्थ—मेरे इन्द्रियरूप सात घोड़े मुझे प्रभु को प्राप्त कराएँ।

सामवेद–संहितायां पूर्वार्चिकः समाप्तः

अथ महानाम्न्यार्चिकः

इन मन्त्रों के ऋषि प्रजापति हैं—देवता इन्द्र है।

मार्ग का ज्ञान व मार्ग पर चलने की शक्ति

६४१. विदा मघवन्विदा गातुमनुशंसिषो दिशः।
शिक्षा शचीनां पते पूर्वीणां पुरूवसो॥ १॥

इन्द्र=जीव प्रजापति से कहता है—हे **मघवन्**=सर्वैश्वर्यशालिन् प्रजापते! आप पापशून्य हैं (मा+अघ=मघ), अपापविद्ध हैं। **विदा**=आप सर्वज्ञ हैं। **विदा गातुम्**=आप मुझे भी मार्ग का (गा=गतौ) ज्ञान दीजिए। आपकी कृपा से मुझे सत्यासत्य व कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक प्राप्त हो। **दिशः अनुशंसिषाः**=इस जीवन-यात्रा में मुझे कब किस दिशा में चलना है इसका आप अनुशंसन कीजिए। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास इन चार प्रयाणों के कर्त्तव्यों का आप मुझे क्रमशः उपदेश दीजिए।

इस मार्ग-ज्ञान के साथ मुझे शक्ति भी दीजिए कि मैं इस मार्ग पर चल सकूँ। हे **पुरूवसो**=पालन व पूरण के द्वारा उत्तम निवास करानेवाले प्रभो! आप **पूर्वीणां शचीनां पते**=पालक व पूरक शक्तियों के पति हैं। मुझे भी आप अपने ही समान **शिक्ष**=शक्त बनाने की इच्छा कीजिए। संसार में मेरी शक्ति सदा पालन व पूरण करनेवाली हो।

'इन्द्रियों को निर्बल करके वश में करना' यह विचार वेदानुकूल नहीं है। हमारी इन्द्रियाँ शक्तिशाली हों, परन्तु हमारे मन का उनपर नियन्त्रण हो। सशक्त घोड़ों पर चढ़नेवाले सवार हम सशक्ततर हों।

भावार्थ—मार्ग के ज्ञान के लिए हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक हों और ठीक मार्ग पर चलने के लिए हमारी कर्मेन्द्रियाँ सशक्त हों।

सूर्य-किरणों के समान

६४२. आभिष्ट्वमभिष्टिभिः स्वा३ऽन्नांशुः। प्रचेतन प्रचेतयेन्द्र द्युम्नाय न इषे॥ २॥

'अभिष्टि' शब्द Attack=आक्रमण का वाचक है। आक्रमण मार्ग का भी होता है। प्रजापति इन्द्र से कहते हैं कि तू अपने जीवन-यात्रा के चारों प्रयाणों में 'पठन, पालन, पाठन व प्रचार' के पगों को ठीक रखता चला तो **आभिः त्वम् अभिष्टिभिः**'=तू इन मार्ग के आक्रमणों से **स्वः अंशुः न**=सूर्य-किरण के समान चमकनेवाला बनेगा—इतनी अधिक तेरी शोभा होगी, अतः **प्रचेतन**=हे प्रकृष्ट चेतनावाले जीव! तू **प्रचेतय**=चेत, होश में आ। मोहमयी प्रमाद-मदिरा को पीकर उन्मत्त न बना रह। तू **'इन्द्र'** है—मैंने तुझे इन्द्रियों का स्वामी बनाया है—तू इन्द्रियों का दास न बनना। **द्युम्नाय**=तुझे संसार में ज्योति प्राप्त करने के लिए भेजा गया है **न इषे**=केवल अन्न के लिए नहीं भेजा गया। शरीर-यात्रा के लिए भोजन करते हुए तू जीवन का लक्ष्य ज्ञान-प्राप्ति को ही समझना।

'**न इषे**' का सन्धि-छेद 'नः इषे' भी हो सकता है। तब भावना यह होगी कि तुझे हमने **नः**=हमारी प्रजा को **इषे**=उत्तम प्रेरणा देने के लिए भेजा है। ज्ञान प्राप्त करके तूने अपने जीवन से औरों को भी उत्तम प्रेरणा देनी है।

भावार्थ—हम खाने-पीने की दुनिया में ही न रमे रह जाएँ, ज्ञान प्राप्त करें।

शक्ति व दान

६४३. एवा हि शक्रो राये वाजाय वज्रिवः।
शविष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जस आ याहि पिब मत्स्व॥ ३॥

गत मन्त्र में प्रभु ने जीव से कहा था कि **द्युम्नाय न इषे**=तुझे ज्ञान-दीप्ति के लिए भेजा गया है न कि खाने-पीने के लिए। अब प्रभु कहते हैं कि **एवाहि**=निश्चय से इसी मार्ग पर चलने से ही तू **शक्रः**=शक्तिशाली बनेगा। खाने-पीने को जीवन का लक्ष्य बना देने पर तो तू भोगों में फँसकर जीर्णशक्ति हो जाएगा। यह ज्ञान का मार्ग ही तुझे **राये**=उस धन के लिए ले-चलेगा जो सदा लोकहित के लिए दिया जाता है। यही मार्ग **वाजाय**=तुझे शक्ति-सम्पन्न बनानेवाला होगा। उस दिन तू सचमुच वज्रतुल्य देहवाला होकर '**वज्रिवः**'=इस सम्बोधन के योग्य होगा।

प्रभु इस वज्रतुल्य देहवाले जीव से कहते हैं कि तू **वज्रिन्** और **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिशाली बनकर **ऋञ्जसे**=मेरी आराधना करता है। **मंहिष्ठ वज्रिन् ऋञ्जसे**=तू खूब दाता व वज्रतुल्य बनकर ही मुझे अलंकृत करता है—तू मेरा सच्चा पुत्र होता है। एवं, प्रभु की आराधना 'शक्तिशाली बनकर, दानशील बनने में ही है। प्रभु जीव से कहते हैं कि—**आयाहि**=आ, इधर-उधर मत भटक। नाना प्रकार की वासनाओं में भटकने की बजाए अपनी बुद्धि को समाहित कर। इस प्रकार तू अपने में शक्ति का **पिब**=पान कर और इस शक्ति को अपने अन्दर ही खपाकर **मत्स्व**=आनन्द का लाभ कर।

भावार्थ—हम शक्तिशाली व उत्तम दाता बनकर प्रभु के उपासक बनें।

वीर्यवान् ही दाता बनता है

६४४. विदा राये सुवीर्यं भवो वाजानां पतिर्वशाँ अनु मंहिष्ठ
वज्रिन्नृञ्जसे यः शविष्ठः शूराणाम्॥ ४॥

राये=उस ऐश्वर्य के लिए जिसे हम उदार मनोवृत्ति से लोकहित के लिए दे डालते हैं (रा-दाने) **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **विदा**=प्राप्त कर। प्रभु के इस वाक्य को सुनकर जीव प्रश्न करता है इस शक्ति को प्राप्त कैसे करूँ? प्रभु उत्तर देते हैं कि तू **वशान् अनु**=संयमी—जितेन्द्रिय=वशी लोगों के पीछे चलता हुआ **वाजानां पतिः भवः**=शक्तियों का पति बन। जितेन्द्रियता ही शक्तिसम्पन्न बनने का एकमात्र मार्ग है। यह शक्तिसम्पन्न पुरुष अपने शरीर को वज्रतुल्य बनाकर 'मंहिष्ठ' कहलाया है। यह **वज्रिन् मंहिष्ठ ऋञ्जसे**=प्रभु की सच्ची आराधना करता है **यः**=जो **शूराणाम् शविष्ठः**=शूरों में भी शूरतम है। वस्तुतः बिना शूरता के दानशूरता भी हममें आती नहीं। निर्बल व्यक्ति कृपण मनोवृत्ति का बन जाता है।

वह धन का त्याग करके प्रभु का आराधक बने यह उसके वश की बात नहीं रहती।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बन शक्ति का सम्पादन करें।

दाता ही चमकता है

६४५. यो मंहिष्ठो मघोनामंशुर्न शोचिः। चिकित्वो अभि नो नयेन्द्रो विदे तमु स्तुहि॥ ५॥

यः=जो **मघोनाम्**=ऐश्वर्यशालियों में **मंहिष्ठः**=सर्वाधिक दान देनेवाला है, वही **अंशुः न**=सूर्य-किरणों के समान **शोचिः**=चमकवाला होता है। धन स्वयं चमकीला है—इसकी चमक से मनुष्य मुग्ध होकर इसे जुटाने में जुट जाता है। इसे जुटाकर वह अपनी चमक को मध्यम कर लेता है। उससे सत्य का स्वरूप छिप जाता है। कृपण धनी की क्या संसार में कोई शोभा रहती है? हाँ, धनी बनकर यदि वह खूब देनेवाला बनता है तो वह चमकने लगता है। **'जुहोत प्र च तिष्ठत'**=दान दो और शोभा पाओ। दान के अनुपात में ही शोभा बढ़ती है। यह दातृतम बनता है और सूर्य-किरणों के समान चमकने लगता है।

अब यह प्रकृति के पीछे भागते रहने को ठीक नहीं समझता और प्रार्थना करता है कि हे **चिकित्वः**=ज्ञान-सम्पन्न गुरो! **नः**=हमें **अभिनय**=धर्म के मार्ग की ओर ले-चलो। इसकी इस प्रार्थना पर गुरु उसे कहते हैं कि **इन्द्रः**=प्रभु ही **विदे**=ज्ञानी हैं **तम् उ स्तुहि**=उसकी ही स्तुति करो। मुझे प्रभु जितना मार्ग दिखाएँगे, मैं तो उतना ही तुम्हारा पथप्रदर्शन कर पाऊँगा, अन्त में सभी के मार्ग-दर्शक वे प्रभु ही हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम उत्तम मार्गदर्शक पाकर धनों की ममता से ऊपर उठें।

द्वेष से दूर

६४६. ईशे हि शक्रस्तमूतये हवामहे जेतारमपराजितम्।
स नः स्वर्षदति द्विषः क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत्॥ ६॥

ईशे हि=जो निश्चय से अपना ईश होता है—अपनी इन्द्रियों का स्वामी होता है, वही **शक्रः**=शक्तिशाली बनता है, समर्थ होता है तथा प्रत्येक कार्य में सफलता लाभ करता है। ऐसे ही **जेतारम्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतनेवाले तथा **अपराजितम्**=कभी भी कामादि से पराजित न होनेवाले **तम्**=उस राजा को **ऊतये**=रक्षा के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। मन्त्र के इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि राजा जितेन्द्रिय होना चाहिए। बिना जितेन्द्रियता के वह राज-कार्य में सफल नहीं हो सकता। यदि वह काम-क्रोधादि को नहीं जीत सकता तो प्रजा के मनों को भी क्या जीतेगा?

सः=वह राजा **नः**=हमें **द्विषः**=सब द्वेष-भावनाओं से **अतिस्वर्षत्**=पार ले-जाए। राजा का मूल कर्त्तव्य यह है कि वह प्रजाओं में प्रेम का संचार करे, जिससे वे एक-दूसरे की उन्नति में सहायक हों।

राजा की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह—

१. **क्रतुः**=दृढ़-संकल्पवाला हो। ढिलमिल स्वभाववाला व्यक्ति शासन में कभी सफल नहीं हो सकता।

२. **छन्दः**=राजा वेद का ज्ञाता हो। वेद के छन्द उसे सदा पाप से बचानेवाले हों

(छन्दांसि छादनात्)।

३. **ऋतम्**=उसका जीवन ऋत का पालन करनेवाला हो। वह सूर्य और चन्द्रमा की भाँति अपने जीवन में नियमित गतिवाला हो।

४. **बृहत्**=यह बढ़े हुए मनवाला हो। इसका हृदय संकुचित भावनाओंवाला न हो। अन्यथा यह विविध मनोवृत्तिवाली प्रजाओं में सबके साथ पक्षपातशून्य बर्ताव न कर सकेगा।

भावार्थ—राजा स्वयं जितेन्द्रिय हो तथा प्रजाओं को परस्पर द्वेष की भावना से दूर रक्खे।

प्रजापति का कर्त्तव्य

६४७. इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे जेतारमपराजितम्।
स नः स्वर्षदति द्विषः स नः स्वर्षदति द्विषः ॥ ७ ॥

६४८. पूर्वस्य यत्ते अद्रिवोंऽ शुर्मदाय। सुम्न आ धेहि नो वसो पूर्तिः शविष्ठ शस्यते।
वशी हि शक्रो नूनं तन्नव्यं संन्यसे ॥ ८ ॥

१. शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला, बलयुक्त कर्मों को करनेवाला, ऐश्वर्यशाली राष्ट्र का शासक 'इन्द्र' कहलाता है। इसका प्रथम कर्त्तव्य इन शब्दों में सूचित हुआ है कि **इन्द्रम्**=राजा को **धनस्य**=धन के **सातये**=उचित संविभाग के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। जिस राष्ट्र में धन कुछ व्यक्तियों में केन्द्रित हो जाता है, वह राष्ट्र उसी प्रकार रोगी हो जाता है जिस प्रकार वह शरीर जिसमें रुधिर किसी एक अङ्ग में इकट्ठा हो जाए। राजा धन को एक स्थान पर केन्द्रित न होने दे।

२. **जेतारम्**=उस राजा को पुकारते हैं जो विजयशील है, **अपराजितम्**=कभी पराजित नहीं होता। राजा स्वयं तो व्यसनी होना ही नहीं चाहिए, वह राष्ट्र के बाह्य शत्रुओं का भी अभिभव कर सके। प्रजा विजेता का ही साथ देती है।

३. **सः**=वह राजा **नः**=हमें **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से **अति**=परे **सु-अर्षत्**=उत्तमता से प्राप्त कराए। राष्ट्र में धर्म के नाम पर परस्पर घृणा प्रजा के लिए विनाशकारी है, राष्ट्र को निर्बल करनेवाली है। Secular state का अभिप्राय यही है कि वह प्रभु की उपासना के प्रकारविशेष पर बल देनेवाली न हो।

४. **पूर्वस्य**=(पर्व पूरणे) राष्ट्र में शिक्षा भरनेवाले हे **अद्रिवः**=वज्रवाले राजन्! **यत्**=जो **ते**=तेरी **अंशुः**=ज्ञानकिरण है—ज्ञान का सर्वत्र प्रसारण है, यह **मदाय**=राष्ट्र के वास्तविक हर्ष का कारण बनती है। राष्ट्र का कोई व्यक्ति अशिक्षित न रह जाए इस बात के लिए राजा को व्यवस्था करनी है। जो माता-पिता शिक्षा के योग्य बालकों को शिक्षणालयों में न भेजें वे दण्डनीय हों। 'अद्रिवः' शब्द राजा के हाथ में वज्र देकर यही सूचित कर रहा है।

५. हे **वसो**=उत्तम ढङ्ग से प्रजा को बसानेवाले राजन्! **नः**=हम सबको **सुम्ने**=सुम्न में **आधेहि**=सर्वथा स्थापित कीजिए। सुम्न शब्द का प्रथम अर्थ है—**सु**=उत्तम **म्न**=अभ्यास, उत्तम ज्ञान की प्राप्ति। इसका दूसरा अर्थ Hymn=स्तोत्र व प्रभुस्तवन है और तीसरा यह आनन्द का वाचक है। राजा को चाहिए उसकी प्रजा ज्ञानयुक्त होकर प्रभु की स्तुति करनेवाली बने और इस प्रकार आनन्द का लाभ करे।

६. **शविष्ठ**=हे गतिशील व शक्तिशाली राजन्! **पूर्तिः**=प्रजा का पालन व पूरण ही **शस्यते**=तेरा प्रशंसित कर्म है। तूने उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था के द्वारा प्रजा को पूर्णता की ओर ले-चलना है। उनका शरीर स्वस्थ हो, मन निर्द्वेष हो, बुद्धि प्रकाशमय हो।

७. **वशी**=जो स्वयं अपने पर काबू कर प्रजाओं को भी वश में कर सकता है **हि**=निश्चय से वही **शक्रः**=समर्थ होता है—शासन-व्यवस्था चला पाता है। एवं, राजा को स्वयं व्यसनों से अवश्य ऊपर उठना चाहिए।

यदि राजा इस प्रकार राष्ट्र का शासन करता हुआ अपने इन कर्त्तव्यों का पालन करता है **तत्**—तो वह **नूनम्**=(न ऊनम्) पूर्ण तथा नव्यं (नु स्तुतौ) प्रशंसनीय **संन्यसे**=प्रभु की पूजा करता है। राजा की सच्ची प्रभु-पूजा यही है कि वह उपर्युक्त राज-कर्त्तव्यों में लगा रहे। (O king this is your perfect and praiseworthy worship.)

सबके साथ स्नेह करनेवाला व सत्यवादी (Benevolent and upright)

६४९. प्रभो जनस्य वृत्रहन्त्समर्येषु ब्रवावहै।
शूरो यो गोषु गच्छति सखा सुशेवो अद्वयुः ॥ ९ ॥

परमात्मा तो प्रभु हैं ही। वैदिक साहित्य में राजा भी परमात्मा का प्रतिनिधि होने से प्रभु कहलाता है। राजा को चारों वर्णों को स्वधर्म में स्थापित करना होता है। प्रभु सदा हृदयस्थ हो उत्तमं प्रेरणा द्वारा मनुष्यों की वासनाओं को नष्ट कर रहे हैं और राजा राष्ट्र में उत्तम व्यवस्था द्वारा वृत्रों का नाश करता है। मन्त्र में कहते हैं कि **प्रभो**=हे अनन्त प्रभाव-सम्पन्न ईश! **जनस्य वृत्रहन्**=लोकों के वृत्रों (वासनाओं) के विनाशक! आप ऐसी कृपा कीजिए कि हम दोनों (पति+पत्नी) **अर्येषु**=स्वामियों—जितेन्द्रियों में **संब्रवावहै**=बोले जाएँ, गिनती किये जाएँ, अर्थात् हम जितेन्द्रिय बनें। **शूरः**=शूरवीर वही है **यः**=जो **गोषु**=इन्द्रियों पर **गच्छति**=आक्रमण करता है (attack=आ+टेक=गतौ, आक्रमण में क्रम=गतौ) बाह्य शत्रुओं की विजय के स्थान में आन्तर शत्रुओं का विजय करनेवाला कहीं वीर है। 'इस वीर की परिभाषा क्या है? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र निम्न शब्दों में देता है १. **सखा**=यह सभी के साथ स्नेह करनेवाला, सभी के प्रति उत्तम हृदयवाला होता है। (Benevolent, Bene=good, volo=to wish) **सुशेवः**=उत्तम, सुखद कर्मों को करनेवाला होता है। (Beneficent, Bene=good, facie=to make) **अद्वयुः**=इसके जीवन में द्वैध (duplicity) नहीं होता। जो इसके मन में, वही वचन में, वही कर्म में। एवं, यह सत्य, सरल पथ का अनुसरण करता है।

क्या इन तीन विशेषताओं से विशिष्ट जीवन सुन्दरतम नहीं है? किसकी इच्छा न होगी कि इस प्रकार का जीवन बने। इसी से वह अगले मन्त्र में कहता है कि—

प्रभु व जीव का वार्तालाप

६५०. एवाह्योऽ३ऽ३ऽ३व। एवा ह्यग्ने। एवाहीन्द्र। एवा हि पूषन्। एवा हि देवाः ॥ १० ॥

हे प्रभो! मैं तो **एवा हि एव**=ऐसा ही बनूँगा। सखा, सुशेव और अद्वयु। ऐसा ही और ऐसा ही। जीव के ऐसे दृढ़ निश्चय को सुनकर प्रभु कहते हैं कि—ऐसा तो तुझे बनना ही चाहिए।

मनुष्य जीवन चार भागों में बँटा है—१. ब्रह्मचर्याश्रम में जीवन में अग्नि बनना है—आगे बढ़नेवाला व अग्नि के समान तेजस्वी २. गृहस्थ—यहाँ शतशः प्रलोभनों के होते हुए उसने इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने का प्रयत्न करना है, ३. वानप्रस्थ—इसमें उसे गृहस्थ में आ गयी थोड़ी-बहुत कमी को अपने को परमेश्वर से गुणित करके दूर करना है। फिर से अपना पोषण करने से यहाँ वह 'पूषन्' कहलाता है, ४. संन्यास—यहाँ वह सब सङ्गों को त्याग देता है, अपना जीवन भी लोकहित के लिए दे डालता है। दीपन, द्योतन व दान के कारण वह सचमुच 'देव' बन जाता है।

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **अग्ने!**=यदि तू प्रथमाश्रम में स्थित होने से अग्नि नामवाला है तो तू यही निश्चय कर कि **एवा हि**=ऐसा ही, अर्थात् 'सखा, सुशेव और अद्वयु' बनना है। यदि तू द्वितीयाश्रम में होकर इन्द्र उपाधिवाला हुआ है तो **एवा हि इन्द्र**=ऐसा ही बन। तृतीयाश्रम का **पूषन्** होकर भी **एवा हि**=ऐसा ही तुझे बनना है और चौथे आश्रम में **देव** पदवीवाला होकर भी तूने ऐसा ही बनना। जिस किसी भी आश्रम में होना, तेरा लक्ष्य यही हो 'सखा, सुशेवः, अद्वयुः'। इन्हीं तीन शब्दों का तूने जप करना, इन्हीं का चिन्तन और इन्हीं को अपने जीवन में अनूदित करने के लिए तेरा सारा प्रयत्न हो।

यहाँ तीन बार ३ का अंक यह संकेत करता है कि ये तीनों बातें समवेतरूप में ही तेरे अन्दर हों, तीनों ही आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम अर्य बनें, शूर हों, सखा, सुशेव व अद्वयु बनना हमारा आदर्श हो। हम दृढ़ निश्चय करें कि ऐसा ही बनना है।

इति महानाम्न्यार्चिकः समाप्तः

इति सामवेदभाष्ये पूर्वार्चिकः समाप्तः॥

ओ३म्

सामवेदभाष्यम्

(द्वितीयो भागः)

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

सम्पादक :

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट

हिण्डौन सिटी (राज०) ३२२२३०

श्री गोविन्दार्यजी 'निशात', ई-८/४१, भरतनगर, शाहपुरा, भोपाल (म०प्र०) द्वारा प्रदत्त पचास सहस्र की धरोहर राशि के अंशदान द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशक	:	श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी (राजस्थान)
संस्करण	:	प्रथम, १ जनवरी, २००५ श्री प्रहलादकुमार आर्य जन्मदिवस
विक्रमसंवत्	:	२०६१
मूल्य	:	३५०/- रु० (दोनों भाग)
मुद्रक	:	राधा प्रेस कैलाशनगर, दिल्ली-३१

॥ ओ३म् ॥

सामवेदभाष्यम्

उत्तरार्चिकः

अथ प्रथमोऽध्यायः

अथ प्रथमः प्रपाठकः

प्रथमोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उन्नति का मार्ग

६५१. उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे। अभि देवाँ इयक्षते ॥ १ ॥

नरः=मनुष्यों को इस मन्त्र में '**नरः**' शब्द से स्मरण किया गया है। '**नृ नये**' धातु से बनकर यह शब्द 'अपने को आगे ले-चलने' की भावना को अभिव्यक्त कर रहा है। जिस मनुष्य में उन्नत होने की भावना दृढ़मूल है, वह 'नर' है। 'उन्नत होने के लिए क्या करना चाहिए।' इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र इन शब्दों में देता है कि **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **उपगायत**=उसके समीप उपस्थित होकर गायन करो। यह प्रभु की उपासना ही सब उन्नतियों का मूलमन्त्र है। प्रभु की उपासना करनी, क्योंकि १. **पवमानाय**=वे पवित्र करनेवाले हैं, २. **इन्दवे**=परमैश्वर्य-(ज्ञान)-शाली हैं (इदि परमैश्वर्ये), ३. **देवान् अभि इयक्षते**=देवों से सम्पर्क करानेवाले हैं (यज्=संगतीकरण)।

पवमान=यदि हम प्रभु की उपासना करेंगे तो वे प्रभु हमारे जीवनों को पवित्र बनाएँगे। प्रभु-स्मरण हमारी विषयोत्कण्ठा का विध्वंस कर हमारे जीवनों को पंकलिप्त नहीं होने देते। 'विषय' का अर्थ है विशेषरूप से बाँध लेनेवाला (षिञ् बन्धने)। इनका बन्धन वस्तुतः ही बड़ा प्रबल है। ये दुरन्त हैं, इनका अन्त करना कठिन ही है। ये 'अतिग्रह' अतिशयेन ग्रहण करनेवाले, पकड़ लेनेवाले हैं। प्रभु-स्मरण हमें इनकी पकड़ से बचाता है और इस प्रकार हम **अ-सित**=अबद्ध (न बँधे हुए) बनते हैं।

इन्दु=वे प्रभु ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले हैं, उपासक को भी वे यह परमैश्वर्य प्राप्त कराते हैं। पवित्र हृदय में ज्ञान का प्रकाश क्यों न होगा? जिसे किसी भी इन्द्रिय-विषय की तृष्णा ने नहीं सताया वही विद्या का सच्चा अधिकारी होता है। धन 'ऐश्वर्य' है, तो ज्ञानरूप धन 'परमैश्वर्य'। हम परमेश्वर की उपासना करेंगे तो वे प्रभु हमें पवित्र हृदय बना यह परमैश्वर्य प्राप्त कराएँगे। हमारे ज्ञानचक्षु खुल जाएँगे और हम तत्त्व के देखनेवाले (पश्यकः=कश्यपः) 'कश्यप' बनेंगे।

देवान्=इस ज्ञान की प्राप्ति का परिणाम हमारे अन्दर दैवी सम्पत्ति के विकास के रूप में होगा। उत्तरोत्तर दिव्य गुणों का सम्पर्क हममें बढ़ता जाएगा। इन दिव्य गुणों को अपने अन्दर लेनेवाले हम इस मन्त्र के ऋषि 'देवल' होंगे (ला=आदाने)।

भावार्थ—उपासना से हम पवित्र, ज्ञानी व दैवी सम्पत्तिवाले बनेंगे।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मधु के साथ पय का सेवन

६५२. अभि ते मधुना पयोऽथर्वाणो अशिश्रयुः। देवं देवाय देवयुः॥ २॥

अथर्वा=पिछले मन्त्र में उन्नति के मार्ग का उल्लेख था। जिस नर को जीवन के उद्देश्य का स्मरण रहता है वह इस मार्ग पर निरन्तर आगे और आगे बढ़ा चला जाता है। उद्देश्य विस्मरण होते ही हम पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं—डाँवाँडोल हो जाते हैं, परन्तु **ते**=वे उन्नति के लिए कटिबद्ध नर तो **अ-थर्वाणः**=डाँवाँडोल नहीं होते (थर्वतिः चरतिकर्मा—तत् प्रतिषेधः)। ये अथर्वा लोग **अभि**=क्या भौतिक व क्या आध्यात्मिक—दोनों स्तरों पर **मधुना पयः**=मधु के साथ पयस् का **अशिश्रयुः**=सेवन करते हैं।

मधु+पयस्=मधु शहद का नाम है, जो सब ओषधियों की सारभूत अत्यन्त सात्त्विक वस्तु है। पयस् ओप्यायी वृद्धौ=वृद्धि का साधनभूत दूध है। ताज़ा दूध तो साक्षात् अमृत ही है। इनका सेवन **आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**=हमारे अन्तःकरणों को शुद्ध बनाता है। **सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः**= अन्तःकरण की शुद्धि के परिणामरूप हमारी स्मृति ठीक बनी रहती है और हमें अपने जीवन का उद्देश्य भूलता नहीं। मधु का अभिप्राय 'वाणी के माधुर्य' से भी है, हमारी जिह्वा से कभी कोई कटु शब्द नहीं निकलता। **'जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्'** इस वेदवाक्य के अनुसार हमारा प्रत्येक शब्द स्नेह व माधुर्य से सना हुआ ही होता है। इस वाणी के माधुर्य के साथ-साथ सच्ची वृद्धि के साधनभूत पयस् (ओप्यायी वृद्धौ) ज्ञान का हम संचय करते हैं। यह ज्ञान हमारी इन्द्रियों को पवित्र बनाकर हमें मार्ग-भ्रष्ट नहीं होने देता। **'केतपूः केतं नः पुनातु'**=ज्ञान से पवित्र करनेवाला प्रभु हमारे ज्ञान को और दीप्त करे, परन्तु साथ ही **वाचस्पतिः वाचं नः स्वदतु**=वाचस्पति प्रभु हमारी वाणी को स्वादवाला बना दे। यही तो मधु+पयस् का सेवन है। **देवम्**=यह दिव्य भोजन है। मधु+पयस् देवताओं से सेवित हो 'देव' ही कहा जाने लगा। **देवाय**=यह दिव्य भोजन हमें उस महान् देव की प्राप्ति में सहायक होता है। **देवयुः**=यह भोजन हमें देवों के साथ (यु-मिश्रणे) मिलानेवाला है। इस भोजन के सेवन से हमारी दैवी सम्पत्ति का उचित विकास होगा।

भावार्थ—सात्त्विक भोजन—शहद, दूध आदि उत्तम पदार्थ हमें देव की प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पयस् के लिए गौ

६५३. स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते। शं राजन्नोषधीभ्यः॥ ३॥

पवित्रता—गत मन्त्र में अथर्वन् लोगों के सात्त्विक भोजन का संकेत हुआ है। उसी प्रसंग में प्रभु से इस मन्त्र में प्रार्थना है कि **सः**=वे आप **नः**=हमें **पवस्व**=पवित्र कीजिए। पवित्रता के लिए 'सात्त्विक भोजन' मौलिक वस्तु है, उसके बिना पवित्रता सम्भव ही नहीं। जब हमारा जीवन

पवित्र होगा तब हम इस प्रार्थना के अधिकारी बनेंगे कि **शं गवे**=हमारी गौवों के लिए शान्ति हो, **शं जनाय**=हमारे जनों के लिए शान्ति हो, **शम् अर्वते**=हमारे घोड़ों के लिए शान्ति हो।

गौ+घोड़े—यहाँ जन शब्द मध्य में है, उसके एक ओर गौ है और दूसरी ओर घोड़ा। गौ यदि मनुष्य का दाहिना हाथ है तो घोड़ा बाँया। मानव जीवन के ठीक विकास के लिए दोनों की ही आवश्यकता है। गौ अपने सात्त्विक दूध से मनुष्य की बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर उसकी बलवृद्धि में सहायक होती है। गौ मनुष्य में ब्रह्म की तथा अश्व क्षत्र की वृद्धि करता है और यह कह सकता है कि '**इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्**'=मेरे ब्रह्म और क्षत्र दोनों फूलें और फलें। यहाँ गौ शब्द 'गमयन्ति अर्थान्' (=अर्थों का ज्ञान कराती हैं) इस व्युत्पत्ति से ज्ञानेन्द्रियों का भी वाचक है और अर्वन् शब्द 'अर्व गतौ' से बनकर कर्मेन्द्रियों का नाम है। मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दोनों ही शान्त हों। इनकी शान्ति के लिए सात्त्विक भोजन के द्वारा पवित्रता का सम्पादन आवश्यक है।

वनस्पति भोजन—इस सात्त्विक भोजन का संकेत ऊपर 'मधु व पयः' शब्दों से हो चुका है। **पयः**=दूध, परन्तु दूध गौ का। गौ के दूध का संकेत इस मन्त्र के गवे शब्द से हो रहा है। इसके अतिरिक्त इस मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना है कि **राजन्**=हे (राजृ—दीप्तौ) दीप्त प्रभो! **ओषधीभ्यः**=ओषधियों से **शम्**=हमें शान्ति प्राप्त हो। वानस्पतिक भोजन करते हुए हम सदा शान्त स्वभाव के बनें। मांस-भोजन मनुष्य को क्रूर बना देता है। वनस्पति सात्त्विक है, मांस राजस् व तामस् है। वनस् का अर्थ Loveliness=प्रियता, सुन्दरता है। वानस्पतिक भोजन इस प्रियता को स्थिर रखता है।

यहाँ मन्त्रार्थ को समाप्त करते हुए यह लिख देना आवश्यक ही है कि ओषधीभ्यः को 'गवे', 'जनाय' आदि के साहचर्य से चतुर्थ्यन्त लेने का झुकाव होता है, परन्तु अर्थस्वारस्य के दृष्टिकोण से पंचम्यन्त लेना ही ठीक है। हमें इन ओषधियों से शान्ति प्राप्त हो—ये हमारे दोषों को जला दें।

भावार्थ—गोदुग्ध, मधु व ओषधियाँ सात्त्विक भोजन हैं। उनके सेवन से हमें शान्ति-प्राप्त हो।

सूक्त-२

ऋषिः—कश्यपो मारीचः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

कश्यप-मारीच

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २र

६५४. दविद्युतत्या रुचा परिष्टोभन्त्या कृपा। सोमाः शुक्रा गवाशिरः॥ १॥

'कश्यप' शब्द का अर्थ **पश्यकः**=तत्त्वद्रष्टा है। पश्यक शब्द ही वर्ण-विपर्यय से कश्यप हो गया है। यह औरों के अन्धकार को भी दूर करने के लिए प्रयत्नशील होता है। इससे ज्ञान की वे किरणमरीचियाँ चारों ओर फैलती हैं जोकि अज्ञानान्धकार को विलुप्त कर देती हैं। इन 'मरीचियोंवाला' होने के कारण ही यह 'मारीच' है और पूरा नाम 'कश्यप मारीच'। सूर्य प्रकाशमय है—औरों को प्रकाश देता है, इसी प्रकार यह भी 'कश्यप'=ज्ञानमय है—औरों तक ज्ञान की मरीचियों का पहुँचानेवाला 'मारीच' है। यह कैसे पता लगे कि यह व्यक्ति 'कश्यप मारीच' है? **दविद्युतत्या रुचा**=जगमगाती हुई दीप्ति से (रुच दीप्तौ) और **परिष्टोभन्त्या कृपा**=चारों ओर दुःखों का निवारण करते हुए सामर्थ्य से [स्तुभ्=to stop कृप्=सामर्थ्य]। कश्यप मारीच के दो लक्षण हैं, १. वह ज्ञान की दीप्ति से जगमगा रहा है और २. अपने उस ज्ञान के सामर्थ्य से कष्ट पीड़ित लोगों के कष्टों का निवारण कर रहा है। यह आर्तों की आर्ति का हाण कर रहा है। यह कश्यप मारीच है। क्यों? जगमगाने से और सन्तापहारी सामर्थ्य से।

यह मारीच कौन बन पाता है ? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र के उत्तरार्ध में इस प्रकार देते हैं कि—१. सोमा:, २. शुक्राः, ३. गवाशिरः । सबसे प्रथम वे व्यक्ति जो **सोमाः**=सौम्य, विनीत हैं वे कश्यप बनते हैं। विनीतता के बिना हृदयाकाश में ज्ञान-सूर्य का उदय नहीं होता। विनय विद्या देती है और विद्या विनय। अविनीतता व अहंकार अज्ञान का पर्याय है। दूसरे स्थान पर '**शुक्राः**' कश्यप बनते हैं (शुच्=पवित्रता)। जो व्यक्ति अपने सब कार्यों को शुद्ध करने का प्रयत्न करता है वह शुक्र है और यह शुक्र ही कश्यप मारीच बनता है। अन्त में हम **गवाशिरः** बनें। हम ज्ञानेन्द्रियों को 'आशृ'=चारों ओर से हिंसित करनेवाले, अर्थात् काबू करनेवाले बनें। ये इन्द्रियाँ विषयों में जाती हैं। मन उनका अनुविधान करता है और हमारी प्रज्ञा विनष्ट हो जाती है। कश्यप मारीच वही बन सकता है जोकि इन इन्द्रियों को वश में करे।

भावार्थ—विनीत, व्यवहारशुचि व जितेन्द्रिय बनकर हम कश्यप मारीच बनें।

ऋषिः—कश्यपो मारीचः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

कौन बनता है ?

६५५. हिन्वानो हेतृभिर्हित आ वाजं वाज्यक्रमीत्। सीदन्तो वनुषो यथा ॥ २ ॥

गत मन्त्र के उत्तरार्ध में 'कश्यप मारीच' कौन बनता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस रूप में दिया था कि सोम, शुक्र और गवाशिर, परन्तु पुनः प्रश्न उत्पन्न होता है कि सोम, शुक्र व गवाशिर भी कौन बन पाता है ? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार दिया गया है कि—

१. **हेतृभिः हिन्वानः**=(हि=to send forth, impel=प्रेरणा देना, भेजना) जीवन में प्रेरणा देनेवाला व्यक्ति 'हेता' कहलाता है, उन हेताओं से निरन्तर 'हिन्वानः' प्रेरणा दिया जाता हुआ व्यक्ति ही सौम्यतादि गुणों से सम्पन्न होता है। जिन्हें उत्तम प्रेरणा देनेवाले माता-पिता, आचार्य व अतिथि प्राप्त होते हैं, वे ही उत्तम मार्ग पर आगे और आगे बढ़ते हुए 'कश्यप-मारीच'=ज्ञानी बना करते हैं।

२. **हितः**=ज्ञानी वे बनते हैं जोकि माता-पिता आदि से सदा सन्मार्ग पर हित=निहित व स्थापित होते हैं। मनुष्य सदा त्रुटियाँ करता है, परिणामतः पग-पग पर मार्गभ्रष्ट होने का भय है। उस समय जो व्यक्ति इन गुरुओं से पुनः ठीक मार्ग पर स्थापित कर दिये जाते हैं, वे ही अन्त में 'कश्यप मारीच' की स्थिति को पाते हैं।

३. **वाजी वाजम् आ अक्रमीत्**=यह माता-पिता आदि से प्रेरणा पानेवाला व्यक्ति यदि **वाजी** (वज गतौ) क्रियाशील=active होता है तभी **वाजम्**=ज्ञान **आ अक्रमीत्**=प्राप्त करता है। क्रियाशील, पुरुषार्थी ही ज्ञान के मार्ग पर आगे बढ़ पाता है।

४. वे क्रियाशील व्यक्ति ही **यथा वनुषः**=(वन्=to win) विजेताओं की भाँति **सीदन्तः**=(सद्=to go, proceed=प्र+सद्) विघ्न-बाधाओं को पार करते हुए आगे बढ़ते चलते हैं।

कश्यप मारीच बनने के लिए माता-पिता आदि की प्रेरणा के साथ बालक व युवा में भी सहज क्रियाशीलता व पुरुषार्थ का होना आवश्यक है। न अकेली प्रेरणा कार्य कर सकती है, न अकेला पुरुषार्थ। प्रेरणा और पुरुषार्थ का समन्वय होते ही 'कश्यप मारीच' बन सकना सम्भव हो जाता है।

भावार्थ—हमें सदा गुरुओं की उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती रहे और पुरुषार्थ हमें कभी छोड़ न जाए।

ऋषिः—कश्यपो मारीचः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

कश्यप क्या करे ?

६५६. ऋधक्सोम स्वस्तये संजग्मानो दिवा कवे। पवस्व सूर्यो दृशे ॥ ३ ॥

इस मन्त्र में कश्यप के लिए तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं—१. **सोम**=विनीत। विनीत ही कश्यप बनता है और कश्यप बनकर वह और अधिक विनीत हो जाता है। २. **कवे**=क्रान्तदर्शिन्! गहराई तक जाकर वस्तु-तत्त्व को जाननेवाला ही कश्यप होता है। ३. **सूर्यः**=(षू प्रेरणे) तत्त्वज्ञानी बनकर यह सूर्य के समान औरों को भी प्रकाश प्राप्त कराता है। ऐसा करने से ही यह 'मारीच' बना है [मरीचियों]=ज्ञान-किरणोंवाला। इस प्रकार विनीत, क्रान्तदर्शी और दूसरों को भी प्रेरणा देनेवाला यह कश्यप **ऋधक्**=(ऋध=वृद्धौ) उत्तरोत्तर अपनी ज्ञान की सम्पत्ति को बढ़ाता है। **स्वस्तये**=ज्ञान को बढ़ाता हुआ **सु**=उत्तम **अस्ति**=existence=जीवन के लिए होता है। इसका जीवन परिमार्जित व परिष्कृत होता चलता है। इस परिष्कृत जीवन में यह **दिवा संजग्मानः**=अधिकाधिक प्रकाश से युक्त होता चलता है (दिव्=प्रकाश)। नये और नये प्रकाश से पूर्ण होता हुआ यह एक दिन **सूर्यः**=सूर्य के समान चमकने लगता है। यह ज्ञान की चरमावस्था है। यही 'ब्राह्मीस्थिति' है। ज्ञाननिष्ठ पुरुष! **पवस्व**=तू खूब क्रियाशील हो। जिससे **दृशे**=लोग भी उस ज्ञान के प्रकाश को देख सकें। औरों को प्रकाश देने के लिए तू सूर्य के समान गतिशील हो।

भावार्थ—ज्ञानी बनकर, हम औरों को ज्ञान देनेवाले बनें।

सूक्त-३

ऋषिः—शतं वैखानसाः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शतं वैखानसः

६५७. पवमानस्य ते कवे वाजिन्त्सर्गा असृक्षत। अर्वन्तो न श्रवस्यवः ॥ १ ॥

वि+खन्+असुन्=विखनस् से स्वार्थ में अण् आकर 'वैखानस' शब्द बना है। इसका अर्थ है—'विशेषरूप से खोद डालनेवाला।' मनुष्य के हृदय में स्वभावतः कुछ-न-कुछ वासनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और गृहस्थ का वातावरण तो उनकी उत्पत्ति के लिए अधिक अनुकूल होता है। इन वासनाओं का उखाड़ डालना ही एक वानप्रस्थ के जीवन का लक्ष्य होता है। ये वासनाएँ सैकड़ों हैं—इसी से यहाँ **शत**=सौ—यह विशेषण दिया गया है। शतशः वासनाओं से संघर्ष करके जब यह उन्हें उखाड़ डालता है, तब इसका जीवन पवित्र हो जाता है, इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **पवमानस्य**=सदा अपने को पवित्र करने के स्वभावाले हे वैखानस! **ते**=तेरे द्वारा ये **सर्गाः**=छोटी-छोटी सृष्टियाँ, अर्थात् निर्माणात्मक कार्य **असृक्षत**=रचे जाते हैं। 'एक वानप्रस्थ अपने को पवित्र कैसे बना सका' इस प्रश्न का उत्तर **कवे**=इस सम्बोधन में उपस्थित है। यह क्रान्तदर्शी है—यह वस्तुओं के ऊपरले पृष्ठ को ही देखकर लुब्ध हो जानेवाला नहीं है। एक कवि वस्तुतत्त्व को समझता हुआ उलझता नहीं और परिणामतः पवित्र जीवनवाला होता है। ज्ञान उसे नैर्मल्य प्राप्त करा देता है। ज्ञान से प्राप्त निर्मलता के कारण यह कभी विषय-प्रवण नहीं होता और इसी से इसकी शक्ति विकीर्ण नहीं होती। यह वाज=शक्ति-सम्पन्न बना रहता है। यही भावना यहाँ **वाजिन्**=इस सम्बोधन से व्यक्त हो रही है। इस प्रकार इस वैखानस का मन पवित्र होता है, बुद्धि सूक्ष्म तत्त्वज्ञान की साधिका होती है और शरीर व इन्द्रियाँ शक्ति-सम्पन्न होती हैं। शरीर, मन व बुद्धि तीनों दृष्टिकोणों से विकसित

होकर यह वैखानस जिन शिक्षणालय आदि संस्थाओं का निर्माण करता है, वे सब **सर्ग**=रचनाएँ **अर्वन्तः न**=अन्धकार के नाशक होते हैं (अर्व्—हिंसायाम्)। अज्ञानान्धकार के नाश के साथ **श्रवस्यवः**=(श्रवस्+यु) ज्ञान के प्रकाश से युक्त करनेवाले ये कार्य होते हैं (यु=मिश्रण)। एवं, यह बात स्पष्ट है कि वानप्रस्थ के सर्ग ज्ञान के प्रकाश को फैलाने के उद्देश्य से ही होते हैं।

भावार्थ—एक वानप्रस्थ अपने को पवित्र, तत्त्वद्रष्टा, शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए प्रयत्न करता है और लोकहित के लिए किसी-न-किसी अज्ञानान्धकार नाशक, ज्ञान-प्रसारक संस्था का निर्माण करता है।

ऋषिः—शतं वैखानसाः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मधुश्चुत् कोश

६५८. अच्छा कोशं मधुश्चुतमसृग्रं वारे अव्यये। अवावशन्त धीतयः ॥ २ ॥

'**वारयति इति वारः**' जो हमारी चित्तवृत्ति को वासनाओं से आक्रान्त होने से बचाता है, वह प्रभु 'वार' है। घोड़े की पूँछ के बाल जैसे मच्छर-मक्खी आदि को हटाते हैं, उसी प्रकार ये प्रभु भी हमसे वासनाओं को दूर करते हैं। **अश्वं न त्वा वारवन्तम्**=इस मन्त्रभाग में प्रभु को बालोंवाले घोड़े से उपमा दी गई है। ये प्रभु 'वार' हैं, वार भी कैसे? **अव्यये**=कभी नष्ट न होनेवाले। अनादिकाल से वे प्रभु हमारे हृदयस्थ होकर हमें वासनाओं से बचने की प्रेरणा दे रहे हैं। एक वानप्रस्थ इस **अव्यये वारे अच्छ**=अविनाशी वासना-निवारक प्रभु में स्थित होता हुआ—उसकी ओर अपनी चित्तवृत्ति को लगाता हुआ **कोशम्**=अपने अन्नमय आदि कोशसमूहों को **मधुश्चुतम्**=माधुर्य का टपकानेवाला **असृग्रम्**=बनाता है। उसका बोलना-चालना, आना-जाना, उठना-बैठना आदि सारे ही व्यवहार माधुर्य से भरे होते हैं। ये **धीतयः**=प्रभु का सतत ध्यान करनेवाले वानप्रस्थ **अवावशन्त**=प्रभु की निरन्तर कामना करते हैं, क्योंकि प्रभु का ध्यान उन्हें निर्मल बनाता है और इसी से वानप्रस्थ सभी में आत्मबुद्धि करते हुए मधुर व्यवहारवाले बनते हैं। सभी में ओत-प्रोत उस सूत्र को देखने से ये एकत्व का अनुभव करते हैं और राग-द्वेष से दूर हो जाते हैं।

भावार्थ—सतत प्रभुनिष्ठ हम अपने को माधुर्य का पुञ्ज बनाएँ। एक वानप्रस्थ के प्रत्येक व्यवहार से माधुर्य ही टपकना चाहिए।

ऋषिः—शतं वैखानसाः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

समुद्र की ओर

६५९. अच्छा समुद्रमिन्दवोऽस्तं गावो न धेनवः। अग्मन्नृतस्य योनिमा ॥ ३ ॥

मद्=का अर्थ है 'हर्ष'। र धातु का अर्थ है 'देना'। स=का अर्थ है—'साथ'। प्रभु सदा हर्ष प्राप्त करानेवाले हैं, अतः 'समुद्र' कहलाते हैं। ज्ञान, आनन्द आदि के गाम्भीर्य के कारण भी वे समुद्र से उपमित होते हैं। **इन्दवः**=(इदि परमैश्वर्ये) ज्ञान के परमैश्वर्यवाले लोग **समुद्रम् अच्छ**=उस प्रभुरूप समुद्र की ओर ही **अग्मन्**=जाते हैं, अर्थात् सदा उस प्रभु के ध्यान में लगे रहते हैं। कैसे? जैसे **धेनवः गावः**=नवप्रसूतिवाली गौवें **अस्तम् न**=बछड़े के प्रति उत्सुक होकर घर की ओर जाती हैं। गौ का ध्यान जिस प्रकार अपने बछड़े में ही होता है, उसी प्रकार एक वैखानस का मन भी प्रभु में ही लगा होता है। वे प्रभु **ऋतस्य योनिम्**=सत्य का उद्गम स्थान हैं। एक वानप्रस्थी सत्य के उद्गम

स्थान की ओर चलता हुआ अन्त में वहाँ पहुँच ही जाता है। ब्रह्म सत्यस्वरूप है, यह वानप्रस्थ उस प्रभु में स्थित हो जाता है। ब्रह्मनिष्ठ होकर (ब्रह्माश्रमी) संन्यासी बनने का अधिकारी हो जाता है।

भावार्थ—एक वानप्रस्थ सदा प्रभु-चिन्तन करता हुआ 'सत्य के उद्गम स्थान' ब्रह्म में स्थित होने का प्रयत्न करे।

सूक्त-४

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

भरद्वाज बार्हस्पत्य

६६०. अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ १ ॥

'भरद्वाज' वह व्यक्ति है जो अपने अन्दर शक्ति को भरता है। शक्ति का पुञ्ज बनना इसके जीवन का एक पहलू है और दूसरा पहलू यह कि यह 'बार्हस्पत्य' बनता है—बृहस्पति की सन्तान। 'बृहतो' वाक्, तस्याः पतिः=वेदवाणी का पति=ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी। शारीरिक दृष्टिकोण से शक्ति के और आत्मिक दृष्टिकोण से ज्ञान के द्वारा अपने जीवन को अलंकृत करके यह आदर्श पुरुष बन जाता है।

ऐसा आदर्श पुरुष बनने के लिए यह प्रभु का इस प्रकार आवाहन करता है। हे **अग्ने**=मुझे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **आयाहि**=आइए। क्यों? **वीतये**=मेरे हृदय के अज्ञानान्धकार को परे फेंक देने के लिए (वी असन=फेंकना)। सूर्य के समान आपके मेरे हृदय में उदय होते ही मेरा हृदय प्रकाश से जगमगा उठेगा, अन्धकार का वहाँ नामोनिशान भी न रहेगा। २. **गृणानः**=उपदेश देते हुए आप आइए। आपको हृदय में अनुभव कर मैं आपकी उपदेश देती हुई वाणी को सुन पाऊँगा, जिससे मुझे सदा पुण्य-पाप का ठीक विवेक होता रहे। ३. **हव्यदातये**=आप मेरे हृदय में विराजमान होंगे, तो मैं अपने जीवन को ही 'हव्य' बना डालूँगा और आप मेरे बन्धनों को काट डालेंगे। ४. **होता**=आप सब उत्तम पदार्थों के देनेवाले हैं (हु=देना)। हे प्रभो! मैं आपका आवाहन करता हूँ। आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे हृदयाकाश में विराजिए, परन्तु आप **निसत्सि**=निश्चय से उसी हृदय में बैठते हैं, जिसमें कि **बर्हिषि**=(उद् बृह्=उखाड़ना) वासनाओं को उखाड़कर हृदय-मन्दिर का परिमार्जन किया गया है।

भावार्थ—हम प्रभु का आवाहन कर अपने अज्ञान को नष्ट करें। उसके (आवाहन) स्वागत के लिए हृदय को पवित्र बनाएँ।

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

समिधाओं और घृत से

६६१. तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥ २ ॥

हे **अङ्गिरः**=हमारे अंगों के रसभूत प्रभो! **तं त्वा**=उस आपको हम **समिद्भिः**=समिधाओं से **वर्धयामसि**=बढ़ाते हैं। जैसे अग्निहोत्र में समिधाएँ डाली जाती हैं, उसी प्रकार उपासनायज्ञ की समिधाएँ अथर्व के '**इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति**' इस मन्त्र में 'पृथिवी, द्युलोक और अन्तरिक्ष' इस रूप में कही गयी हैं। पृथिवीस्थ पदार्थों का ज्ञान हमें अधिकाधिक प्रभु की महिमा को दिखलाता है। हिमाच्छादित पर्वतों के शिखर, समुद्र व मीलों-मील फैली मरुभूमि सभी प्रभु की महिमा का स्मरण कराते हैं। इसी प्रकार अन्तरिक्ष में उमड़ते हुए बादल व बहती हुई

पवनें प्रभु की याद दिलाती हैं, तो आकाश में चमकता हुआ सूर्य व बिखरे हुए तारे तो प्रभु की मानो स्तुति ही कर रहे हैं। इन सब पदार्थों के ज्ञान से हमारे मस्तिष्क में प्रभु की महिमा की छाप अधिकाधिक दृढ़रूप से अंकित हो जाती है। यही प्रभु का वर्धन है।

घृतेन=घृत के द्वारा प्रभु के ज्ञान की अपने अन्दर वृद्धि करने के लिए ज्ञानरूप समिधाओं के साथ घृत=मानसमल-क्षरण (घृ=क्षरण) की भी आवश्यकता है। ज्ञान-प्राप्ति के साथ हम अपने हृदयों को पवित्र बनाने का भी प्रयत्न करें। उज्ज्वल मस्तिष्क तथा पवित्र हृदय ये दोनों संगत होकर ही हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएँगे। अग्नि के वर्धन में घृत का जो स्थान है, वही प्रभु-दर्शन में मानसमल-क्षरण का। हम ज्ञान नैर्मल्य से प्रभु-दर्शन के लिए सन्नद्ध होंगे तो वे प्रभु हमें अधिक उज्ज्वल व निर्मल बना देंगे, अतः मन्त्र में कहते हैं कि—हे प्रभो! **बृहत् शोच**=खूब ही दीप्त कर दीजिए। सहस्रों सूर्यों की ज्योति के समान आपकी ज्योति उदित होने पर भी क्या अन्धकार रह सकेगा? **यविष्ठ्य**=आप राग-द्वेषादि मलों को हमसे पृथक् करनेवालों में सर्वोत्तम हैं (यु=पृथक् करना, इष्ठ)=सबसे अधिक।

भावार्थ—ज्ञान व नैर्मल्य (समिधा+घृत) से मैं प्रभु-दर्शन करके ज्ञानमय व निर्मल बन जाऊँ।

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

विस्तृत ज्ञानवर्धक शक्ति

६६२. स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि। बृहदग्ने सुवीर्यम् ॥ ३ ॥

हे **देव**=ज्योतिर्मय प्रभो! **सः**=आप **नः**=हमें **अच्छ**=सम्यक् तथा **पृथु**=विस्तृत **श्रवाय्यम्**=ज्ञान को **विवाससि**=(विवासयसि) विशेषरूप से धारण कराते हो और इस प्रकार **श्रवाय्यम्**=यज्ञ में बलि दे देने के योग्य काम-क्रोध आदि वासनारूप पशुओं को (कामः पशुः, क्रोधः पशुः=उप०) **विवाससि**=हमसे दूर भगा देते हो। ज्ञान का परिणाम वासना-विध्वंस होना ही चाहिए।

हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! हमें ज्ञान से पवित्र बनाकर वह **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति प्राप्त कराइए जोकि **बृहत्**=सभी दृष्टियों से हमारी वृद्धि का कारण बनती है। बिना शक्ति के गुणों का वास नहीं होता। वीरता ही वरता को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—ज्ञान और शक्ति को प्राप्त करके हम 'भरद्वाज-बार्हस्पत्य' बनें।

सूचना—'श्रवाय्यम्' शब्द के दो अर्थ हैं—१. ज्ञान और २. यज्ञ में बलि देने योग्य पशु। यहाँ मन्त्रार्थ में दोनों ही अर्थ लिये गये हैं। ज्ञान के द्वारा काम-क्रोधादि वासनारूप पशुओं का नाश हो जाता है। 'यज्ञ में उनकी बलि दे दी जाती है' इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि मनुष्य वासनाओं की बलि देकर ही यज्ञ में प्रवृत होता है।

२. 'विवाससि' शब्द के भी दो अर्थ हैं—१. धारण कराते हो और २. दूर=नष्ट करते हो (Vanish)। वे प्रभु ज्ञान को धारण कराकर वासनाओं को दूर करानेवाले हैं।

सूक्त-५

ऋषिः—विश्वामित्रो जमदग्निर्वा ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

विश्वामित्र गाथिन या जमदग्नि

६६३. आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥ १ ॥

'विश्वामित्र' विश्व का—सबका मित्र है। सभी के साथ इसका स्नेह है। यह सभी का (प्रमीति)=मृत्यु, हिंसा या पाप से त्राण करनेवाला है। किसी से द्वेष न करते हुए सभी के हित में प्रवृत्त रहना, इसके जीवन का उद्देश्य है। यह 'सर्वभूतहिते रतः' व्यक्ति ही प्रभु का सच्चा गायन करनेवाला है, अतः यह वस्तुतः 'गाथिन' है।

'जमद् अग्नि' 'खूब खानेवाली है अग्नि जिसकी' ऐसा यह जमदग्नि पूर्ण स्वस्थ शरीरवाला है। जाठराग्नि की मन्दता ही मनुष्य को अस्वस्थ कर देती है। सभी शारीरिक रोगों का मूल यही मन्दाग्नि है। जो व्यक्ति भोजनादि की व्यवस्था का ठीक पालन करता हुआ जाठराग्नि को मन्द नहीं होने देता वह जमदग्नि बना रहता है। जमदग्नि का शरीर व मन दोनों स्वस्थ होते हैं। उसके मन में ईर्ष्या-द्वेष आदि की भावनाएँ नहीं होतीं। यही वस्तुतः सच्चा 'विश्वामित्र' बन पाता है। एवं, जमदग्नि बनना हेतु है, विश्वामित्र होना उसका परिणाम। इस मन्त्र का ऋषि कारण के दृष्टिकोण से जमदग्नि कहलाता है और कार्य के दृष्टिकोण से विश्वामित्र।

यह विश्वामित्र इस रूप में प्रार्थना करता है—**मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण, अर्थात् प्राण और अपान **नः**=हमारे **गव्यूतिम्**=(गावः यूयन्ते यस्मिन्) इन्द्रियों के प्रसार को **घृतैः**=क्षरण व दीप्ति से **आ उक्षतम्**=समन्तात् सिक्त कर दें। वैदिक साहित्य में प्राणापान के लिए प्रायः 'मित्रावरुणा' शब्द का प्रयोग मिलता है। इन प्राणापान के वश में कर लेने से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं।

'गो' शब्द ज्ञानेन्द्रियों के लिए प्रयुक्त होता है। प्राण-साधना से ये ज्ञानेन्द्रियाँ निर्मल होकर दीप्त हो उठती हैं। 'घृत' शब्द की भी दो भावनाएँ हैं—१. मलक्षरण व २. दीप्ति। ये प्राणापान वशीभूत होने पर हमारी ज्ञानेन्द्रियों को निर्मलता व दीप्ति से सींच देते हैं। उस समय कान भद्र ही सुनते हैं और आँखें भद्र ही देखती हैं।

ज्ञानेन्द्रियों को दीप्त करने के साथ ये **सुक्रतू**=उत्तम कर्मोंवाले प्राणापान हमारे **रजांसि**=रजोगुण समुद्भूत कर्मों को **मध्वा**=माधुर्य से सींच डालते हैं। प्राणसाधनावाले व्यक्ति के कर्म क्रूर न होकर मधुर होते हैं। मन में ईर्ष्या-द्वेष व बदले की भावना ही नहीं तो कर्मों में माधुर्य तो होगा ही।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों को निर्मल व दीप्त बनाएँ और कर्मेन्द्रियों को मधुर।

ऋषिः—विश्वामित्रो जमदग्निर्वा॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मधुर-कर्म

६६४. उरुशंसा नमोवृधा मह्ना दक्षस्य राजथः। द्राघिष्ठाभिः शुचिव्रता॥ २॥

गतमन्त्र में कहा गया था कि प्राणापान हमारे कर्मों में माधुर्य लाते हैं। उसी के स्पष्टीकरण के लिए यहाँ कहते हैं कि ये प्राणापान १. **उरुशंसा**=खूब स्तुति करनेवाले होकर **राजथः**=शोभायमान होते हैं। प्राणापान की साधनावाला व्यक्ति कभी किसी की निन्दा नहीं करता, वह सदैव सबका शंसन ही करता है। परिणामतः प्राणापान की साधना शरीर को ही स्वस्थ नहीं बनाती; मन व बुद्धि को भी विशाल व निर्मल कर देती है। ये प्राणापान **नमोवृधा**=नमस्=नम्रता बढ़ानेवाले हैं। यह साधक 'दूसरों की निन्दा नहीं करता' इतना ही नहीं, यह अपने दोषों को देखता हुआ उन्हें दूर करने के लिए सदा प्रयत्नशील होता है और नम्र बना रहता है।

इस साधाक में ये प्राणापान **दक्षस्य**=उन्नति (दक्ष् to grow)=विकसित होना व विकास की **मह्ना**=महिमा से **राजथः**=शोभायमान होते हैं। इसके सभी कार्य परनिन्दा से शून्य, नम्रता से युक्त

और परिणामतः उन्नति के साधक होते हैं। यह साधक अवनति के मार्ग पर जाता ही नहीं।

मन्त्र की समाप्ति पर कहते हैं कि ये प्राणापान **शुचिव्रता**=पवित्र कर्मोंवाले होते हैं। किस प्रकार ? **द्राघिष्ठाभिः**=अपनी दीर्घ गतियों के द्वारा। प्राणायाम में जब हम अन्दर गहरा श्वास-प्रश्वास लेते हैं, तब ये प्राणापान हमारे दोषों को नष्ट कर हमें शुचि बना देते हैं। इस प्रकार गहरा श्वास (deep breathing) लेने का लाभ स्पष्ट है।

भावार्थ—प्राणायाम से हमारे कर्म स्तुतिरूप, निरभिमानतायुक्त, उन्नतिशील व पवित्र होंगे।

ऋषिः—विश्वामित्रो जमदग्निर्वा ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ऋत के मूल स्थान में

६६५. गृणाना जमदग्निना योनावृतस्य सीदतम्। पातं सोममृतावृधा ॥ ३ ॥

इस मन्त्र में प्राणसाधना के लाभों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **जमदग्निना**=जाठराग्नि का ध्यान रखनेवाले जमदग्नि से **गृणाना**=स्तुति किये जाते हुए प्राणापानो ! तुम **ऋतस्य योनौ सीदतम्**=ऋत के मूल स्थान में स्थित होओ। ऋत की योनि प्रभु हैं। प्राणापान की साधना हमें प्रभु की गोद में ला बैठाती है। प्राणों की साधना से हमारे कर्म बड़े पवित्र हो गये थे। वे अनृत (असत्य) न रहकर ऋत बन गये थे। प्राणसाधक के जीवन में सब कर्म ठीक ही चलते हैं। 'सूर्याचन्द्रमसाविव'=सूर्य और चन्द्रमा की भाँति वह अपने दैनन्दिन कार्य-कलाप में ठीक ही चलता है, अतः ये प्राणापान **ऋतावृधा**=ऋत की वृद्धि करनेवाले हैं। ऋत की वृद्ध करके ही ये उसे उस ऋत के मूल स्थान में पहुँचा पाते हैं। बिना उस जैसा बने उस तक थोड़े ही पहुँचा जाता है ?

ये प्राणापान साधक के जीवन में ऋत की वृद्धि इसलिए कर पाते हैं कि **सोमम् पातम्**=ये सोम का पान करते हैं। सोम का अभिप्राय वीर्यशक्ति (semen) से है। प्राणापान के द्वारा हम उस शक्ति को शरीर में ही पी लेते हैं, अर्थात् उसका अपव्यय नहीं होने देते। यही वैदिक साहित्य में इन्द्र का सोमपान कहलाता है। यही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य ही ब्रह्म-प्राप्ति का द्वार है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम सोम का पान करते हुए ऋत-वृद्धि के द्वारा ऋतपुञ्ज प्रभु की गोद में बैठनेवाले बनें।

सूक्त-६

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इरिम्बिठि काण्व

६६६. आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्। एदं बर्हिः सदो मम ॥ १ ॥

'बिठ' शब्द अन्तरिक्ष का वाचक है और 'इर्' धातु गतिवाचक है, इस प्रकार 'इरिम्बिठि' शब्द की भावना यह है कि कर्म-संकल्पवाला है हृदयान्तरिक्ष जिसका। जिसके हृदय में सदा उत्तम कर्मों का संकल्प बना हुआ है, वह इरिम्बिठि कण-कण करके उत्तमता का संचय करता हुआ 'काण्व' कहलाता है। यह इरिम्बिठि प्रभु से प्रार्थना करता है कि **आयाहि**=आइए।

इन्द्र=परमैश्वर्यशाली प्रभो ! यह **सोम**=वीर्य **ते**=आपके लिए, अर्थात् आपकी प्राप्ति के लिए ही निश्चय से **सुषुमा**=पैदा किया गया है। इसका उद्देश्य भोगमार्ग की ओर जाना नहीं है। वस्तुतः आपको प्राप्त करने के लिए ही इसका निर्माण हुआ है, अतः यह काण्व प्रभु से ही आराधना करता

है कि—**इमं सोमम्**=इस सोम का आप **पिब**=पान कीजिए। आपकी कृपा से ही मैं इसे शरीर में सुरक्षित कर पाऊँगा। वस्तुतः इस वीर्य के नाश का मूलकारण वासना है। वासना के नाश के बिना इसकी रक्षा सम्भव नहीं। प्रभु का स्मरण वासना को नष्ट करेगा और वासना-नाश से शरीर में वीर्य की रक्षा होगी।

जिस समय हृदय में से वासनाओं का उद्बर्हण=उत्पाटन हो जाता है, उस समय यह हृदय 'बर्हिः' कहलाता है। यह पवित्र हृदय ही वस्तुतः इरिम्बिठि को इस बात का अधिकारी बनाता है कि वह प्रभु से प्रार्थना करे कि **इदं मम बर्हिः**=इस मेरे पवित्र हृदयान्तरिक्ष में **आसदः**=आकर विराजिए। मेरा पवित्र हृदय कुशासन है, प्रभु उसपर बैठनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से वीर्य-रक्षा होती है। वीर्य-रक्षा से हृदय की पवित्रता, पवित्रता से हृदय में प्रभु का निवास।

ऋषिः—इरिम्बिठिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ब्रह्म की ओर, न कि विषयों की ओर

१ २ ३२ ३२३ १२ ३ १ २ २३ १ २

६६७. आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना। उप ब्रह्माणि नः शृणु॥ २॥

गत मन्त्र में यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि वीर्य-रक्षा आवश्यक है। वीर्य-रक्षा के लिए प्रभु-स्मरण आवश्यक है। प्रभु-स्मरण के साथ होनेवाली क्रियाएँ मनुष्य को पवित्र बनाये रखती हैं। उस समय उसके ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़े (हरि) विषयों की ओर न जाकर ब्रह्म की ओर जानेवाले होते हैं, अतः काण्व प्रार्थना करता है **ब्रह्मयुजा**=सदा ब्रह्म के साथ योग करानेवाले स्तोत्रों से युक्त **हरी**=सब दुःखों का हरण करनेवाले ये इन्द्रियरूप घोड़े **केशिना**=(क+ईश+इन्) क=शिरस्=मस्तिष्क के शासनवाले हों, अर्थात् इनपर ज्ञान का अंकुश हो और ये कभी भी हमें कुपथ पर ले-जानेवाले न हों; अपितु हे प्रभो! ये हमें **त्वा**=आपको **वहताम्**=प्राप्त करानेवाले हों।

हे प्रभो! हम तो यही चाहते हैं कि आप **नः**=हमारे, हमसे किये जाते हुए **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों को ही **शृणु**=सुनें, अर्थात् हमारी इन्द्रियाँ आपके स्तोत्रों का ही गान करनेवाली हों। इनकी प्रवृत्ति किसी भी प्रकार से कुत्सित न हो जाए।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ प्रभु-स्तोत्रों से युक्त, हमें विषयों से दूर ले-जानेवाली व ज्ञान के शासनवाली हों।

ऋषिः—इरिम्बिठिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

स्तोत्रमय जीवन

३ १ २ ३ २ ३१ २३१ २ ३ १२ ३ १२

६६८. ब्रह्माणस्त्वा युजा वयं सोमपामिन्द्र सोमिनः। सुतावन्तो हवामहे॥ ३॥

'ब्रह्म' शब्द स्तोत्र-वाचक है, 'अन्' का अभिप्राय है जीवन। एवं (ब्रह्म+अन्) स्तोत्रमय जीवनवाले व्यक्ति 'ब्रह्माण' हैं। **वयं ब्रह्माणः**=हम स्तोत्रमय जीवनवाले बनकर **त्वा युजा**=तुझसे संयुक्त होकर **सोमिनः**=उत्तम वीर्यशक्तिवाले बनकर हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **हवामहे**=आपको पुकारते हैं। प्रभु के साथ हमारा सम्पर्क स्तोत्रों द्वारा ही होता है हम प्रभु का स्तवन करेंगे और उस स्तवन से प्रभु के समीप पहुँचेंगे। प्रभु के समीप रहते हुए ही हम वासना से बचने पर सोमवाले होते हैं। इसी से मन्त्र में कहते हैं—हे प्रभो! हम आपको पुकारते हैं। कैसे आपको? **सोमपाम्**=आप जो

मेरे सोम की रक्षा करनेवाले हो और इस सोम की रक्षा होने पर हम **सुतावन्तः**=(सुतम्=यज्ञ) सदा उत्तम यज्ञोंवाले होते हैं। वीर्य-रक्षा से ही हममें वीरता (Virtues) की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—स्तोत्रमय जीवनवाला ही सोमी=शक्तिशाली व सुतावान्=उत्तम यज्ञादि कर्मोंवाला बनता है।

सूक्त-७

ऋषिः—विश्वामित्रो गाथिनः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

विश्वामित्र गाथिनः

६६९. इन्द्राग्नी आ गतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्। अस्य पातं धियेषिता ॥ १ ॥

इन मन्त्रों का ऋषि 'विश्वामित्र गाथिन' है। यह सभी के हित करने का व्रत धारण करता है। सभी का हित करने के लिए शक्ति व ज्ञान-सम्पन्न होना आवश्यक है। इसी से यह शक्ति के देवता 'इन्द्र' और ज्ञान के देवता 'अग्नि' की आराधना करता है—

हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व ज्ञान के देवताओ! **आगतम्**=आओ। आप दोनों **धिया इषिता**=धी से प्रेरित होते हो। 'धी' शब्द का अर्थ, कर्म व ज्ञान है। शक्ति कर्म से प्रेरित होती है और ज्ञान व बुद्धि स्वाध्याय से। जितना हम कर्मशील होंगे उतना ही अपनी शक्ति को स्थिर रख सकेंगे। ठीक इसी प्रकार स्वाध्याय के अनुपात में ही हमारे ज्ञान की वृद्धि होगी। एवं धी (कर्म+ज्ञान) से प्रेरित 'इन्द्र और अग्नि' से विश्वामित्र कहता है कि **अस्य**=इस वेदानुकूल सात्त्विक आहार से **सुतम्**=उत्पादित सोम (वीर्य) को **पातम्**=हमारे शरीर में ही सुरक्षित कीजिए। वस्तुतः कर्मों में लगे रहने से ज्ञानाग्नि को दीप्त करने के प्रयत्न में ही सोम का सदुपयोग हो जाता है, उसका अपव्यय नहीं होता। एवं, ये कर्म और ज्ञान सोम की रक्षा करनेवाले हो जाते हैं।

यह सोम **गीर्भिः सुतम्**=वेदवाणियों से उत्पादित हुआ है, अर्थात् वेदानुकूल सात्त्विक आहार के सेवन से यह उत्पन्न किया गया है। सौम्य भोजनों से उत्पन्न होने से यह सचमुच 'सोम' है और **नभो वरेण्यम्**=तामस् व राजस् वृत्तियों को समूल समाप्त करने के कारण (नभ=To kill; 'नभः' यह हेतु में पञ्चमी हैं) यह स्वीकार करने योग्य है।

भावार्थ—हम कर्म व ज्ञान से इन्द्र व अग्निदेवता की आराधना करें और इनके द्वारा अपने सोम की रक्षा करें।

ऋषिः—विश्वामित्रो गाथिनः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान+कर्म

६७०. इन्द्राग्नी जरितुः सचा यज्ञो जिगाति चेतनः। अया पातमिमं सुतम् ॥ २ ॥

इन्द्राग्नी=इन्द्र और अग्नि—सब शक्तिशाली कर्मों का देवता इन्द्र और ज्ञान का देवता अग्नि **जरितुः**=स्तोता के **सचा**=साथ होते हैं, अर्थात् एक उपासक जब अपने जीवन को कर्म और ज्ञान के साथ संयुक्त करता है तब ये कर्म और ज्ञान **अया**=(अनया) इस रीति से **इमम् सुतम्**=इस उत्पादित सोम का **पातम्**=पान करते हैं कि वह शरीर में सुरक्षित होता है। शक्ति की रक्षा के लिए—तीनों ही १. ज्ञान, २. कर्म, ३. उपासना आवश्यक हैं। वेदों में इन्हीं तीन का प्रतिपादन किया है। यही काण्डत्रयी है। ये ही तीन काण्ड=कानून हैं। इन्हीं के अनुसार मनुष्य को चलना है। एक

वाक्य में कह सकते हैं कि ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा उपासना होती है और इस ब्रह्म-सान्निध्य से काम का विध्वंस होकर शक्ति की रक्षा होती है।

इस स्थिति में मानव-जीवन **यज्ञः**=यज्ञ, अर्थात् उत्तम कर्मों तथा **चेतनः**=(चिती संज्ञाने) उत्तम ज्ञान की **जिगाति**=विशेषरूप से स्थिति होती है। हमारे जीवन में यज्ञ और ज्ञान का प्रवेश होता है। वीर्यवान् पुरुष बुराइयों से दूर रहता है और उसका ज्ञान उत्तरोत्तर दीप्त होता जाता है।

भावार्थ—हम वीर्य-रक्षा द्वारा अपने जीवनों को यज्ञमय व दीप्त बनाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रो गाथिनः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्र व अग्नि का वरण

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २र ३ १ २
६७१. इन्द्रमग्निं कविच्छदा यज्ञस्य जूत्या वृणे। ता सोमस्येह तृम्पताम्॥ ३॥

मैं **इन्द्रम्**=इन्द्र को—शक्ति के देवता को और **अग्निम्**=ज्ञान की देवता को **वृणे**=वरता हूँ। **ता**=वे दोनों **इह**=मेरे जीवन में **सोमस्य**=सोम के द्वारा **तृम्पताम्**=प्रीणित हों। सोम से शक्ति की वृद्धि और ज्ञान का विकास होता है। उत्तम कर्मों में लगे रहने और स्वाध्याय की प्रवृत्ति से सोम की रक्षा होती है और सुरक्षित हुआ सोम शक्ति और ज्ञान की वृद्धि का कारण बनता है।

अग्नि के वरण का प्रकार '**कविच्छदा**' शब्द से सूचित हो रहा है। कवि क्रान्तदर्शी को कहते हैं। यह वस्तु को समझकर उसका हृदयग्राही चित्रण करता है। इस कवि की कृति काव्य कहलाती है। परमेश्वर सर्वमहान् कवि है। उनका वेदरूपी काव्य अजरामर काव्य है (**पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति**)। इस काव्य के मन्त्र हमें पापों से छादित करते हैं, बचाते हैं, अतः छन्द या छद् कहलाते हैं। इस कवि के छन्दों द्वारा हम अपने ज्ञान की वृद्धि करते हुए अग्निदेवता का वरण करते हैं। इसी प्रकार इन्द्र का वरण **यज्ञस्य**=यज्ञों के **जूत्या**=निरन्तर प्रवाह (Uninterrupted flow) से होता है। इन्द्र शतक्रतु हैं, जो भी मनुष्य शतशः क्रतुओं (यज्ञों) का करनेवाला होता है, वह इन्द्र को प्रीणित करता ही है। '**पुरुषो वाव यज्ञः**' के अनुसार जो यज्ञमय जीवनवाला बन जाता है, वही इन्द्र को आराधित कर पाता है। उसमें शक्ति की वृद्धि होती है और वह असुरों का संहार कर इन्द्र ही बन जाता है।

भावार्थ—हम वेदाध्ययन से अग्नि को तथा निरन्तर यज्ञों से इन्द्र को आराधित करें। हमारा जीवन स्वाध्याय व यज्ञमय हो।

सूक्त-८

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सात्त्विक अन्न, वह भी यात्रा-मात्र

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र ३ २उ ३ २ ३ १ २
६७२. उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे। उग्रं शर्म महि श्रवः॥ १॥

यह तृच 'अमहीयुः आङ्गिरस'=ऋषि का है। 'मही' का अर्थ पृथिवी या पार्थिव भोग हैं। 'अ-महीयु' इन पार्थिव भोगों की कामना से ऊपर उठा है। इन भोगों में न फँसने से ही वह आङ्गिरस=शक्तिशाली भी बना रहा है। यह प्रभु से कहता है कि मैं **दिवि सत्**=ज्ञान में स्थित होता हुआ **ते**=तुझसे **जातम्**=पैदा किये गये **उच्चा अन्धसः**=सात्त्विक अन्नों का **भूम्या**=केवल पार्थिव शरीर को धारण के लिए **आददे**=स्वीकार करता हूँ। अमहीयु तामस् व राजस् भोजनों के सेवन का

तो विचार ही नहीं करता। वह सात्त्विक भोजन का ही सेवन करता है। द्युलोक=मस्तिष्क में स्थित होनेवाला, अर्थात् ज्ञान-प्रधान जीवन बितानेवाला व्यक्ति सात्त्विक भोजन ही तो करेगा।

भूम्या=पार्थिव शरीर के धारण के लिए इन्हें मिततम मात्रा में लेता है। इस मिततम आहार से जहाँ वह रोगों से बचा रहता है, वहाँ उसका मस्तिष्क उज्ज्वल बना रहता है। वह सदा सत्त्वगुण में विचरता है।

इस प्रकार यह नित्य सत्त्वस्थ व्यक्ति **उग्रम्**=उदात्त (Noble=ऊँचे) **शर्म**=सुख को तथा **महिश्रवः**=महनीय कीर्त्ति को प्राप्त करता है। पार्थिव भोगों में फँसकर मनुष्य प्रभु की समीपता और महान् आनन्द का अनुभव कभी नहीं कर पाता, यह प्रकृति में फँसकर जीर्ण शक्ति हो, व्याधियों का शिकार हो जाता है। साथ ही, यह अधिक खानेवाला व्यक्ति लोक में भी निन्दित होता है। लोग उसे पेटू=Glutton=व वृकोदर आदि शब्दों से स्मरण करने लगते हैं। वस्तुतः हम संसार में खाने के लिए ही आये भी तो नहीं। स्वादिष्ट भोजनों के खाने में व्यस्त पुरुष तो पशुओं से भी कुछ गिर-सा जाता है, पशु भी शरीर धारण के लिए ही खाते हैं—स्वाद के लिए नहीं।

इस सारी बात का ध्यान करके ही 'अमहीयु' अग्रिम मन्त्र में प्रार्थना करता है कि—

भावार्थ—हम सत्त्वगुणों में अवस्थित हो शरीर-यात्रा के लिए ही भोजन करें।

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मुझ इन्द्र के लिए धन दीजिए

६७३. स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः। वरिवोवित् परि स्रव॥ २॥

हे प्रभो! आप '**वरिवोवित्**' हैं (वरिवः=धन, विद्=लाभ) धन प्राप्त करानेवाले हैं। **सः**=वे आप **नः**=हमें **परिस्रव**=धन प्राप्त कराइए। धनों की हमारी ओर धारा बहती हो, परन्तु आप धन प्राप्त कराइए **इन्द्राय**=इन्द्र के लिए **यज्यवे**=यज्यु=यज्ञशील के लिए, **वरुणाय**=वरुण=प्रचेता=प्रकृष्ट ज्ञानी के लिए। १. जो इन्द्र—इन्द्रियों का विजेता न होकर इन्द्रियों का दास होगा वह धन पाकर और अधिक भोगासक्त हो जाएगा। २. यदि धन प्राप्त करनेवाला व्यक्ति यज्यु=यज्ञशील न होगा तो उसका धन निकृष्ट व हानिकर कामों में ही विनियुक्त होगा। वह अपने धन से विद्वानों का पोषण न कर कुछ गुण्डों का (Rascals) ही पालन करेगा ३. यदि उसकी वृत्ति प्रचेता=वरुण बनने की नहीं होगी तो वह धन से पुस्तकों का संग्रह न करके पत्थरों (Stones=Diamond) का ही संग्रह करेगा।

इसलिए मन्त्र में प्रार्थना है कि आप 'इन्द्र, यज्यु व वरुण' को धन दीजिए। इन्हें इसलिए धन दीजिए कि ये **मरुद्भ्यः**=धन का विनियोग मानवहित के लिए करें।

जब मनुष्य धन को अपना—स्वयं का कमाया हुआ समझने लगता है तभी उसमें उसे स्वार्थ के लिए व्यय करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, अतः अगले मन्त्र में कहते हैं कि प्रभो! अर्य=स्वामी=तो आप ही हैं। मैं भ्रमवश अपने को धनों का स्वामी क्यों समझूँ?

भावार्थ—परमेश्वर से दिये गये धनों को हम मानवहित के लिए विनियुक्त करें।

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विभागपूर्वक-सेवन

६७४. एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम्। सिषासन्तो वनामहे॥ ३॥

हे **अर्य**=सब धनों के स्वामी प्रभो! हमें प्राप्त होनेवाले **मानुषाणाम्**=मनुष्य-सम्बन्धी **एना**=इन **विश्वानि**=सब **द्युम्नानि**=धनों का हम **आ-सिषान्तः**=चारों ओर विभाग करते हुए **वनामहे**=सेवन करें।

मनुष्य इस बात को कभी न भूले कि सब धनों के वास्तविक 'अर्य' परमात्मा ही है। **अहं धनानि संजयामि शश्वतः**=प्रभु कहते हैं कि सनातन काल से मैं ही धनों का विजय करता हूँ। जिस दिन हम इस तत्त्व को समझ लेंगे, उस दिन हम धनों के स्वामी न रहकर निधि-प=Trustee हो जाएँगे और निधि के स्वामी के आदेश के अनुसार ही हम उस निधि का विनियोग करेंगे। तब हम अपने स्वास्थ्यरूप धन का विनियोग भी केवल अपने आनन्द के लिए न करके लोकहित के लिए करेंगे। हमारा ज्ञान भी लोकहित के लिए होगा।

इस तत्त्व को समझनेवाला 'अमहीयु' अपने समाधि के आनन्द को भी अकेला भोगना उचित नहीं समझता, पार्थिव धन का तो उसे कभी मोह हो ही नहीं सकता।

भावार्थ—हम प्राप्त सम्पत्तियों का संविभाग-पूर्वक ही सेवन करें।

सूक्त-९

ऋषिः—सप्तर्षयः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः॥ स्वरः—मध्यमः॥

सप्त-गुणयुक्त सोम के द्रष्टा

६७५. पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि।
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि 'सप्तर्षयः' है। सात गुणों से युक्त सोम का इस मन्त्र में वर्णन है। सम्भवतः सात गुणयुक्त सोम का द्रष्टा होने के कारण ही ऋषि का नाम 'सप्तर्षयः' हो गया है। सोम के सात गुण निम्न हैं—१. **सोम**=हे वीर्य-शक्ते! तू **धारया**=अपनी धारणशक्ति से **पुनानः**=पवित्र करती हुई **अर्षसि**=शरीर में गति करती है। यह वीर्यशक्ति शरीर के अस्वस्थ करनेवाले तत्त्वों को शरीर से दूर करके उसे पवित्र रखती है, अतः शरीर स्वस्थ बना रहता है। २. हे सोम! तू **अपः**=कर्मों का **वसानः**=धारण करता हुआ **अर्षसि**=प्राप्त होता है। वीर्य का दूसरा गुण यह है कि यह मनुष्य को क्रियाशील—पुरुषार्थी बनाता है। 'वि+ईर' धातु से बना यह शब्द विशेषगति की सूचना देता है। वीर्यवान् पुरुष सदा क्रियाशील व आलस्य से दूर होता है। निर्वीर्यता ही मनुष्य को अलस बनाती है। ३. **आ**=समन्तात् **रत्नधा**=रमणीयता को धारण करनेवाला यह सोम है। सोम से सारा शरीर रमणीय हो उठता है, कान्ति-सम्पन्न बन जाता है। क्या शरीर, क्या मन, क्या बुद्धि, सभी श्री-सम्पन्न हो जाते हैं। ४. **योनिम् ऋतस्य सीदसि**=अन्त में यह सोम ऋत के उत्पत्ति-स्थान उस प्रभु में जाकर स्थित होता है। इस सोम के धारण से मनुष्य प्रभु की उपासना के योग्य बनता है।

५. **उत्सः**=यह सोम एक चश्मा है। इस सोम को शरीर में धारण करने पर एक स्वाभाविक आनन्द का प्रवाह बहता है जो शारीरिक स्वास्थ्य व मनःप्रसाद का सूचक है। ६. **देवः**=यह सोम मनुष्य को दिव्य प्रवृत्तिवाला बनाता है। इसे राग-द्वेष से ऊपर उठाता है। ७. **हिरण्ययः**=यह हिरण्यवाला है। (हिरण्यं वै ज्योतिः) यह मस्तिष्क को ज्योतिर्मय बनाता है। यही तो वस्तुतः ज्ञानाग्नि का ईंधन है। यह शरीर को स्वस्थ, मन को निर्मल और बुद्धि को दीप्त बनाता है।

भावार्थ—सोम को धारण कर हम अपने शरीर को सप्त गुणयुक्त बनाएँ।

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—सतोबृहती ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सप्तगुण विशिष्ट ऊधस्

३ १ २र ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
६७६. **दुहान ऊधर्दिव्यं मधु प्रियं प्रत्नं सधस्थमासदत्।**
३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षसि नृभिर्धौतो विचक्षणः ॥ २ ॥

दुहानः=गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से सोम-रक्षा के द्वारा अपना पूरण करता हुआ व्यक्ति **ऊधः**=आनन्द के स्रोत प्रभु को **आसदत्**=प्राप्त करता है। **ऊधस्**=गौ के बाख को कहते हैं। वह जैसे दुग्धरूप अमृत का आशय है, उसी प्रकार वह प्रभु आनन्द के अमृत का आशय है। प्रभुरूप आनन्द का ऊधस् सप्तगुण विशिष्ट है। १. इसकी प्रथम विशेषता यह है कि **दिव्यम्**=यह अलौकिक है—प्रकाशमय है। सांसारिक आनन्दों में कुछ देर तक आनन्द की प्रतीत के पश्चात् रोगादि के रूप में अन्धकार आ घेरता है। २. **मधु**=यह आनन्द का स्रोत मधुर है—मधुमय है। सांसारिक आनन्द प्रारम्भ में मधुर होते हुए भी परिणाम में विषोपम हो जाते हैं। उनकी आपात रमणीयता शीघ्र ही क्षीण होकर वे नीरस लगने लगते हैं। ३. **प्रियम्**=यह आनन्द एक तृप्ति देता है, जबकि सांसारिक आनन्द मनुष्य को अधिकाधिक अतृप्त करते हैं। परमात्मा-प्राप्ति के आनन्द में मनुष्य एक विशेष प्रकार की मस्ती का अनुभव करता है। ४. **प्रत्नम्**=यह सनातन (Eternal) है। कभी सूखनेवाला नहीं। भोगों में स्थाई आनन्द नहीं। ५. **सधस्थम्**=सबसे बड़ी बात यह है कि यह आनन्द का स्रोत सदा हमारे साथ (सध) विद्यमान (स्थ) है। इसके लिए हमें कहीं इधर-उधर भटकना नहीं। सांसारिक आनन्दों की प्राप्ति के लिए तो मनुष्य को सदा भटकना पड़ता है, मृगतृष्णा के मृग के समान दौड़ लगानी पड़ती है, परन्तु पा नहीं पाता, वे इससे दूर-ही-दूर चलते जाते हैं। ६. **पृच्छ्यम्**=यह स्रोत ही वस्तुतः सर्वथा जिज्ञास्य है (आ+प्रच्छ्) इसी के जानने के लिए हमें यत्नशील होना चाहिए। सांसारिक आनन्द के स्रोतों को ढूँढने में ही अपनी शक्ति लगा देना बुद्धिमत्ता नहीं। ७. **धरुणम्**=यह आनन्द का स्रोत, ढूँढा जाने पर, हमारा धारण करनेवाला होगा। सांसारिक आनन्द शक्तियों को जीर्ण कर नींव को ही जर्जर कर देते हैं।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि—"कौन इस स्रोत तक पहुँचता है?" इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र में '**वाजी, नृभिर्धौतः, विचक्षणः**' इन शब्दों से दिया गया है। १. सबसे प्रथम **वाजी**=शक्तिशाली ही इस स्रोत को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। (**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**)=निर्बलों से यह आत्मा प्राप्त नहीं है। २. **नृभिः धौतः**=दूसरे, जो व्यक्ति मनुष्यों से माँज दिया गया है, अर्थात् मनुष्यों के निरन्तर सम्पर्क में आकर जिसने अनुभव से बहुत-कुछ सीखकर अपने को संस्कृत कर लिया है। ३. और अन्त में **विचक्षणः**=जिसकी चक्षु विशेषरूप से खुल गई हैं, जो दूरदृष्टि विद्वान् बन गया है, वही इस आनन्द के स्रोत को पाता है। यह स्रोत सप्त गुणविशिष्ट है, अतः इसे पानेवाला भी 'सप्तर्षि' (ऋष्=गतौ) सप्तगुणस्रोत तक पहुँचनेवाला है।

भावार्थ—हम सोम-रक्षा से अपना पूरण करते हुए इस अद्भुत आनन्द के स्रोत को पानेवाले बनें।

सूक्त-१०

ऋषिः—उशनाः काव्यः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उशनाः काव्यः

६७७. **प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष।**
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा बर्हीं रशनाभिर्नयन्ति॥ १॥

इस तृच का ऋषि 'उशनाः काव्यः' है। 'उशनाः' शब्द का अर्थ है **कामयमानः**=चाहता हुआ। सर्वलोकहित की कामना करनेवाला यह 'उशनाः' काव्य है—क्रान्तदर्शी है। इसकी आँख प्रत्येक पदार्थ के भीतर प्रविष्ट होकर उसके तत्त्व को जानने का प्रयत्न करती है। इसी तत्त्वज्ञान के कारण यह अपने 'सोम'=वीर्यशक्ति का अधोद्रवण न होने देकर कहता है कि हे सोम! **प्रद्रव तु**=नीचे की ओर जाने के स्थान में तू प्रकृष्ट=ऊर्ध्व गतिवाला हो और **कोशम्**=इस शरीर में (अन्नमयादि कोशों में) **परिनिषीद**=व्याप्त होकर स्थित हो, अर्थात् मेरे सोम का विनियोग भोग में न होकर अङ्ग-प्रत्यङ्ग की श्री को बढ़ाने में ही हो।

ऐसा होने पर हे सोम! **नृभिः**=मनुष्यों से **पुनानः**=(पूयमानः) पवित्र किया जाता हुआ तू हमें **वाजम् अभि**=शक्ति की ओर **अर्ष**=ले-चल। पवित्र विचारों से पवित्र हुआ यह सोम शरीर में ही व्याप्त होकर उसे शक्ति-सम्पन्न बनाता है। **न**=जैसे **वाजिनं अश्वम्**=शक्तिशाली घोड़े को **रशनाभिः**=लगामों से **नयन्ति**=उद्दिष्ट स्थान की ओर ले-जाते हैं, उसी प्रकार **त्वा**=तुझे **मर्जयन्तः**=(मृज् शुद्धौ) अपने सोम को पवित्र बनाते हुए ये लोग **रशनाभिः**=पवित्र विचाररूप लगाम के द्वारा **बर्हिः अच्छ**=शुद्ध हृदय की ओर **नयन्ति**=ले-जाते हैं। पवित्र विचारों से सोम पवित्र रहता है और यह पवित्र सोम मनुष्य को वासना-विजय के लिए शक्ति देता है। इस मनुष्य की हृदयस्थली वासनारूप घास-फूस के उखाड़ देने से शुद्ध-पवित्र होकर 'बर्हिः' शब्द से कहलाने के योग्य होती है।

एवं, यह 'उशनाः काव्य' सोमरक्षा के द्वारा शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाता है और अपने मन को पवित्र। इनके बिना न उसके अन्दर लोकहित की कामना उत्पन्न हो सकती है और न वह लोकहित कर ही सकता है?

भावार्थ—लोकहित का इच्छुक सोम की ऊर्ध्वगति से अपने शरीर को शक्ति-सम्पन्न व हृदय को पवित्र बनाए।

ऋषिः—उशनाः काव्यः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सोम की सात प्रशस्तियाँ

६७८. **स्वायुधः पवते देव इन्दुरशस्तिहा वृजना रक्षमाणः।**
पिता देवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याः॥ २॥

१. **देवः इन्दुः**=यह प्रकाशमय (दिव्) व शक्तिमय सोम (इन्द=to be powerful) **स्वायुधः**=(सु आयुधः) उत्तम अस्त्र है। इसी अस्त्र के द्वारा मनुष्य शरीर के रोगों व रोगकृमियों से संघर्ष कर पाता है। वीर्य शब्द का अर्थ है वि=विशेषरूप से ईर=कम्पित करनेवाला। यह हमपर आक्रमण करनेवाले रोगों को कम्पित करके भगा देता है। इस प्रकार यह सोम उत्तम अस्त्ररूप

बनकर **पवते**=हमारे शरीर में गति करता है।

२. **अशस्ति-हा**=यह सोम ईर्ष्या-द्वेष आदि की सब अप्रशस्त भावनाओं को नष्ट कर देता है। ३. **वृजना रक्षमाणः**=यह सोम हमें पापों से बचाता है। (वृजन=पाप, रक्ष=Resistence)। पापों से बचाकर यह हमारे बलों की रक्षा करता है (वृजन=बल, रक्ष=रक्षा करना)।

४. **पिता देवानाम्**=यह सुरक्षित सोम देवों का—दिव्य गुणों का रक्षक होता है। मनुष्य में यह दैवी सम्पत्ति के विकास का कारण बनता है। यह दिव्य गुणों का **जनिता**=प्रादुर्भाव करनेवाला होता है। ५. **सु-दक्षः**=यह हमारी उत्तम वृद्धि (दक्ष=To grow) का कारण है। इसके कारण प्रत्येक उत्तम दिशा में हम अग्रसर होते हैं। ६. **दिवः विष्टम्भः**=मूर्धा द्यौः=यह सोम मस्तिष्क का विशेषरूप से स्तम्भन=धारण करनेवाला है। यह सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, इससे मनुष्य की बुद्धि तीव्र होती है। ७. **पृथिव्याः धरुणः**=(पृथिवी=शरीरम्) यह शरीर का आधार है। इसके धारण से जीवन है, इसके पतन से मृत्यु। सोमरक्षा के बिना वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की उन्नति सम्भव नहीं। इसी से उशना इसकी रक्षा की कामनावाला है।

भावार्थ—उशना के सदृश सोमरक्षण में प्रवृत्त होकर हम भी इन सात लाभों से अपने जीवन को अन्वित करें।

ऋषिः—उशनाः काव्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदरहस्य को समझना

६७९. ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन।
स चिद्विवेद निहितं यदासामपीच्यां ३ गुह्यं नाम गोनाम् ॥ ३ ॥

गत मन्त्र का विषय ही प्रस्तुत मन्त्र में भी चल रहा है। यह सोमरक्षक पुरुष—

१. **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा है। सोमरक्षा से मनुष्य गम्भीर होकर प्रत्येक पदार्थ के ठीक स्वरूप को देखनेवाला बनता है। वह आपात रमणीयता से आकृष्ट होकर उनमें उलझता नहीं। २. **वि-प्रः**=विषयों में न उलझने से ही वह अपना विशेषरूप से पूरण करता है। शरीर में शक्ति, मन में निर्मलता व बुद्धि में तीव्रता भरनेवाला होता है। ३. **जनानां पुरः एता**=सोमरक्षण के द्वारा विप्र बनकर यह मनुष्यों का अग्रेणी—उनके आगे चलनेवाला होता है। '**अति समं क्राम**=बराबरवालों को तू लाँघ जा'—इस उपदेश को वह अपने जीवन में अनूदित कर पाता है। ४. **ऋभुः**=इस प्रकार यह खूब चमकनेवाला होता है (ऋभुः=Shining far) ५. **धीरः**=इसकी प्रकृति में धीरता—धैर्य होता है। इस धृति के कारण ही वह—धर्म के अन्य सब अङ्गों को भी अपने में स्थिर कर पाता है। ६. **उशनाः**=जीवन को धर्म की नींव पर स्थिर करके यह सभी के हित की कामनावाला होता है। यह तुच्छ भावनाओं से ऊपर उठकर लोकहित को अपने जीवन का ध्येय बनाता है। ७. और इन सबसे बढ़कर **सः**=वह **काव्येन**=अपने क्रान्तद्रष्टृत्व से **चित्**=निश्चयपूर्वक **यत्**=जो **आसाम् गोनाम्**=इन वेदवाणियों में **अपीच्यम्**=बहुत ही सुन्दर **गुह्यम्**=रहस्यमय **नाम**=संकेत (Mark, sign, token) **निहितम्**=रक्खे हुए हैं, उन्हें **विवेद**=विशेषरूप से जान पाता है। बुद्धि की तीव्रता से इसके सामने वेद का रहस्य प्रकट हो जाता है। वेदवाणी इसके लिए अपने स्वरूप को प्रकट करती है।

भावार्थ—सोम-रक्षा के द्वारा हम वेदार्थ को समझने के योग्य बनते हैं।

सूक्त-११

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

मैत्रावरुणि वसिष्ठ

६८०. अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धाइव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ १ ॥

वशियों में श्रेष्ठ वसिष्ठ है। वह श्रेष्ठ वशी इसलिए बन पाया है कि वह 'मैत्रावरुणि' है, अर्थात् उसने प्राण और अपान की साधना की है। प्राणापान की साधना से ही वह इन्द्रियों के दोषों को दूर करके इन्द्रियों को वश में करनेवालों में श्रेष्ठ वसिष्ठ बना है।

यह वसिष्ठ कहता है कि—हे **शूर**=सब वासनाओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **त्वा**=आपको **अभि**=लक्ष्य करके **नोनुमः**=हम निरन्तर स्तुति करते हैं। प्रभु की स्तुति से ही वह वासनासमूह नष्ट हो पाता है। यह उपासना वह वृद्धावस्था में प्रारम्भ नहीं करता। कहा गया है कि **अदुग्धा इव धेनवः**=अभी अदुग्धदोह गौओं के समान हम यौवन में ही प्रभु का स्तवन करते हैं और कहते हैं कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! आप **अस्य जगतः**=इस सारे चर जगत् के **ईशानम्**=स्वामी हो। स्वामी ही नहीं, आप तो **स्वः दृशम्**=सभी के सुख का ध्यान करनेवाले हो (स्वः=सब तथा सुख, ईश्=To take care of), **तस्थुषः**=सब स्थावर जगत् के भी ईशान हो। इस स्थावर जगत् के ईशान होने से आप हमारे सुखों के लिए सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हो। मैं तो आपके स्तवन में लगा हूँ और मेरा योगक्षेम आपको चलाना है।

भावार्थ—हम यौवन में ही प्रभु की उपासना करें। वे हमारा योगक्षेम चलाएँगे।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—सतोबृहती ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अद्वितीय

६८१. न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ २ ॥

हे प्रभो! **त्वावान्**=आप-जैसा **अन्यः**=दूसरा और कोई **दिव्यः**=द्युलोक में होनेवाला **न जातः**=न तो कोई हुआ है **न जनिष्यते**=और न ही होगा। आप सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ हैं। चराचर के ईशान हैं, सभी के सुख-साधन में लगे हुए हैं। आपको छोड़कर ऐसा कौन है? आप तो 'अ-द्वितीय' ही हैं। हे **मघवन्**=(मा+अघ) सब पापों से दूर—अपापविद्ध प्रभो! हे **इन्द्र**=सर्वैश्वर्यशाली प्रभो! **अश्वायन्तः गव्यन्तः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली प्रशस्त कर्मेन्द्रियों की कामना करते हुए, निश्चय से अर्थों का ज्ञान देनेवाली दीप्त ज्ञानेन्द्रियों की कामना करते हुए हम **वाजिनः**=बल को अपनानेवाले **त्वा हवामहे**=आपको पुकारते हैं। आपके स्मरण से ही वासनाओं का विनाश होकर हमें उत्तम कर्मेन्द्रियों व शक्ति का लाभ होगा।

'अश् व्याप्तौ' धातु से बनकर अश्व शब्द कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों का वाचक है। गौ शब्द समझना, Understand इस अर्थवाली गम् धातु से बनकर अर्थतत्त्व का ज्ञान देनेवाली ज्ञानेन्द्रियों को कह रहा है। वाज शब्द शक्ति का वाचक है, उससे प्रशस्त अर्थ में 'इनि प्रत्यय' आया

है। एवं, उत्तम कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों व शक्ति को चाहते हुए हम प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु के अतिरिक्त इन्हें हमें प्राप्त करा ही कौन सकता है ?

भावार्थ—हम निरन्तर प्रभु की स्तुति करें, वे चराचर के ईशान हैं, वे सभी के कल्याण की चिन्ता करते हैं। वे अद्वितीय हैं, उन्हीं से हमें इन्द्रिय-नैर्मल्य व शक्ति प्राप्त होगी।

सूक्त-१२

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वामदेव गौतम

१ २ ३१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २
६८२. कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥

इस तृच का देवता 'इन्द्रः' अथवा 'सर्वाः देवताः' है। 'विश्वेदेवाः' का ही रूपान्तर 'सर्वाः देवताः' है। 'सब दिव्य गुणों की प्राप्ति' यह इस तृच का विषय है। सब देवताओं का राजा 'इन्द्र' है, अतः 'सर्वाः देवताः' के स्थान में 'इन्द्र' भी लिख देते हैं। इन सब दिव्य गुणों से अपने जीवन को सुभूषित करनेवाला 'वामदेव' (सुन्दर दिव्य गुणोंवाला) इस तृच का ऋषि है—यह ऐसा इसलिए बन पाया है कि यह गौतम—गोतम का पुत्र है। 'गो=इन्द्रयाँ' प्रशस्त इन्द्रियोंवाला है।

यह वामदेव एक सामान्य भद्र पुरुष की श्रेणी से ऊपर उठकर देवश्रेणी में आया है। ऋणात्मक धर्म (झूठ न बोलना, चोरी न करना, द्वेष न करना, कड़वा न बोलना आदि) के पालन से मनुष्य एक भद्र पुरुष बन जाता है, परन्तु देव बनने के लिए केवल ऋणात्मक धर्म के पालन से काम नहीं चलता। उसके लिए धनात्मक धर्म का पालन आवश्यक होता है। 'जनता के अन्धकार को दूर करना' यह उस धनात्मक धर्म का सामान्यरूप है। इस अन्धकार को दूर करने की प्रक्रिया में खण्डन-मण्डन की आवश्यकता होती है। वह खण्डन कइयों के लिए अप्रिय होता है—और बस, नासमझी के कारण ये उस देवमार्ग पर चलनेवाले के विरोधी हो जाते हैं—कई बार उसकी जान भी लेने के लिए उतावले हो उठते हैं, अतः यह स्पष्ट ही है कि इस देवमार्ग पर चलनेवाले के लिए बड़ा वीर व निर्भीक होना नितान्त आवश्यक है। यह निर्भीकता उसे प्रभु की उपासना से प्राप्त होती है, अतः यह वामदेव कहता है कि **चित्रः**=उत्तम ज्ञान को देनेवाला (चित्=सं+ज्ञान) **सदावृधः**=सदा हमारी वृद्धि का कारण **नः सखा**=वह हमारा मित्र प्रभु **कया ऊती**=अपने आनन्दमय रक्षण से **आ भुवत्**=हमारे चारों ओर वर्त्तमान है और साथ ही **कया**=आनन्दमय **शचिष्ठया**=अत्यन्त शक्तिमय **वृता**=आवर्तन—नियमित दैनिक कार्यक्रम से वह प्रभु हमारी रक्षा कर रहे हैं।

प्रभु जिसकी भी रक्षा करना चाहते हैं उसे १. उत्तम ज्ञान प्राप्त करा देते हैं और २. उसकी जीवन की चर्या को सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमित कर देते हैं, जिससे उसे एक विशेष शक्ति प्राप्त होती है। इस शक्ति से सम्पन्न होकर ही तो वह धनात्मक धर्म का पालन कर सकता है।

भावार्थ—हम ज्ञान की वृद्धि करें और नियमित जीवन से शक्ति का सम्पादन करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दृढ़ दुर्गों का भंग

१ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
६८३. कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृढा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥

वामदेव अपने को व अपने साथियों को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **कः**=वह आनन्दमय

प्रभु **सत्यः**=जो सत्यस्वरूप हैं। **मदानां मंहिष्ठः**=मदों के—आनन्दमय उत्साहों के—सबसे महान् दाता हैं, वे **त्वा**=तुझे **अन्धसः**=सबसे अधिक ध्यान देने योग्य (आध्यायनीय) **सोम**=वीर्य-शक्ति के द्वारा **मत्सत्**=मद—हर्षयुक्त करते हैं।

वस्तुतः वामदेव की श्रेणी के लोग उस प्रभु को ही सत्यस्वरूप समझते हुए शरीर आदि के प्रति अत्यधिक ममतावाले नहीं हो जाते और अपने सोम के रक्षण के द्वारा उनमें एक उत्साह होता है जो उन्हें संसार को सुन्दर बनाने के लिए प्रेरित करता है—उनका जीवन निराशामय व अकर्मण्य नहीं होता।

इस आशावाद और क्रियाशीलता से चलता हुआ यह वामदेव **दृढाचित् वसु आरुजे**=असुरों के निवासभूत बड़े दुर्गों को भी तोड़-फोड़ डालता है। महादेव ने असुरों की तीन पुरियों का ध्वंस करके 'त्रिपुरारि' नाम पाया है, यह वामदेव भी उसी कार्य को करता है। सबसे प्रथम यह वासना के अधिष्ठानभूत **'इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते'** अपनी ही इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि को जीतता है और उसके बाद संसार में से भी काम-क्रोध और लोभ को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होता है।

भावार्थ—प्रभु को ही सत्य समझना और सोम की शक्ति से सम्पन्न होना ही आसुर वृत्तियों के विजय का उपाय है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु-रक्षा में विश्वास

६८४. अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतये॥ ३॥

यह वामदेव इन असुर-पुरियों के संहाररूप कार्य को करता हुआ प्रभु की उपासना करता है कि हे प्रभो! आप **नः**=हम **सखीनाम्**=समान-ख्यानवालों के—समान दृष्टिकोणवालों के **अविता**=रक्षक हैं। प्रभु का उद्देश्य अज्ञानान्धकार को दूर करना है—इसी उद्देश्य से प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान दिया है। इन वामदेव सरीखे प्रभु के सखाओं के जीवन का उद्देश्य भी अज्ञानान्धकार को दूर करना ही होता है। इस कार्य में ये निर्भीकता से चलते हैं, चूँकि ये अनुभव करते हैं कि प्रभु उनके रक्षक हैं, प्रभु ने यह कार्य जब तक उनसे कराना है, प्रभु उनकी रक्षा करेंगे ही। ये कहते हैं कि हे प्रभो! **नः जरितॄणाम्**=हम स्तोताओं के आप **शतं सु ऊतये**=सैकड़ों प्रकार से उत्तम रक्षा के लिए **अभिभवासि**=चारों ओर होते हैं। यह अपने को उस प्रभु से आवृत अनुभव करते हुए सब प्रकार के भयों से ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु का सखा प्रभु की रक्षा में विश्वास रखता है और निर्भीकता से लोकहित में प्रवृत्त रहता है।

सूक्त-१३

ऋषिः—नोधा गोतमः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः॥ स्वरः—मध्यमः॥

नोधा गोतम

६८५. तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे॥ १॥

वे प्रभु 'नो धा' (नः+धा) हमारे धारण करनेवाले हैं। इस रूप में प्रभु का स्मरण करनेवाला व्यक्ति विषयपंक से अपनी इन्द्रियों को अलिप्त रखकर 'गोतम' तो होता ही है। यह 'नोधा गोतम' अपने मित्रों से कहता है कि **तं इन्द्रम् गीर्भिः अभि नवामहे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की वाणियों से स्तुति करते हैं, जो प्रभु—

वः=तुम्हारे **दस्मम्**=रोगों को नष्ट करनेवाला है (दसु=उपक्षये Destroy, Decimate) (क) वह प्रभु नाना प्रकार के औषध-द्रव्यों के निर्माण व उनके प्रयोग के लिए बुद्धि देने के द्वारा हमारे रोगों को नष्ट करते हैं। (ख) इसके अतिरिक्त प्रभुस्तुति से मनोवृत्ति में कुछ ऐसा परिवर्तन आता है कि रोग मनुष्य को छोड़ जाते हैं। (ग) रोगों की संहारक मन्त्ररूप वीर्य-शक्ति को तो प्रभु ने हमें प्राप्त कराया ही है।

(२) **ऋतीषहम्**=वे प्रभु हमारे कामादि शत्रुओं के संहारक हैं। काम 'स्मर' है, तो प्रभु 'स्मरहर' हैं। महादेव कामदेव को भस्म कर देते हैं। हृदय में प्रभु की ज्योति जगाने पर कामादि वासनाओं का अन्धकार नहीं रहता। ओ३म् का जप हमारे हृदय को पवित्र बनाता है।

(३) **अन्धसः वसोः मन्दानम्**=आध्यायनीय, सब प्रकार से ध्यान देने योग्य, शरीर में निवास के कारणभूत सोम (=वीर्यशक्ति) के द्वारा वे प्रभु हमें आनन्दित करनेवाले हैं। इस वीर्यशक्ति के द्वारा ही वस्तुतः प्रभु ने हमारे शरीरों को नीरोग बनाया है, हमारे मनों को निर्मल और इस प्रकार इस सुन्दर व्यवस्था से वे प्रभु हमारा धारण कर रहे हैं।

हमारा भी यह कर्त्तव्य है कि हम उस प्रभु का सदा स्मरण करें और इस प्रकार प्रेम से स्मरण करें **न**=जैसेकि **वत्सम्**=बछड़े को **स्वसरेषु**=अपने जाने योग्य गोष्ठादि स्थानों में **धेनवः**=गौवें स्मरण करती हैं। जंगल में चर चुकी गौ घर पर बँधे बछड़े के लिए जैसे उत्सुक होती हैं, उसी प्रकार हम उस प्रभु के लिए उत्सुक हों। वेद को प्रेम के विषय में गौ और बछड़े की उपमा बड़ी प्रिय है। '**अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या**' इस मन्त्रभाग में कहा है कि हे गृहस्थ के व्यक्तियो! एक-दूसरे से ऐसे प्रेम करो जैसे गौ नवजात बछड़े से प्रेम करती है। यहाँ हमें भी प्रभु से इसी प्रकार प्रेम करने के लिए कहा गया है तभी वे प्रभु हमारे लिए व्याधिनाशक, आधिनाशक व शक्तिदायक होंगे।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण द्वारा नीरोग, निर्मल व वीर बनें।

ऋषिः—नोधा गोतमः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—सतोबृहती॥ स्वरः—पञ्चमः॥

नौ प्रकार से धारण

६८६. **द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम्।**
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे॥ २॥

यह मन्त्र भी 'नोधा गोतम' का ही है। वह प्रभु **नोधा**=नव धा=नौ प्रकार से हमारा धारण करनेवाले हैं। उस प्रभु की ही हम **ईमहे**=अध्येषणा (प्रार्थना) करते हैं, जो प्रभु—

(१) **द्युक्षम्**=प्रकाश में निवास करानेवाले हैं (द्यु=प्रकाश, क्षि=निवास)। प्रभु-स्मरण से मनुष्य अन्धकार में नहीं रहता, उसे अपना मार्ग स्पष्ट दिखता है। सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों को **(यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्)** श्रेष्ठ व दोषशून्य होने से प्रभु ने वेदज्ञान से जगमगा दिया तो क्या अब अपने हृदयों को ऐसा बनाने पर वे प्रभु हमारे हृदयों को ज्ञान से द्योतित न करेंगे?

(२) **सु-दानुम्**=वे प्रभु उत्तम बुद्धि, मन, इन्द्रियादि उपकरणों के देनेवाले हैं। कितनी विलक्षण

यह बुद्धि है। इससे मनुष्य ने विज्ञान में कितनी अद्भुत उन्नति की है! कितना शक्तिशाली यह मन है—यह हमें कहाँ नहीं पहुँचा सकता? एक-एक इन्द्रिय कितनी अपूर्व शक्ति से सम्पन्न है, किस प्रकार ये ज्ञान-प्राप्ति व कर्म करने में साधन बनती हैं?

(३) **तविषीभिः आवृतम्**=वह प्रभु शक्तियों से हमें आवृत करनेवाले हैं (आवृणोति इति आवृत्) नाना प्रकार की शक्तियाँ उन्होंने हमें प्राप्त करायी हैं। कई स्थानों पर इन शक्तियों की संख्या चौबीस दी गई है। 'मखाय त्वा' इस मन्त्र भाग में २४ बार यह कहा गया है कि मैं इन शक्तियों को यज्ञ के लिए अर्पित करता हूँ।

(४) **गिरि न पुरुभोजसम्**=जैसे पर्वत नाना प्रकार की ओषधियों, वनस्पतियों से हमारा पालन करता है, उसी प्रकार ये प्रभु भी हमारा पालन करनेवाले हैं। हमारे जीवनधारण के लिए सभी आवश्यक पदार्थों का प्रभु ने ही निर्माण किया है। पर्वतों को भी पालक द्रव्यों से प्रभु ने ही भरा है।

(५) **क्षुमन्तम्**=वे प्रभु 'क्षु' वाले हैं। 'क्षु' का अर्थ है भोजन। प्रभु ही सब प्राणियों को शरीरधारण के लिए भोजन प्राप्त कराते हैं।

(६) **वाजम्**=वे प्रभु बलवाले हैं। हमें भी भोजन के द्वारा बल प्राप्त कराते हैं।

(७) **शतिनम्**=वे हमें शत वर्ष का आयुष्य देनेवाले हैं। हम अपने हीन कर्मों से उसमें न्यूनता कर लिया करते हैं और इस प्रकार हमारी असमय में ही मृत्यु हो जाती है।

(८) **सहस्रिणम्**=वे प्रभु मधुर मुस्कान-(हस्र=Smile)-वाले हैं। हमें भी उन्होंने मनःप्रसाद के परिणामरूप यह मुस्कान प्राप्त करायी है, परन्तु हम अपनी अल्पज्ञता के कारण राग-द्वेष के वशीभूत होकर उसे समाप्त कर लेते हैं। यदि हमारी बालसुलभ निर्दोषता बनी रहे तो यह मुस्कान भी हमारा साथ कभी न छोड़े।

(९) **गोमन्तम्**=वे प्रभु प्रशस्त गौवोंवाले हैं। उन्होंने हमारे शरीरों की नीरोगता, मनों की निर्मलता और बुद्धि की तीव्रता के लिए इन गौवों से गोदुग्ध प्राप्त कराने की व्यवस्था की थी। हमने अपनी नासमझी से उन गौवों के महत्त्व को नहीं समझा। हमारा गोसंवर्धन की ओर झुकाव होगा तो वे गौएँ हमारा सर्वतः संवर्धन करनेवाली बनेंगी।

इस प्रकार उल्लिखित नौ प्रकारों से वे प्रभु हमारा धारण कर रहे हैं। हमें चाहिए कि हम **मक्षु**= शीघ्र ही उस प्रभु की **ईमहे**=आराधना करें। प्रभु की आराधना से ही हमारा नौ प्रकार से धारण हो सकेगा।

भावार्थ—प्रभु के इन नौ धारण-प्रकारों को समझते हुए हम सदा उनको पाने के अधिकारी बनें।

सूक्त-१४

ऋषिः—कलिः प्रागाथः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

कलि प्रागाथ

६८७. तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये।
बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम्॥ १॥

'कलि' शब्द कल् संख्याने धातु से बना है, इसका अर्थ है **संख्यान**=चिन्तन—एक वस्तु का विशेषरूप से देखना। बस, संसार के अन्दर प्रत्येक पदार्थ का केवल उपभोग ही करते न रहकर,

जो उन पदार्थों का चिन्तन भी करता है वह 'कलि' है। चिन्तन करनेवाला अवश्य ही उन पदार्थों की विशिष्ट रचना में प्रभु की महिमा को देखेगा और उसका गायन करेगा। गायन करने के कारण ही इसका नाम 'प्रागाथ' हुआ है। यह कलि प्रागाथ कहता है कि हे **सबाधः**=ऋत्विजो! **वः**=तुम्हें **तरोभिः**=शक्तियों के साथ **विदद्वसुम्**=उत्तम रत्न प्राप्त करानेवाले **इन्द्रम्**=सर्वैश्वर्यशाली प्रभु को **ऊतये**=रक्षा के लिए **सुतसोमे**=जिसमें सोम का अभिषव किया गया है उस **अध्वरे**=यज्ञ में **बृहत्**=खूब **गायन्तः**=गाते हो (लट् के स्थान में शतृ)। मैं भी **हुवे**=उस प्रभु को पुकारता हूँ। किस प्रभु को? **भरं न कारिणम्**=कुटुम्ब का भरण करनेवाले उत्तम क्रियाशील गृहपति को जैसे कुटुम्ब के लोग बुलाते हैं उसी प्रकार सबका भरण करनेवाले सदा क्रियाशील (**स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**) प्रभु को मैं अपने इस सुत-सोम—जीवनयज्ञ (अध्वर) में पुकारता हूँ, जिसमें शक्ति का सम्पादन किया गया है। वस्तुतः प्रभु के आवाहन का ही यह परिणाम है कि कलि प्रागाथ का जीवन **अध्वर**=हिंसारहित बना रहा है और शक्ति-सम्पन्न बना है। प्रभु-स्मरण, प्राणिमात्र में प्रभु के निवास का ध्यान आने से यह किसी की हिंसा क्योंकर करेगा? और क्योंकि प्रभु-स्मरण वासनाओं का विनाश कर देता है, अतः मनुष्य संयमी जीवनवाला होकर उत्पन्न शक्ति को शरीर में धारण करने से 'सुतसोम' होता है।

यह कलि प्रागाथ प्रभु का गायन इसी रूप में करता है कि—१. ये प्रभु शक्तियों के साथ उत्तम पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं, २. सर्वैश्वर्यशाली हैं, ३. सबकी रक्षा करनेवाले हैं। ४. सबके भरण का भार प्रभु के ही कन्धों पर है। ५. स्वाभाविकरूप से आप सदा क्रियाशील हैं। जीवहित के लिए सदा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय किया करते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् आपका कुटुम्ब ही तो है, आप इसका भरण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम भी कलि प्रागाथ की भाँति इस संसार को प्रभु के एक परिवार के रूप में देखें और अपने जीवन को शक्ति-सम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—सतोबृहती॥ स्वरः—पञ्चमः॥

कौन नहीं वरते?

२उ ३ १ २र ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २र
६८८. **न यं दुध्रा वरन्ते न स्थिरा मुरो मदेषु शिप्रमन्धसः।**
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३क २र
य आदृत्या शशमानाय सुन्वते दाता जरित्र उक्थ्यम्॥ २॥

गत मन्त्र में कहा था कि हम संसार को प्रभु का ही एक परिवार समझें, परन्तु संसार में कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो अपने को ही ईश्वर समझते हैं और **अन्धसः**=शक्ति के **मदेषु**=नशे में **शिप्रम्**=उस सर्वज्ञ प्रभु को **न**=नहीं **वरन्ते**=वरते। इस प्रभु को **दुध्राः**=(दुध्=To kill, दुध्र=Powerful, voilent) अत्याचार में विनियुक्त शक्तिवाले तथा **स्थिराः मुरः**=स्थिररूप से नाश करनेवाले, अर्थात् पक्के दैत्य **न वरन्ते**=कभी नहीं चुनते। इन लोगों का झुकाव तो टेढ़े-मेढ़े तथा घात-पात के साधनों से रुपया जुटाने की ओर ही होता है **यः**=वे प्रभु **उक्थ्यम्**=बड़े प्रसंशनीय धन के **दाता**=देनेवाले हैं। किसे? **आदृत्या शशमानाय**=बड़ी सावधानी से

१. अन्धसः शब्द अध्यायनीय=सर्वतः ध्यान देने योग्य अर्थ को कहता हुआ शक्ति का वाचक है। प्लुत गति के कार्य करनेवाले के लिए। जो व्यक्ति कार्य करता है, प्रभु उसे आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं। २. **सुन्वते**=उत्पन्न करनेवाले के लिए। जो व्यक्ति उत्पादक श्रम करता है, प्रभु उसे धन प्राप्त

कराते हैं। जो भी व्यक्ति कुछ-न-कुछ निर्माण में लगा है, वह राष्ट्र का हित कर रहा है और वह प्रभु का प्रिय होता है। ३. **जरित्रे**=स्तोता के लिए। धर्म-मार्ग पर चलनेवाले अपने उपासकों के लिए।

भावार्थ—हम अप्रमादी होकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करें, निर्माण के कार्य में लगे रहें और प्रभु-स्तवन करनेवाले हों, जिससे हम प्रभु के दान के पात्र हों। हम शक्ति के घमण्ड में अपने को ही ईश्वर समझते हुए प्रभु से दूर न हो जाएँ।

सूक्त-१५

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मधुच्छन्दाः वैश्वामित्रः

६८९. स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः॥ १॥

इस तृच का देवता 'सोम' है। 'सोम' शब्द का अर्थ वीर्य है। इस सोम के पान=शरीर में ही व्याप्त करने से मनुष्य-जीवन मधुर इच्छाओं से परिपूर्ण होता है और वह 'मधुच्छन्दाः' कहलाने लगता है (मधु=मधुर, छन्दस्=इच्छा)। इसके मन में किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं होता। यह सभी के प्रति स्नेह की वृत्तिवाला होने के कारण 'वैश्वामित्र' नामवाला होता है। मन्त्र में कहते हैं कि हे **सोम**=तू **धारया**=अपनी धारक शक्ति से **पवस्व**=हमें पवित्र बना दे। तेरी वह धारा **स्वादिष्ठया**=अत्यन्त मधुर हो। हे सोम! तेरी वह धारा **मदिष्ठया**=उच्चतम मद, हर्ष व आनन्द देनेवाली हो। वीर्यवान् पुरुष का मानस सदा आनन्दमय होता है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। यही मानस आनन्द इसके चेहरे पर मुस्कराहट के रूप में अभिव्यक्त होता है।

हे सोम! **सुतः**=उत्पादित हुआ हुआ तू **इन्द्राय पातवे**=इन्द्र की रक्षा के लिए हो। तू आसुर वृत्तियों के आक्रमण से हमारी रक्षा कर। निर्वीर्य पुरुष ही क्रोध, ईर्ष्या आदि आसुर वृत्तियों का शिकार हुआ करता है। अगले मन्त्र में यही भावना 'रक्षो-हा' शब्द से कही जाएगी।

भावार्थ—हम संयम द्वारा सोमपान करते हुए अपने जीवनों को मधुर व आनन्दमय बनाएँ और अपने को आसुर वृत्तियों से बचाएँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अयोहत द्रोण में

६९०. रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहते। द्रोणे सधस्थमासदत्॥ २॥

सोम का उत्पादन शरीर में होता है। आहार के शरीर में जाने पर रस-रुधिर आदि के क्रम से सातवें स्थान में वीर्य की उत्पत्ति होती है। एवं, यह शरीर ही इस सोम की 'योनि' है—उत्पत्तिस्थान है। इस शरीर को ही यहाँ द्रोण कहा है। यह सोम का पात्र है—रक्षणस्थान है (पा-रक्षणे)। द्रोण एक वृक्ष का नाम है, जिसपर श्वेत पुष्प लगते हैं। शरीर ही वह वृक्ष है और सोम ही उसका श्वेत पुष्प है। इस पुष्प के शरीर में सुरक्षित होने पर यह शरीर पुष्ट होकर वज्रतुल्य दृढ़ हो जाता है—इस समय इसे 'अयोहत' कहते हैं, मानो लोहे को ही कूट-कूटकर शरीर के रूप में परिणत कर दिया गया हो।

जब सोम **अभियोनिम्**=शरीर की ही ओर—अपने उत्पत्तिस्थान की ही ओर गतिवाला होता है तब यह सोम **अयोहते द्रोणे आसदत्**=लोहे के समान दृढ़ इस शरीर में स्थित होता है। उस

समय यह शरीर **सधस्थम्**=साथ ठहरने का स्थान होता है, अर्थात् तब यह आत्मा इस शरीर में परमात्मा के साथ निवास कर रहा होता है। सुरक्षित वीर्य ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर प्रभु का ज्ञान प्राप्त कराता है। सोमरक्षा के लाभों की यही चरमसीमा है।

यह सोम '**रक्षो-हा**'=रोगकृमियों व राक्षसीवृत्तियों का नाश करनेवाला है। अपने रमण के लिए दूसरों का क्षय करनेवाले रोगकृमि 'रक्षस्' हैं। यह वीर्य उनको विशेषरूप से कम्पित करके नष्ट कर देता है। राक्षसीवृत्तियों का स्वरूप भी स्व-रमण व पर-क्षय है। सुरक्षित वीर्यवाला पुरुष इन वृत्तियों का कभी शिकार नहीं होता।

यह रक्षोविध्वंस का कार्य वीर्य के द्वारा इस रूप में किया जाता है कि यह वीर्य मनुष्य को क्रियाशील बनाये रखता है। वीर्यवान् पुरुष सदा निर्माणात्मक कार्यों में लगा रहने से अशुभ वासनाओं का शिकार नहीं होता। यही बात यहाँ 'विश्वचर्षणि' शब्द से कही गयी है कि **विश्व**=प्रविष्ट हो गयी है **चर्षणि**=क्रिया जिसमें, ऐसा यह वीर्यवान् पुरुष है। सोम ने इसे विश्वचर्षणि=क्रियाशील बना दिया है।

भावार्थ—सोम-रक्षा के द्वारा—१. हम अपने शरीरों को अयोहत=वज्रतुल्य दृढ़ बनाएँ, २. सब इन्द्रियों को क्रियाशील कर लें, ३. अपने मनों से राक्षसीवृत्तियों को दूर करनेवाले होकर, ४. प्रभु के ज्ञान को प्राप्त कर, उसके साथ स्थित होनेवाले बनें।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'वरिवोधातम' सोम

६९१. वरिवोधातमो भुवो मंहिष्ठो वृत्रहन्तमः। पर्षि राधो मघोनाम्॥ ३॥

यह सोम 'वरिवो-धा-तम' है, उत्तमोत्तम धनों को अतिशयेन धारण करनेवाला है। इसने शरीर को 'वज्रतुल्य दृढ़ता', मन को 'निर्मलता' तथा बुद्धि को 'तीव्रता' प्राप्त करायी है। ये ही मानव के सर्वोत्तम धन हैं। मधुछन्दाः कहता है कि हे सोम! तू **वरिवोधातमः भुवः**=उत्तम धनों का देनेवाला होता है। इन्हीं से तो मनुष्य 'धन्य' बनता है। **मंहिष्ठः**=तू दातृतम है। इन धनों को खूब देता है और **वृत्रहन्तमः**=ज्ञान को आवृत करनेवाली (वृत्र) इन वासनाओं को पूर्णरूप से नष्ट करनेवाला है। वासनाएँ ही मनुष्य के उन्नति-मार्ग में रुकावटें हुआ करती हैं, इन्हीं के कारण मनुष्य अपने कार्यों में सफल नहीं हुआ करता, परन्तु जब सोम-रक्षा के द्वारा मनुष्य इनपर विजय पा लेता है, तब इन **मघोनाम्**=इन्द्रों—वासनारूप असुरों को नष्ट करनेवालों की **राधः**=सिद्धि को, सफलता को (राध्=सिद्धि) **पर्षि**=तू पूर्ण करता है। (पृ=To complete)। वीर्यवान् पुरुष सिद्धि=सफलता प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—वीर्य-रक्षा द्वारा शरीर की दृढ़ता, मन की निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता आदि उत्तम धनों को प्राप्त करके, सिद्धि की विघ्नरूप वासनाओं को विनष्ट करके हम सदा सिद्धि को प्राप्त करनेवाले बनें।

सूक्त-१६

ऋषिः—गौरिवीतिः शाक्त्यः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (ककुप्)॥ स्वरः—ऋषभः॥

गौरिवीतिः शाक्त्यः

६९२. पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः। महि द्युक्षतमो मदः॥ १॥

प्रस्तुत दो मन्त्रों का ऋषि 'गौरिवीति शाक्त्य' है। आचार्य दयानन्द इसका अर्थ करते हैं 'यो गौरीं वाचं व्येति', अर्थात् जो वाणी के विषय को व्याप्त करता है। बृहस्पति शब्द की मूल भावना (बृहत्याः वाचः पतिः) भी 'वाणी का पति' ही है। एवं, गौरिवीति और बृहस्पति शब्द एकार्थक ही हैं। 'शाक्त्यः' की भावना है शक्ति का पुत्र, अर्थात् अत्यन्त शक्तिशाली। यही भावना 'भरद्वाजः' शब्द में निहित है—'भरी है अपने अन्दर शक्ति जिसने।' एवं, 'गौरिवीति शाक्त्य' व 'बार्हस्पत्य भारद्वाज' में कोई अन्तर नहीं है।

१. यह ऐसा इसलिए बन पाया है कि इसने सोम के रहस्य को समझकर उसका पान किया है। यह सोम से कहता है कि हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **पवस्व**=पवित्रता करनेवाली हो। यह वीर्यरक्षा शरीर को नीरोग बनाती है, क्योंकि यह रोगकृमियों को विशेषरूप से कम्पित करके दूर भगा देती है। यह मन को निर्मल बनाती है और बुद्धि को उज्ज्वल। एवं, यह शरीर, मन व बुद्धि तीनों को ही पवित्र करती है। २. हे सोम! तू **मधुमत्तमः**=अत्यन्त माधुर्यवाला है, अर्थात् वीर्य पुरुष के जीवन को बड़ा मधुर बना देता है। यह किसी के साथ द्वेष तो करता ही नहीं, शक्तिसम्पन्न होने से यह सभी के हित में प्रवृत्त रहता है। इसमें आलस्य नहीं होता, क्रियाशीलता व अव्याकुलता के कारण इसके सभी कार्य मधुर बने रहते हैं। ३. यह सोम एक ऐसे मद को, हर्षातिरेक को प्राप्त करानेवाला होता है, जो **मदः**=मद **क्रतुवित्तमः**=उत्तम सङ्कल्पों को प्राप्त कराता है। सोमपान करनेवाले पुरुष में अशुभ सङ्कल्पों का जन्म नहीं होता, इसका मन शिवसङ्कल्पों का आकर बनता है (क्रतु=सङ्कल्प, विद्=प्राप्त करना, तम=अतिशेयन) ४. यह सोमजनित **मदः**=हर्ष व उत्साह का अतिरेक **महि**=महत्—अत्यधिक **द्युमत्तमः**=(द्यौः प्रकाशः क्षियति निवसति यस्मिन्) ज्ञान-प्रकाश के निवासवाला है। इस सोम से ज्ञान का प्रकाश उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है।

भावार्थ—सोमपान के द्वारा हम अपने जीवनों को पवित्र, मधुर, उत्तम सङ्कल्पोंवाला व उज्ज्वल ज्ञान के प्रकाशवाला बनाएँ।

ऋषिः—गौरिवीतिः शाक्त्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

साक्षात् धर्म

६९३. यस्य ते पीत्वा वृषभो वृषायतेऽस्य पीत्वा स्वर्विदः।
स सुप्रकेतो अभ्यक्रमीदिषोऽच्छा वाजं नैतशः ॥ २ ॥

हे सोम! **यस्य ते पीत्वा**=जिस तेरा पान करके **वृषभः**=एक शक्तिशाली पुरुष **वृषायते**=साक्षात् धर्म की भाँति आचरण करता है, ऐसा तू है। सोम की रक्षा से मनुष्य शक्तिशाली तो बनता है, परन्तु उसकी शक्ति उसे मदयुक्त करके अधर्म की ओर नहीं ले-जाती, उसकी प्रत्येक क्रिया धर्म के अनुकूल होती है। एवं, सोम अपने पान करनेवाले को यशस्वी बल प्राप्त कराता है। यही भावना पूर्वमन्त्र में 'पवस्व व मधुमत्तमः' शब्दों से कही गयी थी कि उसका जीवन पवित्र व मधुर बना रहता है।

अस्य पीत्वा=सोम का पान करके लोग **स्वः विदः**=देवों को=दिव्य गुणों व दैवी-सम्पत्ति को (देवा वै स्वः—श० १.९.३.१४) प्राप्त करनेवाले होते हैं (विद्=लाभे)। सोमपान करनेवाला व्यक्ति अपने अन्दर आसुर भावनाओं का पोषण नहीं करता। यह द्वेष से सदा दूर रहता है। यही भावना पूर्वमन्त्र में 'क्रतुवित्तमः' शब्द से कही गयी थी कि यह 'उत्तम सङ्कल्पों को प्राप्त करानेवाला है।'

सः=यह सोमपान करनेवाला व्यक्ति **सुप्रकेतः**=अत्यन्त प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता है और **अभि अक्रमीत्**=उस प्रभु की ओर गति कर रहा होता है। यही भावना गत मन्त्र में 'महि द्युक्षतमः' शब्दों से व्यक्त हुई है कि यह महान् ज्ञान के प्रकाश में निवास करनेवाला होता है। मन्त्र की समाप्ति पर कहते हैं कि **न**=जैसे **एतशः**=घोड़ा **इषः**=अन्न से (इषः पञ्चमी का एकवचन है, हेतु में इसका प्रयोग है) **वाजम् अच्छ**=शक्ति की ओर बढ़ता है, इसी प्रकार यह सोमपान करनेवाला व्यक्ति सोम के द्वारा शक्ति, दिव्य गुणों व उत्तम ज्ञान को प्राप्त करता हुआ प्रभु-प्राप्ति में अग्रसर होता है। एवं, सोमपान का महत्त्व स्पष्ट है।

भावार्थ—सोम हमें प्रभु के साथ मिलाने का साधन बने। इस सोम से हम शक्ति, दिव्य गुणों व उत्तम ज्ञान का सम्पादन करें—यही साक्षात् धर्म है।

सूक्त-१७

ऋषिः—अग्निश्चाक्षुषः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

अग्निः चाक्षुषः

६९४. इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः। श्रुष्टे जातास इन्दवः स्वर्विदः॥ १॥

इस तृच का ऋषि 'अग्नि चाक्षुष' है। अग्नि के समान तेजस्वी होने से इसका नाम अग्नि हो गया है। स्थानान्तर में 'पावकवर्णः' यह विशेषण प्रभु-भक्त का आया है—वह अग्नि के समान वर्णवाला होता है। शरीर से तेजस्वी होता हुआ यह 'चाक्षुष'=उत्तम चक्षुओंवाला 'विचक्षण'=विद्वान् है। इसका दृष्टिकोण ठीक होता है—प्रत्येक वस्तु को ठीक रूप में देखता है। इस प्रकार इस शब्द की भावना भी 'बार्हस्पत्य भारद्वाज' व 'गौरिवीति शाक्त्य' के समान ही है।

यह 'अग्नि चाक्षुष' कहता है कि **इमे सुताः**=ये उत्पन्न हुए-हुए सोम (वीर्यबिन्दु) **इन्द्रम् अच्छ**=मुझे प्रभु की ओर ले-चलते हैं। वीर्यशक्ति का मुख्य उद्देश्य जीव को प्रभु की प्राप्ति कराना ही है। यही इस शक्ति के उत्तर-अयन (मार्ग) का अन्तिम लक्ष्य है। **हरयः**=दुःख को हरनेवाले ये सोम **वृषणम्**=शक्तिशाली पुरुष को **यन्तु**=प्राप्त हों। ये सोम प्रभु को तो प्राप्त कराते ही हैं, साथ ही इस शरीर में ये हमारे दुःखों को दूर करनेवाले होते हैं। रोगकृमियों के संहार से ये शरीर को नीरोग व सबल बनाते हैं। शक्तिसम्पन्न मनुष्य ईर्ष्या-द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठा हुआ होता है। उलझनों से युक्त (Confused) नहीं होता। ये सोम तो **श्रुष्टे**=सुख (Happiness, prosperity) के निमित्त ही **जातासः**=पैदा हुए हैं। प्रभु ने इनका निर्माण मानव की सब प्रकार की समृद्धि के लिए ही किया है। इनका नाम ही इन्दवः='परमैश्वर्य को प्राप्त करानेवाले' है। सुख के निमित्त उत्पन्न हुए-हुए ये सोम के **इन्दवः**=(बिन्दवः Drops, द्रप्सः) बिन्दु सचमुच **स्वः विदः**=स्वर्ग-सुख का लाभ करानेवाले हैं।

भावार्थ—ये सोम हमारे दुःखों को दूर करके हमें सुखों व प्रभु को प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—अग्निश्चाक्षुषः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

जैत्र का सोम

६९५. अयं भराय सानसिरिन्द्राय पवते सुतः। सोमो जैत्रस्य चेतति यथा विदे॥ २॥

अयम्=यह सोम **भराय**=इसे धारण—शरीर में सुरक्षित रखनेवाले के लिए **सानसिः**=स्वर्ण

होता है (सानसि=Gold)। सोने के समान अमूल्य तो यह वस्तु है ही। अथवा सानसि शब्द 'षण्'=संभक्तौ धातु से बनकर प्रेम करना=To love, पूजना=To Worship अर्थों को कहता हुआ यह स्पष्ट करता है कि सोम की रक्षा से मनुष्य में प्रभु के व प्राणिमात्र के प्रति प्रेम बढ़ता है और यह उसे प्रभु का उपासक बनाता है। 'He prayeth best, who loveth best, both—man and bird and beast'=सभी से प्रेम ही तो प्रभु की प्रकृष्ट पूजा है। **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्राय**=इन्द्रियों के वशी—इन्द्रियों के अधिष्ठाता—इन्द्र के लिए—**पवते**=पवित्र करनेवाला होता है। यह शरीर और मस्तिष्क को पवित्र कर देता है। **जैत्रस्य**=वासनाओं को जीतने के स्वभाववाले पुरुष के लिए यह **सोमः**=सोम **चेतति**=संज्ञानवाला होता है। जो व्यक्ति वासनाओं पर विजय पाना अपना स्वभाव ही बना लेता है, उसमें सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, अतः सदा उत्तम ज्ञानवाला होता है। इस जैत्र की बुद्धि सोम से समुज्ज्वल होकर **यथाविदे**=प्रत्येक वस्तु को अपने ठीक रूप में देखनेवाली होती है। सोम की रक्षा होते ही हमारी अविद्या नष्ट हो जाती है। इस अविद्यानाश से ही हमारे क्लेशों का भी नाश होता है और हम आत्म-आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—सोम की रक्षा के द्वारा हम प्रभु के सच्चे पुजारी बनें, हमारे जीवन पवित्र हों तथा हम यथार्थ ज्ञान का लाभ करें।

ऋषिः—अग्निश्चाक्षुषः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

अप्सुजित्

६९६. अस्येदिन्द्रो मदेष्वा ग्राभं गृभ्णाति सानसिम्।
वज्रं च वृषणं भरत् समप्सुजित्॥ ३॥

इत्=निश्चय से **अस्य**=इस सोम के **मदेषु**=हर्षों व आनन्दों में—स्फूर्तिमय जीवन में **इन्द्रः**=सोम का पान—रक्षा करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **सानसिं ग्राभं आगृभ्णाति**=आदरणीय प्राप्तियों का ही ग्रहण करता है। सोम का पान (रक्षा) करनेवाले देव कभी असद् ग्राहों का स्वीकार नहीं करते—ये कभी रिश्वत इत्यादि अन्याय से प्राप्त होनेवाले लाभों को नहीं लेते। उनकी मनोवृत्ति ही इन ग्राहों के विपरीत हो जाती है। वह संसार कितना सुन्दर होगा जिसमें मनुष्य की वृत्ति ही अन्याय से अर्थ-संचय से पराङ्मुख हो जाएगी! एवं, स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य प्रभु की प्राप्ति से परलोक में ही कल्याण करनेवाला नहीं है—उसमें राष्ट्र को सुन्दर बनाने का मूल भी निहित है। संक्षेप में यह ब्रह्मचर्य दैत्यजगत् को देवजगत् में परिणत कर देता है।

इस सोम की रक्षा करनेवाला व्यक्ति जहाँ असद् ग्राहों का ग्रहण नहीं करता, वहाँ यह सदा भोगमार्ग से दूर रहता हुआ **वृषणम्**=शक्तिशाली **वज्रम्**=वज्रतुल्य दृढ़ शरीर को **संभरत्**=सम्यक्तया धारण करता है। सोमरक्षक का शरीर वज्रवत् दृढ़ बन जाता है। एवं, तीन मन्त्रों में सोमरक्षा के आठ लाभ हैं। यह सोम की रक्षा होगी कैसे? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र के अन्तिम शब्द 'अप्सुजित्' में दिया गया है। अप्=कर्म, अप्सु=कर्मों के होने पर जित्=वासनाओं को जीतनेवाला पुरुष ही सोम का पान किया करता है। ब्रह्मचारी को सदा उत्तम क्रियाओं में लगे रहना—इसके बिना ब्रह्मचर्य पालन सम्भव ही नहीं।

भावार्थ—हम सदा क्रियाशील बनकर संयमी बनें और अन्याय्य धन के प्रलोभन से दूर रहते हुए वज्रतुल्य शरीरवाले बनें।

सूक्त-१८

ऋषिः—अन्धीगुः श्यावाश्विः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—आनुष्टुभः प्रगाथः (अनुष्टुप्) ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अन्धीगुः श्यावाश्वः

६९७. पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे ।
अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्व्यम् ॥ १ ॥

'अन्धस्' शब्द सोम=वीर्य का वाचक है। 'गो' शब्द इन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों का कथन करता है। 'अन्धीगुः' वह व्यक्ति है जिसने सोम को ज्ञानेन्द्रियों का भोजन बना दिया है। सोम को शरीर में ही खपाने के कारण उसकी कर्मेन्द्रियाँ (अश्व) भी अतिशेयन क्रियाशील हैं (श्यैङ्गतौ), अतः इसका नाम श्यावाश्व पड़ गया है। यह अन्धीगु श्यावाश्व अपने मित्रों से कहता है—**सखायः**=मित्रो! **वः**=तुम्हारे **अन्धसः**=आध्यायनीय इस सोम के **पुरोजिती**=पूर्ण विजय के लिए—ऐसी विजय के लिए जो तुम्हारा पालन व पूरण करेगी **श्वानम्**=इस कुत्ते को, जो **दीर्घजिह्व्यम्**=दीर्घ जिह्वावाला है, **अपश्नथिष्टन्**=दूर विनष्ट कर दो। कुत्ता सूखी हड्डी पर भी लड़ता है, अतः यह उस वृत्ति का प्रतीक है जो सदा खान-पान के लिए ही झगड़ती रहती है। साथ ही कुत्ता अपवित्रतम वस्तुओं को भी खा लेता है, अतः यह तामसी भोजन की वृत्ति का भी संकेत कर रहा है। 'दीर्घ जिह्व्यम्' विशेषण दिनभर चरते रहने की वृत्ति को भी लक्षित कर रहा है। एवं, सार यह है कि सोम की पूर्णविजय व रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि हमारी सारी शक्ति भोजन के जुटाने में ही न लगी रहे, हम तामस् भोजन से दूर रहें और दिनभर खाते ही न रहें।

यदि हम सोम की पवित्र व परिमित भोजन से रक्षा करेंगे तो यह १. हमारे **सुताय**=निर्माण के लिए होगा (सु=पैदा करना)। हममें दैत्यों की वृत्ति न पनपेगी। २. **मादयित्नवे**=हमारे जीवन में एक अद्भुत मद—हर्ष, उल्लास के संचार के लिए होगा।

भावार्थ—हम पवित्र व परिमित भोजन से वीर्य की शरीर में सुरक्षा करनेवाले बनें, जिससे वह सुरक्षित वीर्य हममें निर्माण की वृत्ति व उल्लास को जन्म देनेवाला हो।

ऋषिः—अन्धीगुः श्यावाश्विः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—आनुष्टुभः प्रगाथः (गायत्री) ॥ स्वरः—षड्जः ॥

क्रियाशील अश्व के समान

६९८. यो धारया पावकया परिप्रस्यन्दते सुतः । इन्दुरश्वो न कृत्व्यः ॥ २ ॥

यः=जो **सुतः**=उत्पन्न होता हुआ **इन्दुः**=सोम **पावकया**=पवित्र करनेवाली **धारया**=धारा से अथवा जीवन के धारण करनेवाली शक्ति से **परि**=शरीर में चारों ओर **प्रस्यन्दते**=प्रस्तुत होता है, यह सोम **कृत्व्यः अश्वः न**=क्रियाशील अश्व के समान है। मन्त्र के इस उल्लिखित अर्थ से निम्न बातें स्पष्ट हैं—

१. **धारया**=यह सोम जीवन का धारण करनेवाला है। २. **पावकया**=यह सोम हमारे जीवन को पवित्र बना देता है। यह शरीर को नीरोग तथा मन को निर्मल बना देता है। ३. **अश्वो न कृत्व्यः**=यह क्रियाशील घोड़े के समान है, अर्थात् यह हमारे जीवन को बड़ा क्रियाशील, स्फूर्तिमय

बनानेवाला है। यह हमें 'श्यावाश्व' बना देता है।

भावार्थ—सोमरक्षा के द्वारा हम दीर्घ, पवित्र व क्रियाशील जीवनवाले बनें।

ऋषिः—अन्धीगुः श्यावाश्विः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—आनुष्टुभः प्रगाथः (गायत्री)॥ स्वरः—षड्जः ॥

बुराइमात्र का दाह

६९९. तं दुरोषमभी नरः सोमं विश्वाच्या धिया। यज्ञाय सन्त्वद्रयः ॥ ३ ॥

तम्=उस **अभि-दुरोषम्**=(दुर्+ओषम्, उष् दाहे) बुराइयों को सर्वतः जला डालनेवाली **सोमम्**=वीर्यशक्ति को **नरः**=(नृ नये) अपने को आगे ले-चलनेवाले मनुष्य **विश्वाच्या**=सब विषयों में प्रगतिवाली **धिया**=बुद्धि से, अर्थात् व्यापक ज्ञान के साथ **यज्ञाय**=उत्तम कर्मों के लिए विनियुक्त करते हैं।

यह सोम क्या शरीर, क्या मन और क्या बुद्धि सभी स्थानों की मलिनता को नष्ट कर देता है। रोगकृमियों को, द्वेषादि की वृत्तियों को तथा बुद्धि की कुण्ठता को दूर करता हुआ यह सचमुच 'अभिदुरोषम्' है। इस सोम की रक्षा के लिए इसका कहीं-न-कहीं विनियोग आवश्यक है। नर लोग इसका विनियोग ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करने में तथा उत्तम कर्मों में किया करते हैं और इस प्रकार 'अन्धीगुः श्यावाश्व' बनते हैं। हम भोग में फँसकर इसका अपव्यय कर बैठते हैं, परन्तु नर व्यक्ति ऐसा कभी नहीं करते, इसलिए वे **अद्रयः सन्तु**=आदरणीय होते हैं। मन्त्र में 'विश्वाच्या धिया' शब्द से 'व्यापक ज्ञान में लगे रहना' तथा 'यज्ञाय' शब्द से 'उत्तम कर्मों में लगे रहना'—सोमपान के इन दो साधनों का उल्लेख हुआ है। ये सोमपान के साधन भी हैं, फल भी हैं। सोमपान से हम इनमें प्रवृत्त होते हैं और इनमें प्रवृत्त होना सोमपान के लिए सहायक होता है।

भावार्थ—हम व्यापक ज्ञान की उपलब्धि व यज्ञों में प्रवृत्त हो सोमपान करके सब बुराइयों को भस्म कर दें और आदरणीय हों।

सूक्त-१९

ऋषिः—कविर्भार्गवः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रकृति में रहता हुआ भी

७००. अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते।
आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि रथं विष्वञ्चमरुहद्विचक्षणः ॥ १ ॥

इस मन्त्र का ऋषि 'कवि भार्गव' है। कवि का अर्थ है 'क्रान्तदर्शी'—तत्त्व तक पहुँचनेवाली दृष्टिवाला—न कि उथली दृष्टिवाला। भार्गव होने से यह ऐसा बन सका है। भार्गव का अभिप्राय है 'भृगु का अपत्य', अर्थात् अतिशयेन भृगु—अपने को तपस्या की भट्ठी में पकानेवाला। यह आचार्य के समीप '**तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे**'=खूब तप करता है, इसी से बुद्धि का ठीक परिपाक करके 'कवि'=क्रान्तदर्शी बनता है। यह कवि **चनोहितः**=अन्न में स्थित होता हुआ भी उन प्राकृतिक भोगों में लिप्त नहीं होता। जल में कमल की भाँति यह कवि प्राकृतिक भोगों में स्थित होता हुआ भी **प्रियाणि नामानि**=प्रभु के सुन्दर नामों को **अभिपवते**=बारीकी से विचारता है (अभि=On, पवते=To think out, Discern), **येषु**=उन नामों को जिनसे **यह्वः**=वह महान् अथवा

सबसे जाने योग्य और पुकारने योग्य प्रभु (यातश्च हूतश्च) **अधिवर्धते**=बढ़ता है, अर्थात् जिन नामों से प्रभु की महिमा प्रकट हो रही है। वस्तुतः यह 'भार्गव कवि' इन सब प्राकृतिक पदार्थों में भी प्रभु की महिमा को ही देखता है और इसी प्रभु-स्मरण के कारण उनका ठीक उपयोग करता हुआ उनमें आसक्त नहीं होता, उनमें रहता हुआ भी उनका नहीं हो जाता।

'भार्गव कवि' **सूर्यस्य**=प्रकाश की देवता के, अर्थात् ज्ञान के **बृहतः बृहन्**=विशाल-से-विशाल अतिविस्तृत **रथं अधि अरुहत्**=रथ पर सवार होता है, अर्थात् विस्तृत ज्ञान को प्राप्त करता है। उसका यह ज्ञान-रथ **विश्वञ्चम्**=(वि+सु+अञ्च्)=विविध दिशाओं में उत्तम गति से जानेवाला है, अर्थात् सभी विषयों के व्यापक ज्ञान को प्राप्त करके यह 'विचक्षणः'—विशेष दृष्टिवाला बनता है।

भावार्थ—इस संसार में रहते हुए भी हम सब प्राकृतिक पदार्थों में प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न करें, प्रभु के प्रिय नामों का स्मरण करते हुए, व्यापक ज्ञान को प्राप्त कर 'विचक्षण' बनें और इस मन्त्र के ऋषि 'कवि' हों।

ऋषिः—कविर्भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

माता-पिता का सच्चा पुत्र

७०१. ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं वक्ता पतिर्धियो अस्या अदाभ्यः।
दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यां ३ नाम तृतीयमधि रोचनं दिवः॥ २॥

'कवि भार्गव' की १. **ऋतस्य जिह्वा**=सत्य की वाणी **मधु पवते**=माधुर्य को प्रकट करती है, अर्थात् यह कवि सदा सत्य वाणी को ही प्रिय ढंग से बोलता है। २. **प्रियं वक्ता**=अप्रिय शब्द न बोलकर सदा प्रिय शब्दों का उच्चारण करता है। ३. यह **अस्याः धियः पतिः**='सत्य को प्रिय प्रकार से बोलने' की कला (धी) का पति होता है, अर्थात् प्रिय सत्य को प्रकट करने में नैपुण्य प्राप्त कर लेता है, परन्तु खुशामदी नहीं बनता। खुशामदी बनना तो दूर रहा वह न दबनेवाला, ४. **अदाभ्यः**=एक विशेष प्रकार की तेजस्वितावाला तथा पवित्र बना रहता है।

समाज में उल्लिखित ढंग से वर्त्तता हुआ यह कवि **पित्रोः पुत्रः**=अपने परमेश्वररूप माता-पिता का सच्चा पुत्र बनकर **अपीच्याम्**=सुन्दर व रहस्यमय **नाम**=नमन—विनीतता को **दधाति**=धारण करता है। यह विनीतता ही **तृतीयम्**=उसका तीर्णतम तीसरा गुण है। पहला गुण 'प्रिय, मधुर, सत्य बोलना' था, द्वितीय गुण 'न दबना व पवित्र बने रहना था' तृतीय गुण 'विनीतता' है। यह विनीतता **दिवः**=ज्ञान का, प्रकाश का **अधिरोचनम्**=उत्तम आभूषण है। इसकी विनीतता इस 'भार्गव कवि' के ज्ञान को चार चाँद लगा देती है—उसे अधिक दीप्त कर देती है।

भावार्थ—१. प्रिय सत्य बोलनेवाले, २. पवित्र तेजस्वी तथा ३. विनीत ज्ञानी बनते हुए हम अपने माता-पिता के सच्चे पुत्र बनें।

ऋषिः—कविर्भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

हिरण्यकोश में (नित्य सत्त्वस्थः)

७०२. अव द्युतानः कलशाँ अचिक्रदन्नृभिर्येमाणः कोश आ हिरण्यये।
अभी ऋतस्य दोहना अनूषताधि त्रिपृष्ठ उषसो वि राजसि॥ ३॥

यह कवि **द्युतानः**=अपने ज्ञान को विस्तृत करता हुआ (द्यु+तन्=विस्तार) **कलशान्**=सोलह कलाओं के आधारभूत (कला+शी) शरीरों को **अव अचिक्रदत्**=नीचे [दूर] पुकार देता है, अर्थात् वह स्पष्ट कह देता है कि सब कलाओं का आधार होता हुआ भी यह स्थूलशरीर मेरा मुख्य ध्येय नहीं बन सकता। यह सुन्दर है, आवश्यक है; परन्तु मुझे अपनी सारी शक्ति इसी की उन्नति में नहीं लगा देनी। मुझे आगे बढ़ना है, आगे बढ़कर 'नर' (नृ=नये) बनना है।

यह कवि अपनी शक्ति (सोम) को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि हे पवमान सोम! **नृभिः येमाणः**=आगे बढ़ने की वृत्तिवाले लोगों से संयत किया जाता हुआ तू **हिरण्यये कोशे**=ज्योतिर्मय—विज्ञानमयकोश में **आ विराजसि**=शोभायमान होता है, अर्थात् यह कवि सदा विज्ञानमयकोश को उन्नत करने का प्रयत्न करता हुआ, 'नित्य सत्त्वस्थ' होता हुआ, अपने जीवन में चमकता है।

वस्तुतः ये **ऋतस्य दोहनाः**=(दुह् से कर्त्ता में ल्युट्) सत्य ज्ञान के दोहन करनेवाले लोग ही **अभि अनूषत**=उस प्रभु की सर्वतः स्तुति करते हैं। ज्ञान की प्राप्ति ही उस प्रभु की सच्ची उपसना है। वह प्रभु ज्ञानधन हैं, विशुद्धाचित्=Pure knowledge हैं, अतः ज्ञान का दोहन ही तो प्रभु की सच्ची उपासना है।

इस प्रकार ज्ञान का दोहन करता हुआ यह कवि **उषसः**=अज्ञान दहन के (उष् दाहे) **त्रिपृष्ठे अधि**=तीसरी भूमिका के ऊपर **विराजसि**=शोभायमान होता है। यह कवि की आत्मप्रेरणा है कि इस मार्ग पर चलते हुए ही तुझे प्रकृति, आत्मा तथा परमात्मा-सम्बन्धी अज्ञान को समाप्त कर—तीनों मञ्जिलों से ऊपर उठकर ज्ञान के प्रकाश में चमकना है।

भावार्थ—स्थूलशरीर से ही चिपटे न रहकर हम विज्ञानमयकोश में स्थित हों, तीनों प्रकार के अज्ञानों को दूर कर ज्ञान के प्रकाश में स्थित हों।

सूक्त-२०

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

शंयुः बार्हस्पत्यः

७०३. यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे।
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥ १ ॥

इस द्व्यृच का ऋषि 'शंयुः'=शान्ति चाहनेवाला अथवा शान्ति को अपने साथ युक्त करनेवाला है। यह बार्हस्पत्य=बृहस्पति का सन्तान, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानी होने से ही 'शान्तिप्रिय' बना है। यह अपने जीवन में दो ही बातों को स्थान देता है १. यज्ञ और २. ज्ञान। अपने मित्रों से यह कहता है कि मैं तुम **वः**=सबको **यज्ञायज्ञा**=विविध यज्ञों=(उत्तम कर्मों) के द्वारा **अग्नये**=अपने को आगे ले-चलने के लिए प्रेरित करता हूँ **च**=तथा **गिरा-गिरा**=एक-एक वेदवाणी के द्वारा **दक्षसे**=योग्य बनने (To be able) के लिए कहता हूँ। यदि मनुष्य अपने जीवन को यज्ञों व ज्ञान-प्राप्ति में लगाये रक्खेगा तो उसे अवश्य ही शान्ति प्राप्ति होगी। यह शंयु अपने मित्रों को यज्ञ व ज्ञान में लगे रहने के लिए कहता है कि इस प्रकार **वयम्**=हम सब **अमृतम्**=अमर, मृत्यु से अतीत तथा **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ (जातं जातं वेत्ति) उस प्रभु की **प्रियं मित्रं न**=प्रिय मित्र के समान **प्रशंसिषम्**=खूब ही स्तुति करते हैं। यज्ञों के द्वारा हम भी रोगों से बचकर 'अमृत' होते हैं और वेदवाणी के अध्ययन से

सर्वज्ञकल्प बनने के लिए यत्नशील होते हैं। इस प्रकार प्रभु-जैसा बनना ही प्रभु का सच्चा उपासक होना है।

इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि 'यज्ञ (उत्तम कर्म)+ज्ञान' ही उपासना है। "ज्ञान+कर्म= उपासना" यह समीकरण सत्य है। जब प्रभु में ज्ञान और क्रिया स्वाभाविक हैं तो हमारा भी 'ज्ञानपूर्वक कर्म करना' स्वभाव ही बन जाना चाहिए।

भावार्थ—यज्ञों व वेदवाणियों के द्वारा हम अमरता व सर्वज्ञकल्पता का लाभ करें।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—सतोबृहती ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु तो हमें चाहते ही हैं

७०४. ऊर्जो नपातं स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये।
भुवद्वाजेष्वविता भुवद् वृध उत त्राता तनूनाम्॥ २॥

इस मन्त्र में शंयु कहता है कि **हव्यदातये**=सब उत्तम पदार्थों के देनेवाले उस प्रभु के लिए **दाशेम**=हम अपने को दे डालें—उसके प्रति अपना समर्पण कर दें। वे प्रभु **ऊर्जः न पातम्**=शक्ति को कभी नष्ट न होने देनेवाले हैं। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने से हमारी शक्ति सदा बनी रहेगी। **सः हि**=वे प्रभु निश्चय से **नायम्**=(नी प्रापणे) हमें आगे ले-जानेवाले हैं। प्रभु के प्रति अपना पूर्ण अर्पण करके यह प्रभु-कृपा से आगे और आगे बढ़ता चलता है।

अस्मयुः=वे प्रभु हमें चाहते हैं—हमारे साथ प्रेम रखते हैं। हम प्रभु को चाहें या ना चाहें, परन्तु वे प्रभु तो हमारे साथ प्रेम करते ही हैं। **वाजेषु**=संसार के संग्रामों में वे प्रभु ही **अविता भुवत्**=हमारे रक्षक होते हैं, अथवा **वाजेषु**=शक्तियों के प्राप्त कराने में वे प्रभु ही **अविता**=(अव्= भागदुघे) उत्तम भाग प्रदान करनेवाले **भुवत्**=होते हैं। शक्ति देकर **वृधे भुवत्**=सब प्रकार से हमारी वृद्धि के लिए होते हैं **उत**=और **तनूनाम् त्राता**=हमारे शरीरों के रक्षक भी तो प्रभु ही हैं। उस प्रभु की हमारे साथ कितनी निःस्वार्थ प्रीति है। हमारी कितनी बड़ी कृतघ्नता होगी यदि हम इस प्रभु को भूल जाएँ।

भावार्थ—प्रभु तो हमें चाहते हैं, हम भी प्रभु और केवल प्रभु को ही को चाहनेवाले बनें।

सूक्त-२१

ऋषिः—साकमश्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु का यश फैलानेवाले

७०५. एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः। एभिर्वर्धास इन्दुभिः॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि 'साकमश्वः' है। इसका अर्थ है 'साकम् अश्वाः यस्य'=साथ हैं घोड़े जिसके, अर्थात् जिसके इन्द्रियरूप घोड़े इधर-उधर विषयों में भटक नहीं रहे। इन्द्रियग्राम को संयम करके जो समाहित चित्तवृत्तिवाला बना है वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **एहि**=आइए **ते**=आपके सम्पर्क में **इतरा गिरः**=सामान्य वाणियों को भी **इत्था**=सत्यरूप में **सु ब्रवाणि**=उत्तम प्रकार से बोलूँ, उपहास में भी मैं असत्य न बोलूँ।

एभिः=ऐसे दृढ़ सत्यव्रती **इन्दुभिः**=शक्तिशाली पुरुषों से ही **वर्धासे**=हे प्रभो! आपकी महिमा

बढ़ती है, उपहास में भी असत्य न बोलनेवाले इन व्यक्तियों की वाणी में इतना बल आ जाता है कि **'वाचमर्थोऽनुवर्त्तते'**=इनकी वाणी के पीछे अर्थ चलता है। **'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'**= सत्य में प्रतिष्ठित होने पर इनकी सब क्रियाएँ सफल होती हैं। ये जो कहते हैं वही हो जाता है। इनमें प्रभु की शक्ति कार्य करती प्रतीत होती है और इस प्रकार इनके जीवन-कार्यों से प्रभु की महिमा फैलती है।

भावार्थ—हम उपहास में भी असत्य न बोलें।

ऋषिः—भरद्वाजः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

जो अन्त मता, सो गता

७०६. यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम्। तत्र योनिं कृणवसे॥ २॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **यत्र क्व च**=जहाँ कहीं भी **ते मनः**=तेरा मन होता है, अर्थात् जो भी भावना तेरे अन्दर प्रयाणकाल में प्रबल होती है **तत्र**=वहाँ ही, उसके अनुसार ही तू **योनिम्**=अपने जन्म-स्थान को **कृणवसे**=करता है—बनता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि मनुष्य अपने इस जीवन में जिन भी भावनाओं से भरा रहता है, अन्त में उसी का उसे स्मरण होता है और तदनुसार ही वह अगला जीवन प्राप्त करता है। अन्त में प्रभु का स्मरण करता है, तो प्रभु को पाता है। अन्त में प्रभु का ही स्मरण हो इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने जीवन को सदा प्रभु की भावना से ओत-प्रोत करें। एवं, प्रभु कहते हैं 'जहाँ भी तेरा मन होता है, वहीं तू जन्म पाता है और उस-उस जीवन में उन्नति के लिए **उत्तरम् दक्षम् दधसे**=उत्कृष्ट बल को धारण करता है।' 'दक्षम्' उस बल व शक्ति को कहते हैं जो वृद्धि व उन्नति का कारण होता है।

हमें अपनी भावना के अनुसार ही योनि व शक्ति प्राप्त होती है, अतः हम अपने जीवन को सदा उत्कृष्ट भावनाओं से भरें, जिससे अन्त में उसी भावना से ओत-प्रोत हुए-हुए यहाँ से जाएँ और उत्कृष्ट जन्म का लाभ करें।

भावार्थ—हम प्रणव का जप करते हुए प्राणों को छोड़ने की तैयारी करें, जिससे इस जन्म के अन्त में प्रभु की गोद में पहुँच सकें।

ऋषिः—भरद्वाजः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

न्यूनता जीव की है (अपूर्णता से पूर्णता की ओर)

७०७. न हि ते पूर्तमक्षिपद् भुवन्नेमानां पते। अथा दुवो वनवसे॥ ३॥

गत मन्त्र से यह स्पष्ट है कि जीव को अपनी भावना के अनुसार ही योनि प्राप्त होती है, प्रभु वहाँ भी उसे उत्कृष्ट बल व योग्यता प्राप्त कराते हैं। अधूरापन तो जीव के अन्दर स्वयं है, उसी न्यूनता के कारण वह परमपुरुषार्थ को सिद्ध करने में बारम्बार असफल होता है। जीव का नाम ही 'नेम'=(अधूरा) हो गया है। प्रभु सदा इन जीवों की रक्षा, पालन व पूरण में लगे हैं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे **नेमानां पते**=अपूर्ण, अल्पज्ञ जीवों के रक्षक प्रभो! **ते पूर्तम्**=आपका पालन व पूरण करने का काम **नहि अक्षिपत्**=दूर नहीं फेंका जाता, वह तो सदा चलता ही है। **अथ**=और **दुवः**=मनुष्यों से की गई प्रार्थनाओं को आप **वनवसे**=आदृत करते हो, अर्थात् पूर्ण करते हो। 'दुवः' शब्द का अर्थ Wealth=सम्पत्ति भी है, अतः यह भी अर्थ कर सकते हैं कि हे प्रभो! आप अपना पालन का कार्य करते हुए इन अल्पज्ञ, अधूरे जीवों को उचित सम्पत्ति प्राप्त कराते हो।

कमी जीव की है। अपनी इस अल्पज्ञता के कारण जीव भटककर कष्ट भी उठाता है। प्रभु तो उसकी प्रार्थनाओं को सुनते हुए उसे उचित धन प्राप्त कराते ही हैं और इस प्रकार उसके पालन के लिए सतत प्रयत्नशील हैं।

भावार्थ—जीव नेम=अपूर्ण है, उसे प्रभु साहाय्य से पूर्णता की ओर चलना है।

सूक्त-२२

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (ककुप्) ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

सोभरि काण्व (क्या हम भी अपने को भरेंगे?)

७०८. **वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः। वज्रिञ्चित्रं हवामहे॥ १॥**

स्थूरं न=एक दृढ़ शक्तिशाली पुरुष के समान **भरन्तः**=अपने को उत्तम गुणों से भरते हुए और इस प्रकार **अवस्यवः**=अपनी रक्षा चाहते हुए **वयम् उ**=हम भी **कच्चित्**=क्या **त्वाम्**=तुझ प्रभु को पुकारेंगे? शक्तिशाली पुरुष शनैः-शनैः अपने भीतर गुणों का संग्रह कर पाता है। दृढ़ निश्चयवाला पुरुष ही आगे बढ़ता है। क्या हमारे लिए भी कभी वह शुभ दिन आएगा कि हम भी दृढ़ निश्चय के साथ अपने अन्दर उत्तम गुणों को भरने की कामनावाले बनकर, उस प्रभु का स्मरण करेंगे? वे प्रभु '**अपूर्व्य**' हैं, पूर्ण होने के कारण वहाँ किसी अन्य पूरण का सम्भव नहीं (पूर्व-पूरणे)। क्या हम भी अपना पूरण करते-करते कभी पूर्णता की स्थिति तक पहुँचेंगे? इस पूर्णता के मार्ग में आसुर वृत्तियों के आक्रमण, इस चमकीले संसार के शतशः प्रलोभन हमारे लिए विघातक हैं। इनके आक्रमणों से अपनी रक्षा के लिए हम उस **वज्रिन्**=वज्रधारक **चित्रम्**=अद्भुत शक्ति अथवा संज्ञान देनेवाले (चित्+र) उस प्रभु को ही **हवामहे**=पुकारते हैं। वज्रिन् शब्द 'वज गतौ' धातु से बनकर क्रियाशीलता का भी संकेत कर रहा है। वस्तुतः आसुर आक्रमणों से बचने के लिए 'क्रियाशीलता+ज्ञान' ही उपाय हैं। एवं, इन दोनों उपायों का अनुष्ठान करता हुआ व्यक्ति आसुर वृत्तियों को सदा अपने से दूर रखता है और एक-एक करके सद्गुणों को अपने अन्दर भरता चलता है। इस उत्तम भरण के कारण ही वह सोभरि कहलाता है। कण-कण करके इस सु-भरण करने के कारण वह काण्व है। काण्व का अर्थ अत्यन्त मेधावी भी है। वस्तुतः इस प्रकार आसुर वृत्तियों से अपनी रक्षा करके उत्तम गुणों को अपने अन्दर भरना ही तो बुद्धिमत्ता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण के साथ ज्ञानपूर्वक कर्म करते हुए हम अपने अन्दर दिव्य गुणों का संग्रह करते चलें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु का स्मरण करते हुए युद्ध कर

७०९. **उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत्।**
त्वामिध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम्॥ २॥

कर्मन्=कर्म करते हुए हम **त्वा उप**=तेरे समीप स्थित होते हैं। क्यों? **ऊतये**=अपनी रक्षा के लिए। यह संसार चक्की के दो पाटों के समान है। इसमें व्यक्ति प्रभुरूपी कीली से दूर हुआ और पिसा। 'हमारा प्रत्येक कर्म पवित्र बना रहे, कोई प्रलोभन हमें अपना शिकार न बना लें' इसके लिए आवश्यक है कि हम प्रभु के समीप बने रहें। प्रभु का स्मरण करें और संसार में अपने युद्ध को जारी

रक्खें। **सः**=वह प्रभु ही **नः**=हमें **युवा**=बुराइयों से पृथक् रखनेवाले हैं (यु=अमिश्रण) **उग्रः**=बड़े शक्तिशाली व हमारे कार्य को पूर्ण करनेवाले हैं (उग्र=Ready to do any work)। इस युद्ध में **यः धृषत्**=जो भी हमारा धर्षण करता है, उसे प्रभु **चक्राम**=पाँवों तले रौंद देते हैं। वस्तुतः प्रभु के बिना क्या हम इन वासनाओं को कभी कुचल सकेंगे? सब विजय, सब विभूति, सब ऐश्वर्य उस प्रभु का ही है। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! हम **त्वाम् इत् हि**=आपको ही निश्चय से **अवितारम्**=रक्षक **ववृमहे**=वरते हैं।

प्रभु के वरने का प्रकार क्या है? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र के 'सखायः' शब्द में मिल रहा है। **सखायः**=समानख्यानाः=कुछ प्रभु-जैसे प्रतीत होते हुए। प्रभु-जैसे बनने का प्रयत्न करते हुए ही पुरुष को प्रभु के वरण का अधिकार है। यहाँ यह नहीं हो सकता कि प्रभु को कार्य सौंपा और हमें छुट्टी मिल गई। पुरुषार्थ के उपरान्त ही प्रार्थना की सार्थकता है।

'वे प्रभु कैसे हैं?' **सानसिम्**=उचित संविभाग करनेवाले हैं (षण्=संभक्तौ)। हमें भी यह संविभाग का पाठ सीखना है। वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाना है तो यह पाठ पढ़ना आवश्यक है, बिना इस पाठ के पढ़े लोभ की वृत्ति पनपती है और व्यसन-वृक्ष फूलता-फलता है।

भावार्थ—हमारा प्रत्येक कर्म प्रभु-स्मरण के साथ हो।

सूक्त-२३

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—ककुबुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

जैसे पानी पानी के साथ

७१०. अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे ससृग्महे। उदेव ग्मन्त उदभिः ॥ १ ॥

गत मन्त्र में प्रभु को 'सानसिम्' शब्द से स्मरण किया था। इस संविभाग की वृत्तिवाला मनुष्य 'नृमेध' मनुष्यों के साथ मिलकर चलनेवाला होता है। इस यज्ञिय वृत्ति के कारण यह वासनाओं में फँसता नहीं और यह वासनाओं का शिकार न होना ही इसके 'आङ्गिरस' बनने का रहस्य हो जाता है। यह अङ्ग-अङ्ग में रसवाला, शक्तिशाली होता है। वह प्रभु से दूर होने के कटु अनुभव के बाद कहता है कि **अध**=अब **हि**=निश्चय से **इन्द्र**=हे परमेश्वर्यशाली प्रभो! हे **गिर्वणः**=वेदवाणियों से स्तुति के योग्य प्रभो! **कामे**=जब कभी वासना के आक्रमण का प्रसङ्ग होता है तब हम **त्वा**=आपको ही **उप ईमहे**=समीप चाहते हैं, **इव**=जैसेकि **उदभिः उदा ग्मन्त**=पानियों से पानी मिल जाते हैं। इस प्रकार आपके साथ एक होकर ही तो हम वासनाओं के आक्रमण से बच पाते हैं। बच्चा अपने को माता की गोद में छिपा देता है और सुरक्षित हो जाता है। हम भी अपने को आपमें छिपा देते हैं और इन वासनाओं से बच जाते हैं। सारे वेद प्रभु की महिमा का बखान इसीलिए तो कर रहे हैं। क्या प्रभुकृपा के बिना कभी इस माया को तैरना सम्भव हो सकता है? प्रभु की शरण में जाकर ही हम इसे तैरेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु से अपने को एक कर दें और माया को तैर जाएँ।

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

प्रभु मेरी ढाल हों

७११. वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि। वावृध्वांसं चिदद्रिवो दिवेदिवे ॥ २ ॥

'वर्ण्यते इति वर्णः, वर्ण एव वार्णः'=इस निर्वचन से वार्ण का अर्थ है 'सब वेदवाणियों से जिसका वर्णन हो रहा है।' हे **वार्ण**=सब वेदों से वर्णनीय प्रभो! **शूर**=हे सब कामादि वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **त्वा**=आपको **ब्रह्माणि**=मुझसे उच्चरित स्तोत्र **यव्याभिः**=(यु=अमिश्रण)

वासनाओं को पृथक् करने के उद्देश्य से **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं, आपकी महिमा के गीत गाते हैं, अर्थात् मैं सदा आपके स्तोत्रों का उच्चारण इस उद्देश्य से रहता हूँ कि मैं वासनाओं से दूर रहूँ।

आप **वावृध्वांसम्**=अपने भक्तों को सदा बढ़ानेवाले हैं। उन्हें वासनाओं से दूर रखकर उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले हैं। **दिवे-दिवे**=दिन-प्रति-दिन आपके भक्त आगे और आगे बढ़ते चलते हैं। **चित्**=निश्चय से हे **अद्रिवः**=प्रभो! आप आदरणीय हैं (आ+दृ), क्योंकि आप किन्हीं भी वासनाओं से विदीर्ण थोड़े ही होते हैं (अ+दृ=विदारणे)। आपका भक्त भी सदा आपको स्मरण करता हुआ ढाल के समान आपको आगे कर देता है, इस प्रकार वह इन वासनाओं के आक्रमण से अपने को सुरक्षित कर पाता है। वह भी इनसे विदीर्ण न होता हुआ प्रतिदिन उन्नत-ही-उन्नत होता चलता है और सच्चे अर्थों में आपका उपासक बन जाता है।

भावार्थ—हे प्रभो! आपके नाम का स्मरण मेरी ढाल बने और मुझे कामादि के प्रबल आक्रमणों से सुरक्षित करे।

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पुरउष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

प्रभु-स्मरण से क्या होता है?

७१२. युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे वचोयुजा। इन्द्रवाहा स्वर्विदा॥ ३॥

इष धातु प्रेरणार्थक है। वे प्रभु सदा सभी को उत्तम प्रेरणा देने के कारण 'इषिर' हैं। उस **इषिरस्य**=उत्तम प्रेरणा देनेवाले प्रभु के **गाथया**=गायन व नाम-स्मरण के द्वारा स्तोता लोग **उरौ रथे**=इस विशाल शरीररूप रथ में, जोकि **उरु-युगे**=विशाल मनरूप लगामवाला है **हरी**=घोड़ों को **युञ्जन्ति**=जोतते हैं। कैसे घोड़ों को? जो घोड़े कि १. **वचोयुजा**=उस अनादि निधना वेदवाणी का उपयोग (युज्=use) करनेवाले हैं और २. इस प्रकार **इन्द्रवाहा**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की ओर ले-चलनेवाले हैं, ३. **स्वर्विदा**=स्वर्ग को, सुखमय स्थिति को प्राप्त करानेवाले हैं।

प्रभु-स्मरण के लाभ उल्लिखित शब्दों में निम्न प्रकार से वर्णित हुए हैं—

१. **उरौ रथे**=शरीररूप रथ विशाल बनता है, क्योंकि यह स्तोता वासनाओं का शिकार न होने से सदा स्वस्थ शरीरवाला होता है।

२. **उरु-युगे**=यह स्तोता विशाल मनवाला होता है। मन को युग कहा है, क्योंकि इन्द्रियों को आत्मा से जोड़नेवाला है। (युज्=to join)। प्रभु-स्मरण से मनुष्य ईर्ष्या-द्वेषादि से ऊपर उठ सभी को अपना बन्धु समझनेवाला बनता है और परिणामतः महान् हृदयवाला होता है।

३. **वचोयुजा, इन्द्रवाहा, स्वर्विदा हरी**=इन्द्रियरूप घोड़े वैदिक मार्ग का आक्रमण करते हुए हमें प्रभु की ओर ले-चलते हैं और सुखमय स्थिति में प्राप्त कराते हैं। इन्द्रियाँ इन्द्र की जीवन-यात्रा के लिए शरीरूप रथ में जुते घोड़े हैं। वे हमें इधर-उधर ले-जाते हैं, अतः हरण करने से 'हरि' कहलाते हैं। वासनाओं से जब ये आक्रान्त नहीं होते, काम का जब ये अधिष्ठान नहीं बनते, तब ये वैदिक मार्ग का आक्रमण करने से 'वचोयुजा' कहलाते हैं। हम निरन्तर प्रभु की ओर बढ़ रहे होते हैं, अतः ये 'इन्द्रवाहा' होते हैं और अन्त में दुःखातीत स्थिति में पहुँचाने का कारण बनने से ये 'स्वर्विदा' कहे जाते हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु के गायन से विशाल-शरीरवाले, महान् मनवाले व शास्त्रानुसारणी इन्द्रियोंवाले बनें।

इति प्रथमोऽध्यायः, प्रथमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—श्रुतकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

श्रुतकक्ष का प्रभु-स्तवन

७१३. **पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत ।**
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ क्रमाङ्क संख्या १५५ पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—श्रुतकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्र

७१४. **पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्यां३ सनश्रुतम् । इन्द्र इति ब्रवीतन ॥ २ ॥**

प्रभु-स्तवन करता हुआ श्रुतकक्ष कहता है कि **पुरुहूतम्**=बहुतों से पुकारे गये उस प्रभु को **इन्द्रः इति ब्रवीतन**=इन्द्र इस नाम से स्मरण करो। सन्त लोग सदा उस प्रभु का स्मरण करते हैं, दूसरे भी कष्ट में उसे ही पुकारते हैं। अन्य सब आधारों की असारता अनुभव होने पर किसने उस प्रभु को याद नहीं किया। **पुरुष्टुतम्**=वे प्रभु ही सदा खूब स्तुत होते हैं। सज्जनों से सुख में और सामान्य लोगों से दु:ख में उस प्रभु को याद किया जाता है। **गाथान्यम्**=वस्तुत: हमें उस प्रभु की ही गुणगाथा गानी चाहिए—वे प्रभु ही गायन के योग्य हैं, क्योंकि वे **सनश्रुतम्**=(सन्=संविभाग) इस संसार में उचित संविभाग के कारण प्रसिद्ध हैं। प्रभु के सभी कार्य सन्तुलित व न्याय्य हैं। अन्धे पुरुष के आँखें नहीं होती तो उसे स्मृतिशक्ति व मन:प्रसाद अधिक मात्रा में दिया गया है।

जिस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में पुरुहूत आदि गुणों के कारण प्रभु 'इन्द्र' हैं, उसी प्रकार आधिभौतिक क्षेत्र में राजा इन्द्र है। राजा को भी **पुरुहूतम्**=बहुतों से पुकारा गया **पुरुष्टुतम्**=खूब स्तुति किया गया, **गाथान्याम्**=गाई गई कीर्तिगाथाओंवाला तथा **सनश्रुतम्**=प्रजा में धनों का उचित संविभाग करनेवाला होना चाहिए।

इस शरीर में हमें (जीवात्मा को) भी अपने को पुरुहूत आदि गुणों से विशिष्ट बनाने के लिए प्रयत्नशील होना अनिवार्य है। यदि हम स्वार्थ में ही न रमकर कुछ परार्थ की वृत्तिवाले होंगे तो पुरुहूत व पुरुष्टुत तो होंगे ही, हमारे न चाहते हुए भी हमारी कीर्तिगाथाएँ गाई जाएँगी और हम अपने धनादि के संविभाग के कारण प्रसिद्धि पाएँगे। जब जीव इस मार्ग पर चलता है, तभी वह अपने सोम की भी रक्षा कर पाता है, इसलिए इन उल्लिखित शब्दों में प्रभु का स्मरण करते हुए अपने जीवन का ध्येय भी 'सत्य इन्द्र' बनने का रखना चाहिए।

भावार्थ—प्रभु का इन्द्र नाम से स्मरण करते हुए हम भी इन्द्र बनने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—श्रुतकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

कर्म स्वातन्त्र्य, फल पारतन्त्र्य

७१५. इन्द्र इन्नो महोनां दाता वाजानां नृतुः । महाँ अभिज्ञ्वा यमत् ॥ ३ ॥

इन्द्रः इत्=वह शक्र ही **नः**=हमें **महोनाम्**=महनीय व तेजस्वी **वाजानाम्**=शक्तियों का **दाता**=देनेवाला है। प्रभु स्वयं सब शक्तिशाली कर्मों के करनेवाले हैं। वे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयरूप महान् कर्म करनेवाले हैं। इन कर्मों का विचार उस प्रभु की अचिन्त्य शक्ति का कुछ आभास देता है। उस प्रभु ने अपनी शक्ति के अंश से जीव को भी शक्ति-सम्पन्न बनाया है और शक्ति देकर हमें **नृतुः**=इस संसार के नाटक में अपना पार्ट अदा करने की योग्यता व क्षमता प्राप्त करायी है। उस शक्ति को प्राप्त करके मनुष्य नाना प्रकार के कर्मरूप नृत्यों को किया करता है। इस नृत्य करने में हमें उस प्रभु ने स्वतन्त्रता दी है। वस्तुतः क्षमता का विकास स्वतन्त्रता में ही सम्भव है। परतन्त्रता में परसंचालित होने से यदि ग़लती की कम सम्भावना है तो विकास तो असम्भव ही है, अतः प्रभु ने शक्ति प्राप्त कराके हमें नृत्य कर्म का स्वातन्त्र्य दिया है। चाहे जैसा नाच हम नाचें, प्रभु हमें रोकते नहीं। समय-समय पर उचित प्रेरणा वे अवश्य प्राप्त कराते हैं। वे क्रुद्ध नहीं होते—वे **महान्**=उदार हैं, परन्तु जब हम इस प्रेरणा को निरन्तर अनसुना करके ग़लत ही नृत्य करने के आग्रही हो जाते हैं, तब वे प्रभु **अभिज्ञु आयमत्**=इस प्रकार हमारा नियमन करते हैं कि जीव को घुटने टेकने ही पड़ते हैं (अभिगते जानुनी यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा=अभिज्ञु)। जीव कर्म करने में निःसन्देह स्वतन्त्र हैं, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र ही हैं। इस सिद्धान्त को समझता हुआ श्रुतकक्ष कभी भी इस कर्म-स्वतन्त्रता का अनुचित लाभ नहीं उठाता। ज्ञान की शरण में जानेवाला कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में कर्म-स्वातन्त्र्य का उचित लाभ ही उठाने का प्रयत्न करेगा।

भावार्थ—प्रभु की दी शक्ति से ही हम कर्म कर पाते हैं, अतः हम उस शक्ति का सदुपयोग ही करें, ग़लत प्रयोग करके हमें दण्डभागी न होना पड़े।

सूक्त-२

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वसिष्ठ का स्तवन

७१६. प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत । सखायः सोमपाव्ने ॥ १ ॥

'मैत्रावरुणि वसिष्ठ', अर्थात् प्राणापानों की साधना से इन्द्रियों को वश में करनेवालों में श्रेष्ठ यह ऋषि अपने मित्रों को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे **सखायः**=ज्ञानहैतुक मैत्रीवालो! प्रभु के लिए **प्रगायत**=खूब गायन करो। किस प्रभु के लिए?

१. **इन्द्राय**=परमैश्वर्यवाले प्रभु के लिए। ज्ञानरूप परमैश्वर्य प्रभु ही तो प्राप्त कराएँगे। २. **हर्यश्वाय**=इन्द्रियों को आकृष्ट करनेवाले के लिए (अश्व=इन्द्रियाँ, हरि—हरण करना) यदि इन्द्रियाँ कभी स्थिर होंगी तो उस प्रभु में ही। अन्य सांसारिक वस्तुओं से तो वे कुछ देर पश्चात् ही ऊब जाती हैं। ३. **सोमपाव्ने**=सोम की रक्षा करनेवाले के लिए। यह प्रभु-स्तवन हमें भोगासक्ति से दूर कर शक्ति-रक्षा में समर्थ बनाएगा। ४. **वः मादनम्**=यह प्रभु-स्तवन तुम्हें आनन्दित करनेवाला होगा। वह आनन्द तो अवर्णनीय होता है। (न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा)।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करके जीवन में उत्कृष्ट मस्ती का अनुभव करें।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सत्य की साधना के लिए

७१७. शंसेदुक्थं सुदानव उत द्युक्षं यथा नरः । चकृमा सत्यराधसे ॥ २ ॥

वसिष्ठ कहते हैं कि उस **उक्थम्**=**उद्गीथम्**=ऊँचे-ऊँचे गाने के योग्य **उत**=और **द्युक्षम्**=सदा ज्ञान (द्यु) में अवस्थित (क्षि=निवास) चिद्रूप प्रभु का **शंस इत्**=निश्चय से शंसन करो। सदा सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते उसका शंसन—गायन करो, उसे कभी भूलो नहीं। **यथा**=जिससे तुम **नरः**=(नृ नये) अपने को आगे ले-चलनेवाले बन सको तथा **सुदा-नवः**=उत्तम प्रकार से अपने बन्धनों को काट सको (दाप्=लवने)। इस प्रभु-स्तवन से तुम आगे और आगे बढ़ोगे तथा क्रमशः अपने उत्तम, मध्यम व अधम बन्धनों को काट डालोगे। प्रभु-स्तवन मनुष्य को सांसारिक बन्धनों में नहीं फँसने देता। संसार में रहता हुआ भी स्तुतिकर्त्ता मनुष्य उसमें उलझता नहीं। उस द्युक्ष की स्तुति से स्तोता का भी ज्ञान में निवास होता है—यही सदा सत्त्व में अवस्थित होना है।

वसिष्ठ अपने मित्रों से कहते हैं कि **चकृम**=हम उस प्रभु की स्तुति करते हैं **सत्यराधसे**=सत्य की सिद्धि के लिए। वह प्रभु ही सत्य है। यह सत्य ही हमारा परम उद्देश्य है—प्रभु-स्तवन ही हमें यहाँ पहुँचाएगा।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हम आगे बढ़ते हुए, सब बन्धनों को छिन्न करते हुए, सत्य की आराधना करनेवाले बनें।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्र, शतक्रतु और वसु

७१८. त्वं न इन्द्र वाजयुस्त्वं गव्युः शतक्रतो । त्वं हिरण्ययुर्वसो ॥ ३ ॥

हम उस प्रभु का स्तवन करें, क्योंकि वे प्रभु इन्द्र हैं, सर्वशक्तिमान् हैं। हमारा सम्बन्ध इस इन्द्र से होगा तो उसकी शक्ति हमें भी शक्ति-सम्पन्न बनानेवाली होगी। **इन्द्र**=हे शक्ति-पुञ्ज प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **वाजयुः**=शक्ति के साथ जोड़नेवाले हैं (वाज=बल, यु=जोड़ना)। आचार्य दयानन्द के शब्दों में उपासना से मनुष्य चट्टान की भाँति दृढ़ बन जाता है (As firm as a rock) और बड़ी-से-बड़ी आपत्ति भी उसे व्याकुल नहीं कर पाती। आओ, हम उस प्रभु का स्तवन करें—हे **शतक्रतो**=अनन्तप्रज्ञानोंवाले परमात्मन्! **त्वम्**=आप **गव्युः**=(गो+युः) वेदवाणी का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाले हैं। प्रभु की उपासना से ही तो वेदार्थ का प्रतिभास होता है। हे **वसो**=सबको बसानेवाले प्रभो! आप **हिरण्ययुः**=हितरमणीय वीर्यशक्ति को हमारे शरीर में बाँधनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हम भी इन्द्र, शतक्रतु व वसु बनें।

सूक्त-३

ऋषिः—मेधातिथिप्रियमेधौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'मेध्यातिथि प्रियमेध' की उपासना

७१९. वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः । कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥ १ ॥

इस मन्त्र के ऋषि मेध्यातिथि व प्रियमेध हैं। **मेध्यः**=पवित्र प्रभु ही है अतिथि जिसका, वह

'मेध्यातिथि' है। **तदिदर्थाः**=वह प्रभु ही उसका एकमात्र प्रयोजन होता है। **त्वायन्तः**=वह उस प्रभु की ही ओर चलता है, उसी का सखा बनता है। वह स्पष्ट कहता है कि **वयम्**=हम **त्वा**=तुझे ही चाहते हैं। वस्तुतः जिन्हें मेधा प्रिय है, वे **कण्वाः**=मेधावी पुरुष **उक्थेभिः**=स्तोत्रों से प्रभु की ही तो **जरन्ते**=स्तुति करेंगे। अन्य सांसारिक वस्तुएँ अन्यत्र मिल भी जाएँ, परन्तु मेधा तो प्रभु की उपासना से ही प्राप्त होगी, अतः यह ज्ञानी प्रभु का ही भक्त बनता है।

भावार्थ—मेधावी तेरी ही कामना करते हैं।

सूचना—इस मन्त्र का व्याख्यान मन्त्र संख्या १५७ पर हो चुका है, अतः यहाँ संक्षेप से ही दिया है।

ऋषिः—मेधातिथिप्रियमेधौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

तेरी ही, किसी और की नहीं

७२०. न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ। तवेदु स्तोमैश्चिकेत॥ २॥

वज्रिन्=वज्रहस्त, नियन्ता प्रभो! प्रियमेध **आपपन घ ईम्**=निश्चय से **अन्यत्**=किसी और की **न**=स्तुति नहीं करता है **अपसः**=कर्म के **नविष्टौ**=प्रारम्भ में **तव इत् उ**=सचमुच तेरा ही **स्तोमैः**=स्तोत्रों से **चिकेत**=ज्ञान प्राप्त करता है। प्रियमेध ऋषि कहता है कि प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में हे प्रभो! मैं आपकी स्तुति करता हूँ।

हे वज्रिन्! प्रत्येक कर्म के प्रारम्भ में किये जाते हुए इन स्तोत्रों से यह प्रियमेध तेरा अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त कर पाता है। वह सर्वत्र आपके नियन्त्रण को अनुभव करता है। इस नियन्त्रण के अनुभव के कारण ही वह अपने कर्मों को पवित्र बनाये रखता है और भोगों का शिकार न हो जाने से वज्रतुल्य शरीरवाला बना रहता है।

भावार्थ—हम प्रत्येक कार्य को प्रभु-स्मरण के साथ आरम्भ करें।

ऋषिः—मेधातिथिप्रियमेधौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

स्वाभाविकी क्रिया व मोक्ष

७२१. इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्राय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥ ३॥

देवाः=सब प्राकृतिक शक्तियाँ **सुन्वन्तम्**=कुछ-न-कुछ उत्पन्न करते हुए को **इच्छन्ति**=चाहती हैं। **स्वप्राय न स्पृहयन्ति**=सोनेवाले के लिए उनमें कोई स्पृहा (इच्छा) नहीं होती। **अतन्द्राः**=अलस्यशून्य व्यक्ति **प्रमादम्**=प्रकृष्ट हर्ष को **यन्ति**=प्राप्त होते हैं।

प्रियमेध प्रभु के अतिरिक्त किसी की कामना तो नहीं करता, परन्तु आत्मतृप्त हो जाने से यह अकर्मण्य नहीं हो जाता। वह सदा क्रियाशील होता है। इसकी क्रियाएँ निर्माणात्मक हैं, अतः यह सब देवों का प्रिय होता है। देवों को निर्माण प्रिय है, दस्युओं को विध्वंस (दस्=to destroy)। यह निर्माण करनेवाला देवों का प्रिय क्यों न होगा? अन्त में यही मोक्षरूप ऊच्च आनन्द का लाभ करता है।

प्रभु की क्रिया स्वाभाविक है—प्रत्युपकार की अपेक्षा करनेवाली नहीं है, इसी प्रकार प्रियमेध की भी सब क्रियाएँ हुआ करती हैं। इन सब निष्काम क्रियाओं का अन्तिम परिणाम मोक्ष तो है ही।

भावार्थ—हम प्रभु की भाँति स्वाभाविक क्रिया करनेवाले बनें।

सूक्त—४

ऋषिः—श्रुतकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

कलापूर्ण कर्तृत्व ही अर्चना है

७२२. इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः । अर्कमर्चन्तु कारवः ॥ १ ॥

इस तृच का ऋषि श्रुतकक्ष कहता है कि **नः गिरः**=हमारी वाणियाँ **इन्द्राय**=उस ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले **मद्वने**=हमारे लिए हर्ष का विजय करनेवाले, अर्थात् अवर्णनीय आनन्द प्राप्त करनेवाले प्रभु का **परिष्टोभन्तु**=सर्वथा स्तवन करें। **कारवः**=(कारुः शिल्पिनि कारके) कलापूर्ण ढंग से क्रिया करनेवाले लोग ही **सुतम्**=संसार के उत्पादक व सर्वैश्वर्य के अधिष्ठाता **अर्कम्**=उपासना के योग्य (अर्च पूजायाम्) प्रभु का **अर्चन्तु**=अर्चन करते हैं।

इस मन्त्र का व्याख्यान १५८ संख्या पर हो चुका है। इसका भावार्थ यही है कि—परमैश्वर्य व अवर्णनीय आनन्द को उपलब्ध करना है तो जीव प्रभु का स्तवन करे। स्तवन का उत्तम प्रकार यही है कि प्रत्येक क्रिया को सुन्दरता से किया जाए। कर्मों में कुशलता ही योग है।

लक्ष्मी	सरस्वती
अभ्युदय	निःश्रेयस
प्रेय (इह)	श्रेय (अमुत्र)

ऋषिः—श्रुतकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सारा धन, सारा ज्ञान

७२३. यस्मिन् विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः । इन्द्रं सुते हवामहे ॥ २ ॥

इन्द्रम्=परमैश्वर्यवाले प्रभु को **सुते**=उन्नति (प्रसव=growth) अभ्युदय व परमैश्वर्य=निःश्रेयस के लिए ('सुते' में निमित्त सप्तमी है) **हवामहे**=पुकारते हैं। उस इन्द्र को **यस्मिन् अधि**=जिसमें **विश्वाः श्रियः**=संसार की सब लक्ष्मियाँ निवास करती हैं तथा **संसदः**=वासनाओं का सम्यक् विनाश करनेवाले (षद्=अवसादन, to kill) **सप्त**=सात छन्द व छन्दोरूप मन्त्र **रणन्ति**=शब्द करते व रममाण होते हैं।

उल्लिखित शब्दार्थ से यह सुव्यक्त है कि—प्रभु की उपासना इसलिए करो कि वे प्रभु ही लक्ष्मी व सरस्वती का अधिष्ठान हैं। प्रभु की उपासना से सांसारिक ऐश्वर्य भी मिलेगा तथा ज्ञानरूप परमैश्वर्य भी प्राप्त होगा। एवं, उपासना अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करती है, इससे ऐहलौकिक ऐश्वर्य भी प्राप्त होता है और पारलौकिक कल्याण भी सिद्ध होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनें, क्योंकि सारा धन व सारा ज्ञान उसी में निहित है।

ऋषिः—श्रुतकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

चेतन यज्ञ (जीवित, न कि जड़ यज्ञ)

७२४. त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत । तमिद्वर्धन्तु नो गिरः ॥ ३ ॥

त्रिकद्रुकेषु=(कद्=आह्वान) तीनों आह्वानकालों में **देवासः**=विद्वान् लोग **चेतनं यज्ञम्**=उस चिद्रूप सर्वत्र संगत (यज्=संगतीकरण) विष्णु (सर्वव्यापक) को **अत्नत**=विस्तृत करते हैं, अर्थात् उस प्रभु की पूजा करते हैं। **नः गिरः**=हमारी वाणियाँ भी **तम् इत्**=उसको ही **वर्धन्तु**=बढ़ाएँ—सदा

उसी का गुणगान करें।

'त्रिकद्रुक' शब्द तीन आह्वानकालों का संकेत करता है। प्रातः, मध्याह्न व सायं के सवनों के समय प्रभु का ही हम कीर्तन करें। जीवन के तीनों कालों में, प्रथम २४, मध्यम ४४ व अन्तिम ४८ वर्षों में सदा हमारा यह स्तुति-यज्ञ चलता चले।

'चेतनं यज्ञम्' यह प्रयोग विशेष महत्त्व रखता है। अग्निहोत्र आदि यज्ञ उत्तम हैं, मनुष्य के लिए वे पावन हैं—स्वर्ग के साधक हैं, परन्तु कुछ भी हो ये यज्ञरूप प्लव=नौका अदृढ़ ही हैं। ये हमें जन्म-मरण के चक्र से ऊपर नहीं उठा सकते। मनुष्य को अन्त में उपासनारूप चेतन-यज्ञ ही करना चाहिए। उस उपासना यज्ञ की तुलना में ये सब द्रव्य साध्य यज्ञ हीन हैं—मृत के समान हैं।

हमारी वाणियाँ सदा प्रभु का ही वर्धन करनेवाली हों—उसी की स्तुति करनेवाली हों। लोक में हम बड़ों का आदर करें—स्तुति तो हमें एकमात्र प्रभु की ही करनी। व्यक्ति की उपासना का ही यह परिणाम है कि मत-मतान्तर उत्पन्न हो गये—परस्पर विद्वेष बढ़ गया। एक प्रभु की उपासना होने पर ही यह भेदभाव समाप्त होगा।

भावार्थ—श्रुतकक्ष सदा चेतन यज्ञ का विस्तार करता है। उसका जीवन उपासनामय होता है।

सूक्त-५

ऋषिः—इरिम्बिठिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

निरभिमानता व पवित्रता

७२५. अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि। एहीमस्य द्रवा पिब॥ १॥

इरिम्बिठि ऋषि प्रभु से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अयम्**=यह **ते**=तेरा **सोमः**=विनीत भक्त **अधिबर्हिषि**=हृदय में **निपूतः**=निश्चय से पवित्र बना है। **एहि**=आइए **ईम्**=निश्चय से **अस्य द्रव**=इसकी ओर दया से द्रवीभूत होओ और **पिब**=इसकी रक्षा कीजिए।

इस मन्त्र का व्याख्यान १५९ संख्या पर हो चुका है। इरिम्बिठि विनीत व पवित्र हृदय बनने का प्रयत्न करता है और प्रभु की दया व रक्षा के लिए याचना करता है। सोम शब्द 'स+उमा' इस व्युत्पत्ति से ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाले का वाचक है और सोम विनीत को भी कहते हैं। 'बर्हि' उस हृदय का नाम है, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण करके उसे निर्मल कर डाला गया है। वस्तुतः सोम=ज्ञानी और परिणामतः विनीत ही अपने को निर्मल बना पाता है। एवं, क्रम यह है कि—१. मनुष्य ज्ञानी बने (स+उमा), २. ज्ञान से विनीतता प्राप्त करे, सोम बने, ३. सौम्यता से पवित्र हृदय हो, अपने अन्तःकरण को 'बर्हि' इस सार्थक नामवाला बनाए और ४. इस प्रकार अपने को प्रभु की दया व रक्षा-प्राप्ति का अधिकारी बनाए।

इस सबके लिए यह इरिम्बिठि तो बने ही। (ईर्=गति, बिठ=हृदयान्तरिक्ष) इसका हृदय सदा क्रिया के सङ्कल्पवाला हो। यह कभी भी अकर्मण्य न हो।

भावार्थ—हम क्रमशः ज्ञान, विनीतता, पवित्रता व प्रभु-कृपा का सम्पादन करें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

आखण्डल

७२६. शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः। आखण्डल प्र हूयसे॥ २॥

प्रभु इरिम्बिठि की उपर्युक्त आराधना का प्रत्युत्तर देते हैं कि **शाचिगो**=शक्ति-सम्पन्न ज्ञानवाले! (शाचि=शक्ति, गो=ज्ञान) **शाचिपूजन**=शक्ति-सम्पन्न भक्तिवाले! **ते रणाय**=तेरे जीवन की रमणीयता के लिए **अयं सुतः**=यह सोम=वीर्य तेरे अन्दर उत्पन्न किया गया है। इसकी सुरक्षा के द्वारा कामभोगादि सब आसुर वृत्तियों का संहार करके तू **आखण्डल**=असुरों का समन्तात् भेदन करनेवाला **प्रहूयसे**=पुकारा जाता है। जीवात्मा आखण्डल व इन्द्र कहलाता है, यदि वह इन सब आसुर वृत्तियों का खण्डन कर पाता है।

आसुर वृत्तियों के संहार के लिए ही प्रभु ने इस शरीर में सोम के सवन की व्यवस्था की है। भोजन से रस-रुधिरादि के क्रम से सप्तम धातु यह सोम वा वीर्य होता है। ये सातों के सातों रत्न हैं। शरीर को रमणीय बनानेवाले हैं। यह सप्तम धातु तो इन रत्नों में भी रत्न है, इन सबका सार है। इसी ने हमारे जीवन को सुन्दर बनाना है। इसी की रक्षा पर यह निर्भर है कि हम सब शत्रुओं का पराभव करके 'आखण्डल' बनते हैं या नहीं। इसकी रक्षा कर सके तो 'आखण्डल' बनेंगे ही।

इस सोम की रक्षा से हमारा ज्ञान व हमारी भक्ति दोनों ही शक्ति-सम्पन्न होंगी, अन्यथा हमारा ज्ञान भी निर्बल होगा व भक्ति भी फल्गु (फोकी) ही होगी। उस समय हमारे स्तोत्र केवल मुख से उच्चरित हो रहे होंगे, उनका स्रोत हृदय न होगा। हम अकर्मण्य होकर प्रभु से रक्षा-याचना करेंगे जो निष्फल होगी।

भावार्थ—हमारा ज्ञान व पूजन शक्तिशाली हो।

ऋषिः—इरिम्बिठिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

(सोम कुण्डपाय्य है) द्वेष-शून्य समाज

७२७. यस्ते शृङ्गवृषो णपात् प्रणपात् कुण्डपाय्यः। न्यस्मिन् दध्र आ मनः॥ ३॥

प्रभु कहते हैं कि हे इरिम्बिठे! **यः**=जो सोम **ते**=तेरा **शृङ्गवृषः-नपात्**=धर्म के शिखर से न गिरनेवाला है। वृषस्य शृङ्ग=शृङ्गवृषः=राजदन्तवत्। यहाँ वृष का परनिपात है। जो **प्रणपात्**=पतन से अतिशेयन बचानेवाला है और **कुण्डपाय्यः**=दाह, जलन, ईर्ष्यादि से रक्षा करनेवाला है (कुडि दाहे)। **नि**=निश्चय से **अस्मिन्**=इस सोम में **ते**=तेरा **मनः**=मन **आदध्रे**=सर्वथा धारण किया जाए। तू सब प्रकार से इसकी रक्षा करनेवाला बन।

धर्म को वृष कहते हैं, क्योंकि यह सचमुच सुखों की वर्षा करनेवाला है। जब मनुष्य वीर्य-रक्षा के लिए अपने मन को दृढ़-निश्चयी बना लेता है तब यह सुरक्षित वीर्य उस संयमी पुरुष को धर्म के शिखर से गिरने नहीं देता।

यह वीर्य शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला होकर मनुष्य को भी ऊँचा उठाता है, इसके संयम का निश्चय करके ऊर्ध्व-रेतस् बनने का निश्चय करते ही मनुष्य '**निषाद**'=पापियों से ऊपर उठकर 'शूद्र' बन जाता है। वीर्य के रुधिर में प्रवेश करते ही यह **विश्**=वैश्य हो जाता है। जब वीर्य इसकी क्षतों=रोगादि से रक्षा करता है तब यह भी **क्षत्त्र**=बनता है और जब यह सुरक्षित वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, तब यह भी ब्राह्मण बन जाता है। एवं, वीर्य की ऊर्ध्वगति के अनुपात में मनुष्य ऊपर-व-ऊपर उठता जाता है।

इन दोनों बातों से बढ़कर बात तो यह है कि यह संयमी पुरुष ईर्ष्या-जलन व द्वेषादि की वृत्तियों से ऊपर उठ जाता है। वीर्य **कुण्ड**=ईर्ष्या आदि से **पाय्य**=रक्षा करनेवाला है।

भावार्थ—हमारी सारी शक्ति वीर्य-रक्षा पर केन्द्रित हो, जिससे हम धर्म के शिखर से न गिरें। उन्नति करते-करते हम उन्नति-पर्वत के शिखर पर पहुँचें तथा ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठ जाएँ।

सूक्त-६

ऋषिः—कुसीदी काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वाङ्मय सम्पत्ति

७२८. आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय। महाहस्ती दक्षिणेन ॥ १ ॥

प्रभु से आलिङ्गन करनेवाला, अतएव मेधावी 'कुसीदी काण्व' (कुस् संश्लेषणे) प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **महाहस्ती तु**=आप तो महान् ज्ञानवाले हैं। (हन्=गति= ज्ञान)। **नः**=हमें भी **आ**=सब प्रकार से **क्षुमन्तम्**=शब्दमय **चित्रम्**=ज्ञान देनेवाली **ग्राभम्**=सम्पत्ति Possession=को **संगृभाय**=सम्यक् प्राप्त कराइए, हम सब कार्यों को **दक्षिणेन**=(हेतौ तृतीया)= दाक्षिण्य से करनेवाले बनें। ज्ञानी बनकर ही हम वह कौशल प्राप्त कर सकेंगे, जिससे कि कर्म करते हुए भी हम कर्म में फँसेंगे नहीं। '**योगः कर्मसु कौशलम्**'=हम योगी बनकर कर्म कर पाएँगे।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त कर हम कर्मों को कुशलता से करनेवाले बनें।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

चार रूप

७२९. विद्मा हि त्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्णं तुवीमघम्। तुविमात्रमवोभिः ॥ २ ॥

कुसीदी काण्व कहता है कि हे प्रभो! आप ज्ञान देकर हमारा रक्षण करते हैं। **अवोभिः**=आप से किये जाते हुए इन रक्षणों से हम आपको **हि**=निश्चयपूर्वक **तुविकूर्मिम्**=बहुकर्मयुक्त **विद्म**=जानते हैं। आपने हमारे रक्षण के लिए किस प्रकार द्यु, अन्तरिक्ष व पृथिवीलोक में ग्यारह-ग्यारह देवताओं का निर्माण किया है, उसे देखकर हम आपका स्मरण 'तुविकूर्मि' के रूप में करते हैं।

एक व्यक्ति हमें सब-कुछ नहीं दे सकता। प्रभु सब-कुछ देते हैं। क्या प्रजा? क्या पशु? क्या ब्रह्मवर्चस् और क्या अन्नाद्य?

हम आपको **तुविदेष्णम्**=महान् दाता **विद्म**=जानते हैं। आपने हमारे पोषण के लिए ही कितने विविध अन्नों, फलों, शाकों व अन्य वनस्पतियों का निर्माण किया है, किस प्रकार आपने यह शरीर व ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा मन व बुद्धि का दान किया है।

आपके ऐश्वर्य का चिन्तन करते-करते बुद्धि चकरा जाती है और हम आपको **तुवीमघम्**=अनन्त ऐश्वर्यवाले के रूप में स्मरण करते हैं। जीवों का ऐश्वर्य शान्त है। आपका कोई माप भी तो नहीं, आप सर्वव्यापक हैं, अतः हम **तुविमात्रम्**=शब्द से आपका स्मरण करते हैं। 'मात्र' शब्द का अर्थ ज्ञान भी होता है (मीयते) सो आप अनन्त ज्ञानवाले हैं। आपके ये सब ज्ञान, बल व क्रियाएँ स्वाभाविक हैं। जीव के हित के लिए स्वभावतः इनकी प्रवृत्ति होती है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें ज्ञान प्राप्त कराइए, जिससे हम आपके रक्षण के योग्य बन सकें।

नोट—तुविकूर्मिम्=ब्रह्मचर्य में खूब क्रियाशील—'सुखार्थिनः कुतो विद्या।'

तुविदेष्णम्=गृहस्थ में खूब देनेवाला—'अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः'।

तुवीमधम्=वानप्रस्थ में सतत स्वाध्याय से ज्ञान-वृद्धि।

तुविमात्रम्=संन्यास में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की वृत्ति से व्यापकता।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

देने की इच्छावाला

७३०. न हि त्वा शूर देवा न मर्तासो दित्सन्तम्। भीमं न गां वारयन्ते॥ ३॥

मनुष्य ज्ञान प्राप्त करके दक्षिणेन=कुशलता से कर्म करने लगता है और अवोभिः=वासनाओं से अपनी रक्षा कर पाता है। पिछले मन्त्र में '**तुविकूर्मिम् व तुविदेष्णम्**' शब्दों से खूब क्रियाशीलता व खूब देने की वृत्ति का संकेत किया था। उसी का संकेत करते हुए रक्षण की इच्छावाले जीव से प्रभु कहते हैं कि **दित्सन्तम्**=देने की इच्छावाले **त्वा**=तुझे हे **शूर**=सब अशुभ भावनाओं को नष्ट करनेवाले जीव! **न हि**=न तो **देवः**=अन्तरिक्षलोक **न मर्तासः**=न यह पृथिवीलोक **वारयन्ते**=आच्छादित कर पाते हैं, अर्थात् कोई भी वासना आकाश-पाताल का ज़ोर लगाकर भी तुझे वशीभूत नहीं कर सकती। **भीमं गाम्**=भयङ्कर साँड को क्या कोई पशु वशीभूत कर पाता है? **न**=उसी प्रकार तू भी देने की इच्छावाला बनकर किसी वासना से वशीभूत नहीं किया जा सकता।

दान (दा=देना) मनुष्य की सब अशुभ भावनाओं को नष्ट करता है (दा=काटना) और उसके जीवन को शुद्ध बनाता (दा=शोधन) है। लोभ ही तो सब वासनाओं का मूल है। लोभ गया तो वासनाएँ गई। मूल कटा तो वृक्ष कहाँ बचा? दाता तो वासनाओं के लिए भयङ्कर साँड के समान हो जाता है। उसके सामने वासनाएँ ठहर ही कहाँ सकती हैं?

भावार्थ—हममें दानवृत्ति सदा पनपे और वासनाएँ विनष्ट हों।

सूक्त-७

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

त्रिशोक

७३१. अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये। तृम्पा व्यश्नुही मदम्॥ १॥

त्रिशोक ऋषि वह है जो मस्तिष्क, मन व शरीर तीनों को ही (त्रि) दीप्त (शोक—शुच दीप्तौ) बनाता है। यह प्रभु से कहता है कि हे **वृषभ**=सब सुखों की—उत्तम पदार्थों की वर्षा करनेवाले प्रभो! **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **त्वा अभि**=मैं प्रत्येक कार्य करने से पूर्व आपको देखता हूँ। I Look up to You. आपकी स्वीकृति होने पर ही कार्य करता हूँ।

१. मेरा मुख्य कार्य तो यह है कि मैं **पीतये**=रक्षा के लिए **सुतम्**=ज्ञान को **सृजामि**=उत्पन्न करता हूँ। जैसे कोई व्यक्ति किसी भी फल से रस को निकालता है, वह रस 'सुत' कहलाता है; इसी प्रकार 'प्रणिपात, परिप्रश्न व सेवा' के द्वारा इस ज्ञान का भी सेवन हुआ करता है। ज्ञान आचार्य से शिष्य की ओर प्रवाहित होता है। इस सारी भावना को व्यक्त करने के लिए ही ज्ञान को 'सुत' कहा गया है। यह उत्पन्न ज्ञान मस्तिष्क को दीप्त करता है। यह वह ललाट-नेत्र होता है, जिसकी ज्योति में काम आदि वासनाओं का अन्धकार नष्ट हो जाता है।

२. त्रिशोक अपने मन से कहता है कि **तृम्प**=तू तृप्त रह। तू सदा एक तृप्ति का मनुभव कर। मन में सन्तोष हो। असन्तोष मन को भटकाता है—मेरा मन भटके नहीं। 'आत्मतृप्ति' महान् साधना है।

इसके होने पर मन निर्मल व प्रसादयुक्त होता है और मनुष्य के सब दु:खों की हानि हो जाती है।

३. **व्यश्नुहि मदम्**=यह त्रिशोक अपने प्राणमयकोश से कहता है कि तू मद से व्याप्त हो। (अश्=व्याप्तौ) वीर्य की सुरक्षा वैदिक साहित्य में 'इन्द्र का सोमपान' कहलाती है और यह एक अद्भुत मद पैदा करती है। इसके जीवन में एक मस्ती आ जाती है।

एवं, यह त्रिशोक अपने सूक्ष्म-शरीर के तीनों कोशों को क्रमश: ज्ञान, सन्तोष व उत्कृष्ट मद से भरकर, तीन दीप्तियोंवाला होकर 'त्रिशोक' इस नाम को अन्वर्थक बनाता है।

भावार्थ—मस्तिष्क, मन व प्राण को ज्ञान, सन्तोष व मद से पूर्ण करके हम 'त्रिशोक' बनें।

ऋषि:—त्रिशोक: काण्व: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—गायत्री ॥ स्वर:—षड्ज: ॥

सत्संग

७३२. मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन्। मा कीं ब्रह्मद्विषं वनः ॥ २ ॥

अपने मस्तिष्क, मन व प्राण तीनों को दीप्त करने का निश्चय करनेवाले त्रिशोक से प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **मूरा:**=मूढ़ लोग **मा आ दभन्**=मत दबा लें। उनके सङ्ग=Society में पड़कर तू उनके दबाव में न आ जाए। जो सदा अहंकार से भरे हुए और प्रकृति के गुणों में फँसे रहते हैं, ये ही लोग 'मूर—मूढ़—दुर्धी' हैं। इसके संग में न बैठना ही ठीक है।

अविष्यव:=आक्रमक (Attacking, Voilent, Vehement)। उल्लिखित मूर लोग अविष्यु होते हैं। ये अपने स्वार्थ के लिए औरों पर आक्रमण करते हैं। ये सदा औरों के भाग को छीनने की कामना (Wishing) किया करते हैं। प्रभु कहते हैं कि इनसे तूने बचना। ये तुझे दबा न लें।

उपहस्वान:=उल्लिखित मूर, अविष्यु लोग परमात्मा-परलोक आदि की बातों की हँसी उड़ाया करते हैं। ये तो कई बार '**ईश्वरोऽहं**', '**कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया**'=अपने को ही ईश्वर मानते हैं, इनकी धारणा होती है कि मेरे समान कौन है ? परलोक आदि भावनाएँ गपशप है। '**भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:**'=कोई पुनर्जन्म आदि नहीं होते।

ब्रह्मद्विषम्=ज्ञान के द्वेषी मनुष्य का तो तुझे **मा कीम् वन:**=निश्चय से ही सेवन नहीं करना। इनके संग में तू उठा-बैठा और गया (You will be undone)। तेरा जीवन प्रकृति में फँसे, औरों की लूट-मार करनेवाले, परलोक की बात की हँसी उड़ानेवाले, ज्ञान के द्वेषी लोगों के सङ्ग में नष्ट हो जाएगा। इनसे सदा बचना।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम सत्सङ्ग से सु-मन बनें।

ऋषि:—त्रिशोक: काण्व: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—गायत्री ॥ स्वर:—षड्ज: ॥

महान् सफलता (सिद्धि)

७३३. इह त्वा गोपरीणसं महे मन्दन्तु राधसे। सरो गौरो यथा पिब ॥ ३ ॥

प्रभु '**इन्द्र**'=इन्द्रियों के अधिष्ठाता से कहते हैं कि हे इन्द्र! **गोपरीणसम्**=गौवों, अर्थात् इन्द्रियों के पालन व पूरण करनेवाले तुझ त्रिशोक को **महे राधसे**=महान् सिद्धि व सफलता के लिए **मन्दन्तु**=ये सुरक्षित सोमकण आनन्दयुक्त करें। **गौरो यथा**=शुभ्र मनवाले व्यक्ति की भाँति तू **सर:**=ज्ञान को **पिब**=पी। (Attentively listen to your Acharya) आचार्य के मुख से ज्ञान की धारा प्रवाहित हो और तू इसे पीता चले।

जो भी व्यक्ति सोम की रक्षा करता हुआ, एक ऊँचा लक्ष्य बनाता है, वही इन्द्रियों में न्यूनता नहीं आने देता, अतः वह जिस कार्य में लगता है, उसमें अवश्य सफलता प्राप्त करता है। इस सफलता से उसका जीवन आनन्दमय बनता है।

सोम की रक्षा के लिए वह क्या करे? इसका उत्तर यह है कि मनुष्य अपने हृदय को गौर व शुभ्र बनाये रक्खे, मन में अर्थ-काम आदि की भावनाएँ उत्पन्न न होने दे। ज्ञान-प्राप्ति वह व्यसन है जो मनुष्य को अन्य सब व्यसनों से बचाएगा। मनुष्य इससे अपनी इन्द्रियों की रक्षा करता हुआ सफल जीवन बिताएगा और आनन्द का लाभ करेगा।

भावार्थ—हम 'जितेन्द्रियता व सफलता' को जीवन का लक्ष्य बनाएँ। उसके लिए ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहें। ज्ञान-प्राप्ति ही हमारा महान् यज्ञ व आराधना हो।

सूक्त-८

ऋषिः—मेधातिथिप्रियमेधौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु का उपहार

७३४. इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम्। अनाभयिन् ररिमा ते ॥ १ ॥

प्रियमेध ऋषि से प्रभु कहते हैं कि हे **वसो**=उत्तम निवास करने के लिए प्रयत्नशील जीव! **इदम्**=यह **अन्धः**=आध्यायनीय—सर्वथा ध्यान देने योग्य वीर्य-शक्ति (सोम) **सुतम्**=मैंने तुझमें पैदा कर दी है। **पिब**=तू इसका पान कर, इसे अपने अन्दर ही व्याप्त करने के लिए प्रयत्न कर। पी हुई यह शक्ति **सुपूर्णम्**=उत्तम प्रकार से तेरा पालन व पूरण करनेवाली होगी। तेरे शरीर पर रोगों का आक्रमण न होगा, मन में ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न न होंगे तथा बुद्धि में कुण्ठता न आएगी। तेरा पूरण तो करेगी ही **उत**=और **अरम्**=वह तेरे जीवन को अलंकृत कर देगी। वीर्य शरीर को शक्ति-सम्पन्न करता है, मन को निर्मल व बुद्धि को तीव्र। एवं, यह शरीर, मन व बुद्धि तीनों को ही शोभान्वित करता है। इसके अतिरिक्त इस वीर्य-रक्षा का सबसे महान् लाभ तो यह है कि मनुष्य निर्भीक बनता है। प्रभु कहते हैं कि **अनाभयिन्**=हे निर्भीक प्रियमेध! ते **ररिम**=तुझे हम सर्वोत्तम भेंट प्राप्त कराते हैं। प्रभु की जीव के प्रति अनन्त देनों में यह सर्वोत्तम देन है। इसी पर अन्य सारी उन्नति निर्भर है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य हमारा पालन व पूरण करता है, यह हमारे जीवन को अलंकृत करता है और हमें निर्भीक बनाता है।

ऋषिः—मेधातिथिप्रियमेधौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आत्मिक उन्नति

७३५. नृभिर्धौतः सुतो अश्नैरव्या वारैः परिपूतः। अश्वो न निक्तो नदीषु ॥ २ ॥

इस मन्त्र का देवता **'इन्द्र'**=आत्मा है। यह आत्मा **नृभिः**=अपने को आगे ले-चलने की भावना से ओत-प्रोत लोगों द्वारा (नृ-नये) **धौतः**=शुद्ध किया जाता है। क्रियाशीलता ही आत्मिक शुद्धि का मुख्य साधन है। **'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'**=योगी लोग अनासक्तिपूर्वक कर्म करते ही रहते हैं, जिससे आत्मा शुद्ध बनी रहे।

यह आत्मा **अश्नैः**=(अश्-व्याप्तौ) अपने को व्यापक बनानेवालों से **सुतः**=(षु=प्रसव, ऐश्वर्य=Growth and prosperity) उन्नत व समृद्ध किया जाता है। जो जितना-जितना व्यापक

होता जाता है, उतना ही उन्नत व समृद्ध होता जाता है। संकुचित मनोवृत्तिवाला होकर छोटा हो जाता है, व्यापकता विशाल—समृद्ध कर देती है। व्यापकता में ही विकास है, संकोच में ह्रास।

'अवि' शब्द का अर्थ है 'दयालु' (Kindly, favourably disposed) **वारैः**=पाप-निवारक **अव्याः**=दयालु व्यक्तियों से **परिपूतः**=यह आत्मा सब ओर से पवित्र किया जाता है। दया व अहिंसा की भावना आत्मा को सर्वथा पवित्र कर देती है। क्रूरता की भावना अपवित्रता की मूल है और दयालुता पवित्रता की।

यह क्रियाशील, व्यापक मनोवृत्तिवाला, दया-प्रवण व्यक्ति **न**=जैसे **नदीषु**=नदियों में नहलाने से **अश्वः**=घोड़ा **निक्तः**=शुद्ध हो जाता है, इसी प्रकार यह भी **नदीषु**=प्रभु के आनन्द-स्रोतों में शुद्ध हो जाता है। वे सहस्रधार प्रभु पवित्र हैं—यह भक्त भी उस प्रभु की स्रोत-धाराओं में स्नान कर पवित्र हो जाता है।

भावार्थ—मैं सदा आगे बढ़ने के लिए क्रियाशील बनूँ। उदारमना व दयालु बनकर प्रभु के स्रोतों में स्नान करूँ।

ऋषिः—मेधातिथिप्रियमेधौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

कर्म को मधुर बनाना

७३६. तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः। इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे ॥ ३ ॥

इस मन्त्र में कर्म को 'यव' कहा गया है। 'यु' धातु के अर्थ मिश्रण व अमिश्रण हैं। 'भद्र से सम्पृक्त होना और अभद्र से विपृक्त होना' यही कर्म का शुद्धस्वरूप है। प्रियमेध संसार में उत्तम कर्मों को करता हुआ उन कर्मों का कभी गर्व नहीं करता। इन सब कर्मों को वह प्रभु का ही समझता है और कहता है कि—**तं ते यवम्**=आपके इन कर्मों को **यथा गोभिः**=उस-उस कर्म के अनुकूल ज्ञानों से **स्वादुम्**=मधुर **अकर्म**=बनाते हैं। ज्ञानरहित कर्म कुछ अपवित्र व माधुर्यशून्य हो जाता है। ज्ञान से कर्म में माधुर्य आता है और प्रभु-उपासना से वह माधुर्य और अधिक बढ़ जाता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **इन्द्र**=सर्वैश्वर्यवाले प्रभो! **त्वा**=आपको **अस्मिन्**=इस **सधमादे**=यज्ञ में **श्रीणन्तः**=(श्रिञ् सेवायाम्) सेवन करते हुए हम अपने कर्मों को मधुर बनाते हैं। यहाँ यज्ञ के लिए 'सधमाद' शब्द आया है। सबको एकत्र होकर (सध) यहाँ आनन्द लेना होता है (माद)। यज्ञवेदि '**सध-स्थ**'=सबके मिलकर बैठने का स्थान है। कर्ममात्र यज्ञ का रूप धारण करेगा तो उन यज्ञों में प्रभु का सेवन करते हुए हम अपने कर्मों को शक्तिशाली बना रहे होंगे और अभिमानशून्यता से कर्म सुन्दर प्रतीत होंगे। ज्ञान-कर्मों में से अहन्ता को भी नष्ट करता है। यह ज्ञानी कर्मों को अपना मानता ही नहीं, **ते**=ये तो तेरे ही हैं, इनमें मेरा क्या है? ऐसी उसकी भावना होती है?

भावार्थ—हम ज्ञान व श्रद्धा से अपने कर्मों को मधुर बनाएँ।

सूक्त-९

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

राधा-पति

७३७. इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते। पिबा त्वा३स्य गिर्वणः ॥ १ ॥

प्रभु कहते हैं कि **इदम्**=यह सोम (वीर्य-शक्ति) **हि**=निश्चय से **ओजसा**=ओज के दृष्टिकोण

से **अनुसुतम्**=रस-रुधिरादि के क्रम से तेरे शरीर में उत्पन्न की गयी है। **राधानां पते**=हे सफलताओं के स्वामिन्! (राध्=सिद्धि) **पिब तु अस्य**=निश्चय से तू इसका पान कर। इसका पान ही तुझे संसार में सफल बनाएगा। जीव को 'राधानां पते' शब्द से सम्बोधन करना उसे प्रेरणा देने के लिए है कि तूने सफल बनना है। इसे सफल बनाने का साधन सोम का पान है।

सोम के पान के लिए साधना का संकेत 'गिर्वणः' शब्द में है। 'गिर्वणः' का अर्थ है कि गिराओं से—वेद-वाणियों से अथवा गिरा से—वाणी से प्रभु का सम्भजन करनेवाला। प्रभु के नाम का जप मनुष्य के मन को विषयों की प्रवृत्ति से रोकता—बचाता है और इस प्रकार उसे सोम-पान के योग्य बनाता है।

एवं, सोमपान का साधन तो प्रभु के नाम का जप व वेदवाणियों का सेवन है और इसका साध्य 'सफलता' है।

भावार्थ—मैं प्रभु के नाम के जप व वेदवाणियों के सेवन द्वारा सोम-पान करता हुआ सदा **राधा**=सिद्धि का पति बनूँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

स्वधा, मद, सौम्यता

७३८. यस्ते अनु स्वधामसत् सुते नि यच्छ तन्वम्। स त्वा ममत्तु सोम्य॥ २॥

प्रभु कहते हैं कि हे **सोम्य**=विनीत! सोम की रक्षा द्वारा तूने नम्रता प्राप्त की है। तू **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में सोम का **तन्वम्**=(तन्वाम्) शरीर में **नियच्छ**=नियमन व रक्षा कर **यः**=जो **ते**=तेरे **स्वाधाम् अनु असत्**=अपने धारण के अनुपात में है, अर्थात् जितना-जितना तू सोम का नियमन करेगा, उतना-उतना अपने जीवन का धारण करनेवाला बनेगा। **स त्वा ममत्तु**=यह सोम तुझे मद-युक्त करे। तेरे जीवन में एक मस्ती हो। निराशा व दुःख तुझे कभी न घेरें। बड़े-से-बड़े कष्ट में भी तू प्रसन्न ही हो, परन्तु ऐसा होना तो उस वीर्य की रक्षा पर ही निर्भर है। तुझे मदयुक्त करके भी यह सोम **सोम्य**=विनीत बनाये रखता है। यही तो इसकी विशेषता है कि मद और अमद इसमें साथ-साथ रहते हैं। प्रभु को भी 'मदामद' इस नाम से स्मरण किया गया है, यह सोम जीव को भी 'मदामद' बना प्रभु-जैसा बना देता है।

भावार्थ—सोम की रक्षा के द्वारा मेरे जीवन में '**स्वधा**'=स्वधारणशक्ति हो, मद हो तथा मद के साथ विनीतता हो।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

कुक्षि, शिरस् व भुजाओं की नीरोगता

७३९. प्र ते अश्नोतु कुक्ष्योः प्रेन्द्र ब्रह्मणा शिरः। प्र बाहू शूर राधसा॥ ३॥

यह सोम **ते**=तेरी **कुक्ष्योः**=कुक्षियों का **अश्नोतु**=प्रभु To be master of हो—उनपर विशेषरूप से प्रभाव डालनेवाला हो। तेरी कुक्षियों के मध्य में स्थित उदर में कभी-भी किसी प्रकार का विकार न हो, यह सोम तेरे आमाशय को स्वस्थ करे। **इन्द्र**=हे इन्द्र! यह सुरक्षित वीर्य ही **शिरः**=तेरे सिर को **ब्रह्मणा**=ज्ञान से भर दे—व्याप्त कर दे। तेरा मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठे। सुरक्षित वीर्य से ज्ञानाग्नि दीप्त होकर मस्तिष्क अपरा व पराविद्या के नक्षत्रों व सूर्य से चमक उठता है।

यह सुरक्षित वीर्य ही उसकी **बाहू**=भुजाओं को **प्राधसा**=प्रकृष्ट सफलता से सम्पन्न करता है। यह वीर्य की रक्षा करनेवाला पुरुष **शूर**=सब विघ्न-बाधाओं को शीर्ण करनेवाला होकर सदा साध्यों में सिद्धि का लाभ करता है। प्रभु ने इसे 'शूर' शब्द से सम्बोधन कर संकेत किया है कि तू सब राग-द्वेषादि को शीर्ण करनेवाला 'गाथिन' होगा। यही प्रभु की सच्ची स्तुति है कि हम सोम का पान कर 'सफलता, स्वधा, सम्मद (हर्ष), शोक (दीप्ति), सौम्यता, स्वास्थ्य, संज्ञान व सामर्थ्य' इस सप्तक का सम्पादन करें। यही प्रभु का 'सप्तविध गान' है, यही जीवन का सच्चा 'सप्त स्वरसंगीत' है।

भावार्थ—सोमपान से हम उदर को नीरोग, मस्तिष्क को ज्ञान से पूर्ण व भुजाओं को सबल व सफल बनाएँ।

सूक्त-१०

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सामुदायिक प्रार्थना

७४०. आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत। सखाय स्तोमवाहसः ॥ १ ॥

मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा' है। यह अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाला हैं। यह अपने समानख्यान-(tendeney)-वाले **सखायः**=मित्रों से कहता है कि **आ**=चारों ओर से **तु**=निश्चयपूर्वक **एत**=आओ। **नि-षीदत**=नम्रतापूर्वक बैठो और प्रभु की शरण में उपस्थित होकर उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु का **अभिप्रगायत**=लक्ष्य करके खूब गायन करो। आप सब **स्तोमवाहसः**=स्तुतिसमूह के धारण करनेवाले बनों।

मिलकर प्रभु का कीर्तन करने से अधिक उत्तम बात और हो ही क्या सकती है? प्रभु-कीर्तन का मन पर स्वास्थ्यजनक प्रभाव होता ही है। सामुदायिक प्रभु गायन तो सारे वातावरण को बड़ा सुन्दर बना देता है। प्रभु का स्मरण १. व्यसनों से बचाता है, २. अभिमानशून्यता को उत्पन्न करता है, ३. एक पितृत्व के नाते पारस्परिक बन्धुत्व व ऐक्य की भावना को जन्म देता है, ४. एक ऊँचे लक्ष्य को पैदा करता है, ५. और मैं प्रभु-पुत्र हूँ, इस स्मरण से पापों को आत्म-सम्मान से हीन समझता है (below dignity)।

इसी सामुदायिक प्रार्थना के लाभ अगले मन्त्र में अधिक विस्तार से कहे गये हैं।

भावार्थ—हम मिलकर प्रभु का स्तवन करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इस चमकीले संसार में

७४१. पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्। इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ २ ॥

'पृ पालनपूरणयोः' धातु से 'पुरु' शब्द बना है। पुरु का अर्थ है—पालन व पूरण करनेवाला। माता-पिता सन्तान का, आचार्य विद्यार्थी का, राजा प्रजा का, 'विद्वान् अतिथि' गृहस्थों का पालन व पूरण करने में लगे हैं, परन्तु इन सब पुरुषों की तुलना में वे प्रभु **पुरूणां पुरूतमम्**=पालकों में सर्वोत्तम पालक हैं। उस प्रभु का हम गायन करें।

वे प्रभु ही वास्तव में **वार्याणाम् ईशानम्**=सब वरणीय वस्तुओं के ईशान हैं। प्रभु के गायक को **वार्य** वस्तुएँ ही प्राप्त होती हैं, अतः आओ **सुतम्**=इस उत्पन्न (प्रसव) ऐश्वर्यमय संसार में, जिसमें कि शतशः चमकीले पदार्थ सदा हमें प्रलुब्ध करने में तत्पर हैं, **सचा**=मिलकर **इन्द्रम्**=उस

प्रभु का स्तवन करो, जिससे हम **सोमे** (निमित्त-सप्तमी)=सोम रक्षा कर सकें। न विलास की ओर जाएँगे और न ही सोम का अपव्यय होने देंगे। इस प्रकार मन्त्र में सामुदायिक प्रार्थना के निम्न लाभ गिनाये गये हैं—

१. प्रभु सर्वोत्तम पालन करनेवाले हैं, अतः हम आसुरी वृत्तियों के आक्रमण से सुरक्षित होंगे।
२. वे प्रभु वार्य वस्तुओं के ईशान हैं, अतः हम वरणीय ही भोग्य वस्तुओं को प्राप्त करेंगे तथा
३. इस ऐश्वर्यमय चमकते संसार में न उलझते हुए अपने सोम की रक्षा कर सकेंगे।

भावार्थ—सामुदायिक प्रार्थना हमें १. प्रलोभनों से बचाए, २. वार्य वस्तुएँ ही प्राप्त कराए तथा ३. सोम की रक्षा के योग्य बनाए।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

जीवन में प्रभु का साथ

७४२. स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्या। गमद् वाजेभिरा स नः ॥ ३ ॥

सः=वह प्रभु **घ**=निश्चय से **नः**=हमारे **योगे**=जीवन-यात्रा के प्रथम प्रयाण में शक्ति व ज्ञान जुटाने के कार्य में **आभुवत्**=सर्वथा सहायक हो। एक ब्रह्मचारी प्रातः-सायम् प्रभु के चरणों में उपस्थित होकर एक प्रेरणा प्राप्त करता है और एकाग्रता व संयम से ज्ञान व शक्ति के योग में समर्थ होता है। **सः**=वही प्रभु जीवन-यात्रा के दूसरे प्रयाण में **राये**=देने के योग्य धन के लिए **नः**=हमारे **आभुवत्**=साथ हों। गृहस्थ में धन की आवश्यकता है। साथ ही उस धन में आसक्ति न होकर दान देने की वृत्ति की आवश्यकता है। 'राये' शब्द में ये दोनों ही भावनाएँ आ गयीं। 'राये', 'रा=दाने' यह शब्द उसी धन के लिए प्रयुक्त होता है जो दिया जा सके। खूब धन देनेवाला गृहस्थ ही अपने परिवार का पालन करता हुआ तीनों आश्रमियों का पालन कर पाता है और इस प्रकार अपने यात्रा के इस प्रयाण को सफलता से पूर्ण करता है। **सः**=वह प्रभु हमें हमारी जीवन-यात्रा के तीसरे प्रयाण में—वानप्रस्थाश्रम में **पुरन्ध्या**=पालक व पूरक बुद्धि से व बुद्धिजन्य ज्ञान से युक्त करें। '**स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्**' सदा स्वाध्याय में लगे रहें एवं, सतत स्वाध्याय से अपने ज्ञान को परिपक्व करके जब हम जीवन-यात्रा के चतुर्थ प्रयाण में परिव्राजक बन चारों दिशाओं में भ्रमण करते हुए ज्ञान-प्रसार के लिए आगे बढ़ें तब **सः**=वे प्रभु भी **नः**=हमें **वाजेभिः**=शक्तिशाली गतियों के हेतु से **आगमत्**=सर्वथा प्राप्त हों। एक संन्यासी अपनी उपदेश-यात्रा में उस प्रभु से ही शक्ति पाता है और मानापमान से विचलित न होता हुआ और अकेलेपन के कारण भयभीत न होता हुआ आगे और आगे बढ़ता है। वह प्रभु को अपने साथ अनुभव करता है, अतः डरे क्यों? इस प्रकार उसकी यात्रा पूर्णतया सफल होती है। सामुदायिक प्रार्थना का यही लाभ है कि हमें सदा प्रभु का साथ प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम प्रभु को अपने साथ अनुभव करते हुए आगे और आगे बढ़ते चलें और लक्ष्य स्थान पर पहुँचें।

सूक्त-११

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रत्येक युद्ध के समय

७४३. योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये ॥ १ ॥

इस मन्त्र का ऋषि 'शुनः शेप आजीगर्ति' है। 'शुनम्' शब्द सुख का वाचक है, शेप का अर्थ है—बनाना (To make)। एवं, सुख का निर्माण करनेवाला व्यक्ति 'शुनःशेप' है। जब यह सांसारिक सुख को अपना लक्ष्य बनाता है तब प्रेयमार्ग के साधनों को जुटाने के लिए अन्धाधुन्ध धन कमाता है और **आजीगर्ति**=द्यूतफलक की ओर जानेवाला होता है (अज् गतौ, गर्तम्=द्यूतफलकम्)। इसकी प्रवृत्ति सट्टे के व्यापार व जुए के भिन्न-भिन्न प्रकारों की ओर होती है, परन्तु जब यह अपने जीवन का लक्ष्य सांसारिक सुख के स्थान में 'श्रेयमार्ग' को बनाता है, तब यही शुनःशेप द्यूतफलक को परे फेंकनेवाला (अज् क्षेपणे) आजीगर्ति बन जाता है। वह प्रभु-प्राप्ति को अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है और जब कभी प्रभु का इसे आभास होता है तब यह अनुभव करता है कि **योगे-योगे**=उस-उस सम्पर्क के समय **तवस्तरम्**=वे प्रभु बड़ी शक्ति देनेवाले हैं (तवस्=बल), इसलिए यह कहता है कि **वाजे-वाजे**=जब-जब काम, क्रोध, लोभ आदि से युद्ध का प्रसंग आता है (to wage a war) वज गतौ=to attack तब-तब हे प्रभो! हम आपको ही **हवामहे**=पुकारते हैं।

परन्तु हमें आपको पुकारने का अधिकार भी तो तभी प्राप्त होता है, जब **सखायः**=हम आपके समान ख्यानवाले बनते हैं। आप सर्वज्ञ हैं, हम भी तीव्र तपस्या के द्वारा सर्वज्ञकल्प बनने का प्रयत्न करें। जब जीव इस प्रकार अपने ज्ञान को बढ़ाता है तभी इन्द्र का सखा कहलाने का अधिकारी होता है। यह प्रभु से कहता है कि **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली, सब असुरों का संहार करनेवाले आपको **ऊतये**=अपनी रक्षा के लिए पुकारता हूँ। इन कामादि के साथ युद्ध में मेरी विजय आपके बिना असम्भव है। आपके सहाय से ही मैं इनको जीत पाऊँगा, नहीं तो यह काम तो 'मार' है—यह तो मुझे मार ही डालेगा। आप ही कामारि हैं, आप ही मुझे इससे बचाएँगे।

भावार्थ—प्रभु के सौन्दर्य से मैं अपने को शक्तिशाली बनाऊँ और काम पर विजय पाऊँ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

उसी को पुकारें

७४४. अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम्। यं ते पूर्वं पिता हुवे॥ २॥

इस समय हम संसार में भटक रहे हैं। भटकते-भटकते बड़ी देर हो गयी है, अतः घर तो कुछ पुराना-सा हो गया है, परन्तु उस सनातन घर में पहुँचना तो है ही। **प्रत्नस्य ओकसः अनु**=उस सनातन घर का लक्ष्य करके, अर्थात् संसार-यात्रा को पूर्ण करके प्रभु की गोद में पहुँचनेरूप मोक्ष को लक्ष्य करके मैं उस प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ, जो **तुविप्रतिम्**=महान् पूरण करनेवाले हैं (तुवि=महान्, प्रा=पूरणे), **नरम्**=जो हमारा पूरण करके निरन्तर हमें आगे और आगे ले-जानेवाले हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह सदा प्रभु का आह्वान करे, जिससे उसकी न्यूनताएँ दूर हों और वह आगे बढ़ सके। संसार प्रलोभनों से भरा है, हम इसमें भटक जाते हैं और भटकते ही रहते हैं, घर वापस पहुँचने का ध्यान ही नहीं रहता, अतः मनुष्य को प्रेरणा देते हैं कि हे मनुष्य! तू उसी प्रभु को पुकार **यम्**=जिसे ते **पिता**=तुम्हारे पिता **पूर्वम्**=तुमसे पहले **हुवे**=पुकारते रहे हैं। अपनी पैतृक संस्कृति को नष्ट क्यों होने देना! पूर्वजों की उत्तम कुल-रीतियों को चलाते चलना ही ठीक है।

भावार्थ—अपने पूर्वजों के पदचिह्नों पर चलता हुआ मैं प्रभु का स्मरण करूँ और मोक्ष को अपना लक्ष्य बनाऊँ।

ऋषि:—शुन:शेप आजीगर्ति: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—गायत्री ॥ स्वर:—षड्ज: ॥

वासनाओं के शिकार न हो जाएँ

७४५. आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्त्रिणीभिरूतिभि: । वाजेभिरुप नो हवम् ॥ ३ ॥

मनुष्य प्रभु को पुकारता है और यदि उसकी पुकार सुनी जाती है तो उसे सहायता भी प्राप्त होती है, परन्तु मनुष्य की पुकार सदा तो नहीं सुनी जाती। मन्त्र का 'यदि' शब्द इस भावना को सुव्यक्त कर रहा है। पुकार कब सुनी जाती है? इस प्रश्न का उत्तर भी मन्त्र का 'वाजेभि:' शब्द दे रहा है। 'वज गतौ' धातु से यह शब्द बना है। गतिशीलता होने पर ही हम पुकार को सुनाने के अधिकारी बनते हैं। हम केवल प्रार्थना करें और प्रयत्न कुछ न करें तो वह प्रार्थना निष्फल ही है, अत: मन्त्र में कहते हैं कि **वाजेभि:**=क्रियाशीलता के द्वारा **न: हवम्**=हमारी पुकार को **यदि**=यदि वे प्रभु **श्रवत्**=सुनते हैं तो **सहस्त्रिणीभि: ऊतिभि:**=शतश: संरक्षणों के साथ **घ**=निश्चय से **उप आगमत्**=हमें अवश्य प्राप्त होते हैं।

हमारी पुकार सुनी तभी जाएगी जब हम भरपूर पुरुषार्थ करेंगे (वाजेभि:)। प्रभु **'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा:'** श्रम के बिना मित्रता के लिए नहीं होते। जब श्रम के उपरान्त हमारे सहायक हो जाते हैं तब वासनाओं के साथ संग्राम में हमारा पराजय नहीं होता, अपितु हम प्रभु के शतश: रक्षणों से सुरक्षित होते हैं।

भावार्थ—श्रमशीलता से हम प्रभु-प्रार्थना के अधिकारी बनें।

सूक्त-१२

ऋषि:—नारद: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—उष्णिक् ॥ स्वर:—ऋषभ: ॥

कौन बड़ा है? महान् का लक्षण

७४६. इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम् । विदे वृधस्य दक्षस्य महाँ हि ष: ॥ १ ॥

इस मन्त्र का ऋषि 'नारद काण्व' है। 'नरस्येदं नारम्' इस व्युत्पत्ति से मनुष्य का 'शरीर, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' सभी 'नारम्' कहलाते हैं; इन सबको जो (दापति=दैप् शोधने) शुद्ध करता है वह (नार-द) कहलाता है। बाहर की सफाई में ही न उलझा हुआ मनुष्य कहीं अधिक बुद्धिमान् है, यह 'काण्व' कहा गया है। इस 'नारद काण्व' से प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय जीवात्मन्! यदि तू **सोमेषु सुतेषु**=सोमों का उत्पादन होने पर **उक्थ्यम् क्रतुम्**=अनवद्य, अर्थात् स्तुत्य, प्रशंसनीय सङ्कल्प को **पुनीषे**=पवित्र करता है और **वृधस्य दक्षस्य**=वृद्धि के कारणभूत बल का **विदे**=लाभ करता है (विद्=पाना) तब **स:**=वह तू **हि**=निश्चय से **महान्**=महनीय—महत्त्व प्राप्त करनेवाला होता है।

मन्त्र के उल्लिखित शब्दों में 'महान्' का लक्षण निम्न शब्दों में दिया गया है—

१. **सुतेषु सोमेषु**=यह सोम का सम्पादन करता है। अपने जीवन को संयम के द्वारा शक्तिशाली बनाता है। अशक्त पुरुष का महान् बनना सम्भव नहीं। सोम (Semen) का पान ही मनुष्य को **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली बनाता है। यही उसका मुख्य गुण है। इसी के **मद**=मस्ती में वह असुरों का संहार करता है, आसुर वृत्तियों को कलीरूप में ही समाप्त कर देता है।

२. **उक्थ्यम् क्रतुं पुनीषे**=सोम-पान के परिणामस्वरूप ही यह अपने मानस सङ्कल्पों को

पवित्र करता है। उसके सङ्कल्प **अनवद्य**=निष्पाप होते हैं, अतएव स्तुत्य व प्रशस्य होते हैं।

३. **वृधस्य दक्षस्य विदे**=सोम-पान से—शक्ति के संयम से—यह **दक्ष**=बल प्राप्त करता ही है, साथ ही इसका बल वृद्धि का कारण होता है, अतएव इसे वह यशस्वी बनाता है। यह 'यशो-बलम्' वाला होता है, तभी तो यह महान् हुआ है।

भावार्थ—१. मैं शक्ति का सम्पादन करूँ, २. मेरा बल यशस्वी हो।

ऋषिः—नारदः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

महान् का लक्षण पञ्चक

७४७. स प्रथमे व्योमनि देवानां सदने वृधः। सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित् ॥ २ ॥

१. **सः**=वह महापुरुष **वृधः**=वृद्धि करनेवाला (वर्धत् इति वृधः, वृध्+क) होता है, परन्तु किस क्षेत्र में? **प्रथमे व्योमनि**=उत्कृष्ट हृदयान्तरिक्ष में। वैदिक साहित्य में बाह्य आकाश की तुलना में हृदयाकाश को उत्तम कहा गया है 'प्रथमे व्योमनि' का ही पर्यायवाची 'परमे परार्द्धे' है। यही जीव 'आत्मस्वरूप' का दर्शन कर पाता है। यह आत्मा का विशिष्ट निवास-स्थान होने से सचमुच 'व्योम' है (वि+ओम्)। महान् वह है जो इस हृदयाकाश के क्षेत्र में उन्नति की साधना करता है। 'प्रथमे' शब्द का अर्थ 'प्रथ विस्तारे' से विस्तृत भी होता है, अतः हृदय की उन्नति इसे विस्तृत बनाने में ही है। संकुचित हृदय अपवित्र होता है और **महः**=महत्त्व इसे पवित्र कर डालता है '**महः पुनातु हृदये**'। महान् व्यक्ति वह, जिसका हृदय महान् है।

सः=वह महान् व्यक्ति **देवानां सदने**=देवताओं के निवास-स्थान में **वृधः**=वृद्धि करता है। सामान्य मनुष्यों के जीवनों में काम-क्रोध उसकी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अपना निवास-स्थान बनाते हैं। महान् वह है जो त्रिपुरारि (महादेव) बनकर असुरों का पराजय करता है और इन्हें देवों का सदन बना देता है। इसका काम 'प्रेम' में परिवर्तित हो जाता है और क्रोध 'मन्यु' में। इसके जीवन में ये सब असुर अपने पूर्वरूपों में आ जाते हैं। प्रेम ही तो विकृत होकर 'काम' बन गया था और मन्यु ही 'क्रोध'। असुर भी तो 'पूर्व-देव' ही हैं।

३. **सु-पारः**=हृदय की पवित्रता व दिव्य गुणों के सम्पादन के कारण ही यह प्रत्येक कार्य को **सु**=उत्तमता से **पारः**=समाप्ति तक ले-जानेवाला होता है। अधम विघ्न-भय से कार्य को प्रारम्भ ही नहीं करता तो मध्यम विघ्नों के आने पर बीच में ही रुक जाता है। महान् वही है जो विघ्नों से शतशः आहत होने पर भी कार्य को समाप्ति तक ले-चलता है।

४. **सु-श्रवस्-तमः**=यह महापुरुष कार्यों को समाप्ति तक ले-चलने से 'उत्तम यशवाला' होता है। चारों ओर इसकी ख्याति फैलती है। अधिक-से-अधिक प्रसिद्ध होता हुआ भी वह अहंभाव से शून्य है। इस निरभिमानिता से इसका यश और भी सुन्दर प्रतीत होता है।

५. **सम् अप्सु जित्**=अपनी सफलताओं=achievements से यशस्वी होता हुआ भी, क्योंकि यह अहंकारशून्य होता है, अतः यह कार्यों से बद्ध नहीं होता। **अप्सु**=कर्मों को करता हुआ भी यह नहीं कर रहा होता। यही नर है—यही महान् है।

भावार्थ—महान् के पाँचों लक्षणों को अपने जीवन में अनूदित करके मैं सचमुच 'पञ्च-जन' बनूँ।

ऋषिः—नारदः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

महान् कैसे बना जाए ?

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
७४८. तमु हुवे वाजसातय इन्द्रं भराय शुष्मिणम्।
१ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ २
भवा नः सुम्ने अन्तमः सखा वृधे ॥ ३ ॥

नारद कहता है कि **वाजसातये**=शक्ति के लाभ के लिए मैं **तम् इन्द्रम् उ**=उस परमात्मा को ही **हुवे**=पुकारता हूँ। वही तो अनन्त शक्ति का स्रोत है—इन्द्र है। **भराय**=अपने अन्दर दिव्य गुणों को भरने के लिए भी मैं उसे पुकारता हूँ, क्योंकि वह **शुष्मिणम्**=काम-क्रोधादि के उमड़ते स्रोतों को सुखा देनेवाला है। 'शुष्म' उस बल का नाम है जो शत्रुओं का शोषण कर देता है। मैं प्रभु को पुकारूँगा तो प्रभु का नामोच्चारण ही मेरे काम-क्रोधादि शत्रुओं का नामावशेष कर देगा।

अतएव नारद प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आप **नः सुम्ने भव**=हमारे कल्याण व सुख के लिए होओ। **अन्तमः सखा**=आप ही हमारे निकटतम=Intimate मित्र हैं। **वृधे**=आप ही हमारी वृद्धि के लिए होते हैं। काम-क्रोध और लोभ हमारी उन्नति के मार्ग में विघातक हैं, प्रभु इनका विघात करके हमारी उन्नति के मार्ग को निर्विघ्न कर देते हैं। प्रभु से संपृक्त हो हम शक्तिशाली बनते हैं और उन्नति करने में सफल होते हैं। प्रभु का स्मरण हमें दिव्य भावनाओं से भरनेवाला होता है और इस प्रकार हमारी वृद्धि का कारण होता है।

भावार्थ—मैं प्रभु को पुकारूँ, अपने में शक्ति भरूँ, कामादि को सुखा दूँ और महान् बनकर प्रभु की भाँति बन जाऊँ।

सूक्त-१३

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

वामदेव की उपासना

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र ३ १ २
७४९. एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे।
३ १ २र ३ १ २ ३१ २र ३ २ ३ १ २
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्॥ १ ॥

वामदेव=सुन्दर, दिव्य गुणों को अपनानेवाला यह ऋषि कहता है कि **एना नमसा**=इस नमन—'उपासना' के द्वारा मैं **आहुवे**=उस प्रभु को पुकारता हूँ, जो—

१. **वः अग्निम्**=तुम सबको आगे ले-चलनेवाला है, जिसके आश्रय से ही सभी प्रकार की प्रगति होती है। २. **ऊर्जःनपातम्**=मैं उस प्रभु को पुकारता हूँ जो 'शक्ति को न गिरने देनेवाला है।' प्रभु-स्मरण से वासनाएँ हमसे दूर रहती हैं, अतः हमारी शक्ति के नाश का कारण नहीं बनतीं। ३. **प्रियम्**=वे प्रभु तृप्ति देनेवाले हैं, अर्थात् प्रभु को छोड़कर कोई भी सांसारिक वस्तु हमें तृप्त नहीं कर सकती। सम्पूर्ण पृथिवी के सारे धन-धान्य से भी मनुष्य की तृप्ति नहीं होती। ४. **चेतिष्ठम्**=वे प्रभु निरतिशय ज्ञानवाले हैं। अपने भक्त को भी हृदयस्थरूपेण ज्ञान देते हैं। ५. **अरतिम्**=वे प्रभु संसार में आसक्त नहीं हैं, अपने भक्त को भी संसार से अनासक्त बनाते हैं। ६. **स्वध्वरम्**=वे पूर्ण अहिंसक हैं—हमारे जीवन-यज्ञों को भी हिंसाशून्य बनानेवाले हैं। ७. **विश्वस्य दूतम्**=सम्पूर्ण ज्ञान के उपदेष्टा हैं। तथा ८. **अमृतम्**=अमर हैं। भक्त को भी ज्ञान के द्वारा जीवन-मृत्यु के चक्र से ऊपर उठानेवाले हैं। (अविद्यमानं मृतं यस्मात्)।

उपासक की उपासना सच्ची होती है तो वह भी उपास्य जैसा ही बन जाता है। वामदेव उल्लिखित ८ गुणों से प्रभु का स्मरण करता हुआ उन्हीं अष्ट गुणों की प्राप्ति को अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है और उन गुणों को प्राप्त करके 'वामदेव' अपने इस नाम को सार्थक करता है।

भावार्थ—वामदेव की उपासना में सम्मिलित हो हम भी 'वामदेव' बन जाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वामदेव का जीवन

७५०. स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम् ॥ २ ॥

१. परमेश्वर की उल्लिखित आठ विशेष-गुणों से स्तुति करनेवाला **सः**=वह वामदेव अपने को **अरुषा**=तेज से **योजते**=जोड़ता है। कैसे तेज से? **विश्व-भोजसा**=सबका पालन करनेवाले तेज से। दुर्जनों की शक्ति दूसरों के पीड़न के लिए होती है, परन्तु वामदेव अपनी शक्ति से सभी का पालन करता है। २. **स्वाहुतः** (सु आहुतः)=बड़े उत्तम प्रकार से अपने तन-मन-धन की समाज-हित के कार्य में आहुति दे-देनेवाला यह वामदेव **दुद्रुवत्**=पीड़ितों की पीड़ाओं को दूर करने के लिए निरन्तर भागता-फिरता है, (द्रु-गतौ+यङ् प्रत्यय=नित्य अर्थ में)। ३. **सु ब्रह्मा**=यह चारों वेदों का उत्तम ज्ञाता बनता है। जितना अधिक इसका ज्ञान होगा उतना अधिक यह लोकहित कर सकेगा। ४. **यज्ञः**=ज्ञानी बनकर यह अपने जीवन को यज्ञमय बनाता है। 'देवपूजा, संगतीकरण और दान'=बड़ों का आदर, बराबरवालों से प्रेम तथा छोटों के प्रति दया—ये तीन बातें इसके जीवन का सूत्र बन जाती हैं। ५. **सुशमी वसूनाम्**=यह यज्ञशील वामदेव संसार में अपने निवास को उत्तम बनाता हुआ औरों को भी उत्तम निवास देनेवाला होता है। वसु तो यह है ही। बसाने, नकि उजाड़ने के ही कार्य में यह लगा है। इस कार्य में लगे होने के साथ इसकी विशेषता यह है कि यह **सुशमी**=उत्तम शान्तिवाला है। अपने कार्य का ढिंढोरा पीटनेवाला नहीं है, मौन साधक (Silent worker) है। बड़ी शान्त, स्वस्थ, मनोवृत्ति से अपने कार्य में लगा रहता है। इस प्रकार कार्य में लगे रहने से ही—६. **देवं राधो जनानाम्**=मनुष्यों में यह दिव्य=अनुपम सफलता (राध्=सिद्धि) का लाभ करनेवाला है। स्वार्थ ही कार्य को बिगाड़ा करता है, स्वार्थ न होने से वामदेव को अपने कार्यों में अलौकिक सफलता का लाभ होता है।

एवं, वामदेव कोरी उपासना ही नहीं करता, उसका जीवन क्रियामय है। उपासना के अनुकूल उसका पौरुष भी है। यही कारण है कि वह प्रभु का सच्चा उपासक बन पाता है। प्रत्येक सच्चे उपासक का जीवन ऐसा ही होना चाहिए। उपासना और कर्म में समन्वय हमें उपास्य-जैसा बना देता है।

भावार्थ—हमारी उपासना व कर्म में किसी प्रकार का विरोध न हो।

सूक्त-१४

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

पत्नी व उषा

७५१. प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती दुहिता दिवः।
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥ १ ॥

इस मन्त्र की देवता 'उषा' है। इस उषा के विषय में कहते हैं कि—**प्रति आयती अदर्शि**=प्रत्येक के अभिमुख आती हुई दिखाई देती है। उषा उदित न हो ऐसी बात नहीं होती। इसी प्रकार गृहपत्नी भी उषा के समान सभी के लिए उदित हो। पक्षपात की गन्धमात्र भी पत्नी में न हो।

यह उषा आती है, क्या करती हुई? **उच्छन्ती**=विवासन करती हुई, सभी को विशेषरूप से निवास देती हुई। रात्रि के अन्धकार में होनेवाला राक्षसों, रक्षःकृमियों और रोगादि का भय उषा के आते ही दूर-सा हो जाता है। वस्तुतः रात्रि में जीवन-क्रिया समाप्त-सी हो जाती है। उषा होते ही जीवन-यात्रा फिर से चालू हो उठती है। पत्नी का भी कर्त्तव्य है कि सब गृहसभ्यों के उत्तम निवास का प्रबन्ध करे। सबकी आवश्यकता-पूर्ति का उसे ध्यान हो।

उषा निकलती है—**दिवः**=प्रकाश को **दुहिता**=पूरण करनेवाली होती है। सब दिशाओं में प्रकाश-ही-प्रकाश भर देती है। गृहपत्नी=माता भी बच्चों में प्रारम्भ से ही प्रकाश भरनेवाली बनें। गोदी के बच्चे को लोरियों में भी उत्तमोत्तम श्लोक व मन्त्र सुनाएँ।

मही=यह महनीय उषा **उ**=निश्चय से **चक्षुषा**=अपने दर्शन 'उपस्थान' से **तमः**=अन्धकार को **अपवृणुते**=दूर भगा देती है। उषा निकली, अँधेरा गया। इसी प्रकार माता भी सबपर इस प्रकार दृष्टिपात करे कि उनका हृदयान्धकार दूर हो जाए। वह अपनी प्रेम व उत्साहभरी दृष्टि से सभी को उत्साहित करे।

यह महनीय उषा चारों ओर **ज्योतिः कृणोति**=प्रकाश-ही-प्रकाश कर देती है। उत्तम गृहिणी भी अपनी व्यवहार-दक्षता से सारे घर में **प्रसाद**=आह्लाद भरे रखती है।

उषा प्रकाश करके '**सूनरी**'=उत्तम गति देनेवाली होती है। उषा हुई और सभी पशु-पक्षी भी अपने मार्ग पर बढ़े। गृहपत्नी भी उत्तम व्यवस्था से सारे घर को आगे ले-चलनेवाली होती है।

यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि घर की यह उत्तम स्थिति होती वहीं है जहाँ, '**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः**'=नारियों का आदर होता है, परन्तु जहाँ वह 'साम्राज्ञी' न रहकर दासीमात्र हो जाती है, वहाँ '**यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः**'=सब क्रियाएँ निष्फल होकर अवनति-ही-अवनति होती चलती है। मन्त्र में इसी उद्देश्य से 'मही' शब्द का प्रयोग है कि इनको महनीय समझा जाए। ये उत्तम-अर्ध 'better half' हैं, इस बात को भूला न जाए।

भावार्थ—आर्यगृहों की गृहणियाँ उषा को अपना आदर्श बनाएँ।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)॥ स्वरः—पञ्चमः॥

पति व सूर्य

७५२. उदुस्त्रियाः सृजते सूर्यः सचा उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत्।
तवेदुषो व्युषि सूर्यस्य च सं भक्तेन गमेमहि॥ २॥

सचा उद्यन्=उषः के साथ ही—अनुपद ही उद्यन्=उदय होता हुआ **सूर्यः**=सूर्य **उस्त्रियाः**=किरणों को **उत् सृजते**=ब्रह्माण्ड में फेंकता है। घर में पति को भी चाहिए कि वह सूर्य का अनुकरण करता हुआ पत्नी के साथ गृह में प्रवेश करे तो गृह में प्रसन्नता का प्रकाश-ही-प्रकाश भर जाए, उसे देखकर सबके हृदय में भय का संचार न हो जाए।

उस्त्रियाः=शब्द का अर्थ 'भोग' भी है, ये **उत्स्राविणः**=शक्ति को बाहर ले-जानेवाले होते हैं। पति-पत्नी के साथ उन्नति के मार्ग पर जाता हुआ इन भोगों को छोड़ देता है। यह गृहस्थ में भी भोग

की वृत्तिवाला नहीं होता। भोगप्रवण जीवन न होने से वह गृहस्थ चमक उठता है।

सूर्य-किरणों को फेंकता हुआ भी **नक्षत्रम्**=कभी क्षीण नहीं होता, **अर्चिवत्**=सदा प्रकाश की ज्वालाओं से सम्पन्न रहता है। अनन्तकाल से सूर्य प्रति-दिन लाखों टन प्रकाश फेंकता हुआ भी वैसा ही बना है। गृहस्थ भी भोगों को परे फेंकता है—उनमें फँस नहीं जाता तो अक्षीण शक्ति बना रहता है (न+क्ष) तथा **अर्चिवत्**=उसकी चमक उसका साथ नहीं छोड़ती। उसकी बुद्धि आदि की शक्तियाँ सठिया नहीं जातीं।

यहाँ उषा व सूर्य के मिष से पति-पत्नी का उल्लेख हुआ है। ये दोनों एक शब्द में 'अश्विनौ' कहलाते हैं। ये अश्विनौ ही प्रस्तुत मन्त्र की देवता है। ये आराधना करते हैं कि हे **उषः**=उषाकाल! **तव इत् व्युषि**=तेरे निकलने पर **सूर्यस्य च**=और सूर्य के निकलने पर **भक्तेन**=उपासना से (भज्+क्त) **संगमेमहि**=हम सङ्गत हों। वस्तुतः उषःकाल प्रारम्भ होते ही गृहस्थ को सपरिवार उपासना में लीन होने का प्रयत्न करना चाहिए और कम-से-कम सूर्योदय तक यह उपासना चलनी चाहिए। जिस भी गृहस्थ में यह उपासना क्रम चलता है, वहाँ सन्तान सद्गुणी बनती है।

इन मन्त्रों का ऋषि वसिष्ठ है, जिसका शब्दार्थ वशियों में श्रेष्ठ व बसानेवालों में उत्तम है। उत्तम वशी गृहस्थ ही उत्तम बसानेवाला भी होता है।

भावार्थ—प्रत्येक पति सूर्य का शिष्य बने तथा पति-पत्नी उपासना को दैनिक कार्यक्रम में प्रमुख स्थान दें।

सूक्त-१५

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती)॥ स्वरः—मध्यमः॥

पति+पत्नी व प्राण-अपान

७५३. इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः॥ १॥

प्रस्तुत तथा अगले मन्त्र की देवता 'अश्विनौ' है। यह शब्द पति-पत्नी के लिए प्रयुक्त होता है। यास्क ने इन्हें प्राणापान का वाचक माना है। 'न श्वः' आज हैं और कल नहीं—इस अस्थिरता के कारण भी प्राणापान 'अश्विनौ' हैं और 'अश् व्याप्तौ' से बनकर यह शब्द प्राणापान का वाचक इसलिए भी है कि ये कर्मों में व्याप्त होते हैं। मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ कहता है कि हे **उस्रा**=(उस्रौ) उत्तम निवास देनेवाले व **अश्विना**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले प्राणापानो! **इमाः**=ये **दिविष्टयः**=(दिव+इष्) प्रकाश चाहनेवाले साधक **उ**=निश्चय से **वाम्**=आप दोनों को **हवन्ते**=पुकारते हैं। एक साधक प्रकाश की कामना करता हुआ—यह चाहता हुआ कि उसका मस्तिष्क सुलझा हुआ हो, उसे प्रत्येक वस्तु का तत्त्व स्पष्टरूप में दिखे, इसके लिए वह प्राणापान की साधना करता है, प्राणायाम के द्वारा इनका संयम करता है। सूर्यनाड़ी में प्राणों का संयम करके वह सारे भुवन को ही प्रत्यक्ष देखने लगता है—'**भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्**' (योगदर्शन)। वस्तुतः प्राण संयत होकर ज्ञानाग्नि को सन्दीप्त कर देते हैं, जैसे वायु भौतिक अग्नि को, अतः मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ भी निश्चय करता है कि **अयम्**=यह मैं **शचीवसू**=शक्ति के सम्पादन द्वारा उत्तम निवास देनेवाले प्राणापानो! आपको **अवसे**=रक्षा के लिए—शरीर को रोगों से आक्रान्त न होने देने के लिए **अह्वे**=पुकारता हूँ। प्राणापान की साधना से शरीर की शक्ति बढ़ती है। शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति का निवास उत्तम होता है।

प्राणशक्ति (Vitality) की वृद्धि से शरीर पर रोगों का आक्रमण नहीं होता। एवं, शरीर की रोगों से सुरक्षा होती है।

एवं, प्राणसाधना के तीन लाभ हैं—१. प्रकाश की प्राप्ति, २. शरीर का शक्ति-सम्पन्न बनना तथा ३. रोगों से रक्षा। इन तीन लाभों को प्राप्त करानेवाले ये प्राणापान **विशं विशम्**=प्रत्येक प्रजा को **हि**=निश्चय से **गच्छथः**=प्राप्त हैं। प्राणापान की सत्ता तो शरीर में है ही। उनका संयम के द्वारा उचित प्रयोग जीव की साधना पर निर्भर है। जो भी व्यक्ति साधना करेगा वह शरीर में उत्तम निवास करनेवालों का अग्रणी 'वशिष्ठ' कहलाएगा। प्राणापान को वश में करने से यह वशियों में श्रेष्ठ वशिष्ठ भी कहलाता है। प्राणापान का नाम मित्र और वरुण भी है, अतः ये 'मैत्रावरुणि' भी कहा जाता है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से हमारा जीवन 'प्रकाशमय', 'शक्ति-सम्पन्न', स्वस्थ और 'नीरोग' हो।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'सौम्य-मधु' का पान

७५४. युवं चित्रं ददथुर्भोजनं नरा चोदेथां सूनृतावते।
अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतं पिबतं सोम्यं मधु॥ २॥

वसिष्ठ प्राणापानों से कह रहे हैं कि **युवम्**=आप दोनों **चित्रं भोजनम्**=ज्ञान देनेवाले (चित्+र) अद्भुत प्रकाशमय पालन (भुज्) को **ददथुः**=देते हो। प्राणापान की साधना से बुद्धि तीव्र होती है जोकि सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों को भी समझने लगती है। यह ज्ञान मनुष्य की वासनाओं को नष्ट करता है और उसे आसुरवृत्तियों व व्यसनों का शिकार नहीं होने देता। एवं, ये प्राणापान **नरा**=(नरौ+नृ नये) मनुष्य को आगे ले-चलनेवाले होते हैं और (न+रम्) उसे आसक्ति से बचानेवाले होते हैं। इस साधना से यह मनुष्य 'सूनृतावान्' बनता है—इसकी वाणी (सु+ऊन्+ऋत) उत्तम, दुःखों को दूर करनेवाली व सत्य होती है, इस **सूनृतावते**=अहिंसात्मक प्रिय सत्य बोलनेवाले मनुष्य के लिए प्राणापान **चोदेथाम्**=प्रभु की प्रेरणा को प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः प्राणापान की साधना ही सर्वोत्तम तप है, इस तप को करनेवाले को मन्त्रद्रष्टृत्व प्राप्त होता है—वेद इन्हें स्वयं उपस्थित होता है। ये प्राणापान **समनसा**=मनवाले हैं, अर्थात् प्राणायाम से चित्तवृत्ति-निरोध होकर ये मन भटकता नहीं है। **रथम्**=शरीररूप रथ को—इसमें जुते सब इन्द्रियरूप घोड़ों को ये प्राणापान **अर्वाग्**=अन्दर ही **नियच्छतम्**=काबू करते हैं। प्राणसाधना से मनुष्य बहिर्मुखी वृत्तिवाला न रहकर अन्तर्मुख वृत्ति हो जाता है। मनुष्य 'शमी, दमी' बन जाता है। शमी, दमी मनुष्य के प्राणापान **सोम्यं मधु**=वीर्यरूप मधुर रस का **पिबतम्**=पान करते हैं।

उसका वीर्य शरीर के अन्दर ही व्याप्त व विनियुक्त हो जाता है। यह वीर्यवान् पुरुष 'वसिष्ठ'=सर्वोत्तम निवासवाला होता है।

एवं, प्राणायाम के द्वारा निम्न लाभों का होना स्पष्ट है—१. ज्ञानाग्नि की प्रचण्डता से वासना-विनाश के द्वारा व्यसनों से रक्षा और जीवन में उन्नति, २. अहिंसात्मक सत्यवाणी की रुचि होकर प्रभु की प्रेरणा का सुनाई पड़ना, ३. मनसहित इन्द्रियों का नियमन, ४. वीर्य-शक्ति का शरीर में ही संयम।

भावार्थ—प्राणायाम के द्वारा हम उल्लिखित लाभों को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। प्राणायाम करनेवाले नर-नारी ही उत्तम 'पति-पत्नी' बनते हैं। ये गृहस्थ, उषा और सूर्य के समान जीवन बिताते हैं।

सूक्त-१६

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वेदवाणी का दोहन—'वीर्य-रक्षा व वेदज्ञान'

७५५. अस्य प्रत्नामनु द्युतं शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम्॥ १॥

इस तृच का ऋषि है 'अवत्सार काश्यप'=सार—वीर्य-शक्ति का अवन=रक्षण करनेवाला, काश्यप=ज्ञानी। यह अवत्सार **अस्य**=सबके हृदयों में स्थित (समीपस्थ) प्रभु के **प्रत्नाम्**=सनातन **द्युतं अनु**=प्रकाश का लक्ष्य करके **शुक्रम्**=वीर्य को **दुदुह्रे**=अपने में पूरण करता है (दुह प्रपूरणे)। शरीर का नाम 'कलश' है। शरीररूप कलश में सोम के पूरण का अभिप्राय यही है कि इसे शरीर में ही व्याप्त किया जाए। वीर्य-रक्षा से शरीर तो नीरोग रहेगा ही मन भी निर्मल रहेगा और मस्तिष्क का ईंधन बनकर यह बुद्धि को भी तीव्र बनाएगा। उस तीव्र बुद्धि से यह 'अवत्सार' वेदों का अभिप्राय समझकर काश्यप=ज्ञानी बनेगा। बुद्धिमत्ता इसी में है कि वीर्य-शक्ति का मस्तिष्क को दीप्त करने में विनियोग किया जाए न कि क्षणिक आनन्दों में।

यह **अह्रयः**=बुद्धिमान् (Wise) मनुष्य वीर्य-शक्ति का अपने में पूरण करके **ऋषिम्**=वेद को (ऋषिः=वेद), तत्त्वज्ञान को प्राप्त करानेवाले, इस ज्ञान को, **दुदुह्रे**=दोहता है—अपने में भरता है जोकि **पयः**=(ओप्यायी वृद्धौ) हमारा वर्धन करनेवाला है—शरीर, मन व मस्तिष्क की शक्तियों के विकास के द्वारा वैयक्तिक उन्नति को प्राप्त करानेवाला है और शान्ति व सहयोग की भावना को जन्म देकर सामाजिक वृद्धि का कारण है तथा **सहस्रसाम्**=अभ्युदय की साधनभूत, विज्ञान के द्वारा प्राप्य, शतशः सुख सामग्री को प्राप्त करानेवाला है। एवं, यह वेदवाणी इस 'अवत्सार' के अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों का ही साधन हो जाती है।

भावार्थ—वीर्य-रक्षा द्वारा हम वेदवाणी का दोहन करें और ऐहिक व आमुष्मिक उन्नति को सिद्ध करें।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सप्त भूमिकाओं का आरोहण (The Seven Elevations)

७५६. अयं सूर्यइवोपदृगयं सरांसि धावति। सप्त प्रवत आ दिवम्॥ २॥

उपर्युक्त मन्त्र की भावना के अनुसार वेदों के दोहन में प्रवृत्त **अयम्**=यह 'अवत्सार' **उपदृक्**=कुछ-कुछ **सूर्यः इव**=सूर्य के समान दिखने लगता है। '**अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह। अहं सूर्य इवाजनि**'=वेदवाणी (ऋत की मेधा) का ग्रहण करके सूर्य की भाँति तो व्यक्ति हो ही जाता है—सूर्य के समान उससे भी चारों ओर प्रकाश फैलने लगता है।

ऐसा क्यों न हो? **अयम्**=यह तो निरन्तर **सरांसि**=ज्ञानों की ओर **धावति**=दौड़ रहा है। सरस् शब्द ज्ञान के लिए प्रयुक्त होता है। यह बात इसी से स्पष्ट है कि ज्ञान की देवता को 'सरस्वती' कहते हैं। गुरु-शिष्य परम्परा से यह ज्ञान आगे और आगे सरकता है, इसलिए इसका नाम 'सरस्'

हो गया है।

इस अधिकाधिक ज्ञान प्राप्ति का ही परिणाम है कि यह **सप्त प्रवतः**=सात ऊँचाइयों (Elevations) को प्राप्त करता है। यह सात ऊँचाइयाँ ही 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्' इन शब्दों से क्रमशः कही जाती हैं। मनुष्य एक जन्म में नहीं तो, कुछ जन्मों में इन लोकों का आक्रमण कर ही पाता है। ऊँचा उठते-उठते यह **आ-दिवम्**=उस प्रकाशमय लोक तक पहुँचता है जिससे ऊपर अन्य लोक न होकर ब्रह्म की ही सत्ता है। इस स्थिति में पहुँचनेवाला वहाँ पहुँचता है जहाँ '**यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा**' उस अव्यय अमृत प्रभु की सत्ता है।

भावार्थ—हम ज्ञान को प्राप्त कर ऊँचे उठते हुए प्रकाशमयलोक में पहुँचे।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सर्वोच्च स्थान में

७५७. अयं विश्वानि तिष्ठति पुनानो भुवनोपरि। सोमो देवो न सूर्यः ॥ ३ ॥

अयम्=यह अवत्सार गत मन्त्र के सात प्रवतों में ऊपर और ऊपर चढ़ता हुआ **विश्वानि भुवना उपरि**=सब भुवनों के ऊपर **तिष्ठति**=ठहरता है। ऐसा वह इसलिए कर पाता है कि वह **पुनानः**=अपने को पवित्र करने के स्वभाववाला है। ज्ञान से वह अधिकाधिक निर्मल होता जाता है और ऊँचे और ऊँचे लोक में पहुँचता हुआ 'ऊर्ध्वा दिक्' का अधिपति बनता है। इस दिशा का अधिपति बृहस्पति ही तो है। बृहस्पति और काश्यप एक ही हैं—दोनों का अर्थ ज्ञानी है।

सर्वोच्च स्थान में स्थित होता हुआ भी यह **सोमः**=विनीत होता है। विशेषता तो यह है कि सबसे उन्नत और सबसे विनीत। '**ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति**'=ज्ञान के कारण यह सदा नीचे देखता है, अर्थात् नम्र होता है। सोम शब्द का अर्थ 'स+उमा'='ब्रह्मज्ञानसहित' है, इस ब्रह्मज्ञान के कारण यह **देवः न सूर्यः**=सूर्य के समान चमकनेवाला है। जैसे सूर्य द्युलोक में स्थित है उसी प्रकार यह भी मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थित होता है—ज्ञान-प्रधान जीवन बिताता है।

भावार्थ—हम सदा ज्ञानावस्थित चित्तवाले बनें।

सूक्त-१७

ऋषिः—असितः काश्यपोऽमहीयुः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

Rushing unto God "Seaking after God"

दीर्घ विकास (A long period of Evolution)

७५८. एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः। हरिः पवित्रे अर्षति ॥ १ ॥

एषः=यह—इस मन्त्र का ऋषि **प्रत्नेन जन्मना**=एक पुराने, अर्थात् दीर्घकाल तक चलनेवाले विकास से, अर्थात् पिछले कितने ही जन्मों के प्रयत्नों के परिणामरूप **देवेभ्यः**=माता-पिता, आचार्य तथा अतिथिरूप देवों से **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **देवः**=देव **हरिः**=इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करनेवाला होकर **पवित्रे अर्षति**=तीव्रता से पवित्र प्रभु की ओर जाता है।

असित वह है जो विषयों से बद्ध नहीं है। यह काम में न फँसा होकर सभी से स्नेह करनेवाला है। देवरात का अर्थ है देवों के प्रति अर्पण करनेवाला, अर्थात् 'ज्ञानी'। यह अब 'पार्थिव भोगों को

न चाहनेवाला' है। ऐसा यह एक ही जन्म में बन गया हो ऐसी बात नहीं है। कितने ही जन्मों में थोड़ा-थोड़ा करके इसका यह विकास हुआ है। मन्त्र में यह भावना 'प्रत्नेन' इस शब्द के द्वारा व्यक्त की गयी है। मनुष्य देव बनता है यदि उसका निर्माण देवों से किया जाए। उत्तम माता-पिता, आचार्य, अतिथियोंवाला पुरुष ही उत्तम बन पाता है। देव का जन्म देवों से किया जाता है।

यह व्यक्ति इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकता है, इस प्रत्याहार के कारण 'हरि' कहलाता है। हरि ही उस पवित्र प्रभु की ओर तीव्रता से जाता है। यह 'अ+सित'=विषयों से अबद्ध ही आगे बढ़ पाता है। 'काश्यप'=ज्ञानी होने से यह विषयों में फँसता नहीं। यह पार्थिव भोगों की कामना न करनेवाला 'अमहीयु' है।

भावार्थ—हम भी असित बनकर निरन्तर प्रभु की ओर चलें।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सनातन ज्ञान (The Eternal Knowledge)

७५९. एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवेभ्यस्परि। कविर्विप्रेण वावृधे॥ २॥

एषः=यह मेध्यातिथि काण्व **प्रत्नेन**=उस सनातन **मन्मना**=ज्ञान-साधन वेद से या दीर्घकालीन मनन से **देवेभ्यः**=माता-पिता, आचार्य व अतिथियों से नियमपूर्वक ज्ञान प्राप्त करके **देवः**=ज्ञानी बनता है। **कविः**=क्रान्तदर्शी बनकर **विप्रेण**=एक विशेष पूरण के द्वारा **परिवावृधे**=सर्वतोभावेन विकास करता है।

ज्ञान प्राप्त करने के लिए १. सनातन वेदवाणी का अध्ययन आवश्यक है, २. उसके अर्थों का दीर्घकाल तक निरन्तर आदर-(श्रद्धा)-पूर्वक मनन करना है और ३. देवों के सम्पर्क में रहकर नियमपूर्वक उनसे ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना है। जो भी व्यक्ति इन तीन बातों का ध्यान करेगा वह ज्ञानी क्यों न बनेगा? वह संसार की वस्तुओं को बारीकी से देखकर **कविः**=क्रान्तदर्शी होगा। यह क्रान्तदर्शित्व ही उसे विषयों का शिकार न होने देकर उन्नति के मार्ग पर ले-चलेगा। यह अपने जीवन में अधिकाधिक दिव्यता का पूरण करता हुआ 'शरीर, मन व बुद्ध' सभी का विकास कर पाएगा। 'विप्र' शब्द की भावना 'विशेष-पूरण' की है। तीनों का विकास ही विशिष्ट पूरण है।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त कर, उसे अपने जीवन में ढालकर, हम अपना पूरण करें।

ऋषिः—मेध्यातिथिः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु में समा जाना

७६०. दुहानः प्रत्नमित्पयः पवित्रे परि षिच्यसे। क्रन्दं देवाँ अजीजनः॥ ३॥

यह मेध्यातिथि **इत्**=निश्चय से **प्रत्नम् पयः**=सनातन, वृद्धि के साधनभूत वेदज्ञान को **दुहानः**=अपने में भरता हुआ **पवित्रे**=पवित्र प्रभु में **परिषिच्यसे**=परिषिक्त होता है। जैसे नदी समुद्र में, उसी प्रकार यह उस प्रभु में समा जाता है। वह सदा **क्रन्दम्**=उस प्रभु को पुकारता हुआ **देवान्**=दिव्य-गुणों को **अजीजनः**=अपने में उत्पन्न करता है।

दिव्य गुणों को बढ़ाते-बढ़ाते देव बनकर ही वस्तुतः कोई भी व्यक्ति प्रभु का सच्चा उपासक होता है। दिव्य-गुणों को बढ़ाने के लिए प्रभु को पुकारना आवश्यक है। बिना प्रभु को आगे किये, वासनाओं को हम स्वयं थोड़े ही जीत सकते हैं? प्रभु-स्मरण करने के साथ ज्ञान को बढ़ाना भी

नितान्त आवश्यक है। ज्ञानाग्नि ही तो हमें पवित्र बनाती है। ये दोनों बातें (प्रभु-स्मरण व ज्ञान-प्राप्ति) उसे इस योग्य बनाती हैं कि यह प्रभु का ज्ञान प्राप्त करे, साक्षात्कार करे और उसमें समा जाए। प्रभु की सर्वव्यापकता के नाते ज्ञान-प्राप्ति से पूर्व भी हम प्रभु में हैं, परन्तु उस प्रकार तो सब पशु-पक्षी भी उसी में हैं। ज्ञान होने पर जब हम प्रभु में समाएँगे, तब वास्तविक आनन्द का लाभ कर सकेंगे।

भावार्थ—मैं ज्ञानी बनूँ, देव बनूँ, जिससे प्रभु को पा सकूँ।

सूक्त-१८

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

असित, काश्यप, देवल

७६१. उप शिक्षापतस्थुषो भियसमा धेहि शत्रवे। पवमान विदा रयिम्॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि 'असित्'=विषयों से बद्ध नहीं होता, क्योंकि यह 'काश्यप'=ज्ञानी है। ज्ञानी होने के कारण ही यह 'देव-ल'=दिव्य गुणों का उपादान करनेवाला भी बना है। इससे प्रभु कहते हैं कि हे **पवमान**=अपने को पवित्र बनाने के स्वभाववाले 'असित्' तू **अपतस्थुषः**=तेरे विरोध में खड़े होनेवाले इन 'काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर' आदि शत्रुओं को **उपशिक्ष**=ऐसा पाठ पढ़ा (Teach them a lesson) कि ये फिर कभी तेरे विरोध में खड़े होने का साहस ही न करें। तू इन **शत्रवे**=कामादि शत्रुओं के लिए **भियसम्**=भय को **आधेहि**=आहित कर। ये तेरे पास फटक भी न सकें, इन्हें तेरे समीप आते हुए भय प्रतीत हो। इस प्रकार शत्रुओं को दूर करके तू **रयिम्**=मोक्षरूप धन का **विदाः**=लाभ कर। काश्यप की ज्ञानाग्नि काम को भस्म कर देती है। निर्मल जीवनवाला होकर यह मोक्ष का अधिकारी बनता है।

भावार्थ—हम 'कामारि' बनें—वासना के ध्वंस करनेवाले और कामारि (प्रभु) को प्राप्त करने के अधिकारी हों।

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अमहीयुः आंगिरसः

७६२. उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम्। इन्दुं देवा अयासिषुः॥ २॥

अमहीयुः=वह है ओ मही, अर्थात् पार्थिव भोगों की कामना नहीं करता, अतएव आङ्गिरसः=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिसम्पन्न है। इस व्यक्ति का चित्रण निम्न शब्दों में हुआ है—

१. **उप उ सुजातम्**=माता-पिता, आचार्य, अतिथि व प्रभु की समीपता में रहकर जिसका सुन्दर विकास हुआ है। इनसे दूर होने पर ही मनुष्य ह्रास की ओर जाया करता है और किसी-न-किसी पार्थिव भोग का शिकार हो जाता है। २. **अप् तुरम्**=यह कामों को त्वरा से करता है। इसके माता-पिता व आचार्यों ने इसे कर्मशीलता का ही उपदेश दिया है। सदा कर्मों में व्याप्त रहना ही अवनति से बचने का मार्ग भी तो है। ३. **गोभि-भङ्गम्**=वेदवाणियों के द्वारा यह वासनाओं का पराजय करता है (भङ्ग=पराजय)। विद्याव्यसन अन्य सब व्यसनों का निवर्तक हो जाता है। ४. **परिष्कृतम्**=इसका जीवन पवित्र व निर्मल होता है। व्यसन ही मल थे, उन्हें इसने दूर भगा दिया है। ५. **इन्दुम्**=अपने जीवन को निर्मल व निर्व्यसन बनाकर यह शक्तिशाली बन गया है। इस अमहीयु

को **देवाः**=सब दिव्य गुण **अयासिषु**=प्राप्त होते हैं। इसमें दिव्यता का अवतार होता है।

भावार्थ—अमहीयु के जीवन की पाँचों बातों को अपने जीवन में लाकर हम दिव्यता को प्राप्त करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

महापुरुषों के चरित्र का गान

७६३. उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे। अभि देवाँ इयक्षते॥ ३॥

प्रभु आदेश देते हैं कि हे **नरः**=अपने जीवनों को आगे ले-चलनेवाले मनुष्यो! तुम **अस्मै**=इस पार्थिव भोगों में अलिप्त, विषय-वासनाओं से अबद्ध, ज्ञानी, दिव्य गुणोंवाले पुरुष के लिए **उपगायत**=गायन करो। इसके चरित्र का मनन करो, और अपने चरित्र को उसके पदचिह्नों पर चलते हुए उत्तम बनाओ। तुम उस महापुरुष के चरित्र का गायन करो जो—

१. **पवमानाय**=अपने को पवित्र बनाने के स्वभाववाला है। जिसको मन की अपवित्रता खटकती है, मलिनता चुभती है। जो मन में राग-द्वेष रख ही नहीं सकता, उन्हें दूर करके ही स्वस्थ होता है। २. **इन्दवे**=जो शक्तिशाली है। इन्दु=बिन्दु=सोमकणों का मूर्त्तिमान् पुञ्ज है, आत्मसंयम के द्वारा जिसने शक्ति का संचय किया है। ३. **अभि देवान्**=जो दिव्य गुणों का लक्ष्य करके (यज्=संगतीकरण) प्रभु के साथ अपना संग जोड़ते हैं। प्रभु के सम्पर्क में आने से उनका जीवन दिव्य बन जाता है।

ऐसे पुरुषों के चरित्रों का स्मरण करने से हमें भी प्रेरणा प्राप्त होती है और हम अपने जीवनों को सुन्दर बना पाते हैं।

भावार्थ—महनीय चरित्रों का मनन कर हम भी महनीय कर्म करनेवाले बनें।

सूक्त-१९

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वे तो देव हैं (As if they are god)

७६४. प्र सोमासो विपश्चितोऽ पो नयन्त ऊर्मयः। वनानि महिषाइव॥ १॥

इस तृच का ऋषि 'त्रित आप्त्य' है—जिसने 'ज्ञान-कर्म व भक्ति' का विस्तार किया है और प्रभु के पानेवालों में उत्तम है (त्रीन् तनोति, आप्तेषु साधुः)। इसी 'त्रित आप्त्य' का चित्रण मन्त्र में इस रूप में किया गया है—

१. **सोमासः**=ये बड़े सौम्य व विनीत होते हैं। ज्ञान ने इनके अन्दर विनय को जन्म दिया है। २. **विपश्चितः**=ये विशेषरूप से प्रत्येक वस्तु को देखकर चिन्तन करनेवाले होते हैं। इस प्रवृत्ति ने ही तो वस्तुतः उन्हें ज्ञानी बनाया है। और ३. **ऊर्मयः**=ये तरंगोंवाले होते हैं—मूर्त्तिमान् तरंग होते हैं—उत्साह के पुतले। इनमें लोकहित की बड़ी ऊँची-ऊँची भावनाएँ निहित होती हैं। ये निराशावादी न होकर सदा आशावादी और क्रियामय जीवनवाले होते हैं।

सौम्यता इन्हें भक्त बनाती है, विपश्चित्ता ज्ञानी और ऊर्मित्व क्रियाशील। इस प्रकार ये ज्ञान, कर्म व भक्ति तीनों का विस्तार करनेवाले होते हैं। तीनों का विस्तार करने से ही ये त्रित हैं। ये त्रित (क) **अपः प्रणयन्ते**=लोगों को कर्मों की ओर ले-चलते हैं, ये कभी अकर्मण्यता का उपदेश नहीं करते। स्वयं भी अनासक्तिपूर्वक कर्मों में लगे रहते हैं, जिससे उनके उदाहरण से जनता अकर्मण्य न हो जाए। (ख) **वनानि प्रणयन्ते**=प्रजाओं को प्रकाश-किरणों को प्राप्त करते हैं। सदा सत्य-

मार्ग का दर्शन कराने के लिए सन्नद्ध होते हैं। एवं, ज्ञान और कर्म का प्रचार करते हुए ये '**महिषाः इव**'= पूजनीय देवों के समान हो जाते हैं। लोग उन्हें 'अतिमानव' (Superman), वीर=(Hero) समझते हैं। उन्हें वे मनुष्य थोड़े ही लगते हैं, वे तो उनके लिए देव-से हो जाते हैं। लोग उन्हें पूजने लगते हैं।

भावार्थ—हम भी सौम्य, विपश्चित् और उत्साह-सम्पन्न बनें।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

देवों का जीवन

(They fill themselves with knowledge and power)

७६५. अभि द्रोणानि बभ्रवः शुक्रा ऋतस्य धारया। वाजं गोमन्तमक्षरन्॥ २॥

महनीय पुरुषों=देवों का जीवन निम्न प्रकार से चलता है—

१. **अभि द्रोणानि**=यज्ञ की ओर, राष्ट्र की ओर तथा प्राणशक्ति की ओर। ये कोई भी ऐसा कार्य नहीं करते जो इनकी प्राणशक्ति में न्यूनता लानेवाला हो। अपनी प्राणशक्ति को बढ़ाकर ये सब कार्य राष्ट्र के हित के दृष्टिकोण से करते हैं, एवं इनके सब कार्य यज्ञरूप हो जाते हैं। द्रोणशब्द ब्राह्मणग्रन्थों में 'प्राण व राष्ट्र' का वाचक माना गया है। २. **बभ्रवः**=तेजस्वी व धारण करनेवाले। ये तेजस्वी बनते हैं और अपने तेज का विनियोग औरों के धारण, अर्थात् रक्षण में करते हैं। ३. **शुक्राः**=शीघ्र कार्यकर्त्ता व मूर्त्तिमान् तेज। वीर्य की रक्षा के द्वारा ये तेजस्वी बन शीघ्र कार्य करनेवाले होते हैं। इनमें आलस्य का नाम व चिह्न भी नहीं होता। ४. **ऋतस्य धारया**=ऋत के धारण से, अर्थात् प्रत्येक कार्य को बड़े नियमितरूप में करते हैं। ५. **गोमन्तम् वाजम्**=वेदवाणियों से युक्त शक्ति को, अर्थात् ज्ञान व बल को **अक्षरन्**=अपने में टपकाते हैं। (गावः=वेदवाचः)। अपने अन्दर शक्ति व ज्ञान को भरने के लिए ये अपने जीवन को बड़ा नियमित बनाते हैं।

भावार्थ—यज्ञ, तेजस्विता, अनालस्य, नियमितता तथा ज्ञानयुक्त बन—इन पाँच बातों से अपने जीवन को युक्त करनेवाले हम अपने 'पञ्चजन' इस नाम को चरितार्थ करें।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ब्रह्मचर्य के पाँच साधन

७६६. सुता इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः। सोमा अर्षन्तु विष्णवे॥ ३॥

जिस ब्रह्मचर्य से 'देव' बने, उस ब्रह्मचर्य के पाँच साधन हैं। इस मन्त्र में उनका वर्णन इस प्रकार है—**सुताः सोमाः**=ये उत्पन्न हुए-हुए सोम (शक्तिकण) **अर्षन्तु**=प्राप्त हों, किसके लिए—

१. **इन्द्राय**=इन्द्र के लिए—इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के लिए। शक्ति की रक्षा के लिए हम इन्द्रियों—विशेषतः स्वादेन्द्रिय—जीभ को वश में करें। इसको वश में किये बिना ब्रह्मचर्य-पालन सम्भव नहीं। २. **वायवे**=वायु के लिए—सदा गतिशील के लिए। जो ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहता है, उसे आलसी कभी नहीं होना। आलस्य वासनाओं को आमन्त्रित करता है और हम शक्ति की रक्षा नहीं कर पाते। ३. **वरुणाय**=वरुण के लिए—पाशी के लिए। जो अपने को विविध व्रतों के बन्धनों में बाँधता है, वही ब्रह्मचारी हो पाता है। छोटे-छोटे व्रतों का पालन इस महान् व्रत के पालन में सहायक होता है। वरुण का अर्थ श्रेष्ठ भी है—श्रेष्ठ वह है, जो ईर्ष्या-द्वेष से पृथक् है। ईर्ष्या-द्वेष आदि की भावनाएँ तुच्छ व क्षुद्र हैं, ये ब्रह्म=महान् की ओर चलने की ठीक विरोधी

हैं। ४. **मरुद्भ्यः**=प्राण-संयम करनेवालों के लिए। मरुत् ४९ प्रकार के प्राण हैं, इनकी साधना करनेवाला ही ब्रह्मचारी होता है। प्राणायाम और ब्रह्मचर्य में साध्य-साधन व कार्य-कारणभाव निश्चित ही है। ५. **विष्णवे**=व्यापक मनोवृत्तिवाले के लिए। ब्रह्मचर्य के पालन में मानस उदारता व विशालता भी बड़ा महत्त्व रखती है। मन का संकोच ही प्रेम को संकुचित करके कामवासना के रूप में परिवर्तित कर देता है, यह वासना ब्रह्मचर्य को नष्ट करती है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य के लिए पाँच बातें आवश्यक हैं—१. जितेन्द्रियता, २. क्रियाशीलता, ३. व्रतपतित्व, ४. प्राणायाम तथा ५. व्यापक मनोवृत्ति।

सूक्त-२०

ऋषिः—भरद्वाजादयः सप्तर्षयः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती)॥ स्वरः—मध्यमः॥

षट्कसम्पत्ति

७६७. **प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा।**
अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम्॥ १॥

इन मन्त्रों का ऋषि 'सप्तर्षयः' है। शरीर में (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) सात ही ऋषियों की स्थापना है। सभी का ठीक विकास करके हम अपने जीवन को अधिकाधिक पूर्ण बनाते हैं। ये क्या-क्या करते हैं? यह मन्त्र में देखिए—

सोम=हे सौम्यस्वभाव-जीव! तू **देववीतये**=दिव्य-गुणों की प्राप्ति के लिए **न**=जैसे **सिन्धुः**=समुद्र **अर्णसा**=जल से **प्रपिप्ये**=बढ़ता है, उसी प्रकार **अंशोः पयसा**=ज्ञान-किरणों के जल से अपने को आप्यायित कर। **मदिरः-न**=सदा मस्त-सा बना रह, परन्तु **जागृविः**=सदा सावधान—जागता हुआ (Cheerful but not careless)। तू सदा **मधुश्चुतम्**=मधु का क्षरण करनेवाले **कोशं अच्छ**=कोश की ओर चलनेवाला बन।

इस मन्त्रार्थ में निम्न बातों का संकेत है—

१. **सोम**=जीव को सौम्य बनना है। सोम का अर्थ शक्तिपुञ्ज भी है। इसे शक्ति-सम्पन्न बनकर अत्यन्त विनीत बनना है। २. **देववीतये**=दिव्य-गुणों की प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्न करना है। ३. **अंशोः पयसा**=ज्ञान के जलों से अपने को आप्यायित करना है। ४. **मदिरो न**=इस सुख-दुःख के मिश्रणरूप संसार में सदा प्रसन्न व मस्त रहना है। ५. **जागृविः**=मस्त, परन्तु प्रमाद व लापरवाही से दूर। सदा सावधान रहना कल्याण का मार्ग है (भूत्यै जागरणम्)। ६. सबसे महत्त्वपूर्ण बात 'मधुश्चुत् कोश' की ओर चलना है। 'मधुश्चुत् कोश' प्रभु हैं। 'रसौ वै सः'—वे रस हैं, उनसे रस का ही प्रादुर्भाव होता है। जो भी व्यक्ति उस 'रस' को अपनाता है, उसके व्यवहार में भी माधुर्य आ जाता है। उसके जिह्वामूल में 'मधूलक'=शहद का मानो छत्ता होता है और उसके जिह्वा के अग्र पर भी मधु ही होता है। हृदय में 'मधुश्चुत् कोश' का निवास हो तो वाणी से 'मधु' क्यों न टपके?

उल्लिखित छह बातें हमारे जीवन की 'षट्कसम्पत्ति' हैं। इनसे सम्पन्न होने पर शरीर के 'सप्तर्षि' वस्तुतः सप्तर्षि होते हैं। ऐसा होने पर ही हमारा जीवन पूर्णता की ओर बढ़ रहा होता है।

भावार्थ—हम मन्त्र-वर्णित षट्कसम्पत्ति का अर्जन करें।

ऋषिः—भरद्वाजादयः सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सोम किस में रक्षित होता है

७६८. आ हर्यतो अर्जुनो अत्के अव्यत प्रियः सूनुर्न मर्ज्यः।
तमीं हिन्वन्त्यपसो यथा रथं नदीष्वा गभस्त्योः ॥ २ ॥

गत मन्त्र में 'षट्कसम्पत्ति' का वर्णन हुआ है। वह षट्कसम्पत्ति सबसे प्रथम 'सोम' रूप सम्पत्ति की नींव पर आश्रित है। यह सोम हमारे शरीर में Semen=वीर्य के रूप में स्थित है। यह १. **हर्यतः**=(हर्य गतिकान्त्योः) गति का स्रोत व कान्त है। इसके होने पर ही जीवन प्रगतिमय व सुन्दर होता है। २. **अर्जुनः**=यह अर्जुन के योग्य होता है। अर्जुन का अर्थ 'श्वेत' भी है। यह शुभ्र वर्ण का सोम वस्तुतः अर्जनीय होता है। यही हमारे जीवन की सर्वमहान् कमाई है। ३. **'सूनुः न प्रियः'**=पुत्र के समान हमें यह प्रिय होना चाहिए। ४. **मर्ज्यः**=यह सोम शुद्ध रखने योग्य है। वासनाएँ इसे अपवित्र करती हैं। इसे वासनाओं का शिकार नहीं होने देना।

यह सोम **अत्के**=(अत्क=Members of the body) शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में **आ**=सर्वथा **अव्यत**=रक्षित किया जाए। शरीर में उत्पन्न होकर वह शरीर में सुरक्षित हो। 'अत्क' का अर्थ सतत गतिशील भी है—यह सोम सतत गतिशील में ही सुरक्षित होता है। इसी भावना को मन्त्र में इस रूप में व्यक्त करते हैं कि **तम्**=उस सोम को **ईम्**=निश्चय से **'अपसः'**=क्रियाशील लोग ही **हिन्वन्ति**=प्राप्त करते हैं। यह सोम **यथारथम्**=(रथस्य योग्यम्=यथारथम्) शरीर के ही योग्य है—शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में ही इसका निवास होना चाहिए। इस तत्त्व को समझ लेनेवाला व्यक्ति इस कार्य की दुष्करता को अनुभव करता हुआ प्रभु का स्तवन करेगा। प्रभु ही उसे इस दुष्कर कार्य में समर्थ बनाएँगे, अतः **नदीषु**=स्तोताओं में—प्रभु की स्तुति करनेवालों में जो **अपसः**=क्रियाशील लोग होते हैं, वे ही इस सोम को शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में (रथ=शरीर) व्याप्त करनेवाले बनते हैं। ये कर्मशील स्तोता ही **गभस्त्योः**=ज्ञान की किरणरूप हाथों में ही **आहिन्वन्ति**=इसे सर्वथा प्राप्त करते हैं। ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहने पर यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बन उसे उज्ज्वल करता है, क्रियाशीलता से यह शरीर का अङ्ग बनकर उन्हें सबल बनाता है। उपासना से यह हमें सचमुच उस प्रभु के (उप) समीप (आसना) आसीन करता है।

एवं, यह स्पष्ट है कि सोम की रक्षा के लिए 'ज्ञान, कर्म व उपासना' की त्रयी आवश्यक है। यह त्रयी ही हमें वासनाओं से तराएगी और हम 'सोम' को प्राप्त कर सोमी बनेंगे।

भावार्थ—हम सोम के महत्त्व को समझें और उसका विनियोग ज्ञान, कर्म व उपासना में करनेवाले बनें।

सूक्त-२१

ऋषिः—श्यावाश्व आत्रेयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

७६९. प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम्। सुता विदथे अक्रमुः ॥ १ ॥

४७७ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—श्यावाश्व आत्रेयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्रियातीत प्रभु

७७०. आदीं हंसो यथा गणं विश्वस्यावीवशन्मतिम्। अत्यो न गोभिरज्यते ॥ २ ॥

जब मनुष्य अपने शरीर में सोम की रक्षा करता है, **आत् ईम्**=तब निश्चय से **हंसः**=(हन् हिंसागत्योः) अपने दोषों की हिंसा करके गतिशील बननेवाला यह जीव **यथागणम्**=(गण् संख्याने) अपने संख्यान के अनुसार (संख्यावान् पण्डितः कविः), अर्थात् ज्ञान के अनुपात में **विश्वस्य**=उस सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु के **मतिम् अवीवशत्**=विचार में प्रविष्ट होता है अथवा उस सर्वव्यापक प्रभु के अवबोध को वशीभूत करता है—प्राप्त होता है। प्रभु का ज्ञान उन्हें ही होता है जो—१. अपने दोषों की हिंसा करें, २. सदा उत्तम कर्मों में लगे रहें और ३. ज्ञान प्राप्त करें—संसार के तत्त्वों को समझने का प्रयत्न करें। **अत्यः**=वह निरन्तर क्रियाशील प्रभु **गोभिः**=इन इन्द्रियों से **न अज्यते**=प्रकट नहीं किया जाता। वे प्रभु इन्द्रियातीत होने से ज्ञान द्वारा ही प्राप्य होते हैं—**'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या'** वे सूक्ष्म बुद्धि से ही गृहीत होते हैं। इस सारी बात को समझकर 'श्यावाश्व आत्रेय' अपने इन्द्रियरूप अश्वों को सदा क्रियाशील (श्यैङ् गतौ, अश्व=इन्द्रियाँ) रखता है और काम, क्रोध, लोभ (अ-त्रि) से परे रहकर निर्दोष बनता हुआ प्रभु-दर्शन के लिए प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम उस प्रभु के दर्शन के लिए—१. निर्दोष बनें, २. क्रियाशील हों और ३. ज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः—श्यावाश्व आत्रेयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

नीरोगता व प्रभु-प्राप्ति

७७१. आदीं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ ३ ॥

आत्=अब **ईम्**=निश्चय से **त्रितस्य**=काम-क्रोध-लोभ से तीर्ण 'त्रित' की **योषणः**=(यु अमिश्रण) अपने को दोषों से दूर करने की वृत्तियाँ **अद्रिभिः**=दृढ़ मनोवृत्तियों से **हरिम्**=सब दुःखों को हरनेवाले प्रभु को **हिन्वन्ति**=प्राप्त कराती हैं। प्रभु प्राप्ति का मार्ग यह है कि—

१. मनुष्य 'काम, क्रोध, लोभ' को जीतकर 'त्रित' बनें, २. वह अपने को यथासम्भव दोषों से पृथक् करे (योषणः), ३. दृढ़ मनोवृत्तिवाला हो (अद्रिभिः)।

प्रभु ने शरीर में आहार के पाचन की व्यस्था में अन्तिम धातु के रूप में वीर्य को उत्पन्न किया है। वह वीर्य 'इन्दु' कहलाता है, क्योंकि यह अत्यन्त शक्तिशाली है। मन्त्र के ऋषि 'श्यावाश्व आत्रेय' इस **इन्दुम्**=इन्दु को **हिन्वन्ति**=शरीर में ही प्रेरित करते हैं, जिससे १. **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्य-निधान प्रभु की प्राप्ति कर सकें और २. **पीतये**=शरीर की रोगों से रक्षा कर सकें (पा-रक्षणे)। शरीर में सोम की रक्षा जहाँ शरीर को नीरोग रखती है, वहाँ यह मनुष्य को पवित्र हृदय व तीक्ष्ण बुद्धि बनाकर प्रभु-दर्शन के भी योग्य करती है।

भावार्थ—हम सोम का पान करें, जिससे प्रभु-दर्शन प्राप्त करें तथा नीरोग हों। नीरोगता ऐहिक लाभ है तो प्रभु-प्राप्ति आमुष्मिक। ये दोनों ही लाभ सोम को शरीर में सुरक्षित करने से होते हैं।

सूक्त-२२

ऋषिः—अग्निश्चाक्षुषः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

गुण पञ्चक

७७२. अया पवस्व देवयू रेभन् पवित्रं पर्येषि विश्वतः। मधोर्धारा असृक्षत ॥ १ ॥

मन्त्र का ऋषि 'अग्नि चाक्षुष' है—जीवन में गतिशीलता से आगे बढ़नेवाला तथा उत्तम दृष्टिवाला। प्रभु इससे कहते हैं—

१. **अया**=अय् गतौ=गति के द्वारा तू **पवस्व**=अपने जीवन को पवित्र कर। क्रियाशीलता मनुष्य को उसी प्रकार पवित्र रखती है जैसे गति जल को। २. **देवयुः**=तू दिव्य-गुणों को अपने साथ जोड़ने की कामनावाला हो। बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को अपने साथ संपृक्त करता चल। ३. **रेभन्**=तू सदा प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाला बन। ४. **विश्वतः**=सब ओर से, जहाँ से भी सम्भव हो, तू **पवित्रम्**=ज्ञान को (**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**) **पर्येषि**=प्राप्त करनेवाला हो। ५. **मधोर्धाराः असृक्षत**=ज्ञान प्राप्त करके मधु की धाराएँ—माधुर्यभरी वाणियाँ तुझसे सृजी जाती हैं, अर्थात् तू बड़ी ही मधुरवाणी का प्रयोग करता है।

भावार्थ—हमारा जीवन गतिशीलता, दिव्य गुणों, स्तुति, ज्ञान तथा माधुर्य से युक्त होकर हमें मन्त्र का ऋषि 'अग्नि चाक्षुष' कहलाने का अधिकारी बनाए।

ऋषिः—अग्निश्चाक्षुषः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

७७३. पवते हर्यतो हरिरति ह्वरांसि रंह्या। अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः ॥ २ ॥

५७६ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

७७४. प्र सुन्वानायान्धसो मर्त्तो न वष्ट तद्वचः।
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥ ३ ॥

५५३ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

इति द्वितीयोऽध्यायः, प्रथमप्रपाठकश्च समाप्तः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

द्वितीयप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

सूक्त–१

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु का काव्य

७७५. पवस्व वाचो अग्रियः सोम चित्राभिरूतिभिः। अभि विश्वानि काव्या ॥ १ ॥

हे **सोम**=सर्वज्ञानसम्पन्न प्रभो! आप **अग्रियः**=('समवर्त्तत अग्रे', अग्रे भवः) सदा सृष्टि से **ऊतिभिः**=(रक्षाओं) अवगमों व दीप्तियों के हेतु से पहले होनेवाले हैं—आप निर्माण से पूर्व हैं, अर्थात् सदा से हैं, अतः आप सृष्टि के प्रारम्भ में ही **वाचः**=वेदवाणियों को **पवस्व**=प्राप्त कराइए और **चित्राभिः**=अद्भुत अथवा (चित्+र) चेतना देनेवाली **विश्वानि काव्या**=सब काव्यों की **अभिपवस्व**=ओर हमें ले-चलिए। वेद परमेश्वर के काव्य हैं, **'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**=इस परमेश्वर के काव्यों को देख जो अजरामर हैं। प्रभु कवि हैं—वेद उनका काव्य है। इस काव्य में ही हमारे कर्त्तव्यों का सुन्दरता से प्रतिपादन है। उनके अध्ययन से हम चेतनाओं को प्राप्त करानेवाली दीप्तियों को प्राप्त करते हैं और अपने कर्त्तव्यों को जानकर उनके आचरण से अपना कल्याण सिद्ध कर पाते हैं। स्थूलरूप से इन काव्यों की चेतनाओं से मैं नपे-तुले भोजनों को करता हुआ, प्राणायामादि के अभ्यास में संलग्न हुआ-हुआ सदा 'जमदग्नि'=दीप्त जाठराग्निवाला बना रहता हूँ और अपने जीवन का ठीक परिपाक करनेवाला 'भार्गव' बनता हूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु की वाणी की ओर चलूँ और उसके काव्य को ग्रहण कर कल्याणभाक् बनूँ।

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अपः+वाचः=कर्म+ज्ञान

७७६. त्वं समुद्रिया अपोऽग्रियो वाच ईरयन्। पवस्व विश्वचर्षणे ॥ २ ॥

हे **विश्वचर्षणे**=विश्वद्रष्टः=सबका ध्यान करनेवाले प्रभो! **अग्रियः**=आप निर्माण से पहले ही हो, अर्थात् आप कभी बने नहीं, आपको बनानेवाला कोई नहीं, आप स्वयं भू, खुद+आ हो। आप ही सभी का निर्माण करनेवाले हो। **त्वम्**=आप **समुद्रियाः**=समुद्र=(हृदयान्तरिक्ष) हृदय से किये जानेवाले **अपः**=कर्मों को अथवा **समुद्रियाः**=(स-मुद्) वास्तविक आनन्द पैदा करनेवाले कर्मों को तथा **वाचः**=वेदवाणियों को **ईरयन्**=हममें प्रेरित करते हुए हमें **पवस्व**=प्राप्त होओ और हमें पवित्र करो।

प्रभु 'विश्वचर्षणि' हैं—सबका ध्यान करनेवाले, सच्चे माता-पिता हैं। वे प्रभु काल से अविच्छिन्न होने के कारण सदा से हैं—वे हमें कर्म व ज्ञान की प्रेरणा प्राप्त कराते हैं और इन कर्म व ज्ञान की प्रेरणाओं से हमारे जीवनों को शुद्ध करते हैं। उत्तम कर्मोंवाला सदा सशक्त व स्वस्थ मैं 'जमदग्नि'

बनता हूँ। वेदवाणियों को प्राप्त करके ज्ञानाग्नि से अपने को परिपक्व करनेवाला मैं 'भार्गव' होता हूँ।

भावार्थ—मेरे कर्म समुद्रिय हों—मन से होनेवाले हों तथा सदा आनन्दपूर्वक किये जाएँ। इन कर्मों के साथ मैं सदा वेदवाणी को अपनानेवाला बनूँ।

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्

७७७. तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे। तुभ्यं धावन्ति धेनवः ॥ ३ ॥

हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन्! **सोम**=सर्वज्ञानसम्पन्न प्रभो! **इमा भुवना**=ये सब लोक-लोकान्तर **तुभ्य महिम्ने**=आपकी ही महिमा के लिए **तस्थिरे**=स्थित हैं। सब लोक-लोकान्तर प्रभु की ही महिमा को प्रकट कर रहे हैं। '**यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः**'=ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी उस प्रभु की ही महिमा को कह रहे हैं। '**अभ्यनूषत व्राः**'=गगन को आच्छादित करनेवाले सितारे उस प्रभु का ही स्तवन कर रहे हैं।

हे प्रभो! **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणियाँ **तुभ्यम्**=आप के लिए ही, अर्थात् हम आपको प्राप्त कर सकें इसलिए ही **धावन्ति**=हमें गतिशील बनाकर शुद्ध कर रही हैं। वेदवाणियों से हमारा जीवन शुद्ध बनता है और हम आपको प्राप्त करने के योग्य बन पाते हैं।

भावार्थ—ये सारे लोक-लोकान्तर प्रभु की महिमा का ही ख्यापन कर रहे हैं और ये वेदवाणियाँ हमारे जीवनों को शुद्ध करके हमें प्रभु की गोद में बैठने के योग्य बनाती हैं।

सूक्त-२

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

७७८. पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने। विश्वा अप द्विषो जहि ॥ १ ॥

४७९ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—अमहीयुः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शत्रु-धर्षण

७७९. यस्य ते सख्ये वयं सासह्याम पृतन्यतः। तवेन्दो द्युम्न उत्तमे ॥ २ ॥

हे **इन्दो**=शक्तिशाली परमात्मन्! **वयम्**=हम **तव**=तेरी उस **उत्तमे**=सर्वोत्कृष्ट **द्युम्ने**=ज्योति में हों **यस्य ते**=जिस तेरी **सख्ये**=मित्रता में **पृतन्यतः**=हमपर आक्रमण करनेवाले रोगादि को **सासह्याम**=पराभूत कर सकें।

इस संसार में मनुष्य वासनाओं से आक्रान्त होता है। वासनाओं के साथ वह संघर्ष करता है। इस संघर्ष में मनुष्य अपने को अशक्त अनुभव करता है, परन्तु प्रभु को मित्र बनाकर उसके साहाय्य से यह इन वासनाओं को जीत पाता है। प्रभु के उत्तम ज्ञान के प्रकाश में अन्धकार में पनपनेवाली वासनाएँ ठहर नहीं पाती। एवं, इस संसार में जीव के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात प्रभु की मित्रता है—यही उसे इस भवसागर से पार तैराती है। प्रभु की मित्रता को चाहने व पानेवाला 'अमहीयु' है—यह पार्थिव भोगों की कामना से ऊपर उठ गया है। इन भोगों से ऊपर उठ जाने के

कारण ही 'आङ्गिरस' है—शक्तिशाली है।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में हम काम-क्रोधादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

भीम व तिग्म आयुध

७८०. या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे। रक्षा समस्य नो निदः ॥ ३ ॥

हे प्रभो! **या**=जो **ते**=तेरे **भीमानि**=शत्रुओं के लिए भय पैदा करनेवाले **तिग्मानि**=तेज **आयुधा**=शस्त्र **धूर्वणे**=हिंसकों को पराजित करने के लिए **सन्ति**=हैं, उन अस्त्रों के द्वारा **नः**=हमारी **समस्य**=सब **निदः**=निन्दक शत्रुओं से **रक्ष**=रक्षा कीजिए।

प्रभु का प्रखर अस्त्र 'ज्ञान' ही है। इस ज्ञान की ज्योति में ही काम भस्म हो जाता है। प्रभु का यह ज्ञानरूप अस्त्र इन कामादि के लिए भीम व तिग्म है। ज्ञान व्यसनों के मूल—लोभ को ही समाप्त कर देता है। 'प्रेम-दान-दया' आदि सात्त्विक वृत्तियाँ ही वे अस्त्र हैं जो 'काम-क्रोध-लोभादि' असुरवृत्तियों की प्रतिपक्ष हैं। हम प्रेम से काम को, दान से लोभ को और दया की वृत्ति से क्रोध का संहार करें। प्रभु अपने ज्ञानरूप प्रखर शस्त्र से सब निन्दनीय शत्रुओं से हमारी रक्षा करें।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करें, प्रभु के अस्त्र शत्रुओं का असन करेंगे, दूर फेंकेंगे।

सूक्त-३

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

७८१. वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः। वृषा धर्माणि दध्रिषे ॥ १ ॥

५०४ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पूर्ति, वृद्धि, प्रवृत्ति

७८२. वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा सुतः। स त्वं वृषन्वृषेदसि ॥ २ ॥

हे **वृषन्**=सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले प्रभो! **वृष्णः**=अत्यन्त शक्तिशाली **ते**=आपका **शवः**=बल **वृष्ण्यम्**=तर्पणशील है—अथवा धर्म की प्रेरणा देनेवाला है। वृषन् शब्द के अर्थ हैं—१. बरसना—सब कामों की वर्षा करनेवाले—सब इच्छाओं के पूरक, २. शक्तिशाली, ३. धर्मात्मा—**वृषो हि भगवान् धर्मः**। हे प्रभो! **वनम्**=आपका उपासन **वृषा**=मेरी १. सब कामनाओं को पूरण करनेवाला, २. मुझे शक्तिशाली बनानेवाला तथा ३. मेरी प्रवृत्ति को धार्मिक करनेवाला है, **सुतः**=हृदय में प्रकाशित हुए-हुए आप **वृषा**=मुझे आप्तकाम-सा बना देते हो—मुझे शसक्त कर देते हो और मुझे धर्मप्रवण बनाते हो। हे प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **इत्**=निश्चय से **वृषा**=सुखवर्धक, शक्तिवर्धक तथा धर्मप्रवर्तक **असि**=हो।

भावार्थ—हे प्रभो! आप वृषा हैं—आपकी कृपा से हमारी कामनाओं की पूर्ति हो, हमारी शक्ति की वृद्धि हो और धर्मकार्यों में हमारी प्रवृत्ति हो। इसी उद्देश्य से हम आपके उपासक बनें।

ऋषिः—कश्यपो मारीचः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ब्रह्म व क्षत्र का विकास

७८३. अश्वो न चक्रदो वृषा सं गा इन्दो समर्वतः। वि नो राये दुरो वृधि॥ ३॥

हे प्रभो! आप १. **अश्वः न**=(अ-श्वः) कल और कल न करनेवाले के समान, अपितु आज ही और अभी **चक्रदः**=हमारे लिए वेदवाणियों का उच्चारण करते हो, २. **वृषा**=सामान्यतः आप हमारे सभी मनोरथों को पूर्ण करते हो, ३. हे **इन्दो**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! आप हमें **गाः सम्**=(देहि) उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ प्राप्त कराइए तथा ४. **अर्वतः सम्**=उत्तम कर्मेन्द्रियाँ भी दीजिए। उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करके ही हम ज्ञान को बढ़ाकर अपने कर्मों को पवित्र कर पाते हैं और इस प्रकार अपने अन्तिम लक्ष्य स्थान पर पहुँचनेवाले होते हैं। ५. हे प्रभो! **नः**=हमारे लिए **राये**=सर्वोत्तम मोक्षरूप धन को प्राप्त करने के लिए **दुरः**=द्वारों को **विवृधि**=खोल दीजिए।

'सं-गा सम् अर्वतः' शब्दों की यह भावना भी ठीक ही है कि—उत्तम-उत्तम गौवें व घोड़े प्राप्त कराइए। गौवें सात्त्विक दूध के द्वारा बुद्धि के वर्धन से हमारे ज्ञान को बढ़ाती हैं और अश्व हमारी शक्ति के वर्धक हैं। वेद में सामान्यतः 'गौ' ज्ञान का तथा 'अश्व' शक्ति का प्रतीक हो गया है। ये हमारे 'ब्रह्म व क्षत्र' के विकास के लिए मौलिक साधन हैं। 'ब्रह्म-क्षत्र' का विकास करके ही हम श्री व लक्ष्मी (राये) को प्राप्त किया करते हैं। ब्रह्म का सम्बन्ध 'श्री' से है तो क्षत्र का 'लक्ष्मी' से।

ब्रह्म के विकास से मन्त्रद्रष्टा 'कश्यप' ज्ञानी बनता है और क्षत्र के विकास से असुरों का संहार करनेवाला—आसुरवृत्तियों को मार देनेवाला यह 'मारीच' होता है।

भावार्थ—हम उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करके 'ब्रह्म व क्षत्र' का विकास करें और 'कश्यप मारीच' बनें।

सूक्त-४

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

७८४. वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे। पवमान स्वर्दृशम्॥ १॥

४८० संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु के साथ

७८५. यदद्भिः परिषिच्यसे मर्मृज्यमान आयुभिः। द्रोणे सधस्थमश्नुषे॥ २॥

शरीर में उत्पन्न होनेवाली सोम-शक्ति मानव-जीवन के उत्थान का मूल है। शरीर में सुरक्षित होने पर यह अन्त में मनुष्य का 'परमात्मतत्त्व' से मेल कराने का साधन बनती है। स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञान की दीप्ति का कारण बनकर यह उसे प्रभु का दर्शन कराती है। प्रस्तुत मन्त्र में उसी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **यत्**=जो **अद्भिः**=कर्मों के द्वारा **परिषिच्यसे**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सिक्त होता है और **आयुभिः**=(इण्-गतौ) गतिशील पुरुषों के द्वारा **मर्मृज्यमानः**=निरन्तर शुद्ध किया जाता है, उस समय **द्रोणे**=(द्रु-गतौ) गति के आधार बने इस शरीर में **सधस्थम्**=आत्मा व परमात्मा की

सहस्थिति को **अश्नुषे**=प्राप्त करता है।

जब मनुष्य कर्मों में लगा रहता है तब इस सोम का व्यय अङ्ग-प्रत्यङ्ग के निर्माण में होता है। 'सोम की खपत शरीर में ही हो जाए' इसके लिए आवश्यक है कि हम सदा कर्मों में लगे रहें। अकर्मण्य शरीर में 'सोमपान' की शक्ति नहीं होती। गतिशील बने रहने से ही सोम शुद्ध बना रहता है, उसमें वासना-जन्य उबाल उत्पन्न नहीं होता। द्रोण में (गतिशील में) ही यह सोम अन्ततः आत्मा व परमात्मा की सहस्थिति को उत्पन्न करता है। एवं, क्रियाशीलता से सोम शरीर में ही सिद्ध होता है और शुद्ध बना रहता है तथा यह शरीर में व्याप्त शुद्ध सोम हमें प्रभु से मिला है।

सोम-रक्षा से अपने जीवन का ठीक परिपाक करनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भृगुः' है, उत्तम जीवनवाला होने से यह 'वारुणि' है। पूर्ण स्वस्थ शरीरवाला यह 'जमदग्नि' है और परिपक्व ज्ञानवाला 'भार्गव' है।

भावार्थ—कर्मों के द्वारा हम सोम की रक्षा करें। सुरक्षित सोम हमें प्रभु की सहस्थिति को प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विजयी बनकर

७८६. आ पवस्व सुवीर्यं मन्दमानः स्वायुध। इहो ष्विन्दवा गहि॥ ३॥

यदि मनुष्य कर्मों में लगा रहे तो उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सोम का सेचन होकर उसके सब अङ्ग बड़े सुन्दर व स्वस्थ बनते हैं। प्रभु ने जीव को इस संसार-संग्राम को लड़ने के लिए 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' रूप अस्त्र दिये हैं। सोम की रक्षा से ये सारे 'आयुध' बड़े ठीक बने रहते हैं। प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **स्वायुध**=उत्तम आयुधोंवाले! **मन्दमानः**=(मोदमानः) शक्ति के उल्लास में हर्ष का अनुभव करता हुआ तू अथवा (मन्दतेः ज्वलतिकर्मा—नि० १.१६.६) शक्ति से प्रज्वलित व प्रकाशमान् (glowing) होता हुआ तू **सुवीर्यम् आपवस्व**=उत्तम बल को प्राप्त करनेवाला हो।

इन्दो=सोम की रक्षा से शक्तिसम्पन्न हुए इन्दो! तू **इह**=यहाँ—इसी जन्म में **उ**=निश्चय से **सु आगाहि**=उत्तमता से मुझे प्राप्त करनेवाला हो। सोम की रक्षा से सबल हुआ जीव ही प्रभु को पाने का अधिकारी बनता है। इस सोम की रक्षा से इसके सभी आयुध (इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि) ठीक बने रहते हैं और इनके द्वारा संसार-संग्राम में विजयी बनकर यह प्रभु के समीप पहुँचता है। हार जाने से प्रभु नहीं मिलते। विजय ही सदाचार है, पराजय अनाचार। पराजय तो हमारी निर्बलता की सूचक है। निर्बल ने प्रभु को थोड़े ही पाना है? **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**। पराजित लज्जा के कारण पिता के समीप आएगा ही कैसे?

भावार्थ—सोम-पान (वीर्य-रक्षा) से उज्ज्वल बनकर हम संसार-संग्राम के विजेता बनें और प्रभु के समीप जाने के लिए सक्षम हों।

सूक्त-५

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सखित्व का वरण

७८७. पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः। सखित्वमा वृणीमहे॥ १॥

मन्त्र का ऋषि 'अमहीयु आङ्गिरस' है। पार्थिव भोगों की कामना न करनेवाला, अतएव अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिशाली। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि प्रभु की आराधना करते हुए कहता है कि **वयम्**=कर्मतन्तु का विच्छेद न करनेवाले (वेञ् तन्तुसन्ताने) हम **पवमानस्य**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले तथा **पवित्रम् अभ्युन्दतः**=पवित्र बने हुए को अपने करुणाजल से क्लिन्न (उन्दी क्लेदने) करनेवाले **ते**=आपके **सखित्वम्**=मित्रभाव को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। महान् पार्थिव भोगों को भी तुच्छ समझते हुए हम उन्हें त्यागते हैं और आपका वरण करते हैं। पार्थिव भोगों के लिए हम आपको अपने से दूर नहीं करते। (**महेचन त्वामद्रिवः पराशुल्काय देयाम्**)। प्रेयमार्ग की चमक हमें आपके श्रेयमार्ग से नहीं हटाती। हम 'सन्तति, सम्पत्ति व भोगों तथा दीर्घजीवन' को छोड़कर आपको ही चाहते हैं। आप हमारे जीवनों को पवित्र करते हैं। आपके वरण से हम प्रकृतिपंक से ऊपर उठते हैं। पवित्र बनकर हम आपकी कृपा के पात्र होते हैं। एवं, आपका सखित्व हमें क्रोधादि प्रचण्ड शक्तिवाली वासनाओं को जीतने में समर्थ बनाता है। हमारा जीवन अधिकाधिक पवित्र होता जाता है।

भावार्थ—प्रभु का सखित्व हमें पवित्र करता है। पवित्र बनने पर हम प्रभु की कृपा के पात्र होते हैं।

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु का प्रकाश

७८८. ये ते पवित्रमूर्मयोऽभिक्षरन्ति धारया। तेभिर्नः सोम मृडय॥ २॥

हे **सोम**=(स+उमा)=ज्ञानसहित प्रभो! **ये**=जो **ते**=तेरे **ऊर्मयः**=ज्ञान के प्रकाश (Lights)= **धारया**=वेदवाणी के द्वारा अथवा धारण के हेतु से **पवित्रम् अभिक्षरन्ति**=हृदयाकाश को पवित्र करनेवाले की ओर (क्षर To flow) बहते हैं, **तेभिः**=उन प्रकाशों से **नः**=हमें **मृडय**=सुखी कीजिए।

सब क्लेशों का मूल 'अविद्या' है। अज्ञान के कारण ही सब क्लेश=कष्ट हैं। क्लेशों से ऊपर उठने के लिए प्रकाश की आवश्यकता है। प्रभु ने इस प्रकाश को वेदवाणी में रक्खा है। वेदवाणी में निहित ये प्रकाश उस व्यक्ति को प्राप्त होते हैं, जो अपने हृदय को पवित्र बनाता है।

भावार्थ—हम पवित्र बनें, प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करें और सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पवित्रता व वीरता

७८९. स नः पुनान आ भर रयिं वीरवतीमिषम्। ईशानः सोम विश्वतः॥ ३॥

हे **सोम**=(उमा=ज्ञान) सर्वज्ञानसम्पन्न प्रभो! **सः ईशानः**=सबके ईश व सबका स्वामित्व करनेवाले आप **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **पुनानः**=पवित्र करते हुए **रयिम्**=उस धन को—ज्ञानरूप ऐश्वर्य को तथा **इषम्**=प्रेरणा को—सत्कर्मप्रवणता को **आभर**=प्राप्त कराइए, जो ज्ञान व प्रेरणा **वीरवतीम्**=हमें वीर बनानेवाली हो। ऐसा ज्ञान और ऐसी प्रेरणा हमें दीजिए जिससे हम वीर बनें। इस संसार-संग्राम में घबरा न जाएँ, उलझ न जाएँ।

वे प्रभु सोम हैं, ईशान है। सोम शब्द 'ज्ञान' का संकेत करता है तो ईशान शब्द 'शक्ति' का। ज्ञान और शक्ति ही वे दो तत्त्व हैं जो हमें पवित्र बनाते हैं। प्रभु से भी 'अमहीयु आङ्गिरस' यही प्रार्थना कर रहे हैं कि हमें वह ज्ञान तथा वह प्रेरणा दीजिए जो हमें वीर बनाए। वीरता के साथ अपवित्रता का सम्बन्ध नहीं है। वीरता गुणों (Virtues) की जननी है तो अवीरता दुर्गुणों (evil) की, अतः हम आपसे वही ज्ञान व प्रेरणा चाहते हैं जो हमें वीर बनाए।

भावार्थ—हम प्रभु से ज्ञान व प्रेरणा प्राप्त करके पवित्र व वीर आचरणवाले बनें।

सूक्त-६

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

७९०. अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥ १ ॥

मन्त्र संख्या ३ पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु को और केवल प्रभु को

७९१. अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम्। हव्यवाहं पुरुप्रियम्॥ २ ॥

अग्निम्=अग्रेणी प्रभु को और **अग्निम्**=प्रभु को ही **सदा हवीमभिः हवन्त**=सब कालों में हवियों के द्वारा अथवा आराधना के साधनभूत मन्त्रों के द्वारा पुकारते हैं। वेद में यह बात सुव्यक्त है कि केवल परमेश्वर ही उपासना के योग्य है—**'य एक इत् हव्यश्चर्षणीनाम्'**। जब मनुष्य प्रभु का यह स्थान किसी मनुष्य को देता है, तब उसकी सब पवित्रता समाप्त हो जाती है। वह अपने से भिन्नों का गला काटने लगता है—अपने को प्रभु का विशिष्ट पुत्र मानने लगता है और दूसरे उसकी दृष्टि में काफ़िर व नास्तिक हो जाते हैं, इसीलिए वेद कहता है कि हम प्रभु को और केवल प्रभु को पुकारते हैं जो—१. **विश्पतिम्**=सब प्रजाओं का पालन करनेवाले हैं, २. **हव्यवाहम्**=पवित्र पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं तथा ३. **पुरुप्रियम्**=पुरु=पालक व पूरक हैं और सबको तृप्त करनेवाले व चाहने योग्य हैं (प्रिय)।

प्रभु की उपासना का परिणाम यह होगा कि सब मनुष्य परस्पर प्रेमभाव से चलेंगे—परस्पर लड़ेंगे नहीं (विश्पतिम्)। पवित्र पदार्थों का ही प्रयोग करेंगे, हमारे अन्दर से हिंसापूर्वक पदार्थों को प्राप्त करने की वृत्ति दूर होगी (हव्यवाहम्)। हम समुचित उपायों से ही अपना पालन व पूरण करेंगे और अपने में एक तृप्ति का अनुभव करेंगे।

भावार्थ—हम सबके उपास्य केवल प्रभु हों। यह उपास्य की एकता हमें ऐक्यवाला बनाएगी।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

देव देवों के साथ

७९२. अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे। असि होता न ईड्यः ॥ ३ ॥

हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इह**=इस मानवजीवन में **वृक्तबर्हिषे**=जिस भी व्यक्ति ने काम, क्रोध, लोभ

आदि वासनाओं का वर्जन किया है और इस प्रकार हृदय को **बर्हि**=उत्पाटित वासनाओंवाला बनाया है, उस पुरुष के लिए **जज्ञानः**=आविर्भूत होते हुए आप **देवान् आवह**=दिव्य गुणों को प्राप्त कराइए। वेद में '**देवो देवेभिरागमत्**'='वह देव देवों के साथ आता है' इन शब्दों में यह स्पष्ट कहा गया है कि हम जितना-जितना प्रभु के समीप पहुँचते हैं, उतना-उतना ही दिव्य गुणों के आधार बनते हैं—अथवा 'दिव्य-गुणों के साथ वह देव आता है', अर्थात् जितना-जितना हम दिव्य गुणों को अपनाते चलते हैं, उतना-उतना प्रभु के समीप पहुँचते जाते हैं। 'दिव्य गुणों की प्राप्ति' व 'प्रभु का सान्निध्य' ये दोनों बातें साथ-साथ चलती हैं—ये एक-दूसरे के लिए सहायक हैं। यहाँ प्रस्तुत मन्त्र के शब्दों के अनुसार जितना-जितना हम 'वृक्तबर्हि' होते हैं, उतना-उतना प्रभु का प्रकाश देखते हैं (जज्ञानः) और हममें दिव्य गुणों का विकास होता है (देवान् इह आवह)।

हे प्रभो! **होता असि**=हमारे होता तो आप ही हैं—(हु-दान) हमें सब दिव्य गुणों के प्राप्त करानेवाले आप ही हैं। आपको ही हमारे हृदयों में आविर्भूत होकर उसे दिव्य गुणों से अलंकृत करना है। आप ही **नः ईड्यः**=हमारे स्तुत्य हो। हमें आपको ही अपना पूज्य बनाकर परस्पर मौलिक एकता की भावना को दृढ़ रखना है, जिससे कि राग-द्वेषादि मल हममें उत्पन्न ही न हों।

भावार्थ—हे प्रभो! हम अपने हृदयों को शुद्ध करने में लगे रहें, जिससे वहाँ आपका प्रकाश हो और दिव्य गुणों का आगमन हो।

सूक्त-७

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यशो-बलम्

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
७९३. मित्रं वयं हवामहे वरुणं सोमपीतये। या जाता पूतदक्षसा॥ १॥

वयम्=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले हम **मित्रं वरुणम्**=प्राणापान को **सोमपीतये**=सोम-पान के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं, आराधित करते हैं। सोम का अभिप्राय 'वीर्य-शक्ति' है—उसका पान है शरीर में ही उसका खपा देना। ऊर्ध्वरेतस् बनकर शरीर में ही शक्ति को सुरक्षित करना सोमपान है। यह सोमपान प्राणापान की साधना से ही होता है।

ये मित्र और वरुण वे हैं **या**=जो **पूतदक्षसा जाता**=पवित्र बलवाले हो गये हैं। सोमपान के द्वारा ये मित्र-वरुण हमारे बल को पवित्र करते हैं। इस सोमपान से हममें बल का उपचय तो होता ही है, साथ ही हमारा वह बल पवित्र व यशस्वी होता है। 'मेधातिथि काण्व' प्राणापान की साधना का व्रत लेता है और संयमी बनकर यशस्वी बल का कण-कण संचय करता हुआ मेधावी बनता है, अपनी बुद्धि को तीव्र बनता है।

भावार्थ—हम प्राणापान की साधना से ऊर्ध्वरेतस् बनें और पवित्र बलवाले हों।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

रेतस्-यज्ञ-सत्य व ज्योति

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २र
७९४. ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती। ता मित्रावरुणा हुवे॥ २॥

गत मन्त्र में यह स्पष्ट हो गया है कि प्राणापान ही सोम का पान करनेवाले हैं। इन्द्र=जीवात्मा का सोमपान भी इन प्राणापान के द्वारा ही होता है। एवं, **यौ मित्रावरुणा**=ये प्राण और अपान **ऋतेन**=रेतस् (नि० ३.४) के द्वारा, शक्तिशाली रक्षण के द्वारा **ऋतावृधौ**=हमारे जीवनों में यज्ञ (नि० ४.१९) की भावना को बढ़ानेवाले हैं, क्योंकि अशक्त पुरुष में उत्तम कर्मों की वृत्ति का विकास नहीं होता—सशक्त पुरुष ही यज्ञादि की वृत्तिवाला होता है। ये प्राणापान शक्ति की वृद्धि से हमारे जीवनों में यज्ञात्मक कर्मों की वृद्धि करते हैं और **ऋतस्य**=सत्य के (नि० ३.१०) तथा **ज्योतिषः**=विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञा के ये प्राणापान **पती**=रक्षक हैं। इन प्राणापानों की साधना से—१. शक्ति की रक्षा होती है, २. हमारे जीवन में यज्ञात्मक कर्मों की प्रवृत्ति होती है, ३. हमारा मन सत्यप्रवण होता है और ४. हमें वह ज्योति प्राप्त होती है, जो एकत्व का दर्शन कराती हुई हमें शोकमोहातीत बनाती है। एवं, अत्यन्त उपकारक **ता मित्रावरुणा**=उन प्राणापानों को **हुवे**=हम पुकारते हैं। प्राणापानों की साधना का महत्त्व सुव्यक्त है। प्राणापान ही से दोषों का नाश होता है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से हम सशक्त, यज्ञिय मनोवृत्तिवाले, सत्यवादी व ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाले बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आसुर आक्रमण से रक्षा

७९५. वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः। करतां नः सुराधसः ॥ ३ ॥

प्राणापान आसुर वृत्तियों के आक्रमण से रक्षा करनेवाले हैं। इन्हीं की साधना से इन्द्रियों के दोष नष्ट होते हैं, अतः मन्त्र में प्रार्थना करते हैं—

वरुणः मित्रः=वरुण और मित्र, अर्थात् अपान और प्राण **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के द्वारा हमारे **प्राविता**=रक्षक **भुवत्**=हों। प्राण शक्ति भरके दोषों को दग्ध करता है तो अपान—वरुण उस मल को दूर ले-जाता है। एक जलाता है, दूसरा दूर ले-जाता है, इस प्रकार हमारे जीवन पवित्र और पवित्रतर होते चलते हैं। इस सारी प्रक्रिया के द्वारा ये प्राणापान **नः**=हमें **सुराधसः**=उत्तम धनोंवाला **करताम्**=करें। प्राणापान की आराधना से हमारे शरीर सशक्त होकर रोगों के शिकार न हों, हमारे हाथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें, हमारा मन सदा सत्य से पवित्र बना रहे और हमारी बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होकर ज्योतिर्मय हो।

भावार्थ—प्राणापान हमारी प्रत्येक इन्द्रिय को आसुर आक्रमणों से बचाएँ।

सूक्त-८

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

७९६. इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ १ ॥

१९८ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

७९७. इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा। इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ २ ॥

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

७९८. इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च। उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥ ३ ॥

५९७-५९८ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सूर्य

७९९. इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि। वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ४ ॥

इन्द्रः=सर्वशक्तिमान् प्रभु **दीर्घाय चक्षसे**=विस्तृत प्रकाश के लिए **सूर्यम्**=सूर्य को **दिवि**=द्युलोक में **आरोहयत्**=आरूढ़ करते हैं। रात्रि के समय हमारे दर्शन का वृत्त अति छोटा हो जाता है। दिन हुआ, सूर्योदय हुआ और वह दर्शन का वृत्त विशाल हो जाता है। वस्तुतः आँख सूर्य का ही तो एक छोटा रूप है '**आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्**'। वैदिक संस्कृति में उत्पन्न होते ही बच्चे को सूर्य का दर्शन कराते हैं—ब्रह्मचारी को भी, गृहस्थ को भी तथा संन्यासी को भी। यह सब इसीलिए कि उन्हें यह प्रेरणा देनी होती है कि तुम्हें सूर्य के समान ही दीर्घदृष्टि बनना है।

यह सूर्य ही **गोभिः**=अपनी किरणों से **अद्रिम्**=मेघ को **वि-ऐरयत्**=विशिष्टरूप से प्रेरित करता है। सूर्य की किरणों से जल वाष्पीभूत होकर अन्तरिक्ष में मेघरूप से ही जाता है। सूर्य का मेघ-निर्माणरूप कार्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रभु की सर्वोत्कृष्ट प्राकृतिक रचना सूर्य ही है। यह प्रभु की अद्भुत विभूति है। सूर्य शरीर को नीरोग करता है और दृष्टिशक्ति को तीव्र करता है, तो बाह्य जगत् में यह मेघ-निर्माणरूप महान् कार्य करता है। इस विभूति को देखकर हमें प्रभु का स्मरण होता है।

भावार्थ—सूर्य प्रभु की महान् विभूति है।

सूक्त-९

ऋषिः—मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सु-वृक्ति

८००. इन्द्रे अग्ना नमो बृहत् सुवृक्तिमेरयामहे। धिया धेना अवस्यवः ॥ १ ॥

'इन्द्र' और 'अग्नि' शक्ति व प्रकाश के प्रतीक हैं। ये दोनों ही तत्त्व उस प्रभु में पूर्णरूप से समवेत हैं, अतः प्रभु 'इन्द्र और अग्नि' नामवाले हो गये हैं। १. **इन्द्रे अग्ना**=उस प्रभु में, अर्थात् उस प्रभु की प्राप्ति के निमित्त हम **बृहत् नमः**=(भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिम्) अतिशय नमन को **एरयामहे**=प्रेरित करते हैं। उस प्रभु के प्रति नमन करते हैं—प्रातः-सायम् उसके चरणों में नतमस्तक होने से ही हम उसकी दिव्यता को प्राप्त कर सकते हैं। प्रभु की शक्ति व प्रभु का प्रकाश प्राप्त कराने के कारण ही यह नमन 'बृहत्' है—हमारी वृद्धि का कारण है, २. इसी शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करने के लिए हम **सुवृक्तिम्**=उत्तम वर्जन को **एरयामहे**=अपने में प्रेरित करते हैं, अर्थात् पतन के कारणभूत विषयों का वर्जन करते हैं—विषयों का वर्जन ही हमें प्रभु के समीप पहुँचाता है। 'सुवृक्तिम्' शब्द का अर्थ 'उत्तम चुनाव' भी है। (वृक्ति=Choice)। हम प्रेयस् व श्रेयस् में श्रेयस् का चुनाव करके उस प्रभु को पाने के अधिकारी बनते हैं। ३. 'सुवृक्तिम्' शब्द Purification=पवित्रीकरण का भी वाचक

है—प्रभु-प्राप्ति के लिए हम अपने को पवित्र करते हैं।

अवस्यवः=रक्षा की कामनावाले हम **धिया**=प्रज्ञान व कर्मपूर्वक **धेनाः**=इन वेदवाणियों को **एरयामहे**=अपने में प्रेरित करते हैं। वेदवाणियों को पढ़ना, उनके अर्थों को जानना तथा तदनुसार कर्म करना ही विषय-वासनाओं के आक्रमण से अपनी रक्षा करने का प्रकार है। इस प्रकार के जीवनवाला व्यक्ति ही 'वसिष्ठ'=उत्तम निवासवाला अथवा 'वशिष्ठ'=वशियों में श्रेष्ठ बन पाता है। ऐसा बनने के लिए ही यह 'मैत्रावरुणि'=प्राणापान की साधना करनेवाला बना है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि—१. हम नमन की वृत्तिवाले हों, २. विषयों का वर्जन करें, श्रेयमार्ग का ही चुनाव करें और अपने को पवित्र बनाएँ तथा ३. वेदवाणियों को पढ़ें, समझें तथा जीवन में अनूदित (क्रियान्वित) करें।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सक्रिय जीवन

८०१. ता हि शश्वन्त ईडत इत्था विप्रास ऊतये। सबाधो वाजसातये ॥ २ ॥

ता=उस इन्द्र और अग्नि का **हि**=निश्चय से **शश्वन्तः**=(शश् प्लुतगतौ) स्फूर्ति से—प्रमादालस्यादि तामसी वृत्ति से दूर रहकर कार्य करनेवाले ही **ईडते**=उपासन करते हैं। प्रभु का उपासक वही है, जो 'स्व-कर्म' को निरालस्य होकर करने में प्रवृत्त रहता है। २. **इत्था**=सचमुच **विप्रासः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले लोग ही **ऊतये**=अपनी रक्षा के लिए **ईडते**=उस प्रभु के उपासक होते हैं। यदि हम अपना पूरण करने के लिए प्रयत्न नहीं कर रहे तो हमारी उपासना 'दम्भमात्र' रह जाती है। ३. **सबाधः**=(ऋत्विङ्नाम—निघण्टौ ३.१८) समय-समय पर यज्ञ करनेवाले लोग **वाजसातये**=शक्ति प्राप्त करने के लिए हे प्रभो! आपका उपासन करते हैं। वस्तुतः प्रभु की उपासना से ही वह शक्ति व प्रकाश प्राप्त होता है, जिससे कोई भी यज्ञ पूर्ण हो पाता है। प्रभु से शक्ति प्राप्त करके ही ये ऋत्विज् अपने यज्ञों में सफल हो पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा उपासक—१. कर्मशील होता है, २. अपना पूरण करता है, ३. यज्ञिय जीवन बिताता है।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शक्ति व प्रकाश

८०२. ता वां गीर्भिर्विपन्युवः प्रयस्वन्तो हवामहे। मेधसाता सनिष्यवः ॥ ३ ॥

ता वाम्=हे इन्द्र और अग्नि आप दोनों को हम **हवामहे**=पुकारते हैं। हम 'शक्ति व प्रकाश' के पुञ्ज आपकी उपासना करते हैं। कैसे हम? १. **गीर्भिः विपन्युवः**=वेदवाणियों से आपका विशिष्ट स्तवन करनेवाले। 'विपन्यवः' का अर्थ निरुक्त में 'मेधावी' भी है, वेदवाणियों—ज्ञान के वचनों से अपने को मेधावी बनानेवाले। २. **प्रयस्वन्तः**=उत्तम प्रयत्नोंवाले—उद्योगशील, ३. **मेधसातः**=यज्ञों को प्राप्त करनेवाले, अर्थात् यज्ञशील जीवनवाले, ४. **सनिष्यवः**=निःश्रेयसरूप धन को प्राप्त करने की इच्छावाले, प्रभु को प्राप्त करने की प्रबल कामनावाले।

भावार्थ—हम मेधावी, श्रमी, यज्ञशील व प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले होकर प्रभु से शक्ति व प्रकाश प्राप्त करें।

सूक्त-१०

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

१ २ ३ १२ ३ १ २ ३२ २ ३ १ २ ३ १ २

८०३. वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः। विश्वा दधान ओजसा ॥ १ ॥

४६९ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वाज

१ २ ३ १२ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ ३र ३ १ २

८०४. तं त्वा धर्त्तारमोण्यो३ः पवमान स्वर्दृशम्। हिन्वे वाजेषु वाजिनम् ॥ २ ॥

मन्त्र का ऋषि 'भृगु वारुणि' अपना परिपाक करनेवाला—जीवन को श्रेष्ठ बनानेवाला प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ओण्योः धर्त्तारम्**=(नि० ३.१५) द्युलोक व पृथिवीलोक के धारण करनेवाले (स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्) **तं त्वा**=उस आपको हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले प्रभो! **स्वर्दृशम्**=(नि० १०.१३)=सूर्य के समान देदीप्यमान **वाजिनम्**=सर्वबलसम्पन्न आपको **वाजेषु**=बलों के निमित्त **हिन्वे**=अपने में प्रेरित करता हूँ। आपकी भावना को हृदयान्तरिक्ष में सतत जागरित करता हूँ।

आपका अपने अन्दर प्रेरण मुझे भी १. पृथिवी व द्युलोक का धारण करनेवाला बनाएगा—मेरे शरीर को नीरोग व मस्तिष्क को उज्ज्वल करेगा, २. मुझे पवित्र बनाएगा, ३. ज्ञान के द्वारा सूर्य के समान देदीप्यमान करेगा तथा ४. शक्तिशाली बनाएगा। मेरे शरीर को सबल (वाज=बल), इन्द्रियों को क्रियाशील (वज गतौ) मन को त्यागवाला (वाज=Sacrifice) तथा बुद्धि को प्रत्येक विज्ञान में गतिवाला करेगा।

भावार्थ—मैं प्रभु का उपासक बनूँ। वे प्रभु द्युलोक व पृथिवी के धारक हैं। पवित्र, सूर्य के समान देदीप्यमान व वाजी हैं। उनकी उपासना से मुझे भी 'वाज' प्राप्त होंगे।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान-कर्म-शक्ति

३ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १२ २ ३ १ २

८०५. अया चित्तो विपानया हरिः पवस्व धारया। युजं वाजेषु चोदय ॥ ३ ॥

अनया=इस **अया**=(अय् गतौ) क्रियाशीलता से, **अनया विपा**=इस स्तवन (Praise, hymn) से तथा **अनया धारया**=इस वेदवाणी से **चित्तः**=संज्ञात हुए-हुए **पवस्व**=मुझे पवित्र कर दीजिए। **हरिः**=सब दुःखों व अज्ञानों के हरनेवाले प्रभु **युजम्**=आपके साथ सम्पर्क करनेवाले मुझ अपने पुत्र को आप **वाजेषु**=वाजों में **चोदय**=प्रेरित कीजिए।

प्रभु का दर्शन ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड व उपासनाकाण्ड तीनों के समन्वय से ही होता है। '**अया**' कर्मकाण्ड को सूचित करता है, '**विपा**'=उपासना को तथा '**धारया**'=ज्ञानकाण्ड को। प्रभु से मेल कर सकनेवाला यह '**युज्**' कहलाता है। इस युज् को प्रभु वाज प्राप्त कराते हैं। गतमन्त्र के वर्णन के अनुसार इसके अन्नमयकोश में बल (वाज=Strength) होता है, प्राणमयकोश में क्रियाशीलता

(वाज=Speed), मनोमयकोश में त्याग की भावना (वाज=Sacrifice) तथा विज्ञानमयकोश में ज्ञान की दीप्ति (गतेस्त्रयोऽर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च) होती है।

भावार्थ—ज्ञान, कर्म व भक्ति के मेल से मैं प्रभु को प्राप्त करूँ तथा प्रभु मुझ युज् को 'वाज' [बल] प्राप्त कराएँ।

सूक्त-११

ऋषिः—उपमन्युर्वासिष्ठः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपमन्यु का सुलझा हुआ जीवन

२ ३ १ २ ३१ २ ३ २ ३१२ ३ २३२
८०६. वृषा शोणो अभिकनिक्रदद् गा नदयन्नेषि पृथिवीमुत द्याम्।
१ २ ३१ २र ३ १ २ ३१२ ३ २३२
इन्द्रस्येव वग्नुरा शृण्व आजौ प्रचोदयन्नर्षसि वाचमेमाम् ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'उपमन्यु वासिष्ठ' है। उपमन्यु का अर्थ है—१. (Intelligent, understanding) जो बुद्धिमान् है, वस्तुस्थिति को समझता है। (Zealous, striving after)=जो उत्साही है, लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करता है। यह उपमन्यु 'वासिष्ठ' है, वसिष्ठ पुत्र है—अत्यन्त उत्तम निवासवाला व वशी है। प्रभु द्वारा इसका जीवन निम्न शब्दों में चित्रित हुआ है—

१. **वृषा**=यह शक्तिशाली है—सब पर सुखों की वर्षा करनेवाला है। २. **शोणः**=(शोणति To go, move) अत्यन्त क्रियाशील है। To become red इसके चेहरे पर तेजस्विता की लालिमा है। ३. यह **गाः**=वेदवाणियों का **अभिकनिक्रदत्**=खूब ही उच्चारण करता है। ४. **नदयन्**=प्रभु का स्तवन करता हुआ, स्तुति-वचनों से **पृथिवीम्-उत द्याम्**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **नदयन्**=गुँजाता हुआ तू **एषि**=जीवनपथ पर आगे बढ़ता है। ५. **आजौ**=इस संसार-संग्राम में **वग्नुः**=इसकी गर्जना **इन्द्रस्य इव**=मेघगर्जना की भाँति **आशृण्वे**=सुन पड़ती है अथवा इसकी वाणी प्रभु की वाणी के समान सुनाई पड़ती है। यह ऐसे प्रभावशाली प्रकार से प्रचार करता है कि प्रभु ही बोलते सुन पड़ते हैं। ६. प्रभु कहते हैं कि हे उपमन्यो! **इमां वाचम्**=हमसे दी गयी इस वेदवाणी को **प्रचोदयन्**=प्रेरित करता हुआ तू **आ अर्षसि**=सर्वत्र गति करता है, अर्थात् सर्वत्र इस वेदवाणी के सन्देश को सुनाता हुआ भ्रमण करता है। यही तो सच्चा परिव्राजकत्व है।

भावार्थ—उपमन्यु के जीवन में 'शक्ति, गति, ज्ञान, प्रभु-स्तवन, प्रचार व वेद-सन्देश' का प्रसार है।

ऋषिः—उपमन्युर्वासिष्ठः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

लोकसंग्रहमय जीवन

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१२ ३ १ २ ३ २
८०७. रसाय्यः पयसा पिन्वमान ईरयन्नेषि मधुमन्तमंशुम्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
पवमान सन्तनिमेषि कृण्वन्निन्द्राय सोम परिषिच्यमानः ॥ २ ॥

प्रभु उपमन्यु से कहते हैं—हे **सोम**=सौम्य स्वभाववाले उपमन्यो! १. **रसाय्यः**=रसमय शब्दोंवाला, २. **पयसा**=वेदवाणीरूप गौ के दूध से अपने को तृप्त करता हुआ, **पिन्वमानः**=नैत्यिक वेदाध्ययनरूप ब्रह्म-सूत्र द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाता हुआ ३. **मधुमन्तम्**=माधुर्य से परिपूर्ण **अंशुम्**=जीवन के लिए

शान्ति देनेवाली ज्ञान की किरणों व प्रकाश को **ईरयन्**=सर्वतः प्रेरित करता हुआ तू **एषि**=गति करता है, ४. **पवमान**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले उपमन्यो! ५. तू **सन्तनिमेषि कृण्वन्**=उत्तम गुणों—दैवी सम्पत्ति का विस्तार करता हुआ, ६. और इस प्रकार **इन्द्राय**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए—परमैश्वर्य लाभ के लिए **परिषिच्यमानः**=करुणा से आर्द्र हृदयवाला होता हुआ मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षारूप जीवन्मुक्त के लक्षणों से अपने को परिपूर्ण करता हुआ तू **एषि**=मुझे प्राप्त होता है।

भावार्थ—उपमन्यु के जीवन में 'माधुर्य, ज्ञानतृप्ति, मधुर-प्रकाश, प्रसार, पवित्रता, दिव्य गुण-विस्तार व करुणार्द्रहृदयता' अंकुरित हो उठती हैं।

ऋषिः—उपमन्युर्वासिष्ठः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उदग्राभ के वधस्थलभूत शिखर का नमन

८०८. **एवा पवस्व मदिरो मदायोदग्राभस्य नमयन् वधस्नुम्।**
परि वर्णं भरमाणो रुशन्तं गव्युर्नो अर्ष परि सोम सिक्तः॥ ३॥

१. **एवा**=गतिशील तू **पवस्व**=अपने जीवन को पवित्र कर। जीवन की पवित्रता के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। निष्क्रियता जीवन की अपवित्रता का कारण बनती है। २. **मदिरः**=तू अपने सम्पर्क में आनेवाले सभी को आनन्दित करनेवाला हो। ३. **मदाय**=स्वयं तेरा जीवन उल्लास को लिये हुए हो। तू ४. **उदग्राभस्य**=ज्ञान-जल के ग्रहण करनेवाले के **वध-स्नुम्**=नाशक शिखर प्रदेश को **नमयन्**=झुकानेवाला हो। जल 'ज्ञान' का प्रतीक है। आचार्य को 'अर्णव' (ज्ञान का) समुद्र कहा है। ज्ञान की अधिदेवता 'सरस्वती' प्रवाहवाली है। एवं, 'उदग्राभ'=ज्ञानजल के ग्रहण करनेवाले का नाम है। जब मनुष्य औरों से अधिक ज्ञानी हो जाता है, तो कहीं उसे अभिमान न हो जाए इसके लिए कहते हैं कि 'यह जो उदग्राभ का वध करनेवाला शिखर है, तू उसे झुकानेवाला बन।' ज्ञान का तुझे घमण्ड न हो जाए। ५. **रुशन्तम्**=चमकते हुए **वर्णम्**=तेजस्विता के रंग को **परिभरमाणः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में धारण करनेवाला तू हो। ६. **गव्युः**=ज्ञान व प्रकाश की किरणों को चाहनेवाला तू हो। ७. **सोम**=सौम्य स्वभाववाले उपमन्यो! ८. **सिक्तः**=दया की भावना से सिक्त हुआ-हुआ तू **नः**=हमें **परिअर्ष**=सर्वथा प्राप्त हो।

भावार्थ—हम ज्ञान के शिखर पर पहुँच ज्ञान का गर्व न करें। हम ज्ञान के घमण्ड से मारे न जाएँ।

सूक्त-१२

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती)॥ स्वरः—मध्यमः॥

८०९. **त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः।**
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः॥ १॥

२३४ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उत्तम रथ व अश्व

८१०. स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अद्रिवः ।
गामश्वं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे ॥ २ ॥

हे **चित्र**=(चित्+र) ज्ञान देनेवाले ! **वज्रहस्त**=(वज गतौ) क्रियाशील हाथोंवाले, अर्थात् स्वभावतः क्रियामय ! **धृष्णुया**=कामादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले को प्राप्त होनेवाले **महः**=तेजःस्वरूप, **स्तवानः**=सदा स्तुति किये जानेवाले **अद्रिवः**=अविनाशी अथवा आदरणीय प्रभो ! **सः त्वम्**=वे आप **नः**=हमें **रथ्यम्**=इस शरीररूप रथ के लिए अत्यन्त उत्तम **गाम्**=ज्ञानेन्द्रियरूप घोड़ों को तथा **अश्वम्**=कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **संकिर**=दीजिए। यहाँ चित्रादि प्रभु के स्तुतिपरक शब्द हमें संकेत कर रहे हैं कि हम भी ज्ञानी, क्रियाशील, कामादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले तेजस्वी और लोगों के स्तुतिपात्र व आदणीय बनें। इस सबको सिद्ध करने के लिए ही उत्तम इन्द्रियाँ अपेक्षित हैं।

हे **इन्द्र**=सर्वशक्ति-सम्पन्न प्रभो ! **न**=आप जैसे **जिग्युषे**=विजय की कामनावाले के लिए **सत्रा**=सदा **वाजम्**=शक्ति दिया करते हैं, इसी प्रकार आप हमें उत्तम कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को प्राप्त कराइए। इनके द्वारा हम उत्तम ज्ञान-साधना करके 'बार्हस्पत्य' तो बनें ही, साथ ही हम सब वाजों को प्राप्त करके प्रत्येक कोश को उस-उस शक्ति से पूर्ण करके शान्त जीवनवाले 'शंयु' बनें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें उत्तम शरीररूप रथ के अनुरूप ही ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़े प्राप्त हों।

सूक्त-१३

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

८११. अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे ।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥ १ ॥

२३५ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वासनाविजय और प्रीति का अनुभव

८१२. शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे ।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥ २ ॥

धृष्णुयाः=कामादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाला परमात्मा (धृष्णु+या) **शत+अनीका इव**=सौ सेनाओं के समान **प्रजिगाति**=उपासक को प्राप्त होता है, और **दाशुषे**=आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए **वृत्राणि हन्ति**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को नष्ट करता है। जब मनुष्य कामादि का धर्षण करने के लिए प्रवृत्त होता है, उस समय प्रभु के सान्निध्य से उसे ऐसी शक्ति प्राप्त होती है,

जो सौ सेनाओं के तुल्य होती है और प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण करनेवाले की वासनाओं का विनाश तो प्रभु ही कर देते हैं।

इस वासना-विनाश के बाद **पुरुभोजसः**=पालक व पूरक भोज्य द्रव्यों को देनेवाले प्रभु के **दात्राणि**=सब दान **अस्य**=इस उपासक का **पिन्विरे**=प्रीणन करते हैं, इसी प्रकार **इव**=जैसे **गिरेः**=मेघ के **प्रसाः**=उत्कृष्ट रस—पर्वतों पर उत्पन्न फलों के रस मनुष्य को तृप्त करते हैं। वस्तुतः खाने-पीने की वस्तुओं का आनन्द भी वासना-विनाश के बाद आता है। उससे पहले तो ये खाने-पीने की वस्तुएँ हमें ही खा-पी जाती हैं, अतः मन्त्र के पूर्वार्ध में वासना-विनाश का उल्लेख है और उत्तरार्ध में उस पुरुभोजस् प्रभु के दिव्य अन्नों द्वारा प्रीणन का प्रसङ्ग है। यदि वासनाओं को जीतकर हमने इन अन्नों का सेवन किया तो हम कण-कण करके उत्तमता का संग्रह करनेवाले 'प्रस्कण्व' होंगे।

भावार्थ—हम प्रभु की शरण में जाकर वासनाओं का विनाश करें और प्रभु के दिये भोजनों से प्रीणन का अनुभव करें।

सूक्त-१४

ऋषिः—नृमेध आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती)॥ स्वरः—मध्यमः॥

८१३. **त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्णयः।**
स इन्द्र स्तोमवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमा गहि॥ १॥

३२० संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—नृमेध आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु-धारण व उत्तम जीवन

८१४. **मत्स्वा सुशिप्रिन् हरिवस्तमीमहे त्वया भूषन्ति वेधसः।**
तव श्रवांस्युपमान्युक्थ्य सुतेष्विन्द्र गिर्वणः॥ २॥

हे **सुशिप्रिन्**=(सृप्रं सर्पणात्—सुशिप्रं एतेन व्याख्यातम्—नि० ६.७)=उत्तम गतिवाले प्रभो! **हरिवः**=सब दोषों के हरण की शक्ति से सम्पन्न **गिर्वणः**=वेदवाणियों से उपासनीय प्रभो! **मत्स्व**=आप हमपर अनुग्रह कीजिए—(प्रसीद)। सारा संसार प्रभु की गति से गतिमय है—वह सब गति अन्ततः हमारे कल्याण के लिए है। प्रभु विविध घटनाओं से हमारे दोषों व दुःखों का हरण कर रहे हैं, अतः वे प्रभु ही वेदवाणियों से स्तुति के योग्य हैं। **तम्**=उस आपकी ही हम **ईमहे**=प्रार्थना करते हैं। आपको छोड़कर अन्य किससे याचना करें? **वेधसः**=मेधावी लोग **त्वया**=आपसे ही **भूषन्ति**=अपने जीवनों को अलंकृत करते हैं। आपकी आराधना करके आपको ही अपने अन्दर धारण करते हैं। इस प्रकार अपने जीवनों को सुभूषित करते हैं।

हे **उक्थ्य**=स्तुत्य प्रभो! **तव श्रवांसि**=आपके यश **उपमानि**=उपमानभूत हैं, किसी अन्य से उपमेय नहीं है। **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! आपके यश **सुतेषु**=आपके पुत्रों में भी होते हैं। अपने सुचरितों से आपको प्रीणित करनेवाले आपके सच्चे पुत्र भी इन यशों को प्राप्त करते हैं। प्रभु के ये सच्चे पुत्र '**नृमेध**'=सब मनुष्यों से मिलकर चलते हैं, अर्थात् केवल स्वार्थरत न रहकर परार्थ को भी सिद्ध करनेवाले होते हैं और इसी परार्थता के कारण विषयरत न होने से 'आङ्गिरस' होते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! हम आपके धारण से अपने जीवनों को अलंकृत करें।

सूक्त-१५

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

८१५. यस्ते मदो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा। देवावीरघशंसहा ॥ १ ॥

४७० संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वृत्र-विनाश व वाज-प्राप्ति

८१६. जघ्निर्वृत्रममित्रियं सस्निर्वाजं दिवेदिवे। गोषातिरश्वसा असि ॥ २ ॥

'अमहीयुः'=पार्थिव भोगों की कामना न करनेवाला, आङ्गिरस=शक्तिसम्पन्न ऋषि प्रभु से लौकिक भोगों के लिए प्रार्थना न करके यह प्रार्थना है कि—

१. **अमित्रियम्**=हमें पाप से न बचने देनेवाली **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के आप **जघ्निः**=प्रबल विनाशक हैं। वासना 'स्मर' है, तो आप 'स्मरहर' हैं। आपका स्मरण हमें वासनाओं का शिकार होने से बचाता है। २. हे प्रभो ! वासना-विनाश के द्वारा आप **दिवे-दिवे**=दिन-प्रतिदिन **सस्निः**=(षणु दाने) शक्ति प्राप्त करानेवाले हैं। वासना-विनाश से आप हमारी शक्ति की वृद्धि करते हैं। ३. **गोषातिः**=(गावः इन्द्रियाणि) आप विविध शक्तियों को सिद्ध करने के लिए उत्तम इन्द्रियों को देनेवाले हैं। इन इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न व्यापारों से इन्द्र की शक्ति में वृद्धि होती है। इन्द्र=जीवात्मा की शक्ति का साधनभूत होने से ही इनका नाम इन्द्रियाँ पड़ा है। ४. **अश्वसाः असि**=हे प्रभो ! आप हमें प्राणों के देनेवाले हैं। शरीर में व्याप्त होने से (अश् व्याप्तौ) ये प्राण अश्व कहलाते हैं। 'आज हैं, कल न रहने से 'अ-श्वः' ये अश्व भी कहलाते हैं। इन्हीं की शक्ति से मनुष्य कर्मों में व्याप्त रहता है।'

भावार्थ—अमहीयु बनकर हमारी प्रार्थना यही हो कि 'हमारी वासना विनष्ट हो और शक्ति बढ़े।' हमारी इन्द्रियाँ उत्तम हों और प्राणशक्ति की वृद्धि हो।

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अमहीयु को प्रभु का उपदेश

८१७. सम्मिश्लो अरुषो भुवः सूपस्थाभिर्न धेनुभिः। सीदं च्छ्येनो न योनिमा ॥ ३ ॥

१. **सूपस्थाभिः**=उत्तमता व सुगमता से उपस्थान के योग्य **धेनुभिः न**=गौओं के समान इन वेदवाणियों से तू **संमिश्लः भुवः**=युक्त हो। ये वेदवाणियाँ कठिन नहीं—ये सूपस्थ हैं, सुगमता से उपस्थान के योग्य हैं। जैसे एक उत्तम धेनु सुदोह्य होती है उसी प्रकार ये वाणियाँ भी सुदोह्य हैं—सुगमता से समझने योग्य हैं। तू इनके पास बैठ तो ? २. इन वेदवाणियों की उपासना से तू **अरुषः** आरोचनः (नि० ३.७ अरुषं रूप) उत्तम रूपवाला हो। ३. **श्येनः न**=शंसनीय गतिवाला-सा बनकर तू ४. **योनिम् आसीदन्**=मूल हृदयदेश में स्थित होनेवाला हो, अर्थात् तू सारे ध्यान को केन्द्रित कर हृदय में प्रभु की उपासना करनेवाला बन। 'योनि' शब्द का अर्थ 'वेदि' भी है। तू वेदि में स्थित हो, यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाला बन।

भावार्थ—हम वेदाध्ययन करें, क्रोधशून्य उत्तम रूपवाले हों, शंसनीय गतिवाले हों, हृदय में प्रभु की उपासना करें अथवा वेदियों में स्थित हो यज्ञ करनेवाले बनें।

सूक्त-१६

ऋषिः—नहुषो मानवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

८१८. **अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति।**
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे॥ १॥

५४६ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—नहुषो मानवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

'नहुष मानव' का जीवन 'चित्रबन्ध काव्य'

८१९. **समु प्रिया अनूषत गावो मदाय घृष्वयः।**
सोमासः कृण्वते पथः पवमानास इन्दवः॥ २॥

वह व्यक्ति जो अपने को प्रभु से जोड़ता है और परिणामतः मानवमात्र से अपने को एक करना चाहता है वह 'नहुषः मानवः' है—यह सभी के हित में अपना हित समझता है। ये व्यक्ति ही १. **उ**=निश्चय से प्रभु को **प्रियाः**=प्रिय होते हैं २. **समनूषत**=ये सदा प्रभु का स्तवन करते हैं ३. **गावः मदाय**=वेदवाणियाँ इनको हर्ष देनेवाली होती हैं, अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति में ही ये आनन्द लेते हैं। ४. **घृष्वयः**=(घृषु संघर्षे) ये अध्यात्मसंग्राम में कामादि वासनाओं का धर्षण कर डालते हैं। ५. **सोमासः**=सौम्य स्वभाव के होते हैं ६. **कृण्वते पथः**=औरों के लिए भी ये मार्गदर्शक होते हैं—रास्ता बना देते हैं। ७. **पवमानासः**=ये सदा अपने जीवन को पवित्र बनाने में लगे रहते हैं ८. **इन्दवः**=शक्तिशाली होते हैं।

१. और ८. प्रभु के प्रिय वे ही हैं जो शक्तिशाली हैं

२. और ७. प्रभु का स्तवन अपने को पवित्र करने का उपाय है।

३. और ६. ज्ञानी ही औरों के लिए मार्गदर्शक हो सकता है। अन्यथा तो '**अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः**' वाली बात होती है।

४. और ५. वासनाओं का पूर्ण विजय करके ही मनुष्य सौम्य बनता है। वस्तुतः वासना-विजय की चरम सीमा सौम्यता ही है। प्रस्तुत मन्त्र 'चित्रबन्ध काव्य' का एक सुन्दर उदाहरण है।

भावार्थ—हमारा जीवन भी 'नहुष मानव' का जीवन हो। हम प्रभु के प्रिय बनें—शक्तिशाली हों।

सूचना—यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि प्रारम्भ और अन्त को मिलाकर भावना यह है कि प्रभु को वे ही प्रिय होते हैं जो शक्तिशाली बनते हैं।

ऋषिः—नहुषो मानवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

पाञ्चजन्य शंख-घोष

८२०. **य ओजिष्ठस्तमा भर पवमान श्रवाय्यम्।**
यः पञ्च चर्षणीरभि रयिं येन वनामहे॥ ३॥

अत्यन्त विनीत बना हुआ 'नहुष मानव' प्रभु से प्रार्थना करता है कि—हे **पवमान**=पवित्र

करनेवाले प्रभो! **तम्**=उस सोम को हममें **आभर**=प्राप्त कराइए—भरिए **यः**=जो १. **ओजिष्ठः**= ओजस्वितम है—हमें अधिक-से-अधिक शक्ति देनेवाला है। २. जो **श्रवाय्यम्**= हमारे जीवन को यशस्वी बनानेवाला है अथवा उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करानेवाला है (श्रवस्=यश व ज्ञान) ३. **यः**=जो सोम हमें **पंच चर्षणीः अभि**=पाँचों मनुष्यों की ओर ले-जानेवाला है, अर्थात् जिससे हमारा झुकाव सभी के हित की ओर होता है—हम केवल स्वार्थ में न लगकर 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद' सभी का हित चाहते हैं। हम भी कृष्ण की तरह पांचजन्य शंख को बजानेवाले होते हैं। हमारे संसार-संग्राम का लक्ष्य भी पंचजनहित ही होता है। ४. और इस प्रकार **येन**=जिस सोम से हम अन्त में **रयिम्**=मोक्षरूप धन को **वनामहे**=(वन् win) जीतते हैं—प्राप्त करते हैं, उस सोम को हे प्रभो! हम आपकी कृपा से प्राप्त करें।

भावार्थ—सोम की रक्षा के द्वारा हम शक्तिशाली, यशस्वी व ज्ञानी तथा सर्वहितरत बनकर मोक्ष के भागी बनते हैं।

सूक्त-१७

ऋषिः—सिकतानिवावरी ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

८२१. वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः।
प्राणा सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्द्यविशन्मनीषिभिः॥ १॥

५५९ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—सिकतानिवावरी ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

इन्द्र इत् चरतः सखा

८२२. मनीषिभिः पवते पूर्व्यः कविर्नृभिर्यतः परि कोशाँ असिष्यदत्।
त्रितस्य नाम जनयन्मधु क्षरन्निन्द्रस्य वायुं सख्याय वर्धयन्॥ २॥

'सिकता' वीर्य का पुत्र 'निवावरी' निश्चय से प्रभु का स्तवन करनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि १. **मनीषिभिः**=मन का शासन करनेवाले ज्ञानी पुरुषों के साथ **पवते**=गति करता है, अर्थात् इसका उठना-बैठना ज्ञानियों में ही होता है—यह उन्हीं के साथ उठने-बैठने के कारण पवित्र जीवनवाला होता है। २. **पूर्व्यः**=इनके सम्पर्क से यह अपना पूरण तो करता ही है और इसलिए मनुष्यों में प्रथम स्थान में स्थित होनेवाला होता है ३. **कविः**=ज्ञानी बनता है। ४. **नृभिः यतः**=मनुष्यों के हित के उद्देश्य से यत्नवाला होता है अथवा आगे ले-चलनेवाले माता-पिता व आचार्यों से संयत जीवनवाला बनाया जाता है। ५. **कोशान् परि असिष्यदत्**=यह कोशों के प्रति प्रवाहित होता है, अर्थात् बाह्य वस्तुओं का ध्यान करने की बजाए यह आन्तरिक जीवन का ध्यान करता है। धन, मकान आदि की बजाए यह अन्नमयादि कोशों के ठीक रखने का अधिक ध्यान करता है। ६. यह **त्रितस्य**=काम, क्रोध, लोभ तीनों को तैर जानेवाले के **नाम**=यश को **जनयन्**=उत्पन्न करता है। वासनाओं को तैर जाने से इसका नाम ही त्रित (तीर्णतम) हो जाता है। त्रित का अर्थ शरीर, मन व बुद्धि 'तीनों का विकास करनेवाला भी है''त्रीन् तनोति' जब कोशों की ओर ध्यान देगा, तभी ऐसा कर पाएगा। ७. **मधु क्षरन्**=यह माधुर्य को टपकानेवाला होता है। यह व्यवहार में कभी कड़वी वाणी नहीं बोलता।

८. **इन्द्रस्य सख्याय**=उस परमैश्वर्यवाले प्रभु की मित्रता के लिए यह **वायुम्**=अपनी क्रियाशीलता को **वर्धयन्**=बढ़ाता चलता है। क्रियाशील के ही तो प्रभु मित्र हैं **'इन्द्र इत् चरतः सखा'**। आलसी पुरुष के देव मित्र नहीं हुआ करते। **'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।'**

(१+८) जो विद्वानों के सम्पर्क में रहने का प्रयत्न करेगा वही प्रभु की मित्रता को भी प्राप्त कर सकेगा।

(२+७) जो पूर्व्य (ब्रह्मा) बनता है वह मधुर शब्दों का ही प्रयोग करता है।

(३+६) जो कवि-क्रान्तदर्शी है वह सचमुच काम, क्रोध, लोभ का शिकार नहीं होता।

(४+५) जो माता, पिता, आचार्य से संयमी बनाया जाता है, वही अन्तर्मुखी वृत्तिवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता की प्राप्ति के लिए हम क्रियाशील बनें।

ऋषिः—पृश्नयोऽजाः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

चार प्रयत्न

८२३. अयं पुनान उषसो अरोचयदयं सिन्धुभ्यो अभवदु लोककृत्।
अयं त्रिः सप्त दुदुहान आशिरं सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः ॥ ३ ॥

अयम्=यह सिकता निवावरी **उषसः**=बहुत सवेरे से ही **पुनानः**=अपने जीवन को पवित्र करता हुआ **अरोचयत्**=अपने सब कोशों को उज्ज्वल व दीप्त करता है। सब कोशों का स्वास्थ्य नैर्मल्य पर ही निर्भर करता है। शरीर में मल (Foreign matter) बढ़ते ही मनुष्य रोगी हो जाता है। इन्द्रियों का मल विषयपंक है—मन का राग-द्वेष तथा बुद्धि की कुण्ठता और अन्त में आनन्दमय कोश का मल असहिष्णुता है। यह प्रातः से ही इन मलों के शोधन में लगता है और अपने समूचे जीवन को दीप्त बनाता है। २. **उ**=और **अयम्**=यह सिकता निवावरी **सिन्धुभ्यः**=स्यन्दन के स्वभाववाले रेतःकणों से (आपः रेतः भूत्वा) अपने जीवन में **लोककृत्**=(लोक् दर्शने) प्रभु का दर्शन करनेवाला **अभवत्**=बनता है। वस्तुतः सुरक्षित सोम (रेतस्) ने ही हमें उस सोम (प्रभु) का दर्शन कराना है। **'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'** प्रभु-दर्शन के लिए यह ब्रह्मचर्य आवश्यक ही है। ३. **अयम्**=यह **त्रिसप्त**=१० इन्द्रियाँ १० प्राण व एक मन इन इक्कीस साधनों को **दुदुहानः**=(दुह प्रपूरणे) न्यूनताओं को दूर करके शक्ति से भरता हुआ ४. **सोमः**=यह शक्ति का पुञ्ज तथा सौम्य स्वभाववाला **हृदे**=हृदय में (हृदि) उस **चारु आशिरम्**=सुन्दर आश्रयभूत प्रभु को (श्रिञ् सेवायाम् से आशिर) **पवते**=प्राप्त होता और **मत्सरः**=आनन्दमय जीवनवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रातः से ही अपना परिमार्जन प्रारम्भ करें तभी हृदयस्थ प्रभु का हम दर्शन कर पाएँगे।

सूक्त-१८

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

८२४. एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः। एवा ते राध्यं मनः ॥ १ ॥

२३२ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

धन या इन्द्र

८२५. एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धायि धातृभिः । अधा चिदिन्द्र नः सचा ॥ २ ॥

'श्रुतकक्ष'=ज्ञान को ही अपनी शरण बनानेवाला 'सुकक्ष'=उत्तम शरणवाला 'आंगिरस'= शक्तिशाली प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि समझता है कि **एवा**=(truly, realy)=सचमुच **विश्वेभिः**= **धातृभिः**=संसार में सब धारण करनेवालों से हे **तुवीमघ**=अनन्त ऐश्वर्यवाले प्रभो ! **रातिः**=आपका दान ही **धायि**=धारण किया जाता है। संसार में जिस-जिस मनुष्य के पास धन है और जो धन से अपने को औरों का धारण करता हुआ समझता है, वह सब धन वस्तुतः उस प्रभु के द्वारा ही उसके पास रक्खा गया है। वह व्यक्ति तो उस धन का ट्रस्टीमात्र है। सामान्यतः संसार में मनुष्य अपने को ही इस धन का धनी समझने लगता है। उस समय प्रभु का सत्य स्वरूप इस धन के द्वारा इससे ओझल कर दिया जाता है।

जब यह इस सत्यता को जान लेता है कि मैं तो प्रभु के धन को ही धारण करनेवाला हूँ, इसमें मेरा कुछ नहीं तब वह हिरण्यमय पात्र का ढक्कन उठ जाता है, **अधा**=और अब **चित्**=निश्चय से हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यशाली प्रभो ! आप **नः**=हमारे **सचा**=साथी होते हो। मनुष्य धन का अपने को धारकमात्र समझे तो उसका घमण्ड समाप्त हो जाता है। उसके ज्ञानचक्षु पर लोभ का पर्दा नहीं आता और वह परमेश्वर का मित्र बन पाता है।

भावार्थ—हम श्रुतकक्ष बनें। अपने को धन का धारकमात्र समझें और प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान-शक्ति-यज्ञ

८२६. मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते। मत्स्वा सुतस्य गोमतः ॥ ३ ॥

प्रभु सुकक्ष से कहते हैं कि—

१. **सुब्रह्मा इव**=उत्तम चतुर्वेदवेत्ता के समान ज्ञानी बनकर तू **मा उ**=मत ही **तन्द्रयुः**=आलसी **भुवः**=होना। ज्ञान-प्राप्ति में कभी आलस्य नहीं करना। चतुर्वेदवेत्ता-सा बनकर भी ज्ञान प्राप्ति में लगे ही रहना। '**अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्**'=शब्दशास्त्र अनन्तपार है। ज्ञान का अन्त समझकर तुझे आलस्य न घेर ले। तू यह न समझ बैठे कि जो कुछ ज्ञातव्य था वह मैंने जान ही लिया है, अब आगे पढ़कर क्या करना ?

२. **वाजानां पते**=वाजों के पति बननेवाले सुकक्ष वाज-प्राप्ति में भी तूने **तन्द्रयुः**=आलसी **मा भुवः**=नहीं होना। ज्ञान के साथ शक्तिसंचय को भी तूने भूल नहीं जाना।

३. **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियों व वेदवाणियोंवाले **सुतस्य**=यज्ञ का तू **मत्स्व**=आनन्द ले, अर्थात् तुझे यज्ञात्मक कर्मों में आनन्द का अनुभव हो। तू इनको अपनी इन्द्रियों को प्रशस्त करनेवाला समझ। इनके द्वारा तेरा वेदवाणियों से सम्पर्क भी हो जाता है और तू विषयों में फँसने से बच जाता है।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्ति में कभी आलस्य न करें—शक्ति-सञ्चय में सदा अतृप्त रहें—यज्ञों में मस्त रहें।

सूक्त-१९

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

८२७. इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ १ ॥

३४३ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अभय-विजय

८२८. सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम् ॥ २ ॥

'जेता माधुच्छन्दस'=वासनाओं का विजय करनेवाला, उत्तम इच्छाओंवाला प्रभु से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हे **शवसस्पते**=(श्वि=गति, वृद्धि) गति व वृद्धि के पति प्रभो! आप सदा गतिमान् हो, परिणामतः सदा वृद्धिमान् हो। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वाजिनः**=सर्वशक्तिमान्, बलवान् **ते**=आपकी **सख्ये**=मित्रता में हम **मा भेम**=मत भयभीत हों। प्रभु की मित्रता मनुष्य को निर्भीक बनाती है। वे प्रभु सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं। अशक्त जीव भी प्रभु-मित्रता में सशक्त हो जाता है, उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता।

त्वाम् अभिप्रणोनुमः=आपको लक्ष्य करके हम प्रणाम करते हैं—बारम्बार आपकी आराधना करते हैं। आप **जेतारम्**=सदा विजयी हैं **अपराजितम्**=कभी पराजित नहीं होते। आपको अपने रथ का सारथि बनाकर मैं भी विजयी होता हूँ। अपने जीवन की बागडोर आपके हाथ में सौंपकर मैं भी पराजित नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में निर्भयता है—प्रभु की आराधना में विजय है।

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सनातन दान व रक्षण

८२९. पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्त्यूतयः ।
यदा वाजस्य गोमत स्तोतृभ्यो मंहते मघम् ॥ ३ ॥

यदा=जब **गोमतः**=प्रशस्तेन्द्रियोंवाले व प्रशस्त वेदवाणियोंवाले **वाजस्य**=शक्ति के **मघम्**=धन को **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **मंहते**=वे प्रभु देते हैं तब **इन्द्रस्य**=उस सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यवाले प्रभु की **पूर्वीः**=अनादिकाल से प्रवृत्त **रातयः**=दान तथा **ऊतयः**=रक्षण **न विदस्यन्ति**=नष्ट नहीं होते। प्रभु अपनी सर्वशक्तिमत्ता से स्तोताओं का सदा से रक्षण कर रहे हैं तो अपने परमैश्वर्य से वे स्तोताओं को सदा से दान दे रहे हैं।

भावार्थ—मैं स्तोता बनूँ और प्रभु के 'गोमान् वाज'=ज्ञानयुक्त बल के दान का पात्र बनूँ।

इति तृतीयोऽध्यायः, द्वितीयप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

द्वितीयप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु-प्राप्ति व सौभग-लाभ

८३०. एत असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः । विश्वान्यभि सौभगा ॥ १ ॥

एते=ये **आशवः**=मनुष्य को शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त करनेवाले, शक्ति-उत्पादन के द्वारा मनुष्य में स्फूर्ति उत्पन्न करनेवाले **इन्दवः**=शक्तिशाली सोमकण (१) **तिरः पवित्रम्**=सर्वत्र अन्तर्हित, सभी को पवित्र करनेवाले प्रभु को तथा **विश्वानि सौभगा**=सब सौभगों को **अभि**=लक्ष्य करके **असृग्रम्**=उत्पन्न किये गये हैं।

सोमकण 'आशु' हैं—'इन्दु' हैं। ये सुरक्षित होने पर स्फूर्ति व शक्ति को जन्म देनेवाले हैं। ये उत्पन्न इसलिए किये गये हैं कि १. उस सर्वव्यापक, परन्तु अन्तर्हित प्रभु का दर्शन हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला है। २. इनके उत्पादन का दूसरा प्रयोजन यह है कि सभी सौभग हमें प्राप्त हों। ये सौभग 'ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य' हैं। इनको प्राप्त करके हमारा जीवन चमक उठता है। एवं, सोम निःश्रेयस को भी देनेवाला है—अभ्युदय का भी साधक है। सोम की रक्षा करनेवाला सब सौभगों से युक्त 'जमदग्नि' अन्त तक ठीक जाठराग्निवाला बनता है। इन सौभगों के कारण उसे आधिव्याधियाँ नहीं सतातीं। अपना ठीक परिपाक करने से यह प्रभु-दर्शन करनेवाला 'भार्गव' बनता है।

भावार्थ—मैं सोम-रक्षा के द्वारा इस जीवन में सौभगों को प्राप्त करूँ और प्रभुदर्शन करके पवित्र-जीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—जमदग्निः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दुरित-विनाश

८३१. विघ्नन्तो दुरिता पुरु सुगा तोकाय वाजिनः । त्मना कृण्वन्तो अर्वतः ॥ २ ॥

१. ये सोम **दुरिता**=दुरितों को—अशुभों को **विघ्नन्तः**=नष्ट करते हुए होते हैं। सोम-रक्षा से हमारी जीवन-यात्रा में आनेवाले विघ्न नष्ट हो जाते हैं २. **पुरु सुगा**=विघ्नों के नाश से इस जीवन-यात्रा का मार्ग खूब ही सुगम हो जाता है। ३. **वाजिनः**=वे शक्तिशाली सोम **तोकाय**=उस-उस समय पर आनेवाले विघ्नों को (तु=to strike) आहत करने के लिए होते हैं। ४. ये सोम **त्मना**=आत्मा के साथ **अर्वतः**=प्राणों को **कृण्वन्तः**=करते हैं, अर्थात् आत्मा के साथ प्राणशक्ति को जोड़नेवाले होते हैं। इस प्राणशक्ति से ही यह अपनी जीवन-यात्रा को पूर्ण कर पाता है।

भावार्थ—सोम विघ्नों को दूर करके हमें जीवन-यात्रा को पूर्ण करने में समर्थ बनाता है।

ऋषिः—जमदग्निः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वरणीय-धन

८३२. कृण्वन्तो वरिवो गवेऽभ्यर्षन्ति सुष्टुतिम्। इडामस्मभ्यं संयतम्॥ ३ ॥

१. सुरक्षित हुए-हुए सोम **गवे**=इन्द्रियों के लिए **वरिवः**=वरणीय धन को **कृण्वन्तः**= करनेवाले हैं। सोम की रक्षा से प्रत्येक इन्द्रिय अपनी सम्पत्ति को प्राप्त करके अपने-अपने कार्य को पटुता से करनेवाली होती है। २. ये सोम **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **अभ्यर्षन्ति**=प्राप्त कराते हैं (अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र धातुः) मनुष्य की प्रवृत्ति सोम-रक्षा से प्रभु-प्रवण हो जाती है ३. **इडाम्**=ये सोम हमें वेदवाणी को प्राप्त कराते हैं (इडा=वाणी) तथा ये सोम **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **संयतम्**=संयम की भावना देते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षा से १. इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं, २. मन प्रभु प्रवण होता है, ३. मस्तिष्क वेदवाणियों के प्रकाश से परिपूर्ण होता है और जीवन संयमी बनता है।

सूक्त-२

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मध्यमार्ग से जाने के लिए

८३३. राजा मेधाभिरीयते पवमानो मनावधि। अन्तरिक्षेण यातवे॥ १ ॥

'सोम' ही राजा है—यह शरीर को सभी दीप्तियाँ प्राप्त करानेवाला है। १. **राजा**=यह दीप्ति का कारणभूत सोम **मनौ अधि**=मननशील मनुष्य में २. **पवमानः**=पवित्रता करता हुआ ३. **मेधाभिः**= धारणावती बुद्धियों के साथ **ईयते**=प्राप्त होता है। ४. इन मेधाओं को वह **अन्तरिक्षेण यातवे**=हमें मध्यमार्ग से चलने के लिए प्राप्त कराता है। मेधावी मनुष्य अति का परिवर्जन करता हुआ मध्यमार्ग से ही चलता है।

भावार्थ—सोमरक्षा से १. हमें दीप्ति प्राप्त होगी। २. पवित्रता का लाभ होगा। ३. मेधावी बनकर ४. हम सदा मध्यमार्ग से चलेंगे।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोमरक्षा से सहनशीलता

८३४. आ नः सोम सहो जुवो रूपं न वर्चसे भर। सुष्वाणो देववीतये॥ २ ॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **नः**=हमें **सहः**=सहनशक्तिरूप बल को, **जुवः**=(जु गतौ) गतिशीलता को, **रूपं न**=(न इति चार्थे) और प्रभु-गुण-निरूपण की प्रवृत्ति को **वर्चसे**=वर्चस्विता के लिए **आभर**=समन्तात् प्राप्त करा।

हे सोम! तू **देववीतये**=दिव्य गुणों के द्वारा उस देवों के देव प्रभु की प्राप्ति के लिए ही तो **सुष्वाणः**=अभिषूयमाण हुआ है। तेरी तो उत्पत्ति ही प्रभु-प्राप्ति के लिए की गयी है।

भावार्थ—सोम का पान करनेवाला मनुष्य १. सहनशील होता है २. क्रियाशील रहता है ३. उसमें प्रभु के गुणों का निरूपण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। ४. वह वर्चस्वी बनता है। और ५. अन्ततः देवाधिदेव प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शरदः शतम्

८३५. आ न इन्दो शतग्विनं गवां पोषं स्वश्व्यम्। वहा भगत्तिमूतये ॥ ३ ॥

हे **इन्दो**=सोम! **नः**=हमें **शतग्विनम्**=(शतं गच्छति)=सौ वर्षपर्यन्त चलनेवाले **गवां पोषम्**=ज्ञानेन्द्रियों के पोषण को तथा **स्वश्व्यम्**=(सु+अश्व+य) उत्तम कर्मेन्द्रियों की शक्ति को **आवह**=प्राप्त कराइए। सोम की रक्षा से सौ-के-सौ वर्ष तक ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति बनी रहती है और कर्मेन्द्रियाँ भी बड़ी उत्तमता से अपने-अपने व्यापारों में लगी रहती हैं।

हे सोम! तू **ऊतये**=हमारी रक्षा के लिए **भगत्तिम्**=भग के दान को **आवह**=प्राप्त करा। भग का अभिप्राय 'विज्ञानैश्वर्य, वीर्य, यश-श्री, ज्ञान व वैराग्य' है। ये छह वस्तुएँ हमारे जीवनों को बड़ा सुन्दर बनानेवाली हों। हमारे जीवन का प्रारम्भ विज्ञान के ऐश्वर्य से परिपूर्ण हो, जीवन का मध्य यश और श्री से सम्पन्न हो तथा अन्त ज्ञान और वैराग्य से सुशोभित हो।

भावार्थ—सोम-रक्षा से हमारी इन्द्रियाँ सौ वर्षपर्यन्त कर्मक्षम बनी रहें तथा हमारा जीवन षड्विध भग से सुभग बनें।

सूक्त-३

ऋषिः—कविर्भार्गवः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

नृम्ण-महस्-दिव् व चारु

८३६. तं त्वा नृम्णानि बिभ्रतं सधस्थेषु महो दिवः। चारुं सुकृत्ययेमहे ॥ १ ॥

'कवि भार्गव'=ज्ञानी, परिपक्व बुद्धिवाला व्यक्ति प्रार्थना करता है कि—हे प्रभो! **तं त्वा**=उस आपको **सधस्थेषु**=सह स्थानों में—मिलकर बैठने के स्थानों में अथवा हृदयों में (हृदय जीव और प्रभु का सहस्थान है) **सुकृत्यया**=उत्तम पुरुषार्थ के साथ, अर्थात् स्वयं पुरुषार्थ करते हुए **ईमहे**=याचना करते हैं। 'प्रार्थना पुरुषार्थ के उपरान्त ही करनी चाहिए' इस आचार्य-वचन का मूल यह 'सुकृत्यया' शब्द ही है। बिना कर्म व पुरुषार्थ के आलसी बनकर बैठे हुओं की प्रार्थना नहीं सुनी जाती।

मैं उन आपकी प्रार्थना करता हूँ जो आप १. **नृम्णानि**=बलों को (नि० २.९.९) **महः**=तेज को **दिवः**=ज्ञान के प्रकाशों को तथा **चारुम्**=सब शुभों को **बिभ्रतम्**=धारण कर रहे हैं। मेरे पुरुषार्थ के अनुसार 'बल-तेज-प्रकाश व शुभ' को आप मुझे प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हमें पूर्ण पुरुषार्थ करके 'नृम्ण, बल, तेज, प्रकाश व शुभ' को प्राप्त करनेवाला बनना है।

ऋषिः—कविर्भार्गवः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उत्तम-प्रार्थना

८३७. संवृक्तधृष्णुमुक्थ्यं महामहिव्रतं मदम्। शतं पुरो रुरुक्षणिम् ॥ २ ॥

संवृक्तधृष्णुम्=(वृजी वर्जने, धृष्णु शत्रु)=दूर किये हैं कामादि शत्रु जिसने, **उक्थ्यम्**=अत्यन्त प्रशंसनीय **महामहिव्रतम्**=बड़े-बड़े महनीय व्रतोंवाले **मदम्**=आनन्दमय तथा **शतं पुरः**=सैकड़ों देहरूप नगरियों को **रुरुक्षणिम्**=(रुजो भंगे) नष्ट करनेवाले आपकी हे प्रभो! **सुकृत्यया ईमहे**=(ये दोनों शब्द पिछले मन्त्र से अनुवृत्त हो रहे हैं) उत्तम पुरुषार्थ के साथ हम याचना करते हैं। वस्तुतः जिन

गुणों की प्रार्थना करनी होती है उन्हीं गुणों से विशिष्ट प्रभु का स्तवन चलता है, अतः प्रार्थना का स्वरूप यह है कि मैं शत्रुओं—काम आदि वासनाओं को जीत जाऊँ, मेरा जीवन प्रशस्य हो, मैं महनीय व्रतोंवाला बनूँ, मेरा जीवन उल्लासमय हो और मैं इन शतशः बन्धनों का तोड़नेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम पुरुषार्थ से बन्धनों को तोड़कर प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—कविर्भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पुरुषार्थ से उत्पन्न अनथक श्रम

८३८. अतस्त्वा रयिरभ्ययद्राजानं सुक्रतो दिवः। सुपर्णो अव्यथी भरत्॥ ३॥

हे **सुक्रतो**=उत्तम सङ्कल्पों व कर्मोंवाले जीव! **राजानम्**=बड़े नियमित जीवनवाले (राज्, Regulate) **त्वा**=तुझे, **अतः**=क्योंकि तू पुरुषार्थ-शून्य प्रार्थना में नहीं लगा, इसलिए **दिवः रयिः**=यह ज्ञान धन **अभ्ययत्**=प्राप्त होता है। 'तू पुरुषार्थ में लगा है, तेरा जीवन बड़ा नियमित है।' **सुपर्णः**=उत्तम ढंग से अपना पालन-पोषण करनेवाला, नियमित गति से अपने जीवन को चलानेवाला **अव्यथी**=कर्म से कभी परे न हटनेवाला, अनथक व्यक्ति **भरत्**=अपने को इष्ट वस्तुओं का पात्र बनाता ही है। उत्तम गतिवाले अनथक व्यक्ति की प्रार्थना पूरी होती ही है।

भावार्थ—हम उत्तम प्रार्थनाएँ तो करें ही, उन वस्तुओं के लिए पूर्ण पुरुषार्थ भी करें।

ऋषिः—कविर्भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

महान् महिमा

८३९. अधा हिन्वान इन्द्रियं ज्यायो महित्वमानशे। अभिष्टिकृद्विचर्षणिः॥ ४॥

हे जीव! '**दिवः रयिः**' ज्ञान का प्रकाश तो तुझे प्राप्त होता ही है। **अध**=अब **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति—बल को **हिन्वानः**=प्राप्त करता हुआ तू **ज्यायः महित्वम्**=उत्कृष्ट महत्त्व को **आनशे**=प्राप्त करता है। 'ब्रह्म' के साथ 'क्षत्र' के मिल जाने से सोने में सुगन्ध हो जाती है। **अभिष्टिकृत्**=इस ब्रह्म व क्षत्र के मेल से तू सब अभीष्टों को—सब मनोरथों को पूर्ण करनेवाला होता है। अथवा (अभिष्टि worship) तू सच्ची उपासना करनेवाला होता है तथा **विचर्षणिः**=तू विशिष्ट द्रष्टा—वस्तुओं को ठीक रूप में देखनेवाला होता है। ब्रह्म और क्षत्र का मेल ही ज्ञान और क्रिया का समन्वय है। अकेला ज्ञान पङ्गु है, अकेली क्रिया अन्धी। दोनों का सम्बन्ध मानव-जीवन को पङ्गुत्व व अन्धत्व से ऊपर उठाकर प्रकाशमय व क्रियाशील बनाता है, इसी से उसे महा महिमा प्राप्त होती है।

भावार्थ—हम ब्रह्म व क्षत्र का मेल करते हुए अपने जीवन को महत्त्वशाली बनाएँ।

ऋषिः—कविर्भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विश्व ज्योति का दर्शन—स्वर्गसुख-लाभ

८४०. विश्वस्मा इत्स्वर्दृशे साधारणं रजस्तुरम्। गोपामृतस्य विर्भरत्॥ ५॥

विविध योनियों में जाने के कारण जीव को यहाँ 'विः' कहा गया है (वेति इति विः)। यह **विः**=जीव **इत्**=निश्चय से **विश्वस्मै**=सम्पूर्ण **स्वः**=ज्ञानों—प्रकाशों को **दृशे**=देखने के लिए तथा **स्वः**=सब स्वर्गसुखों को **दृशे**=अनुभव करने के लिए (स्वः=Heaven; Radiance) उस प्रभु को

भरत्=अपने अन्दर धारण करे, जो १. **साधारणम्**=प्राणिमात्र में क्या भूतमात्र में समरूप से सर्वत्र रह रहे हैं। २. **रज-स्तुरम्**=सामान्यतः सब लोकों को गति देनेवाले हैं। (यो रजांसि लोकान् तुरति— द० ऋ० १.६४.१२, रज इति ज्योतिर्नाम—नि० ४.२.३९, तुरीयतीति गतिकर्मा) अथवा ज्योति प्राप्त करानेवाले हैं। ३. **ऋतस्य गोपाम्**=सब यज्ञों के तथा सृष्टि-नियम के रक्षक हैं।

भावार्थ—हम 'सम', 'रजस्तुर', नियमित जीवनवाले और यज्ञों के रक्षक बनें।

सूक्त-४

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

८४१. इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः। इन्दो रुचाभि गा इहि॥ १ ॥

५०५ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

८४२. पुनानो वरिवस्कृध्यूर्जं जनाय गिर्वणः। हरे सृजान आशिरम् ॥ २ ॥

१. हे प्रभो ! **पुनानः**=हमें पवित्र करते हुए आप **वरिवः**=ज्ञान-धन व मोक्षरूप धन **कृधि**=प्राप्त कराइए। जितना-जितना हमारा हृदय पवित्र होता जाएगा उतना-उतना ही वहाँ ज्ञान का प्रकाश होगा और हम मोक्ष-प्राप्ति के अधिकारी भी होंगे। २. हे **गिर्वणः**=वेदवाणियों के द्वारा उपासनीय प्रभो ! **जनाय**=अपने उपासकजन के लिए आप **ऊर्जं कृधि**=बल व प्राणशक्ति दीजिए। ३. **हरे**=हे सब पापों के हरनेवाले प्रभो ! आप हमें **आशिरम्**=शरण **सृजानः**=देनेवाले होओ। आपकी शरण में हम सब पापों से बचे रहेंगे। आशीः आश्रयणाद्वा—नि० ६.८, **आशृ**=पापों को विशीर्ण करनेवाली— प्रभु की शरण पापों को शीर्ण करती है।

भावार्थ—१. पवित्रता के द्वारा हम ज्ञान व मोक्ष-धन को प्राप्त करें, २. प्रभु की शरण में रहकर पापों से बचें।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

साधनत्रयी व साध्यत्रयी

८४३. पुनानो देववीतय इन्द्रस्य याहि निष्कृतम्। द्युतानो वाजिभिर्हितः ॥ ३ ॥

हे प्रभो! आप **पुनानः**=हमारे जीवन को पवित्र करते हुए, २. **देव-वीतये**=हमें दिव्य गुण प्राप्त कराने के लिए, ३. **इन्द्रस्य**=मुझ जितेन्द्रिय के **निष्कृतम्**=परिष्कृत हृदय में **याहि**=प्रप्त होओ। आप आते हैं और हमारा जीवन पवित्र हो जाता है—हम दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाले होते हैं। आपकी प्राप्ति होती उसी को है जो जितेन्द्रिय बनता है और अपने हृदय को शुद्ध बनाता है। ४. **द्युतानः**=ज्योति का विस्तार करते हुए आप ५. **वाजिभिः**=शक्तिशालियों द्वारा ही **हितः**=अपने भीतर स्थापित किये जाते हैं। प्रभु हमारे हृदयों में आते हैं तो चारों ओर ज्योति-ही-ज्योति फैल जाती है। हमारे हृदयों में अन्धकार नहीं रहता, परन्तु आप प्रकाशित उन्हीं के हृदयों में होते हैं, जो संयम के द्वारा अपने जीवन में शक्ति का पूरण करते हैं।

भावार्थ—हम अपने हृदय को पवित्र बनाएँ, जितेन्द्रिय बनें, शक्तिशाली बनें, जिससे हमारे हृदय में प्रभु का वास हो और हम पवित्र हो जाएँ, हम दिव्य गुणों को प्राप्त करें और हमारे जीवनों

में ज्योति का विस्तार हो।

नोट—इस मन्त्र में तीन साधन कहे गये हैं—जितेन्द्रियता, शुद्धता, शक्ति तथा तीन ही साध्य हैं—पवित्रता, दिव्य गुणों का लाभ, ज्योति का विस्तार।

सूक्त-५

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पाँच अग्नियाँ

८४४. अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा। हव्यवाड् जुह्वास्यः ॥ १ ॥

'मेधातिथि काण्व' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। कण-कण करके मेधा का संचय करने के कारण 'काण्व' है और निरन्तर 'मेधा' की ओर चलने से 'मेधातिथि' (अत् सातत्यगमने) है। इस मेधातिथि को ऐसा बनानेवाला 'अग्नि' है। **अग्निना**=अग्नि से ही **अग्निः**=अग्नि **समिध्यते**=समिद्ध की जाती है। वैदिक साहित्य में ये अग्नियाँ क्रमशः 'माता, पिता, आचार्य, अतिथि व परमात्मा' हैं। इन अग्नियों के द्वारा इस नये संसार में आनेवाले जीव में भी अग्नि का समिन्धन किया जाता है।

१. इस अग्नि के समिन्धन से यह **कविः**=क्रान्तदर्शी बनता है। संसार में प्रत्येक वस्तु के ठीक रूप को देखता है। वस्तुतत्त्व को जानने के कारण यह उनमें उलझता नहीं।

ब्रह्मचर्याश्रम में ज्ञान-अग्नि के समिन्धन से कवि बन चुकने पर अब २. '**गृह-पतिः**'=गृह का पति बनता है। वस्तुतः गृह-स्थाश्रम में घर की रक्षारूप कर्त्तव्य को पूर्णरूप से निभाने का यत्न करता है। ३. **युवा**=इन गृहस्थ की ज़िम्मेवारियों को निभाता हुआ यह युवा बनता है। युवा का अभिप्राय है घर को अच्छाई से युक्त व बुराई से रहित करने के लिए यत्नशील होता है। (यु=मिश्रण, अमिश्रण)।

४. **हव्यवाट्**=वानप्रस्थ में यह हव्य को धारण करनेवाला बनता है। '**य एक इत् हव्यश्चर्षणीनाम्**', इस मन्त्र में केवल प्रभु के ही 'हव्य' होने का उल्लेख है। वस्तुतः अन्त में प्रभु ही तो सबके हव्य हैं। यह वनस्थ सदा उस प्रभु का वहन करनेवाला बनता है। स्मृतियों में वानप्रस्थ के 'वृक्षमूल-निकेतनः' इस कर्त्तव्य का यही अर्थ है कि '**वृक्षो वेदः, तस्य मूलं प्रणवः, स निकेतनं यस्य**'=अर्थात् सदा प्रभु के 'ओम्' नाम का जप करनेवाला यह वानप्रस्थ 'हव्यवाट्' बनता है।

५. **जुह्वास्यः**=(जुहोति इति जुहु, जुहु आस्यं यस्य) स्वयं प्रभु का सतत स्मरण करनेवाला बनकर अब यह संन्यस्त होता है और इसका आस्य=मुख सदा जुहु=आहुति देनेवाला होता है, अर्थात् यह सदा प्रजारूप कुण्ड में ज्ञानरूप घृत की आहुति देता है। यह सुधारक सदा प्रजा को ज्ञान का उपदेश देनेवाला होता है।

भावार्थ—परमात्मारूप अग्नि से जीवरूप अग्नि समिद्ध होती है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

हविष्पति

८४५. यस्त्वामग्ने हविष्पतिर्दूतं देव सपर्यति। तस्य स्म प्राविता भव ॥ २ ॥

हे **अग्ने**=प्रकाश के पति प्रभो! हे **देव**=सब दिव्य गुणों के निधान! **यः**=जो **हविष्पतिः**=हवि का—दानपूर्वक अदन का पति स्वामी बनकर **दूतम्**=(द्रवति गच्छति) सर्वत्र व्याप्त व (दु शब्दे) सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले **त्वाम्**=आपको **सपर्यति**=पूजता है, **तस्य**=उसके आप

प्राविता=प्रकर्षेण रक्षक **भव स्म**=होते ही हैं।

प्रभु की रक्षा का पात्र बनने के लिए आवश्यक है कि हम 'हवि के पति' बनें। दानपूर्वक उपभोग करना सीखें। '**त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' प्रभु के इस उपदेश को न भूलें। हमें यह स्मरण रहे कि '**केवलाघो भवति केवलादी**' अकेला खानेवाला पाप खाता है। प्रभु का रक्ष्य वही बनता है जो 'हविष्पति' बनता है। प्रभु की अर्चना हवि के द्वारा ही तो होती है '**कस्मै देवाय हविषा विधेम**'=हम उस सुखस्वरूप देव की हवि के द्वारा अर्चना करते हैं।

वे प्रभु 'अग्नि' हैं—आगे ले-चलनेवाले हैं। 'दूत'=सर्वत्र व्याप्त होते हुए हृदयस्थरूपेण सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले हैं। देव=दिव्य गुणों के निधान हैं। प्रभु की रक्षा का प्रकार यही है कि वे हमें उन्नतिपथ पर चलने की प्रेरणा देते हैं—ज्ञान प्राप्त कराते हैं और हममें दिव्य गुणों का विकास करते हैं।

भावार्थ—हम त्याग द्वारा प्रभु की अर्चना करनेवाले बनें और प्रभु की रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

नैष्कर्म्य सिद्धि

८४६. यो अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति। तस्मै पावक मृडय॥ ३॥

यः=जो भी पुरुष **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **हविष्मान्**=हविर्मय जीवनवाला होकर **अग्निम्**=सबके संचालक प्रभु को **आविवासति**=पूजता है; हे **पावक**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **तस्मै**=उसके लिए **मृडय**=सुख-प्राप्त कराइए।

दिव्य गुणों की प्राप्ति का मार्ग एक ही है कि हम स्वार्थ से ऊपर उठकर हविर्मय जीवनवाले बनकर प्रभु की पूजा करें। वस्तुतः प्रभु की उपासना भी यही है कि हम भौतिक स्वार्थों से ऊपर उठकर लोकहित में प्रवृत्त हों। सच्चा प्रभुभक्त वही है जो 'सर्वभूतहिते रतः' है। प्रभु-भक्ति प्रभु की प्रजा का हित-साधन ही है। 'हविष्मान्' बनने से प्रभु की आराधना होती है, दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है, मानव-जीवन पवित्र हो उठता है। इस जीवन-पवित्रता का साधन भी यही हविष्मत्ता है। जीवन के पवित्र होने पर हम प्रभु की कृपा के पात्र बनते हैं और वास्तविक सुखलाभ करते हैं।

भावार्थ—हम हविष्मान् बनकर कर्म करें, इसी से प्रभु आराधित होंगे, दिव्य गुण प्राप्त होंगे, हमारे जीवन पवित्र होंगे, परिणामतः हमें प्रभुकृपा प्राप्त होगी।

सूक्त-६

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

घृताची धी

८४७. मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता॥ १॥

पूतदक्षम्=पवित्र बलवाले **मित्रम्**=प्राणवायु को **हुवे**=पुकारता हूँ, अर्थात् प्राणवायु को प्राप्त करने के लिए प्रभु की आराधना करता हूँ। यह प्राणवायु ही मेरे बल को पवित्र बनाती है। प्राण-साधना से शक्ति प्राप्त होती है और उसका प्रयोग नाश के लिए न होकर रक्षा के लिए होता है।

रिशादसम्=(रिश हिंसकतत्त्व, अद-खा जाना) हिंसकतत्त्वों के खा जानेवाले **वरुणं च**=अपान को भी मैं पुकारता हूँ। प्राणापान की साधना साथ-साथ ही तो चलती है। इस साहचर्य का ही

अन्यत्र 'मित्रावरुणौ' यह द्विवचन संकेत करता है। 'मित्र' बल का आधान करता है तो 'वरुण' दोषों का निवारण करता है। मित्र की व्युत्पत्ति है—'प्रमीतेः त्रायते' मृत्यु से बचाता है और वरुण की व्युत्पत्ति है—'वारयति'=दोषों का निवारण करता है। एवं, प्राणापान मिलकर दोषनिवारण तथा बलाधान का कार्य करते हुए **घृताचीं धियम्**=(घृ=नैर्मल्य व दीप्त, धी—प्रज्ञा व कर्म) निर्मल कर्मों को व दीप्तप्रज्ञा को **साधन्ता**=सिद्ध करते हैं। प्राणापानों की साधना से हमारे कर्म निर्मल होते हैं तथा बुद्धि तीव्र व दीप्त हो उठती है। एवं, प्राणसाधना का महत्त्व स्पष्ट है। इस प्रकार प्राणसाधना करनेवाला व्यक्ति ही राग-द्वेष से ऊपर उठकर 'वैश्वामित्र' होता है और सदा मधुर आकांक्षाओंवाला होने से यह 'मधुच्छन्दा' नामवाला हो जाता है।

भावार्थ—हम प्राणापान की साधना से निर्मल कर्मोंवाले व दीप्त प्रज्ञावाले हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अद्भुत शक्ति

८४८. ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। क्रतुं बृहन्तमाशाथे ॥ २ ॥

ऋतावृधा=(ऋत सत्यनाम, यज्ञनाम—नि० ४.१९) सत्य और यज्ञ के द्वारा बढ़नेवाले तथा **ऋतस्पृशा**=(ऋतं रेतः—नि० ३.४) शक्ति देनेवाले (स्पर्शनं प्रतिपादनं) **मित्रावरुणा**=प्राणापान **ऋतेन**=मन से (जै० उ० ३.३६.५) **बृहन्तं क्रतुम्**=विशाल यज्ञों को अथवा बहुत बड़ी शक्ति को (क्रतुम्=Power) **आशाथे**=व्याप्त करते हैं।

प्राणापान की वृद्धि के लिए यज्ञमय जीवन आवश्यक है। यज्ञमय जीवन सरल जीवन है, उसमें छल-छिद्र की पेचीदगियाँ नहीं हैं। कुटिलताएँ प्राणशक्ति की विघातक हैं। इसी प्रकार असत्य भी प्राणशक्ति का ह्रास करनेवाला है।

ये प्राणापान यज्ञ और सत्य से बढ़कर हमारी शक्ति को बढ़ानेवाले हैं। प्राणापान की साधना ही वीर्य की ऊर्ध्वगति का कारण बनती है और शरीर में सुरक्षित ऋत=रेतस् (वीर्य) मनुष्य को अनन्त शक्ति प्राप्त कराता है। प्राणापान की साधना से मन की निर्मलता भी सिद्ध होती है और यह निर्मल मन सदा यज्ञात्मक कर्मों में लगा रहता है।

भावार्थ—प्राणापान सत्य व यज्ञों से बढ़ते हैं। हमारे जीवनों को ये शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सर्वांगीण विकास

८४९. कवी नो मित्रारुणा तुविजाता उरुक्षया। दक्षं दधाते अपसम् ॥ ३ ॥

मित्रावरुणा=प्राण और अपान **नः**=हममें **अपसम्**=क्रियाशील **दक्षम्**=बल को **दधाते**=धारण करते हैं। इन प्राणापान की साधना से हममें उस बल का विकास होता है, जिससे हम सदा क्रियाशील बने रहते हैं। हम थककर लेट नहीं जाते। दसवें दशक में पहुँचकर भी हमारी क्रियाशीलता में अन्तर नहीं आता। ये प्राणापान कैसे हैं—

कवी=ये क्रान्तदर्शी हैं। ये अपने साधक को इतना सूक्ष्म बुद्धिवाला बनाते हैं कि वस्तुओं की गहराई तक जाकर यह वस्तुतत्त्व को समझनेवाला होता है। **तुवीजाता**=(तुवी=बहुत, जातः=विकास) ये हमारे जीवन का महान् विकास करनेवाले होते हैं। वस्तुतः शरीर का स्वास्थ्य इन्हीं पर निर्भर

करता है—ये ही चित्त की अशुद्धि का क्षय करनेवाले होते हैं तथा इन्हीं से ज्ञान की दीप्ति प्राप्त होती है।

उरुक्षया=(उरौ क्षयो याभ्याम्) इनके द्वारा हमारा अनन्त, विस्तृत (उरु) परमात्मा में निवास होता है। बुद्धि को सूक्ष्म करके ये प्राणापान हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाते हैं। इनके द्वारा हृदयस्थ वासनाओं का नाश होता है और वह वासनाशून्य हृदय प्रभु के निवास के योग्य होता है।

भावार्थ—प्राणापान से बुद्धि तीव्र होती है, सर्वांगीण विकास होता है और अन्त में हमारा प्रभु में निवास होता है।

सूक्त-७

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—मरुत इन्द्रश्च॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

समान तेजवाले

८५०. इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा। मन्दू समानवर्चसा॥ १॥

गत मन्त्र की प्राणापान-साधना से जब जीव **इन्द्रेण**=उस परमैश्वर्यशाली परमात्मा से, जो **अबिभ्युषा**=किसी भी प्रकार के भय से रहित हैं, **हि**=निश्चय से **संजग्मानः**=मेल करता हुआ **संदृक्षसे**=दिखाई देता है तब हे जीव! तू और यह प्रभु दोनों **मन्दू**=आनन्दस्वरूप दिखते हो तथा **समानवर्चसा**=समान शक्तिवाले हो जाते हो।

योग-साधना से जब जीव का प्रभु से योग होता है तब वह सब भय और शोक को तैर जाता है '**तरति शोकमात्मवित्**'। प्रभु भीतिरहित हैं—प्रभु के सम्पर्क में जीव का जीवन भी भीतिरहित हो जाता है। उस समय यह एक आनन्द-रस का अनुभव करता है, क्योंकि प्रभु तो हैं ही रस। एवं, ये दोनों चेतनतत्त्व 'मन्दू' आनन्दित होनेवाले हो जाते हैं। ये 'समानवर्चसा' तुल्य तेजवाले हो जाते हैं—अग्नि में पड़ा लोहा भी तो अग्नि ही हो जाता है। 'मैं प्रभु-जैसा ही तेजस्वी हो जाऊँ', ऐसी सर्वोत्तम इच्छा करनेवाला यह 'मधुच्छन्दा' है। राग-द्वेषातीत हो सभी के साथ प्रेमपूर्वक चलने से यह 'वैश्वामित्र' है।

भावार्थ—प्रभु-उपासक प्रभु के साथ निवासरूप सायुज्य मुक्ति प्राप्त करके प्रभु-जैसा ही आनन्दित व तेजस्वी बन जाता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—मरुत इन्द्रश्च॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पुनर्गर्भत्व से ऊपर, चक्र से मुक्ति

८५१. आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम्॥ २॥

गत मन्त्र में प्रभु से मेल करने की भावना थी। यह मेल ही स्व=आत्मा का, धा=धारण है, इसी का नाम प्रस्तुत मन्त्र में 'स्वधा' है। **आत्-स्वधाम्+अनु**=आत्म-धारण के एकदम पश्चात् **अह**=निश्चय से **यज्ञियम्**=उपासना के योग्य **नाम**=उस प्रभु के नाम को **दधानः**=धारण करते हुए ये 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्र' **पुनर्गर्भत्वम्**=दुबारा जन्म में आने की स्थिति को **एरिरे**=अपने से कम्पित कर दूर कर देते हैं।

मनुष्य को प्रयत्न करके प्रभु को अपने हृदय में प्रतिष्ठित करना चाहिए। तत्पश्चात् सदा उसके उपास्य नामों का स्मरण करते रहना चाहिए, जिससे एक बार बनी हुई वह प्रभु के धारण की स्थिति

नष्ट न हो जाए।

जन्म-मरण के चक्र से छूटने का क्रम यह है कि मनुष्य अपने में 'स्व'='आत्मा' का धारण करे, इसके लिए योग-मार्ग पर चलता हुआ साधना को परिपक्व करे। जब एक बार वह 'स्व' को धारण करने में समर्थ हो जाए तब वह सदा प्रभु के यज्ञिय नामों का स्मरण करनेवाला बने। सदा तद्भावभावित रहेगा तो अन्त में भी प्रभु का स्मरण करेगा और प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनेगा। दूसरे शब्दों में 'पुनर्जन्म' से ऊपर उठ जाएगा।

भावार्थ—हम प्रभु को अपने में धारण करें, प्रभु के नाम का स्मरण करें, जिससे जन्म-मरणचक्र से मुक्त हो सकें।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—मरुत इन्द्रश्च ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मोक्ष का लाभ

८५२. वीडु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः। अविन्द उस्रिया अनु ॥ ३ ॥

'वासना' मनुष्य के मन में छिपकर निवास करती है। वास्तव में तो इसका नाम ही 'मनसिज' (मन में पैदा होनेवाली) हो गया है। यह वासना प्रबल है—इसका नाम प्रमथ=कुचल डालनेवाली, प्रद्युम्न=प्रकृष्ट बलवाली है।

गुहाचित्=हृदयरूप गुहा में निवास करनेवाली तथा **वीडुचित्**=अत्यन्त प्रबल इस वासना को **आरुजत्नुभिः**=सर्वथा भग्न—पराजित करानेवाली **वह्निभिः**=प्रभु को प्राप्त करनेवाली (वह=प्रापण), ज्ञानाग्नियों से **इन्द्र**=शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करनेवाले जीव! तू **उस्रियाः अनु**=इन ज्ञान-रश्मियों को प्राप्त करने के पश्चात् **अविन्दः**=प्रभु को प्राप्त करता है और मोक्ष का सुलाभ करता है।

मोक्षलाभ का क्रम यह है कि हम १. वासनाओं का विजय करें, २. वासनाओं का विजय ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा होगा और वासना-क्षय से ज्ञान का प्रकाश प्रभु-दर्शन का कारण बनेगा।

भावार्थ—वासनाएँ शरीर में सब तोड़-फोड़ का कारण बनती हैं। ये अत्यन्त प्रबल हैं। ये ज्ञान की तलवार से ही समाप्त की जा सकती हैं।

सूक्त-८

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शक्ति व प्रकाश

८५३. ता हुवे ययोरिदं पप्ने विश्वं पुरा कृतम्। इन्द्राग्नी न मर्धतः ॥ १ ॥

प्रस्तुत तृच का देवता 'इन्द्राग्नी' है। 'इन्द्र' यदि बल की अधिष्ठात्री देवता है तो 'अग्नि' प्रकाश की। बल को अपने अन्दर धारण करनेवाला 'भरद्वाज' है और प्रकाश को प्राप्त करनेवाला 'बार्हस्पत्यः' है। यही 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इस तृच का ऋषि है। देवता को अपने में अनूदित करनेवाला उसका साक्षात्कार करनेवाला ही ऋषि है। यह कहता है कि मैं **ता**=उन इन्द्राग्नी को ही पुकारता हूँ, **ययोः**=जिनका **पुरा**=पहले **कृतम्**=किया हुआ **इदं विश्वम्**=यह सब-कुछ **पप्ने**=स्तुति किया जाता है। प्रभु ने इस सृष्टि का निर्माण शक्ति व प्रकाश से किया और, क्योंकि प्रभु की शक्ति व प्रकाश ज्ञानपूर्ण हैं, संसार भी पूर्णता को लिये हुए है। हमारे कार्य भी जितना-जितना शक्ति व ज्ञानपूर्वक किये जाएँगे उतने-उतने ही वे पूर्ण होंगे।

ये **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश **न मर्धतः**=मुझे हिंसित नहीं होने देते (मृध्=murder)। शक्ति के कारण यदि मेरा शरीर रोगादि से आक्रान्त नहीं होता, तो प्रकाश के कारण मेरा मन वासनाओं से दूषित नहीं हो पाता। इस प्रकार ये दोनों तत्त्व मुझे हिंसित होने से बचाते हैं।

भावार्थ—मैं इन्द्र और अग्नितत्त्वों का विकास करके अपने जीवन को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सुखमय जीवन

८५४. उग्रा विघनिना मृध इन्द्राग्नी हवामहे। ता नो मृडात ईदृशे॥ २॥

हम इस संसार-संग्राम में—अपने जीवन के संघर्षों में **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश की देवताओं को **हवामहे**=पुकारते हैं। ये दोनों देवता **उग्रा**=अत्यन्त उदात्त (noble) हैं। वस्तुतः जीव का सारा उत्कर्ष इन्हीं पर निर्भर है। ये इन्द्राग्नी **मृधः**=हिंसकतत्त्वों के **विघनिना**=नष्ट करनेवाले हैं। भूतों में घर बनानेवाले रोगकृमि शक्ति से नष्ट किये जाते हैं तो मन में विकसित होनेवाले वासनाबीज ज्ञानाग्नि से भस्म कर दिये जाते हैं।

ता=वे इन्द्र और अग्नि **ईदृशे**=ऐसे रोगों व वासनाओं से भरे संसार में इन रोगों तथा विकारों के हिंसन द्वारा **नः**=हमें **मृडातः**=सुखी करें। हमारा जीवन इन दो तत्त्वों का उपासक बने। हम नीरोग व निर्विकार होकर सुखी हो सकें।

भावार्थ—शक्ति व प्रकाश ही हमारे जीवनों को सुखी बनाते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

लोकत्रय-दीप्ति

८५५. हथो वृत्राण्यार्या हथो दासानि सत्पती। हथो विश्वा अप द्विषः॥ ३॥

इन्द्र और अग्नि आर्य हैं। शक्ति और प्रकाश के तत्त्व हमारे जीवन को आर्य बनाते हैं। **आर्या**=हे हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनानेवाले इन्द्राग्नी! आप **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **हथः**=नष्ट करते हो। इन आवरणों के विनाश से हमारी ज्ञानाग्नि चमक उठती है।

ये इन्द्राग्नी सत्पती हैं—सत्य का पालन करनेवालों के रक्षक हैं। जीवन को सूर्य-चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से ले-चलना ही 'सत्' बनना है। ये इन्द्राग्नी, जोकि **सत्पती**=सत्पुरुषों के रक्षक हैं, ये **दासानि**=(दसु उपक्षये) क्षय के कारणभूत रोगकृमियों को **हथः**=नष्ट करते हैं। रोगकृमियों के विनाश से हमारे शरीर सुन्दर बनते हैं।

ये इन्द्राग्नी जहाँ ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को नष्ट कर मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाते हैं और रोगकृमियों को नष्ट करके शरीर को नीरोग करते हैं, वहाँ मन से भी **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **अपहथः**=सुदूर भगा देते हैं। शरीर का मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान से जगमगा उठता है, स्थूल शरीररूप पृथिवीलोक स्वास्थ्य की दृढ़ता से चमकने लगता है, तो मनरूप अन्तरिक्ष पवित्रता से प्रसन्न हो उठता है। एवं, ये इन्द्राग्नी त्रिलोकी को ही उज्ज्वल कर देते हैं।

भावार्थ—इन्द्राग्नी के विकास से हमारी त्रिलोकी उज्ज्वल बन जाए।

सूक्त-९

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

योग-मार्ग

८५६. **अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम् ।**
समुद्रस्याधि विष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः ॥ १ ॥

५१८ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है ।

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

८५७. **तरत्समुद्रं पवमान ऊर्मिणा राजा देव ऋतं बृहत् ।**
अर्षा मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र हिन्वान ऋतं बृहत् ॥ २ ॥

पवमानः=अपने जीवन को पवित्र बनाता हुआ व्यक्ति **ऊर्मिणा**=शरीर में वीर्य की अर्ध्वगति के द्वारा (ऊर्मि=current) **समुद्रम्**=(कमो हि समुद्रः) काम को **तरत्**=तर जाता है । वस्तुतः जब मनुष्य वीर्य की ऊर्ध्वगति का निश्चय कर लेता है, तभी वासना को जीत पाता है । इसका परिणाम यह होता है कि यह **राजा**=बड़े नियमित व दीप्त जीवनवाला बनता है (राजृ=regulate, दीप्त) **देवः**=इसमें दिव्य गुण उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं । **बृहत् ऋतम्**=उस महान् सत्यस्वरूप प्रभु को **अर्ष**=यह प्राप्त करता है । संसार में सारा उत्थान काम के विजय पर ही आश्रित है । इसका विजय कर लिया तो उत्थान है—इससे हम जीते गये तो पतन । इसको जीतकर हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं ।

मित्रस्य वरुणस्य=प्राणापान के **धर्मणा**=धारण के द्वारा **प्र हिन्वानः**=शक्ति को प्रकर्षेण ऊर्ध्वप्रेरित करता हुआ साधक **बृहत् ऋतम्**=उस अनन्त सत्य प्रभु को **अर्ष**=पाता है । मन काम का सर्वप्रधान अधिष्ठान है । प्राणापान से मनोनिरोध होता है । इसके निरुद्ध हो जाने पर काम निरुद्ध हो जाता है । काम को वशीभूत कर लेनेवाला व्यक्ति स्वास्थ्य व ज्ञान की दीप्ति से तो चमकता ही है (राजा), उसमें दिव्य गुणों का निवास होता है (देव) । इस प्रकार शरीर को स्वस्थ, मन को निर्मल तथा मस्तिष्क को दीप्त बनाकर वह व्यक्ति '**बृहत् ऋतम्**' प्रभु को पाने का अधिकारी बन जाता है । इस सारे मार्ग का मूल 'प्राणापान की साधना' है—यही प्राणायाम है और वास्तव में योग का एकदेश होते हुए भी यही 'योगमार्ग' है ।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से हम काम को जीतें, उससे हम स्वास्थ्य व ज्ञान से चमकेंगे । हममें दिव्य गुण होंगे और देव बनकर हम उस महादेव के अत्यन्त समीप हो जाएँगे ।

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—द्विपदाविराट् ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उत्तम शिक्षा

८५८. **नृभिर्येमाणो हर्यतो विचक्षणो राजा देवः समुद्र्यः ॥ ३ ॥**

मनुष्य अपने जीवन में बहुत-कुछ वैसा ही बन जाता है जैसा शिक्षक उसे बनाते हैं । '**मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद**'=उत्तम माता-पिता व आचार्यवाला पुरुष ही ज्ञानी बनता है । प्रस्तुत मन्त्र में कहा है—**नृभिः**=(नृ नये) नेतृत्व करनेवाले—जीवन-मार्ग में आगे और आगे ले-

चलनेवाले माता-पिता व आचार्यों से **येमाण:**=नियमित जीवनवाला बनाया जाता हुआ—१. **हर्यत:**=(हर्य गतिकान्त्यो:) यह गतिशील होता है और इसकी गति में कान्ति होती है, (कान्ति इच्छा) यह लक्ष्यस्थान को प्राप्त करने की इच्छा से गतिशील होता है। २. **विचक्षण:**=यह विशेषरूप से प्रत्येक पदार्थ को देखनेवाला होता है, इसके जीवन का एक विशिष्ट दृष्टिकोण बन जाता है। ३. **राजा**=यह नियमित गतिवाला तथा स्वास्थ्य व ज्ञान की दीप्तिवाला बनता है। ४. **देव:**=यह दिव्य गुणों को अपने अन्दर बढ़ाता हुआ 'देव' बनता है। ५. **समुद्र्य:**='कामो हि समुद्र:'=इस वाक्य से समुद्र काम है, यह उसमें उत्तम होता है। काम में उत्तम होने का अभिप्राय 'नियन्त्रित कामवाला होना' है।

भावार्थ—जीवन की उन्नति उत्तम शिक्षकों पर ही निर्भर होती है।

सूक्त-१०

ऋषि:—पराशर:॥ देवता—पवमान: सोम:॥ छन्द:—त्रिष्टुप्॥ स्वर:—धैवत:॥

८५९. तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः॥ १॥

५२५ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषि:—पराशर:॥ देवता—पवमान: सोम:॥ छन्द:—त्रिष्टुप्॥ स्वर:—धैवत:॥

सोम-प्राप्ति

८६०. सोमं गावो धेनवो वावशानाः सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः।
सोमः सुत ऋच्यते पूयमानः सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः सं नवन्ते॥ २॥

सोमम्='उमा=ज्ञान' से सहित परमात्मा को **संनवन्ते**=प्राप्त होते हैं। कौन? १. **गाव:**=(स्तोतार:—नि० ३.१६.७) स्तोता लोग, उस प्रभु का स्तवन करनेवाले, २. **धेनव:**=(धेट् पाने) सोम का पान करनेवाले। जो व्यक्ति शरीर में उत्पन्न होनेवाली सोमशक्ति को अपने ही अन्दर पीने का प्रयत्न करते हैं, ३. **वावशाना:**=(वश् कान्तौ) जिन्हें प्रभु-प्राप्ति की तीव्र इच्छा होती है, ४. **सोमम्**=मननशील ज्ञानियों के साथ **पृच्छमाना:**=जिज्ञासा करते हुए **संनवन्ते**=प्राप्त होते हैं।

सोम:=वह सोम परमात्मा 'स्तुति, सोमपान, प्रबल कामना तथा विद्वानों' के साथ चर्चा द्वारा **सुत:**=हृदय में प्रकाशित हुआ-हुआ **पूयमान:**=हमारे जीवनों को अधिकाधिक पवित्र करता हुआ **ऋच्यते**=स्तुति किया जाता है। स्तुति से हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं और उसके समीप पहुँचने पर जब हम उसका कुछ दर्शन कर पाते हैं, तब हम स्वभावत: उसका स्तवन कर उठते हैं। यहाँ कर्मवाच्य Passive voice में प्रयुक्त किया जाता हुआ ऋच्यते यह संकेत करता है पहले तो हम स्तुति करते हैं, परन्तु पीछे स्तुति स्वत: होने लगती है—स्तुति स्वाभाविक-सी हो जाती है। **त्रिष्टुभ:**=तीनों कालों में (बाल्य, यौवन व वार्धक्य में) स्तवन करनेवाले स्तोता के अथवा प्रभु-दर्शन से 'तीनों काम, क्रोध व लोभ' को (स्तुभ् Stop) समाप्त कर देनेवाले स्तोता के **अर्का:**=स्तुति के साधनभूत मन्त्र (अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति—नि० ५.४) **सोमे**=उस शान्त प्रभु में **संनवन्ते**=संगत होते हैं, अर्थात् यह सदा मन्त्रों के द्वारा उस प्रभु का स्तवन करता है। इसका जीवन ही स्तवनमय हो जाता है।

भावार्थ—हम स्तुति, सोमपान, तीव्रभावना तथा जिज्ञासा के द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—पराशरः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोम का आसेचन

८६१. एवा नः सोम परिषिच्यमान आ पवस्व पूयमानः स्वस्ति ।
इन्द्रमा विश बृहता मदेन वर्धया वाचं जनया पुरन्धिम् ॥ ३ ॥

गत मन्त्र में प्रभु को हृदय में देखने का संकेत था। स्तुति आदि के द्वारा वह हृदय देश में **सुतः**=आविर्भूत होता है। इन साधनों से हम अपने हृदय में प्रभु के प्रकाश को अधिकाधिक देखनेवाले बनते हैं। हमारा हृदय प्रभु-भावना से सिक्त-सा हो जाता है। प्रस्तुत मन्त्र कहता है कि **एवा**=इस प्रकार, अर्थात् गत मन्त्र में उल्लिखित साधनों के द्वारा हे **सोम**=परमात्मन्! **परिषिच्यमानः**=हमारे हृदयों में सिक्त होते हुए आप **नः**=हमें **आपवस्व**=प्राप्त होओ तथा **पूयमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करते हुए आप **स्वस्ति**=हमारा कल्याण सिद्ध करो।

हे परमात्मन्! आप **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता मुझ जीव में **बृहता मदेन**=वृद्धि के कारणभूत उल्लास के साथ **आविश**=प्रविष्ट हों। जो भी व्यक्ति जितेन्द्रिय बनता है उसी के हृदयाकाश में प्रभुरूप सूर्य चमकते हैं और उस उपासक का जीवन एक विशेष उल्लास से युक्त हो जाता है।

हे प्रभो! आप हृदयस्थरूपेण हमारे अन्दर **वाचम्**=इस वेदवाणी को **वर्धय**=बढ़ाइए। हम वेदवाणी का ज्ञान प्राप्त करें और इस प्रकार आप मुझे **पुरन्धिम्**=बहुत बुद्धिवाला अथवा पालक व पूरक बुद्धि-वाला **जनय**=बनाइए। मुझमें शनैः-शनैः बुद्धि का विकास हो और मैं 'पुरन्धि'=बहु-बुद्धि बन जाऊँ। मैं अपने बुद्धिजन्य ज्ञान को लोक के पूरण व पालन में साधन बनाऊँ। मेरा ज्ञान सूपयुक्त होकर लोकमङ्गल के लिए हो। ज्ञान के द्वारा वासनाओं व दुःखों को सुदूर विनष्ट करनेवाला मैं 'पराशर' बनूँ तथा वासना-विनाश से शक्ति का पुञ्ज शाक्त्य होऊँ। 'पराशर शाक्त्य' ही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—प्रभु-भावना का आसेचन मुझे पवित्र, उल्लासमय, वेदवाणी के ज्ञानवाला तथा पुरन्धि बनाता है।

सूक्त-११

ऋषिः—पुरुहन्मा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

८६२. यद् द्याव इन्द्र ते शतंशतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ १ ॥

२७८ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—आङ्गिरसः पुरुहन्मा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

गोमान् व्रज

८६३. आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन् विश्वा शविष्ठ शवसा ।
अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः ॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'पुरुहन्मा'=अपने पालन व पूरण के लिए सदा प्रभु की ओर गति करनेवाला

'आङ्गिरस'=अङ्ग-अङ्ग में रसवाला निम्न शब्दों में प्रभु का स्तवन करता है—

१. हे **वृषन्**=सब इष्ट मनोरथों की वर्षा करनेवाले प्रभो! आप **वृष्ण्या**=सब मनोरथों के पूरक **महिना**=महान्, **शवसा**=बल से **विश्वा**=सब लोकों को **आपप्राथ**=व्याप्त किये हुए हैं। २. हे **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिशालिन्! **मघवन्**=सर्वैश्वर्यसम्पन्न! **वज्रिन्**=(वज्रः कस्मात् वर्जयतीति सतः—नि० ३.११) सब पापों के निवर्तक प्रभो! **अस्मान्**=हमें **चित्राभिः ऊतिभिः**=अपनी विलक्षण रक्षाओं से **गोमति**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाली **व्रजे**=(व्रज गतौ) कर्मभूमि में **अव**=सुरक्षित कीजिए, अर्थात् आपकी कृपा से हम सदा अपनी इन्द्रियों को सुरक्षित रखने के लिए उत्तम कर्मों में व्यापृत रहें। ३. प्रभु की सर्वव्यापकता का चिन्तन करें, उस अनन्त शक्तिवाले प्रभु के रक्षण में विश्वास करें। उस प्रभु का सदा 'शविष्ठ, मघवन्, वज्रिन्'=अनन्त शक्ति-सम्पन्न, सवैश्वर्यवान् तथा पापनिवर्तक के रूप में स्मरण करें।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता को न भूलते हुए, उत्तम कर्मों में व्यापृत रहकर हम पापों को अपने से दूर रक्खें।

सूक्त-१२

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

८६४. **वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।**
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥ १ ॥

२६१ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

प्रबल प्यास

८६५. **स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः।**
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः ॥ २ ॥

हे **वसो**=उत्तम निवास देनेवाले प्रभो! **उक्थिनः**=स्तवन करनेवाले, **नरः**=अपने को आगे और आगे ले-चलनेवाले मनुष्य **सुते**=इस उत्पन्न संसार में **निरेके**=वासनाओं को दूर फेंकने के निमित्त **त्वा**=आपको **स्वरन्ति**=स्तुत करते हैं—ऊँचे स्वर में आपके गुणों का गायन करते हैं। इस विविध ऐश्वर्यों से भरे संसार में (सुते) प्रलोभनों—वासनाओं से बचे रहने का सर्वोत्तम उपाय सर्वत्र वसनेवाले (वसु) प्रभु का स्मरण ही है।

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **कदा**=कब **तृषाणः**=आपकी प्राप्ति के लिए प्यासा **ओकः**=(उच समवाये) अपने में प्रशस्त कर्मों का समवाय करनेवाला बनकर—अर्थात् सदा उत्तम कर्मों में लगा हुआ **स्वब्दी इव**=उत्तम आयुष्य के वर्षोंवाला, अर्थात् एक-एक वर्ष को उत्तम कार्यों में लगाकर उत्तम बनकर—शतक्रतु-सा होकर **वंसगः**=सदा वहनीय (वंस) प्रभु की शरण में आनेवाला **सुतम्**=हृदय में आर्विभूत हुए-हुए आपको **आगमत्**=प्राप्त होता है। प्रभु को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि १. हमें प्रभु-प्राप्ति की प्रबल प्यास हो (तृषाणः), २. हम निरन्तर अपने में उत्तम कर्मों का समवाय करें (ओकः), ३. हमारे जीवन का एक-एक वर्ष शुभ कार्यों में लगकर शुभ हो

(स्वब्दी), ४. सदा प्रभु के उपासक बनें (वंस-गः)।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन ही वासनाओं को दूर भगाएगा। प्रबल कामना ही हमें प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रेरित करेगी। यह स्तोता ही मेध्य प्रभु की ओर जानेवाला 'मेध्यातिथि' बनता है।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

वासना-विनाश अथवा विकसित मुख-मुद्रा

८६६. कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद्वाजं दर्षि सहस्त्रिणम्।
पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे॥ ३॥

धृष्णो=अपनी उपस्थिति से हमारी सब वासनाओं का धर्षण करनेवाले प्रभो! **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न अथवा (मघ=मख) यज्ञरूप प्रभो! हे **विचर्षणे**=विशेष द्रष्टः प्रभो! आप **कण्वेभिः**=मेधावी पुरुषों के द्वारा **मक्षू**=शीघ्र ही हमें **वाजम्**=उस ज्ञानरूप शक्ति को **दर्षि**=देते हैं जो १. **आधृषत्**=हमारे जीवनों में वासनाओं का समन्तात् धर्षण करती है और **सहस्त्रिणम्**=हमें सदा विकसित मुख-मुद्रा से (हस्र—विकास, स=सहित) युक्त करती है। ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करके ज्ञान के दो परिणामों को हम अपने जीवनों में अनुभव करते हैं, एक तो यह कि हम अपने passions का—उत्तेजनाओं का धर्षण कर पाते हैं और दूसरी यह कि यह हमें सुख-दुःखमय इस संसार में निर्लेपभाव से रहने के योग्य, अतएव सदा विकसित मुख-मुद्रामय जीवनवाला बनाता है। हे प्रभो! हम तो आपसे इसी **गोमन्तम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाले (गावः इन्द्रियाणि) उत्तम वेदवाणियोंवाले (गावः वेदवाचः) उत्तम ज्ञानरश्मियोंवाले (गावः=रश्मयः) **पिशंगरूपम्**=(पिश अवयवे, पिश=पीस डालना) वासनाओं को चूर्णीभूत कर डालनेवाले ज्ञान को ही **ईमहे**=माँगते हैं। इसी ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की कृपा से प्रभुनिष्ठ, ज्ञान-कणों के संग्रहीता आचार्यों से ज्ञान-कणों का संग्रह करके हम भी वासना-विनाश के द्वारा 'मेध्यातिथि काण्व' बनें।

सूक्त-१३

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती)॥ स्वरः—मध्यमः॥

८६७. तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा।
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्रुवम्॥ १॥

२३८ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)॥ स्वरः—पञ्चमः॥

दान का श्रेयस्त्व

८६८. न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते न स्त्रेधन्तं रयिर्नशत्।
सुशक्तिरिन् मघवन् तुभ्यं मावते देष्णं यत्पार्ये दिवि॥ २॥

प्रभु कहते हैं हे जीव! यदि तुझे सचमुच प्राणापानों की साधना करते हुए उत्तम निवासवाला

जीवन बनाना है, तों तू इस धन से प्रतारित (ठगा) मत हो जाना। यह तुझे धन्य तो बनाएगा, परन्तु कब ? जब तू इसका दान करनेवाला बनेगा। इससे संसार में भी तुझे यश मिलेगा और तू उस ज्ञान में स्थित होगा जो तुझे भवसागर से पार करनेवाला होगा। देख—

द्रविणोदेषु=इस द्रविण (धन) को देनेवालों की **दुष्टुतिः**=निन्दा **न शस्यते**=नहीं कही जाती। यह द्रविण तो द्रविण=भाग जानेवाला (दु-गतौ) ही है। इसे लोहे की पिटारियों में बन्द करने पर भी स्थिर होकर तो रहना ही नहीं। **इसे तेरा साथी नहीं बनना।** न देनेवाले कृपण की निन्दा होती है। उसके लिए कंजूस-मक्खीचूस आदि शब्दों का प्रयोग होता है, इसके विपरीत दान देनेवाले की कभी निन्दा नहीं होती, उसकी सदा प्रशंसा-ही-प्रशंसा होती है। २. जो दान नहीं देता और अपने पास ही इस धन को रोकने का प्रयत्न करता है, वह वास्तव में औरों की हिंसा करता है। इस **स्रेधन्तम्**=दूसरों की हिंसा करनेवाले को **रयिः**=धन **न**=नहीं **नशत्**=प्राप्त होता है। जब मनुष्य औरों को न देकर स्वयं ही मौज मारने लगता है तब प्रभु इसे धन नहीं देंगे। औरों की हिंसा करनेवाले को धन नहीं मिलता। ३. प्रभु देने के लिए प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे **मघवन्**=धनवाले! **मा-वते तुभ्यम्**=धनवाले तेरे लिए **इत्**=निश्चय से यह **देष्णम्**=दान **सुशक्तिः**=उत्तम शक्ति देनेवाला होगा। रखा हुआ धन मनुष्य को निधन (मृत्यु) की ओर ले-जाता है। दिया हुआ धन ही मनुष्य की शक्ति व जीवन का कारण बनता है। इस प्रकार हमारा इहलौकिक जीवन तो 'स्वस्थ, सबल व सुन्दर' बनता ही है, परन्तु साथ ही ४. **यत् देष्णम्**=जो यह दान है, वह तुझे **दिवि**=उस ज्ञान के प्रकाश में स्थापित करता है जोकि **पार्ये**=तुझे भवसागर से पार लगाने का उत्तम साधन है। दान मनुष्य के बन्धनों का खण्डन (दाप् लवने) करता है और उसे सचमुच संसार से पार होने के क्षम बनाता है।

भावार्थ—दान से १. प्रशंसा प्राप्त होती है, २. न देनेवाले को धन नहीं मिलता, ३. दान मनुष्य की शक्ति को बढ़ाता है और यह ४. मनुष्य को वह ज्ञान प्राप्त कराता है, जो उसे भवसागर से पार करता है।

सूक्त-१४

ऋषिः—त्रितः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

८६९. तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः। हरिरेति कनिक्रदत्॥ १॥

४७१ संख्या पर इस मन्त्र का व्याख्यान द्रष्टव्य है।

ऋषिः—त्रितः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सत्य की निर्मात्री वेदवाणियाँ

८७०. अभि ब्रह्मीरनूषत यह्वीर्ऋतस्य मातरः। मर्जयन्तीर्दिवः शिशुम्॥ २॥

गत मन्त्र में वर्णित '**तिस्रो वाचः**'=ऋग्यजुसामरूप तीन प्रकार की वेदवाणियाँ **दिवः**=ज्ञान के **शिशुम्**=तीव्र करनेवाले (शो तनूकरणे), ज्ञान-दीप्ति प्राप्त करानेवाले अथवा ज्ञान से हृदय में प्रकाशित होने के कारण ज्ञान के पुञ्जरूप उस प्रभु को **अभ्यनूषत**=स्तुत करती हैं। '**सर्वे वदा यत् पदमामनन्ति**' इस वाक्य के अनुसार सब वेदवाणियों का अन्तिम तात्पर्य उस प्रभु में ही है। ये वाणियाँ—१. **ब्रह्मीः**=ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाली, ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली हैं, २. **यह्वीः**=(महत्यः) ये वेदवाणियाँ महान् हैं, अर्थगौरव के कारण अत्यधिक महिमावाली हैं। सम्पूर्ण विद्याओं के बीज इनमें निहित हैं, अतः इनकी महत्ता तो सुव्यक्त ही है। ३. **ऋतस्य मातरः**=ये सत्यज्ञान की माताएँ हैं। सम्पूर्ण

सत्यविद्याओं को जन्म देनेवाली हैं। सब विद्याओं के बीज इसमें निहित हैं, वे ही बीज वृक्षरूप से अंकुरित व विकसित होकर हमें प्रभु-प्राप्तिरूप महान् फल को प्राप्त कराते हैं। इस लोक में भी 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' इसके फल हैं। ये फल भी सत्य हैं, परन्तु इसका अन्तिम फल प्रभु-प्राप्ति तो सत्य का भी सत्य है, अतः वेदवाणियाँ सत्य की निर्मात्री हैं। ४. **मर्जयन्तीः**=ये हमारे जीवनों को परिमार्जित—शुद्ध करनेवाली हैं। उस प्रभु के प्रकाश में वासनाओं की मलिनता का सम्भव ही कैसे हो सकता है?

भावार्थ—वेदवाणियाँ हमें पवित्र जीवनवाला बनाकर प्रभु का दर्शन करनेवाली हैं।

ऋषिः—त्रितः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान की चार निधियाँ व ज्ञान के चार समुद्र

८७१. रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः। आ पवस्व सहस्रिणः॥ ३॥

हे **सोम**='उमा', अर्थात् ज्ञान से समवेत परमात्मन्! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **विश्वतः**=सब ओर से **आपवस्व**=प्राप्त कराइए। किसे? वेदज्ञान को जो—१. **रायः**=धनों के **चतुरः समुद्रान्**=चार समुद्र ही हैं। ये चारों वेद वस्तुतः धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चार रत्नों के समुद्र ही हैं। अथवा प्रकृति का ज्ञान, जीव के कर्त्तव्यों का ज्ञान ही इनका धन है। २. यह वेदज्ञान **सहस्रिणः**=सहस्रों ऋचाओं से युक्त है। अथवा (हस्र-विकास) विकास से युक्त है। एवं, ज्ञान के समुद्रभूत इन चार वेदों से जहाँ हमारा ज्ञान बढ़ता है वहाँ हमारे जीवन का उस ज्ञान के द्वारा समुचित विकास होता है। ये ज्ञान-निधि हमें 'काम, क्रोध, लोभ' से तैराकर 'त्रित' (तीन को तैरनेवाले) बनाएगा। यह त्रित ही प्रभु को प्राप्त करनेवालों में उत्तम होने के कारण 'आप्त्य' कहलाता है।

भावार्थ—हम ज्ञान के समुद्रभूत इन चारों वेदों का उपार्जन करके काम, क्रोध, लोभ को तैरकर प्रभु को प्राप्त करें—त्रित हों और आप्त्य बनें।

नोट—प्रस्तुत तृच में वेदों को 'तिस्रो वाचः' तथा 'रायः समुद्रांश्चतुरः' इन दो रूपों में स्मरण करके स्पष्ट कर दिया है कि मन्त्र तो 'ऋग्, यजुः व सामरूप' तीन ही हैं, परन्तु वेद संख्या में चार हैं।

सूक्त-१५

ऋषिः—ययातिर्नाहुषः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

८७२. सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः।
पवित्रवन्तो अक्षरं देवान् गच्छन्तु वो मदाः॥ १॥

५४७ संख्या पर इस मन्त्र का व्याख्यान द्रष्टव्य है।

ऋषिः—ययातिर्नाहुषः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

इन्दु व इन्द्र—इन्दु इन्द्र की ओर

८७३. इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन्।
वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसः॥ २॥

इन्दुः=शब्द सोम-कणों के लिए प्रयुक्त होता है। जो जीव इन सोम-कणों की रक्षा से (इन्द् to be powerful) शक्तिशाली बनता है, वह जीव भी 'इन्दु' है। यह ऊर्ध्वरेतस् बनकर शक्ति-सम्पन्न बना हुआ जीव ही **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली परमात्मा के लिए **पवते**=प्राप्त होता है **इति**=यह बात **देवासः**=विद्वान् लोग **अब्रुवन्**=सदा से कहते आये हैं। यह सोम (वीर्य) ही उस सोम (परमात्मा) को प्राप्त कराने का साधन बनता है।

वह प्रभु भी **ओजसः**=ओज के द्वारा **विश्वस्य**=सारे ब्रह्माण्ड का **ईशानः**=शासन करते हुए **वाचस्पतिः**=वेदवाणी के पति हैं और **मखस्यते**=यज्ञ को चाहते हैं। प्रभु की जीव के लिए मुख्य कामना यही है कि जीव का जीवन यज्ञमय हो। इसी में जीव का उत्थान है, अतः जीव को चाहिए कि वह शक्तिशाली बनकर यज्ञमय जीवन बिताये। प्रभु ओज के द्वारा सारे ब्रह्माण्ड के शासक हैं, जीव संयमी बनकर इस पिण्ड का शासक बने। प्रभु वाचस्पति हैं, जीव भी वेदवाणी के अध्ययन से वाचस्पति बनने का प्रयत्न करे।

भावार्थ—हम 'इन्दु' बनकर इन्द्र की ओर निरन्तर चलनेवाले 'ययाति' बनें। हम यज्ञमय जीवन बनाकर सभी के हित में अपना हित समझनेवाले 'नाहुष'=अपने को ओरों से बाँधकर चलनेवाले बनें।

ऋषिः—ययातिर्नाहुषः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

सहस्रधार व स-हस्रधार, समुद्र तथा स-मुद्र

८७४. **सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः।**
सोमस्पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे॥ ३॥

मन्त्र का ऋषि 'ययाति नाहुष' **दिवे-दिवे**=दिन-प्रतिदिन **पवते**=उस प्रभु की ओर बढ़ता चलता है और अपने जीवन को पवित्र बनाता जाता है (पवते=गच्छति, पुनाति)। यह कैसा है—

१. **सहस्रधारः**=यज्ञमय जीवनवाला होने से हज़ारों का धारण करनेवाला है। अथवा स-हस्र-धारः=सदा हास्यमय स्मितयुक्त वाणीवाला है—सबके साथ मधुरता से बात करता है। २. **समुद्रः**=यह ज्ञान का समुद्र बनता है अथवा (स-मुद्) सदा प्रसन्नवदन होता है। ३. **वाचम् ईंखयः**=यह अपने अन्दर वेदवाणी को प्रेरित करता है। जनता में भी वेदवाणी का प्रचार करता है। ४. **सोमः**=ज्ञान-प्राप्ति के कारण यह 'सौम्य' व विनित होता है। ५. **रयीणां पतिः**=यह सदा धनों का पति बना रहता है—धन कभी इसके स्वामी नहीं हो जाते। ६. धनों का पति होने से ही यह **इन्द्रस्य सखा**=उस परमैश्वर्यशाली परमात्मा का मित्र होता है। जो धन का दास है वह प्रभु का मित्र नहीं हो सकता।

इस षट्कसम्पति से युक्त 'ययाति नाहुष' जीवन्मुक्त बनता है और प्रभु-चरणों में पहुँचता है।

भावार्थ—मन्त्र वर्णित षट्कसम्पत्ति को अपनाकर हम प्रभु के सच्चे सखा बनें।

सूक्त-१६

ऋषिः—पवित्रः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

८७५. **पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।**
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तः सं तदाशत॥ १॥

५६५ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—पवित्रः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

तपस्वी का जीवन

८७६. तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदेऽर्चन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन्।
अवन्त्यस्य पवितारमाशवो दिवः पृष्ठमधि रोहन्ति तेजसा ॥ २ ॥

१. **तपोः**=तपस्वी अतएव 'पवित्र आङ्गिरस' (पवित्र जीवनवाले, शक्तिशाली) का **पवित्रम्**=ज्ञान **दिवः पदे**=द्योतनात्मक प्रभु के आधार में **विततम्**=विस्तृत होता है, अर्थात् तपस्वी व्यक्ति परमात्मा को अपना आधार बनाने का प्रयत्न करता है और इस प्रभुरूप आधार में इसका ज्ञान विस्तृत होता चलता है। प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके यह ब्रह्म का ज्ञान भी प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस सारे ज्ञान की प्राप्ति के लिए तपस्वी होना अत्यन्त आवश्यक है। २. **अस्य**=इस तपस्वी के **तन्तवः**=नानाविध यज्ञ (सप्ततन्तुः=तन्तुः=यज्ञ) **अर्चन्तः**=प्रभु की उपसना करते हुए **व्यस्थिरन्**=इस तपस्वी को स्थिरवृत्ति का बनाते हैं। प्रभु यज्ञमय हैं—उसकी उपासना यज्ञों से ही होती है (यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः)। इन यज्ञों के द्वारा प्रभु की उपासना करनेवाले की वृत्ति स्थिर बनती है। ३. **अस्य**=इस 'पवित्र आङ्गिरस' के **आशवः**=शीघ्रगामी—शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले इन्द्रियरूप अश्व **पवितारम्**=पवित्र करनेवाले प्रभु की ओर **अवन्ति**=जाते हैं, अर्थात् इसकी इन्द्रियाँ इसे परमेश्वर की ओर ले-जानेवाली होती हैं। यह प्रभु-प्रवण होता है। ४. इस प्रभु-प्रवणता का परिणाम यह होता है कि ये तपस्वी लोग **तेजसा**=अपने तेज के कारण **दिवःपृष्ठम्**=द्युलोक की पीठ पर, अर्थात् ब्रह्मलोक का **अधिरोहन्ति**=अधिरोहण करते हैं, मोक्ष पानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम तपस्वी बनें, जिससे हमारा ज्ञान बढ़े, यज्ञों के द्वारा प्रभु का उपासन करते हुए हम स्थिर चित्तवृत्तिवाले हों। हमारी इन्द्रियाँ प्रभु की ओर जानेवाली हों, जिससे हम तेजस्वी बनकर मोक्षपद पर आरूढ़ हों।

ऋषिः—पवित्रः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

८७७. अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा मिमेति भुवनेषु वाजयुः।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमा दधुः ॥ ३ ॥

५९६ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है

सूक्त-१७

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (ककुबुष्णिक्) ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

८७८. प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे। उपस्तुतासो अग्नये ॥ १ ॥

१०७ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

भव्य-सुमति

८७९. आ वंसते मघवा वीरवद्यशः समिद्धो द्युम्न्याहुतः।
कुविन्नो अस्य सुमतिर्भवीयस्यच्छा वाजेभिरागमत् ॥ २ ॥

मघवा=पवित्र ऐश्वर्यवाला **समिद्धः**=तेज से दीप्त **द्युम्नी**=ज्ञान की ज्योतिवाला **आहुतः**=(आहुतम् अस्यास्तीति) सम्पूर्ण संसार के पदार्थों को जीव-हित के लिए देनेवाला वह प्रभु **वीरवत् यशः**=वीरता से युक्त यश **आवंसते**=देते हैं। संसार में वीर व यशस्वी बनने के लिए यही एक उपाय है कि—१. मनुष्य पवित्र व्यवहारों से धन कमाये, २. वीर्य की रक्षा के द्वारा अपने शरीर को तेजस्विता से दीप्त करे, ३. ज्ञान को बढ़ाए और ४. त्याग की वृत्तिवाला हो। यहाँ मन्त्र का ऋषि 'सोभरि' प्रभु को इन्हीं नामों से स्मरण करता है कि वे प्रभु 'मघवा, समिद्ध, द्युम्नी व आहुत' हैं। प्रभु के इन गुणों को वह अपने में भी धारण करने का प्रयत्न करता है और वीरता व यश का लाभ करता है। इन गुणों को उत्तमता से (सु) अपने में धारण करने (भर) के कारण ही यह 'सोभरि' नामवाला हुआ है।

यह प्रार्थना करता है कि **अस्य**=इस प्रभु की **भवीयसी**=कल्याण करनेवाली **सुमतिः**=शुभमति **वाजेभिः**=शक्तियों के साथ **अच्छ**=हमारा लक्ष्य करके **नः**=हमें **कुवित्**=खूब ही **आगमत्**=प्राप्त हो। सोभरि की प्रार्थना का स्वरूप यह है कि—१. शोभनमति तो प्राप्त हो ही, २. साथ ही सब इन्द्रियों व अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति भी प्राप्त हो। ज्ञान और शक्ति को प्राप्त करके ही मनुष्य जीवन-यात्रा का उत्तमता से भरण करता है और सचमुच सोभरि बनता है।

भावार्थ—भव्य सुमति व सर्वांगीण शक्ति का लाभ करके हम जीवन-यात्रा को ठीक से बिताएँ।

सूक्त-१८

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

८८०. तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृक्षु सासहिम्। उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम्॥ १॥

३८३ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

आचार, पौरुष और विचार

८८१. येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ। मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि॥ २॥

हे प्रभो! **येन**=क्योंकि आप **आयवे**=(एति)=गतिशील व पुरुषार्थी **मनवे च**=मननशील मनुष्य के लिए **ज्योतींषि**=ज्योतियों को **विवेदिथ**=प्राप्त कराते हो, **मन्दानः**=और तृप्ति का अनुभव कराते हुए **अस्य**=इस आचारवान् पुरुष के **बर्हिषः**=हृदयान्तरिक्ष को **विराजसि**=विशेषरूप से दीप्त करते हो, अतः पूजनीय हो।

उल्लिखित मन्त्रार्थ में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—१. प्रभु का प्रकाश सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु वह प्राप्त उन्हीं को होता है जो 'आयु व मनु' बनते हैं, अर्थात् पौरुष को अपनाकर क्रियाशील और विचारशील होते हैं। २. प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करने का परिणाम यह होता है कि इस आयु व मनु का हृदय एक उल्लास का अनुभव करता है (मन्दानः)=साथ ही वह उस प्रकाश से दीप्त हो उठता है (विराजसि)। ३. इसके हृदय से वासनाओं का समूलोन्मूलन हो जाता है (बर्हिषः)।

'आयु' शब्द क्रिया का संकेत करता है। यह सदा क्रिया में लगा रहता है। क्रिया में लगे रहने से इसके हृदय में अशुद्ध वासनाएँ नहीं पनपती, इसकी इन्द्रियों की पवित्रता बनी रहती है, अतः यह 'अश्वसूक्ति' कर्मेन्द्रियों से उत्तम कर्म करनेवाला होता है। 'मनु'=विचारशील होने से इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ

भी शुभ ज्ञान प्राप्त करने में व्याप्त रहती हैं और यह 'गोषूक्ति' नामवाला होता है। यह गोषूक्ति और अश्वसूक्ति ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—शुद्ध आचार व शुभ विचारों को अपनाकर हम प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करें। हमारे हृदयों में उल्लास हो, दीप्ति हो। वे सचमुच 'बर्हिष्' जिनमें से वासनाएँ उखाड़ दी गयी हैं, ऐसे हों।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

धर्मानुकूल कर्म

८८२. तदद्या चित्त उक्थिनोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा। वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे ॥ ३ ॥

पूर्व मन्त्र में 'येन' के साथ प्रस्तुत मन्त्र के 'तत्' का सम्बन्ध है। येन=क्योंकि आप आयु व मनु को प्रकाश, आह्लाद व दीप्ति (ज्योतींषि, मन्दानः, विराजसि) प्राप्त कराते हैं, **तत्**=अतः **ते**=आपके इस कार्य का **उक्थिनः**=स्तोता लोग **पूर्वथा**=सदा की भाँति **अद्याचित्**=आज भी **अनु+ष्टुवन्ति**= क्रमशः स्तवन करते हैं कि—'हे प्रभो! आप ही ज्योति प्राप्त कराते हो, आप ही तृप्ति का अनुभव कराते हो और दीप्ति देते हो।'

हे प्रभो! आप ही हमारे लिए **दिवे-दिवे**=दिन-प्रतिदिन **वृषपत्नीः**=धर्म की रक्षा करनेवाले **अपः**=कर्मों का **जय**=विजय करते हो। वस्तुतः आपकी दी हुई ज्योति व दीप्ति से ही हम उन कर्मों को कर पाते हैं, जो धर्मानुकूल होते हैं। इस ज्योति व दीप्ति के अभाव में ही हमसे पाप कर्म होते हैं। प्रभु के प्रकाश में हमारी चित्तवृत्ति धर्म-प्रवण होती है, उसी की कृपा से धर्म कर्मों में विजय—सफलता प्राप्त होती है।

भावार्थ—हम धर्मानुकूल कर्म करें। उन कर्मों की सफलता में भी प्रभु की महिमा को देखते हुए निरहंकार बने रहें।

सूक्त-१९

ऋषिः—तिरश्चीः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

८८३. श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति।
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ ३४६ संख्या पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—तिरश्चीः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वेद का ज्ञान (उच्चारण व ज्ञान)

८८४. यस्त इन्द्र नवीयसीं गिरं मन्द्रामजीजनत्।
चिकित्विन्मनसं धियं प्रत्नामृतस्य पिप्युषीम् ॥ २ ॥

हे प्रभो! **यः**=जो **ते**=तेरी **नवीयसीम्**=अत्यन्त स्तुत्य व (नवतिर्गतिकर्मा) उत्तमोत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाली **मन्द्राम्**=(मदी हर्षे) उच्चारण सें हर्ष प्राप्त करानेवाली **गिरम्**=वेदवाणी को **अजीजनत्**= सदा प्रादुर्भूत करता है, अर्थात् उसका उच्चारण करता है, वह अपने अन्दर उस **धियम्**=बुद्धि व ज्ञान

को **अजीजनत्**=पैदा करता है जो ज्ञान १. **चिकित्विन्मनसम्**=चेतनायुक्त मनवाला है—जो ज्ञान मन को सचेत करता है, जिसके कारण मन कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक कर पाता है, २. **प्रत्नाम्**=जो ज्ञान सनातन है, सदा सृष्टि के प्रारम्भ में दिया जाता है—जिसे हम अपने मनोमालिन्य के कारण देख नहीं पाते, ३. **ऋतस्य पिप्युषीम्**=जो ज्ञान सत्य व यज्ञ का आप्यायन व वर्धन करनेवाला है, जिसका परिणाम यह होता है कि मैं सत्य की ओर झुकाववाला होता हूँ और यज्ञशील बनता हूँ (ऋत—सत्य; यज्ञ)।

मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि वेदमन्त्रों के उच्चारण में भी एक आनन्द है, वेदाध्ययन से प्रेरणा प्राप्त होती है। धीरे-धीरे वह ज्ञान प्राप्त होता है जो हमारे मन को विवेकशील बना देता है तथा सत्य व यज्ञों का हममें पोषण करता है। इस ज्ञान की ओर जानेवाला 'तिरश्ची:' है। मन्त्र में सुगुप्त (तिर:) ज्ञान की ओर (अञ्चु गतौ) गतिवाला होता है। इस ज्ञान के अनुसार क्रियाओं को करता हुआ यह 'आङ्गिरस' अङ्ग-अङ्ग में रसवाला बनता है।

भावार्थ—हम आनन्दपूर्वक रस लेते हुए, अर्थात् तन्मयता से मन्त्रोचारण करें, हमें अवश्य उनके अन्दर निहित ज्ञान की प्राप्ति होगी।

ऋषि:—तिरश्ची:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—अनुष्टुप्॥ स्वर:—गान्धार:॥

प्रभु का अनुकरण

८८५. तमु ष्टवाम यं गिर इन्द्रमुक्थ्यानि वावृधुः।
पुरूण्यस्य पौंस्या सिषासन्तो वनामहे॥ ३॥

तम् इन्द्रम्=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **उ**=ही **स्तवाम**=स्तवन करते हैं **यम्**=जिसे **गिर:**=वेदवाणियाँ तथा **उक्थानि**=स्तोत्र **वावृधु:**=बढ़ाते हैं। सम्पूर्ण वेदवाणियाँ व वेदों के स्तोत्र उस प्रभु का ही स्तवन व वर्धन कर रहे हैं—उनमें प्रभु की ही महिमा का वर्णन है।

प्रभु-स्तवन का अभिप्राय यही है कि हम भी **अस्य**=इस प्रभु के **पुरूणि**=पालक व पूरक **पौंस्या**=वीरतायुक्त गुण-कर्मों को 'सत्य, दया, वात्सल्य, परोपकार, आर्जव' आदि को **सिषासन्त:**=प्राप्त करते हुए **वनामहे**=काम, क्रोध, लोभ को पराजित करके जीवन में विजय लाभ करते हैं (वन्=win)। वस्तुत: सच्चा प्रभु-स्तवन यही तो है कि हम प्रभु के कर्मों व गुणों का धारण करनेवाले बनें।

मन्त्र का ऋषि 'तिरश्ची' है। वह सदा हृदय में तिरोहित प्रभु की ओर जाने का प्रयत्न करता है (तिर: अञ्च्)। यह अन्तर्मुखयात्रा ही उसे आत्मालोचन के द्वारा अपने दोषों की पड़ताल करके गुणाभिमुख करती है। यह अन्दर छिपे कामादि का संहार कर प्रेम को प्राप्त करनेवाला बनाती है। 'प्रेम ही भगवान् है।' यह प्रभु को प्राप्त होता है। यही सबसे बड़ी विजय है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें, प्रभु के वीरतापूर्ण कार्यों का अनुकरण करें।

इति चतुर्थोऽध्याय:, द्वितीयप्रपाठकश्च समाप्त:॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

तृतीयप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—अकृष्टा माषाः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

संयमी व उपासक

८८६. **प्र त आश्विनीः पवमान धेनवो दिव्या असृग्रन् पयसा धरीमणि।**
प्रान्तरिक्षात् स्थाविरीस्ते असृक्षत ये त्वा मृजन्त्यृषिषाण वेधसः ॥ १ ॥

हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **ते**=आपकी १. **आश्विनीः**=व्यापक, सब सत्यविद्याओं की प्रापक, २. **दिव्याः**=अलौकिक—दिव्य-गुणों को जन्म देनेवाली, प्रकाशमय, ३. **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणीरूप धेनुएँ **पयसा**=आप्यायन के हेतु से **धरीमणि**=सोम को धारण करनेवाले पुरुष में **प्र असृग्रन्**=उत्कृष्टरूप में सृष्ट होती हैं, अर्थात् वे वेद, जिसमें सत्यविद्याओं के बीज निहित हैं, जो दिव्य-प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं, सोम की रक्षा करनेवाले पुरुषों में प्रकाशित होते हैं।

हे **ऋषिषाण**=तत्त्वद्रष्टाओं से सेवित प्रभो! **ते**=आपकी ये **स्थाविरीः**=स्थिर, अविनश्वर वेदवाणियाँ **अन्तरिक्षात्**=उन लोगों के हृदयान्तरिक्ष में **प्र असृक्षत**=प्रकृष्टतया प्रकट होती है, **ये वेधसः**=जो ज्ञानी लोग **त्वा मृजन्ति**=आपका गवेषण करते हैं, अर्थात् जो तत्त्वद्रष्टा लोग प्रभु की उपासना में लीन होते हैं—उसके गवेषण में तत्पर होते हैं, ये वेदवाणियाँ जो स्थिर व अविनश्वर हैं, उनके हृदयों में प्रकाशित होती हैं।

प्रस्तुत मन्त्र में ऋषि 'अकृष्टा-माषाः' हैं, जो खान-पान की वस्तुओं की छीना-झपटी में ही नहीं उलझे रहते। ऐसे व्यक्ति ही संयमी (धरीमन्) तथा प्रभु के उपासक (ऋषिषाण, त्वा मृजन्ति) बनकर वेद के तत्त्वों को देख पाते हैं।

भावार्थ—हम केवल खाने-पीने से ऊपर उठें, संयमी बने, प्रभु-प्रार्थी हों, जिससे वेदतत्त्व को देखने में समर्थ हो सकें।

ऋषिः—अकृष्टा माषाः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

मैं प्रभु में, प्रभु मुझमें

८८७. **उभयतः पवमानस्य रश्मयो ध्रुवस्य सतः परि यन्ति केतवः।**
यदी पवित्रे अधि मृज्यते हरिः सत्ता नि योनौ कलशेषु सीदति ॥ २ ॥

१. **पवमानस्य**=अपने जीवन को पवित्र बनानेवाले के **उभयतः**=दोनों ओर **रश्मयः**=लगामें (प्रग्रह) होती हैं। वह प्राकृतिक जीवन में 'ऋत' की लगाम पहनकर चलता है—प्रत्येक कार्य को सूर्य और चन्द्रमा की भाँति ठीक समय पर करता है और आध्यात्म जीवन में 'सत्य' रूप प्रग्रहवाला होता है। ऋत और सत्य की लगामों के कारण इसका जीवन-रथ धर्म के मार्ग से किञ्चित् भी

विचलित नहीं होता। २. **ध्रुवस्य सतः**=इस प्रकार धर्म के मार्ग पर ध्रुव=स्थिर होते हुए इसके जीवन में **केतवः**=ज्ञान के प्रकाश **परियन्ति**=सर्वतः प्राप्त होते हैं। जब मनुष्य संयत जीवन के द्वारा धर्म के मार्ग पर ध्रुवता से चलता है, तब इसके जीवन में चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है।

३. **यत् ई**=जब निश्चय से **पवित्रे**=पवित्र हृदय में **हरिः**=सब वासनाओं का हरण करनेवाला प्रभु **अधिमृज्यते**=शोधित किया जाता है, अर्थात् जब पवित्र हृदय में प्रभु का चिन्तन होता है तब ४. **सत्ता**=सब वासनाओं का विशरण (षद्=विशरण—विनाश) करनेवाला प्रभु **कलशेषु**=अपने को षोडश कलाओं का निवास-स्थान बनानेवाले जीवों में **निषीदति**=निषण्ण होता है और **सत्ता**=वासनाओं का विनाश करके (विशरण) प्रभु के समीप बैठनेवाला (सद्=सीदति=बैठता है) वह पवमान जीव **योनौ**=सारे ब्रह्माण्ड के मूल उत्पत्तिस्थान प्रभु में **निषीदति**=निश्चय से स्थित होता है। चौथे चरण में श्लेष से यह कहा गया है कि प्रभु जीव में स्थित होता है और जीव प्रभु में स्थित होता है, परन्तु कब? जब १. जीव 'ऋत व सत्य' की लगामवाला होता है, २. धर्म के मार्ग पर स्थिरता के कारण उसका जीवन प्रकाशमय होता है, ३. जब हृदय में प्रभु का अन्वेषण करता है और ४. वासनाओं का विनाश करनेवाला बनता है।

भावार्थ—जीवन की लगाम को कसकर हम धर्म के मार्ग पर चलें। हृदयों में प्रभु-चिन्तन से वासनाओं को दूर रक्खें, हम प्रभु में हों, प्रभु हममें हों।

ऋषिः—अकृष्टा माषाः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

विश्वद्रष्टा

८८८. विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रभोष्टे सतः परि यन्ति केतवः।
व्यानशी पवसे सोम धर्मणा पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि॥ ३॥

हे **विश्वचक्षः**=सकल विश्व के द्रष्टा प्रभो! सम्पूर्ण संसार का पालन (Look after) करनेवाले प्रभो! **ऋभ्वसः**=महान् (महन्नाम—नि० १९.२१) **प्रभोः**=समर्थ, शक्तिशाली **सतः**=निर्विकार, नित्य **ते**=आपके **केतवः**=प्रज्ञान (नि० ३.९.२) **विश्वा-धामानि**=सब लोक-लोकान्तरों में **परियन्ति**=व्याप्त होते हैं, अर्थात् प्रभु सारे ब्रह्माण्ड का ध्यान करनेवाले हैं, वे महान् प्रभु व निर्विकार हैं। उनकी वेदज्ञान की रश्मियाँ ब्रह्माण्ड के सब लोक-लोकान्तरों में प्रकाशित होती हैं, सभी लोकों में यही वेदज्ञान दिया गया है।

२. **सोम**=हे सकल ब्रह्माण्ड के उत्पादक प्रभो! **धर्मणा**=आप अपनी धारणशक्ति से **व्यानशिः**=व्यापक होते हुए **पवसे**=सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करते हैं। ३. **विश्वस्य भुवनस्य**=सब लोकों के **पतिः**=स्वामी होते हुए आप **राजसि**=दीप्त होते हो।

भावार्थ—प्रभु विश्वद्रष्टा हैं, विश्वधारक हैं, विश्व के पति होते हुए देदीप्यमान हैं।

सूक्त-२

ऋषिः—अमहीयुः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

८८९. पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्रं न तन्यतुम्। ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत्॥ १॥

४८४ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—अमहीयुः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

रस-प्रवाह

८९०. **पवमान रसस्तव मदो राजन्नदुच्छुनः । वि वारमव्यमर्षति ॥ २ ॥**

'अमही—यु'=पार्थिव भोगों की अत्यधिक कामना न करनेवाला 'आङ्गिरस' शक्तिशाली पुरुष प्रभु की ओर झुकाववाला होता है और प्रभु से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि—१. हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **तव रसः**=तेरी प्राप्ति का आनन्द **मदः**=जीवन में एक विशेष उल्लास पैदा करनेवाला है, २. हे **राजन्**=देदीप्यमान् प्रभो! सारे संसार को व्यवस्थित करनेवाले प्रभो! (राज दीप्तौ to regulate) तेरी प्राप्ति का रस **अदुच्छुनः**=सब प्रकार के उपद्रवों व दुःखों से रहित है। यह दुःखों के संयोग के वियोगवाला है। इसमें किसी प्रकार का दुःख नहीं है। ३. तेरी प्राप्ति का रस **वारम्**=वासनाओं का निवारण करनेवाले अथवा प्रभु से वरे जानेवाले **अव्यम्**=अपनी रक्षा करनेवालों में उत्तम पुरुष को **वि-अर्षति**=विशेषरूप से प्राप्त होता है। इस 'अव्य वार' के प्रति ही यह रस प्रवाहित होता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति का रस १. उल्लासजनक है, २. सब प्रकार के दुःख के संयोगों से रहित है और ३. वासनाओं से अपनी रक्षा करनेवाले 'अमहीयु' को प्राप्त होता है।

ऋषिः—अमहीयुः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

परा व अपरा विद्या

८९१. **पवमानस्य ते रसो दक्षो वि राजति द्युमान् । ज्योतिर्विश्वं स्वर्दृशे ॥ ३ ॥**

पवमानस्य=पवित्र करनेवाले **ते**=आपकी प्राप्ति का **रसः**=आनन्द १. **दक्षः**=सब प्रकार की उन्नति growth का कारण है। २. यह रस **द्युमान्**=ज्योतिवाला होकर **विराजति**=विशेषरूप से दीप्त होता है। प्रभु-दर्शन करनेवाले की सर्वांगीण उन्नति तो होती ही है, उसे देदीप्यमान ज्ञान-ज्योति भी प्राप्त होती है। यह **विश्वं ज्योतिः**=पूर्ण प्रकाश **स्वः**=प्रभु के देदीप्यमान रूप के **दृशे**=देखने के लिए होता है अथवा यह **ज्योतिः**=प्रकाश **विश्वम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को तथा **स्वः**=स्वयं राजमान् प्रभु को **दृशे**=दिखलाने के लिए होती है। इस ज्ञान में परा व अपरा दोनों विद्याओं का समावेश है।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन मेरी सर्वांगीण उन्नति का कारण बनता है। यह मुझे वह ज्योति प्राप्त कराता है, जिसमें प्रकृति व प्रभु दोनों प्रभासित होते हैं।

सूक्त-३

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

८९२. **प्र यद्गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः । घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम् ॥ १ ॥**

४९१ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

एक दुर्लभ सेतुबन्ध

८९३. **सुवितस्य वनामहेऽति सेतुं दुराय्यम् । साह्याम दस्युमव्रतम् ॥ २ ॥**

सुवितस्य=(सु-इतस्य) अत्युत्तमता से सर्वत्र प्राप्त उस प्रभु की **दुराय्यम्**=बड़ी कठिनता से प्राप्त करने योग्य—अत्यन्त दुर्लभ **सेतुम्**=शरण की—सर्वदु:ख-निवर्तक आश्रय की **अतिवनामहे**=अतिशेयन याचना करते हैं, **अव्रतम्**=व्रतशून्य जीवनवाले अथवा अन्यव्रत, अर्थात् शास्त्रविरुद्ध कर्म करनेवाले **दस्युम्**=नाशक 'महापाप्मा' को **साह्याम**=हम पूर्णरूप से पराभूत कर सकें। प्रभु का स्मरण-सेतु उस बाँध के समान है जिसे कामरूप समुद्र के तूफ़ान भी तोड़ नहीं सकते। इस सेतु से सुरक्षित 'अमहीयु' इन आसुरवृत्तियों के आक्रमण से आक्रान्त नहीं होता। प्रभुरूप सेतु उसकी रक्षा करता है। परिणामत: इसका जीवन 'अव्रती' नहीं होता। व्रतमय जीवनवाला यह अधिकाधिक देवत्व को प्राप्त होता जाता है।

भावार्थ—हम प्रभुरूप सेतु से सुरक्षित होकर व्रती व दिव्य जीवनवाले बनें।

ऋषि:—मेध्यातिथि: ॥ देवता—पवमान: सोम: ॥ छन्द:—गायत्री ॥ स्वर:—षड्ज: ॥

धर्ममेघ समाधि में पर्जन्यध्वनि

८९४. शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः। चरन्ति विद्युतो दिवि ॥ ३ ॥

गत मन्त्र में वर्णित 'सुवित' प्रभु के सेतु का आश्रय करनेवाले को **पवमानस्य**=उस पवित्र करनेवाले तथा **शुष्मिण:**=कामादि शत्रुओं का शोषण करनेवाले बल से सम्पन्न प्रभु का **स्वन:**=शब्द **वृष्टे: स्वन: इव**=धर्ममेघ समाधि में होनेवाली आनन्द की वर्षा के शब्द की भाँति **शृण्वे**=सुनाई पड़ता है, अर्थात् उपासकों को पवित्र करनेवाले, शक्तिशाली प्रभु की हृदय में उठनेवाली वाणी सदा सुनाई पड़ती है। २. इन उपासकों के **दिवि**=द्योतनात्मक मस्तिष्क में **विद्युत:**=विशेष दीप्तियाँ **चरन्ति**=विचरण करती हैं, अर्थात् इनकी बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म होकर एक विशेष दीप्ति को देखती है।

भावार्थ—उपासक को प्रभु का शब्द सुनाई पड़ता है और उसके मस्तिष्करूप गगन में ज्ञानविद्युत् का प्रकाश होता है।

ऋषि:—मेध्यातिथि: ॥ देवता—पवमान: सोम: ॥ छन्द:—गायत्री ॥ स्वर:—षड्ज: ॥

गो, हिरण्य, अश्व, वीरवती प्रेरणा

८९५. आ पवस्व महीमिषं गोमदिन्दो हिरण्यवत्। अश्ववत् सोम वीरवत् ॥ ४ ॥

हे **इन्दो**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **महीम्**=महनीय—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **इषम्**=प्रेरणा को **आपवस्व**=सर्वथा प्राप्त कराइए, जो १. **गोमत्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाली है, तथा २. **हिरण्यवत्**=(हिरण्यं वै ज्योति:) उत्कृष्ट ज्योतिर्मय है। आपकी प्रेरणा से हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम हों और हम उत्कृष्ट ज्योति को प्राप्त करनेवाले हों।

हे **सोम**=(षू प्रेरणे) सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाले प्रभो! आप हमें वह प्रेरणा दीजिए जो ३. **अश्ववत्**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाली हो तथा ४. **वीरवत्**=हमें प्रशस्त वीर बनानेवाली हो। हम कर्मेन्द्रियों से कर्मों में लगे रहेंगे तभी तो शक्ति प्राप्त करके वीर बन पाएँगे। ज्ञानेन्द्रियाँ प्रशस्त होंगी तो हम ज्योति प्राप्त करेंगे और कर्मेन्द्रियाँ प्रशस्त होंगी तो शक्ति को प्राप्त होंगे। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ब्रह्म का तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा क्षत्र का विकास होगा।

भावार्थ—गत मन्त्र में प्रभु के शब्द का उल्लेख था। हमें प्रभु के महनीय शब्द सुनाई पड़ें। हम

उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व ज्ञान को तथा कर्मेन्द्रियों व शक्ति को प्राप्त करें।

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

८९६. पवस्व विश्वचर्षण आ मही रोदसी पृण। उषाः सूर्यो न रश्मिभिः ॥ ५ ॥

१. हे **विश्वचर्षणे**=विश्वद्रष्टः—सम्पूर्ण संसार का ध्यान (Look after) करनेवाले प्रभो! **आपवस्व**=आप हमें प्राप्त होओ और हमारे जीवनों को पवित्र करो। २. **मही रोदसी**=महनीय द्युलोक व पृथिवीलोक को **आपृण**=भर दीजिए। आधिदैविक जगत् के भी द्युलोक व पृथिवीलोक हैं, उन्हें **न**=जैसे **उषाः**=उषःकाल तथा **सूर्यः**=सूर्य **रश्मिभिः**=प्रकाश की किरणों से भर देते हैं, उसी प्रकार आप अध्यात्म जगत् के पृथिवीलोक व द्युलोक को, अर्थात् शरीर व मस्तिष्क को, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, प्रकाश से परिपूर्ण करने की कृपा करें। मेरा शरीर नीरोगता के कारण स्वास्थ्य के प्रकाश से चमके तथा मेरा मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से परिपूर्ण हो।

भावार्थ—हमारा शरीर स्वस्थ हो और मस्तिष्क दीप्त बने। अन्धकार का दहन करनेवाली उषा (उष् दाहे) शरीर के रोगों का दहन कर दे और द्युलोक को जगमगानेवाला सूर्य मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्योतिर्मय कर दे।

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सुखदायिनी ज्ञानधारा

८९७. परि नः शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वतः। सरा रसेव विष्टपम् ॥ ६ ॥

हे **सोम**=उमा-(ब्रह्मविद्या)-सहित=ज्ञान के पुञ्ज प्रभो! **नः**=हमारे **विश्वतः**=चारों ओर **शर्मयन्त्या**=कल्याण प्रदान करनेवाली **धारया**=(धारा वाङ्नाम—नि० १.११) वेदवाणी से **परिसर**=आप प्रवाहित हों। हमारे चारों ओर प्रभु की ज्ञानधारा हो और हम उस ज्ञानधारा से ही सदा आवृत हों, **इव**=जिस प्रकार **रसा**=पृथिवी **विष्टपम्**=सूर्य के **परिसरा**=चारों ओर घूमती है। (विष्टप् आदित्य आविष्टो भाषा—नि० २.१४)। जिस प्रकार पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है, उसी प्रकार हमारे चारों ओर वेदज्ञान की धारा परिक्रमा करनेवाली हो। सूर्य चारों ओर घूमनेवाली पृथिवी का केन्द्र है। इसी प्रकार मैं भी ज्ञान का केन्द्र बनूँ। मेरे जीवन की परिधि ज्ञान-ही-ज्ञान से बनी हो। ज्ञान मेरी रक्षा करनेवाला हो।

भावार्थ—मेरे जीवन में ज्ञान उसी प्रकार परिक्रमा करनेवाला हो, जैसे पृथिवी सूर्य की परिक्रमा करती है।

सूक्त-४

ऋषिः—बृहन्मतिराङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

बृहन्मति की माधुर्यमयी तेजस्विता

८९८. आशुरर्ष बृहन्मते परि प्रियेण धाम्ना। यत्रा देवा इति ब्रुवन् ॥ १ ॥

गत मन्त्र में वर्णन था कि जैसे पृथिवी-भ्रमण का केन्द्र सूर्य है उसी प्रकार मैं ज्ञान का केन्द्र बनूँ। इस प्रकार बना हुआ यह व्यक्ति प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'बृहन्मति' (विशाल बुद्धिवाला) बन जाता है। ज्ञान के कारण ही समझदारी से चलता हुआ यह विषयों में न फँसने से 'आङ्गिरस' है।

इस 'आङ्गिरस बृहन्मति' से प्रभु कहते हैं—हे **बृहन्मते**=विशाल बुद्धिवाले आङ्गिरस! तू **प्रियेण धाम्ना**=अति प्रिय तेज से **आशुः**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला बनकर **परि अर्ष**=चारों ओर जानेवाला 'परिव्राजक' बन। सर्वत्र विचरण करता हुआ तू औरों के लिए उस ज्ञान के प्रकाश को दे जिसे तूने प्रभुकृपा से प्राप्त किया है। तू इस स्थिति में अपने जीवन का यापन कर **यत्र**=जहाँ **देवाः**=' अरे ये लोग तो देव हैं' **इति**=इस प्रकार संसार **ब्रुवन्**=कहे। तेरा जीवन लोकहित में व्यतीत हो, तू लोगों की दृष्टि में 'देव' बन जा।

भावार्थ—हम बृहन्मति बनकर तेजस्विता से कार्य करते हुए इस प्रकार ज्ञान का प्रसार करें कि लोग हमें देव समझें। हमारे कार्यों में तेजस्विता हो, परन्तु तेजस्विता के साथ माधुर्य हो।

ऋषिः—बृहन्मतिराङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान की वर्षा

८९९. परिष्कृण्वन्ननिष्कृतं जनाय यातयन्निषः। वृष्टिं दिवः परि स्रव॥ २॥

यह बृहन्मति चारों ओर भ्रमण करता हुआ क्या करे—१. **अनिष्कृतम्**=अपरिष्कृत, अशिक्षित, असम्भय लोगों को **परिष्कृण्वन्**=परिष्कृत, शोभित व सभ्य बनाता हुआ विचरण करे। बृहन्मति का उद्देश्य यह है कि यह लोगों के जीवनों को बड़ा सुसंस्कृत कर दे—'सत्य-शिव व सुन्दर' बना दे। २. इस उद्देश्य से वह **जनाय**=लोगों के लिए **इषः**=प्रेरणाओं को **यातयन्**=प्राप्त कराता है, सतत प्रेरणा ही लोगों के जीवन में परिवर्तन लाती है। ३. हे बृहन्मते! तू **दिवः**=मस्तिष्करूपी द्युलोक से **वृष्टिम् परिस्रव**=सर्वत्र ज्ञान की वर्षा करनेवाला हो। यह ज्ञान की वर्षा ही वासना-सन्तप्त लोगों को शान्ति देनेवाली होगी।

भावार्थ—बृहन्मति का कर्त्तव्य है कि वह १. लोगों के जीवन को संस्कृत बनाये, २. उन्हें निरन्तर प्रेरणा दे और ३. ज्ञान की वर्षा करे।

ऋषिः—बृहन्मतिराङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

संयमी, स्फूर्तिमय, पवित्र

९००. अयं स यो दिवस्परि रघुयामा पवित्र आ। सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत्॥ ३॥

अयम्=यह बृहन्मति **सः**=वह है **यः**=जो **सिन्धोः**=शरीर में स्यन्दमान (बहनेवाले) रेतःकणों की **ऊर्मा**=ऊर्ध्वगति होने पर **रघुयामा**=तीव्रगतिवाला, शीघ्रता से अपने कर्मों में व्याप्त होनेवाला **पवित्रः**=पवित्र जीवनवाला **दिवः**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक से **आपरिव्यक्षरत्**=सब प्रकार से, चारों ओर विविध ज्ञान की धाराओं को प्रवाहित करता है।

यहाँ बृहन्मति की तीन विशेषताओं का उल्लेख है—१. वह सोम वा रेतस् की ऊर्ध्वगतिवाला हो। शरीर में ही सोम का पान करे जिससे 'आङ्गिरस'=शक्तिशाली बना रहे, २. रघुयामा=तीव्रता से मार्ग का आक्रमण करनेवाला हो—इसके जीवन से स्फूर्ति टपके। इसके जीवन की स्फूर्ति लोगों के जीवन में भी स्फूर्ति का संचार करेगी, ३. **पवित्रः**=यह पवित्र जीवनवाला हो। स्वयं पवित्र होकर भिन्न-भिन्न उपायों से सर्वत्र ज्ञान का प्रचार करे।

भावार्थ—संयमी, स्फूर्तिमय व पवित्र बनकर मैं विविध ज्ञानों का प्रकाश करूँ।

ऋषिः—बृहन्मतिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उत्तम व्याख्याता, ओजस्वी वक्ता

९०१. सुत एति पवित्र आ त्विषिं दधान ओजसा। विचक्षाणो विरोचयन्॥ ४॥

यह बृहन्मति **आ एति**=प्रजा के भीतर समन्तात् गति करता है। कैसा बनकर? १. **सुतः**=(सुतमस्यास्ति इति) यज्ञ की भावनावाला—'लोकहित की भावना' पहला मुख्य गुण है, जो प्रचारक के अन्दर आवश्यक है। अथवा सोम का उत्पादन करनेवाला। सोम, अर्थात् शक्ति के बिना ये किसी भी कार्य को क्या कर पाएगा? २. **पवित्रः**=राग-द्वेष, मोह आदि मलों से रहित। औरों के समाने इसका जीवन ही तो आदर्श होगा। यदि इसका अपना जीवन मलिन होगा तो औरों को क्या पवित्र बनाएगा? ३. **त्विषिं दधानः**=दीप्ति को धारण करता हुआ। यह दीप्ति ही सामान्य लोगों पर विशेष प्रभाव डालनेवाली होती है। चमकता हुआ चेहरा मुरझाये हुए चेहरे से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, ४. **ओजसा विचक्षाणः**=यह बड़ी ओजस्विता से विषय का व्याख्यान करता है। इसके बोलने का प्रकार बड़ा प्रभावशाली होता है, इसकी आवाज मरियल-सी न होकर बादल की गर्जना के समान होती है। ५. **विरोचयन्**=अपने शब्दों के प्रभाव से यह जनता के चेहरों पर उत्साह की चमक पैदा करता है और उनके हृदयों को ज्ञान के प्रकाश से भर देता है।

भावार्थ—बृहन्मति अपनी ज्ञान की ज्योति से औरों को भी ज्योतिर्मय कर डालता है।

ऋषिः—बृहन्मतिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मधुसिक्त वाणी से

९०२. आविवासन् परावतो अथो अर्वावतः सुतः। इन्द्राय सिच्यते मधु॥ ५॥

यह **सुतः**=यज्ञशील अथवा सोम का सम्पादन करनेवाला बृहन्मति **परावतः**=दूरस्थ लोगों के **अथ उ**=और **अर्वावतः**=समीपस्थ लोगों के **आविवासन्**=अन्धकार को दूर करनेवाला (विवास् to banish) होता है। यह बृहन्मति दूर व समीप—सर्वत्र भ्रमण करता हुआ अन्धकार को दूर करने के कार्य में लगा रहता है। इस कार्य में लोग इसके साथ कटु व्यवहार भी करते हैं, परन्तु यह अपने व्यवहार में कटुता नहीं आने देता। यह अपनी इन्द्रियों पर काबू रखता है और इस **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय के लिए **मधु सिच्यते**=वाणी में मिठास का ही सेचन होता है। यह कभी कड़वी वाणी नहीं बोलता।

भावार्थ—बृहन्मति सदा मधुरवाणी से समीपस्थ व दूरस्थ लोगों के अज्ञान को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होता है।

ऋषिः—बृहन्मतिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु-स्मरण व सत्संग

९०३. समीचीना अनूषत हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। इन्दुमिन्द्राय पीतये॥ ६॥

'ये बृहन्मति लोग बृहन्मति कैसे बन पाये?' इसका उत्तर प्रस्तुत मन्त्र देता है कि—१. **समीचीनाः**=(सम् अञ्च्=उत्तम गति) उत्तम गतिवाले होकर—प्रत्येक कार्य को उत्तमता से करने का प्रयत्न करते हुए ये **हरिम्**=सब वासनाओं के हरनेवाले तथा **इन्दुम्**=सब शक्तियों से सम्पन्न प्रभु की **अनूषत**=स्तुति करते हैं। ये प्रभु को न भूलकर ही कार्य करते हैं, अतः इनके कार्य पवित्र होते

हैं। प्रभु को सब शक्तियों का स्रोत समझने से इन्हें उन कार्यों का गर्व भी नहीं होता। इस प्रकार इनकी पवित्रता व निरभिमानता बनी रहती है। २. ये **अद्रिभिः**=आदरणीय व्यक्तियों के साथ ही **हिन्वन्ति**=सदा गतिवाले होते हैं। यह सत्संग उन्हें सत् बनाने में सहायक होता है।

प्रभु-स्मरण और सत्संग इन दो कार्यों को ये इसलिए करते हैं कि—१. **इन्द्राय**=इन्द्रशक्ति के विकास के लिए, इन्द्रियों के दास न बन जाने के लिए तथा २. **पीतये**=अपनी रक्षा के लिए—अपने जीवन को वासनाओं से सुरक्षित रखने के लिए।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण व सत्संग हमारी इन्द्रिशक्ति के विकास का कारण बनते हैं और हमारे जीवनों को वासनाओं से सुरक्षित करते हैं।

सूक्त-५

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

तीन महत्त्वपूर्ण बातें

९०४. हिन्वन्ति सूरमुस्रयः स्वसारो जामयस्पतिम्। महामिन्दुं महीयुवः॥ १॥

इस मन्त्र में तीन बातें कही गयी हैं—१. **उस्रयः**=(उस्रि=going) गतिशील, क्रियाशील पुरुष **सूरम्**=(अन्तो वै सूरः—ताँ० १५.४.२) अन्त=(end) लक्ष्यस्थान को **हिन्वन्ति**=प्राप्त करते हैं। संसार में आज तक कोई भी अकर्मण्य व्यक्ति अपने लक्ष्यस्थान पर नहीं पहुँच पाया। **'यो यदर्थं कामयते, यदर्थं घटतेऽपि च। अवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते'**॥ श्रम करनेवाला, श्रान्त होकर न बैठनेवाला काम्यलक्ष्य को अवश्य प्राप्त करता है। २. जैसे **स्वसारः**=अपने, जिसका उन्होंने निर्माण करना है, घर की ओर जानेवाली **जामयः**=दुहिताएँ **पतिम्**=पति को प्राप्त करती हैं। इसी प्रकार स्वसारः=(स्वः=आत्मा) आत्मा की ओर चलनेवाली **जामयः**=(जयतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः—नि० ३.६) गतिशील प्रजाएँ **पतिम्**=उस ब्रह्माण्ड-पति प्रभु को प्राप्त करती हैं। ३. **महीयुवः**=महत्ता चाहनेवाले व्यक्ति **महाम् इन्दुम्**=महनीय सोम को प्राप्त करते हैं। संसार में किसी भी प्रकार की महिमा या महत्ता सोम की रक्षा के बिना प्राप्त नहीं होती। शरीर में वीर्यकण ही सोम हैं, जो मनुष्य को अधिकाधिक महत्त्व प्राप्त कराते हैं। इन वीर्यकणों की रक्षा को ही 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं।

एवं, गतिशीलता के द्वारा लक्ष्य तक पहुँचनेवाले ये व्यक्ति 'जमदग्नि'=गतिशील अग्रगतिवाले हैं (जमत्+अग्नि)। अपने जीवन का ठीक परिपाक करनेवाले ये भार्गव हैं (भ्रस्ज् पाके)। परिशुद्ध जीवन के कारण 'वारुणि' हैं।

भावार्थ—हम गतिशील बनकर लक्ष्यस्थान पर पहुँचे, आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले बनकर प्रभु को प्राप्त करें और सोम-रक्षा द्वारा इस संसार में महिमा प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विश्व वसुओं की प्राप्ति

९०५. पवमान रुचारुचा देव देवेभ्यः सुतः। विश्वा वसून्या विश॥ २॥

प्रभु मन्त्र के ऋषि भृगु से कहते हैं कि—हे **पवमान**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले! हे **देव**=दिव्य गुणोंवाले! तू **देवेभ्यः सुतः**=दिव्य गुणों को प्राप्त करने के लिए ही उत्पन्न हुआ है। तेरे

जीवन का लक्ष्य दिव्य गुणों की प्राप्ति ही होना चाहिए। तू **रुचा रुचा**=एक-एक दीप्ति से, अर्थात् एक-एक ज्योति को प्राप्त करके **विश्वा**=सब **वसूनि**=शम-दम आदि उत्तम धनों को **आविश**=प्राप्त हो। इन वसुओं में तेरा प्रवेश हो। तू सब वसुओं को प्राप्त करनेवाला हो।

भावार्थ—एक-एक करके हम सब वसुओं को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

काम-धेनु

९०६. आ पवमान सुष्टुतिं वृष्टिं देवेभ्यो दुवः। इषे पवस्व संयतम्॥ ३॥

प्रभु कहते हैं कि—हे **पवमान**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले भृगो! तू **इषे**=अपनी इच्छाओं व इच्छापूर्ति के लिए (इष् इच्छायाम्) **आपवस्व**=निम्न साधनों को प्राप्त हो—१. **सुष्टिुतिम्**=उत्तम स्तुति को। तू सदा प्रभु-स्तवन करनेवाला तो बन ही। लोक में भी सदा स्तुति के ही शब्दों का उच्चारण कर, कभी किसी की निन्दा मत कर। २. **देवेभ्यः वृष्टिम्**=दिव्य गुणवालों के लिए वर्षा को। तू सदा सत्पात्रों में अपने धन की वर्षा करनेवाला बन। तू दान की रुचिवाला हो। ३. **दुवः**=प्रार्थना को। तेरा जीवन प्रार्थनामय हो। यह प्रार्थना तुझे सदा विनीत व निरभिमान बनाएगी। ४. **संयतम्**=तू संयत जीवन को प्राप्त कर अथवा तू उत्तम उद्योगवाला हो। संयम तथा समुद्योग को तू अपने जीवन में धारण कर। ('संयत' संयम्+त; या सं+यत्) एवं, 'स्तुति, दान, प्रार्थना, संयम व समुद्योग' ये वस्तुएँ मिलकर तेरे लिए उस कामधेनु के समान बन जाएँगी जो तेरी सब कामनाओं को पूर्ण कर देगी।

भावार्थ—हमारा जीवन 'स्तुति, दान, प्रार्थना, संयम व समुद्योग' मय हो।

सूक्त-६

ऋषिः—सुतम्भर आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

भरतों में प्रभु का प्रकाश

९०७. जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्वि भाति भरतेभ्यः शुचिः॥ १॥

वे प्रभु **नव्यसे**=नवतर, अर्थात् अत्यन्त स्तुत्य (नू स्तुतौ) **सुविताय**=सर्वकल्याण के लिए—सबकी शुभगति के लिए (सु+इताय) **अजनिष्ट**=प्रादुर्भूत होते हैं; जो—१. **जनस्य गोपाः**=उत्पन्न होनेवाले प्राणिमात्र के रक्षक हैं, २. **जागृविः**=लोककल्याण के लिए सदा जागरणशील हैं, ३. **अग्निः**=सर्वत्र गमनशील हैं—सबको आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं, ४. **सुदक्षः**=समुन्नति व समृद्धि प्राप्त करानेवाले हैं (दक्षतिः समर्धयतिकर्मा), ५. **घृतप्रतीकः**=दीप्तिमय मूर्त्तिवाले हैं, सहस्त्रों सूर्यसम ज्योतिवाले हैं, ६. **बृहता**=महान् **दिविस्पृशा**=द्युलोक को छूनेवाले (तेज से युक्त), ७. **शुचिः**=अत्यन्त पवित्र व दीप्त वे प्रभु, ८. **भरतेभ्यः**=अपने में दिव्यता का व यज्ञिय भावना का भरण करनेवाले लोगों के लिए **द्युमत्**=प्रकाशवत्ता से **विभाति**=विशेषरूप से चमकते हैं, अर्थात् आत्मोन्नति करनेवाले लोगों के लिए प्रकाशित होते हैं—इनके हृदयों को प्रकाश से परिपूर्ण कर देते हैं।

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'सुतम्भर'=यज्ञ की भावना को अपने अन्दर भरनेवाला अथवा आत्रेय=काम, क्रोध व लोभ से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति है। प्रभु इसके हृदय में प्रकाशित होते हैं।

भावार्थ—हम 'भरत' बनें, प्रभु हमारे हृदयों में प्रकाशित होंगे।

ऋषिः—सुतम्भर आत्रेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पुत्रों द्वारा पिता का अन्वेषण

९०८. त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत्त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः ॥ २ ॥

१. हे **अग्ने**=सम्पूर्ण अग्रगति के साधक अथवा प्रकाश के पुञ्ज प्रभो! **गुहा हितम्**=हृदयगुहा में रखे हुए आपको **अङ्गिरसः**=आपके सच्चे पुत्रों ने, जिनका नाम अङ्गिरस पड़ा, उन्होंने **त्वाम्**=आपको **अन्वविन्दन्**=प्राप्त किया (ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे—ऋ० १०.६२.५)। प्रभु सर्वव्यापकता के नाते हमारे हृदयों में विद्यमान हैं ही, परन्तु उस हृदयरूप गुहा में स्थित प्रभु का दर्शन वे ही कर पाते हैं जो उस प्रभु के सच्चे पुत्र बनते हैं। प्रभु तेजस्विता के पुञ्ज हैं। ये अङ्गिरस भी तेजस्वी बनकर प्रभु के सच्चे पुत्र बनते हैं। २. **वनेवने**=(वनु याचने)=प्रत्येक याचना के समय **शिश्रियाणम्**=जिसका आश्रय लिया जाता है, ऐसे आप हैं। मनुष्य को जब कभी कोई कमी दिखती है, तो आपकी ओर ही देखते हैं। ३. **सः**=वे आप **मथ्यमानः**=मस्तिष्क व हृदयरूप दो अरणियों से मथे जाने पर **जायसे**=प्रादुर्भूत होते हैं। वे प्रभु हृदय व मस्तिष्क के मन्थन से—श्रद्धा व विद्या के समन्वय से प्रादुर्भूत होते हैं। ४. **सहो महत्**=आप महनीय बल हैं। प्रभु 'तेज-वीर्य-बल-ओज-मन्यु व सहस्' हैं और इस प्रकार प्रभु की तेजस्विता का पर्यवसान 'सहस्' में है। ५. हे **अङ्गिरः**=अङ्गिरसों से उपलब्ध होनेवाले प्रभो! **त्वाम्**=आपको **सहसः पुत्रम्**=सहस् का पुत्र **आहुः**=कहते हैं, क्योंकि सहस् को धारण करने से ही प्रभु का दर्शन हो पाता है, अतः प्रभु को 'सहस् का पुत्र' कह दिया गया है। सहस् का पुञ्ज (पुतला) होने से भी प्रभु सहस्-पुत्र हैं।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा पुत्र अङ्गिरस् बनकर, मनुष्य प्रभु का दर्शन पाता है।

ऋषिः—सुतम्भर आत्रेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

त्रिपुटी में प्रभु का ध्यान

९०९. यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समिन्धते।
इन्द्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सीदन् नि होता यजथाय सुक्रतुः ॥ ३ ॥

नरः=(नृ नये) अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले लोग **त्रिषधस्थे**=(त्रि+सधस्थ) तीन प्राणों के एकत्र होने के प्रदेश त्रिपुटी में अथवा इडा, पिंगला व सुषुम्णा नामक तीन नाड़ियों के सहस्थान में उस प्रभु को **समिन्धते**=दीप्त करते हैं जो १. **यज्ञस्य केतुम्**=यज्ञों के प्रज्ञापक हैं, जिन्होंने वेदवाणी में सब यज्ञों का प्रतिपादन किया है, २. **प्रथमं पुरोहितम्**=सर्वश्रेष्ठ हित के आधायक हैं (पुरः हितं) अथवा सर्वमुख्य यज्ञ के संस्थापक हैं, सृष्टियज्ञ के रचनेवाले प्रभु ही तो हैं, **अग्निम्**=अग्रणी हैं।

यहाँ त्रिषधस्थे का अर्थ 'जीव और परमात्मा के इकट्ठे बैठने के तीन स्थान' भी लिया जा

सकता है। उनमें १. 'ब्रह्मरन्ध्र' ध्यान के लिए, २. 'हृदय' उपासना के लिए और ३. 'वाणी' नामजपन के लिए है।

सः=वह प्रभु जब इन त्रिषधस्थों में समिद्ध होते हैं तब **इन्द्रेण**=जीवात्मा के साथ **देवैः**=दिव्य गुणों के द्वारा **सरथम्**=शरीररूप समान रथ में **बर्हिषि**=जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है उस पवित्र बर्हि नामक हृदय में **नि सदत्**=निषण्ण होते हैं, अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र, हृदय व वाणी में प्रभु के साथ जब जीव एक स्थान में स्थित होता है तब वह जितेन्द्रिय बनता है (इन्द्र), वह दिव्य गुणोंवाला होता है, (देवैः) और उसके हृदय में प्रभु आसीन होते हैं।

ये प्रभु ही वस्तुतः इस सुतम्भर के **होता**=यज्ञों को चलानेवाले होते हैं और वे प्रभु ही **यजथाय**=सब उत्तम यज्ञों के **सुक्रतुः**=उत्तम प्रज्ञान, कर्म व सङ्कल्पों को प्राप्त करानेवाले होते हैं। एवं, सुतम्भर से किये जाते हुए सब यज्ञ वस्तुतः उस प्रभु से सम्पादित हो रहे होते हैं।

भावार्थ—'प्रभु ही होता है, हम सब तो प्रभु की क्रीड़ा में निमित्तमात्र हो जाते हैं', इस भावना को जगाना ही सच्चा सुतम्भर बनना है।

सूक्त-७

ऋषिः—गृत्समदः शौनकः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पति-पत्नी

९१०. अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा। ममेदिह श्रुतं हवम्॥ १॥

घर में पति-पत्नी, शरीर में मित्रावरुण के समान ही हैं। आचार्य (ऋ० ७.४३.५) मित्रावरुणौ का अर्थ 'प्राणोदानौ इव स्त्रीपुरुषौ' करते हैं। यद्यपि 'प्राणवायु सबसे मुख्य है और घर में पति की प्रधानता है, तथापि 'उदानः कण्ठदेशे स्यात्' उदानवायु का स्थान कण्ठ है और घर के कण्ठ में पत्नी स्थित है, उसके बिना घर-घर ही नहीं रह जाता।' प्रभु इन मित्रावरुणौ से—पति-पत्नी से कहते हैं कि—

हे **ऋतावृधा**=ऋत=नियमितता के द्वारा अपने जीवन में वृद्धि करनेवाले **मित्रावरुणा**=पति-पत्नि! **अयं सोमः**=यह सोम=वीर्यशक्ति **वाम्**=तुम्हारे लिए ही **सुतः**=उत्पन्न की गयी है। तुम्हें इसके द्वारा अपने जीवन को बड़ा सुन्दर बनाना है। तुम दोनों **इत्**=निश्चय ही **इह**=अपने इस जीवन में **मम हवम्**=मेरी पुकार को—वेद में दिये गये मेरे आदेश को=**श्रुतम्**=सुनो। अपने जीवन को वेद में दिये गये आदेशों के अनुसार बनाओ।

मन्त्रार्थ से निम्न बातें स्पष्ट हैं—१. पति प्राण है, पत्नी कण्ठदेश में स्थित उदान के समान है। दोनों ही घर के निर्माण के लिए आवश्यक हैं। २. इन्हें अपने जीवन में ऋत=नियमितता को महत्त्व देना है, उसी से घर की वृद्धि होती है। ३. दोनों ने सोम की रक्षा करते हुए चलना है, उसका अपव्यय नहीं करना। सोम जीवन की अमूल्य वस्तु है। ४. इन्हें वेदानुसार जीवन बिताने का प्रयत्न करना है।

भावार्थ—पति-पत्नी का जीवन वेद के आदेशों के अनुसार बीते। वेद के मुख्य आदेश तीन हैं—१. गृत्स बनो (गृणाति)=प्रभु-स्तवन करो, २. मद=(माद्यति) सदा प्रसन्न रहो, ३. शौनक (शुन गतौ) गतिशील बनो। प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि का नाम 'गृत्समद शौनक' ही है।

ऋषिः—गृत्समदः शौनकः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उत्, उत्तर तथा उत्तम घर

९११. राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्रस्थूण आशाते ॥ २ ॥

१. **राजानौ**=ये पति-पत्नी अपने को यथासम्भव अधिक-से-अधिक ज्ञानदीप्त बनाने का प्रयत्न करें। २. इनका जीवन बड़ा नियमित हो। मन्त्र के 'ऋतावृधा' शब्द के अनुसार इनका जीवन ऋत से बढ़नेवाला हो। ३. **अनभिद्रुहौ**=ये परस्पर तो द्रोहरहित हों ही—ये औरों से भी द्रोह न करनेवाले हों। सब पड़ोसियों के साथ भी इनका व्यवहार बड़ा मधुर हो। ये किसी के साथ भी शुष्क वैर-विवाद करनेवाले न हों। ४. ये दोनों **सदसि**=घर में **आशाते**=(आसाते) विराजमान हों। पत्नी को घर की व्यवस्था के लिए घर पर रहना ही है, पति भी सदा प्रवास में ही रहनेवाले या सभामय जीवन-(club life)-वाले न हों—घर पर ही आनन्द लेनेवाले हैं। कैसे घर पर? (क) **ध्रुवे**=जोकि ध्रुव है। जिसमें पति-पत्नी के संघर्ष के कारण अध्रुवता उत्पन्न नहीं हो जाती। (ख) **उत्तमे**=जो घर उत्तम है। जिस घर में प्राकृतिक आवश्यकताओं की परेशानी नहीं वह 'उत्' है, जिसमें परस्पर व्यवहार का माधुर्य भी है वह 'उत्तर' है और जहाँ प्रभु की अर्चना भी है वह 'उत्तम' है, (ग) **सहस्रस्थूणे**=हजारों स्तभों=आधारोंवाले घर में। जिस घर में सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित आधार विद्यमान हैं, वह घर शतशः स्तम्भोंवाला या सहस्रस्थूण कहा जाता है।

भावार्थ—पति-पत्नी १. ज्ञान से दीप्त, २. नियमित जीवनवाले, ३. द्रोह से शून्य हों और घर १. ध्रुव, २. उत्तम तथा ३. सहस्रस्थूण हो—स्थिरतावाला, प्रभु अर्चनावाला तथा शतशः आधारोंवाला हो।

ऋषिः—गृत्समदः शौनकः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ऋजु-मार्ग

९१२. ता सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुनस्पती। सचेते अनवह्वरम् ॥ ३ ॥

ता=वे दोनों पति-पत्नी १. **सम्राजा**=अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर पूर्ण प्रभुत्ववाले हों, अतएव सम्यग् राजमान—दीप्त हों, २. **घृतासुती**=(घृ=दीप्ति, सु=उत्पत्ति) अपने जीवन में दीप्ति की उत्पत्तिवाले हों। उनका शरीर स्वास्थ्य की दीप्ति से, मन सत्य की दीप्ति से तथा बुद्धि ज्ञान की दीप्ति से चमके। ३. **आदित्या**=(आदानात्) ये सदा गुणों का आदान करनेवाले हों, ४. **दानुनस्पती**=ये दान के पति हों (नि० २.१३), सदा यज्ञ करके यज्ञशेष के खानेवाले हों। ५. ये ऐसे हों जो **अन्वह्वरम्**=अकुटिलता का **सचेते**=सेवन करते हों, जिसमें कुटिलता का सम्पर्क ही न हो। ऋजु-मार्ग से चलनेवाले हों।

भावार्थ—पति-पत्नी संयमी, ज्ञान की दीप्तिवाले, गुणग्राही, दानशील तथा ऋजु-मार्ग से चलनेवाले हों।

सूक्त-८

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

९१३. इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः। जघान नवतीर्नव ॥ १ ॥

१७९ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शर्यणावत् प्रदेश में प्रभु-दर्शन

३ १ २र ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
९१४. इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम्। तद्विदच्छर्यणावति ॥ २ ॥

शक्तिशाली—कर्मों में व्याप्त रहनेवाला पुरुष 'अश्व' कहलाता है। गोतम राहूगण=प्रशस्तेन्द्रिय त्यागशील व्यक्ति **अश्वस्य**=अश्व के **शिरः**=मस्तिष्क को **इच्छन्**=चाहता हुआ **पर्वतेषु**=पञ्च पर्वोंवाली अविद्या के पर्वों के कारण **अपश्रितम्**=दूर स्थित **यत्**=जो आत्मतत्त्व है **तत्**=उसे **शर्यणावति**= हृदयान्तरिक्ष में (शर्यणो अन्तरिक्षदेशः तस्य अदूरभवे—ऋ० १.८४.१४ पर द०) **विदत्**=प्राप्त करता है।

१. 'अश्व' शब्द कर्म का संकेत कर रहा है, 'शिरः' ज्ञान का और 'इच्छन्' सङ्कल्प या भक्ति का। इस प्रकार हमारे जीवनों में 'भक्ति, ज्ञान और कर्म' का समन्वय होता है, तभी आत्मतत्त्व का दर्शन होता है। २. यह आत्मतत्त्व अविद्या के कारण हमसे छिपा हुआ है। अविद्या पाँच पर्वोंवाली है। अविद्या के ये पाँच पर्व प्रभु को हमसे दूर रख रहे हैं—प्रभु इन पर्वों के कारण हमसे **अपश्रित**=दूर स्थित हैं। ३. इस प्रभु का दर्शन हमें उस हृदयावकाश में होगा जिसमें से वासनाओं का हिंसन कर दिया गया है। इस हिंसन=विशरण के कारण ही (शृ हिंसायाम्) हृदयदेश को 'शर्यणावान्' नाम दिया गया है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में 'भक्ति, ज्ञान व कर्म' का समन्वय करें और अविद्या को दूर करके वासनाशून्य हृदय में प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

२उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३क २र ३ २ ३ १ २ ३ २
९१५. अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥ ३ ॥

१४७ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

सूक्त-९

ऋषिः—मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पूर्व्य-स्तुति

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
९१६. इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिः। अभ्राद् वृष्टिरिवाजनि ॥ १ ॥

'इन्द्र' देवता बल व क्षत्र का प्रतीक है 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य।' 'अग्नि' प्रकाश व ब्रह्म (ज्ञान) का प्रतीक है। मन्त्र का ऋषि 'वशिष्ठ मैत्रावरुणि'=प्राणापानों का साधक वशी कहता है— **अस्य**=इस **मन्मनः**=विचारशील पुरुष की हे **इन्द्राग्नी**=बल और ज्ञान की अधिदेवताओ! **इयम्**=यह **पूर्व्यस्तुतिः**=श्रेष्ठ स्तुति अथवा उसका पालन व पूरण करनेवाली स्तुति **अभ्रात्**=बादल से **वृष्टिः इव**=वर्षा के समान **अजनि**=हो गयी है।

बादल से होनेवाली वर्षा १. सन्ताप को दूर करती है, २. शान्ति प्राप्त कराती है तथा विविध प्रकार के बीजों के विकास का कारण बनती है। इसी प्रकार विचारशील पुरुष से की गयी इन्द्राग्नी की स्तुति भी उसके जीवन से सन्ताप को दूर करनेवाली होती है, उसे शान्ति प्राप्त कराती है और उसके जीवन में विद्यमान सद्गुणों के बीजों का विकास करती है। इस प्रकार उसके जीवन का पूरण करने से यह स्तुति 'पूर्व्य' कहलायी है। यह स्तोता को ब्रह्म व क्षत्र से युक्त करती है, उसके

अन्दर इन्द्र और अग्नितत्त्व का विकास करती है।

भावार्थ—हमारी स्तुति मननपूर्वक हो, जिससे वह हमारा पूरण करनेवाली हो।

ऋषिः—मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

बुद्धियों का आप्यायन

९१७. शृणुतं जरितुर्हवमिन्द्राग्नी वनतं गिरः। ईशाना पिप्यतं धियः॥ २॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=प्रकाश व बल के अधिदेवताओ! **जरितुः**=स्तोता की **हवम्**=पुकार को **शृणुतम्**=सुनो, अर्थात् मेरी प्रार्थना को सुनो। 'जरिता' वस्तुतः वह स्तोता है जो अपनी आयु को उस स्तोतव्य के गुणों को अपने जीवन में अनूदित करने में ही जीर्ण कर देता है (जृ=जरिता, जृ=वयोहानि)। २. तुम **गिरः**=वाणियों का **वनतम्**=सेवन करो। मेरे प्रार्थनावचनों को सुनकर आप फल देनेवाले हो। ३. **ईशाना**=हे ऐश्वर्यवाले देवो! अथवा सबके ईशान देवो! **धियः**=हमारी बुद्धियों को **पिप्यतम्**=आप्यायित करो। हमारी बुद्धियों के वर्धन करनेवाले होओ।

भावार्थ—हम इन्द्र और अग्नि का स्तवन करें, वे हमारी बुद्धियों को आप्यायित करें।

ऋषिः—मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पाप, हिंसा व निन्दा से ऊपर

९१८. मा पापत्वाय नो नरेन्द्राग्नी माभिशस्तये। मा नो रीरधतं निदे॥ ३॥

हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश की देवताओ! **नरा**=आप दोनों ही मुझे इस जीवन-पथ पर आगे ले-चलनेवाले हो और **नः**=हमें **पापत्वाय**=किसी पाप कर्म के लिए **मा**=मत **रीरधतम्**=वश में करो। हम पाप करने के लिए विवश न हो जाएँ। २. **अभिशस्तये**=हिंसा के लिए अथवा दोषारोपण के लिए **मा**=मत वशीभूत करो। हम किसी की हिंसा न करें—किसी पर व्यर्थ दोषारोपण न करें। ३. **नः**=हमें **निदे**=निन्दा के लिए, घृणा के लिए, उपहास के लिए (censure, despise, mock) **मा**=मत वश में करो।

वस्तुतः बल और ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति—'ब्रह्म और क्षत्र' के विकासवाला व्यक्ति न पाप करता है, न हिंसा, न निन्दा! इन बातों की ओर उसका झुकाव नहीं रहता।

भावार्थ—मैं ब्रह्म व क्षत्र का विकास करके पाप, हिंसा व निन्दा से ऊपर उठूँ।

सूक्त-१०

ऋषिः—दृढच्युत आगस्त्यः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

९१९. पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे। मरुद्भ्यो वायवे मदः॥ १॥

४७४ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—दृढच्युत आगस्त्यः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोम जनित रत्न सप्तक

९२०. सं देवैः शोभते वृषा कविर्योनावधि प्रियः। पवमानो अदाभ्यः॥ २॥

मन्त्र की देवता 'पवमान सोम' है—पवित्र करनेवाली वीर्यशक्ति। यह सोम शरीर के अन्दर ओषधियों का सारभूत तत्त्व है। यह **अधियोनौ**=इस अपने उत्पत्तिस्थानभूत शरीर में १. **देवैः**=दिव्य गुणों के साथ **संशोभते**=उत्तमता से शोभायमान होता है। सोम के कारण शरीर में सब दिव्य गुणों का जन्म होता है। २. **वृषा**=यह सोम वृषा है—शक्ति को जन्म देनेवाला है। ३. **कविः**=क्रान्तदर्शी है—मनुष्य की बुद्धि को तीव्र बनाकर उसे कवि बनानेवाला है, ४. **प्रियः**=यह तृप्ति और कान्ति पैदा करनेवाला है। इसके सुरक्षित होने पर जीवन में असन्तोष की भावना नहीं आती और चेहरे पर एक विशेष प्रकार की कान्ति बनी रहती है। ५. **पवमानः**=यह जीवन में पवित्रता का संचार करता है तथा ६. **अदाभ्यः**=अहिंसित होता है। इसके शरीर में सुरक्षित होने से किसी प्रकार के रोगादि की आशंका नहीं रहती।

भावार्थ—सोम हमें १. दिव्य गुणोंवाला बनाता है, २. शक्ति, ३. बुद्धि, ४. तृप्ति, ५. कान्ति, ६. पवित्रता तथा ७. नीरोगता देता है।

ऋषिः—दृढच्युत आगस्त्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उन्नति के पथ पर

९२१. पवमान धिया हितो३ऽभि योनिं कनिक्रदत्। धर्मणा वायुमारुहः ॥ ३ ॥

१. हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! तू **धिया**=प्रज्ञानों व कर्मों के द्वारा **हितः**=शरीर में स्थापित किया हुआ है। सोम को शरीर में सुरक्षित करने और वासनाओं से बचने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य ज्ञानोपार्जन में लगा रहे तथा कर्मशील बना रहे। २. यह सोम का रक्षक **योनिम्-अभि**=मूल-स्थान परमेश्वर को लक्ष्य करके **कनिक्रदत्**=निरन्तर स्तुतिवचनों का उच्चारण करता है। सोम का रक्षक उस महान् सोम को क्यों न प्राप्त करेगा, ३. हे सोम! **धर्मणा**=अपनी धारक शक्ति से तू **वायुम्**=इस क्रियाशील आत्मा को **आरुहः**=(आरोहय) उन्नति-पथ पर आरूढ़ कर। सोम का रक्षक अपना धारण तो करता ही है, यह सदा धारणात्मक कर्मों में लगा रहता है।

भावार्थ—सोम से बुद्धि व कर्मशक्ति बढ़ती है, मनुष्य प्रभु-प्रवण बनता है और धारक कर्मों में प्रवृत्त होकर उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता है।

सूक्त-११

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

९२२. तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे।
पुरूणि बभ्रो नि चरन्ति मामव परिधींरति ताँ इहि॥ १ ॥

५१६ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सूर्य द्वार से ऊपर

९२३. तवाहं नक्तमुत सोम ते दिवा दुहानो बभ्र ऊधनि।
घृणा तपन्तमति सूर्यं परः शकुनाइव पप्तिम ॥ २ ॥

हे **सोम**=सम्पूर्ण जगत् को जन्म देनेवाले व **बभ्रो**=सबका भरण-पोषण करनेवाले प्रभो! प्रभु संसार को जन्म भी देते हैं और इसका पालन-पोषण भी करते हैं। **अहम्**=मैं **नक्तम्**=रात्रि में **तव**=तेरा **दुहानः**=अपने में पूरण करता हुआ **उत**=और **दिवा**=दिन में भी **ते**=तेरा **दुहानः**=अपने में पूरण करनेवाला **ऊधनि**=(ऋ० १.६४.५ में द० ऊधस् का अर्थ उषसम् करते हैं) उषाकाल में भी विशेषकर तेरा पूरण करते हुए हम **शकुनाः इव**=पक्षियों की भाँति उड़कर उस आपको **पप्तिम**=प्राप्त होते हैं, जो आप **घृणा**=दीप्ति से **अतितपन्तम्**=अत्यन्त देदीप्यमान **सूर्यम् परः**=सूर्य से भी परे हैं, आपकी दीप्ति तो हज़ारों सूर्यों के समान है। आपको प्राप्त होनेवाले सूर्यद्वार से ऊपर उठकर आप तक पहुँचते हैं। '**सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति**'। दिन-रात व दिन-रात की सन्धिभूत उषाकाल में सदा आपका पूरण करते हुए लोग 'सप्तर्षि' बनते हैं। उनके '**कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्**'—ये सब ज्ञान से दीप्त होते हैं, अतः यह 'सप्तर्षयः' नामवाला ही हो जाता है।

भावार्थ—हम प्रातः, दिन व रात में सदा प्रभु के गुणों का अपने में पूरण करनेवाले बनें।

सूक्त-१२

ऋषिः—बृहन्मतिः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

९२४. पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः। शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः॥ १॥

४८८ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—बृहन्मति आङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

संज्ञान व सशक्त, या ध्रुवसदस्

९२५. आ योनिमरुणो रुहद्गमदिन्द्रो वृषा सुतम्। ध्रुवे सदसि सीदतु॥ २॥

१. **अरुणः**=(आरोचनः—नि०) ज्ञान की दीप्ति से सर्वतः प्रकाशमान साधक ही **योनिम्**=संसार के मूलकारण प्रभु में **आरुहत्**=आरूढ़ होता है, ज्ञान-ज्योति की वृद्धि के साथ उन्नत होता हुआ यह अरुण प्रभु को पाता है। २. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता, अतएव **वृषा**=शक्तिशाली यह—मन्त्र का ऋषि 'बृहन्मति आङ्गिरस' विशाल बुद्धिवाला, सशक्त पुरुष **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न सोम को **गमत्**=प्राप्त होता है। इसकी वृत्ति यज्ञिय होती है। ३. इस प्रकार यह 'अरुण व इन्द्र'=सज्ञान व सशक्त पुरुष **ध्रुवे सदसि**=ध्रुव, अविनश्वर स्थान (सीट) पर (सदस्=बैठने का स्थान) **सीदतु**=बैठे, अर्थात् प्रभु को प्राप्त करे। प्रभु ही 'ध्रुवसदस्' हैं, अन्य सदस् अन्ततोगत्वा नष्ट हो जाते हैं—वही स्थिर आधार है। 'ध्रुवसदस्' पर बैठने का अभिप्राय यह भी है कि यह मर्यादित जीवन में ही चलता चले।

भावार्थ—हम संज्ञान व सशक्त बनकर प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—बृहन्मति आङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'बृहन्मति आङ्गिरस की रयि'

९२६. नू नो रयिं महामिन्दोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः। आ पवस्व सहस्रिणम्॥ ३॥

'बृहन्मति आङ्गिरस' प्रभु से प्रार्थना करता है—हे **इन्दो**=सर्वशक्तिमन्! **सोम**=सकल ऐश्वर्यों के उत्पादक प्रभो! १. **नु**=शीघ्र ही **नः**=हमारे **रयिम्**=ऐश्वर्य को **महान्**=महनीय व **सहस्रिणम्**=अनन्त, बहुत अधिक करके **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **विश्वतः**=सब ओर से **आपवस्व**=प्राप्त कराइए।

'बृहन्मति आङ्गिरस' की रयि 'प्रज्ञा और शक्ति' है। बृहन्मति चाहता है कि प्रभु उसकी प्रज्ञा को महनीय बनाएँ और शक्ति को बहुत अधिक बढ़ाएँ। इस प्रज्ञा और शक्ति को वह सर्वतः प्राप्त करना चाहता है। उसका सारा वातावरण ही ऐसा हो जो 'प्रज्ञा और शक्ति' की वृद्धि के अनुकूल हो। सर्वतः प्राप्त करने का यही अभिप्राय है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी बुद्धि महनीय हो और हमारी शक्ति अत्यन्त बढ़ी हुई हो।

सूक्त-१३

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

९२७. पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा॥ १॥

३९८ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

मद, युज्य और चारु

९२८. यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि।
स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु॥ २॥

हे **हर्यश्व**=(हरौ अश्वः) प्रभु में व्याप्त होनेवाले अथवा प्रभु में कर्मों को करनेवाले जीव! हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठातः! **प्रभूवसो**=प्रभुरूप धनवाले वसिष्ठ! **यः**=जो **ते**=तेरा सोम १. **मदः**=जीवन में उल्लास भरनेवाला है, २. **युज्यः**=तुझे अन्ततः प्रभु से मिलानेवाला है, ३. **चारुः अस्ति**=और जो तुझे शोभन बनानेवाला है, ४. **येन**=जिसके द्वारा तू **वृत्राणि हंसि**=ज्ञान के आवरणभूत कामादि को नष्ट करता है **सः**=वह सोम **त्वाम्**=तुझे **ममत्तु**=आनन्दित करे।

भावार्थ—सोमरक्षा के लाभ निम्न हैं—१. उल्लास, २. प्रभु से मेल, ३. शोभा अथवा क्रियाशीलता (चर गतौ), ४. वासनाविनाश, ५. जीवन में आनन्द। सोमरक्षा के उपाय हैं—१. प्रभु में निवास करते हुए कर्मों में लगे रहना, २. जिनेन्द्रिय बनने का प्रयत्न, ३. प्रभु को ही अपना धन समझना।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

प्रभु के तीन निर्देश

९२९. बोधा सु मे मघवन् वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम्।
इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व॥ ३॥

प्रभु जीव से कहते हैं—१. हे **मघवन्**=(मघ=मख) हे यज्ञमय जीवनवाले जीव! तू **इमाम्**=इस **मे**=मेरी **वाचम्**=वेदवाणी को **आ**=पूर्णरूप से **सु**=अच्छी प्रकार **बोध**=समझ। इस वेदवाणी को पूर्णतया सूक्ष्मता से समझने का प्रयत्न कर। २. यह वह वाणी है **याम्**=जिस **प्रशस्तिम्**=प्रभु की प्रशंसापरक वाणी को **ते**=यह तेरा ही भाई **वसिष्ठः**=उत्तम जीवन बितानेवाला **अर्चति**=श्रद्धा और आदर की भावना से पालन (respectfully obeys) करता है। ३. **इमा**=(अनया) इस वेदवाणी के द्वारा तू उस प्रभु की **सधमादे**=(सह माद्यन्ति यस्मिन्)=साथ आनन्दित होने के स्थान हृदय में

जुषस्व=प्रीतिपूर्वक उपासना कर।

भावार्थ—प्रभु के तीन निर्देश हैं—१. वेदवाणी को अधिक-से-अधिक समझने का प्रयत्न करो, २. वेद के अनुसार जीवन बनाकर वसिष्ठ बनो, ३. इसके द्वारा हृदय में प्रभु की उपासना करो।

सूक्त-१४

ऋषिः—रेभः काश्यपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अतिजगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

९३०. विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरः सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे।
क्रत्वे वरे स्थेमन्यामुरीमुतोग्रमोजिष्ठं तरसं तरस्विनम्॥ १ ॥

३७० संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—रेभः काश्यपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उपरिष्टाद् बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

'प्रभु-मार्ग पञ्चक'

९३१. नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरे।
सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः॥ २ ॥

नेमिम्=उस सर्वजगन्नियन्ता (नी धातु से मि करके नेमि=नियन्ता=नेता), सर्वजगन्नेता **मेषम्**=सब शक्तियों वा सुखों का सेचन करनेवाले प्रभु को **चक्षसा**=ज्ञान व दर्शनपूर्वक **अभिस्वरे**=अपने अत्यन्त समीप (very close or near), अर्थात् हृदयदेश में ही **नमन्ति**=नमन करते हैं। कौन?

१. **विप्राः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले—अपनी न्यूनताओं को दूर करके अपने में सद्गुणों का सञ्चार करनेवाले। २. **सुदीतयः**=(दीयतिः गतिकर्मा) उत्तम गति, अर्थात् सदा उज्ज्वल=पुण्य कर्मों में लगे हुए। ३. **वः अद्रुहः**=तुम्हारे न द्रोह करनेवाले। जो कभी भी किसी का भी बुरा नहीं चाहते। ४. **तरस्विनः**=वेगवाले अथवा बलवाले। जो द्रुत-गति से जीवन-पथ पर आगे बढ़ रहे हैं। अथवा जो शक्तिशाली हैं, वस्तुतः गति से ही उनमें शक्ति उत्पन्न हुई है। ५. **कर्णे समृक्वभिः अपि**=वे व्यक्ति भी आपकी ओर ही झुक रहे हैं जो कानों में सदा उत्तम ऋचाओं से युक्त होते हैं, अर्थात् जो सदा उत्तम स्तुति-मन्त्रों का ही श्रवण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना 'ज्ञानी स्तोता'='काश्यप रेभ' ही करता है।

ऋषिः—रेभः काश्यपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उपरिष्टाद् बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

स्वर्ग का पति

९३२. समु रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये।
स्वःपतिर्यदी वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः॥ ३ ॥

१. **रेभासः**=स्तोता लोग **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को **सोमस्य पीतये**=सोम के पान के लिए **उ**=निश्चय से सम् **अस्वरन्**=सम्यक्तया स्तुत करते हैं। प्रभु के स्तवन से वासना दूर रहती है और परिणामतः मनुष्य सोम की शरीर में रक्षा कर पाता है। सोमरक्षा के द्वारा यह भी इन्द्र, अर्थात् शक्तिशाली बनता है। २. शक्तिशाली बनकर यह **स्वःपतिः**=सुख का स्वामी होता है, जीवन का

आनन्द सबलता में ही है निर्बलता में नहीं। ३. **यत्-ई**=इस सोमरक्षा से जीवन में वह समय आता है जब निश्चय से **वृधे**=यह जीवन में वृद्धि के लिए होता है, ४. **धृतव्रतः**=यह व्रतों का धारण करनेवाला होता है। ५. **हि**=निश्चय से **ऊतिभिः**=रक्षणों के द्वारा **ओजसा**=ओज से **सम्**=संगत होता है, ओजस्वी बनता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से मनुष्य सोम-रक्षा कर पाता है। इससे उसका जीवन सुखी होता है, यह वृद्धि को प्राप्त करता है, व्रती बनकर ओजस्वी बनता है।

सूक्त-१५

ऋषिः—पुरुहन्मा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

९३३. यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठं यो वृत्रहा गृणे ॥ १ ॥

२७३ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—पुरुहन्मा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सूर्य के समान दर्शनीय

९३४. इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्त्तरि।
हस्तेन वज्रः प्रति धायि दर्शतो महान्देवो न सूर्यः ॥ २ ॥

हे **पुरुहन्मन्**=खूब गतिवाले (हन=गति)—पालक व पूरक कर्मों को करनेवाले 'पुरुहन्मन्'! तू **अवसे**=अपने रक्षण के लिए **तम्**=उस प्रसिद्ध **इन्द्रम्**=सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभु के **शुम्भ**=नामों का उच्चारण कर। जहाँ प्रभु के नामों का उच्चारण होता है वहाँ आसुर वृत्तियाँ नहीं पनपने पातीं। असुरों के आक्रमण से रक्षा के लिए 'प्रभु नाम का उच्चारण—स्मरण' प्राकार=चारदीवारी के समान है। २. तू उस प्रभु का स्मरण कर **यस्य**=जिसके **विधर्त्तरि**=धारण करनेवाले में **द्विता**=(ब्रह्म और क्षत्र) दोनों का विस्तार होता है (द्वि+तन्=विस्तार)। ३. इस प्रभुनामोच्चारक के **हस्तेन**=हाथ से **वज्रः**=क्रियाशीलता (वज गतौ) **प्रतिधायि**=धारण की जाती है। यह प्रभु के इस उपदेश को भूल नहीं जाता कि '**कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ**'=कर्म के लिए हाथ दिये गये हैं। इस निरन्तर कर्मशीलता से ही इसकी शक्ति बढ़ी रहती है और यह वासनाओं में नहीं फँसता। ४. **महान् देवः सूर्यः न दर्शतः**=यह महान् देदीप्यमान सूर्य के समान दर्शनीय होता है। अपने ज्ञान के कारण सूर्य के समान चमकता है। '**ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः**'=ज्ञान तो है ही सूर्य के समान ज्योति।

भावार्थ—पुरुहन्मान् सतत क्रियाशील पुरुष के हाथों में क्रियाशीलता व शक्ति प्रकट होती है तो मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्ति चमकती है और उसे दर्शनीय बना देती है।

सूक्त-१६

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

९३५. परि प्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः। स्वानैर्याति कविक्रतुः ॥ १ ॥

४७६ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोम का शरीर व मस्तिष्क पर प्रभाव

९३६. स सूनुर्मातरा शुचिर्जातो जाते अरोचयत् । महान्मही ऋतावृधा ॥ २ ॥

सः=वह सोम १. **सूनुः**=उत्तम प्रेरणा देनेवाला है—सोमरक्षा के द्वारा मनुष्य को सदा उत्थान की प्रेरणा प्राप्त होती है, २. **शुचिः**=यह अत्यन्त पवित्र वस्तु है और जीवन की पवित्रता का कारण है, ३. **जातः**=(जातम् अस्य अस्तीति) यह शक्तियों के प्रादुर्भाव व विकास का कारण है, ४. यह **महान्**=अत्यन्त महनीय=महत्त्वपूर्ण वस्तु है, ५. यह सोम **मातरा**=(माता च पिता च)=द्यावापृथिवी को—शरीर व मस्तिष्क को **अरोचयत्**=प्रकाशयुक्त करता है। जो शरीर और मस्तिष्क (क) **जाते**=उत्तम प्रादुर्भाववाले हैं, (ख) **मही**=महनीय व प्रशंसनीय हैं, (ग) **ऋतावृधा**=ऋतु के द्वारा—सब कार्यों को व्रत के रूप में ठीक समय व ठीक स्थान पर करने के द्वारा ये वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—सोम शरीर को नीरोग बनाता है और मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से भरकर उज्ज्वल कर देता है।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोम-रक्षा एक लाभ

९३७. प्रप्र क्षयाय पन्यसे जनाय जुष्टो अद्रुहः । वीत्यर्ष पनिष्टये ॥ ३ ॥

हे **सोम**=सोम ! **जुष्टः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किया हुआ तू **अर्ष**=प्राप्त हो। सोम को अत्यन्त प्रिय वस्तु समझकर उसे शरीर में ही व्याप्त करना सोम का सेवन है। यह सोम हमें प्राप्त हो। किसलिए ? १. **प्रप्र क्षयाय**=अत्यन्त उत्कृष्ट निवास के लिए, अर्थात् नीरोगता आदि द्वारा इस जीवन को भी सुन्दर बनाने के लिए और अन्ततोगत्वा मोक्ष-प्राप्ति के लिए। २. **पन्यसे**=अत्यन्त स्तुत्य व्यवहार के लिए। सोमपान से मनोवृत्ति सुन्दर बनी रहती है और सोमपान करनेवाला व्यक्ति व्यवहार में छल-छिद्र को नहीं आने देता। ३. **जनाय**=(जनन=जनः) शक्तियों के विकास के लिए। सोमरक्षा से ही शरीर में सब इन्द्रियों की शक्ति का विकास होता है। ४. **अद्रुहः**=(अद्रुहे ऋ०)=(द्रुह् क्विप्) द्रोहवृत्ति से ऊपर उठने के लिए। सोम का पान करनेवाला व्यक्ति किसी से द्रोह नहीं करता। ५. **वीती**=(वीत्यै) उत्कृष्ट गति के लिए। सोम ही सब प्रगतियों वा उन्नतियों का मूल है। ६. **पनिष्टये**=स्तुति के लिए (पनिष्य=स्तुति) सोमरक्षा हमें प्रभु-प्रवण बनाती है। हमारा जीवन भौतिक न रहकर प्रभु की ओर झुकाववाला होता है।

भावार्थ—सोमरक्षा से शक्तियों का विकास होकर मोक्ष में निवास होता है।

सूक्त-१७

ऋषिः—शक्तिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (ककुबुष्णिक्) ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

९३८. त्वं ह्या३ङ्ग दैव्य पवमान जनिमानि द्युमत्तमः । अमृतत्वाय घोषयन् ॥ १ ॥

५८३ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—उरुः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

पर्दे का हटाना

९३९. येना नवग्वा दध्यङ्ङपोर्णुते येन विप्रास आपिरे।
देवानां सुम्ने अमृतस्य चारुणो येन श्रवांस्याशत ॥ २ ॥

'पवमान सोम'=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला सोम वह है—१. **येन**=जिससे **नवग्वा**=(नवगतिः नवनीतगतिर्वा—नि० ११.१९ नू स्तुतौ) स्तुतिमय क्रियाशीलतावाला वा मक्खन के समान कोमलतायुक्त गतिवाला **दध्यङ्**=(प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा—नि० १२.३३) ध्यानशील पुरुष **अपोर्णुते**=सत्य के स्वरूप को ढकनेवाले हिरण्मयपात्र को दूर करता है, अर्थात् आवरण को हटाकर सत्य के स्वरूप का दर्शन करता है। यह सोम वह है **येन**=जिसके द्वारा **देवानाम्**=देवताओं के, अर्थात् देवसम्बन्धी **चारुणः अमृतस्य**=सुन्दर अमृतत्व के **सुम्ने**=आनन्द में मनुष्य निवास करता है। इस सोम के कारण रोगादि शरीर में घर नहीं कर पाते=रोगरूप मृत्युएँ दूर हो जाती हैं, साथ ही सब इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनी रहती हैं और उनकी सुन्दर गति में क्षीणता नहीं आती, परिणामतः 'सु-ख' व आनन्द मिलता है। ४. यह सोम वह है **येन**=जिससे **श्रवांसि**=यश, स्तोत्र, धन व उत्तम कार्यों को **आशत्**=प्राप्त करते हैं। हमारा जीवन यशस्वी होता है, हम प्रभु-प्रवण बन उसके स्तोता होते हैं, धनार्जन के योग्य बनते हैं और सदा प्रशंसनीय कर्मों को ही करते हैं।

भावार्थ—सोम को शरीर में सुरक्षित करके ही मनुष्य अज्ञान के आवरण को दूर करके प्रभु-दर्शन कर पाता है।

सूक्त-१८

ऋषिः—अग्निश्चाक्षुषः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

९४०. सोमः पुनान ऊर्मिणाव्यं वारं वि धावति। अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् ॥ १ ॥

५७२ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—अग्निश्चाक्षुषः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

तीन आधारोंवाला

९४१. धीभिर्मृजन्ति वाजिनं वने क्रीडन्तमत्यविम्। अभि त्रिपृष्ठं मतयः समस्वरन् ॥ २ ॥

पवमान सोम क्या करते हैं—१. **धीभिः**=ज्ञान के द्वारा **मृजन्ति**=सोमपान करनेवाले को शुद्ध कर डालते हैं। सोमपान से ज्ञानाग्नि दीप्त होकर जीवन को शुद्ध कर डालती है, २. **वाजिनम्**=यह सोमपान इस पुरुष को शक्तिशाली बनाता है। ३. **वने क्रीडन्तम्**=उस उपास्य परमेश्वर में क्रीड़ा करनेवाला बनाता है। सोमरक्षा से मनुष्य की वृत्ति ऐसी ऊँची हो जाती है कि वह सब क्रियाओं को प्रभु में हो रहा देखता है, उसे यह संसार प्रभु की क्रीड़ा प्रतीत होता है। ४. **अत्यविम्**=(अति=पूजित)। यह सोम उसे अतिशेयन अवि=रक्षक बनाता है। यह व्यक्ति आसुर वृत्तियों को अपने पर आक्रमण नहीं करने देता। ५. **त्रिपृष्ठम् अभि**=यह सोमपान करनेवाला 'ज्ञान, कर्म व भक्ति' तीनों को अपना आधार बनाता है और **मतयः**=सब ज्ञान इस 'त्रिपृष्ठ' की ओर **समस्वरन्**=गति करते हैं (स्वृ to go), अर्थात् इसे सब ज्ञान प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—सोमपान करने से ही मनुष्य ज्ञान, भक्ति व निष्काम-कर्म का आधार बनता है। यह ज्ञान का आधार होने से 'चाक्षुष' है और निष्काम कर्म से आगे बढ़ता हुआ यह 'अग्नि' है।

ऋषिः—अग्निश्चाक्षुषः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

चाक्षुष अग्नि

९४२. असर्जि कलशाँ अभि मीढ्वान्त्सप्तिर्न वाजयुः।
पुनानो वाचं जनयन्नसिष्यदत्॥ ३॥

यह सोम **कलशान् अभि**=सोलह कलाओं के आधारभूत शरीरों का लक्ष्य करके **असर्जि**=निर्मित हुआ है। यह शरीर को विफल नहीं होने देता। यह शरीर में होनेवाली कमियों को दूर करके उसे सदा सकल=पूर्ण बनाये रखता है। २. **मीढ्वान्**=इस प्रकार यह सब सुखों की वर्षा करनेवाला है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग का, सब इन्द्रियों का ठीक होना ही 'सु-ख' है। ३. **सप्तिः न**=घोड़े के समान **वाजयुः**=शक्ति को यह हमारे साथ जोड़नेवाला है। सोमपान हमें इतनी शक्ति देता है कि हम घोड़े के समान अपने कर्त्तव्य मार्ग का आक्रमण करते हुए कभी थकते नहीं। ४. **पुनानः**=यह हमारे हृदयों में वेदवाणी का आविर्भाव करते हुए **असिष्यदत्**=हमारे शरीर में प्रवाहित होता है। सोमरक्षा से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और हृदय निर्मल, अतः हम प्रभु की वाणी को सुन पाते हैं। ज्ञानवृद्धि करके यह हमें 'चाक्षुष' बनाता है और हमारी उन्नति का कारण बनकर हमें 'अग्नि' बनाता है।

भावार्थ—शरीर की न्यूनताओं को दूर करने के लिए ही प्रभु ने सोम की सृष्टि की है।

सूक्त-१९

ऋषिः—प्रतर्दनो दैवोदासिः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

९४३. सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥ १॥

५२७ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—प्रतर्दनो दैवोदासिः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देवों में ब्रह्मा

९४४. ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥ २॥

सोमः=सोम की रक्षा करके सौम्य बननेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रतर्दन दैवोदासि'=वासनाओं को कुचलनेवाला प्रभु का दास (भक्त) १. **देवानां ब्रह्मा**=दिव्य गुणवालों में ब्रह्मा बनता है। सोम मनुष्य की उन्नति का कारण बनता है। उन्नत होते-होते यह देव बनता है, देवों में भी इसका स्थान प्रथम होता है। २. **कवीनां पदवीः**=क्रान्तदर्शियों का यह मार्ग होता है, अर्थात् दूसरे अनुभव करते हैं कि इसी मार्ग पर चलकर हम भी कवि बन पाएँगे। ३. यह **विप्राणां ऋषिः**=विप्रों में ऋषि होता है। विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले लोग 'वि-प्र' हैं, यह उनमें तत्त्वज्ञानी होता है। तत्त्वज्ञानी

ही अपना ठीक-ठीक पूरण कर पाता है। ४. **मृगाणाम्**=आत्मान्वेषण करनेवालों में यह **महिषः**=पूज्य होता है, अर्थात् उनका भी मूर्धन्य बनता है। ५. **गृध्राणाम्**=उत्तम पद की अभिकांक्षा करनेवालों में यह **श्येनः**=शंसनीय-गतिवाला होता है (गृधु अभिकांक्षायाम्)। मोक्ष को अपना उद्देश्य बनाकर यह सदा उत्तम कर्मों में लगा रहता है। ६. **वनानां स्वधितिः**=इस संसार-वृक्ष के लिए कुल्हाड़े के समान होता है। यह अश्वत्थ-रूप संसार को विवेकरूप कुल्हाड़े से काट डालता है। ६. यह सौम्य पुरुष **अतिरेभन्**=अतिशेयन प्रभु का स्तवन करता हुआ **पवित्रम्**=पवित्र करनेवाले, स्वयं पूर्ण पवित्र प्रभु को **एति**=प्राप्त होता है, सब वासनाओं को कुचलकर प्रभु-चरणों में पहुँच जाता है।

भावार्थ—हम सोम के पुञ्ज बनकर पूर्ण पवित्र प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—प्रतर्दनो दैवोदासिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

चारों वेदवाणियों की प्रेरणा

९४५. प्रावीविपद्वाच ऊर्मिं न सिन्धुर्गिर स्तोमान् पवमानो मनीषाः।
अन्तः पश्यन् वृजनेमावराण्या तिष्ठति वृषभो गोषु जानन् ॥ ३ ॥

सोम की रक्षा के द्वारा **पवमानः**=अपने जीवन को पवित्र बनाने के स्वभाववाला जैसे **सिन्धुः ऊर्मिं न**=समुद्र अपने में तरंग को प्रेरित करता है, उसी प्रकार १. **वाचः**=(वच व्यक्तायां वाचि) पदार्थों के गुण-धर्मों का स्पष्ट कथन करनेवाले ऋग्वेद अथवा विज्ञानवेद की वाणियों को अपने में **प्रावीविपत्**=प्रकर्षेण प्रेरित करता है। उन वाणियों के द्वारा विज्ञान को बढ़ाकर प्रकृति के पदार्थों का ठीक उपयोग करता है। २. **गिरः**=(गृणाति उपदिशति) यजुर्वेद की उपदेशात्मक गिराओं को भी अपने में खूब प्रेरित करता है और अपने कर्त्तव्यों का सदा स्मरण करता है। ३. **स्तोमान्**=सामवेद की स्तुति-समूहरूप वाणियों को भी सतत प्रेरित करता है और उनके द्वारा यह प्रभु के निकटतम सम्पर्क में आकर शक्तिशाली बनता है। ४. **मनीषाः**=अथर्ववेद की बुद्धिमत्ता से परिपूर्ण नैतिक उपदेश देनेवाली बातों को भी यह अपने में सदा प्रेरित करने का प्रयत्न करता है। वहाँ पहले ही मन्त्र में वह 'कम खाओ, कम बोलो' का पाठ पढ़ता है। ५. **अन्तः पश्यन्**=यह पवमान सदा अन्तः निरीक्षण करनेवाला बनता है और इस आत्मालोचन की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ही ६. **इमा**=इन **अवराणि**=अवचेतना में छिपकर बैठे हुए (Sub-conscious spirit) **वृजना**=वर्जनीय=निकृष्टभावों को **आतिष्ठति**=पाँवों के नीचे कुचल देता है। परिणामतः ७. **वृषभः**=शक्तिशाली बनता है और ८. **गोषु**=इन्द्रियों के विषय में **जानन्**=ज्ञानी बनकर चलता है। इन्द्रियों के स्वभाव को समझकर कभी प्रमाद नहीं करता। सदा समझदार बनकर उन्हें अपने वश में रखता है।

भावार्थ—पापों को कुचलकर मैं सचमुच 'प्रतर्दन' बनूँ।

सूक्त-२०

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः; गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

९४६. अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम्। अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥ १ ॥

२१ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः; गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

हमारे जीवन का शिल्पी

९४७. अयं यथा न आभुवत् त्वष्टा रूपेव तक्ष्या। अस्य क्रत्वा यशस्वतः॥ २॥

१. गत मन्त्र में वर्णित 'अग्नि' को यहाँ 'अयं' इस सर्वनाम शब्द से परामृष्ट करके कहते हैं कि **इव**=जैसे **त्वष्टा**=एक शिल्पी (बढ़ई) **रूपा**=लकड़ी में नानाविध रूपों का निर्माण करता है, उसी प्रकार **त्वष्टा यथा**=शिल्पी की **अयम्**=यह प्रभुरूप अग्नि **नः**=हमारे **तक्ष्या**=निर्माण करने योग्य रूपों व वस्तुओं को **आभुवत्**=समन्तात् उत्पन्न करता है। हमारे लिए उस प्रभु ने किस सुन्दर वस्तु का निर्माण नहीं किया? २. **अस्य**=इस प्रभु के ही **क्रत्वा**=प्रज्ञान व कर्म **यशस्वतः**=हमें यशवाला करते हैं। प्रभु का दिया हुआ ज्ञान व बल हमें यशस्वी बनाता है।

हमारा निर्माण तो प्रभु को करना है—'मेरा वह-वह रूप प्रभु से निर्मित हो रहा है', यह भावना हमारे जीवन के महान् उत्कर्ष का कारण बनती है। इस भावना से हमारे अन्दर परमेश्वरार्पण बुद्धि जागरित होती है। इस बुद्धि के जागरित होने पर हम प्रभु के ज्ञान व प्रभु की शक्ति से सम्पन्न हो यशस्वी बनते हैं। 'मेरा ज्ञान, मेरी शक्ति व मेरा यश न होकर प्रभु का है' यह भावना हमें निरहंकार बनाती है।

भावार्थ—मेरे जीवन का (त्वष्टा) शिल्पी वह प्रभु ही है।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः; गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

श्री-पति पुरुषोत्तम

९४८. अयं विश्वा अभि श्रियोऽग्निर्देवेषु पत्यते। आ वाजैरुप नो गमत्॥ ३॥

१. **अयम् अग्निः**=यह सब देवताओं का अग्रणी प्रभु ही **देवेषु**=देवताओं में जो **श्रियः**=श्री हैं **विश्वाः**=उन सबका **अभिपत्यते**=ईश है (पत् ऐश्वर्यकर्मा—नि० २.२१.२)। सूर्य, चन्द्र, अग्नि में जो तेज है, वह सब उस प्रभु की ही तो विभूति है। जलों में वे प्रभु रस हैं, तो वायु में वे प्राण हैं। पृथिवी में सब ओषधियों के उत्पादन की शक्ति भी तो उस प्रभु की ही है। बुद्धिमानों की बुद्धि प्रभु हैं—बलवानों का बल व तेजस्वियों का तेज वे प्रभु ही हैं।

२. वे प्रभु **नः**=हमारे **उप**=समीप भी **वाजैः**=नाना प्रकार की शक्तियों से **आगमत्**=प्राप्त होते हैं। अन्नमयकोश में तेज, प्राणमयकोश में वीर्य, मनोमयकोश में ओज व बल, विज्ञानमयकोश में मन्यु तथा आनन्दमयकोश में सहस् को प्राप्त करानेवाले वे प्रभु ही हैं। इस प्रकार प्रभुकृपा से ही हम प्रत्येक कोश के वाज व ऐश्वर्य को प्राप्त करके 'आभूति' बनते हैं। प्रभु से मेल मुझे सब कोशों की विभूति प्राप्त कराता है, अतः प्रभु से मेल करनेवाला 'प्रयोग' (उत्कृष्ट सम्पर्कवाला) ही इस मन्त्र का ऋषि है—यह भार्गव=अपना पूर्ण परिपाक करनेवाला तो है ही।

भावार्थ—श्रीमात्र को प्रभु का अंश जान मुझे अपने वाजों की श्री का गर्व न हो—यह सब तो उस प्रभु की ही देन है। श्रीपति तो पुरुषोत्तम प्रभु ही हैं।

सूक्त-२१

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः; गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः ॥
देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

९४९. इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम् । शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन् धारा ऋतस्य सादने ॥ १ ॥

३४४ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः; गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः ॥
देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

रथी-तर

९५०. न किष्ट्वद्रथीतरो हरी यदिन्द्र यच्छसे ।
न किष्ट्वानु मज्मना न किः स्वश्व आनशे ॥ २ ॥

अपने जीवन को पवित्र करनेवाला 'पावकः'=उन्नति-पथ पर चलनेवाला 'अग्निः'—अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करनेवाला 'बार्हस्पत्यः' अथवा इस प्रभु-प्रदत्त शरीररूप घर की रक्षा करनेवाला 'गृहपतिः'=रक्षा के उद्देश्य से अपने को पापों से पृथक् कर पुण्य से जोड़नेवाला 'यविष्ठ', परिणामतः शक्ति का पुतला बना हुआ 'सहसः पुत्र' मन्त्र का ऋषि है। इसके ऐसा बन सकने का रहस्य मन्त्र में निम्न शब्दों में वर्णित हुआ है—

१. **त्वत्**=तुझसे **रथीतरः**=उत्तम रथवाला **नकिः**=और कोई नहीं है **यत्**=क्योंकि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठातः ! तू **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **यच्छसे**=वश में करके उत्तम रथवाला बनने के लिए यत्न करता है। 'इन्द्रियों को वश में करना' आवश्यक है। इससे शक्ति भी बढ़ती है और ज्ञान भी, परिणामतः न व्याधियाँ इस शरीर को घेरती हैं न आधियाँ। शक्ति का अभाव व्याधियों का कारण होता है और ज्ञानाभाव आधियों का।

२. **मज्मना**=बल के दृष्टिकोण से भी (मज्म=बल) **त्वा अनु न किः**=तेरा अनुगमन करनेवाला कोई नहीं बनता, अर्थात् तू अद्वितीय शक्तिशाली बनता है। ३. तेरे समान **स्वश्वः**=उत्तम इन्द्रियरूप घोड़ोंवाला भी **न किः आनशे**=अपने मार्ग का व्यापन नहीं करता (अश् व्याप्तौ)। जिस सुन्दरता से तू अपने घोड़ों को मार्ग पर चला रहा है वैसा और कोई नहीं मिलता। इसी का यह फल है कि निरन्तर कर्मों में लगे रहने से तू 'पावक, यविष्ठ व सहसःपुत्र' बना है और सतत ज्ञानप्राप्ति ने तुझे 'अग्नि, बृहस्पति व गृहपति' बनाया है।

भावार्थ—हम उत्तम रथी हों, इन्द्रियरूप घोड़ों को वश में रक्खें, शक्ति की वृद्धि करें और उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले हों। इन्द्रियाश्व शक्तिशाली भी हों और हमारे वश में भी हों।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः; गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः ॥
देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ज्येष्ठ-सहः

९५१. इन्द्राय नूनमर्चतोक्थानि च ब्रवीतन ।
सुता अमत्सुरिन्दवो ज्येष्ठं नमस्यता सहः ॥ ३ ॥

१. **इन्द्राय**=परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभु के लिए **नूनम्**=निश्चय से **अर्चत**=अर्चना करो। २. **च**=और उस प्रभु के लिए ही **उक्थानि**=स्तोत्रों का **ब्रवीतन**=उच्चारण करो। वेदमन्त्रों के द्वारा प्रभु का गुण-गान करो। ३. **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **इन्दवः**=सोमकण तुम्हें **अमत्सुः**=आनन्दित करें। इन्हीं की रक्षा होने पर हमारा प्रभु की ओर झुकाव होता है और हम ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्त होते हैं। ४. तुम उस **ज्येष्ठं सहः**=सर्वश्रेष्ठ बल के लिए **नमस्यत**=नमस्कार करो।

भावार्थ—प्रभु-पूजा हमें 'इन्द्र' बनाती है। स्तोत्रों का उच्चारण हमें ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कराता है। सोमकण जीवन में उल्लास का कारण बनते हैं और इनकी रक्षा से उत्तम शक्ति प्राप्त होती है।

सूक्त-२२

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

आनन्द-प्राप्ति का सप्तविधमार्ग

९५२. इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिह।
पिबा सुतस्य मतिर्न मधोश्चकानश्चारुर्मदाय॥ १॥

मदाय='आनन्द-प्राप्ति के लिए जीव को किस मार्ग का आक्रमण करना' प्रभु बतलाते हैं—१. **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक प्रभु की उपासना कर। २. **प्रवह**=इस शरीररूप रथ को आगे और आगे ले-चल। ३. **शूर**=सब विघ्नों की हिंसा करनेवाले! **हरि-ह**=इन्द्रियरूप घोड़ों को हाँकनेवाले (हरि=घोड़े, हन्=गति) **आयाहि**=तू प्रभु की ओर गतिवाला हो। ४. इसी वृत्ति का बने रहने के लिए **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का **पिब**=तू पान कर। सोमपान करनेवाला ही प्रभु की ओर गति करता है—वही विघ्नों को हिंसित कर पाता है और प्रबल इन्द्रियरूप घोड़ों को काबू कर पाता है। ५. **मतिः न**=तेरा सारा व्यवहार बुद्धिमान्=समझदार पुरुष की भाँति हो। ६. **मधोः चकानः**=तू माधुर्य की कामनावाला हो। कटुता को अपने जीवन से दूर रख, ७. और इस प्रकार तेरा सारा जीवन **चारुः**=सुन्दर-ही-सुन्दर हो। तू (चर गतौ) सञ्चरणशील—क्रियामय जीवनवाला बन।

ऐसा बनकर तू मदाय=हर्ष के लिए होता है—तेरा जीवन सदा उल्लासमय बना रहता है।

भावार्थ—जीवन को उल्लासमय बनाने के सात साधन हैं—१. प्रभु की उपासना, २. अपने को आगे ले-चलना, ३. शूर बनकर विघ्नों को जीतना, ४. सोमपान, ५. समझदारी, ६. माधुर्य, ७. सुन्दरता से क्रियाओं को करने में लगे रहना।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

माधुर्य, प्रकाश, शक्ति, स्वर्ग का जीवन

९५३. इन्द्र जठरं नव्यं न पृणस्व मधोर्दिवो न।
अस्य सुतस्य स्वा३र्नोप त्वा मदाः सुवाचो अस्थुः॥ २॥

इन्द्र=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **जठरम्**=(bosom, the interior part) अपने अन्तर को **नव्यं न**=अति नवीन प्रकार से अथवा स्तुत्य ढंग से **पृणस्व**=पूरित कर ले। १. **मधोः**=तू अपने अन्तर को माधुर्य से पूर्ण कर, तेरा हृदय माधुर्य से परिपूर्ण हो। २. **दिवः न**=(न इति चार्थे)=और

तू अपने अन्तर को प्रकाश से परिपूर्ण कर। ३. **अस्य सुतस्य**=इस उत्पन्न सोम से तू अपने जठर को पूर्ण कर। यह सोम तेरे शरीर में ही व्याप्त होनेवाला हो। ४. इस प्रकार माधुर्य, प्रकाश व वीर्यशक्ति से परिपूर्ण तेरा जीवन **स्वः न**=स्वर्गलोक का-सा जीवन हो। ५. इस स्वर्ग में **त्वा**=तुझे **मदाः**=जीवन में आनन्दोल्लास भरनेवाली **सुवाचः**=उत्तम वेदवाणियाँ **उपास्थुः**=समीपता से प्राप्त हों।

भावार्थ—स्वर्गमय जीवन में माधुर्य, प्रकाश, शक्ति व उत्तम वाणियों का निवास है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

१ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २उ ३ २

९५४. इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो न जघान वृत्रं यतिर्न।

३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ ३उ ३ २ ३ १ २

बिभेद वलं भृगुर्न ससाहे शत्रून् मदे सोमस्य ॥ ३ ॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला इन्द्र **मित्रः न**=सूर्य के समान, जैसे उदय होता हुआ सूर्य कृमियों को नष्ट करता है, उसी प्रकार **तुराषाट्**=शत्रुओं को त्वरा से पराभव करनेवाला होता है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव आसुरवृत्तियों का पराभव करता है। २. **यतिः न**=एक यति—इन्द्रियों का पूर्ण निग्रह करनेवाले संयमी पुरुष के समान यह **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **जघान**=नष्ट करता है। ३. **भृगुः न**=अपना पूर्ण परिपाक करनेवाले पुरुष के समान **वलं बिभेद**=वल नामक असुर का यह भेदन करता है। असुररूप वल को तो यह विदीर्ण ही कर देता है। ४. यह इन्द्र **सोमस्य मदे**=अपने अन्दर ही खपाये हुए सोम के मद में **शत्रून्**=शक्ति के नाशक कामादि को **ससाहे**=पूर्णरूप से अभिभूत करता है।

भावार्थ—इन्द्र शत्रुओं का पराभव करता है, ज्ञान के आवरणभूत वृत्र को नष्ट करता है, वल व असुर नहीं बनने देता और सोम के मद में शत्रुओं को समाप्त कर देता है।

इति पञ्चमोऽध्यायः, तृतीयप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

तृतीयप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—अकृष्टा माषाः, सिकतानिवावरी, पृश्नयोऽजाश्च ऋषिगणाः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उपासना

९५५. गोवित्पवस्व वसुविद्धिरण्यविद्रेतोधा इन्दो भुवनेष्वर्पितः ।
त्वं सुवीरो असि सोम विश्वविक्तं त्वा नर उप गिरेम आसते ॥ १ ॥

हे **इन्दो**=परमैश्वर्यवन्! **सोम**=सम्पूर्ण जगत् को जन्म देनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप १. **गोवित्**=सब वेदवाणियों को देनेवाले हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में जीवहित के लिए आप वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं। २. **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक धन देनेवाले हैं, ३. **हिरण्यवित्**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) ज्योति प्राप्त करानेवाले हैं, ४. **रेतोधाः**=जीवन-तन्तु को अविच्छिन्न रखने के लिए रेतस् का आधान करते हैं (कोन्वस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरातायताम् इति), ५. **भुवनेषु अर्पितः**=आप सब लोक-लोकान्तरों में व्याप्त हैं। ६. **त्वम्**=आप **सुवीरः असि**=उत्तम वीर हैं, ७. **विश्ववित्**=आप सभी आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले हैं। ८. **तं त्वा**=उस आपको **इमे नरः**=ये मनुष्य **गिरा**=वेदवाणी से **उपासते**=उपासित करते हैं। ९. वे आप **पवस्व**=हमारे जीवनों को पवित्र कर दीजिए।

भावार्थ—हम प्रभु से याचना करें कि वे प्रभु हमें 'गौ, वसु, हिरण्य, रेतस्' व अन्य सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराएँ। हम आपकी ही उपासना करते हैं। आप हमारे जीवनों को पवित्र कर दीजिए।

ऋषिः—अकृष्टा माषाः, सिकतानिवावरी, पृश्नयोऽजाश्च ऋषिगणाः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उत्तम जीवन

९५६. त्वं नृचक्षा असि सोम विश्वतः पवमान वृषभ ता वि धावसि ।
स नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवद्वयं स्याम भुवनेषु जीवसे ॥ २ ॥

हे **सोम**=सकल जगत् के उत्पादक! **पवमान**=सम्पूर्ण जीवों को पवित्र करनेवाले! **वृषभ**=सब कामनाओं के पूरक प्रभो! १. **त्वम्**=आप **विश्वतः**=सर्वत्र **नृचक्षाः असि**=मनुष्यों के द्रष्टा (Look after) तथा ध्यान करनेवाले हैं। २. आप **ताः विधावसि**=उन्हें विशेषरूप से शुद्ध करनेवाले हैं (धाव्=शुद्धि)। आपका स्मरण ही उन्हें पवित्र करनेवाला है। ३. **सः नः**=वे आप हमारे लिए **वसुमत्**=उत्तमता से युक्त—निवास के लिए उपयोगी **हिरण्यवत्**=ज्योति व तेज से युक्त धन **पवस्व**=प्राप्त कराइए। ४. जिससे **वयम्**=हम **भुवनेषु**=इन लोकों में **जीवसे**=उत्तम जीवन बिताने के लिए **स्याम**=समर्थ हों।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम धन प्राप्त कराते हैं जिससे हम जीवन को उत्तमता से बिताते हैं।

ऋषिः—अकृष्टा माषाः, सिकतानिवावरी, पृश्नयोऽजाश्च ऋषिगणाः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

प्रभु की आज्ञा का पालन

९५७. ईशान इमा भुवनानि ईयसे युजान इन्दो हरितः सुपर्ण्यः।
तास्ते क्षरन्तु मधुमद् घृतं पयस्तव व्रते सोम तिष्ठन्तु कृष्टयः॥ ३॥

हे **इन्दो**=परमैश्वर्यवन्! **सोम**=सम्पूर्ण जगत् को जन्म देनेवाले प्रभो! आप १. **ईशानः**=सारे ब्रह्माण्ड के ईशान (Lord) हो। २. आप **इमा भुवनानि**=इन सब भुवनों को **ईयसे**=प्राप्त होते हो (प्रभु का विचरना भी स्थिरता लिये हुए है), ३. **हरितः**=सब दुःखों का हरण करनेवाले, अतएव मनोहर **सुपर्ण्यः**=उत्तम पालक वस्तुओं का **युजानः**=सबके साथ योग करनेवाले हो। प्रभु दुःखहारक, पालक वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले हैं। ४. **ते**=आपके **ताः**=वे सब उत्तम पदार्थ **मधुमत्**=माधुर्य से युक्त **घृतम्**=दीप्ति प्राप्त करानेवाले **पयः**=आप्यायन को **क्षरन्तु**=प्राप्त कराएँ। उन पदार्थों के यथोचित प्रयोग से हमारा माधुर्य व दीप्ति से युक्त वर्धन हो। ५. हे प्रभो! **कृष्टयः**=श्रमशील व्यक्ति **तव व्रते**=आपके व्रत में **तिष्ठन्तु**=ठहरें, आपकी वेदोपदिष्ट आज्ञाओं का पालन करें। जो व्यक्ति माषों की फली आदि सांसारिक वस्तुओं की छीना-झपटी में ही सारा समय नहीं बिता देते वे 'अकृष्टमाष' ही प्रभु की आज्ञा का पालन करते हैं, वे ही इन मन्त्रों के ऋषि हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ईशान हैं। हम उनके व्रतों में ही चलें तभी हमारा जीवन माधुर्य, दीप्ति व वृद्धि को लिये हुए होगा।

सूक्त-२

ऋषिः—मारीचः कश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वेदवाणी की धाराएँ

९५८. पवमानस्य विश्ववित् प्र ते सर्गा असृक्षत। सूर्यस्येव न रश्मयः॥ १॥

वेदमन्त्रों के अर्थों का देखनेवाला 'कश्यप' (पश्यक) और उनके द्वारा वासनाओं को मारनेवाला 'मारीच' इन मन्त्रों का ऋषि कहता है—हे **विश्ववित्**=सर्वज्ञ प्रभो! **पवमानस्य**=सबको पवित्र करनेवाले **ते**=आपके **सर्गाः**=वेदमन्त्रों की धाराएँ (सृज्=to utter a word) **प्र असृक्षत**=प्रकृष्टरूपेण उच्चरित होती हैं—धाराओं के रूप में प्रवाहित होती हैं। वे ज्ञानधाराएँ **इव**=मानो **सूर्यस्य रश्मयः न**=सूर्य की किरणों के समान हैं। जैसे सूर्य की किरणें सूर्य से बाहर फैलती हैं और प्रकाश-ही-प्रकाश कर देती हैं, उसी प्रकार प्रभु की ये वेदवाणियाँ हमारे हृदयों के अन्धकार को विनष्ट कर देती हैं।

सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु द्वारा इन वेदवाणियों का उच्चारण हुआ है, इनके द्वारा अन्धकार नष्ट होकर प्रकाश-ही-प्रकाश हो गया है। इस प्रकाश में कार्य करते हुए हम अपने जीवनों को पवित्र कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की वेदवाणी सूर्य की रश्मियों के समान है। ये हमारे जीवनों को प्रकाशमय व पवित्र करती हैं।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान के द्वारा पोषण

९५९. केतुं कृण्वन्दिवस्परि विश्वा रूपाभ्यर्षसि । समुद्रः सोम पिन्वसे ॥ २ ॥

हे **सोम**=शान्तामृतस्वरूप प्रभो! आप **समुद्रः**=ज्ञान के समुद्र हैं, अतएव (स+मुद्) आनन्दमय हैं। आप **दिवः परि**=इस अनन्त आकाश में चारों ओर **केतुं कृण्वन्**=ज्ञान का प्रकाश करते हुए **विश्वा रूपा**=सब प्राणियों को **अभ्यर्षसि**=प्राप्त होते हैं। प्रभु ने पशुओं में भी वासना (Instinct) के रूप में प्रकाश रक्खा है। मनुष्य को तो बुद्धि दी ही है। हे सोम! आप इस ज्ञान को प्राप्त कराते हुए **पिन्वसे**=सभी का पोषण करते हो।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देते हैं और उस ज्ञान के द्वारा हमारा पोषण करते हैं।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सृष्ट्यारम्भ में

९६०. जज्ञानो वाचमिष्यसि पवमान विधर्मणि । क्रन्दन् देवो न सूर्यः ॥ ३ ॥

जज्ञानः सूर्यः देवः न=उदित होते हुए सूर्यदेव के समान, हृदय में प्रकट होते हुए हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले प्रभो! आप **विधर्मणि**=विविध धारणों के निमित्त—सब प्रकार से पालन-पोषण करने अथवा विविध धर्मों का ज्ञान देने के लिए **क्रन्दन्**=शब्दों का उच्चारण करते हुए **वाचम्**=इस वेदवाणी को **इष्यसि**=हममें प्रेरित करते हैं। वेदवाणी का उच्चारण करते हुए वे प्रभु हमें हमारे कर्त्तव्य कर्मों की प्रेरणा प्राप्त कराते हैं, जिससे हम उचित प्रकार से अपना धारण कर सकें।

भावार्थ—जैसे प्रातःकाल होते ही उदित होता हुआ सूर्य प्रकाश फैलाता है, इसी प्रकार परमात्मा सृष्ट्यारम्भ करते ही ऋषियों के पवित्र अन्तःकरण में वेदवाणी को प्रेरित करते हैं।

सूक्त-३

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

९६१. प्र सोमासो अधन्विषुः पवमानास इन्दवः । श्रीणाना अप्सु वृञ्जते ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र में विद्वान् उपदेशकों के गुणों का चित्रण हुआ है—१. **सोमासः**=सौम्य स्वभाववाले, २. **पवमानासः**=ज्ञानोपदेश से सबके जीवनों को पवित्र करनेवाले, ३. **इन्दवः**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले अथवा शक्तिशाली, ४. **अप्सु**=कर्मों में **श्रीणानाः**=अपना परिपाक करते हुए, ५. **प्र अधन्विषुः**=(धन्वतिर्गत्यर्थः—नि० २.१५.६४) गतिशील होते हैं और ६. **प्र वृञ्जते**=लोगों को पाप-कर्मों से पृथक् करते हैं।

भावार्थ—उपदेष्टा सदा सौम्य व परिपक्व विचारोंवाला ही होना चाहिए।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वेदवाणियों का स्वाभाविक प्रवाह

९६२. अभि गावो अधन्विषुरापो न प्रवता यतीः । पुनाना इन्द्रमाशत ॥ २ ॥

१. **गावः**=वेदवाणियाँ इन सोम व्यक्तियों की **अभि अधन्विषुः**=ओर इस प्रकार स्वभावतः

प्रवाहित होती हैं **न**=जैसे **आपः**=जल **प्रवता**=निम्न मार्ग से—निम्न मार्ग की ओर **यतीः**=जाते हैं, अर्थात् इन 'पवमान सोम' व्यक्तियों को वेदज्ञान स्वभावतः प्राप्त होता है। अपने को वे जितना-जितना परिमार्जित करते जाते हैं, उतना-उतना ज्ञान का प्रकाश उनमें चमकता जाता है। २. उस ज्ञान के प्रकाश से **पुनानाः**=अपने को पवित्र करते हुए ये ३. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **आशत**=प्राप्त होते हैं।

गत मन्त्र के अनुसार जब हम 'सोम, पवमान, इन्द्र व अप्सु श्रीणानाः' बनते हैं तब हमें १. वेदवाणियाँ प्राप्त होती हैं। २. इनकी प्राप्ति से हमारा जीवन पवित्र होता है और ३. हम प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम इस योग्य हों कि वेदवाणियों का हममें स्वाभाविक प्रवाह हो। हम पवित्र हों और प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु की ओर

९६३. प्र पवमान धन्वसि सोमेन्द्राय मादनः। नृभिर्यतो वि नीयते ॥ ३ ॥

पवमान=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले! २. **सोम**=सौम्य स्वभाववाले! तू ३. **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की **प्रधन्वसि**=ओर जाता है। प्रभु-प्राप्ति के लिए 'पवित्रता व सौम्यता' का मिश्रण आवश्यक है। ४. **मादनः**=(हर्षणः) ऐसा व्यक्ति सदा स्वयं प्रसन्न होता है तथा औरों को प्रसन्न करता है।

'यह ऐसा बन कैसे पाया?' इसका उत्तर है कि **यतः**=क्योंकि यह **नृभिः**=(नृ नये) उन्नति-पथ पर आगे और आगे ले-चलनेवाले माता-पिता-आचार्य व अतिथियों से **विनीयते**=विनीत बनाया जाता है। जिस भी व्यक्ति को उत्तम माता-पिता व आचार्य प्राप्त होते हैं, वही ज्ञानी बनता है।

भावार्थ—माता-पिता व आचार्यों से विनीत बनाये जाकर हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु का धाम

९६४. इन्दो यदद्रिभिः सुतः पवित्रं परिदीयसे। अरमिन्द्रस्य धाम्ने ॥ ४ ॥

हे **इन्दो**=सोम के संयम के द्वारा शक्ति के पुञ्ज इन्दो! १. **यत्**=जब तू **अद्रिभिः**=आदरणीय अथवा (अविदरणीय) स्थिर, अविचल बुद्धिवाले आचार्यों से **सुतः**=उत्पादित हुआ-हुआ—'द्विज' बनकर २. **पवित्रम्**=उस पूर्ण पवित्र प्रभु को **परिदीयसे**=जाता है—उस प्रभु की ओर चलने का प्रयत्न करता है तब ३. **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **धाम्ने**=तेज व स्थान को प्राप्त करने के लिए **अरम्**=समर्थ होता है।

आचार्य-कुलों में आचार्यों के सम्पर्क में रहकर मनुष्य अपने ज्ञान को बढ़ाकर 'द्विज' बनता है। वैदिक संस्कृति के अनुसार आचार्य विद्यार्थी को गर्भ में धारण करता है और उसे ज्ञानोपचित करके दुबारा जन्म देता है। इस द्विजत्व को प्राप्त करके वह प्रभु के तेज को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—हम आचार्य से द्विज बनाये जाकर प्रभु तेज को धारण करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

लोगों में उत्साह का संचार

९६५. त्वं सोम नृमादनः पवस्व चर्षणीधृतिः । सस्निर्यो अनुमाद्यः ॥ ५ ॥

हे **सोम**=शान्त विद्वन्! **त्वम्**=तू १. **नृमादनः**=मनुष्यों को उत्साहित करनेवाला होता है। तू उन्हें आत्मज्ञान देकर आत्मगौरव की भावना से भरता है। तू २. **चर्षणीधृतिः**=मनुष्यों का धारण करनेवाला बनकर **पवस्व**=गतिशील हो। आत्मतृप्त होने से स्वयं तेरे लिए कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है तो भी लोकसंग्रह के लिए तू कर्म कर ही। ३. **सस्निः**=तू अत्यन्त शुद्ध करनेवाला है और ४. तू वह है **यः**=जो **अनुमाद्यः**=सदा लोगों से प्रशंसनीय [Cheers देने योग्य] होता है। इसके पवित्रकारक, उत्साहजनक, उपदेश लोगों को ऐसा प्रभावित करते हैं कि वे इसकी प्रशंसा में उच्च नाद कर उठते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी कर्म करता हुआ लोगों में उत्साह का संचार करे।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

विशिष्ट जीवन

९६६. पवस्व वृत्रहन्तम उक्थेभिरनुमाद्यः । शुचिः पावको अद्भुतः ॥ ६ ॥

प्रभु एक प्रचारक (परिव्राजक) के लिए आदेश देते हैं कि तू १. **वृत्रहन्तमः**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को सर्वाधिक विनष्ट करनेवाला बन। काम को पराजित करके ही तू लोगों को कामविजय का उपदेश दे सकेगा। २. **उक्थेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा **पवस्व**=तू अपने जीवन को पवित्र कर। वासना का पराजय प्रभु-स्मरण से ही होगा। प्रभु के बिना काम का ध्वंस कौन करेगा? ३. **अनुमाद्यः**=तेरा जीवन ऐसा हो कि लोग तेरे जीवन को देखकर सदा प्रशंसात्मक शब्द ही बोलें। ४. **शुचिः**=तू पवित्र जीवनवाला हो—शुभ गुण तेरे जीवन को दीप्त बनाएँ, ५. **पावकः**=तू अपने सम्पर्क से, प्रेरणा से औरों के जीवन को भी पवित्र बनानेवाला हो। ६. **अद्भुतः**=तेरा जीवन कुछ विलक्षणता व विशेषता को लिये हुए हो (अभूतपूर्वः)। अन्यों जैसा-प्राकृत जीवन होने पर तू औरों पर क्या प्रभाव डाल पाएगा? विशेषतावाला जीवन ही औरों के लिए आदर्श हो सकता है।

भावार्थ—प्रचारक को वासनाओं से ऊपर, स्तोत्रों से सदा अपने को पवित्र करनेवाला, प्रशंसनीय, पवित्र, पावन व विशिष्ट जीवनवाला होना चाहिए।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शुचि व पावन कौन?

९६७. शुचिः पावक उच्यते सोमः सुतः स मधुमान् । देवावीरघशंसहा ॥ ७ ॥

शुचिः=पवित्र व **पावकः**=पवित्र करनेवाला **सः उच्यते**=वह कहलाता है, जो १. **सोमः**=शान्त, सौम्य स्वभाववाला होता है। सोम के रक्षण द्वारा अपने को सोम का पुञ्ज—शक्तिशाली बनाता है। **मधुमान्**=शक्तिशाली होते हुए अत्यन्त मधुर जीवनवाला होता है। उसकी शक्ति लोकहित में ही विनियुक्त होती है, पर-पीड़न में नहीं, ३. **सुतः**=(सु to go) यह गतिशील होता है—(सुतमस्यास्ति)=यज्ञिय जीवनवाला होता है, (सु=to possess power) सोमरक्षा के द्वारा सदा शक्तिशाली बना रहता है। ४. **देवावीः**=यह अपने दिव्य गुणों की सदा रक्षा करता है। ५. **अघशंसहा**=इसका मुख्य कार्य अघों के शंसन को नष्ट करना होता है (अघशंस-हा)। यह पाखण्ड

का खण्डन करता है। इसके खण्डन में 'शक्ति व माधुर्य', टपकते हैं और इस प्रकार यह लोगों के जीवनों को पवित्र करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को पवित्र (शुचि), शक्तिशाली व शान्त (सोम), माधुर्यमय (मधुमान्) व दिव्यतायुक्त बनाकर पाप का खण्डन करके पवित्रता का प्रसार करें।

सूक्त-४

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

रक्षण व निवारण

९६८. प्र कविर्देववीतयेऽव्या वारेभिरव्यत। साह्वान्विश्वा अभि स्पृधः ॥ १ ॥

१. **कविः**=क्रान्तदर्शी—वस्तुओं की आपातरमणीयता में न उलझनेवाला **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **अव्या**=रक्षण के द्वारा तथा **वारेभिः**=वासनाओं के निवारण के द्वारा **प्र अव्यत**=अपने में प्रभु के अंश के दोहन का प्रयत्न करता है (भागदुघ)। २. यह **साह्वान्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है, ३. **विश्वाः**=सब **स्पृधः अभि**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला होता है। यह संसार के संघर्षों में घबराता नहीं, अपितु उत्साह से सभी विघ्न-बाधाओं को जीतनेवाला 'कवि' है—क्रान्तदर्शी है, वस्तुतत्त्व को देखता है, अतः 'काश्यप' कहलाता है। दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्न करता है, अतः 'देवल' है। विघ्न-बाधाओं से रुक नहीं जाता—शत्रुओं से आक्रान्त नहीं हो जाता, अतः 'असित'=अबद्ध है। यही प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि बनता है।

भावार्थ—आत्मरक्षण व वासनानिवारण से हम दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्तोता के लिए शक्ति, ज्ञान व धन

९६९. स हि ष्मा जरितृभ्य आ वाजं गोमन्तमिन्वति। पवमानः सहस्त्रिणम् ॥ २ ॥

'असित-काश्यप-देवल' अनुभव करता है कि **सः हि**=वे प्रभु ही **जरितृभ्यः**=अपने स्तोताओं के लिए **गोमन्तम्**=प्रशस्त वेदवाणियोंवाले, अर्थात् उत्तम ज्ञान से युक्त **वाजम्**=शक्ति को **आ**=सर्वथा **इन्वति स्म**=प्राप्त कराते हैं। **पवमानः**=वे अपने स्तोता को पवित्र करते हुए **सहस्त्रिणम्**=अपने उपासक को शतशः धनोंवाला भी करते हैं। उसे उतना धन अवश्य प्राप्त कराते हैं, जो उसके जीवन को प्रसन्नतापूर्वक चलाने के लिए आवश्यक होता है।

भावार्थ—प्रभु अपने स्तोताओं को १. शक्ति प्राप्त कराते हैं (वाजम्), २. उत्तम ज्ञान व इन्द्रियाँ प्राप्त कराते हैं (गोमन्तम्), ३. आवश्यक धन द्वारा प्रसन्नता देते हैं (सहस्त्रिणम्)।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान, प्रशंसनीय कर्म, यश

९७०. परि विश्वानि चेतसा मृज्यसे पवसे मती। स नः सोम श्रवो विदः ॥ ३ ॥

१. हे **सोम**=शान्तामृतस्वरूप प्रभो! आप **विश्वानि**=सब भूतों को **चेतसा**=संज्ञान के द्वारा **परिमृज्यसे**=सर्वतः पवित्र कर देते हो। ज्ञान ही पवित्र करने का साधन है, अतः प्रभु संज्ञान के द्वारा सबकी पवित्रता को सिद्ध करते हैं। २. **मती** (मत्या)=बुद्धि के द्वारा आप सबको **पवसे**=पवित्र

करते हो। बुद्धि से मनुष्य सत्यासत्य में, धर्माधर्म में तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य में विवेक कर पाता है। विवेक द्वारा असत्य, अधर्म व अकर्त्तव्य से दूर होकर तथा सत्य, धर्म व कर्त्तव्य को अपनाकर मनुष्य अपने जीवन को पवित्र कर पाता है। ३. **सः**=वह प्रभु **नः**=हमें **श्रवः**=ज्ञान व यश **विदः**=प्राप्त कराए। ज्ञान के द्वारा प्रशंसनीय कर्मों को करते हुए हम यशस्वी जीवनवाले हों।

भावार्थ—'ज्ञान, प्रशंसनीय कर्म व यश' यह हमारे जीवन का क्रम हो।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

बृहद्यश, ध्रुवरयि व इष

९७१. अभ्यर्ष बृहद्यशो मघवद्भ्यो ध्रुवं रयिम्। इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ ४॥

हे प्रभो! आप **मघवद्भ्यः**=(मघ=मख) यज्ञमय जीवनवाले अपने **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए १. **बृहत् यशः**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि के कारणभूत यश को **अभ्यर्ष**=प्राप्त कराइए। अपयश मनुष्य को निराश व हताश कर देता है, अतियश कुछ अभिमान की ओर ले-जाता है और मर्यादित यश उत्साह द्वारा वृद्धि का कारण बनता है। २. **ध्रुवं रयिम्**=स्थैर्यवाले धन को प्राप्त कराइए। निर्धनता मनुष्य को नाश व पाप की ओर ले-जाती है, अतिधन 'अहंकार व विषयों' की ओर। मर्यादित धन मनुष्य को धर्म के मार्ग में ध्रुव (स्थिर) करता है, यही 'ध्रुव रयि'=स्थिर धन है। ३. हे प्रभो! हमें सदा **इषम्**=प्रेरणा व उत्तम इच्छा **आभर**=प्राप्त कराइए। हम प्रभु का स्तवन करें। वे प्रभु हमें सदा अन्तःप्रकाश प्राप्त कराएँ जिससे उस प्रकाश में हम सदा उत्तम इच्छाओंवाले बनें।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर प्रभु का सच्चा-स्तवन करें। वे प्रभु हमें वृद्धि के कारणभूत 'यश, स्थिर धन व उत्तम प्रेरणा' प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सुव्रत राजा की भाँति

९७२. त्वं राजेव सुव्रतो गिरः सोमा विवेशिथ। पुनानो वह्ने अद्भुत॥ ५॥

हे **सोम**=ज्ञानामृतस्वरूप प्रभो! **त्वम्**=आप **सुव्रतः राजा इव**=जैसे एक उत्तम व्रतोंवाला राजा प्रजा में स्थिर होकर उत्तम नियमन के द्वारा प्रजा के जीवन को सुन्दर बनाता है, उसी प्रकार आप भी **गिरः**=अपने (गृ=स्तुति) स्तोताओं में **आविवेशिथ**=प्रवेश करते हो और हे **वह्ने**=सदा सत्पथ की ओर ले-चलनेवाले अग्रे! (वह प्रापणे) आप अपने भक्तों में स्थिर होकर **पुनानः**=उनके जीवनों को पवित्र करते हो। हृदयस्थ प्रभु अपने स्तोताओं के जीवन को उसी प्रकार नियन्त्रित करते हैं जैसे सुव्रत राजा प्रजा के जीवन को। हे प्रभो! आप **अद्भुत**=आश्चर्यकारक हैं। आपके लिए कोई बात असम्भव थोड़े ही है—आप मेरे जीवन को सुन्दर बनाएँगे ही।

भावार्थ—जैसे सुव्रत राजा प्रजा को सत्पथ पर ले-चलता है, इसी प्रकार वह आश्चर्यकारक प्रभु भक्तों में प्रविष्ट हो, उनके जीवनों को अद्भुत उन्नतिवाला बना देते हैं।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

चमू-षत्

९७३. स वह्निरप्सु दुष्टरो मृज्यमानो गभस्त्योः। सोमश्चमूषु सीदति॥ ६॥

१. **सः**=वे प्रभु **वह्निः**=प्रजाओं को सत्पथ पर ले-चलकर मोक्ष तक ले-जानेवाले हैं। २. **अप्सु**=प्रजाओं में स्थित वे प्रभु **दुष्टरः**=कामादि वासनाओं से आक्रमण के योग्य नहीं है। प्रभु हृदय-स्थित होते हैं तो हमारे हृदय वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते। ३. **गभस्त्योः**=ज्ञान के सूर्य तथा विज्ञान के चन्द्र के प्रकाश की किरणों में **मृज्यमानः**=वे प्रभु ढूँढे जाते हैं। उस प्रभु को जानने का उपाय ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि ही है। ४. वे **सोमः**=शान्तामृत प्रभु **चमूषु**=चमुओं में **सीदति**=स्थित होते हैं। 'सत्य, यश व श्री' का आचमन करनेवाले 'चमू' हैं। प्रभु इन चमुओं में ही स्थित होते हैं। हम अपने जीवन को सत्यमय बनाएँ।

भावार्थ—हम सत्य, यश व श्री का आचमन करें, जिससे प्रभु हममें स्थित हों।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

संसार—प्रभु की लीला

९७४. क्रीडुर्मखो न मंहयुः पवित्रं सोम गच्छसि। दधत् स्तोत्रे सुवीर्यम्॥ ७॥

१. हे प्रभो! **क्रीडुः**=आप सृष्टि, स्थिति व संहाररूप क्रीडाओं को नित्य कर रहे हो। यह सारा ब्रह्माण्ड आपकी क्रीड़ामात्र ही है। २. **मखः न**=आप यज्ञ के समान हो—यज्ञरूप ही हो। इस महान् सृष्टियज्ञ के होता आप ही हैं। ३. **मंहयुः**=आप सदा आवश्यक उत्तम साधनों के देनेवाले हैं। उन्नति के लिए आवश्यक प्रत्येक साधन आप प्राप्त कराते हो। ४. हे **सोम**=शान्तामृत प्रभो! **पवित्रं गच्छसि**=पवित्र हृदयवाले पुरुषों को आप प्राप्त होते हो। ५. **स्तोत्रे**=स्तोता के लिए आप **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति **दधत्**=प्रदान करते हो।

भावार्थ—हम इस संसार को प्रभु की क्रीड़ा के रूप में देखें। इस स्तवन से हमें सुवीर्य प्राप्त होगा।

सूक्त-५

ऋषिः—अवत्सारः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

स्वास्थ्यप्रद अन्न, सुख व समृद्धि

९७५. यवंयवं नो अन्धसा पुष्टंपुष्टं परि स्रव। विश्वा च सोम सौभगा॥ १॥

अवत्सार=सारभूत सोम की रक्षा करनेवाला काश्यप=ज्ञानी प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अन्धसा**=अन्न के दृष्टिकोण से अथवा अन्न से उत्पन्न होनेवाले सोम के दृष्टिकोण से **नः**=हमें **यवंयवं**=यव तथा यव=जो-जैसे अन्नों को, जो हमें प्राणशक्ति से मिश्रित करनेवाले (यु मिश्रणे) तथा दोषों को दूर करनेवाले हैं (यु अमिश्रणे) तथा **पुष्टंपुष्टम्**=प्रत्येक पुष्टिकारक अन्न को **परिस्रव**=प्राप्त कराइए। **च**=तथा हे **सोम**=सब ऐश्वर्यों को जन्म देनेवाले प्रभो! आप **विश्वा सौभगा**=सब सौभाग्यों को **परिस्रव**=हमें प्राप्त कराइए। सौभग शब्द का अर्थ आनन्द good luck, happiness तथा समृद्धि prosperity है। अवत्सार प्रभु से प्रार्थना करता है कि उसे जहाँ पौष्टिक, स्वास्थ्यप्रद अन्न की कमी न रहे, वहाँ सब सुख व समृद्धि भी प्राप्त हो, इन्हें प्राप्त करके वह आध्यात्मिक उन्नति में अपना समय लगा सके।

भावार्थ—हमें पौष्टिक, स्वास्थ्यप्रद अन्न प्राप्त हो, सुख व समृद्धि सुलभ हो।

ऋषिः—अवत्सारः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मेरा हृदय प्रभु का आसन हो

९७६. इन्दो यथा तव स्तवो यथा ते जातमन्धसः। नि बर्हिषि प्रिये सदः ॥ २ ॥

हे **इन्दो**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यथा**=जिससे हमारे द्वारा **तव स्तवः**=तेरी ही स्तुति हो और **यथा**=क्योंकि **ते अन्धसः**=आपके ही अन्न से **जातम्**=यह उत्पन्न हुआ है, इसलिए **प्रिये**=इस आत्मतृप्त व कान्त **बर्हिषि**=वासनाशून्य मन में **निसदः**=आप बैठिए।

'अवत्सार' प्रभु से अपने हृदय में विराजमान होने के लिए प्रार्थना करता है कि—१. आप मेरे हृदय में इसलिए विराजिए कि मैं आपका ही ध्यान करनेवाला बनूँ, २. क्योंकि यह आपके ही अन्न से उत्पन्न हुआ है। यह तो है ही आपका, ३. और अन्तिम बात यह कि मैंने इस हृदय को तृप्त बनाने का प्रयत्न किया है, उसमें से वासनाओं के मल को दूर करके बैठने के योग्य बनाया है।

१. हृदय में जो बात होती है बारम्बार उसी का ध्यान और उसी का चिन्तन चलता है, हृदय में प्रभु होंगे तो प्रभु का स्तवन चलेगा। प्रभु के स्थान में धन होगा तो धन कमाने के उपाय ही सोचते रहेंगे। २. प्रभु के अन्न से उत्पन्न मन पर प्रभु का ही तो अधिकार होना चाहिए। ३. मन को हमने प्रिय, सुन्दर व निर्वासन बनाया तो इसीलिए ही कि वहाँ प्रभु विराजमान हों।

भावार्थ—मेरा हृदय प्रभु का ही आसन बने।

ऋषिः—अवत्सारः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सात्त्विक अन्न के चार परिणाम

९७७. उत नो गोविदश्ववित् पवस्व सोमान्धसा। मक्षूतमेभिरहभिः ॥ ३ ॥

हे **सोम**=सब ऐश्वर्यों को जन्म देनेवाले प्रभो! (षु=उत्पन्न करना) आप **नः**=हमें **अन्धसः**=अन्न के द्वारा—अथवा सात्त्विक अन्न से उत्पन्न सोम-शक्ति के द्वारा १. **गोवित्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त कराइए (गमयन्ति अर्थान् इति गावः)। २. **अश्ववित्**=(अश्नुते कर्मणि) उत्तम कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराइए। ३. इस प्रकार जीवनों को **पवस्व**=पवित्र कर दीजिए। ४. **उत**=और **मक्षूतमेभिः अहभिः**=अधिक-से-अधिक सत्यवाले दिनों के साथ **पवस्व**=हमें प्राप्त होओ (मक्षु=truly)।

हे प्रभो! आपसे उत्पादित सात्त्विक अन्न के और उससे उत्पन्न सोम के हमारे जीवनों में ये परिणाम हों कि—१. हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम हों, २. हमारी कर्मेन्द्रियाँ भी उत्तम हों, ३. हमारा जीवन पवित्र हो और ४. हम अपने दैनन्दिन व्यवहार में अधिक-से-अधिक सत्य बोलें।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न के परिणामस्वरूप हम उत्तम ज्ञानेन्द्रियों और उत्तम कर्मेन्द्रियों की पवित्रता तथा सत्य जीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—अवत्सारः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

विजेता न कि विजित

९७८. यो जिनाति न जीयते हन्ति शत्रुमभीत्य। स पवस्व सहस्रजित् ॥ ४ ॥

यः=जो **जिनाति**=नष्ट करता है, परन्तु **न जीयते**=कभी नष्ट किया नहीं जाता। जो **शत्रुम् अभि इत्य**=शत्रु की ओर जाकर **हन्ति**=उसका संहार करता है, **सः**=वह **सहस्रजित्**=(सर्वजित्)

सबको जीतनेवाला प्रभु **पवस्व**=हमें प्राप्त हो।

प्रभु रुद्ररूपेण सारे संसार का प्रलय करते हैं, प्रभु का प्रलय नहीं होता। प्रभु के सामने आकर काम भस्म हो जाता है। उस प्रभु की कृपा से भक्त भी काम पर विजय पाता है। इस प्रकार सभी के विजेता ये प्रभु मुझे प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु-भक्त भी प्रभु की भाँति वासनाओं का संहार करनेवाला बनता है, वह वासनाओं से पराजित नहीं होता।

सूक्त-६

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

माधुर्य-स्राविणी वेदवाणियाँ

९७९. यास्ते धारा मधुश्चुतोऽसृग्रमिन्द ऊतये। ताभिः पवित्रमासदः ॥ १ ॥

हे **इन्दो**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! **याः**=जो **ते**=तेरी **मधुश्चुतः**=माधुर्य के प्रवाहवाली **धाराः**=(धारा=वाङ्—नि० १.११.२) वेदवाणियाँ **ऊतये**=हमारी रक्षा के लिए **असृग्रम्**=सृजी गयी हैं, **ताभिः**=उनके साथ आप **पवित्रम्**=हमारे पवित्र हृदयप्रदेश में **आसदः**=विराजिए।

९७६ मन्त्र में प्रभु के आसीन होने के लिए हृदय को पवित्र करने का उल्लेख था। ९७७ मन्त्र में उसी उद्देश्य से सात्त्विक अन्न के द्वारा सब इन्द्रियों को पवित्र करने का वर्णन है तथा ९७८ में वासनाओं से अपराजित रहकर हृदय को पूर्ण पवित्र किया गया और अब प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु से उस पवित्र हृदय में आसीन होने के लिए प्रार्थना की गयी है, प्रभु की पवित्र, माधुर्य के प्रवाहवाली वाणियों का हमारे हृदयों में भी प्रकाश हो। इन वेदवाणियों के द्वारा ही हम अपने जीवनों को मलिन होने से बचा सकेंगे। वेदवाणी जीवन के लिए चार सूत्रों को उपस्थित करती है—१. प्रभु का स्तवन करो, मिलकर चलो (अग्निमीळे, सं गच्छध्वम्—'ऋग्वेद')। २. अन्न-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो, परन्तु उत्तम मार्ग से ही अर्जन करो (इषे त्वा, अग्ने नय सुपथा—'यजुर्वेद') ३. प्रभु को प्रकाश के लिए हृदय में बिठाइए, भद्र शब्दों को ही सुनिए—निन्दात्मक शब्दों को नहीं (अग्न आ याहि, भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम—'सामवेद')। ४. वाचस्पति बनो—कम खाओ, कम बोलो तथा सोम को शरीर में ही सुरक्षित रक्खो (वाचस्पतिः; पिब सोमं ऋतुना—'अथर्ववेद')। इस जीवन की चतुःसूत्री द्वारा वेद हमारे जीवनों को मलिन होने से बचाता है।

भावार्थ—माधुर्य स्राविणी वेदवाणियाँ मेरे जीवन को मधुर बना दें।

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ऋत के मूलस्थान में

९८०. सो अर्षेन्द्राय पीतये तिरो वाराण्यव्यया। सीदन्नृतस्य योनिमा ॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'जमदग्नि भार्गव' है, जिसने आचार्यकुल में रहकर वेदवाणी का अध्ययन करते हुए नियमित आहार-विहार से जाठराग्नि को ठीक रख 'जमदग्नि' बनकर स्वास्थ्य को स्थिर रक्खा है और ज्ञान द्वारा अपना ठीक परिपाक कर 'भार्गव' नाम को चरितार्थ किया है। इस जमदग्नि से प्रभु कहते हैं कि—१. **सः**=वह तू **इन्द्राय अर्ष**=इन्द्र बनने के लिए गतिशील हो, तेरा प्रयत्न जितेन्द्रिय बनने के लिए हो। २. **पीतये**=अपनी रक्षा के लिए शरीर में उत्पन्न किये गये सोम का पान

करनेवाला बन (पा पाने, पा रक्षणे)। ३. **अव्यया**=रक्षण में उत्तम इस वेदवाणी के द्वारा तू **वाराणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को (वाराणि=वृत्राणि) **तिरः**=पार कर जा। ४. **ऋतस्य**=ऋत के, सत्य वेदज्ञान के **योनिम्**=मूलस्थान प्रभु में **आसीदन्**=बैठने के हेतु से **अर्ष**=गतिमय हो। तेरी सारी क्रियाएँ इसलिए हों कि तू अन्ततः ऋत के स्रोत तक पहुँच सके—ऋत के मूलस्थान प्रभु में स्थित हो सके।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें, सोमपान करें, वासनाओं को तरें और अन्त में ऋत के मूलस्थान प्रभु में पहुँच जाएँ।

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

भक्ति-रस-पान

९८१. त्वं सोम परि स्रव स्वादिष्ठो अङ्गिरोभ्यः। वरिवोविद् घृतं पयः॥ ३॥

हे **वरिवोवित्**=सब उत्तम धनों को प्राप्त करानेवाले! **सोम**=सब ऐश्वर्यों को जन्म देनेवाले प्रभो! आप **अङ्गिरोभ्यः**=प्राणविद्या के साधकों के लिए **स्वादिष्ठः**=अत्यन्त रसमय हैं। **'रसो वै सः'**, 'रस' तो प्रभु ही हैं, परन्तु उस 'रस' का अनुभव 'प्राणविद्या' के साधक ही कर पाते हैं। आप हमें **घृतम्**=नैर्मल्य व दीप्ति तथा **पयः**=आप्यायन=वृद्धि को **परिस्रव**=प्राप्त कराएँ।

प्राणसाधना के मार्ग को अपनाने पर साधक को चित्तवृत्ति की एकाग्रता के अनुपात में उस रसमय प्रभु के रस का अनुभव होने लगता है। हमारे जीवनों में एक दिन वह आता है, जब हमारे लिए प्रभु-चिन्तन ही स्वादिष्ट व मधुरतम हो जाता है। वे प्रभु ही हमें 'नैर्मल्य, दीप्ति व आप्यायन' प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधनावाले अङ्गिरा बनें और प्रभु-भक्ति के रस का पान करें।

सूक्त-७

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'अरुण' का जीवन-सूत्र—सादा खाना, पानी पीना (सौ वर्ष जीना)

९८२. तव श्रियो वर्ष्यस्येव विद्युतोऽग्नेश्चिकित्र उषसामिवेतयः।
यदोषधीरभिसृष्टो वनानि च परि स्वयं चिनुषे अन्नमासनि॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अरुण' (ऋ गतौ+उनन्) गतिशील है तथा 'वीतहव्य' (वीतं स्वादितं हव्यं येन) पवित्र सात्त्विक भोजन करनेवाला है। प्रभु कहते हैं कि—हे अरुण! **अभिसृष्टः**=(अभिसृज्=to prepare) मोक्षपथ का आक्रमण करने के लिए उद्यत हुआ-हुआ तू **यत्**=जब **ओषधीः**=रोगनाशक औषधरूप द्रव्यों को **च वनानि**=और जलों को तथा **अन्नम्**=अन्नों को **स्वयम्**=अपने पुरुषार्थ से **आसनि**=मुख में **परि चिनुषे**=चिनता है, तब **तव**=तेरी **श्रियः**=शोभाएँ **वर्ष्यस्य**=बरसनेवाले बादलों की **विद्युतः इव**=बिजलियों की भाँति प्रतीत होती हैं तथा हे **अग्ने**=(अगि गतौ) आगे और आगे चलनेवाले अरुण! **उषसाम्**=उषःकालों के **ईतयः**=आगमनों के **इव**=समान **चिकित्रे**=जानी जाती हैं। यह 'अरुण वीतहव्य' का मार्ग है। इस अरुण के उन्नति-पथ का निर्देश मन्त्र इस प्रकार कर रहा है—

१. **अभिसृष्टः**=यह उन्नति-पथ पर चलने का सङ्कल्प करके उसपर चलने के लिए तैयार है। २. इसका खानपान अत्यन्त सात्त्विक व सादा है—ओषधियाँ, जल व अन्न—ये ही इसके भक्ष्य व पेय हैं (ओषधीः वनानि, अन्नम्)। ३. यह स्वयं अन्न कमाता है—अपने भोजन के लिए औरों पर बोझ नहीं डालता (स्वयम्)। ४. यह अन्न का मुख में उसी प्रकार चयन करता है जिस प्रकार वेदी के अग्निकुण्ड में सामग्री व घृत का (चिनुषे आसनि)। शरीर वेदि है, मुख अग्निकुण्ड और उसमें पड़नेवाला भोजन हविर्द्रव्य। एवं, इसका भोजन भी एक यज्ञ ही हो जाता है। यह 'वीतहव्य' है, अतः ऐसा होना ही चाहिए। ५. ऐसा करने पर इस उन्नति-पथ पर बढ़नेवाले (अग्नि) की शोभा वर्ष्य विद्युत् के समान होती है। बरसनेवाला मेघ अत्यन्त काला है, उसमें विद्युत् चमकती है। इसी प्रकार इस वीतहव्य के जीवन-मेघ में भी विद्युत् का प्रकाश होता है। चारों ओर अन्धकार होने पर भी इसे बीच-बीच में प्रकाश दिखता है (वर्ष्यस्येव विद्युतः)। ६. और साधना के बढ़ते-बढ़ते इसके जीवन में उषःकाल का अरुणोदय हो जाता है। इसे निरन्तर मधुर प्रकाश दिखने लगता है (उषसामिवेतयः) यह सचमुच 'अरुण' बन जाता है।

भावार्थ—हम जीवन में सङ्कल्पपूर्वक चलें, खानपान सात्त्विक रखें, अपना भोजन स्वयं कमाएँ, भोजन को भी यज्ञ का रूप दे दें, वर्ष्य विद्युत् के समान हमें भी जीवन के काले बादलों में प्रकाश दिखे और साधना की वृद्धि के साथ हमारे जीवन में अरुणोदय ही हो जाए—यही मोक्षमार्ग है।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्राणसाधना द्वारा अजरामरता

९८३. वातोपजूत इषितो वशाँ अनु तृषु यदन्ना वेविषद्वितिष्ठसे।
आ ते यतन्ते रथ्यो३ यथा पृथक् शर्धांस्यग्ने अजरस्य धक्षतः ॥ २ ॥

हे **अग्ने**=अपने मार्ग पर आगे बढ़नेवाले अरुण! १. **वातोपजूतः**=प्राणों से प्रीणत हुआ-हुआ (जूत=प्रीत), २. **इषितः**=उन्नत सङ्कल्पवाला तू (इष+इत), ३. **वशान् अनु**=(वश्=wish) शरीर की आवश्यकताओं के अनुसार **यत्**=जब **तृषु**=अन्नों को चाहता हुआ (तृषु=thirsting for) **अन्ना वेविषत्**=अपने में अन्नों को व्याप्त करता हुआ **वितिष्ठसे**=विशेषरूप से स्थित होता है तब **ते**=तेरे **अजरस्य**=न जीर्ण होनेवाले **धक्षतः**=वासनाओं को दहन करते हुए **रथ्यः**=उत्तम रथी के **शर्धांसि**=बल **पृथक्**=उस-उस स्थान पर पृथक्-पृथक् **यथा आयतन्ते**=उचित ढंग से सब ओर बढ़ते हैं (यत्=to go, proceed)।

मन्त्र में निम्न बातों के संकेत स्पष्ट हैं—१. **वातोपजूतः**=मनुष्य प्राणसाधना करे—प्राणों का प्रसादन उन्नति का मूल है, २. **इषितः**=बिना सङ्कल्प के उन्नति नहीं होती, ३. भोजन आवश्यकतानुसार हो (वशान् अनु), इच्छापूर्वक हो, अर्थात् प्रसन्नता से खाया जाए (तृषु), ४. जीवन में हमारी विशिष्ट स्थिति हो—केवल पशुओं की भाँति आहार, निद्रा, भय व रमण में ही जीवन न बीत जाए (वितिष्ठसे), ५. शक्तियों को हम जीर्ण न होने दें (अजरस्य), ६. इसी उद्देश्य से वासनाओं का दहन करें (धक्षतः), ७. इस प्रकार हम उत्तम रथी बनेंगे तो हमारी सब शक्तियाँ उन्नत होंगी।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा वासनाओं का दहन कर अजीर्ण-शक्ति बनें।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

लोग कैसे नेता का वरण करते हैं ?

९८४. मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतरं मतिम्।
त्वामर्भस्य हविषः समानमित् त्वां महो वृणते नान्यं त्वत्॥ ३ ॥

१. **मेधाकारम्**=(मेधां करोति इति)=मेधा का सम्पादन करनेवाले, २. **विदथस्य प्रसाधनम्**=ज्ञान को सिद्ध करनेवाले, ३. **अग्निम्**=(अग्रेणीः) सबको आगे ले-चलनेवाले, ५. **परिभूतरम्**=वासनाओं का परिभव करनेवाले, ६. **मतिम्**=मननशील, ७. **त्वाम्**=तुझे **त्वामित्**=और तुझे ही (तुझ 'वीतहव्य अरुण' को ही) **समानम्**=समानरूप से **अर्भस्य**=छोटी **हविषः**=हवि के कारण और **महो हविषः**=महान् हवि के कारण **वृणते**=वरते हैं। **त्वत्**=तुझसे **अन्यम्**=भिन्न को **न**=नहीं वरते। 'समानम्' का अर्थ इस रूप से भी कर सकते हैं कि छोटे-बड़े त्यागों को उत्साहित करनेवाले (समानयति) तुझे वरते हैं।

प्रस्तुत मन्त्र वरणीय नेता के गुणों का प्रतिपादन है। नेता मेधावी, ज्ञान का साधक, आगे ले-चलनेवाला, दाता, विजेता व मननशील तो होना ही चाहिए। समय पर वह स्वयं साधारण व असाधारण त्याग कर सकनेवाला हो तथा ओरों को भी त्याग के लिए प्रेरित कर सके।

भावार्थ—उत्तम नेताओं के नेतृत्व में हम त्यागमय जीवनवाले हों।

सूक्त-८

ऋषिः—उरुचक्रिरात्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मित्रावरुण की सुमति

९८५. पुरूरुणा चिद्ध्यस्त्यवो नूनं वां वरुण। मित्र वंसि वां सुमतिम्॥ १ ॥

हे **मित्र**=प्राण तथा **वरुण**=अपान! **वाम्**=आप दोनों का **अवः**=रक्षण **नूनम्**=निश्चय से **पुरूरुणा अस्ति**=(पुरोरपि उरु) अधिक-से-अधिक है, अर्थात् पूर्ण है—आपके रक्षण में किसी प्रकार की कमी नहीं है। इसलिए **वाम्**=आपकी **सुमतिम्**=शोभन मति को—आपके द्वारा उत्पन्न की गयी सुबुद्धि को **वंसि चित् हि**=निश्चय से प्राप्त करूँ ही।

हमारा सम्पूर्ण रक्षण प्राणापान पर निर्भर है। शरीर की नीरोगता उन्हीं के द्वारा होती है, मन को वे ही निर्मल करनेवाले हैं और इन्हीं की साधना से बुद्धि तीव्र होती है। आचार्य दयानन्द के शब्दों में प्राणायाम से बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्माति-सूक्ष्म विषय का ग्रहण कर पाती है, अतः मन्त्र में प्राणापान से 'सुमति' की आराधना की गयी है। यह सुमति ही प्राणापान की सर्वाधिक देन है। इसके मिल जाने पर मन की निर्मलता व शरीर की नीरोगता तो मिल ही जाती है।

भावार्थ—हम प्राणापान के रक्षण से सुमति को प्राप्त करें।

ऋषिः—उरुचक्रिरात्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इष् और धाम

९८६. ता वां सम्यगद्रुह्वाणेषमश्याम धाम च। वयं वां मित्रा स्याम॥ २ ॥

१. **ता**=वे मित्र और वरुण, अर्थात् प्राण व अपान **सम्यक्**=बड़े उत्तम प्रकार से **अद्रुह्वाणा**=किसी भी प्रकार हमारा द्रोह नहीं करते। इनकी साधना से हमारा नाश नहीं होता। २. हम **वाम्**=आपकी **इषम्**=शक्ति व स्फूर्ति को (strength, power, freshness) **अश्याम**=प्राप्त करें। आपकी साधना से हम अपने अन्दर शक्ति व स्फूर्ति को अनुभव करें। हमें अपने अन्दर थकावट अनुभव न हो। ३. **च**=और हम **वाम्**=आपकी **धाम**=ज्योति व तेज को (light, lustre, splendour) **अश्याम**=प्राप्त करें। प्राणापान की साधना से हमारी बुद्धि निर्मल होकर हमें प्रकाश का अनुभव हो। ४. **वयम्**=हम **वाम्**=आपके **मित्रा**=मित्र **स्याम**=हों, आपके स्नेही हों। हम प्राणापान के महत्त्व को समझकर उनकी साधना में रुचिवाले हों।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से हमें शक्ति व प्रकाश प्राप्त हो।

ऋषिः—उरुचक्रिरात्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दस्युओं का पराभव

९८७. पातं नो मित्रा पायुभिरुत त्रायेथां सुत्रात्रा। साह्याम दस्यून् तनूभिः ॥ ३ ॥

प्रस्तुत मन्त्र में 'मित्रावरुणा' को 'मित्रा' शब्द से ही कह दिया है, क्योंकि अपान भी अन्ततः प्राण का ही एक रूप है। शरीर में प्राण ही विविध रूपों में कार्य करता हुआ भिन्न-भिन्न नामोंवाला होता है। १. हे **मित्रा**=प्राणापानो! **नः**=हमें **पायुभिः**=अपने रक्षणों से **पातम्**=सुरक्षित करो। २. **उत**=और हे **सुत्रात्रा**=उत्तमता से रोगों से त्राण करनेवाले प्राणापानो! हमें **त्रायेथाम्**=आप सब रोगों से बचाओ। ३. आपकी कृपा से हम **तनूभिः**=अपने शरीरों से—शरीरों के रक्षणों के उद्देश्य से **दस्यून्**=काम-क्रोधादि नाशक वृत्तियों को **साह्याम**=पूर्णरूप से पराभूत करें। काम-क्रोधादि को जीतकर ही हम अपने स्थूलशरीर को रोगों से और सूक्ष्मशरीर को कुविचारों से बचा पाते हैं।

प्राणापान की साधना से हम नीरोगता प्राप्त करके तथा शक्ति व प्रकाश से युक्त होकर जीवन में प्राणापान की ही भाँति निरन्तर कार्य करनेवाले 'उरुचक्रि' बनते हैं और राग, द्वेषादि मल तथा बुद्धि की कुण्ठतारूप तीनों दोषों से दूर होकर 'आत्रेय' होते हैं। एवं, प्राणापान की कृपा से हम 'उरुचक्रि आत्रेय' बन पाते हैं।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमें 'काम, क्रोध, लोभ' से ऊपर उठाकर 'अ-त्रि' बनने के योग्य करे।

सूक्त-९

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शत्रु-कम्पन

९८८. उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वा शिप्रे अवेपयः। सोममिन्द्र चमूसुतम् ॥ १ ॥

हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **चमूसुतम्**=द्यावापृथिवी, अर्थात् मस्तिष्क और शरीर के विकास के लिए उत्पन्न किये गये **सोमम्**=सोम को **पीत्वा**=पीकर **ओजसा सह**=शक्ति के साथ **उत्तिष्ठन्**=अपने शत्रुओं के विरोध में उठता हुआ उनके **शिप्रे अवेपयः**=जबड़ों को कम्पित कर देता है—तू उनकी बत्तीसी को बाहर निकाल देता है—उनके दाँतों को तोड़ देता है।

मन्त्रार्थ में निम्न बातें स्पष्ट हैं—१. 'सोमपान'=शक्ति की रक्षा जितेन्द्रिय ही कर सकता है

(इन्द्र)। २. यह सोम शरीर तथा मस्तिष्क दोनों के विकास के लिए उत्पन्न किया गया है। रोग-कृमियों को कम्पित व नष्ट करके यह वीर्य (वि+ईर) शरीर को नीरोग बनाता है और ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर यह मस्तिष्करूप द्युलोक को जगमगा देता है। ३. सोमपान से ही इन्द्र ओजस्वी बनता है। ४. शक्तिशाली बनकर यह शत्रुओं पर आक्रमण करता है और उनको पूर्णतया पराजित कर देता है।

भावार्थ—१. हम इन्द्र बनें, २. सोमपान करके शक्तिशाली बनें, ३. ओजस्वी बनकर शत्रुओं पर आक्रमण करें और उनकी बत्तीसी को तोड़ दें।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

नीरोगता व ज्ञान

१ २ ३ १ २ ३ १ २र २ ३ १ २ ३ १ २

९८९. अनु त्वा रोदसी उभे स्पर्धमानमददेताम्। इन्द्र यद्दस्युहाभवः ॥ २ ॥

गत मन्त्र में शत्रुओं के पूर्ण पराजय का उल्लेख था। उसी बात का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—१. **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता और शत्रुओं का विदारण करनेवाले जीव! **यत्**=जब तू **दस्युहा**=काम-क्रोधादि दस्युओं का नाश करनेवाला **अभवः**=होता है **अनु**=उसके पश्चात् **उभे रोदसी**=द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों **स्पर्धमानम्**=स्पर्धा के साथ **त्वा**=तुझे **अददेताम्**=अपना-अपना सामर्थ्य प्राप्त कराएँ।

जब मनुष्य जितेन्द्रिय बनकर काम-क्रोधादि को नष्ट कर देता है तब शरीर नीरोग हो जाता है और मस्तिष्क ज्ञान की दीप्ति से जगमगा उठता है। नीरोगता व ज्ञान देने में ये पृथिवी व द्युलोक मानो परस्पर स्पर्धा करते हैं।

भावार्थ—इन्द्र नीरोग वा ज्ञानी होता है।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अष्टापदी वाक्

१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ २ ३ १ २ ३क २र

९९०. वाचमष्टापदीमहं नवस्त्रक्तिमृतावृधम्। इन्द्रात् परि तन्वं ममे ॥ ३ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कुरुसुति काण्व' है—कण-कण करके सोम का अपने अन्दर उत्पादन करनेवाला है। यह कहता है कि **अहम्**=मैं **इन्द्रात्**=उस ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभु से **वाचम्**=वाणी को **परिममे**=अपने अन्दर निर्मित करता हूँ। किस वाणी को—

१. **अष्टापदीम्**=(क) (अष्टापदी दिग्भिः, अवान्तर दिग्भिः च—यास्क० ११.४०) आठों दिशाओं में, अर्थात् सर्वत्र व्याप्त। सर्वत्र-सब लोक-लोकान्तरों में प्रभु ने इसी वाणी का तो उपदेश दिया है। (ख) अथवा नाम, धातु, अव्यय, उपसर्ग, स्वर, व्यञ्जन, अनुस्वार, विसर्गरूप आठ पदोंवाली—Eight parts of speech वाली। २. **नवस्त्रक्तिम्**=(क) (नू=स्तुतौ) प्रभु-स्तवन का सृजन करनेवाली (**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**)—सारे वेद उसी प्रभु का तो स्तवन कर रहे हैं। (ख) अथवा नव निधियों का—सब शक्तियों का सृजन करनेवाली। ३. **ऋतावृधम्**=सत्य का वर्धन करनेवाली। ४. **तन्वम्**=सूक्ष्म, अर्थात् जिसमें सब विद्याएँ बीजरूप से निहित हैं।

भावार्थ—मैं सोम की रक्षा करता हुआ वेदवाणी को अपनानेवाला बनूँ।

सूक्त-१०

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्राग्नी का सोमपान

९९१. इन्द्राग्नी युवामिमे३ऽभि स्तोमा अनूषत। पिबतं शम्भुवा सुतम्॥ १ ॥

जिन प्राणापान को ऊपर मित्रावरुण शब्द से स्मरण किया था वे ही यहाँ 'इन्द्राग्नी' नाम से स्मरण किये गये हैं। इन्द्र बल की देवता है तो अग्नि प्रकाश की। इन्द्र देवता प्रस्तुत मन्त्रों के ऋषि को 'भारद्वाज'=शक्ति-सम्पन्न बनाती है तो 'अग्निदेवता' उसे प्रकाश व ज्ञान से युक्त करके 'बार्हस्पत्य' बनाती है। इस प्रकार इसके 'क्षत्र व ब्रह्म' दोनों का ही विकास होता है। इन दोनों तत्त्वों के लिए ही शरीर में सोम का विनियोग होता है। सोम शरीर में बल बढ़ाता है और मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है।

हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश की देवताओ! **युवाम्**=तुम दोनों को **इमे स्तोमाः**=ये स्तुतिसमूह **अभ्यनूषत**=प्रशंसित करते हैं। वेदमन्त्रों में क्षत्र व ब्रह्म की ही प्रशंसा है—बल तथा ज्ञान के सम्पादन पर ही बल दिया गया है। ये दोनों ही मनुष्य को आदर्श मनुष्य बनाते हैं। **शंभुवा**=ये दोनों ही जीवन में शान्ति को जन्म देनेवाले हैं। ये दोनों **सुतम्**=उत्पन्न सोमरस का **पिबतम्**=पान करें। शरीर में उत्पन्न सोम शरीर तथा मस्तिष्क के निर्माण में ही विनियुक्त हो।

भावार्थ—मैं सोम को शरीर में इस प्रकार खपाऊँ कि बलवान् बनकर 'इन्द्र' बनूँ और प्रकाशमय जीवनवाला बनकर 'अग्नि' बनूँ।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

भद्र से संयोग, अभद्र से वियोग

९९२. या वां सन्ति पुरुस्पृहो नियुतो दाशुषे नरा। इन्द्राग्नी ताभिरा गतम्॥ २ ॥

हे **इन्द्राग्नी**=प्राणापान-शक्तियो! **या**=जो **वाम्**=आपकी **पुरुस्पृहः**=अत्यन्त स्पृहणीय **नियुतः**=मिश्रण व अमिश्रण की शक्तियाँ **सन्ति**=हैं, (प्राण के द्वारा शरीर के साथ बल का मिश्रण होता है और अपान द्वारा मस्तिष्क से अज्ञानान्धकार का निवारण होता है)। इन शक्तियों के द्वारा आप **नरा**=मनुष्यों को उन्नति-पथ पर ले-चलते हो। आप **ताभिः**=उन शक्तियों के साथ **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए, आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले व्यक्ति के लिए **आगतम्**=प्राप्त होओ। जो भी व्यक्ति प्राणसाधना करता है, उसे प्राणापान उत्तमता से जोड़ते हैं और न्यूनताओं से पृथक् करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमें भद्र से जोड़े और अभद्र से पृथक् करे।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यज्ञमय जीवन व सोमपान

९९३. ताभिरा गच्छतं नरोपेदं सवनं सुतम्। इन्द्राग्नी सोमपीतये ॥ ३ ॥

१. हे **नरा**=हमें उन्नति-पथ पर आगे और आगे ले-चलनेवाले **इन्द्राग्नी**=प्राणापानो! **ताभिः**=अपनी अत्यन्त स्पृहणीय शक्तियों के साथ—भद्र से संयोग व अभद्र से वियोगकारिणी शक्तियों के साथ **इदम्**=इस **सुतम्**=प्रजाओं के साथ ही उत्पन्न किये गये **सवनम्**=यज्ञ के **उपागच्छतम्**=समीप आइए,

अर्थात् प्राणापान की साधना करते हुए हम यज्ञमय जीवनवाले हों। २. हे प्राणापानो! आप **सोमपीतये**=सोम का पान करने के लिए होओ। आपकी साधना के द्वारा मैं सोम को शरीर में ही व्याप्त कर सकूँ।

भावार्थ—प्राणापान की साधना के दो लाभ हैं—१. जीवन यज्ञमय बनता है, २. सोम शरीर में ही खप जाता है।

सूक्त-११

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

९९४. अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत्। सीदन्योनौ वनेष्वा॥ १॥

मन्त्र का अर्थ संख्या ५०३ पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'अविनाशक' सोम

९९५. अप्सा इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः। सोमा अर्षन्तु विष्णवे॥ २॥

रेतस् जलों का ही रूप है। रेतस् ही सोम है, जो रस-रुधिरादि क्रम से शरीर में उत्पन्न होता है। सोम ही 'अप्सा:' है, क्योंकि ये 'अपां सारभूतो रसः'=जलों का सारभूत रस है। 'अप्सा:' का अर्थ 'नाश न करनेवाले' (not destroying) भी है। ये सोम ही शरीर में धारकतत्त्व है। ये **अप्साः**=अविनाशक व धारक **सोमाः**=सोम **अर्षन्तु**=शरीर में ही गतिवाले हों—शरीर में ही रुधिर में व्याप्त होकर प्रवाहित हों। किसलिए—

१. **इन्द्राय**=इन्द्र के लिए, परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए। मानव शरीर में जो कुछ भी उत्कर्ष प्राप्त करना है, उस सबका मूल इस सोम=वीर्यशक्ति में ही है।

२. **वायवे**=गतिशीलता के लिए (वा गतौ)। शरीर की स्फूर्ति सोम पर ही निर्भर करती है।

३. **वरुणाय**=वरुण के लिए। 'वरुणो नाम वरः'—श्रेष्ठता के लिए। कामादि हीन भावनाओं के निवारण के लिए।

४. **मरुद्भ्यः**=प्राणों के लिए। प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए। सोम ही तो प्राण हैं—इनके अभाव में तो मृत्यु है।

५. **विष्णवे**=(विष् व्याप्तौ) व्यापकता के लिए, मनोवृत्ति को विशाल बनाने के लिए भी सोमरक्षा आवश्यक है।

'इन्द्र, वायु, वरुण, मरुत् व विष्णु' ये सब नाम उस प्रभु के हैं। उस-उस नाम से प्रभु का स्मरण अमुक-अमुक गुण के धारण के लिए ही है। इन सब गुणों का धारण सोमरक्षा पर ही निर्भर करता है। ये सोम ही 'अप्सा:'=अविनाशक व धारक हैं। इन्हीं की रक्षा पर सब अविनाश अवलम्बित हैं।

भावार्थ—सोमरक्षा द्वारा मैं 'इन्द्र' आदि शब्दों से सूचित गुणों को अपने में धारण करूँ।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सबल सन्तान व शतगुणित शक्ति

९९६. इषं तोकाय नो दधदस्मभ्यं सोम विश्वतः। आ पवस्व सहस्रिणम्॥ ३॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **नः**=हमारे **तोकाय**=सन्तानों के लिए **इषम्**=शक्ति **दधत्**=धारण करते हुए **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सहस्त्रिणम्**=शतगुणित बल को **विश्वतः**=शरीर में सब ओर, अर्थात् अङ्ग-प्रत्यङ्ग में **आपवस्व**=प्राप्त कराइए।

वस्तुतः सोम की ऊर्ध्वगति व संयम से तथा केवल सन्तानार्थ उसके विनियोग से जहाँ सन्तानें बड़ी शक्तिशाली होती हैं, वहाँ माता-पिता के शरीर भी जीवनभर सबल अङ्गोंवाले बने रहते हैं।

भावार्थ—सोम-संयम के द्वारा हम सबल सन्तानोंवाले तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शतगुणित शक्तिवाले बनें।

सूक्त-१२

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

९९७. सोम उ ष्वाणः सोतृभिरधि ष्णुभिरवीनाम्।
अश्वयेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति धारया ॥ १ ॥

५१५ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

अनूप में विहरण

९९८. अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः।
समुद्रं न संवरणान्यग्मन् मन्दी मदाय तोशते ॥ २ ॥

१. यजुर्वेद में कहा है '**तस्मिन् अपो मातरिश्वा दधाति**', अर्थात् जीव उस प्रभु में ही कर्मों को धारण करता है। 'अनुगताः आपः यस्मिन्' जिसमें सब कर्म हो रहे हैं, इस व्युत्पत्ति से प्रभु को 'अनूप' कहा है। एक **गोमान्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला व्यक्ति **गोभिः**=वेदवाणियों के द्वारा **अनूपे**=उस सब कर्मों के आधार प्रभु में **अक्षाः**=व्याप्त होता है अथवा गति करता है, अर्थात् प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनकर वेदानुकूल कर्मों से उस प्रभु में निवास करनेवाला बनता है (क्षि=निवासे)।

२. **सोमः**=रुधिरादि क्रम से उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **दुग्धाभिः**=दूही गयी व अपने में प्रपूरित की गयी (दुह प्रपूरणे) **गोभिः**=वेदवाणियों से **अक्षाः**=शरीर में व्याप्त होता है, अर्थात् सोमरक्षा का सर्वोत्तम साधन इन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति में लगाये रखना ही है।

३. **संवरणानि**=अपने को वासनाओं के आक्रमण से पूर्ण सुरक्षित (संवृ=to cover) करनेवाले ही **समुद्रं न**=समुद्र के समान उस प्रभु को **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं। वासनाओं के आक्रमण से अपने को सुरक्षित करनेवाला व्यक्ति ही सोम का अपने में रक्षण व निरोध करता है और इस सुरक्षित सोम से प्रभु को पानेवाला बनता है।

४. **मन्दी**=प्रभु-प्राप्ति के आनन्द का अनुभव करनेवाला यह व्यक्ति **मदाय**=सात्त्विक उल्लास को प्राप्त करने के लिए **तोशते**=वासनाओं का—काम, क्रोध, लोभ का विनाश करता है। इसी का परिणाम होता है कि इसके इस शरीररूप ऋषि-आश्रम में सातों ऋषियों का उत्तम निवास होता है। '**कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्**'—इन सबकी उत्तमता के कारण इस मन्त्र का ऋषि 'सप्तर्षयः' नामवाला ही हो जाता है।

भावार्थ—हम उत्तम ज्ञानमयी वेदवाणी को अपनाकर सदा प्रभु में कार्य करनेवाले हों। वास्तविक आनन्द के लिए वासनाओं का विनाश करें।

सूक्त-१३

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अद्भुत प्रशस्त धन

९९९. यत्सोम चित्रमुक्थ्यं दिव्यं पार्थिवं वसु। तन्नः पुनान आ भर॥ १ ॥

दिव्यम्=द्युलोक-सम्बन्धी तथा **पार्थिवम्**=पृथिवीलोक-सम्बन्धी हे **सोम**=सोम! **यत्**=जो **चित्रम्**=अद्भुत अथवा ज्ञान देनेवाला (चित्+र) **उक्थ्यम्**=प्रशंसनीय—स्तुति के योग्य **वसु**=ऐश्वर्य है **तत्**=उसे **नः**=हमें **पुनानः**=पवित्र करते हुए **आभर**=प्राप्त कराइए।

'सोम' नाम उस प्रभु का है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जन्म देनेवाले हैं, जो ऐश्वर्य के पुञ्ज हैं, शान्त व अमृतस्वरूप हैं। वे हमें द्युलोक-सम्बन्धी ऐश्वर्य, अर्थात् ज्ञान प्राप्त कराएँ। शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है। वे हमें पार्थिव ऐश्वर्य, अर्थात् शारीरिक बल भी दें। 'पृथिवी' शरीर है। इन दोनों वसुओं को प्राप्त कराते हुए वे हमें पवित्र बना दें।

ज्ञान और शक्ति का समन्वय ही मनुष्य को पवित्र जीवनवाला बनाता है।

'सोम' का अर्थ शरीर में उत्पन्न शक्ति भी है। वह शारीरिक बल का मूल तो है ही उससे मनुष्य की ज्ञानाग्नि भी दीप्त होती है। इस प्रकार यह सोम शरीर में रोगादि मलों को न आने देकर तथा मस्तिष्क में अन्धकार को न आने देकर हमारे जीवन को बड़ा पवित्र बना देता है।

भावार्थ—सोम हमें दिव्य व पार्थिव वसु प्राप्त कराए और हमारे जीवनों को पवित्र बना दे।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वासना-शून्य हृदय में

१०००. वृषा पुनान आयूंषि स्तनयन्नधि बर्हिषि। हरिः सन्योनिमासदः ॥ २ ॥

हे सोम! आप १. **वृषा**=शक्तिशाली हो अथवा सब सुखों का वर्षण करनेवाले हो। २. आप **आयूंषि**=हमारे जीवनों को **पुनानः**=पवित्र करते हो। प्रभु-स्मरण हमें वासनाओं से बचाता ही है। ३. आप **अधिबर्हिषि**=वासनाओं से शून्य किये गये हृदयान्तरिक्ष में **स्तनयन्**=गर्जते हो। प्रभु की वेदवाणी वासनाशून्य हृदय में सुनाई पड़ती है। ५. हे प्रभो! **हरिः सन्**=सब दुःखों व मलों के हरण करनेवाले होते हुए, ६. **योनिम्**=अन्तःकरणरूप गृह में **आसदः**=आसीन होओ।

भावार्थ—प्रभु की वाणी वासनाशून्य हृदय में सुनाई पड़ती है।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'सोम और इन्द्र' स्वर्ग के पति

१००१. युवं हि स्थः स्वःपती इन्द्रश्च सोम गोपती। ईशाना पिप्यतं धियः ॥ ३ ॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **इन्द्रः च**=और परमैश्वर्यशाली परमात्मा **युवम्**=आप दोनों **हि**=निश्चय से **स्वः पती**=स्वर्ग के पति **स्थः**=हो। जीवन सचमुच स्वर्ग बन जाता है। १. यदि जीवन में प्रभु-स्मरण हो और २. यदि जीवन में सोम की रक्षा हो—वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित रक्खा जाए।

हे सोम और इन्द्र! आप **गोपती स्थः**=वेदवाणियों के पति हो। प्रभु तो वेदवाणियों के पति हैं ही। सोमरक्षा हमें उन वेदवाणियों के समझने के योग्य बनाती है। **ईशाना**=ऐश्वर्यवाले होते हुए आप दोनों **धियः**=प्रज्ञानों व कर्मों को **पिप्यतम्**=हममें आप्यायित कीजिए। प्रभु की कृपा से और सोम की रक्षा से हमारा ज्ञान बढ़े और हमारे कर्म अधिकाधिक पवित्र हों।

प्रभु-स्मरण व सोमरक्षा में भी कार्यकारण भाव है। प्रभु-स्मरण हमें सोमरक्षा के योग्य बनाता है। ऐसा होने पर हम 'असित'—विषयों से अबद्ध, 'देवल'—दिव्य गुणोंवाले तथा 'काश्यप'=ज्ञानी बनते हैं। हम स्वर्ग के पति होते हैं, वेदवाणियों के पति होते हैं और हमारे प्रज्ञान व कर्म आप्यायित होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण व सोमरक्षा द्वारा स्वर्ग के पति बनें।

सूक्त-१४

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

१००२. इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।
तमिन्महत्स्वाजिषूतिमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत्॥ १॥

४११ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सेन्य व परादादि

१००३. असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि परादादिः।
असि दभ्रस्य चिद्वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु॥ २॥

१. प्रभु 'गोतमराहूगण' प्रशस्तेन्द्रिय त्यागशील व्यक्ति से कहते हैं कि हे **वीर**=शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले! तू **हि**=निश्चय से **सेन्यः**=(इनेन सहिताः सेनाः, तेषु साधु) प्रभु के साथ सम्पर्क रखनेवालों में उत्तम **असि**=है। वस्तुतः प्रातः-सायं प्रभु का स्मरण करने के कारण ही तो यह वीर है। २. प्रभु-सम्पर्क जनित बल से **परादादिः असि**=शत्रुओं का पराजेता व दूर भगानेवाला है। ३. प्रभु के सम्पर्क के कारण ही **दभ्रस्य**=अल्प का **चित्**=भी **वृधः असि**=बढ़ानेवाला है। हृदय जोकि सामान्यतः तंग-सा होता है, प्रभु-स्मरण से विशाल बन जाता है। ४. हृदय के विशाल बनने पर तू **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए तथा **सुन्वते**=निर्माणात्मक कार्यों में लगे हुए पुरुष के लिए **ते वसु**=अपने धन को **भूरि शिक्षसि**=खूब और खूब ही देता है।

भावार्थ—प्रभु-सम्पर्क में रहते हुए हम शत्रुओं के पराजेता बनें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

१००४. यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धनम्।
युङ्क्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः॥ ३॥

४१४ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

सूक्त-१५

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

१००५. स्वादोरित्था विषूवतो मधोः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथा वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ १ ॥

४०९ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वेदवाणी कैसी है ? क्या करती है ?

१००६. ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः ।
प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ २ ॥

ताः=वे **अस्य**=इन जीव के, प्रभु के साथ **पृशनायुवः**=(पृशनं=clinging to) सम्पर्क करनेवाली **पृश्नयः**=(संस्पृष्टो भासा) ज्ञान की ज्योति से युक्त **इन्द्रस्य प्रियाः**=जितेन्द्रिय पुरुष को प्रीणत करनेवाली **वस्वीः**=उत्तम निवास की कारणभूत **धेनवः**=वेदवाणीरूप गौएँ **स्वराज्यम् अनु**=स्वराज्य का लक्ष्य करके **सोमं श्रीणन्ति**=सोम का परिपाक करती हैं और **सायकम्**=(षो अन्तकर्मणि) फल-प्राप्ति तक न समाप्त होनेवाली **वज्रम्**=क्रियाशीलता की **हिन्वन्ति**=प्रेरणा देती हैं।

प्रस्तुत मन्त्र में वेदवाणी का स्वरूप निम्न शब्दों में दर्शाया गया है—ये हमारे शरीर में सोम का परिपाक करती हैं। वेद-स्वाध्याय सोम का शरीर में ही खपत कर देता है, क्योंकि उस समय यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। २. इन वेदवाणियों से हमें क्रियाशीलता की प्रेरणा मिलती है—यह क्रियाशीलता फल-प्राप्ति में ही पर्यवसन्न होती है। यह फल-प्राप्ति 'स्वराज्यमनु' शब्दों से सूचित हो रही है। 'स्वराज्य'=मोक्ष-प्राप्ति—इन्द्रियों की दासता से छुटकारा ही मानव-जीवन का लक्ष्य है।

भावार्थ—हम वेद को अपनाएँ। यह हमारे जीवन को ज्योतिर्मय बनाएगा और प्रभु से हमारा मेल कराएगा। इन्हें अपनाने से हम उत्तम वेदवाणीरूप गौवोंवाले होंगे—'गोतम' बनेंगे और वासनाओं को त्यागनेवाले 'राहूगण' होंगे।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शक्ति के साथ नमन

१००७. ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः ।
व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ ३ ॥

१. **ताः**=वेदवाणियाँ **अस्य**=इस **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले प्रभु के **सहः**=बल का **नमसा**=नमन के साथ **सपर्यन्ति**=पूजन करती हैं, अर्थात् वेदवाणियों को अपनानेवाले 'गोतम राहूगण' प्रभु की शक्ति की उपासना करते हैं। २. ये लोग **पूर्वचित्तये**=पूर्ण ज्ञान की प्राप्त के लिए **अस्य**=इस प्रभु के **पुरूणि**=पालक व पूरक **व्रतानि**=कर्मों का **सश्चिरे**=सेवन करते हैं। वेदवाणी का अध्ययन करते हुए ये प्रभु के 'दया-न्याय' आदि व्रतों को अपनाते हैं, जिससे उनका ज्ञान पूर्णता की ओर बढ़नेवाला

हो। ३. **वस्वीः**=उत्तम निवास की कारणभूत ये वेदवाणियाँ **स्वराज्यम् अनु**=स्वराज्य का लक्ष्य करके प्रवृत्त होती हैं, इनका अध्ययन हमें जितेन्द्रिय बनाता है—इन्द्रियों का दास न बनाकर हमें मोक्ष-लाभ कराता है।

भावार्थ—१. वेदवाणियों के अध्ययन से हमें पता लग जाता है कि सब शक्ति प्रभु की है, अतः मनुष्य को गर्व नहीं होने पाता, २. हम प्रभु के व्रतों को अपने जीवन में अनूदित करते हैं ३. और स्वराज्य—पूर्ण जितेन्द्रियता को अपना लक्ष्य बनाते हैं।

सूक्त-१६

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

१००८. असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः। श्येनो न योनिमासदत्॥ १॥

४७३ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोम द्वारा गौवों का आप्यायन

१००९. शुभ्रमन्धो देववातमप्सु धौतं नृभिः सुतम्। स्वदन्ति गावः पयोभिः॥ २॥

शरीर में उत्पन्न सोम को 'अन्धः' कहते हैं, क्योंकि यह आध्यायनीय—अत्यन्त ध्यान देने योग्य होता है। यह **अन्धः**=सोम १. **शुभ्रम्**=शरीर को शोभा प्राप्त करानेवाला है। शरीर की सारी कान्ति इस सोम पर ही निर्भर करती है। २. यह **देववातम्**=(देवानां वातं यस्मात्) दिव्य गुणों को हममें प्रेरित करनेवाला है। सोम की रक्षा से हममें दिव्य गुणों की वृद्धि होती है। ३. **अप्सु**=कर्मों में **धौतम्**=यह शुद्ध किया जाता है, जब तक मनुष्य कर्मों में लगा रहता है तब तक उसका यह सोम पवित्र बना रहता है, क्योंकि न वासना उत्पन्न होती है और न ही यह मलिन होता है। एवं, कर्मों में लगे रहना 'सोम-रक्षा' का साधन हो जाता है। ४. **नृभिः सुतम्**=यह सोम अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवालों के हेतु से उत्पन्न किया गया है, अर्थात् शरीर में इसकी उत्पत्ति इसी उद्देश्य से की गयी है कि मनुष्य उन्नत हो सके। इस सोम को **गावः**=ज्ञानेन्द्रियाँ **पयोभिः**=आप्यायन के हेतु से **स्वदन्ति**=खाती हैं। यह सोम सब इन्द्रियों की शक्ति की वृद्धि का हेतु है।

भावार्थ—सोमरक्षा द्वारा हम सब इन्द्रियों की शक्ति का विकास करें।

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

नीरोगता व प्रभुदर्शन का आनन्द

१०१०. आदीमश्वं न हेतारमशूशुभन्नमृताय। मधो रसं सधमादे॥ ३॥

आत्=अब **ईम्**=निश्चय से इस सोम को **अशूशुभन्**=इस शरीर में ही सुशोभित करते हैं। किस सोम को? १. **अश्वं न हेतारम्**=घोड़े के समान क्रियाओं में प्रेरित करनेवाले को। जिस प्रकार खड़े रहने से घोड़े को चलना अधिक प्रिय है, उसी प्रकार सोम की रक्षा करनेवाले व्यक्ति को आलस्य व आराम की अपेक्षा क्रियाशीलता अधिक रुचिकर है। सोम उसे क्रियाओं में प्रेरित करता है। २. **मधोः रसम्**=यह सोम मधु का रस है। निघण्टु (१.१२) में 'मधु' जल का नाम है और यह जल ही शरीर में **रेतस्**=सोमरूप से रहते हैं (आपः रेतो भूत्वा—ऐ०)। ताण्ड्य ब्राह्मण (११.१०.३) में **अन्नं वै मधु**—

अन्न को मधु कहा गया है। यह सोम इसी अन्न का रस–रुधिरादि के क्रम से सार अथवा रस है।

इस अन्न के सारभूत सोम को शरीर में शोभित करने का प्रयत्न किया जाता है—१. **अमृताय**=अमरता के लिए। सोम की रक्षा से शरीर में किसी प्रकार के रोग उत्पन्न नहीं होते। असमय में मृत्यु नहीं होती और परिणामतः अमरता प्राप्त होती है। २. **सधमादे**=(सहमदने) इस मानवदेह में आनन्दमयकोश में उस प्रभु के साथ निवास करके आनन्द लेने के निमित्त इस सोम की रक्षा की जाती है। सोमरक्षा द्वारा हमें उस सोम=सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक प्रभु का दर्शन होता है और हम प्रभु के सम्पर्क में एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—सोम को शरीर में ही सुरक्षित करने से १. जीवन क्रियाशील बना रहता है। २. नीरोगता के कारण अमरता का लाभ होता है तथा ३. प्रभु–दर्शन से आनन्द का अनुभव होता है। इस सोम का रक्षक 'जमदग्नि' बनता है, सदा जाठराग्नि के ठीक होने के कारण इसे रोग नहीं सताते और यह सब शक्तियों का ठीक परिपाक करनेवाला 'भार्गव' होता है (भ्रस्ज पाके)।

सूक्त–१७

ऋषिः—ऊर्ध्वसद्मा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (ककुबुष्णिक्)॥ स्वरः—ऋषभः॥

१०११. अभि द्युम्नं बृहद्यश इषस्पते दिदीहि देव देवयुम्। वि कोशं मध्यमं युव॥ १॥

५७९ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—कृतयशा आङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (सतोबृहती)॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वैज्ञानिक अन्वेषण व ब्रह्मदर्शन

१०१२. आ वच्यस्व सुदक्ष चम्वोः सुतो विशां वह्निर्न विश्पतिः।
वृष्टिं दिवः पवस्व रीतिमपो जिन्वन् गविष्टये धियः॥ २॥

१. हे **सुदक्ष**=उत्तम दक्षता पैदा करनेवाले सोम! तू २. **चम्वोः**=(द्यावापृथिव्योः) मस्तिष्क व शरीर के लिए **सुतः**=उत्पादित हुआ–हुआ **आवच्यस्व**=शरीर में सर्वत्र गतिवाला हो। सोम की रक्षा से मनुष्य कार्यकुशल बनता है और जहाँ अपने मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता है, वहाँ अपने शरीर को सुदृढ़ बनाता है। ३. यह सोम तो **विशाम्**=प्रजाओं की **वह्निः न**=एक सवारी (Vehicle) के समान है जो उन्हें लक्ष्यस्थान पर पहुँचाने में सहायक होती है। इस सोम की रक्षा से ही उस सोम (प्रभु) तक पहुँचा जाएगा। ४. **विश्पतिः**=यह सोम प्रजाओं का रक्षक है—उन्हें रोगों से बचाकर मृत्यु से बचानेवाला है। ५. हे सोम! तू **दिवः**=द्युलोक से **वृष्टिम्**=वृष्टि को **पवस्व**=क्षरित कर। सोम की रक्षा से एक योगी जब धर्ममेघ समाधि में पहुँचता है, तब मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थित सहस्रधारचक्र से आनन्द के कणों की वर्षा होती है। ६. हे सोम! तू **अपः रीतिम्**=कर्मों के प्रवाह को **पवस्व**=प्राप्त करा। सोमरक्षा से मनुष्य इस मानव–जीवन में अन्त तक सतत कर्म करनेवाला बना रहता है। ७. हे सोम! तू **गविष्टये**=उस प्रभु की खोज के लिए अथवा वैज्ञानिक तत्त्वों के अन्वेषण के लिए **धियः**=हमारे प्रज्ञानों व कर्मों को **जिन्वन्**=प्रीणित करनेवाला हो। हमारी बुद्धि इतनी तीव्र हो और क्रियाशक्ति इतनी प्रबल हो कि हम वैज्ञानिक तत्त्वों का अन्वेषण करते हुए अन्त

में ब्रह्म की महिमा का दर्शन करें और प्रभु का साक्षात्कार करनेवाले हों।

सोम की रक्षा से अपने जीवन को मन्त्रवर्णित दिशा में ले-चलनेवाला व्यक्ति 'कृतयशाः आङ्गिरस'=यशस्वी व शक्तिशाली होता है।

भावार्थ—हम सोम का पान करें और जीवन को सुन्दर बनाते हुए तथा वैज्ञानिक तत्त्वों की खोज करते हुए प्रभु-दर्शन करनेवाले बनें।

सूक्त-१८

ऋषिः—त्रित आप्त्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

१०१३. प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम्। विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ॥ १ ॥

५७० संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

सप्तधाम

१०१४. उप त्रितस्य पाष्योऽ३रभक्त यद् गुहा पदम्। यज्ञस्य सप्त धामभिरध प्रियम् ॥ २ ॥

त्रितस्य=काम, क्रोध, लोभ को जो तैर गया है (तीर्णस्य); अथवा दया, दान व दम का जिसने विस्तार किया है (त्रीन् तनोति); प्राणापान के उस पुरुष की **पाष्योः**=(पष् बन्धने) चित्तवृत्ति के बाँधनेवाले होने पर **यत्**=जब मनुष्य का मन **गुहा**=हृदयरूप गुहा में **पदम्**=(पद्यते मुनिभिर्यस्मात् तस्मात् पदमुदाहृतः) उस गन्तव्य प्रभु का **उप**=समीपता से सेवन करता है और **यज्ञस्य**=(यज्ञो वै विष्णुः) संगतीकरण के योग्य प्रभु के **सप्त धामभिः**=सात स्थानों से, योग की सात भूमिकाओं से आगे बढ़ता हुआ **अध**=अब **प्रियम्**=उस प्रीणित करनेवाले प्रभु को **अभक्त**=प्राप्त करता है।

प्रभु को प्राप्त करने के कारण ही इसका नाम 'आप्त्य'=प्राप्त करनेवालों में उत्तम पड़ गया है, त्रित तो यह है ही। उल्लिखित मन्त्रार्थ में 'त्रितस्य' शब्द योगमार्ग के पहले दो अङ्गों का 'यम-नियम' का संकेत करता है। 'पाष्योः' शब्द प्राणायाम की सूचना दे रहा है। 'गुहा' शब्द चित्तवृत्ति के मन में लौटाने, अर्थात् 'प्रत्याहार'=का संकेत देता है। 'सप्त धामभिः' योग की सातों भूमिकाओं को पार करके ही तो प्रभु-दर्शन होता है।

भावार्थ—हम त्रित बनें, प्राणापान की साधना से चित्तवृत्ति को हृदय में ही बाँधें, जिससे अन्त में उस प्रिय प्रभु को पा सकें।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

तीन का धारण

१०१५. त्रीणि त्रितस्य धारया पृष्ठेष्वैरयद्रयिम्। मिमीते अस्य योजना वि सुक्रतुः ॥ ३ ॥

१. हे प्रभो! **त्रितस्य**=काम, क्रोध, लोभ को तैरनेवाले अथवा दया, दम व दान को विस्तृत करनेवाले मुझ भक्त की **त्रीणि**=तीनों—इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि को **धारय**=धारण कीजिए। ये अस्थिर न हों। प्रत्याहार के द्वारा मैं इन्द्रियों को विषयों से पृथक् कर पाऊँ, मन को हृदय में धारण करूँ—इसे हृत्प्रतिष्ठ बना पाऊँ और बुद्धि को एकतत्त्व के ध्यान व चिन्तन में लगाऊँ। २. हे प्रभो! आप **पृष्ठेषु**=(तेजो ब्रह्मवर्चसं श्रीर्वै पृष्ठानि—ऐ० ६.५)। तेज, ब्रह्मवर्चस् व श्री के विषय में **रयिं**

ऐरयत्=ऐश्वर्य को प्राप्त कराइए। बाह्य धनों को महत्त्व न देकर मैं तेज, ब्रह्मवर्चस् व श्री [शोभा] को ही अपना धन समझूँ। ३. **सुक्रतुः**=उत्तम प्रज्ञानों, सङ्कल्पों व कर्मोंवाला त्रित तो **अस्य**=इस प्रभु के **योजना**=सङ्गम के साधनों की ही **विमिमीते**=विशेषरूप से याचना करता है। [मिमीते=याचते—निरु० ३.१९.८]

नोट—यहाँ श्री भगवत्पदाचार्यजी ने इस प्रकार अर्थ किया है कि—रयिं पृष्ठेषु ऐरयत्—धन तो उन्हीं को प्राप्त कराइए जो पिछड़े हुए (backward) हैं। मैं तो आपकी प्राप्ति के साधनों को ही चाहूँगा। इस अर्थ में भी एक सौन्दर्य है ही।

भावार्थ—मेरी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि स्थिर हों, मैं तेज, ब्रह्मवर्चस व श्री का धनी बनूँ, प्रभु-संगम—साधनों को प्राप्त होऊँ।

सूक्त-१९

ऋषिः—रेभसूनू काश्यपौ॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

जीवन का माधुर्य

१०१६. पवस्व वाजसातये पवित्रे धारया सुतः।
इन्द्राय सोम विष्णवे देवेभ्यो मधुमत्तरः॥ १॥

हे **सोम**=सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! १. आप **वाजसातये**=संग्राम (नि० २.१६.३६) के लिए **पवस्व**=हमें प्राप्त हों। आपके सहाय के बिना हम वासनाओं के साथ संग्राम में जीत नहीं सकते। २. **पवित्रे**=वासना-विजय से पवित्र हुए-हुए हृदय में **धारया**=वेदवाणी के द्वारा आप **सुतः**=उत्पन्न होते हैं। सर्वव्यापकता के नाते हमारे हृदयों में भी स्थित प्रभु का दर्शन वासनाओं के विनाश से पवित्र होने पर ही होता है। प्रभु 'बर्हि'=उसी हृदय में बैठते हैं, जहाँ से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है। ३. हे सोम! आप **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता **विष्णवे**=व्यापक मनोवृत्तिवाले, उदार **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों से युक्त पुरुषों के लिए **मधुमत्तरः**=अत्यन्त माधुर्यवाले होते हो। प्रभु 'इन्द्र, विष्णु व देव' पुरुष के जीवन को अत्यन्त मधुर बना देते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के साहाय्य से वासना-संग्राम में विजयी हों, पवित्र हृदय में वेदवाणी के प्रकाश से प्रभु का दर्शन करें। जितेन्द्रिय हों, व्यापक मनोवृत्तिवाले हों, देव बनें, जिससे प्रभु हमारे जीवनों को मधुर बना दें।

ऋषिः—रेभसूनू काश्यपौ॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

ध्यान, अद्रोह, निर्माण

१०१७. त्वां रिहन्ति धीतयो हरिं पवित्रे अद्रुहः।
वत्सं जातं न मातरः पवमान विधर्मणि॥ २॥

हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले प्रभो! **हरिम्**=सब दुःखों व पापों के हरनेवाले **त्वाम्**=आपको **पवित्रे**=वासनाओं से शून्य—निर्मल हृदय में **धीतयः**=ध्यानशील, **अद्रुहः**=किसी का द्रोह न करनेवाले, **मातरः**=सदा निर्माण के कार्यों में लगे हुए **रिहन्ति**=पूजते हैं (नि० ३.१४.११),

आपके दर्शन का रसास्वादन करते हैं, उसी प्रकार **न**=जैसे **जातं वत्सम्**=उत्पन्न हुए-हुए वत्स को देखकर **मातर:**=माताएँ **रिहन्ति**=आनन्दित होती हैं। ये लोग प्रभु का इस प्रकार अर्चन इसलिए करते हैं कि **विधर्मणि**=विशिष्टरूप से अपना धारण कर सकें। जीवन में वासनाओं का सतत आक्रमण हो रहा है, उस आक्रमण से प्रभु-चिन्तन ही मनुष्य को बचाता है। इस धारण के निमित्त वे प्रभु का ध्यान करते हैं।

एवं, यह प्रभु का अर्चन करनेवाला 'रेभ'=स्तोता है, प्रभु-प्रेरणा को सुनने के कारण 'सूनू' और वासना-विनाश के कारण यह 'काश्यप' ज्ञानी तो है ही।

भावार्थ—हम ध्यान, अद्रोह व निर्माण के द्वारा प्रभु का पूजन करें। वे हमारे पापों को हरेंगे और विशिष्टरूप से हमारा धारण करेंगे।

ऋषि:—रेभसूनू काश्यपौ ॥ देवता—पवमान: सोम: ॥ छन्द:—अनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

पवमान-महिव्रत

१०१८. त्वं द्यां च महिव्रत पृथिवीं चाति जभ्रिषे।
प्रति द्रापिममुञ्चथा: पवमान महित्वना ॥ ३ ॥

१. हे **महिव्रत**=महनीय (प्रशंसनीय) व महान् व्रतोंवाले **पवमान**=सबको पवित्र करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **द्यां च पृथिवीं च**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **अतिजभ्रिषे**=अतिशयेन धारण करते हो—बहुत ही सुन्दर ढंग से सारे संसार का पालन-पोषण करते हो। २. हे पवमान प्रभो! **महित्वना**=आप अपनी महिमा से **द्रापिम्**=कुत्सित गति को (द्रा कुत्सायां गतौ) **प्रति अमुञ्चथा:**=छुड़ाते हो—दूर करते हो।

१. प्रभु के कर्म महान् हैं। वे 'महिव्रत' हैं—सारे ब्रह्माण्ड का पालन उसका सर्वमहान् कर्म है। २. वे प्रभु पवमान हैं—पवित्र करनेवाले हैं। वे अपनी महिमा से भक्तों को अशुभों से दूर करते हैं। प्रभु का भक्त (रेभ) प्रभु की प्रेरणा को सुनता है (सूनु) और ज्ञानी (काश्यप) बनकर पवित्र कर्मोंवाला हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु ही सबका धारण करते हैं। हमारा धारण भी वही करेंगे और हमें पाप से पृथक् करेंगे।

सूचना—'प्रभु धारण करते हैं और कुत्सित गति को दूर करते हैं', इस मन्त्र क्रम के द्वारा यह सूचना हो रही है कि पापों से पृथक् होने के लिए आवश्यक है कि हम निर्माण व धारण के कार्यों में लगे रहें। संक्षेप में 'पवमान' वही बनता है जो 'महिव्रत' होता है।

सूक्त-२०

ऋषि:—मन्युर्वासिष्ठ: ॥ देवता—पवमान: सोम: ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

१०१९. इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोम: सह इन्वन्मदाय।
हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं वरिवस्कृण्वन् वृजनस्य राजा ॥ १ ॥

५४० संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—मन्युर्वासिष्ठः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वासिष्ठ मन्यु का जीवन

१०२०. अध धारया मध्वा पृचानस्तिरो रोम पवते अद्रिदुग्धः ।
इन्दुरिन्द्रस्य सख्यं जुषाणो देवो देवस्य मत्सरो मदाय ॥ २ ॥

अध=अब ज्ञानी व वशी बना हुआ यह १. **धारया**=वेदवाणी से तथा २. **मध्वा**=माधुर्य से **पृचानः**=संपृक्त हुआ, ३. **अद्रिदुग्धः**=(अद्रयःआदरणीयाः—नि० ९.८, दुह प्रपूरणे) आदरणीय आचार्यों द्वारा ज्ञान से प्रपूरित किया हुआ, ४. **तिरः रोम**=तिरः=प्राप्त—(नि० ३.२०) प्राप्त शब्द (रु शब्दे) को, अर्थात् वेदज्ञान को **पवते**=लोकहित के लिए लोगों को प्राप्त कराता है, अर्थात् जैसे ज्ञानी आचार्यों ने इसमें ज्ञान का पूरण किया था, उसी प्रकार यह भी औरों के प्रति उस ज्ञान को प्राप्त कराता है। ५. इस लोकहित के कार्य से यह **इन्दुः**=सोमरक्षा द्वारा शक्तिशाली बनता हुआ उस सर्वशक्तिमान् प्रभु के **सख्यम्**=मित्रभाव का **जुषाणः**=सेवन करनेवाला होता है। लोकहित-कार्यों में लगे रहने से यह संयमी जीवनवाला बनता है और संयम के कारण शक्ति-सञ्चय करके 'इन्दु' होता है। यह इन्दु ही इन्द्र की मित्रता का अधिकारी होता है। ६. **देवः**=प्रभु की मित्रता से यह दिव्य गुणोंवाला होता है और देव बनकर **देवस्य**=यह उस महान् देव परमात्मा का ही हो जाता है। ७. यह **मत्सरः**=आनन्दपूर्वक कर्मों में सरण करनेवाला होता है और परिणामतः ८. **मदाय**=अलौकिक आनन्द-लाभ के लिए होता है, अर्थात् अनुपम सुख का अनुभव करता है।

भावार्थ—हम वशी व ज्ञानी बनकर प्राप्त ज्ञान का प्रचार करने में आनन्द लें।

ऋषिः—मन्युर्वासिष्ठः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विषयों के बवण्डर से ऊपर

१०२१. अभि व्रतानि पवते पुनानो देवो देवान्त्स्वेन रसेन पृञ्चन् ।
इन्दुर्धर्माण्यृतुथा वसानो दश क्षिपो अव्यत सानो अव्ये ॥ ३ ॥

१. मन्यु वासिष्ठ **व्रतानि अभिपवते**=व्रतों की ओर जाता है। 'यम-नियम' ही व्रत हैं। यह 'अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह तथा शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय व ईश्वर-प्रणिधान' का पालन करता है। २. **पुनानः**=इन व्रतों के पालन द्वारा यह अपने जीवन को पवित्र करने के स्वभाववाला होता है। ३. **देवः**=अपने को व्रतों द्वारा निरन्तर पवित्र करता हुआ यह दिव्य गुणोंवाला बन जाता है। ४. **देवान् स्वेन रसेन पृञ्चन्**=यह इन दिव्य गुणों को अपने माधुर्य से सम्पृक्त करता है। वस्तुतः दिव्य गुण तभी तक दिव्य गुण रहते हैं जब तक उनके साथ माधुर्य का मेल है, सत्य तभी तक सत्य है जब तक वह अप्रिय नहीं। ५. दिव्य गुणों के साथ माधुर्य का मेल कर यह **इन्दुः**=अत्यन्त शक्तिशाली बन जाता है। शान्तियुक्त शक्ति ही निर्माण कर पाती है, अतः यह 'मन्यु वासिष्ठ' ६. **धर्माणि ऋतुथा वसानः**=समयानुसार धारणात्मक कर्मों को धारण करनेवाला होता है। ७. **दश क्षिपः अव्यत**=दसों इन्द्रियों को सदा सुरक्षित करता है। इन्द्रियों को वासनाओं के आकर्षणों से बचाकर उत्तम कर्मों में ही लगाये रखता है। ८. **सानोः अव्ये**=और सानु के रक्षण में उत्तम स्थान में पहुँच जाता है। 'सानु' का अर्थ शिखरप्रदेश है। शरीर में यह 'सहस्रारचक्र' है, जोकि मेरुदण्ड के शिखर पर विद्यमान है। यह 'मन्यु वाशिष्ठ' अपनी वृत्तियों को केन्द्रित करके

यहाँ स्थित होने का प्रयत्न करता है। यही प्राणों का मूर्धा में नियमन है। योगी इसी अभ्यास के द्वारा अन्त में ब्रह्मरन्ध्र से प्राणों को छोड़ता है। ऐसा अभ्यासी कभी भी विषयों से बद्ध नहीं होता। विषयों के बवण्डर इस शिखरप्रदेश तक पहुँचते ही नहीं।

भावार्थ—हम अभ्यास के द्वारा शिखर के सुरक्षित प्रदेश में स्थित होनेवाले हों। सब इन्द्रियों को सुरक्षित रक्खें, उन्हें आसुर आक्रमणों से बचाएँ?।

सूक्त-२१

ऋषिः—वसुश्रुत आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

१०२२. आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद्दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर॥ १॥

मन्त्र का अर्थ ४१९ संख्या पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—वसुश्रुत आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु के प्रति हविः

१०२३. आ ते अग्न ऋचा हविः शुक्रस्य ज्योतिषस्पते।
सुश्चन्द्र दस्म विश्पते हव्यवाट् तुभ्यं हूयत इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ २॥

१. हे **अग्ने**=सर्वोन्नतियों के साधक प्रभो! २. **शुक्रस्य ज्योतिषः पते**=दीप्त ज्योति के पति प्रभो! वेदवाणी द्वारा शुद्ध ज्ञान प्राप्त करानेवाले शुक्र-ज्योति प्रभो! ३. **सुश्चन्द्र**=उत्तम आह्लाद प्राप्त करानेवाले प्रभो! ४. **दस्म**=(दसु उपक्षये) सब दुःखों के नाशक! ५. **विश्पते**=सब प्रजाओं के पालक! ६. **हव्यवाट्**=हव्य—उत्तम-पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए **तुभ्यम्**=आपके लिए **ऋचा हविः आहूयते**=विज्ञान व सूक्तों के द्वारा सदा हवि दी जाती है।

प्रभु जीव की उन्नति के साधक हैं, उन्नति के लिए ही उन्होंने वेदज्ञान दिया है। ज्ञान के द्वारा वे हमें जीवन का उत्तम आनन्द प्राप्त कराते हैं, हमारे दुःखों को दूर कर हमारा पालन करते हैं। हमें पवित्र पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। इन प्रभु का स्तवन करना तो आवश्यक है ही, परन्तु स्तवन का वेदानुमोदित प्रकार यह है कि—१. हम विज्ञान का अध्ययन करें, २. मीठा बोलें (ऋच्), तथा ३. दानपूर्वक अदन करें (हु)। प्रभु का सच्चा स्तवन तभी होगा जब ये तीन बातें हमारे जीवन में आ जाएँगी।

हे प्रभो! **स्तोतृभ्यः**=इन सच्चे स्तोताओं के लिए आप **इषम्**=प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम प्रभु को हवि प्रदान करनेवाले हों।

ऋषिः—वसुश्रुत आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

तीनों की ओर चलनेवाला

१०२४. ओभे सुश्चन्द्र विश्पते दर्वी श्रीणीष आसनि।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ ३॥

'**पुरुषो वाव यज्ञः**' इस वाक्य के अनुसार मानव-जीवन एक यज्ञ है, उसमें 'ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ' दो कड़छियों के समान है। अथर्व० १०.७.१९ के अनुसार 'यस्य ब्रह्म मुखमाहुः' ब्रह्म, अर्थात् ज्ञान ही उस प्रभु का मुख है। श्रुतरूपी धनवाला 'वसुश्रुत' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है, यह ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों की ओर (त्रि) चलने (अत्) के कारण अत्रि व आत्रेय कहलाता है।

यह 'वसुश्रुत आत्रेय' प्रार्थना करता है कि हे **सुश्चन्द्र**=उत्तम आह्लाद प्राप्त करानेवाले! **विश्पते**=सब प्रजाओं के पालक प्रभो! आप **उभे**=दोनों **दर्वी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप पुरुषयज्ञ की दर्वियों को **आसनि**=ज्ञानरूप अपने मुख में **आश्रीणीषे**=समन्तात् परिपक्व कर डालते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ वेदज्ञानरूप अग्नि में परिपक्व होकर मलिनतारहित-सी 'Disinfected' हो जाती हैं—उनके मलरूप सभी कृमि नष्ट हो जाते हैं और परिणामतः विषयरूप रोगों की आशंका नहीं रह जाती।

हे **शवसस्पते**=सब बलों के स्वामिन् प्रभो! **उत उक्थेषु**=और स्तोत्रों के विषयों में भी **नः**=हमें **उत्पुपूर्याः**=ऊपर तक भर दीजिए। स्तोत्रों का तो हमारे जीवन में परीवाह (overflowinng) होने लगे।

अब ज्ञान और कर्म के सुन्दर परिपाकवाले तथा स्तोत्रों के परीवाहवाले **स्तोतृभ्यः**=अपने स्तोताओं के लिए **इषम्**=सदा अपनी उत्तम प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराइए। आपकी प्रेरणा ही तो इस ज्ञान के धनी वसुश्रुत को आत्रेय—ज्ञानी बनाएगी। ज्ञान, कर्म व उपासना का अपने में समन्वय करनेवाला यह 'वसुश्रुत आत्रेय' धर्मार्थकामरूप तीनों पुरुषार्थों का भी सुन्दर समन्वय करके श्रीसम्पन्न बनेगा।

भावार्थ—ज्ञानाग्नि में हम अपनी इन्द्रियों को परिपक्व करें तथा हृदयों को प्रभु-भक्ति से भर लें।

सूक्त-२२

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

१०२५. इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥ १॥

३८८ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

नृमेध का प्रभु-स्तवन

१०२६. त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि॥ २॥

जो व्यक्ति केवल स्वार्थमय निजी जीवन नहीं बिताता, अपितु जिसका जीवन समष्टि के साथ मिलकर चलता है, वह सब नरों के साथ मेल करनेवाला 'नृमेध' कहता है कि—१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वम्**=आप ही **अभिभूः असि**=सब बुराइयों का अभिभव करनेवाले हैं। वस्तुतः नृमेध समाजहित के कर्मों में लगा हुआ यह गर्व नहीं करता कि वह बुराइयों को दूर करने में लगा है, अपितु वह तो यही भावना रखता है कि सब बुराइयों को दूर करनेवाले तो वे प्रभु ही हैं। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को **अरोचयः**=चमकाते हैं। नृमेध प्रजाओं में ज्ञान का विस्तार करता हुआ यही समझता है कि यह ज्ञान-सूर्य उस प्रभु से ही दीप्त किया जा

रहा है। ३. हे प्रभो! **विश्वकर्मा**=ये सब कार्य आपकी ही शक्ति से हो रहे हैं। ४. **विश्वदेवः**=सब दिव्य गुण आपके ही हैं। ५. **महान् असि**=आप सचमुच महान् हैं—पूज्य हैं।

इस प्रकार प्रभु-स्तवन करता हुआ यह नृमेध अपने में किसी प्रकार के गर्व को नहीं आने देता।

भावार्थ—इस संसार में जो कुछ अच्छाई व उत्तमता है, वह सब उस प्रभु की ही है।

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

प्रभु की मित्रता के लिए

१०२७. विभ्राजं ज्योतिषा स्वा३रगच्छो रोचनं दिवः। देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे॥ ३॥

हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप १. **ज्योतिषा**=ज्ञान-ज्योति से **विभ्राजन्**=दीप्ति करते हुए, २. **स्वः**=मोक्ष-सुख को तथा ३. **दिवः रोचनम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक की दीप्ति को **अगच्छः**=(अगमयः)=प्राप्त कराते हो। प्रभु वेद-ज्ञान की ज्योति को भक्त के पवित्र हृदय में फैलाते हैं। परिणामतः जहाँ उसका मस्तिष्क अज्ञानान्धकार से रहित होकर ज्ञान के प्रकाश से चमक उठता है वहाँ यह ज्ञानी मोक्ष-सुख का लाभ करता है।

सर्वैश्वर्यसम्पन्न प्रभो! **देवाः**=देव लोग—दिव्य वृत्तिवाले मनुष्य **ते सख्याय**=तेरी मित्रता के लिए **येमिरे**=अपने जीवनों को संयत बनाते हैं। वे अपने इन्द्रियरूप अश्वों का नियमन करके अपने इस शरीररूप रथ के द्वारा आपके समीप पहुँचने के लिए सदा यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—देव प्रभु की मित्रता के लिए संयत जीवनवाले बनते हैं।

सूक्त-२३

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

१०२८. असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि।
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रजः सूर्यो न रश्मिभिः॥ १॥

३४६ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

अर्वाचीन न कि प्राचीन

१०२९. आ तिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी।
अर्वाचीनं सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना॥ २॥

प्रभु 'गोतम राहूगण'=प्रशस्तेन्द्रिय, विषय-त्यागी पुरुष से कहते हैं कि—

१. हे **वृत्रहन्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले! तू **रथम्**=इस शरीररूप रथ पर **आतिष्ठ**=अधिष्ठातृरूपेण आसीन हो। इसपर तेरा शासन हो। २. **ते**=तेरे **हरी**=ये ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **ब्रह्मणा**=ज्ञान के साथ, अर्थात् बड़ी समझदारी से **युक्ता**=इस शरीरूप रथ में जोते जाएँ। अव्यवस्था के कारण ये रथ को ही न तोड़-फोड़ दें।

३. **ग्रावा**=उपदेष्टा आचार्य **वग्नुना**=वेदवाणी के द्वारा **ते मनः**=तेरे मन को **सु अर्वाचीनम्**=उत्तमता से अन्दर की ओर ही गतिवाला **कृणोतु**=करे। तेरा मन कहीं विषयों में न भटकता रहे।

भावार्थ—शरीररूप रथ पर आरूढ़ होकर हम वृत्रहन् बनें—वासनाओं को विनष्ट करें। यात्रा को पूर्ण करने के लिए इन्द्रियाश्वों को प्रेरित करें और प्रयत्न करें कि हमारा मन विषयों में न भटकता रहे। यह प्राचीन न होकर अर्वाचीन बने। बहिर्यात्रा के स्थान में अन्तर्यात्रा करनेवाला हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

ज्ञान में और यज्ञ में

१०३०. इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्।
ऋषीणां सुष्टुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम्॥ ३॥

जब मनुष्य वासनाओं के साथ संग्राम करता है और प्रभुकृपा से, वासनाओं से पराजित नहीं होता तब वह 'अ-प्रति-धृष्ट-शवस्' कहलाता है—नहीं पराजित हुआ बल जिसका। इस **अप्रतिधृष्टशवसम्**=जो वासनाओं के साथ संग्राम में अपराजित बलवाला होता है, अर्थात् हारता नहीं, उस **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष को **हरी**=वे इन्द्रियाँ **इत्**=निश्चय से **उपवहतः**=समीप ले-जाती हैं। किनके—

१. **ऋषीणां सुष्टुतीः उप**=(ऋषिर्वेदः) वेद-प्रतिपादित प्रभु की स्तुतियों के **च**=तथा २. **मानुषाणाम्**=मानवहित में लगे हुओं के **यज्ञम्**=लोकसंग्रहात्मक श्रेष्ठतम कर्मों के समीप। जब मनुष्य वासना-संग्राम में विजयी होता है तब वह दो ही कार्य करता है—उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ तो वेदों के स्तोत्रों का ग्रहण करती हैं, अर्थात् निरन्तर ज्ञान-प्राप्ति में लगी रहती हैं और उसकी कर्मेन्द्रियाँ मानव हितकारी यज्ञों में प्रवृत्त रहती हैं।

भावार्थ—हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति में लगें और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञात्मक कर्मों में लगी रहें।

इति षष्ठोऽध्यायः, तृतीयप्रपाठकश्च समाप्तः॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

चतुर्थप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—अकृष्टा माषाः, सिकतानिवावरी, पृश्नयोऽजाश्च ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥
छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

रसो वै सः=वह रसमय प्रभु

१०३१. ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधु प्रियं पिता देवानां जनिता विभूवसुः ।
दधाति रत्नं स्वधयोरपीच्यं मदिन्तमो मत्सर इन्द्रियो रसः ॥ १ ॥

वे प्रभु कैसे हैं—१. **यज्ञस्य ज्योतिः**=यज्ञों के प्रकाशक हैं। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में 'यज्ञस्य देवम्' शब्द से यही भावना व्यक्त हुई है। वेद में प्रभु ने सब यज्ञों—श्रेष्ठतम कर्मों का प्रतिपादन किया है। २. वे प्रभु जिसे भी प्राप्त होते हैं उसे **मधु प्रियम्**=माधुर्य व स्नेह **पवते**=प्राप्त कराते हैं। 'कोई व्यक्ति प्रभु को प्राप्त कर चुका है या नहीं ?' इसकी पहचान यही है कि यदि वह प्रभु को प्राप्त कर चुका है तो उसका जीवन माधुर्य व प्रेम से पूर्ण होगा। ३. **पिता**=वे प्रभु सभी का पालन व रक्षण करनेवाले हैं, ४. **देवानां जनिता**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले हैं, ५. **विभूवसुः**=व्यापक धनवाले हैं। प्रभु का ऐश्वर्य व शक्ति अनन्त हैं, ६. वे प्रभु **स्वधयोः**=द्यावापृथिवी में—शरीर व मस्तिष्क में **अपीच्यम्**=अन्तर्हित—छिपे रूप से विद्यमान **रत्नम्**=रमणीय वस्तु को **दधाति**=धारण करते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में प्रभु को 'रत्नधातमम्' कहा गया है, ७. **मदिन्तमः**=वे प्रभु अत्यन्त आनन्दमय हैं, ८. **मत्सरः**=अपने भक्तों में आनन्द का प्रसार करनेवाले हैं, ९. **इन्द्रियः**=इन्द्र—जीवात्मा के उपासनीय हैं और १०. **रसः**=आनन्दमय हैं—रसरूप हैं—रस ही हैं।

इस प्रकार प्रभु का ध्यान करनेवाला व्यक्ति 'अकृष्टा माषाः' होता है। यह माष की फलियों की (beens) छीना-झपटी में ही (कृष्ट) नहीं रहता, अर्थात् संसार की वस्तुओं के जुटाने में ही उलझा नहीं रहता। इन वस्तुओं में रस अनुभव न करने से वह इनके लिए 'सिकता' ऊसर-भूमि के समान रहता है, इनके लिए उसमें कोई कामना नहीं रहती। वह वासनाओं को दूर करनेवाला निवावरी होता है। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अकृष्टामाषा-सिकता-निवावरी' इस त्रिगुणित (triplicate) नामवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का ध्यान करें और सांसारिक वस्तुओं की छीना-झपटी से ऊपर उठें।

ऋषिः—अकृष्टा माषाः, सिकतानिवावरी, पृश्नयोऽजाश्च ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥
छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'अकृष्टमाष' का जीवन

१०३२. अभिक्रन्दन् कलशं वाज्यर्षति पतिर्दिवः शतधारो विचक्षणः ।
हरिर्मित्रस्य सदनेषु सीदति मर्मृजानोऽविभिः सिन्धुभिर्वृषा ॥ २ ॥

संसार की वस्तुओं के जुटाने में न उलझा हुआ 'अकृष्टमाष' अपना जीवन निम्न प्रकार से बिताता है—१. **अभिक्रन्दन् कलशम्**=(कला:शेरते अस्मिन्) उस षोडशकला निधान 'षोडशी' प्रभु का आह्वान करता हुआ (क्रदि=आह्वाने), २. **वाजी**=प्रभु के आह्वान से शक्तिशाली बना हुआ यह ३. **अर्षति**=उन्नति-पथ पर तीव्रता से बढ़ता है। ४. **दिवः पतिः**=यह ज्ञान का पति होता है। प्रभु के मार्ग पर चलने व प्रभु के साथ सतत सम्पर्क रखने से यह प्रकाश का स्वामी बनता है। ५. **शतधारः**=सैकड़ों प्रकार से धारण के कर्मों में लगा रहता है अथवा सैकड़ों का धारण करनेवाला होता है। ६. **विचक्षणः**=विशेषरूप से वस्तुओं के तत्त्व को देखनेवाला बनता है। वस्तुओं की आपातरमणीयता से उनमें उलझ नहीं जाता। ७. **हरिः**=यह सदा औरों के दु:खों का हरण करनेवाला होता है अथवा प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों का विषयों से अपहरण कर उन्हें मन में अवस्थित करता है। ८. इस प्रत्याहार के द्वारा यह **मित्रस्य सदनेषु सीदति**=उस सबके मित्र प्रभु के घरों में निवास करता है, अर्थात् प्रभु के साथ सदा सम्पर्कवाला होता है। ९. **अविभिः**=प्रभु-सम्पर्क से अपनी इन्द्रियों व मन को वासनाओं के आक्रमण से बचाता है और इस प्रकार (अव रक्षणे) रक्षणों के द्वारा **मर्मृजानः**=(मृज् शुद्धौ) यह अपना खूब शोधन करता है, ११. इस शोधन के परिणामस्वरूप **सिन्धुभिः**=शरीर में ही प्रवाहित होनेवाले (स्यन्दू प्रस्रवणे) सोमकणों के द्वारा यह **वृषा**=शक्तिशाली बनता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हमारे जीवन का प्रारम्भ हो, जिससे शरीर में प्रवाहित होनेवाले सोमकणों द्वारा यह शक्तिशाली बने।

ऋषिः—अकृष्टा माषाः, सिकतानिवावरी, पृश्नयोऽजाश्च ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥
छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सर्वप्रथम स्थान में

१०३३. अग्रे सिन्धूनां पवमानो अर्षस्यग्रे वाचो अग्रियो गोषु गच्छसि।
अग्रे वाजस्य भजसे महद् धनं स्वायुधः सोतृभिः सोम सूयसे ॥ ३ ॥

१. **सिन्धूनाम्**=शरीर में प्रवाहित होनेवाले सोमकणों से अपने को **पवमानः**=पवित्र करनेवाले 'अकृष्टमाष'! तू **अग्रे अर्षसि**=आगे बढ़ता है, अर्थात् जीवन-यात्रा में तू उन्नति-ही-उन्नति करता चलता है। २. **वाचः अग्रे**=इस वेदवाणी के दृष्टिकोण से तू अग्रभाग में स्थित होता है, अर्थात् उत्कृष्ट वेदज्ञानी बनता है। ३. **गोषु**=सब ज्ञानेन्द्रियों में अथवा इन्द्रियमात्र में **अग्रियः गच्छसि**=तू आगे होनेवाला होता है। तेरी प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति का पूर्ण विकास होता है। ४. **वाजस्य अग्रे**=शक्ति के भी तू अग्रभाग में होता है, अर्थात् शक्तिशालियों का भी मुखिया बनता है। ५. **महत् धनं भजसे**=महनीय धन का तू सेवन करनेवाला होता है—उत्तममार्ग से धन कमाकर तू धनियों में भी श्रेष्ठ होता है।

सोम के महत्त्व को अनुभव करता हुआ यह 'अकृष्टमाष' सोम को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे **सोम**=सोम! तू **स्वायुधः**=उत्तम आयुध है, तेरे द्वारा ही सब अध्यात्मसंग्रामों में मुझे विजय प्राप्त होती है। हे सोम! तू **सोतृभिः**=(सु गतौ) गतिशील व्यक्तियों के द्वारा **सूयसे**=जन्म दिया जाता है, गतिशील व्यक्ति ही सोम की रक्षा कर पाते हैं।

भावार्थ—हम सोम के महत्त्व को समझें। उसकी पवित्रता के द्वारा जीवन में हमारा स्थान सर्वोच्च हो।

सूक्त-२

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

१०३४. असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया। शुक्रासो वीरयाशवः ॥ १ ॥

४८२ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शुम्भमान-मृज्यमान

१०३५. शुम्भमाना ऋतायुभिर्मृज्यमाना गभस्त्योः। पवन्ते वारे अव्यये ॥ २ ॥

१. (ऋतेन एति=ऋतायुः) **ऋतायुभिः**=बिलकुल ऋत के अनुसार गति करनेवालों में **शुम्भमानाः**=शोभित किये जाते हुए तथा २. इन्हीं ऋतायु पुरुषों से **गभस्त्योः**=(Sunbeam or moonbeam) ब्रह्मज्ञान की सूर्य-किरणों में और विज्ञान की चन्द्र-किरणों में **मृज्यमानाः**=शुद्ध किये जाते हुए ये सोम ३. **अव्यये**=सदा एकरस रहनेवाले—क्षीण न होनेवाले, अक्षर **वारे**=सब दुःखों का निवारण करनेवाले वरणीय प्रभु में **पवन्ते**=प्राप्त करानेवाले होते हैं।

१. जब मनुष्य अपने जीवन में सब भौतिक क्रियाओं को सूर्य और चन्द्र की भाँति नियमितता से करता है तब वह आहार द्वारा शरीर में उत्पन्न सोम को शरीर में ही सुरक्षित करने में समर्थ होता है और इस सुरक्षित सोम से उसका शरीर कान्ति-सम्पन्न हो उठता है (शुम्भमानाः)। २. इस सोम का विनियोग ज्ञानाग्नि के ईंधन के रूप में होता है और जब तक यह ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति में विनियुक्त हुआ रहता है तब तक शुद्ध व पवित्र बना रहता है—इसे वासनाएँ कलुषित नहीं कर पातीं (मृज्यमानाः)। ३. इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान में विनियुक्त सोम प्रभु का दर्शन करानेवाला होता है। ये सोम अविनाशी, दुःख—तापनिवारक, वरणीय प्रभु में हमारी गति करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सोम मेरे जीवन में 'शुम्भमान, मृज्यमान तथा पवमान' हों।

ऋषिः—काश्यपो मारीचः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दिव्य-पार्थिव-आन्तरिक्ष्य वसु

१०३६. ते विश्वा दाशुषे वसु सोमा दिव्यानि पार्थिवा। पवन्तामान्तरिक्ष्या ॥ ३ ॥

ते=वे सुरक्षित शुम्भमान व मृज्यमान **सोमाः**=सोम **दाशुषे**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले व्यक्ति के लिए—प्रभु के अनन्य उपासक के लिए—क्योंकि प्रभु-भक्ति ही तो सोमरक्षा का सर्वोत्तम साधन है—**विश्वा**=सब **वसु**=वसुओं को—उत्तम धनों को **पवन्ताम्**=प्राप्त कराएँ। ये उत्तम वसु **दिव्यानि पार्थिवा आन्त-रिक्ष्या**=द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक के साथ सम्बद्ध हैं। शरीर में 'द्युलोक' मस्तिष्क है, 'पृथिवी' शरीर है, तथा 'अन्तरिक्ष' हृदय है। इस सोम के द्वारा मस्तिष्क का वसु ज्ञान प्राप्त होता है—ज्ञानाग्नि का तो यह ईंधन ही है। यह सोम रोगकृमियों को नष्ट करके शरीर की नीरोगता रूप वसु का देनेवाला है और यह सोम ईर्ष्या-द्वेष आदि से ऊपर उठाकर हमें मानस नैर्मल्य भी प्राप्त कराता है।

एवं, यह सोम-रक्षक मस्तिष्क के दृष्टिकोण से 'काश्यप'=ज्ञानी बनता है और शरीर व मन के दृष्टिकोण से रोगकृमियों व मानस-मलों का मारनेवाला 'मारीच' होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें दिव्य, पार्थिव व आन्तरिक्ष्य वसुओं को प्राप्त कराए।

सूक्त-३

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

षट्क-सम्पत्ति

१०३७. पवस्व देववीरति पवित्रं सोम रंह्या । इन्द्रमिन्दो वृषा विश ॥ १ ॥

१. हे **सोम**=सौम्य स्वभाव जीवात्मन्! तू २. **देववीः**=(वी to obtain)=दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला हो, ३. **रंह्या**=वेग से—गति से, अर्थात् क्रियाशीलता के द्वारा। ४. **अति**=(अतिक्रम्य) सब वासनाओं को पार करके **पवित्रम्**=शुद्ध, अपापविद्ध—पूर्ण पवित्र प्रभु को **पवस्व**=प्राप्त करनेवाला हो। ५. हे **इन्दो**=ज्ञानरूप परमैश्वर्य को प्राप्त करनेवाले जीव! तू ६. **वृषा**=शक्तिशाली बनकर अथवा औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होकर **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान्, परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभु को **विश**=प्राप्त कर—उस प्रभु में प्रवेश कर।

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि काण्व'=कण-कण करके मेधा को प्राप्त करनेवाला प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलता है। प्रभु-प्राप्ति का मार्ग निम्न है—१. **सोम**=सौम्य, विनीत, निरभिमान बनना, २. **देववीः**=दिव्यगुणों को प्राप्त करना, ३. **रंह्या**=सदा क्रियाशील बनना, ४. **अति**=और इस प्रकार वासनाओं को लाँघ जाना, ५. **इन्दो**=ज्ञानरूप परमैश्वर्य को प्राप्त करना, ६. **वृषा**=शक्तिशाली बनना।

भावार्थ—मेधातिथि बनकर हम प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलें, 'सौम्यता, दिव्यता, क्रियाशीलता, शुद्धता, ज्ञान व शक्ति' रूप षट्कसम्पत्ति को अपने अन्दर धारण करें।

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ब्राह्म स्थिति

१०३८. आ वच्यस्व महि प्सरो वृषेन्दो द्युम्नवत्तमः । आ योनिं धर्णसिः सदः ॥ २ ॥

हे **इन्दो**=ज्ञानरूप परमैश्वर्य को प्राप्त करनेवाले मेधातिथे! तू **महिप्सरः**=प्रभु के महनीय रूप का **आवच्यस्व**=निरन्तर कथन कर। प्रभु के स्वरूप का चिन्तन व कीर्तन कर। **वृषा**=शक्तिशाली बन, ३. **द्युम्नवत्तमः**=अधिक-से-अधिक ज्योतिवाला होने का प्रयत्न कर, ४. **धर्णसिः**=धारण करनेवाला—लोगों का हित करनेवाला बनकर तू **योनिम्**=अपने मूल-निवासस्थान प्रभु में **आसदः**=आसीन होता है।

भावार्थ—ब्रह्म में स्थित होने के लिए आवश्यक है कि—१. हम प्रभु के महनीय रूप का कथन करें, २. शक्तिशाली बनें, ३. उत्तम ज्ञान प्राप्त करें, ४. लोगों का धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रिय मधु का दोहन

१०३९. अधुक्षत प्रियं मधु धारा सुतस्य वेधसः । अपो वसिष्ट सुक्रतुः ॥ ३ ॥

'वेधस्' सोम का नाम है, क्योंकि शरीर में सब शक्तियों का कर्त्ता (creater) यही है। **सुतस्य**

वेधसः=उत्पन्न हुए-हुए सोम की **धारा**=धारणशक्ति **प्रियं मधु**=प्रिय मधु को—तृप्त करनेवाले माधुर्य को **अधुक्षत**=शरीर में दूहती है, अर्थात् जब मनुष्य इस सोम की शरीर में रक्षा करता है तब यह सोम उसके जीवन में माधुर्य का प्रपूरण कर देता है। '**भूयासं मधु सन्दृशः**' इस प्रार्थना को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक है कि हम सोम को अपने में सुरक्षित करें। यह सोम का रक्षक **सुक्रतुः**=उत्तम सङ्कल्पों व प्रज्ञानोंवाला होकर **अपः**=कर्मों को **वसिष्ट**=धारण करता है। सोमी पुरुष का ज्ञान उत्तम होता है—इसके सङ्कल्प उत्तम होते हैं और यह सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रहता है।

भावार्थ—सोमरक्षा मुझे मधुर जीवनवाला बनाता है, इससे मैं उत्तम सङ्कल्पों व ज्ञानवाला बनता हूँ, क्रियाशील होता हूँ।

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

हृदय की विशालता

१०४०. महान्तं त्वा महीरन्वापो अर्षन्ति सिन्धवः। यद्गोभिर्वासयिष्यसे ॥ ४ ॥

१. **महान्तं त्वा**=महान्, अर्थात् विशाल हृदयवाले तुझे २. **महीः आपः**=महनीय कर्म तथा उन कर्मों के **अनु**=पश्चात्, ३. **सिन्धवः**=स्यन्दमान रेतःकण **अर्षन्ति**=प्राप्त होते हैं। ४. **यत्**=जब तू **गोभिः**=ज्ञान की किरणों से **वासयिष्यसे**=सबको आच्छादित करेगा।

प्रस्तुत मन्त्र में चार बातें कही गयी हैं—१. मनुष्य को विशाल हृदयवाला बनना चाहिए, २. महनीय—प्रशंसनीय कर्मों में लगे रहना चाहिए, ३. बहने के स्वभाववाले **रेतः**=वीर्यकणों की ऊर्ध्वगति के लिए यत्नशील होना चाहिए तथा ४. ज्ञान की प्राप्ति व प्रसार में लगे रहना चाहिए। अपने को भी ज्ञान की किरणों से आच्छादित करे और औरों को भी ज्ञान दे।

भावार्थ—हम महान् बनें, उदार हृदय हों, प्रशंसनीय कर्मों में लगे रहें।

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

समुद्र

१०४१. समुद्रो अप्सु मामृजे विष्टम्भो धरुणो दिवः। सोमः पवित्रे अस्मयुः ॥ ५ ॥

वस्तुतः (सम्+उत्+र) अपने शरीर में सोम की सम्यक्तया ऊर्ध्वगति (रीङ् गतौ) करनेवाला व्यक्ति 'समुद्र' कहलाता है। यह इस सुरक्षित सोम के कारण ही स्वस्थ शरीरवाला सदा (स+मुद्) प्रसन्नता से युक्त होता है। सोम से शक्तिसम्पन्न होकर विविध कर्मों में द्रवण—गतिवाला होने से भी यह 'समुद्र' (समुद् द्रवति) कहलाता है। यह १. **समुद्रः**=वीर्य की ऊर्ध्वगति करनेवाला, सदा प्रसन्न, क्रियाशील व्यक्ति **अप्सुः**=कर्मों में **मामृजे**=अपने को निरन्तर शुद्ध करता है। कर्मों में लगे रहने के कारण इसपर वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और यह शुद्ध हृदय बना रहता है। २. **विष्टम्भः**=यह विशेषरूप से औरों का धारण करनेवाला होता है (वि+स्तम्भ), ३. **दिवः धरुणः**=प्रकाश का यह कोश बनता है। ४. ज्ञान का भण्डार बनने से ही यह **सोमः**=विनीत पुरुष **पवित्रे**=अपने पवित्र हृदय में **अस्मयुः**=हमारी प्राप्ति की कामनावाला होता है।

भावार्थ—अपने को पवित्र करने का उपाय 'कर्मों में लगे रहना' ही है, पवित्र हृदय में ही प्रभु की कामना की जा सकती है।

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

१०४२. अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः। सं सूर्येण दिद्युते ॥ ६ ॥

४९७ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

चतुर्विध परिणाम

१०४३. गिरस्त इन्द ओजसा मर्मृज्यन्ते अपस्युवः। याभिर्मदाय शुम्भसे ॥ ७ ॥

हे **इन्दो**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ते गिरः**=आपकी वाणियाँ **अपस्युवः**=कर्मों को चाहनेवाली **ओजसा**=शक्ति के द्वारा **मर्मृज्यन्ते**=खूब ही शुद्ध कर डालती हैं, अर्थात् प्रभु की दी हुई ये वेदवाणियाँ ऐसी हैं कि ये मनुष्य की शक्ति को बढ़ाती हैं तथा उसके जीवन को शुद्ध कर देती है। वेदवाणियों का जीवन पर दो प्रकार का परिणाम है १. शक्ति और २. शुद्धि, परन्तु ये दोनों ही परिणाम दीखते तभी हैं जब हम उन वेदवाणियों के अनुसार कर्म में प्रवृत्त हों।

हे इन्दो! ये वेदवाणियाँ वे हैं **याभिः**=जिनसे **मदाय**=उल्लास के लिए **शुम्भसे**=तू भक्तों के जीवन को सुभोभित करता है। इन वेदवाणियों का तीसरा परिणाम यह होता है कि हम अपने को सद्गुणों से अलंकृत कर पाते हैं। एवं, तीसरा और चौथा परिणाम, ३. उल्लास और ४. अलंकरण हैं।

भावार्थ—वेदवाणियाँ क्रिया में परिणत की जाने पर चतुर्विध परिणाम को पैदा करती हैं—१. शक्ति, २. शुद्धि, ३. उल्लास और ४. अलंकरण।

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

चार याचनाएँ

१०४४. तं त्वा मदाय घृष्वय उ लोककृत्नुमीमहे। तव प्रशस्तये महे ॥ ८ ॥

तम्=उस **लोककृत्नुम्**=सम्पूर्ण लोकों का निर्माण करनेवाले **त्वा**=आपसे **उ**=निश्चय से **ईमहे**=(नि० ३.१९.१ याच्ञा)=याचना करते हैं—

१. **मदाय**=आनन्द के लिए। हमारे जीवन में एक मस्ती हो। हम सुख-दुःख में सदा प्रसन्न रह सकें। २. **घृष्वये**=कामादि शत्रुओं के धर्षण के लिए। हमारी इच्छा है कि हम उस लोक में निवास करें, जहाँ काम का संहार कर दिया गया है। ३. **तव प्रशस्तये**=तेरी प्रशस्ति के लिए। हे प्रभो! आपकी कृपा से हम आपको भूल न जाएँ, सदा आपका स्मरण करते हुए कामादि का संहार करनेवाले बनें। ४. **महे**=(महसे) तेज के लिए। आपके सम्पर्क में आकर मैं इसी प्रकार तेजस्वी हो जाऊँ जैसे अग्नि के सम्पर्क में आकर लोहा।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हमारा जीवन इन चार बातों से युक्त हो—उल्लास, वासना-विजय, आपका स्मरण तथा तेजस्विता।

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु की आराधना

१०४५. गोषा इन्दो नृषा अस्यश्वसा वाजसा उत। आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः ॥ ९ ॥

हे **इन्दो**=ज्ञानरूप परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभो! आप हमें १. **गोषाः**=ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाले हैं। आपने कृपा करके हमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं, जिससे हम इस पञ्चभौतिक संसार को ठीक प्रकार से समझ सकें। २. **नृषाः असि**=आप समय-समय पर हमें नरों को—नेताओं को प्राप्त करानेवाले हैं। हम ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करके भी इन नरों की सहायता के बिना आगे कैसे बढ़ सकते हैं? हमें अपने जीवन में क्रमशः माता, पिता, आचार्य व अतिथियों से नेतृत्व प्राप्त होता रहता है, तभी हमारी उन्नति सम्भव होती है। ३. **अश्वसाः**=हे प्रभो! आपने हमें कर्मों में व्यापृत होनेवाली पाँच कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त करायी हैं, जिनके द्वारा हम यम-नियमादिरूप से पाँच-पाँच भागों में विभिन्न कर्मों को सुचारुरूपेण कर पाते हैं। ४. **उत**=और **वाजसाः**=आप हमें शक्ति देनेवाले हैं। ५. हे प्रभो! वस्तुतः **यज्ञस्य आत्मा**=सब श्रेष्ठतम कर्मों की आत्मा आप ही हो। आपके बिना किसी भी उत्तम कर्म का होना सम्भव नहीं है। आपकी शक्ति से ही तो सब यज्ञ हो पाते हैं। ६. **पूर्व्यः**=क्या ज्ञान, क्या शक्ति, क्या धन सभी दृष्टिकोणों से आप सबसे प्रथम स्थान में स्थित हैं। अथवा निर्माणमात्र के प्रारम्भ से पहले आप विद्यमान हैं और आपकी शक्ति से सर्वत्र निर्माण होता है।

भावार्थ—हे प्रभो! आपने ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं, समय-समय पर नेताओं को प्राप्त कराते हैं, आपने कर्मेन्द्रियाँ दी हैं, शक्ति दी है। आपकी कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण होते हैं। आप पूर्व्य हैं—निर्माण से पहले हैं, अतएव निर्माता है।

ऋषिः—मेधातिथिः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वृष्टिमान् पर्जन्य

१०४६. अस्मभ्यमिन्दविन्द्रियं मधोः पवस्व धारया। पर्जन्यो वृष्टिमाँइव॥ १०॥

हे **इन्दो**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **मधोः**=सोम की **धारया**=धारकशक्ति के द्वारा **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **इन्द्रियम्**=उस-उस इन्द्रिय में काम करनेवाली इन्द्र की शक्ति को **पवस्व**=प्राप्त कराइए। आपने वस्तुतः शरीर में रस-रुधिरादि के क्रम से अन्त में वीर्य धातु की उत्पत्ति की व्यवस्था की है। इस सोम में एक अद्भुत धारणशक्ति है। **'जीवनं बिन्दुधारणात्'**—ये हैं तो जीवन है, ये नहीं तो जीवन भी नहीं है। इसी के द्वारा हमारी इन्द्रियाँ शक्ति-सम्पन्न बनती हैं और हमारा जीवन सुखी (सु=उत्तम ख=इन्द्रियोंवाला) होता है।

इस प्रकार ये प्रभु हमारे लिए **वृष्टिमान् पर्जन्य इव**=वर्षा करनेवाले बादल के समान होते हैं। जैसे वृष्टि करनेवाला बादल गर्मी से सन्तप्त लोक को शान्ति प्राप्त कराता है, उसी प्रकार प्रभु भी इस सोम के द्वारा हमें शक्ति-सम्पन्न बनाकर हमारे दुःखों को दूर करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे जीवनों को सोम के द्वारा शक्ति-सम्पन्न करके सुखी कर देते हैं।

सूक्त-४

ऋषिः—हिरण्यस्तूपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मही, श्रवस् तथा विजय

१०४७. सना च सोम जेषि च पवमान महि श्रवः। अथा नो वस्यसस्कृधि॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'हिरण्यस्तूप'=(हिरण्यम्=रेतः=वीर्यम्, स्तूप=to raise) है। सोम (वीर्य) की ऊर्ध्वगति होने पर जहाँ हमारे शरीर का अङ्ग-प्रत्यङ्ग शक्तिशाली बनता है, वहाँ हमारी बुद्धि

सूक्ष्म होकर प्रभु-दर्शन के योग्य बनती है। एवं, यह सोम संसार को जन्म देनेवाले सोम=परमात्मा को प्राप्त करानेवाला होता है। इस सोम-रक्षा द्वारा दर्शन का विषय बने सोम=प्रभु से हिरण्यस्तूप आराधना करता है कि—हे **सोम**=सारे ब्रह्माण्ड को जन्म देनेवाले प्रभो! हमें १. **महि**=बड़प्पन व बुद्धि [greatness; intellect] **सना**=प्राप्त कराइए। हम संसार में विशाल हृदय व बुद्धिमान् बनकर बर्त्ताव करनेवाले हों। हमारा कोई भी कार्य हमारे छोटेपन—अनुदारता, मूर्खता और नासमझी को प्रकट न करे। २. **श्रवः सना**=(fame; wealth; hymn; praise worthy action; Ear) हमें यश व धन प्राप्त कराइए। हम सदा आपके स्तोत्रों का गायन करें, आपका स्मरण करते हुए प्रशंसनीय कर्मों में लगे रहें और सबसे बड़ी बात यह कि आप हमें कान दीजिए, अर्थात् हमारी वृत्ति को ऐसा बनाइए कि हम सुनें बहुत, बोलें कम। ३. हे प्रभो! **जेषि च**=आप हमें सदा विजयी बनाइए। हम अध्यात्मसंग्राम में काम-क्रोधादि को जीतनेवाले बनें।

अथ=और अब इस प्रकार **नः**=हमें **वस्यसः**=उत्कृष्ट जीवनवाला **कृधि**=कीजिए। उत्कृष्ट जीवन में १. बड़प्पन व बुद्धिमत्ता होती है; २. यश, धन, स्तोत्र व उत्तम कर्मों का वहाँ स्थान होता है, इस जीवनवाले व्यक्ति सुनते बहुत हैं, बोलते कम। और ३. सबसे बड़ी बात यह है कि ये अध्यात्मसंग्राम में विजेता बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे जीवनों में १. महि, २. श्रवस् तथा ३. विजय का कारण बने।

ऋषिः—हिरण्यस्तूपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्योति, स्वः, सौभग

१०४८. सना ज्योतिः सना स्वा ३र्विश्वा च सोम सौभगा। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ २ ॥

हे **सोम**=सोम (वीर्य) की रक्षा के द्वारा दर्शन का विषय बने हुए ब्रह्माण्ड के निर्माता प्रभो! आप हमें १. **ज्योतिः**=प्रकाश **सना**=दीजिए। आपकी कृपा से हम सदा प्रकाश में विचरें। आत्मस्वरूप को जानें व जीवन-यात्रा के मार्ग को स्पष्टतया देखनेवाले हों। २. **स्वः**=आत्म-प्राप्तिरूप रमणीय सुख दीजिए। प्रकाश में विचरते हुए हम जीवन-यात्रा को पूर्ण करके मोक्ष-सुख को प्राप्त करनेवाले हों। ३. **च**=और इस जीवन में भी **विश्वा सौभगा**=सब सौभाग्यों को हमें प्राप्त कराइए। (सौभग=Happiness and prosperity) हमारे जीवन सुख व समृद्धि से युक्त हो। संक्षेप में हमारा जीवन ज्योतिर्मय हो। ज्योति में जीवन-यात्रा को पूरा करते हुए हम जहाँ मोक्ष-सुख (स्वः) व निःश्रेयस का लाभ करें वहाँ हमारा यह ऐहिक जीवन भी सुख-समृद्धि-सम्पन्न हो **अथ नः वस्यसःकृधि**=और हम उत्कृष्ट जीवनवाले बनें।

भावार्थ—सोम की कृपा से हमें प्रकाश, प्रकृष्ट आनन्द तथा सुख-समृद्धि प्राप्त हो।

ऋषिः—हिरण्यस्तूपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दक्ष-क्रतु-कामसंहार

१०४९. सना दक्षमुत क्रतुमप सोम मृधो जहि। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ३ ॥

हे **सोम**=प्रभो! हमें **दक्षम्**=बल **सना**=प्राप्त कराइए। दक्ष शब्द में मानस शक्ति (Mental power) योग्यता (ability), दृढ़निश्चय (resoluteness) व शक्ति (Strength) की भावना अन्तर्निहित है। प्रभुकृपा से हमें यह 'मानसबल, योग्यता, दृढ़निश्चय व शक्ति' प्राप्त हो। २. **उत**=और क्रतुम् (Intelligence, deliberation, Inspiration; Enlightenment) बुद्धि, विचार, प्रेरणा व

प्रकाश **सना**=दीजिए। **क्रतुम्**=हम प्रत्येक कार्य को योग्यता से करनेवाले हों (Efficiency)। हमारा प्रत्येक कार्य सोद्देश्य हो (plan, design, purpose)। हम अपने कर्मों को दृढ़-सङ्कल्प के साथ करें (Resolution)। हमारा प्रत्येक कार्य प्रभु-चरणों में अर्पित हो (offering worship)। हम अपने पवित्र कर्मों से प्रभु की उपासना कर रहे हों। ३. हे सोम! आप **मृधः**=हमारे कामादि शत्रुओं को **अपजहि**=हमसे सुदूर नष्ट कीजिए। कामादि शत्रुओं के संहार से **अथ**=अब **नः**=हमें **वस्यसः**=उत्तम जीवनवाला **कृधि**=कीजिए।

भावार्थ—सोम के द्वारा हमें दक्षता प्राप्त हो, हम क्रतुमय जीवनवाले हों—कामादि का संहार कर जीवन को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—हिरण्यस्तूपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पवित्रता, जितेन्द्रियता, रक्षा

१०५०. पवीतारः पुनीतन सोममिन्द्राय पातवे। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ४ ॥

पवीतारः=हे जीवनों को पवित्र करनेवाले! **सोमम्**=अपने सोम को **पुनीतन**=पवित्र करो। अपनी वीर्यशक्ति को वासनाओं के नाश द्वारा पवित्र रखने के लिए यत्नशील होओ और इस सोम की पवित्रता के द्वारा **सोमम्**=उस सोम्—ब्रह्माण्ड के उत्पादक प्रभु को **पुनीतन**=देखने में समर्थ Discern बनो। १. **इन्द्राय**=प्रभु-प्राप्ति के लिए या इन्द्रियों के अधिष्ठाता सचमुच इन्द्र बनने के लिए भी सोम को पवित्र करो। ३. **पातवे**=अपने शरीर को रोगादि से सुरक्षित करने के लिए भी सोम-पान आवश्यक ही है। इस सोम-पान के बाद ही यह प्रार्थना शोभा देती है कि **अथ नः वस्यसः कृधि**=हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाओ। बिना सोम-पान के जीवन का उत्कर्ष सम्भव नहीं।

भावार्थ—हमारा जीवन पवित्र हो। हम जितेन्द्रिय हों, रोगादि से अपनी रक्षा करनेवाले हों।

ऋषिः—हिरण्यस्तूपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्वर्ग-लोक-वास

१०५१. त्वं सूर्ये न आ भज तव क्रत्वा तवोतिभिः। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ५ ॥

हे प्रभो! **त्वम्**=आप **तव क्रत्वा**=अपनी प्रेरणा के द्वारा (क्रतु—inspiration) और **तव ऊतिभिः**=अपने रक्षणों के द्वारा **नः**=हमें **सूर्ये**=ज्योति में (सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः—यजु:० ३.९), स्वर्गलोक में (स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमम्—शत० १२.९.२.८) **आभज**=सर्वथा भागी बनाओ, अर्थात् हे प्रभो! हम प्रेरणा प्राप्त करके आपके रक्षणों से ज्योति प्राप्त करें तथा ज्योति की प्राप्ति द्वारा हमारा स्वर्गलोक में निवास हो और इस प्रकार **अथ नः वस्यसः कृधि**=अब हमारा जीवन उत्तम हो।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणा व रक्षण से हम उत्तम ज्योति को प्राप्त करके स्वर्गलोक में निवास करनेवाले हों।

ऋषिः—हिरण्यस्तूपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सदा सूर्य के सम्पर्क में

१०५२. तव क्रत्वा तवोतिभिर्ज्योक् पश्येम सूर्यम्। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ६ ॥

हे प्रभो! हम **तव क्रत्वा**=आपकी प्रेरणा से तथा **तव ऊतिभिः**=आपकी रक्षाओं से **ज्योक्**=

दीर्घकाल तक **सूर्यं पश्येम**=सूर्य का दर्शन करनेवाले बनें। दीर्घकाल तक सूर्य-दर्शन यह मुहाविरा वेद में दीर्घ-जीवन के लिए आता है। 'हम सूर्यदर्शन से विच्छिन्न न हों'—यह प्रार्थना आयुष्यसूक्तों में उपलभ्य है। यह सूर्य नाशक रक्षसों का—रोगकृमियों का नाश करनेवाला है। रोगकृमियों का नाश करके यह दीर्घजीवन का कारण बनता है। प्रभु हमें सदा सूर्यदर्शन में रहने की प्रेरणा देते हैं। वेद में उन्हीं घरों को उत्तम समझा गया है, जिनमें सूर्य-किरणों का खूब प्रवेश होता है।' इस प्रकार हे प्रभो! **अथ नः वस्यसः कृधि**=आप हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बना दीजिए।

भावार्थ—सूर्य मित्र है—मृत्यु से बचानेवाला है। इस तत्त्व को समझकर हम अधिक-से-अधिक सूर्य-दर्शन में निवास करनेवाले बनें।

ऋषिः—हिरण्यस्तूपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'द्विबर्हस् रयि'=ब्रह्म+क्षत्र

१०५३. अभ्यर्ष स्वायुध सोम द्विबर्हसं रयिम्। अथा नो वस्यसस्कृधि॥ ७॥

हमारे मनों पर वासनाओं का आक्रमण होता है, परन्तु यदि हम मन में प्रभु का स्मरण करते हैं तो इन वासनाओं का आक्रमण नहीं हो पाता। वे प्रभु 'स्वायुध' हैं—हमारे उत्तम आयुध हैं। प्रभु के द्वारा हम इन कामादि शत्रुओं को पराजित कर पाते हैं। हे **स्वायुध**=हमारे उत्तम आयुधरूप **सोम**=परमात्मन्! आप हमें **द्विबर्हसम्**=द्युलोक व पृथिवीलोक में—मस्तिष्क व शरीर में **रयिम्**=सम्पत्ति को **अभ्यर्ष**=प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से हमें मस्तिष्क की सम्पत्ति 'ज्ञान' तथा शरीर की सम्पत्ति 'बल' दोनों ही प्राप्त हों। हमें 'ब्रह्म व क्षत्र' दोनों ही प्राप्त हों और इस प्रकार हे प्रभो! **अथ नः वस्यसः कृधि**=आप हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाइए।

भावार्थ—हम प्रभु को अपना आयुध बनाएँ—शत्रुओं का विनाश करें और अपने 'ब्रह्म' व 'क्षत्र' का विकास करें।

ऋषिः—हिरण्यस्तूपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अनपच्युत्=अविचलित

१०५४. अभ्या३र्षानपच्युतो वाजिन्त्समत्सु सासहिः। अथा नो वस्यसस्कृधि॥ ८॥

सब दिव्य गुणों की नींव 'धृति' है। विचलित न होना ही तो धर्म के मार्ग पर आक्रमण करना है। स्तुतिनिन्दा, आगम-अपाय व जीवन-मृत्यु यदि हमें विचलित नहीं होने देते तो हम धर्म को अपना पाते हैं। हे प्रभो! आप ही **वाजिन्**=शक्तिशाली हैं। आप ही हमें **अनपच्युतः**=(अच्युत्=अनपच्युत् द्वितीया का बहुवचन) स्थिर वृत्तियों को **अभ्यर्ष**=प्राप्त कराइए। **समत्सु**=कामादि से होनेवाले संग्रामों में आप ही **सासहिः**=शत्रुओं का अत्यन्त पराभव करनेवाले हैं। इनका पराभव करके आप ही **अच्युत**=अविचलित बनाते हैं। हे प्रभो! **अथ नः वस्यसः कृधि**=इस प्रकार आप हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनाइए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम काम-संग्राम में विजयी बनकर धर्म-मार्ग में अच्युत बनें।

ऋषिः—हिरण्यस्तूपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यज्ञों द्वारा प्रभु का वर्धन

१०५५. त्वां यज्ञैरवीवृधन् पवमान विधर्मणि। अथा नो वस्यसस्कृधि॥ ९॥

हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले प्रभो! **विधर्मणि**=विशिष्ट धारण के निमित्त, अर्थात् अपना उत्तम धारण करने के लिए 'हिरण्यस्तूप' लोग **त्वाम्**=आपको ही **यज्ञैः**=यज्ञों से **अवीवृधन्**=बढ़ाते हैं। यज्ञों के द्वारा ये लोग आपकी ही उपसाना करते हैं। '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**'=उस यज्ञरूप प्रभु की देवलोग यज्ञों से ही उपासना करते हैं। हे **पवमान**=प्रभो! इस प्रकार हमारे जीवनों में यज्ञ की प्रेरणा देकर **अथ नः वस्यसः कृधि**=आप हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाइए।

भावार्थ—हम यज्ञों द्वारा प्रभु का वर्धन करें और अपने जीवनों को श्रेष्ठ बनाएँ।

ऋषिः—हिरण्यस्तूपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'चित्र, अश्विन्, विश्वायु' धन

१०५६. रयिं नश्चित्रमश्विनमिन्दो विश्वायुमा भर। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ १० ॥

हे **इन्दो**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **नः**=हममें **रयिं आभर**=धन का पोषण कीजिए। कौन-से धन का? १. **चित्रम्** (चत्+र)=जो धन हममें ज्ञान का पोषण करनेवाला है। सामान्यतः धन को ज्ञान का विरोधी समझा जाता है। हमारा धन ज्ञान के अनुकूल हो, ज्ञान का वर्धन करनेवाला हो। हम धन को ज्ञान के साधन जुटाने में व्यय करनेवाले बनें। २. **अश्विनम्**=('**इन्द्रियाणि हयानाहुः**' इस वाक्य के अनुसार अश्व का अर्थ इन्द्रियाँ हैं तथा 'इन् प्रत्यय' प्रशस्त अर्थ में आया है) जो धन प्रशस्त इन्द्रियोंवाला है, अर्थात् जिस धन को प्राप्त करके हम सात्त्विक भोजनादि साधनों को जुटाकर प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनते हैं। भोगासक्त होकर हम इन्द्रियशक्तियों को जीर्ण नहीं कर लेते। एवं, धन वही ठीक है जोकि हमें भोगासक्त नहीं करता और इस प्रकार अ=परमात्मा की ओर शिव=गतिवाला करता है और **विश्वायुम्**=अन्त में धन वह चाहिए जो हमें पूर्ण आयु को प्राप्त करानेवाला हो अथवा 'विश्वम् एति' उस सर्वव्यापक प्रभु को प्राप्त कराए।

इस प्रकार ज्ञान को बढ़ानेवाले (विश्वम्), इन्द्रियों को प्रशस्त करनेवाले (अश्विनम्) तथा पूर्ण आयु को प्राप्त करानेवाले अथवा सर्वव्यापक प्रभु तक पहुँचानेवाले (विश्वायुम्) धन को प्राप्त कराकर हे प्रभो! आप **अथ नः वस्यसः कृधि**=हमारे जीवनों का उत्कृष्ट बना दीजिए।

भावार्थ—हम ऐसा धन प्राप्त करें जो हमें भोगासक्त न करके प्रभु को प्राप्त करानेवाला हो।

सूक्त—५

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

१०५७. तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः। तरत्स मन्दी धावति ॥ १ ॥

५०० संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रातः जागरण

१०५८. उस्रा वेद वसूनां मर्तस्य देव्यवसः। तरत्स मन्दी धावति ॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'अवत्सार काश्यप'=जब शरीर की सारभूत वस्तु सोम की रक्षा करनेवाला होता है और परिणामतः ज्ञानी बनता है तब १. **उस्रा**=उषःकाल उसे **वसूनाम्**=सब उत्तम वस्तुओं को (वसु=goods) **वेद**=प्राप्त कराता है। यह प्रातःकाल जागता है और जीवन को उत्तम बनाने के

सङ्कल्प से अपने दिन को प्रारम्भ करता है। २. यह उषःकाल तो वस्तुतः **मर्तस्य**=सामान्य मरणधर्मा मनुष्य को **देवी**=दिव्य जीवनवाला बना देता है। अन्यत्र वेद में इसी भावना को, '**उषर्बुधो हि देवाः**'='देव प्रातः जागरणवाले होते हैं', इन शब्दों से व्यक्त किया गया है। उषा 'मर्तस्य देवी' है। मनुष्य को देवता बना देती है। ३. **अवसः**=इस उषा के रक्षण से **तरत्**=सब विघ्नों को पार करता हुआ **सः**=वह 'अवत्सार' **मन्दी**=एक विशेष ही आनन्दयुक्त जीवनवाला बनकर **धावति**=आगे बढ़ता चलता है। आगे बढ़ने के साथ ही अधिक शुद्ध होता जाता है (धाव्=गति+शुद्धि)।

भावार्थ—प्रातः जागरण से १. हम उत्तमताओं को प्राप्त करें, २. सामान्य मनुष्य की स्थिति से ऊपर उठकर देव बन जाएँ और ३. विघ्नों को तैरते हुए उल्लास के साथ आगे बढ़ते चलें।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्राण और व्यान

१०५९. ध्वस्रयोः पुरुषन्त्योरा सहस्राणि दद्महे। तरत्स मन्दी धावति॥ ३॥

शरीर के सब मलों व रोगकृमियों को प्राणापानशक्ति ही ध्वस्त करती है, अतः इन्हें यहाँ 'ध्वस्र' नाम दिया गया है—ध्वंस करनेवाले। मलों को धवस्त करके ये प्राणापान हमारे शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के पालन व पोषण के लिए (पुरु) विविध षन्ति=gift=शक्तियों की भेंटों को प्राप्त कराते हैं, अतः ये 'पुरु-षन्ति' नामवाले हो गये हैं। इन **ध्वस्रयोः**=मलों का ध्वंस करनेवाले **पुरुषन्त्योः**=पालन व पूरण करनेवाली शक्तियों की भेंट देनेवाले प्राणापानों के **सहस्राणि**=(सहस्+र) शक्ति-दानों को **आदद्महे**=हम स्वीकार करते हैं। सहस्र शब्द 'सहस्=बल को राति=देता है' इस व्युत्पत्ति से 'शक्तिदान' का वाचक है। सारी शक्ति का दान प्राणापान ही पर निर्भर करता है। इन प्राणापानों से शक्ति प्राप्त करनेवाला **सः**=वह 'अवत्सार' **तरत्**=विघ्नों व रोगों को तरता हुआ **मन्दी**=उल्लासमय जीवनवाला **धावति**=आगे और आगे बढ़ता है और अधिकाधिक शुद्ध होता जाता है।

भावार्थ—प्राणापान 'ध्वस्र' हैं, 'पुरु-षन्ति' हैं, इस तत्त्व को समझकर हम इनसे शक्तिदान प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

निरन्तर प्राणसाधना

१०६०. आ ययोस्त्रिंशतं तना सहस्राणि च दद्महे। तरत्स मन्दी धावति॥ ४॥

ययोः=जिन प्राणापानों के **तना**=(तना—धननाम—नि० २-१०) धनों को अथवा विस्तार को (तनु विस्तारे) **च सहस्राणि**=और शक्तिदानों को **त्रिंशतम्**=तीसों दिन, अर्थात् बिना एक भी दिन के विच्छेद के **आदद्महे**=हम स्वीकार करते हैं, लेने का प्रयत्न करते हैं तो **तरत्**=योग-मार्ग के सब विघ्नों को पार करता हुआ **सः**=यह 'अवत्सार काश्यप' **मन्दी**=आनन्दमय जीवनवाला होकर **धावति**=मार्ग पर तीव्रता से बढ़ता है और शुद्ध जीवनवाला होता है।

योगदर्शन में इसी भावना को 'दीर्घकाल और नैरन्तर्य' शब्दों के प्रयोग से कहा गया है। हमें श्रद्धापूर्वक प्राणसाधना में लगना चाहिए। **त्रिंशतम्**=यह द्वितीया विभिक्ति का प्रयोग 'अत्यन्त संयोग' को कहता हुआ निरन्तर प्राणसाधना पर बल दे रहा है। 'तीसों दिन', अर्थात् लगातार, प्रतिदिन,

बिना विच्छेद के।

भावार्थ—निरन्तर प्राणसाधना में लगे रहेंगे तो प्राणों के धन व बल को प्राप्त करेंगे। योग की विभूतियाँ ही प्राणों का धन है।

सूक्त-६

ऋषिः—जमदग्निः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शान्त व शक्तिशाली

१०६१. एते सोमा असृक्षत गृणानाः शवसे महे। मदिन्तमस्य धारया॥ १॥

वे प्रभु 'मदिन्तम' हैं, वे अत्यन्त आनन्दमय हैं। वे तो 'रस' ही हैं। उस **मदिन्तमस्य**=अत्यन्त रसमय प्रभु की **धारया**=वेदवाणी से **गृणानाः**=स्तवन करते हुए **एते**=ये **सोमाः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाववाले उपासक **महे शवसे**=महान् बल के लिए **असृक्षत**=निर्मित होते हैं। प्रभु अत्यन्त आनन्दमय हैं। उनकी वाणी में कहीं क्रोध व द्वेष की झलक नहीं है। उस वाणी से स्तुति करते हुए भक्त भी शान्त स्वभाव के बनते हैं और अपने जीवन में एक महान् प्रशस्त बल को अनुभव करते हैं। इनका बल सात्त्विक बल होता है। ये शक्तिशाली होते हुए सदा शान्त होते हैं।

यह शान्त भक्त वेदवाणी द्वारा प्रभु-स्तवन करता हुआ उस प्रभुरूप अग्नि को अपनी हृदयवेदि पर प्रज्वलित करता है। प्रज्वलिताग्नि होकर 'जमदग्नि' कहलाता है। इस अग्नि द्वारा अपना ठीक परिपाक करनेवाला यह 'भार्गव' है (भ्रस्ज् पाके)। प्रभुरूप अग्नि में पड़कर यह स्वयं अग्निरूप हो जाता है।

भावार्थ—आनन्दमय प्रभु की वाणी से प्रभु का स्तवन करते हुए हम शान्त व शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

परिव्राजक

१०६२. अभि गव्यानि वीतये नृम्णा पुनानो अर्षसि। सनद्वाजः परि स्रव॥ २॥

प्रभु मन्त्र के ऋषि 'जमदग्नि भार्गव' से कहते हैं कि तू **गव्यानि**=(गोर्वाक् तद्विकारभूतानि शास्त्रवचनानि) वेदवचनों की **अभि अर्षसि**=ओर जाता है, अर्थात् तू निरन्तर वेदवाणियों को अपनाता है। १. **वीतये**=सब प्रकार के दुरितों के निरसन के लिए (वी असन)। वेदवाणियों के श्रवण व मनन से तू अपने दुरितों व मलों को दूर करता है और २. **नृम्णा पुनानः**=अपने बलों को पवित्र करता है। पवित्र बल में हिंसा की भावना नहीं होती—यह बल 'शान्त' होता है।

सनत् वाजः=बलों का सेवन करनेवाला तू **परिस्रव**=(स्रु गतौ) चारों ओर इस वेदवाणी के प्रचार के लिए गतिवाला हो—परिव्राजक बन।

भावार्थ—१. ब्रह्मचर्याश्रम में वेदवाणी को अपनाएँ, २. गृहस्थ में दुरितों को दूर करें, ३. वनस्थ होकर अपने बलों को पवित्र करें और ४. संन्यास में शक्तिशाली बनकर वेदवाणी के प्रचारार्थ परिव्राजक बनें।

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु-प्रेरणा की प्राप्ति

१०६३. उत नो गोमतीरिषो विश्वा अर्ष परिष्टुभः। गृणानो जमदग्निना॥ ३॥

प्रभु शान्त भक्त से कहते हैं कि **जमदग्निना**=जिस भी व्यक्ति ने अपने अन्दर मेरे (प्रभु के) प्रकाश को प्रकट किया है, उससे **गृणानः**=उपदेश किया जाता हुआ तू **नः**=हमारी इन **गोमती**=प्रशस्त वेदवाणीवाली **विश्वाः परिष्टुभः**=चारों ओर सब विषयों का प्रतिपादन करनेवाली (स्तुभ=to celebrate) **इषः**=(विज्ञान—द० ऋ० ३.५४.२२) विज्ञानों को, चार भागों में विभक्त वेदवाणीरूप प्रेरणाओं को **उत**=निश्चय से **अर्ष**=प्राप्त हो।

जब यह जमदग्नि परिव्राजक बनकर प्रचार करता है तब इससे उपदिष्ट होकर मनुष्य प्रशस्त ज्ञानवाली, सब सत्य ज्ञानों को देनेवाली वेदवाणियों को प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम उपदेशों को सुनें व ज्ञान को प्राप्त करें।

सूक्त–७

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

१०६४. इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ १॥

६६ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

अग्नि की मित्रिता में

१०६५. भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्तः पर्वणापर्वणा वयम्।
जीवातवे प्रतरां साधया धियोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ २॥

'कुथ हिंसायाम्' धातु से बना 'कुत्स' शब्द उस व्यक्ति का वाचक है जो काम-क्रोधादि की हिंसा कर पाता है। यह कामादि के संहार से ही अपने को शक्तिशाली बनाकर 'आङ्गिरस' अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला होता है। लोच-लचक बने रहने से यह दीर्घजीवनवाला बनता है और कामना करता है कि—१. हे प्रभो! हम **इध्मं भराम**=ज्ञान की दीप्ति (इन्ध्—दीप्ति) व ब्रह्मतेज को अपने में धारण करें। २. **हवींषि कृणवाम**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले बनें। ३. **पर्वणा-पर्वणा**=प्रत्येक सन्धिकाल में, अर्थात् प्रतिदिन प्रातः-सायं हे प्रभो! **वयम्**=हम **ते**=आपका **चितयन्तः**=ध्यान करनेवाले बनें। पर्वणा-पर्वणा का अभिप्राय (पर्व पूरणे) अपने 'पूरण के हेतु से' भी है, अर्थात् अपने में आपके तेज को भरने के लिए हम आपका स्मरण करते हैं। ४. हे प्रभो! हम आपका ध्यान करते हैं। आप **जीवातवे**=दीर्घजीवन के लिए **धियः**=हमारे प्रज्ञानों व कर्मों को **प्रतराम्**=खूब अधिक **साधय**=सिद्ध कीजिए। हमारे ज्ञान व कर्म आपकी कृपा से ऐसे हों कि हमारे दीर्घ-जीवन का कारण बनें। १. हे **अग्ने**=हमारी अग्रगति के साधक प्रभो! **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **वयम्**=हम **मा रिषाम**=हिंसित न हों। हम सदा आपकी मित्रता में चलें और वासनाओं के शिकार न हों।

भावार्थ—१. हम ज्ञान को अपने में भरें, २. यज्ञमय जीवन बिताएँ, ३. सदा प्रभु का ध्यान करें, ४. दीर्घजीवन के अनुकूल ज्ञानों व कर्मों को करें, ५. प्रभु की मित्रता में रहकर वासनाओं से हिंसित न हों।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

आदित्यों की प्राप्ति

१०६६. शकेम त्वा समिधं साधया धियस्त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम्।
त्वमादित्याँ आ वह तान् ह्यू३श्मस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥ ३ ॥

१. हे प्रभो! **त्वा**=आपको **समिधम्**=अपने में दीप्त करने के लिए **शकेम**=हम समर्थ हों। हे प्रभो! हम अपने अन्तःकरणों में आपकी ज्योति को देख सकें। २. **धियः**=आप हमारे प्रज्ञानों व कर्मों को **साधय**=सिद्ध कीजिए। हमारे ज्ञान व कर्म हमें आपके अधिकाधिक समीप प्राप्त करानेवाले बनें। ३. **देवाः**=देववृत्ति के लोग **त्वे**=आपमें **आहुतम्**=दी हुई **हविः**=यज्ञशेष अमृतरूप हवि को **अदन्ति**=खाते हैं, पाँचों यज्ञों को करके बचे हुए भोजन को ही करनेवाले होते हैं। ४. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **आदित्यान् आवह**=हमें आदित्य विद्वानों को प्राप्त कराइए **तान् हि उश्मसि**=हम उन्हें ही चाहते हैं। उनके सम्पर्क में आकर ही हम गुणों का उपादान कर सकेंगे। ५. हे **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में निवास करते हुए **मा रिषाम**=हिंसित न हों।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपकी दीप्ति को देखें और आपकी मित्रता में हिंसित न हों।

सूक्त-८

ऋषिः—वसिष्ठो मैत्रावरुणिः ॥ देवता—आदित्यः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मित्र व वरुण का स्तवन

१०६७. प्रति वां सूर उदिते मित्रं गृणीषे वरुणम्। अर्यमणं रिशादसम् ॥ १ ॥

वैदिक योगशास्त्र में 'मित्र' प्राण है और 'वरुण' अपान है। प्राणापान की साधना के द्वारा अपने पर वश करनेवाला वसिष्ठ 'मैत्रावरुणि' है। प्रस्तुत मन्त्रों का यही ऋषि है। यह प्राणापान को ही सम्बोधित करके कहता है कि **वाम्**=आप दोनों में से **प्रति सूरे उदिते**=प्रतिदिन सूर्योदय के समय **मित्रम्**=प्राण ही **अर्यमणम्**=(अरीन् नियच्छति—नि० ११.२३) कामादि शत्रुओं का संहार करता है और (अर्यमेति तमाहुः यो ददाति—तै० १.१.२) शक्ति देता है, इस रूप में **गृणीषे**=स्तुति करता हूँ। **वरुणम्**=अपान का (अपानो वरुणः—शत० ८.४.२.६) **रिशादसम्**='हिंसकों का खा जानेवाला है अथवा हिंसकों का नाश करनेवाला है', इस रूप में (गृणीषे) स्तवन करता हूँ।

प्राण शक्ति देता है, तो अपान दोषों को दूर करता है। इन प्राणापानों की इस रूप में स्तुति करता हुआ वसिष्ठ प्राणापान की साधना करता है। इनकी साधना करके वह उत्तम जीवनवाला 'वसिष्ठ'=अतिशयेन वसुमान् बनता है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से नीरोगता, निर्मलता व बुद्धि की विशिष्टता प्राप्त होती है।

ऋषिः—वसिष्ठो मैत्रावरुणिः ॥ देवता—आदित्यः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शक्ति+मति

१०६८. राया हिरण्यया मतिरियमवृकाय शवसे। इयं विप्रा मेधसातये ॥ २ ॥

प्राणापान की साधना से वीर्य सुरक्षित होता है। इसके साथ ही एक मननशक्ति भी प्राप्त होती है, जिसके कारण मनुष्य अपनी शक्ति का प्रयोग हिंसा के लिए नहीं करता। मन्त्र में कहते हैं **हिरण्यया राया**=वीर्यरूप सम्पत्ति के साथ **इयं मतिः**=यह बुद्धि व विचारशक्ति भी मिलती है, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य **अवृकाय**=औरों के जीवन का आदान न करनेवाले, अर्थात् अहिंसक **शवसे**=बल के लिए होता है। वह शक्ति तो प्राप्त करता है, परन्तु उसकी शक्ति संहार के लिए नहीं होती।

इयम्=यह मति और शक्ति **विप्रा**=विशेषरूप से वसिष्ठ के जीवन का पूरण करनेवाली होती है और अन्त में **मेधसातये**=उस यज्ञरूप प्रभु की प्राप्ति के लिए होती है। संक्षेप में प्राणापान (मित्र+वरुण) की साधना के निम्न लाभ हैं—१. वीर्य-सम्पत्ति प्राप्त होती है (राया हिरण्यया)। २. मननशक्ति बढ़ती है—मनुष्य विचारशील बनता है (मतिः)। ३. इस प्राणसाधक का बल रक्षक होता है न कि हिंसक (अवृकाय शवसे)। ४. यह जीवन की न्यूनताओं को दूर करनेवाली होती है, ५. अन्त में प्रभु को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा शक्ति व मति को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—वसिष्ठो मैत्रावरुणिः ॥ देवता—आदित्यः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रेरणा व प्रकाश

१०६९. ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह। इषं स्वश्च धीमहि॥ ३॥

हे **देव मित्र वरुण**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले प्राण और अपान **ते**=वे हम **ते**=तुम्हारे **स्याम**=हों, अर्थात् सदा तुम्हारी साधना में लगे हुए हम तुम्हारे आराधक बनें। प्राणापान को क्षीण करनेवाली किसी भी वस्तु को न अपनाएँ—उसका सेवन न करें। युक्ताहार-विहार, कर्मों में युक्त चेष्टा तथा युक्त स्वप्रावबोधवाले होकर हम तुम्हारी साधना में तत्पर रहें और इस प्रकार प्राणसाधना से अपनी बुद्धियों को सूक्ष्म करके **सूरिभिः सह**=विद्वानों के सम्पर्क में रहते हुए **इषम्**=वेद में दी गयी प्रभु-प्रेरणा को **स्वः च**=और प्रकाश को **धीमहि**=अपने में धारण करें।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से हम बुद्धियों को सूक्ष्म करके प्रभु की प्रेरणा व प्रकाश को प्राप्त करें।

सूक्त-९

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

१०७०. भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः। वसु स्पार्हं तदा भर॥ १॥

१२४ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

निरन्तर वसु-लाभ

१०७१. यस्य ते विश्वमानुषग्भूरेर्दत्तस्य वेदति। वसु स्पार्हं तदा भर॥ २॥

हे प्रभो! **भूरेः**=(भृ=धारणपोषण) धारण-पोषण के लिए आवश्यक **ते यस्य**=आपके जिस **दत्तस्य**=दान का **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार **आनुषक्**=निरन्तर **वेदति**=लाभ प्राप्त करता है, **तत्**=उस

स्पार्हम् वसु=स्पृहणीय धन को **आभर**=मुझमें भी पूर्ण कीजिए। आपकी कृपा से मैं भी अपनी जीवन-यात्रा में क्रमशः आवश्यक धनों को प्राप्त करता चलूँ। आवश्यक धन की मुझे कमी न रहे। आपकी कृपा से कण-कण करके सम्पत्ति का संचय करते हुए मैं अपने शरीर, मन और बुद्धि तीनों को ही दीप्त बनाकर इस मन्त्र का ऋषि 'त्रिशोक काण्व' बन जाऊँ।

भावार्थ—हम समय-समय पर जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

१०७२. यद्वीडाविन्द्र यत् स्थिरे यत् पर्शाने पराभृतम्। वसु स्पार्हं तदा भर॥ ३॥

२०७ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

सूक्त-१०

ऋषिः—श्यावाश्व आत्रेयः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

इन्द्र+अग्नि

१०७३. यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्नी वाजेषु कर्मसु। इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्॥ १॥

"**प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी**"—गो० २.१ से स्पष्ट है कि इन्द्राग्नी का अभिप्राय प्राणापान से है। तै० १.६.४.३ में "**प्राणापानौ वा एतौ देवानां यदिन्द्राग्नी**" इन शब्दों में देवों के प्राणापान को इन्द्राग्नी नाम दिया है। जब मनुष्य प्राणापान का प्रयोग सामान्य क्षुधा-तृषा इत्यादि के मिटाने में ही न कर, खान-पान की दुनिया से ऊपर उठकर, आध्यात्मक्षेत्र में विचरता है और देवमार्ग पर चलता है तब प्राणापान 'इन्द्राग्नी' नामवाले हो जाते हैं। '**ब्रह्मक्षत्रे वा इन्द्राग्नी**' कौ० १२.८ के शब्दों में ये ज्ञान और बल के संस्थापक हैं। ऐ० २.३६ में इन्हें "**इन्द्राग्नी वै देवानामोजिष्ठौ बलिष्ठौ सहिष्ठौ सप्तमौ पारयिष्णुतमौ**" कहा गया है। ये ओज, बल व साहस को देनेवाले हैं, श्रेष्ठतम हैं और सब कार्यों में सफल बनानेवाले हैं। '**इन्द्राग्नी वै विश्वेदेवाः**'—शत० २.४.४.१३ के अनुसार इन्द्राग्नी ही सब दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले हैं। प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि इन प्राणापान के द्वारा ही गतिशील बनकर 'श्यावाश्व' (गतिशील इन्द्रियोंवाला) कहलाया है, त्रिविध दुःखों व शोकों से ऊपर उठकर 'आत्रेय' हुआ है। यह प्राणापान को ही सम्बोधित करके कहता है कि—१. हे **इन्द्राग्नी**=प्राणापानो! **हि**=निश्चय से आप दोनों **यज्ञस्य**=मेरे जीवन-यज्ञ के **ऋत्विजा स्थ**=ऋत्विज हो। आपकी कृपा से ही मेरा यह जीवन-यज्ञ चल रहा है। २. आप ही **वाजेषु**=सब बलों में तथा **कर्मसु**=कर्मों में **सस्नी**=मुझे खूब शुद्ध करनेवाले हो। शक्ति तथा कर्मों के द्वारा सब मलों को दूर करनेवाले हो। ३. इस प्रकार शुद्ध बनाकर हे प्राणापानो! **तस्य**=उस प्रभु का **बोधतम्**=ज्ञान दो। प्राणापान की साधना से ही हमारे ब्रह्म व क्षत्र (ज्ञान+बल) विकसित होते हैं और हम ब्रह्म के समीप पहुँच जाते हैं।

भावार्थ—प्राणापान ही जीवन-यज्ञ को ठीक से चलाते हैं, हमारी शक्तियों व कर्मों को पवित्र करते हैं और अन्त में हमें प्रभु को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्व आत्रेयः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सदा अपराजित

१०७४. तोशासा रथयावाना वृत्रहणापराजिता। इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्॥ २॥

हे प्राणापानो ! आप १. **तोशासा**=शरीर में रोगों का कारण बननेवाले सब कृमियों का संहार करनेवाले हो (तोश=हिंसा)। प्राणापान की साधना का पहला परिणाम 'आरोग्य' है। २. नीरोगता प्राप्त कराके **रथयावाना**=आप इस शरीररूप रथ को जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए मार्ग पर ले-चलनेवाले हो। जीवन-यज्ञ के ऋत्विज हो। जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए प्रभु ने यह शरीररूप रथ दिया है। इसमें ये प्राणापान किसी प्रकार की कमी नहीं आने देते। ३. **वृत्रहणा**=मन में उत्पन्न हो जानेवाली वासनाएँ ही 'वृत्र' हैं। ये वासनाएँ मनुष्य के ज्ञान पर पर्दा-सा डाल देती है, तभी तो 'वृत्र' हैं। ज्ञान के आवृत हो जाने पर अन्धकार में रथ यात्रा-मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है या कहीं टकराकर टूट-फूट जाता है। ये प्राणापान इन वृत्रों का हनन कर देते हैं और यात्रा-मार्ग को प्रकाशमय रखते हैं। ४. **अपराजिता**=ये प्राणापान इन विघ्नों से कभी पराजित नहीं होते। असुरों ने इन्द्रियों पर आक्रमण करके उन्हें पराजित कर दिया था, परन्तु प्राणापान से टकराकर वे स्वयं चूर्ण हो गये थे। ये इन्द्राग्नी पराजित होनेवाले नहीं। '**इन्द्राग्नी देवानामोजस्वितमौ**'—शत० १३.१.२.६ ये प्राणापान सर्वाधिक ओजस्वी हैं—ये सब विघ्नों को जीतनेवाले, सदा अपराजित हैं। ५. **इन्द्राग्नी**=हे प्राणापानो ! आप हमारी यात्रा को निर्विघ्न पूर्ण करके हमें **तस्य**=उस प्रभु का **बोधतम्**=ज्ञान प्राप्त कराओ।

भावार्थ—प्राणापान शरीर को नीरोग कर, शरीररूप रथ को मार्ग पर ले-चलते हैं, मार्ग में आनेवाले विघ्नों को नष्ट करते हैं। सदा अपराजित होते हुए प्रभु को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्व आत्रेयः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मधुविद्या व ब्रह्मदर्शन

१०७५. इदं वां मदिरं मध्वधुक्षन्नद्रिभिर्नरः। इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ ३ ॥

शरीर में उत्पन्न सोम को 'मधु' कहते हैं। इस सोम से जीवन में एक उल्लास पैदा होता है, अतः इस मधु को 'मदिर' कहा गया है। इस सोम की रक्षा से ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान भी प्राप्त होता है, इस सोमज्ञान को ही 'मधुविद्या' के नाम से कहा गया है। यह मधुविद्या 'अश्विनी देवों' (प्राणापानौ) को ही दी गयी है। इसका अभिप्राय यही है कि प्राणापान की साधना से इसे हम प्राप्त कर पाते हैं, अतः यहाँ मन्त्र में कहते हैं कि **इदम्**=इस **वाम्**=आपके **मदिरम्**=जीवन में उल्लास पैदा करनेवाले **मधु**=ब्रह्मज्ञान को **नरः**=जीवन-पथ पर आगे बढ़नेवाले लोग **अद्रिभिः**=आदरणीय गुरुओं की सहायता से **अधुक्षन्**=अपने में दूहते हैं—अपने मस्तिष्क को उस ज्ञान से परिपूर्ण करते हैं।

हे **इन्द्राग्नी**=प्राणापानो ! इस प्रकार आप हमें **तस्य**=उस सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म का **बोधतम्**=ज्ञान दो।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमें आदरणीय गुरुओं से मधुविद्या को प्राप्त करने योग्य बनाए और हम प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

सूक्त-११

ऋषिः—कश्यपो मारीचः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

१०७६. इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः। अर्कस्य योनिमासदम् ॥ १ ॥

४७२ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

१०७७. तं त्वा विप्रा वचोविदः परिष्कृण्वन्ति धर्णसिम्। सं त्वा मृजन्त्यायवः ॥ २ ॥

धर्णसिम्=सारे ब्रह्माण्ड के धारण करनेवाले **तम्**=उस **त्वा**=आपको **विप्राः**=सोम-संयम के द्वारा अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **वचोविदः**=वेदवाणी को जाननेवाले लोग **परिष्कृण्वन्ति**=परिष्कृत करते हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपने कमरे में चित्रों को सजा देता है, इसी प्रकार ये वचोवित् विप्र अपने हृदयान्तरिक्ष में प्रभु को सजा देते हैं, अर्थात् अपने हृदय में प्रभु का साक्षात्कार कर पाते हैं। **त्वा**=आपको **आयवः**=(एति) निरन्तर गतिशील व्यक्ति **संमृजन्ति**=सम्यक्तया शुद्ध करते हैं। प्रभु का शोधन (खोजना), प्रभु का ही विचार व दर्शन है। यह प्रभु-दर्शन क्रियाशील व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है। क्रियाशीलता हमें पवित्र करती है और पवित्रता हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है। मलों को मारकर यह 'मारीच' बनता है और प्रभु-दर्शन करने के कारण 'कश्यप' कहलाता है। एवं, यह प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कश्यप मारीच' बनता है।

भावार्थ—हम अपना पूरण करनेवाले (विप्र), वेदवाणी को जाननेवाले (वचोविद्) तथा क्रियाशील जीवनवाले (आयु) बनें और प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—कश्यपो मारीचः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

रस-पान

१०७८. रसं ते मित्रो अर्यमा पिबन्तु वरुणः कवे। पवमानस्य मरुतः ॥ ३ ॥

हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन्—सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले प्रभो! (कौति सर्वा विद्याः) **पवमानस्य**=सबके जीवनों को पवित्र करनेवाले **ते**=आपके **रसम्**=दर्शन से होनेवाले अवर्णनीय आनन्द का **पिबन्तु**=पान करते हैं। कौन? १. **मित्रः**=सबके साथ स्नेह करनेवाले व्यक्ति। अपने को रोगों व पापों से बचानेवाले व्यक्ति (प्रमीतेः त्रायते)। २. **अर्यमा**=काम-क्रोध-लोभादि शत्रुओं का नियमन करनेवाले (अरीन् नियच्छति) तथा दान देनेवाले (अर्यमेति तमाहुः यो ददाति)। ३. **वरुणः**=अपने जीवन को व्रतों के बन्धन में बाँधकर (पाशी) प्रकृष्ट ज्ञानी बनते हुए (प्रचेता) जो अपने जीवनों को श्रेष्ठ बनाते हैं। (वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः)। ४. **मरुतः**=प्राणापान की साधना करनेवाले।

भावार्थ—हम मित्र, अर्यमा, वरुण व मरुत् बनकर प्रभु-दर्शन के रस का पान करें।

सूक्त-१२

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

१०७९. मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वसि।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥ १ ॥

५१७ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सप्तर्षियों की सात बातें

१०८०. पुनानो वारे पवमानो अव्यये वृषो अचिक्रदद्वने।
देवानां सोम पवमान निष्कृतं गोभिरञ्जानो अर्षसि ॥ २ ॥

१. **वारे**=सब वासनाओं का निवारण करनेवाले वरणीय प्रभु में **पुनानः**=अपने को पवित्र करता हुआ। प्रभु-स्मरण से वासनाओं का विनाश होकर जीवन पवित्र बनता है। २. **अव्यये**=उस विविध योनियों में न जानेवाले (अ+वि+अय) एकरस प्रभु में **पवमानः**=गति करता हुआ, अर्थात् प्रभु-स्मरणपूर्वक सब कार्यों को करता हुआ और अतएव प्रभु की ओर जाता हुआ। ३. **वृषः**=**(वृषो हि भगवान् धर्मः)** मूर्त्तिमान् धर्म बनकर। ४. **वने**=उस वननीय—सम्भजनीय प्रभु का **अचिक्रदद्**=आह्वान करता है, अर्थात् उस उपास्य प्रभु को सदा पुकारता है। ५. हे **सोम**=शान्त स्वभाववाले **पवमान**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले! तू ६. **गोभीः**=वेदवाणियों के द्वारा **अञ्जानः**=अपने जीवन को अलंकृत करता हुआ ७. **देवानाम्**=देवों के **निष्कृतम्**=(निष्कृ—free from sin) पापशून्य पवित्र स्थान को **अर्षसि**=प्राप्त होता है। इन सात बातों को अपने जीवनों में घटानेवाले हम 'भारद्वाज, कश्यप, गोतम, अत्रि, विश्वामित्र, जमदग्नि व वसिष्ठ' बनें।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को पवित्र करके देवों के पवित्र स्थान को प्राप्त करें।

सूक्त-१३

ऋषिः—अमहीयुः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आदित्यों के साथ

३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
१०८१. एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सिन्धुमातरम्। समादित्येभिरख्यत ॥ १ ॥

एतम्=इस **उ**=निश्चय से **त्यम्**=उस **सिन्धुमातरम्**=सोमकणों के निर्माण करनेवाले को **दश**=दस **क्षिपः**=आयुधरूप इन्द्रयाँ (क्षिप्=weapon) जिनसे कि सब प्रकार का मल परे फेंक दिया गया है (क्षिप् to throw) **मृजन्ति**=शुद्ध कर डालती हैं और तब यह **आदित्येभिः**=आदित्यों के साथ **सम् अख्यत**=गिना जाता है। सूर्य जैसे देदीप्यमान है, यह भी उसी प्रकार देदीप्यमान होता है।

मन्त्रार्थ में निम्न बातें स्पष्ट हैं—१. सोमकण प्रवाह के स्वभाववाले हैं (स्यन्दन्ते) तभी तो वे सिन्धु कहलाये हैं। वे नीचे की ओर प्रवाहित न होकर अथवा अपव्ययित न होकर शरीर में ही व्याप्त होकर हमारा निर्माण करते हैं तो हम 'सिन्धुमाता' बनते हैं। २. इन्द्रियाँ 'क्षिप्' हैं—ये जीवन-संग्राम में सफलता के लिए आयुधरूप में दी गयी हैं। ये मल को परे फेंककर चमक उठी हैं। ३. इस प्रकार सिन्धुमाता बनकर इन्द्रियरूप आयुधों को सचमुच 'क्षिप्' बनाएँगे तो हम आदित्यों की भाँति चमक उठेंगे। कर्मेन्द्रियाँ क्रिया के द्वारा हमारे जीवन को दीप्त बनाती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की दीप्ति देती हैं।

अपने जीवन को ऐसा बनानेवाला व्यक्ति 'अमहीयु'=पार्थिव भोगों की कामना करनेवाला नहीं है। यह पार्थिव भोगों से ऊपर उठने के कारण ही 'आङ्गिरस' है।

भावार्थ—हम सोमकणों को जीवन-निर्माण में लगाएँ, इन्द्रियों को मल के दूरीकरण से क्षिप् बनाएँ और आदित्यों के समान दीप्तिवाले हों।

ऋषिः—अमहीयुः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

जितेन्द्रियता—क्रिया व ज्ञान

१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २र ३ १ २
१०८२. समिन्द्रेणोत वायुना सुत एति पवित्र आ। सं सूर्यस्य रश्मिभिः ॥ २ ॥

१. **इन्द्रेण**=जितेन्द्रियता के **सम्**=साथ **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ, अर्थात् जितेन्द्रियता की

स्वाभाविक वृत्तिवाला २. **उत**=और **वायुना सं सुतः**=(वा गतौ) क्रियाशीलता के साथ उत्पन्न हुआ-हुआ, अर्थात् क्रियाशीलता की स्वाभाविक वृत्तिवाला, स्वाभाविकी क्रियावाला, ३. **सूर्यस्य रश्मिभिः सं सुतः**=सूर्य की किरणों के साथ उत्पन्न हुआ-हुआ, अर्थात् स्वभावतः ज्ञान की वृत्तिवाला यह अमहीयु **पवित्रे**=उस पूर्ण पवित्र प्रभु में **आ एति**=समन्तात् गतिवाला होता है।

'अमहीयु' पुरुष जन्मान्तरों के संस्कारों के उत्पन्न होते ही 'जितेन्द्रियता, क्रियाशीलता व ज्ञान' की रुचिवाला होता है और इस प्रकार की रुचिवाला बनकर यह सदा उस पवित्र प्रभु में स्थित हुआ-हुआ गतिशील होता है—ब्रह्मनिष्ठ होकर कर्म करता है, इसीलिए इसके कर्म पवित्र बने रहते हैं।

भावार्थ—हमारा स्वभाव जितेन्द्रियता, क्रिया व ज्ञान का हो।

ऋषिः—अमहीयुः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्राणसाधना का महत्त्व

१०८३. स नो भगाय वायवे पूष्णे पवस्व मधुमान्। चारुर्मित्रे वरुणे च ॥ ३ ॥

प्रभु इस अमहीयु से कहते हैं कि **मित्रे वरुणे च**=प्राण और अपान में **चारुः**=सुन्दर ढंग से विचरण करनेवाला, अर्थात् प्राणायाम द्वारा प्राणापान की उत्तम साधना करनेवाला **मधुमान्**=अत्यन्त माधुर्यमय जीवनवाला होकर **सः**=वह तू **नः**=हमारे **भगाय**=ऐश्वर्य के लिए **वायवे**=(वायुः=प्राणः) प्राणशक्ति के लिए तथा **पूष्णे**=पुष्टि के लिए **पवस्व**=प्राप्त हो।

'अमहीयु' बनने के लिए पार्थिव भोगों की लिप्सा से ऊपर उठने के लिए प्राणसाधना ही एकमात्र उपाय है। इस प्राणासाधना के लाभ निम्न हैं—१. हमारा जीवन मधुर बनता है (मधुमान्) हमारे मनों में ईर्ष्या-द्वेष नहीं रहते। २. हम ज्ञानरूप उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले होते हैं (भग)। ३. हमारी प्राणशक्ति ठीक होने से हम क्रियाशील बने रहते हैं—हमें आलस्य नहीं घेरता (वायु)। ४. हमारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुपुष्ट बना रहता है (पूषन्)।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हम 'माधुर्य, ऐश्वर्य, प्राणशक्ति व पुष्टि' प्राप्त करें।

सूक्त-१४

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

१०८४. रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः। क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥ १ ॥

१५३ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आध्यात्मिक जीवन

१०८५. आ घ त्वावान् त्मना युक्त स्तोतृभ्यो धृष्णवीयानः। ऋणोरक्षं न चक्र्योः ॥ २ ॥

हे **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्रभो! यह सुख-निर्माण की इच्छावाला 'शुनः शेप' **घ**=निश्चय से १. **त्वावान्**=आप-जैसा ही बना है। इसने आपके गुणों को धारण करने का प्रयत्न किया है। २. **त्मना युक्तः**=यह आत्मा से युक्त है—मनोबलवाला है। ३. **ईयानः**=यह निरन्तर क्रियाशील है, उत्तम गुणों की प्राप्ति की कामना से कर्मों में लगा हुआ है। ४. **अक्षं न चक्र्योः**=जैसे दो चक्रों

में अक्ष की स्थिति होती है उसी प्रकार यह 'ज्ञान और श्रद्धा' रूप चक्रों के बीच में कर्मरूप अक्ष के समान है। इसके सब कर्म ज्ञान व श्रद्धापूर्वक किये जाते हैं। ऐसे ही व्यक्ति तो तेरे सच्चे स्तोता हैं। इन **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए हे प्रभो! आप **आऋणोः**=काम-क्रोधादि वासनाओं पर आक्रमण करते हैं। आपकी कृपा से सब वासनारूप विघ्नों का नाश होकर इनकी जीवन-यात्रा ठीकरूप से पूर्ण होती है और यह स्तोता अपने घर को (गर्त—गृह—नि० ३.४) जानेवाला (अज) 'आजीगर्ति' होता है। 'गर्तः पुरुषः' श० ५.४.१.१५ के अनुसार गर्त का अर्थ पुरुष=परमात्मा भी है। यह परमात्मा को प्राप्त करनेवाला 'आजीगर्ति' सच्चे सुख को प्राप्त करके 'शुनःशेप' नाम को सार्थक कर पाया है।

भावार्थ—१. हम प्रभु-जैसे बनें, २. आत्मबल से युक्त हों, ३. क्रियाशील बनें, ४. श्रद्धा और ज्ञानपूर्वक कर्म करें, ५. इस प्रकार प्रभु के सच्चे स्तोता हों।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

धन्यता

१०८६. आ यद् दुवः शतक्रतवा कामं जरितृणाम्। ऋणोरक्षं न शचीभिः ॥ ३ ॥

शचीभिः=अपने प्रज्ञानों व कर्मों से जो **अक्षं न**=एक धुरे के समान है, अर्थात् जिसके जीवन में ज्ञान और कर्म एक पक्षी के दायें व बायें पंखों के समान हैं, उन **जरितृणाम्**=स्तोताओं की **कामम्**=कामना को हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो! **आऋणोः**=प्राप्त कराइए। **यत्**=जो **दुवः**=धन है, अर्थात् जिस भी वस्तु से मनुष्य वस्तुतः धन्य बनता है, उसे इन स्तोताओं को सर्वथा दीजिए।

यदि मनुष्य अपने जीवन में कर्म व ज्ञान का समन्वय करके चलता है तो उसके जीवन में सच्ची प्रभु-भक्ति होती है। इन प्रभु-भक्तों की कामना को प्रभु पूर्ण करते हैं तथा इन्हें वह सम्पत्ति प्राप्त कराते हैं, जिससे इनका जीवन सचमुच धन्य हो जाता है।

भावार्थ—मेरे जीवन में ज्ञान व कर्म का सुन्दर समन्वय हो। मैं 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' वाला बनूँ।

सूक्त-१५

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

१०८७. सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥

मन्त्र का अर्थ संख्या १६० पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यज्ञ-सोमपान-दान

१०८८. उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब। गोदा इद्रेवतो मदः ॥ २ ॥

मन्त्र के ऋषि 'मधुच्छन्दा'=मधुर इच्छाओंवाले 'वैश्वामित्रः'=सबके मित्र से प्रभु कहते हैं १. **नः**=हमारे **सवना**=यज्ञों को—'प्रातः, माध्यन्दिन तथा सायन्तन सवनों' को **उपागहि**=तू समीपता से प्राप्त होनेवाला हो। तेरा जीवन वेदोपदिष्ट यज्ञों को करनेवाला हो। २. हे **सोमपाः**=सोम का पान

करनेवाले—शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाले! तू **सोमस्य पिब**=सोम का पान कर। वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न कर। ३. **रेवतः**=धनवाले तेरा **मदः**=हर्ष **इत्**=निश्चय से **गोदाः**=गौओं का देनेवाला हो, धनी बनकर तू प्रसन्नतापूर्वक गौओं का दान करनेवाला बन।

भावार्थ—प्रभु हमसे तीन बातें चाहते हैं—१. हम यज्ञमय जीवन बिताएँ, २. सोमपान करें और ३. धनी बनकर दान दें। वस्तुतः यह तीन ही मौलिक उत्तम इच्छाएँ हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मधुच्छन्दा की सर्वमधुर इच्छा

१०८९. अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्। मा नो अति ख्य आ गहि ॥ ३ ॥

'मधुच्छन्दाः' प्रभु से प्रार्थना करता है—हे प्रभो! १. **अथ**=अब हम **ते**=आपकी **अन्तमानाम्**=अति समीपवर्ती **सुमतीनाम्**=कल्याणी मतियों को **विद्याम**=जानें। आप तो हमारे हृदय में ही स्थित हो, अतः आपकी कल्याणी मति हमारे अन्तिकतम ही है। हम हृदय के मालिन्य के कारण उसे जान नहीं पाते। आपकी कृपा से हम उस बुद्धि के प्रकाश को देखनेवाले हों। २. हे प्रभो! **नः**=हमारा **मा**=मत **अतिख्यः**=उल्लंघन कीजिए—हमारा निराकरण मत कीजिए, **आगहि**=आप हमें अवश्य प्राप्त होओ।

भावार्थ—हम प्रभु की कल्याणी मति को प्राप्त करनेवाले हों।

सूक्त-१६

ऋषिः—मान्धाता यौवनाश्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

देवी जनित्री

१०९०. उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषाइव। महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम्।
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥ १ ॥

३७९ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—पूर्वार्धस्य मान्धाता यौवनाश्वः, उत्तरार्धस्य गोधाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

संयमी जीवन

१०९१. दीर्घं ह्यङ्कुशं यथा शक्तिं बिभर्षि मन्तुमः।
पूर्वेण मघवन् पदा वयामजो यथा यमः।
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥ २ ॥

जो भी व्यक्ति सोम के संयम के द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, वह प्रभु के द्वारा 'मान्धाता'=(मेरा धारण करनेवाला) कहलाता है। यह मान्धाता 'यौवनाश्व' है—इसने अपने इन्द्रियरूप अश्वों को विषयों से पृथक् करके (यु=अमिश्रण) आत्मतत्त्व के साथ जोड़ने का (यु=मिश्रण) प्रयत्न किया है। प्रभु इस मान्धाता से कहते हैं कि—१. हे **मन्तुमः**=

विचारशील=मनन करनेवाले मान्धातः ! तू **यथा**=जैसे-जैसे **शक्तिम्**=शक्ति को **बिभर्षि**=धारण करता है, उसी प्रकार **हि**=निश्चय से ३. **दीर्घम्**=सब अशुभों को विदारण करनेवाले **अंकुशम्**=अंकुश को भी—संयमवृत्ति को भी **बिभर्षि**=धारण करता है। **यथा**=जैसे **अजः**=बकरा **पूर्वेण पदा**=अपने अगले चरणों से **वयाम्**=वृक्ष की शाखा को पकड़ता है, हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यवाले मान्धातः ! तू भी **पूर्वेण पदा**=अपनी जीवन-यात्रा के प्रथम चरण, अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम से **वयाम्**=यौवन को (वयः=यौवन) **आयमः**=बड़ा नियन्त्रणवाला बनाता है। ४. यही कारण है कि **देवी जनित्री**=यह दिव्य गुणों का विकास करनेवाली वेदवाणी **अजीजनत्**=तेरा विकास करती है। तू इस दिव्य वेदवाणी को पढ़ाता है और यह वाणी तुझमें दिव्य गुणों का विकास करती है, ५. **भद्रा जनित्री**=यह कल्याण और सुख को जन्म देनेवाली वेदवाणी **अजीजनत्**=तुझमें शुभ जीवन को विकसित करती है।

भावार्थ—प्रभु का धारण वह करता है जो १. विचारशील बनता है, २. शक्ति का धारण करता है, ३. संयमी होता है, ४. अपने में दिव्य गुणों का विकास करता है और ५. शुभ कार्यों का करनेवाला होता है।

ऋषिः—मान्धाता यौवनाश्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

क्रोध व द्वेष का अवतनन

१०९२. अव स्म दुर्हृणायतो मर्तस्य तनुहि स्थिरम्।
अधस्पदं तमीं कृधि यो अस्माँ अभिदासति।
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥ ३ ॥

इस 'मान्धाता' का जीवन इतना सुन्दर होता है कि इसके समीप पहुँचने पर क्रूर-से-क्रूर व्यक्ति भी दयार्द्र हो जाता है। उसका कठोर चित्त पिघल जाता है। हे मान्धाता! तू १. **दुर्हृणायतः**=(हृणीङ् रोषणे वैमनस्ये च) औरों के लिए दुःख का कारण बननेवाले क्रोध व वैमनस्य से युक्त **मर्तस्य**=पुरुष के **स्थिरम्**=दृढ़ व कठोर चित्त को **अवतनुहि स्म**=वैसे ही ढीला कर दे, जैसे धनुष पर से कसी प्रत्यञ्चा को खोल दिया जाता है। तू क्रोधी व द्वेषी पुरुष के मनरूपी धनुष पर कसी हुई द्वेष की डोरी को खोल डाल और उसे ढीला कर दे। जैसे अहिंसक पुरुष के सामने आकर शेर आदि भी अपनी हिंसावृत्ति को छोड़ देते हैं, उसी प्रकार मान्धाता के सामने कठोर-से-कठोर चित्तवाले क्रोधी पुरुष का क्रोध ढीला पड़ जाता है।

२. यह मान्धाता प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो ! **यः**=जो भी काम-क्रोधादि के असद्भाव **अस्मान्**=हम आस्तिकवृत्तिवालों को **अभिदासति**=नष्ट करना चाहता है, आप कृपया **तम्**=उस वृत्ति को **ईम्**=निश्चय से **अधस्पदं कृधि**=पाँवों तले रौंद दीजिए। आपकी कृपा से हम उसे कुचलकर नष्ट कर सकें।

३. **देवी जनित्री अजीजनत्**=हमारा विकास करनेवाली दिव्य वेदवाणी ने हमारा विकास किया है—हमारे जीवन में दिव्य गुणों को जन्म दिया है। ४. **भद्रा जनित्री अजीजनत्**=सब सुखों को जन्म देनेवाली वेदवाणी ने हमारा शुभ—कल्याण किया है।

भावार्थ—आस्तिक पुरुष प्रबल विद्वेषी के मन को भी क्रोधशून्य करने में समर्थ होता है। यह कामादि को कुचल डालता है। अपने में शुभ गुणों का विकास करता है। इसका जीवन मङ्गलमय होता है।

सूक्त-१७

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

१०९३. परि स्वानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षरत्। मदेषु सर्वधा असि ॥ १ ॥

४७५ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

विप्र-कवि-मधु

१०९४. त्वं विप्रस्त्वं कविर्मधु प्र जातमन्धसः। मदेषु सर्वधा असि ॥ २ ॥

१. सोम=वीर्य के संरक्षण से हमारे जीवन की सब कमियाँ दूर हो जाती हैं, मन्त्र में कहा है कि हे सोम! **त्वम्**=तू **विप्रः**=(वि+प्र) विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाला है। सब रोगकृमियों के संहार से रोगबीजों को तू शरीर से दूर कर देता है—हमारा शरीर पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। २. सोम ही सुरक्षित होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और हमें सूक्ष्मदृष्टि बनाता है। हे सोम! **त्वम्**=तू **कविः**=क्रान्तदर्शी है हमें सूक्ष्मदृष्टि (Piercing sight) बनानेवाला है। ३. सोम से सबल बनकर हम ईर्ष्या-द्वेष से भी ऊपर उठ जाते हैं, इसीलिए **अन्धसः**=इस आध्यायनीय (अत्यन्त ध्यान से रक्षित करने योग्य) सोम से हमारा जीवन **मधु**=मीठा-ही-मीठा **प्रजातम्**=हो गया है। '**भूयासं मधु सन्दृशः**'=हमारी यह प्रार्थना सोम-संरक्षण से ही कार्यान्वित हो पायी है। ४. हे सोम! तू हमारे जीवनों में मद को जन्म देता है, परन्तु उस हर्षोल्लास में हम धारणात्मक कार्य ही करते हैं, तोड़-फोड़ में नहीं लग जाते! हे सोम! तू **मदेषु**=हर्षोल्लास में **सर्वधाः असि**=सबका धारण करनेवाला है। सोम का मद हमें बेहोश न करके अधिक चैतन्य प्राप्त करानेवाला है और अपने स्वरूप की ठीक स्मृति के कारण हम धारणात्मक कार्यों में ही प्रवृत्त होते हैं—तोड़-फोड़ में नहीं लगे रहते।

भावार्थ—सोम-संरक्षण से १. न्यूनताएँ दूर होती हैं, २. बुद्धि सूक्ष्म बनती है, ३. मन मधुर हो जाता है, ४. और हम सदा प्रसन्नचित्त होकर धारणात्मक कार्यों में लगे रहते हैं।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रीतिपूर्वक कार्यों में लगे रहना

१०९५. त्वे विश्वे सजोषसो देवासः पीतिमाशत। मदेषु सर्वधा असि ॥ ३ ॥

हे सोम! **सजोषसः**=समानरूप से मिलकर, प्रीतिपूर्वक कर्म करनेवाले (जुषी प्रीतिसेवनयोः) **विश्वे**=सब **देवासः**=देव लोग **त्वे**=(तव) तेरे **पीतिम् आशत**=पान को प्राप्त करते हैं, अर्थात् सोम की रक्षा के लिए शान्ति आवश्यक है। क्रोधी स्वभाव हमें सोमपान के योग्य नहीं बनाता। ब्रह्मचारी के लिए इसी दृष्टिकोण से क्रोधादि के परित्याग का विधान है। शान्तिपूर्वक प्रेम से कर्मों में लगे रहना ही सोमरक्षा का सर्वोत्तम साधन है। किसी भी प्रकार की उत्तेजना व आलस्य सोम विनाश का कारण बनता है—अतः 'सजोषस्' बनना—प्रीतिपूर्वक कार्यों में लगे रहना ही सोम को अपने में व्याप्त करने का साधन है।

हे सोम! तू **मदेषु**=हर्षों में **सर्वधाः असि**=सबका धारण करनेवाला है। सोमरक्षा से हम उल्लासमय जीवनवाले होते हैं और उस उल्लास में सबका धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम सदा प्रीतिपूर्वक कार्यों में लगे रहकर सोम का पान करनेवाले हों।

सूक्त-१८

ऋषिः—ऋणञ्चयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—यवमध्यागायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २र २ ३ १ २ ३ २
१०९६. स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इडानाम्। सोमो यः सुक्षितीनाम्॥ १ ॥

५८२ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—शक्तिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—सतोबृहतीः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सोमरक्षा के साधन व लाभ

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३२ ३ १२
१०९७. यस्य त इन्द्रः पिबाद्यस्य मरुतो यस्य वार्यमणा भगः।
१ २र ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३१२ ३२
आ येन मित्रावरुणा करामह एन्द्रमवसे महे॥ २ ॥

सोमरस का चयन करनेवाला 'ऋणञ्चय' गत मन्त्र का ऋषि था (ऋण=जल=सोम)। वह शक्ति-सम्पन्न होकर 'शक्ति' नामवाला हो जाता है। यह सोम को ही सम्बोधित करके कहता है कि तू वह है **यस्य ते**=जिस तेरा १. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **पिबात्**=पान करता है। **यस्य**=जिसका २. **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुष **पिबात्**=पान करते हैं। **यस्य वा**=या जिसका ३. **अर्यमणा**=दानवृत्ति के साथ **भगः**=प्रभु का भजन करनेवाला व्यक्ति पान करता है। **येन**=जिस तुझसे १. **मित्रावरुणा**=हम अपने प्राणापानों को और जिस तुझसे हम २. **इन्द्रम् आकरामहे**=अपने को शक्तिशाली बनाते हैं। जिस तेरे द्वारा हम ३. **अवसे**=शरीर की रोगों से रक्षा करने में समर्थ होते हैं और ४. जिस तुझसे **महे**=हम हृदय के महत्त्व को सिद्ध करनेवाले होते हैं।

एवं, सोम-रक्षा के चार साधन हैं—जितेन्द्रियता, प्राणायाम, दानवृत्ति तथा प्रभु-भजन। सोमरक्षा के चार लाभ हैं—प्राणापान की शक्ति की वृद्धि, इन्द्रत्व की प्राप्ति, नीरोगता तथा हृदय की विशालता।

भावार्थ—हम सोमरक्षा के साधनों का प्रयोग करके उसके लाभों को प्राप्त करें।

सूक्त-१९

ऋषिः—पर्वतनारदौ ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

१ २ ३ १ २ ३२३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१०९८. तं वः सखायो मदाय पुनानमभि गायत। शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्तिभिः॥ १ ॥

५६९ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—पर्वतनारदौ ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

उपासक का अलंकरण

२ ३ १२ ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
१०९९. सं वत्सइव मातृभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते। देवावीर्मदो मतिभिः परिष्कृतः॥ २ ॥

१. **इव**=जिस प्रकार **वत्सः**=माता-पिता का आज्ञानुवर्ती, अतएव प्रिय सन्तान **मातृभिः**=माताओं के द्वारा (माता-पिता व आचार्य तीनों बालक के जीवन के निर्माता हैं) **समज्यते**=सद्गुणों से अलंकृत किया जाता है, इसी प्रकार **इन्दुः**=सोम की रक्षा करनेवाला प्रभु का उपासक **हिन्वानः**=अन्तःस्थित प्रभु से प्रेरणा दिया जाता हुआ **समज्यते**=ज्ञानादि ऐश्वर्यों से सुभूषित किया जाता है। २. **देवावीः**=यह अपने जीवन में दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाला होता है। ३. **मदः**=सदा उल्लासमय

जीवनवाला होता है। ४. **मतिभिः**=मनन के द्वारा, सदा विचार व चिन्तन के द्वारा यह **परिष्कृतः**=परिष्कृत जीवनवाला होता है।

मनन व चिन्तन के द्वारा अपना पूरण करनेवाला यह 'पर्वत' बनता है। यह अपने हित के लिए प्राप्त प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग को पवित्र करने के कारण 'नार-द' कहलाता है (नर हित के लिए दी गयी वस्तुएँ 'नार' कहलाती हैं)।

भावार्थ—उपासक प्रभु के द्वारा सद्गुणों से अलंकृत किया जाता है।

ऋषिः—पर्वतनारदौ ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

प्रभु का सच्चा पुत्र

११००. अयं दक्षाय साधनोऽयं शर्धाय वीतये। अयं देवेभ्यो मधुमत्तरः सुतः ॥ ३ ॥

१. **अयम्**=यह प्रभु-भक्त **दक्षाय**=उन्नति के लिए **साधनः**=जानेवाला होता है। (साधयतिः गतिकर्मा), अर्थात् दिन-प्रतिदिन उन्नति-पथ पर बढ़ता चलता है। २. **अयम्**=यह **शर्धाय**=शक्ति के लिए **साधनः**=जानेवाला होता है, अर्थात् इसकी शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। ३. **अयम्**=यह **वीतये**=अन्धकार के नाश व प्रकाश के लिए **साधनः**=जानेवाला होता है। प्रभुभक्त अज्ञानान्धकार से ऊपर उठकर ज्ञान के प्रकाश में पहुँच जाता है। ४. **अयम्**=यह **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के विकास के लिए होता है, अर्थात् उसमें दिव्यता बढ़ती जाती है। ५. **मधुमत्तरः**=अत्यन्त माधुर्यवाला यह **सुतः**=(सुतम् अस्यास्ति इति) ऐश्वर्यवाला होता है अथवा **सुतः**=यह प्रभु का सच्चा पुत्र होता है।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा पुत्र वह है जो—१. उन्नति को सिद्ध करता है, २. शक्ति को बढ़ाता है, ३. अन्धकार को दूर कर प्रकाश को प्राप्त करता है, ४. दिव्य गुणों का विकास करता है, ५. अत्यन्त माधुर्यमय जीवनवाला होता है।

सूक्त-२०

ऋषिः—मनुः सांवरणः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अरेपसः इन्दवः

११०१. सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः।
मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः ॥ १ ॥

५४८ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—मनुः सांवरणः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

मननशील व संवरणशील

११०२. ते पूतासो विपश्चितः सोमासो दध्याशिरः।
सूरासो न दर्शतासो जिगत्नवो ध्रुवा घृते ॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'मनुः'=अत्यन्त मननशील है और वह सांवरणः=सम्यक् उत्तम वरणवाला है। संसार में जीवन की सफलता का रहस्य इसी में है कि विचारशील (मनु) बनकर उत्तम चुनाव ही करें (सांवरण)। ते=ऐसे व्यक्ति १. **पूतासः**=पवित्र जीवनवाले होते हैं, २. **विपश्चितः**=विपः=वाणी

का **चितः**=चिन्तन करनेवाले उत्तम ज्ञानी होते हैं, ३. **सोमासः**=अत्यन्त विनीत होते हैं, ४. **दध्याशिरः**=(धत्ते इति दधि) सारे संसार का धारण करनेवाले प्रभु का आश्रय करते हैं, ५. **सूरास न**=देदीप्यमान सूर्य के समान होते हैं। ज्ञान के द्वारा सूर्य की भाँति चमकते हैं, ६. **दर्शतासः**=वे दर्शनीय आकृतिवाले होते हैं और ८. **घृते**=देदीप्यमान प्रभु में **जिगत्नवः**=गतिवाले होते हैं, अर्थात् प्रभु के प्रति जानेवाले होते हैं, अन्त में प्रभु को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—मननशील व संवरणशील व्यक्ति प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—मनुः सांवरणः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

आचार्य

११०३. सुष्वाणासो व्यद्रिभिश्चिताना गोरधि त्वचि।
इषमस्मभ्यमभितः समस्वरन् वसुविदः॥ ३॥

१. **सुष्वाणासः**=सदा उत्तम (सु) शब्दों का उच्चारण करनेवाले (स्वान), २. **अद्रिभिः**=आदरणीय गुरुओं में **विचिताना**:=विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त कराये जाते हुए, ३. **गोः**=सदा वेदवाणी के **अधित्वचि**=सम्पर्क में रहनेवाले (In touch with) ४. **वसुविदः**=(सर्वत्र वसतीति) सर्वव्यापक प्रभु का साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानी लोग **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **इषम्**=वेदवाणी की प्रेरणा को **अभितः**=आचार्यकुल में भी आचार्य कुल से बाहर भी दोनों ओर, सब स्थानों में **समस्वरन्**=उच्चरित करें।

आचार्य कैसे हों? इस प्रश्न का उत्तर इन शब्दों में दिया गया है कि वे १. सदा शुभ शब्दों का उच्चारण करनेवाले हों। उनके मुख से विद्यार्थियों के लिए कभी कोई अशुभ शब्द न निकले २. उन्होंने स्वयं आदरणीय गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की हुई हो, ३. वे अपना जीवन वेदवाणी के सम्पर्क में बिता रहे हों। ४. उन्होंने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया हो।

ऐसे आचार्य आचार्यकुलों में तो उपदेश देते ही हैं, गृहस्थ बन जाने पर भी इन आचार्यों का ज्ञानोपदेश प्राप्त होता रहे। इनके द्वारा वेदवाणी की प्रेरणा प्राप्त होती रहे।

भावार्थ—उत्तम आचार्यों से हम सदा वेदवाणी की प्रेरणा प्राप्त करें।

सूक्त-२१

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

११०४. अया पवा पवस्वैना वसूनि मांश्चत्व इन्दो सरसि प्र धन्व।
ब्रध्नश्चिद्यस्य वातो न जूतिं पुरुमेधाश्चित्तकवे नरं धात्॥ १॥

५४१ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

तीर्थ में स्नान

११०५. उत न एना पवया पवस्वाधि श्रुते श्रवाय्यस्य तीर्थे।
षष्टिं सहस्रा नैगुतो वसूनि वृक्षं न पक्वं धूनवद्रणाय॥ २॥

प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि कुत्स है, जो (कुथ हिंसायाम्) सब अशुभों की हिंसा करके शुभों को प्राप्त करता है। दुरितों से दूर और शुभों के समीप होने के कारण ही यह 'आङ्गिरस' भी है—अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिवाला है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि आप १. **नः**=हमें **एना पवया**=इस पावन क्रिया से **पवस्व**=पवित्र कीजिए। २. **उत**=और हम सदा **अधिश्रुते**=शास्त्रश्रवण में स्थित हों। ३. **श्रवाय्यस्य**=वेदवाणियों से श्रोतव्य प्रभु के **तीर्थे**=तारक स्थान में हम सदा निवास करनेवाले हों, अर्थात् प्रभुनिष्ठ होने के लिए सदा प्रभु का ध्यान करें। ४. **नैगुतः**=भक्तों के प्रिय प्रभो! (नु शब्दे, नितरां शब्दायन्ते परमेश्वरम् निगुतः=भक्ता, तेषामयम्), आप **रणाय**=हमारे आध्यात्मिक संग्राम के लिए **षष्टिं सहस्रा**=अनन्त **वसूनि**=ज्ञानों को **धूनवत्**=प्राप्त कराते हैं, **न**=उसी प्रकार जैसेकि कोई भी व्यक्ति फलों की कामना से **पक्वं वृक्षम्**=पके फलोंवाले वृक्ष को **धूनवत्**=कम्पित करता है।

नोट—'षष्टिं सहस्रा' शब्द सामान्यतः 'आनन्त्य' के लिए पारिभाषिक शब्द है।

भावार्थ—प्रभु तीर्थ हैं, भक्त लोग उस तीर्थ में स्नान करते हैं और अपने जीवनों को पवित्र कर लेते हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वृष-नाम (वर्षण-नमन)

११०६. महीमे अस्य वृष नाम शूषे मांश्चत्वे वा पृशने वा वधत्रे।
अस्वापयन् निगुतः स्नेहयच्चापामित्राँ अपाचितो अचेतः॥ ३॥

(वर्षणं=वृषः, नमनं=नाम) **अस्य**=इस प्रभु के **इमे**=ये **वृष नाम**=वर्षण और नमन-(झुका देना)-रूप दो कार्य **महि**=महनीय हैं—बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इसका वर्षण तो **शूषे**=बल के विषय में (नि० २.९) और **मांश्चत्वे**=(अश्वनाम नि० अश्व=उत्तम कर्मशक्ति, मन् धातु से बनाएँ तो इसका अर्थ 'ज्ञान' होगा) कर्म तथा ज्ञान के विषय में है और नमन **पृशने**=आसक्ति के विषय में (पृशन्=attachment) **वा**=तथा **वधत्रे**=विषयासक्ति के (sexual passion) या अनुचित प्रेम के विषय में है, अर्थात् जब हम प्रभु से अपना सम्पर्क बनाते हैं तब हमपर बल, सुख तथा कर्मशक्ति व ज्ञान की वर्षा होती है और हमारी आसक्ति व वासना का विनाश हो जाता है।

वे प्रभु **निगुतः**=(नितरां शब्दायन्ते प्रभुम्) नितरां अपना आह्वान करनेवाले भक्तों को **अस्वापयत्**=(यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः) उन विषयों में सुला देते हैं, जिनमें सामान्य लोग बड़े जागरित हो रहे हैं, अर्थात् प्रभुकृपा से एक भक्त का सांसारिक विषय-वासनाओं की ओर सुझाव ही नहीं रहता।

ये प्रभु **अमित्रान्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं को **अपस्नेहयत्**=दूर नष्ट करते हैं। (स्नेहयति to kill)। **अचितः**=सत्कर्मों का चयन न करनेवाले दुष्ट लोगों को ये प्रभु **अप**=हमसे दूर करते हैं और वे प्रभु **अचेतः**=चेतनाशून्य (absent mindedness) अवस्था को हमसे **अप**=दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमपर बल, सुख, कर्मशक्ति व ज्ञान की वर्षा हो। हमारी आसक्ति व वासना विनष्ट हो। हम प्रभुभक्त बन सांसारिक विषयों में सोये रहें। हमारे काम-क्रोधादि नष्ट हों, दुष्ट लोगों का सङ्ग दूर हो, चेतनाशून्यावस्था से हम बचें।

सूक्त-२२

ऋषिः—बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा ॥ देवता—अग्निः ॥
छन्दः—द्विपदा विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

११०७. अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भुवो वरूथ्यः ॥ १ ॥

४४८ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा ॥ देवता—अग्निः ॥
छन्दः—द्विपदा विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'बन्धु' द्वारा प्रभु का आराधन

११०८. वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमो रयिं दाः ॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'बन्धु'=सबके साथ स्नेह करनेवाला, सुबन्धुः=सज्जनों का मित्र, श्रुतबन्धुः=ज्ञान की मित्रतावाला तथा विप्रबन्धुः=अपना पूरण करनेवालों का मित्र है। यह प्रभु की आराधना इन शब्दों में करता है। १. हे प्रभो! **वसुः**=आप सबमें बसनेवाले व सभी को अपने में बसानेवाले हो। २. आप **अग्निः**=अग्रेणीः हो। हमें आगे और आगे ले-चलनेवाले हो। ३. **वसुश्रवाः**=(वसु=उत्तम, rich धनी) उत्तम तथा धनी, अर्थात् व्यापक ज्ञानवाले हो। ४. **द्युमत्तमः**=अत्यन्त दीप्तिमय हो, आप **अच्छा नक्षि**=हममें आभिमुख्येन व्याप्त हो—हम आपकी व्याप्ति को अपने अन्दर अनुभव करनेवाले हों। ५. **रयिं दाः**=आप हमें ज्ञानरूप धन दीजिए।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें प्राप्त होओ और ज्ञानधन प्राप्त कराओ।

ऋषिः—बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा ॥ देवता—अग्निः ॥
छन्दः—द्विपदा विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उत्तम मित्रों के साथ

११०९. तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ॥ ३ ॥

हे **शोचिष्ठ**=अत्यन्त दीप्तिमन्, पवित्र प्रभो! **दीदिवः**=(देवयति क्रीडयति) सारे संसार को क्रीड़ा करानेवाले प्रभो! **तं त्वा**=उस आपसे हम **नूनम्**=निश्चय से **सुम्नाय**=आपके स्तवन के लिए, सुख व रक्षण के लिए तथा **सखिभ्यः**=उत्तम मित्रों के लिए **ईमहे**=याचना करते हैं।

वे प्रभु अत्यन्त दीप्त व पवित्र हैं—वे ही वस्तुतः इस संसार की सम्पूर्ण क्रीड़ा को कर रहे हैं। प्रभुकृपा से हमारा जीवन प्रभु-स्तवन करनेवाला हो। प्रभुकृपा से हम सुखी हों—प्रभु-रक्षण हमें सदा प्राप्त हो और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि प्रभु की दया से हम सदा उत्तम साथियों को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें—प्रभु के आनन्द व रक्षण को प्राप्त करें। हमें उत्तम मित्रों के साथ रहने का प्रसङ्ग मिले।

सूक्त-२३

ऋषिः—भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः ॥ देवता—विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—द्विपदात्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

१११०. इमा नु कं भुवना सीषधेमेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ॥ १ ॥

४५२ संख्या पर इसका अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः ॥ देवता—विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—द्विपदात्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

सन्तान प्रभु की धरोहर है

११११. यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधातु ॥ २ ॥

प्रभु चाहते हैं कि—**इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **आदित्यैः सह**=सदा गुणों का आदान करनेवाले सज्जनों के सङ्ग में वास करता हुआ **यज्ञं च**=उत्तम कर्मों को **नः तन्वं च**=हमारे दिये हुए इस शरीर को **प्रजां च**=और इस हमारी प्रजा को, सन्तान को **सीषधातु**=जीवन-यात्रा में उन्नति के लिए साधन बनाए।

प्रस्तुत मन्त्र में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१. मनुष्य को इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने का प्रयत्न करना। उसका नाम ही प्रभु ने 'इन्द्र'=इन्द्रियों का अधिष्ठाता रक्खा है। २. सदा गुणीजनों के सम्पर्क में चलना, क्योंकि जैसों के साथ रहता है, वैसा ही मनुष्य बन जाता है। ३. जीवन-यात्रा में सदा यज्ञिय मनोवृत्ति से चलना। प्रभु ने प्रजाओं को उत्पन्न ही यज्ञों के साथ किया है। 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा०'। ४. शरीर को अपना न समझ प्रभु का समझना, इसीलिए इसे पूर्ण स्वस्थ रखने का प्रयत्न करना। ५. सन्तान को प्रभु की धरोहर समझ बड़ी मधुरता व प्रेम से, परन्तु बिना किसी मोह के उत्तम बनाना।

भावार्थ—हे प्रभो! हम इन्द्र बनें, आदित्यों के सहवास में रहें, यज्ञशील हों, आप के दिये शरीर को विकृत न होने दें, सन्तान को आपकी धरोहर समझें।

ऋषिः—भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः ॥ देवता—विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—द्विपदात्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

आधि-व्याधि से दूर

११२२. आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत् ॥ ३ ॥

वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवाला परमात्मा **सगणः**=पञ्चविंशति (२५) संख्याक गण के साथ (सारा संसार २५ पदार्थों में विभक्त हुआ है), **आदित्यैः**=सब गुणों का आदान करनेवाले विद्वानों के द्वारा तथा **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **भेषजा करत्**=औषधों को करे।

प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ, १० इन्द्रियाँ व मन, तथा पञ्चतनमात्राओं से पञ्च स्थूलभूत तथा पुरुष (जीव) इस प्रकार सम्पूर्ण चराचर संसार पच्चीस गणों में विभक्त है। प्रभु ही इसके संचालक हैं। वे प्रभु इस पच्चीस के गण के साथ हमारा कल्याण करें।

हममें जो भी वासनारूप अध्यात्मरोग उत्पन्न हो जाए उनका औषध तो वे प्रभु आदित्य विद्वानों के सम्पर्क द्वारा करें तथा जो भी शरीर-रोग उत्पन्न हों उन्हें प्राणों द्वारा (मरुतों के द्वारा) दूर करें। आदित्यों का सम्पर्क हमें दुर्गुणों से बचाएगा तथा प्राणों की साधना हमें रोगों से बचाएगी। इस प्रकार हमारा शरीर व मन दोनों ही स्वस्थ होंगे—हम आधि-व्याधिशून्य सुन्दर जीवन बिता पाएँगे।

भावार्थ—हम आदित्यों व मरुतों द्वारा आधि-व्याधि से ऊपर उठ जाएँ।

सूक्त–२४

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—द्विपदाविराट् ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

१११३. प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते ॥ १ ॥

४४६ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—द्विपदाविराट् ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

१११४. अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आ स्तोभति श्रुतो युवा स इन्द्रः ॥ २ ॥

४४५ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—द्विपदाविराट् ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

१११५. उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र ॥ ३ ॥

४४४ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

इति सप्तमोऽध्यायः, चतुर्थप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

अथाष्टमोऽध्याय:

चतुर्थप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—वृषगणो वसिष्ठः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

१११६. प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति ।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् ॥ १ ॥

५२४ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—वृषगणो वसिष्ठः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

हंस तृपल व वृषगण

१११७. प्र हंसासस्तृपला वग्नुमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः ।
अङ्गोषिणं पवमानं सखायो दुर्मर्षं वाणं प्र वदन्ति साकम् ॥ २ ॥

वग्नुम्=सृष्टि के प्रारम्भ में सब विद्याओं का हृदयस्थ रूपेण उच्चारण करनेवाले, वर्त्तमान में भी आत्मा में अन्त:स्थित होते हुए उसे सत्यासत्य के लिए प्रवृत्ति-निवृत्ति की प्रेरणा देनेवाले **अस्तम्**=सबके शरणभूत प्रभु की **अच्छ**=ओर **अमात्**=बल के दृष्टिकोण से **प्र अयासुः**=प्रकर्षेण जाते हैं। कौन ? १. **हंसासः**=हंस के समान नीरक्षीर का विवेक करके सत्य का ग्रहण व असत्य का त्याग करनेवाले—(घ्नन्ति हिंसन्ति पाप्मानं इति हंसाः) पापों का नाश करनेवाले और इस प्रकार (घ्नन्ति गच्छन्ति सुकृतम्) शुभ की ओर चलनेवाले, २. **तृपलाः**=(तृपं लुनाति इति तृपलः; तृप=restless अशान्त) अपने अन्दर अशान्ति को समाप्त करनेवाले—शान्त जीवन बितानेवाले, अर्थात् राजस् प्रवृत्तियों से ऊपर उठे हुए सात्त्विक लोग, ३. **वृषगणाः**=सदा वृष=धर्म का विचार करनेवाले। ये 'हंस, तृपल व वृषगण' उस प्रभु की ओर चलने का प्रयत्न करते हैं जो प्रभु 'वग्नु' हैं—वेदज्ञान देनेवाले हैं और 'अस्तम्'=सबके गृहरूप हैं। इस प्रभु की शरण में जाने से ही (अमात्) शक्ति प्राप्त होती है।

ये 'हंस-तृपल व वृषगण' **सखायः**=परस्पर मित्रभाव से समान ज्ञान की चर्चा करनेवाले (समानं चेष्टते इति सखा), **साकम्**=मिलकर **प्रवदन्ति**=उस प्रभु का ही प्रवचन करते हैं, जो प्रभु १. **अंगोषिणम्**=(आंगूष इति पदनाम—नि० ४.२) सब विद्वानों के आधारभूत हैं अथवा (आंगूषः स्तोम—नि० ५.११) समन्तात् स्तुति करने योग्य हैं, २. **पवमानम्**=जो निरन्तर पवित्र बनाते हैं—प्रभु का स्तवन करने से हमारे हृदयों में पवित्रता का संचार होता है, ३. **दुर्धर्षम्**=जो प्रभु असह्य तेजवाले हैं—अपने असह्य तेज से बुराइयों को कुचल रहे हैं और ४. **वाणम्**=सब विद्याओं का उपदेश (वण to sound) देनेवाले हैं। इस प्रभु का मिलकर विचार व उच्चारण करने से ही हमारा जीवन पवित्र बनता है।

भावार्थ—हम 'हंस, तृपल व वृषगण' बनकर प्रभु का ध्यान करें और परस्पर मिलने पर प्रभु का ही विचार करें।

ऋषिः—वृषगणो वसिष्ठः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उस प्रभु का अद्भुत कार्य

११९८. स योजत उरुगायस्य जूतिं वृथा क्रीडन्तं मिमते न गावः।
परीणसं कृणुते तिग्मशृङ्गो दिवा हरिर्ददृशे नक्तमृज्रः ॥ ३ ॥

१. **सः**=प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वृषगण' **उरुगायस्य**=उस बहुत यशवाले प्रभु की **जूतिम्**=गति को **योजते**=अपने जीवन में जोड़ता है। 'वृषगण'=धर्म का चिन्तन करनेवाला व्यक्ति प्रभु का गायन करता है और प्रभु के गुणों को अपने जीवन में धारण करने का प्रयत्न करता है। २. यह अनुभव करता है कि **वृथा क्रीडन्तम्**=उस अनायास सृष्टि के निर्माण, धारण व प्रलयरूप क्रीड़ा को करते हुए उस प्रभु को **गावः न मिमते**=वाणियाँ नहीं माप सकतीं, अर्थात् शब्दों से उस प्रभु की महिमा का वर्णन सम्भव नहीं। **तिग्मशृङ्गः**=यह तीक्ष्ण तेजवाला प्रभु **परीणसं कृणुते**=तो खूब ही, (परीणसं इति बहुनाम—नि० ३.१.६) करता है कि **दिवानक्तम्**=दिन-रात वह **हरिः**=अन्धकार का हरण तथा **ऋज्रः**=(ऋजि भर्जने) पापों का दहन करता हुआ **ददृशे**=दीखता है। उस प्रभु का सर्वमहान्, अद्भुत कार्य यही है कि वे वृषगणों के अन्धकार को दूर कर रहे हैं और पापों का भर्जन कर रहे हैं। उस प्रभु का दर्शन-चिन्तन हमारे पापों का नाश करनेवाला है।

भावार्थ—१. हम प्रभु की क्रियाओं को अपने साथ जोड़ें—उन्हीं की भाँति दया व न्याय करनेवाले बनें। २. वे प्रभु हमारे अन्धकार को दूर करेंगे और हमारे पापों का दहन कर देंगे।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'असित, कश्यप, देवल'

११९९. प्र स्वानासो रथाइवार्वन्तो न श्रवस्यवः। सोमासो राये अक्रमुः ॥ ४ ॥

स्वानासः=सदा प्रभु के गुणों का उच्चारण करनेवाले, अतएव 'अ-सित'=संसार के प्रलोभनों में न फँसनेवाले, **श्रवस्यवः**=ज्ञान की कामनावाले, अतएव 'काश्यप'=ज्ञानी—तत्त्वदर्शी बननेवाले, **सोमासः**=सोम के पुञ्ज तथा विनीत, अतएव 'देवल'=दिव्य गुणों का आदान करनेवाले **रथाः इव**=गतिशील रथों के समान आगे और आगे बढ़नेवाले तथा **अर्वन्तः न**=मार्ग की सब बाधाओं को समाप्त कर आगे बढ़ते हुए (अर्व हिंसायाम्) घोड़ों के समान ये प्रभुभक्त **राये**=ज्ञानरूप परमैश्वर्य की प्राप्त के लिए **प्र अक्रमुः**=पराक्रम करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के गुणों का उच्चारण हमें 'अ-सित' बनाएगा, ज्ञान की कामना हमें 'काश्यप' बनाएगी और सौम्यता से हम 'देवल' बनेंगे। ऐसा बनने से ही हम वास्तविक सम्पत्ति को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

जीवन का चित्र

११२०. हिन्वानासो रथाइव दधन्विरे गभस्त्योः। भरासः कारिणामिव ॥ ५ ॥

१. ये 'अ-सित' (विषयों से अबद्ध पुरुष) **हिन्वानासः**=प्रेर्यमाण—आगे और आगे चलते हुए **रथाः इव**=रथों के समान हैं। जैसे सारथि से प्रेरित रथ आगे बढ़ता चलता है, उसी प्रकार यह असित अन्तःस्थित प्रभु से प्रेरित होता हुआ आगे बढ़ता चलता है। २. ये 'काश्यप' **गभस्त्योः**=सूर्य व चन्द्र-किरणों के समान ज्ञान-विज्ञान की किरणों में **दधन्विरे**=स्थापित होते हैं। अपने ज्ञान को उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए ये ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान होते हैं। ३. ये 'देवल' **कारिणाम् इव**=कलाकारों की भाँति **भरासः**=अपने अन्दर उत्तम गुणों को भरनेवाले होते हैं। एक कलाकार अपनी कला में—अपने से बनाये जाते हुए चित्र में विचित्र रंगों को भरता है, उसी प्रकार यह देवल अपने जीवन-चित्र में विविध गुणरूप रंगों को भरता है। कलाकार चित्र को सुन्दर बनाता है—यह देवल अपने जीवन के चित्र को सुन्दर बनाता है।

भावार्थ—हम आगे बढ़ें, ज्ञान-किरणों में धारित हों, जीवन-चित्र में गुणों के रंगों को भरें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

विनीत व ज्ञानी

११२१. राजानो न प्रशस्तिभिः सोमासो गोभिरञ्जते । यज्ञो न सप्त धातृभिः ॥ ६ ॥

राजानः न=राजा लोग जैसे (न=इव) **प्रशस्तिभिः**=शास्त्रीय नियमों (Rules for guidance) से **अञ्जते**=अपने को अलंकृत करते हैं **यज्ञः न**=जैसे यज्ञ सप्त धातृभिः=सप्तर्षियों से अलंकृत होता है, उसी प्रकार **सोमासः**=विनीत पुरुष **गोभिः**=वेदवाणियों से **अञ्जते**=अपने को अलंकृत करते हैं।

राजा का अपना एक विशेष महत्त्व है, परन्तु यदि यह शास्त्र में वर्णित नियमों के अनुसार अपना जीवन बनाता है तो उसकी विशेष ही शोभा होती है। ठीक इसी प्रकार यज्ञ स्वयं बड़ी पवित्र वस्तु है, परन्तु यदि वहाँ सप्तर्षियों की—सातों विद्वान् पुरुषों की उपस्थिति हो तो उस यज्ञ का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। इसी प्रकार सोम=विनीत पुरुष उत्तम जीवनवाला है ही। जब वह वेदवाणियों को अपना लेता है तब उसके जीवन में और अधिक सौन्दर्य आ जाता है।

भावार्थ—धनी होते हुए हमारा जीवन शास्त्रविधि के अनुकूल हो। विनीत होते हुए हम वेदवाणियों से जीवन को अलंकृत करें। विद्वानों की उपस्थिति से हमारे यज्ञों की शोभा बढ़े।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

परि-व्रजन

११२२. परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा । मधो अर्षन्ति धारया ॥ ७ ॥

स्वानासः=प्रभु के गुणों का उच्चारण करनेवाले **इन्दवः**=शक्तिशाली अथवा ज्ञानैश्वर्य से परिपूर्ण विद्वान् लोग **मदाय**=आनन्द की वृद्धि के लिए **बर्हणा गिरा**=वृद्धि की कारणभूत इस वेदवाणी के साथ **मधोः धारया**=शहद की वाणी से, अर्थात् अत्यन्त मधुरवाणी से **परि अर्षन्ति**=सर्वत्र—चारों ओर गति करते हैं।

१. परिव्राट् लोग प्रभु के गुणों का उच्चारण करते हैं, २. उनके पास ज्ञान का महान् ऐश्वर्य होता है, ३. इस ज्ञान के प्रचार में वे हर्ष का अनुभव करते हैं, ४. वृद्धि के कारणभूत ज्ञान को फैलाते हैं, ५. उनकी वाणी शहद से भी मीठी होती है।

भावार्थ—हम भक्त व ज्ञानी बनकर मधुरवाणी से ज्ञान का प्रचार करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सूर्य व उषा का ऐश्वर्य

११२३. आपानासो विवस्वतो जिन्वन्त उषसो भगम्। सूरा अण्वं वि तन्वते ॥ ८ ॥

आपानासः=सोम का सर्वथा पान करनेवाले, अर्थात् सोम को सर्वथा शरीर में ही व्याप्त करनेवाले **सूराः**=विद्वान् लोग **विवस्वतः**=सूर्य के और **उषसः**=उषा के **भगम्**=ऐश्वर्य को **जिन्वन्तः**=अपने अन्दर प्रेरित करते हुए **अण्वम्**=सूक्ष्म बौद्धिक व आत्मिक शक्तियों को **वितन्वते**=विस्तृत करते हैं।

१. सोमपान से—वीर्यशक्ति को शरीर में ही सुरक्षित रखने से शरीर तो सुदृढ़ बनता ही है, इन्द्रियों की शक्ति के विकास के साथ बुद्धि भी सूक्ष्म बनती है और उस सूक्ष्म बुद्धि से आत्मतत्त्व का दर्शन होता है। एवं, सोमपान करनेवाले लोग बौद्धिक व आत्मिक शक्तियों का विकास करते हैं। २. ये अपने अन्दर सूर्य के ऐश्वर्य को प्रेरित करते हैं, अर्थात् प्राणशक्ति को बढ़ाते हैं। '**प्राणः प्रजानामुदयत्येषः सूर्यः**', यह सूर्य क्या उदय होता है, यह तो प्रजाओं का प्राण ही है। ३. उषा का ऐश्वर्य अन्धकार का दहन (उष+दाहे) है। यह तम को दूर करती है। एवं, सोमपान से मानस अन्धकार दूर होकर राग-द्वेषादि दूर हो जाते हैं।

भावार्थ—सोमपान से प्राणाशक्ति बढ़ती है, मानस राग-द्वेषादि दूर होते हैं, बौद्धिक व आत्मिक शक्तियों का विकास होता है।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

बुद्धि के द्वारों का उद्घाटन

११२४. अप द्वारा मतीनां प्रत्ना ऋण्वन्ति कारवः। वृष्णो हरस आयवः ॥ ९ ॥

प्रत्नाः=प्रथमाश्रम में विद्या का अध्ययन करनेवाले (ऋ० ६.२.४—द०) अथवा प्रत्न=पतन=अपनी शक्तियों का खूब विस्तार करनेवाले **कारवः**=(कारुः शिल्पिनि कारके) प्रत्येक कार्य को बड़े कलापूर्ण ढंग से करनेवाले **आयवः**=(एति) गतिशील मनुष्य **वृष्णः**=शक्तिशाली, सब सुखों की वर्षा करनेवाले प्रभु को **हरसे**=प्राप्त करने के लिए **मतीनाम्**=बुद्धियों के **द्वारा**=द्वारों को **अप ऋण्वन्ति**=खोल देते हैं। वस्तुतः बुद्धि के विकास से ही प्रभु का दर्शन होता है। सूक्ष्म बुद्धि से ही आत्मा का ग्रहण होता है।

बुद्धि के विकास के लिए आवश्यक है कि १. हम प्रथमाश्रम में विद्या का खूब अध्ययन करें और शक्तियों का विकास करें, २. साथ ही प्रत्येक कार्य को सौन्दर्य से करने का अभ्यास करें, ३. क्रियाशील जीवनवाले होकर बुद्धि का विकास करेंगे तो अवश्य प्रभु का दर्शन करेंगे।

भावार्थ—हम बुद्धि के द्वारों को खोलें और प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

समीचीन, होता, सप्तजानि

११२५. समीचीनास आशत होतारः सप्तजानयः। पदमेकस्य पिप्रतः ॥ १० ॥

एकस्य=उस अद्वैत (स एक एकवृदेक एव) **पिप्रतः**=सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त प्रभु के **पदम्**=स्थान को **आशत**=प्राप्त करते हैं। कौन? १. **समीचीनासः**=(सम् अञ्च्) उत्तम गतिवाले=प्रत्येक कार्य

को सदा सद्भाव से सम्यक्तया करनेवाले, ३. **होतारः**=दान देनेवाले—दानपूर्वक अदन करनेवाले, यज्ञशेष खानेवाले ३. **सप्तजानयः**=पाँच इन्द्रियशक्तियाँ तथा मन और बुद्धि जिनकी जाया के समान हैं। पत्नी शक्ति का प्रतीक समझी जाती हैं, जैसे इन्द्राणी इन्द्र की शक्ति है। इसी प्रकार प्रभु के पद को वे पाते हैं, जो इन इन्द्रियों, मन व बुद्धि की शक्ति से युक्त हैं।

भावार्थ—उत्तम गतिवाले, दाता, सातों शक्तियों का विकास करनेवाले प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

कवि के अपत्य का दोहन

११२६. नाभा नाभिं न आ ददे चक्षुषा सूर्यं दृशे। कवेरपत्यमा दुहे॥ ११॥

१. ब्रह्माण्ड के सारे पदार्थ उस प्रभु में इसी प्रकार पिरोये हुए हैं जैसे सूत्र में मणिगण। इसी से उस प्रभु को 'नाभि' कहा गया है—उस प्रभु ने सारे लोकों को अपने में बाँधा हुआ है (नह बन्धने)। **नः नाभिम्**=हम सबको अपने में बाँधनेवाले उस बन्धुभूत प्रभु को **नाभा**=अपने शरीर के केन्द्रभूत हृदय में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। हृदय में सब नाड़ियाँ केन्द्रित हैं, अतः वह नाभिस्थान है। २. **चक्षुषा**= ज्ञानचक्षु से **सूर्यम्**=सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले उस प्रभु को **दृशे**=देखने के लिए मैं **कवेः**=उस अजरामर कवि परमात्मा के **अपत्यम्**=सन्तानरूप इस वेदकाव्य को **आदुहे**=अपने में पूर्णरूप से दूहता हूँ, अर्थात् वेदज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। प्रभु की रचना होने से वेद प्रभु का पुत्र-सा है। उसके अध्ययन से मेरी बुद्धि शुद्ध होती है (बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति) और मैं अपने ज्ञानचक्षुओं से प्रभु का दर्शन कर पाता हूँ, इसीलिए उसका हृदय में चिन्तन भी करता हूँ (नाभौ आददे)।

एवं, प्रभु-दर्शन के दो ही उपाय हैं—१. वेद के दोहन से मस्तिष्क का विकास, २. हृदय में प्रभु का चिन्तन। इस प्रकार मस्तिष्क और हृदयरूप अग्नियों को मिलाकर ही हम प्रभुरूप अग्नि का दर्शन कर पाएँगे।

भावार्थ—हम हृदय में प्रभु का चिन्तन करें—मस्तिष्क को वेदज्ञान से पूर्ण करें, तभी प्रभु का दर्शन कर पाएँगे।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सूर का 'सूर्य' दर्शन

११२७. अभि प्रियं दिवस्पदमध्वर्युभिर्गुहा हितम्। सूरः पश्यति चक्षसा॥ १२॥

सूरः=विद्वान् **चक्षसा**=ज्ञान की दृष्टि से **अभिपश्यति**=अन्दर और बाहर देखता हुआ अनुभव करता है कि '**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**' वे प्रभु इस शरीर के अन्दर भी हैं और ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों में भी हैं। उनकी महिमा शरीर में भी अनुभव होती है और सूर्य-चन्द्र-नक्षत्रादि में भी। किस प्रभु की? १. **प्रियम्**=जो प्रभु तृप्त करनेवाले हैं और अत्यन्त कान्ति-सम्पन्न हैं। संसार का कोई भी पदार्थ अनन्त तृप्ति नहीं दे पाता। प्रभु का दर्शन ही उस अविनश्वर तृप्ति का देनेवाला है, २. **दिवस्पदम्**=वे प्रभु सम्पूर्ण ज्योति का आधार है। सूर्यादि उसी की ज्योति से चमक रहे हैं, ३. **अध्वर्युभिः**=हिंसारहित जीवनवाले लोगों से वह प्रभु **गुहा हितम्**=बुद्धिरूपी गुहा में निहित होते हैं। हम अपना जीवन हिंसाशून्य बनाते हैं तो हमारी बुद्धि निर्मल होकर प्रभु का आभास पाती है।

भावार्थ—प्रभु का दर्शन ज्ञानी ही करता है।

सूक्त-२

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ऋत के मार्ग से

११२८. असृग्रमिन्दवः पथा धर्मन्नृतस्य सुश्रियः। विदाना अस्य योजना ॥ १ ॥

इन्दवः=इन्दु=सोम (इन्द् to be powerful) सोम का, शक्ति का शरीर में ही व्यापन करके शक्तिशाली बननेवाले **सुश्रियः**=उत्तम श्रीसम्पन्न व्यक्ति **अस्य**=इस प्रभु की **योजना**=योजनाओं को **विदानाः**=जानते हुए **ऋतस्य पथा**=ऋत के, सत्य के मार्ग से **धर्मन्**=(धर्माणि) धर्म-कर्मों को **असृग्रम्**=करते हैं (सृजन्ति)।

१. ऋत के मार्ग से चलना चाहिए। असत् को छोड़कर सत् को अपनाना चाहिए। ऋत के मार्ग से चलते हुए सदा सत्कर्मों को ही करना चाहिए। २. सत्कर्मों में प्रवृत्ति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—(क) सोम का पान करके शक्तिशाली बनना, (ख) उत्तम श्रीयुक्त—धन-सम्पन्न होना, (ग) प्रभु की योजनाओं को समझना। जितना-जितना हम इन योजनाओं को समझेंगे उतना-उतना ही कर्मों को ठीक प्रकार से करनेवाले होंगे। इस प्रकार संक्षेप से सत्कर्मों में प्रवृत्ति के लिए 'शक्ति, धन व ज्ञान' तीनों आवश्यक हैं।

भावार्थ—'शक्ति, धन व ज्ञान' से युक्त होकर हम ऋत के मार्ग से धर्म-कर्मों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मधुर वाणी महनीय कर्म

११२९. प्र धारा मधो अग्रियो महीरपो वि गाहते। हविर्हविःषु वन्द्यः ॥ २ ॥

अग्रियः=गुणों में सबसे प्रथम (उत्कृष्ट), सत्त्वगुण में वर्त्तमान होता हुआ, अर्थात् नित्यसत्त्वस्थ होता हुआ, **हविः**=(हु दानादनयोः)=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला **हविःषु वन्द्यः**=त्यागियों में भी वन्दनीय, अर्थात् उत्तम त्यागशील व्यक्ति **मधोः धाराः**=मधु की वाणियों का अत्यन्त मधुर शब्दों का तथा **महीः अपः**=महनीय कर्मों का **प्रविगाहते**=प्रकर्षेण अवगाहन करता है, अर्थात् सात्त्विक व त्यागशील पुरुष मधुर वाणी का प्रयोग करता हुआ सदा उत्तम कर्मों को करनेवाला होता है।

सात्त्विक भोजन के प्रयोग से हम अपनी अन्तःकरण की वृत्ति को सात्त्विक बनाएँ। अपने जीवन को त्यागमय बनाएँ, धन की अस्थिरता के चिन्तन से हम धन के प्रति आसक्त न हों और अपने व्यावहारिक जीवन में कभी कड़वी वाणी का प्रयोग न करें, सदा महनीय कर्मों को ही करनेवाले बनें।

भावार्थ—सात्त्विकता व त्यागवृत्ति को अपनाकर हम मधुरवाणी ही बोलें तथा प्रशंसनीय कर्मों को ही करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

घर की ओर

११३०. प्र युजा वाचो अग्रियो वृषो अचिक्रदद्वने। सद्माभि सत्यो अध्वरः ॥ ३ ॥

१. **अग्रियः**=सत्त्वगुण में अवस्थित, २. **वृषः**=सदा धर्म के कर्मों में लगा हुआ, ३. **अध्वरः**=हिंसारहित यज्ञिय मनोवृत्तिवाला पुरुष, **सत्यः**=सत्याचरण करनेवाला ४. **युजा**=निरुद्ध चित्तवृत्ति को प्रभु में लगाने के द्वारा, ५, **वने**=उस उपासनीय प्रभु के स्तवन में (सम्भजन में) **वाचः**=स्तुतिवचनों को **प्र अचिक्रदत्**= खूब ही उच्चारण करता है और इसी का परिणाम होता है कि ६. **सद्म अभि**=वह अपने घर की ओर बढ़ता चलता है।

हमारा वास्तविक घर तो ब्रह्मलोक ही है। हम वहाँ से भटककर इस मर्त्यलोक में विचर रहे हैं। उस घर की ओर जाने के लिए हमें कुछ पग उठाने होंगे। प्रस्तुत मन्त्र में उन्हीं पगों का वर्णन है।

१. तमोगुण में रहते हुए तो नाममात्र भी आगे बढ़ना सम्भव नहीं, वहाँ तो प्रमाद, आलस्य व निद्रा का प्राबल्य है। रजोगुण से हम इस संसार में और अधिक आसक्त हो जाते हैं। सत्त्वगुण ही हमें अपने घर की ओर ले-चलता है। २. सात्त्विक पुरुष अधर्म को छोड़कर धर्म को अपनाता है। अर्धम बोझल है, वह हमें ऊपर न उठने देगा। ३. धर्म का सर्वोत्तम रूप सत्य ही है, इसी से तो हम सत्य=ब्रह्म को अपना पाएँगे। ४. इस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए सत्य को अपनाता हुआ यह व्यक्ति भूतहित में प्रवृत्त होता है, ५. इस वृत्तिवाला पुरुष मनोनिरोध के द्वारा, ६. प्रभु की ओर चलता है।

भावार्थ—हम सत्त्वगुण में अवस्थित होकर प्रभु की ओर चलें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मोक्ष का मार्ग

११३१. परि यत्काव्या कविर्नृम्णा पुनानो अर्षति। स्ववार्जी सिषासति ॥ ४ ॥

यत्=जब यह 'असित् काश्यप, देवल' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि १. **कविः**=क्रान्तदर्शी बनता है। सब वस्तुओं के तत्त्व को समझने का प्रयत्न करता है, २. **नृम्णा**=धनों को **पुनानः**=पवित्र करता है। प्रत्येक बात को तात्त्विक दृष्टि से सोचनेवाला व्यक्ति अपवित्र साधनों से धन कमाएगा ही नहीं। ३. यह **काव्या**=वेदज्ञानों को **परि अर्षति**=पूर्णरूप से प्राप्त होता है। तात्त्विक दृष्टिवाला व्यक्ति ज्ञान-प्रधान जीवन बिताता ही है। ४. ज्ञान-प्रधान जीवन बिताता हुआ यह **वाजी**=शक्तिशाली व क्रियाशील बनता है (वाज=शक्ति, वज गतौ)। ५. यह व्यक्ति वस्तुतः **स्वः**=अपने मोक्षसुख को भी **सिषासति**= बाँटना चाहता है। स्वयं अकेला मुक्त भी नहीं होना चाहता।

भावार्थ—मुक्ति का मार्ग यही है कि मनुष्य—१. कवि=क्रान्तदर्शी बने, २. पवित्र धनवाला हो, ३. वेदज्ञान को प्राप्त करे, ४. शक्तिशाली व क्रियाशील हो, ५. सभी को सुख प्राप्त कराना चाहे।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु क्या करते हैं?

११३२. पवमानो अभि स्पृधो विशो राजेव सीदति। यदीमृण्वन्ति वेधसः ॥ ५ ॥

यत् ईम्=वस्तुतः जब **वेधसः**=ज्ञानी लोग **ऋण्वन्ति**=प्रभु को प्राप्त करते हैं तब **पवमानः**=वे पवित्र करनेवाले प्रभु **स्पृधः**=(स्पर्ध संघर्षे) हमारे साथ संघर्ष करनेवाले **विशः**=हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर प्रवेश कर जानेवाले काम-क्रोध आदि को **अभिसीदति**=(अभिषादयति) नष्ट कर देते हैं। हम प्रभु की शरण में जाते हैं और प्रभु हमारे इन शत्रुओं को नष्ट कर देते हैं। प्रभु की शक्ति के बिना हम इन शत्रुओं को जीत ही कहाँ सकते थे? हमारे साथ स्पर्धा में तो ये हमारे अन्दर

घुस ही आते हैं। प्रभु हमारे साथ होते हैं तो ये हमपर आक्रमण नहीं कर पाते। आक्रमण करते हैं तो पराजित होते हैं। **इव**=उसी प्रकार जैसे **राजा**=एक राजा विद्रोहियों को दबा देते हैं। ये प्रभु भी मेरे विरोधियों को कुचल देते हैं।

भावार्थ—मैं प्रभु को प्राप्त करता हूँ—प्रभु मेरे शत्रुओं को शान्त करते हैं।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु का आसन=हृदय

११३३. अव्या वारे परि प्रियो हरिर्वनेषु सीदति। रेभो वनुष्यते मती॥ ६॥

१. गड़रियों को जैसे अपनी भेड़ें प्रिय होती हैं, इसी प्रकार वे प्रभु भी **अव्याः वारे**=भेड़ों=प्राणिमात्र के इस झुण्ड में (अवि=an ewe, वार=flock) **परि प्रियः**=सब ओर प्रेमवाले हैं। प्रभु किस प्राणी से प्रेम नहीं करते? २. **हरिः**=ये दुःखों को हरनेवाले प्रभु **वनेषु**=उपासकों में—भक्तों में **सीदति**=विराजमान होते हैं। सर्वव्यापकता के नाते सबमें निवास करते हैं, ३. **रेभः**=ये स्तोता ही **मती**=(मत्या) बुद्धि के द्वारा उस प्रभु को **वनुष्यते**=प्राप्त करता है। जैसे रूप का ग्रहण आँख से होता है, शब्द का श्रोत्र से, इसी प्रकार प्रभु का ग्रहण बुद्धि से होता है (दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या), क्योंकि यह स्तोता भक्त ही प्रभु का ग्रहण करता है, अतः प्रभु इसी के हृदय में विराजमान होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रिय भेड़ें हों। हम भक्त बनें, जिससे हमारा हृदय प्रभु का आसन बने।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु को कौन प्राप्त करता है?

११३४. स वायुमिन्द्रमश्विना साकं मदेन गच्छति। रणा यो अस्य धर्मणा॥ ७॥

सः=वह व्यक्ति **यः**=जो **अस्य**=प्रभु के **धर्मणा**=कर्मों से **रणा**=रमण करता है—आनन्द का अनुभव करता है, अर्थात् प्रभु-प्राप्ति के लिए हितकर कर्मों में ही आनन्द लेता है, **वायुम्**=(वा गतौ) स्वभावतः क्रियावाले और सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अश्विना**=प्राणापानों के द्वारा, अर्थात् प्राण-साधना के द्वारा **मदेन साकम्**=सदा उल्लास के साथ जीवन-यापन करता हुआ **गच्छति**=प्राप्त होता है।

प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यह है कि हम १. प्रभु से उपदिष्ट कर्मों में रमण करें—आत्मकि उन्नति के लिए किये जानेवाले कर्मों में हमारी रुचि हो, २. प्राणापान की साधना का हम ध्यान करें, ३. जीवन में सदा उल्लासमय रहने का प्रयत्न करें।

प्रभु वायु हैं—हमें गति देनेवाले हैं और वे प्रभु 'इन्द्र' हैं—परमैश्वर्यवाले हैं। 'वायुमिन्द्रम्' शब्दों का यह क्रम संकेत करता है कि गतिशीलता ही ऐश्वर्य-प्राप्ति का साधन है।

भावार्थ—१. हम प्रभु-प्राप्ति के साधनभूत कर्मों में आनन्द लें, २. प्राण-साधना करें, ३. सदा जीवन को उल्लासमय बनाने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मित्र, वरुण और भग

११३५. आ मित्रे वरुणे भगे मधोः पवन्त ऊर्मयः। विदाना अस्य शक्मभिः॥ ८॥

१. **मित्रे**=(क) सबके साथ स्नेह करनेवाले में अथवा (ख) प्रमीतेः त्रायते, अपने को पापों से बचानेवाले में, २. **वरुणे**=(क) वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः, अपने को श्रेष्ठ बनानेवाले में अथवा, (ख) वारयति—काम-क्रोधादि का निवारण करनेवाले में, ३. **भगे**=(क) भजते—प्रभु की उपासना करनेवाले में, (ख) अथवा धर्मकार्यों का सेवन करनेवाले में (ऋ० १.१३६.६ द०) **मधोः**=सोम की, वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है, अर्थात् सोम की शक्ति की **ऊर्मयः**=तरंगें **आपवन्ते**=समन्तात् गति करती हैं। वस्तुतः 'राग-द्वेष, पापकर्मों में फँसना, श्रेष्ठ बनने का ऊँचा लक्ष्य न होना, काम-क्रोधादि का शिकार होते रहना, प्रभु की ओर न झुककर पार्थिव भोगों की वृत्तिवाला होना, धर्मकार्यों में न लगना' ये सब ऐसी बातें हैं जो वीर्य की रक्षा में सहायक नहीं होती। ये 'शोक, मोह, क्रोध' सभी ब्रह्मचारी के लिए इसी दृष्टिकोण से वर्जित हैं। 'मित्रे वरुणे' का अर्थ 'प्राणापान की साधना करनेवाले में' यह भी है। प्राणापान की साधना भी वीर्य-रक्षा का महान् साधन है। **अस्य**=इस सुरक्षित सोम की **शक्मभिः**=शक्तियों से ये 'मित्र, वरुण और भग' **विदानाः**=ज्ञानी बनते हैं। सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन है।

भावार्थ—हम मित्र, वरुण और भग बनकर सोम की ऊर्ध्वगतिवाले हों और इस सोम की शक्ति से अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

रयि, श्रव, वसु

११३६. अस्मभ्यं रोदसी रयिं मध्वो वाजस्य सातये। श्रवो वसूनि सञ्जितम्॥ ९॥

अस्मभ्यम्=हमारे लिए **रोदसी**=द्युलोक और पृथिवीलोक, अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड **मध्वः**=आनन्द की तथा **वाजस्य**=शक्ति की **सातये**=प्राप्ति के लिए **रयिम्**=धन को **श्रवः**=ज्ञान को तथा **वसूनि**=निवास के लिए जीवनोपयोगी वस्तुओं को **सञ्जितम्**=विजय करे।

सारा संसार हमारे लिए इस प्रकार अनुकूलतावाला हो कि हम 'आनन्द और शक्ति' का लाभ कर सकें। इसी उद्देश्य से हम उचित धन, ज्ञान व अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं को जुटाएँ। इनके बिना आनन्द व शक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

भावार्थ—रयि, श्रव व वसु के द्वारा हम मधु व वाज का लाभ करें।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

११३७. आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे। पान्तमा पुरुस्पृहम्॥ १०॥

४९८ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोम का वरण

११३८. आ मन्द्रमा वरेण्यमा विप्रमा मनीषिणम्। पान्तमा पुरुस्पृहम्॥ ११॥

हे प्रभो! हम आपके इस सोम का वरण करते हैं जो—१. **आमन्द्रम्**=हमें सर्वथा आनन्दमय जीवनवाला बनाता है। २. **आवरेण्यम्**=जो सोम सर्वथा वरणीय है। हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य सोम की रक्षा ही होना चाहिए। ३. **आविप्रम्**=जो शरीर को समन्तात्, विशेषरूप से पूर्ण

करनेवाला है। सब रोगकृमियों को समाप्त करके शरीर को नीरोग बना देता है, मन में से भी द्वेषादि की भावनाओं को दूर करनेवाला है। ४. **आमनीषिणम्**=यह हमें सब विज्ञानों में विद्वान्, ज्ञानी बनाता है, ५. **आपान्तम्**=हमारी सर्वथा रक्षा करता है, ६. **पुरुस्पृहम्**=महान् स्पृहा (उच्च अभिलाषा) को जन्म देता है। यह उच्च अभिलाषा हमारी उन्नति का कारण बनती है।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में ही सुरक्षित करते हैं तो यह हमारे जीवन को आनन्दमय बनाता है और हममें उच्च अभिलाषा को जन्म देता है।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

रक्षा व उच्च अभिलाषा

११३९. आ रयिमा सुचेतुनमा सुक्रतो तनूष्वा। पान्तमा पुरुस्पृहम्॥ १२॥

१. हे **सुक्रतो**=शोभनज्ञान प्रभो! हम आपके उस सोम का **आवृणीमहे**=वरण करते हैं जो **रयिम्**=वस्तुतः शरीर का धन है। इसके होने से ही शरीर है, इसके अभाव में शरीर भी नहीं है। २. **सुचेतुनम्**=जो हमारे ज्ञान को उत्तम करनेवाला है, बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है, **पान्तम्**=हमारी रक्षा करता है, हमारे मनों पर आसुर वृत्तियों का उसी प्रकार आक्रमण नहीं होने देता जैसे शरीर पर रोगों का। ४. **पुरुस्पृहम्**=यह सोम सचमुच महान् स्पृहा को जन्म देकर हमें महान् बनाता है। हे प्रभो! हम इस सोम को **तनूषु**=अपने शरीरों में **आवृणीमहे**=वरते हैं। 'तनू' का अर्थ सन्तति लें तो अर्थ यह होगा कि इसे हम अपनी सन्तानों के लिए भी वरते हैं।

भावार्थ—सोम ही वास्तविक शरीर-धन है।

सूक्त-३

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः॥ देवता—वैश्वानरः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

११४०. मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः॥ १॥

मन्त्र संख्या ६७ पर इसका अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः॥ देवता—वैश्वानरः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ब्रह्मचारी का गृहस्थ-प्रवेश

११४१. त्वां विश्वे अमृत जायमानं शिशुं न देवा अभि सं नवन्ते।
तव क्रतुभिरमृतत्वमायन् वैश्वानर यत्पित्रोरदीदेः॥ २॥

ब्रह्मचारी आचार्यकुल में प्रविष्ट होते हैं और आचार्य-गर्भ में रहकर उचित विकास प्राप्त करके फिर बाहर आते हैं, उस दिन बड़े-बड़े विद्वान् उसे देखने के लिए उपस्थित होते हैं। **विश्वे देवाः**=सब देव **शिशुं न जायमानम्**=शिशु के समान उत्पन्न होते हुए **त्वाम्**=तुझे **अभिसंनवन्ते**=लक्ष्य करके प्राप्त होते हैं (अभिसंनवन्ते=अभिसंयन्ति)। आचार्य प्रयत्न करता है कि विद्यार्थी का मन वासनाओं से आक्रान्त न हो और इस प्रकार वह 'अ-मृत' बना रहे। ब्रह्मचर्य के द्वारा देव मृत्यु को

जीत लेते हैं। इस ब्रह्मचर्य के कारण इसकी बुद्धि अत्यन्त तीव्र हो जाती है, अतः इसे 'शिशु' कहा गया है 'शो तनूकरणे'=जिसने बुद्धि को सूक्ष्म बनाया है।

हे **अमृत**=मृत्यु को जीतनेवाले ब्रह्मचारिन्! **तव क्रतुभिः**=तेरे प्रज्ञानों व कर्मों से, अर्थात् तेरे द्वारा किये गये ज्ञान के प्रसार से लोग **अमृतत्वम्**=अमरता को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। हे **वैश्वानरः**=(विश्वनर हित) सब लोगों का हित करनेवाले तथा सब लोगों को ('नृ नये') शुभ मार्ग पर ले-चलनेवाले **यत्**=जब तू **पित्रोः**=(ज्ञानप्रदः पिता) ज्ञान देनेवाले माता-पिता के रूप में **अदीदेः**=चमकता है, अर्थात् जब ये ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी आचार्यकुल से बाहर आते हैं और द्वितीयाश्रम में प्रवेश करके माता-पिता के रूप में उज्ज्वल जीवन बिताते हुए क्रियात्मकरूप से ज्योति फैलाते हैं तब इनके इन कर्मों से लोग भी अमरता को प्राप्त होते हैं। वे भी इनके पदचिह्नों पर चलते हुए रोगादि पर विजय पाते हैं।

भावार्थ—विद्यार्थी आचार्यकुल में नीरोगता द्वारा अमर बनने तथा बुद्धि को तीव्र बनाने का प्रयत्न करें। आचार्यकुल से बाहर आकर माता-पिता के रूप में इस प्रकार दीप्त व्यवहारवाले हों कि उनके कर्म सभी के लिए हितकर हों।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पुरुषो वाव यज्ञः

११४२. नाभिं यज्ञानां सदनं रयीणां महामाहावमभि सं नवन्त।
वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवाः ॥ ३ ॥

देवाः=वे माता-पिता व आचार्यरूप देव **जनयन्त**=जन्म देते हैं। किसको?

१. **यज्ञानाम्**=देवपूजा, संगतीकरण व दानरूप धर्मों को **नाभिः**=(णह बन्धने) अपने में बाँधनेवाले को। जो अपने बड़ों का आदर करता है, सबके साथ मिलकर चलता है और दान की वृत्तिवाला है, ऐसे ब्रह्मचारी को ये जन्म देते हैं। २. **रयीणां सदनम्**='वीर्यं वै रयिः, पुष्टं वै रयिः' इन शतपथवाक्यों के अनुसार जो शक्ति व पुष्ट शरीर का घर है। जिसका शरीर शक्ति-सम्पन्न और हृष्ट-पुष्ट है। ३. **महाम्**=(मह पूजायाम्) जो प्रभुपूजा की वृत्तिमाला है। ४. **आहावम्**=(आहाव= निपात) जैसे प्यासे पशु प्यास बुझाने के लिए निपान पर आते हैं, इसी प्रकार ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिए, **अभिसंनवन्ते**=जिसके पास लोग आते हैं। ५. **वैश्वानरम्**=जो लोगों का हित करता है और सबको नेतृत्व देता है। ६. **अध्वराणां रथ्यम्**=हिंसारहित कर्मों के रथी को। जो अपने जीवन में 'सर्वभूतहित' के कर्मों को ही करता है। ७. **यज्ञस्य केतुम्**=जो यज्ञों का प्रकाशक है। स्वयं यज्ञों को करता हुआ औरों में यज्ञिय भावना का प्रसार करता है।

इस प्रकार सात विशेषताओं से सम्पन्न व्यक्ति का निर्माण माता-पिता व आचार्य करते हैं। इन सात विशेषताओं में 'नाभिः यज्ञानाम्' का स्थान प्रथम और 'यज्ञस्य केतुम्' पर इनकी समाप्ति है। शेष सब विशेषताएँ इस यज्ञ में ही समाविष्ट हो जाती है। एवं, यज्ञ है तो सब विशेषताएँ हैं, यज्ञ नहीं है तो कुछ भी नहीं है। इसी बात को ध्यान में रखकर उपनिषद् ने लिखा 'पुरुषो वाव यज्ञः' पुरुष तो है ही 'यज्ञ'। यज्ञमय जीवन ही श्रेष्ठ जीवन है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को यज्ञमय बनाएँ।

सूक्त-४

ऋषिः—यजत आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्राणापान

११४३. प्र वो मित्राय गायत वरुणाय विपा गिरा। महिक्षत्रावृतं बृहत्॥ १ ॥

वैदिक-साहित्य में 'मित्रावरुणौ' शब्द प्राणापान के लिए प्रयुक्त होता है। इनकी साधना करके ही मनुष्य 'मैत्रावरुणि वसिष्ठ' बन पाता है—सर्वोत्तम निवासवाला होता है और वशियों में श्रेष्ठ बनता है। 'मित्र' प्राण का नाम है 'वरुण' अपान का। मित्र=प्रमीतेः त्रायते=रोगों से बचाता है। रोगों से होनेवाली मृत्यु को दूर करता है। शरीर में इसी से प्राणशक्ति का संचार होता है। साथ ही यह मनों में (मिद=स्नेह) पारस्परिक स्नेह की भावना को भरनेवाला है। इस स्नेह की भावना को भरकर यह हमें उस प्रभु के समीप पहुँचाता है। उस प्रभु से मेलवाला व्यक्ति ही 'यजत' (संगतीकरणवाला) है। वरुण (वारयति) बुराइयों से दूर करनेवाला है। यह शरीर से मलों को दूर करता है तो मन से 'काम-क्रोध-लोभ' को दूर करके व्यक्ति को 'आत्रेय' बनाता है। यह 'यजत आत्रेय' कहता है कि हे मित्रो! **वः**=तुम्हारी **मित्राय**=प्राणशक्ति के लिए और **वरुणाय**=अपान शक्ति के लिए, **विपा**=प्रशंसात्मक **गिरा**=वाणी से **प्रगायत**=खूब गायन करो। इनके गुणों को हृदयों में अंकित करने का प्रयत्न करो। ये दोनों **महिक्षत्रौ**=तुम्हारे जीवनों को महनीय बनानेवाले हैं (महि=majestic), शक्तिशाली बनानेवाले हैं और क्षतों से—अक्रमणों से बचानेवाले हैं। इनकी साधना से न तो रोगों का आक्रमण होगा और न ही मानस विकारों का। ये **ऋतम्**=तुम्हारे जीवनों को ठीक करनेवाले हैं (ऋत=right)। इनकी साधना का परिणाम यह होगा कि हमारे जीवन में सब कार्य ठीक समय पर व ठीक स्थान पर होंगे। **बृहत्**=ये तुम्हारी वृद्धि का कारण हैं। इनसे ही सारा शारीरिक व मानसिक विकास होता है।

भावार्थ—हम प्राणापान की साधना करके उत्तम व वृद्धिशील जीवनवाले बनें।

ऋषिः—यजत आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

देवताओं में प्रशस्त

११४४. सम्राजा या घृतयोनी मित्रश्चोभा वरुणश्च। देवा देवेषु प्रशस्ता ॥ २ ॥

ये प्राणापान **सम्राजा**=हमारे जीवनों को बड़ा नियमित (well regulated) बनानेवाले हैं, हमारे शरीरों को तेजस्वी व दीप्त (राज्=दीप्त) करनेवाले हैं। **या**=जो ये **मित्रः च वरुणः च**=प्राण और अपान हैं **उभा**=दोनों **घृतयोनी**=(घृ—१. क्षरण, २. दीप्ति) मानस मलों को दूर करके हमारे मनों को दीप्त बनानेवाले हैं। हमारे मन राग-द्वेषादि के मलों से रहित होकर पवित्रता व प्रकाश से चमक उठते हैं। ये **देवा**=हमें नीरोगता देनेवाले हैं (देवः=दानात्) तथा हमारे मनों को द्योतित करनेवाले हैं (देवः द्योतनात्)। ये प्राणापान शरीर में रहनेवाले देवेषु=सब देवों में (सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते) प्रशस्त व प्रशंसनीय हैं।

भावार्थ—प्राणापान ही सब देवताओं में श्रेष्ठ हैं। इनकी साधना ही हमें तेजस्वी शरीरवाला व द्योतित हृदयवाला बनाएगी।

ऋषिः—यजत आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

रक्षक

११४५. ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य । महि वां क्षत्रं देवेषु ॥ ३ ॥

ता=ये प्राण और अपान **नः**=हमें **पार्थिवस्य रायः**=पार्थिव धन का, अर्थात् शरीर की नीरोगता का तथा **महः दिव्यस्य रायः**=महनीय दिव्य धन का, अर्थात् उत्तम हृदय के ज्ञान व प्रकाश का **शक्तम्**=दान करने में समर्थ हैं। ये प्राणपान हमें पार्थिव व दिव्य धन देकर हमारे शरीरों को स्वस्थ व मन को प्रकाशमय बनाकर हमें शक्तिशाली व योग्य बनाते हैं।

हे प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों का **देवेषु**=शरीरस्थ सभी देवताओं में **क्षत्रम्**=आक्रमण से रक्षण **महि**=सचमुच महनीय है। प्राणापान ही वस्तुतः शरीर के सब देवताओं को आसुर आक्रमण से बचाते हैं, शरीर पर रोग आक्रमण नहीं कर पाते और मन में वासनाएँ प्रविष्ट नहीं हो पातीं। अन्य सब देव जब सो जाते हैं, तब ये प्राणापान जागकर पहरा देते हैं। यह शरीर 'देवानां पूः' देवनगरी है। ये प्राणापान इस देवनगरी के रक्षक हैं।

भावार्थ—प्राणापान देवताओं की नगरी के रक्षक हैं।

सूक्त–५

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सूक्ष्म शक्तियों का विकास

११४६. इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः । अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ १ ॥

हे **चित्रभानो**=अद्भुत दीप्तिवाले—आश्चर्यकारक विज्ञानवाले, **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आयाहि**=आप हमें प्राप्त होओ। १. जीवात्मा की सर्वोत्तम कामना यही है कि 'वह प्रभु को प्राप्त करे।' 'मधुच्छन्दाः'=अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाला, वैश्वामित्रः=सभी के साथ स्नेह करनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि यही कामना करता है कि मैं प्रभु को प्राप्त करूँ। प्रभु में अद्भुत ज्ञान है, वे परमैश्वर्य के निधान हैं। मधुच्छन्दा यही अनुभव करता है कि प्रभु-प्राप्ति में ही ज्ञान और ऐश्वर्य का लाभ है।

मधुच्छन्दा उस प्रभु की प्राप्ति के लिए कहता है कि **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **इमे**=ये सोम २. **त्वायवः**=आपको प्राप्त करानेवाले हैं। इन सोमकणों की रक्षा प्रभु का दर्शन कराते हैं। ये सोम ३. **अण्वीभिः**=सूक्ष्म शक्तियों से **तना**=धनवाले हैं। (तना इति धननाम—नि० २.१०.१५)। इनकी रक्षा से जहाँ शरीर का स्वास्थ्य प्राप्त होता है, वहाँ मन व बुद्धि की शक्तियों का भी विकास होता है। ४. **पूतासः**=ये अत्यन्त पवित्रतावाले हैं। सोमरक्षा से जीवन अधिकाधिक पवित्र होता चलता है और पवित्र बनकर हम प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—सर्वोत्तम कामना यही है कि हम 'प्रभु को प्राप्त करें।' उसकी प्राप्ति के लिए शरीर में सोम का निर्माण हुआ है। ये सोमकण हमारी सूक्ष्म शक्तियों का विकास करनेवाले तथा पवित्रता पैदा करनेवाले हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

बुद्धिपूर्वक गति

११४७. इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः । उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ २ ॥

प्रभु मधुच्छन्दा से कहते हैं—हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **धिया इषितः**=बुद्धि से प्रेरित हुआ-हुआ, **विप्रजूतः**=विशेषरूप से अपना पूरण करने के लिए गतिवाला तू **सुतावतः**=यज्ञशील तथा **वाघतः**=स्तोता पुरुष के **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों को **उप आयाहि**=प्राप्त हो।

प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम १. बुद्धि से प्रेरित हों। सब कार्यों को बुद्धिपूर्वक करें। २. हमारा प्रत्येक कार्य अपना विशेषतः पूरण करने के उद्देश्य से हो (वि+प्र)। अपनी न्यूनताओं को दूर करते हुए हम आगे और आगे बढ़ते चलें। ३. हम यज्ञशील स्तोताओं के स्तोत्रों को करनेवाले हों। हमारे स्तोत्र केवल शाब्दिक न हों—हम उनके अनुसार अपने जीवनों को बनाने के लिए भी यत्नशील हों।

भावार्थ—हमारा प्रत्येक कार्य बुद्धिपूर्वक हो—हम अपना पूरण करें—हमारी स्तुति हमें यज्ञशील बनाए।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

तूतुजान

११४८. इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः। सुते दधिष्व नश्चनः॥ ३॥

प्रभु मधुच्छन्दा से कह रहे हैं—हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **तूतुजानः**=शीघ्रता से कार्यों में व्यापृत होता हुआ (तूतुजानः=त्वरमाणः) और इस प्रकार (तुज्=to kill) वासनाओं का विनाश करता हुआ **उप आयाहि**=हमें सम्यक् प्राप्त हो। वस्तुतः प्रभु-प्राप्ति के लिए हम अपने जीवनों में आलस्य न आने दें। २. हे **हरिवः**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाले जीव! (हरि=अश्व=इन्द्रियाँ) तू **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों को अपनानेवाला बन। वासनाओं को दूर रखने से हमारी इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनी रहती हैं और हम उन इन्द्रियों को वेदज्ञान व वेदमन्त्रों द्वारा प्रभुस्तवन में नियुक्त कर पाते हैं। ३. तू **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **नः**=हमारे **चनः**=अन्नों को **दधिष्व**=धारण करनेवाला हो। प्रभु के इस संसार के शतशः भोज्य-पदार्थों का ही शरीर, मन व बुद्धि के धारण के लिए प्रयोग करें।

भावार्थ—१. हम कर्मों में व्यापृत रहते हुए वासनाओं का विनाश करें। २. वेदज्ञान व स्तोत्रों को अपनाएँ। ३. अन्नों का ही सेवन करें नकि मांस का।

सूक्त-६

ऋषिः—भारद्वाजो बार्हस्पत्यः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

कर्मों का कर्षण (क्षय)

११४९. तमीडिष्व यो अर्चिषा वना विश्वा परिष्वजत्। कृष्णा कृणोति जिह्वया॥ १॥

तम्=उस अग्नि नामक प्रभु का **ईडिष्व**=स्तवन करो **यः**=जो **अर्चिषा**=अपनी ज्ञान की ज्वालाओं से **विश्वा वना**=सम्पूर्ण ज्ञानरश्मियों का **परिष्वजत्**=आलिंगन करता है और अपने स्तोताओं के साथ भी ज्ञान-रश्मियों का सम्बन्ध करता है। यह स्तुत्य प्रभु **जिह्वया**=अपनी वेदवाणी के द्वारा **कृष्णा कृणोति**=हमारे कर्मों को क्षीण कर देता है। उपनिषद् में कहा है—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि'=इस ज्ञानी, प्रभुभक्त के कर्म क्षीण हो जाते हैं। (जिह्वा वाङ्नाम—नि० १.११) भस्म हुए वे कर्मफल जननशक्ति शून्य हो जाते हैं और इस प्रकार ये ज्ञानी स्तोता नैष्कार्म्य सिद्धि को प्राप्त करके मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें—प्रभु की ज्ञानरश्मियाँ हमारा आलिंगन करें और ज्ञान के द्वारा हमारे कर्म भस्मसात् हो जाएँ।

ऋषिः—भारद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

भवसागर-सन्तरण

११५०. य इद्ध आविवासति सुम्नमिन्द्रस्य मर्त्यः । द्युम्नाय सुतरा अपः ॥ २ ॥

यः मर्त्यः=जो व्यक्ति **इद्धे**=ज्ञान से दीप्त अपने हृदय में **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली परमात्मा के **सुम्नम्**=स्तोत्र को **आविवासति**=करता है, अर्थात् स्तोत्रों के द्वारा प्रभु की पूजा करता है, वह मनुष्य **द्युम्नाय**=ज्ञान के प्रकाश के लिए समर्थ होता है। इस व्यक्ति को प्रकाश प्राप्त होता है और परिणामतः इसके लिए **अपः**=कर्म **सुतराः**=सुगमता से तैरने योग्य हो जाते हैं। अज्ञानी को ही कर्म बाँधते हैं, क्योंकि उसकी कर्मों में आसक्ति होती है। ज्ञानी के लिए कर्मबन्धन नहीं रहता, क्योंकि यह कर्मफल की इच्छा से ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार यह ज्ञानी निष्काम कर्मों के परिणामस्वरूप इस जन्म-मरण के चक्र को पार कर लेता है। यह भवसागर में गोते नहीं खाता रहता।

भावार्थ—हम प्रभु स्तवन करें। प्रभु-स्तवन से हमें प्रकाश प्राप्त हो। प्रकाश हमें निष्काम करके कर्मसन्तरण के योग्य बनाये।

ऋषिः—भारद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रेरणा तथा कर्म

११५१. ता नो वाजवतीरिष आशून् पिपृतमर्वतः । एन्द्रमग्निं च वोढवे ॥ ३ ॥

ता=वे प्राण और अपान **नः**=हममें **वाजवतीः**=शक्तिशाली **इषः**=प्रेरणाओं को **पिपृतम्**=भरें, पूर्ण करें तथा **आशून्**=शीघ्रता से कार्य में व्याप्त होनेवाले **अर्वत**=कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **आपिपृतम्**=हमें सर्वथा प्राप्त कराएँ। हमें शक्तिशाली प्रेरणा प्राप्त हो और उस प्रेरणा के अनुसार हम कार्य करनेवाले हों। जिससे हम **इन्द्रं अग्निं च वोढवे**=इन्द्रत्व तथा अग्नित्व के धारण करने के लिए हों, अर्थात् बल तथा प्रकाश के धारण करनेवाले बनें।

भावार्थ—हममें शक्ति तथा प्रकाश का निवास हो।

सूक्त-७

ऋषिः—सिकतानिवावरी ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

११५२. प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्र मिनाति सङ्गिरम् ।
मर्यइव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयामना पथा ॥ १ ॥

५५७ संख्या पर इसका अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—सिकतानिवावरी ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु की क्रीड़ा

११५३. प्र वो धियो मन्द्रयुवो विपन्युवः पनस्युवः संवरणेष्वक्रमुः ।
हरिं क्रीडन्तमभ्यनूषत स्तुभोऽभि धेनवः पयसेदशिश्रयुः ॥ २ ॥

१. हे **मन्द्रयुवः**=आनन्दमयता से अपना सम्पर्क चाहनेवाले व्यक्तियो ! **विपन्युवः**=विशेषरूप

से उस आनन्दमय प्रभु का स्तवन करनेवालो ! **पनस्युवः**=अपने जीवनों को प्रशंसनीय बनानेवालो ! **वः**=आप लोगों के **धियः**=प्रज्ञापूर्वक होनेवाले कर्म **संवरणेषु**=१. आत्मसंयम (self control) होने पर गुप्तता के साथ, बिना किसी प्रकार के दिखावे (secret) के **प्र अक्रमुः**=विशेषरूप से प्रवृत्त हों। जब हम संयमी जीवनवाले बनकर, सब प्रकार के दम्भ से दूर रहकर ज्ञानयुक्त कर्मों को करते हैं तब हमारे हृदयों में आनन्दोल्लास होता है—प्रभु का सच्चा स्तवन इन कर्मों द्वारा होता है और हमारा जीवन प्रशंसनीय बनता है। २. अपने इन सब कर्मों को करते हुए **क्रीडन्तम्**=उत्पत्ति, स्थिति, संहाररूप विविध क्रीड़ा करनेवाले **हरिम्**=सब दुःखों का हरण करनेवाले प्रभु का **अभ्यनूषत**=स्तवन करो। सारे संसार को प्रभु का खेल समझना—प्रभु की क्रीड़ा अनुभव करना जीवन को आनन्दमय बनाने का साधन है। यही कर्मों को तैरने का उपाय है। ३. हे **स्तुभः**=स्तोताओ ! **धेनवः**=तुम्हारी ये स्तुतिवाणियाँ (धेनुः वाङ्नाम) **पयसा**=वर्धन के साथ **इत्**=निश्चय से **अभिशिश्रयुः**=संयुक्त हों, अर्थात् प्रभु-स्तवन उस प्रकार तुम्हारी शक्तियों की वृद्धि का कारण बने जिस प्रकार दूध शरीर की वृद्धि का कारण होता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन द्वारा हमारा जीवन वासनाओं के लिए मरु-स्थल ही बन जाए।

ऋषिः—सिकतानिवावरी ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उत्तम प्रेरणा

११५४. आ नः सोम संयतं पिप्युषीमिषमिन्दो पवस्व पवमान ऊर्मिणा।
या नो दोहते त्रिरहन्नसश्चुषी क्षुमद्वाजवन्मधुमत्सुवीर्यम् ॥ ३ ॥

हे **इन्दो**=शक्ति देनेवाले **पवमान**=पवित्रता का सम्पादन करनेवाले सोम ! **नः**=हमें **ऊर्मिणा**=अपनी ऊर्ध्वगति के द्वारा **संयतम्**=आत्मसंयमवाली **पिप्युषीम्**=वृद्धि की कारणभूत **इषम्**=प्रेरणा **आपवस्व**=प्राप्त कराओ। शरीर में उत्पन्न शक्ति जब ऊर्ध्वगतिवाली होती है तब हमारे मनों में आत्मसंयम की भावना को जन्म देती है और शरीर की वृद्धि का कारण बनती है। सोम की ऊर्ध्वगति से होनेवाली **या**=जो प्रेरणा **असश्चुषी**=पराजित न होती हुई **नः**=हमारे अन्दर **अहन्**=दिन में **त्रिः**=तीन बार, अर्थात् प्रातः, मध्याह्न व सायं **सुवीर्यम्**=उस उत्तम शक्ति को **दोहते**=प्रपूरित करती है, जो शक्ति **क्षुमत्**=उत्तम अन्नवाली है, अर्थात् सात्त्विक अन्न के सेवन से उत्पन्न हुई है, **वाजवत्**=उत्तम ज्ञान व क्रियावाली है—जिस शक्ति से हमारे अन्दर उत्तम ज्ञान व कर्म की भावना उत्पन्न होती है और **मधुमत्**=जो शक्ति माधुर्यवाली है, अर्थात् इस प्रेरणा को प्राप्त करके हम सात्त्विक अन्न का सेवन करते हैं, उत्तम ज्ञानवाले बनते हैं, उत्तम क्रियावाले होते हैं और हमारा जीवन माधुर्य को लिये हुए होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें उत्तम प्रेरणा प्राप्त करानेवाला हो।

सूक्त-८

ऋषिः—आङ्गिरसः पुरुहन्मा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

११५५. न किष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम्।
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमोजसा ॥ १ ॥

२४३ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—आङ्गिरसः पुरुहन्मा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

द्युलोक व पृथिवीलोक का स्तवन

११५६. अषाढमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन्महीरुरुज्रयः।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामीरनोनवुः ॥ २ ॥

द्यावः क्षामीः=द्युलोक व पृथिवीलोक **अनोनवुः**=खूब ही स्तुति करते हैं, अर्थात् क्या देव और क्या मनुष्य सभी उसकी स्तुति करते हैं, जोकि—१. **अषाढम्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं से पराभूत नहीं होता, २. **उग्रम्**=काम-क्रोधादि से पराजित न होने के कारण ही जो उदात्त है—उत्कृष्ट स्वाभाववाला है। ३. **पृतनासु**=अध्यात्म-संग्रामों में—हृदयस्थली पर सदा से चल रहे काम-क्रोधादि शत्रुओं से होनेवाले संग्रामों में **सासहिम्**=शत्रुओं को बुरी तरह से कुचलनेवाला है, ४. **यस्मिन्**=जिसके जीवन में **महीः**=विशाल सेना है, (महीः में विसर्ग लक्ष्मीः की तरह सुनाई पड़ते हैं), अर्थात् इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि उसकी वह सेना है जो शत्रुओं से पराभूत न होकर इसे शत्रुओं का संहार करनेवाली बनाती है। ५. **उरुज्रयः**=इस महनीय सेना के कारण ही इसमें (ज्रय overpowering strength) विजयी बल है—जिस बल से यह सब शत्रुओं को पराभूत कर पाता है। ६. **जायमाने**=विकास को प्राप्त होनेवाले इस व्यक्ति में **धेनवः**=वेदवाणियाँ **सम् अनोनवुः**=बड़े उत्तम प्रकार से उस प्रभु का स्तवन करती हैं। इन्हीं छह बातों के कारण क्या देव और क्या मनुष्य सभी इसका स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हम अध्यात्म-संग्राम में शत्रुओं का हनन करनेवाले 'पुरुहन्मा' बनें। शत्रुओं को मारकर हम 'आङ्गिरस' शक्तिशाली हों। 'पुरुहन्मा आङ्गिरस' ही इस मन्त्र का ऋषि है।

सूक्त-९

ऋषिः—पर्वतनारदौ शिखण्डिन्यावप्सरसौ काश्यपौ वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥
छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

'पुनान' प्रभु का प्रगान

११५७. सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत। शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये ॥ १ ॥

५६८ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—पर्वतनारदौ शिखण्डिन्यावप्सरसौ काश्यपौ वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥
छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

प्रभु के प्रिय पुत्र

११५८. समी वत्सं न मातृभिः सृजता गयसाधनम्। देवाव्यां ३ मदमभि द्विशवसम् ॥ २ ॥

गत मन्त्र में प्रभु-गायन के द्वारा अपने जीवनों को 'शिशुं न'=एक बच्चे की भाँति (childlike) निश्छल व निष्कपट बनाने का संकेत था। इस मन्त्र में 'शिशुं न' के स्थान पर 'वत्सं न' शब्द हैं। एक निष्कपट बालक माता-पिता को बड़ा प्रिय (=वत्सम्) प्रतीत होता है। हम भी अपने जीवनों को पवित्र बनाकर प्रभु का प्रिय बनने का प्रयत्न करें। ऐसा तभी हो सकता है जब हम अपने अन्दर 'निर्माणात्मक तथा ज्ञानपूर्ण विचारों को उत्पन्न करें'। 'मातृ' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं—१. निर्माता

maker, २. ज्ञाता knower। **मातृभिः**=इन निर्माण व ज्ञान के साधक विचारों से हम अपने को **वत्सं न**=प्रभु के प्रिय पुत्र के समान **संसृजत**=बनाएँ। **ई**=निश्चय से हम अपने को निम्न गुणों से युक्त कर लें—१. **गयसाधनम्**=(गयाः प्राणाः) प्राणशक्ति की साधनावाला। हम अपनी नैत्यिक चर्या में प्राणायाम को अवश्य स्थान दें। प्राणसाधना मनोनिरोध का मूल है और इस प्रकार उन्नति की नींव है। २. **देवाव्याम्**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाला। प्राणसाधना से ही आसुर वृत्तियों का संहार होकर हममें दिव्य गुणों का वर्धन होगा। आसुर वृत्तियों का आक्रमण व्यर्थ हो जाएगा तो जीवन में ३. **मदम्**=उल्लास आएगा ही। ४. **अभिद्विशवसम्**=हम दोनों बलों की ओर चलें। मनुष्य की दो शक्तियाँ 'ज्ञान और कर्म' हैं। हम अपने जीवन में ज्ञान और कर्म का समन्वय करनेवाले बनें। ज्ञानपूर्वक किये गये कर्म ही पवित्र होते हैं, और कर्मों में लगे रहना ही ज्ञान के आवरण 'काम' को नष्ट करने का मुख्य साधन है।

भावार्थ—हमारा जीवन प्राणसाधनावाला, दिव्य गुणों का रक्षक, उल्लासमय, ज्ञान व कर्मशक्ति-सम्पन्न हो, जिससे हम प्रभु के प्रिय पुत्र बन सकें।

ऋषिः—पर्वतनारदौ शिखण्डिन्यावप्सरसौ काश्यपौ वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

शक्ति व प्रकाश+स्नेह व श्रेष्ठता

११५९. पुनाता दक्षसाधनं यथा शर्धाय वीतये। यथा मित्राय वरुणाय शन्तमम्॥ ३॥

गत मन्त्र के प्रसङ्ग में ही कहते हैं कि **पुनात**=अपने जीवनों को प्रभु-गायन द्वारा पवित्र करो। **दक्षसाधनम्**=अपने को बलवान्, उन्नतिशील बनाओ। **शन्तमम्**=अपने को अत्यन्त शान्त बनाओ। अपने जीवनों को इस प्रकार पवित्र करो **यथा**=जिससे तुम **शर्धाय**=बल तथा **वीतये**=प्रकाश के लिए हो सको, अर्थात् बल व प्रकाश का आधार बन सको। **यथा**=जिससे तुम **मित्राय**=स्नेह की देवता के आराधन के लिए होओ और **वरुणाय**=अपने जीवनों को अति श्रेष्ठ बना पाओ।

हम प्रभु-गायन से अपने जीवनों को पवित्र बनाएँगे तो हम उन्नति के मार्ग पर चलते हुए बल व प्रकाश तथा स्नेह व श्रेष्ठता से अपना पूरण करनेवाले 'पर्वत' बनेंगे और जीवन को शुद्ध बनानेवाले 'नारद' होंगे (नारं दायति)।

भावार्थ—हमारा जीवन शक्ति, प्रकाश, स्नेह व श्रेष्ठता से पूर्ण हो।

सूक्त-१०

ऋषिः—अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—द्विपदा विराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

शक्ति और माधुर्य

११६०. प्र वाज्यक्षाः सहस्रधारस्तिरः पवित्रं वि वारमव्यम्॥ १॥

(क) **वाजी**=बलवाला, (ख) **सहस्रधारः**=(स-हस्र, धारा=वाणी) सदा आनन्दमय मधुर वाणीवाला उस प्रभु की ओर **प्र अक्षाः**=(प्रकर्षेण क्षरति धावति) तेजी से बढ़ चलता है, जो प्रभु—१. **तिरः**=उसके ही अन्दर छिपे हुए हैं, २. **पवित्रम्**=उसके जीवन को पवित्र बनानेवाले हैं, ३. **विवारम्**=विशेषरूप में हमारी वासनाओं का निवारण करनेवाले हैं और ४. **अव्यम्**=रक्षण में उत्तम

हैं।

इस मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति के दो साधनों का उल्लेख है—१. शक्ति और २. मधुर वाणी—इन दो साधनों से हम उस प्रभु को प्राप्त करते हैं जो प्रभु हमारे ही अन्दर अन्तर्हित हैं, पवित्र हैं, वरणीय हैं और रक्षक हैं।

नोट—वारम् के दो अर्थ हैं—(१) निवारण करनेवाले, (२) वरणीय।

भावार्थ—हम शक्ति और माधुर्य के मेल से प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—द्विपदा विराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

कर्म से शुद्धि—ज्ञान से परिपाक

११६१. स वाज्यक्षाः सहस्त्ररेता अद्भिर्मृजानो गोभिः श्रीणानः॥ २॥

सः=वह **वाजी**=बलवाला **सहस्त्ररेताः**=आनन्दमय शक्तिवाला—अर्थात् वीर्य की ऊर्ध्वगति से आनन्दमय जीवनवाला **अद्भिः**=कर्मों से (आपः=कर्माणि) **मृजानः**=अपने जीवन को शुद्ध करता हुआ और **गोभीः**=ज्ञान-वाणियों से **श्रीणानः**=अपना परिपाक करता हुआ **अक्षाः**=उस प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है (अश् व्याप्तौ)।

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति के लिए निम्न बातों का संकेत किया है—१. **वाजी**=मनुष्य बल का सम्पादन करे, २. **सहस्त्ररेताः**=वीर्य की ऊर्ध्वगति से उल्लासमय जीवनवाला हो, ३. वासनाओं का शिकार न हो, ४. ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगा रहकर अपने जीवन को परिपक्व बनाने का प्रयत्न करे। ऐसा जीवन बनाने से हम (अग्नयः) आगे बढ़नेवाले होते हैं, 'धिष्ण्याः' उच्च स्थान में (Worthy of a high place) पहुँचने के योग्य होते हैं, 'ऐश्वराः' हम ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग पर चल रहे होते हैं और 'ऋषयः' तत्त्वदर्शी बनते हैं। इस प्रकार इन मन्त्रों के ऋषि होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को कर्मों द्वारा शुद्ध करें और ज्ञान द्वारा परिपक्व बनाएँ।

ऋषिः—अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—द्विपदा विराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

परमात्मा की कुक्षि में, तृतीय धाम में

११६२. प्र सोम याहीन्द्रस्य कुक्षा नृभिर्येमानो अद्रिभिः सुतः॥ ३॥

हमारे जीवनों में माता-पिता व परिवार के अन्य बड़े व्यक्ति मुख्यरूप से हमारा नेतृत्व करनेवाले होते हैं। सर्वप्रथम इनके जीवनों का ही हमपर प्रभाव पड़ता है। इन **नृभिः**=नेतृत्व देनेवालों से **येमानः**=संयत जीवनवाले बनाये जाते हुए तथा **अद्रिभिः**=गुरुओं से **सुतः**=जन्म दिया हुआ **सोम**=हे शान्त-स्वभाव आत्मन्! तू **इन्द्रस्य कुक्षा**=उस प्रभु के कोख में **प्र याहि**=प्रकर्षेण प्राप्त हो। आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन करता हुआ उसे अपने गर्भ में धारण करता है और ज्ञान से परिपक्व करके कालान्तर में उसे द्वितीय जन्म देता है। प्रथम जन्म माता-पिता ने दिया था और माता ने गर्भस्थ बालक को अपने उचित आहार-विहार से शान्त-दान्त बनाने का प्रयत्न किया। अब आचार्य ने उसे ज्ञान से परिपक्व बनाया है। इस प्रकार इन दो जन्मों को प्राप्त करके यह द्विज बना और द्विज बनकर प्रभु की गोद में पहुँचने का अधिकारी हुआ। इसका प्रथम निवास-स्थान वा आधार

'माता-पिता' थे—दूसरे आधार 'आचार्य' थे और अब यह प्रभुरूप तृतीय धाम में विचरनेवाला बना है।

भावार्थ—हम प्रथम धाम में संयम और द्वितीय धाम में ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके तृतीय धाम में आनन्द व शान्ति का लाभ करें।

सूक्त-११

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मस्तिष्क, शरीर, हृदय

११६३. ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे। ये वादः शर्यणावति ॥ १ ॥

इन मन्त्रों में 'परावति' आदि शब्दों में 'निमित्त सप्तमी' है। **परावति**=दूरदेश, अर्थात् द्युलोक—मस्तिष्क के निमित्त, (मूर्ध्नो द्यौः) **ये सोमासः**=जो सोम **सुन्विरे**=उत्पन्न किये जाते हैं, **ये**=जो सोम **अर्वावति**=समीप देश के निमित्त, अर्थात् इस बाह्य स्थूलशरीर के निमित्त उत्पन्न किये जाते हैं **वा**=अथवा **ये**=जो सोम **अदः शर्यणावति**=इस 'अन्तरिक्ष देश में होनेवाले' (ऋ० १.८४.१४ द०) हृदय के निमित्त पैदा किये गये हैं, वे हमारा सर्वविध रक्षण करें। हृदय में देवासुर संग्राम चलता है। यही शरीर में कुरुक्षेत्र भूमि है।

एवं, सोम मस्तिष्क के निमित्त, स्थूलशरीर के निमित्त तथा हृदय के निमित्त उत्पन्न किया गया है। सोम की रक्षा से मस्तिष्क उज्ज्वल बनेगा, शरीर स्वस्थ व नीरोग रहेगा और हृदय अशुभ वृत्तियों के पराजय से पवित्र बनेगा।

भावार्थ—प्रभु ने सोम की उत्पत्ति (वीर्यधातु का निर्माण) मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि को दीप्त करने के लिए की है—शरीर में रोगकृमियों के संहार तथा मन में काम-क्रोधादि वासनाओं के अभिभव के लिए की है।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोम की रक्षा किनमें ?

११६४. य आर्जीकेषु कृत्वसु ये मध्ये पस्त्यानाम्। ये वा जनेषु पञ्चसु ॥ २ ॥

ये=जो सोम १. **आर्जीकेषु**=सरल व्यक्तियों में निवास करते हैं, अर्थात् कुटिल जीवन में ब्रह्मचर्य का पालन कठिन होता है। २. **कृत्वसु**=जो सोम कर्म करनेवालों में रहते हैं, अर्थात् कर्मशील व्यक्ति वासनाओं से बचे रहने के कारण सोम की रक्षा कर पाता है। ३. **ये**=जो सोम **पस्त्यानां मध्ये**=घरों के मध्य में निवास करते हैं, अर्थात् सोम में सुरक्षित रहते हैं। जो व्यक्ति पतिव्रत व पत्नीव्रत को निभाते हुए घरों में ही निवास करते हैं—वासनाओं की पूर्ति के लिए इधर-उधर भटकते नहीं—अपने जीवनों को क्लब का जीवन नहीं बनाते। ४. **वा**=अथवा **ये**=जो सोम **पञ्चषु**=(पचि विस्तारे) अपना विस्तार व विकास करनेवाले मनुष्यों में रहते हैं। जब मनुष्य का लक्ष्य विकास हो जाता है तब उसके लिए सोम-रक्षा सुगम हो जाती है।

भावार्थ—१. सरलता, २. क्रियाशीलता, ३. गृहजीवन व ४. जीवन-विकास—ये सोम-रक्षा के साधन हैं।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

द्युलोक से वृष्टि

११६५. ते नो वृष्टिं दिवस्परि पवन्तामा सुवीर्यम्। स्वाना देवास इन्दवः ॥ ३ ॥

१. **ते**=वे सोम **नः**=हमारे लिए **दिवः परि**=द्युलोक से **वृष्टिम्**=वृष्टि को **पवन्ताम्**=प्राप्त कराएँ। शरीर में मस्तिष्करूप द्युलोक में 'सहस्रारचक्र' है। यहीं से धर्ममेघ समाधि में आनन्द की वर्षा होती है। इस आनन्द की वर्षा के लिए सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखना आवश्यक है। २. ये सोम **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **आ** (पवन्ताम्)=शरीर में चारों ओर प्राप्त कराएँ। सोम की रक्षा का परिणाम यह होता है कि अङ्ग-प्रत्यङ्ग शक्तिशाली बनता है। ३. **स्वानाः**=(सु आनयन्ति)=ये सोम उत्तम प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं—जीवन को सोत्साह बनाते हैं। ४. **देवासः**=ये सोम हमें दिव्य-गुण-सम्पन्न करके देव बनाते हैं। ५. **इन्दवः**=ये सोम हमें ज्ञान का परमैश्वर्य प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम सोम-निर्माण के प्रयोजन को समझकर इसे सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयत्न करें।

सूक्त-१२

ऋषिः—वत्सः काण्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

११६६. आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात्। अग्ने त्वां कामये गिरा ॥ १ ॥

मन्त्र का अर्थ संख्या ८ पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—वत्सः काण्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वत्स का प्रभु-स्मरण, हर्ष की पवित्रता

११६७. पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि दिशो विश्वा अनु प्रभुः। समत्सु त्वा हवामहे ॥ २ ॥

'वदतीति वत्सः' इस व्युत्पत्ति से वेदमन्त्रों से प्रभु का स्तवन करनेवाला कहता है कि—१. **हि**=निश्चय से **पुरुत्रा**=आप पालन और पूरण करनेवाले (पुरु=पृणाति) तथा त्राण (रक्षा) करनेवाले हैं, २. **सदृङ् असि**=आप सभी को समान दृष्टि से देखनेवाले हैं। किसी भी प्रकार के पक्षपात से युक्त न होकर आप सभी का समानरूप से पालन करनेवाले हैं। कार्यानुसार सबके लिए उचित व्यवस्था कर रहें हैं। ३. **विश्वाः दिशः अनु**=सम्पूर्ण दिशाओं में **प्रभुः**=आप ही शासन करनेवाले हैं। सर्वत्र आपका ही साम्राज्य है। ४. **समत्सु**=(समक्षे वा अत्तेः—नि० ९.१७) मिलकर भोजनों के समय में (सम्मदो वा मदतेः—नि० ९.१७) अथवा सम्मिलित हर्ष के अवसरों पर **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं, आपका स्मरण करते हैं। सम्मिलित भोजनों व सम्मिलित गानादि गोष्ठियों के अवसरों पर प्रभु-स्मरण इसलिए आवश्यक है कि हम उन कर्मों में मर्यादा के अन्दर रहें, कहीं सीमा का उल्लंघन न कर जाएँ।

भावार्थ—भोजनों में, गानों में, हर्ष के सब अवसरों पर प्रभु-स्मरण करें, जिससे मर्यादोल्लंघन न हो। हर्ष नशे में परिवर्तित न होकर उसकी अपनी पवित्रता बनी रहे।

ऋषिः—वत्सः काण्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के साथ सम्पर्क

११६८. समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे। वाजेषु चित्रराधसम् ॥ ३ ॥

वाजेषु=सब प्रकार के धनों में, बलों में व संग्रामों में **चित्रराधसम्**=अद्भुत सफलताओंवाले **अग्निम्**=सबके नेता आपको **अवसे**=अपनी रक्षा के लिए **वाजयन्तः**=शक्ति, धन व संग्राम-विजय चाहते हुए **समत्सु**=सब संग्रामों में (समत्सु इति संग्रामनाम—नि० २.१७) **हवामहे**=पुकारते हैं।

यह संसार एक संघर्ष है। उस संघर्ष में विजय प्राप्त करके ही मनुष्य आगे बढ़ पाता है। अकेला मनुष्य इस संघर्ष में विजय के लिए अपने को असमर्थ पाता है। प्रभु का स्मरण व प्रभु का सम्पर्क उसे शक्तिसम्पन्न बना देता है और वह अद्भुत उत्साहवाला बनकर संग्राम में विजय पाता है। विजय पाकर ही तो वह आगे बढ़ेगा।

भावार्थ—संसार-संग्राम में प्रभु का स्मरण करें और विजय प्राप्त करें।

सूक्त-१३

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—ककुबुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

११६९. त्वं न इन्द्रा भर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे। आ वीरं पृतनासहम्॥ १ ॥

४०५ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—ककुबुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

पिता व माता

११७०. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अथा ते सुम्नमीमहे॥ २ ॥

हे **वसो**=सबको उत्तम निवास देनेवाले प्रभो! **त्वं हि**=निश्चय से आप ही **नः**=हमारे **पिता**=पालन व रक्षण करनेवाले **बभूविथ**=हो। घर में पिता का रक्षण ठीक होने पर ही सबका निवास उत्तम होता है। हम सबके पिता वे प्रभु हैं, उन्हीं की कृपा से हमारा निवास उत्तम होगा। हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व कर्मोंवाले प्रभो! **त्वम्**=आप ही **माता**=सबका निर्माण करनेवाले हो। घर का निर्माण भी तो उस प्रभु की कृपा से होता है, अतः वे प्रभु ही हमारी माता हैं। **अथ**=अब **ते**=आपके ही **सुम्नम्**=स्तोत्रों को **ईमहे**=चाहते हैं। आपसे रक्षा चाहते हुए आनन्द-प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं (सुम्नम्=Hymn; protection, joy)।

भावार्थ—प्रभु ही हमारी माता व पिता हैं। उन्हीं से हम रक्षण के लिए प्रार्थना करते हैं।

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पुरउष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

सहस्, सम्पन्नता व प्रभु-दर्शन

११७१. त्वां शुष्मिन् पुरुहूत वाजयन्तमुप ब्रुवे सहस्कृत। स नो रास्व सुवीर्यम्॥ ३ ॥

हे **शुष्मिन्**=शत्रुओं का शोषण करनेवाले बल से सम्पन्न प्रभो! **पुरुहूत**=हे सबसे पुकारे जानेवाले प्रभो! जिन आपका आह्वान हमारा पालन व पूरण करनेवाला है, **सहस्कृत**=सहस् के द्वारा उत्पादित, अर्थात् ध्यान किये गये प्रभो! (वस्तुतः प्रभु का दर्शन तो उसे ही होता है जो सहनशक्ति के बल से सम्पन्न होता है। यही सहस् शक्ति की चरम सीमा है—(सहोऽसि सहो मयि धेहि) **वाजयन्तम्**=शक्ति व धन प्राप्त कराते हुए **त्वाम्**=आपकी **उपब्रुवे**=विनयभरी प्रार्थना करता हूँ।

सः=वे आप **नः**=हमें **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति **रास्व**=प्रदान कीजिए। आप मुझे उत्तम शक्ति दीजिए, मैं ईर्ष्या-द्वेष आदि शत्रुओं का शोषण करता हुआ जहाँ सबके साथ मिलकर चलनेवाला

'नृमेध' (नृ=मनुष्य मेध=संगम) बनूँ, वहाँ अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति-सम्पन्न होकर 'आङ्गिरस' होऊँ। अपने अन्दर अद्भुत 'सहस्'=बल उत्पन्न करके आपका दर्शन कर पाऊँ। मुझे यह शक्ति आपको ही प्राप्त करानी है। मेरे 'वाजयन्' आप ही हैं। हे पुरुहूत! आपकी पुकार ही मेरा पालन करनेवाली है, आपको छोड़ और किसके द्वार पर जाऊँ?

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से मैं सुवीर्य प्राप्त करूँ, 'सहस्'=बल-सम्पन्न होकर आपके दर्शन करूँ।

सूक्त-१४

ऋषिः—अत्रिर्भौमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

११७२. यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति त्वादातमद्रिवः।
राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर ॥ १ ॥

३४५ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—अत्रिर्भौमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वरेण्य दिव्य दान

११७३. यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्षं तदा भर।
विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावनः ॥ २ ॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **यत्**=जो भी **द्युक्षम्**=दिव्य ज्ञान की अविरोधी **वरेण्यम्**=वरणीय—चाहने योग्य वस्तु **मन्यसे**=समझते हैं **तत्**=उस दिव्य वरणीय वस्तु को **आभर**=हमें प्राप्त कराइए। वस्तुतः मनुष्य के लिए यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि उसे किस वस्तु की प्रार्थना करनी चाहिए और किसकी नहीं, अतः प्रार्थना का यही स्वरूप सर्वोत्तम है कि हे प्रभो! हमें वही दिव्य, वरणीय वस्तु प्राप्त कराइए जो आपकी दृष्टि में हमारे लिए हितकर है।

वयम्=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले, अर्थात् पुरुषार्थ में तत्पर हम **ते**=आपके **तस्य**=उस **अकूपारस्य**=(अकुत्सित परणस्य) अनिन्दित पालन व पोषण करनेवाले **दावनः**=दान के **विद्याम**=प्राप्त करनेवाले हों (विद् लाभे)। बिना पुरुषार्थ के प्रार्थना निष्प्रयोजन है, अतः हम पुरुषार्थी हों और आपकी कृपा प्राप्त करने के अधिकारी हों। आपके दान अनन्त हैं, आपके दान दिव्य हैं, वस्तुतः वे ही हमारे लिए वरणीय हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपके दिव्य, वरेण्य दान को प्राप्त करने के पात्र हों।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रभु का मननीय ज्ञान

११७४. यत्ते दिक्षु प्रराध्यं मनो अस्ति श्रुतं बृहत्।
तेन दृढा चिदद्रिव आ वाजं दर्षि सातये ॥ ३ ॥

हे **अद्रिवः**=सर्व अनिष्टों का विदारण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **दिक्षु**=सब दिशाओं

में, अर्थात् सर्वत्र व्याप्त **प्राध्यम्**=प्रकृष्ट सफलता देनेवाला **मनः**=मननीय **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत **श्रुतम्**=ज्ञान **अस्ति**=है; **तेन**=उस ज्ञान के द्वारा **दृढाचित्**=अत्यन्त प्रबल भी **वाजम्**=(वज गतौ, roam about=भ्रान्ति) भ्रान्ति को—संसार में इतस्ततः भटकने की वृत्ति को **आदर्षि**=विदीर्ण कर दीजिए, जिससे **सातये**=हम आपका सम्भजन कर सकें। प्रभु-प्राप्ति तभी होती है जब मनुष्य संसार में इधर-उधर भटकना छोड़, एकाग्रवृत्ति होकर प्रभु का ध्यान करे। इधर-उधर भटकना तब समाप्त होगा जब वह अपने अज्ञान को समाप्त कर लेगा। इस अज्ञान का नाश तब होगा जब हम वेदज्ञान को अपनाएँगे। यह वेदज्ञान मननीय है, हमारी वृद्धि का कारण है, हमें सफल बनानेवाला है (प्राध्यम्)। इस ज्ञान के प्रकाश से अज्ञानान्धकार के निवृत्त होने पर यह प्रभुभक्त 'भौम' भूमि का ईश्वर बनता है, इन भौतिक पदार्थों का दास नहीं रहता। ऐसा बनने पर ही यह 'अत्रि' होता है—इसके तीनों दुःख दूर हो जाते हैं। यह आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक शान्ति प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम प्रभु के मननीय वेदज्ञान द्वारा अज्ञानजनित भ्रान्ति से ऊपर उठें और प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

इत्यष्टमोऽध्यायः, चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः ॥

अथ नवमोऽध्यायः

पञ्चमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—प्रतर्दनो दैवोदासिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की प्राप्ति

११७५. शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति विप्रं मरुतो गणेन ।
कविर्गीर्भिः काव्येन कविः सन्त्सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥ १ ॥

मरुतः=(मरुतः=प्राणाः) प्राणसाधना करके प्राणों के पुञ्ज बने हुए विद्वान् लोग **गणेन**=(गण संख्याने) उस प्रभु के संख्यान व चिन्तन के द्वारा **सोमम्**=अपनी सोम शक्ति को **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं—उसके अन्दर वासना-जन्य उबाल नहीं आने देते। इस सोमरक्षण के द्वारा अपने जीवन को **शुम्भन्ति**=(शोभयन्ति) अलंकृत करते हैं। यह सोम कैसा है ? १. **शिशुम्**=(शो तनूकरणे) यह बुद्धियों को सूक्ष्म बनानेवाला है, २. **जज्ञानम्**=यह हमारा सर्वतोमुखी विकास—प्रादुर्भाव करनेवाला है, ३. **हर्यतम्**=(हर्य गतिकान्त्योः) यह हमारे जीवनों को गतिमय बनानेवाला है, अतएव चाहने योग्य है तथा ४. **विप्रम्**=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाला है—न्यूनताओं को दूर करके पूर्णता प्राप्त कराता है।

इस सोम की रक्षा करनेवाला पुरुष १. **कविः**=क्रान्तदर्शी बनता है—सूक्ष्म-दृष्टिवाला बनकर वस्तुतत्त्व को देखनेवाला होता है। २. **गीर्भिः**=वेदवाणियों के द्वारा तथा **काव्येन**=कवित्व के द्वारा **कविः**=(कौति सर्वा विद्याः) सब ज्ञानों का उपदेष्टा **सन्**=होता हुआ यह **सोमः**=शान्तस्वभाव पुरुष **रेभन्**=प्रभु-नाम का जप करता हुआ **पवित्रम्**=उस पवित्र करनेवाले प्रभु को **अति**=अतिशयेन **एति**=प्राप्त होता है। बड़े पूजित प्रकार से यह प्रभु की ओर जाता है। यह दैवोदासि=प्रभु का दास बनता है और वासनाओं का संहार करनेवाला होने से 'प्रतर्दन' बन जाता है।

भावार्थ—सोमरक्षा द्वारा हम सोम=प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—प्रतर्दनो दैवोदासिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की दीप्ति से दीप्तिवाला

११७६. ऋषिमना य ऋषिकृत् स्वर्षाः सहस्रनीथः पदवीः कवीनाम् ।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप् ॥ २ ॥

प्रतर्दन=वासनाओं को कुचलनेवाले दैवोदासिः=प्रभु के दास का जीवन कैसा होता है—

१. **ऋषिमनाः**=(ऋषीणां मन इव मनो यस्य) इसका मन ऋषियों के मन के तुल्य होता है, अर्थात् इसकी मनोवृत्ति सदा ज्ञान-प्रवण होती है। ऋषियों के समान यह तत्त्वद्रष्टा बनने का प्रयत्न करता है।

२. **यः**=जो **ऋषिकृत्**=(ऋषिःवेदः) वेदार्थ का करनेवाला बनता है। सदा वेद का अध्ययन करता है और वेदाध्ययन करता हुआ वेदनिहित अर्थ को देखने के लिए प्रयत्नवान् होता है।

३. **स्वर्षाः**=(स्वः सुनते) प्रकाश को प्राप्त होता है। सतत वेदाभ्यास से इस के अन्दर ज्ञान का सूर्य उदय होता है।

४. **सहस्रनीथः**=(नीथ=guidance) शतशः पथ-प्रदर्शनवाला यह होता है, क्योंकि यह सब स्थानों से उत्तमता के ग्रहण की वृत्तिवाला बनता है, परिणामतः यह सभी से उत्तम उपदेश ग्रहण करता है।

सायणाचार्य के अनुसार यह शतशः स्तुतियोंवाला होता है—सदा प्रभु-स्वतन करता है।

५. **कवीनां पदवीः**=तत्त्वदर्शियों के मार्ग पर चलनेवाला बनता है।

६. **महिषः**=(मह पूजायाम्) सदा प्रभु-पूजन करता हुआ यह **तृतीयं धाम**=प्रभुरूप तीर्णतम (सर्वाधिक) ज्योति को **सिषासन्**=प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ—

७. **सोमः**=यह अत्यन्त विनीत बनता है 'नम्रत्वेनोन्नमन्तः'=नम्रता से ही तो इसने उस उन्नत स्थान पर पहुँचना है।

८. **ष्टुप्**=यह सदा प्रभु की स्तुति करता है और लोगों से स्तुति किया जाता है, इस प्रकार ९. **विराजम्**=उस विशेष दीप्तिवाले प्रभु की **अनुराजति**=दीप्ति से दीप्तिवाला होता है। इसके जीवन में प्रभु का प्रकाश होता है।

भावार्थ—हम ऋषिमना बनकर प्रभु की दीप्ति को प्राप्त करें।

ऋषिः—प्रतर्दनो दैवोदासिः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

तुरीय-धाम 'सोयमात्मा चतुष्पात्'

११७७. चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥ ३॥

१. **चमूषत्**=(चम्वोः सीदति, चम्वोः द्यावापृथिव्योः, द्यावा=मस्तिष्क,पृथिवी=शरीर) जो सदा द्यावापृथिवी में निषण्ण होता है—मस्तिष्क व शरीर का ध्यान करता है, अर्थात् ज्ञान को बढ़ाने का प्रयत्न करता है और शरीर के स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करता है।

२. **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला होता है—सदा उत्तम कर्मों को करता है।

३. **शकुनः**=शक्तिशाली बनता है।

४. **विभृत्वा**=विशिष्ट भरण-पोषण के कार्यों में लगता है—निर्माणात्मक कार्यो में प्रवृत होता है।

५. **गोविन्दुः**=(विद् लाभे) सदा ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करने के स्वभाववाला होता है।

६. **द्रप्सः**=(दृप हर्षमोहनयोः) सदा प्रसन्न और इसी प्रसन्नता से औरों को मोहित (आकृष्ट) करनेवाला होता है।

७. **आयुधानि बिभ्रत्**=प्रभु से दिये गये 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' रूप आयुधों (Instruments) को उचित स्थिति में धारण करनेवाला होता है।

८. **अपाम् ऊर्मिम् सचमानः**=(आपः-रेतः) शक्तिकणों की लहरों का सेवन करता हुआ, अर्थात् उमड़ते हुए सोम-तरंगो को अपने ही अन्दर धारण करता हुआ।

९. परिणामतः **समुद्रम्**=ज्ञान के समुद्र को **सचमानः**=सेवन करता हुआ।

१०. **महिषः**=यह प्रभु का पुजारी (मह्=पूजायाम्)।

११. **तुरीयं धाम**=उस तुरीय धाम का **विवक्ति**=विशेषरूप से प्रतिपादन करता है। जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति से ऊपर उस चतुर्थ अव्यवहार्य प्रपञ्चोपशम 'शान्त, शिव, अद्वैत' स्थिति का आभास प्रकट करता है। उसके जीवन से इस स्थिति का आभास मिलता है। यह प्रभु से अभिन्न-सा हो जाता है।

भावार्थ—हमारा जीवन 'तुरीय धाम' को व्यक्त करनेवाला हो।

सूक्त-२

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रिय कामना का पूरण

११७८. एते सोमा अभि प्रियमिन्द्रस्य काममक्षरन्। वर्धन्तो अस्य वीर्यम्॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'असित-काश्यप-देवल' है, 'विषयों से अबद्ध, ज्ञानी, दिव्य गुणों का उत्पादन करनेवाला' है। उसकी इन कामनाओं को कि वह 'स्वतन्त्र-द्रष्टा व देव' बने सिद्ध करने में ये सोम सहायक होते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि—१. **एते सोमाः**=ये सोमकण **इन्द्रस्य**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव की **प्रियं कामम्**='स्वतन्त्र-ज्ञानी-देव' बनने की प्रिय कामना को **अभ्यक्षरन्**=वर्षाते हैं, अर्थात् पूर्ण करते है। २. ये सोम **अस्य वीर्यम्**=इसकी शक्ति को **वर्धन्तः** बढ़ाते हैं। शक्ति-सम्पन्न होकर यह अपनी इष्ट कामना को पूर्ण कर पाएगा। सब अच्छाइयों का उद्गम-स्थान वीर्य व शक्ति ही है।

भावार्थ—सोमकण हमारी शक्ति को बढ़ाते हैं और हमारे प्रिय मनोरथ को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पवित्रता, प्रभु-प्राप्ति व शक्ति-लाभ

११७९. पुनानासश्चमूषदो गच्छन्तो वायुमश्विना। ते नो धत्त सुवीर्यम्॥ २ ॥

हे सोमो! १. **पुनानासः**=हमारे जीवनों को पवित्र करते हुए। इन सोमकणों से जहाँ शरीर नीरोग होता है, वहाँ साथ ही मनोवृत्ति भी सुन्दर बनती है। एवं, ये सोम हमें अधिकाधिक पवित्र बनाते चलते हैं।

२. **चमूषदः**=द्यावापृथिवी में स्थिर होनेवाले, अर्थात् हम प्रयत्न करके इन सोमकणों को शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें। मस्तिष्क तक आकर ये हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाले हों।

३. **अश्विना**=प्राणापानों के द्वारा **वायुम्**=सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले (वा गतौ) प्रभु की ओर **गच्छन्तः**=जाते हुए। प्राणापान की साधना से ये सोमकण शरीर में सुरक्षित होते है। इनकी ऊर्ध्वगति होती है। ये हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनाते है और हम प्रभुदर्शन कर पाते हैं।

४. हे सोमो! **ते**=वे आप **नः**=हममें **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **धत्त**=धारण कीजिए।

भावार्थ—शरीर में प्राणापान की साधना से सोम की ऊर्ध्वगति होती है। ये सोम १. हमें पवित्र बनाते हैं, २. प्रभु की ओर ले-जाते हैं, ३. शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पवित्रता, प्रबल कामना, दिव्य गुणार्जन

११८०. इन्द्रस्य सोम राधसे पुनानो हार्दि चोदय। देवानां योनिमासदम्॥ ३॥

हे **सोम**=सोम! १. **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की **राधसे**=सिद्धि के लिए—प्राप्ति के लिए २. **पुनानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ तू ३. **हार्दि**=प्रबल कामना को **चोदय**=प्रेरित कर। प्रबल इच्छा के बिना हम कभी प्रभु को प्राप्त कर सकेंगे, इस बात की सम्भावना नहीं है। प्रबल इच्छा होने पर हम अपने जीवनों को पवित्र बनाने के लिए प्रयत्नशील होंगे। प्रभु के स्वागत के लिए पवित्रीकरण आवश्यक है। अपवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश थोड़े ही होगा? यह प्रबल इच्छा व पवित्रीकरण सोम की रक्षा से ही सम्भव है। सुरक्षित सोम हमें पवित्र करते हैं और हममें प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना व उत्साह को पैदा करते हैं। इस प्रकार उत्साहयुक्त हो मैं आगे और आगे बढ़ता हूँ और **देवानाम्**=देवताओं के **योनिम्**=स्थान को **आसदम्**=प्राप्त करता हूँ। मेरा जीवन दिव्य बनता है, उत्तम गुणों का मैं लाभ करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए १. पवित्रता २. प्रबल कामना व उत्साह तथा ३. दिव्य गुणों का अर्जन आवश्यक है।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोम का मार्जन व ऊर्ध्वप्रेरण

११८१. मृजन्ति त्वा दश क्षिपो हिन्वन्ति सप्त धीतयः। अनु विप्रा अमादिषुः॥ ४॥

हे सोम! **त्वा**=तुझे १. **दश**=दसों इन्द्रियों को **क्षिपः**=(क्षिप प्रेरणे) कर्मों में प्रेरित करनेवाले लोग **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। जो भी मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति में तथा कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि कर्मों में सदा लगाये रखता है वह वासनाओं से बचा रहता है और परिणामतः उसके सोम में वासनाजन्य उबाल न आकर पवित्रता बनी रहती है। एवं, सोम की पवित्रता के लिए कर्मों में लगे रहना आवश्यक है।

२. **सप्त**=**'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'**=दो कान, दो आँखें, दो नासिका-छिद्र व सातवाँ मुख—इन सबको **धीतयः**=ध्यान में लगानेवाले लोग **हिन्वन्ति**=इस सोम को शरीर में प्रेरित करते हैं। ध्यान के द्वारा मनुष्य की वृत्ति ऊर्ध्वगामिनी होती है और सोम का भी ऊर्ध्वप्रेरण होता है।

३. सब इन्द्रियों को कर्मों में व्यापृत कर सोम-शोधन के साथ तथा शरीर के सप्तर्षियों (कर्णाविमौ०) को ध्यान-व्यापृत कर सोम के ऊर्ध्वप्रेरण के साथ **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले लोग **अनु अमादिषुः**=सोम-शोधन व सोम-प्रेरण के अनुपात में ही आनन्द व हर्ष का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हमारी दसों इन्द्रियाँ ज्ञान और कर्मों में व्यापृत रहें, हमारे सप्तर्षि प्रभु का चिन्तन करें। इस प्रकार सोम-रक्षा से हमारा पूरण हो और हम आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दिव्यता-उल्लास-अनिर्वचनीय आनन्द

११८२. देवेभ्यस्त्वा मदाय कं सृजानमति मेष्यः। सं गोभिर्वासयामसि॥ ५॥

हे सोम! तू १. **अतिमेष्यः**=(मिषु सेचने)=शरीर में अतिशयेन सेचन के योग्य है, अर्थात् अङ्ग-प्रत्यङ्ग में तेरा सींच देना ही उचित है। तेरे सेचन से सब अङ्गों को शक्ति व दृढ़ता प्राप्त होती है। २. **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए ३. **मदाय**=हर्ष व उल्लास के लाभ के लिए ४. **कं सृजानम्**=सुख को उत्पन्न करनेवाले **त्वा**=तुझे ५. **गोभिः**=वेदवाणियों के द्वारा **संवासयामसि**=सम्यक्तया शरीर में ही व्याप्त करते हैं। सोम की रक्षा से हमारे मनों की अपवित्रता नष्ट होती है और हमें दिव्य गुण प्राप्त होते हैं। हमारी दैवी सम्पत्ति बढ़ती है और जीवन में उत्तरोत्तर एक विशेष हर्ष व उल्लास का अनुभव होता है, एक अनिर्वचनीय सुख की अनुभूति होती है। एवं, सोम की रक्षा अत्यन्त आवश्यक है। इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखने का उपाय वेदवाणियों का स्वीकरण है। हम वेदवाणियों का अध्ययन करेंगे तो सोम का शरीर में व्यापन सुगम हो सकेगा। सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर शरीर का अङ्ग बना रहता है।

भावार्थ—हम सोम को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाएँ। यह सोम हमें देव बनाएगा, उत्साहमय करेगा और एक अनिर्वचनीय सुख की अनुभूति कराएगा।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शक्ति व ज्ञान की वृद्धि

११८३. पुनानः कलशेष्वा वस्त्राण्यरुषो हरिः। परि गव्यान्यव्यत॥ ६॥

मानव शरीर में सोलह कलाएँ हैं, अतः यह शरीर 'कलश' कहलाता है। सोम-शक्ति इस शरीर-कलश को बड़ा सुन्दर बनाए रखती है। मन्त्र में कहते हैं—**कलशेषु**=इन शरीरों में **वस्त्राणि**=स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीररूप वस्त्रों को **आपुनानः**=सर्वथा पवित्र करते हुए **अरुषः**=रोगों व अशुभ वृत्तियों से इन्हें नष्ट न होने देनेवाला **हरिः**=सब मलों व रोगों का हरण करनेवाला यह सोम **गव्यानि**=इन्द्रियों की शक्तियों को **परि अव्यत**=सुरक्षित करता है। अथवा **गव्यानि**=वेदवाणियों को **परि अव्यत**=सम्यक् ज्ञात कराता है। सोम से शक्ति की रक्षा भी होती है और ज्ञान की वृद्धि भी।

भावार्थ—सोम हमारी शक्तियों को बढ़ाता है।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पवित्रता, द्वेष-शून्यता व प्रभु-प्रवेश

११८४. मघोन आ पवस्व नो जहि विश्वा अप द्विषः। इन्दो सखायमा विश॥ ७॥

१. **मघोनः**=महनीय ज्ञानैश्वर्यवाले (मघ=ऐश्वर्य) तथा उत्तम यज्ञोंवाले (मघ=मख) हे **इन्दो**=सोम अथवा परमैश्वर्यवाले प्रभो! **नः**=हमें **आपवस्व**=पवित्र कीजिए। २. इस पवित्रता के लिए ही **विश्वा द्विषः**=हममें प्रवेश करनेवाली द्वेष-भावनाओं को **अपजहि**=नष्ट कर दीजिए। हमारे मन के मैल का स्वरूप ये राग-द्वेष ही तो हैं। ३. इस प्रकार हमारे जीवनों को निर्मल बनाकर हे प्रभो! **सखायम्**=आपके मित्र हममें **आविश**=प्रवेश कीजिए। इस प्रकार जीवन में प्रभु-प्राप्ति का क्रम यह है—१. सोम-रक्षा द्वारा ज्ञान व यज्ञमय जीवन बिताते हुए पवित्र बनना और २. द्वेषों से दूर होना।

भावार्थ—पवित्रता, द्वेष-शून्यता व प्रभु-प्राप्ति—इस सीढ़ी का हम आक्रमण करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इस सोम को और उस सोम को

११८५. नृचक्षसं त्वा वयमिन्द्रपीतं स्वर्विदम्। भक्षीमहि प्रजामिषम्॥ ८॥

हे सोम! **वयम्**=हम **त्वा**=तुझे **भक्षीमहि**=अपने अन्दर ग्रहण करते हैं। किस तुझे—१. **नृचक्षसम्**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले को (चक्ष्=look after)। शरीर में उत्पन्न सोम (शक्ति) मनुष्य को रोगादि से बचाता है और इस सोम-उत्पादन की व्यवस्था करनेवाले प्रभु तो हमारा पालन करनेवाले हैं ही। २. **इन्द्रपीतम्**=इस सोम का पान जितेन्द्रिय पुरुष के द्वारा होता है—उस प्रभु का भी पान—अपने अन्दर ग्रहण जितेन्द्रिय पुरुष ही कर पाता है। ३. **स्वर्विदम्**=यह पीया हुआ सोम उस **स्वः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति को प्राप्त करानेवाला है और प्राप्त हुई-हुई वह ज्योति **स्वः**=सब सुखों को देनेवाली है। ४. **प्रजाम्**=प्रकृष्ट विकास का यह कारण होता है। इस सोम की रक्षा ही सब उन्नतियों का मूल है और प्रभु-चिन्तन हमारे हृदय को विशाल बनानेवाला है। ५. **इषम्**=यह सोम हमारे जीवन को गतिशील बनाता है (इष् गतौ) और वह हृदयस्थ सोम (प्रभु) हमें उत्तम प्रेरणा देते हैं (इष् प्रेरणे)। इस प्रकार इन सोमों के द्वारा हम 'असित', 'काश्यप' व 'देवल'=स्वतन्त्र, ज्ञानी व देव बन पाते हैं।

भावार्थ—हम सोम का पान करें तथा इस सोमपान से उस सोमरूप प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोम-लता

११८६. वृष्टिं दिवः परि स्रव द्युम्नं पृथिव्या अधि। सहो नः सोम पृत्सु धाः॥ ९॥

सोमलता की जब अग्निहोत्र में आहुतियाँ दी जाती हैं तब कहते हैं कि हे प्रभो! तू १. **दिवः**= अन्तरिक्ष से **वृष्टिं परिस्रव**=वर्षा करनेवाला हो २. उस वर्षा के परिणामस्वरूप **पृथिव्याः अधिद्युम्नं परिस्रव**=इस पृथिवी में अधिक अन्न का जन्म देनेवाला बन। ३. और इस अन्न के द्वारा **नः**=हममें **पृत्सु**=रोगादि से संग्रामों में **सहः**=शक्ति को **धाः**=धारण कर।

एवं, सोमाहुति वृष्टि का कारण बनती है, अन्न को उत्पन्न करती है, और हमें शक्ति देती है कि हम रोगादि से संग्राम में सदा विजयी बनें।

सोम का अर्थ प्रभु करें तो मन्त्रार्थ इस प्रकार होगा।

१. हे **सोम**=प्रभो! धर्ममेघ समाधि में **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक से **वृष्टिम्**=आनन्द की वृष्टि को **परिस्रव**=कीजिए। २. **पृथिव्याः अधि**=इस शरीररूप पृथिवी में **द्युम्नम्**=ज्योति व शक्ति को उत्पन्न कीजिए। ३. **पृत्सु**=वासनाओं के साथ संग्रामों में **नः**=हमारे अन्दर **सहः**=इन शत्रुओं के पराभव के बल को **धाः**=धारण कीजिए।

भावार्थ—हम यज्ञों में सोमलता की आहुति दें। इस जीवन-यज्ञ में प्रभु का पूजन करनेवाले बनें।

सूक्त-३

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु को कौन प्राप्त करता है?

११८७. सोमः पुनानो अर्षति सहस्रधारो अत्यविः। वायोरिन्द्रस्य निष्कृतम्॥ १॥

वायोः=सारे संसार को गति देनेवाले **इन्द्रस्य**=सम्पूर्ण ऐश्वर्य के स्वामी प्रभु के **निष्कृतम्**=परिष्कृत स्थान को **अर्षति**=प्राप्त होता है। कौन ? १. **सोमः**=सोमपान करनेवाला, अतएव शक्ति का पुञ्ज तथा सौम्य स्वभाववाला पुरुष। जो शक्ति को अपने अन्दर सुरक्षित नहीं करते वे शक्तिशाली तो क्या बनेंगे, उनका स्वभाव भी सौम्य नहीं होता। २. **पुनानः**=जो सोमरक्षा के द्वारा अपने जीवन को पवित्र बनाता है, ३. **सहस्रधारः**=(धारा=वाङ्)=शतशः स्तुति-वाणियोंवाला होता है और सबसे बड़ी बात यह है कि ४. **अत्यविः**=(अव्=कान्ति=इच्छा)=इच्छओं को जो लांघ गया होता है, अर्थात् जो निष्काम बनता है।

भावार्थ—हम सौम्य, पवित्र, स्तोता व निष्काम बनकर प्रभु के धाम को प्राप्त करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सुरक्षा व दिव्यता-लाभ

११८८. पवमानमवस्यवो विप्रमभि प्र गायत। सुष्वाणं देववीतये॥ २॥

अवस्यवः=रक्षा चाहनेवाले सौम्य पुरुषो! यदि तुम यह चाहते हो कि तुमपर वासनाओं का आक्रमण न हो तो **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **अभि प्रगायत**=उस प्रभु का गायन करो जो—१. **पवमानम्**=तुम्हारे जीवन को निरन्तर पवित्र बनाते हैं। प्रभु स्मरण से वासनाओं का विनाश होता है और जीवन पवित्र बनता है। २. **विप्रम्**= जो तुम्हारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। प्रभु के सम्पर्क से प्रभु की दिव्यता—शक्ति व आनन्द का हमारे जीवन में प्रवाह होता है। चुम्बक के सान्निध्य से जैसे दूसरे लोहे में भी चुम्बुकीय शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार प्रभु-सम्पर्क से जीव में भी शक्ति का संचार होता है। ३. **सुष्वाणम्**=वे प्रभु निरन्तर उत्तम प्रेरणा दे रहे हैं। हृदयस्थ वे प्रभु सदा भद्र के लिए उत्साहित व अभद्र के लिए शंकित करते हैं, जिससे हम अभद्र से दूर रहकर भद्र को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु-पूजन हमें दिव्य गुणों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शक्ति-धन व दिव्य गुण

११८९. पवन्ते वाजसातये सोमाः सहस्रपाजसः। गृणाना देववीतये॥ ३॥

१. **सोमाः**=जो व्यक्ति सोमपान के द्वारा शक्तिशाली व सौम्य हैं, २. **सहस्रपाजसः**=हज़ारों के पालक बलवाले हैं। (पाजः पालनात्, 'पातेर्बलेजुट् च' उ० ४.२०८) जो व्यक्ति शक्ति प्राप्त करके हज़ारों व्यक्तियों का पालन करते हैं और ३. इस पालन के द्वारा सच्चे अर्थों में **गृणानाः**=प्रभु का स्तवन करते हैं—ये ही व्यक्ति १. **वाजसातये**=शक्ति व धन की प्राप्ति के लिए तथा २. **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **पवन्ते**=गतिशील होते हैं।

भावार्थ—शक्ति, धन व दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हमें सौम्य, सर्वभूतहिते रतः तथा स्तोता बनना चाहिए।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ज्योतिर्मय शक्ति

११९०. उत नो वाजसातये पवस्व बृहतीरिषः। द्युमदिन्दो सुवीर्यम्॥ ४॥

हे **इन्दो**=सर्वशक्तिमन् व परमैश्वर्यशाली प्रभो। **वाजसातये**=शक्ति, धन तथा त्याग की वृत्ति की प्राप्ति के लिए **नः**=हमें **बृहतीः**=वृद्धि की कारणभूत **इषः**=प्रेरणाओं को **पवस्व**=प्राप्त कराइए। **उत**=और इन प्रेरणाओं को अपनाने से हमें **द्युमत् सुवीर्यम्**=ज्योतिर्मय उत्तम शक्ति प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हे प्रभो। हमें आपकी प्रेरणा प्राप्त हो तथा ज्योतिर्मय शक्ति मिले।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

उत्तम प्रेरकों की प्रेरणा

११९१. अत्या हियाना न हेतृभिरसृग्रं वाजसातये। वि वारमव्यमाशवः॥ ५॥

हेतृभिः=प्रेरकों (हि गतौ) से **हियानाः**=प्रेरित किये जाते हुए मनुष्य **अत्याः न**=घोड़े-जैसी **वाजसातये**=(वाज=speed) शीघ्र गतिवाले होते हैं। अत्य=घोड़े स्वयं भी (अत=गमन) गतिशील हैं। जब ये उत्तम नियन्ता से प्रेरित होते हैं तब और अधिक तीव्रगति को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार **आशवः**=शीघ्रता से अपने नियत कार्यों में व्यापृत होनेवाले, अपने कार्य को स्फूर्ति से करनेवाले सज्जन लोग **हेतृभिः**=उत्तम प्रेरक विद्वानों के द्वारा **हियानाः**=प्रेरित होते हुए **अव्यम्**=उस (अव=दीप्ति, रक्षण) देदीप्यमान-आसुर वृत्तियों से रक्षण में सर्वोत्तम साधनभूत **वारम्**=वरणीय प्रभु की ओर **वाजसातये**=शक्ति प्राप्ति के मार्ग पर तीव्रता से आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—उत्तम प्रेरक विद्वानों को प्राप्त कर हम प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर हों।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सहस्री रयि की प्राप्ति

११९२. ते नः सहस्रिणं रयिं पवन्तामा सुवीर्यम्। स्वाना देवास इन्दवः॥ ६॥

पिछले मन्त्र में उत्तम प्रेरक विद्वानों का उल्लेख था। ये उत्तम प्रेरक विद्वान् 'असित, काश्यप, देवलं' ही हैं—अबद्ध, ज्ञानी, दिव्य गुणसम्पन्न। **ते**=ये विद्वान् **स्वानाः**=(सु आनयति) उत्तमता से प्राणशक्ति का संचार करनेवाले हैं, **देवासः**=ज्ञान की दीप्ति को देनेवाले हैं। (देव=द्योतन) **इन्दवः**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले हैं। ये विद्वान् **नः**=हमें **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति से सम्पन्न **सहस्रिणं रयिम्**=(हस्=हास्य=आनन्द) उस आनन्दमय प्रभु के ज्ञान से युक्त ऐश्वर्य को **आपवन्ताम्**=सर्वथा प्राप्त कराएँ। वे हमें उस आनन्दमय 'अट्टहास' नामवाले प्रभु का ज्ञान दें, जो ज्ञान हमें उत्तम शक्ति-सम्पन्न बनानेवाला हो। प्रभु का ज्ञान हमारे जीवनों में आनन्दोल्लास को भी भरेगा और हमें शक्तिशाली भी बनाएगा। इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हमें ऐसे विद्वान् आचार्यों का सम्पर्क प्राप्त हो जो हमारे जीवन में उत्साह, ज्ञान की ज्योति व शक्ति का संचार करनेवाले हों।

भावार्थ—उत्तम आचार्यों से हमें आनन्दमय प्रभु की ज्योति प्राप्त हो।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

आचार्यों के हाथों में

११९३. वाश्रा अर्षन्तीन्दवोऽभि वत्सं न मातरः। दधन्विरे गभस्त्योः॥ ७॥

वाश्राः=उत्तम ज्ञानमयी वाणियों का उच्चारण करनेवाले **इन्दवः**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले आचार्य **अर्षन्ति**=हमें उसी प्रकार प्राप्त होते हैं **न**=जैसे **अभिवत्सम्**=बछड़े की ओर **मातरः**=उनकी माताएँ—

गौवें प्राप्त होती हैं। गौ का अपने बछड़े के प्रति प्रेम लोकविदित है। वेद को भी प्रेम के विषय में यह उपमा प्रिय है '**अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या**'=एक दूसरे से ऐसा प्रेम करो जैसे गौ बछड़े से करती है। ये आचार्य हमें **गभस्त्योः**=अपने हाथों में (गभस्ति=हाथ) **दधन्विरे**=धारण करते हैं। प्राचीन काल की मर्यादा के अनुसार माता-पिता सन्तानों को आचार्यों के हाथों में सौंप आते थे। आचार्य पर ही उनके निर्माण का सारा उत्तरदायित्व होता था। वेद में अन्यत्र कहा है कि '**आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः**' आचार्य ब्रह्मचारी को अपने समीप लाता हुआ गर्भ में धारण करता था। उसे अपने समीप अत्यन्त सुरक्षित रखकर ये आचार्य **गभस्त्योः**= (गभस्ति=A ray of light, sunbeam or moonbeam) ज्ञान की किरणों में—सूर्य के समान ब्रह्मज्योति में तथा चन्द्र के समान विज्ञान के प्रकाश में **दधन्विरे**=धारण करते हैं। ब्रह्मज्योति से यदि हम निःश्रेयस की साधना कर पाते हैं तो विज्ञान की ज्योति से हमें अभ्युदय की प्राप्ति होती है। 'अभ्युदय और निःश्रेयस' को सिद्ध करनेवाला यह ज्ञान ही तो वस्तुतः धर्म है।

भावार्थ—हम आचार्यों के प्रिय हों। वे आचार्य हमें ब्रह्मज्ञान व विज्ञान की ज्योतियों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पवमान की प्रार्थना

२ ३ १ २ ३१ २र ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
११९४. जुष्ट इन्द्राय मत्सरः पवमानः कनिक्रदत्। विश्वा अप द्विषो जहि॥ ८॥

आचार्य के उपदेश से **इन्द्राय जुष्टः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के प्रति (जुष्=प्रीतिसेवनयोः) प्रीतिवाला तथा उसकी उपासना करनेवाला **मत्सरः**=एक अद्भुत आनन्दोल्लास में आगे और आगे बढ़नेवाला (प्रभुभक्त को एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता ही है। वह उस आनन्द में मस्त-सा हो जाता है)। **पवमानः**=अपने जीवन को पवित्र करने के स्वभाववाला **कनिक्रदत्**=बारम्बार पुकारता है कि—हे प्रभो! **विश्वाः**=मेरे न चाहते हुए भी मेरे अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाली **द्विषः**=इन द्वेष की भावनाओं को (द्वेषणं=द्विट्) **अपजहि**=सुदूर नष्ट कर दीजिए। आपके स्मरण से मेरा हृदय प्रीति से भर जाए, वहाँ द्वेष का नामोनिशान भी न रहे।

भावार्थ—मैं प्रभु-भक्त बनूँ, पवित्र बनूँ, प्रेम से पगा मेरा हृदय हो।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ऋत के उत्पत्ति स्थान में

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
११९५. अपघ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः। योनावृतस्य सीदत॥ ९॥

प्रभु पवमान की प्रार्थना का उत्तर देते हैं—१. **अराव्णः**=(रा दाने) न देने की वृत्तियों को **अपघ्नन्तः**=सुदूर नष्ट करते हुए, अर्थात् सदा दान की वृत्ति को अपने में पनपाते हुए और इस प्रकार २. **पवमानाः**=अपने जीवनों को पवित्र करते हुए। दान से लोभादि मलों का नाश हो जाता है और मनुष्य का जीवन पवित्र हो उठता है। ३. पवित्र होकर **स्वर्दृशः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु का दर्शन करनेवाले अथवा स्वर्=दीप्ति को देखनेवाले सदा प्रकाश में विचरनेवाले तुम **ऋतस्य योनौ**=ऋत के उत्पत्ति स्थान मुझमें **सीदत**=निवास करो। प्रभु सृष्टि के मूल नियम 'ऋत' को जन्म देनेवाले हैं।

उस 'ऋत' के मूल प्रभु में स्थित होने के लिए ऋत का पालन आवश्यक है। यह क्या है?

मनुष्य के लिए १. दान देना २. अपने को पवित्र करना तथा ३. दीप्ति का दर्शन करना—ज्ञान प्राप्त करना ही 'ऋत' है। न देना, अपवित्रता व तमोगुण में विचारना ही अनृत है।

भावार्थ—हम दें, पवित्र बनें, दीप्ति को देखें और प्रभु में स्थित हों।

सूक्त-४

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सौम्यता, शक्ति, वैदिक जीवन, माधुर्य

११९६. सोमा असृग्रमिन्दवः सुता ऋतस्य धारया। इन्द्राय मधुमत्तमाः ॥ १ ॥

इन्द्राय=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **असृग्रम्**=भेजे जाते हैं (विसृज्यन्ते) या बनाये जाते हैं, अर्थात् ये प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं। कौन—१. **सोमाः**=सौम्य स्वभाववाले पुरुष, अथवा शक्ति का पान करनेवाले अतएव शक्ति के पुञ्ज बने हुए पुरुष २. **इन्दवः**=संसार में वासनाओं से चल रहे संग्राम में शक्तिशाली प्रमाणित होनेवाले ३. **ऋतस्य**=सब सत्यविद्याओं की **धारया**=वेदवाणी से **सुताः**=निष्पादित व संस्कृत जीवनवाले व्यक्ति। वेद के अनुसार अपने जीवनों को बनानेवाले ४. **मधुमत्तमाः**=अत्यन्त मधुर। जिनकी वाणी के अग्रभाग में मधु है—जिनकी वाणी के मूल में मधु है, जिनका जीवन मधुमय हो गया है।

भावार्थ—हम सौम्य, शक्तिशाली, वेदानुकूल जीवनवाले, माधुर्यमय बनकर प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्र-स्तवन

११९७. अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न धेनवः। इन्द्रं सोमस्य पीतये ॥ २ ॥

विप्राः=अपना विशेषरूप से पूरण करने की कामनावाले, अपनी न्यूनताओं को दूर करने की प्रबल इच्छावाले व्यक्ति **इन्द्रम्**=सब ऐश्वर्यों को अधिष्ठाता प्रभु का **अभि अनूषत**=दोनों ओर, अर्थात् सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते स्तवन करते हैं। प्रभु से ये ऐसा ही प्रेम करते हैं **न**=जैसेकि **धेनवः**=दुधारू गौएँ **वत्सम्**=बछड़े से प्रेम करती हैं। गौवों का बछड़े के प्रति प्रेम अनुपम है, विप्र लोगों का प्रभु के प्रति ऐसा ही प्रेम होता है तभी तो उसकी भक्ति में वे तन्मय हो जाते हैं और रसमय वाणी से उसका स्तवन करते हैं। ऐसा ये **सोमस्य पीतये**=सोम के पान के लिए करते हैं। शरीर के अन्दर रसादि क्रम से उत्पन्न सोम की रक्षा—उसका शरीर में ही पान करना प्रभुस्तवन के बिना सम्भव नहीं। वासनामय जगत् सोमपान के लिए अत्यन्त दूषित है—इस सोम का पान तो वासना-विनाश से ही सम्भव है। वासना-विनाश के लिए प्रभु-स्मरण अचूक औषध है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन मेरी वासनाओं को विनष्ट करके मुझे सोमपान के योग्य बनाता है। इस सोमपान से मेरा शरीर नीरोग बनता है। मन निर्मल होता है और बुद्धि तीव्र होती है। इस प्रकार मेरा पूरण होता है और मैं 'विप्र' बनता हूँ।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मद-च्युत्

११९८. मदच्युत्क्षेति सादने सिन्धोरूर्मा विपश्चित्। सोमो गौरी अधि श्रितः ॥ ३ ॥

मद-च्युत्=गर्व न करनेवाला **विपश्चित्**=वस्तुतत्त्वों को देखकर विशेषरूप से चिन्तन करनेवाला विद्वान् **सादने**=वासनाओं को विनष्ट कर देने पर **सिन्धोः**=(स्यन्दमानाः अपः=रेतः) सामान्यतः निम्नदेश (नीचे) की ओर बहनेवाले जलों—रेतःकणों के **ऊर्मौ**=ऊर्ध्वगति (upward flow) में **क्षेति**=निवास करता है। जब मनुष्य चिन्तनशील बनता है तब सामान्यतः वासनाओं का शिकार नहीं होता। शरीर में उत्पन्न सोम का विलास में व्यय न कर उसकी ऊर्ध्वगतिवाला होता है और एक अद्भुत आनन्द का अनुभव करता है। उस समय यह मद को, विषयों को छोड़ देता है। यह विषयमद उसके लिए तुच्छ हो जाता है।

सोमः=सोम की रक्षा के द्वारा सौम्य स्वभाव बना हुआ यह ज्ञानी अपने अधिक-से-अधिक समय में **गौरी अधि**=(गौरी=वाङ्नाम—नि० १.११.५) वाणी में, वेदवाणी के अध्ययन में **श्रितः**=लगा होता है। यह अपना अधिक-से-अधिक समय ज्ञानोपार्जन में बिताता है।

भावार्थ—१. हम शरीर में सोम की ऊर्ध्वगतिवाले हों, २. मद से रहित होकर सौम्य बनें। ३. अपना समय ज्ञानोपार्जन में बिताएँ।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

महिमा की अनुभूति

११९९. दिवो नाभा विचक्षणोऽव्या वारे महीयते। सोमो यः सुक्रतुः कविः ॥ ४ ॥

वह व्यक्ति **अव्या**=(अव्=रक्षण) वासनाओं से अपने रक्षण के द्वारा **वारे**=वरणीय प्रभु में **महीयते**=महिमा का अनुभव करता है। जब हम सब वासनाओं से अपने को सुरक्षित कर लेते हैं तब प्रभु में स्थित होकर अपनी महिमा को देख पाते हैं—आत्मोत्कर्ष का साक्षात्कार करते हैं। ऐसा कर वही पाता है **यः**=जो—

१. **दिवः नाभा**=(नाभि=centre, chief point वा home) ज्ञान के केन्द्र में विचरण करता है। जिसकी क्रियाओं का मुख्य ध्येय ज्ञान की प्राप्ति होता है। जो ज्ञान को ही अपना घर बनाता है। २. **यः विचक्षणः**=ज्ञान में विचरण करने के कारण जो वस्तुतत्त्व को विशेषरूप से देखनेवाला होता है। ३. **सोमः**=वस्तुतत्त्व को देखने के कारण ही इस अनन्त संसार में अपनी शक्ति व ज्ञान की सीमाओं को देखता हुआ जो सदा सौम्य स्वभाववाला होता है—कभी गर्व नहीं करता। ४. **सुक्रतुः**=सदा उत्तम सङ्कल्पों व कर्मोंवाला होता है। ५. **कविः**=क्रान्तदर्शी बनता है (कौति) तथा ज्ञान का प्रचार करता है।

भावार्थ—हम ज्ञान के केन्द्र में ही विचरण करें और ज्ञान का ही प्रसार करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु का आलिंगन

१२००. यः सोमः कलशेष्वा अन्तः पवित्र आहितः। तमिन्दुः परि षस्वजे ॥ ५ ॥

यः=जो भी व्यक्ति १. **सोमः**=सोमपान करके सोम (शक्ति) का पुञ्ज बनता है, परन्तु साथ ही अत्यन्त सौम्य स्वभाववाला होता है। २. **कलशेषु**=(कलाः शेरते एषु) प्राणादि सोलह कलाओं के आधारभूत पञ्चकोषों के **अन्तः**=अन्दर **आपवित्रः**=समन्तात् पवित्र होकर **आहितः**=स्थापित होता है। जो अपने शरीर को निर्बलता, प्राणमयकोश को रोग, मनोमयकोश को द्वेषादि, विज्ञानमय-कोश को कुण्ठता तथा आनन्दमयकोश को असहिष्णुता आदि मलों से मलिन नहीं होने देता और

इस प्रकार सर्वथा पवित्र होकर इन कलशों—कोशों में निवास करता है, **तम्**=उसको ही **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् सर्वैश्वर्य-सम्पन्न प्रभु **परिषस्वजे**=आलिंगन करते हैं।

भावार्थ—हम सौम्य व पवित्र बनकर प्रभु के आलिंगन के पात्र बनें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

हृदय में प्रकाश का दर्शन

१२०१. प्र वाचमिन्दुरिष्यति समुद्रस्याधि विष्टपि। जिन्वन् कोशं मधुश्चुतम् ॥ ६ ॥

जब सौम्य व पवित्र व्यक्ति का प्रभु आलिंगन करते हैं तब वे **इन्दुः**=प्रभु **समुद्रस्य**=हृदय के (समुद्रः अन्तरिक्षनाम—नि० १.३; मनो वै समुद्रः—श० ७.५.२.५२) **अधिविष्टपि**=स्थान में निवास करते हुए **वाचम्**=वेदवाणी को **प्र इष्यति**=प्रकर्षेण प्रेरित करते हैं। प्रभु हम सबके हृदय में सदा वेदज्ञान का प्रकाश कर रहे हैं, क्योंकि प्रभु तो हैं ही ज्ञान-प्रकाशमय, परन्तु हम उस ज्ञान के प्रकाश को तभी देख पाते हैं जब हम सौम्यता व पवित्रता को धारण करते हैं।

जब प्रभु इस प्रकार ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराते हैं तब वे हमारे **मधुश्चुतम्**=माधुर्य को प्रवाहित करनेवाले **कोशम्**=आनन्दमयकोश को **जिन्वन्**=प्रीणित करते हैं, अर्थात् ज्ञान के प्रकाश को देखने पर हम एक विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं। आनन्द तो है ही प्रकाश में। अन्धकार में भय है। ज्ञान हमें उस एकत्व व अद्वैत का अनुभव कराता है जहाँ भय का अभाव है।

भावार्थ—हम ज्ञान के प्रकाश में मानव की एकता को देखकर शोक-मोह से ऊपर उठ जाएँ।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वेदवाणी का प्रेरण किनमें

१२०२. नित्यस्तोत्रो वनस्पतिर्धेनामन्तः सबर्दुघाम्। हिन्वानो मानुषा युजा ॥ ७ ॥

नित्यस्तोत्रः=सदा जिसका स्तवन होता है—वे प्रभु। धर्मात्मा तो प्रभु का स्मरण व कीर्तन करते ही हैं, आपत्ति आने पर पापात्मा भी प्रभु के आर्तभक्त बनते हैं। इस प्रकार वे प्रभु 'नित्यस्तोत्र' हैं। अथवा वेदवाणी ही स्तोत्र है, क्योंकि यह (सर्वे वेदा यत्पदमाम्नन्ति) उस प्रभु का प्रतिपादन कर रही है। वे प्रभु नित्य, अविनश्वर वेदवाणीवाले हैं। **वनस्पतिः**=(वनम् इति रश्मिनाम—नि० १.५.८)—वे प्रभु ज्ञान की रश्मियों के पति हैं।

वे प्रभु इस **सबर्दुघाम्**=ज्ञान के दुग्ध का दोहन (पूरण) करनेवाली **धेनाम्**=वेदवाणी को (धेना वाङ्नाम—नि० १.११.३९) **युजा**=योग के द्वारा अपने साथ मेल करनेवाले **मानुषा**=मननशील पुरुषों के **अन्तः**=हृदय में **हिन्वानः**=प्रेरित करते हैं। वेदवाणी की प्रेरणा उन्हीं के अन्दर होती है जो योगमार्ग पर चलकर उस प्रभु के साथ अपना योग (सम्पर्क) स्थापित करते हैं। प्रभु का ज्ञान तो नित्य है—वे प्रभु ज्ञान की रश्मियों के पति हैं। मेरा उनके साथ सम्पर्क होते ही मुझे वह ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होने लगता है।

भावार्थ—मैं योगमार्ग पर चलूँ और प्रकाश का अनुभव करूँ।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आत्मज्ञान व अभय

१२०३. आ पवमान धारय रयिं सहस्रवर्चसम्। अस्मे इन्दो स्वाभुवम् ॥ ८ ॥

हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले **इन्दो**=परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभो! आप **अस्मे**=हममें **स्वाभुवम्**=(स्व=आत्मा भू=होना) आत्मा में होनेवाले, अर्थात् आत्मविषयक **सहस्रवर्चसम्**=आत्म-ज्ञान के द्वारा अनन्त शक्ति देनेवाले **रयिम्**=ज्ञान-धन को **आधारय**=सर्वथा धारण कराइए। आपकी कृपा से हम आत्मज्ञान प्राप्त करें, और अपनी महिमा का अनुभव करें। आत्मज्ञान हमें निर्भीक व शक्ति-सम्पन्न बनाता है। आत्मज्ञान प्राप्त करके मनुष्य मृत्यु आदि के भय से ऊपर उठ जाता है

भावार्थ—हम आत्मज्ञान प्राप्त करके अभय बन जाएँ।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

द्युलोक के उत्कृष्ट लोकों की ओर

१२०४. अभि प्रिया दिवः कविर्विप्रः स धारया सुतः। सोमो हिन्वे परावति ॥ १ ॥

परावति=सुदूर प्रदेश में अथवा उत्कृष्ट रक्षक परमेश्वर में स्थित हुआ-हुआ व्यक्ति **दिवः**=द्युलोक के **प्रिया**=आनन्दमय सुन्दर लोकों के प्रति **अभिहिन्वे**=प्राप्त होता है। कौन—१. **कविः**=जो क्रान्तदर्शी बनता है—जो वस्तुओं के तत्त्व को देखने का प्रयत्न करता है। २. **विप्रः**= जो विशेष रूप से अपना पूरण करनेवाला है। जो सदा अपनी न्यूनताओं को दूर करके अपने में गुणों का पूरण करने में लगा हुआ है। ३. **सः**=वह जो **धारया**=वेदवाणी के द्वारा **सुतः**=संस्कृत जीवनवाला हुआ है। ४. **सोमः**=जो सौम्यस्वभाववाला—अभिमान से दूर है।

यह व्यक्ति 'सूर्यद्वार' से जाता हुआ अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। अब यह इस मर्त्यलोक में जन्म न लेकर सुदूर द्युलोक के किसी प्रकाशमय लोक में जन्म लेता है। जितना-जितना हम अपना जीवन वेदवाणी के अनुसार बनाएँगे उतना-उतना ही हमारा जीवन परिष्कृत होता जाएगा (सुतः) हमारी न्यूनताएँ दूर हो जाएँगी (विप्रः) और हम अधिकाधिक क्रान्तदर्शी बनेंगे (कविः)। ऐसा बनने पर हम द्युलोक के उत्कृष्ट लोकों में जन्म लेनेवाले होगें और क्रमशः ब्रह्मलोक की ओर बढ़ रहे होंगे।

भावार्थ—हम अपने जीवन को वैदिक जीवन बनाएँ और उत्कृष्ट लोकों में जन्म लेनेवाले हों।

सूक्त-५

ऋषिः—उचथ्य आङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'उचथ्य आङ्गिरस' की तीन विशेषताएँ

१२०५. उत्ते शुष्मास ईरते सिन्धोरूर्मेरिव स्वनः। वाणस्य चोदया पविम् ॥ १ ॥

प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करने में लगा हुआ 'उचथ्य' है। यह सब व्यसनों व अन्तःशत्रुओं से बचा रहने के कारण 'आङ्गिरस' है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिवाला है। इस 'उचथ्य' से प्रभु कहते हैं कि १. **ते शुष्मासः**=तेरे शत्रु-शोषक बल **उत् ईरते**=उच्च होते हैं, तेरी शक्तियाँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं। (२) **सिन्धोःऊर्मेः इव स्वनः**=समुद्र के कल्लोलों (waves के समान तेरा स्वन (आवाज़) है)। रामायण में 'पर्जन्यनिनदोपमः'—'बादल की गर्जना के समान गर्जनावाला' शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वस्थ, सबल मनुष्य की वाणी भी स्वस्थ व सबल होती है। '**सिन्धोरूर्मेः इव स्वनः**' इस वाक्यांश का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि (सिन्धु-स्यन्दमान सोमकण, ऊर्मि—ऊर्ध्वगति) शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति (रक्षा) के अनुपात में ही तेरी वाणी की सबलता है। जितना-जितना

मनुष्य शरीर में वीर्य को सुरक्षित रखता है, उतना ही वह उच्च, सबल ध्वनिवाला होता है। (३) हे उचथ्य! तू **वाणस्य**=इस जीवनरूप शततन्त्रीकवीणा की (वाण=सौ तारोंवाली सितार) **पविम्**=वाणी को—स्वर को **चोदय**=प्रेरित कर। यह तेरा सौ वर्ष का जीवन सौ तारोंवाली सितार के समान हो और इस सितार से सदा पवित्र करनेवाली ध्वनि (पवि) निकलती रहे। सौ-के-सौ वर्ष शुभ, मङ्गल शब्दों का ही उच्चारण होता रहे।

भावार्थ—१. हम शक्तियों का विकास करें। २. वीर्यरक्षा द्वारा अपनी वाणी को सबल बनाएँ। ३. हमारी जीवनरूप शततन्त्रीकवीणा पवित्र वाणी का उच्चारण करे।

ऋषिः—उचथ्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उचथ्य का उदीरण

१२०६. प्रसवे त उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युवः। यदव्य ऐषि सानवि ॥ २ ॥

उसी उचथ्य से कहते हैं कि १. तू जब **सानवि**=सर्वोच्च (सा काष्ठा सा परागतिः—प्रभु ही तो अन्तिम शरण हैं। वे परमेष्ठी हैं—सर्वोच्च स्थान में स्थित हैं), **अव्ये**=रक्षण में उत्तम (प्रभुस्मरण ही हमें वासनाओं से बचानेवाला है) प्रभु में **एषि**=गति करता है—अपने को प्रभु में स्थित होकर कार्य करनेवाला मानता है, तब २. **मखस्युवः**=यज्ञों के करनेवाले **ते प्रसवे**=तेरे प्रकृष्ट यज्ञों में **तिस्रः वाचः**=ऋग्, यजुः, सामरूप तीन वाणियाँ **उदीरते**=उच्चरित होती हैं। उचथ्य बड़े-बड़े यज्ञों में सदा प्रवृत्त रहता है, और उन यज्ञों में वेदवाणियों का उच्चारण करता है। इन सब यज्ञों का उसे गर्व नहीं होता, क्योंकि वह अनुभव करता है कि मेरी तो सारी गति उस प्रभु में ही हो रही है। सर्वोच्च स्थान में स्थित प्रभु में सुरक्षित होकर ही तो मैं इन कार्यों को कर पा रहा हूँ।

भावार्थ—१. हम सदा प्रभु में स्थित हों २. उत्कृष्ट यज्ञों में लगे रहें ३. वेदवाणियों का उच्चारण करें।

ऋषिः—उचथ्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु-प्राप्ति के तीन उपाय

१२०७. अव्या वारैः परि प्रियं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। पवमानं मधुश्चुतम् ॥ ३ ॥

अव्या=वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाने के द्वारा **वारैः**=काम-क्रोधादि के निवारणों से तथा **अद्रिभिः**=दृढ़ संकल्पों से 'उचथ्य' लोग उस प्रभु को **परिहिन्वन्ति**=सर्वथा प्राप्त होते हैं, जो प्रभु १. **प्रियम्**=प्रिय हैं-आत्मिक तृप्ति देनेवाले हैं (प्री-तर्पणे) २. **पवमानम्**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले हैं—तथा ३. **मधुश्चुतम्**=माधुर्य को क्षरित करनेवाले हैं—हमारे जीवनों में रस का उत्पादन करनेवाले हैं। ४. **हरिम्**=सब दुःखों का हरण करनेवाले हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हमारे जीवनों में तृप्ति, पवित्रता व रस का संचार करते हैं। उस प्रभु की प्राप्ति का उपाय १. वाणी, मन आदि का अशुभवृत्तियों से रक्षण २. वासनाओं का निवारण तथा ३. प्रभु-प्राप्ति का दृढ़ संकल्प है।

ऋषिः—उचथ्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वेदवाणी के अनुसार चलना

१२०८. आ पवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे। अर्कस्य योनिमासदम् ॥ ४ ॥

हे **मदिन्तम**=हे अत्यन्त प्रसन्न स्वभाववाले! **कवे**=क्रान्तदर्शिन्! तू **अर्कस्य**=अर्चनीय प्रभु के **योनिम्**=पवित्र स्थान को **आसदम्**=प्राप्त करने के लिए **धारया**=वेदवाणी के अनुसार (धारा-वाणी-वेदवाणी) **आपवस्व**=सर्वथा गतिशील हो। तेरे सारे कार्य वेद के निर्देशानुसार हों।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिए कि १. वह प्रसन्न मनोवृत्तिवाला हो, २. क्रान्तदर्शी बने, तत्त्व का द्रष्टा हो तथा ३. वेद के अनुसार अपने जीवन को बनाए, तभी वह उस अर्चनीय प्रभु के पवित्र स्थान को प्राप्त करेगा।

ऋषिः—उचथ्यः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु में निवास

१२०९. स पवस्व मदिन्तम गोभिरञ्जानो अक्तुभिः। एन्द्रस्य जठरं विश॥ ५॥

हे उचथ्य! **सः**=वह तू १. **मदिन्तम**=सर्वथा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला बना हुआ, २. **गोभिः पवस्व**=वेदवाणियों के अनुसार गतिशील हो—सदा वैदिक क्रिया में लगा रह और इस प्रकार अपने जीवन को पवित्र बना। ३. **अक्तुभिः**=वेद के द्वारा ही प्रकाश की किरणों से (अक्तु=a ray of light) **अञ्जानः**=अपने जीवन को अलंकृत करता हुआ तू **इन्द्रस्य जठरम्**=प्रभु के उदर में **आविश**=प्रवेश कर, प्रभु के गर्भ में निवास करनेवाला बन, अर्थात् प्रभु को प्राप्त कर।

भावार्थ—१. हम प्रसन्न मनोवृत्तिवाले हों २. वेदानुसार क्रियाओं में लगे रहें ३. प्रकाश की किरणों से अपने जीवन को अलकृंत करें और इस प्रकार सदा प्रभु में निवास करनेवाले बनें।

सूक्त-६

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शत्रु-संहार

१२१०. अया वीती परि स्रव यस्त इन्दो मदेष्वा। अवाहन्नवतीर्नव॥ १॥

मन्त्र संख्या ४९५ पर इसका अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

काम-क्रोध-लोभ का नाश

१२११. पुरः सद्य इत्थाधिये दिवोदासाय शंबरम्। अध त्यं तुर्वशं यदुम्॥ २॥

पुरः सद्यः=सामने ही शीघ्र ही **इत्थाधिये**=(इत्थेति सत्यनाम—नि० १०.५; **धीः**-कर्म-प्रज्ञा—नि० २.२१) सत्यकर्मा, सत्यज्ञानवाले पुरुष के लिए **दिवोदासाय**=उस प्रकाशमय प्रभु के दास के लिए **शंबरम्**=शान्ति के निवारण करनेवाले क्रोधरूप मानसभाव को यह सोम (अवाहन्) नष्ट करता है। सोम की रक्षा के लिए १. सत्कर्मों में लगे रहना, २. सत्यज्ञान को प्राप्त करना, उत्तमोत्तम पुस्तकों का स्वाध्याय करना, तथा ३. प्रभु का उपासक बनना—ये तीन मुख्य साधन हैं। इन साधनों से सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमारे क्रोध को नष्ट करता है। क्रोध उसी पुरुष को आता है जिसमें शक्ति की कमी हो। **अध त्यं तुर्वशम्**=अब इस त्वरा से अपने वश में कर लेनेवाले काम को (अवाहन्) नष्ट करता है। जितना-जितना मनुष्य सोम-रक्षा में समर्थ नहीं होता उतना-उतना ही अधिक कामासक्त होता जाता है। इस काम के अतिरिक्त **यदुम्**=(इतरधनाय यतते तम्—ऋ० १.३६.१८ द०) निरन्तर

औरों के भाग को हड़पने का यत्न करनेवाली लोभरूप वृत्ति को भी नष्ट करता है।

भावार्थ—सत्कर्म प्रवृत्ति, सत्यज्ञानरुचि, तथा प्रभुभक्ति से हम सोम की रक्षा करते हैं। यह सुरक्षित सोम काम-क्रोध-लोभ को हमपर अधिकार नहीं करने देता।

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अश्व-गौ-हिरण्य-इष

१२१२. परि णो अश्वमश्वविद्गोमदिन्दो हिरण्यवत्। क्षरा सहस्त्रिणीरिषः ॥ ३ ॥

हे **इन्दो**=शक्ति के पुञ्ज सोम! तू **नः**=हमारे लिए **अश्वविद्**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला है। (अश्व=कर्मेन्द्रियाँ) १. **अश्वम्**=उत्तम कर्मेन्द्रियसमूह को **परिक्षर**=प्रकट कीजिए। यह उत्तम कर्मेन्द्रियों का समूह २. **गोमत्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला हो। ३. **हिरण्यवत्**=उत्तम धनवाला हो (हितरमणीय धनवाला हो)।

हे सोम! तू **सहस्त्रिणीः इषः**=शतशः प्रेरणाओं को **परिक्षर**=देनेवाला हो। परमात्मपक्ष में तो इस मन्त्रभाग का अर्थ स्पष्ट ही है। सोम रक्षावाले पक्ष में जब सोम की ऊर्ध्वगति होकर हम दीप्त ज्ञानाग्निवाले तथा निर्मल हृदयवाले बनते हैं तब हम उस प्रभु के प्रकाश को देखनेवाले होते हैं और प्रभु की प्रेरणा को सुनते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें उत्तम कर्मेन्द्रियाँ, उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ, उत्तम धन व ज्ञान तथा प्रभु की शतशः प्रेरणाएँ प्राप्त कराता है।

सूक्त-७

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'मृध्+अराव्ण' से दूर

१२१३. अपघ्नन् पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः। गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अमहीयु आङ्गिरसः' है। यह पार्थिव कामनाओं से ऊपर उठा हुआ शक्तिशाली पुरुष है। यह **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **निष्कृतम्**=संस्कृत स्थान को—पवित्र धाम को **गच्छन्**=जाने के हेतू से १. **मृधः**=हमारी हिंसा करनेवाले 'काम-क्रोध-लोभ' को **अपघ्नन्**=दूर नष्ट करता हुआ **पवते**=गति करता है—अपनी जीवन-यात्रा में चलता है। २. **सोमः**=यह सौम्य स्वभाववाला होता हुआ **अराव्णः**=न देने की वृत्ति को **अप**=अपने से दूर रखता है। इस प्रकार 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठा हुआ यह सचमुच 'अमहीयु' बनता है। पार्थिव भोगों में न फँसने के कारण ही शक्तिशाली भी बना रहता है।

भावार्थ—अ-मही-यु पुरुष 'कामादि हिंसक वृतियों से तथा लोभ से दूर रहकर प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान, काम विजय, वीरता व यश

१२१४. महो नो राय आ भर पवमान जही मृधः। रास्वेन्दो वीरवद्यशः ॥ २ ॥

हे **पवमान**=हम सबके जीवनों को पवित्र करनेवाले प्रभो! १. **नः**=हमें **महे राये**=महत्त्वपूर्ण ऐश्वर्य के लिए, अर्थात् ज्ञानरूप ऐश्वर्य के लिए **आभर**=प्राप्त कराइए। २. इस ज्ञानैश्वर्य की प्राप्ति के लिए ही **मृधः**=कामादि हिंसक वृत्तियों को **जही**=नष्ट कीजिए। ३. हे **इन्दो**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमन् प्रभो! (इदि परमैश्वर्ये, इन्द्=to be powerful) **वीरवद् यशः**=वीरता से युक्त यश **रास्व**=हमें दीजिए।

काम ज्ञान पर सदा आवरण डाले रखता है। इस आवरण के हटने पर ही ज्ञान की दीप्ति चमकती है और मनुष्य उत्तम लोकहित के कार्यों को करता हुआ वीरता-पूर्ण यश को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें, काम पर विजय पाएँ, वीर व यशस्वी हों।

ऋषिः—अमहीयुराङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पवित्रता, यज्ञ व दान

१२१५. न त्वा शतं च न ह्रुतो राधो दित्सन्तमा मिनन्। यत्पुनानो मखस्यसे॥ ३॥

प्रभु 'अमहीयु' से कहते हैं कि १. **यत्**=जब **पुनानः**=अपने जीवन को पवित्र बनाता हुआ २. **मखस्यसे**=तू यज्ञों को करना चाहता है तब ३. **राधः**=धनों को **दित्सन्तम्**=देने की इच्छावाले **त्वा**=तुझे **शतम्**=सैकड़ों **ह्रुतः**=कुटिल भावनाएँ **चन**=भी **न आमिनन्**=हिंसित नहीं करतीं।

हमारे जीवन में सदा शतशः कुटिल भावनाएँ हमारे मनों पर आक्रमण कर रही हैं। इनसे बचने का उपाय यही है कि १. हम सदा अपने को पवित्र बनाने का ध्यान करें २. यज्ञ करने की कामनावाले हों तथा ३. सदा देने की इच्छावाले हों। पवित्रता, यज्ञ व दान के विचार ही हमारी अशुभों से रक्षा करते हैं।

भावार्थ—हम पवित्र बनें, यज्ञ की कामनावाले हों, अपने में दान की भावना को जगाएँ।

सूक्त-८

ऋषिः—निध्रुविः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मानव हितकारी कर्म

१२१६. अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः। हिन्वानो मानुषीरपः॥ १॥

४९३ संख्या पर इसका अर्थ इस प्रकार है—हे सोम! तू **अया धारया**=अपनी इस धारणशक्ति से **पवस्व**=हमारे अन्दर प्रवाहित हो **यया**=जिससे तू हममें **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को **अरोचयः**=दीप्त करनेवाला हो और **मानुषीः अपः**=मानव-हितकारी कर्मों को **हिन्वानः**=हममें प्रेरित करनेवाला हो।

भावार्थ—सोम-रक्षा से हमारे जीवन का धारण हो, हमारा ज्ञानसूर्य चमके और हम मानवहित के कर्मों को करें।

ऋषिः—निध्रुविः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मध्य-मार्ग

१२१७. अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावधि। अन्तरिक्षेण यातवे॥ २॥

सूरः=सर्वत्र सरणशील (सरति) अथवा सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाला (षू प्रेरणे) **पवमानः**=पवित्र करनेवाला प्रभु **मनौ अधि**=मननशील पुरुष में **एतशम्**=चित्रित अश्व को, अर्थात् विविध क्रिया करनेवाले इन्द्रियरूप घोड़ों को **अयुक्त**=जोतता है। जोतता इसलिए है कि वह मननशील पुरुष **अन्तरिक्षेण यातवे**=मध्यमार्ग से (अन्तरा, क्षि) गति करनेवाला बने। दोनों सीमाओं (Extremes) के बीच में मध्यमार्ग 'अन्तरिक्ष' कहलाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य का लोक 'अन्तरिक्ष' लोक कहलाता है। 'हम सदा इस अन्तरिक्ष—मध्यमार्ग से चलनेवाले बनें।' इस उद्देश्य से हमारे शरीररूप रथ में उस प्रेरक पवित्रकर्त्ता प्रभु ने चित्रित अश्वों को—इन्द्रियरूप घोड़ों को जोता है। अति से बचते हुए और मध्यमार्ग से चलते हुए हम अपनी जीवन-यात्रा को पूर्ण कर सकेंगे। निश्चय से ध्रुवतापूर्वक मध्यमार्ग से चलने के कारण यह 'निध्रुवि' है और ज्ञानी होने के कारण 'काश्यप' है।

भावार्थ—हम अपनी जीवन-यात्रा में ध्रुवता से मध्यमार्ग से चलनेवाले बनें।

ऋषिः—निध्रुविः काश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के प्रति जानेवाला

१२१८. उत त्या हरितो रथे सूरो अयुक्त यातवे। इन्दुरिन्द्र इति ब्रुवन्॥ ३ ॥

उत=और **सूरः**=परमात्मा के प्रति सरणशील उपासक '**इन्दुः**=वे प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं, **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली हैं', **इति ब्रुवन्**=ऐसा उच्चारण करता हुआ **यातवे**=उस प्रभु के प्रति जाने के लिए **रथे**=अपने इस तीव्र गतिवाले शरीररूप रथ में **त्याः हरितः**=उन प्रसिद्ध इन्द्रियाश्वों को **अयुक्त**=जोड़ता है।

मनुष्य को सदा प्रभु के प्रति गतिवाला बनना है। अपनी जीवन-यात्रा में उसे सदा प्रभु का स्मरण करना चाहिए कि वह सर्वशक्तिमान् है, परमैश्वर्यशाली है। जीवन-यात्रा को पूर्ण करने के लिए शरीररूप रथ में इन्द्रियाश्वों को जोतना है।

भावार्थ—हे जीव! तूने प्रभु-स्मरण करते हुए जीवन-यात्रा को पूर्ण करना और यही समझना कि सब ऐश्वर्य उस प्रभु का ही है, सब शक्ति उस प्रभु की ही है।

सूक्त-९

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अग्नि नेता

१२१९. अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुध्वम्।
यो मर्त्येषु निध्रुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्नः पावकः ॥ १ ॥

हे मनुष्यो! **अध्वरे**=अपने इस जीवन-यज्ञ में **दूतम्**=(वारयतेर्वा—नि० ५.१) दुर्मार्ग से निवर्तक नेता **कृणुध्वम्**=बनाओ। किसे? १. **अग्निम्**=जो आगे ले-चलनेवाला है, २. **वः देवम्**=तुम्हारे लिए प्रकाश का प्रदर्शक है (देवः दीपनाद् द्योतनात्—नि०), ३. **यजिष्ठम्**=अधिक-से-अधिक सङ्गति व ऐक्य पैदा करनेवाला है, ४. **यः**=जो **अग्निभिः सजोषाः**=उन्नतिशील व्यक्तियों के साथ सदा प्रेमपूर्वक बर्त्तनेवाला है। ५. **मर्त्येषु निध्रुविः**=मनुष्यों में निश्चय से स्थिर मतिवाला है, विषयों

से जिसकी बुद्धि आन्दोलित नहीं होती। ६. **ऋतावा**=जो ऋत का अवन=रक्षण करनेवाला है अथवा ऋतावान्—ऋतवाला है, अर्थात् जीवन में एकदम सत्यगतिवाला है। ७. **तपुः**=तीव्र तपस्यामय जीवनवाला है, ८. **मूर्धा**=सब लोकों के शिखर पर स्थित होनेवाला है। ९. **घृतान्नः**=मलों को दूर करके दीप्ति देनेवाले सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाला है और १०. **पावकः**=अपने जीवन को इस सात्त्विक अन्न से पवित्र रखनेवाला है।

ऐसे ही व्यक्ति को हमें अपने जीवन-मार्ग में पथ-प्रदर्शक बनाना चाहिए। इसी पर हमारी जीवन-यात्रा की पूर्ति व अपूर्ति निर्भर करती है।

भावार्थ—हमें उल्लिखित दस गुणों से विशिष्ट पथ-प्रदर्शक प्राप्त हो, जिससे हमारी जीवन-यात्रा उत्तमता से पूर्ण हो।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

हवा के रुख को बदल देना

१२२०. प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् यदा महः संवरणाद्व्यस्थात्।
आदस्य वातो अनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति॥ २॥

यवसे=घास के लिए **अविष्यन्**=कामना करता हुआ **न**=जैसे **प्रोथद् अश्वः**=शब्द करता हुआ घोड़ा **महः संवरणात्**=एक महान् बाड़े से **व्यस्थात्**=बाहर आता है, इसी प्रकार **यवसे**=संसार के इन भोग्य-पदार्थों के लिए **अविष्यन्**=कामना करता हुआ अथवा **यवसे**=(यु-मिश्रण-अमिश्रण) संसार को पाप से पृथक् व पुण्य से संयुक्त करने की कामना करता हुआ **प्रोथत्**=(प्रोथ=to withstand, overcome) सब विरोधी शक्तियों का मुक़ाबला करता हुआ और विघ्नों को जीतता हुआ **अश्वः**=शक्तिशाली पुरुष **यदा**=जब **महः संवरणात्**=आचार्यकुल के महनीय संवरण (shelter) से **व्यवस्थात्**=बाहर—संसार में आता है, तब **आत्**=शीघ्र ही **अस्य शोचिः अनुः**=इसकी दीप्ति के अनुसार **वातः वाति**=वायु बहती है। यह जितना अधिक ज्ञान का प्रसार करता है उतने ही लोग इसके अनुयायी बनने लगते हैं। लोगों का झुकाव इसकी ज्ञानदीप्ति के अनुसार ही परिवर्तित हो जाता है।

हे अग्ने! नेतः! **अध**=अब **ते**=तेरा **व्रजनम्**=गमन **कृष्णम्**=आकर्षक **अस्ति स्म**=हो जाता है। जिधर यह चाहता है उधर ही लोगों को ले-जाता है। यह लोगों में एक क्रान्ति-सी उत्पन्न कर देता है। उनमें आगे बढ़ने के लिए, यवसे—रूढ़ियों से अलग होकर उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ चलने के लिए, उत्साह का सञ्चार कर देता है।

भावार्थ—नेता विरोधों को जीतता हुआ लोगों में एक हलचल उत्पन्न कर देता है।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

नवजात अग्नि का धूम

१२२१. उद्यस्य ते नवजातस्य वृष्णोऽग्ने चरन्त्यजरा इधानाः।
अच्छा द्यामरुषो धूम एषि सं दूतो अग्न ईयसे हि देवान्॥ ३॥

वैदिक मर्यादा में जब ब्रह्मचारी आचार्यकुल से बाहर आता है तब इस नवजात ब्रह्मचारी को

देखने के लिए कितने ही विद्वान् आते हैं, हे **अग्ने**=नेतः! **यस्य ते नवजातस्य**=जिस तेरे नवीन उत्पन्न हुए **वृष्णः**=शक्तिशाली अथवा ज्ञान की वर्षा करनेवाले की **अजराः**=जीर्ण न होनेवाली **इधानाः**= ज्ञानदीप्तियाँ **चरन्ति**=प्रजाओं में फैलती हैं, वह तू १. **अरुषः**=क्रोध से ऊपर उठा हुआ, किसी प्रकार की हिंसा न करनेवाला, २. **धूमः**=(धू कम्पने) प्रजाओं में हलचल मचा देनेवाला, तपोजनित क्रियाशीलता से उन्हें कम्पित कर देनेवाला, ३. **द्याम् अच्छ**=ज्ञान के प्रकाश की ओर **एषि**=जाता है, सदा अपने ज्ञान को बढ़ाने में लगा रहता है। ४. हे **अग्ने**=प्रकाश फैलानेवाला! **दूतः**=अशुभों का निवारण करनेवाला तू **हि**=निश्चय से ५. **देवान्**=दिव्य गुणों को **समीयसे**=प्राप्त होता है। अपने अन्दर अधिकाधिक दिव्य गुणों को बढ़ाकर तू औरों में भी दिव्य गुणों की वृद्धि कर सकेगा।

भावार्थ—हम अग्नि के गुणों को धारण करते हुए लोकहित के लिए ज्ञान का प्रकाश फैलानेवाले बनें।

सूक्त-१०

ऋषिः—सुकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वृत्र-हनन

१२२२. तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे। स वृषा वृषभो भुवत्॥ १॥

११९ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—सुकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

द्युम्नी, श्लोकी, सोम्य

१२२३. इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स बले हितः। द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः॥ २॥

गत मन्त्र में '**तमिन्द्रं वाजयामसि**'='हम आत्मा के ही बल को बढ़ाते हैं' ऐसा कहा था। आत्मिक-बल को बढ़ानेवाला यह व्यक्ति १. **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवाला होता हुआ **सः**=वह **दामने**=देने में **कृतः**=संलग्न होता है, अर्थात् दान में लगा रहता है। २. **ओजिष्ठः**=विषयों में न फँसने के कारण अत्यन्त ओजस्वी **सः**=यह **बले**=बल-सम्पन्न होने पर **हितः**=सबका हित करनेवाला होता है। यह बल का प्रयोग औरों की हानि के लिए न करके सबके लाभ के लिए ही करता है। ३. **द्युम्नी**=यह ज्योतिवाला होता है (Splendour), शक्तिशाली होता है (Energy), उत्तम धनवाला बनता है (Wealth), प्रभु की प्रेरणा को सुनता है (Inspiration), और त्याग की वृत्तिवाला होता है (Sacrifice), ४. **श्लोकी**=ज्ञान, धन और शक्ति के साथ यह प्रभु-स्तवन-(Hymn)-वाला होता है, अतएव उत्तम यश (fame) को प्राप्त करता है और इस सबके साथ **सः**=वह ५. **सोम्य**=सौम्य— विनीत व शान्त-स्वभाववाला होता है।

भावार्थ—हम धन का दान करें, बल का लोकहित में प्रयोग करें। ज्योति व यश को प्राप्त करें। सौम्य बनें।

ऋषिः—सुकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वेदवाणी के द्वारा

१२२४. गिरा वज्रो न सम्भृतः सबलो अनपच्युतः। ववक्ष उग्रो अस्तृतः॥ ३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'सुकक्ष'=उत्तम ज्ञानरूप शरण-(Shelter)-वाला 'आङ्गिरस'=अङ्ग-

प्रत्यङ्ग में रसवाला **गिरा**=वेदवाणी के द्वारा १. **वज्रो न**=वज्र की भाँति बनता है। अपने आहार-विहार को वेदवाणी के अनुकूल करता हुआ दृढ़ शरीरवाला होता है। २. **संभृतः**=बड़े उत्तम ढङ्ग से अपनी इन्द्रियों का भरण-पोषण करता है ३. **सबलः**=मानस बल के लिए होता है, अतएव ४. **अनपच्युतः**= अपने कर्त्तव्य-पथ से भ्रष्ट नहीं किया जा सकता। स्तुति-निन्दा, धन की प्राप्ति व हानि व जीवन-मृत्यु का भय इसे न्याय्य मार्ग से विचलित नहीं कर पाता, ५. **उग्रः**=(High, noble) यह सदा उदात्त स्वभाववाला बनता है ६. और **अस्तृतः**=अहिंसित व अजेय बनता हुआ **ववक्षे**=उन्नति-पथ पर आगे और आगे बढ़ता है।

भावार्थ—वेदवाणी के अनुकूल चलने से १. शरीर वज्र-तुल्य बनता है २. इन्द्रियाँ शक्ति-संभृत होती हैं ३. मन सबल तथा अविचलित होता है ४. मनुष्य उदात्त व अजेय बनकर उन्नत होता चलता है।

सूक्त-११

ऋषिः—उचथ्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोम पवन

१२२५. अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आ नय। पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ १ ॥

इस मन्त्र का अर्थ ४९९ संख्या पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—उचथ्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मधु और पवमान

१२२६. तव त्य इन्दो अन्धसो देवा मधोर्व्याशत। पवमानस्य मरुतः ॥ २ ॥

हे **इन्दो**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **तव**=आपके—आपके द्वारा शरीर में रस-रुधिरादि क्रम से उत्पन्न किये गये **अन्धसः**=अत्यन्त ध्यान करने योग्य आध्यायनीय सोम का जो **मधोः**=अत्यन्त मधुर है—जीवन में माधुर्य का संचार करनेवाला है और **पवमानस्य**=जीवन को पवित्र करनेवाला है, रोगादि के कृमियों का संहार करके शरीर को नीरोग बनानेवाला है तथा मन से द्वेषादि को दूर करके मन को पवित्र करनेवाला है, उस सोम का **त्ये**=वे लोग **व्याशत**=शरीर में (अश् व्याप्तौ) व्यापन करते हैं जो १. **देवाः**=दिव्य गुणों को प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे हैं—ज्ञान की ज्योति से अपने को दीप्त करने का ध्यान करते हैं, तथा २. **मरुतः**=जो प्राणसाधना में लगे हुए हैं।

दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील, प्राणसाधना में तत्पर ये लोग प्रभु का गायन करने से 'उचथ्य' कहलाते हैं और व्यसनों का शिकार न होने से शक्तिशाली बने रहने से 'आङ्गिरस' होते हैं।

भावार्थ—हम सोम का शरीर में ही व्यापन करेंगे तो यह हमारे जीवन को मधुर बनाएगा और हमारे मानस को पवित्र करेगा। सोम का शरीर में व्यापन तब होगा जब हम देव बनने का प्रयत्न करेंगे और प्राणसाधना को अपनाएँगे।

ऋषिः—उचथ्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्वर्ग का अमृत

१२२७. दिवः पीयूषमुत्तमं सोममिन्द्राय वज्रिणे। सुनोता मधुमत्तमम् ॥ ३ ॥

सोमम्=सोम को **सुनोत**=अपने अन्दर अभिषुत करो—उत्पन्न करो, जो सोमः—१. **दिवः पीयूषम्**=स्वर्ग का अमृत है। प्रसिद्धि है कि स्वर्गलोक में रहनेवाले देव अमृत का पान करते हैं। अमृतपान से ही वे अमर हैं—मृत्यु से ऊपर हैं। शरीर में उत्पन्न होनेवाला यह सोम ही अमृत है-इसका पान यही है कि इसे शरीर में ही व्याप्त करना। इसी का परिणाम स्वर्ग में निवास होता है। जीवन नीरोग रह, सुखी बनता है और मनुष्य रोगों से असमय में ही मर नहीं जाता। २. **उत्तमम्**=सोम उत्तम है—उत्+तम। मनुष्य को अधिक-से-अधिक उत्कर्ष तक ले-जानेवाला है। इसकी रक्षा से जहाँ शरीर नीरोग और सबल बनता है, वहाँ बुद्धि सूक्ष्म होकर ज्ञान भी बहुत विशाल हो जाता है। ३. **मधुमत्तमम्**=यह सोम मन को पवित्र और राग-द्वेषादि से रहित करके जीवन को बड़े माधुर्यवाला बना देता है।

इस सोम को शरीर में इसलिए उत्पन्न करो कि ४. **इन्द्राय**=यह आत्मा की शक्ति के विकास के लिए होता है। जीवात्मा को इन्द्रियों पर प्रभुत्ववाला बनाता है और इस प्रकार वह सचमुच 'इन्द्र' बनता है ५. सोम को इसलिए भी उत्पन्न करो कि **वज्रिणे**=यह हमारे शरीर को वज्र-तुल्य बनाए। सोम शरीर को नीरोग व दृढ़ बनाता है।

भावार्थ—सोम स्वर्ग का अमृत है—सुरक्षित होकर यह हमारे जीवन को उत्तम बनाता है।

सूक्त-१२

ऋषिः—कविर्भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

दिवः धर्त्ता

१२२८. धर्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः।
हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुषे नदीष्वा॥ १॥

५५८ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—कविर्भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

कर्मशीलता व सद्गुण

१२२९. शूरो न धत्त आयुधा गभस्त्योः स्वा ३ः सिषासन् रथिरो गविष्टिषु।
इन्द्रस्य शुष्ममीरयन्नपस्युभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते मनीषिभिः॥ २॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कवि भार्गव' है—क्रान्तदर्शी व्यक्ति जिसने तपस्या से अपना परिपाक किया है। यह १. **शूरः न**=शत्रुओं को नष्ट करनेवाले शूरवीर पुरुष की भाँति **गभस्त्योः**=सूर्य और चन्द्रमा की किरणों के समान ज्ञान और विज्ञान के प्रकाशरूप **आयुधा**=शस्त्रों को **धत्त**=धारण करता है। विज्ञान के प्रकाश की किरणें मृत्यु को दूर करेंगी तो ज्ञान की किरणें कामादि शत्रुओं का संहार करके मोक्ष को प्राप्त करानेवाली होंगी। २. **स्वः**=मोक्षसुख को **सिषासन्**=प्राप्त करने की इच्छावाला यह **गविष्टिषु**=ज्ञान यज्ञों में **रथिरः**=उत्तम रथवाला होता है। शरीररूप रथ को ठीक-ठीक रखता हुआ यह ज्ञानयज्ञों में उपस्थित होता है। ज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष का लाभ करना चाहता है। ३. यह अपने अन्दर **इन्द्रस्य शुष्मम्**=प्रभु की शक्ति को **ईरयन्**=प्रेरित करता है। प्रातः-सायं प्रभु के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करता हुआ प्रभु की शक्ति से अपने को शक्ति-सम्पन्न

करता है। ४. **इन्दुः**=प्रभु की शक्ति से शक्तिशाली बना हुआ यह 'कवि भार्गव' **अपस्युभिः**=उत्तम कर्मों की अभिलाषावाले **मनीषिभिः**=विद्वानों से **हिन्वानः**=सत्कर्मों में प्रेरित किया जाता हुआ **अज्यते**=सद्गुणों से अलंकृत किया जाता है।

यहाँ मन्त्र में 'अपस्युभिः' मनीषिभिः शब्दों से कर्म और ज्ञान का समुच्चय संकेतित होता है। कर्म हममें शक्ति को पैदा करते हैं तो ज्ञान सद्गुणों से हमें अलंकृत करते हैं।

भावार्थ—जीवन-संग्राम में ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश ही हमारा शस्त्र हो। २. हम शरीररूप रथ को उत्तम बनाकर ज्ञानयज्ञों में विचरण करते हुए मोक्ष का लाभ करें। ३. प्रभु के सम्पर्क से शक्तिशाली बनें, और ४. उत्तम कर्मों में प्रेरित होकर जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करें।

ऋषिः—कविर्भार्गवः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सोम का जठर-प्रवेश

१२३०. इन्द्रस्य सोम पवमान ऊर्मिणा तविष्यमाणो जठरेष्वा विश।
प्र नः पिन्व विद्युदभ्रेव रोदसी धिया नो वाजाँ उप माहि शश्वतः ॥ ३ ॥

सोम पवमान=पवित्र करनेवाले सोम! तू **ऊर्मिणा**=(ऊर्मि Light) प्रकाश के हेतु से **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **जठरेषु**=उदरों में **तविष्यमाणः**=वृद्धि का कारण होता हुआ **आविश**=प्रविष्ट हो। जितेन्द्रिय पुरुष ही सोम की रक्षा कर सकता है। यह सुरक्षित हुआ-हुआ सोम शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की वृद्धि का कारण बनता है तथा मस्तिष्क में ज्योति को जगाता है। जितेन्द्रियता सोम रक्षा का साधन है और शक्ति की वृद्धि तथा ज्ञान के सूर्य का उदय उसके परिणाम हैं।

हे सोम! तू **नः**=हमारे **रोदसी**=द्युलोक तथा पृथिवीलोक दोनों को ही **पिन्व**=बढ़ा। पृथिवीरूप शरीर को दृढ़ बना तथा मस्तिष्करूप द्युलोक को रोशन कर। उसी प्रकार **इव**=जैसे **विद्युत्**=बिजली **अभ्रा**=बादलों के बढ़ने का कारण बनती है।

हे सोम! तू **नः**=हममें **धिया**=प्रज्ञा व कर्म के द्वारा **शश्वतः**=(शश्वतः—बहु—नि० ३.१.५.) बहुत-से **वाजान्**=बलों को **उपमाहि**=बना, अर्थात् सोम के द्वारा हमें बुद्धि, उत्तम कर्मशक्ति व विविध बल प्राप्त हों। एवं, स्पष्ट है कि सोम के द्वारा मनुष्य कवि—क्रान्तदर्शी तो बनता ही है, साथ ही उसके जीवन का परिपाक ठीक ढङ्ग से होता है और वह सोम का पान करनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कवि भार्गव' बनता है।

भावार्थ—हम सोम-पान के द्वारा सर्वांगीण उन्नति करनेवाले हों।

सूक्त-१३

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

प्रभु का आह्वान व शत्रुसंहार

१२३१. यदिन्द्र प्रागपागुदङ्न्यग्वा हूयसे नृभिः।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे ॥ १ ॥

२७९ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

रुम–रुशम–श्यावक–कृप

१२३२. यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा।
कण्वासस्त्वा स्तोमेभिर्ब्रह्मवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि॥ २ ॥

हे **इन्द्र**=परमैस्वर्यशाली प्रभो ! **यत् वा**=यद्यपि आप **रुमे**=(रु शब्दे) वेदज्ञान का प्रचार करनेवाले ब्राह्मण में **रुशमे**=(रुशान् मिनोति) हिंसकों के हिंसक क्षत्रिय में **श्यावके**=(श्यैङ् गतौ) व्यापारादि के लिए देश-देशान्तर में जानेवाले वैश्य में अथवा **कृपे**=(कृप् to grieve, mourn) ज्ञानादि को न प्राप्त कर सकने के कारण शुचान्वित (शुचा द्रवति) होनेवाले शूद्र में **सचा मादयसे**=समान रूप से अपने आनन्दस्वरूप से विराजमान होते हो—सर्वव्यापकता के नाते सबमें निवास करते हो, तो भी **कण्वासः**=मेधावी **ब्रह्मवाहसः**=ज्ञान व स्तोत्रों को धारण करनेवाले ज्ञानीभक्त ही हे **इन्द्र**=प्रभो ! **त्वा**=आपको **स्तोमेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा **आयच्छन्ति**=सर्वथा अपना अर्पण करते हैं, **आगहि**=इन मेधावी ज्ञानीभक्तों को आप प्राप्त होओ।

भावार्थ—प्रभु, ज्ञान व स्तोत्रों को धारण करनेवाले, मेधावी लोगों को ही प्राप्त होते हैं।

सूक्त-१४

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

धिया आगमत्

१२३३. उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः।
सत्राच्या मघवान्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत्॥ १ ॥

२९० संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सर्व-प्रथम

१२३४. तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसा धिषणे निष्टतक्षतुः।
उतोपमानां प्रथमो नि षीदसि सोमकामं हि ते मनः ॥ २ ॥

हि=निश्चय से **तम्**=उस **स्वराजम्**=स्वयं देदीप्यमान **तम्**=उस **वृषभम्**=अत्यन्त शक्तिशाली व सब सुखों के वर्षक प्रभु को **धिषणे**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक **ओजसा** अपने ओज के द्वारा **निष्टतक्षतुः**=तक्ष=(form in the mind) हमारे मनों में निर्मित करते हैं, अर्थात् हम इस देदीप्यमान द्युलोक तथा अत्यन्त दृढ़ पृथिवी को देखते हैं तो हमारे मनों में उस प्रभु की कल्पना उठती है। इन सूर्यादि पिण्डों को दीप्ति प्राप्त करानेवाले प्रभु 'स्वयं देदीप्यमान' हैं—स्वराट् हैं, उन्हीं की दीप्ति से ये सब सूर्य, अग्नि, विद्युत् व नक्षत्र चमक रहे हैं। ये पृथिवी किस प्रकार माता के समान हमपर सब सुखों का वर्षण कर रही है—पृथिवी में इस उत्पादक शक्ति को रखनेवाले वे प्रभु ही वस्तुतः 'वृषभ' है। इस प्रकार इस पृथिवी व द्युलोक का ओज हमें प्रभु का स्मरण कराता है।

इस प्रकार प्रभु का स्मरण करनेवाला 'भर्ग प्रागाथ'=तेजस्वी, प्रभु का स्तोता, प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि **उत**=और **उपमानाम्**=उपमेय पदार्थों में आप **प्रथमः निषीदसि**=सर्वप्रथम स्थान में स्थित होते हैं। ज्ञानियों में आप सर्वाधिक ज्ञानी हैं तो तेजस्वियों में सर्वाधिक तेजस्वी। वस्तुतः बलवानों के बल आप ही हैं और बुद्धिमानों को बुद्धि आपसे ही दी जाती है।

हे प्रभो! **ते मनः**=आपका मन **हि**=निश्चय से **सोमकामम्**=सौम्य पुरुष को चाहनेवाला है। सौम्य पुरुष को ही आप मनुष्य से ऋषि बना देते हैं।

नोट—प्रभु के मन की कल्पना पुरुषविधता के कारण हुई है।

भावार्थ—वे प्रभु स्वयं देदीप्यमान व शक्तिशाली हैं। पृथिवी व द्युलोक के अन्दर प्रसृत शक्ति उसका प्रतिपादन करती है। प्रभु प्रत्येक गुण की चरमसीमा हैं। सौम्य पुरुषों को चाहते हैं।

सूक्त-१५

ऋषिः—निध्रुविः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पवित्रता व उल्लास

१२३५. पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः। वायुमा रोह धर्मणा॥ १॥

४८३ संख्या पर इसका अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—निध्रुविः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रेय और श्रेय No man can serve two Masters

१२३६. पवमान नि तोशसे रयिं सोम श्रवाय्यम्। इन्दो समुद्रमा विश॥ २॥

पवमान=अपने को पवित्र करने के स्वभाववाले **सोम**=सोम के रक्षक सौम्य 'निध्रुवि काश्यप'=स्थिर मनोवृत्तिवाले ज्ञानिन्! आप **श्रवाय्यम्**=श्रवण के योग्य, अर्थात् बहुत प्रसिद्ध—अत्यधिक **रयिम्**=धन को **नितोशसे**=निश्चय से समाप्त कर देते हैं। जो 'पवमान' है वह अनुभव करता है कि धन मुझे कुछ अभिमान की ओर ले-चलता है, इसलिए वह अपने अत्यधिक धन को भी फेंक देता है—दान के द्वारा समाप्त कर देता है। वह यह अनुभव करता है कि यह धन मुझे अपवित्र व अभिमानी बनाकर प्रभु से दूर कर रहा है। प्रभु के समीप तो मैं धन को अपने से पृथक् करके ही रह सकूँगा।

वेद कहता है कि हे **इन्दो**=इस तुच्छ सांसारिक धन को अपने से दूर करके उत्कृष्ट आत्मसम्पत्ति को प्राप्त करनेवाले ज्ञानिन्! तू **समुद्रम्**=सदा आनन्दस्वरूप में रहनेवाले उस प्रभु में (स+मुद्) **आविश**=प्रवेश कर। हमारा मन इस धन से दूर होकर प्रभु का ध्यान करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रेय को छोड़कर हम श्रेय का आश्रय करें।

ऋषिः—निध्रुविः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अदेवयु जन का दूरीकरण

१२३७. अपघ्नन् पवसे मृधः क्रतुवित्सोम मत्सरः। नुदस्वादेवयुं जनम्॥ ३॥

४९२ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

सूक्त-१६

ऋषिः—अम्बरीषः, ऋजिश्वा च ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वाजसातम रयि

१२३८. अभी नो वाजसातमं रयिमर्ष शतस्पृहम् ।
इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं विभासहम् ॥ १ ॥

५४९ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है ।

ऋषिः—अम्बरीषः, ऋजिश्वा च ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वसु-प्रेरण व स्तवन

१२३९. वयं ते अस्य राधसो वसोर्वसो पुरुस्पृहः ।
नि नेदिष्ठतमा इषः स्याम सुम्ने ते अध्रिगो ॥ २ ॥

हे **वसो**=सबको निवास देनेवाले व सबमें बसनेवाले प्रभो! १. **वयम्**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले हम लोग **ते**=आपके **अस्य**=इस **राधसः**=सब कर्मों को सिद्ध करनेवाले **वसोः**=धन की **पुरुस्पृहः**=प्रबल कामना करनेवाले हों। हम क्रिया के द्वारा (वयं) धन को प्राप्त करना चाहें, उस धन को जो कार्यसिद्धि के लिए आवश्यक है (राधस्) और जो धन हमारे उत्तम निवास का कारण है (वसु)। २. हे प्रभो! हम **ते इषः**=आपकी प्रेरणा के **नेदिष्ठतमाः**=अत्यन्त समीप **निस्याम**=नम्रतापूर्वक हों। नम्रता को हृदय में धारण करते हुए हम आपकी प्रेरणा के समीप ही रहें, उससे दूर न हों। ३. हे **अध्रिगो**=अधृतगमन प्रभो! जिन आपकी गति व कार्य में कोई भी रुकावट नहीं बन सकता **ते**=उन आपके **सुम्ने**=स्तवन, रक्षण तथा आनन्द में हम **स्याम**=निवास करें। हम प्रभु का स्तवन करनेवाले हों, प्रभु का रक्षण हमें प्राप्त हो और परिणामतः हमारा जीवन आनन्दमय हो।

यदि 'सुम्ने' के स्थान में पाठ 'सम्ने' हो तो अर्थ इस प्रकार होगा कि हम आपकी शरण में 'अवैक्लव्य' में स्थित हो। हमारा जीवन शान्तिमय हो।

भावार्थ—हमें प्रभु का यह धन, जो निवास के लिए आवश्यक है, प्राप्त हो। हम प्रभु की प्रेरणा सुनें तथा प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु के रक्षण को प्राप्त करें। हमारा जीवन शान्त हो।

ऋषिः—अम्बरीषः, ऋजिश्वा च ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥
स्वरः—गान्धारः ॥

उत्साह-धारण, दीप्ति

१२४०. परि स्य स्वानो अक्षरदिन्दुरव्ये मदच्युतः ।
धारा य ऊर्ध्वो अध्वरे भ्राजा न याति गव्ययुः ॥ ३ ॥

१. **स्यः**=वह **स्वानः**=(सु आनयति) उत्तमता से जीवन में उत्साह का संचार करनेवाला **मदच्युतः**=जीवन में उल्लास को क्षरित करनेवाला **इन्दुः**=सोम **अव्ये**=रक्षा करनेवालों में उत्तम पुरुष

में **परि अक्षरत्**=प्रवाहित होता है। २. **अध्वरे**=हिंसारहित जीवन यज्ञ में **धारा**=(धारया) धारण के उद्देश्य से **ऊर्ध्वः**=यह ऊर्ध्वगतिवाला होता है। जब सोम की उर्ध्वगति होती है तब यह जीवन का धारण करनेवाला होता है। ऊर्ध्वगति के लिए जीवन को हिंसारहित बनाना आवश्यक है। हिंसामय जीवन उत्तेजनापूर्ण होता है और उस उत्तेजना में सोम की ऊर्ध्वगति सम्भव नहीं रहती। ३. सोम की ऊर्ध्वगति होने पर **गव्ययुः**=ज्ञान को चाहनेवाला—ज्ञान को अपने साथ जोड़नेवाला व्यक्ति **भ्राजा**=दीप्ति के साथ **न**=निश्चय से (न इति निश्चयार्थे) **याति**=जाता है। सोमरक्षा होने पर ही मनुष्य में ज्ञान की पिपासा बढ़ती है और ज्ञान की रुचि के बढ़ने पर मनुष्य का जीवन एक विशेष दीप्ति को लिये हुए होता है।)

भावार्थ—सोम रक्षा से १. जीवन में उल्लास व मस्ती होती है २. सोम धारण के लिए उत्तेजना से दूर रहना आवश्यक है, ३. तब मनुष्य जिज्ञासु बनकर ज्ञान की दीप्ति के साथ विचरता है।

सूक्त-१७

ऋषिः—अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—द्विपदा विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

महान् समुद्रः, पिता

१२४१. पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥ १ ॥

४२९ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—द्विपदा विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दीप्ति—शरीर, मन व बुद्धि

१२४२. शुक्रः पवस्व देवेभ्यः सोम दिवे पृथिव्यै शं च प्रजाभ्यः ॥ २ ॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **शुक्रः**=दीप्तिमान् है। तू मेरे अन्दर **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **दिवे**=मस्तिष्करूप द्युलोक की दीप्ति के लिए तथा **पृथिव्यै**=शरीररूप पृथिवी के उचित प्रथन (विस्तार) के लिए **पवस्व**=प्रवाहित हो। जब सोम का अपव्यय नहीं होता और इसकी ऊर्ध्वगति होकर यह शरीर में ही सुरक्षित रहता है तब वह १. हमारे मनों में दिव्य गुणों को जन्म देता है, हमारे मनों से ईर्ष्या-द्वेषादि की बुरी भावनाएँ लुप्त हो जाती हैं। २. हमारा मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से जगमगाने लगता है और ३. हमारा यह शरीर दृढ़ व नीरोग रहकर पूर्ण विकासवाला होता है। इस प्रकार हे सोम! तू **प्रजाभ्यः च शम्**=सब प्रजाओं के लिए शान्ति देनेवाला हो।

ये सोमरक्षक लोग उन्नति के पथ पर आगे बढ़ने से 'अग्नयः' कहलाते हैं। उन्नत स्थान में स्थित होने से 'धिष्ण्याः' (worthy of a high place) होते हैं। अन्त में ईश्वर को प्राप्त करनेवाले ये 'ऐश्वराः' हैं और तत्वदर्शी होने से 'ऋषयः' होते हैं।

भावार्थ—हम सोम रक्षा द्वारा मन को दिव्य गुणयुक्त बनाएँ, मस्तिष्क को उज्ज्वल और शरीर को नीरोग। इस प्रकार बनकर शान्ति का लाभ करें। यह सोम शुक्र है—शरीर, मन व बुद्धि को दीप्त करनेवाला है।

ऋषिः—अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—द्विपदाविराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सत्य में स्थिति

१२४३. दिवो धर्तासि शुक्रः पीयूषः सत्ये विधर्मन् वाजी पवस्व ॥ ३ ॥

हे सोम ! तू १. **दिवः**=प्रकाश का **धर्ता असि**=धारण करनेवाला है। ज्ञानाग्नि का तो ईंधन ही यह है। इसके अभाव में ज्ञानाग्नि बुझ जाती है। २. **शुक्रः**=तू दीप्तिमान् है। मन को द्वेषादि मलों से रहित करके चमका देनेवाला है। ३. **पीयूषः**=तू अमृत है। शरीर को रोगों से बचाकर तू असमय में मृत्यु का शिकार नहीं होने देता। ४. तू **सत्ये विधर्मन्**=अपने रक्षक को सत्य में धारण करनेवाला है। सोमरक्षक सत्यवादी तो होता ही है और इस सत्य का पालन करता हुआ वह सत्य प्रभु का पानेवाला बनता है। ५. **वाजी**=शक्ति देनेवाला होता हुआ तू **पवस्व**=हमारे शरीर में प्रवाहित हो।

भावार्थ—सोम ज्योति, नैर्मल्य व नीरोगता को देता है—सत्य हमें प्रभु में स्थापित करता है और हममें शक्ति का संचार करता है।

सूक्त-१८

ऋषिः—उशनाः काव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रेष्ठ अतिथि

१२४४. प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्। अग्ने रथं न वेद्यम् ॥ १ ॥

मन्त्र संख्या ५ पर इसका अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—उशनाः काव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दो रूपों में

१२४५. कविमिव प्रशंस्यं यं देवास इति द्विता। नि मर्त्येष्वादधुः ॥ २ ॥

पिछले मन्त्र से 'स्तुषे' क्रिया को लाकर अर्थ इस प्रकार है कि मैं उस प्रभु का स्तवन करता हूँ **यम्**=जिसको **देवाः**=देवलोग १. **कविम् इव**=कवि की भाँति—हृदयस्थ रूपेण सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले के रूप में (कौति सर्वा विद्याः) अथवा क्रान्तदर्शी अन्तर्यामी के रूप में तथा २. **प्रशंस्यम्**=प्रशंसा योग्य सब बातों के बीजरूप में जो-जो भी हमारे जीवन में सौन्दर्य का अंश है वह सब उस प्रभु के ही अंश के कारण है, **इति**=इस प्रकार **द्विता**=दो रूपों में **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **नि आ दधुः**=निश्चय से स्थापित करते हैं।

विद्वान् लोग मनुष्यों में प्रभु को दो रूपों में देखते हैं एक तो 'कवि' के रूप में और दूसरा 'प्रशंस्य' रूप में। सब विद्याओं का ज्ञान देनेवाला वही अन्तर्यामी प्रभु है, वही हमारे जीवनों में सौन्दर्यमात्र का बीज है।

भावार्थ—वे प्रभु 'कवि' हैं, 'प्रशंस्य' हैं।

ऋषिः—उशनाः काव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्वयं रक्षा कीजिए

१२४६. त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄः पाहि शृणुही गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना ॥ ३ ॥

प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला 'उशनाः' संसार की वास्तविकता को समझनेवाला 'काव्य' प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. हे **यविष्ठ**=युवतम! बुराइयों से पृथक् तथा भलाइयों से सम्पृक्त करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **दाशुषः नॄः**=अपना समर्पण करनेवाली प्रजाओं का **पाहि**=पालन कीजिए। वस्तुतः प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने से प्रभु असत् से दूर करके हमें सत् के समीप पहुँचाते हैं—तमस् को दूर कर ज्योति देते हैं तथा मृत्यु से बचाकर अमरता प्राप्त कराते हैं। २. हे प्रभो! आप **गिरः**=हमारी प्रार्थनावाणियों का **शृणुहि**=श्रवण कीजिए। हमारी प्रार्थना पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त हो जिससे वह श्रवण के योग्य हो। ३. **उत**=और आप **त्मना**=स्वयं ही **तोकम्**=(क) अपने पर शासन करनेवाले, (ख) लक्ष्य को प्राप्त करनेवाले, (ग) ज्ञान इत्यादि से फूलने-फलनेवाले, (घ) क्रियाशील, तथा (ङ) कामादि का संहार करनेवाले आपके पुत्र मेरी **रक्ष**=रक्षा कीजिए। (To have authority, to attain, to thrive, to go, to kill)।

वस्तुतः पुत्र वही होता है जो अपने सुचरितों से पिता को प्रीणित करता है, जो जितेन्द्रिय बनता है, लक्ष्य-सिद्धि के लिए दृढ़ संकल्प होता है, ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करता है, क्रियाशील होता है तथा कामादि का संहार करता है। प्रभु इसकी रक्षा क्यों न करेंगे?

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपके सच्चे पुत्र बनें और आपकी रक्षा के पात्र हों।

सूक्त-१९

ऋषिः—नृमेध आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

सत्राजित् अगोह्य

१२४७. एन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिदगोह्य। गिरिर्न विश्वतः पृथुः पतिर्दिवः॥ १॥

३९३ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—नृमेध आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

दिवः पति

१२४८. अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी।
इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः॥ २॥

'नृमेध आङ्गिरस'—नरमात्र के साथ अपना सम्पर्क रखनेवाला, सबको 'मैं' के रूप में ही देखनेवाला—स्वार्थ से ऊपर उठा होने के कारण शक्तिशाली पुरुष इस मन्त्र का ऋषि है। प्रभु इससे कहते हैं कि—हे नृमेध! १. तू **सत्य**=सत्य का पालन करनेवाला बना है, २. **हि**=क्योंकि तू **सोमपाः**=सोम का पान करनेवाला है—अपनी शक्ति की रक्षा करनेवाला है, ३. **उभे रोदसी**=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक को—शरीर व मस्तिष्क को **अभिबभूथ**=अपने वश में रखनेवाला है। ४. तू **इन्द्रः असि**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से सचमुच 'इन्द्र' है। ५. **सुन्वतो वृधः**=यज्ञशीलों का तू सदा सहायक व वर्धक है। यह नृमेध प्रत्येक निर्माणात्मक कार्य में हाथ बटानेवाला होता है। ६. और अन्त में **दिवः पतिः**=यह ज्ञान व दिव्यता का स्वामी बनता है।

भावार्थ—हमारा जीवन सत्य हो। हम शक्ति की रक्षा करें, शरीर व मस्तिष्क पर हमारा काबू हो। हम जितेन्द्रिय बनें, यज्ञों के सहायक व ज्ञान के स्वामी बनें।

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

धारण व विदारण

१२४९. त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र धर्ता पुरामसि। हन्ता दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः ॥ ३ ॥

मनुष्य पञ्चकोशों से बने शरीररूप नगरों में सदा से निवास करता आया है—अनादिकाल से उसे कर्मानुसार इनमें बँधना पड़ता रहा है, परन्तु आज यह 'नृमेध'=लोकयज्ञ करनेवाला बनकर इन बन्धनों को तोड़ पाया है: प्रभु इससे कहते हैं—१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता! **त्वं हि**=तू निश्चय से **शश्वतीनां पुराम्**=इन सनातन काल से चली आ रही नगरियों का **धर्ता**=दर्ता—धारण व विदारण करनेवाला बना है। २. तू **दस्योः हन्ता**=अपने में दस्यु का (**अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः**) अकर्मण्यता, नास्तिकता, अशास्त्रीयकर्मता व निर्दयता का नाश करनेवाला है। ३. तू **मनोः वृधः**=अपने अन्दर ज्ञान को बढ़ानेवाला है तथा ४. **पतिः दिवः**=दिव्यता का रक्षक है। ऐसा बनकर ही तो हम अपने इस जीवनकाल में इन शरीरों का उत्तम धारण करनेवाले बनते हैं (धर्ता) और इस शरीर की समाप्ति पर फिर जन्म न लेने के कारण इन शरीरों का विदारण करनेवाले होते हैं (दर्ता)।

भावार्थ—हम इस मानव-जीवन को दस्युता शून्य, ज्ञानवृद्ध, दिव्यता से पूर्ण बनाएँ, जिससे फिर जन्म न लेना पड़े।

सूक्त-२०

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

पुरां भिन्दुः

१२५०. पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥ १ ॥

३५९ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

तब और अब

१२५१. त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम्।
त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः ॥ २ ॥

हे **अद्रिवः**=अविदारणीय शक्तिवाले प्रभो! आपकी शक्ति का विदारण कौन कर सकता है? **त्वम्**=आप **गोमतः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाले, परन्तु **वलस्य**=कामादि से संवृत (वल संवरणे) हो जानेवाले के **बिलम्**=छिद्र व न्यूनता को **अपावः**=अपावृत कर देते हो, खोलकर दूर कर देते हो।

इस प्रकार न्यूनता के दूर हो जाने पर, आवरण के हट जाने पर ज्ञान-दीप्ति से चमकनेवाले **देवाः**=देव लोग **तुज्यमानासः**=ज्ञान-प्राप्ति से पूर्व जो विषय-विषों से पीड़ित हो रहे थे, अब **अबिभ्युषः**=इनके आक्रमण के असम्भव होने के कारण निर्भीक बने हुए **त्वां आविषुः**=आपको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान-प्राप्ति से पूर्व विषय-विषों से हिंसित होनेवाले हम ज्ञान को प्राप्त होकर निर्भीक हो गये हैं और प्रभु में प्रवेश पाने के अधिकारी हुए हैं।

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

इन्द्र-स्तवन

१२५२. इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमैरनूषत।
सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः॥ ३॥

हे मनुष्य! प्रभु को **स्तोमैः**=स्तुतिसमूहों से **अभि अनूषत**=सब ओर स्तुत करो। वे प्रभु—१. **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यवाले हैं, २. **ओजसा ईशानम्**=अपने ओज से समस्त ब्रह्माण्ड का शासन करनेवाले हैं, ३. **यस्य रातयः**=जिसके दान **सहस्रम्**=हज़ारों हैं, जिस प्रभु ने उन्नति के लिए हमें शतशः पदार्थ प्राप्त कराये हैं, ४. **उत वा सन्ति भूयसीः**=जिस प्रभु के दान हज़ारों से भी अधिक हैं। वस्तुतः प्रभु ने जो पदार्थ हमारी उन्नति के लिए प्राप्त कराये हैं, उनकी कोई संख्या थोड़े ही है? उस अनन्तदानवाले प्रभु का हमें स्तवन करना ही चाहिए।

भावार्थ—वे प्रभु इन्द्र हैं, ईशान हैं, अनन्त दानोंवाले हैं। हम उन्हीं का स्तवन करें।

इति नवमोऽध्यायः, पञ्चमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः॥

अथ दशमोऽध्यायः

पञ्चमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

भुवनस्य गोपा

१२५३. अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मन् जनयन् प्रजा भुवनस्य गोपाः ।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे स्वानो अद्रिः ॥ १ ॥

५२९ संख्या पर मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उल्लासमय जीवन, जीवन का उल्लास

१२५४. मत्सि वायुमिष्टये राधसे नो मत्सि मित्रावरुणा पूयमानः ।
मत्सि शर्धो मारुतं मत्सि देवान् मत्सि द्यावापृथिवी देव सोम ॥ २ ॥

मन्त्र का ऋषि 'पराशरः' (परा=away, शृ हिंसा)=शत्रुओं को दूर हिंसित करनेवाला 'शाक्त्यः'—शक्ति का पुत्र; शक्ति का पुञ्ज है। यह दिव्य गुणोंवाले सोम का स्मरण करता हुआ कहता है—१. हे **देव सोम**=दिव्य गुणों के पुञ्ज, दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले सोम ! तू **नः**=हममें से **वायुम्**=गतिशील व्यक्ति को (वा-गति) **इष्टये**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिए तथा **राधसे**=संसिद्धि व सफलता के लिए **मत्सि**=आनन्दयुक्त करता है। भाव यह है कि गतिशील व्यक्ति ही वासनाओं से बचकर सोम की रक्षा कर पाता है। यह सुरक्षित सोम उसे यज्ञादि में प्रवृत्त करता है और सफलता का लाभ कराता है। २. हे सोम ! तू **मित्रावरुणा**=प्राणापान की साधना करनेवालों को **पूयमानः**=पवित्र करता हुआ **मत्सि**=आनन्दित करता है। प्राणापान=प्राणायाम की साधना से ही ऊर्ध्वरेतस् बनना सम्भव है। ऊर्ध्वरेतस् बनने पर शरीर में रोग व मन में द्वेषादि मालिन्यों का नाश हो जाता है। इस प्रकार यह सोम साधक के जीवन को पवित्र व आनन्दित करनेवाला होता है। ३. हे सोम ! तू **मारुतं शर्धः**=प्राणों के बल को **मत्सि**=गतिशील तथा प्राणापान-साधक में उल्लासमय बनाता है। सोम के सुरक्षित होने पर प्राणों का बल बढ़ता है और जीवन में उल्लास का संचार होता है। ४. हे सोम ! तू **देवान् मत्सि**=ज्ञान प्राप्त करके चमकनेवालों को उल्लसित करता है। 'ज्ञान-प्राप्ति' में लगा रहना भी सोम की सुरक्षा का साधन है। सुरक्षित सोम ज्ञानवृद्धि का साधन बन जाता है। ५. हे **देव सोम**=दिव्य सोम ! तू **द्यावापृथिवी**=द्युलोक तथा पृथिवीलोक को **मत्सि**=तृप्त व प्रीणित करता है। द्युलोक मस्तिष्क है, पृथिवी शरीर। सोम मस्तिष्क को उल्लसित करता है मनुष्य को ज्ञान की दीप्तियाँ प्राप्त होने लगती हैं (Flashes of light) तथा शरीर की नीरोगता भी एक आनन्द का अनुभव कराती है।

भावार्थ—हम दिव्य गुणों के साधक सोम के महत्त्व को समझकर उसकी रक्षा के लिए १. गतिशील बनें, २. प्राणायाम करें, और ३. ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहें। इससे हमारा सारा जीवन उल्लासमय हो उठेगा।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जितेन्द्रियता व शक्ति

१२५५. महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥ ३ ॥

५४२ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

सूक्त-२

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

१२५६. एष देवो अमर्त्यः पर्णवीरिव दीयते। अभि द्रोणान्यासदम् ॥ १ ॥

एषः=यह आत्मा **देवः**=नानाविध क्रीड़ा करनेवाला है (दिव्=क्रीडा) **अमर्त्यः**=कभी नष्ट न होनेवाला है। यह **पर्णवीः**=(पंखों से गति करनेवाले) पक्षी की **इव**=भाँति, **दीयते**=गति करता है (soar, fly), उड़ता है। एक शरीर को छोड़ता है और **द्रोणानि**=विविध शरीर-कलशों में **अभ्यासदम्**=यह बैठता है। जैसे पक्षी एक वृक्ष अथवा डाल से उड़कर दूसरे वृक्ष पर या दूसरी डाल पर बैठता है, उसी प्रकार यह आत्मा एक शरीर से उड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। अमर्त्य है, परन्तु यह निरन्तर शरीर-परिवर्तन ही इसकी मृत्यु हो जाता है। यह अभि=चारों ओर लोक-लोकान्तरों में विविध शरीरों को (द्रोणानि) प्राप्त होता रहता है। 'द्रु-गतौ' से बना हुआ द्रोण शब्द इस शरीर का वाचक होता है, क्योंकि यही इन सब क्रियाओं का आधार है। जैसे एक बच्चा अज्ञानवश व्यर्थ के खेलों में लगा रहता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी अपनी अल्पज्ञता से इन शरीरों में क्रीड़ा करता रहता है (देव)। इन्हीं में सुख माननेवाला यह जीव 'शुनःशेप' है, नानाविध भौतिक सुखों का निर्माण कर रहा है। यह 'आजीगर्ति' है। इन सुखों में आसक्त होकर गर्त-गड्ढे की ओर गति कर रहा होता है (अज्)।

भावार्थ—जीव अल्पज्ञतावश भौतिक सुखों में फँसता है और उसे कर्मानुसार फल भोगने के लिए शरीर में आना पड़ता है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु का प्रजाओं में प्रवेश (तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्)

१२५७. एष विप्रैरभिष्टुतोऽपो देवो वि गाहते। दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ २ ॥

१. जीव शरीर में प्रवेश करता है और प्रभु जीवों में प्रविष्ट होकर रहते हैं, परन्तु कब? जब **एषः**=यह सर्वव्यापक **देवः**=प्रभु **विप्रैः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवालों से **अभिष्टुतः**=स्तुत होते हैं। वैसे तो वे प्रभु प्राणिमात्र में क्या भूतमात्र में रह रहे हैं, सर्वव्यापकता के नाते वे कण-कण में विद्यमान हैं, परन्तु प्रभु का प्रकाश तो इन स्तोताओं में ही होता है जो अपनी कमियों को दूर करते हैं। २. जब हम अपनी न्यूनताओं को दूर कर उस प्रभु की स्तुति करते हैं तब **देवः**=ये दिव्य प्रभु

अपः=कर्मशील प्रजाओं में **विगाहते**=प्रवेश करते हैं, अर्थात् ये विप्र उस प्रभु का प्रकाश अपने अन्दर देखते हैं। ३. अन्तः-प्रविष्ट प्रभु **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए **रत्नानि दधत्**=रत्नों को धारण करते हैं। जो व्यक्ति दान देता है तथा प्रभु के प्रति अपना समर्पण करता है, प्रभु उसे रमणीय धन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—जीव का कल्याण इसी में है कि—१. वह 'विप्र' बने—अपनी न्यूनताओं को दूर करके अपना पूरण करे, २. अपः=कर्मशील बने, ३. दाश्वान्=दाता और प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाला हो। ऐसा करने पर ही यह वास्तविक सुख का निर्माण करनेवाला 'शुनःशेप' होगा। गर्त=स्तुत्य प्रभु की ओर गति करनेवाला (अज्) यह सचमुच 'आजीगर्ति' हो जाएगा।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उपासना के परिणाम

१२५८. एष विश्वानि वार्या शूरो यन्निव सत्वभिः। पवमानः सिषासति ॥ ३ ॥

एषः=यह प्रभु की उपासना करनेवाला जीव १. **शूरः**=(शृ हिंसायाम्) कामादि सब अशुभ वृत्तियों की हिंसा करनेवाला होता है। २. **सत्वभिः यन् इव**=यह सदा सात्त्विक वृत्तियों के साथ गति करता है। रजोगुण व तमोगुण को अभिभूत करके इसमें सत्त्वगुण प्रबल होता है। ३. **पवमानः**=यह अपने जीवन को पवित्र करने के स्वभाववाला होता है। इसका जीवन उत्तरोत्तर पवित्र होता जाता है। ४. पवित्र जीवनवाला होकर यह **विश्वानि वार्या सिषासति**=वरणीय वस्तुओं को पाना चाहता है। वह अवाञ्छनीय वस्तुओं की कामना से ऊपर उठ जाता है।

भावार्थ—प्रभु-उपासना हमें १. शूर, २. सात्त्विक, ३. पवित्र व ४. शुभ इच्छाओंवाला बनाती है।

ऋषिः—शुनःशेपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु भक्त के सारथि बनते हैं

१२५९. एष देवो रथर्यति पवमानो दिशस्यति। आविष्कृणोति वग्वनुम् ॥ ४ ॥

१. **एषः**=यह **देवः**=पूर्ण ज्ञान से द्योतमान (द्युति), सब व्यवहारों के साधक (व्यवहार) प्रभु **रथर्यति**=(रथं कामयते)=भक्त के रथ को चाहते हैं, अर्थात् भक्त के रथ का वहन करने के लिए उसके सारथि बनते हैं। २. **पवमानः**=भक्त के जीवन को निरन्तर पवित्र करनेवाले प्रभु **दिशस्यति**=(दिशस्य=to direct) उसका ठीक मार्ग-प्रदर्शन करते हैं और उसे उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराना चाहते हैं (दिश्=अतिसर्जने)। ३. इसी उद्देश्य से प्रभु हृदयस्थरूप से **वग्वनुम्**=वेदवाणी को **आविष्कृणोति**=आविर्भूत करते हैं। यह वेदवाणी मार्ग-दर्शन तो करती ही है, साथ ही सब विज्ञानों को बताकर सब साधनों को जुटाने में सक्षम बनाती है।

भावार्थ—प्रभु मेरे रथ के सारथि हों, मुझे उनका मार्ग-दर्शन प्राप्त हो तथा मैं वेदवाणी को सुनूँ, जिसे प्रभु निरन्तर प्रकट कर रहे हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आत्म-शोधक कौन ?

१२६०. एष देवो विपन्युभिः पवमान ऋतायुभिः। हरिर्वाजाय मृज्यते ॥ ५ ॥

एषः=यह देव—अपने अन्दर दिव्यता बढ़ानेवाला, **पवमानः**=अपने को पवित्र बनाने के

स्वभाववाला, **हरिः**=परन्तु इन्द्रियों के द्वारा निरन्तर विषयों में हरण किया जानेवाला आत्मा **वाजाय**=शक्ति व ज्ञान-प्राप्ति के लिए **मृज्यते**=शुद्ध किया जाता है। किनसे १. **विपन्युभिः**=विशेषरूप से उस प्रभु की स्तुति करनेवालों से तथा २. **ऋतायुभिः**=ऋत को चाहनेवालों से।

आत्मा 'देव' है—चित् होने से ज्ञानमय है, यह पवमान—पवित्र है, परन्तु प्रबल इन्द्रियसमूह इसे विषयों में हर ले-जाता है तो यह मलिन-सा हो जाता है। जब जीव यह चाहता है कि उसे शक्ति व ज्ञान प्राप्त हो, अर्थात् उसका शरीर सशक्त हो तथा उसका मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हो तब वह अपना शोधन करता है—विषयपङ्क से अपने को निकालने का प्रयत्न करता है। विषयपङ्क से निकलने के उपाय यही हैं कि १. 'विपन्यु' बने=प्रभु का विशेषरूप से स्तोता हो तथा २. ऋतायु=सत्य व नियमितता को अपने जीवन में लाने के लिए यत्नशील हो।

भावार्थ—विपन्यु व ऋतायु ही आत्मशुद्धि कर पाते हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

स्तुत प्रभु क्या करते हैं?

१२६१. एष देवो विपा कृतोऽति ह्वरांसि धावति। पवमानो अदाभ्यः॥ ६॥

एषः देव=दिव्यता के पुञ्ज ये प्रभु **विपा**=स्तोता—मेधावी पुरुष से **कृतः**=अपने हृदय-स्थली में निवास कराये जाने पर **ह्वरांसि अतिधावति**=सब कुटिलताओं को खूब अच्छी प्रकार (अति पूजार्थे) धो डालते हैं (धाव्=शुद्धि)। वे प्रभु तो हैं ही **पवमानः**=पवित्र करनेवाले और वे हैं भी तो **अदाभ्यः**=किसी से न दबनेवाले। प्रभु को उसके कार्य से कोई रोक थोड़े ही सकता है? प्रभु चाहते हैं तो अपने भक्त को पूर्ण शुद्ध कर देते हैं। प्रभु की आराधना के उपाय 'ज्ञानी बनना तथा उसके गुणों के स्तवन के द्वारा अपनी लक्ष्य-दृष्टि को न भूलना' ही है।

भावार्थ—हम मेधावी स्तोता बनकर कुटिलताओं का सफ़ाया कर डालें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु का आह्वान करते हुए

१२६२. एष दिवं वि धावति तिरो रजांसि धारया। पवमानः कनिक्रदत्॥ ७॥

जब प्रभु सब कुटिलताओं का शोधन कर देते हैं तब १. **एषः**=यह प्रभुभक्त **धारया**=(धारा=वाङ्) वेदवाणी के द्वारा **रजांसि तिरः**=रजोगुणों के परे **दिवम्**=प्रकाश की ओर **वि-धावति**=विशेषरूप से गति करता है (तिरः=across)। २. रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण को प्राप्त करता हुआ यह भक्त **पवमानः**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाला होता है। रजोगुण में ही सब राग-द्वेष थे, रजोगुण गया तो राग-द्वेष आदि मल भी नष्ट हो गये। ३. **कनिक्रदत्**=इसी रजोगुण से ऊपर उठने के उद्देश्य से ही यह निरन्तर उस प्रभु का आह्वान करता है। यह प्रभु का स्मरण ही उसे वह शक्ति प्राप्त कराएगा, जिससे यह अपनी सब कलुषित वासनाओं को जीत पाएगा।

वासनाओं का जीतना ही इसे उन्नति की ओर—प्रकाश की ओर, द्युलोक की ओर ले-जाएगा।

भावार्थ—हम प्रभु को पुकारें, जिससे हम पवित्र बनें। हम रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में अवस्थित हों।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु सत्य में अवस्थित को प्राप्त होते हैं

१२६३. एष दिवं व्यासरत्तिरो रजांस्यस्तृतः । पवमानः स्वध्वरः ॥ ८ ॥

एषः=यह प्रभु **दिवम्**=सत्त्वगुण में अवस्थित प्रकाशमय जीवनवाले को **व्यासरत्**=विशेषरूप से प्राप्त होते हैं। सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सर्वत्र हैं ही, परन्तु उनका प्रकाश सात्त्विक हृदय में होता है। प्रभु अपने प्रकाश से सात्त्विक पुरुष के हृदय में विद्यमान **रजांसि**=(रजः=रात्रि—नि० १.७.१२) रात्रि के समान अन्धकारों को **तिरः**=दूर कर देते हैं, परिणामतः यह भक्त १. **अ-स्तृतः**=अहिंसित होता है। यह वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता। २. **पवमानः**=यह अपने जीवन को पवित्र करनेवाला होता है, ३. और **स्वध्वरः**=उत्तम अध्वरमय जीवन को प्राप्त करता है—इसका जीवन हिंसाशून्य कर्मों से परिपूर्ण रहता है।

भावार्थ—हम सात्त्विक बनें, जिससे हमें प्रभु का प्रकाश प्राप्त हो और हमारा जीवन वासनाओं से अनाक्रान्त, पवित्र व हिंसाशून्य कर्मों से परिपूर्ण हो।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पवित्र प्रभु की ओर

१२६४. एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः । हरिः पवित्रे अर्षति ॥ ९ ॥

जीवात्मा यदि एक शरीर में अपनी साधना पूर्ण न करके शरीरान्तर को धारण करता है तो **एषः**=यह **प्रत्नेन जन्मना**=जीवन के अत्यन्त शैशवकाल से ही (from the very early childhood) **देवः**=दिव्य गुणोंवाला होता हुआ **देवेभ्यः सुतः**=मानो दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए ही उत्पन्न हुआ-हुआ **हरिः**=सभी के दुःखों को हरण करने की वृत्तिवाला **पवित्रे**=पवित्र प्रभु में **अर्षति**=गति करता है।

पिछले जन्म के संस्कार उसे फिर से इस दिव्य मार्ग पर आगे बढ़ाते हैं। इसका जन्म ही दिव्य गुणों की प्राप्त के लिए हुआ लगता है। यह सदा उस प्रभु में विचरता है और यथासम्भव औरों के कष्टों को कम करने की प्रवृत्तिवाला होता है।

भावार्थ—हम सदा उस पवित्र प्रभु में विचरने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रेरणाओं को उत्पन्न करता हुआ

१२६५. एष उ स्य पुरुव्रतो जज्ञानो जनयन्निषः । धारया पवते सुतः ॥ १० ॥

एषः स्यः=यह वह परमात्मा **उ**=निश्चय से (प्रभु को 'एषः स्यः' कहा है कि वह समीप-से-समीप है और दूर-से-दूर) १. **पुरुव्रतः**=पालक और पूरक व्रतोंवाला है। यह प्राणिमात्र का पालन कर रहा है। २. **जज्ञानः**=यह सदा लोक-लोकान्तरों का निर्माण करनेवाला है। ३. **जनयन् इषः**=यह प्रेरणाओं को उत्पन्न कर रहा है—जीव को हृदयस्थरूप से सदा कर्त्तव्य की प्रेरणा दे रहा है। ४. यदि एक भक्त उस प्रभु को हृदय में देखने का प्रयत्न करता है तो **सुतः**=आविर्भूत हुआ-हुआ वह प्रभु **धारया**=वेदवाणी द्वारा हमारे जीवनों को **पवते**=पवित्र करता है।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदय में प्रकट करने का प्रयत्न करें, हमें अवश्य उत्तम प्रेरणा प्राप्त होगी।

सूचना—इस सूक्त के सारे मन्त्रों में 'एषः' शब्द क्रमशः जीव और परमात्मा की ओर संकेत कर रहा है कि 'यह जीव है' और 'यह परमात्मा'। १. जीव शरीर में प्रवेश करता है तो प्रभु जीव में। २. जीव उपासना से शूर बनता है, तो प्रभु उसके रथ के सारथि बनते हैं। ३. जीव स्तुति व ऋतपालन से आत्म-शुद्धि करता है, तो स्तुत प्रभु उसकी कुटिलताओं को दूर करते हैं। ४. जीव प्रभु का आह्वान करते हुए सत्त्वगुण की ओर बढ़ता है तो प्रभु सत्त्व में अवस्थित इस जीव को प्राप्त होते हैं। ५. जीव अनेक जन्म-संसिद्ध होकर प्रभु की ओर चलता है तो प्रभु वेदवाणी से उसके जीवन को पवित्र कर देते हैं। इस प्रकार पाँच द्विकों में यह 'आत्मा व परमात्मा' का सुन्दर विवेचन हो गया है।

सूक्त-३

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'असित-देवल-काश्यप'

१२६६. एष धिया यात्यण्व्या शूरो रथेभिराशुभिः। गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम्॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'असित-देवल-काश्यप' है। अ-सित=विषयों से अबद्ध, देवल=दिव्यगुणों का उपादान करनेवाला, काश्यप=पश्यक=ज्ञानी। **एषः**=यह **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के साथ **निष्कृतम्**=एकभाव (Atonement) को **गच्छन्**=प्राप्त करने के हेतु से (हेतौ शतृ) इस संसार में १. **शूरः**=वासनाओं की हिंसा करनेवाला बनकर, २. **आशुभिः रथेभिः**=शीघ्रगामी घोड़ों से जुते रथ से जीवन-यात्रा को पूर्ण करने के लिए **याति**=अपने मार्ग पर बढ़ता है। इसका यह रथ **अण्व्या धिया**=सूक्ष्म बुद्धि से हाँका जा रहा है। बुद्धि ही तो रथ का सारथि है और यात्रा की पूर्ति पर प्रभु का दर्शन इस सूक्ष्मबुद्धि द्वारा ही हुआ करता है—'**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या**'।

१. यात्रा में पग-पग पर विघ्न हैं, उन विघ्नों को जीतने के लिए यात्री को शूर होना ही चाहिए। यदि वह इन विघ्नों से रोक लिया जाएगा, इन विषयरूप ग्रहों से पकड़ लिया जाएगा, तब यात्रा कैसे पूरी होगी? इन सब विघ्नों से बद्ध न होनेवाला वह 'अ-सित' है। २. इसके इन्द्रियरूप घोड़े सब प्रकार के आलस्य से शून्य, तीव्रता से अपने मार्ग पर आगे बढ़ते हुए स्फूर्तिमय है। इसकी इन्द्रियाँ देव हैं, दस्यु नहीं, यात्रा को सिद्ध करनेवाली हैं, इस प्रकार यह 'देव-ल'=दिव्य अश्वों का उपादान करनेवाला है। ३. इसका बुद्धिरूप सारथि अत्यन्त कुशल है। सूक्ष्मबुद्धि में आवश्यक ज्ञान रखनेवाला यह सचमुच 'काश्यप'—ज्ञानी है।

भावार्थ—हम 'असित, देवल व काश्यप' बनकर यात्रा को पूर्ण करनेवाले बनें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रज्ञापूर्वक कर्म 'देवताति' के लिए

१२६७. एष पुरू धियायते बृहते देवतातये। यत्रामृतास आशत॥ २॥

एषः=यह 'असित'=विषयों से अबद्ध व्यक्ति **बृहते देवतातये**=(देवताति=यज्ञ—नि० १२.१२, यज्ञो वै विष्णुः) उस महान् यज्ञरूप प्रभु के लिए—प्रभु की प्राप्ति के लिए, **यत्र**=जिस प्रभु में

अमृतासः=मुक्ति को प्राप्त, मृत्यु से ऊपर उठे हुए लोग **आशत**=मोक्षसुख का अनुभव करते हैं अथवा 'आसत' स्थित होते हैं, **पुरु**=प्रभूत **धियायते**=(धीः=प्रज्ञा, कर्म) ज्ञान व कर्म को चाहता है।

मन्त्रार्थ में यह भाव स्पष्ट है कि प्रभु की प्राप्ति का मुख्य साधन 'ज्ञानपूर्वक कर्म करना' है। 'धी' शब्द में ज्ञान व कर्म दोनों का ही समावेश हो गया है। प्रभु यज्ञरूप हैं। उस यज्ञरूप प्रभु को हम यज्ञात्मक कर्मों से ही प्राप्त करेंगे। '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**'—देवलोग यज्ञरूप प्रभु के साथ यज्ञ द्वारा ही सङ्गत होते हैं। इन यज्ञात्मक कर्मों से हमारे जीवन में दिव्य गुणों का विस्तार भी होता है। 'देवताति' की भावना दिव्य गुणों का विस्तार भी है। दिव्य गुणों के विस्तार के लिए भी हमें 'प्रज्ञा व कर्म' को ही तो चाहना है। 'प्रज्ञा' ब्रह्म की प्रतीक है, 'कर्म' क्षत्र का। एवं, प्रज्ञा व कर्म की कामना ब्रह्म व क्षत्र की ही कामना है। इन्हीं से मुझे अपने जीवन को श्रीसम्पन्न बनाना है।

भावार्थ—हम प्रज्ञापूर्वक कर्मों द्वारा प्रभु को प्राप्त करें—अपने अन्दर यज्ञ की भावना को बढ़ाएँ तथा दिव्य गुणों का विस्तार करें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मृग्य का मृजन

१२६८. एतं मृजन्ति मर्ज्यमुप द्रोणेष्वायवः प्रचक्राणं महीरिषः ॥ ३ ॥

आयवः=गतिशील पुरुष—क्रियाशील व्यक्ति **एतम्**=इस **मर्ज्यम्**=अन्वेषण करने योग्य (मृज् to seek), अपने हृदयों में अलंकृत करने योग्य प्रभु को **द्रोणेषु**=इन गति के आधारभूत शरीरों में **उपमृजन्ति**=समीपता से शोधने का प्रयत्न करते हैं। उस प्रभु को जोकि **महीः इषः**=महान् प्रेरणाओं को **प्रचक्राणम्**=प्रकर्ष से कर रहे हैं।

अन्तःस्थित प्रभु सदा उत्तम प्रेरणाएँ दे रहे हैं। यह हमारा दौर्भाग्य है कि हम उन्हें सुनते ही नहीं। आयु=गतिशील पुरुष ही अन्तःस्थ प्रभु का साक्षात्कार करते हैं और उसकी वाणी को सुन पाते हैं। यहाँ—शरीर में ही उस प्रभु का दर्शन होना है। शरीर को द्रोण कहा है, क्योंकि यही इन्द्रियों, मन व बुद्धि का आधार है, जैसेकि द्रोणपात्र पानी आदि का आधार बनता है। अथवा सारी गति इस शरीर में ही होती है, इसलिए भी इसे 'द्रोण' कहा है, (द्रु गतौ)। जब मनुष्य का झुकाव प्रभु की ओर होता है तब वह प्रभु की महनीय प्रेरणाओं को सुनता है।

भावार्थ—हम प्रभु को ही मृग्य—अन्वेषणीय पदार्थ समझें।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दान, हृदयशुद्धि, प्रभु-दर्शन

१२६९. एष हितो वि नीयतेऽन्तः शुन्ध्यावता पथा। यदी तुञ्जन्ति भूर्णयः ॥ ४ ॥

एषः=यह **अन्तः हितः**=अन्दर ही रक्खा हुआ प्रभु **शुन्ध्यावता**=शुद्धिवाले **पथा**=मार्ग से **विनीयते**=प्राप्त किया जाता है, **यत्**=जब **ई**=निश्चय से **भूर्णयः**=औरों का भरण-पोषण करनेवाले व्यक्ति **तुञ्जन्ति** (नि० ३.२०.९ दान)=दान देते हैं।

प्रभु-प्राप्ति आत्मशुद्धि से होती है और आत्मशुद्धि दान देने से होती है। दान 'व्यसनवृक्ष' के मूलभूत लोभ को नष्ट कर देता है और इस प्रकार मनुष्य को शुद्ध मनोवृत्तिवाला बनाता है। यह

शुद्ध मनोवृत्तिवाला पुरुष ही प्रभु के दर्शन कर पाता है। प्रभु तो हृदय के अन्दर ही वर्त्तमान हैं, हृदय की मलिनता उसका दर्शन नहीं होने देती। हृदय शुद्ध हुआ और दर्शन हुआ।

भावार्थ—दान से हृदय शुद्ध होता है और शुद्ध हृदय में प्रभु-दर्शन हो पाता है।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सिन्धुपति का प्रभु-दर्शन

१२७०. एष रुक्मिभिरीयते वाजी शुभ्रेभिरंशुभिः। पतिः सिन्धूनां भवन्॥ ५॥

एषः=यह विषयों से अबद्ध जीव **सिन्धूनाम्**=स्यन्दमान=बहने के स्वभाववाले जलों=वीर्यों (आपो रेतो भूत्वा०) का **पतिः**=रक्षक **भवन्**=होता हुआ **वाजी**=शक्तिशाली बनकर **रुक्मिभिः**=स्वर्ण के समान देदीप्यमान **शुभ्रेभिः**=उज्ज्वल **अंशुभिः**=ज्ञान की किरणों से **इयते**=प्रभु की ओर जाता है—प्रभु को प्राप्त करता है।

मनुष्य के जीवन की मौलिक बात यह है—१. वह वीर्य की रक्षा करे—सिन्धुओं का पति बने। २. वीर्य-रक्षा का परिणाम यह है कि वह 'वाजी'—बलवान् बनता है, ३. इसका ज्ञान उज्ज्वल होता है (शुभ्र-अंशु) और ४. यह परमात्मा को प्राप्त करता है।

भावार्थ—मैं सिन्धुपति बनूँ, वाजी होऊँ, उज्ज्वल ज्ञान-किरणों से प्रभु का साक्षात्कार करूँ।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ओजस्विता—उत्साह व धन

१२७१. एष शृङ्गाणि दोधुवच्छिशीते यूथ्यो ३ वृषा। नृम्णा दधान ओजसा॥ ६॥

एषः=यह 'असित' देवल दिव्य गुणों का उपादान करनेवाला बनने के कारण १. **शृंगाणि**=सींगों को (शृ+गन्) हिंसासाधनों को **दोधुवत्**=कम्पित करके अपने से दूर कर देता है। इसके जीवन में किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती। इसका जीवन 'अध्वर' बन जाता है। २. **शिशीते**=(शो तनूकरणे) अपनी बुद्धि को तीव्र करता है, ३. **यूथ्यः**=जनसमूह का हित करनेवाला होता है। जनसमूह से अपने को अलग करके अपने ही आनन्द में नहीं विचरता रहता, ४. **वृषा**=शक्तिशाली बनता है और औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है, ५. **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **नृम्णा दधानः**=धनों को धारण करनेवाला होता है, अथवा उत्साह को धारण करनेवाला बनता है (नृम्ण=Wealth, Courage) इसके जीवन में उत्साह होता है—उत्साह के लिए ओजस्विता तथा आवश्यक धन इसके पास होता ही है।

भावार्थ—मैं ओजस्विता, उत्साह व धन को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अच्छाई का कारण

१२७२. एष वसूनि पिब्दनः परुषा ययिवाँ अति। अव शादेषु गच्छति॥ ७॥

एषः=यह १. **वसूनि**=(वसु=goods) अच्छाइयों का—उत्तमताओं का **पिब्दनः**=पान करनेवाला है, उत्तमताओं का चयन करनेवाला है। २. **परुषा**=कठोरताओं (cruelty) का **अतिययिवान्**= उल्लंघन करनेवाला बनता है। अपने जीवन में कठोरता को स्थान नहीं देता, क्योंकि दया 'मानवता'

की सूचक है और कठोरता 'पशुता' की। Human अवश्य Humane होता है। मनुष्यता दया में निहित है। ३. यह असित अच्छाइयों का ग्रहण करता हुआ क्रूरता को अपने से परे फेंकता हुआ **शादेषु**=(शीयन्ते नश्यन्ति अनेन इति) नष्ट करनेवाली वासनाओं पर **अवगच्छति**=आक्रमण करता है। वासनाओं को नष्ट करके अपने को नाश से बचाता है।

भावार्थ—१. हमें अच्छाई को अपने अन्दर ग्रहण करना चाहिए, २. कठोरता को दूर करना चाहिए, ३. वासनाओं का अन्त करने के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—असितः काश्यपो देवलो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

असित की प्रभु के प्रति प्रणामाञ्जलि

१२७३. एतमु त्यं दश क्षिपो हरिं हिन्वन्ति यातवे। स्वायुधं मदिन्तमम् ॥ ८ ॥

उ=निश्चय से **त्यम्**=उस **हरिम्**=सब दु:खों का हरण करनेवाले, **सु-आयुधम्**=शत्रुओं के नाश के लिए आयुधरूप **मदिन्तमम्**=हमारे जीवनों को अत्यन्त उल्लासमय बनानेवाले **एतम्**=प्रभु को **यातवे**=यातुओं की निवृति के लिए (मशकाय धूम इति=मच्छरों के हटाने के लिए धूँआ है), राक्षसी वृत्तियों को दूर करने के लिए **दश क्षिपः**=दस अंगुलियाँ (दोनों हाथ) **हिन्वन्ति**=प्रेरित होती हैं, अर्थात् प्रभु के प्रति की गयी प्रणामाञ्जलि सब आसुर वृत्तियों को दूर भगानेवाली होती है।

भावार्थ—हम प्रभु को प्रणाम करें, जिससे सब असुर प्रणत हो जाएँ।

सूक्त-४

ऋषिः—राहूगण आङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'हिताशी हो' राहूगण, आङ्गिरस

१२७४. एष उ स्य वृषा रथोऽव्या वारेभिरव्यत। गच्छन्वाजं सहस्त्रिणम् ॥ १ ॥

इस संसार में जो व्यक्ति प्रभु की ओर चलता है **उ**=निश्चय से **स्यः**=वह व्यक्ति १. **वृषा**=शक्तिशाली बनता है, २. **रथः**=रमणीय स्वरूपवाला होता है, (ऋ० १.५८.३ द०), ३. **अव्याः**= पृथिवी के (अवि—पृथिवी—शत० ६.१.२.३३) **वारेभिः**=वरणीय पदार्थों से **अव्यत**=सुरक्षित किया जाता है। यह पृथिवी से उत्पन्न वरणीय पदार्थों का ही सेवन करता है, परिणामतः इसका स्वास्थ्य ठीक बना रहता है, इसका शरीर शक्तिशाली होता है और स्वरूप रमणीय। यह शक्तिशाली, रमणीय स्वरूपवाला व्यक्ति 'आङ्गिरस'=अङ्ग-अङ्ग में रसवाला, एक-एक अङ्ग में शक्तिवाला होता है, क्योंकि यह वरणीय पदार्थों का ही सेवन करता है, अन्य पदार्थों को त्याग देता है, अतः 'राहूगण'= त्यागियों में गिना जानेवाला कहलाता है। यह स्वादवश त्याज्य पदार्थों का सेवन नहीं करता, इसीलिए यह **सहस्त्रिणम्**=सहस्र पुरुषों के **वाजम्**=बल को **गच्छन्**=प्राप्त होता है (शतृ=लट्; गच्छति)। इसके शरीर की शक्ति सदा ठीक बनी रहती है।

भावार्थ—अनन्त, अक्षीण बल को प्राप्त करने के लिए हम हितकर पदार्थों का ही सेवन करें।

ऋषिः—राहूगण आङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दृढ़-सङ्कल्प

१२७५. एतं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ २ ॥

एतं हरिम्=इस सब आधि-व्याधि व उपाधियों के हरनेवाले प्रभु को **त्रितस्य**=इस तीर्णतम—अत्यन्त प्रबल 'काम, क्रोध, लोभ' रूप त्रिक (Traid) के **योषणः**=नष्ट करनेवाले (यूष हिंसायाम्), **अद्रिभिः**=न नष्ट करने योग्य (अविदारणीय), दृढ़-सङ्कल्पों से **हिन्वन्ति**=प्राप्त होते हैं। प्रभु-प्राप्ति के लिए दो बातें आवश्यक हैं—१. काम, क्रोध, लोभ का नाश करना। २. प्रभु-प्राप्ति का दृढ़-सङ्कल्प। दृढ़-सङ्कल्प के बिना कामादि का नष्ट करना भी कठिन है।

ये **इन्दुम्**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान् प्रभु को प्राप्त करने का इसलिए दृढ़-सङ्कल्प करते हैं कि प्रभु-प्राप्ति से ही १. **इन्द्राय**=परमैश्वर्य व शक्ति को प्राप्त करके हमें इन्द्र बनना है (इन्द्राय=इन्द्रत्व की प्राप्ति के लिए) तथा २. **पीतये**=रक्षा के लिए। प्रभु से सुरक्षित होकर ही हम अपने को वासनाओं से सुरक्षित कर पाते हैं।

इस प्रकार प्रभु-प्राप्ति के लिए दो साधन हैं—१. काम, क्रोध, लोभ के त्रित से ऊपर उठना तथा २. दृढ़-सङ्कल्प। दो ही इसके फल हैं—१. परमैश्वर्य की प्राप्ति और २. वासनाओं के आक्रमण से रक्षा।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति के लिए कटिबद्ध होकर जीवन-यात्रा में आगे बढ़ें।

ऋषिः—राहूगण आङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यह मानव से प्रेम करता है

१२७६. एष स्य मानुषीष्वा श्येनो न विक्षु सीदति। गच्छं जारो न योषितम् ॥ ३ ॥

एषः स्यः=दृढ़-सङ्कल्प द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाला यह भक्त **मानुषीषु विक्षु**=मानव प्रजाओं में **श्येनः नः**=बड़ी शंसनीय गतिवाला होकर **आसीदति**=विराजमान होता है। यह अपने ही आनन्द के लिए किसी पर्वत-कन्दरा में एकान्त स्थान नहीं ढूँढता। यह मनुष्यों में ही विचरता है। वहाँ रहते हुए यह सदा क्रियाशील बनता है, लोकहित में लगा रहता है और इसकी ये सब क्रियाएँ अत्यन्त प्रशस्त होती हैं।

यह मानव प्रजा को इस प्रकार **गच्छन्**=जानेवाला—प्राप्त होनेवाला होता है **न**=जैसे **जारः**=एक प्रेमी (Lover) **योषितम्**=अपनी प्रेमिका स्त्री को प्राप्त होता है। अथवा **जारः**=जरिता=स्तोता **न**=जैसे **योषितम्**=(यु मिश्रण-अमिश्रण) शुभ से जोड़ने व अशुभ से पृथक् करनेवाले प्रभु से प्रेम करता है। जैसे स्तोता का प्रभु से प्रेम है वैसे ही इस 'राहूगण आङ्गिरस'=स्वार्थ से ऊपर उठे, शक्तिशाली पुरुष का मानव प्रजा से प्रेम होता है। यह उनका हित करने में एक आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—एक प्रभुभक्त मानवहित में रत रहता है। '**सर्वभूतहिते रतः**' ही तो प्रभु का सच्चा भक्त है।

ऋषिः—राहूगण आङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु में प्रवेश व नम्रता

१२७७. एष स्य मद्यो रसोऽव चष्टे दिवः शिशुः। य इन्दुर्वारमाविशत् ॥ ४ ॥

एषः स्यः=यह भक्त १. **मद्यः**=सबको उल्लसित करनेवाला, २. **रसः**=रसमय—अत्यन्त मधुरवाणीवाला, ३. **दिवः शिशुः**=ज्ञान देनेवाला (शिशीते=ददाति) **अवचष्टे**=नीचे की ओर देखता

है, अर्थात् सदा विनीत ही बना रहता है '**ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति**' ज्ञान से सदा विनीत बनता है। ४. **यः**=जो **इन्दुः**=शक्तिशाली बना हुआ **वारम्**=उस वरणीय परमात्मा में **आविशत्**=प्रवेश करता है।

जो परमात्मा में प्रवेश करता है—खाते-पीते, सोते-जागते उस प्रभु का स्मरण करता है, वह स्वयं तो उल्लासवाला होता ही है औरों को भी उल्लासयुक्त करता है। इसकी वाणी में रस होता है, मधुर वाणी से ही यह ज्ञान का प्रचार करता है। ऊँची-से-ऊँची स्थिति में होने पर भी इसे गर्व नहीं होता। सदा नीचे देखनेवाला होता है।

भावार्थ—मैं प्रभु में प्रवेश करूँ तथा नम्र बनूँ।

ऋषिः—राहूगण आङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु का आह्वान करते हुए

१२७८. एष स्य पीतये सुतो हरिरर्षति धर्णसिः। क्रन्दन्योनिमभि प्रियम्॥ ५ ॥

एषः स्यः=यह प्रभुभक्त **पीतये**=रक्षा के लिए **सुतः**=(सुतम् अस्य अस्तीति) निर्माणात्मक कार्यों में लगा हुआ और इन निर्माणात्मक कार्यों के द्वारा **हरिः**=सबके दुःखों का अपहरण करनेवाला **धर्णसिः**=सबके धारण करने के स्वभाववाला **अर्षति**=गति करता है। एक प्रभुभक्त अकर्मण्य तो होता ही नहीं। अकर्मण्य न होने से ही वह अपनी रक्षा कर पाता है। आलसी को ही वासनाएँ सताती हैं। यह सदा निर्माणात्मक कार्यों में लगता है, उनके द्वारा यह कितनों ही के दुःखों को दूर करनेवाला होता है और कितनों का ही धारण-पोषण करता है।

यह अपने इस मार्ग पर चलता हुआ **प्रियम्**=सबके प्रिय **योनिम्**=मूल कारणभूत प्रभु का **अभिक्रन्दन्**=आह्वान करता है। प्रभु की प्रार्थना इसे सशक्त बनाती है और यह अव्याकुलता से अपने निर्माण-कार्यों में लगा रहता है। किसी भी प्रकार का कोई विघ्न इसे अपने मार्ग पर बढ़ने से रोक नहीं पाता।

भावार्थ—प्रभुभक्त सदा निर्माणात्मक कार्यों द्वारा 'सर्वभूतहिते रतः' रहता है।

ऋषिः—राहूगण आङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

क्रियाशीलता व शुद्धि

१२७९. एतं त्यं हरितो दश मर्मृज्यन्ते अपस्युवः। याभिर्मदाय शुम्भते॥ ६ ॥

एतं त्यम्=इस प्रभुभक्त को **दश**=दस **अपस्युवः**=कर्मों को चाहती हुई, अर्थात् कर्मों में व्यापृत हुई-हुई **हरितः**=मन का हरण करनेवाली इन्द्रियाँ **मर्मृज्यन्ते**=खूब शुद्ध कर डालती हैं। इन्द्रियाँ 'हरित्' हैं—ये मन का विषयों में हरण करती हैं, परन्तु जब ये निरन्तर कर्म में लगी रहती हैं (अपस्युवः) तब दसों इन्द्रियाँ आत्मा को शुद्ध कर डालती हैं।

ये इन्द्रियाँ वे हैं **याभिः**=जिनसे **मदाय**=उल्लास के लिए **शुम्भते**=चमकता (Shines) है। इन्द्रियाँ जब निरन्तर कर्म में व्यापृत रहकर पवित्र बनती हैं तब वे मनुष्य के उल्लास के लिए होती हैं और यह उल्लास उसके चमकने का कारण होता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को सदा कर्मव्यापृत रक्खें, यही इन्हें शुद्ध व वश में करने का उपाय है।

सूक्त-५

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मानव हितैषी

१२८०. एष वाजी हितो नृभिर्विश्वविन्मनसस्पतिः । अव्यं वारं वि धावति ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रियमेध आङ्गिरस' है=प्रिय है मेधा जिसको, और जो अङ्ग-अङ्ग में रसवाला है—शक्तिशाली अङ्गोंवाला है। **एषः**=यह १. **वाजी**=शक्तिशाली बनता है (वाज—Power) चूँकि गतिशील है (वज गतौ)। २. **नृभिः हितः**=(हेतु में तृतीया) मनुष्यजाति के उद्देश्य से यह उस-उस क्रिया में रक्खा हुआ होता है। इसकी प्रत्येक क्रिया मानव के हित के विचार से होती है। ३. **विश्ववित्**=यह सभी को जाननेवाला या प्राप्त होनेवाला होता है। अपने हित के कार्यों में लगा हुआ यह सभी का ध्यान करता है, सब दुःखियों के समीप स्वयं पहुँचनेवाला होता है। ४. **मनसः पतिः**=हित के कार्यों में लगा हुआ यह कभी अपने को क्रोध आदि का शिकार नहीं होने देता। यह अपने मन का पति होता है—मन को क़ाबू रखता है। जिनका हित करते हैं उनकी विरोधी क्रियाओं से क्रुद्ध हो उठना स्वाभाविक है, अतः यह प्रियमेध अपने मन को वश में करने का ध्यान करता है। ५. इन क्रोध इत्यादि के आक्रमण से बचने के लिए यह **अव्यम्**=रक्षा में उत्तम उस **वारम्**=वरणीय प्रभु की ओर **विधावति**=दौड़ता है। सदा उस प्रभु के चरणों में उपस्थित रहता है—तभी तो क्रोधादि के वशीभूत नहीं होता।

भावार्थ—हमारी सब क्रियाएँ मानव के हित के लिए हों, हम अपने मन के पति बनें, प्रभु-चरणों में प्रातः-सायं उपस्थित हों।

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सहस्रधार-प्रभु में स्नान

१२८१. एष पवित्रे अक्षरत् सोमो देवेभ्यः सुतः । विश्वा धामान्याविशन् ॥ २ ॥

एषः=यह प्रियमेध **पवित्रे**=उस पवित्र प्रभु में १. **अक्षरत्**=(क्षर to drop) सब पापों को क्षरित कर देता है। उस सहस्रधार प्रभु में स्नान करता हुआ यह अपने सब मलों को धो डालता है। २. **सोमः**=निर्मल होकर यह शान्त, सौम्य स्वभाववाला होता है। ३. **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **सुतः**=(सुतमस्यास्ति) सदा यज्ञादि के निर्माणात्मक कर्मों में लगा रहता है। वस्तुतः दिव्यता की प्राप्ति का एक ही साधन है कि हम सदा निर्माण के कार्यों में लगे रहें। इससे हमपर आसुर वृत्तियों का आक्रमण कभी नहीं होता। ४. जीवन के कार्यक्रम को इस प्रकार चलाता हुआ यह **विश्वा धामानि**=सब तेजों को **आविशन्**=प्राप्त करता है। दिन-ब-दिन इसका तेज वृद्धि को प्राप्त होता जाता है।

भावार्थ—प्रभु के ध्यान से हम अपने जीवनों को निर्मल करनेवाले बनें और नैर्मल्य को प्राप्त कर तेजस्वी हों।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः— **षड्जः** ॥

शोभा पाना

१२८२. एष देवः शुभायतेऽधि योनावमर्त्यः । वृत्रहा देववीतमः ॥ ३ ॥

उल्लिखित मन्त्र की भावना के अनुसार **एषः**=यह प्रियमेध १. **देवः**=निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहने से देव बनकर **शुभायते**=शोभा को प्राप्त करता है। २. **अधियोनौ**=यह उस ब्रह्माण्ड के मूलाधार ब्रह्म में निवास करता है, सदा प्रभु-चरणों में उपस्थित रहता है, प्रभु से दूर नहीं होता—खाते-पीते सदा उसी का स्मरण करता है ३. परिणामतः **अमर्त्यः**=यह विषयों के पीछे मरनेवाला नहीं होता। इसकी विषयों के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है। ४. यह **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत इन वासनाओं को नष्ट करनेवाला होता है और ५. **देववीतमः**=अधिक-से-अधिक दिव्य गुणों को प्राप्त (वी) करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु में निवास करें, अपने जीवन को शुभ बनाएँ।

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अन्तः व बाह्य पवित्रता

१२८३. एष वृषा कनिक्रदद्दशभिर्जामिभिर्यतः। अभि द्रोणानि धावति ॥ ४ ॥

एषः=यह प्रियमेध १. **वृषा**=शक्तिशाली होता है, वासनाओं का विनाश करके यह सोमशक्ति की रक्षा के द्वारा 'आङ्गिरस' अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिवाला बनता है, वृषा होता है। २. **कनिक्रदत्**=वासनाओं से सदा बचे रहने के लिए यह प्रभु का खूब ही आह्वान करता है, सदा प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। ३. **दशभिः जामिभिः**=दसों विषयों का अदन करने-(जभ=खाना)-वाली इन्द्रियों के दृष्टिकोण से यह **यतः**=संयत होता है। प्रभु-स्मरण के द्वारा यह इन्द्रियों को वश में करनेवाला बनता है और ४. **द्रोणानि**=गति के आधारभूत शरीरों—अपने (स्थूल व सूक्ष्म दोनों ही शरीरों को) **अभिधावति**=पवित्र कर डालता है। प्रभु-भक्त का शरीर नीरोग होता है और मन व बुद्धि भी निर्मल होते हैं। यह अन्दर व बाहर दोनों ओर से पवित्र होता है।

भावार्थ—मैं प्रभु-स्मरण से जितेन्द्रिय बनूँ। जितेन्द्रिय बनकर पवित्र होऊँ, निर्मल बनूँ।

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान के सूर्य का उदय

१२८४. एष सूर्यमरोचयत् पवमानो अधि द्यवि। पवित्रे मत्सरो मदः ॥ ५ ॥

एषः=यह १. **पवमानः**=अपने जीवन को अन्दर व बाहर से पवित्र करता हुआ २. **अधिद्यवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **सूर्यम्**=ज्ञानरूप सूर्य को **अरोचयत्**=दीप्त करता है। इसका शरीर नीरोग बनता है (बाह्य पवित्रता), मन निर्मल बनता है (अन्तः पवित्रता) और इन दोनों पवित्रताओं के परिणामस्वरूप इसके मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है। ३. **पवित्रे**=उस पवित्र प्रभु में स्नान करता हुआ यह **मत्सरः**=सब लोगों में उल्लास का संचार करनेवाला होता है, लोगों को प्रभु का सन्देश सुनाकर उत्साहित करता है और ४. **मदः**=सदा उल्लासमय जीवनवाला होता है।

भावार्थ—ज्ञान के सूर्योदय के साथ हमारा जीवन उल्लासमय हो।

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूर्य से भी स्पर्धा

१२८५. एष सूर्येण हासते संवसानो विवस्वता। पतिर्वाचो अदाभ्यः ॥ ६ ॥

१. **एषः**=यह प्रियमेध अपने मस्तिष्करूप गगन में ज्ञान का सूर्योदय करके **सूर्येण**=इस द्युलोक के सूर्य के साथ **हासते**=स्पर्धा करता है (हासतिः स्पर्धायाम्—नि० ९.३९), अर्थात् सूर्य के समान ही चमकता है अथवा यह प्रियमेध **सूर्येण**=उदित हुए ज्ञानसूर्य से **हासते**=अत्यन्त हर्ष का अनुभव करता है (हासतिः हर्षमाणे—नि० ९.३९)। २. इतने ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करके **विवस्वता**=(विवस्वन्तो मनुष्याः—नि० २.३.२४) मानवजाति के साथ ही यह **संवसानः**=उत्तम प्रकार से रहनेवाला होता है। यह अभिमानी बनकर अलग निवास नहीं करने लगता—इसे मनुष्यों से घृणा नहीं हो जाती, अथवा झंझट समझकर यह एकान्त स्थानों में समाधि का ही अनुभव नहीं करता रहता, अपने ज्ञानरस में ही नहीं डूबा रहता। ३. **वाचः पतिः**=यह वेदवाणी का पति होता है—ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाला होता है और अपनी वाणी का पति होने से कभी कटु शब्द नहीं बोलता—बड़ी मपी-तुली वाणी का ही प्रयोग करता है, ४. परन्तु **अदाभ्यः**=दबता नहीं। नम्र व मधुर वाणीवाला होता है—परन्तु किसी निर्बलता के कारण नहीं। शक्तिशाली होता हुआ यह अपने माधुर्य को स्थिर रखता है। 'अदाभ्यः' का अर्थ यह भी है कि यह अहिंसित होता है—यह अपनी जीवन-यात्रा में काम-क्रोधादि से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—ज्ञान-सूर्य का उदय करके हम सूर्य से भी स्पर्धा करनेवाले बनें। सूर्य की भाँति निष्कामभाव से प्रकाश व जीवन देनेवाले बनें। हमारा जीवन सूर्य की भाँति चमकता हुआ और प्रसन्न हो।

सूक्त-६

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

द्वेष से दूर

१२८६. एष कविरभिष्टुतः पवित्रे अधि तोशते। पुनानो घ्नन्नप द्विषः ॥ १ ॥

पिछले मन्त्र में वर्णन था कि प्रियमेध ज्ञानी बनकर भी मनुष्यों के साथ ही निवास करनेवाला होता है—उनसे दूर नहीं भाग जाता। यह मनुष्यों के साथ निवास करने के कारण ही 'नृ-मेध'=मनुष्यों से मेलवाला कहलाता है। सदा मानव-हितैषी कार्यों में लगे रहने से यह 'आङ्गिरस' शक्तिशाली बना रहता है। १. **एषः**=यह नृमेध **कविः**=ज्ञान-सूर्योदय के कारण क्रान्तदर्शी है—वस्तुतत्त्व को जाननेवाला है। **अभिष्टुतः**=हित के कार्यों में लगे होने से सदा चारों ओर इसकी स्तुति होती है। अथवा **अभि**=दोनों ओर सोते-जागते (स्तुतमस्य) यह प्रभु का स्तवन करनेवाला होता है। २. इस प्रभु-स्तवन से यह **पवित्रे अधि**=उस पवित्र प्रभु में **तोशते**=सब कामादि वासनाओं का संहार कर देता है (तुष to kill)। ३. **पुनानः**=इस प्रकार यह अपने को निरन्तर पवित्र करता हुआ ४. **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **अपघ्नन्**=अपने से दूर नष्ट कर देता है। एवं, नृमेध अपने जीवन में क्रान्तदर्शी बनकर निरन्तर प्रभु-स्तवन करता हुआ उस पवित्र प्रभु में स्थित होकर वासनाओं का विनाश कर डालता है—अपने को पवित्र कर लेता है और द्वेष की भावनाओं को दूर कर देता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें और द्वेष से दूर रहें।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शक्ति का संचार

१२८७. एष इन्द्राय वायवे स्वर्जित् परि षिच्यते। पवित्रे दक्षसाधनः ॥ २ ॥

१. **एषः**=यह नृमेध **पवित्रे**=उस पवित्र प्रभु में निवास करता हुआ **दक्षसाधनः**=उन्नति व बल का सिद्ध करनेवाला होता है। २. यह **स्वर्जित्**=स्वर्गलोक का विजय करता है, अर्थात् अपने जीवन को वास्तव में आनन्दमय बनाता है। ३. यह नृमेध **इन्द्राय**=इन्द्रत्व के लिए—परमैश्वर्य के लिए अथवा शत्रुओं के विदारण के लिए और **वायवे**=गतिशीलता के लिए **परिषिच्यते**=परिसिक्त होता है। इसके अन्दर शत्रुओं के विदारण का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है और इसका जीवन बड़ा क्रियाशील—स्फूर्तिमय हो जाता है (दक्षः=बलम्—नि० २.९)।

भावार्थ—प्रभु में निवास करते हुए हम उन्नति व शक्ति को सिद्ध करें।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सदा कर्मों में व्यापृत

१२८८. एष नृभिर्वि नीयते दिवो मूर्धा वृषा सुतः। सोमो वनेषु विश्ववित्॥ ३॥

१. **एषः**=यह 'नृमेध' स्वयं निष्काम व आप्तकाम होता हुआ भी **नृभिः**=लोगों के दृष्टिकोण से, लोगों के हित के लिए **विनीयते**=उस-उस कर्म में प्राप्त कराया जाता है, अर्थात् यह नृमेध मनुष्यों के हित के लिए, लोकसंग्रह के लिए सदा कर्मों में व्यापृत रहता है। २. यह **दिवः मूर्धा**=ज्ञान का शिखर बनता है—अर्थात् ज्ञान की दृष्टि से ऊँची-से-ऊँची स्थिति में पहुँचने का प्रयत्न करता है। ३. **वृषा**=(वृष् to have supreme power) बड़ा शक्तिशाली बनता है। ४. **सुतः**=(सुतमस्यास्ति)—यज्ञमय जीवनवाला होता है—सदा निर्माणात्मक कार्यों को करता है। ५. **सोमः**=सोम का पान करने के कारण सोम बनता है, शक्ति की रक्षा करता हुआ यह अत्यन्त विनीत व शान्त होता है। जब मनुष्य सोम की रक्षा नहीं करता तभी उसके जीवन में निर्बलता व चिड़चिड़ापन होता है। ६. (वननं वनः) **वनेषु**=वासनाओं को जीतने पर यह **विश्ववित्**=सब इष्टों को प्राप्त करनेवाला होता है। 'वासना-विजय' ही 'विश्वविजय' का साधन है।

भावार्थ—जिस भी व्यक्ति ने लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होना है उसे ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी, शक्तिशाली, पवित्र जीवनवाला, सौम्य व वासनाओं का विजेता बनना चाहिए। आत्मविजय के बिना लोकहित सम्भव नहीं।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

नृमेध के जीवन की सात बातें

१२८९. एष गव्युरचिक्रदत् पवमानो हिरण्ययुः। इन्दुः सत्राजिदस्तृतः॥ ४॥

एषः=यह नृमेध १. **गव्युः**=(गौः-वेदवाणी) वेदवाणी को अपने साथ जोड़ने की कामनावाला होता है—अथवा (गावः इन्द्रियाणि) इन्द्रियशक्तियों को अपने साथ सम्बद्ध करता है। २. **अचिक्रदत्**=निरन्तर प्रभु का आह्वान करता है—प्रभु के नामों का जप करता हुआ अपने जीवन के लक्ष्य को ऊँचा बनानेवाला होता है। ३. **पवमानः**=प्रभु-स्मरण द्वारा वासनाओं की मैल को धो डालता है। ४. **हिरण्ययुः**=पवित्र बनकर यह (हिरण्यं-ज्योतिः) ज्योति को अपने साथ जोड़ता है, ५. साथ ही **इन्दुः**=(इन्द् to be powerful) शक्तिशाली होता है। पवमान बनकर अपने जीवन को वासनाओं से आक्रान्त न होने देने के दो ही परिणाम हैं—(क) उसका ज्ञान बढ़ता है और (ख) उसकी शक्ति में वृद्धि होती है। ६. यह **सत्राजित्**=(सत्र—आजित्, सत्रं Virtue, wealth) सब गुणों और धनों का विजेता होता है। ७. **अस्तृतः**=अहिंसित रहता है। कामादि शत्रु इनकी हिंसा नहीं कर पाते।

भावार्थ—हम ज्ञान को चाहें, इन्द्रिय शक्तियों को बढ़ाएँ और इस प्रकार अहिंसित हों।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हृदय में प्रभु का प्रवाह

१२९०. एष शुष्म्यसिष्यददन्तरिक्षे वृषा हरिः। पुनान इन्दुरिन्द्रमा ॥ ५ ॥

एषः=यह नृमेध १. **शुष्मी**=शत्रुओं का शोषण कर देनेवाले बलवाला होता है २. **वृषा**=यह अद्भुत शक्तिवाला बनता है ३. **हरिः**=शक्ति का प्रयोग आर्तों की आर्ति के हरण में करता है, अतः हरि कहलाता है ४. **पुनानः**=अपने जीवन को पवित्र बनाये रखता है। अभिमानवश बल का प्रयोग औरों को पीड़ित करने में करने से मानवजीवन अपवित्र हो जाता है। ५. **इन्द्रः**=यह नृमेध शक्ति व पवित्रता आदि परमैश्वर्यों को प्राप्त करता है। ६. और ऐसा बनकर **अन्तरिक्षे**=अपने हृदयाकाश में **इन्द्रम्**=उस सर्वशत्रुविनाशक परमैश्वर्य के स्वामी प्रभु को **आ**=सर्वथा **असिष्यदत्**= प्रस्रुत करता है। इस नृमेध के हृदय में प्रभु-स्तोत्र प्रवाहित होते हैं। वास्तव में हृदय में बहनेवाला यह प्रभु-स्तुति का प्रवाह ही नृमेध की 'शक्ति, ज्ञान व पवित्रता' का रहस्य है। इसका शरीर शक्तिशाली है, इसका मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से दीप्त है और इसका हृदय पवित्रता से पूर्ण है, क्योंकि यह हृदय में निरन्तर प्रभु का ध्यान कर रहा है।

भावार्थ—प्रभु का भक्त १. शत्रुओं का शोषण करता है २. शक्तिशाली होता है ३. आर्तों का त्राण करता है ४. पवित्र जीवनवाला होता है ५. परमैश्वर्य को प्राप्त करता है और ६. हृदय में निरन्तर प्रभु का ध्यान करता है।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

जीवन-यात्रा में आगे बढ़ना

१२९१. एष शुष्म्यदाभ्यः सोमः पुनानो अर्षति। देवावीरघशंसहा ॥ ६ ॥

एषः=यह नृमेध १. **शुष्मी**=शत्रुओं का शोषण करता है, स्वयं २. **अदाभ्यः**=उन शत्रुओं से न दबता है, न हिंसित होता है ३. **सोमः**=शान्तस्वभाववाला होता है ४. **पुनानः**=अपने को पवित्र करने के स्वभाववाला होता है। इस प्रकार **देवावीः**=दिव्य गुणों को सब ओर से प्राप्त करनेवाला होता है अथवा अपने जीवन में दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाला होता है और ५. **अघशंसहा**=(अघशंस इति स्तेननाम—नि० ३.२४.४) अपने अन्दर से चोर को नष्ट करनेवाला बनता है। अयज्ञियवृत्ति को ही यहाँ चोर कहा है—'अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः' पञ्चयज्ञ न करनेवाला चोर है। यह नृमेध इस 'चोरवृत्ति' को अपने में से नष्ट करता है। यज्ञशेष को खानेवाला बनता है। इस प्रकार अपने जीवन में उपर्युक्त बातों को साधता हुआ **अर्षति**=यह नृमेध आगे और आगे बढ़ता चलता है।

भावार्थ—'शुष्मी, अदाभ्य, सोम, पुनान, देवावी और अघशंसहा' बनकर हम जीवन-यात्रा में आगे बढ़ें।

ऋषिः—**राहूगण आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुत से देवयु बनना

१२९२. स सुतः पीतये वृषा सोमः पवित्रे अर्षति। विघ्नन् रक्षांसि देवयुः ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'राहूगण: आङ्गिरसः' है—त्यागियों में गिनने योग्य, शक्तिशाली। **सः**=वह राहूगण १. **सुतः**=(सुतमस्यातीति) यज्ञादि उत्तम निर्माण-कार्यों में लगा रहता है। २. इसीलिए **पीतये**=अपनी रक्षा के लिए समर्थ होता है। उत्तम कर्मों में लगा रहता है, परणामत: वासनाओं से अभिभूत नहीं होता। ३. वासनाओं से अभिभूत न होने के कारण **वृषा**=अद्भुत् शक्तिवाला बनता है। ४. इस सात्त्विक शक्ति के अनुपात में ही **सोमः**=यह सौम्य व शान्त होता है ५. सोम बनकर यह **पवित्रे**=पवित्र प्रभु में **अर्षति**=विचरण करता है ६. पवित्र प्रभु में विचरण करता हुआ यह **रक्षांसि विघ्नन्**=राक्षसी वृत्तियों को विशेषरूप से कुचल डालता है ७. जितना-जितना यह राक्षसी वृत्तियों को कुचलता जाता है उतना ही **देवयुः**=दिव्य गुणों को अपने साथ जोड़नेवाला होता है।

भावार्थ—मेरा जीवन 'सुत'=यज्ञों से प्रारम्भ हो, और 'देवयुत्व'=दिव्य गुणों की प्राप्ति पर इसका अन्त हो।

***नोट**— गत मन्त्र में जीवन में आगे और आगे बढ़ने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उस यात्रा की अग्रगति का चित्रण है। सुत से चलते हैं और देवयु बनकर यात्रान्त होता है।*

ऋषिः—**राहूगण आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वि-चक्षण=विशिष्ट उद्देश्यवाला

१२९३. स पवित्रे विचक्षणो हरिरर्षति धर्णसिः। अभि योनिं कनिक्रदत्॥ २॥

सः=वह राहूगण १. **पवित्रे**=उस प्रभु में स्थित हुआ-हुआ २. **विचक्षणः**=एक विशेष दृष्टिकोण-वाला, अर्थात् जीवन-यात्रा में एक विशेष लक्ष्य से चलनेवाला, जिस लक्ष्य का गतमन्त्र में वर्णन है 'सुत से देवयु' तक पहुँचने के ध्येयवाला ३. **हरिः**=आर्त की आर्ति का हरण करनेवाला ४. **धर्णसिः**=सबके धारण के स्वभाववाला ५. **कनिक्रदत्**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ **योनिम् अभि**=ब्रह्माण्ड के मूलकारण उस प्रभु की ओर **अर्षति**=गति करता है।

भावार्थ—हम जीवन-यात्रा में एक विशेष लक्ष्य से आगे बढ़ें।

ऋषिः—**राहूगण आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वाजी बनकर 'अव्यय वार' की ओर

१२९४. स वाजी रोचनं दिवः पवमानो वि धावति। रक्षोहा वारमव्ययम्॥ ३॥

सः=वह राहूगण १. **वाजी**=शक्तिशाली व गतिशील २. **दिवः** ज्ञान की **रोचनम्**=दीप्ति को **विधावति**=विशेषरूप से प्राप्त होता है। जैसे शक्ति व गति ज्ञान की प्राप्ति में सहायक हैं उसी प्रकार यह ज्ञान पवित्रता-प्राप्ति में सहायक होता है, अत: वह राहूगण ज्ञान को प्राप्त करके ३. **पवमानः**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाला होता है। '**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**' ज्ञान के समान कोई पवित्र करनेवाली वस्तु नहीं है। पवित्रता का स्वरूप यह है कि ये ५. **रक्षोहा**=सब राक्षसी वृत्तियों का संहार करता है, अपने रमण के लिए यह कभी औरों का क्षय नहीं करता। ६. इस प्रकार का जीवन बनाकर यह **अव्ययम्**=कभी नष्ट न होनेवाले उस **वारम्**=वरणीय, आपत्तियों के निवारण करनेवाले प्रभु की ओर **विधावति** विशेषरूप से जाता है।

भावार्थ—मैं शक्तिशाली बनकर उस अविनाशी प्रभु की ओर गतिवाला होऊँ।

ऋषिः—**राहूगण आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान, कर्म व भक्ति के शिखर पर

१२९५. स त्रितस्याधि सानवि पवमानो अरोचयत्। जामिभिः सूर्यं सह ॥ ४ ॥

सः=वह राहूगण १. **त्रितस्य** 'ज्ञान, कर्म व भक्ति' के त्रित के **अधिसानवि**=शिखर पर वर्त्तमान होता हुआ २. **पवमानः**=अपने को पवित्र करने के स्वभाववाला होता है। ज्ञान इसके मस्तिष्क को पवित्र करता है तो कर्म इसके हाथों को पवित्र करते हैं और भक्ति से इसका हृदय शुद्ध होता है। ३. इस प्रकार अपना शोधन करता हुआ यह **जामिभिः सह**=विविध विषयों का अदन करनेवाली इन इन्द्रियों के साथ **सूर्यम्**=अपने मुख्य प्राण को **अरोचयत्**=दीप्त करता है। '**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**' इस प्रश्नोपनिषद् के वाक्य में सूर्य और प्राण में कार्य-कारणभाव दिखाकर सूर्य का प्राण से सम्बन्ध प्रतिपादित किया है। प्राणायाम के द्वारा प्राण-शोधन तो होता ही है, सारी इन्द्रियाँ भी निर्मल हो उठती हैं। **प्राणायामैर्दहेद् दोषान्**=प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं, और वे चमक उठती हैं।

भावार्थ—मैं प्राण व इन्द्रियों को दीप्त करूँ।

ऋषिः—**राहूगण आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शक्ति के अनुपात में

१२९६. स वृत्रहा वृषा सुतो वरिवोविददाभ्यः। सोमो वाजमिवासरत् ॥ ५ ॥

सः=वह राहूगण १. **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं का विनाश करनेवाला बनता है। २. **वृषा** वासनाओं के विनाश के कारण ही शक्तिशाली होता है। वासनाएँ ही तो शक्ति को जीर्ण करती हैं। वासनाओं के विनाश से शक्ति सुरक्षित रहती है। ३. इस सुरक्षित शक्ति से यह **सुतः**=निर्माण के कार्य में लगा रहता है 'सुतमस्यास्तीति' यज्ञादि के अन्दर सदा प्रवृत्त होता है। ४. इन निर्माण के कार्यों में तथा यज्ञों में लगा रहकर यह **वरिवोवित्**=धन प्राप्त करता है। निर्माण के कार्य धनैश्वर्य के उत्पादक तो होते ही हैं। ५. धन को प्राप्त हुआ-हुआ वह व्यक्ति **अदाभ्यः**=न दबनेवाला व अहिंसित होता है। ६. 'दबता नहीं' का यह अभिप्राय नहीं कि यह अक्खड़ होता है। अक्खड़ होना तो दूर रहा, वह **सोमः**=अत्यन्त सौम्य व शान्त है। ७. यह सौम्य व्यक्ति **वाजम् इव**=अपनी शक्ति के अनुसार **असरत्**=उस प्रभु की ओर बढ़ता है। जितनी शक्ति होती है उसी के अनुपात में प्रभु की भी प्राप्ति होती है। '**नायमात्माबलहीनेन लभ्यः**', निर्बल को प्रभु थोड़े ही मिलते हैं?

भावार्थ—जीव वृत्रहा बनकर वृत्र के विनाशक प्रभु को प्राप्त होता है।

ऋषिः—**राहूगण आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मंहयन्, प्रभु से प्रेरित हुआ

१२९७. स देवः कविनेषितो३ऽभि द्रोणानि धावति। इन्दुरिन्द्राय मंहयन् ॥ ६ ॥

सः=वह राहूगण १. **कविना**=क्रान्तदर्शी प्रभु से—वेदरूपी महान् काव्य के रचयिता कवि से **इषितः**=सदा प्रेरणा को प्राप्त होता हुआ, **द्रोणानि**=अपने शरीरों को **अभिधावति**=अन्दर व बाहर से पवित्र कर डालता है। स्थूलशरीर को पवित्र करके सदा नीरोग बना रहता है, साथ ही सूक्ष्मशरीर की पवित्रता से इसकी इन्द्रियाँ शक्तिशाली, मन निर्मल व बुद्धि तीव्र हो जाती है। (धाव्=शोधन)।

२. इस शोधन के द्वारा यह **इन्दुः**=सोम का पान करनेवाला शक्ति-सम्पन्न जीव **इन्द्राय**=परमैश्वर्य-सम्पन्न सर्वशक्तिमान् प्रभु की प्राप्ति के लिए **मंहयन्**=अपनी उन्नति व वृद्धि कर रहा होता है (to grow), उस प्रभु की प्राप्ति के लिए यह मानस को दान की भावना से भर रहा होता है (to give= मंहते), उस प्रभु के दर्शन के लिए यह अपने मस्तिष्क को चमका रहा होता है (to shine मंहते)।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम १. नीरोगता के द्वारा अपने पुरुषार्थ में वृद्धि करें (अपने बल को बढ़ाएँ), २. हमारा मन उदार व दान की प्रवृत्तिवाला हो तथा ३. हमारी बुद्धि ज्ञान की ज्योति से जगमगाये।

सूचनाः— *यहाँ मंहयन् शब्द के तीन अर्थ हैं—*

१. शरीर के बल की वृद्धि (to make grow), २. मन में देने की वृत्ति (to make give) तथा ३. बुद्धि की चमक (to make shine)। यही तीन उपाय प्रभु-प्राप्ति के हैं। इनके लिए प्रयत्न करता हुआ ही जीव प्रभु-प्राप्ति के लिए बढ़ रहा होता है।

सूक्त-७

ऋषिः—**पवित्र आङ्गिरसो वसिष्ठः** ॥ देवता—**पावमान्यध्येतृस्तुतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पवित्र भोजन व प्राणायाम

१२९८. यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'पवित्रः'—अपने जीवन को पवित्र करनेवाला है—यह 'आङ्गिरसः'—शक्तिशाली है तथा 'वसिष्ठः'—इन्द्रियों व मन को वश में करनेवालों में श्रेष्ठ है। यह इन सब बातों को अपने जीवन में पवित्र वेदवाणी का अध्ययन करते हुए ही तो ला पाया है, अतः यह अनुभव करता हुआ कहता है कि **यः**=जो **पावमानीः**=पवित्र करनेवाली इन वेदवाणियों को **अध्येति**=पढ़ता है १. **सः**=वह **सर्वं पूतम्**=सब पवित्र भोजनों को ही **अश्नाति**=खाता है २. जिन भोजनों को **मातरिश्वना**=वायु ने **स्वदितम्**=स्वादवाला बना दिया है। पवित्र वेदमन्त्रों को समझने की इच्छावाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह सात्त्विक भोजनों का सेवन करे—सात्त्विक भोजनों से ही उसकी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि निर्मल बनेंगे। 'जैसा अन्न वैसा मन'—राजस् आहार उसके मन को भी रजोगुणी बनाकर विषयोन्मुख कर देगा तथा तामस् आहार उसकी मनोवृत्ति को तामसी बनानेवाला होगा। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'पवित्र' इसीलिए सात्त्विक आहार पर बल देता है, क्योंकि उसने तीव्रबुद्धि होकर इन पावमानी ऋचाओं को अपनाना है। ३. पवित्र भोजनों के साथ दूसरी आवश्यक बात यह है कि यह प्राणायाम का अभ्यासी बने। प्राणायाम से जाठराग्नि तीव्र होकर भूख के जागरित होने से भोजन स्वादिष्ट बन जाता है।

इन ऋचाओं का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इन ऋचाओं के द्वारा **ऋषिभिः**=ऋषियों से इन मन्त्रार्थों के द्रष्टाओं से अपने जीवनों में **रसं संभृतम्**=रस का भरण व पोषण किया गया है (अर्धर्चादियों में होने से 'रस' यहाँ नपुंसक है)। इन ऋचाओं को जीवन का अङ्ग बनाने से ही ऋषियों का जीवन रसमय बना।

भावार्थ—सात्त्विक भोजन व प्राणायाम से मनुष्य सात्त्विक व तीव्र बुद्धिवाला बनकर पावमानी ऋचाओं को अपनाता है।

ऋषिः—**पवित्र आङ्गिरसो वसिष्ठः** ॥ देवता—**पावमान्यध्येतृस्तुतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

दूध-घी-शदह-जल

१२९९. पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥ २ ॥

यः=जो **पावमानीः**=जीवन को पवित्र करनेवाली इन ऋचाओं को **अध्येति**=पढ़ता है, जिनके द्वारा **ऋषिभिः**=ऋषियों ने **रसं सभृतम्**=अपने जीवन में रस का संचार किया, अपने जीवन को रसमय बनाया, **तस्मै**=उस व्यक्ति के लिए **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती **दुहे**=दोहती है, उसका निम्न वस्तुओं से पूरण करती है—(दुह प्रपूरणे)। १. **क्षीरम्**=दूध, जो (क्षियति) उत्तम निवास व गति का कारण बनता है। दूध के पान से मनुष्य का शरीर नीरोग तो बनता ही है, परन्तु साथ ही वह उत्तम गतिवाला—क्रियाशील भी रहता है २. **सर्पिः**=घृत, जोकि उसे दीप्त बनाता है (दीप्ति), उसके मलों का नाश करता है (क्षरण) और इस प्रकार उसे उत्तम क्रियाशील बनाता है (सृप्) ३. **मधु**=शहद जोकि उसे उत्तम मस्तिष्कवाला बनाता है (मन्यते) ४. **उदकम्**=पानी जो उसके शरीर में शुष्कता नहीं आने देता और उसके शरीर को सदा चमकीला बनाये रखता है, अर्थात् पावमानी ऋचाओं का अध्ययन करनेवाला अपने शरीर के धारण के लिए इन चार वस्तुओं को अधिक महत्त्व देता है और अपने जीवन को उन ऋषियों की भाँति ही रसमय बनाने का ध्यान करता है।

भावार्थ—दुग्ध, घृत, शहद व जल का समुचित प्रयोग हमारे जीवन को रसमय बनाये।

ऋषिः—**पवित्र आङ्गिरसो वसिष्ठः** ॥ देवता—**पावमान्यध्येतृस्तुतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

रस व अमृत

१३००. पावमानीः स्वस्त्ययनीः सुदुघा हि घृतश्चुतः।
ऋषिभिः संभृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हितम् ॥ ३ ॥

ये ऋचाएँ १. **पावमानीः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाली हैं—मनोवृत्ति को उत्तम बनाकर ये हमारे जीवनों को सुन्दर बना देती हैं। २. **स्वस्त्ययनीः**=ये हमें सदा कल्याण के मार्ग पर ले-चलनेवाली हैं, उत्तम कर्मों की प्रेरणा द्वारा हमें अशुभ मार्ग से निवृत्त करती हैं। ३. **सु-दुघा**=उत्तम वस्तुओं का हममें पूरण करनेवाली हैं। हमारे मनों में उत्तम भावनाओं को भरनेवाली हैं। ४. **हि**=निश्चय से ये **घृतश्चुतः**=हममें (घृ दीप्ति) दीप्ति को प्राप्त करानेवाली हैं, (घृ=क्षरण) मलों को दूर करके हमारी बुद्धियों की कुण्ठा को नष्ट करके ये हमारे ज्ञान को दीप्त करती हैं।

इन्हीं के द्वारा **ऋषिभिः**=मन्त्रार्थद्रष्टाओं ने **रसः संभृतः**=अपने जीवन में रस का संचार किया अपने जीवन को मधुर बनाया और इन्हीं के द्वारा **ब्राह्मणेषु**=ब्रह्मज्ञानियों में **अमृतं हितम्**=मोक्ष निहित हुआ। इन्हीं का आश्रय करके उन्होंने अमरता का लाभ किया।

भावार्थ—ऋचाओं से हम अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ जिससे इहलोक में हमारा जीवन रसमय हो और परलोक में हम अमृत हों।

ऋषिः—**पवित्र आङ्गिरसो वसिष्ठः** ॥ देवता—**पावमान्यध्येतृस्तुतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

'यह लोक' और 'परलोक'

१३०१. पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम् ।
कामान्त्समर्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहृताः ॥ ४ ॥

पावमानीः=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाली ये ऋचाएँ १. **नः**=हमें **दधन्तु**=धारण करें। **नः**=हमारे **इमं लोकम्**=इस लोक का तो **दधन्तु**=पोषण करें हीं, **अथ उ**=और निश्चय से **अमुं लोकम्**=परलोक का भी **दधन्तु**=धारण करें। हमारे इस लोक को ये रसमय बनाएँ तो हमारे परलोक को मोक्षामृत प्राप्त करानेवाला करें। २. ये **नः**=हमारे **कामान्**=इष्ट कामों को **समर्धयन्तु**= समृद्ध करनेवाली हों। इस लोक में हमें इष्ट काम्य पदार्थों को ये प्राप्त करानेवाली हों। इनके अन्दर दिया गया विज्ञान हमें प्राकृतिक पदार्थों का सुखमय उपयोग करने में सशक्त करे तथा ३. **देवैः**=दिव्य गुणोंवाले पुरुषों से **समाहृताः**=संगृहीत हुई-हुई ये पावमानी ऋचाएँ **देवीः**=सचमुच हमें दिव्य बनानेवाली हों। इनके द्वारा हमारा जीवन ऊँचा और ऊँचा होता चले। इस लोक में ये हमें वैज्ञानिक उन्नति द्वारा अभीष्ट पदार्थ प्राप्त कराके अभ्युदय को प्राप्त करनेवाला बनाएँ, और ज्ञान से हमारे जीवनों को दिव्य गुणयुक्त करती हुई परलोक में हमारे निःश्रेयस को सिद्ध करें।

भावार्थ—पावमानी ऋचाएँ हमारे अभ्युदय और निःश्रेयस की साधक हों।

ऋषिः—**पवित्र आङ्गिरसो वसिष्ठः** ॥ देवता—**पावमान्यध्येतृस्तुतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

सहस्रधार पवित्र

१३०२. येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा । तेन सहस्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः ॥ ५ ॥

देवाः=देवलोग **येन**=जिस **पवित्रेण**=ज्ञान के द्वारा (**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**) **आत्मानम्**=अपने को **सदा**=हमेशा **पुनते**=पवित्र करते हैं **तेन सहस्रधारेण**=उस (सहस्रं धाराः यस्य, धारा=वाणी) सहस्रों वाणियोंवाले वेद से **पावमानीः**=ये पवित्र ऋचाएँ **नः**=हमें **पुनन्तु**=पवित्र कर डालें। वेद ज्ञान की वाणियों से परिपूर्ण है। ये ज्ञान की वाणियाँ 'पावमानी'=पवित्र करनेवाली हैं। जैसे जलों की शतशः धाराएँ हमारे बाह्य मलों को धो डालती हैं, इसी प्रकार वेद की ये ज्ञानात्मक धाराएँ हमारे अन्तःकरणों को शुद्ध कर डालें। ज्ञान ही पवित्र है। ये ऋचाएँ ज्ञान से परिपूर्ण हैं, अतः ये सचमुच 'पावमानी' हैं।

भावार्थ—ये पावमानी ऋचाएँ हमारे लिए सचमुच पावमानी हों।

ऋषिः—**पवित्र आङ्गिरसो वसिष्ठः** ॥ देवता—**पावमान्यध्येतृस्तुतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

आनन्दधाम की प्राप्ति

१३०३. पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम् ।
पुण्याँश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति ॥ ६ ॥

ये १. **पावमानीः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाली ऋचाएँ २. **स्वस्त्ययनीः**=हमें उत्तम मार्ग से ले-चलनेवाली हैं। इनका अध्ययन हमें ऐसी प्रेरणा देता है कि हम अशुभ मार्गों को छोड़कर शुभ मार्ग पर ही चलते हैं। ३. **ताभिः**=इन ऋचाओं के द्वारा मनुष्य **नान्दनम्**=परमानन्द के धाम प्रभु को **गच्छति**=प्राप्त करता है। शुभ मार्ग पर चलता हुआ अन्त में प्रभु के समीप पहुँचता ही है। ४. इन पावमानी ऋचाओं को पढ़ने पर यह **पुण्यान् च भक्षान् भक्षयति**=पुण्य ही भोजनों को खाता है। ५. **अमृतत्वं च गच्छति**=और मोक्ष को प्राप्त करता है। संक्षेप में वेदाध्ययन के लाभ निम्न हैं—१. पवित्रता, २. शुभ मार्ग से चलना, ३. प्रभु के आनन्दधाम को प्राप्त करना, ४. सात्त्विक भोजन के सेवन की रुचि, ५. मोक्ष-प्राप्ति तथा असमय में मृत्यु का न होना।

भावार्थ—हम पावमानी ऋचाओं को अपनाकर प्रभु के परमानन्द को प्राप्त करें।

सूक्त-८

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महान् नमन

१३०४. अगन्म महा नमसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्धः स्वे दुरोणे।
चित्रभानुं रोदसी अन्तरुर्वी स्वाहुतं विश्वतः प्रत्यञ्चम्॥ १ ॥

प्राणापान की साधना करके मन व इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाला "मैत्रावरुणि वसिष्ठ" कहता है कि हम **महा नमसा**=महान् नमन के द्वारा 'अग्नि' नामक प्रभु को **अगन्म**=प्राप्त होते हैं। प्रभु की प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय नमन=अभिमान का अभाव है। जितना-जितना हम नमन की ओर चलते हैं जितना-जितना हमारा 'मैंपन'—'आपा' समाप्त होता जाता है उतना-उतना हम प्रभु के समीप पहुँचते जाते हैं। पूर्ण नमनवाला ही प्रभु को पा सकता है, उस प्रभु को, जो—१. **यविष्ठम्**=युवतम हैं। अपने भक्तों को उत्तरोत्तर अशुभ से पृथक् करके (यु=अमिश्रण) शुभ से जोड़नेवाले (यु=मिश्रण) हैं। २. **यः**=जो प्रभु **स्वे दुरोणे**=अपने भक्त में जोकि (दुःखेन ओणितुं योग्यं कृच्छ्रेण to remove) आत्म-प्राप्ति के निश्चय से हटाया नहीं जा सकता, **समिद्धः**=दीप्त हुए-हुए **दीदायम्**=चमकते हैं। नचिकेता के समान दृढ़ निश्चयी पुरुष को ही आत्मसाक्षात्कार हुआ करता है। ३. **चित्रभानुम्**=वे प्रभु अद्भुत दीप्तिवाले हैं। सहस्रों सूर्यों के समान उनकी दीप्ति है। ४. वे प्रभु **उर्वी रोदसी अन्तः**=इन विशाल द्युलोक व पृथिवीलोक के अन्दर व्याप्त हैं—सर्वव्यापक हैं ५. **स्वाहुतम्**=जीवहित के लिए स्व=अपना आहुतम्=सब-कुछ दे डालनेवाले हैं 'य आत्मदा'=उन्होंने तो अपने को भी दिया हुआ है। ६. **विश्वतः प्रत्यञ्चम्**=जो प्रभु सब ओर जानेवाले हैं और जो सर्वत्र प्रतिपूजित होते हैं। ज्ञानी तो उस प्रभु का पूजन करते ही हैं अज्ञानी भी अविधिपूर्वक अन्य देवताओं की उपासना करते हुए उन्हीं प्रभु की पूजा कर रहे होते हैं।

भावार्थ—हम नमन के द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्तवन व यज्ञ

१३०५. स मह्ना विश्वा दुरितानि साह्वानग्नि ष्टवे दम आ जातवेदाः।
स नो रक्षिषद् दुरितादवद्यादस्मान् गृणत उत नो मघोनः॥ २ ॥

सः=वह **अग्निः**=हमारी अग्रगति का साधक, **जातवेदाः**=सर्वज्ञ प्रभु **दमे**=इस शरीररूप घर में **आस्तवे**=समन्तात् स्तुति किया जाता है। हम इस शरीर के अन्दर ही हृदय-प्रदेश में प्रभु का ध्यान करते हैं। प्रभु का बाहर किया गया ध्यान मूर्त्तिपूजा के रूप में परिणत हो जाता है फिर वह प्रभु का ध्यान न रहकर अन्ततः मूर्त्ति का ध्यान हो जाता है और मानव को मानव से फाड़ने का कारण बनता है। वे प्रभु हमसे जब भी स्तुत होते हैं तो हमारे सामने एक लक्ष्यदृष्टि उत्पन्न होती है और हम अपने जीवन-पथ में आगे बढ़ते हुए मनुष्य से देव बनते हैं। वे प्रभु 'अग्नि' तो हैं ही फिर हमारी उन्नति क्यों न होगी? सर्वज्ञ होने से वे प्रभु हमारी स्थिति के अनुसार हमें उचिततम साधन प्राप्त कराते हैं जिससे हम भरपूर उन्नति कर पाएँ।

जब हम प्रभु के सच्चे भक्त बनते हैं तब **सः**=वे **मह्ना**=अपनी महिमा से **विश्वा दुरितानि साह्वान्**=सब बुराइयों को पराभूत करनेवाले होते हैं। प्रभु-स्तवन उच्च लक्ष्य उपस्थित करके हमें अशुभ कार्यों से बचाता है। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **दुरितात्**=अशुभ आचरणों से तथा **अवद्यात्**=सब निन्दनीय बातों से **रक्षिषत्**=बचाएँ, परन्तु क्या हमारा यत्न अपेक्षित नहीं? क्या उसके बिना ही यह सब-कुछ हो जाएगा? इसका उत्तर इन शब्दों में दिया गया है कि 'वे प्रभु बचाएँ' किनको? **अस्मान् गृणतः**=हम स्तुति करते हुओं को **उत**=और **नः**=हममें से **मघोनः**=(मघ=मख) यज्ञशील व्यक्तियों को। एवं, प्रभु हमें दुरित से बचाएँगे जब हमारा जीवन स्तुतिशील तथा यज्ञमय होगा।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन यज्ञ को अपनाकर प्रभु से की जा रही रक्षा के पात्र बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नीरोगता-निष्पापता व उन्नति

१३०६. त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः।
त्वे वसु सुषणनानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३ ॥

हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! १. **त्वम्**=आप **वरुणः**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले होने से वरणीय हैं, २. **उत**=और **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) आप पाप व मृत्यु से बचानेवाले हैं। ३. **वसिष्ठाः**=शरीर में उत्तम निवासवाले वशी लोग **मतिभिः**=ज्ञानों के द्वारा **त्वां वर्धन्ति**=आपको बढ़ाते हैं, आपकी भावना को अपने में अधिक और अधिक जगाते हैं। ४. हे प्रभो! **त्वे वसु**=आपमें रहनेवाले ये उत्तम धन **सुषणनानि**=उत्तम ढंग से संविभाग के योग्य **सन्तु**=हों। हम कभी धनों को अपना कमाया हुआ समझकर विलास में उनका व्यय न करने लग जाएँ। हमारी यह भावना बनी रहे कि धन तो सब आपके हैं। इस भावना से युक्त होकर हम धनों का सदा उचित संविभागपूर्वक ही सेवन करें।

५. **यूयम्**=हे वरुण, मित्र और अग्ने! आप सब **स्वस्तिभिः**=उत्तम जीवन स्थितियों के द्वारा (सु+अस्ति) **सदा**=हमेशा **नः पात**=हमारी रक्षा करें। 'वरुण' हमारे रोगों का निवारण करके हमें नीरोग व स्वस्थ बनाये। 'मित्र' हमें पाप से बचाकर द्वेषों को दूर करके स्नेहमय हृदयवाला बनाये। और 'अग्नि' सब प्रकार से हमारी उन्नति का साधक हो।

भावार्थ—हमारा जीवन 'वरुण' के ध्यान से नीरोग बनें, 'मित्र' का ध्यान हमें निष्पाप करे और 'अग्नि' हमें मार्ग पर आगे और आगे बढ़ाए।

सूक्त-९

ऋषिः—**वत्सः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वत्स के स्तोम

१३०७. महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँइव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे॥ १॥

१. **यः**=जो **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान् प्रभु **ओजसा**=अपने ओज के द्वारा **महान्**=बड़े हैं, पूजनीय हैं। प्रभु की शक्ति अनन्त है। जब कभी एक वैज्ञानिक प्रभु से निर्मित सूर्यादि पिण्डों का अध्ययन करता है तब उसका उनके निर्माता के प्रति नतमस्तक हो जाना स्वाभाविक ही है। २. वे प्रभु **वृष्टिमान् पर्जन्यः इव**=वृष्टिवाले बादल की भाँति हैं। जैसे एक वृष्टिवाला बादल चारों ओर शान्ति का विस्तार करके (परां तृप्तिं जनयति) एक उत्कृष्ट सन्तोष उत्पन्न करता है उसी प्रकार प्रभु भी स्तोता के हृदय में एक अद्भुत शान्ति उत्पन्न करते हैं। ३. ये प्रभु **वत्सस्य**=वेदमन्त्रों का उच्चारण करनेवाले (वदतीति वत्सः) के **स्तोमैः**=स्तोत्रों से **वावृधे**=निरन्तर बढ़ाये जाते हैं। प्रभु का स्तोता प्रभु की महिमा को उच्चारण द्वारा प्रकाशित करता है। उच्चारण द्वारा ही नहीं, यह अपने जीवन के द्वारा प्रभु की महिमा को बढ़ाता है। लोग जब इसके शान्त, दिव्य जीवन को देखते हैं तब उनका प्रभु के प्रति विश्वास बढ़ता है।

भावार्थ—हमारा जीवन प्रभु की महिमा का प्रकाश करनेवाला हो।

ऋषिः—**वत्सः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्तोमों द्वारा प्रभु को साधन बनाना

१३०८. कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम्। जामि ब्रुवत आयुधा॥ २॥

कण्वाः=मेधावी लोग **इन्द्रम्**=सब शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभु को **यत्**=जब **स्तोमैः**=स्तुतिसमूहों के द्वारा **यज्ञस्य**=सब उत्तम कर्मों का **साधनम्**=सिद्ध करनेवाला **अक्रत**=करते हैं, तब **आयुधा**=सब अस्त्र-शस्त्रों को **जामि**=निरर्थक **ब्रुवते**=कहते हैं।

इस जीवन-यात्रा में मेधावी लोग सदा प्रभु से अपना मेल बनाये रखते हैं। स्तुतियों के द्वारा उसे सदा अपने हृदय की आँखों के सामने रखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उनके सब उत्तम कार्य निर्विघ्न पूर्ण होते हैं और उनपर वासनाओं का आक्रमण कभी नहीं होता। प्रभु का नाम ही वह महान् अस्त्र होता है जो उनके शत्रुओं को नष्ट कर देता है। शत्रुओं के नाश के लिए अन्य सब अस्त्रशस्त्र व्यर्थ सिद्ध होते हैं। बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम स्तवन के द्वारा प्रभु को ही अपने यज्ञों का साधक बनाएँ।

भावार्थ—मेरे सारथि तो प्रभु हैं, मेरी जीवन-यात्रा क्यों निर्विघ्न पूर्ण न होगी?

ऋषिः—**वत्सः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रजा का प्रभरण

१३०९. प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद्भरन्त वह्नयः। विप्रा ऋतस्य वाहसा॥ ३॥

१. **ऋतस्य पिप्रतः**=ऋत का पालन करनेवाले, जिनका जीवन बड़ा नियमित है, जो सूर्य-चन्द्र के समान अपने भौतिक कार्यों में नियमित गति से चलते हैं, २. **वह्नयः**=जो ज्ञान को धारण करनेवाले हैं, अग्नि की भाँति ही जो ज्ञान धारण करनेवाले हैं, अग्नि की भाँति ही जो ज्ञान से प्रकाशमान हैं,

३. **यत् ऋतस्य वाहसा**=जो नियमितता (regularity) व सत्य के धारण से **विप्राः**= अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं, ये लोग **प्रजाम्**=प्रजा का **प्रभरन्त**=प्रकर्षेण भरण करते हैं। अपने नियमित जीवन के उदाहरण से ये औरों को भी ऋत का पालन करनेवाला बनाते हैं। ऋत को अपनाकर ही हम औरों को ऋत पालन का उपदेश दे सकते हैं।

भावार्थ—प्रचारक को सदा ऋत का पालन करनेवाला बनना चाहिए। अन्यथा उसका सब उपदेश व्यर्थ ही जाता है।

सूक्त-१०

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

न जीर्ण होनेवाली ज्योतियाँ

१३१०. पवमानस्य जिघ्नतो हरेश्चन्द्रा असृक्षत। जीरा अजिरशोचिषः ॥ १ ॥

'शतं वैखानसः'='सैकड़ों वासनाओं को (वि+खन्) विशेषरूप से खोद डालनेवाला'। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि अपने जीवन को पवित्र कर लेता है। इस **पवमानस्य**=अपने हृदय को पवित्र करनेवाले **जिघ्नतः**=दुर्गुणों को नष्ट करते हुए **हरेः**=इन्द्रियों का प्रत्याहार करनेवाले वैखानस की **चन्द्राः**=बड़े आह्लाद को जन्म देनेवाली **जीराः**=शीघ्रता से कार्यों में व्यापृत होनेवाली **अजिरशोचिषः**=कभी जीर्ण न होनेवाली ज्योतियाँ **असृक्षत्**=उत्पन्न होती हैं।

मनुष्य को तीन पग रखने हैं—१. पवित्र बनना, २. दुर्गुणों का नाश करना, ३. इन्द्रियों का प्रत्याहरण। इन तीन पगों के रखने पर उसके जीवन में वे ज्योतियाँ जगेंगी, जो १. आह्लादमयता को जन्म देती हैं, २. उसके जीवन में स्फूर्ति लाती हैं तथा ३. जो जीर्ण नहीं होती।

भावार्थ—पवमान बनकर हम अमर ज्योति प्राप्त करें।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

रथी-तम

१३११. पवमानो रथीतमः शुभ्रेभिः शुभ्रशस्तमः। हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः ॥ २ ॥

यह वैखानस १. **पवमानः**=अपने को पवित्र करने के स्वभाववाला होता है। २. **रथीतमः**=यह सर्वोत्तम रथी होता है। शरीररूप रथ से जीवन-यात्रा को पूर्ण करनेवालों में सर्वोत्तम होता है। ३. **शुभ्रेभिः**=शुभ्र गुणों से यह **शुभ्रशस्तमः**=अति शुभ्र—अत्यन्त प्रकाशमान् होता है। ४. **हरिः**=यह सदा इन्द्रियवृत्तियों को मनरूप लगाम द्वारा प्रत्याहृत करनेवाला होता है। ५. **चन्द्रः**=आह्लदमय मनोवृत्तिवाला होता है। इसके चेहरे पर सदा मुस्कराहट होती है। ६. **मरुद्गणः**=(गण्=take notice of) सदा प्राणों का ध्यान करनेवाला होता है। यह प्राणों की साधना करता है जो उसके जीवन की सब अच्छाइयों का मूलकारण है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम अपने जीवन को उज्ज्वल करें।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्तोता को सुवीर्य की प्राप्ति

१३१२. पवमान व्यश्नुहि रश्मिभिर्वाजसातमः। दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम् ॥ ३ ॥

हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले प्रभो! १. **व्यश्नुहि**=आप हममें व्याप्त हों, अर्थात् आपका हममें सदा वास हो। २. आप **रश्मिभिः**=(रश्मि=लगाम) लगामों से **वाजसातमः**=अत्युत्कृष्ट शक्ति प्राप्त करानेवाले हैं, अर्थात् जब स्तोता मनरूप लगाम से इन्द्रियों की वृत्तियों का निरोध करता है, तब प्रभु उसे महान् शक्ति प्राप्त कराते हैं। ३. वे प्रभु **स्तोत्रे**=स्तोता के लिए **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति देते हैं। स्तोता स्वभावतः वासनाओं से बचा रहता है और इसी कारण उत्तम वीर्य का लाभ करता है।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बन सुवीर्य प्राप्त करें तभी हम प्रभु का निवास-स्थान बन पाएँगे।

सूक्त-११

ऋषिः—**सप्तर्षयः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सदा क्रियाशील

१३१३. परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः।
दधन्वाँ यो नर्यो अप्स्वा३ऽन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥ १ ॥

५१२ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**सप्तर्षयः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सप्तर्षय

१३१४. नूनं पुनानोऽविभिः परि स्रवादब्धः सुरभिन्तरः।
सुते चित्त्वाप्सु मदामो अन्धसा श्रीणन्तो गोभिरुत्तरम् ॥ २ ॥

'सप्तर्षयः'—(सप्त च ते ऋषयः सप् समवाये) उत्तम सोम का अपने शरीर में ही समवाय करनेवाले अतएव तत्त्वद्रष्टा लोग इस मन्त्र के ऋषि हैं। इनका महान् कार्य उत्पन्न सोम की शरीर में रक्षा करना ही है। इन **अविभिः**=रक्षकों से **नूनम्**=निश्चयपूर्वक **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ हे सोम! तू **परिस्रव**=शरीर में चारों ओर परिस्रुत हो। **अदब्धः**=तू अहिंसित है। शरीर में तेरे व्याप्त होने पर शरीर में किसी प्रकार के रोग का आक्रमण नहीं होता। **सुरभिन्तरः**=शरीर को तू अत्यन्त सुगन्धवाला बना देता है। जब शरीर रोग व मलों से युक्त होता है तब शरीर से दुर्गन्ध आने लगती है। पूर्ण स्वस्थ शरीर से यह दुर्गन्ध नहीं आती।

सुते चित्=तेरे उत्पन्न होने पर ही १. **त्वा**=तेरे द्वारा **अप्सु**=कर्मों में **मदामः**=हम एक आनन्द का अनुभव करते हैं। निर्वीर्यता में अकर्मण्यता होती है—क्रियाओं में स्फूर्ति का अभाव होता है। हम २. **अन्धसा**=अत्यन्त ध्यान देने योग्य-ध्यान से रक्षा करने योग्य तेरे द्वारा ही **श्रीणन्तः**=अपना परिपाक करते हैं और ३. **गोभिः**—इन्द्रियों के द्वारा **उत्तरम्**=ऊपर और ऊपर उठते हैं। सोमरक्षा से हम इन्द्रियों के द्वारा उत्तम कार्य करते हुए ऊपर उठते हैं। गोभिः=शब्द मुख्यरूप से ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है। ज्ञानेन्द्रियों से उन्नति करते हुए हम ऋषि बन पाते हैं। सोम के अभाव में ये ज्ञानेन्द्रियाँ क्षीणशक्ति रहती हैं।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा अपने को पवित्र, अहिंसित व स्वस्थ बनाएँ। सोमरक्षा ही हमें क्रियाओं में आनन्द लेनेवाला, परिपक्व तथा ज्ञानी बनाये।

ऋषिः—**सप्तर्षयः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**द्विपदाविराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सोमपान के छह लाभ

१३१५. परि स्वानश्चक्षसे देवमादनः क्रतुरिन्दुर्विचक्षणः ॥ ३ ॥

हे सोम! तू जब शरीर में व्याप्त होता है तब १. **परिस्वानः**=(परि+सु+आनः) अङ्ग-प्रत्यङ्ग में बड़ी उत्तमता से प्राणशक्ति भरनेवाला होता है (आनयति)। सारी प्राणशक्ति सोम के कारण ही है। २. **चक्षसे**=तू दृष्टिशक्ति को बढ़ानेवाला है। वीर्यरक्षा से चक्षु अपना कार्य करने में बड़ी समर्थ होती हैं। ३. **देवमादनः**=तू ही मनुष्यों को 'देव' बनानेवाला है और उनके जीवनों में 'मद' हर्ष भरनेवाला है, देवताओं को एक मस्ती प्राप्त करानेवाला है। ४. **क्रतुः**=तू उनके जीवनों को यज्ञमय बनाता है। वस्तुतः सोमरक्षा से मनुष्य की मनोवृत्ति उत्तम होती है और परिणामतः वह स्वार्थ से ऊपर उठ जाता है। ५. **इन्दुः**=यह अपने पान करनेवाले को शक्तिशाली बनाता है (इन्द् to be powerful)। ६. **विचक्षणः**=यह हमारे ज्ञान को बढ़ाकर हमें विशिष्ट दृष्टिकोणवाला बनाता है।

भावार्थ—सोम हमें प्राणित करता है, दृष्टिशक्ति को बढ़ाता है, एक दिव्य मस्ती देता है, हमारे जीवन को यज्ञिय बनाता है, शक्तिशाली बनाता है तथा हमारे ज्ञान को बढ़ाने का साधन होता है।

सूक्त-१२

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

घृतवान् योनि

१३१६. असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा अचिक्रदत्।
पुनानो वारमत्येष्यव्ययं श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदत्॥ १ ॥

इस मन्त्र का व्याख्यान ५६२ संख्या पर है।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

गिरियों में निवास, स्तोताओं के साथ संवाद

१३१७. पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो नाभा पृथिव्या गिरिषु क्षयं दधे।
स्वसार आपो अभि गा उदासरन्त्सं ग्रावभिर्वसते वीते अध्वरे॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वसु भारद्वाज' है—उत्तम निवासवाला, अपने में शक्ति को भरनेवाला। 'यह ऐसा कैसे बन पाया? इस प्रश्न का उत्तर निम्न है—१. यह सदा प्रातः-सायं प्रभु की पूजा करता है (मह पूजायाम्), पूजा करने के कारण 'महिष' कहलाता है। प्रयत्न करके वासनाओं के आक्रमण से अपनी रक्षा करता है, अतः 'पर्णी' कहलाता है। इस **महिषस्य पर्णिनः**=प्रभुपूजक आत्मरक्षा करनेवाले का **पिता**=रक्षक **पर्जन्यः**=परातृप्ति का जनक प्रभु होता है, अर्थात् प्रभु-स्मरण इसे सदा वासना से सुरक्षित रखता है। २. वासनाओं से सुरक्षित होकर यह **पृथिव्या नाभा**=(अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) यज्ञों में **क्षयं दधे**=निवास करता है, अर्थात् यज्ञमय जीवन बिताता है। ३. इसलिए भी यह वासनाओं से बचा रहता है कि **गिरिषु**=गुरुओं में, उपदेष्टाओं में निवास करनेवाला होता है। ४. सदा अज्ञानान्धकार-निवारक गुरुओं के चरणों में उपस्थित होने से यह विलास के मार्ग पर नहीं जाता और इसके **आपः**=रेतःकण (आपः=रेतः) **स्वसारः**=आत्मतत्त्व की ओर ले-जानेवाले **अभिगाः**=वेदवाणियों का लक्ष्य करके **उदासरन्**=ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं। ५. ये वसु

ग्रावभिः=स्तोताओं के साथ **वीते**=कान्त **अध्वरे**=हिंसाशून्य कर्मों में **संवसते**=उत्तम प्रकार से रहते हैं। सदा यज्ञमय कर्मों के करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम उल्लिखित बातों को अपने जीवन में लाकर 'वसु भारद्वाज' बनें।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पूर्ण-शोधन

१३१८. कविर्वेधस्या पर्येषि माहिनमत्यो न मृष्टो अभि वाजमर्षसि।
अपसेधन् दुरिता सोम नो मृड घृता वसानः परि यासि निर्णिजम्॥ ३॥

वसु से प्रभु कहते हैं—१. **कविः**—गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से ऊर्ध्वरेतस् बनने पर तू क्रान्तदर्शी बनता है—तेरी बुद्धि तीव्र होकर वस्तुतत्त्व को समझनेवाली होती है। २. **वेधस्य**=निर्माण की इच्छा से अथवा बड़ा ज्ञानी बनने की कामना से तू **माहिनम्**=अपने पर प्रभुत्व (Dominion) **पर्येषि**=प्राप्त करता है—सब इन्द्रियों, मन व प्राणक्रियाओं को वश में करनेवाला होता है। ३. **अत्यः न**=तू निरन्तर गतिशील घोड़े के समान होता है। '**अनध्वा वाजिनां जरा**'=न चलना घोड़ों के लिए बुढ़ापा है। तू भी अकर्मण्यता को अपनी जरा समझता है और निरन्तर क्रियाशील बना रहता है। ४. **मृष्टः**=अतएव (मृजू शुद्धौ) शुद्ध होता है। '**योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये**'=आत्म-शुद्धि के लिए कर्म तो आवश्यक ही है। ५. **वाजम् अभि अर्षसि**=इस क्रियाशीलता से तेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति बनी रहती है। तू सब अङ्गों में शक्ति प्राप्त करता है। ६. **दुरिता अपसेधन्**=कर्म में लगे रहने से ही सब दुरितों को दूर करनेवाला होता है। ७. इस प्रकार के जीवनवाला तू **सोम**=हे शान्त मनवाले वसो! **नः**=हमारा बनकर, अर्थात् मेरा (प्रभु का) ही आश्रय करनेवाला होकर **मृड**=(to be delighted)=सुखी जीवनवाला हो। ऐसा करने पर **घृता वसानः**=तेजस्विताओं को धारण करता हुआ तू **निर्णिजम्**=शरीर, मन व बुद्धि में पूर्ण शोधन को **परियासि**=प्राप्त होता है। तेरे जीवन से अपवित्रता का सर्वथा नाश हो जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु के बनकर अपना पूर्ण शोधन करनेवाले हों।

सूक्त-१३

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

श्रम व भोजन

१३१९. श्रायन्तइव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जातो जनिमान्योजसा प्रति भागं न दीधिमः॥ १॥

२६७ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सतत दान की प्रेरणा

१३२०. अलर्षिरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः।
यो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन्॥ २॥

गत मन्त्र में कहा था कि 'तुम सब मिलकर उस प्रभु के इन भोजनों को खाओ' (विश्वा इत् इन्द्रस्य भक्षत)। इसी भावना को कुछ विस्तार से कहते हैं। १. **रातिं अलर्षि**=हे नृमेध! तू प्रभु से दान प्राप्त करता है। जिस सम्पत्ति को तू अपना समझता है, यह तेरे लिए प्रभु का ही दान है। २. तू **वसुदाम्**=वसु देनेवाले, धन प्राप्त करानेवाले प्रभु के दान का **उपस्तुहि**=स्तवन कर। ३. **भद्राः इन्द्रस्य रातयः**=उस प्रभु के दान सदा कल्याण करनेवाले हैं। ४. ये प्रभु वे हैं **यः**=जो **अस्य विधतः**=इस उपासक के **कामम्**=संकल्प को **न**=नहीं **रोषति**=हिंसित करते। उपासक कामना करता है। प्रभु उसकी कामना को पूर्ण करते हैं और ५. **मनः दानाय चोदयन्**=इस उपासक के मन को सदा दान के लिए प्रेरित करते हैं। 'तू दे, मैं तुझे दूँगा' यह प्रभु की प्रेरणा उपासक को प्राप्त होती रहती है। प्रभु का ही तो सब धन है, मैं उसे प्रभु की प्रजा के हित में ही क्यों न विनियुक्त करूँ?

भावार्थ—देनेवाला प्रभु है। उससे दिये धन को हमें देते ही रहना चाहिए। इसी प्रकार हम 'नृमेध'=मानवमात्र के साथ सम्पर्कवाले बन सकते हैं।

सूक्त-१४

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

अ-भय

१३२१. यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये वि द्विषो वि मृधो जहि ॥ १ ॥

२७४ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सुतावान् की पुकार

१३२२. त्वं हि राधसस्पते राधसो महः क्षयस्यासि विधर्ता ।
तं त्वा वयं मघवन्निन्द्र गिर्वणः सुतावन्तो हवामहे ॥ २ ॥

हे **राधसस्पते**=सब धनों के स्वामिन् प्रभो! **त्वं हि**=निश्चय से आप ही **क्षयस्य**=(क्षि=निवास-गत्योः) निवास व गति (क्रियाओं) के लिए आवश्यक **महः**=महनीय **राधसः**=धन के **विधर्ता** धारण करनेवाले **असि**=हो। हम प्रभु की शरण में जाते हैं, तो वे निवास व गति के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं, क्योंकि वे ही सब धनों के स्वामी हैं।

हे **गिर्वणः**=वेदवाणियों से उपासनीय प्रभो! हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **मघवन्**=(मघ=मख) सब यज्ञों के साधक प्रभो! **तं त्वा**=उस आपको **सुतावन्तः**=प्रशस्त यज्ञोंवाले [सुत=सव], निर्माणात्मक कर्मोंवाले (सुत=निर्माण) होते हुए **वयम्**=हम **हवामहे**=पुकारते हैं। हम निर्माणात्मक कार्यों में व्यापृत होंगे तो आवश्यक धन प्रभु प्राप्त कराएँगे ही। इन निर्माणात्मक कर्मों में लगना ही प्रभु का गायन है—'प्रागाथ' बनना है। इन निर्माणात्मक कार्यों में लगने से ही हम 'भर्ग'=तेजस्वी बन पाते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञों व निर्माणात्मक कार्यों में लगें। आवश्यक धन प्राप्त कराना तो प्रभु का काम है।

सूक्त-१५

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान की कामना व ओजस्विता

१३२३. त्वं सोमासि धारयुर्मन्द्र ओजिष्ठो अध्वरे। पवस्व मंहयद्रयिः ॥ १ ॥

'भरद्वाज' अपने अन्दर शक्ति भरनेवाले और 'बार्हस्पत्य' ज्ञानी से प्रभु कहते हैं कि १. **त्वम्**=तू हे **सोम**=शान्तस्वभाव पुरुष! **धारयुः**=(धारा=वाङ्) वाणी की कामनावाला **असि**=है। तू सदा ज्ञान की कामनावाला होकर सतत वेदवाणी का अध्ययन कर। २. **मन्द्रः**=तू सदा प्रसन्न मनवाला बन। ३. **ओजिष्ठः**=अत्यन्त शक्तिशाली हो। ४. **अध्वरे**=यज्ञों में लगा हुआ **पवस्व**=अपने जीवन को पवित्र बना। तथा ५. **मंहयद् रयिः**=धन का सदा दान देनेवाला बन।

१. धन न देनेवाला २. यज्ञों में प्रवृत नहीं हो सकता। यज्ञों से दूर रहनेवाला व्यक्ति ३. विषय-विलास की ओर जाकर शक्ति खो दाता है और कभी भी ओजिष्ठ नहीं बनता। ४. अन्ततः मानस आह्लाद भी इसे छोड़ जाता है और ५. 'यह ज्ञान की कामनावाला होगा' इस बात की तो सम्भावना ही नहीं रहती।

भावार्थ—हम ज्ञान की कामनावाले हों, ओजिष्ठ बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विजेता, अहिंसित

१३२४. त्वं सुतो मदिन्तमो दधन्वान्मत्सरिन्तमः। इन्दुः सत्राजिदस्तृतः ॥ २ ॥

प्रभु कहते हैं कि १. **त्वं सुतः**=(सुतमस्यास्तीति) तू निर्माणात्मक कार्यों का करनेवाला हो २. **मदिन्तमः**=इन निर्माण के कार्यों में लगा हुआ तू उल्लासमय जीवनवाला हो। ३. **दधन्वान्**=तू लोकों का धारण करनेवाला बन। ४. **मत्सरिन्तमः**=लोगों में उत्साह का सञ्चार करनेवाला हो। ५. **सत्राजित्**=सदा अपनी इन्द्रियों पर विजय करनेवाला बन। ६. **अस्तृतः**=इन्द्रिय-विजय के द्वारा तू अहिंसित हो।

भावार्थ—हम निर्माण के कार्यों में लगे रहें और अहिंसित जीवनवाले हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्योतिर्मय शक्ति

१३२५. त्वं सुष्वाणो अद्रिभिरभ्यर्ष कनिक्रदत्। द्युमन्तं शुष्ममा भर ॥ ३ ॥

'भारद्वाज बार्हस्पत्य' कैसे बनता है? इस प्रश्न का उत्तर प्रभु इन शब्दों में देते हैं—१. **त्वं अद्रिभिः**=(अद्रयः आदरणीयाः—नि० ९.८) आदरणीय माता-पिता व आचार्यों से तथा विद्वान् अतिथियों से **सुष्वाणः**=सदा उत्तम प्रेरणा प्राप्त करनेवाला हो। वस्तुतः जिस भी व्यक्ति को मातादि की उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती है वही अपने जीवन को आदर्श ज्ञान व बल से युक्त कर पाता है। २. **कनिक्रदत्**=निरन्तर उस प्रभु का आह्वान करते हुए तू **अभ्यर्ष**=समन्तात् कार्यों में गतिवाला हो। इस प्रकार उत्तम प्रेरणा को प्राप्त होकर प्रभु स्मरणपूर्वक क्रियाओं में लगे रहने से तू ३. **द्युमन्तं शुष्मम्**=ज्योतिर्मय बल को अपने अन्दर **आभर**=समन्तात् भर ले। ज्योति को भरकर तू बार्हस्पत्य बनता है तो शक्ति-सञ्चार के द्वारा भरद्वाज होता है।

भावार्थ—बड़ों से प्राप्त प्रेरणा व प्रभु-स्मरण हमें 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' बनानेवाले हों।

सूक्त-१६

ऋषिः—**मनुराप्सवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

मधुमान् सोम

१३२६. पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा। आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः ॥ १ ॥

५७१ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**मनुराप्सवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

सोम से प्राणशक्ति का संचार

१३२७. तव द्रप्सा उदप्रुत इन्द्रं मदाय वावृधुः। त्वां देवासो अमृताय कं पपुः ॥ २ ॥

हे सोम! **तव**=तेरे **द्रप्साः**=कण (Drops) १. **उदप्रुतः**=शरीर में रस का सञ्चार करनेवाले (Causing water to flow, आपः=प्राणाः) हैं। ये शरीर को प्राणशक्ति-सम्पन्न करते हैं। २. अतएव **इन्द्रम्**=इस सोमपान करनेवाले जीव को **मदाय**=हर्ष के लिए **वावृधुः**=बढ़ाते हैं। सोमरक्षा से प्राणशक्ति प्राप्त होती है, और प्राणशक्ति से मन में प्रसन्नता का, एक विशेष प्रकार के मद का, अनुभव होता है। ३. **कम्**=सुख देनेवाले **त्वाम्**=तुझे **देवासः**=देवलोग **अमृताय**=नीरोगता के लिए **पपुः**=पीते हैं, सोम की ऊर्ध्वगति के द्वारा उसका शरीर में ही व्यापन करते हैं। उसी के परिणामस्वरूप १. प्राणशक्ति का अनुभव करते हैं २. मन में उल्लासवाले होते हैं। ३. शरीर में सुख बना रहता है, ४. रोग शरीर को आक्रान्त नहीं कर लेते।

भावार्थ—हम सोमपान द्वारा प्राणशक्ति, मद, सुख व नीरोगता का लाभ करें।

ऋषिः—**मनुराप्सवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

क्रियावान्-ब्रह्मवित्

१३२८. आ नः सुतास इन्दवः पुनाना धावता रयिम्। वृष्टिद्यावो रीत्यापः स्वर्विदः ॥ ३ ॥

हे **सुतासः इन्दवः**=उत्पन्न हुए-हुए सोम कणो! तुम **नः**=हमें **पुनानाः**=पवित्र करते हुए **रयिम्**=ऐश्वर्य को **आधावत्**=समन्तात् प्राप्त कराओ। तुम्हारे द्वारा हमारा शरीर स्वस्थ हो, मन राग-द्वेषादि की वृत्तियों से शून्य हो तथा मस्तिष्क उज्ज्वल बने। तुम **वृष्टिद्यावः**=धर्ममेघ समाधि में मस्तिष्करूप द्युलोक से आनन्दकणों के वर्षक हो। हे सोमकणो! तुम **रीत्यापः**=(अप्=कर्म, री=गतौ) कार्यों में व्यापृत करनेवाले हो, अपने पान करनेवाले को लोकहित के लिए क्रियाशील बनानेवाले हो तथा अन्त में **स्वर्विदः**=मोक्षरूप सुख प्राप्त करानेवाले हो। उस 'स्वर् ज्योति'=ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए 'सोमपान' ही एकमात्र साधन है। यह सोमपान मनुष्य के लिए स्वर्ज्योति तक पहुँचने का सोपान (सीढ़ी) बन जाता है।

भावार्थ—सोमपान के द्वारा हम 'क्रियावान् ब्रह्मवित्' बनें।

सूक्त-१७

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिश्वा च** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'हर्यत हरि, बभ्रु' सोम

१३२९. परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण।
यो देवान्विश्वा इत्परि मदेन सह गच्छति ॥ १ ॥

५५२ संख्या पर इस मन्त्र का व्याख्यान है।

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिश्वा च** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रातः-सायं प्रभु-चिन्तन

१३३०. द्विर्यं पञ्च स्वयशसं सखायो अद्रिसंहतम्।
प्रियमिन्द्रस्य काम्यं प्रस्नापयन्त ऊर्मयः ॥ २ ॥

हमारे शरीर में हमारी इन्द्रियाँ वश में हों तो हमारी मित्र हैं, वश में न हों तो ये हमारी शत्रु हैं। ये **पञ्च**=पाँच **ऊर्मयः**=ज्ञान का प्रकाश (lights) देनेवाली इन्द्रियाँ **प्रस्नापयन्तः**=शुद्ध कर डालती हैं। **सखायः**=ये उसकी मित्रभूत होती हैं। जैसे संसार में एक सच्चा सखा अपने मित्र के जीवन को पाप से निवारित करके तथा पुण्य से जोड़कर पवित्र कर डालाता है, उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ भी इस मनुष्य को शुद्ध करने के कारण उसकी सखा हैं।

ये **यम्**=जिसको शुद्ध कर डालती हैं, वह कौन है?

१. **स्वयशसम्**=यह आत्मा के सौन्दर्यवाला (beauty) होता है, आत्मा की ओर झुकाव-(Favour, Partiality)-वाला होता है, आत्मा को ही अपनी सम्पत्ति (wealth) समझता है, आत्मिक भोजन (food) को महत्त्व देता है (यहाँ यश शब्द के वेद में आनेवाले चारों अर्थों को लेकर 'स्वयशसं' शब्द का व्याख्यान कितना सुन्दर हो गया है?)

२. **द्विः**=दिन में कम-से-कम दो बार प्रातः-सायं **अद्रिसंहतम्**=उस न विदारण के योग्य अथवा आदरणीय प्रभु से अपने को जोड़नेवाला है। प्रातः-सायं प्रभु का ध्यान करनेवाला ही जितेन्द्रिय बन पाता है, उसी की इन्द्रियाँ उसकी मित्र होती हैं और उसके जीवन को प्रकाश से उज्ज्वल बनाती चलती हैं।

३. **प्रियम्**=जो सदा प्रसन्नता का अनुभव करता है, आत्मिक भोजन से तृप्ति का लाभ करता है (प्रीञ्-तर्पणे)।

४. **इन्द्रस्य काम्यम्**=जो उस प्रभु की प्राप्ति की कामनावाला है। जिसके जीवन की मुख्य कामना प्रभु-प्राप्ति है।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं प्रभु ध्यान करते हुए प्रभु को ही अपना काम्य बनाएँ, जिससे इन्द्रियाँ हमारी मित्र हों और ज्ञान के प्रकाश से हमें शुद्ध करती चलें।

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिश्वा च** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वृत्रघ्न इन्द्र के लिए

१३३१. इन्द्राय सोम पातवे वृत्रघ्ने परि षिच्यसे। नरे च दक्षिणावते वीराय सदनासदे ॥ ३ ॥

सोम=हे सोम—वीर्यशक्ते! तू **इन्द्राय पातवे**=इन्द्र के पान के लिए होता है—जितेन्द्रिय पुरुष ही तेरा पान करता है। सोम को शरीर में ही व्याप्त करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य जितेन्द्रिय बने। हे सोम! तू **परिषिच्यसे**=शरीर में ही चारों ओर सिक्त होता है। किनके लिए? १. **वृत्रघ्ने**=ज्ञान की आवरणभूत कामादि वासनाओं को नष्ट करनेवाले के लिए, अर्थात् जो मनुष्य कामादि वासनाओं को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील होता है उसके शरीर में यह सोम सम्पूर्ण रुधिर में व्याप्त होकर रहता है। २. **नरे च**=और (नृ=मनुष्य) उस मनुष्य के लिए जो कि अपने को आगे और आगे ले-चलने का निश्चय करता है। यह आगे बढ़ने की भावना भी सोम-सुरक्षा में सहायक होती है। ३. **दक्षिणावते**=दानशील मनुष्य के लिए यह सोम परिषिक्त होता है, अर्थात् दान की वृत्ति भी सोमरक्षा में सहायक है। यह वृत्ति मनुष्य को व्यसनों से बचाती है। व्यसनों से बचाने के द्वारा सोम-रक्षण में साधन बनती है। ४. **वीराय**=वीर पुरुष के लिए। वीर पुरुष अपनी वीरता को नष्ट न होने देने के लिए सोमरक्षण में प्रवृत्त होता है। ५. **सदनासदे**=सदन में बैठनेवाले के लिए। यहाँ सदन शब्द '**विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत**' इस मन्त्रभाग की 'सीदत' क्रिया का ध्यान करते हुए सब घरवालों के मिलकर बैठने के स्थान अर्थात् यज्ञभूमि के लिए आया है। 'इस यज्ञभूमि में बैठने का स्वभाव है जिसका' उसके लिए यह सोमरक्षण सम्भव होता है।

यह सोमरक्षण करनेवाला व्यक्ति सदा सरल मार्ग से चलता है—दूसरे शब्दों में 'ऋजिश्वा' बनता है। यह ऋजिश्वा सोमरक्षण के लिए निम्न बातें करता है—

१. जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करता है (इन्द्राय)
२. वासनाओं को विनष्ट करता है (वृत्रघ्ने)
३. आगे बढ़ने की वृत्ति को धारण करता है (नरे)
४. दानशील बनता है (दक्षिणावते)
५. वीर बनता है (वीराय)
६. यज्ञशील बनता है (सदनासदे)

ये बातें सोमरक्षण के होने पर हममें फूलती-फलती हैं।

भावार्थ—हम सोमरक्षण के द्वारा वीर बनें।

सूक्त-१८

ऋषिः—**अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**द्विपदा विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दक्षाय+धनाय

१३३२. पवस्व सोम महे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥ १ ॥

४३० संख्या पर इस मन्त्र का व्याख्यान द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**द्विपदाविराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सोमपान के तीन लाभ

१३३३. प्र ते सोतारो रसं मदाय पुनन्ति सोमं महे द्युम्नाय ॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'अग्नयः'=उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाले, धिष्ण्याः=(धिषणा=वाणी) वेदवाणी में विचरनेवाले, 'ऐश्वराः'=सदा ईश्वर की उपासना करनेवाले 'देवताः'=दिव्य गुणों को

अपनानेवाले हैं **ते**=वे **रसम्**=उस प्रभु को (रसो वै सः—तै०) **सोतारः**=अपने में प्रकट करनेवाले **मदाय**=जीवन को उल्लासमय बनाने के लिए तथा **महे द्युम्नाय**=महनीय ज्योति की प्राप्ति के लिए **सोमम्**=अपनी वीर्यशक्ति को **प्रपुनन्ति**=प्रकर्षेण पवित्र करते हैं।

मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि सोमपान के तीन लाभ हैं—१. प्रभु का दर्शन, २. जीवन में उल्लास, तथा ३. उत्कृष्ट ज्योति की प्राप्ति।

भावार्थ—हम अपने सोम को पवित्र रक्खें। इससे हमें जीवन में उल्लास व ज्योति प्राप्त होगी तथा हम प्रभु का दर्शन करके वास्तविक रस का अनुभव करेंगे।

ऋषिः—**अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**द्विपदाविराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु के ध्यान से सोम-शुद्धि

१३३४. शिशुं जज्ञानं हरिं मृजन्ति पवित्रे सोमं देवेभ्य इन्दुम्॥ ३ ॥

१. **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **पवित्रे**=ध्यान करने पर हमारे जीवनों को पवित्र बनानेवाले प्रभु में **सोमम्**=सोम को **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं—पवित्र बनाते हैं। प्रभु के ध्यान से सोम को दूषित करनेवाली वासनाओं का विनाश हो जाता है। इस सोम की रक्षा होने पर हममें दिव्य गुणों की वृद्धि होती है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि उस सोम को वे पवित्र करते हैं जो **शिशुम्**=(शो तनूकरणे)=हमारी बुद्धियों को सूक्ष्म बनानेवाला है २. **जज्ञानम्**=जो हमारा प्रादुर्भाव वा विकास करनेवाला है ३. **हरिम्**=हमारे सब रोगों का हरण करनेवाला है तथा ४. **इन्दुम्**=हमें शक्ति देनेवाला है।

भावार्थ—हम सोम को शुद्ध रक्खें। यह शुद्ध सोम हमें तीव्र बुद्धि, विकास, नीरोगता व सबलता प्राप्त कराएगा।

सूक्त-१९

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

देवों को इन्दु की प्राप्ति

१३३५. उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम्। इन्दुं देवा अयासिषुः ॥ १ ॥

४८७ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु-स्मरण से उत्साहमय जीवन

१३३६. तमिद्वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव। य इन्द्रस्य हृदं सनिः ॥ २ ॥

नः=हमारी **गिरः**=वाणियाँ **इत्**=निश्चय से **तम्**=उस प्रभु को ही **वर्धन्तु**=बढ़ाएँ, अर्थात् हमारी स्तुति-वाणियाँ उस प्रभु की भावना को हमारे अन्दर इस प्रकार बढ़ाएँ **इव**=जैसे **संशिश्वरीः**=उत्तम शिशुओंवाली माताएँ **वत्सम्**=अपने प्रिय सन्तान को बढ़ाती हैं। स्तुतिवचन मातृस्थानापन्न हैं और प्रभु की भावना सन्तान के स्थान में हैं। स्तुति-वचन प्रभु-भावना को हमारे अन्दर अधिकाधिक बढ़ाएँगे।

उस प्रभु की भावना को ये स्तुतिवचन हममें बढ़ाएँ **यः**=जो प्रभु **इन्द्रस्य**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता

जीव के **हृदं सनिः**=हृदय में उत्साह प्राप्त करानेवाले हैं। जब मेरा जीवन प्रभु की भावना से ओत-प्रोत होता है तब जहाँ मुझे पवित्रता प्राप्त होती है वहाँ निर्भीकता भी प्राप्त होती है। मेरा जीवन निराशा की भावना को परे फेंककर उत्साह की भावना से भर जाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से मेरे मन में उत्साह का संचार हो।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वृद्धि की कारणभूत प्रेरणा

१३३७. अर्षा नः सोम शं गवे धुक्षस्व पिप्युषीमिषम्। वर्धा समुद्रमुक्थ्य ॥ ३ ॥

'अमहीयुः'=मही को—पार्थिव भोगों को न चाहनेवाला प्रभु से प्रार्थना करता है—१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **नः**=हमें **अर्ष**=प्राप्त होओ। २. **शं गवे**=हमारे ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को शान्ति प्राप्त कराइए ३. **पिप्युषीम्**=वृद्धि की कारणूभत **इषम्**=प्रेरणा को **धुक्षस्व**=हममें भर दीजिए। हमें वह प्रेरणा प्राप्त कराइए, जिसे प्राप्त करके हम और आगे बढ़ते चलें, सदा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हों। ४. हे **उक्थ्य**=ऊँचे स्वर से गाने योग्य स्तोत्रों से स्तूयमान प्रभो! **नः**=हमारे **समुद्रम्**=ज्ञान के समुद्र को **वर्ध**=खूब बढ़ा दीजिए।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारी इन्द्रियाँ शान्त हों। हमें उन्नति के मार्ग पर बढ़ानेवाली प्रेरणा प्राप्त हो, तथा हमारे ज्ञानसमुद्र की वृद्धि हो।

सूक्त-२०

ऋषिः—**त्रिशोकः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अग्नि-समिन्धन

१३३८. आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्। येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ १ ॥

१३३ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**त्रिशोकः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'ज्ञान, स्तवन, त्याग'

१३३९. बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्त्रं पृथुः स्वरुः। येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ २ ॥

येषाम्=जिनका **इन्द्रः**=सब ऐश्वर्यों का प्रभु और सब शत्रुओं का विदारण करनेवाला परमात्मा **युवा**=शुभ से संपृक्त करनेवाला और अशुभ से पृथक् करनेवाला **सखा**=मित्र है, १. **एषाम्**=इनकी **इध्मः**=ज्ञान की दीप्ति **इत्**=सचमुच **बृहन्**=विशाल होती है अथवा सदा वृद्धि को प्राप्त होनेवाली होती है। २. इनका **शस्त्रम्**=(स्तोत्र) प्रभु-स्तवन **भूरि**=(भृ=धारण-पोषण) धारण व पोषण करनेवाला होता है। यह प्रभु का स्तवन करता है और इससे उसे शक्ति प्राप्त होती है। ३. इनका **स्वरुः**=त्याग (Sacrifice) **पृथुः**=विशाल होता है। प्रभु की मित्रता प्राप्त होने पर अन्य सब वस्तुएँ इतनी तुच्छ हो जाती हैं कि वह इनमें फँसता नहीं, इनके त्याग में आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार प्रभु की मित्रता इसमें 'ज्ञान, स्तवन व त्याग' की भावना उत्पन्न करके इसे 'त्रिशोक' बना देती है। यह ज्ञान, स्तुति व त्याग से संसार में चमकता है।

भावार्थ—मैं ज्ञानी बनूँ, प्रभु का स्तोता बनूँ, और त्याग की वृत्तिवाला होऊँ।

ऋषिः—**त्रिशोकः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विना ही युद्ध के विजय

१३४०. अयुद्ध इद्युधा वृतं शूर आजति सत्वभिः। येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ ३ ॥

येषाम्=जिनका **युवा**=बुराई से पृथक् करनेवाला व भलाई से जोड़नेवाला **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **सखा**=मित्र होता है, वह **अयुद्धः इत्**=(अविद्यमानं युद्धं यस्य) बिना ही किसी बड़े युद्ध के **युधा**=काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि आसुर सैनिकों से **वृतम्**=घिरे हुए मन को **शूरः**=शूरवीर होता हुआ—शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला बनकर **सत्वभिः**=सात्त्विक बलों से **आजति**=उखाड़ फेंकता है। प्रभु की शक्ति से यह इतना शक्तिमान् बन जाता है कि काम-क्रोधादि प्रचण्ड शत्रुओं को बिना युद्ध किये उखाड़ फेंकता है।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में भयंकर आसुरवृत्तियों को जीतना सुगम हो जाता है।

सूक्त-२१

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

ईशान अप्रतिष्कुत 'इन्द्र'

१३४१. य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे। ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥ १ ॥

३८९ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

उग्र-शक्ति की प्राप्ति

१३४२. यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति।
उग्रं तत् पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥ २ ॥

हे **अङ्ग**=(अगि गतौ) सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभो! **बहुभ्यः**=इन (बृंहते वर्धते इति बहु) ऐश्वर्यों से बढ़े हुए लोगों में से **यः चित् हि**—जो भी निश्चय से **सुतावान्**=यज्ञोंवाला बनकर **त्वा**=आपकी **आविवासति**=परिचर्या करता है, **तत्**=वह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **उग्रं शवः**=तेजस्वी-शत्रुविनाशक-बल को **पत्यते**—प्राप्त होता है।

सामान्यतः संसार में ऐश्वर्य पाकर कोई बिरला पुरुष ही यज्ञमय प्रवृत्तिवाला बनता है। भोगों में लिप्त होकर मनुष्य लोकहित को अपने जीवन का ध्येय नहीं बना पाता, परन्तु यदि एक-आध व्यक्ति ऐश्वर्य प्राप्त कर लोकहित करता हुआ यज्ञमय जीवन बिताता है तो वह वस्तुतः प्रभु का सच्चा उपासक होता है। प्रभु की उपासना लोकहित के द्वारा ही होती है। इस लोकहित में लगे हुए प्रभु के उपासक को 'उग्र शक्ति' प्राप्त होती है। इस उग्र शक्ति के द्वारा सब विघ्न-बाधाओं को जीतता हुआ वह अपने मार्ग पर आगे बढ़ता चलता है।

भावार्थ—यज्ञमय जीवन से प्रभु-उपासक उग्र शक्ति प्राप्त करता है। इसकी इन्द्रियाँ अन्त तक तेजस्वी बनी रहती हैं, अतः यह 'गोतम' होता है और यज्ञों में ऐश्वर्य का त्याग करनेवाला यह 'राहूगण' कहलाता है (रह त्यागे)।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

अ-यज्ञशील का नाश

१३४३. कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्। कदा नः शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग॥ ३ ॥

हे **अङ्ग**=प्रिय! तू इस बात को समझ ले कि **क-दाः**=वह सब सुखों का देनेवाला प्रभु **अराधसम्**=ऐश्वर्यशाली बन करके भी यज्ञादि को सिद्ध न करनेवाले **मर्तम्**=भोगविलासों के पीछे मरनेवाले मनुष्य को इस प्रकार **स्फुरत्**=नष्ट कर देता है **इव**=जैसे **पदा**=पावों से **क्षुम्पम्**=हम अहिछत्रक (गली खुम्भ) को नष्ट कर देते हैं—फोड़ देते हैं। वे प्रभु इन ऐश्वर्य के मद से मत्त भोगविलास-ग्रसित मनुष्यों को नष्ट कर देते हैं। ऐश्वर्य का सर्वोत्तम विनियोग यज्ञ ही है। मनुष्य को यज्ञों में ही धन-सम्पत्ति का विनियोग करना चाहिए। यही सच्ची प्रभु-पूजा है।

कदाः=वे सब सुखों के देनेवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारी **गिरः**=वाणियों को **शुश्रवत्**=सुनते हैं। प्रभु उन्हीं की प्रार्थना सुनते हैं जो कि 'सुतावान्'—यज्ञशील बनकर प्रभु की परिचर्या करते हैं।

भावार्थ—हम ऐश्वर्यों का प्रयोग विलास में न कर लोक-विकास में करें। अन्यथा हम प्रभु के प्रिय न होंगे। सब सुखों के देनेवाले वे प्रभु हम अयज्ञियों को तो ठुकरा ही देंगे।

सूक्त-२२

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

गायत्रिणः, अर्किणः, ब्रह्माणः

१३४४. गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥ १ ॥

इस मन्त्र का अर्थ ३४२ संख्या पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सानु से सानु पर आरोहण

१३४५. यत्सानोः सान्वारुहो भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति॥ २ ॥

उन्नति के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता हुआ १. **यत्**=जब यह साधक **सानोः सानु आरुहः**=एक पर्वत शिखर से अगले पर्वत-शिखर पर चढ़ता है, अर्थात् जब योग की एक भूमिका से अगली भूमिका में प्रवेश करता है तब २. यह **कर्त्वम्**=अपने कर्त्तव्य को **भूरि अस्पष्ट**=खूब ही स्पष्ट रूप से देखता है (स्पश् to see, behold, perceive)। हम जितना-जितना साधना के मार्ग पर आगे बढ़ते चलेंगे उतना ही हमें अपना कर्त्तव्य-पथ स्पष्ट दिखेगा। ३. **तत्**=तभी **इन्द्रः**=यह इन्द्रियवृत्तियों को आत्मवश्य करनेवाला आत्मा **अर्थम्**=वस्तुतत्त्व को **चेतति**=ठीक-ठीक जानता है। संसार की वास्तविकता को समझने के लिए भी योगमार्ग पर चलना आवश्यक है। इस मार्ग पर चले बिना हम आत्मा और अनात्मा के, अशुचि व शुचि के, अनित्य व नित्य के और सुख व दुःख के स्वरूप में

विवेक नहीं कर पाते। ४. इस वस्तुतत्त्व को जानकर यह साधक **वृष्णिः**=शक्तिशाली होता हुआ तथा सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला बनकर **यूथेन**=जनसमूह के साथ ही **एजति**=गतिवाला होता है। यह लोगों से दूर भागने का विचार नहीं करता। लोगों में ही रहता हुआ उनके अज्ञान व दुःख को दूर करने के लिए यत्नशील होता है।

सबके लिए माधुर्यमय इच्छाओंवाला यह 'मधुच्छन्दाः' सबका मित्र 'वैश्वामित्र' होता है। यह केवल अपने ही हित को नहीं चाहता।

भावार्थ—हम योग की भूमिकाओं में आगे और आगे बढ़ें, अपने कर्त्तव्य को अधिक स्पष्ट रूप में देखें, वस्तुतत्त्व को पहचानें और शक्तिशाली बनकर जनसमूह के साथ ही रहते हुए उन्हें उन्नत करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

तीन महान् कर्तव्य

१३४६. युङ्क्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर॥ ३॥

प्रभु 'मधुच्छन्दा' से कहते हैं १. **हि**=निश्चय से तू **हरी**=इन्द्रियाश्वों को अपने इस शरीररूप रथ में **युङ्क्ष्व**=जोत। कैसे इन्द्रियाश्वों को? (क) **केशिना:**=जो प्रकाशवाले हैं (प्रकाशवन्तौ) अर्थात् जो ज्ञान की दीप्ति से दीप्त हैं (ख) **वृषणा**=शक्तिशाली हैं। ज्ञान और शक्ति प्राप्त करके जो (ग) **कक्ष्यप्रा**=(कक्ष्या—अंगुलि—नि० २.५) कर्मों के द्वारा अंगुलियों का पूरण करनेवाले हैं, अर्थात् जो इन्द्रियाश्व सदा ज्ञानपूर्वक कर्म में प्रवृत्त हैं। २. **अथ**=ऐसा करके, अर्थात् इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में जोतकर हे **इन्द्र**=इन्द्रियाश्वों को वश में रखनेवाले इन्द्र! तू **नः**=हमारी प्राप्ति के लिए **सोमपाः**=सोम का—वीर्यशक्ति का—पान करनेवाला बन। सोम को अपने ही अन्दर सुरक्षित रख और ३. **नः गिराम्**=इन हमारी वेदवाणियों का **उपश्रुतिम्**=श्रवण **चर**=कर। तू सदा वेदवाणियों का श्रवण करनेवाला बन।

भावार्थ—इस प्रकार मधुच्छन्दा के तीन महान् कर्त्तव्य हैं—

१. प्रकाशमय, शक्तिशाली—कर्म-व्यापृत घोड़ों—इन्द्रियों को शरीर-रथ में जोतना।

२. सोम-शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित रखना।

३. वेदवाणियों का श्रवण करना।

गत मन्त्र में कहा था कि यह साधक अपने कर्त्तव्य को स्पष्ट देखता है। उन्हीं कर्त्तव्यों का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में हो गया है।

इति दशमोऽध्यायः, पञ्चमप्रपाठकश्च समाप्तः ॥

अथैकादशोऽध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**इध्मः समिद्धो वाग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सत्सङ्ग से दिव्यता की प्राप्ति

१३४७. सुषमिद्धो न आ वह देवाँ अग्ने हविष्मते। होतः पावक यक्षि च ॥ १ ॥

मेधातिथि, अर्थात् जो इस संसार में निरन्तर मेधा से—समझदारी से चल रहा है वह प्रभु से आराधना करता है कि हे प्रभो! आप १. **सु-समिद्धः**=सम्यक्तया दीप्त हैं। आप ज्ञान-ही-ज्ञान तो हैं। 'हिरण्यगर्भ' होने से ज्योति-ही-ज्योति आपके गर्भ में हैं। २. **अग्ने**=आप अग्नि हैं, अग्रेणी हैं। स्वयं सर्वोच्च स्थान में स्थित हुए-हुए हमें भी अग्र-स्थान 'मोक्ष' को प्राप्त करानेवाले हैं। ३. **होतः**=(हु=दान तथा अदन) उन्नति के लिए आवश्यक सब पदार्थों को हमें देनेवाले हैं तथा साथ ही उन्नति के मार्ग में आनेवाले सब विघ्नों का अदन कर जानेवाले हैं—विघ्नों के निवारक हैं ४. और इस प्रकार **पावक**=अग्नि के समान सब मलिनताओं को भस्म करनेवाले प्रभो! आप हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले हैं।

आप **नः**=हममें से **हविष्मते**=हविष्मान् के लिए, आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए **देवान्**=दिव्य गुणयुक्त विद्वान् पुरुषों को **आवह**=प्राप्त कराइए, अर्थात् हमें सदा सज्जनों का सङ्ग प्राप्त कराइए **च**=और इस प्रकार **देवान्**=दिव्य गुणों को **यक्षि**=हमारे साथ सङ्गत कीजिए।

स्पष्ट है कि सत्सङ्ग से सद्गुणों का जन्म होता है, परन्तु यह सत्सङ्ग भी तो प्रभुकृपा से ही प्राप्त होता है। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें—हविष्मान् बनें और वह प्रभु हमारे अन्दर 'सु-समिद्ध' हों। जैसे अग्निकुण्ड में अग्नि को दीप्त किया जाता है उसी प्रकार हम अपने अन्दर प्रभु को दीप्त करने का प्रयत्न करें, प्रभु का ध्यान करें, उसकी ज्योति को देखने का प्रयत्न करें और उसके प्रति अपना अर्पण कर डालें (हविष्मान्)। प्रभु सत्सङ्ग द्वारा हमें देव बना देंगे।

भावार्थ—अपने रथ की बागडोर प्रभु के हाथ में दे दें, सत्सङ्ग प्राप्त होगा—देवों के सङ्ग में हम भी देव बन जाएँगे।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**तनूनपात्** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मधुमान् यज्ञ

१३४८. मधुमन्तं तनूनपाद्यज्ञं देवेषु नः कवे। अद्या कृणुह्यूतये ॥ २ ॥

हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन्! वेदज्ञान द्वारा सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले प्रभो! **तनूनपात्**=शरीर को नष्ट न होने देनेवाले प्रभो! (प्रभु-स्मरण से आचार-विचार की पवित्रता के द्वारा दीर्घायुष्य प्राप्त होता है।) आप **अद्य**=आज ही, अर्थात् अविलम्ब—बिना किसी देर के **नः ऊतये**=हमारी रक्षा के लिए, अशुभ विचारों और व्यवहारों से बचाने के लिए हमें **देवेषु**=विद्वानों के सम्पर्क में **मधुमन्तं यज्ञम्**=मधुवाले ज्ञानयज्ञ को **कृणुहि**=सिद्ध कीजिए।

'विज्ञान का अध्ययन करते हुए प्रभु की महिमा का स्मरण कर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, और यह ब्रह्मज्ञान व ब्रह्म का ध्यान हमारे जीवनों को पवित्र व मधुर बना देता है 'ये ही यज्ञ 'मधुमान् यज्ञ' कहलाते हैं। प्रभुकृपा से देवों के सम्पर्क में ये यज्ञ हमारे जीवनों में सदा चलते रहें जिससे हम आसुर वृत्तियों के आक्रमण से बचे रहें।

भावार्थ—प्रभु हमें विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त कराएँ—उनके सम्पर्क में हम सदा ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**नराशंसः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कैसा उपदेशक ? 'मधुजिह्व', प्रभु का स्मरण

१३४९. नराशंसमिह प्रियमस्मिन्यज्ञ उप ह्वये। मधुजिह्वं हविष्कृतम्॥ ३॥

इह=जीवन में **अस्मिन् यज्ञे**=इन ज्ञानयज्ञों के निमित्त **उपह्वये**=विद्वानों को अपने समीप पुकारता हूँ। कैसे विद्वानों को ? १. **नराशंसम्**=उन्नतिशील नरों से प्रशंसनीय, अर्थात् धार्मिक वृत्तिवाले लोग जिसकी प्रशंसा करते हैं। आचारहीन विद्वान् के उपदेश का प्रभाव कभी सुन्दर नहीं हो सकता। २. **प्रियम्**=जो देखने में प्रिय है, जिसकी आकृति डरावनी नहीं, जो सदा त्योरी चढ़ाये नहीं रहते ३. **मधुजिह्वम्**=जिसकी जिह्वा में माधुर्य है—जो कभी कटुशब्दों का प्रयोग नहीं करता। ४. **हविष्कृतम्**=जिसने अपने जीवन को हविरूप बना दिया है—लोकसंग्रह ही जिसके जीवन का मुख्य ध्येय है।

ऐसे विद्वानों के द्वारा प्रणीत 'मधुमान् यज्ञों' में हम उस प्रभु का **उपह्वये**=आह्वान करें जो १. **नराशंसम्**=अपने को अग्रस्थान में प्राप्त कराने के इच्छुक नरों से सदा शंसनीय है (नर-आशंस) २. **प्रियम्**=चाहने योग्य है तथा तृप्ति—सच्ची निर्वृति का अनुभव करानेवाला है (कान्ति-तर्पण) ३. **मधुजिह्व**=जिस प्रभु की वाणी अत्यन्त माधुर्यमयी है ४. **हविष्कृतम्**=जो प्रभु हविरूप हैं, जिन्होंने अपने को भी सदा जीव-हित के लिए दिया हुआ है (आत्मदा)।

इस प्रकार इन यज्ञों में 'नराशंस' आदि रूप में प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी 'नराशंसत्वादि' गुणों को अपने में धारण कर सकेंगे। यही मेधातिथित्व है—समझदारी से चलने का मार्ग है।

भावार्थ—हमारे यज्ञों में 'मधुजिह्व' प्रभु का स्मरण हो और हम भी 'मधुजिह्व' बन जाएँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**इडः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुखतम रथ में दिव्यता का वहन

१३५०. अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईडित आ वह। असि होता मनुर्हितः॥ ४॥

उल्लिखित यज्ञों का परिणाम यह होता है कि हमारी एक-एक इन्द्रिय (ख) उत्तम बनती (सु) है और हमारा यह शरीर सचमुच जीवन-यात्रा का साधक होने से 'रथ' कहलाने के योग्य होता है। इस शरीर में मेधातिथि प्रभु का स्तवन करता है और प्रभु से प्रार्थना करता है—**अग्ने**=हे मेरे रथ के अग्रेणी! आप **ईडितः**=स्तुति किये जाकर **सुखतमे रथे**=हमारे इस शरीररूप रथ में जिसमें एक-एक इन्द्रिय (ख) अत्यन्त उत्तम (सु) बनी है, उस रथ में **देवान्**=दिव्य गुणों को **आवह**=समन्तात् प्राप्त कराइए, अर्थात् हम सब जगह से दिव्यता को ही ग्रहण करनेवाले बनें। हे प्रभो! आप **होता असि**=सब उत्तमताओं के देनेवाले हैं **मनुः**=सब कुछ जानते हैं और **हितः**=मेरा अधिक-से-अधिक हित चाहने व करनेवाले हैं (benevolent and beneficent)।

भावार्थ—हमारा शरीर रथ हो, एक-एक इन्द्रिय उत्तम हो, हम दिव्यता का वहन करें।

सूक्त-२

ऋषि:—**मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ:** ॥ देवता—**आदित्य:** ॥ छन्द:—**गायत्री** ॥ स्वर:—**षड्ज:** ॥

सूर्योदय के साथ ही

१३५१. यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा। सुवाति सविता भग: ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्राणापान' की साधना करनेवाला 'मैत्रावरुणि' सब इन्द्रियों का वशी अथवा उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' है। वह अपने मित्रों से कहता है—आज प्रभु की कितनी कृपा हो जाए **यत्**=यदि **अद्य**=आज **सूरे उदिते**=सूर्योदय के होते ही **अनागा:**=निष्पाप—अपापविद्ध—जिसे कभी कोई पाप छू नहीं गया **मित्र:**=जो सबके साथ स्नेह करनेवाला है (ञिमिदा स्नेहने) जो मृत्यु से व पाप से बचाता है (प्रमीतेः त्रायते) **अर्यमा**=जो सब-कुछ देता है (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) **सविता**=जो सब ऐश्वर्यों से सम्पन्न है तथा सब उत्तमताओं को जन्म देनेवाला है वह प्रभु हमारे अन्दर भी **भग:**=(भगं) **सुवाति**=समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यरूप भग को जन्म दे दे।

मन्त्र की भावना स्पष्ट है कि हम सूर्योदय के साथ ही 'अनागा:, मित्र, अर्यमा, व सविता' नामोंवाले प्रभु का चिन्तन करें, उससे प्रेरणा प्राप्त करें और अपने जीवन में षड्विध भग के उदय करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम भी प्रभु-स्मरण करते हुए निष्पाप, स्नेही, देनेवाले तथा ऐश्वर्य सम्पादन करनेवाले बनें। सूर्योदय के साथ हमारे जीवनों में भी 'भग' का उदय हो।

ऋषि:—**मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ:** ॥ देवता—**आदित्य:** ॥ छन्द:—**गायत्री** ॥ स्वर:—**षड्ज:** ॥

दान से सुरक्षित घर

१३५२. सुप्रावीरस्तु स क्षय: प्र नु यामन्त्सुदानव:। ये नो अंहोऽतिपिप्रति ॥ २ ॥

१. **स: क्षय:**=वह घर (क्षि=निवास) **सुप्रावी: अस्तु**=उत्तम रक्षणवाला हो, अर्थात् उसपर पाप व दु:ख के आक्रमण न हों। २. **नु** और अब **प्रयामन्**=इस प्रकृष्ट जीवन-यात्रा में इस घर के लोग **सुदानव:**=उत्तम दान देनेवाले बने रहें, पात्रापात्र का विचार कर सदा सात्त्विक दान देनेवाले हों। ३. **ये न:**=हममें से जो भी **अंह: अतिपिप्रति**=अपने को पाप से पार ले-जाते हैं, अर्थात् जो भी व्यक्ति पाप से दूर होने का निश्चय करते हैं वे अपनी इस जीवन-यात्रा में सदा उत्तम दान देनेवाले बने रहते हैं, और इस उपाय के द्वारा अपने घर को पापों व कष्टों से बचाये रखते हैं।

पापों से पार होने की कामना होनी चाहिए, दान देना चाहिए और अपने घर को अशुभों व कष्टों से बचाना चाहिए। 'दान' शब्द के तीनों ही अर्थ हैं देना (दा-दाने), पापों का काटना (दाप् लवने), और अपना शोधन (दैप् शोधने)। 'वसिष्ठ' सदा दान की वृत्ति को अपनाता है क्योंकि दान की विरोधी भावना 'लोभ' है जो सब व्यसनों का मूल है। लोभ से काम-क्रोध पनपते हैं और मनुष्य अधिकाधिक विषयासक्त हो जाता है।

भावार्थ—वह घर सुरक्षित रहता है जहाँ कि दान की मर्यादा कभी टूटती नहीं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

संयम तथा व्रत

१३५३. उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये । महो राजान ईशते ॥ ३ ॥

उत=और १. **ये**=जो **स्वराजः**=अपना शासन करनेवाले होते हैं, अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखते हैं, अपने जीवन को सूर्य-चन्द्रमा की भाँति सुमर्यादित (well regulated) करते हैं २. और **अदब्धस्य व्रतस्य**=अहिंसित-अखण्डित व्रत के **अदितिः**=न खण्डन करनेवाले होते हैं, अर्थात् व्रत को कभी टूटने नहीं देते। ये **राजानः**=देदीप्यमान, मर्यादित जीवनवाले व्यक्ति **महः**=तेज का **ईशते**=ईशन करते हैं।

वशिष्ठ तेजस्वी है, क्योंकि वह अपने पर काबू रखनेवाला है और उसका जीवन व्रती है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय तथा व्रती बनें जिससे तेजस्विता के ईश हों।

सूक्त-३

ऋषिः—**प्रगाथः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अद्रिवः! राधः कृणुष्व

१३५४. उ त्वा मन्दन्तु सोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः । अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥ १ ॥

संख्या १९४ पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**प्रगाथः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कृपणता को कुचलना

१३५५. पदा पणीनराधसो नि बाधस्व महाँ असि । न हि त्वा कश्चन प्रति ॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रागाथ' प्रभु का प्रकृष्ट गायन करनेवाला है। प्रभु अपने इस भक्त से कहते हैं कि **पणीन्**=कृपणों को, वणिक् वृत्तिवालों को, धर्म का वाणिज्य करनेवालों को **अ-राधसः**=वाणिज्य वृत्ति के कारण यज्ञ न करनेवालों को (not able to perform sacrifice) **पदा निबाधस्व**=पावों से पीड़ित कर, अर्थात् कृपणता व अयज्ञिय भावना को तू पाँवों तले कुचल डाल। ये वृत्तियाँ तुझे घृणित प्रतीत हों। **महान् असि**=तू तो उदार हृदय है, तेरे हृदय में स्वार्थपरता व लोभ के लिए स्थान नहीं है।

ऐसा करने पर **कश्चन**=कोई भी **त्वा प्रति नहि**=तेरा मुक़ाबला न कर सकेगा। तेरा जीवन अद्वितीय सौन्दर्य को लिये हुए होगा। वस्तुतः जीवन में मालिन्य को लानेवाला कार्पण्य ही है इसे हमें अवश्य जीतना ही चाहिए। इस वृत्ति से हमें घृणा होनी चाहिए, इसलिए मन्त्र में इसे पाँवों तले रौंद देने को कहा है। घृणा उत्पन्न करने के लिए इससे अधिक सुन्दर और क्या कहा जा सकता है कि उसे पाँवों तले कुचल दिया जाए।

भावार्थ—कृपणता को कुचल कर ही हम अपना कुशल कर सकते हैं।

ऋषिः—**प्रगाथः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुतों व असुतों का ईश

१३५६. त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् । त्वं राजा जनानाम् ॥ ३ ॥

प्रगाथ प्रभु को उत्तर देता है—हे **इन्द्र**=परमैश्वर्य के स्वामिन्! मुझे कंजूस क्यों होना? यह धन मेरा थोड़े ही है **त्वम्**=आप ही **सुतानाम्**=उत्पन्न किये गये धनों के **ईशिषे**=ईश हैं, स्वामी हैं। हे इन्द्र! **त्वम्**=आप ही **आसुतानाम्**=न उत्पन्न किये गये धनों के प्रभु हैं। जिन धनों को लोग 'रत्नाकरों' (समुद्रों) से अथवा वसुन्धरा के आकरों (mines) से निकाल लाये हैं, वे धन वस्तुतः आपके ही तो हैं। जिनको समुद्रों व आकरों से हम नहीं निकाल सके वे भी आपके हैं ही। निकाले हुए धन 'सुत' हैं, न निकाले हुए 'असुत' हैं। हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **जनानाम्**=सब प्राणियों के **राजा**=जीवनों को नियमित कर रहे हैं। मैं तो वस्तुतः कुछ हूँ ही नहीं, यह सब आपकी ही माया है, आपका ही खेल है, मुझे तो आपने निमित्तमात्र बनाया है, अतः इस कृपणता को आपने ही कुचलना है।

भावार्थ—कृपणता को कुचलने के लिए मैं इस तथ्य को स्मरण करूँ कि सब 'सुत' व 'असुत' धनों के स्वामी प्रभु ही हैं।

सूक्त-४

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वव्यापक सोम का 'सवन'

१३५७. आ जागृविर्विप्र ऋतं मतीनां सोमः पुनानो असदच्चमूषु।
सपन्ति यं मिथुनासो निकामा अध्वर्यवो रथिरासः सुहस्ताः ॥ १ ॥

१. **आजागृविः**=चारों ओर जागरणशील, अर्थात् सर्वत्र सावधान, सबका सदा ध्यान करनेवाले प्रभु हैं। उनसे कोई बात छिपी नहीं, कोई बात अज्ञात नहीं। २. **मतीनाम्**=मननशील पुरुषों के अन्दर **ऋत**=सत्य ज्ञान को **विप्रः**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। हृदयस्थ रूप से वे प्रभु सदा सत्य ज्ञान दे रहे हैं। ३. **पुनानः**=इस ज्ञान के द्वारा वे प्रभु उनके जीवनों को पवित्र बना रहे हैं पवित्रता के लिए एकमात्र साधन ज्ञान ही है। ज्ञान वह अग्नि है, जिसमें सब मलिनताएँ भस्म हो जाती हैं। ४. **सोमः**=यह अत्यन्त शान्त प्रभु **चमूषु**=द्युलोक व पृथिवीलोक में, अर्थात् तदन्तर्गत प्राणिमात्र में और पदार्थमात्र में **असदत्**=रह रहे हैं, विराजमान हैं। कोई भी स्थल प्रभु की व्याप्ति से शून्य नहीं।

ये प्रभु वे हैं—**यम्**=जिनको १. **मिथुनासः**=दम्पती—पति-पत्नी क्या पुरुष और क्या स्त्री सभी **सपन्ति**=पूजते (worship) हैं, २. **निकामाः**=विभिन्न कामनावाले पुरुष **यम्**=जिसके **सपन्ति**=सम्पर्क (contect) में आते हैं, भिन्न-भिन्न कामनाओं से पुरुष उस प्रभु को भजते हैं। प्रभु भी उसी प्रकार उसकी कामना को पूर्ण करते हैं, ३. **यम्**=जिस प्रभु को **अध्वर्यवः**=हिंसा से शून्य जीवनवाले **सपन्ति**=प्राप्त (obtain) करते हैं। पूर्ण अहिंसामय जीवन ही प्रभु-प्राप्ति का मुख्य साधन है, ४. **यम्**=जिस प्रभु को **रथिरासः**=उत्तम रथोंवाले **सपन्ति**=अन्त में छूते (touch) हैं। यह शरीररूप रथ प्रभु-प्राप्ति के लिए ही दिया गया है, इसे रथिर व्यक्ति ही यात्रा पूर्ण करके छूनेवाले होते हैं, ५. **यम्**=जिस प्रभु की **सुहस्ताः**=उत्तम हाथोंवाले—हाथों से उत्तम कर्म करनेवाले ही **सपन्ति**=(to obey, to perform) आज्ञाओं का पालन करते हुए तदाज्ञानुसार कर्म करते हैं। प्रभु ने यही तो आज्ञा दी थी कि '**कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ**'—कर्म के लिए तुझे ये हाथ दिये गये हैं, अतः कर्म करते हुए सुहस्त उसके आदेश का पालन कर ही रहा है।

इस प्रकार प्रभु के सम्पर्क में आनेवाले ये व्यक्ति 'पराशर' हैं—शत्रुओं को सुदूर शीर्ण करनेवाले

हैं तथा 'शाक्त्य'=शक्ति के पुतले होते हैं।

भावार्थ—हम उस सर्वव्यापक सोम का 'सवन' (पूजन) करनेवाले बनें।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का कारिन्दा

१३५८. स पुनान उप सूरे दधान ओभे अप्रा रोदसी वी ष आवः।
प्रिया चिद्यस्य प्रियसास ऊती सतो धनं कारिणे न प्र यंसत्॥ २॥

सः=वे प्रभु १. **पुनानः**=अपने भक्तों को पवित्र कर रहे हैं, २. वे प्रभु **सूरे**=ज्ञानी के **उप**=समीप होते हुए **दधानः**=उसका धारण व पोषण कर रहे हैं। प्रभु अपने भक्त को कभी भूखे नहीं मरने देते। उसके योगक्षेम को वे चलाते ही हैं। ३. **उभे रोदसी आ अप्राः**=वे प्रभु द्युलोक व पृथिवीलोक दोनों को पूरण किये हुए हैं, वे सर्वत्र व्याप्त हैं। ४. **सः**=वे प्रभु **सूरे**=ज्ञानियों में **वि-आवः**=अपने को प्रकट करते हैं, ज्ञानी लोग हृदय में उस प्रभु का दर्शन करते हैं। ५. **यस्य सतः**=जिस सत्यस्वरूप प्रभु को **प्रियसासः**=सबके साथ प्रेम से चलनेवाले लोक ही **ऊती**=(ऊतये) रक्षा के लिए **प्रियः**=प्रिय हैं। यदि मनुष्य अन्य मनुष्यों से प्रेम करता है तो वह प्रभु का भी प्रिय होता है। प्रभु उसकी अवश्य रक्षा करते हैं। ६. प्रभु इन लोगों को उसी प्रकार **धनम्**=धन **प्रयंसत्**=देते हैं **न**=जैसेकि संसार में कोई स्वामी **कारिणे**=अपने काम करनेवाले के लिए धन देता है। वस्तुतः सबके साथ स्नेह से चलनेवाला व्यक्ति प्रभु का प्रिय तो होता ही है, प्रभु उसे अपना कारिन्दा—काम करनेवाला समझते हैं और उसके लिए उचित धन प्राप्त कराते हैं।

प्रभु की सर्वव्यापकता की भावना पिछले मन्त्र में 'असदत् चमूषु' शब्दों से कही गयी थी। वही भावना प्रस्तुत मन्त्र में 'उभे रोदसी आ अप्राः' शब्दों से व्यक्त हुई है। जीव का सुन्दरतम जीवन वही है जिसमें वह अपने को प्रभु का 'कारी' समझता है। यह प्रभु का कारी कभी व्यसनों में नहीं फँसता—व्यसनों के लिए यह 'पराशर' होता है—परिणामतः 'शाक्त्य' तो है ही।

भावार्थ—मैं अपने को प्रभु का कारी समझूँ और सभी के साथ प्रेम से चलता हुआ प्रभु का प्रिय बनूँ।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-प्राप्ति का मार्ग

१३५९. स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावित्।
यत्र नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो अभि गा अद्रिमिष्णन्॥ ३॥

१. **सः**=प्रभु **वर्धनः**=सदा से वृद्ध हैं। (वर्धमानं स्वे दमे) **वर्धिताः**=अपने भक्तों के बढ़ानेवाले हैं। २. **पूयमानः**=अपने भक्तों को पवित्र करनेवाले हैं। ३. **मीढ्वान्**=हमपर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। ४. वे **सोमः**=शान्त प्रभु **नः**=हमें **ज्योतिषा**=ज्ञान की ज्योति से **अभिआवित्**=अन्दर व बाहर से रक्षित करें। वे प्रभु तेजस्विता की प्राप्ति के द्वारा बाह्य शत्रुओं से तथा ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा अन्तःशत्रुओं से सुरक्षित करते हैं।

५. **यत्र**=जिस स्थिति में पहुँचकर, अर्थात् अन्तः व बाह्य शत्रुओं से सुरक्षित होकर **नः**=हमारे

(क) **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले (पृ पूरणे), अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले, (ख) **पितरः**=रक्षण के कार्यों में लगे हुए (पा रक्षणे), (ग) **पदज्ञाः**=मार्ग को जाननेवाले, अर्थात् संसार में 'कौन-सा मृत्यु का मार्ग है और कौन-सा ब्रह्म-प्राप्ति का' इसको समझनेवाले, (घ) **स्वर्विदः**=प्रकाश को प्राप्त करनेवाले, (ङ) **अभिगाः**=वेदवाणी की ओर चलनेवाले **अद्रिम्**=इस अविदारणीय (न दृणन्ति यम्) तथा आदरणीय (आदरयितव्यः) प्रभु को **इष्णन्**=चाहते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलें। वह मार्ग यह है—१. हम अपना पूरण करें, २. रक्षण के कार्यों में लगें, ३. 'आर्जव=सरलता ब्रह्म-मार्ग हैं' इसे समझें, ४. प्रकाश प्राप्त करें, ५. वेदवाणी की ओर चलें, ६. उस अविदारणीय प्रभु की ही कामना करें।

सूक्त-५

ऋषिः—**प्रगाथो घौरः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु का ही शंसन

१३६०. मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥ १॥

२४२ संख्या पर इस मन्त्र का व्याख्यान द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**प्रगाथो घौरः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

किस प्रभु का शंसन

१३६१. अवक्रक्षिणं वृषभं यथा जुवं गां न चर्षणीसहम्।
विद्वेषणं संवननमुभयङ्करं मंहिष्ठमुभयाविनम्॥ २॥

गत मन्त्र से 'शंसत, स्तोत' क्रियाओं का अध्याहार हो रहा है। उस प्रभु का ही स्तवन व शंसन करो जो १. **अवक्रक्षिणम्**=कामादि शत्रुओं के अवकर्षक (dashing down, overcoming) हैं, उनको कुचल (crush) डालनेवाले हैं। २. **वृषभम्**=शक्तिशाली हैं तथा सुखों के वर्षक हैं। ३. **यथाजुवम्**=योग्य, उचित प्रेरणा देनेवाले हैं (**यथा**=योग्य)। ४. **गां न**=इस पृथिवी के समान सब **चर्षणीसहम्**=मनुष्यों का सहन करनेवाले हैं—सबपर कृपा (mercy) करनेवाले हैं। भूमि माता के समान क्षमाशील हैं। ५. **वि-द्वेषणम्**=राग-द्वेष से रहित हैं (वि=रहित) ६. **संवननम्**= सब प्राणियों के लिए उचित सम्पत्ति का संविभाग करनेवाले हैं (विभक्तारम्)। ७. **उभयंकरम्**= अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाले हैं। ८. **मंहिष्ठम्**=दातृतम हैं—अनन्त दान देनेवाले हैं तथा ९. **उभयाविनम्**=दोनों लोकों में रक्षा करनेवाले हैं।

नोट—*'उभयंकरम्' शब्द का अर्थ यह भी किया जा सकता है कि भविष्य में कर्मानुसार निग्रह व अनुग्रह दोनों के करनेवाले हैं। प्रभु 'शिव' हैं तो 'रुद्र' भी हैं ही। हाँ, यह तो ठीक है कि प्रभु का निग्रह भी जीव के हित के लिए ही है। उससे दी गयी तो मृत्यु भी अमृत का साधन ही है।*

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हुए स्वयं भी कामादि को कुचलनेवाले बनें।

सूक्त-६

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु-स्तवन व विजय

१३६२. उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते।

सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथाइव ॥ १ ॥

२५१ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कण्व, भृगु व सूर्य

१३६३. कण्वाइव भृगवः सूर्याइव विश्वमिद्धीतमाशत।

इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥ २ ॥

उस **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार में, पदार्थमात्र में प्रविष्ट **धीतम्**=(आध्यातम्) सभी से जिसका ध्यान किया गया है, क्योंकि पापात्मा भी कष्ट आने पर प्रभु के आर्तभक्त बनते हैं—सुख में न सही दुःख में तो उसका स्मरण करते ही हैं—अतः सबसे ध्यात उस प्रभु को **इत्**=सचमुच **आशात**=प्राप्त करते हैं। कौन? १. **कण्वाः इव**=जो पुरुष मेधावियों के समान बनते हैं। २. **भृगवः**=(भ्रस्ज् पाके) जो तपस्या के द्वारा अपना पूर्ण परिपाक करते हैं, तथा ३. **सूर्याः इव**=निरन्तर सरणशील सूर्य के समान जो सदा गतिशील रहते हैं—कभी अकर्मा नहीं बनते। एवं, प्रभु को वे प्राप्त करते हैं जिन्होंने मस्तिष्क, मन व शरीर की साधना ठीक प्रकार से की है। जिनके मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि दीप्त हो रही है, जिनका मानस तपःसंचय से पूर्ण पवित्र हो रहा है और जिनका शरीर सूर्य की भाँति निरन्तर कर्मशील बनकर श्रीसम्पन्न बना है (**पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्**)।

ये **आयवः**=गति को अपनानेवाले मनुष्य एक भी क्षण अकर्मण्यता को धारण न करनेवाले **प्रियमेधासः**=जिनको बुद्धि ही प्रिय लगती है, ये उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान् प्रभु को **स्तोमेभिः**=स्तुतिसमूहों से **महयन्तः**=पूजित करते हुए **अस्वरन्**=वेदमन्त्रों का सुन्दर स्वर में गायन करते हैं। प्रभु की वाणी का इस प्रकार प्रेम से उच्चारण करते हुए ये क्यों उस प्रभु को न प्राप्त करेंगे?

भावार्थ—हम 'कण्व, भृगु व सूर्य' बनकर उस सर्वव्यापक, सबसे ध्यातव्य प्रभु को प्राप्त करें। मस्तिष्क, हृदय व हाथ (Head, Heart and Hands) सभी का ठीक विकास करके हम उस पवित्र प्रभु को प्राप्त कर 'मेध्यातिथि' इस अन्वर्थक नामवाले हों!

सूक्त-७

ऋषिः—**त्र्यरुणस्त्रसदस्यू** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

द्वेष से दूर

१३६४. पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः।

द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥ १ ॥

४२८ संख्या पर इस मन्त्र का व्याख्यान द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**त्र्यरुणस्त्रसदस्यू** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शीघ्रता से चलता हुआ

१३६५. अजीजनो हि पवमान सूर्यं विधारे शक्मना पयः।
गोजीरया रंहमाणः पुरन्ध्या ॥ २ ॥

हे सोम! **पवमान**=सोमरक्षा के द्वारा अपने जीवन को पवित्र बनानेवाले तूने १. **हि**=निश्चय से **सूर्यम्**=अपने जीवन में ज्ञान के सूर्य को **अजीजनः**=प्रकट किया है, अर्थात् सोम को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाकर तूने ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त किया है। तेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य ही उदय हो गया है।

२. ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर तू **शक्मना**=शक्ति से **पयः**=लोकों का अप्यायन—वर्धन करनेवाला और **विधारे**=विशेषरूप से धारण करनेवाला हुआ है। ज्ञान प्राप्त करके इसने अपनी सारी शक्ति का विनियोग लोकहित में किया है—लोकों के धारण के लिए यह पूर्ण प्रयत्नशील हुआ है—लोकों के वर्धन में ही इसने आनन्द का अनुभव किया है।

३. यह अपने जीवन-मार्ग पर **गो-जीरया**=वेदवाणियों की जीवन देनेवाली—उनको जागरित करनेवाली **पुरन्ध्या**=(बहुधिया) विशालबुद्धि से **रंहमाणः**=तीव्रता से गतिवाला हुआ है।

एवं, ज्ञानपूर्वक लोकहित के कार्यों में लगे हुए इस त्र्यरुण ने सचमुच अपने जीवन में शरीर, मन व बुद्धि के बलों को प्राप्त करके अपने 'त्र्यरुण' नाम को चरितार्थ किया है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को ज्ञान द्वारा पवित्र व उज्ज्वल बनाएँ और लोकहित के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ते चलें।

ऋषिः—**त्र्यरुणस्त्रसदस्यू** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सोमरक्षण व उल्लास

१३६६. अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि महे समर्यराज्ये।
वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे ॥ ३ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ ४३२ संख्या पर द्रष्टव्य है।

सूक्त-८

ऋषिः—**अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**द्विपदाविराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

इन्द्र, मित्र, पूषा, भग

१३६७. परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे भगाय ॥ १ ॥

४२७ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**द्विपदाविराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अमृतत्व तथा मोक्ष

१३६८. एवामृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष दिव्यः पीयूषः ॥ २ ॥

हे सोम! **सः**=वह तू १. **शुक्रः**=(शुच दीप्तौ, शुक् गतौ) दीप्त है—अपनी रक्षा करनेवाले को दीप्ति प्राप्त करानेवाला है। तू शरीर के अन्दर सारी क्रियाशक्ति व गति का हेतु है। २. **दिव्यः**=तू सब दिव्य गुणों को जन्म देनेवाला है। मानव-जीवन को ज्योतिर्मय बनानेवाला है (दिव् चमकना)। ३. **पीयूषः**=तू अमृत है—जीवन का कारण है, मृत्यु के कारणभूत रोगों को नष्ट करनेवाला है '**जीवनं बिन्दुधारणात्**' अतएव तू पान करने योग्य है (पीय्+ऊष)।

एव=तू सचमुच इस प्रकार का है। तू **अमृताय**=अमृतत्व की प्राप्ति के लिए तथा **महे क्षयाय**=महान् निवास के लिए **अर्ष**=गतिवाला हो। सोम से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। यह रोगकृमियों का संहार करके मनुष्य को मृत्यु से बचाता है। यह शरीर को शान्त बनाकर मनुष्य को उसका 'महान् निवास-स्थान' प्राप्त कराता है। यह महान् निवास-स्थान ही प्रभु हैं। 'प्रभु में निवास' ही मोक्ष कहलाता है। इस प्रकार ये सोम का पान करनेवाले 'अग्नयः'=अपने जीवन में उन्नतिशील होते हैं, 'धिष्ण्याः' उच्च स्थान की प्राप्ति के अधिकारी (worthy of a high place) बनते हैं और 'ऐश्वराः'= ये ईश्वर के होते हैं। इनका मानस झुकाव प्रकृति की ओर न होकर प्रभु की ओर होता है।

भावार्थ—हम इस बात को समझें कि सोम 'शुक्र है, दिव्य है, पीयूष है', अतएव यह अमृतत्व के लिए तथा महान् निवास की प्राप्ति के लिए होता है।

ऋषिः—**अग्रयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**द्विपदाविराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञान तथा बल

१३६९. इन्द्रस्ते सोम सुतस्य पेयात् क्रत्वे दक्षाय विश्वे च देवाः ॥ ३ ॥

यहाँ 'सोम' का पुरुष-विधत्व (personification) करके प्रभु कहते हैं। हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **सुतस्य ते**=शरीर में उत्पन्न हुए-हुए तेरा **इन्द्रः**=जीवात्मा **पेयात्**=पान करे। यह सोम मुख्यरूप से शरीर के स्वास्थ्य, मानस पवित्रता तथा बुद्धि की तीव्रता के लिए दिया जाता है। इसका विलास में तो अपव्यय ही होता है। इसका नाश न होने देकर इसे शरीर में खपाना ही उचित है। वस्तुतः इसके पान से ही इन्द्र 'इन्द्र' बनता है, अन्यथा वह इन्द्रियों का दास बन जाता है।

इस सोम को **विश्वे च देवाः**=सब देव—'इन्द्रियाँ', मन व बुद्धि भी पीएँ, अपने अन्दर धारण करें, जिससे **क्रत्वे**=क्रतवे=ज्ञान के लिए, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ अक्षीणशक्ति रहकर ज्ञान को दिन दूना रात चौगुणा बढ़ानेवाली हों तथा **दक्षाय**=सामर्थ्य के लिए, अर्थात् कर्मेन्द्रियाँ कर्मों में लगी रहकर अङ्गों की शक्ति को बढ़ानेवाली हों। एवं, सोम ज्ञान व शक्ति को बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—सोमरक्षा से हम 'ज्ञान व बल' की वृद्धि करनेवाले हों।

सूक्त-९

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पवित्र तथा विनीत

१३७०. सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुतः साकमीरते।
तन्तुं ततं परि सर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम किं चन ॥ १ ॥

गत मन्त्र के अनुसार सोम रक्षा से 'ज्ञान व बल' के बढ़ानेवाले लोग 'हिरण्यस्तूप'=वीर्य की ऊर्ध्वगतिवाले (हिरण्य=वीर्य, स्तूप् to raise) 'आङ्गिरस'=शक्तिशाली लोग १. **सूर्यस्य रश्ममयः इव**=सूर्य की किरणों के समान होते हैं—किरणों की भाँति तेजस्वी (बलवान्) व प्रकाशमान् (ज्ञानी)

होते हैं। २. **द्रावयित्नवः**=सूर्य-किरणें जैसे अँधेरे को दूर भगा देती हैं, उसी प्रकार ये भी प्रजाओं के अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले (Driving away) होते हैं। ३. **मत्सरासः**=स्वयं सदा प्रसन्न तथा अन्य लोगों में हर्ष का संचार करनेवाले होते हैं। ४. **प्रसुतः**=ये प्रकर्षेण निर्माण के कार्यों में लगनेवाले होते हैं। ५. **साकम् ईरते**=ये प्रजाओं के साथ ही विचरते हैं, एकान्त में समाधि का आनन्द लेनेवाले ही नहीं बने रहते। ६. **ततं तन्तुम्**=वह विस्तृत एक-एक पिण्ड के अन्दर विद्यमान सूत्र ही **परि**=(परि=भाग) इनका भाग होता है। '**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**'=उस प्रभु में ही यह सारा ब्रह्माण्ड ओत-प्रोत है। वे प्रभु 'सूत्रं सूत्रस्य' सूत्र के भी सूत्र हैं। वह प्रभु ही इन हिरण्यस्तूपों का सेवनीय होता है। इसके परिणामस्वरूप ७. **सर्गासः**=ये उत्साह व दृढ़ निश्चयवाले (resolve) होते हैं, वासनाओं पर प्रबल आक्रमण (onset) करनेवाले होते हैं तथा ८. **आशवः**= शीघ्रता से कार्यों में व्यापृत होनेवाले होते हैं। ९. ये इस तत्त्व को समझते हैं कि **इन्द्रात् ऋते**=उस प्रभु के बना **किंचन धाम**=कोई भी स्थान **न पवते**=पवित्र नहीं होता, इसलिए ये हिरण्यस्तूप अपने जीवन को पवित्र (पवमान) व विनीत (सोम) बनाने के लिए सदा सूत्ररूप से अपने अन्दर वर्त्तमान उस प्रभु का सेवन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के स्मरण से हमारे जीवन 'पवित्र व विनीत' बनें।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मति, माधुर्य, मन्द्रवाणी

१३७१. उपो मतिः पृच्यते सिच्यते मधु मन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि।
पवमानः सन्तनिः सुन्वतामिव मधुमान् द्रप्सः परि वारमर्षति ॥ २ ॥

इस 'हिरण्यस्तूप' के जीवन में क्या होता है? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में है—१. **उ**=निश्चय से **मतिः**=बुद्धि **उपपृच्यते**=ठिकाने रहती है। इनकी बुद्धि कभी भेड़ें चराने नहीं (never goes a wool gathering) चली जाती। बुद्धि सदा ठीक-ठाक रहती है—विकृत नहीं होती। २. **मधु सिच्यते**=इनके जीवन में माधुर्य का सञ्चार होता है '**मधुमन्मे निक्रमणं, मधुमन्मे परायणम्**'=इनका आना-जाना सारा जीवन ही माधुर्यमय हो जाता है ३. **आसनि अन्तः**=मुख के अन्दर **मन्द्राजनी**=(मन्द्र=हर्ष, अज्=परिक्षेप) चारों ओर आनन्द व सुख का परिक्षेप करनेवाली वाणी **चोदते**=प्रेरित होती है। ४. **पवमानः**=यह हिरण्यस्तूप अपने जीवन को निरन्तर पवित्र करनेवाला होता है। ५. **सुन्वतां सन्तनिः इव**=यह यज्ञशीलों की सन्तान के समान होता है, अर्थात् अत्यन्त यज्ञशील होता है। ६. **मधुमान्**=इन यज्ञ के कार्यों को अत्यन्त माधुर्य से करनेवाला होता है। ७. **द्रप्सः**=(दृप हर्षमोहनयोः) अपने माधुर्यमय प्रचार के कारण यह सज्जन—धार्मिकों को हर्षित करनेवाला होता है, साथ ही दुर्जन—अधार्मिकों को भी विमोहित करनेवाला होता है, वे भी इसके उपदेश से मोहित व वशीभूत हो जाते हैं। ८. इस प्रकार यह 'हिरण्यस्तूप' **परिवारम्**=(वधैसुव कुटुम्बकम्) इस पृथिवीरूप विस्तृत परिवार की ओर **अर्षति**=गतिवाला होता है।

भावार्थ—हमारा जीवन भी मति, माधुर्य, व मन्द्रवाणी को लिये हुए हो।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु बोलते हैं, हिरण्यस्तूप सुनता है

१३७२. उक्षा मिमेति प्रति यन्ति धेनवो देवस्य देवीरुप यन्ति निष्कृतम्।
अत्यक्रमीदर्जुनं वारमव्ययमत्कं न निक्तं परि सोमो अव्यत ॥ ३ ॥

१. **उक्षा**=वह महान् प्रभु (उक्षेति महन्नाम—नि० ३.३ उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः) **मिमेति**=शब्द करता है—सृष्टि के प्रारम्भ में ही वह वेदों का ज्ञान देता है। २. **धेनवः**=ये वेदवाणियाँ 'अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा' आदि ऋषियों की **प्रतियन्ति**=ओर जाती हैं। प्रभु उच्चारण करते हैं और ये अग्नि आदि जो 'हिरण्यस्तूप' हैं—ऊर्ध्वरेतस् हैं, वे इन वाणियों को सुनते हैं। ३. इस प्रकार **देवस्य**=दिव्य गुणोंवाले उस प्रभु की **देवीः**=ये दिव्य वेदवाणियाँ **निष्कृतम्**=अग्नि आदि के पवित्र हृदय को **उपयन्ति**=सम्यक् प्राप्त होती हैं। मलिन हृदय में इनका प्रकाश कैसे हो सकता है? ४. इन दिव्य वाणियों को प्राप्त करके यह 'हिरण्यस्तूप' **अर्जुनम्**=सोने-चाँदी (Silver-gold) के **अव्ययम्**=सनातन—कभी क्षीण न होनेवाले **वारम्**=आक्रमण को अथवा आवरण को **अत्यक्रमीत्**=लाँघ जाता है। ज्ञान प्राप्त होने पर ये धन के लोभ से ऊपर उठ जाता है। ५. **सोमः**=यह सौम्य स्वभाववाला विद्वान् **अत्कम्**=(अत सातत्यगमने) निरन्तर गतिशील होने के **न**=समान **निक्तम्**=शुद्धस्वरूप प्रभु को **परि अव्यत**=अपने में दोहने—पूरण करने का प्रयत्न करता है।

नोट—१. **प्रतियन्ति**=प्रभु-वाणियाँ आती तो प्रत्येक की ओर हैं, परन्तु हमें फुरसत हो तब तो सुनें, हमें तो जीवन की उलझनें ही उलझाए रखती हैं। सरलता से चलेंगे तो अवश्य सुनेंगे। २. **निष्कृतम्**=हमारा हृदय परिमार्जित होगा तो हमें भी वे वाणियाँ अवश्य प्राप्त होंगी। ३. प्रभु पवित्र हैं, क्योंकि क्रियाशील हैं, मैं भी क्रियाशीलता के अनुपात में ही पवित्र बन पाऊँगा। ४. यह धन का आवरण—हिरण्मयपात्र का आवरण तो अव्यय है, अपने आप नष्ट होनेवाला नहीं। इसे तो प्रयत्न करके ही दूर फेंकना पड़ेगा। 'निष्कृतम्' का अर्थ (atonement) भी है, अतः जो भी परमेश्वर के साथ ऐक्य (at-one-ment) में होता है उसी को ये वाणियाँ प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—प्रभु बोलें—हम सुनें।

सूक्त-१०

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु-दर्शन

१३७३. अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम्।
दूरेदृशं गृहपतिमथव्युम्॥ १॥

७२ संख्या पर यह मन्त्र व्याख्यात है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वे प्रभु 'सुप्रतिचक्ष' हैं

१३७४. तमग्निमस्ते वसवो न्यृण्वन्त्सुप्रतिचक्षमवसे कुतश्चित्।
दक्षाय्यो यो दम आस नित्यः॥ २॥

१. **वसवः**=(परमात्मनि वसन्तीति वसवः) परमात्मा में निवास करनेवाले अथवा जीवन में उत्तम प्रकार से निवासवाले, और वसुओं में भी उत्तम वसु 'वसिष्ठ' नामक लोग **तम्**=उस **अग्निम्**=सदा अग्रगति के साधक प्रभु को **अस्ते**=इस शरीररूप गृह में **न्यृण्वन्**=निश्चय से प्राप्त होते हैं। 'अस्त' शब्द गृहवाचक है—यहाँ 'शरीररूप घर' अभिप्रेत है। 'अस्त' शब्द 'असु क्षेपणे' से भाव में 'क्त' प्रत्यय करके भी बनता है—और निमित्त सप्तमी मानने से अर्थ यह होता है कि

वासनाओं के दूर फेंकने के निमित्त वसिष्ठ प्रभु की ओर जाता है। वासनाओं को प्रभु-स्मरण से ही तो हम जीतेंगे। २. वे प्रभु **सुप्रतिचक्षम्**=बहुत ही उत्तमता से प्रत्येक व्यक्ति की देखभाल करनेवाले हैं (चक्ष्—to look after)। वे प्रभु किसका ध्यान नहीं करते ? हाँ, जीव की उन्नति के लिए उसे स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने देना भी आवश्यक है—वहाँ जीव कभी लड़खड़ा जाता है और चोट खा जाता है। ३. वे प्रभु **कुतश्चित्**=किसी भी भयानक-से-भयानक शत्रु से भी **अवसे**=हमारी रक्षा के लिए होते हैं। प्रभु नाम-स्मरण से ही काम भागता है। ४. शत्रुओं को भगाकर **दक्षाय्यः**=ये प्रभु हमारी उन्नति (growth) के लिए होते हैं—हमारी शक्तिवृद्धि के कारण बनते हैं। ५. कौन से प्रभु ? **यः**=जो कि **दमे**=दान्त पुरुष में **नित्यः आस**=सदा निवास करते हैं। हम भी दान्त बनकर प्रभु के निवास बन पाएँगे। उस दिन सचमुच उस प्रभु को हम अपने शरीररूप घर में पानेवाले होंगे।

भावार्थ—हमें प्रभु का दर्शन इसी शरीर में होगा, परन्तु होगा तभी जब हम दान्त बनेंगे। आत्मसंयम का धनी ही प्रभु-दर्शन पाता है।

ऋषिः—**वशिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

निरन्तर ज्ञान की दीप्ति के साथ

१३७५. प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ।
त्वां शश्वन्त उप यन्ति वाजाः ॥ ३ ॥

हे **अग्ने**=हम सबकी अग्रगति के साधक प्रभो ! **यविष्ठ**=हे युवतम ! पुण्य से सम्पृक्त तथा पाप से विपृक्त करनेवाले प्रभो ! आप **प्रेद्धः**=आत्मसंयम द्वारा शरीरवेदि पर समिद्ध किये जाकर **अजस्रया सूर्म्या**=निरन्तर—सतत प्रबुद्ध—ज्ञान दीप्तियों (radiance, lustre) के साथ **नःपुरः**=हमारे सामने **दीदिहि**=दीप्त होओ, अर्थात् आपकी कृपा से हम निरन्तर ज्ञान की दीप्ति को देखनेवाले बनें। हे प्रभो ! **त्वाम्**=आपको **शश्वन्तः**=प्लुतगतिवाले, अर्थात् क्रिया में आलस्यशून्य (शश प्लुतगतौ) **वाजाः**=यज्ञशील (A sacrifice) लोग **उपयन्ति**=समीपता से प्राप्त होते हैं, प्रभु की प्राप्ति के लिए 'निरालस्य उद्योग' तथा 'यज्ञशीलता' दोनों ही आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम आलस्य को छोड़ें तथा यज्ञशील बनें।

सूक्त-११

ऋषिः—**सार्पराज्ञी** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

त्रिंशद्धाम विराजति

१३७६. आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥

१३७७. अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ २ ॥

१३७८. त्रिंशद्धाम वि राजति वाक्पतङ्गाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥ ३ ॥

इन मन्त्रों की व्याख्या क्रमशः ६३०, ६३१ तथा ६३२ पर द्रष्टव्य है।

इत्यैकादशोऽध्यायः, षष्ठप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

अथ द्वादशोऽध्याय:

षष्ठप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्ध:

सूक्त-१

ऋषि:—**गोतमो राहूगण:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द:—**गायत्री** ॥ स्वर:—**षड्ज:** ॥

किसकी प्रार्थना सुनी जाती है?

१३७९. उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरे अस्मे च शृण्वते॥ १॥

राहूगण—त्यागियों में गिनने योग्य, अर्थात् उत्तम त्यागी पुरुष अपने मित्रों को प्रेरणा देता हुआ कहता है कि १. **अध्वरम्**=हिंसाशून्य यज्ञों के **उपप्रयन्त:**=समीप प्रकर्षेण प्राप्त होते हुए हम २. **अग्नये**=हमें आगे और आगे ले-चलकर मोक्षस्थान में प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिए **मन्त्रं वोचेम**= स्तुतिवचनों का उच्चारण करें। उस प्रभु के लिए जोकि **आरे**=दूर **च**=तथा **अस्मे**=हमारे समीपवालों की पुकारों को **शृण्वते**=सुनते हैं।

हमें प्रभु की स्तुति तो करनी ही चाहिए, परन्तु इस स्तुति की एक आवश्यक शर्त है कि हम पुरुषार्थ करने के उपरान्त ही प्रार्थना करें। बिना पुरुषार्थ के सब स्तवन भाटों के स्तवन के समान है। उसकी उपयोगिता सन्दिग्ध है। हमारा पुरुषार्थ भी यज्ञात्मक हो। हमारे कर्म विध्वंसक कर्म न होकर निर्माणात्मक हों। निर्माणात्मक कर्मों को करते हुए हम प्रभु-स्तवन करेंगे तो वे प्रभु हमारी पुकार अवश्य सुनेगें। वे प्रभु समीप व दूर सबकी बातों को सुनते हैं। 'हम पात्र बनेंगे तो प्रभु न सुनेंगे' यह नहीं हो सकता। वे प्रभु तो सर्वत्र व्याप्त हैं—उनके लिए समीप व दूर कुछ नहीं है। हम अध्वर को अपने साथ संयुक्त करके 'अध्वर्यु' बनें, प्रभु अवश्य सुनेंगे। इस प्रकार अध्वर्यु बनकर उत्तम इन्द्रियोंवाले हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'गोतम' भी तो होंगे।

भावार्थ—हम यज्ञमय जीवनवाले, त्याग की वृत्तिवाले 'राहूगण' बनें, जिससे हम इस योग्य हों कि प्रभु हमारी प्रार्थना सुनें।

ऋषि:—**गोतमो राहूगण:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द:—**गायत्री** ॥ स्वर:—**षड्ज:** ॥

'गय' की प्राप्ति

१३८०. य: स्त्रीहितीषु पूर्व्य: संजग्मानासु कृष्टिषु। अरक्षद्दाशुषे गयम्॥ २॥

य:=वे प्रभु **स्त्रीहीतीषु**=(स्नेहकारिणीषु—द०) परस्पर स्नेह करनेवाली **संजग्मानासु**=सदा मिलकर चलनेवाली **कृष्टिषु**=कृषि आदि उत्पादक श्रम करनेवाली प्रजाओं में **पूर्व्य:**=पूरणता को उत्पन्न करनेवालों में उत्तम हैं। प्रभु हमारे जीवनों को पूर्ण बनाते हैं; बशर्ते कि—१. हम परस्पर स्नेहवाले हों, २. मिलकर चलें, ३. कुछ-न-कुछ निर्माण का कार्य अवश्य करें। जिस घर में लोग परस्पर प्रेम से चलते हैं, एक विचार के होकर मिलकर चलते हैं, जहाँ सब पौरुषवाले होकर आलस्य से दूर रहते हैं उस घर पर सदा प्रभु की कृपादृष्टि बनी रहती है।

दाशुषे—दानशील और अन्ततोगत्वा प्रभु के प्रति आत्म-समर्पण करनेवाले व्यक्ति के लिए प्रभु **गयम्**=उत्तम सन्तान को (नि० २.१), उत्तम धनों को (नि० ८.१०), उत्तम गृह को (नि०

३.४) तथा उत्तम प्राणशक्ति को (प्राणा वै गयाः—श० १४.८.१५.७) **अरक्षत्**—प्राप्त कराते हैं। एक दानशील, प्रभु के प्रति समर्पक का जीवन अत्यन्त सुखी, शान्त, समृद्ध व स्वस्थ होता है। 'जो देता है—प्रभु उसे देते हैं' इस तत्त्व को राहूगण कभी भूलता नहीं।

भावार्थ—हममें स्नेह, सङ्गति, पुरुषार्थ व दानशीलता हो तो प्रभुकृपा से हमारा जीवन बड़ा फूलता-फलता होगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'अमात्यं वेदः'=शाश्वत धन

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
१३८१. स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु शन्तमः। उतास्मान् पात्वंहसः ॥ ३ ॥

सः=वे प्रभु जो **अग्निः**=आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं तथा **शन्तमः**=हमें अधिक-से-अधिक शान्ति प्राप्त करानेवाले हैं **नः**=हमारे **अमात्यम्**=सदा साथ रहनेवाले (अमा सह वसतीति) **वेदः**=धन को **रक्षतु**=रक्षित करें। प्राकृतिक धन सदा मनुष्य के साथ नहीं रहता—यह तो आता-जाता रहता है और मृत्यु के समय यहीं रह जाता है, परन्तु ज्ञानरूप धन सदा हमारे साथ रहता है, यह मरण के समय भी हमारा साथ न छोड़कर हमारे साथ ही जाएगा, अतः यह ज्ञानरूप धन 'अमात्यं वेदः' कहा गया है। प्रभु हमारे इस ज्ञान-धन की रक्षा करें, क्योंकि इस धन के होने पर अन्य धन तो प्राप्त हो ही जाएँगे और इसके अभाव में होते हुए धन भी नष्ट हो जाएँगे। इसके अतिरिक्त ज्ञान न होने पर मनुष्य अपवित्र मार्गों से भी धन कमाने लगता है। ज्ञानाग्नि हमारे जीवन को पवित्र बनाये रखती है। मन्त्र में भी इसीलिए प्रार्थना करते हैं कि प्रभु हमारे ज्ञान की रक्षा करें **उत**=और **अस्मान्**=हमें **अंहसः**=पाप से **पातु**=बचाएँ। ज्ञान होने पर हम सुपथ से ही धनार्जन करेंगे। सुपथ से धनार्जन करने पर हमारे जीवनों में शान्ति होगी और हम उन्नति के मार्ग पर बढ़ रहे होंगे। शान्त, उन्नत जीवनवाले हम 'वसिष्ठ'=सर्वोत्तम निवासवाले होंगे। यह वसिष्ठ ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह ज्ञानाग्नि की दीप्ति व पापनिवारण के लिए प्राणापान की साधना करने से 'मैत्रावरुणि' है।

भावार्थ—प्रभु सदा हमारे साथ रहनेवाले ज्ञान-धन की रक्षा करें और हमें पापों से बचाएँ।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मन्त्रोच्चारण, ज्ञान, वासनाविजय

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३र
१३८२. उत ब्रुवन्तु जन्तव उदग्निर्वृत्रहाजनि। धनञ्जयो रणेरणे ॥ ४ ॥

उत=प्रभु कहते हैं कि मेरी कामना (would that) है कि **जन्तवः**=जन्म लेनेवाले व्यक्ति **ब्रुवन्तु**=(ब्रू=व्यक्तायां वाचि) वेदमन्त्रों का स्पष्ट उच्चारण करें। ज्ञानप्राप्ति का क्रम ही यह था कि शैशव में गुरु से उच्चरित मन्त्रों का शिष्य उच्चारण करते थे। ज्ञानप्राप्ति का यही तो मुख्य द्वार था। इस उच्चारण प्रक्रिया का परिणाम यह होगा कि **अग्निः**=ज्ञानाग्नि **उदजनि**=उत्कृष्टरूप से प्रज्वलित होकर **वृत्रहा**=ज्ञान के आवरक काम का ध्वंस कर डालेगी।

यह वसिष्ठ—जिसके जीवन में इस ज्ञानाग्नि का प्रकाश फैलता है—**रणे-रणे**=वासनाओं से चलनेवाले प्रत्येक रण में **धनं जयः**=धन का विजेता होता है। प्रत्येक युद्ध में विजय प्राप्त करके यह अपने ज्ञानधन को और अधिक बढ़ानेवाला होता है।

भावार्थ—हम शैशव से ही मन्त्रोच्चारण करें, जिससे हमारी ज्ञानाग्नि बढ़े और हम वासनाओं

के साथ होनेवाले संग्राम में धनों के विजेता हों।

सूक्त-२

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'साधु, आशु, अरंवोढा' अश्व

१३८३. अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः। अरं वहन्त्याशवः॥ १॥

मन्त्र संख्या २५ पर इसका अर्थ इस प्रकार है—हे **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक! **देव**=दिव्य गुणोंवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **ये**=जो **तव**=तेरे **अश्वासः**=घोड़े **साधवः**=यात्रा को सिद्ध करनेवाले, **आशवः**=शीघ्रगामी तथा **अरं वहन्ति**=अनथकरूप से वहन करनेवाले हैं, उनको हमारे शरीररूप रथ में **युङ्क्ष्व**=जोड़िए।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियरूप अश्व 'साधु, आशु, तथा अरंवोढ़ा' हों, जिससे हमारी जीवन-यात्रा पूर्ण हो।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उपासना, सतत उद्योग, सत्सङ्ग

१३८४. अच्छा नो याह्या वहाभि प्रयांसि वीतये। आ देवान्त्सोमपीतये॥ २॥

'भरद्वाज बार्हस्पत्य'—अपने में शक्ति भरनेवाला—ज्ञान का पुञ्ज बनने के लक्ष्यवाला प्रभु से प्रार्थना करता है—हे प्रभो! १. **नः अच्छ आयाहि**=आप हमारी ओर आइए—अर्थात् हम आपको प्राप्त करनेवाले बनें—आपके उपासक हों। २. आप **प्रयांसि अभि आवह**=उत्तम भोजन व उद्योगों को (food; effort) हमें प्राप्त कराइए, अर्थात् हम सात्त्विक भोजनों का प्रयोग करते हुए (प्रयस्वन्तः=बहु प्रयत्नशील—ऋ० ३.५२.६ द०) सदा पुरुषार्थ करनेवाले हों। उन्नति के लिए सदा उद्योग करते रहें। तामस् भोजन हममें निष्क्रियता पैदा न कर दें तथा राजस् भोजन हमें रुग्ण करके पुरुषार्थ के अयोग्य न कर दें। ३. **आ**=सर्वथा **देवान्**=दिव्य गुणयुक्त ज्ञानी पुरुषों को **आवह**=हमें प्राप्त कराइए, जिससे उनके सङ्ग में हम **वीतये**=अपने जीवनों को पवित्र करने व प्रकाशमय (lustre; purifying) बनाने में समर्थ हों तथा इसी उद्देश्य से **सोमपीतये**=सोम का शरीर में ही पान करनेवाले बनें, संयमी जीवनवाले हों।

भावार्थ—हम १. प्रभु के उपासक बनें, २. सात्त्विक भोजनों का प्रयोग करते हुए उन्नति के लिए प्रयत्नशील हों, ३. विद्वान् सज्जनों के सङ्ग में हम अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ, प्रकाशमय करें और सदा सोम का पान करनेवाले हों। सोम की रक्षा ही जीवन की सब उन्नतियों का मूल है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शोच, विभाहि (पवित्रता व ज्योति)

१३८५. उदग्ने भारत द्युमदजस्रेण दविद्युतत्। शोचा वि भाह्यजर॥ ३॥

अग्ने=हे उन्नत करके मोक्षस्थान को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **भारत**=नित्य अभियुक्तों के योगक्षेम का भरण करनेवाले प्रभो! अथवा संसारमात्र के पोषक प्रभो! **द्युमत्**=ज्योतिर्मय प्रभो! **अजस्रेण दविद्युतत्**=निरन्तर प्रकाश फैलानेवाले प्रभो! **अजर**=कभी भी जीर्ण न होवाले प्रभो! आप हमें भी

इस संसार के प्रलोभनों से **उत्**=ऊपर उठाकर, बाहर (out) निकालकर **शोच**=पवित्र बनाइए और **विभाहि**=हमारे जीवनों को ज्योतिर्मय कर दीजिए।

हे प्रभो! आपका उपासक बनता हुआ मैं भी अग्नि=आगे बढ़नेवाला बनूँ, भारत—भरण करनेवाला नकि नाश करनेवाला होऊँ, द्युमत्—अपने जीवन को ज्योतिर्मय बनाने का उद्योग करूँ अजस्रेण दविद्युतत्—निरन्तर ज्योति का प्रसार करनेवाला होऊँ। आपकी उपासना मुझे संसार के प्रलोभनों में फँसने से बचाए तथा मेरा जीवन आपकी ज्योति से ज्योतिर्मय हो उठे।

भावार्थ—हे प्रभो मुझे पवित्र कीजिए—मेरे जीवन को ज्योतिर्मय कर दीजिए।

सूक्त-३

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

लोभरूप महान् विघ्न

१३८६. प्र सुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः।
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥ १ ॥

५५३ संख्या पर मन्त्रार्थ इस प्रकार है—मन्त्र का ऋषि अपने मित्रों से कहता है कि **भृगवः**=अपना परिपाक करनेवाले तपस्वियो! **अराधसम्**=सिद्धि न होने देनेवाली **श्वानम्**=लोभवृत्ति को **उ**=निश्चय से **अपहत**=दूर विनष्ट करो **न मखम्**=यज्ञिय भावना को नहीं। **मर्ताः**=हे मनुष्यो! **अन्धसः**=आध्यातव्य परमात्मा के **प्रसुन्वानाय**=अपने अन्दर खूब विकास करनेवाले के लिए **तत् वचः**=वेदों के अर्थवादरूप वे वचन **न वष्ट**=रुचिकर (काम्य) नहीं होते।

भावार्थ—काम्य कर्मों का न्यास करके हम नैष्कर्म्यसिद्धि द्वारा प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कितना परिवर्तन ?

१३८७. आ जामिरत्के अव्यत भुजे न पुत्र ओण्योः।
सरज्जारो न योषणां वरो न योनिमासदम् ॥ २ ॥

मनुष्य इस संसार में न जाने कहाँ-कहाँ भटकता है। इधर-उधर भटकने से ही उसका नाम 'जामि' हुआ है (जमतेर्गतिकर्मणः)। यह भटकता हुआ जीव प्रभु-चरणों में ही रक्षण पाता है। मन्त्र में कहते हैं कि **आजामिः**=नाना विषयों में चारों ओर भटकनेवाला यह जीव **अत्के**=उस सतत गतिशील—स्वाभाविकी क्रियावाले प्रभु के चरणों में उपस्थित होकर ही **अव्यत**=रक्षित होता है, **न**=उसी प्रकार जैसेकि **पुत्रः**=पुत्र **ओण्योः**=द्यावापृथिवी (द्यौष्पिता, पृथिवी माता) के तुल्य माता-पिता की **भुजे**=भुजाओं में।

'इस रक्षा के पाने पर जीव के जीवन में क्या अन्तर आ जाता है, इसका उत्तर बहुत काव्यमय भाषा में देते हैं कि आज तक जो **जारः न**=अपनी शक्तियों को जीर्ण करनेवाला—वासना का शिकार-सा बना हुआ **योषणां सरत्**=पर-दाराओं के प्रति जा रहा था, भोगविलास में ग्रसित था, वह भोगासक्त पुरुष सब भोगों को तिलाञ्जलि देकर **वरः न**=एक वर पुरुष की भाँति **योनिम् आसदत्**=अपने घर पर स्थित हुआ है। अब वह पर-दाराभिमर्षण से परे हो गया है। अब वह वासनाओं से दूर होकर

उत्तम चरित्रवाला बनकर घर पर ही सदाचारपूर्वक निवास करता है, इधर-उधर भटकता नहीं। अब यह वस्तुतः उत्तम सन्तानों का पिता—रक्षक बनकर प्रजापति नामवाला हुआ है—सबके प्रति प्रेम से चलता हुआ 'वैश्वामित्र' है और प्रशंसनीय जीवनवाला होने से 'वाच्य' है।

भावार्थ—विषयों में भटकनेवाला प्रभु-चरणों में शरण पाकर सुरक्षित हो जाता है, जार वर बन जाता है। घर से बाहर इधर-उधर भटकनेवाला घर पर शान्त होकर रहनेवाला हो जाता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'वाच्य' का जीवन

१३८८. स वीरो दक्षसाधनो वि यस्तस्तम्भ रोदसी।
हरिः पवित्रे अव्यत वेधा न योनिमासदम्॥ ३॥

गत मन्त्र में उल्लेख हुआ था कि प्रभु की शरण में यह 'जार' 'वर' बन जाता है। अब विषयों में न भटकने से १. **सः वीरः**=यह वीर बनता है। २. **दक्षसाधनः**=(दक्ष=बल, growth=उन्नति) बल व उन्नति का सिद्ध करनेवाला होता है। ३. **यः**=यह वह बनता है जो **रोदसी**=द्युलोक और पृथिवीलोक को **वितस्तम्भ**=थामता है, अर्थात् ऐसे ही लोगों पर जगत् का आधार होता है, अथवा यह अपने शरीररूप पृथिवीलोक को स्वस्थ रखता है और मस्तिष्करूप द्युलोक को जगमगाता हुआ। ४. **हरिः**=यह औरों के दुःखों का हरण करनेवाला **पवित्रे**=उस पवित्र प्रभु में **अव्यत**=अपनी रक्षा करता है। ५. **वेधाः न**=एक समझदार व्यक्ति की भाँति **योनिम्**=अपने घर में **आसदम्**=बैठता है। अब यह इधर-उधर विषय-वासनाओं की खोज में भटकता नहीं फिरता, धीमे-धीमे यह स्थिरवृत्ति का बनता चलता है।

भावार्थ—हम वीर, बल के बढ़ानेवाले, शरीर व मस्तिष्क के संस्थापक (न क्षीणशक्तिवाले), प्रभु चरणों में अपने को सुरक्षित करें और समझदार बनकर घर पर रहनेवाले बनें।

सूक्त-४

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**काकुभः प्रगाथः (ककुबुष्णिक्)** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

आध्यात्मिक संग्राम

१३८९. अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि। युधेदापित्वमिच्छसे॥ १॥

३९९ संख्या पर यह मन्त्र इस प्रकार व्याख्यात है—हे **इन्द्र**=जीवात्मन्! **त्वम्**=तू **जनुषा**=जन्म से **सनात्**=अनादिकाल से **अभ्रातृव्यः**=शत्रु से रहित है **अनापिः**=मित्र से रहित **असि**=है। हे जीव! तू **युधा इत्**=काम-क्रोधादि के साथ होनेवाले आध्यात्मिक युद्ध में विजय के लिए **आपित्वम्**=मेरी मित्रता को **इच्छसे**=चाहता है।

भावार्थ—आध्यात्मिक संग्राम में विजय-प्राप्ति की इच्छा से हम प्रभु के मित्र बनें।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**काकुभः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

धन का नशा (धनोन्माद)

१३९०. न की रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः।
यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित्पितेव हूयसे॥ २॥

हे प्रभो ! आप **रेवन्तम्**=धनवाले को **सख्याय**=मित्रता के लिए **न विन्दसे**=नहीं प्राप्त करते हो। संसार में धनी आदमियों का झुकाव प्राय: प्रभु की ओर नहीं होता। **ते**=वे **सुराश्वः**=(सुर ऐश्वर्ये) अपने ऐश्वर्य में बढ़े हुए, सदा अपने ऐश्वर्य में ही विचरनेवाले (श्वि गतिवृद्ध्योः) **पीयन्ति**=खूब शराब इत्यादि पीते हैं और प्रभु का उपहास करते हैं (द० १२.४२ पीयति=निन्दति) धन के मद में ये खूब शराब आदि पीते हैं, आस्तिकता का उपहास उड़ाते हैं और (नि० ४.२५ हिंसन्ति) गरीबों की हिंसा करते हैं। वस्तुत: उनकी हिंसा करके ही तो ये अपने ऐश्वर्य को बढ़ाते हैं।

परन्तु **यदा**=जब प्रभु **नदनुम्**=भूकम्पादि की गर्जना (Sounding, Roaring) **कृणोषि**=करते हैं और **समूहसि**=उनकी सारी सम्पत्ति पर झाड़ू लगा देते हैं—अर्थात् उनकी सभी सम्पत्ति का सफ़ाया कर देते हैं तब **आत् इत्**=इसके बाद शीघ्र ही **पिता इव हूयसे**=हे प्रभो ! आप पिता की भाँति पुकारे जाते हो।

धन के नशे में मनुष्य प्रभु को भूल जाता है—यह नशा उतरते ही प्रभु का स्मरण हो आता है। धनी १. पीता था, २. प्रभु का उपहास करता था, ३. गरीबों का गला घोटता था। उसे धन ही प्रभु दिखता था। धन के आवरण ने प्रभु को उससे ओझल कर रक्खा था। आज उस पर्दे के हटते ही प्रभु का दर्शन हो गया है। अब यह अपने जीवन का सुभरण (उत्तम सञ्चालन) करके 'सोभरि' बन गया है। धन का मादक प्रभाव न रहने से यह 'काण्व' (मेधावी) हो गया है।

भावार्थ—हम धन के मद में प्रभु को न भूल जाएँ।

सूक्त-५

ऋषिः—**मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'ब्रह्मयुजः' न कि 'हरयः'

१३९१. आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥ १ ॥

२४५ संख्या पर मन्त्रार्थ इस रूप में है—मेध्यातिथि—मेध्य प्रभु की ओर जानेवाले की चित्तवृत्तियाँ **ब्रह्मयुजः**=उसे ब्रह्म से मिलानेवाली होती हैं, **केशिनः**=प्रकाशवाली होती हैं। ये **हिरण्यये रथे**=ज्योतिर्मय शरीररूप रथ में **युक्ताः**=युक्त हुई-हुई **शतं सहस्रम्**=सैकड़ों व हज़ारों चित्तवृत्तियाँ **त्वा**=तुझे **आ**=सर्वथा **सोमपीतये**=शक्ति के पान के लिए **आवहन्तु**=ले-चलें। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष ! **हरयः**=भटकानेवाली ये वृत्तियाँ अब न भटककर तुझे सोमपान करनेवाला बनाएँ।

भावार्थ—हमारी चित्तवृत्तियाँ 'हरयः' न रहकर 'ब्रह्मयुजः' हो जाएँ।

ऋषिः—**मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सफ़ेद व काली पीठवाले घोड़े

१३९२. आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेप्या।
शितिपृष्ठा वहतां मध्वो अन्धसो विवक्षणस्य पीतये ॥ २ ॥

संसार में मनुष्य दो भागों में विभक्त हैं, कुछ समझदार हैं कुछ नासमझ। समझदार धीर पुरुष

प्रेय और श्रेय में विवेक करके श्रेयमार्ग का ही अवलम्बन करता है। इसी व्यक्ति को वेद में मेधातिथि=बुद्धि की ओर निरन्तर चलनेवाला कहा है। इस मार्ग पर चलते-चलते एक दिन यह 'मेध्यातिथि'=उस पवित्र प्रभु का अतिथि बनता है। प्रभु इससे कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **हिरण्यये**=इस ज्योतिर्मय **रथे**=शरीररूप रथ में जुते हुए **हरी**=घोड़े—इन्द्रियरूप अश्व **आवहताम्**=सर्वथा ले-चलें। कैसे घोड़े? १. **मयूर शेप्या**=(मयति इति मयूरः, मय गतिमत्योः)—ज्ञान और गति=कर्म का निर्माण करनेवाली (शेप्), अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ। तेरी ज्ञानेन्द्रियाँ निरन्तर ज्ञानवृद्धि में लगी हों और कर्मेन्द्रियाँ उत्तम कर्मों के करने में लगी हों। २. **शितिपृष्ठा**=(शिति=white, black) जो घोड़े सफ़ेद और काली पीठवाले हैं। ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व तो ज्ञान की वृद्धि करते हुए शुक्लमार्ग से मोक्ष को प्राप्त करनेवाले हैं, और कर्मेन्द्रियरूप अश्व यज्ञ-यागादि काम्य कर्मों में निरन्तर लगे रहकर 'कृष्णमार्ग' से स्वर्ग में ले-जानेवाले हैं। इसी विचार से इन्हें यहाँ सफेद व काली पीठवाला कहा गया है। ये घोड़े हमें किधर ले-चलें? **पीतये**=पीने के लिए। किसके पान के लिए? **अन्धसः**=अत्यन्त ध्यान देने योग्य (आध्यायनीय) सोमपान के लिए, जोकि **मध्वः**=अत्यन्त मधुर है—जीवन में वास्तविक माधुर्य को लानेवाला हे, और **विवक्षणस्य**=विशिष्ट उन्नति (वक्ष=wax बढ़ना) का हेतु है। इस सोम की रक्षा से ही हमें उस सर्वमहान् सोम=प्रभु को पाना है।

भावार्थ—हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति व यज्ञादिकर्मों में लगी रहें। यही वस्तुतः सोमपान—वीर्यरक्षा का सर्वोत्तम साधन है।

ऋषिः—**मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु की सुन्दरतम कृति

१३९३. पिबा त्वा३स्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपाइव।
परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यते॥ ३॥

हे जीव! तू **गिर्वणः**=वेदवाणियों का सेवन करनेवाला है—उन वाणियों के द्वारा प्रभु का उपासक है (वन्=संभक्ति), **पूर्वपाः इव**=सबसे प्रथम पान करनेवाले की भाँति **अस्य सुतस्य**=इस शरीर में उत्पन्न हुए-हुए सोम का **पिब तु**=पान कर ही। इसे तू अवश्य अपने शरीर में सुरक्षित करनेवाला बन। यह सोम १. **परिष्कृतस्य**=शरीर में बड़ी विशिष्ट व्यवस्था से तैयार किया जाकर शरीर को स्वास्थ्यादि गुणों से अलंकृत करनेवाला है। २. **रसिनः**=यह जीवन में एक अनिर्वचनीय रस उत्पन्न करता है और अन्त में उस 'रस' स्वरूप प्रभु को प्राप्त करानेवाला है।

प्रभु जीव से कहते हैं कि **इयम् आसुतिः**=इस सोम (वीर्य) की उत्पत्ति **चारुः**=अत्यन्त सुन्दर है, अर्थात् यह मेरी सुन्दरतम कृति है। यह **मदाय**=जीवन में विशिष्ट उल्लास के लिए **पत्यते**=समर्थ होती है। इससे ही जीवन का सारा माधुर्य प्राप्त होता है। इसी से इसका नाम ही 'मधु' हो गया है।

भावार्थ—सोमरक्षा का सर्वोत्तम साधन ज्ञानप्राप्ति में लगे रहना और प्रभु का उपासक बनना है। सोमरक्षा को हम प्रमुखता देंगे तो हमारा जीवन परिष्कृत, चारु व मद=उल्लासवाला होगा।

सूक्त-६

ऋषिः—**ऋजिश्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**काकुभः प्रगाथः (ककुबुष्णिक्)**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

प्रभु की भावना से अपने को भर लें

१३९४. आ सोता परि षिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरं रजस्तुरम्। वनप्रक्षमुदप्रुतम्॥ १॥

५८० संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'ऋजिश्वा भारद्वाज' (सरल, शक्ति-सम्पन्न) अपने सब मित्रों को प्रेरणा देता है कि—**आ**=सर्वथा **सोत**=प्रभु की भावना को अपने में उत्पन्न करो—उसका चिन्तिन करो, **परिषिञ्चत**=उसके चिन्तन से अपने को सींच लो। जो प्रभु १. **अश्वम्**=सर्वव्यापक है, २. **नः स्तोमम्**=हमारे द्वारा स्तुति करने योग्य हैं, ३. **अप्तुरम्**=हमें उत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाले हैं, ४. **रजस्तुरम्**=वे प्रभु हमें प्रकाश प्राप्त कराते हैं, ५. **वनप्रक्षम्**=संविभाग की भावना से हमारा सम्पर्क करानेवाले हैं, ६. **उदप्रुतम्**=वे प्रभु अपनी करुणा से हममें भी करुणाजल उत्पन्न करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम सदा प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—**ऊर्ध्वसद्मा** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**काकुभः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

द्युलोक में जन्म लेनेवाला

१३९५. सहस्रधारं वृषभं पयोदुहं प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं बृहत्॥ २॥

मनुष्य पुण्यकर्मों से उच्च लोकों में जन्म लेता है और पापकर्मों से अधोलोकों में। पुण्यकर्मा व्यक्ति ऊर्ध्वसद्मा=उत्कृष्ट लोकों में घरवाला बनता है। हीनाकर्षण से ऊपर उठा होने के कारण यह 'आङ्गिरस'=शक्तिशाली बना रहता है। वह कहता है कि—'उस प्रभु का स्तवन करो' (परिषिञ्चत) **यः**=जो—

१. **सहस्रधारम्**=हज़ारों प्रकार से हमारा धारण करनेवाला है। २. **वृषभम्**=हमारी सब आवश्यक वस्तुओं की हमपर वर्षा करनेवाला है—सर्वशक्तिमान् है। ३. **पयोदुहम्**=ज्ञानरूप दुग्ध का दोहन करनेवाला है। ४. **प्रियम्**=हमें तृप्त करनेवाला है—जिसके स्मरण से निर्वृति का अनुभव होता है ५. **ऋतजातः**=जो सत्य का उत्पत्ति-स्थान है। ६. **ऋतेन विवावृधे**=जो ऋत के द्वारा ही हममें बढ़ता है—अर्थात् जितना-जितना मैं सत्य को अपनाता चलता हूँ उतना-उतना ही प्रभु का प्रकाश मुझमें अधिकाधिक होता जाता है। ७. **राजा**=देदीप्यमान है तथा सारे ब्रह्माण्ड का नियामक है। ८. **देवः**=सब दिव्यताओं का पुञ्ज है। ९. **ऋतम्**=सत्यस्वरूप है। १०. **बृहत्**=सदा वृद्ध है—बढ़ा हुआ है (वर्धमानं स्वे दमे)।

इस प्रभु का स्तवन हम इसलिए करें कि **देवाय जन्मने**=हमें देवलोक में जन्म मिले, पवित्र व सम्पन्न घरों में हम जन्म लें। प्रभु-स्तुति का अन्तिम परिणाम तो मोक्ष-प्राप्ति ही है—परन्तु उस मार्ग पर चलने से हम लक्ष्य पर नहीं भी पहुँचते तो उत्कृष्ट लोकों में तो जन्म होता ही है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें, जिससे हमारा जन्म उत्कृष्ट लोकों में हो।

सूक्त-७

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वृत्र-विनाश

१३९६. अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया। समिद्धः शुक्र आहुतः॥ १॥

मन्त्र संख्या ४ पर इसका अर्थ इस प्रकार है—**अग्निः**=आगे ले-चलनेवाले वे प्रभु **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरक वासनाओं को **जंघनत्**=नष्ट करते हैं। वे प्रभु **द्रविणस्युः**=हमारे संचित द्रविण को

चाहते हैं, अर्थात् हम धन को प्रभु-अर्पण कर दें। **विपन्यया**=इस विशिष्ट स्तुति के द्वारा वे प्रभु हमारे वृत्रों का नाश करते हैं। वे प्रभु १. **समिद्धः**=हममें दीप्त होते हैं। २. **शुक्रः**=हमसे जाए जाते हैं और ३. **आहुतः**=हमसे समर्पित होते हैं।

भावार्थ—हम अपना सब-कुछ प्रभु को सौंपें। प्रभु हमारे शत्रुओं का विनाश करेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'अग्नि' का निर्माण मातृगर्भ में

१३९७. गर्भे मातुः पितुष्पिता विदिद्युतानो अक्षरे। सीदन्नृतस्य योनिमा ॥ २ ॥

यह सिद्धान्त अब सुज्ञात है कि बालक का वास्तविक निर्माण मातृगर्भ में ही होता है। उस समय माता की एक-एक क्रिया बच्चे को प्रभावित कर रही होती है। 'दिवास्वपन्त्याः स्वापशीलः' इत्यादि ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य इस सिद्धान्त को पुष्ट कर रहे हैं। मन्त्र कहता है कि **मातुः गर्भे**=माता के गर्भ में ही बालक **पितुः पिता**=पिता का पिता, अर्थात् ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बन सकता है। वहाँ इसकी शिक्षा के ठीक होने पर यह संसार में **आ**=आता है, कैसा बनकर? १. **अक्षरे विदिद्युतानः**= अक्षरों में विशेषरूप से देदीप्यमान, अर्थात् अनक्षर (Illiterate नहीं, साक्षर literate)=विद्वान् तथा २. **ऋतस्य योनिम् आसीदन्**=ऋत के स्थान में निवास करता हुआ।

इस कथन से स्पष्ट है कि माता चाहे तो बालक को ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी तथा संयमी बना सकती है। संस्कृत साहित्य में ज्ञानी को 'पिता' कहते हैं। यह बालक ज्ञानियों का भी ज्ञानी बनने से 'पितुः पिता' कहा गया है। 'ऋत' का अभिप्राय 'ठीक स्थान पर तथा ठीक समय पर' है। माता चाहे तो बालक को इस प्रकार बड़ा मर्यादामय जीवनवाला बना सकती है। एवं, ज्ञानी और संयमी पुरुष का निर्माण तो मातृगर्भ में ही होता है। जिस प्रकार दो अरणियों के सम्पर्क से भौतिक अग्नि की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार माता-पितारूप अरणियों से सन्तानरूप अग्नि का उद्भावन होता है। मातृरूप अरणि ने इस सन्तानाग्नि को बड़ा देदीप्यमान तथा ऋत की योनि में स्थित होनेवाला बनाना है।

भावार्थ—माताएँ चाहें तो बच्चों को ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी व संयमी बना सकती हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञानी सन्तान की कामना

१३९८. ब्रह्म प्रजावदा भर जातवेदो विचर्षणे। अग्ने यद्दीदयद्दिवि ॥ ३ ॥

पिछले मन्त्र में उत्तम सन्तान का उल्लेख था। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि हे प्रभो! यह सब तो आपकी कृपा से होता है। हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ! **विचर्षणे**=विशेषरूप से सबका ध्यान (चर्षणिः पश्यतिकर्मा—to look after) करनेवाले **अग्ने**=सबकी उन्नति-साधक प्रभो! **प्रजावत्**=प्रजा की भाँति **ब्रह्म**=ज्ञान को भी तो **आभर**=समन्तात् हमारे अन्दर भरने का ध्यान कीजिए। आपने हमें सन्तान प्राप्त कराई है तो ज्ञान भी प्राप्त कराइए। मूर्ख सन्तान से तो 'अजात और मृत' सन्तानें ही अच्छी हैं। सन्तान न हुई हो अथवा होकर मर गयी हो तो उतना दुःख नहीं होता जितना कि मूर्ख-सन्तान से। पहली दो एक बार ही दुःख देनेवाली होती हैं—मूर्ख सन्तान तो पग-पग पर दुःख का कारण बनती है, इसलिए हे प्रभो! हमें तो वही सन्तान दीजिए, **यत्**=जो **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **दीदयत्**=खूब चमकनेवाली हो और **दिवि**=विद्वानों में **दीदयत्**=शोभा पाए। संक्षेप में हमारी सन्तान

'भरद्वाज'—बल-सम्पन्न होती हुई 'बार्हस्पत्य'—ऊँचे ज्ञानवाली हो।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम ज्ञानी सन्तान प्राप्त करें।

सूक्त-८

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मनुष्य से देव

१३९९. अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम्।
सुतः पवित्रं पर्येति रेभन् मितेव सद्म पशुमन्ति होता ॥ १ ॥

५२७ संख्या पर इस मन्त्र का व्याख्यान इस प्रकार है—**अस्य प्रेषा**=इस प्रभु की प्रेरणा से और **हेमना**=गतिशीलता के द्वारा **पूयमानः**=अपने जीवन को पवित्र बनाता हुआ **देवः**=मनुष्य से देव बन जाता है। **देवेभिः**=इन दिव्य गुणों के द्वारा यह **रसम्**=आनन्दमय प्रभु के **समपृक्त**=सम्पर्क में आता है। **सुतः**=प्रेरणा को प्राप्त यह व्यक्ति **रेभन्**=प्रभु का स्तवन करता हुआ **पवित्रम्**=उस पूर्ण पवित्र प्रभु को **पर्येति**=सर्वथा प्राप्त होता है, **इव**=जैसे होता दानपूर्वक अदन करनेवाला **मिता**=माप कर बनाये हुए **पशुमन्ति**=गौ आदि पशुओंवाले **सद्म**=घरों में प्रवेश करता है।

भावार्थ—हम देव बनकर प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के सात आदेश

१४००. भद्रा वस्त्रा समन्याऽऽ३ वसानो महान् कविर्निवचनानि शंसन्।
आ वच्यस्व चम्वोः पूयमानो विचक्षणो जागृविर्देववीतौ ॥ २ ॥

प्रभु कहते हैं कि हे जीव! **देववीतौ**=दिव्य गुणों की व्याप्ति—प्राप्ति के निमित्त **आवच्यस्व**=तू समन्तात् गतिवाला हो। क्या करता हुआ? १. **भद्रा**=कल्याणकर **समन्या**=संग्राम के योग्य (समन= संग्राम) अथवा व्याकुलता पैदा न करनेवाले (षम्-अवैक्लव्ये) **वस्त्रा वसानः**=वस्त्रों को धारण करता हुआ। वस्त्र ऐसे होने चाहिएँ जो (क) सरदी-गरमी से बचाकर कल्याण करें (ख) रोगों से मुक़ाबला करने के लिए उचित हों (ग) घबराहट को पदा करनेवाले न हों। एवं, शरीर की नीरोगता के दृष्टिकोण से ही वस्त्र-व्यवस्था होनी चाहिए। २. **महान्**=हृदय में महान् बनता हुआ, दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हृदय की विशालता अत्यन्त आवश्यक है। संकुचित हृदय के साथ दिव्य गुणों का वास नहीं। ३. **कविः**=तू क्रान्तदर्शी बन। वस्तुओं को ठीक रूप में देखनेवाले उनमें आसक्त नहीं होते और दिव्य गुणों की ओर बढ़ पाते हैं। ४. **निवचनानि**=प्रभु के गुणवर्णनात्मक वचनों का **शंसन्**=उच्चारण करता हुआ। ये वचन ही हमारे सामने एक उच्च लक्ष्यदृष्टि पैदा करते हैं। ५. **चम्वोः पूयमानः**=द्यावापृथिवी में, अर्थात् शरीर व मस्तिष्क में पवित्र होता हुआ। प्रभुगुण-वर्णन शरीर व मस्तिष्क दोनों को ही निर्मल बनाता है। ६. **विचक्षणः**=एक विशिष्ट दृष्टिकोणवाला। संसार में यदि हमारे जीवन का एक उत्कृष्ट दृष्टिकोण होगा तभी हम कुछ उन्नति कर पाएँगे, इसके बिना तो बहनामात्र (Drifting) होता है, उन्नति नहीं। ७. **जागृविः**=एक ऊँची लक्ष्यदृष्टि के साथ हमें सदा जागते हुए होना चाहिए, असावधानी से तो न जाने कब हम वासनाओं का शिकार हो जाएँ?

भावार्थ—प्रभु के उपदेश के अनुसार मन्त्र वर्णित सात बातों को हम अपने जीवनों में सप्त=समवेत करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु को प्रिय कौन ?

१४०१. समु प्रियो मृज्यते सानो अव्ये यशस्तरो यशसां क्षैतो अस्मे।
अभि स्वर धन्वा पूयमानो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३ ॥

प्रभु कहते हैं कि **उ**=निश्चय से **संप्रियः**=वह जीव ही हमें प्रिय है, जो—१. **मृज्यते**=गत मन्त्र में वर्णित सात बातों से शुद्ध कर दिया जाता है २. **अव्ये**=(अव-भागदुघ=प्रभु के गुणों को अपने में पूरण करना) प्रभु के गुणों को अपने में दोहने के **सानो=सानौ**=शिखर पर होता है, अर्थात् अधिक-से-अधिक दिव्य गुणों का अपने में दोहन करता है। ३. **यशसां यशस्तरः**=इसी कारण जो यशस्वियों में भी यशस्वी बनता है। ४. जो **अस्मे क्षैतः**=(क) हमारी ओर गति कर रहा है (क्षि-गति) प्रभु की ओर चल रहा है न कि प्रकृति की ओर (ख) अथवा जो हमारे ही कार्य के लिए (अस्मे) लोकहित के ही लिए इस पार्थिव शरीर में वा पृथिवी पर निवास कर रहा है (क्षि निवास)। ५. **धन्वा**=वासनाओं के लिए मरुस्थल बने हुए (धन्वा=मरु) हृदय से **पूयमानः**=निरन्तर पवित्र होता हुआ **अभिस्वर**=चारों ओर इस वेदज्ञान का उपदेश करे। इसे चाहिए कि हृदय में वासनाओं को न उमड़ने दे और प्रभु के उपदेश को—सन्देश को चारों ओर फैला दे। परिव्राजक ने परिव्रजन करते हुए यही तो करना है। ६. अन्त में प्रभु इससे कहते हैं कि **यूयं पात**=तुम अपनी रक्षा करो। ऊँचे-से-ऊँचा व्यक्ति इस प्रलोभनपूर्ण संसार में फँस सकता है, अतः प्रभु का यह निर्देश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गत मन्त्र में भी कहा था कि यहाँ तो 'जागृवि'=सदा जागते हुए और विचक्षण एक विशिष्ट दृष्टिकोण को रखते हुए चलना है। ७. **स्वस्तिभिः**=(सु अस्ति) उत्तम जीवनों के द्वारा **सदा नः**=तुम सदा हमारे ही हो। वसिष्ठों ने अपने जीवनों को उत्कृष्ट जितेन्द्रियता से, वशित्व से उत्तम बनाया है। इसी उत्तम जीवन के कारण वे प्रभु के हैं। ये तो वस्तुतः केवल प्रभु का सन्देश सुनाने के लिए ही यहाँ आये हैं, परन्तु फिर भी माया 'माया' ही है—यह भी अत्यन्त प्रबल है, इनके लिए स्खलन-भय बना ही हुआ है, अतः प्रभु का अन्तिम निर्देश आवश्यक ही है कि 'तुम अपनी रक्षा करो'—कहीं औरों की रक्षा करते-करते स्वयं विनष्ट हो जाओ।

भावार्थ—हम अपने अन्दर दिव्यता का दोहन करें—यशस्वी जीवन बिताएँ—प्रभु के निमित्त जीवन का अर्पण करें, अपने हृदयों को वासनाओं के लिए मरुस्थल बना डालें, प्रभु के सन्देश को सर्वत्र सुनाएँ—अपनी भी रक्षा करते हुए उत्तम जीवन से प्रभु के ही बने रहें। इस प्रकार के वसिष्ठ ही प्रभु के प्यारे होते हैं।

सूक्त-९

ऋषिः—**तिरश्चीराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

परिव्राजक के उपदेश का मुख्य विषय

१४०२. एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान् ममत्तु ॥ १ ॥

३५० संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है—

गत मन्त्र में उल्लेख था कि 'अभिस्वर धन्वा पूयमानः'=अपने हृदय को पवित्र करता हुआ तू वेदोपदेश कर। इस मन्त्र में उस उपदेश का संकेत है। यह उपदेशक 'तिरश्ची:' (तिरः अञ्चति) तिरोहित होकर—(छिपे ही रहते हुए—अब तक संन्यासियों में अपने नामादि बतलाने की प्रथा नहीं) गति करता है—परिव्राट् तो यह है ही। प्रभु के कार्य में लगा होने से 'आङ्गिरस'=शक्तिशाली है। वासनाओं के लिए अपने हृदय को जो मरुभूमि बना देता है उसे ऐसा होना ही चाहिए। यह उपदेश करता है कि—**एत उ**=आओ, चारों ओर से यहाँ एकत्र हो जाओ। **नु**=अब **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का हम **स्तवाम**=स्तवन करें। जो **शुद्धम्**=पूर्ण शुद्ध है। उसका स्तवन **शुद्धेन साम्ना**=शुद्ध, शान्त मनोवृत्ति से करें। **शुद्धैः उक्थैः**=शुद्ध वचनों से **वावृध्वांसम्**=बढ़नेवाले उस प्रभु का हम स्तवन करें। प्रत्येक को चाहिए कि—**शुद्धैः**=शरीर, मन व बुद्धि को पवित्र बनाकर **आशीर्वान्**=सबके लिए शुभ इच्छाओंवाला होकर **ममत्तु**=सदा प्रसन्न मनवाला होकर विचरे।

भावार्थ—प्रभुभक्त निर्द्वेष मनवाला होता है, सत्यवाणीवाला तथा प्रसन्न बदनवाला यह लोकहित के लिए प्रभु-सन्देश सुनाता है और लोगों को प्रभु-प्रवण करने का प्रयत्न करता है। अगले मन्त्र में यह वर्णन है कि वह क्या कहता है—

नोट—*मन्त्र संख्या १४०१ तथा १४०२ को पढ़ने से स्पष्ट है कि १४०२वाँ मन्त्र ३५० की आवृत्ति होते हुए भी यहाँ आवश्यक है।*

ऋषिः—**तिरश्चीराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सम्मिलित स्तवन

१४०३. इन्द्र शुद्धो न आ गहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः।
शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्य ॥ २ ॥

गत मन्त्र में कहा था कि 'प्रभु का स्तवन करें'। प्रस्तुत मन्त्र में वही स्तवन दिया जाता है—
१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **शुद्धः**=पूर्ण शुद्ध आप **नः आगहि**=हमें प्राप्त होओ। आपको प्राप्त कर हम भी शुद्ध बन पाएँ। २. **शुद्धः**=आप पूर्ण शुद्ध हो। **शुद्धाभिः ऊतिभिः**=अपने शुद्ध संरक्षणों से **नः आगहि**=हमें प्राप्त होओ, अर्थात् आपके रक्षण ही हमारे जीवनों को शुद्ध बनाते हैं, आपके ये रक्षण हमें सदा प्राप्त हों। ३. **शुद्धः**=हे प्रभो! आप पूर्ण शुद्ध हो। **रयिं निधारय**=आप ही हममें निवास के लिए आवश्यक धन धारण कीजिए, अर्थात् आपका स्मरण करते हुए हम शुद्ध मार्गों से ही धन का उपार्जन करें '**अग्ने नय सुपथा राये**'। ४. हे **सोम्य**=अत्यन्त शान्तस्वरूप प्रभो! **शुद्धः**=पूर्ण शुद्ध आप **ममद्धि**=हमपर प्रसन्न हों। आपकी कृपादृष्टि सदा हमपर बनी रहे—हम कभी आपके अप्रिय न हों।

भाषार्थ—शुद्ध प्रभु का स्तवन हमारे जीवनों को भी शुद्ध कर डाले।

नोट—*प्रस्तुत मन्त्र की यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि सब मिलकर प्रभु-स्तवन करते हुए निश्चय करते हैं कि हम शुद्ध मार्गों से ही धनार्जन करेंगे। इस मायामय संसार में जीवन शोधन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है। यही स्तवन अगले मन्त्र में भी चलता है—*

ऋषिः—**तिरश्चीः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शुद्धता Purification (शुद्धीकरण)

१४०४. इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे।

शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि ॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **शुद्धः**=आप पूर्ण शुद्ध हैं। **हि**=निश्चय से **नः**=हमें **रयिम्**=धन को **सिषाससि**=देना चाहते हैं। यदि हम अपने जीवनों को शुद्ध बनाते हैं—नित्य सत्त्वस्थ होने का प्रयत्न करते हैं तो आप हमारे योगक्षेम का अवश्य ध्यान करते हैं। २. हे प्रभो! **शुद्धः**=आप पूर्ण शुद्ध हो **दाशुषे**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए आप **रत्नानि**=रत्नों को **सिषाससि**=देने की कामना करते हैं। प्रभुभक्त को सदा उत्तम रमणीय धन प्राप्त होते ही रहते हैं। ३. हे प्रभो! **शुद्धः**=आप तो पूर्ण शुद्ध हैं ही। आप हमारे भी **वृत्राणि**=ज्ञान के आवरणभूत कामादि को **जिघ्नसे**=नष्ट करते हैं। शुद्ध प्रभु का स्तवन हमारे जीवनों को भी शुद्ध बनाता है और उसमें से वासनाओं का उन्मूलन कर देता है। ४. हे प्रभो! **शुद्धः**=पूर्ण शुद्ध आप हमें भी **वाजं सिषाससि**=वह शक्ति, त्याग व ज्ञान देते हैं जो हमें भी शुद्ध बना देता है। वाज शब्द के तीनों ही अर्थ हैं। शक्ति शरीर को शुद्ध बनाती है, त्याग मन को तथा ज्ञान बुद्धि को।

भावार्थ—हम शुद्ध जीवनवाले बनकर शुद्ध मार्ग से ही धन कमानेवाले बनें।

सूक्त-१०

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु-स्मरण मनोरथों का पूरक है

१४०५. अग्ने स्तोमं मनामहे सिध्रमद्य दिविस्पृशः। देवस्य द्रविणस्यवः ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'सुतम्भर' है—यज्ञों का भरण करनेवाला। यह कहता है कि—इन यज्ञों के लिए **द्रविणस्यवः**=द्रविण की इच्छावाले हम **अग्नेः**=सबको आगे ले-चलनेवाले **दिविस्पृशः**=सदा ज्ञान के प्रकाशवाले **देवस्य**=दिव्य गुणसम्पन्न प्रभु के **सिध्रम्**=सब मनोरथों को सिद्ध करनेवाले **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **अद्य**=आज **मनामहे**=(म्ना अभ्यासे) पुनः-पुनः उच्चरित करते हैं।

प्रभु का स्मरण हमें यज्ञियवृत्तिवाला बनाता है। इन यज्ञों के लिए ही हम धन की कामना करते हैं। यह धन भी तो हमें उसी प्रभु ने प्राप्त कराना है। धन के द्वारा हम यज्ञशील बनते हैं तो हमारा जीवन उन्नत होता है (अग्नि) हमारे ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है (दिविस्पृक्) तथा हमारा जीवन दिव्य गुणोंवाला होता है (देव)।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, जिससे धन प्राप्त करके हम यज्ञशील जीवनवाले हों।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हमें सत्सङ्ग प्राप्त हो

१४०६. अग्निर्जुषत नो गिरो होता यो मानुषेष्वा। स यक्षद् दैव्यं जनम् ॥ २ ॥

अग्निः=हमारी उन्नति का साधक प्रभु **यः**=जो **मानुषेषु**=मानवहित करनेवालों को **आहोता**=समन्तात् सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करानेवाला है **नः गिरः**=हमारी वाणियों का **जुषत**=प्रीतिपूर्वक

सेवन करे, अर्थात् प्रभु हमारी प्रार्थना को सुनें। **सः**=वे प्रभु **दैव्यं जनम्**=दिव्य गुणयुक्त मनुष्यों को **यक्षत्** (यजत्)=हमारे साथ सङ्गत करें, जिससे हमारे आचार-विचार सदा शुद्ध बने रहें। सङ्ग का प्रभाव सुव्यक्त है। सत्सङ्ग से जीवन सुन्दर बनता है तो कुसङ्ग से वह विनष्ट हो जाता है। सब-कुछ देनेवाले तो प्रभु ही हैं, वे ही सर्वमहान्, मानवहित-साधक हैं—वे प्रभु हमें तो सत्सङ्ग ही प्राप्त कराएँ '**सतां सङ्गो हि भेषजम्**'=सज्जनसङ्ग सब आसुरवृत्तिरूप रोगों का औषध है। सत्सङ्ग से हमारा जीवन यज्ञशील होगा—हम 'सुतम्भर' होंगे। सुतम्भर ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यज्ञों को करता हुआ यह 'काम, क्रोध, लोभ' से ऊपर उठा रहता है, अतः 'आत्रेय' कहलाता है। (नहीं है 'काम, क्रोध, लोभ' जिसमें)।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम सदा सत्सङ्ग को प्राप्त करें। हमारी रुचि मानवहितकारी कर्मों में हो—हम उसी में धनों का व्यय करें—प्रभु हमें और देंगे।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यज्ञिय भावना

१४०७. त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः। त्वया यज्ञं वि तन्वते ॥ ३ ॥

हे **अग्ने**=अग्रेणीः—मोक्षप्रापक—प्रभो! **त्वम्**=आप १. **सप्रथाः**=सर्वतः पृथु—सब दृष्टिकोणों से विस्तृत **असि**=हो—क्या ज्ञान, क्या धन, क्या बल सभी आपमें निरपेक्षरूप से रह रहे हैं—आप इन सब गुणों की चरम सीमा हो। आपमें ये सब निरतिशयरूप से हैं। २. **जुष्टः**=आप भक्तों से प्रीतिपूर्वक सेवित होते हैं तथा सब भक्तों को कल्याण प्राप्त करानेवाले हैं। ३. **होता**=आप ही प्रत्येक आवश्यक वस्तु के देनेवाले हैं—हमें उन्नति के लिए कौन-सी आवश्यक वस्तु आपने नहीं प्राप्त करायी। ४. **वरेण्यः**=आप ही वरणीय हैं (नि० १२.१३)। सामान्यतः धीरता की न्यूनता के कारण और श्रेयमार्ग की उपेक्षा से जीव प्रकृति का वरण करता है, परन्तु जब उसके पाँवों तले रौंदा जाता है तब अनुभव करता है कि वरणीय तो प्रभु थे, मैंने वरण किया प्रकृति का।

ये सुतम्भर लोग इस प्रकार आपको 'सप्रथाः, जुष्टः, होता व वरेण्यः' रूप में देखकर **त्वया**=आपकी सहायता से **यज्ञं वितन्वते**=यज्ञों का विस्तार करते हैं। प्रकृति को अपनाने का परिणाम 'स्वार्थ' की वृद्धि है—मनुष्य में स्वार्थ बढ़ता जाता है। प्रभु को अपनाने से यज्ञिय वृत्ति बढ़ती है और स्वार्थ उत्तरोत्तर क्षीण होता जाता है। स्वार्थ की वृत्ति 'चार दिन की चाँदनी के बाद अँधेरी रात' को ले-आती है और यज्ञियवृत्ति उत्तरोत्तर प्रकाश को बढ़ानेवाली होती है।

भावार्थ—हम प्रभु को 'सप्रथाः' रूप में स्मरण कर प्रथित=विस्तृत हृदयवाले बनें, 'जुष्टः' रूप में स्मरण कर सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्तनेवाले बनें 'होता' रूप में स्मरण कर देनेवाले हों और इस प्रकार हममें यज्ञिय भावना बढ़े, परन्तु साथ ही उन यज्ञों का हमें अहंकार न हो, अतः हम यह न भूलें कि सब यज्ञ प्रभुकृपा से ही हो रहे हैं।

सूक्त-११

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वे प्रभु त्रिपृष्ठ हैं

१४०८. अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामङ्गोषिणमवावशन्त वाणीः।
वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वार्याणि ॥ १ ॥

५२८ संख्या पर प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कैसा बनकर

१४०९. शूरग्रामः सर्ववीरः सहावान् जेता पवस्व सनिता धनानि।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाढः साह्वान् पृतनासु शत्रून्॥ २॥

प्रभु कहते हैं कि तू **पवस्व**=अपने जीवन को पवित्र कर अथवा मेरी ओर (आप्नुहि आगच्छ च) आ। कैसा बनकर—१. **शूरग्रामः**=शूरता का तू ग्राम बन। 'ग्राम' प्रत्यय समूह अर्थ में आता है, शूरता का तू समूह हो, अर्थात् शूरता तुझमें निवास करे। ग्राम शब्द 'ग्रस धातु से मन प्रत्यय से मन' आकर बनता है, अत: यह भी अर्थ हो सकता है कि (शॄ हिंसायाम्) हिंसकों का तू ग्रसनेवाला हो। २. **सर्ववीरः**=तू पूर्ण वीर बनकर काम-क्रोधादि शत्रुओं को कम्पित करके दूर भगानेवाला हो तथा रोगों को नष्ट करनेवाला वीर्य तुझमें सुरक्षित हो। ३. **सहावान्**=तू शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहनेवाला बन। ४. **जेता**=सदा विजेता बन—पराजित होनेवाला न हो। एक-दो बार की असफलता तुझे कभी हतोत्साह न कर दे। ५. **धनानि सनिता**=धनों को तू प्राप्त करनेवाला तथा उनका संविभाग करनेवाला हो ५. **तिग्मायुधः**=तीक्षण अस्त्रोंवाला तू बन। शरीर में रोगों से लड़नेवाला प्रभु-स्मरणरूप अस्त्र है तथा बुद्धि में कुविचार को दूर करनेवाला तर्करूप अस्त्र है। तेरे ये सब अस्त्र तीव्र हों। ७. **क्षिप्रधन्वा**=शत्रुओं को दूर फेंकनेवाला (क्षिप्र), प्रणवरूप धनुष लिये हुए (प्रणवो धनुः)। जहाँ प्रणव=ओ३म् का उच्चारण है वहाँ से शत्रु शीघ्र ही दूर प्रेरित होते हैं—भगा दिये जाते हैं। ८. **समत्सु अषाढः**=प्रणवरूप धनुष के कारण ही यह कामादि के साथ संग्राम में अधर्षणीय होता है। आसुर वृत्तियाँ इसका धर्षण नहीं कर पातीं। ९. यह **पृतनासु**=संग्रामों में **शत्रून्**=शत्रुओं का **साह्वान्**=मर्षण करनेवाला होता है—इन्हें यह कुचल डालता है।

यहाँ मन्त्र में 'शूरग्रामः'=बाह्य शत्रुओं के नाश का संकेत करता है, 'सर्ववीरः' रोगों के नाश का। सहावान्—शीतोष्णादि के सहने का सूचक है और जेता=विजयी होने का। 'सनिता धनानि' से धनों की प्राप्ति व संविभाग कहे जा रहे हैं। 'तिग्मायुधः' से इन्द्रिय, मन व बुद्धि की तीव्रता का उल्लेख हुआ है, 'क्षिप्रधन्वा' से प्रणवरूप धनुष को अपनाने का। ऐसा होने पर यह व्यक्ति संग्रामों में अधर्षणीय बनता है और शत्रुओं का मर्षण कर डालता है। ऐसा करने पर जीवन पवित्र होता है और यही व्यक्ति प्रभु की ओर जाने का अधिकारी होता है।

भावार्थ—उल्लिखित नौ बातों को अपनाकर हम जीवन को पवित्र बनाएँ और प्रभु की ओर चलें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कैसा जीवन ?

१४१०. उरुगव्यूतिरभयानि कृण्वन्त्समीचीने आ पवस्वा पुरन्धी।
अपः सिषासन्नुषसः स्वा३र्गाः सं चिक्रदो महो अस्मभ्यं वाजान्॥ ३॥

१. **उरुगव्यूतिः**=विशाल ज्ञान के क्षेत्रवाला (गव्यूति=Pasturage) ज्ञानेन्द्रियों के विचरण के विशाल क्षेत्रवाला। सचमुच ब्रह्म=ज्ञान का निरन्तर चरण=भक्षण करनेवाला।

२. **अभयानि कृण्वन्**=ज्ञान का पहला परिणाम 'अभय' ही तो है, अतः न डरता हुआ और न डराता हुआ, न खुशामद करनी—न करवानी।

३. **पुरन्धी**=(द्यावापृथिव्यौ—नि० ३.३०) द्युलोक व पृथिवीलोक को, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर को **समीचीने**=उत्तम गतिवाला और सुन्दर बनाते हुए **आपवस्व**=सर्वथा पवित्र कर ले। शरीर रोग शून्य हो, मस्तिष्क अज्ञानान्धकार से मलिन न हो।

४. **अपः**=कर्मों को **उषसः**=प्रातःकाल से ही **सिषासन्**=सेवन करने की इच्छावाला हो। प्रातःकाल से ही तेरा जीवन कर्ममय हो।

५. **उषसः**=प्रातःकाल से ही **स्वः**=देदीप्यमान **गाः**=वेदवाणियों को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **संचिक्रदः**=उच्चारण कर। प्रातः वेदवाणियों द्वारा प्रभु-स्तवन करनेवाला ही हमें बनना चाहिए।

६. **महः**=महान् व महनीय=आदरणीय **वाजन्**=वाजों को **आपवस्व**=प्राप्त कर। वाज शब्द 'शक्ति, धन व ज्ञान' तीनों का प्रतिपादन करता है।

भावार्थ—सुन्दर जीवन वह है जिसमें व्यापक ज्ञान, अभय, सुन्दर, नीरोग शरीर व सुन्दर, दीप्त मस्तिष्क, कर्म, देदीप्यमान वाणियों से प्रभु-स्तवन तथा महनीय वाज (शक्ति, धन, व ज्ञान) हैं।

सूक्त-१२

ऋषिः—**नृमेधपुरुमेधौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

यशा, ऋजीषी शवसस्पतिः

१४११. त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पतिः।
त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुर्वनुत्तश्चर्षणीधृतिः ॥ १ ॥

संख्या २४८ पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**नृमेधपुरुमेधौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

हमें प्रभु के 'सुम्न' प्राप्त हों

१४१२. तमु त्वा नूनमसुर प्रचेतसं राधो भागमिवेमहे।
महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र प्र ते सुम्ना नो अश्नवन् ॥ २ ॥

हे **असुर**=प्राणशक्ति देनेवाले प्रभो! (असून् राति) **तम्**=उस—पूर्व मन्त्र में 'यशा' आदि शब्दों से वर्णित **प्रचेत-सम्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले, **त्वा उ**=आपको ही **नूनम्**=निश्चय से **राधः भागम् इव**=(राध-संसिद्धि, भज=प्राप्ति) संसिद्धि प्राप्त करानेवाले के रूप में **ईमहे**=प्राप्त करने का हम प्रयत्न करते हैं। यदि हम प्रभु को पा लेते हैं तो हमें १. प्राणशक्ति प्राप्त होती है, क्योंकि वे प्रभु असुर हैं, २. हमें उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है, क्योंकि वे प्रचेतस् हैं, ३. हमें साफल्य प्राप्त होता है, क्योंकि वे तो 'राधानां' पति हैं (राधोभाग् हैं)।

हे **इन्द्र**=सर्व शत्रुविदारक प्रभो! आपका **कृतिः**=यश (नि० ५.२२) **मही इव**=अत्यन्त महान् है। हे प्रभो हम तो **ते शरणा**=तेरी ही शरणागत हैं। शत्रुओं के कृन्तन=विदारण से प्राप्त यश ही 'कृत्ति' है। सब शत्रुओं का विदारण करने से प्रभु ही 'इन्द्र' हैं। हम प्रभु की शरण में होंगे तो हमारे शत्रुओं का भी विदारण हो जाएगा।

हे प्रभो ! हम तो यह चाहते हैं कि **ते**=आपके **सुम्ना**=Hymn=स्तोत्र **नः**=हमें **प्र अश्नुवन्**=प्राप्त हों—हम सदा आपका ही गायन करें, परिणामतः आपकी सुम्न=रक्षा (protection) हमें प्राप्त हो और हमारा जीवन सुम्न=joy=आनन्द प्राप्त करे। 'सुम्न' शब्दों के तीनों अर्थ वाक्य को बड़ा सुन्दर बना देते हैं 'हमें स्तुति प्राप्त हो, स्तुति के परिणामरूप 'प्रभु की रक्षा' प्राप्त हो, इसके परिणामरूप जीवन का आनन्द मिले।

भावार्थ—प्रभु असुर, प्रचेतस् तथा राधोभाग् हैं, उनका यश महान् है, उनकी शरण हमें प्राप्त हो। हम प्रभु के स्तोत्रों का गान करें, उसकी रक्षा तथा आनन्द प्राप्त करें।

सूक्त-१३

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**काकुभः प्रगाथः (ककुबुष्णिक्)** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

यजिष्ठ, होता, अमर्त्य

१४१३. यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥ १॥

११२ संख्या पर मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**काकुभः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मित्र, वरुण और अपों का सुम्न

१४१४. अपां नपातं सुभगं सुदीदितिमग्निमु श्रेष्ठशोचिषम्।
स नो मित्रस्य वरुणस्य सो अपामा सुम्नं यक्षते दिवि॥ २॥

पिछले मन्त्र में सोभरि ने 'यजिष्ठ, देवों में देव, होता, अमर्त्य और इस जीवन-यज्ञ के सुक्रतु' प्रभु का वरण किया था। उसी प्रसङ्ग में सोभरि कहता है कि हम उस प्रभु का **ववृमहे**=वरण करते हैं, जो—१. **अपां न पातम्**=(आपः=रेतः) शक्ति का नाश न होने देनेवाले हैं। प्रभु के स्मरण से वासना-विनाश होकर मनुष्य 'ऊर्ध्वरेतस्' बनता है। २. **सुभगम्**=उत्तम भग=समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य को प्राप्त करानेवाले वे प्रभु हैं। उपासना द्वारा प्रभु का सम्पर्क हमारे जीवन को छह-के-छह भगों से युक्त कर देता है। ३. **सुदीदितिम्**=उत्तम ज्ञान की ज्योति से द्योतित करनेवाले वे प्रभु हैं ४. **अग्निम्**=ज्ञान-ज्योति देकर वे हमें आगे ले-चलनेवाले हैं ५. **उ**=और **श्रेष्ठशोचिषम्**=सर्वोत्कृष्ट दीप्तिवाले वे प्रभु हैं।

सः=वह प्रभु **नः**=हमें **सुम्नम्**=रक्षण व आनन्द (Protection and joy) **आयक्षते**=प्राप्त कराते हैं। किसका ? १. **मित्रस्य**=प्राणशक्ति का, २. **वरुणस्य**=अपानशक्ति का तथा ३. **सः**=वे प्रभु हमें **अपाम्**=वीर्यशक्ति के सुम्न को **दिवि**=ज्ञान होने पर या ज्ञान के निमित्त **आयक्षते**=प्राप्त कराते हैं। प्राणापान के द्वारा वीर्यरक्षा होती है, वीर्यरक्षा से ज्ञान की वृद्धि होती है। एवं, प्रभुकृपा से हमें 'प्राण, अपान, वीर्य व ज्ञान' प्राप्त होते हैं। एवं, इसी प्रभु का वरण ठीक है। प्रभु का वरण न कर जब मनुष्य प्रकृति प्रवण हो जाता है तब प्राणापान की शक्ति को क्षीण कर बैठता है, ऊर्ध्वरेतस् न बनकर भोग-विलास में व्यर्थ वीर्य का व्यय करनेवाला हो जाता है और ज्ञान को खोकर अन्याय्य मार्गों में विचरण करने लगता है, अतः प्रभु वरण ही उचित है।

भावार्थ—प्रभु कृपया हमें प्राण, अपान, शक्ति व ज्ञान प्राप्त कराएँ।

सूक्त-१४

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वासनाओं का नियमन

१४१५. यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः ॥ १ ॥

हे **अग्ने**=मोक्षसुख तक ले-चलनेवाले प्रभो! आप **यं मर्त्यम्**=जिस मनुष्य की **पृत्सु**=संग्रामों में **अवाः**=रक्षा करते हैं और **यम्**=जिसे **वाजेषु**=शक्ति व ज्ञानों में **जुनाः**=जोड़ते हैं, शक्ति और ज्ञान प्राप्त कराते हैं (जुङ् गतौ) **सः**=वह मनुष्य **शश्वतीः इषः**=प्लुतगतिवाली—हृदय-सरोवर में ठाठें मारनेवाली कामनाओं को **यन्ता**=क़ाबू करनेवाला होता है।

मानव-हृदय में वासनाएँ सदा से उमड़ रही है—इनका नियन्त्रण वही व्यक्ति कर पाता है जो प्रभु-रक्षण प्राप्त करता है और प्रभुकृपा से ज्ञान व शक्ति पाता है। इन कामादि से संग्राम में विजय पाना मानवशक्ति से परे की बात है, यह तो प्रभुकृपा से ही प्राप्त होती है।

इन वासनाओं का नियमन करके मनुष्य अपने जीवन को शान्त व सुखी बना पाता है, अतः 'शुनःशेप'='सुख का निर्माण करनेवाला' कहलाता है। इन वासनाओं के विजय के लिए ही आत्मालोचन करनेवाला यह 'आजीगर्ति' है—हृदयरूप गर्त (गुफ़ा) की ओर गति करनेवाला (अज् गतौ) है।

भावार्थ—हमें प्रभु का रक्षण प्राप्त हो—प्रभु हमें शक्ति प्राप्त कराएँ, जिससे हम वासनाओं पर क़ाबू पा सकें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अपराजेय

१४१६. न किरस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित्। वाजो अस्ति श्रवाय्यः ॥ २ ॥

हे **सहन्त्य**=सभी शत्रुओं का अभिभव करनेवाले अग्ने! **अस्य**=आपसे रक्षित (अवाः १४१५) तथा आपसे शक्ति को प्राप्त (जुनाः १४१५) **कयस्य चित्**=अद्वितीय, विलक्षण शक्ति को प्राप्त पुरुष पर **पर्येता**=आक्रमण करनेवाला **न किः**=कोई भी नहीं है। इसको कोई भी वासना आक्रान्त नहीं कर सकती। जहाँ आप, वहाँ वासना को आने का साहस नहीं। आपसे रक्षित इस पुरुष का **वाजः**=बल व ज्ञान **श्रवाय्यः**=श्रवणीय, कीर्तनीय व लोकोत्तर **अस्ति**=है। यह तो आपकी शक्ति से शक्तिमान् हो रहा है, अतः इसका बल आसाधारण होना स्वाभाविक ही है। लोहे का गोला जैसे अग्नि की चमक से चमकता है, इसी प्रकार यह आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर चमक उठता है। इसका वाज इसे बाह्य व आन्तर शत्रुओं से बचाता है। बल (वाज) यदि बाह्य शत्रुओं व रोगों को पराजित करता है तो ज्ञान (वाज) आन्तर-शत्रुओं को। इस प्रकार न इस पर रोग आक्रमण करते हैं, और न ही वासनाएँ।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति व ज्ञान से सम्पन्न होकर हम रोगों व वासनाओं के लिए 'अपराजेय' हो जाएँ।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

संग्राम-विजय

१४१७. स वाजं विश्वचर्षणिरर्वद्भिरस्तु तरुता। विप्रेभिरस्तु सनिता ॥ ३ ॥

सः=वह **विश्वचर्षणिः**=(चर्षणि=Seeing, observing) संसार को सूक्ष्मता से देखनेवाला प्रभुभक्त **अर्वद्भिः**=इन्द्रियरूप अश्वों के साथ निरन्तर चलनेवाले **वाजम्**=संग्राम को **तरुता अस्तु**=सफलता से पार करनेवाला हो। जीव का एक अध्यात्मसंग्राम निरन्तर चल रहा है। इन्द्रियाँ ग्रह हैं और विषय अतिग्रह। मनुष्य ने इन्हें जीतना है। ये अत्यन्त प्रबल हैं। मन को हर लेती हैं और मनुष्य हार जाता है, परन्तु यह प्रभुभक्त 'विश्वचर्षणि' है—विश्व को बारीकी से देखता हुआ उनमें फँसता नहीं, और इस प्रकार इन्द्रियों के साथ चल रहे संग्राम को जीत लेता है। इस संग्राम को जीतने के उद्देश्य से ही यह **विप्रेभिः**=अपना पूरण करनेवाले, न्यूनताओं को दूर करनेवाले विद्वान् ब्राह्मणों के साथ **सनिता**=(Worship, honour) आपका सम्भजन करनेवाला **अस्तु**=होता है। प्रभुभक्ति ने ही तो संग्राम में विजय प्राप्त करानी है।

इस विजय को प्राप्त करके ही व्यक्ति बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख होता है—'आजीगर्ति' बनाता है और इस प्रकार सुख का निर्माण करनेवाला 'शुनःशेप' होता है।

भावार्थ—विषयों के स्वरूप को गहराई तक देखकर हम उनके प्रति आसक्ति से बचें।

सूक्त-१५

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अत्यो न वाजी

१४१८. साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः।
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ संख्या ५३८ पर देखिए।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'कलश' बनने के लिए

१४१९. सं मातृभिर्न शिशुर्वावशानो वृषा दधन्वे पुरुवारो अद्भिः।
मर्यो न योषामभि निष्कृतं यन्त्सं गच्छते कलश उस्त्रियाभिः ॥ २ ॥

१. **न**=जैसे **वावशानः**=दूध इत्यादि की प्रबल कामनावाला **शिशुः**=बालक **मातृभिः**=अपनी माताओं के साथ **संदधन्वे**=(धविर्गत्यर्थः) **सङ्गच्छते**=सङ्गत होता है, और २. जिस प्रकार **वृषा**=अपने को वृष=शक्तिशाली बनाने की कामनावाला **पुरुवारः**=अनेक शत्रुओं का निवारण करनेवाला **अद्भिः**=जलों से=(आपः रेतो भूत्वा) रेतस्–वीर्यशक्ति से **संदधन्वे**=सङ्गत होता है और ३. **न**=जिस प्रकार **अभिनिष्कृतम्**=सब ओर से परिष्कृत स्थान को, साफ़-सुथरे घर को **यन्**=प्राप्त करने के हेतु से **मर्यः**=मनुष्य **योषाम्**=पत्नी के साथ **संदधन्वे**=सङ्गत होता है, इसी प्रकार ४. **कलशः**=(कलाः शेरतेऽस्मिन्) अपने जीवन को सब कलाओं का आधार बनानेवाला—षोडशी बनने की इच्छावाला—

पुरुष **उस्रियाभिः**=(Brightnes, Light) प्रकाश की किरणों के साथ **सङ्गच्छते**=सङ्गत होता है। 'उस्रिया' शब्द का अर्थ गौ भी है। यह गौवों के साथ सङ्गत होता है। गो-दुग्ध के प्रयोग से भी अपनी बुद्धि को सात्त्विक बनाकर ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है।

प्रस्तुत मन्त्र में तीन उदाहरण हैं—१. प्रथम उदाहरण से 'इच्छा की तीव्रता' का सङ्केत हो रहा है। बच्चे को जब प्रबल भूख लगती है तब वह खेल को छोड़कर माता की ओर जाता है, इसी प्रकार मनुष्य भी सब कलाओं से जीवन को युक्त करने की प्रबल कामना होने पर ही ज्ञान की ओर झुकता है। २. द्वितीय उदाहरण 'कार्यकारणभाव' का प्रदर्शन कर रहा है कि जैसे ऊर्ध्वरेतस् बने बिना शक्ति का सम्भव नहीं, उसी प्रकार सोलह कलाओं की प्राप्ति ज्ञान व ज्ञान-साधन गोदुग्धादि के प्रयोग के बिना नहीं हो सकती ३. तीसरा उदाहरण इसलिए दिया गया है कि जैसे मनुष्य की घर को सुन्दर बनाने की शक्ति उसकी योग्यता में निहित है इसी प्रकार मानव-जीवन को सुन्दर बनाने की शक्ति ज्ञान में व ज्ञान की साधनभूत गौवों में निहित है। मनुष्य की पूर्णता पत्नी से है, एवं, मानव के अध्यात्म जीवन की पूर्णता ज्ञान से है। प्रसङ्गवश यह भी स्पष्ट है कि मानव की पूर्णता में गौ का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भावार्थ—हम ज्ञान को महत्त्व दें, ज्ञान-साधन गौओं को महत्त्व दें।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गोदुग्ध का प्रयोग

१४२०. उत प्र पिप्य ऊधरघ्न्याया इन्दुर्धाराभिः सचते सुमेधाः।
मूर्धानं गावः पयसा चमूष्वभि श्रीणन्ति वसुभिर्न निक्तैः ॥ ३ ॥

'उत' निपात सम्बन्ध (Connection) का सूचक है। **अघ्न्यायाः**=अहन्तव्य गौ का **ऊधः**=दुग्धादिकरण अथवा दुग्ध (जैसे गौ=गोदुग्ध) **प्रपिप्ये**=प्रकर्षेण बढ़ता है **उत**=इसके बढ़ने के साथ **धाराभिः**=दुग्धधाराओं से **इन्दुः**=शक्तिशाली बना हुआ पुरुष **धाराभिः**=वेदवाणियों से (धारा इति वाङ्नाम) **सचते**=सङ्गत होता है और **सुमेधाः**=अति परिष्कृत बुद्धिवाला बनता है। यहाँ 'धाराभिः' का प्रयोग श्लेष से दूध तथा वेदवाणी दोनों ही अर्थों का वाचक है। 'धाराभिः' शब्द धारोष्ण दूध के पीने का भी संकेत कर रहा है—इस प्रकार पिया हुआ दूध अत्यन्त गुणकारी होता है। वेद कहता है कि **गावः**=ये गौवें **पयसा**=अपने इस धारोष्ण दूध से **मूर्धानम्**=हमें शिखर पर पहुँचाती हैं तथा **चमूषु**=(चम्बो द्यावापृथिव्योर्नाम—नि० ३.३०) हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में तथा शरीररूप पृथिवी में **अभि श्रीणन्ति**=परिपाक को धारण करती हैं। गोदुग्ध से बुद्धि परिपक्व होती है, शरीर भी पुष्ट होता है। इस प्रकार ये गौवें हमें **निक्तैः**=शुद्ध **वसुभिः न**=मानो वसुओं से—उत्तम रमणीय धनों से **अभिश्रीणन्ति**=आच्छादित (to dress) कर देती हैं। ये दुग्ध द्युलोकरूप मस्तिष्क को ज्ञानरूप धन से तथा पृथिवीरूप शरीर को शक्तिरूप धन से आच्छादित करनेवाले होते हैं।

इस प्रकार नव—स्तुत्य धनों के धारण करनेवाला यह नवधा=नोधा कहलाता है और उत्तम इन्द्रियरूप गौवोंवाला होने से 'गोतम' होता है। घरों में उत्तम गौवें रख कर 'गोतम' तो इसने बनना ही था।

भावार्थ—गोदुग्ध हमें शक्तिशाली व सुमेधा बनाए। यह हमें उन्नति के शिखर पर पहुँचाए।

सूक्त-१६

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

आपिः नः बोधि सधमाद्ये

१४२१. पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः ।
आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधे३ऽस्माँ अवन्तु ते धियः ॥ १ ॥

यह मन्त्र २३९ संख्या पर व्याख्यात है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु की कल्याणी मति को अपनाना

१४२२. भूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयं मा न स्तरभिमातये ।
अस्माँ चित्राभिरवतादभिष्टिभिरा नः सुम्नेषु यामय ॥ २ ॥

१. हे प्रभो ! **ते**=आपकी **सुमतौ**=कल्याणी मति में **वयम्**=हम **वाजिनः**=धन, बल, त्याग व ज्ञानवाले **भूयाम**=हों। वाज शब्द के धन, बल व त्याग अर्थ तो कोश में दिये ही हैं—'वज गतौ' धातु से बनकर यह ज्ञान का भी वाचक है (गतेस्त्रयोर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च)। वेद में प्रभु की कल्याणी मति का उपदेश है, उसके अनुसार चलने से हम इन चारों वस्तुओं को प्राप्त करेंगे ही।

२. इन चारों के आ जाने पर कहीं हमें अभिमान न आ जाए, अतः 'मेध्यातिथि' प्रार्थना करता है कि **नः**=हमें **अभिमातये**=अभिमान के कारण **मा स्तः**=नष्ट मत कीजिए। हमें धन, बल, त्याग व ज्ञान—किसी का भी गर्व न हो।

३. हे प्रभो ! **अस्मान्**=(अस्तिमान्) आपकी सत्ता में पूर्ण आस्थावाले हमें आप **चित्राभिः**= (चित् रा) ज्ञान देनेवाली अथवा अद्भुत **अभिष्टिभिः**=अपने तक पहुँचने (Access) के द्वारा **अवितात्**=रक्षित कीजिए। जैसे माता बालक को अपने समीप कर सुरक्षित कर देती है उसी प्रकार आप हमें अपने समीप करके रक्षित कीजिए।

४. **नः**=हमें **सुम्नेषु**=अपने स्तोत्रों में और उनके द्वारा सुखों में **आयामय**=धारण (Sustain) कीजिए। प्रभु-स्तवन से ही वस्तुतः जीवन में सुख व शान्ति मिलती है।

भावार्थ—हम प्रभु की कल्याणी मति को अपनाएँ।

सूक्त-१७

ऋषिः—**रेणुर्वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

यद् ऋतैः अवर्धत

१४२३. त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परमे व्योमनि ।
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत ॥ १ ॥

५६० संख्या पर इस मन्त्र का व्याख्यान द्रष्टव्य है।

ऋषिः—रेणुर्वैश्वामित्रः ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सदन की प्राप्ति, चारु अमृत का भक्षण

१४२४. स भक्षमाणो अमृतस्य चारुण उभे द्यावा काव्येना वि शश्रथे।
तेजिष्ठा अपो मंहना परि व्यत यदी देवस्य श्रवसा सदो विदुः ॥ २ ॥

१. मन्त्र का ऋषि 'रेणुः वैश्वामित्रः' है—गतिशील, सबके साथ स्नेह करनेवाला। **सः**=वह रेणु **चारुणः**=सुन्दर **अ-मृतस्य**=सोम (वीर्य) और ज्ञान का **भक्षमाणः**=भक्षण करता हुआ **उभे**=दोनों **द्यावा**=(द्यावापृथिव्यौ) मस्तिष्क व शरीर को **काव्येन**=प्रभु के अमृतमय काव्य वेद के द्वारा **विशश्रथे**=मुक्त (liberate) करता है। वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करने के द्वारा यह पृथिवीरूप शरीर को रोगों से मुक्त करता है, और ज्ञान प्राप्त करने से अपने मस्तिष्क व हृदय को दुर्विचारों व वासनाओं से मुक्त रखता है। यहाँ उभे विशेषण के कारण 'द्यावा' शब्द द्यावापृथिव्यौ का ही वाचक है। शरीर के रोगों से मोक्ष के लिए अमरत्व के साधनभूत सोम का पान—वीर्य की रक्षा आवश्यक है और मस्तिष्क व हृदय को दुर्विचारों व वासनाओं से मुक्त करने के लिए अमृतत्व के साधनभूत ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है—'ब्रह्मचर्य' ज्ञान का भक्षण ही तो है। २. ऐसा करने पर इस रेणु के **अपः**=कर्म **तेजिष्ठाः**=अत्यन्त तेजस्वी होते हैं। इसका प्रत्येक कार्य सफल होता है और एक विशेष ही प्रभाव रखता है। ३. **मंहना परिव्यत**=दान से यह अपने चारों ओर के लोक को आच्छादित कर लेता है। इस त्याग का परिणाम यह होता है कि इसकी प्रकृति के प्रति आसक्ति नहीं रहती और ४. **यत् ई**=ज्यूँही **देवस्य**=उस दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **श्रवसा**=स्तोत्रों से (श्रवस् Hymn) इनका जीवन युक्त होता है त्यूँही ये रेणु वैश्वामित्र **सदो विदुः**=उस सर्वाधिष्ठान प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम सोम व ज्ञान का भक्षण करें, हमारे कर्म तेजस्वी हों, हम दान से सभी को आच्छादित कर लें, अर्थात् हमारा दान व्यापक हो और प्रभु-स्तवन द्वारा हम अपने वास्तविक घर को—ब्रह्मलोक को प्राप्त करें।

ऋषिः—रेणुर्वैश्वामित्रः ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

धनों व गुणों का पवित्रीकरण

१४२५. ते अस्य सन्तु केतवोऽमृत्यवोऽदाभ्यासो जनुषी उभे अनु।
येभिर्नृम्णा च देव्या च पुनत आदिद्राजानं मनना अगृभ्णत ॥ ३ ॥

१. इस रेणु ने ज्ञान के भक्षण के द्वारा जो ज्ञान की किरणें प्राप्त की हैं **अस्य**=इसकी **ते केतवः**=वे ज्ञान-किरणें **अमृत्यवः**=इसके शरीर को असमय में नष्ट न होने देनेवाली तथा **अदाभ्यासः**= इसके मन को वासनाओं से मलिन न होने देनेवाली (Undefiled, pure) **सन्तु**=हों। **उभे**=दोनों **जनुषी**=जीवनों को—भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को **अनु**=लक्ष्य करके ये उसे **अमृत्यवः**=रोगों से आक्रान्त न होने देनेवाली तथा **अदाभ्यासः**=वासनाओं से हिंसित न (Uninjured) होने देनेवाली हैं। ज्ञान की किरणों का भौतिक जीवन पर प्रभाव यह है कि मनुष्य मर्यादित जीवनवाला होकर रोगों का शिकार नहीं होता तथा आध्यात्मिक जीवन पर इसका प्रभाव यह है कि वासनाएँ इसपर आक्रमण नहीं कर पाती।

२. ये ज्ञान की किरणें वे हैं **येभिः**=जिनसे ये अपने **नृम्णा**=शक्ति, साहस व धनों (Strength, courge, wealth) को **च**=तथा **देव्या**=दिव्य गुणों को **पुनते**=पवित्र कर लेते हैं। ये ज्ञान के कारण हीनाकर्षण से दूर रहकर निकृष्ट सुखों का भोग नहीं करते और इनके दिव्य गुण और अधिक दीप्त हो उठते हैं। परिणामतः इनकी शक्ति ठीक बनी रहती है।

३. **आत् इत्**=इन दो बातों के अनन्तर ये रेणु वैश्वामित्र लोग **मननाः**=मननशील होकर प्रभु के नामों का मनन करते हुए **राजानम्**=सम्पूर्ण संसार को नियमित [regulate] करनेवाले देदीप्यमान (राजा=व्यवस्थापक, देदीप्यमान) प्रभु को **अगृभ्णत**=ग्रहण करते हैं। प्रभु की प्राप्ति के लिए ज्ञान के द्वारा अपने धनों, शक्तियों व गुणों को पवित्र करना आवश्यक है।

भावार्थ—हम अपने धनों, बलों व गुणों के मापक को ऊँचा करके मनन द्वारा प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

सूक्त-१८

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विविध नामों द्वारा प्रभु-स्मरण

१४२६. अभि वायुं वीत्यर्षा गृणानोऽ३भि मित्रावरुणा पूयमानः।
अभी नरं धीजवनं रथेष्ठामभीन्द्रं वृषणं वज्रबाहुम्॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कुत्स' है, जो सब अशिव भावनाओं को (कुथ हिंसायाम्) हिंसित कर देता है। १. यह कहता है कि **वीति**=वीतये=गतिशीलता के लिए (वी-गति) **वायुम् अभि अर्ष**='वायु' की ओर जानेवाला बन। (वा-गतिगन्धनयोः)। गतिशील—'स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च'—स्वाभाविकरूप से क्रियावाले प्रभु का ध्यान कर। इस गतिशीलता के द्वारा तू अपनी सब बुराइयों का गन्धन—हिंसन करनेवाला हो। वायु नाम से **गृणानः**=स्तुति करता हुआ तू भी 'वायु' सदृश ही बन जाएगा। २. **पूयमानः**=अपने को पवित्र करता हुआ तू वीतये—सब बुराइयों को परे फेंकने के लिए (वी-असन) **मित्रावरुणा अभि अर्ष**=मित्र और वरुण नामक प्रभु की ओर गतिवाला बन। प्रभु 'मित्र' इसलिए हैं कि वे सभी के साथ स्नेह करते हैं, 'वरुण' इस लिए कि वे द्वेष का निवारण करते हैं। इस रूप में प्रभु का स्मरण करता हुआ कुत्स भी राग-द्वेष को परे फेंककर सबके साथ स्नेह से वर्तता है और पवित्र जीवनवाला होता है ३. **वीतये**=अपने प्रकृष्ट विकास के लिए **नर**=(नृ नये) सबको आगे ले-चलनेवाले **धीजवनम्**=(जवन=Quickness) बुद्धि की मन्दता को दूर करनेवाले **रथेष्ठाम्**=शरीररूप रथ पर सारथि के रूप में स्थित प्रभु की ओर **अभिअर्ष**=जानेवाला बन। तू प्रभु को ही अपना सारथि बना, जिससे तेरी सब शक्तियों का विकास ठीक ढङ्ग से हो। प्रभु के हाथ में लगाम होगी तो अवनति का प्रश्न होता ही नहीं। ४. हे कुत्स! तू **इन्द्र**=उस सर्वशक्तिमान् **वृषणम्**=शक्तिशाली **वज्रबाहुम्**=बाहुओं में वज्र लिये हुए प्रभु की ओर **अभिअर्ष**=गति कर। सब बुराइयों के नष्ट करनेवाले प्रभु का स्मरण 'वीतये'—पवित्रता (Cleaning) के लिए आवश्यक ही है।

भावार्थ—प्रभु के भिन्न-भिन्न नामों का स्मरण करते हुए हम अपने जीवन के लिए प्रेरणा प्राप्त करें।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कुत्स की आभ्युदयिक प्रार्थना (Necessities)

१४२७. अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षाभि धेनूः सुदुघाः पूयमानः ।
अभि चन्द्रा भर्तवे नो हिरण्याभ्यश्वान् रथिनो देव सोम ॥ २ ॥

कुत्स प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज **सोम**=अत्यन्त सौम्य—शान्त प्रभो ! **पूयमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करने के हेतु से आप हमें १. **सुवसनानि वस्त्रा**=उत्तम आच्छादन करनेवाले वस्त्रों को **अभि अर्ष**=प्राप्त कराइए। हमें सर्दी-गर्मी से सुरक्षित करने के लिए उत्तम वस्त्र प्राप्त कराइए। २. **सुदुधाः धेनूः अभि अर्ष**=सुख से दोहनयोग्य दुधारू गौवों को प्राप्त कराइए, जिससे शरीर के पोषण में किसी प्रकार की कमी न आये। ३. **नः**=हमारे **भर्तवे**=भरण-पोषण के लिए **चन्द्रा हिरण्या**=सोने-चाँदी को अथवा (चदि आह्लादे) आह्लादक धनों को **अभ्यर्ष**=प्राप्त कराइए। सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक धन हमें दीजिए। ४. तथा हमें **रथिनः अश्वान् अभि अर्ष**=रथों में जोते जानेवाले घोड़ों को भी प्राप्त कराइए। सांसारिक जीवन के उत्कर्ष के लिए इनकी आवश्यकता है ही।

एवं वस्त्रों, गौवों, धन तथा घोड़ों के लिए प्रार्थना करता हुआ कुत्स यह समझता है कि (क) मेरी सारी शक्ति इन्हीं की प्राप्ति में समाप्त न हो जाए (ख) इनका अभाव मुझ अपवित्र साधनों के अवलम्बन के लिए बाध्य न करे और इस प्रकार 'अभ्युदय' की सीढ़ी पर चढ़कर मैं 'निःश्रेयस' की साधना करनेवाला बनूँ। (ग) इनके अभाव में कहीं मैं इनके लिए ही लालायित न बना रहूँ। इनको प्राप्त कर मैं इनकी निःसारता का अनुभव ले ज्ञानपूर्वक वैराग्य को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—हे प्रभो ! मुझे अभ्युदय से वञ्चित न कीजिए, जिससे मैं 'निःश्रेयस' साधना के लिए पर्याप्त समय दे सकूँ।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिव्य व पार्थिव वसु

१४२८. अभी नो अर्ष दिव्या वसून्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमानः ।
अभि येन द्रविणमश्नवामाभ्यार्षेयं जमदग्निवन्नः ॥ ३ ॥

हे प्रभो ! १. **नः पूयमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करते हुए आप **दिव्या वसूनि**=दिव्य वसुओं को, अर्थात् मस्तिष्क की ज्ञानरूप सम्पत्ति को हमें **अभि अर्ष**=प्राप्त कराइए। २. **विश्वा पार्थिवा वसूनि**=सम्पूर्ण पार्थिव धनों को—नीरोगता व बल आदि को **अभिअर्ष**=प्राप्त कराइए। जीवन की पवित्रता के लिए जहाँ ज्ञान की आवश्यकता है वहाँ नीरोगता व बल की भी उतनी ही आवश्यकता है।

हमें वह ज्ञान व बल प्राप्त कराइए **येन**=जिससे **द्रविणम्**=धन को (द्रु गतौ)—संसार-यात्रा के चलाने के लिए आवश्यक सम्पत्ति को हम **अभ्यश्नवाम्**=प्राप्त करें। सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए ज्ञान व बल दोनों की ही आवश्यकता है।

३. हे प्रभो ! **नः**=हमें **जमदग्निवत् आर्षेयम्**=प्रज्वलिताग्निवाले वेदज्ञान को **अभि अर्ष**=प्राप्त कराइए। हम ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करें, साथ ही हमारी जाठराग्नि सदा ठीक प्रकार से प्रज्वलित रहे, जिससे शरीर की नीरोगता व बल भी बना रहे। हम ज्ञानी हों, प्रज्वलित ज्ञानाग्निवाले

हों—(प्रज्वलिताग्नयः)—हमारी जाठराग्नि की दीप्ति से भूख ठीक बनी रहे (प्रजमिताग्नयः)

भावार्थ—हमें दिव्य वसु=ज्ञान प्राप्त हो, पार्थिव वसु—नीरोगता प्राप्त हो, इन दोनों से हम जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन (द्रविण) प्राप्त करें तथा हमारे जीवन में मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि दीप्त हो तो जठर में जाठराग्नि की दीप्ति हो।

सूक्त-१९

ऋषिः—**नृमेधपुरुमेधौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वृत्रहत्या

१४२९. यज्जायथा अपूर्व्य मघवन्वृत्रहत्याय।
तत्पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतो दिवम्॥ १ ॥

प्रभु कहते हैं कि हे **अपूर्व्य**=अद्वितीय (In-comparable) उन्नति कर सकनेवाले जीव! **मघवन्**=अध्यात्मक ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले जीव! **यत्**=जो तू **वृत्रहत्याय**=ज्ञान की आवरणभूत कामवासना के हनन के लिए **जायथाः**=उद्दिष्ट (to be destined for any thing) होता है, अर्थात् जब तेरा लक्ष्य वासना का विनाश हो जाता है और तू उसमें समर्थ होता है १. **तत्**=तब **पृथिवीम् अप्रथयः**=तू इस अपने पार्थिव शरीर को ठीक विस्तृत कर पाता है। वासना के विनाश के बिना शारीरिक विकास सम्भव नहीं। वासनाएँ शरीर को जीर्ण कर देती हैं। २. **उत तत् उ**=और तभी **दिवम्**=तू अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को **अस्तभ्नाः**=थामनेवाला होता है। वृत्र-विनाश से वीर्यरक्षा होती है—यह वीर्य ही मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और मनुष्य की विचारशक्ति को ठीक रखता है—उसकी बुद्धि मन्द नहीं पड़ जाती—सठिया नहीं जाती।

यह स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाला व्यक्ति 'नृ-मेध'=अन्य मनुष्यों के साथ सम्पर्कवाला बनता है। वासना-विनाश से इसके लिए स्वार्थ से ऊपर उठ सकना सम्भव हुआ—यह लोकहित में प्रवृत्त हो सका। इसका यह मेध=सङ्गम लोकरक्षण के लिए है, अतः यह 'पुरुमेध' (पृ=पालन) कहलाता है। यह वस्तुतः इस परार्थ के द्वारा ही स्वार्थ का भी साधन कर पाता है, क्योंकि यह परार्थ उसे वासनाओं से बचानेवाला प्रमाणित होता है, यह वासना का विजेता सचमुच 'अपूर्व्य'—अनुपम है—सच्ची अध्यात्म-सम्पत्ति को पाकर 'मघवा' कहलाने के योग्य है।

भावार्थ—हम वृत्रहत्या द्वारा स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्क को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**नृमेधपुरुमेधौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आत्मविजय से विश्व-विजय तक

१४३०. तत्ते यज्ञो अजायत तदर्क उत हस्कृतिः।
तद्विश्वमभिभूरसि यज्जातं यच्च जन्त्वम्॥ २ ॥

पिछले मन्त्र के प्रसङ्ग से ही कहते हैं कि वृत्रहनन कर लेने पर १. **तत्**=तब **ते**=तेरा यह जीवन **यज्ञः**=यज्ञरूप हो जाता है। वासना-विनाश हुआ और जीवन यज्ञमय बना। २. **तत्**=तभी **अर्कः ते**=ये मन्त्र तेरे होते हैं। अर्क निरुक्त में मन्त्रवाचक भी है। मनुष्य वृत्रहनन के बाद ही ज्ञानी बन सकता है। ३. **उत**=और तभी **हस्कृतिः**=तेरे जीवन में प्रकाशमय दिन का निर्माण होता है। तेरे

जीवन में उत्तरोत्तर प्रकाश की वृद्धि होकर अन्धकारमयी रात्रि समाप्त हो जाती है और प्रकाश का आधार दिन-ही-दिन हो जाता है और ४. सबसे बड़ी बात तो यह कि **तत्**=तभी **विश्वम्**=सब संसार को **यत् जातम्**=जो हो चुका है **यत् च जन्त्वम्**=जो होना है इस सब विश्व को **अभिभूः असि**=अपने वश में करनेवाला होता है। मनु ने कहा है कि '**जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः**', राजा स्वयं जितेन्द्रिय बनकर ही लोकों पर शासन करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय ही विश्व को जीतता है।

ऋषिः—**नृमेधपुरुमेधौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

तेजस्वितावाली शान्ति

१४३१. आमासु पक्वमैरय आ सूर्यं रोहयो दिवि।
घर्मं न सामं तपता सुवृक्तिभिर्जुष्टं गिर्वणसे बृहत्॥ ३ ॥

१. **आमासु**=वृत्रहनन के द्वारा तू इन अपरिपक्व शरीरों में **पक्वम्**=पक्वता **ऐरयः**=प्राप्त कराता है। वासना के विनष्ट होने पर शरीर के सब अङ्ग सुदृढ़ हो जाते हैं, क्योंकि वासना-विनाश से शरीर में शक्ति सुरक्षित रहती है। २. इस वृत्रहनन के द्वारा ही तू **सूर्यम्**=ज्ञानरूप सूर्य को **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **आरोहयः**=उदित करता है। वासना विनाश से सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और ज्ञानसूर्य अधिक और अधिक दीप्त होता चलता है। ३. इस वृत्रहनन के द्वारा तुम **घर्मं न**=तेजस्विता की भाँति **सामम्**=शान्ति को **सुवृक्तिभिः**=प्रभु स्तुतियों के साथ (नि० २.२४) **तपत**=दीप्त करो। (घृ=दीप्ति, साम—Calmness), अर्थात् वृत्रहत्या का परिणाम हमारे जीवनों में इस रूप में प्रकट होता है कि हम प्रभु-स्तवन करते हैं और हमारे शरीरों में तेजस्विता की दीप्ति प्रकट होती है तथा मन के अन्दर शान्ति का राज्य होता है। यह तेजस्वितावाली शान्ति **गिर्वणसे**=वेदवाणियों के द्वारा स्तुति किये जानेवाले प्रभु के लिए **बृहत् जुष्टम्**=बड़ी प्रिय है। यदि हमारे जीवनों में यह शान्ति होती है तो हम प्रभु के प्रिय बनते हैं।

भावार्थ—हमारे शरीर सुदृढ़ हों, मस्तिष्क में ज्ञानरूप सूर्य का उदय हो, हमें तेजस्विता के साथ शान्ति प्राप्त हो, हम प्रभु-स्तवन करते हुए प्रभु के प्रिय हों।

सूक्त-२०

ऋषिः—**अगस्त्यो मैत्रावरुणिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्कन्धोग्रीवीबृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सोम का पान

१४३२. मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः।
वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजी सहस्रसातमः ॥ १ ॥

हे **हरिवः**=(हरि+वन्) पाप-तापादिहरण-शक्ति से सम्पन्न इन्द्र! **ते**=तेरे—तेरे द्वारा उत्पन्न किये गये अथवा जो मुख्यरूप से आपकी प्राप्ति का साधन है, उस **पात्रस्य इव**=(पा+त्र) पीने के द्वारा त्राण करनेवाले, अर्थात् यदि हम उसका पान करते हैं—उसे अपने ही अन्दर व्याप्त (imbibe) कर लेने से वह हमारी रोगों से रक्षा करता है, वह **महः**=तेज **अपायि**=मुझसे पीया गया है—मैंने उसे प्राणसाधना द्वारा अपने ही अन्दर व्याप्त किया है, और परिणामतः हे प्रभो! **मत्सि**=आपने मुझे

विशेषरूप से आनन्दित किया है। हे प्रभो! आप **मदः**=उल्लास के पुञ्ज हैं, और इसीलिए अपने सखाओं को भी **मत्सरः**=उल्लासमय जीवनवाला बनाते हैं।

हे प्रभो! **वृष्णः ते**=शक्तिशाली आपका **इन्दुः**=यह सोम **वृषा**=मुझे भी शक्तिशाली बनानेवाला है और सब आनन्दों की वर्षा करनेवाला है। यह सोम **वाजी**=विशेष शक्ति को प्राप्त करानेवाला है और **सहस्र-सातमः**=अतिशयेन उल्लासमय जीवन (स-हस्) देनेवाला है।

सोम की इस महिमा को समझता हुआ 'अगस्त्य' (अगं पर्वतं अपि स्त्यायति—संहन्ति) 'पर्वत को भी तोड़-फोड़ देने की शक्तिवाला' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि प्राणापान की साधना से सोमपान के लिए यत्न करता है और तभी 'मैत्रावरुणि' नामवाला होता है।

भावार्थ—सोम शक्ति देता है—जीवन को उल्लासमय बनाता है।

ऋषिः—**अगस्त्यो मैत्रावरुणिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पृतनाषाट् सोम

१४३३. आ नस्ते गन्तु मत्सरो वृषा मदो वरेण्यः।
सहावाँ इन्द्र सानसिः पृतनाषाडमर्त्यः ॥ २ ॥

हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **ते**=आपका यह 'इन्दु'—सोम **नः**=हमें **आगन्तु**=प्राप्त हो, जो सोम—१. **मत्सरः**=एक विशेष उल्लास का सञ्चार करनेवाला है, २. **वृषा**=शक्तिशाली व आनन्दों का वर्षक है, ३. **वरेण्यः मदः**=एक वरणीय—बड़ा वाञ्छनीय मद—आनन्दजनक साधन है। इससे उत्पन्न आनन्द स्थायी है—क्षणिक नहीं। ४. **सहावान्**=यह रोगकृमियों का मर्षण करनेवाला है ५. **सानसिः**=अतएव सम्भजनीय है—सेवनीय है। यह सोम प्रत्येक मनुष्य के लिए प्राप्त करने योग्य वस्तु है। ६. **पृतनाषाट्**=यह आसुर सेना का पराभव करनेवाला है—मन के अन्दर आ जानेवाली अशुभ वृत्तियों को कुचल देनेवाला है। ८. **अ-मर्त्यः**=इस प्रकार यह सोम रोगकृमियों का पराभव करके हमें अकालमृत्यु से—रोगादि से बचानेवाला है तथा आसुर वृत्तियों को कुचल देने के कारण यह हमें ऐसा बना देता है कि हम किसी भी भौतिक वस्तु के पीछे मारे-मारे नहीं फिरते (अ-मर्त्य)।

भावार्थ—सोम हमपर आक्रमण करनेवाले आसुर भावों के सैन्य को पूर्ण पराभव देनेवाला है (पृतनाषाट्)।

ऋषिः—**अगस्त्यो मैत्रावरुणिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

दस्यु से देव

१४३४. त्वं हि शूरः सनिता चोदयो मनुषो रथम्।
सहावान् दस्युमव्रतमोषः पात्रं न शोचिषा ॥ ३ ॥

हे सोम! **त्वं हि**=तू निश्चय से १. **शूरः**=अ से ह तक (a to z) सब शत्रुओं का शातन करनेवाला है। रोगकृमियों को नष्ट करके तू हमारे शत्रुओं का नाश करता है २. **सनिता**=शत्रुओं का नाश करके तू नीरोगता आदि का देनेवाला है। ३. **मनुषः रथं चोदय**=हे सोम! तू ही मनुष्य के रथ को प्रेरित करनेवाला है। तेरे होने से यह रथ चलता है, अर्थात् तेरी समाप्ति और इस जीवन की भी

समाप्ति (मरणं बिन्दुपातेन)। ४. **सहावान्**=मन के अन्दर उत्पन्न हो जानेवाली अशुभ वृत्तियों को मसल डालनेवाला है। 'वीर्य' मनुष्य को वीरत्व—Virtues प्राप्त कराता है और वह सब vices= विषयों से ऊपर उठने में समर्थ होता है। ५. इस प्रकार यह सुरक्षित सोम एक **दस्युम्**=ध्वंसक वृत्तिवाले (दस्=to destroy) **अव्रतम्**=कुत्सित—निन्दित-व्रतोंवाले पुरुष को भी **ओषः**=दुर्गुणों के दहन (उष् दाहे) से ऐसा पवित्र बना देता है **न**=जैसेकि **पात्रम्**=किसी मलिन बर्तन को **शोचिषा**=अग्नि के द्वारा—अग्नि में तपाकर शुद्ध कर देते हैं।

इस प्रकार यह सोम सब कुटिलगतियों को (अग) नष्ट करके (स्त्य) एक व्यक्ति को सचमुच 'अगस्त्य' बना देता है।

भावार्थ—हम 'सोम' के महत्त्व को समझें, उसके सुरक्षण द्वारा सु-गुणों का सन्धारण करें।

इति द्वादशोऽध्यायः, षष्ठप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

षष्ठप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—**कविर्भार्गवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सात्त्विक, सर्वोत्तम अन्न

१४३५. पवस्व वृष्टिमा सु नोऽपामूर्मिं दिवस्परि। अयक्ष्मा बृहतीरिषः ॥ १ ॥

वैदिक संस्कृति का एक सिद्धान्त है जिसे सामान्यभाषा में ''जैसा अन्न वैसा मन'' इन शब्दों में कहा गया है। उपनिषद् ने इसे '**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः**' इन शब्दों में कहा है कि 'आहार की शुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण की शुद्धि में अपने स्वरूप व लक्ष्य का स्मरण रहता है और स्मृति रहने पर वासना-ग्रन्थियों का विनाश हुआ करता है'। इस तत्त्व को जानकर मन्त्र का ऋषि 'कविभार्गव' (तत्त्वद्रष्टा व तेजस्वी) सात्त्विक अन्न के लिए प्रार्थना करता है। वह यह भी समझता है कि 'सर्वोत्तम अन्न' वृष्टि-जन्य है, अतः वृष्टि के लिए प्रार्थना करता हुआ वह कहता है कि—

हे सोम प्रभो! **नः**=हमारे लिए **वृष्टिम्**=वृष्टि को **सु**=उत्तम प्रकार से **आ**=चारों ओर (निकामे निकामे) उस-उस इष्ट स्थान में **आपवस्व**=क्षरित कीजिए—बरसाइए। **दिवः**=द्युलोकों से **अपाम् उर्मिम्**=जलों के संघातों को **परि (पवस्व)**=टपकाइए। इस प्रकार **अ-यक्ष्माः**=शरीर को रोगों से आक्रान्त न होने देनेवाले स्वास्थ्यप्रद तथा **बृहतीः**=वृद्धि के कारणभूत—हृदय को विशाल बनानेवाले **इषः**=अन्नों को हमें प्राप्त कराइए।

भावार्थ—वृष्टिजलों से उत्पन्न सात्त्विक अन्नों से १. हमारे शरीर नीरोग बनें, और २. हमारे हृदय विशाल हों।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गौवें—आनन्द व प्रेम

१४३६. तया पवस्व धारया यया गाव इहागमन्। जन्यास उप नो गृहम्॥ २ ॥

वृष्टि के ठीक होने पर सुभिक्ष होता है। सुभिक्ष गोपालनादि में सहायक होता है तथा सब घरों में आनन्द-मङ्गल बना रहता है। इसी भावना को 'कविर्भार्गव' इस रूप में कहता है कि—

हे सोम! आप **तया**=उस **धारया**=धारण करनेवाली वृष्टि-जल धारा से **पवस्व**=जलों को आकाश से क्षरित कीजिए **यया**=जिससे **इह**=यहाँ—हमारे घरों में **गावः**=गौवें **आगमन्**=आएँ। हमें चारे इत्यादि की कमी न होने से गौवों के रखने की सुविधा हो और परिणामतः **नः गृहम् उप**=हमारे घरों के समीप **जन्यासः**=आनन्द-ही-आनन्द (pleasure, happiness) हो तथा उनमें प्रेम (Affection) का राज्य हो।

जिस घर में गौवों का निवास होता है वहाँ १. शरीर स्वस्थ होते हैं, २. मन विशाल होता है तथा ३. बुद्धि तीव्र व सात्त्विक होती है। परिणामतः वहाँ आनन्द-ही-आनन्द होता है। सब लोग

परस्पर प्रेम से रहते हैं।

भावार्थ—वृष्टि ठीक हो और हम घरों में गौवों को रक्खें, जिससे हममें नीरोगता, निश्छलता व नि:स्वार्थता का आनन्द हो और परस्पर प्रेम हो।

ऋषि:—**कविर्भार्गव:** ॥ देवता—**पवमान: सोम:** ॥ छन्द:—**गायत्री** ॥ स्वर:—**षड्ज:** ॥

वृष्टि और यज्ञ

१४३७. घृतं पवस्व धारया यज्ञेषु देववीतमः। अस्मभ्यं वृष्टिमा पव॥ ३॥

आर्यसंस्कृति में वृष्टि और यज्ञ में कार्य-कारण सम्बन्ध समझा जाता है। '**यज्ञात् भवति पर्जन्य:**' यज्ञ से पर्जन्य (बादल) बनकर वृष्टि होती है। '**अग्निहोत्रं स्वयं वर्षम्**', यह कोशवाक्य अग्निहोत्र से वृष्टि होने को स्वयंसिद्ध (axiom) के समान मानता है, अत: 'कविर्भार्गव' प्रभु से प्रार्थना करता है—हे प्रभो! **देववीतम:**=हमारे लिए दिव्य गुणों को अत्यन्त (तम) चाहते हुए (वी) आप **यज्ञेषु**=यज्ञों में **धारया**=धारण के उद्देश्य से **घृतम्**=घृत को **पवस्व**=क्षरित कीजिए। मनुष्य जब स्वार्थ की ओर चलता है तब उसकी विचारधारा यह होती है कि यज्ञों में डालने के स्थान में—अग्नि में स्वाहा करने के स्थान पर मैं उतने घृत को अपने शरीर में डालकर पुष्टि व आनन्द का लाभ क्यों न करूँ? इस मनोवृत्ति से यज्ञों के अभाव में मनुष्य अधिकाधिक स्वार्थी व कृपण बनता जाता है। केवल अपने लिए पकानेवाला मानो पाप का ही भक्षण करता है '**केवलाघो भवति केवलादी**'—यह केवलादी शुद्ध पाप बन जाता है—पाप का पुतला हो जाता है। इसके जीवन से दिव्य गुणों का उन्मूलन हो जाता है। दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए यज्ञिय वातावरण आवश्यक है।

हे प्रभो! इन यज्ञों के होने पर आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वृष्टिम्**=वृष्टि को **आपव**=क्षरित कीजिए।

भावार्थ—हम यज्ञ करें, प्रभु वृष्टि करें।

ऋषि:—**कविर्भार्गव:** ॥ देवता—**पवमान: सोम:** ॥ छन्द:—**गायत्री** ॥ स्वर:—**षड्ज:** ॥

सोमों की शृंखला

१४३८. स न ऊर्जे व्या३व्ययं पवित्रं धाव धारया। देवास: शृणवन्हि कम्॥ ४॥

चन्द्र ओषधीश है—इस सोम नामवाले चन्द्र से ओषधियों में रस का सञ्चार होता है। ओषधियों का राजा भी 'सोम' कहलाता है। यह जब यज्ञ में आहुत होता है तब वृष्टि होकर सात्त्विक सौम्य अन्न उत्पन्न होता है। इस सौम्य अन्न से शरीर में 'सोम' की उत्पत्ति होती है। एवं, आधिदैविक सोम (चन्द्र) से पार्थिव सोम (लता) की उत्पत्ति होती है, उससे अध्यात्म सोम (semen) बनता है। इस सोम की ऊर्ध्वगति होने पर सोम (परमात्मा) के दर्शन होते हैं। एवं, इन सोमों में कार्यकारणभाव चलता है।

शरीर में उत्पन्न सोम से 'कविर्भार्गव' कहता है कि **स:**=वह तू **न:**=हमारी **ऊर्जे**=बल और प्राणशक्ति के लिए अपनी **धारया**=धारक शक्ति के साथ **पवित्रम्**=पवित्र तथा **अव्ययम्**=(अ-वि अय) विविध विषय-वासनाओं की ओर न जानेवाले हृदय की ओर **विधाव**=विशेषरूप से गतिवाला हो। वीर्य की ऊर्ध्वगति का ही परिणाम है कि १. शरीर बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न बनता है, २. हृदय पवित्र होता है और ३. यह चञ्चलचित्त विषय-वासनाओं की ओर न जाकर स्थिर होने लगता है।

हे सोम! तू ऊर्ध्वगतिवाला ही हो, जिससे **देवासः**=लोग पवित्र हृदय व दिव्य गुणोंवाले बनकर **हि**=निश्चय से **कम्**=उस आनन्दमय प्रभु को **शृणवन्**=सुनें। पवित्र हृदय में प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है। एवं, सोम की ऊर्ध्वगति के अगले परिणाम हैं—४. मनुष्य दिव्य गुणोंवाला बनता है ५. हृदयस्थ प्रभु की आनन्दमयी वाणी को सुनता है।

भावार्थ—वृष्टिजलों से उत्पन्न सात्त्विक अन्न हममें उस सोम को जन्म दे जो ऊर्ध्वगतिवाला होकर १. हमें बल व प्राणशक्तिसम्पन्न करे, २. हमारे हृदयों को पवित्र बनाये, ३. हमारे चित्तों को शान्त करे, ४. दिव्य गुणसम्पन्न बनानेवाला हो और ५. हमें प्रभुवाणी श्रवण में प्रवृत्त करे।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्योतियों की जगमगाहट

१४३९. पवमानो असिष्यदद्रक्षांस्यपजङ्घनत्। प्रत्नवद्रोचयन्रुचः ॥ ५ ॥

शरीर में सात्त्विक अन्न से उत्पन्न होनेवाली शक्ति 'सोम' है। यह हमारे जीवनों में पवित्रता के सञ्चार का कारण बनती है, अतः 'पवमान' नामवाली होती है। ये **पवमानः**=पवित्रता करनेवाले सोम हमारे शरीरों में **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोग-कृमिरूप राक्षसों को **अपजंघनत्**=नष्ट करके दूर करता हुआ **असिष्यदत्**=बहता है। (स्यन्दू—प्रस्रवणे)। यह शरीर को नीरोग करके **प्रत्नवत्**=पहले की भाँति **रुचः**=कान्तियों को **रोचयन्**=चमका देता है। हमारे शरीर पहले प्रकृत अवस्था में जैसे चमकते थे वैसे ही अब नीरोग होकर फिर चमक उठते हैं। १. सोम के अभाव में रोगकृमियों ने हमारे शरीर पर अपना अधिकार कर लिया था, परन्तु इस सोम ने उनका बुरी तरह संहार कर दिया है। अब शरीर फिर पहले की भाँति चमकने लगा है। २. सोम के अभाव में राक्षसी वृत्तियों ने मन को भी मलिन कर दिया था। अब इस सुरक्षित सोम ने इन राक्षसी वृत्तियों को समाप्त करके मन व हृदय को पवित्र व उज्ज्वल बना दिया है। ३. ईंधन न मिलने से ज्ञानाग्नि भी बुझ-सी चली थी, पर अब इस सोमरूप ईंधन को पाकर ज्ञानाग्नि भी दीप्त हो उठी है। एवं, क्या शरीर, क्या हृदय, और क्या मस्तिष्क सभी की कान्तियाँ पहले की भाँति फिर से खूब चमक उठी हैं। सोम ने हमारे शरीर, हृदय व मस्तिष्क सभी को 'रोचिष्मान्'—कान्तिवाला बना दिया है। इस प्रकार शरीर, मन व बुद्धि की शक्तियों को उज्ज्वल बनाकर यह व्यक्ति भार्गव—तेजस्वी तो बना ही है साथ ही बुद्धि की तीव्रता ने इसे क्रान्तदर्शी भी बना दिया है। एवं, मन्त्र का ऋषि यह 'कविर्भार्गव' अन्वर्थ नामवाला है।

भावार्थ—सोमरक्षा से राक्षसों का संहार हो, पहले की भाँति हमारे जीवन-गगन में ज्योतियाँ चमक उठें।

सूक्त-२

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

हम आगे बढ़ने की भावना से परिपूर्ण हों

१४४०. प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर। अरङ्गमाय जग्मयेऽपश्चादध्वने नरः ॥ १ ॥

३५२ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

प्रति-अस्मै=प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के लिए **नरः**=आगे ले-चलने की भावनाओं को **भर**=परिपूर्ण

कीजिए। किसके लिए?

१. **पिपीषते**=जो रयि और प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए सोमपान करना चाहता है, २. **विश्वानि**=न चाहते हुए भी अन्दर प्रवेश करनेवाले काम-क्रोधादि को **विदुषे**=समझनेवाले के लिए, ३. **अरंगमाय**=(अरं=वारण)—लोकदु:ख-निवारण के लिए, गतिशील के लिए, ४. **जग्मये**=निरन्तर क्रियाशील के लिए ५. **अपश्चादध्वने**=जीवन में पीछे कदम न रखनेवाले के लिए।

भावार्थ—हम १. सोमपान की प्रबल कामनावाले बनें। २. काम-क्रोधादि को आत्मालोचन द्वारा समझें। ३. लोकदु:ख-निवारण के लिए प्रयत्नशील हों। ४. निरन्तर क्रियाशील बनें। ५. जीवन में कभी पीछे पग न रक्खें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अपने को उस-जैसा ही बनाएँ

१४४१. एमेनं प्रत्येतन सोमेभिः सोमपातमम्।
अमत्रेभिर्ऋजीषिणमिन्द्रं सुतेभिरिन्दुभिः ॥ २ ॥

आ=सर्वथा **ईम्**=निश्चय से **एनम्**=इस प्रभु के **प्रतिएतन**=ओर आओ—चलो। यह सिद्धान्त तो निश्चित ही है कि प्रकृति की ओर न जाकर प्रभु की ओर चलना चाहिए। यह कार्य सर्वोत्तम ढंग से ऐसे ही हो सकता है कि हम उस-जैसे ही बनकर उसकी ओर चलने का ध्यान करें। वेद कहता है कि—

१. **सोमपातमम्**=अतिशय सोम का पान करनेवाले—शक्ति को अपने अन्दर धारण करनेवाले प्रभु को **सोमेभिः**=सोमों के द्वारा ही प्राप्त करो। यदि हम उत्पन्न सोम की रक्षा नहीं करते तो अपनी कितनी हानि करते हैं?

२. **ऋजीषिणम्**=(seizing, driving away) शत्रुओं का विद्रावण करते हुए उस प्रभु को **अमत्रेभिः**=शत्रुओं के अभिभव (overpowering enemies) के द्वारा पाने का प्रयत्न करो।

३. **इन्द्रम्**=बल के कार्यों को करनेवाले प्रभु को (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य) **सुतेभिः**=अपने अन्दर उत्पन्न किये हुए **इन्दुभिः**=सोम व शक्ति के कणों से ही प्राप्त किया जा सकता है।

भावार्थ—प्रभु-जैसे बनकर हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ब्रह्मचर्य

१४४२. यदी सुतेभिरिन्दुभिः सोमेभिः प्रतिभूषथ।
वेदा विश्वस्य मेधिरो धृषत्तन्तमिदेषते ॥ ३ ॥

प्रभु 'भारद्वाज बार्हस्पत्य'=शक्ति को अपने में भरनेवाले ज्ञानी से कहते हैं कि **यत् ई**=जब ही तुम **सुतेभिः**=शरीर में रसादि क्रम से उत्पन्न हुए-हुए **इन्दुभिः**=शक्ति देनेवाले **सोमेभिः**=सोमकणों से **प्रतिभूषथ**=अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सुभूषित करते हो (भूष्=adorn, give beauty to) तो उसका परिणाम यह होता है कि तुम १. **विश्वस्य वेद**=ज्ञानी बनते हो—सारे ज्ञान-विज्ञान के प्राप्त करनेवाले होते हो। २. **मेधिरः**=उत्तम मेधावाले बनते हो। बुद्धि का निर्माण इन्हीं सोमकणों से होता है। सोम

का अपव्यय करनेवालों की ज्ञानाग्नि बुझ जाती है—थोड़े-से भी गम्भीर चिन्तन से उनका सिर दर्द करने लगता है ३. **धृषत्**=तू काम, क्रोध, लोभ आदि अन्तःशत्रुओं का धर्षण करनेवाला बनता है। ये शत्रु तुझपर प्रबल नहीं हो पाते। ४. **तं तं इत् एषते**=यह सोम से अपने जीवन को सुन्दर बनानेवाला उस-उस कामना को प्राप्त होता है, अर्थात् जो चाहता है वह करने में समर्थ होता है, ब्रह्मचारी के लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य से सोमकणों की ऊर्ध्वगति के द्वारा १. मनुष्य सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञानों को प्राप्त करता है। २. बुद्धिमान् बनता है। ३. शत्रुओं का धर्षण करनेवाला होता है और ४. सब कामनाओं को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सुरक्षित सोम वासनाओं के सन्ताप से बचाता है।

१४४३. अस्माअस्मा इदन्धसोऽध्वर्यो प्र भरा सुतम्।
कुवित्समस्य जेन्यस्य शर्धतोऽभिशस्तेरवस्वरत्॥ ४॥

प्रभु 'भारद्वाज बार्हस्पत्य' को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे **अध्वर्यो**=अहिंसा से अपने को युक्त करनेवाले (अध्वर-यु)। अपनी किसी शक्ति व ज्ञान की हिंसा न होने देनेवाले भरद्वाज! तू **अन्धसः**=अत्यन्त ध्यान देने योग्य—सावधानी से रक्षा करने योग्य—इस सोम के **सुतम्**=उत्पन्न कण-कण को **अस्मा अस्मा इत्**=इस आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए ही **प्र-भर**=प्रकर्षेण धारण कर। इसका अपव्यय न होने देकर—इसकी ऊर्ध्वगति से अपने ज्ञान को बढ़ाता हुआ तू मेधिर और धृषत्=बुद्धिमान् और शत्रुओं का धर्षण करनेवाला बनकर प्रभु को प्राप्त करनेवाला बन।

यह सुरक्षित सोम **समस्य**=सब **जेन्यस्य**=जीतने योग्य **शर्धतः**=(शृध to cut off) हमारी शक्तियों को क्षीण करती हुई **अभिशस्तेः**=अभिशापरूप बुराइयों के **कुवित्**=अति **अवस्वरत्**=उत्ताप से पृथक् करता है। (स्वृ=उपताप)। सोम को सुरक्षित करने पर काम, क्रोध, लोभ आदि वासनाएँ मनुष्यों को सन्तप्त नहीं कर पातीं।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होकर मनुष्य को वासनाओं के सन्ताप से बचाता है।

सूक्त-३

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु-गायन

१४४४. बभ्रवे नु स्वतवसेऽरुणाय दिविस्पृशे। सोमाय गाथमर्चत॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अ-सित' विषयों से अबद्ध 'काश्यप'=पश्यक, तत्त्वद्रष्टा 'देवल'=दिव्य गुणों का उपादान करनेवाला है। 'वह ऐसा कैसे बन पाया है?' इस बात का रहस्य प्रस्तुत मन्त्र में इस रूप में वर्णित है कि यह 'सदा प्रभु का स्मरण करता है।' यह कहता है कि—

नु गाथं अर्चत=अब स्तुतिसमूह का उच्चारण करो—स्तोत्रों के द्वारा प्रभु का गायन करो—उसके नामों का सतत उच्चारण करो—उसी के नामों के अर्थ का चिन्तन करो। किसके लिए—

१. **बभ्रवे**=सबका भरण-पोषण करनेवाले के लिए। जो प्रभु सभी का भरण-पोषण करते हैं—नास्तिकों के भी निवास का हेतु हैं (अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति)।

२. **स्वतवसे**=अपने बलवाले के लिए। प्रभु की शक्ति नैमित्तिक नहीं—उनकी शक्ति स्वाभाविक है (स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च)। वे संसार में सभी को शक्ति प्राप्त करा रहे हैं—प्रभु को शक्ति प्राप्त करानेवाला कोई दूसरा नहीं है।

३. **अरुणाय**=(अरुण: आरोचत:—नि० ५.२०) सर्वतो दीप्तिमान् के लिए। वे प्रभु सर्वत: देदीप्यमान हैं। उस प्रभु की दीप्तियाँ ही सर्वत: चमक रही हैं।

४. **दिविस्पृशे**=(विद्याप्रकाशयुक्ताय—द० य० ३३.८५) ज्ञान के प्रकाश से युक्त के लिए। वे प्रभु ज्ञानस्वरूप हैं—उनका ज्ञान-प्रकाश ही ज्ञानियों के हृदयों को ज्ञान की ज्योति से दीप्त कर रहा है।

५. **सोमाय**=शान्तस्वरूप के लिए। वे प्रभु ज्ञानाग्नि से दीप्त होते हुए भी शान्तस्वरूप हैं। ज्ञानाग्नि वस्तुत: हृदय की शान्ति को जन्म देती है।

इस प्रकार प्रभु के स्तवन से ही स्तोता 'असित' विषयों से अबद्ध होकर 'देवल'=दिव्य गुणोंवाला बनता है।

भावार्थ—हम 'बभ्रु, स्वतवान्, अरुण, दिविस्पृक्, सोम' का गायन करें।

ऋषि:—**असित: काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

पवित्रता व माधुर्य

१४४५. हस्तच्युतेभिरद्रिभि: सुतं सोमं पुनीतन। मधावा धावता मधु॥ २॥

प्रभु-स्तवन के द्वारा पवित्रीभूत हृदय में जब प्रभु का प्रकाश होता है तब कहते हैं कि वह सोम=शान्त प्रभु सुत=उत्पन्न हुए हैं। स्तोताओं के लिए उपदेश देते हैं कि **सुतं सोमम्**=इस आविर्भूत सोम का लक्ष्य करके **पुनीतन**=अपने को अधिक और अधिक पवित्र बनाओ। पवित्र हृदय में ही उस प्रभु का दर्शन व निवास होता है।

पवित्रता कैसे करें? १. **हस्तच्युतेभि:**=(हन् धातु से बना हस्त शब्द यहाँ हिंसा का वाचक है)। हिंसाओं को छोड़ने के द्वारा। पवित्रता के लिए हिंसा का त्याग आवश्यक है। २. **अद्रिभि:**=(अद्रय: आदरणीया:—नि० ९.८) आदर की भावनाओं (adoration) से। जब हम आदर की भावनाओं से युक्त होकर हृदय में प्रभु का उपासन करते हैं तब सब वासनाओं का उन्मूलन होकर हृदय पवित्र हो जाता है।

'परमं वा एतद् रूपं देवतायै यन्मधु' (तै० ३.८.१४.२) इस वाक्य में उस देवता का जो सर्वोत्कृष्टरूप है, उसे 'मधु' कहा गया है। **मधौ**=उस मधुरूप प्रभु में **आधावत**=सब प्रकार से अपने को शुद्ध कर डालो (धाव्=शुद्धि)। अपने को शुद्ध करके स्वयं भी **मधु**=मधु ही हो जाओ। प्रभु के अन्दर निवास करनेवाला 'मधु' ही बन जाता है—कभी कड़वी वाणी का प्रयोग नहीं करता। 'उपासना और कटुता' ये विरोधी बातें हैं। प्रभु के उपासक का जीवन माधुर्य से परिपूर्ण होता है।

भावार्थ—हिंसा को छोड़कर, प्रभु के प्रति आदर की भावना से हम अपने को पवित्र बनाएँ। माधुर्यमय प्रभु में निवास कर 'मधु' ही बन जाएँ।

ऋषि:—**असित: काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

नमन-निरोध-निधान (सोमपान)

१४४६. नमसेदुप सीदत दध्नेदभि श्रीणीतन। इन्दुमिन्द्रे दधातन॥ ३॥

हे मनुष्यो ! तुम १. **नमसा इत्**=निश्चय से नमन के द्वारा **उपसीदत**=प्रभु के समीप स्थित होओ। मनुष्य जितना-जितना अहंकारवाला होता है, उतना-उतना प्रभु से दूर होता जाता है, नम्रता उसे प्रभु के समीप प्राप्त कराती है।

२. **दध्ना इत्**=(इन्द्रियं वै दधि—तै० २.१.५.६) अपनी सब इन्द्रियों से ही **अभि श्रीणीतन**=प्रभु की भावना को अपने में परिपक्व करो (श्रीणन्=परिपक्वं कुर्वन्। —द० ऋ० १.६८.१) अथवा इन्द्रियों के द्वारा उस प्रभु का ही आश्रय करो (श्रीणानः=आश्रयकुर्वाणः—द० य० ३३.८५)। हम अपनी इन्द्रियों को विषयों से विनिवृत्त कर—मन द्वारा उनका निरोध करके और मन को बुद्धि के द्वारा निरुद्ध कर प्रभु का सेवन करें—प्रभु की भावना को अपने में परिपक्व करें।

३. **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के निमित्त ही **इन्द्रम्**=सोम को **दधातन**=अपने अन्दर धारण करो। सोम के पान से, उसे अपने अन्दर सुरक्षित रखने से मनुष्य की ज्ञानाग्नि दीप्त होती है—बुद्धि सूक्ष्म बनती है और इस सूक्ष्म बुद्धि से प्रभु का दर्शन होता है '**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या।**'

भावार्थ—हममें नमन हो, इन्द्रिय-वृत्तियाँ प्रभु-प्रवण हों और सोमपान के द्वारा हम अपने को प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएँ।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु द्वारा देवों की इच्छापूर्ति

१४४७. अमित्रहा विचर्षणिः पवस्व सोम शं गवे। देवेभ्यो अनुकामकृत्॥ ४॥

हे **सोम**=शान्तस्वभाव प्रभो ! आप **पवस्व**=हमारे जीवनों को पवित्र कीजिए तथा **गवे**=हमारी इन्द्रियों के लिए **शम्**=शान्ति प्राप्त कराइए।

आप **अमित्र-हा**=शत्रुओं के नष्ट करनेवाले हैं। काम, क्रोधादि शत्रुओं को नष्ट करके आप हमारे जीवनों को पवित्र करते हैं।

विचर्षणिः=(पश्यतिकर्मा—नि० ३.११) आप विशेषरूप से हमारा ध्यान करते हैं (Look after) (विविधविद्याप्रदः—द० य० १९.४२) आप सब ज्ञानों के देनेवाले हैं। ज्ञान प्राप्त कराकर आप काम-क्रोधादि शत्रुओं का नाश करते हैं। इन शत्रुओं के नाश से हमारी इन्द्रियाँ शान्त होती हैं।

देवेभ्यः=जिन व्यक्तियों के कामादि शत्रुओं का नाश हो गया है और जिनको विद्या का प्रकाश प्राप्त हुआ है, उन देवों के लिए हे प्रभो ! आप **अनुकामकृत्**=अनुकूल इच्छाओं को पूर्ण करनेवाले हो। इन देवों में शास्त्रविरुद्ध इच्छाएँ उत्पन्न ही नहीं होतीं। उनकी शास्त्रानुकूल सब इच्छाएँ प्रभु कृपा से अवश्य पूर्ण होती हैं।

भावार्थ—हम कामादि शत्रुओं का नाश करके तथा विद्या का प्रकाश प्राप्त करके देव बनें। प्रभु हमारी शास्त्रानुकूल सब इच्छाओं को पूर्ण करेंगे।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

नाड़ी-संस्थान-भ्रंश (Nervous Breakdown) कब ?

१४४८. इन्द्राय सोम पातवे मदाय परि षिच्यसे। मनश्चिन्मनसस्पतिः॥ ५॥

हे **सोम**=अन्नादि के सारभूत तत्त्व ! तू **मनश्चित्**=मन का भी चयन करनेवाला है, अर्थात्

मानस शक्ति का भी बढ़ानेवाला है। **मनसः पतिः**=मानसशक्ति का रक्षक है। सोम के सुरक्षित होने पर मानसशक्ति की वृद्धि व रक्षा होती है। भोगविलास में फँसकर इसके नष्ट होने से ही—Nervous Break down आदि रोग हो जाते हैं। इसके सुरक्षित होने पर मननशक्ति की वृद्धि होती है, मन बड़ा प्रबल बना रहता है। हमारे मनों पर आसुर वृत्तियों के आक्रमण नहीं होते।

हे सोम! तू १. **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए २. **पातवे**=शरीर की रोगादि से रक्षा के लिए, और ३. **मदाय**=जीवन में उल्लास के लिए **परिषिच्यसे**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सिक्त होता है। जो भी मनुष्य सोम के महत्त्व को समझ जाता है वह इसे कभी नष्ट नहीं होने देता। इसकी ऊर्ध्वगति के द्वारा वह इसे अपने शरीर का ही भाग बनाता है। सारे रुधिर में व्याप्त होकर यह सर्वाङ्गों में सिक्त होता है और हमें १. दृढ़ मनवाला बनाता है, २. सुरक्षित मनवाला करता है, ३. प्रभु-दर्शन के योग्य बनाता है, ४. नीरोग शरीरवाला करता है तथा ५. जीवन में विशेष ही उल्लास देता है।

भावार्थ—हम 'सोमपान' के महत्त्व को समझें और इसके द्वारा स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन व स्वस्थ बुद्धिवाले बनें।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोम से सोम का मिलन

१४४९. पवमान सुवीर्यं रयिं सोम रिरीहि णः। इन्दविन्द्रेण नो युजा ॥ ६ ॥

हे **पवमान सोम**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! तू **नः**=हमें **सुवीर्यम्**=उत्तम प्राणशक्ति को तथा **रयिम्**=रयिशक्ति को (प्राणशक्ति ही पुरुष में सुवीर्य व स्त्री में रयि कहलाती है) **रिरीहि**=दे। हमारे शरीरों को वीर्य व रयि से युक्त कर। जिस समय इन रयि व सुवीर्यरूप चन्द्रशक्ति व सूर्यशक्तियों से हमारे शरीर संयुक्त होते हैं तब ये नीरोग, आह्लादमय व प्रकाशयुक्त होते हैं। शरीर नीरोग है तो मन प्रसन्न और बुद्धि उज्ज्वल।

इस प्रकार हमारे जीवनों को सुन्दर बनाकर सोम हमें उन्नति-पथ पर आगे बढ़ने के योग्य बनाता है। आगे बढ़ते हुए हम एक दिन प्रभु के समीप पहुँचनेवाले हो जाते हैं। मन्त्र का ऋषि 'असित' सोम से कहता है कि हे **इन्दो**=शक्ति देनेवाले सोम! तू **इन्द्रेण**=उस परमात्मा से **नः**=हमें **युज**=सङ्गत कर दे। वस्तुतः यह 'सोम'=वीर्यशक्ति जड़ जगत् की सर्वोत्तम वस्तु है, वह सोम=परमात्मा चेतन जगत् में सर्वश्रेष्ठ है। यह सोम ही उस सोम को प्राप्त कराने में समर्थ है।

भावार्थ—हे पवित्र करनेवाले सोम! तू हमें सुवीर्य व रयि प्राप्त कराके प्रभु से मेल के योग्य बना दे।

सूक्त-४

ऋषिः—**सुकक्ष आङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूर्योदय, कहाँ?

१४५०. उद् घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम्। अस्तारमेषि सूर्य ॥ १ ॥

इस मन्त्र का अर्थ १२५ संख्या पर इस प्रकार है—हे **सूर्य**=सारे संसार के सञ्चालक प्रभो! **घ इत्**=निश्चय से आप **अभि उदेषि**=उस मनुष्य के हृदयाकाश में उदित होते हैं जो १. **श्रुतामघम्**=

ज्ञानरूप ऐश्वर्य का स्वामी है, २. **वृषभम्**=शक्तिशाली है, ३. **नर्यापसम्**=मानवहित के कर्मों का करनेवाला है, ४. **अस्तारम्**=विषय-वासनाओं को अपने से दूर फेंकनेवाला है।

भावार्थ—हम ज्ञानैश्वर्यवाले, शक्तिशाली, मानवहित के कर्म करनेवाले, और वासनाओं को परे फेंकनेवाले बनें, जिससे हमारे हृदयाकाश में प्रभुरूप सूर्य का उदय हो।

ऋषिः—**सुकक्ष आङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'अस्तारम्' का स्पष्टीकरण

१४५१. नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा। अहिं च वृत्रहावधीत्॥ २॥

गत मन्त्र में कहा था कि प्रभुरूप सूर्य 'अस्ता' के हृदयाकाश में उदित होते हैं, अतः प्रस्तुत मन्त्र में उसी अस्ता का लक्षण विस्तार से किया है—**यः**=जो **नवनवतिम्**=निन्यानवे **पुरः**=असुरों की पुरियों को **बाहु ओजसा** (बाहृ प्रयत्ने)=सदा कर्मों में प्रयत्नशीलता से जनित ओज के द्वारा **बिभेद**=विदीर्ण कर देता है। असुर हमारे शरीरों में सदा अपना अधिष्ठान बनाकर अपना दुर्ग बनाते रहते हैं। निन्यानवे के निन्यानवे वर्ष इन असुरों के किले ही बनते चलते हैं, परन्तु जो व्यक्ति 'कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ'—'प्रभु ने कर्म के लिए हाथ दिये हैं', इस तत्त्व को समझकर सतत कर्मों में प्रयत्नशील रहता है। यह व्यक्ति अपने प्रयत्नजनित ओजों से असुरों की इन नगरियों को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है।

यह 'बाह्वोजस्' वाला व्यक्ति ज्ञान पर आवरण को ले-आनेवाले वृत्र को नष्ट कर देता है और 'वृत्र-हा' नामवाला होता है। कामवासना ही वृत्र है। काम और ज्ञान का सनातन विरोध है। **च**=और यह वृत्रहा **अहिम्**=(आहन्ति इति) हनन की वृत्ति को **अवधीत्**=नष्ट कर डालता है।

कामवासना व औरों के हनन की वृत्ति का हनन करनेवाला यह पुरुष 'सुकक्ष' उत्तम शरणवाला होता है। वासनाओं का विदारण करनेवाला यह 'आङ्गिरस' तो है ही।

भावार्थ—हम वासना का विदारण करें, हनन की वृत्ति का हनन करनेवाले हों।

ऋषिः—**सुकक्ष आङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गौ के समान 'ज्ञानदुग्ध' दाता प्रभु

१४५२. स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद्गोमद्यवमत्। उरुधारेव दोहते॥ ३॥

'सुकक्ष आङ्गिरस' के हृदयाकाश में प्रभुरूप सूर्य का उदय होता है। इस सूर्योदय से उसका मानस-गगन दीप्त हो उठता है। अन्धकार की इतिश्री होकर वहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश होता है। इसी बात को यहाँ इन शब्दों में कहते हैं कि—

सः इन्द्रः=वह अन्धकार का विदारण करनेवाला प्रभु **नः**=हमारा **शिवः**=कल्याण करनेवाला **सखा**=मित्र है। वह **उरुधारा इव**=दुग्ध की विशाल धारा को देनेवाली गौ (Giving a broad stream of milk, as a cow) के समान ज्ञान की धारा को **दोहते**=हममें प्रपूरित करता है (दुह् प्रपूरणे) जो ज्ञानधारा १. **अश्वावत्**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाली है (अश्व=कर्मेन्द्रियाँ; कर्मों में व्याप्त होती हैं, अश् व्याप्तौ)। ज्ञान की धारा कर्मेन्द्रियों को निर्मल कर देती हैं। ज्ञानाग्नि कर्मों के मैल को भस्म कर देती है। २. **गोमत्**=यह ज्ञानधारा उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाली है (गावः ज्ञानेन्द्रियाणि—गमयन्ति अर्थान्) ज्ञानधारा ज्ञानेन्द्रियों को उसी प्रकार उज्ज्वल कर देती हैं जैसे सान पर घिसने से मणि चमक उठती है। ३. **यवमत्**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) यह ज्ञानधारा हमारे मनों को भद्र से जोड़नेवाली होती है और अभद्र से पृथक् करनेवाली होती है।

भौतिक दृष्टि से यह शब्दार्थ भी हो सकता है कि वे प्रभु हमें वह धन प्राप्त कराते हैं जो घोड़ों, गौवों व यवादि अन्नोंवाला है, परन्तु इस अर्थ को यहाँ इसलिए आदृत नहीं किया गया कि 'सूर्योदय' के प्रकरण में ज्ञान की धारा ही अधिक सङ्गत है। वह ज्ञानधारा ही सुकक्ष की शरण बनती है और उसे विषयविनिवृत्त करके 'आङ्गिरस' बना देती है।

भावार्थ—हमारा मित्र प्रभु हमें वह ज्ञान प्राप्त कराये जो कर्मेन्द्रियों को प्रशान्त करता है, ज्ञानेन्द्रियों को उज्ज्वल बनाता है और मन को पाप से पृथक् करके पुण्य में प्रवृत्त करता है।

सूक्त-५

ऋषिः—**विभ्राट् सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

जीवन-यात्रा की पूर्ति

१४५३. वि॒भ्राड् बृ॒हत् पि॑बतु सो॒म्यं मध्वायु॒र्दध॑द्य॒ज्ञप॑ता॒वविह्रुतम्।
वात॑जूतो॒ यो अ॑भि॒रक्ष॑ति॒ त्मना॑ प्र॒जाः पि॑पर्ति बहु॒धा वि रा॑जति॥ १॥

६२८ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

ब्रह्मचर्य—१. **विभ्राट्**=आचार्य द्वारा ज्ञान की ज्योति से दीप्त किया जानेवाला, **बृहत्**=शरीर, मन व बुद्धि की दृष्टि से वृद्धि को प्राप्त करनेवाला ब्रह्मचारी **सोम्यं मधु**=सोमरूप मधु का **पिबतु**=पान करे, ओषधियों के साररूप इस वीर्यशक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करे।

गृहस्थ—२. **यज्ञपतौ**=सब यज्ञों के रक्षक प्रभु में **अविह्रुतम्**=कुटिलताशून्य **आयुः**=जीवन को **दधत्**=धारण करता हुआ गृहस्थ आगे और आगे बढ़े।

वानप्रस्थ—३. अब वानप्रस्थ वह है **यः**=जो **वातजूतः**=प्राणों से प्रेरित हुआ-हुआ **त्मना**=अपने मन के द्वारा **अभिरक्षति**=अपनी सर्वतः रक्षा करता है।

संन्यास—४. अब यह **प्रजाः पिपर्तिः**=प्रजाओं का ज्ञान-प्रचार द्वारा पूरण करता है और **बहुधाः**=बहुतों का धारण करनेवाला यह **विराजति**=विशेषरूप से दीप्त होता है।

भावार्थ—हमारी जीवन-यात्रा की चारों मंजिलें सुन्दरता से तय की जाएँ।

ऋषिः—**विभ्राट् सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विभ्राट् सौर्य

१४५४. वि॒भ्राड् बृ॒हत्सुभृ॑तं वाज॒सात॑मं॒ धर्म॑न्दि॒वो ध॒रुणे॑ स॒त्यमर्पि॑तम्।
अ॒मि॒त्र॒हा वृ॑त्र॒हा द॑स्यु॒हन्त॑मं॒ ज्योति॑र्जज्ञे असुर॒हा स॑पत्न॒हा॥ २॥

अमित्रहा=शत्रुओं को नष्ट करनेवाला ब्रह्मचारी, **वृत्रहा**=ज्ञान पर पर्दा डालनेवाले कामरूप वृत्र का विध्वंसक गृहस्थ, **असुरहा**=(असु-र-हा) अपने प्राणों में ही रमण करते रहने की वृत्ति को नष्ट करनेवाला वनस्थ और **सपत्नहा**=सब सपत्नों को समाप्त कर एक प्रभु को ही पति बनानेवाला संन्यासी=ब्रह्माश्रमी **ज्योतिः जज्ञे**=अपने अन्दर प्रकाश को उत्पन्न करता है (यहाँ जन् अन्तर्भावितण्यर्थ है)।

ब्रह्मचारी को यहाँ 'अमित्र-हा' कहा है। उसका मूल कर्त्तव्य काम, क्रोध, लोभादि से दूर रहते

हुए विद्यार्जन करना है। इसे शत्रुघ्न बनना है। गृहस्थ में आने पर काम में फँस जाने की अधिक आशंका है। यह काम ज्ञान पर पर्दा डाल देता है। गृहस्थ ने इसका शिकार न होकर इस वृत्र का विनाश करनेवाला बनना है। वनस्थ ने सदा भोगों में ही न फँसे रहकर तीव्र तपस्या में चलना है और इस प्रकार 'असु-र-हा' बनकर अपने प्राणों में ही रमण करते रहने की वृत्ति का अन्त करना है। इसके बाद चतुर्थाश्रम में उसे अपना जीवन ऐसा बना लेना है कि केवल प्रभु ही उसके पति हों। यह ब्रह्माश्रमी सर्वसपत्नों परमात्मा के स्थान पर अन्य देवों की उपासना को समाप्त कर केवल ब्रह्म को ही पति बनाता है।

ये सब व्यक्ति अपने अन्दर उस ज्योति को उत्पन्न करते हैं जो—१. **विभ्राट्**=विशेषरूप से दीप्त करनेवाली है—इससे मस्तिष्करूप द्युलोक जगमगा उठता है। २. **बृहत्**=यह हृदय को विशाल बनाती है (बृहि वृद्धौ)। इस ज्ञान को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति कभी संकुचित हृदय (narrow-minded) नहीं होता। ३. **सुभृतम्**=यह शरीर का उत्तम भरण-पोषण करती है। इस ज्ञान-ज्योति से वह आजीविका कमाने योग्य तो बनता ही है साथ ही अपथ्यादि का सेवन नहीं करता, अतः शरीर स्वस्थ बना रहता है। ४. **वाजसातमम्**=यह ज्ञान-ज्योति अङ्ग-प्रत्यङ्ग को अधिक-से-अधिक शक्ति प्राप्त करानेवाली होती है। **धर्मम्**=यह धारण करनेवाली होती है—सदा रोगादि से बचाये रखती है। यह **सत्यम्**=सत्य ज्ञान **दिवः**=प्रकाश के **धरुणे**=धारक (आगार store-room) ब्रह्म में **अर्पितम्**=निहित है—स्थापित है, अर्थात् यह वह सत्य ज्योति है जिसका मूलस्रोत प्रभु हैं। ६. यह ज्योति **दस्युहन्तमम्**=नाशकों की नाशक है। दस्युओं की ध्वंसक शक्तियों को समाप्त करनेवाली है और इस प्रकार हमारे निर्माण व उत्थान की निदान है।

इस ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करके यह व्यक्ति सूर्य के समान देदीप्यमान हो उठता है, अतः 'विभ्राट् सौर्य' कहलाता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम भी 'विभ्राट् सौर्य' बन पाएँ।

ऋषिः—**विभ्राट् सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ब्रह्मज्योति, ज्योतिषां ज्योतिः

१४५५. इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत्।
विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम्॥ ३॥

इदम्=यह **ज्योतिषां ज्योतिः**=ज्योतियों की ज्योति, 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'=विद्याओं में भी विद्या=ब्रह्मज्ञान की ज्योति १. **श्रेष्ठम्**=प्रशस्यतम है। यह मनुष्य को अत्यन्त उत्कृष्ट कर्मों में प्रवृत्त करती है। २. **उत्तमम्**=यह मानव-जीवन को उत्तम बनानेवाली है। प्रकृति का ज्ञान उत्—उत्कृष्ट है, जीव का ज्ञान उत्तर—उत्कृष्टतर है और ब्रह्म का ज्ञान उत्तम—उत्कृष्टतम है। इससे अधिक उत्कृष्ट ज्ञान नहीं है, यह ज्ञान की पराकाष्ठा है।

यह ज्ञान ३. **विश्वजित्**=सबका विजय करनेवाला है, संसार को जीतनेवाला है—विश्व को जीतकर मनुष्य को मोक्ष प्राप्त करानेवाला है। एवं, यह ज्ञान निःश्रेयस का साधक है। ४. **धनजित्**=ऐहिक यात्रा के साधनभूत धन को भी यह जीतनेवाला है, अर्थात् निःश्रेयस के साथ यह 'अभ्युदय' को भी प्राप्त करानेवाला है, इसीलिए यह ज्ञान ५. **बृहत्**=वृद्धि का साधनभूत **उच्यते**=कहा जाता है। ६. यह ज्ञान तो मनुष्य के लिए **विश्वभ्राट्**=सारे संसार को दीप्त करनेवाला है। **यस्मिन्**

विदिते सर्वं विदितम्। इसका ज्ञान होने पर सभी कुछ ज्ञात हो जाता है, अतः ब्रह्मज्योति 'विश्वभ्राट्' कही गयी है। इसी दृष्टिकोण से ७. यह **महिभ्राजः**=महनीय ज्योति है। ८. यह ज्योति तो **सूर्यः दृशे**=ज्ञान के लिए सूर्य के समान है। सूर्य के उदय होने पर जैसे सम्पूर्ण पदार्थ प्रकाशित हो जाते हैं उसी प्रकार इस ज्योति के उदय होने पर किसी विषय में अन्धकार नहीं रहता। ९. **उरु पप्रथे**=यह ज्योति अत्यन्त विस्तृत होती है। १०. यह ज्योति **सहः**=सहस् का पुञ्ज है—यह मनुष्य में अद्भुत सहनशक्ति देनेवाली है। ११. यह **ओजः**=मनुष्य को ओजस्वी बनाती है। ज्ञान 'शक्ति' तो है ही (knowledge is power)। १२. **अच्युतम्**=यह उसे ओजस्वी बनाकर कभी भी न्याय्य-मार्ग से विचलित न होनेवाला बना देती है। इस द्वादशगुणात्मक ज्योति को प्राप्त करना ही 'द्वादशाह' यज्ञ है।

भावार्थ—हम ज्योतियों-की-ज्योति ब्रह्मज्योति को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

सूक्त-६

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

जैसे पिता पुत्रों के लिए (दृढ़ संकल्प व ज्योति)

१४५६. इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन् पूरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥ १ ॥

२५९ संख्या पर मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हममें **क्रतुम्**=ज्ञान-सङ्कल्प व कर्म को **आभर**=सर्वथा भर दीजिए। उसी प्रकार **यथा**=जैसेकि **पिता पुत्रेभ्यः**=पिता पुत्रों के लिए। हे **पुरुहूत**=पालन व पूरण करनेवाली पुकारवाले प्रभो! **अस्मिन् यामनि**=इस जीवन-यात्रा के मार्ग में **नः**=हमें **शिक्ष**=उत्तम प्रेरणा के अनुसार चलने में समर्थ बनाइए (शक् सन्)। आपकी कृपा से **जीवाः**=जीते जी—इस जीवनकाल में ही हम **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश को **अशीमहि**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम दृढ़ संकल्पवाले हों और प्रकाश का सेवन करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सत्सङ्ग व साफल्य

१४५७. मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो३ माशिवासोऽव क्रमुः।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि॥ २ ॥

हे प्रभो! आपकी कृपा से हम दृढ़ सङ्कल्प व ज्योति से युक्त हों और **नः**=हमें **अज्ञाताः**=अज्ञात—प्रच्छन्नरूप से अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाले अथवा (न ज्ञातं येषाम्) ज्ञानशून्य **वृजनाः**=पापी **दुराध्यः**=दुष्ट ध्यान करनेवाले—सदा अशुभ का चिन्तन करनेवाले **अशिवासः**=अमङ्गलरूप लोग **मा मा अवक्रमुः**=हमारे समीप कदापि न आएँ। हमें कभी ऐसे लोगों का सङ्ग न प्राप्त हो। सदा सत्सङ्ग को प्राप्त होते हुए हम ज्ञान को प्राप्त करनेवाले पुण्यकृत्, स्वाध्याय—शुभचिन्तन करनेवाले और शिवा (मङ्गलरूप) ही बनें।

वयम्=हम **त्वया प्रवतः**=तुझ रक्षक से (प्रवतः अवतिकर्मा—नि० १०.२०) **शश्वतीः**=प्लुत-

गतिवाले, अर्थात् जिनके लिए हम अत्यन्त परिश्रम कर रहे हैं, ऐसे **अपः**=कर्मों को हे **शूर**=सब विघ्नों की हिंसा करनेवाले प्रभो! **अति तरामसि**=पार कर जाएँ, अर्थात् सब कर्मों में हमें सफलता प्राप्त हो। वस्तुतः यदि मनुष्य प्रभु को अपना रक्षक अनुभव करता हुआ परिश्रमपूर्वक कर्म करता है तो विघ्नध्वंसकारी प्रभु उसे कर्म के पार पहुँचाते ही हैं।

भावार्थ—हम अशिव लोगों के सङ्ग से दूर रहें तथा प्रभुकृपा से परिश्रमपूर्वक कर्मों में साफल्य का लाभ करें।

सूक्त-७

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु का रक्षण

१४५८. अद्याद्या श्वःश्व इन्द्र त्रास्व परे च नः।
विश्वा च नो जरितॄन्त्सत्पते अहा दिवा नक्तं च रक्षिषः ॥ १ ॥

हे **इन्द्र**=बल के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो! शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले इन्द्र! **अद्य अद्य**=आज—इस समय **श्वः श्वः**=कल आनेवाले दिन में **परे च**=और उससे अगले दिन भी **विश्वा अहा**=इस प्रकार सब दिनों में **नः**=हमारी **त्रास्व**=रक्षा कीजिए।

हे **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक प्रभो! **नः जरितॄन्**=हम स्तोताओं की **दिवा नक्तं च**=दिन और रात **रक्षिषः**=आप रक्षा करें।

वस्तुतः संसार में सर्वमहान् रक्षक प्रभु ही हैं। '**अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम्**' किसी भी रक्षक के न होने पर दैवरक्षित व्यक्ति बच ही जाता है, अनाथ के रूप में वन में छोड़ दिया गया पुरुष बच जाता है, परन्तु घर पर खूब प्रयत्न करने पर भी नहीं बचता। जिसका प्रभु रक्षक है उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।

हमारा कर्त्तव्य है कि हम 'सत्' बनें। सत् बनने पर हम प्रभु की रक्षा के पात्र हो जाएँगे। हम जरिता=प्रभु के उपासक बनें, उपासकों का रक्षण प्रभु का दायित्व है। प्रभु का उपासक बननेवाला—उसके गुणों का गायन करनेवाला 'प्रागाथ' ही इस मन्त्र का ऋषि है। प्रभु की उपासना से वह तेजस्वी बन कर—प्रभु के तेज को धारण करके 'भर्गः' हो जाता है।

भावार्थ—हम सत् बनें, प्रभु के उपासक बनें। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर हम सदा सुरक्षित होंगे।

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रागाथ का प्रभु-गायन

१४५९. प्रभङ्गी शूरो मघवा तुवीमघः सम्मिश्लो वीर्याय कम्।
उभा ते बाहू वृषणा शतक्रतो नि या वज्रं मिमिक्षतुः ॥ २ ॥

प्रागाथ प्रभु-कीर्तन इन शब्दों में करता है कि—हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो! आप १. **प्रभङ्गी**=भक्तों की आपत्तियों का भङ्ग—वारण करनेवाले हो। २. **शूरः**=सब विघ्नों का विशरण=विनाश करते हो। ३. **मघवा**=ऐश्वर्यवान् हो। ४. **तुवीमघः**=अत्यन्त पूजा के योग्य हैं

(मघ=मह पूजायाम्)। ५. **संमिश्लः**=सबमें सम्यक् मिले हुए ओत-प्रोत हैं। ६. आप **वीर्याय**=शक्ति का पुञ्ज बननेवाले के लिए **कम्**=सुख देते हैं। **ते उभा बाहू**=आपकी दोनों भुजाएँ **वृषणा**=शक्तिशाली व सर्वकामपूरण समर्थ हैं। ७. **या**=आपकी ये भुजाएँ **वज्रम्**=(वज गतौ) गतिशील पुरुष को, स्वयं पुरुषार्थ करनेवाले व्यक्ति को **नि**=निश्चय से **मिमिक्षतुः**=रक्षित करती हैं। प्रभु की रक्षा प्राप्त करने के लिए स्वयं गतिशील होना आवश्यक है। '**न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः**'=थककर चकनाचूर हुए बिना देवों की मित्रता प्राप्त नहीं होती।

प्रागाथ प्रभु-गायन करता हुआ ऐसा समझता है कि उस शतक्रतु की शक्तिशाली दोनों भुजाएँ उसकी रक्षा करेंगी।

४. मिमिक्षतुः—इस शब्द का अर्थ 'रक्षा करना' भी है। (श० ७.५.१.१०)

भावार्थ—प्रागाथ की भाँति हम भी प्रभु-गायन करें, क्रियाशील बनें और इस प्रकार प्रभु की रक्षा के पात्र हों।

सूक्त-८

ऋषिः—**मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः** ॥ देवता—**सरस्वान्** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उत्तम जीवन=सरस्वान्, पत्नी, पुत्र, प्रभु

१४६०. जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्त सुदानवः। सरस्वन्तं हवामहे॥ १॥

मैत्रावरुणि=प्राणापान की साधनावाला वसिष्ठ=उत्तम वसुओंवाला—प्राणापान की साधना से जिसने उत्तम वसुओं को प्राप्त किया है, वह अपने जीवन को उत्तम इसलिए बना पाया है कि—

१. **जनीयन्तः**=उन्होंने पत्नी की कामना तो की, परन्तु केवल इसलिए कि **नु**=अब वे **अग्रवः**=आगे बढ़ सकें। गृहस्थ में उनके प्रवेश का उद्देश्य 'आराम का या मौज का जीवन बिताना' न था। उन्होंने तो पत्नी का हाथ पकड़ते हुए यही शब्द कहे थे कि '**त्वया वयं धारा उदन्या इव अतिगाहेमहि द्विषः**'=तेरे साथ मिलकर हम सब अप्रीतिकर—अवाञ्छनीय दुर्गुणों को ऐसे तैर जाएँ जैसे पर्वतीय जलधाराओं को हाथ पकड़कर पार कर जाते हैं। इस संसार-समुद्र में मनुष्य का अकेले पार पहुँचना लगभग असम्भव-सा है। मनुष्य किसी भी समय किसी विषय-ग्राह से गृहीत हो सकता है। पति-पत्नी परस्पर रक्षा का कारण बनते हैं। कभी-कभी जीवन में निराशा भी आ सकती है—उस समय ये एक-दूसरे का उत्साहवर्धनवाले होते हैं। एवं, गृहस्थ मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ने के लिए है।

२. **पुत्रीयन्तः**=इन्होंने सन्तान को भी चाहा, पर केवल **सुदानवः**=इस भावना से कि वे अपने **सु**=उत्तमांश को **दानवः**=लोकहित के लिए अपने पीछे भी दे जाएँ। उनके शरीरान्त पर ये अनुभव न हो कि वे समाप्त हो गये हैं—अपितु उनसे चलाये हुए कर्म उसी प्रकार चलते रहें। यही तो प्रजाओं के द्वारा अमर बनना है—'**प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम**'।

३. इसी प्रकार एक सद्गृहस्थ बनकर ये **सरस्वन्तम्**=ज्ञान के सागर 'सरस्वान्' प्रभु को **हवामहे**=सदा पुकारते हैं। प्रातः-सायं प्रभु की प्रार्थना करते हैं—वस्तुतः खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते ये प्रभु का स्मरण करते हैं, उसे कभी विसारते नहीं। इन तीन बातों ने ही वसिष्ठ को वसिष्ठ—बड़े उत्तम निवासवाला बना दिया।

भावार्थ—हम साथी के रूप में पत्नी को चाहें, अपने लोकहित के कार्यों को नष्ट न होने देने के लिए सन्तानों को चाहें, सदा प्रभु का स्मरण करें और 'वसिष्ठ' बनें।

सूक्त-९

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विद्या के साथ परिणय, सरस्वती

१४६१. उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा। सरस्वती स्तोम्या भूत्॥ १ ॥

भरद्वाज—अपने में शक्ति भरनेवाला, बार्हस्पत्य—ज्ञान का भण्डार इस मन्त्र का ऋषि है। यह ऐसा इसलिए बन पाया कि इसने अपने जीवन में सदा सरस्वती की आराधना की न कि लक्ष्मी की। यह कहता है कि—**उत**=और **नः**=हमें तो **प्रियासु प्रिया**=प्रियाओं में भी प्रिय—सर्वाधिक प्रिय **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती है। **स्तोम्या**=स्तुति के योग्य **भूत्**=हुई, जो सरस्वती १. **सप्तस्वसा**=सात बहिनोंवाली है। सम्भवतः यहाँ वेदवाणी के सप्तछन्दोयुक्त होने का संकेत है अथवा सात स्वसाएँ 'मेधा, बुद्धि, स्मृति, वाक्, चातुरी, ऊहशक्ति व सत्यनिष्ठा' भी हो सकती हैं। यदि शरीर की सप्तधातुओं को ही यहाँ सरस्वती की सप्त स्वसाएँ माना जाए तो 'ऋषि' के 'भरद्वाज' बनने का रहस्य भी स्पष्ट हो जाता है। आजकल के शब्दों में सरस्वती का आराधक स्वास्थ्य के साथ हो—'Sound mind in a sound body' हमारा आदर्श हो। 'बार्हस्पत्यं' तो हम बनें, परन्तु साथ ही भारद्वाज हों २. यह सरस्वती **सुजुष्टा**=हमसे प्रीतिपूर्वक सेवन की जाए। हमारे लिए ज्ञान रुचिकर हो जाए। हमें सरस्वती की आराधना में आनन्द आने लगे। यही हमारी प्रियाओं की भी प्रिया हो—सर्वोत्तम पत्नी हो। संसार में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा हम इसे ही अधिक महत्त्व दें।

भावार्थ—हम सरस्वती के आराधक हों—वह हमारी सर्वोत्तम प्रिया हो—हमसे सुसेवित हो।

सूक्त-१०

ऋषिः—**विश्वामित्रो गाथिनः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सविता देव

१४६२. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ १ ॥

यह मन्त्र गायत्री छन्द में होने से गायत्री नाम से प्रसिद्ध है। मनु ने इसे वेदों का सार माना है। इसकी भावना निम्न है—हम **सवितुः**=सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक, सकलैश्वर्यमय **देवस्य**=ज्ञान से दीप्त—दिव्य गुणविशिष्ट प्रभु के **तत्**=उस **वरेण्यम्**=वरणीय **भर्गः**=तेज का जो सम्पूर्ण दोषों को भून डालने में समर्थ है **धीमहि**=ध्यान करते हैं और धारण करते हैं। **यः**=जो तेज का धारण व ध्यान (व्यत्ययेन पुल्लिंग है) **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियों व कर्मों को **प्रचोदयात्**=प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराता है।

संसार में मनुष्य का सर्वमहान् लक्ष्य 'प्रभु के तेज से अपने को तेजस्वी बनाना ही होना चाहिए। अन्य वस्तुओं की तुलना में वही तेज वरणीय है। यह हमारे ज्ञानों व कर्मों को सदा सत्प्रेरणा प्राप्त कराकर पवित्र बनाता है। इस प्रकार हम सब मलों का इस भर्ग में भर्जन कर डालते हैं और राग-द्वेषादि मलों से ऊपर उठकर 'विश्वामित्र' सभी के साथ स्नेह करनेवाले होते हैं। हम प्रेम से चलते हैं और प्रभु का गायन करते हैं—'गाथिन' बनते हैं। 'विश्वामित्र गाथिन' ही इस मन्त्र का ऋषि है। यह मन्त्र वेदों का सार है, अतः वेदों का निचोड़ यही तो हुआ कि 'प्रभु का स्मरण करो और सभी

के साथ स्नेह से चलो'।

भावार्थ—हम वेद के इस उपदेश को न भूलें कि 'हे जीव! तूने प्रभु के तेज से अपने को तेजस्वी बनाना है—तूने भी सविता देव' का अंश (miniature) बनना है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान के चार प्रभाव

१४६३. सोमानां स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं य औशिजः॥ २॥

प्रस्तुत मन्त्र १३९ संख्या पर इस प्रकार व्याख्यात है—

ब्रह्मणस्पते=हे ज्ञान के पति प्रभो! आप मुझे **सोमानाम्**=सौम्य तथा निर्माण के ही कार्यों में रुचिवाला, **स्वरणम्**=(स्वर् to radiate) ज्ञान के प्रकाश को चारों ओर फैलानेवाला, **कक्षीवन्तम्**=सदा कमर कसे हुए उत्तम कार्यों के लिए तैयार पर तैयार तथा **यः औशिजः**=जो सबका भला चाहनेवाला मेधावी है, ऐसा **कृणुहि**=बनाइए।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करके मैं सौम्य, ज्ञान के प्रकाश को फैलानेवाला, सतत क्रियाशील तथा सबका भला चाहनेवाला मेधावी बनूँ। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि मेधातिथि काण्व बनूँ।

नोट—*'सोमानाम्' में विभक्तिव्यत्यय है।*

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु के ध्यान से

१४६४. अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥ ३॥

संख्या ६२७ पर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—**अग्ने**=हे बुराइयों को भस्म करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **आयूँषि**=जीवनों को **पवसे**=पवित्र कीजिए। आप **नः**=हमें **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को तथा **इषम्**=प्रेरणा को—प्रकृष्टगति को **आसुव**=प्राप्त कराइए। आप **दुच्छुनाम्**=बुरी प्रवृत्ति को **आरे**=हमसे दूर **बाधस्व**=पीड़ित कीजिए—रोक दीजिए।

भावार्थ—पवमान प्रभु के ध्यान से पवित्रता, बल व प्राणशक्ति तथा उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती है और सब दुर्वृत्तियाँ दूर होती हैं।

सूक्त-११

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मित्रावरुण की तीन कृपाएँ

१४६५. ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य। महि वां क्षत्रं देवेषु॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'यजतः'=सदा यज्ञ करनेवाला है—यज्ञमय जीवन बितानेवाला 'आत्रेय'=काम, क्रोध और लोभ से ऊपर उठा हुआ पुरुष है। यह मित्रावरुण=प्राणापान की साधना करता हुआ उनसे कहता है कि हे प्राणापानो! १. **ता**=वे आप दोनों **नः**=हमें **पार्थिवस्य महः**=(पृथिवी=अन्तरिक्ष) हृदयान्तरिक्ष की विशालता देने में **शक्तम्**=समर्थ हैं। यहाँ अन्तरिक्ष के लिए पृथिवी शब्द का प्रयोग भावपूर्ण है, क्योंकि प्रथ-विस्तारे से बनकर वह विशालता का संकेत कर रहा है। हृदय तो वही ठीक है जो विशाल है—संकुचित हृदय 'हृदय' कहलाने के योग्य नहीं। उसमें सब

प्रकार की मलिनताओं का वास होता है।

२. हे प्राणापानो! आप हमें **दिव्यस्य रायः**=द्युलोक की सम्पत्ति भी प्राप्त कराने में समर्थ हैं। प्राणापान की साधना से रेतस् की ऊर्ध्वगति होकर वह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, और ज्ञानाग्नि को दीप्त करके ये प्राणापान हमें दिव्य ज्ञान की सम्पत् प्राप्त कराते हैं।

३. हे प्राणापानो! आपकी कृपा से **देवेषु**=इस दिव्य सम्पत्ति को प्राप्त देवों में **वाम्**=आपका **महि क्षत्रम्**=महान् बल निवास करता है, जो उन्हें (क्षतात् त्रायते) सब प्रकार के क्षतों से बचाता है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना के तीन परिणाम हैं—१. हृदय की विशालता, २. मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्ति तथा ३. शरीर में वह शक्ति जो सब प्रकार से नीरोग रखती है।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ऋत का ऋत में मिल जाना

१४६६. ऋतमृतेन सपन्तेषिरं दक्षमाशाते। अद्रुहा देवौ वर्धेते॥ २॥

पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार—जब जीव 'विशाल हृदय, दीप्त मस्तिष्क व सबल शरीरवाला बनता है तब उसका यह जीवन ऋतमय होता है। इसका नाम 'ऋत' हो जाता है। अब यह प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता है, अतः 'इषिर' कहलाता है, और अनासक्तिपूर्वक कुशलता से कर्म करने के कारण 'दक्ष' विशेषणवाला होता है। प्राण-अपान इस **इषिरम्**=प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले, **दक्षम्**=अनासक्तिपूर्वक कुशलता से कर्म करनेवाले, **ऋतम्**=ऋतमय जीवनवाले 'यजत आत्रेय' को **ऋतेन**=उस पूर्ण सत्य प्रभु से **सपन्ता**= मिलाते हुए **आशाते**=इसके जीवन में समन्तात् व्याप्त होते हैं। **अद्रुहा**=किसी भी प्रकार से इस 'यजत' की जिघांसा=विनाश की इच्छा न करते हुए **देवौ**=दिव्य गुणोंवाले ये प्राणापान **वर्धेते**=इसके जीवन में बढ़ते हैं। प्राणापान की वृद्धि से 'यजत' की सर्वांगीण वृद्धि होती है। 'शरीर स्वस्थ होता है—हृदय विशाल बनता है और मस्तिष्क दीप्त।' प्राणापान की साधना का सबसे बड़ा लाभ यह है कि हमारा जीवन ऋतमय होकर हम 'ऋत' बनते हैं और उस पूर्ण ऋत प्रभु से हमारा मेल होता है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से हम 'ऋतमय' जीवनवाले बनें और पूर्ण ऋत प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु से जा मिलें

१४६७. वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः। बृहन्तं गर्तमाशाते॥ ३॥

ये प्राणापान साधना करनेवाले के समाधि की स्थिति में पहुँचने पर—धर्ममेघ समाधि में **वृष्टिद्यावा**=मस्तिष्करूप द्युलोक से आनन्द-कणिकाओं की वृष्टि करानेवाले होते हैं। **रीत्यापा**=ये प्राणापान रेतस्रूप जलों की ऊर्ध्वगति के (री=गतौ) कारण बनते हैं। इस प्रकार एक उच्चक्षेत्र में विचरने से मनुष्य का मन धन के प्रति उतनी आसक्तिवाला नहीं होता और इस साधक के प्राणापान **दानुमत्याः**=सदा दान के देनेवाली **इषः**=इच्छा के **पती**=स्वामी होते हैं, अर्थात् इसकी वृत्ति दान-प्रवण बनी रहती है। अन्त में ये प्राणापान इस साधक को धनासक्ति से ऊपर उठाकर **बृहन्तं गर्तम्**=उस परमपुरुष को **आशाते**=प्राप्त कराते हैं। (पुरुषो गर्तः श० ५.४.१.१५)। नि० ३.४ में 'गर्त' गृह का

नाम है। प्राणापान इस पुरुष को महान् घर को प्राप्त कराते हैं—यह महान् घर भी 'प्रभु' ही हैं। जीव का वास्तविक घर तो प्रभु हैं—यहाँ तो यह यात्रा पर आया हुआ है। प्राणापान की साधना से यह भटकता नहीं और यात्रा को ठीक समाप्त कर काम, क्रोध, लोभ में न फँसकर (आत्रेय) प्रभु से फिर जा मिलता है (यजतः)। एवं प्रभु से मेल करनेवाला यह सचमुच 'यजत' होता है।

भावार्थ—हम प्राणापान की साधना से १. धर्ममेघ समाधि के आनन्द का अनुभव करें, २. ऊर्ध्वरेतस् बनें, ३. धनासक्ति से ऊपर उठें और ४. प्रभु से जा मिलें।

सूक्त-१२

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मन को प्रभु में लगाना

३ १ २ ३ १२३ १ २२ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २
१४६८. युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'शतं वैखानसाः'=सैकड़ों आसुर वृत्तियों को विशेषरूप से उखाड़ देनेवाले युञ्जान पुरुष (योगमार्ग पर चलनेवाले पुरुष) **परितस्थुषः**=चारों ओर ठहरे हुए पदार्थों को **चरन्तम्**=चरते हुए—उनका भक्षण करते हुए—उन्हीं मैं निरन्तर विचरते हुए अपने **ब्रध्नम्**=महान् (नि० ३.३.२) **अरुषम्**=अत्यन्त दीप्त shining, गतिशील wandering मन को **अरुषम्**=क्रोधशून्य करके **युञ्जन्ति**=(ब्रध्नं अरुषम्)=उस महान्, देदीप्यमान प्रभु के साथ जोड़ते हैं।

इस मन्त्र में 'ब्रध्नम् अरुषं' ये दोनों विशेषण मन तथा प्रभु की ओर लगाये गये हैं। महान् दीप्त मन को महान् देदीप्यमान प्रभु में लगाना है। यह मन महान् है इसमें तो सन्देह का प्रश्न ही नहीं। यह बन्ध व मोक्ष दोनों का ही कारण है। अत्यन्त चञ्चल होकर बन्ध का कारण बनता है (अरुष—wandering) तथा देदीप्यमान व क्रोध-शून्य होकर (अरुष=दीप्त, क्रोधशून्य) मोक्ष को प्राप्त कराता है। विषयों में भ्रमण करता है तो बन्ध का कारण होता है—विषयों से ऊपर उठता है तो मोक्ष प्राप्त कराता है। (बन्धाय विषयासक्तं, मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्)।

इस प्रकार मन को विषयों से हटाकर प्रभु में जोड़नेवाले युञ्जान लोग **रोचनाः**=चमकनेवाले होते हैं—उनके चेहरों पर ब्रह्मदर्शन का उल्लास दिखता है। ये लोग **दिवि**=उस ज्योतिर्मय ब्रह्मलोक में **रोचन्ते**=शोभा पाते हैं—अर्थात् ये लोग मोक्षसुख का लाभ करते हैं।

भावार्थ—हम मन को प्रभु में लगाने के लिए यत्नशील हों, यही मोक्ष का मार्ग है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्द्रियाश्वों को रथ में जोतना

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २
१४६९. युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ २ ॥

मनुष्य का यह शरीर रथ है—इस रथ में ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप दो घोड़े जुते हैं। ये घोड़े **शोणा**=(शोणृ गतौ) अत्यन्त चञ्चल हैं। इन्द्रियों की चञ्चलता लोकसिद्ध है। ये **धृष्णू**=धर्षण करनेवाले हैं—कुचल डालनेवाले हैं। '**इन्द्रियाणि प्रमाथीनि**'=ये मथ डालनेवाली हैं। **नृवाहसा**=ये मनुष्यों को इधर-उधर ले-जानेवाली हैं, '**हरन्ति प्रसभं मनः**'=बलात् मन को हर ले-जाती हैं और न जाने कहाँ-कहाँ भटकती हैं।

युञ्जान लोग **हरी**=शरीररूप रथ को आगे और आगे ले-जानेवाले इन इन्द्रियाश्वों को **अस्य**

काम्या=इस प्रभु की कामनावाला बनाकर तथा **विपक्षसा**=(वि=विशेष, पक्ष परिग्रहे)=विशिष्ट ज्ञान व कर्म का परिग्रह करनेवाला बनाकर **रथे**=इस शरीररूप रथ में ही **युञ्जन्ति**=जोड़ते हैं। सामान्यतः ये घोड़े प्रभु की कामना न करके विषयों की कामनावाले हो जाते हैं और उन्हीं में विचरते रहते हैं। ज्ञान व यज्ञों के परिग्रह की बजाय ये विषयों का ही स्वाद लेते रहते हैं। रथ को आगे ले-चलने के स्थान में चरने में मस्त रहते हैं। 'शतं वैखानस' लोग इन्हें रथ में जोतकर यात्रा को पूरा करने का ध्यान करते हैं। यह यात्रा कोई सुगम व संक्षिप्त-सी तो है ही नहीं—यह तो निरन्तर आगे बढ़ते रहने से ही पूरी होगी। इस तत्त्व को समझकर इन इन्द्रियाश्वों का रथ में जोतना ही श्रेयस्कर है।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों को रथ में जोतकर यात्रा को पूरा करने का ध्यान करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान—गुणालंकृति=प्रभुदर्शन

१४७०. केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥ ३ ॥

हे प्रभो! जो भी व्यक्ति भटकनेवाले मन को आपमें जोड़ता है तथा विषयों में विचरण करनेवाली इन्द्रियों को रथ में जोतकर आगे बढ़ता है उसके लिए आप **अकेतवे**=प्रकाश से रहित के लिए भी **केतुं कृण्वन्**=प्रकाश करते हो तथा **अपेशसे मर्या**=(मर्याय) उत्तम यज्ञिय वृत्ति आदि गुणों से अनलंकृत के लिए भी **पेशः**=रूप को—परिष्कृति को करते हो। उसके जीवन को सद्गुणों से अलंकृत कर देते हो।

इस प्रकार **सम्**=सम्यक्तया **उषद्भिः**=अज्ञानान्धकारों के दहन के साथ (उष् दाहे) **अजायथाः**= आप प्रादुर्भूत होते हो। प्रभु प्रतिदिन ध्यान लगानेवाले व्यक्ति को १. ज्ञान से दीप्त करते हैं, २. सद्गुणों से अलंकृत करते हैं और ३. अज्ञानान्धकारों व मालिन्य का दहन करके उसके हृदयान्तरिक्ष में प्रादुर्भूत होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान और सद्गुणालंकृति से हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश हो।

सूक्त-१३

ऋषिः—**उशनाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पवित्रता, उल्लास, प्रभु-सायुज्य

१४७१. अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्वे तुभ्यं पवते त्वमस्य पाहि।
त्वं ह यं चकृषे त्वं ववृष इन्दुं मदाय युज्याय सोमम् ॥ १ ॥

मन्त्र का ऋषि उशनाः=(प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला) है। उससे प्रभु कहते हैं कि हे उशनाः! **त्वम्**=तू **ह**=निश्चय से **यम्**=जिस **इन्दुम्**=शक्तिशाली **सोमम्**=सोम—वीर्यशक्ति को **चकृषे**= अपने अन्दर उत्पन्न करता है और **त्वम्**=तू **यम्**=जिसको **ववृषे**=अपने अन्दर पीता है (वृष् to drink) हे **इन्द्र**=सोमपान करनेवाले जीवात्मन्! **अयं सोमः**=यह सोम वस्तुतः **तुभ्यं सुन्वे**=तेरे लिए ही पैदा किया गया है, **तुभ्यम्**=यह सोम तेरे लिए ही **पवते**=जीवन को पवित्र करनेवाला होता है। इस प्रकार यह सोम शरीर के अन्दर व्याप्त होकर **मदाय**=हर्ष के लिए होता है—तेरे जीवन में एक उल्लास को लानेवाला होता है और **युज्याय**=तुझे प्रभु के साथ मिलाने के लिए होता है। 'ऐहलौकिक जीवन में उल्लास और परलोक में प्रभु से मेल' ये दो सोम के प्रमुख लाभ हैं। जीवन

में पवित्रता का संचार तो करता ही है। इसलिए **त्वम्**=तू **अस्य पाहि**=इसकी अवश्य रक्षा कर।

भावार्थ—हम सोम का उत्पादन व पान करनेवाले हों। यह हमें पवित्र बनाकर उल्लासयुक्त व प्रभु से मेलवाला बनाएगा।

ऋषिः—**उशनाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परार्थ द्वारा स्वार्थ-साधन

१४७२. स ईं रथो न भुरिषाडयोजि महः पुरूणि सातये वसूनि।
आदीं विश्वा नहूष्याणि जाता स्वर्षाता वन ऊर्ध्वा नवन्त ॥ २ ॥

सः=वह सोम **ईम्**=निश्चय से **रथः न**=रथ के समान है—इसके सुरक्षित होने पर हमारी जीवन-यात्रा बड़े अच्छे ढंग से पूरी होगी। यह सोम **भूरिषाट्**=शत्रुओं का खूब ही मर्षण=पराभव करनेवाला है—इसके सुरक्षित होने पर शरीर में रोगकृमियों का प्राबल्य नहीं होता है। यह **महः**=एक तेज है, वस्तुतः शरीर में सारी तेजस्विता का आधार यही है। **पुरूणि**=पालक व पूरक **वसूनि**=वसुओं को—निवास के लिए आवश्यक रत्नों को **सातये**=प्राप्त करने के लिए **अयोजि**=यह हमारे द्वारा शरीर में संयुक्त किया गया है। वीर्य के सुरक्षित होने पर ही सब धातुएँ सुरक्षित रहती हैं।

आत् ईम्=अब इसके बाद निश्चय से हमारे **विश्वा**=सब कर्म **नहुष्याणि**=(नहुष=मनुष्य य=हितकर) मानवमात्र के लिए हितकर **जाता**=हो जाते हैं। सोमी पुरुष संकुचित व स्वार्थी न रहकर उदार हृदय बन जाता है। इसके सब कर्म परार्थ के द्वारा स्वार्थ का साधन कर रहे होते हैं।

यह सोमी पुरुष **वनः**=(वन्=भक्त) प्रभु के उपासक होते हैं और ये उपासक **स्वर्षातौ**=काम, क्रोध, लोभ आदि के साथ संग्राम में **ऊर्ध्वा नवन्त**=ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं—get the upper hand=विजयी बनते हैं। काम, क्रोध, लोभ आदि के साथ संग्राम सात्त्विक संग्राम है—यह संग्राम सचमुच स्वर्=स्वर्ग का साति=प्राप्त करानेवाला है। काम, क्रोध, लोभ ही तो नरक के द्वार हैं—इनको जीतकर मनुष्य स्वर्ग को क्यों न प्राप्त करेगा?

भावार्थ—सोम की रक्षा इसलिए आवश्यक है कि यह हमारी जीवन-यात्रा की पूर्ति में सहायक है—रोगों का पराभव करनेवाला है। तेजस्विता का मूल है, वसुओं को प्राप्त करानेवाला है। इस सोम की रक्षा होने पर मनुष्य मानवमात्र के हितकर कर्मों को ही करता है और अध्यात्मसंग्राम में विजयी बनता है।

ऋषिः—**उशनाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति—प्रशस्त जीवन : सुमति—सम्प्रसाद

१४७३. शुष्मी शर्धो न मारुतं पवस्वानभिशस्ता दिव्या यथा विट्।
आपो न मक्षू सुमतिर्भवा नः सहस्राप्साः पृतनाषाड् न यज्ञः ॥ ३ ॥

शुष्मी=यह सोम शत्रुओं का शोषण करनेवाला है, इसके शरीर में सुरक्षित होने पर रोग-कृमि नष्ट हो जाते हैं और शरीर बड़ा स्वस्थ होता है। **शर्धः न मारुतम्**=यह सोम वायु की शक्ति (शर्धः) के समान है—जैसे प्रचण्ड वायु का वेग सब वस्तुओं को उड़ा ले-जाता है, उसी प्रकार यह सोम सब रोगों को भगा देता है। इस सोम से मनुष्य को वायु के समान बल प्राप्त होता है। **पवस्व**=हे

सोम ! तू हममें पवित्रता उत्पन्न कर। तू इस प्रकार सबके जीवनों को पवित्र बना **यथा**=जिससे कि **विट्**=सारी प्रजा **अनभिशस्ता**=अनिन्दनीय हो तथा **दिव्या**=दिव्य गुणसम्पन्न बने।

हे सोम ! तू **मक्षु**=शीघ्र ही **आपः न**=जलों की भाँति **पवस्व**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला हो और **नः**=हमारे लिए **सुमतिः**=उत्तम बुद्धिवाला **भव**=हो। हमारी बुद्धियाँ सोम की रक्षा से दीप्त व तीव्र हो जाती हैं। हे सोम ! तू हमारे लिये **स-हस्त्र-अप्साः**=प्रसन्नरूपवाला हो। सोम के होने पर जीवन में उल्लास चेहरे पर प्रसाद के रूप में प्रकट होता है और सोमपान करनेवाले का चेहरा सदा प्रसन्न दिखता है। **पृतनाषाट् न**=यह सोम काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर की सेना का पराभव करनेवाले के समान होता है। यह वह सेनापति है, जो हमारे इन सब अध्यात्मशत्रुओं को समाप्त कर देता है।

इन सब दृष्टिकोणों से यह सोम **यज्ञः**=सङ्गतीकरणयोग्य होता है (यज-सङ्गतीकरण)। सोम शरीर का ही भाग बनाने के योग्य है—इसे शरीर में ही खपाने के लिए हमें प्रयत्नशील होना चाहिए।

भावार्थ—सोम हमें शक्तिशाली, पवित्र, अनिन्दनीय, दिव्य जीवनवाला बनाता है, हमारी बुद्धियों को उत्तम बनाता है—हमारा जीवन प्रसादमय होता है और हमारे अध्यात्म-शत्रुओं को यह कुचल डालता है। सोम 'यज्ञ' है—शरीर का ही भाग बनाने के योग्य है।

सूक्त-१४

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**वर्धमानागायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दिव्य गुणों से दिव्य प्रभु का दर्शन

१४७४. त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने॥ १॥

संख्या २ पर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

हे **अग्ने**=मोक्ष-स्थान को प्राप्त करानेवाले प्रभो ! **त्वम्**=आप **विश्वेषाम्**=सब **यज्ञानाम्**=श्रेष्ठतम कर्मों के **होता**=सम्पादयिता हैं। आप **देवेभिः**=दिव्य गुणों के द्वारा **मानुषे जने**=मानवता—दयालुता से युक्तजन में **हितः**=प्रतिष्ठित होते हैं।

भावार्थ—सब उत्तम कर्म उस प्रभुकृपा से होते हैं। दिव्य गुणों से प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु का उपदेश (अहिंसा व मधुरभाषण)

१४७५. स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजा महः। आ देवान्वक्षि यक्षि च॥ २॥

प्रभु प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः' से कहते हैं कि **सः**=वह तू **नः**=हमारे **महः**=तेज को **अध्वरे**=हिंसारहित जीवन-यज्ञ में **मन्द्राभिः जिह्वाभिः**=मधुर वाणियों से **यजा**=अपने साथ सङ्गत कर। हमारे जीवन का लक्ष्य प्रभु के तेज से तेजस्वी बनना है। 'यह तेज हमें कैसे प्राप्त होगा?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि १. **अध्वरे**=हम अपने जीवन को हिंसारहित बनाएँ।

यथासम्भव हमारा जीवन हिंसा से दूर हो। हम ध्वंसक कार्यों के स्थान में निर्माणात्मक कार्यों में लगें। नाश के स्थान में निर्माण हमारे जीवन का ध्येय हो २. तथा **मन्द्राभिः जिह्वाभिः**=हमारी वाणी मधुर हो—हम हित की बात को मधुर ढङ्ग से ही कहनेवाले हों। ये अहिंसा और वाणी की मिठास हमें प्रभु का तेज प्राप्त कराएगी।

प्रभु कहते हैं कि **देवान् आवक्षि**=देवताओं को व दिव्य गुणों को तू सब ओर से धारण करनेवाला बन। जहाँ कहीं भी तू जाए वहाँ से अच्छाई को ही लेनेवाला हो **च**=और उस-उस अच्छाई को **यक्षि**=तू अपने साथ सङ्गत कर। एवं, प्रभु के तेज को प्राप्त करने का ३. तीसरा साधन यह हुआ कि हम दिव्य गुणों को ही देखें और उन्हें धारण करने का प्रयत्न करें।

वस्तुतः ये ही मधुर इच्छाएँ व कामनाएँ हैं कि १. मेरा जीवन अहिंसावाला हो, २. मेरी वाणी में माधुर्य हो, ३. मैं दिव्य गुणों का ही वाहक व ग्राहक बनूँ। इन मधुर इच्छाओं का करनेवाला व्यक्ति 'मधु-छन्दाः'=मधुर इच्छाओंवाला है, यह 'वैश्वामित्रः' सभी का मित्र है—यह किसी से द्वेष नहीं करता।

भावार्थ—मैं अहिंसा का व्रती बनूँ—मेरी जिह्वा मधुमय हो और मैं सदा अच्छाई को ही देखूँ और ग्रहण करूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञानमार्ग पर आक्रमण, यज्ञमय जीवन

१४७६. वेत्था हि वेधो अध्वनः पथश्च देवाञ्जसा। अग्ने यज्ञेषु सुक्रतो ॥ ३ ॥

प्रभु 'मधुच्छन्दाः' से ही कह रहे हैं कि १. हे **वेधः**=खूब ज्ञान प्राप्त (well learned) करनेवाला तू **अध्वनः**=(journey) जीवन-यात्रा को **हि**=निश्चय से **वेत्थ**=समझता है, क्योंकि तू **अध्वनः**=वेद के पाठों को ('सहस्राध्वा सामवेदः' में अध्वा=शाखा) वेद की सब शाखाओं को **वेत्थ हि**=अच्छी प्रकार जानता है। वेद को समझने से तू जीवन-यात्रा को भी समझता है। **च**=और २. हे **देव**=(विजिगीषा) जीवन-यात्रा में विजय की कामनावाले! तू **पथः**=रास्तों को—जिनपर तुझे चलना है, उनको **अञ्जसा**=अच्छी प्रकार **वेत्थ**=जानता है 'मुझे किस मार्ग पर चलना है' इसका तुझे ठीक ज्ञान है ३. **अग्ने**=हे आगे और आगे चलनेवाले जीव! **सुक्रतो**=उत्तम सङ्कल्पों को धारण करनेवाले! तू **यज्ञेषु**=यज्ञों में अपना जीवन बिता। तेरा जीवन-यज्ञमय हो। इसी प्रकार तेरा जीवन सफल होगा और तू यात्रा को पूर्ण करके अपने घर में वापस लौट सकेगा।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्त करें, जीवन के मार्ग को जानें और यज्ञमय जीवन बिताएँ।

सूक्त-१५

ऋषिः—**उशनाः काव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वह तो देता है—हम लेनेवाले बनें (माया-विदथ)

१४७७. होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया। विदथानि प्रचोदयन्॥ १ ॥

वे प्रभु **होता**=सब-कुछ देनेवाले हैं (हुः दान), **देवः**=वे प्रभु दिव्य गुणोंवाले हैं, **अमर्त्यः**=अमरणधर्मा हैं। वस्तुतः जीव को भी इन गुणों को ही अपने अन्दर धारण करना है—कभी लोभ में न फँसकर सदा देनेवाला बनना है, उसने क्रोध से ऊपर उठकर देव बनना है और काम से ऊपर उठकर, किसी भी वस्तु के लिए अत्यन्त लालायित न होते हुए (=न मरते हुए) अमर बनना है।

यह प्रभु **मायया**=अपनी दया (Pity) की वृत्ति के कारण असाधारण शक्ति (Extra ordinary power) व प्रज्ञा (Wisdom) के साथ **पुरस्तात् एति**=हमारे सामने आते हैं। मानो हमें भी 'दयालुता,

शक्ति व ज्ञान' प्रदान करना चाहते हैं। हमारा कितना दौर्भाग्य है कि प्रभु तो इन देय वस्तुओं के साथ उपस्थित होते हैं और हम लेने के लिए उद्यत नहीं होते—हमने अपने को पात्र नहीं बनाया होता।

वे प्रभु निरन्तर **विदथानि**=ज्ञान, त्याग (Knowledge, sacrifice) तथा वासनाओं के साथ संग्राम (battle) की **प्रचोदयन्**=प्रेरणा दे रहे हैं। 'विदथ' शब्द के तीनों ही अर्थ यहाँ अभिप्रेत हैं। प्रभु स्पष्ट कह रहे हैं कि यदि वासनाओं के साथ संग्राम में जीतना है तो ज्ञान प्राप्त करो, मस्तिष्क को ज्ञानाग्नि से दीप्त करो तथा त्याग की वृत्ति को अपनाओ—अपने हृदयों में त्याग की भावना भरो।

प्रस्तुत मन्त्र में माया शब्द के भी तीन अर्थ हैं तथा विदथ के भी तीन अर्थ हैं। माया शब्द की भावना यह है कि हृदय में दया हो—बाहुओं में शक्ति हो तथा मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से दीप्त हो। विदथ शब्द भी मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करके और हृदय को त्याग की भावना से भरकर बाहुओं से शत्रुओं के साथ संग्राम करने का संकेत कर रहा है। इन भावनाओं को भरने की कामनावाला 'उशनाः' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह 'काव्यः'=अर्थतत्त्व को देखता है—और पदार्थों के पीछे मरनेवाला नहीं बनता।

भावार्थ—प्रभु तो कृपा करके शक्ति व ज्ञान देते ही हैं—मैं लेने के लिए तैयार बनूँ।

ऋषिः—**उशनाः काव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वाज, अध्वर, यज्ञ

१४७८. वाजी वाजेषु धीयतेऽध्वरेषु प्र णीयते। विप्रो यज्ञस्य साधनः ॥ २ ॥

जो व्यक्ति सचमुच 'उशनाः'=प्रभु के गुणों की प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता है तथा 'काव्यः'=अर्थतत्त्व (वास्तविकता) को जानकर चलता है, वह १. **वाजी**=शक्तिशाली बनता है—और **वाजेषु**=शक्तिशाली कामों में **धीयते**=सदा रक्खा जाता है। यह संसार में सदा क्रियाशील जीवनवाला होता है। यह क्रियाशीलता ही इसके वासनाओं से बचे रहकर शक्तिशाली बनने का रहस्य बनती है। २. **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञों में यह **प्रणीयते**=आगे और आगे ले-जाया जाता है। हिंसारहित कर्मों को करता हुआ यह जीवन में उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता है। ३. **विप्रः**=यह विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाला होता है और ४. **यज्ञस्य साधनः**=लोकहित के श्रेष्ठतम कर्मों को सिद्ध करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम शक्तिशाली कर्मों में लगे रहें, अहिंसा के मार्ग पर आगे बढ़ें, अपनी न्यूनताओं को दूर कर अपना पूरण करनेवाले हों—लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त हों।

नोट—'वाज, अध्वर और यज्ञ' तीनों ही शब्द यज्ञ के लिए प्रयुक्त होते हैं। यहाँ उनमें इस प्रकार भेद करके दिखाया गया है १. वाज शक्तिशाली कर्म हैं, २. अध्वर—अहिंसा का मार्ग है और ३. यज्ञ लोकहित के लिए किये गये श्रेष्ठतम कर्म हैं।

ऋषिः—**उशनाः काव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दक्ष का पिता बनना

१४७९. धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमा दधे। दक्षस्य पितरं तना ॥ ३ ॥

वरेण्यः=लोकहित करनेवाला यह उशनाः प्रजाओं का मुख्य (Best, worthy, chief) नेता होता है, यह सदा १. **धिया**=बुद्धिमत्ता से—नकि मूर्खता से **चक्रे**=कार्यों को करता है। वस्तुतः

बुद्धिमत्ता से कार्यों को करने के कारण ही यह 'वरेण्य' बना है—लोगों से मुखिया के रूप में वरने के योग्य हुआ है। २. यह **भूतानाम्**=प्राणियों की **गर्भम्**=स्तुति को (गर्भः गृभेर्गृणात्यर्थे—नि० १०.२३) **आदधे**=समन्तात् प्राप्त करता है, अर्थात् सब व्यक्ति इसकी प्रशंसा करते हैं तथा यह 'वरेण्य' (chief) **भूतानाम्**=उन प्राणियों के **गर्भम्**=अनर्थ के विनाश को (गिरत्यनर्थान् इति वा—नि० १०.२३) **आदधे**=सब प्रकार से धारण करता है। प्रजा की अहितकर बातों को यह सदा दूर करता है। उनके क्लेशों का निवारण करता है और ३. **तना**=अपने कर्म में निरन्तर (continually) दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक लगे रहने से यह अपने को **दक्षस्य**=कुशलता का **पितरम्**=रक्षक—पिता या मास्टर **चक्रे**=बना लेता है। यह निरन्तर लगे रहने के कारण कार्यकुशल बन जाता है।

भावार्थ—हम बुद्धिमत्ता से कार्य करें, प्राणियों के दुःखों को दूर करें, अपने कार्य में लगे रहने से कुशल बनें।

सूक्त-१६

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निर्हवींषि वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यह संसार निर्बल के लिए नहीं

१४८०. आ सुते सिञ्चत श्रियं रोदस्योरभिश्रियम्। रसा दधीत वृषभम्॥ १॥

प्रभु जीवों से कहता है कि **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में, **सुते**=उत्पन्न सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर **श्रियम्**=शोभा को **आसिञ्चत**=अपने अन्दर सिक्त करो। 'सुत' शब्द संसार का भी वाची है और सुत शब्द सोम का भी सूचक है। हे जीवो ! तुम **रोदस्योः अभिश्रियम्**=द्युलोक और पृथिवी-लोक की 'अभिश्री' को धारण करो। द्युलोक की श्री 'येन द्यौः उग्रा' इन शब्दों में उग्रता—तेजस्विता है और पृथिवीलोक की 'पृथिवी च दृढा' इन शब्दों में दृढ़ता है। मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि की दीप्ति व तेजस्विता हो तथा शरीर में दृढ़ता हो। मस्तिष्क ही शरीर का द्युलोक है और शरीर ही यहाँ पृथिवी है। अन्दर मस्तिष्क की दीप्ति हो बाहर शरीर की दृढ़ता। इस प्रकार अन्दर व बाहर की (अभि) श्री को यह धारण करता है। अभि का अभिप्राय दोनों ओर की—अन्दर व बाहर की श्री से है।

यह अन्दर व बाहर की श्री को धारण करनेवाला पुरुष 'वृषभ' है, शक्तिशाली है, प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' है। प्रभु कहते हैं कि **रसा**=यह पृथिवी **वृषभम्**=इस वृषभ को, शक्तिशाली को **दधीत**=धारण करे। दूसरे शब्दों में यह लोक निर्बलों के लिए नहीं है। निर्बल को तो समाप्त होना ही होगा। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि पार्थिवश्री को शरीर में धारण करके 'भरद्वाज' बनता है और दिव्य श्री को मस्तक में धारण कर 'बार्हस्पत्य' बनता है।

भावार्थ—मैं द्युलोक व पृथिवीलोक की श्री को धारण करके इस योग्य बनूँ कि पृथिवी मेरा धारण करे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निर्हवींषि वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अपने घर को प्राप्त करना

१४८१. ते जानत स्वमोक्यां३ सं वत्सासो न मातृभिः। मिथो नसन्त जामिभिः॥ २॥

ते=पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार द्युलोक और पृथिवीलोक की श्री को धारण करनेवाले **स्वम् ओक्यांसम्**=अपने निवास-स्थान (घर) परमेश्वर को **न**=इस प्रकार **जानत**=जान पाते हैं

जैसे **वत्सासः**=बछड़े **मातृभिः**=अपनी माताओं के साथ होते हैं। बछड़ों का निवास-स्थान वह है जहाँ उनकी माता है—इसी प्रकार श्री को धारण करनेवालों का निवास-स्थान 'प्रभु' हैं। ये **जामिभिः**= क्रियाशीलता के द्वारा **मिथः**=आपस में **नसन्त**=मिलते हैं—प्राप्त होते हैं, अर्थात् प्रभु की प्राप्ति का ढंग 'क्रियाशीलता' है। प्रभु ने स्वयं ही कहा है कि '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्**'=तू कर्मों को करते हुए ही जीने की इच्छा कर। यह कर्म में लगे रहना ही प्रभु-प्राप्ति का—प्रभु से मेल का ढंग है। कोई भी अकर्मण्य व्यक्ति प्रभु को नहीं पा सकता।

बछड़े माताओं के द्वारा जिस प्रकार प्रेम से रास्ता दिखलाये जाते हुए अपने घरों को प्राप्त होते हैं—इसी प्रकार प्रभुभक्त, प्रभु से प्रेमपूर्वक पथ-प्रदर्शन द्वारा निजगृह में पहुँचाये जाते हैं। इनका निज घर 'प्रभु' ही है, अतः क्रियाशीलता के द्वारा ये प्रभु से सङ्गत होते हैं। ये प्रभु को प्राप्त करते हैं—प्रभु इन्हें प्राप्त होते हैं।

लोक-व्यवहार के अर्थ में जैसे लोग **मिथः**=आपस में **जामिभिः**=बहिनों से **संनसन्त**=परस्पर सम्बन्धवाले हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव क्रियाशीलता से प्रभु का सम्बन्धी बनता है। प्रभु तो स्वाभाविक क्रियावाले हैं—जीव भी क्रियाशीलता को अपनाकर प्रभु-भक्त बन जाता है—प्रभु का उप-आसक हो जाता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता के द्वारा हम अपने घर में पहुँचनेवाले बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निर्हवींषि वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्द्र में 'नमन', अग्नि में 'स्वः'

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३१ २ ३ २ १ २ ३ २उ ३क २र
१४८२. उप स्रक्वेषु बप्सतः कृण्वते धरुणं दिवि। इन्द्रे अग्ना नमः स्वः ॥ ३ ॥

'स्रक्व' शब्द सृज् धातु से बनकर सर्जन=निर्माण का कथन कर रहा है। **स्रक्वेषु**=निर्माणात्मक कार्यों के करने पर **उप बप्सतः**=(उपासन्नेधिके हीने शक्तावारम्भदानयोः) दानपूर्वक भोजन करते हुए अथवा हीन-कर्म—न्यून उपाहार ही करते हुए लोग **दिवि**=द्योतनात्मक प्रभु में अपना **धरुणम्**=निवास **कृण्वते**=बनाते हैं।

गत मन्त्र में क्रियाशीलता को प्रभु-प्राप्ति का साधन बताया था। इस मन्त्र में 'स्रक्व' शब्द से उस क्रियाशीलता को निर्माणात्मक बनाने का संकेत है। निर्माण का कार्य करते हुए ही हमें वस्तुतः खाने का अधिकार है। 'स्रक्वेषु' शब्द की सप्तमी 'सर्जन के होने पर ही' इस भाव को व्यक्त कर रही है। फिर 'उप' शब्द दानपूर्वक उपभोग की भावना का व्यञ्जक है। साथ ही 'उप' शब्द अधिक भोजन से बचने का भी संकेत कर रहा है—उपाहार शब्द में भोजन का लाघव स्पष्ट दिख रहा है। ये ही व्यक्ति प्रकाशमय लोक में निवास के अधिकारी बनते हैं।

ये 'इन्द्र'=बल के कार्यों के करनेवाले होते हैं और **इन्द्रे**=इन शक्तिशाली व्यक्तियों में **नमः**=शत्रुओं को नत कर देने की शक्ति होती है। उस महेन्द्र प्रभु के प्रति नमन की भावना होती है—इसी से तो वह शत्रुओं को नत कर पाता है। 'भरद्वाज' अपने बल से शत्रुओं का पराभव करेगा ही। ये 'अग्नि'=प्रकाश के पुञ्ज बनते हैं और **अग्नौ**=अग्निवत् ज्ञानाग्नि से दीप्त इन व्यक्तियों में **स्वः**=प्रकाश का प्रसरण (Radiation) होता है। इनसे ज्ञान का प्रकाश चारों ओर फैलता है। 'बार्हस्पत्य' होने से इनसे ज्ञान का प्रसार होना ही चाहिए।

नोट—स्रक्व का अर्थ ओष्ठप्रान्त भी है—तब चबाकर खाने की भावना व्यक्त हो रही होगी। 'स्रक्वेषु उप बप्सतः' की भावना उपांशु जप की भी ली गयी है। वह भी असङ्गत नहीं है।

भावार्थ—हम उत्पादन करनेवाले बनते हुए ही खाएँ—तभी हम प्रभु को प्राप्त करेंगे।

सूक्त-१७

ऋषिः—**बृहद्दिव आथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बृहद्दिव आथर्वण

१४८३. तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥ १ ॥

गत मन्त्र में "इन्द्र में 'नमः' तथा अग्नि में 'स्वः' के होने का" उल्लेख था। वस्तुतः **तत् इत्**='नमः और स्व' ही **भुवनेषु**=सब प्राणियों में या सब लोकों में **ज्येष्ठम्**=सबसे बड़ा गुण **आस**=था। **यतः**=जिस 'नमः और स्वः' से—प्रभु के प्रति नमन और प्रकाश से—**उग्रः**=उत्कृष्ट **त्वेषनृम्णः**=दीप्त बल व साहसवाला उपासक **जज्ञे**=आविर्भूत होता है। जिस समय एक व्यक्ति 'नमः और स्वः' को अपने अन्दर धारण करता है तब वह उत्कृष्ट तेजवाला बन जाता है। ज्ञान के प्रकाश के कारण वह 'बृहद्-दिवः' कहलाता है तथा प्रभु के प्रति नमन से उत्पन्न शक्ति से वह 'आथर्वण'=शत्रुओं से डाँवाँडोल न किये जानेवाला हो जाता है। (अथर्व)

जज्ञानः=दीप्त बल व साहसवाले के रूप में होता हुआ यह **सद्यः**=शीघ्र ही **शत्रून्**=शत्रुओं को—काम-क्रोधादि को—**निरिणाति**=दूर भगा देता है। वस्तुतः 'इस बृहद्दिव' के अन्दर वह त्वेष-नृम्ण=दीप्त शक्ति उत्पन्न हो जाती है **यम् अनु**=जिसके उत्पन्न हो जाने के बाद **विश्वे**=सब **ऊमाः**=प्रभु-चरणों में नत होकर अपनी रक्षा करनेवाले व्यक्ति (अवन्ति इति ऊमाः) **मदन्ति**=एक अवर्णनीय मद=हर्ष प्राप्त करते हैं। वास्तविक हर्ष तो मानव-जीवन में उसी दिन उत्पन्न होता है जिस दिन वह प्रभु-चरणों में नत होने से उग्रशक्तिवाला बनकर संसार के प्रलोभनों से अनान्दोलित 'आथर्वण' हो जाता है, जिस दिन 'स्तुति-निन्दा, जीवन-मृत्यु व सम्पत्ति-विपत्ति' कोई भी उसे नीतिमार्ग से विचलित नहीं कर पाते।

भावार्थ—'नमः और स्वः' ही ज्येष्ठ बल है—यही हमें 'बृहद्दिव आथर्वण' बनाएगा। (As bright as a day, as firm as a rock)

ऋषिः—**बृहद्दिव आथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सब विजय उस प्रभु की ही है

१४८४. वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥ २ ॥

'यह बृहद्दिव आथर्वण' **शवसः**=सामर्थ्य से **वावृधानः**=निरन्तर बढ़ता चलता है **भूरि ओजाः**=यह भरण (धारण) करनेवाले अत्यधिक ओजवाला होता है। **शत्रुः**=कामादि का शातन (shattering) नाश करनेवाला यह इन्द्र **दासाय**=(दसु उपक्षये) उपक्षय करनेवाली कामादि वृत्तियों के लिए **भयसम्**=भय को **दधाति**=धारण करता है। भयभीत होकर ये आन्तर शत्रु दूर भाग जाते हैं—वे इस 'बृहद्दिव' के समीप नहीं फटकते।

इस प्रकार शत्रुओं पर विजय पाकर यह 'बृहद्दिव' इस विजय में अपनी ही महिमा का अनुभव

करता हुआ गर्वित नहीं होता। अपितु इस विजय को प्रभु की ही विजय समझता हुआ यह इन शब्दों में प्रभु का आराधन करता है—

अव्यनत् च=प्राणधारण न करनेवाले स्थावर जगत् को तथा **व्यनत् च**=विशेषरूप से प्राण-क्रिया करते हुए जंगम जगत् को हे प्रभो! आप ही **सस्त्रि**=शुचि=पवित्र बनाते हो (ष्णा शौचे)। आप ही सम्पूर्ण जगत् को निर्मल कर रहे हो। आपकी ही शक्ति से सब स्तोता शत्रुओं पर विजय का लाभ करते हैं और इस प्रकार **ते**=आपके द्वारा प्राप्त कराये हुए **मदेषु**=आनन्दों में **प्रभृताः**=प्रकर्षेण भृत हुए-हुए सब उपासक **संनवन्त**=उत्तम कर्मों में गतिवाले होते हैं (नव गतौ) और अन्ततः आपको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही उपासक शत्रुओं का शातन (विनाश) करनेवाला बनता है और इस प्रभु से प्राप्त करायी गयी विजय के उल्लास में वह और अधिक गतिशील बनता है।

ऋषिः—**बृहद्दिव आथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्मरण और पवित्रता

१४८५. त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति विश्वे द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥ ३ ॥

जिन व्यक्तियों का जीवन सदा अपने को शत्रुओं से सुरक्षित रखने की प्रवृत्तिवाला होता है वे **ऊमाः**=आत्मरक्षक कहलाते हैं। **यत् एते**=जब ये लोग **द्विः भवन्ति**=दो (double) हो जाते हैं, अर्थात् गृहस्थ में प्रवेश करके 'पति-पत्नी' रूप से एक से दो हो जाते हैं और सन्तानोत्पत्ति के अनन्तर **त्रिः भवन्ति**=तीन हो जाते हैं, तब ये **विश्वे ऊमाः**=सब आत्मरक्षक लोग **त्वे**=आपमें **क्रतुम्**=अपने सङ्कल्प को **अपिवृञ्जन्ति**=पवित्र (purify) करते हैं, अर्थात् आपका ध्यान करते हुए अपने जीवन को अपवित्र नहीं होने देते। गृहस्थाश्रम का नाम 'मलाश्रम' भी है—इसमें मल लिप्त हो जाने की सदा ही आशंका बनी रहती है। प्रभु का स्मरण ही अपवित्रता से बचानेवाला है।

ऐसे सद्गृहस्थ सदा इस प्रकार प्रभु की आराधना करते हैं कि—हे प्रभो! आप ही **स्वादोः स्वादीयः**=संसार की मधुर वस्तुओं से भी कहीं अधिक मधुर हैं। आप 'रस' ही हैं, आपकी प्राप्ति के रस के सामने सब सांसारिक विषयों के रस फीके हो जाते हैं। आप हमें **स्वादुना**=अपने रसमयरूप से **सृज**=संसृष्ट—संयुक्त कीजिए। आपकी उपासना से हम आपके 'अवर्णनीय' 'आनन्दरस' का अनुभव करें।

हे **समदः**=सदा शाश्वत उल्लास के साथ रहनेवाले प्रभो! **सुमधु**=उत्तम रसरूप प्रभो! **मधुना**=बड़े माधुर्य के साथ आप हमें कुटिलताओं व पापों के साथ **अभियोधीः**=युद्ध कराइए। हम सदा बुराई के साथ संघर्ष करनेवाले हों, परन्तु कभी भी हमारे हृदयों में किसी के प्रति कटुता की भावना उत्पन्न न हो। हम श्रेय का अनुशासन=कल्याण का उपदेश अहिंसा व माधुर्य के साथ ही करें और धर्म को चाहते हुए हम मधुर व श्लक्ष्ण वाणी का ही प्रयोग करें।

भावार्थ—प्रभु रसमय हैं—स्वादु से भी स्वादु—मधुमय हैं, उनका उपासक भी मधुर ही होता है। शत्रुओं का शातन करते हुए भी वह माधुर्य को खोता नहीं।

सूक्त-१८

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अष्टिः** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

इन्दुः इन्द्रम् सश्चत्

१४८६. त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृम्पत् सोममपिबद्विष्णुना सुतं यथावशम्। स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम्॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ संख्या ४५७ पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'देव, सत्य व इन्दु'

१४८७. साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणिः। दाता राध स्तुवते काम्यं वसु प्रचेतन सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम्॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गृत्समद शौनक' है—'गृणाति'=प्रभु का स्तवन करता है, 'माद्यति'=प्रसन्न रहता है तथा 'शुनति' गतिशील होता है। यह **क्रतुना साकं जातः**=सङ्कल्प के साथ अपना विकास करता है—जीवन में दृढ़ निश्चय के साथ चलता है और **ओजसा साकं ववक्षिथ**=बल के साथ वृद्धि को प्राप्त करता है। संकल्प के अनुपात में ही इसके बल की वृद्धि होती है। जितना-जितना सङ्कल्प उतनी-उतनी बल की वृद्धि। यह गृत्समद 'प्रभु-स्तवन' के कारण वासनाओं का शिकार नहीं होता और परिणामतः **वीर्यैः साकं वृद्धः**=शक्तियों के साथ बढ़ा हुआ **मृधः**=शत्रुओं को **सासहिः**=पराभूत करनेवाला होता है। इसके शरीर पर रोगों का आक्रमण नहीं होता, मन पर द्वेष आदि भावनाएँ प्रबल नहीं होतीं। यह सङ्कल्प, ओज तथा वीर्य वृद्धि के द्वारा शत्रुओं को कुचलने के साथ **विचर्षणिः**=अर्थतत्त्व का विशेषरूप से द्रष्टा बनता है। सुरक्षित वीर्य इसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और यह वास्तविकता को जाननेवाला—वस्तुओं को सूक्ष्मता से देखनेवाला 'विचर्षणि' होता है।

इस विचर्षणि व प्रचेतन=प्रकृष्ट चेतनावाले से कहते हैं कि हे **प्रचेतन**=समझदार! तू इस बात को समझ ले कि वे प्रभु **स्तुवते**=स्तुति करनेवाले के लिए **काम्यम्**=वाञ्छनीय **राधः**=कार्य की सिद्धि करानेवाला **वसु**=धन **दाता**=देते ही हैं। वे आवश्यक धन अवश्य प्राप्त कराएँगे ही, अतः धन के लिए तू व्याकुल मत हो। तेरी सारी शक्ति इस धन जुटाने में ही न लग जाए।

तू इस बात का भी ध्यान कर कि **एनं देवम्**=इस प्रभु को **सः देवः**=वह जीव देव बनकर ही **सश्चत्**=प्राप्त करता है। **सत्यम्**=उस सत्य प्रभु को **सत्यः**=सत्य को अपनानेवाला ही पाता है। **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली सर्वशक्तिमान् प्रभु को **इन्द्रः**=शक्तिशाली बननेवाला ही **सश्चत्**=प्राप्त करता है, अतः तू धन के पीछे ही भागता न रहकर 'देव, सत्य व इन्द्र' बनने का प्रयत्न कर।

भावार्थ—हम दृढ़संकल्पवाले हों, जिससे हमारी शक्ति में वृद्धि हो। हम शत्रुओं का पराभव

करके 'देव, सत्य व इन्दु' बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सच्चा मित्र Bosom Friend

१४८८. अध त्विषीमाँ अभ्योजसा कृविं युधाभवदा रोदसी अपृणदस्य मज्मना प्र वावृधे। अधत्तान्यं जठरे प्रेमरिच्यत प्र चेतय सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम्॥ ३ ॥

यह 'गृत्समद शौनक' **अध**=अब—गत मन्त्र के वर्णन के अनुसार प्रभु के समीप पहुँचने के पश्चात् **त्विषीमान्**=कान्तिवाला होता है—दीप्तिवाला होता है—ब्रह्मतेज से इसका चेहरा चमकता है। **ओजसा**=ओज के द्वारा **युधा**=युद्ध से यह **क्रिविम्** (नि० ४.५८ killing)=संहारक शत्रुओं को जिन्हें पिछले मन्त्र में 'मृधः'=murderers हिंसक कहा गया था, **अभ्यभवत्**=जीत लेता है। कामादि शत्रुओं को परास्त करके यह **रोदसी**=द्युलोक और पृथिवीलोक को, अर्थात् अपने मस्तिष्क व शरीर को **आ**=सर्वथा **अपृणत्**=पूर्ण करता है। शरीर में रोगादि से कमी को नहीं आने देता और मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि की मन्दता से अन्धकार उत्पन्न नहीं होने देता। इसका शरीर नीरोग तथा मस्तिष्क दीप्त बना रहता है। **अस्य**=इस प्रभु के **मज्मना**=बल से (नि० २.१०.२३) यह **प्रवावृधे**=अतिशय वृद्धि को प्राप्त करता है।

यह गृत्समद **अन्यम्**=विलक्षण, अनिर्वचनीय शक्तिवाले प्रभु को **जठरे**=अपने हृदय (bosom) में **आधत्त**=धारण करता है—अर्थात् उसे अपना सच्चा मित्र (bosom friend) बनाता है तो **ईम्**=निश्चय से **प्र अरिच्यत**=खूब वृद्धि व उत्कर्ष को प्राप्त करता है।

हे गृत्समद! तू **प्रचेतय**=इस बात को अच्छी तरह समझ ले कि **एनं देवम्**=इस देव को जीव **देवः**=देव बनकर ही **सश्चत्**=प्राप्त होता है, **सत्यम्**=सत्य प्रभु को **सत्यः**=सत्य बनकर तथा **इन्द्रम्**=परम शक्तिमान् प्रभु को **इन्दुः**=शक्तिशाली बनकर ही **सश्चत्**=प्राप्त होता है।

भावार्थ—हमें उत्कर्ष के लिए प्रभु को ही अपना सच्चा मित्र बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

इति त्रयोदशोऽध्यायः, षष्ठप्रपाठकश्च समाप्तः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

सप्तमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यथार्थ-ज्ञान

१४८९. अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे। सूनुं सत्यस्य सत्पतिम्॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र की व्याख्या १६९ संख्या पर इस प्रकार है—

हे जीव ! तू **यथा-विदे**=जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही समझने के लिए **इन्द्रम्**=ज्ञानरूप परमैश्वर्य के निधिभूत प्रभु की **अर्च**=अर्चना कर। तू **गिरा**=इन वेदवाणियों के द्वारा **गोपतिम्**=वेदवाणियों के पति प्रभु की **अभि प्र**=ओर प्रकर्षेण चल। वे प्रभु **सत्यस्य सूनुम्**=सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं और **सत्-पतिम्**=सज्जनों के पति हैं।

भावार्थ—उस 'गोपति' प्रभु की प्रार्थना के द्वारा हम भी गोपति बनें। सत्य की प्रेरणा को प्राप्त करके 'सत्' बनें।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

धारणा व ध्यान

१४९०. आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि। यत्राभि संनवामहे॥ २ ॥

इन्द्रियाँ इस शरीररूप रथ के घोड़े हैं। ये सदा घोड़ों की भाँति इधर-उधर घूमती रहती हैं, इसी से ये **अरुषीः**=(moving about like a horse) इधर-उधर घूमनेवाली कहलाती हैं। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में लगने पर ये चमक उठती हैं, इसलिए भी ये 'अरुषीः' चमकती (bright, shining) हुई कहलाती हैं। इस स्थिति में ये आसुर आक्रमणों से विद्ध नहीं होती, अ-विद्ध—अनाहत (unhurt) होने से भी ये 'अरुषी' हैं। ये **अरुषीः**=सामान्यतः इधर-उधर घूमनेवाली, ज्ञान को प्राप्त करने में लगने पर चमकनेवाली और आसुर आक्रमणों से अबिद्ध **हरयः**=इन्द्रियाँ **आ**=चारों ओर से **अधि-बर्हिषि**=उस हृदयान्तरिक्ष में, जिसमें से कि सब वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, **ससृज्रिरे**=(सृज्=put on, place on, apply) रखी गयी हैं। इनका भटकना समाप्त हो गया है और इनका मन में निरोध कर दिया गया है।

उस मन में हम इन इन्द्रियों का निरोध करें **यत्र**=जहाँ **अभि-सं-नवामहे**=चारों ओर से (अभि) सब चित्तवृत्तियों को केन्द्रित (सम्) करके हम प्रभु का स्तवन (नू-स्तुतौ) करें। इन्द्रियों का मन में निरोध ही एक देश में बन्धरूप 'धारणा' है और चित्तवृत्तियों को एकाग्र कर प्रभु की महिमा का चिन्तन ही 'ध्यान' है। यही ध्यान हमें समाधि की ओर अग्रसर करेगा और हम प्रभु का साक्षात्कार करनेवाले बनेंगे।

भावार्थ—हम इन्द्रियों का मन में निरोध करें—मन को प्रभु चिन्तन में प्रवृत्त करें।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

समाधि में साक्षात्कार

१४९१. इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु। यत्सीमुपह्वरे विदत्॥ ३ ॥

इन्द्राय=इन्द्रियों का मन में निरोध करके जितेन्द्रिय बननेवाले **वज्रिणे**=(वज गतौ) क्रियाशीलता-रूप वज्र को हाथ में लिये हुए 'प्रियमेध' के लिए **गावः**=सब वेदवाणियाँ व इन्द्रियाँ **आशिरम्**=(आ-शृ)=सब ओर से मलों को भस्म कर देनेवाले **मधु**=सारभूत ज्ञान का, मधुविद्या का, ब्रह्मविद्या का **दुदुह्रे**=दोहन करती हैं।

मधुविद्या को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम जितेन्द्रिय बनें। जितेन्द्रिय बनने के लिए आवश्यक है कि क्रियाशीलतारूप वज्र को हम हाथ में लिये हुए हों। ऐसा करने पर ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ (गावः) वेदवाणियों (गावः) के अध्ययन व अधिगमन से हमें मुधुविद्या को—सारभूत तत्त्वज्ञान को प्राप्त कराएँगी।

यत्=इसका परिणाम यह होगा कि **सीम्**=निश्चय से **उपह्वरे**=अपने हृदय के एकान्त स्थान (A solitary place, Proximity) में, अपने समीप ही यह प्रियमेध **विदत्**=उस प्रभु को पा लेगा (विद्-लाभे)। यहीं प्रियमेध प्रभु का साक्षात्कार कर रहा होगा। ये प्रभु तो हृदयरूप गुफ़ा के अन्दर विचरनेवाले होने से 'गुहाचरन्' नामवाले हैं। प्रियमेध अपनी सब इन्द्रिय-वृत्तियों को इसी हृदय में केन्द्रित करता है और प्रभु को अपने समीप ही पाता है।

भावार्थ—हम मधुविद्या को प्राप्त करें—प्रभु का दर्शन करें।

सूक्त-२

ऋषिः—**नृमेधपुरुमेधौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सामूहिक स्तवन (Congregational Prayers)

१४९२. आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्रं समत्सु भूषत।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋचीषम॥ १ ॥

२६१ संख्या पर मन्त्रार्थ इस रूप में है—

'नृमेध और पुरुमेध' प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि हैं (मेध-सङ्गम)—जो सब मनुष्यों के साथ मिलकर चलते हैं और जिनका मेल (पृ-पालनपूरणयोः) पालन व पूरण करनेवाला है। ये कहते हैं कि **नः**=हमारी **विश्वासु समत्सु**=सब सभाओं में **हव्यं इन्द्रम्**=उस पुकारने योग्य प्रभु को **आभूषत**=सब प्रकार से अलंकृत करो, जो **उप**=सदा हमारे समीप हैं। ऐसा करने से **ब्रह्माणि**=हमारे जीवन में स्तोत्र होंगे, **सवनानि**=यज्ञ होंगे।

वे प्रभु **वृत्रहन्**=वृत्रों को समाप्त करनेवाले हैं, **परमज्या**=एक प्रबल शक्ति हैं, **ऋचीषम**=स्तुति के समान गुणोंवाले हैं—उन-उन गुणों को हमें भी प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—हम एकत्र होने पर सदा प्रभु-स्तवन करें, जिससे हमारा जीवन ज्ञानमय व यज्ञमय हो।

ऋषि:—**नृमेधपुरुमेधौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु का ही वरण करें

१४९३. त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत्।
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥ २ ॥

हे प्रभो! **त्वम्**=आप **राधसाम्**=सफलताओं के तथा सफलताओं के साधनभूत ऐश्वर्यों के **प्रथमः दाता**=मुख्य दाता **असि**=हैं। **सत्यः असि**=आप ही पूर्ण सत्य (Absolute Truth) हैं। **ईशानकृत्**=आप अपने भक्तों को भी ईशान=इन्द्रियों व मन का स्वामी बनानेवाले हैं। प्रभु का भक्त अपने कार्यों में अवश्य सफल होता है, उसका जीवन सत्य से परिपूर्ण होता है। वह अपने जीवन में इन्द्रियों व मन का दास बनकर नहीं चलता, अपितु वह इनका ईशान होता है।

इसलिए हे प्रभो! हम आपके **युज्या**=मेल को 'सायुज्य को' सङ्ग को **आवृणीमहे**=सब प्रकार से वरते हैं—सब प्रकार के प्रलोभनों को परे फेंककर हम आपका ही स्वीकार करते हैं। न सन्तान का, न सम्पत्ति का और न ही सम्भोगों का आकर्षण हमें आपसे दूर कर पाता है। हम तो आपकी ही कामना करते हैं, जो आप—

१. **तुविद्युम्नस्य**=(क) महान् ज्योतिवाले (Lustre) हैं, (ख) महान् शक्तिवाले (Power) हैं, (ग) अनन्त सम्पत्तिवाले (Wealth) हैं, (घ) महान् प्रेरणा देनेवाले (Inspiration) हैं, (ङ) सबसे बड़े होता (Sacrificer) हैं।

२. **शवसः पुत्रस्य**=जो आप बल के पुतले—शक्ति के पुञ्ज—सर्वशक्तिमान् हैं।

३. **महः**=जो आप महान् हैं, अतएव पूजनीय हैं। जिन आपकी दृष्टि में सभी के लिए अनुकम्पा-ही-अनुकम्पा है, जिन आपसे, आपकी सत्ता से इन्कार करनेवाला नास्तिक भी भोजन पाता ही है।

प्रभु का सङ्ग हमें भी तुविद्युम्न—महान् ज्योतिवाला, शवसः पुत्र—शक्ति का पुञ्ज तथा मह—महान्—विशाल हृदयवाला बनाएगा। हम सफलता प्राप्त करेंगे, सत्य के ईशान बनेंगे।

भावार्थ—हम सब-कुछ छोड़कर प्रभु का ही वरण करनेवाले हों।

सूक्त-३

ऋषि:—**त्र्यरुणत्रसदस्यू** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**ऊर्ध्वाबृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

हृदय की गहराई से—मस्तिष्क की ज्योति से

१४९४. प्रत्नं पीयूषं पूर्व्यं यदुक्थ्यं महो गाहाद्दिव आ निरधुक्षत।
इन्द्रमभि जायमानं समस्वरन्॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'त्रसदस्यु' है—डरते हैं दस्यु जिससे, जिससे राक्षसी वृत्तियाँ डरकर दूर भाग जाती हैं। ऐसा क्यों होता है? इसी बात का रहस्य इस मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि ये लोग उस प्रभु का निर्दोहन—आविर्भाव करते हैं (निरधुक्षत) तथा उसी का गायन करते हैं (समस्वरन्) जोकि—

१. **प्रत्नम्**=पुरातन हैं—सनातन हैं—सदा से हैं—कभी उत्पन्न नहीं हुए (न जायते)। २. **पीयूषम्**=वे प्रभु अमृत हैं—कभी उनका विनाश नहीं होता (न म्रियते)। ३. **पूर्व्यम्**=पूरण करनेवालों में

सर्वोत्तम हैं—प्रभु में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं। प्रभु अपने सम्पर्क में आनेवालों के जीवन को भी पूर्ण बनाते हैं। ४. **यत्**=जो प्रभु **उक्थ्यम्**=उच्च स्वर से स्तुति के योग्य हैं।

इस प्रभु को त्रसदस्यु लोग **महः गाहात्**=हृदय की महान् गहराई से (गाह—depth) तथा **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक से **आ**=सब प्रकार से **निरधुक्षत**=आविर्भूत करने का प्रयत्न करते हैं—उस प्रभु के दर्शन के लिए ये हृदय की श्रद्धा तथा मस्तिष्क के ज्ञान का समन्वय करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। श्रद्धा और ज्ञान के समन्वय से **अभिजायमानम्**=सामने प्रादुर्भूत होते हुए उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सम्**=सम्यक्तया अथवा मिलकर **अस्वरन्**=ये स्तुत करते हैं। उस प्रभु के गुणों के गायन का ही यह परिणाम होता है कि इनके समीप काम-क्रोधादि आसुर वृत्तियाँ नहीं फटकतीं। जहाँ प्रभु-गुणगान है, वहाँ आने से ये वृत्तियाँ डरती हैं। इसी कारण से यह स्तोता 'त्रसदस्यु' कहलाता है। प्रभु के साक्षात्कार के लिए हृदय के अन्तस्तल में श्रद्धा चाहिए, मस्तिष्क में प्रकाश व ज्योति चाहिए।

भावार्थ—उस अनादि (प्रत्नं), अनन्त (पीयूषं), पूर्ण (पूर्व्य), स्तुत्य (उक्थ्य) प्रभु का हम श्रद्धा व ज्ञान के मेल से साक्षात्कार करें और उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का गायन करें।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**ऊर्ध्वाबृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

दिव्य कान्तियों का दर्शन

१४९५. आदीं के चित् पश्यमानास आप्यं वसुरुचो दिव्या अभ्यनूषत।
दिवो न वारं सविता व्यूर्णुते ॥ २ ॥

हृदय में श्रद्धा तथा मस्तिष्क में ज्योति के विकास के **आत् ईम्**=ठीक पश्चात्—बिना किसी अन्य बिलम्ब के **केचित्**=कुछ—विरल पुरुष उस **आप्यम्**=सबके प्राप्त करने योग्य **दिव्याः वसुरुचः**=सर्वत्र बसनेवाले व सभी को अपने में निवास देनेवाले प्रभु की दिव्य कान्तियों को **पश्यमानासः**=देखते हुए **अभ्यनूषत**=उसका स्तवन करते हैं।

आत्मतत्त्व की ओर विरल पुरुषों की ही प्रवृत्ति होती है। '**आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्**' प्रभु-दर्शन की प्रबल इच्छा होने पर यह व्यक्ति अपने में श्रद्धा व ज्ञान का विकास करने के लिए सतत प्रयत्नशील होता है, क्योंकि इनके बिना प्रभु-दर्शन सम्भव नहीं ? यह अनुभव करता है कि प्रभु ही मेरे लिए प्राप्त करने योग्य हैं। यह कहता है कि—

मैं एकमात्र प्रभु को ही अपनी शरण अनुभव करूँ। इसे अनुभव होता है कि वे प्रभु ही वसु हैं—मेरे उत्तम निवास के कारण हैं। प्रभु की दिव्य कान्तियों को देखता हुआ यह गद्गद हो उठता है और सहज ही प्रभु के स्तवन में प्रवृत्त होता है।

वह **सविता**=सबको प्रेरणा देनेवाला प्रभु भी **दिवः**=प्रकाश के **वारं न**=आवरण-से बने हुए (न—इव) कामादि को **व्यूर्णुते**=परे हटा देता है। जैसे किसी वस्तु के आवरण को खोल दिया जाता है, उसी प्रकार यह सविता देव अपने स्तोता के ज्ञान के आवरण को हटा देते हैं, अर्थात् उसे उत्तम बुद्धि प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की दिव्य कान्ति को देखनेवाले हों। प्रभु-कृपा से हमारी बुद्धियों का विकास हो।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**ऊर्ध्वाबृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

गौवों में वृषभ के समान

१४९६. अध यदिमे पवमान रोदसी इमा च विश्वा भुवनाभि मज्मना।
यूथे न निष्ठा वृषभो वि राजसि ॥ ३ ॥

यह 'त्रसदस्यु' प्रभु की दिव्य कान्तियों का दर्शन व स्तवन करता हुआ सभी लोक-लोकान्तरों में अधिष्ठातृरूपेण स्थित प्रभु को देखता है और कह उठता है कि—**अध**=अब **यत्**=जो **इमे रोदसी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक हैं, **च**=तथा **इमा विश्वा भुवना**=ये सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर हैं हे **पवमान**=सबको गति देने व पवित्र करनेवाले प्रभो! आप **मज्मना**=(नि० २.९ मज्मना इति बलनाम) अपनी शक्ति से इन सबपर **अभिविराजसि**=चारों ओर शोभायमान हो रहे हैं। आपने अपनी शक्ति से इन सबको अधिष्ठित किया हुआ है। इन लोक-लोकान्तरों पर अधिष्ठित आप इस प्रकार शोभायमान हो रहे हैं **न**=जैसे **यूथे**=गौवों के झुण्ड में **निष्ठा**=निश्चितरूप से स्थित **वृषभः**=वृषभ शोभायमान होता है। सब लोकों का उपादानकारण महत्तत्त्व परमेश्वर से अधिष्ठित है। परमेश्वर से अधिष्ठित प्रकृति ही सचराचर संसार को जन्म देती है। प्रभु लोकों को जन्म देते हैं और फिर उन लोकों की रक्षा भी करते हैं। वृषभ गौवों के झुण्ड में दोनों ही कार्यों को करता है।

परमेश्वर से अधिष्ठित ये लोक ठीक गति में रहते हैं तथा इनकी पवित्रता बनी रहती है। जीव जितने अंश में विद्रोह करके स्वतन्त्र होना चाहता है, उतने ही अंश में वह उच्छृंखल होकर अपवित्र हो जाता है। 'त्रसदस्यु' अपने को प्रभु से अधिष्ठितरूप में ही चाहता है और इसी से वह वासनाओं का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—हम सब लोक-लोकान्तरों के अधिष्ठिाता प्रभु की महिमा व शोभा को देखें और अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ।

सूक्त-४

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शुनः शेप के जीवन की तीन बातें

१४९७. इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम्। अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र २८ संख्या पर इस रूप में व्याख्यात हुआ है—

हे **अग्ने**=हमारी अग्रगति के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्माकम्**=हमारे **देवेषु**=देवों में—शरीर में रहनेवाले देवांशों में **इमम्**=इस **सनिम्**=संविभाग के **गायत्रम्**=आपके अर्चन के तथा **नव्यांसम्**=स्तुति के—निन्दात्मक शब्दों का प्रयोग न करके स्तुति-वचनों के पाठ को **उ**=निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार **प्रवोचः**=प्रवचन कर दें।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में संविभागपूर्वक उपभोग करनेवाले हों, लोक-सेवा द्वारा प्रभु अर्चना करनेवाले हों तथा सदा स्तुत्यात्मक वचनों के ही बोलनेवाले हों। इसी प्रकार हम अपने जीवनों में (शुन=सुख, शेप=बनाना) सुख का निर्माण करके प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'शुनःशेप' बन पाएँगे।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'दाश्वान्' को देनेवाले प्रभु हैं

१४९८. विभक्तासि चित्रभानो सिन्धोरूर्मा उपाक आ। सद्यो दाशुषे क्षरसि ॥ २ ॥

हे **चित्रभानो**=अद्भुत दीप्तिवाले प्रभो! आप क्या तो **सिन्धोः ऊर्मा**=समुद्र की लहरों में—अर्थात् घर से दूर विदेश में समुद्रपार स्थित दाश्वान् को और क्या **उपाके**=बिल्कुल समीप में स्थित (in the neighbourhood) दाश्वान् को **आ**=सर्वथा **विभक्ता असि**=उचित धनों में भागी बनानेवाले हैं। **दाशुषे**=इस दाश्वान् के लिए—आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले दानी (दाश् दाने) के लिए **सद्य**=शीघ्र ही **क्षरसि**=आवश्यक धनों को देते हैं। प्रभु का भक्त—लोकहित के लिए अपना तन-मन-धन देनेवाला दाश्वान् कभी भूखा नहीं मरता। 'दाश्वान्' लोकहित के लिए देता है और प्रभु दाश्वान् को देते हैं। 'Spend and God will send' इस लोकहित की मूल भावना यही तो है। दाश्वान् घर पर हो, समुद्र पार गया हो, कहीं भी हो प्रभु उसकी आवश्यकताएँ पूरी करते ही हैं। एवं, परार्थ के द्वारा यह दाश्वान् स्वार्थ को सिद्ध करता है और सुखी व शान्त जीवनवाला बनकर प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'शुनःशेप' होता है।

भावार्थ—हम दें—प्रभु हमें देंगे।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान, बल व धन

१४९९. आ नो भज परमेष्वा वाजेषु मध्यमेषु। शिक्षा वस्वो अन्तमस्य ॥ ३ ॥

हे प्रभो! आप **परमेषु वाजेषु**=उत्कृष्ट धनों में (वाज=wealth) **नः**=हमें **आभज**=सर्वथा भागी बनाइए। **मध्यमेषु वाजेषु**=मध्यम धनों में भी हमें भागवाला कीजिए। **अन्तमस्य**=बिल्कुल समीप के—सबसे निचले **वस्वः**=धन की भी हमें **शिक्ष**=देने की इच्छा कीजिए। (शक् to give, सन् प्रत्यय इच्छार्थ में)।

ज्ञान सर्वोत्तम धन है, बल मध्यम धन है और रुपया-पैसा सबसे निचले दर्जे का धन है। धन्य मनुष्य वही है जो ज्ञान, बल व धन तीनों से ही युक्त है। ज्ञान 'ब्राह्मणत्व' का प्रतीक है, बल 'क्षत्रियत्व' का तथा धन 'वैश्यत्व' का। इस प्रकार उत्तम, मध्यम व अन्तम धनों को प्राप्त करके हम अपने जीवन को अधिक-से-अधिक सुखी बना पाते हैं। यह ठीक है कि—'हैं ये भी बन्धन ही'। 'शुनः शेप' इन्हीं तीनों बन्धनों से बँधा है। ज्ञान का बन्धन सात्त्विक है, बल का बन्धन राजस् तथा धन का बन्धन तामस्। इन तीनों बन्धनों में बन्धा हुआ भी यह अपने जीवन को सुखी बनाने में समर्थ होता है और 'शुनःशेप' नाम को चरितार्थ करता है।

भावार्थ—हम ज्ञानी, बली व धनी बनकर जीवन को सुखमय बनाएँ।

सूक्त-५

ऋषिः—**वत्सः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मैं सूर्य की तरह हो गया हूँ

१५००. अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह। अहं सूर्यइवाजनि ॥ १ ॥

१५२ संख्या पर मन्त्रार्थ इस रूप में दिया गया है—

अहम्=मैं **इत् हि**=सचमुच, निश्चय से **पितुः**=ज्ञानदाता परमपिता प्रभु से **ऋतस्य**=सत्य की—सत्यज्ञान की **मेधाम्**=बुद्धि को **परिजग्रह**=सर्वतः ग्रहण करता हूँ। इस प्रकार सत्य-ज्ञान को प्राप्त करके **अहम्**=मैं **सूर्यः इव**=सूर्य की भाँति **अजनि**=हो गया हूँ।

भावार्थ—सत्य-ज्ञान के द्वारा हम सूर्य के समान चमकें।

ऋषिः—**वत्सः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अतिशैशव से ही वेदमन्त्रोचारण

१५०१. अहं प्रत्नेन जन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत्। येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे ॥ २ ॥

अहम्=मैं **प्रत्नेन जन्मना**=पुराने जन्म से, अर्थात् from my early childhood=छुटपन से ही, बाल्यकाल से ही **गिरः**=इन वेदवाणियों को **कण्ववत्**=एक मेधावी पुरुष के समान, अर्थात् बड़े शुद्धरूप में उदाहरणार्थ 'मनसा रेजमाने' नकि 'मन—सारे-जमाने' **शुम्भामि**=उच्चारण करता हूँ (शुंभ्=to speak)। वैदिक काल की परिपाटी यह थी कि एक बालक अत्यन्त शैशवकाल से ही वेदमन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करने लगता था।

इन वेदमन्त्रों के शैशव से ही उच्चारण का लाभ यह होता है कि व्यक्ति का चरित्र सुन्दर बना रहता है। 'मन्त्र-स्मरण-व्यसन' उसे अन्य व्यसनों से बचाये रखता है और इस प्रकार यह वेद-मन्त्रोच्चारण ऐसा होता है कि **येन**=जिससे **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **इत्**=निश्चय से **शुष्मम्**=बल को **दधे**=धारण करता है।

यह वेदमन्त्रों का उच्चारण करने से 'वत्स' कहलाता है (वदतीति)। इन वेदमन्त्रों के उच्चारण से यह प्रभु का प्रिय होने से भी 'वत्स' है।

भावार्थ—हम शैशव से ही वेदमन्त्रों का शुद्ध उच्चारण प्रारम्भ करें।

ऋषिः—**वत्सः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

और करें या न करें—मैं तो करूँ ही

१५०२. ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः। ममेद् वर्धस्व सुष्टुतः ॥ ३ ॥

हे प्रभो! **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **त्वाम्**=आपको **ये**=जो **न**=नहीं **तुष्टुवुः**=स्तुत करते हैं **च**=और **ये ऋषयः**=जो मन्त्र-द्रष्टा **तुष्टुवुः**=स्तुति करते हैं—मैं इस झगड़े में क्यों पड़ूँ। मैं ऐसा क्यों विचार करता रहूँ कि अमुक व्यक्ति तो प्रभु का स्तवन नहीं करता, परन्तु सांसारिक दृष्टि से तो वह किसी से कम नहीं तो क्या प्रभुस्तवन कोई आवश्यक वस्तु है? दूसरी ओर ये ऋषि लोग जब प्रभु का स्तवन करते हैं तो प्रभुस्तवन अच्छी ही बात होगी?

उल्लिखित प्रकार से मैं विचार में नहीं उलझा रहता, मैं तो हे प्रभो! आपका स्तवन करता ही हूँ। **मम**=मुझसे **इत्**=सचमुच **सुष्टुतः**=उत्तम प्रकार से स्तुत होकर आप **वर्धस्व**=हमें बढ़ानेवाले हों। आपकी स्तुति करता हुआ मैं सदा वृद्धि को प्राप्त होनेवाला होऊँ।

यही व्यक्ति जो 'औरों के द्वारा स्तवन हो रहा है या नहीं' इस झगड़े में न पड़कर प्रभुस्तवन में परायण रहता है वही प्रभु का 'प्रिय' होता है—'वत्स' नामवाला बनता है।

भावार्थ—औरों की ओर न देखकर, हम प्रभुस्तवन में लगे ही रहें।

सूक्त-६

ऋषिः—**अग्निस्तापसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु का आदेश

१५०३. अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्जोषि ब्रह्म सहस्कृत।
ये देवत्रा य आयुषु तेभिर्नो महया गिरः ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि व देवता दोनों ही अग्नि हैं। अग्नि ही विषय है। अपने को अग्नितुल्य बनानेवाला 'अग्नि' ही, अग्नित्व को अपने में साक्षात् करनेवाला, इस मन्त्र का ऋषि है—'साक्षात् कृतधर्मा' है। प्रभु इससे कहते हैं कि १. हे **अग्ने**=अपनी उन्नति के साधक जीव! तू **विश्वेभिः अग्निभिः**=सब अग्नियों द्वारा—माता, पिता व आचार्य के द्वारा **ब्रह्म**=इस वेदज्ञान का—तत्त्व का तप के द्वारा (ब्रह्मः वेदः, तपः तत्त्वम्) **जोषि**=सेवन करनेवाला बन और इस प्रकार **सहस्कृत**=अपने अन्दर सहस् को—मर्षण की शक्ति को—कामादि शत्रुओं को कुचलने तथा सभी पर दया-दृष्टि रखने की शक्ति को (showing mercy to) उत्पन्न करनेवाला बन।

२. **ये**=जो **देवत्रा**=देवों में अथवा **ये**=जो **आयुषु**=(एति=यज्ञादिषु गच्छति) यज्ञादि कर्मकाण्ड में लगे मनुष्यों में अग्नि हैं—तेरी उन्नति में सहायक हो सकते हैं—**तेभिः**=उनके द्वारा **नः**=हमारी **गिरः**=इन वेदवाणियों को **महय**=अपने अन्दर बढ़ाने (to increase) का प्रयत्न कर।

ज्ञान को प्रधानता देनेवाले 'देव' हैं तथा यज्ञादि कर्मों को प्रधानता देनेवाले 'आयु' है। दोनों ही 'अग्नि' हैं—उन्नति-पथ पर आगे ले-चलनेवाले हैं। इनके सम्पर्क में रहकर वेदवाणियों का वर्धन ही मानव का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है।

इस प्रकार प्रभु ने—जो स्वयं सर्वमहान् अग्नि हैं—जीव को उपदेश दिया कि 'तू भी अग्नि बन' और अग्नियों के सम्पर्क में (माता, पिता, आचार्य, विद्वान् अतिथि तथा प्रभु) रहते हुए वेदवाणियों का प्रीतिपूर्वक सेवन कर (जोषि) तथा उन्हें अपने अन्दर बढ़ा (महय)।

भावार्थ—वेदवाणियों का सेवन व वर्धन करते हुए हम प्रभु के प्रबल प्रेममय आदेश का पालन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अग्निस्तापसः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कौन अग्नि बना ?

१५०४. प्र स विश्वेभिरग्निभिरग्निः स यस्य वाजिनः।
तनये तोके अस्मदा सम्यङ्वाजैः परीवृतः ॥ २ ॥

'गत मन्त्र में दिये गये प्रभु के आदेश का पालन करके कौन ठीक अग्नि बना' इसका वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है। प्रभु कहते हैं कि—**सः**=वह **विश्वेभिः अग्निभिः**=सब अग्नियों के द्वारा—माता, पिता, आचार्य व अतिथियों के द्वारा **प्र अग्निः**=सचमुच प्रकृष्ट अग्नि बना है, **सः**=वह ही **यस्य वाजिनः**=जिस शक्तिशाली के (वाज=strength)—सहस्कृत के—**तनये तोके**=पुत्रों व पौत्रों में भी—सभी **आ**=सर्वथा **अस्मत्**=हमारी ओर **सम्यङ्**=सम्यक्तया आनेवाले होते हैं।

वस्तुतः अग्नि तो वही बना—उन्नत तो वही हुआ—जो वेद-ज्ञान को प्राप्त करके उसके अनुष्ठान

से वाजी व 'सहस्कृत'=बलवान् बना। वह स्वयं ही नहीं अपितु उसके पुत्र व पौत्र भी, अर्थात् वंशज भी यदि वेदवाणी का अध्ययन करते हुए प्रभु की ओर चलनेवाले बने हैं तभी यह कहना ठीक होगा कि यह व्यक्ति सचमुच अग्नि बना है।

यही व्यक्ति **वाजैः**=वाजों से **परीवृतः**=सब ओर से आवृत—लिपटा हुआ—होता है। वाज= त्याग, शक्ति व धन से यह संयुक्त होता है। इसके जीवन में 'त्याग' ब्राह्मणत्व को, 'शक्ति' क्षत्रियत्व को तथा 'धन' वैश्यत्व को सूचित करता है। तीनों ही दिशाओं में अपने को उन्नत करता हुआ यह सचमुच प्रकृष्ट अग्नि है—इसने अपने जीवन में समविकास किया है।

भावार्थ—अपने जीवन को हम सभी वाजों से—त्याग, शक्ति व धन से—संयुक्त करके उत्तम अग्नि बनें।

ऋषिः—**अग्निस्तापसः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'ब्रह्म, यज्ञ व दान'

१५०५. त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय। त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ॥ ३ ॥

प्रभु इस तृच (=तीन ऋचाओं का समूह) की अन्तिम ऋचा में पुनः कहते हैं कि—हे **अग्ने**=उन्नतिशील जीव! **त्वम्**=तू **अग्निभिः**=उन्नति के साधक माता, पिता व आचार्य और अथितिरूप अग्नियों से अपने जीवन में **ब्रह्म**=ज्ञान को **च**=तथा **यज्ञम्**=यज्ञ की भावना को **वर्धय**=बढ़ा। १५०१ मन्त्र के 'देव' तुझमें ज्ञान का वर्धन करें तो 'आयु' तुझे यज्ञों में गति करनेवाला बनाएँ। गत मन्त्र में 'वाजों से अपने को परीवृत' करने का उल्लेख था। वाज का अर्थ 'धन' भी है। यह धन मनुष्य को धन्य बनाता है इसमें शक नहीं, परन्तु यही धन इतना चमकीला व आकर्षक है कि यह हमें प्रलुब्ध कर लेता है और हम इसमें फँस-से जाते हैं—यह धन हमें पकड़-सा लेता है। धन हमारे क़ाबू में नहीं होता—हम इसके क़ाबू हो जाते हैं। उस समय हम इसके चक्कर में ऐसे आ जाते हैं कि उचित व अनुचित का हमें विचार नहीं रह जाता—हमारे दिव्य गुणों की समाप्ति होने लगती है—हमारा अग्नित्व नष्ट होने लगता है, अतः प्रभु कहते हैं कि—हे अग्ने! **त्वम्**=तू **नः रायः**=हमारे इन धनों को **देवतातये**=दिव्य गुणों के विस्तार के लिए **दानाय चोदय**=दान के लिए प्रेरित कर। तू यह न समझ कि ये धन तेरे हैं—इन्हें तूने क्या कमाया है? ये सब धन तो हमारे हैं, अतः हमें धनों को सभी के हित के लिये दान में विनियुक्त करना ही ठीक है, इसी से हममें दिव्य गुण पनपते रहेंगे और हम सच्चे अर्थों में अग्नि होंगे।

भावार्थ—हम ज्ञान को बढ़ाएँ, यज्ञशील हों, धनों को दान देते हुए अपने में दिव्य गुणों का विस्तार करें।

सूक्त-७

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**ऊर्ध्वाबृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

महत्त्व, वाज व श्रवस्

१५०६. त्वे सोम प्रथमा वृक्तबर्हिषो महे वाजाय श्रवसे धियं दधुः।
स त्वं नो वीर वीर्याय चोदय ॥ १ ॥

हे **सोम**=सब ऐश्वर्यों को जन्म देनेवाले प्रभो! **प्रथमाः**=(प्रथ विस्तारे) अपना विस्तार करनेवाले, हृदय की संकुचितता (Narrowness) को अपने से दूर करनेवाले, **वृक्तबर्हिषः**=अपने हृदय से

कृपणता (meanness) के घास-फूँस (बर्हि) को उखाड़ देनेवाले (वृक्त)—घास-फूस को उखाड़कर अपने हृदयान्तरिक्ष को पवित्र बनानेवाले लोग—**त्वे**=आपमें ही **धियं दधुः**=अपनी बुद्धियों को धारण करते हैं, अर्थात् सदा आपका ही चिन्तन करते हैं, जिससे १. **महे**=ये अपने हृदय को महान् बना पाएँ। प्रभु के स्मरण से प्राणिमात्र के प्रति बन्धुत्व उत्पन्न होता है और हम अपने में ही रमे नहीं रह जाते—हममें सभी के हित की भावना उत्पन्न होती है २. **वाजाय**=वाज के लिए वे आपमें अपनी बुद्धियों को धारण करते हैं। आपके चिन्तन से त्याग की भावना उत्पन्न होती है, शक्ति मिलती है और आवश्यक धन भी प्राप्त होता है। ३. **श्रवसे**=ये 'प्रथम-वृक्तबर्हिष्' इसलिए भी आपका चिन्तन करते हैं कि इनका जीवन यशस्वी हो (glory), इन्हें धन की प्राप्ति हो (wealth), सदा इनका जीवन-स्तोत्रमय बन जाए (hymn) और इनके हाथों से सदा प्रशस्त कर्म ही होते रहें (praiseworthy action)।

ये 'प्रथम' लोग प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **सः त्वं वीर**=वे आप वीर प्रभु—हमारे सब काम-क्रोधादि शत्रुओं को कम्पित करके दूर भगा देनेवाले प्रभो (वि+ईर)! **नः**=हमें **वीर्याय**=शक्तियुक्त कर्मों के लिए **चोदय**=प्रेरित कीजिए। हम 'निर्वीर्य' न हो जाएँ—हमारा जीवन आराम-पसन्द न हो जाए। हम कामादि शत्रुओं को दूर भगानेवाले हों—ये शत्रु हमसे भयभीत हों। हम 'त्रसदस्यु' बनें और इस प्रकार इस मन्त्र के ऋषि हो सकें।

भावार्थ—'महत्त्व, वाज व श्रवस् के लिए तथा वीर्यवान् होने के लिए' हम सदा प्रभु का चिन्तन करें।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ऊर्ध्वाबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अध्यात्मयुद्ध के बाण, विषय-स्त्रोत का (शोषण) संहार

१५०७. अभ्यभि हि श्रवसा ततर्दिथोत्सं न कं चिज्जनपानमक्षितम्।
शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः॥ २॥

१. गत मन्त्र में 'प्रथम, वृक्तबर्हिष्' का उल्लेख हुआ है। वह 'प्रथम वृक्तवर्हिष्' **श्रवसा**=प्रशस्त कर्मों के द्वारा तथा स्तोत्रों के द्वारा **हि**=निश्चय से **अभि अभि**=अधिकाधिक प्रभु की ओर गतिवाला होता है। उत्तम-कर्म व प्रभु-स्तवन उसे प्रभु के समीप प्राप्त कराते चलते हैं।

२. यह 'वृक्तबर्हिष्' **कञ्चित्**=इस अवर्णनीय—जिसकी शक्ति की कल्पना भी कठिन-सी हो जाती है और जो न जाने क्यों संहारक होते हुए भी आकर्षण बना हुआ है। उस **जनपानम्**=मनुष्यों से निरन्तर जिसके रस का पान किया जा रहा है **अक्षितम्**=जो कभी समाप्त भी नहीं होता—अर्थात् जिसकी प्यास कभी बुझती ही नहीं उस **उत्सम्**=विषय-स्रोत को **श्रवसा**=स्तोत्रों के द्वारा ही **ततर्दिथ**=नष्ट कर देता है। प्रभु का नामोच्चारण विषय-स्रोत के शोषण का सुन्दर उपाय है।

३. यह 'वृक्तबर्हिष्' **गभस्त्योः**=ज्ञानरूपी सूर्य की और विज्ञानरूपी चन्द्रों की किरणों के (गभस्ति—A ray of light, sunbeam or moonbeam) **शर्याभिः**=तीरों से (शर्या—arrow) **भरमाणः न**=इन विषयों के प्रवाह को नष्ट-सा करता हुआ होता है (भर्-हर्, वेद में ह को भ हो गया है)।

वेद में विज्ञान के प्रकाश को चन्द्र किरणों से उपमित किया गया है, क्योंकि विज्ञान मनुष्य के जीवन को कुछ आह्लादमय 'चदि आह्लादे' बना देता है। ब्रह्मज्ञान यहाँ सूर्य-किरणों से उपमित हुआ है, क्योंकि यह उग्र व कठिन होता हुआ भी सब मलों को जला-सा देता है। ये ज्ञान-विज्ञान

की किरणें तीरों के समान हैं, इन तीरों से कामादि शत्रुओं का संहार होता है। इन तीरों को इसके हाथ में देखकर ही शत्रु इससे डरते हैं, अत: यह 'त्रस-दस्यु' इस अन्वर्थ नामवाला होता है।

भावार्थ—१. हम उत्तम कर्मों से प्रभु की ओर चलें। २. स्तोत्रों द्वारा इस अथाह विषय-समुद्र को सुखा दें। ३. ज्ञान-विज्ञान के किरणरूप तीरों से कामादि शत्रुओं का संहार कर डालें।

ऋषि:—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**ऊर्ध्वाबृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

वृक्तबर्हिष् के जीवन में 'कं, ऋत व वाज' की तीन बातें

१५०८. अजीजनो अमृत मर्त्याय कमृतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुण:।
सदासरो वाजमच्छा सनिष्यदत्॥ ३॥

१. यह 'वृक्तबर्हिष्' विषय-स्रोत को सुखा देने से अब विषयों के पीछे मरता नहीं है, अत: यह 'अमृत' बना है। हे **अमृत**=विषयों के पीछे न मरनेवाले 'वृक्तबर्हिष्'! तू **मर्त्याय**=विषयों में आसक्त—उनके पीछे मरनेवाले मनुष्यों के लिए **कम्**=ज्योति (Light, Splendour) को **अजीजन:**=प्रकट करता है। २. तू स्वयं **ऋतस्य धर्मन्** (धर्मणि)=सदा ऋत के धर्म में स्थित होता है जो ऋत **चारुण: अमृतस्य**=सुन्दर अमरता का पोषक है अथवा सुन्दरता व अमरता का पोषक है। ऋत का अभिप्राय है ठीक (right), ठीक वह है जो ठीक समय पर हो और ठीक स्थान पर हो। यह 'वृक्तबर्हिष्' सब कार्यों को ठीक समय पर तथा ठीक स्थान पर करता है। यह ऋत का पालन उसके जीवन के सौन्दर्य को बढ़ा देता है और उसे रोगों का शिकार न होने देकर अमर बनाता है। ३. इस 'वृक्तबर्हिष्' के जीवन की तीसरी बात यह है कि **सनिष्यदत्**=सदा संविभागपूर्वक वस्तुओं का सेवन करता हुआ यह **वाजम् अच्छ**=शक्ति व त्याग की ओर **सदा असर:**=सदा बढ़ता है।

वृक्तबर्हिष् लोगों में ज्ञान का प्रचार करता है, स्वयं अपने जीवन में ऋत का पालन करता हुआ सुन्दरता व अमरता को पाता है तथा सदा त्याग व शक्ति की ओर अग्रसर होता है। ऐसे व्यक्ति के समीप 'काम, क्रोध व लोभ' का निवास सम्भव नहीं होता। 'ज्ञान' काम का प्रतिपक्ष होकर उसे प्रबल नहीं होने देता, 'ऋत के पालन से' उसके जीवन में क्रोध नहीं पनप पाता और 'त्याग' उसे लोभ से दूर रखता है। एवं, यह सचमुच 'त्रसदस्यु' बन जाता है।

भावार्थ—हम सुखद ज्ञान का लोगों में प्रसार करें, अपने जीवनों को ऋत में स्थिर करें, त्याग व शक्ति की ओर अग्रसर होते चलें।

सूक्त-८

ऋषि:—**विश्वमना वैयश्व:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**उष्णिक्**॥ स्वर:—**ऋषभ:**॥

इहलोक व परलोक साधन

१५०९. एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु। प्र राधांसि चोदयते महित्वना॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ ३८६ संख्या पर इस प्रकार है—

इन्दुम्=सोम को **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **आसिञ्चत**=अपने अन्दर सींचो। 'सोमपान करने से प्रभु प्राप्त होते हैं' यह सोचकर मन्त्र का ऋषि 'विश्वमना:' **सोम्यं मधु**=सोम-सम्बन्धी मधु का **पिबाति**=पान करता है।

पिया हुआ यह सोम **महित्वना**=महिमा की प्राप्ति के द्वारा **राधांसि**=सफलताओं को **प्रचोदयते**=

प्रकर्षेण प्रेरित करता है।

भावार्थ—सोमपान द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों और संसार में सब कार्यों में सफलता का सम्पादन करनेवाले बनें। 'इहलोक में सफल हों, परलोक में प्रभुदर्शन हो', इस बुद्धि से 'सोम्य मधु' को पीएँ।

ऋषिः—**विश्वमना वैयश्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

जितेन्द्रियता व सफलता, स्तुति व क्रियाशीलता

१५१०. उपो हरीणां पतिं राधः पृञ्चन्तमब्रवम्। नूनं श्रुधि स्तुवतो अश्व्यस्य ॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वैयश्व' विशिष्ट इन्द्रियरूप अश्वोंवाला प्रभु से प्रार्थना करता है कि **उप उ**=निश्चय से प्रभु के समीप बैठकर—उसके समीप निवास करता हुआ मैं **हरीणां पतिम्**=इन्द्रियरूप अश्वों के पति **राधः पृञ्चन्तम्**=मुझे जीवन में सफलता का सम्पर्क कराते हुए प्रभु को **अब्रवम्**=मैंने कहा है कि आप **नूनम्**=निश्चय से **स्तुवतः**=स्तुति करते हुए **अश्व्यस्य** (अश् व्याप्तौ)=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले मेरी प्रार्थना को **श्रुधि**=सुनिए।

'वैयश्व'=अपने इन्द्रियरूप अश्वों को इसीलिए विशिष्ट बना पाया है कि वह प्रभु को 'हरीणां पति'=इन्द्रियों के स्वामी के रूप में देखता है—प्रभु 'हृषीकेश'=इन्द्रियों के ईश हैं। प्रभु जितेन्द्रियता के द्वारा हमारे साथ सफलता का सम्पर्क करते हैं। '**संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति**'= इन्द्रियों का संयम करके सफलता को प्राप्त करता है।

'वैयश्व' यह भी समझता है कि प्रभु केवल प्रार्थना करनेवाले की बात नहीं सुनते। प्रभु तो उसी की बात सुनते हैं जो स्तुति के साथ कर्म भी करता है। 'स्तुवन्' होता हुआ 'अश्व' भी है। आचार्य के शब्दों में प्रार्थना तो पूर्ण परिश्रम के उपरान्त ही करनी ठीक है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रियता व सफलता के कार्यकारणभाव को समझें। हम स्तुति करनेवाले बनें, परन्तु साथ ही क्रियाशील भी हों।

ऋषिः—**विश्वमना वैयश्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

वीर कौन है?

१५११. न ह्या३ऽङ्ग पुरा च न जज्ञे वीरतरस्त्वत्। न की राया नैवथा न भन्दना ॥ ३ ॥

प्रभु 'वैयश्व'=जितेन्द्रिय पुरुष से कहते हैं कि हे **अङ्ग**=गतिशील अतएव प्रिय! **त्वत्**=तुझसे भिन्न **वीरतरः**=अधिक वीर **पुराचन**=पहले भी कभी **नहि**=निश्चय से नहीं **जज्ञे**=उत्पन्न हुआ है। जिस व्यक्ति ने इन्द्रियों को वश में किया है वह वीर तो है ही। सबसे अधिक वीरता इन इन्द्रियों के वशीकरण में ही तो है।

प्रभु कहते हैं कि **न की राया**=न धन की दृष्टि से तेरे समान वीर हुआ है। 'राया' शब्द उस धन का संकेत करता है जो धन (रा दाने) लोकहित के लिए दान किया जाता है। वे सैकड़ों हाथों से कमाते हैं और हज़ारों हाथों से दान देते हैं।

न एवथा=न तेरे समान (एव=काम, अयन, अवन, नि० १२।२१) उत्तम इच्छाओं से, न ही उत्तम गतियों—आचरणों से और न ही उत्तम प्रकार से रक्षणों के द्वारा कोई वीर हुआ है। तू 'शिवसंकल्प-शूर' है, तू कर्मशूर है और वासनाओं का वारण करनेवाला वीर है।

न भन्दना=(भन्दते अर्चतिकर्मा ३.१४ नि०, ज्वलतिकर्मा १.१६ नि०)—अर्चन के दृष्टिकोण से भी तेरे समान कोई वीर नहीं हुआ। तूने 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव'—(आत्मदेवो भव)=माता, पिता, आचार्य व अतिथि व प्रभु का पूजन करके सद् ज्ञान को प्राप्त किया है। उस ज्ञान से तेरा जीवन उज्ज्वल बना है। इस प्रकार अर्चन व दीपन के दृष्टिकोण से भी तुझसे अधिक कोई वीर नहीं हुआ। तेरी वीरता सचमुच अनुपम है—इसी से तू मुझे प्रिय है।

भावार्थ—हम दानवीर, संकल्पवीर, कर्मवीर, वासनानिवारण वीर तथा अर्चन व दीपन वीर बनें और प्रभु के प्रिय हों।

सूक्त-९

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

चाहना, चलना, अपना तरकस बनाना

१५१२. नदं व ओदतीनां नदं योयुवतीनाम्। पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रियमेध' है—प्रिय है मेधा—धारणावती बुद्धि जिसे। यह प्रिय-मेध वेदवाणियों से ही प्रेम करता है, इसका विचरने का क्षेत्र ज्ञान ही है। इस प्रियमेध से कहते हैं कि तू **इषुध्यसि**=चाहता है (इषुध्यति याच्ञाकर्मा), नचिकेता की भाँति 'शतायुष पुत्र-पौत्रों को, भूमि के महदायतन को, दुर्लभ कामों को, हिरण्य को व दीर्घ-जीवन को भी न चाहकर तू आत्मा को ही चाहता है—परमात्म-प्राप्ति की ही प्रबल कामना करता है।' २. तू उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है—उसी की ओर जाता है (इषुध्यु going) तेरी प्रबल इच्छा क्रिया के रूप में परिणत होती है, और ३. अन्त में तू उस प्रभु को ही अपना तरकस बनाता है। प्रभु के नामरूपी तीरों से ही तू वासनारूप शत्रुओं का विनाश करता है।

किस प्रभु को तू चाहता है? किसकी ओर जाता है? और किसे अपना तरकस बनाता है? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि—

१. **वः**=तुम्हारे **ओदतीनाम्**=उत्थान (rising upwards) का कारणभूत **धेनूनाम्**=वाणियों के **नदम्**=उपदेष्टा प्रभु को मैं चाहता हूँ।

योयुवतीनाम्=(यु=मिश्रण और अमिश्रण) भद्र से सम्पर्क करानेवाली तथा पाप से पृथक् करानेवाली **धेनूनाम्**=वाणियों के **नदम्**=उपदेष्टा की ओर मैं जाता हूँ।

वः=तुम्हारे **अघ्न्यानाम्**=न विनाश करने के योग्य, तुम्हें विनाश से बचानेवाली **धेनूनाम्**=वाणियों के **पतिम्**=पति—रक्षक प्रभु को मैं अपना तरकस बनाता हूँ। ये प्रभु ही बाणों का वह अक्षयकोश हैं, जो सब शत्रुओं का क्षय करने में शक्त हैं।

भावार्थ—मैं प्रभु को चाहूँ, उसकी ओर चलूँ, वही मेरे तरकस हों।

सूक्त-१०

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

दो, प्रभु देंगे (Spend and God will send)

१५१३. देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम्।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते ॥ १ ॥

५५ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

सिंचध्वम्=हे मनुष्यो! अपने हृदयों को दया की भावना से इतना सींचो कि **उत्**=यह दया का प्रवाह बाहर बहने लगे। **आ**=और **उप**=दुःखियों के समीप पहुँचकर **पृणध्वम्**=उनके जीवन को सुखी बनाओ। **आत् इत्**=उसके पश्चात् अवश्य ही **वः**=तुम्हें **देवः**=प्रभु **ओहते**=प्राप्त होते हैं। वे प्रभु **पूर्णां आसिचम्**=हृदय में दया की भावना के पूर्ण सेचन को **विवष्टु**=चाहते हैं। संकोच न करो, क्योंकि **वः**=तुम्हें **देवः**=वे प्रभु **द्रविणोदाः**=धन देनेवाले हैं।

भावार्थ—हमारे हृदय दया के उमड़ते हुए समुद्र हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

देव क्या करते हैं ?

१५१४. तं होतारमध्वरस्य प्रचेतसं वह्निं देवा अकृण्वत।
दधाति रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुषे ॥ २ ॥

तम्=इस प्रभु को जो १. **अध्वरस्य**=हिंसारहित यज्ञ के **होतारम्**=होता हैं तथा **प्रचेतसम्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं और इस प्रकार जिन प्रभु में कर्म तथा ज्ञान का सुन्दर समन्वय है—उस प्रभु को **देवाः**=देव लोग—दिव्य प्रवृत्तिवाले लोग **वह्निम्**=(वह to carry) अपने शरीररूप रथ का सारथि—वाहक, अर्थात् जीवन-यात्रा का संचालक (सूत्रधार) **अकृण्वत**=बनाते हैं।

अपनी जीवन-यात्रा का सूत्र प्रभु को सौंप देना—अपने रथ का सारथित्व प्रभु के अर्पण कर देना ही प्रभु की महान् अर्चना है। इस **विधते**=अर्चना करनेवाले के लिए वे **अग्निः**=रथ को आगे और आगे ले-चलनेवाले प्रभु **रत्नम्**=रमणीय ज्ञानरूप धन को **दधाति**=धारण करते हैं तथा इस **दाशुषे**=दान देनेवाले अथवा प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले **जनाय**=विकासशील मनुष्य के लिए **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **दधाति**=वे प्रभु धारण करते हैं।

इस प्रकार प्रभु के हाथों में अपने जीवन-सूत्र को सौंपनेवाला यह व्यक्ति रत्नों को व सुवीर्य को, ज्ञानरूप धनों को तथा शक्ति को—ब्रह्म व क्षत्र को धारण करके 'वसिष्ठ'=सर्वोत्तम निवासवाला इस मन्त्र का ऋषि बनता है।

भावार्थ—देव प्रभु के प्रति अपनी अर्चना करते हैं—तभी उत्तम ज्ञान व शक्ति का लाभ करते हैं।

सूक्त-११

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु-दर्शन

१५१५. अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥ १ ॥

४७ संख्या पर मन्त्रार्थ इस रूप में है—

अग्निम्=आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **नः**=हमारी **गिरः**=वाणियाँ **नक्षन्तु**=प्राप्त हों, जो प्रभु **आर्यस्य**=(ऋ गतौ) उन्नति के मार्ग पर नियमपूर्वक चलनेवाले को **वर्धनम्**=उत्साहित करनेवाले

हैं। उ=और **उपसुजातम्**=उत्तम प्रकार से समीप प्राप्त होनेवाले हैं। **गातुवित्तमः**=अतिशयेन दिव्य मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति प्रभु को **अदर्शि**=देखता ही है **यस्मिन्**=जिस प्रभु की प्राप्ति के निमित्त **व्रतानि आदधुः**=विविध व्रतों को धारण करते हैं। इस प्रकार अपने जीवन को आर्यत्व, व्रतशीलता व उत्तम मार्गों पर चलने की भावना से भरनेवाला यह व्यक्ति 'सोभरि' कहलाता है।

भावार्थ—हम आर्य, व्रतशील व सुमार्ग पर चलनेवाले बनकर प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

कर्मयोगी बनकर चमकें

१५१६. यस्माद्रेजन्त कृष्टयश्चर्कृत्यानि कृण्वतः।
सहस्रसां मेधसाताविव त्मनाग्निं धीभिर्नमस्यत ॥ २ ॥

यस्मात्=क्योंकि **चर्कृत्यानि**=अत्यन्त उत्तम कर्मों को या प्रभु-स्तवनों को (चर्कृतिः=भृशमुत्तमा क्रिया—द०, praise—Apte) **कृण्वतः**=कृण्वन्तः=करते हुए **कृष्टयः**=उत्पादक काम करनेवाले मनुष्य **रेजन्ते**=(रेज् to shine)=चमकते हैं अथवा शत्रुओं को हिला देते हैं (रेज to shake), कामादि को कम्पित कर देते हैं। **मेधसातौ इव**=पवित्र वस्तुओं की प्राप्ति के निमित्त ही मानो यह जीवन मिला है। इस प्रकार **सहस्रसाम्**=अनन्त ऐश्वर्यों के प्राप्त करानेवाले **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **त्मना**=स्वयं इस मन के द्वारा **धीभिः**=प्रज्ञानों व कर्मों से **नमस्यत**=पूजित करो।

जब मनुष्य यह समझ लेता है कि चमकता वही है, जो उत्तम कर्म करता है या प्रभु-स्तवन में लगता है तब वह इस जीवन को भोग भोगने की भूमि नहीं समझता। वह जीवन को कर्मभूमि समझता है और निश्चय करता है कि उसे इस जीवन में पवित्र वस्तुओं का सम्पादन करना है। उसके दृष्टिकोण में जीवन 'मेधसाति' है। पवित्र वस्तुओं की प्राप्ति के निमित्त ही वह प्रज्ञानों व कर्मों से प्रभु की उपासना करता है। वे प्रभु ही तो अन्ततः सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करानेवाले हैं। इस प्रकार जीवन को उत्तम प्रज्ञानों, कर्मों व उपासना में बिताता हुआ यह 'सोभरि' बनता है—जिसने जीवन का 'सु-भरण' किया है।

भावार्थ—कर्त्तव्य कर्मों को करते हुए हम संसार में चमकनेवाले बनें।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

यात्रा की पूर्ति

१५१७. प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि ॥ ३ ॥

५१ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

१. **दैवोदासः**=उस देव का सेवक, २. **अग्निः**=उन्नतिशील, ३. **देवः**=संसार को क्रीडामय समझनेवाला, ४. **इन्द्रो न**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के समान बननेवाला व्यक्ति **प्र मज्मना**= प्रकर्षेण उस प्रभु में लीन होने के द्वारा, **मातरं पृथिवीं अनु**=इस भूमि माता पर रहने के पश्चात् **विवावृते**=लौट जाता है और **नाकस्य शर्मणि**=मोक्षसुख में **तस्थौ**=स्थित होता है।

भावार्थ—हम जीवन को यात्रा समझें और इसे पूर्ण करके अपने घर में वापस पहुँच जाएँ।

सूक्त-१२

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दुर्वृत्तियों का दूरीकरण

१५१८. अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥ १॥

६२७ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

सैकड़ों बुराइयों को उखाड़कर फेंकनेवाला 'शतं वैखानस' प्रभु से आराधना करता है—**अग्ने**=सब बुराइयों को भस्म करके उन्नति को सिद्ध करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे **आयूँषि**=जीवनों को **पवसे**=पवित्र करते हो। आप **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को **इषम्**=प्रेरणा को व प्रकृष्ट गति को **नः**=हमें **आसुव**=प्राप्त कराइए। आप कृपया **दुच्छुनाम्**=दुर्वृत्तियों (शुन् गतौ) को **आरे**=दूर **बाधस्व**=रोक दीजिए—हमसे दूर भगा दीजिए।

भावार्थ—'पवमान' प्रभु के ध्यान से हमारा जीवन पवित्र बने।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'महागय' प्रभु का ध्यान

१५१९. अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम्॥ २॥

१. **अग्निः**=वे प्रभु अग्नि हैं, अग्रेणी हैं, हमें उन्नति-पथ पर ले-चल रहे हैं।

२. **ऋषिः**=वे तत्त्वद्रष्टा हैं या सर्वत्र प्राप्त (ऋष गतौ) सर्वव्यापक हैं। वस्तुतः सर्वव्यापकता से ही सर्वतत्त्वद्रष्टा व सर्वज्ञ हैं।

३. **पवमानः**=हृदयस्थरूपेण सदा सुन्दर प्रेरणा देते हुए हमारे जीवनों को पवित्र बना रहे हैं।

४. **पाञ्चजन्यः**=पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय व पञ्चप्राणयुक्त जनों का अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद—इन पाँच भागों में विभक्त जनों का हित करनेवाले हैं।

५. **पुरोहितः**=वे बनने से पहले निहित=रक्खे हुए हैं, अर्थात् वे कभी बने नहीं, वे तो सदा से हैं, अथवा (पुरःहितं दधाति) सबसे पहले जीवहित को धारण करनेवाले हैं।

६. **तम्**=उन **महागयम्**=(नि० २.१० धन) महाधन (नि० ३.४ गृह) सबके निवास-स्थान होने से महान् गृह अथवा (प्राणा वै गयाः श० १४.८.१५.७) महाप्राण प्रभु को **ईमहे**=हम चाहते हैं (ई=to desire), उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं (ई=to go) उस प्रभु की भावना से अपने को गर्भित कर लेते हैं (ई=to become pregnant with)।

इस प्रकार प्रभु के ध्यान से शतशः वासनाओं को उखाड़ डालनेवाला यह व्यक्ति 'वैखानस' नामवाला होता है। वह प्रभु को ही अपना घर बनाता है। वहाँ उस महाप्राण प्रभु की गोद में वासनाओं ने इसपर क्या आक्रमण करना?

भावार्थ—हम महाप्राण प्रभु का ध्यान करें।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रकाश व कर्मशीलता

१५२०. अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्। दधद्रयिं मयि पोषम्॥ ३॥

हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप! **स्वपाः**=उत्तम कर्मोंवाले प्रभो! १. **पवस्व**=हमारे जीवनों को पवित्र

कीजिए। २. **अस्मे**=हमारे लिए **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्यवाली **वर्चः**=तेजस्विता को प्राप्त कराइए तथा ३. **मयि**=मुझमें **पोषं रयिम्**=पोषक धन को **दधत्**=धारण कीजिए।

प्रभु को यहाँ 'प्रकाशस्वरूप' तथा 'क्रियाशील' के रूप में स्मरण किया है। प्रकाश व ज्ञान हमारे कर्मों को पवित्र करता है, ज्ञान के समान पवित्र करनेवाली वस्तु है ही नहीं। इसी प्रकार क्रियाशीलता जहाँ हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाती है, वहाँ हमें शक्तिशाली भी बनाती है। इन उत्तम कर्मों के द्वारा हम पोषण के लिए पर्याप्त धन भी प्राप्त करते हैं। उत्तम कर्मों से कमाया हुआ यह धन हमारे पतन का कारण नहीं बनता।

भावार्थ—'हमारा जीवन पवित्र हो, उत्तम वीर्य से हम तेजस्वी बनें, हमें पोषक धन प्राप्त हो' इन सब बातों के लिए हमारा जीवन प्रकाश व कर्मशीलता के तत्त्वों को अपनाये।

सूक्त-१३

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञानदीप्ति व मधुरवाणी

१५२१. अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया। आ देवान् वक्षि यक्षि च॥ १॥

यहाँ उत्तम वसुओं को अपने अन्दर ग्रहण की इच्छावाले वसूयु से जो काम, क्रोध, लोभ से शून्य 'आत्रेय' (अ त्रि) बनना चाहता है—उससे प्रभु कहते हैं कि—

१. **अग्ने**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले, २. **पावक**=अपने को पवित्र बनानेवाले, ३. **देव**=दिव्य गुणों से सम्पन्न देव बननेवाले जीव! तू (क) **रोचिषा**=ज्ञान की दीप्ति के द्वारा तथा (ख) **मन्द्रया जिह्वया**=सुनाई पड़ने पर आनन्दित करनेवाली वाणी से **देवान् आवक्षि**=दिव्य गुणों को अपने समीप प्राप्त करा **च**=तथा **यक्षि**=उनको अपने साथ सङ्गत कर।

मनुष्य आत्मप्रेरणा देता हुआ ऐसे ही शब्दों का उच्चारण करे कि मुझे 'अग्नि'=प्रकाशस्वरूप बनना है, मुझे 'पावक'=पवित्र होना है तथा दिव्य गुणों को प्राप्त करके देव बनना है। इस आत्मप्रेरणा के साथ वह यह भी स्मरण रक्खे कि दिव्य गुणों की प्राप्ति के दो ही साधन हैं—१. ज्ञान की दीप्ति और २. मधुरवाणी, अतः मैं ज्ञानी बनूँ, मीठा बोलूँ—'केतपूः केतं नः पुनातु' वह ज्ञान को पवित्र करनेवाला प्रभु मेरे ज्ञान को दीप्त कर दे और 'वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु' प्रभु मेरी वाणी को स्वादवाला बना दे।

भावार्थ—ज्ञान की दीप्ति व वाणी के माधुर्य से हम जीवन में दैवी सम्पत्ति का विस्तार करें।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'घृतस्नु' प्रभु का दर्शन

१५२२. तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम्। देवाँ आ वीतये वह॥ २॥

हे **घृतस्नो**=(घृत=दीप्ति, स्नु=प्रस्नुत करनेवाला) दीप्ति को प्रस्नुत करनेवाले, दीप्ति के स्रोत प्रभो! हे **चित्रभानो**=ज्ञानप्रद (चित्=र) रश्मियोंवाले प्रभो! **स्वर्दृशम्**=सुखमय है दर्शन जिनका (स्वः=सुख, दर्शनं दृक्भावे क्विप्) **तं त्वा**=उन आपको **ईमहे**=हम चाहते हैं, आपकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं तथा अपने को आपकी भावना से गर्भित करते हैं।

आप **वीतये**=प्रकाश (Light) की प्राप्ति के लिए तथा पवित्रता (purifying) के सम्पादन के लिए **देवान्**=विद्वानों को **आवह**=हमें प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से उत्तम विद्वानों के सङ्ग में

आकर हम प्रकाश प्राप्त करें और अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ। प्रभु के ज्ञान की प्राप्ति के लिए (तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभि गच्छेत् समित् पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्) इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार ज्ञानियों का सम्पर्क आवश्यक है।

भावार्थ—हम ज्ञान प्रसारक, ज्ञानप्रद रश्मियोंवाले प्रभु का दर्शन करें—जो दर्शन सुख देनेवाला है। इसी दर्शन के लिए उपयुक्त प्रकाश व पवित्रता की प्राप्त्यर्थ हम विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हृदय की विशालता

१५२३. वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥ ३ ॥

हे **कवे**=(कौति सर्वा विद्याः) सृष्टि के प्रारम्भ में वेदवाणी द्वारा सब विद्याओं का उच्चारण करनेवाले प्रभो! **द्युमन्तम्**=ज्ञान की दीप्तिवाले **वीतिहोत्रम्**=(वीति=प्रकाश, होत्रा वाणी) प्रकाशमय वाणीवाले **त्वा**=आपको **समिधीमहि**=हम अपने हृदयों में समिद्ध करते हैं। गत मन्त्र में ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर प्रभु के प्रकाश को पाने का वर्णन था। वस्तुतः, हे **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **बृहन्तम्**=सदावृद्ध आपको हम **अ-ध्वरे**=इस हिंसारहित जीवन-यज्ञ में समिद्ध करनेवाले बनें। इसी समिन्धन के लिए हमें सदा देवों का सम्पर्क प्राप्त होता रहे, उनके सम्पर्क में आकर प्रकाशमय वाणीवाले, 'वीतिहोत्रं', आपकी वेदवाणी को हम सदा समझने में तत्पर रहें। इस वेदवाणी के अध्ययन का ही यह परिणाम होगा कि हम अपने जीवनों को 'अध्वर'=एक हिंसारहित यज्ञ का रूप दे पाएँगे और उन्नति के मार्ग पर बढ़ते हुए आपकी भाँति अपने हृदय को 'बृहत्'=विशाल बनाने का प्रयत्न करेंगे।

भावार्थ—प्रभु कवि हैं, द्युमान् हैं, उनकी वाणी प्रकाश व पवित्रता देनेवाली है। उस बृहत्=सदावृद्ध प्रभु को हम अपने हिंसारहित जीवन-यज्ञों में समिद्ध करने के लिए यत्नवान् हों।

सूक्त-१४

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्वस्थ शरीर-सुरक्षित मन

१५२४. अवा नो अग्न ऊतिभिर्गायत्रस्य प्रभर्मणि। विश्वासु धीषु वन्द्य ॥ १ ॥

हे **अग्ने**=मार्ग-दर्शक प्रभो! **विश्वासु धीषु वन्द्य**=सब प्रज्ञानों व कर्मों में वन्दनीय आप **नः**=हमें **गायत्रस्य**=प्राणों के (प्राणो गायत्रम्—ताण्ड्य ७.१.९) **प्रभर्मणि**=(a house) घर—इस शरीर में **ऊतिभिः**=रक्षणों के द्वारा **अव**=हमारी रक्षा कीजिए। अथवा **गायत्रस्य**=स्तुति के (नि० १.८) **प्रभर्मणि**=पोषण में आप हमारी रक्षा कीजिए।

प्रभु अग्नि हैं—सदा अग्रेणी हैं—मार्गदर्शक हैं। हमें सब ज्ञानों व कर्मों में उस प्रभु की वन्दना करनी चाहिए। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते उस प्रभु का स्मरण तो करना ही चाहिए, साथ ही ज्ञानमात्र व कर्ममात्र के साफल्य को उस प्रभु का ही समझना चाहिए। उस प्रभु की कृपा से हमारा यह शरीर प्राणों का घर बनता है और परिणामतः सुरक्षित होकर हम रोगों का शिकार नहीं होते। स्तुति के पोषण से हमारा मन वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता। एवं, प्राणपोषण से शरीर तथा स्तुतिपोषण से मन क्रमशः रोगों व वासनाओं से बचे रहते हैं। सब इन्द्रियों के स्वस्थ व शक्तिशाली होने से हम 'गोतम' बनते हैं और वासनाओं के त्याग के कारण हम 'राहूगण' होते हैं।

भावार्थ—सदा स्तुत्य प्रभु की कृपा से हमारा शरीर व मन स्वस्थ व सुरक्षित हो।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वह सदा वरणीय शक्ति

१५२५. आ नो अग्ने रयिं भर सत्रासाहं वरेण्यम्। विश्वासु पृत्सु दुष्टरम्॥ २॥

हे **अग्ने**=सर्वशत्रु संहारक रुद्ररूप अग्ने! आप **नः**=हमें **आ**=सब प्रकार से **रयिम्**=उस शक्ति को (वीर्यं वै रयिः—श० १३.४.२.१३) **भर**=प्राप्त कराइए, जो १. **सत्रासाहम्**=सदा शत्रुओं का पराभव करनेवाली है, २. **वरेण्यम्**=वरणीय है, चाहने योग्य है, ३. **विश्वासु पृत्सु**=सब संग्रामों में शत्रुओं से **दुष्टरम्**=दुस्तर है।

रुद्र के सब नामों का उल्लेख करके शतपथब्राह्मण (६.१.३.१८) में कहा है कि 'तान्येतानि अष्टौ अग्निरूपाणि'=ये आठों रुद्र आदि अग्नि के रूप हैं। रुद्र शत्रुओं का संहार करके शिव=कल्याण करनेवाले हैं। इस अग्नि-संहारक रुद्ररूप अग्नि से गोतम प्रार्थना करता है कि 'आप हमें वह शक्ति प्राप्त कराइए जो हमें सदा रोगों तथा काम-क्रोधादि शत्रुओं का पराभव करने में समर्थ बनाती है अतएव हमसे सदा वरणीय होती है, जिस शक्ति को न तो कीटाणुओं (germs) और न ही आसुर-वृत्तियों के आक्रमण पराभूत कर पाते हैं। दूसरे शब्दों में जिस शक्ति से स्वस्थ रहकर हम गोतम=प्रशस्तेन्द्रिय होते हैं और काम, क्रोध तथा लोभ को कोसों दूर भगानेवाले 'राहूगण' बनते हैं।'

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हम सदा विजयशील, वरणीय, वासनाओं का वारण करनेवाली शक्ति का लाभ करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान और धन

१५२६. आ नो अग्ने सुचेतुना रयिं विश्वायुपोषसम्। मार्डीकं धेहि जीवसे॥ ३॥

हे **अग्ने**=प्रकाश प्राप्त करानेवाले प्रभो! **नः**=हमें **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान के साथ अथवा उत्तम ज्ञान के द्वारा **विश्व-आयु-पोषसम्**=सब मनुष्यों का पोषण करनेवाले नकि केवल हमारा ही पोषण करनेवाले **मार्डीकम्**=सुख के साधनभूत **रयिम्**=धन को **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिए **आधेहि**=समन्तात् धारण कराइए।

१. ज्ञानशून्य धन मनुष्य को विषयासक्त बनाता हैं, अतः हानिकर व अनुपादेय है। ज्ञानपूर्वक अर्जित धन ही ठीक है, उसके अभाव में हम by hook or by crook टेढ़े-मेढ़े सभी साधनों से धन कमाने लगते हैं। २. धन संविभागपूर्वक उपयुक्त होने पर अमृत-तुल्य होता है और संविभाग के अभाव में हमें पापी बनाता है। ३. संविभक्त धन ही समाज की व्यवस्था को ठीक रखकर स्वस्थ समाज में हमारे जीवनों को सुखी करता है, अतः ऐसे ही धन की प्राप्ति के लिए यहाँ प्रभु से प्रार्थना की गयी है। वह धन हमें भोगासक्त न होने देकर प्रशस्तेन्द्रिय 'गोतम' बनाता है। वही धन हमें त्याग की वृत्तिवाला 'राहूगण' बनाता है।

भावार्थ—हम ज्ञानपूर्वक सुपथ से धनार्जन करें। हमारा धन केवल हमारा ही पोषण न करे। यह हमें सुखी करनेवाला हो।

सूक्त-१५

ऋषिः—**केतुराग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रत्येक संग्राम में विजय

१५२७. अग्निं हिन्वन्तु नो धियः सप्तिमाशुमिवाजिषु। तेन जेष्म धनंधनम्॥ १॥

इव=जैसे **आजिषु**=युद्धों में **आशुं सप्तिम्**=शीघ्रगामी घोड़े की ओर हमारे विचार जाते हैं, उसी प्रकार **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियाँ **अग्निम्**=उस सर्वशत्रु-संहारक रुद्र की ओर **हिन्वन्तु**=जाएँ। **तेन**=उस रुद्र के साहाय्य से **धनंधनम्**=प्रत्येक संग्राम को **जेष्म**=हम जीत जाएँ। (धनं=contest धन्वतेर्वधकर्मणः)।

यह ठीक है कि आजकल युद्धों में घोड़ों का उतना महत्त्व नहीं रहा, परन्तु शक्ति का मापक अभी तक घोड़ा ही है। युद्ध के समय अवश्य घोड़े का स्मरण होता है। इसी प्रकार इस संसार संग्राम में हम सदा उस प्रभु का चिन्तन करें—उस प्रभु की सहायता से हम प्रत्येक संग्राम में अवश्य विजयी होंगे।

'धन' का अर्थ सामान्य धन करके यह अर्थ भी हो सकता है कि हम प्रभु की सहायता से सब धनों के विजेता हों। वस्तुतः धनों के विजेता तो प्रभु ही हैं—'**अहं धनानि संजयामि शश्वतः**'। मुझमें भी जितनी प्रभु-शक्ति कार्य करेगी, उतना ही मैं भी धनों का विजेता बन पाऊँगा। धनों का व संग्रामों का विजेता—विजय-पताका को फहरानेवाला—वह स्वयं 'केतु' (flag) नामवाला हो गया है। शत्रुओं के लिए, रुद्र के समान भयङ्कर होने से यह 'आग्नेय' है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु का स्मरण करें तो सदा विजयी होंगे।

ऋषिः—**केतुराग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुपथ से अर्जन, सुपात्र में व्यय

१५२८. यया गा आकरामहै सेनयाग्ने तवोत्या। तां नो हिन्व मघत्तये ॥ २ ॥

जब मनुष्य संसार में प्रकृति को अपना आराध्य देवता न बनाकर प्रभु को अपना आराध्य बनाता है तब वह प्रभु के द्वारा 'सेन' (स+इन) सेश्वर=स्वामीवाला होता है। इसे प्रभु का संरक्षण प्राप्त होता है (ऊति)। इस संरक्षण को प्राप्त करके यह ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान की किरणों को प्राप्त करनेवाला यह 'केतु' कहलाता है। (केतु=A ray of light)। इस ज्ञान को प्राप्त करके यह कभी कुपथ से धन नहीं कमाता। सदा सुपथ से धनार्जन करता हुआ उस धन का दान करता है। इसके जीवन का सूत्र 'दानपूर्वक उपभोग' होता है।

मन्त्र के शब्दों में 'केतु' प्रभु से प्रार्थना करता है—हे **अग्ने**=मेरे पथ-प्रदर्शक प्रभो! **यया**=जिस **तव सेनया**=आपके सेश्वरत्व के द्वारा, अर्थात् आपको अपना स्वामी बनाकर आपको ही अपना आराध्यदेव समझते हुए हम **ऊत्या**=आपके संरक्षण से **गाः**=वेदवाणियों का **आकरामहै**=सर्वथा वरण करते हैं, अर्थात् उन्हें पढ़ते हैं, समझते हैं और क्रियान्वित करते हैं **ताम्**=उस सेना—सेश्वरत्व तथा ऊति—रक्षा को **नः**=हमें **हिन्व**=सदा प्राप्त कराइए, जिससे **मघत्तये**=हम पूजित धन को प्राप्त करनेवाले हों (ऋ० ४.३६.८ द०) तथा उस धन का सदा दान करनेवाले हों (ऋ० ५.७९.५ द०)। हम धन को सदा सुमार्ग से कमाएँ और सदा उसका दान करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे आराध्य हों—उनकी संरक्षा से हम वेदवाणियों को अपनानेवाले हों, सुपथ से धनार्जन करें और सुपात्र में उनका व्यय करें।

ऋषिः—**केतुराग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पवित्र हृदय में ज्ञान का प्रकाश

१५२९. आग्ने स्थूरं रयिं भर पृथुं गोमन्तमश्विनम्। अङ्धि खं वर्तया पविम् ॥ ३ ॥

अग्ने=हे मार्ग-दर्शक प्रभो! ऐसे **रयिम्**=धन को **आभर**=हममें सर्वथा भरिए जो १. **स्थूरम्**=स्थिर

है (ऋ० ६.१९.१० द०) चञ्चल नहीं। सामान्यत: धन की अस्थिरता प्रसिद्ध है। हमें वह धन प्राप्त कराइए जो हममें स्थिर निवास करे। यास्क के शब्दों में 'समाश्रितमात्रो महान् भवति' (नि० ६.२२), जो आश्रय किया हुआ सदा बढ़ता है। २. **प्रथुम्**=विस्तृत है (प्रथ विस्तारे)। यदि यह धन केवल मेरा ही पोषण करता है तब तो यह अत्यन्त संकुचित होगा। हमें वह धन प्राप्त कराइए जो विस्तृत हो—जो बहुतों का पोषण करनेवाला हो। मेरे द्वारा यज्ञों में विनियुक्त होकर 'रोदसी'=द्यावापृथिवी, अर्थात् सभी प्राणियों का पालक हो। ३. **गोमन्तम् अश्विनम्**=उत्तम गौवों व घोड़ोंवाला हो—इस धन के द्वारा मैं घर में गौवों व घोड़ों के रखने की व्यवस्था करूँ। गौवें सात्त्विक दूध के द्वारा हमारे ज्ञान की वृद्धि का कारण बनें तथा घोड़े सवारी (riding) के काम में आकर उचित व्यायाम द्वारा हमारी शक्ति का पोषण करें। यह वस्तुत: दौर्भाग्य है कि धनी घरों में गौवों का स्थान कुत्तों को मिल गया है और घोड़ों का स्थान मोटरों (कारों) को, परिणामत: हमारे ज्ञान व शक्तियों का ह्रास होता जाता है। 'गो' शब्द ज्ञानेन्द्रियों का तथा 'अश्व' कर्मेन्द्रियों का भी वाचक है, अत: यह अर्थ भी ठीक है कि यह धन हमारी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को उत्तम बनानेवाला हो।

केतु प्रार्थना करता है कि—हे प्रभो! **खम्**=हमारे हृदयाकाश को आप **अङ्धि**=अलंकृत व परिष्कृत करें और **पविम्**=पवित्र करनेवाली वेदवाणी को (पविं=वाचम्—नि०) **वर्तया**=हममें प्रवृत्त करें।

भावार्थ—हम स्थिर, विस्तृत, उत्तम ज्ञान व कर्मयुक्त धन को प्राप्त करें। हमारे हृदय निर्मल हों, हमारी वाणी सदा वेद-मन्त्रों का, ज्ञान की बातों का—उच्चारण करें।

ऋषि:—**केतुराग्नेय:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द:—**गायत्री** ॥ स्वर:—**षड्ज:** ॥

सूर्य का भी सूर्य

१५३०. अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि। दधज्ज्योतिर्जनेभ्य: ॥ ४ ॥

अग्ने=हे प्रकाश के केन्द्र प्रभो! आपने **जनेभ्य:**=लोकों के लिए **ज्योति: दधत्**=प्रकाश को धारण करने के हेतु से **अजरम्**=न जीर्ण होनेवाले **नक्षत्रम्**=(नक्ष गतौ) सतत गमनशील **सूर्यम्**=सूर्य को **दिवि**=द्युलोक में **आरोहय:**=स्थापित किया है।

वैज्ञानिक लोगों की कल्पना है कि—सूर्य से लाखों टन प्रकाश पृथिवी पर प्रतिदिन पड़ रहा है और इस क्रम से कुछ वर्षों में सूर्य समाप्त हो जाएगा और एक बुझा कोयलामात्र रह जाएगा। वेद इस भ्रम को दूर करता हुआ कह रहा है कि यह 'अजर' ज्योति है, जीर्ण होनेवाली नहीं। प्रभु की अद्भुत प्राकृतिक व्यवस्था के द्वारा सूर्य का क्षय व पुन: पूरण ठीक प्रकार से चल रहा है। 'सूर्य ठहरा हुआ है' इस भ्रम का निवारण 'नक्षत्र' शब्द से हो रहा है—सूर्य ठहरा नहीं, अपितु सतत गमनशील है।

प्रभु ने लोक-लोकान्तरों को प्रकाशित करने के लिए सूर्य को द्युलोक में स्थापित किया है। द्युलोकस्थ देवताओं का मुखिया यह सूर्य सभी देवों का अग्रणी है, चन्द्र इत्यादि पिण्ड सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, परन्तु यह सूर्य भी स्वयं भासमान थोड़े ही है। यह भी उस प्रभु की ही दीप्ति से दीप्त हो रहा है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। 'केतु' इस सूर्य की दीप्ति को देखकर प्रभु की दीप्ति की कल्पना करता है। इस सूर्य में वह प्रभु की महिमा को देखता है और इस प्रकार उसका मस्तिष्क प्रभु की महत्ता से भर जाता है और यह प्रभु-भक्त बन जाता है। प्रभु का यह ज्ञानीभक्त प्रभु को स्वभावत: प्रिय होता है।

भावार्थ—हम सूर्य को देखें। सूर्य की ज्योति में प्रभु की महिमा को देखें।

ऋषिः—**केतुराग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सात्त्विक अन्न, स्थिर शक्ति, स्वस्थ शरीर

१५३१. अग्ने केतुर्विशामसि प्रेष्ठः श्रेष्ठ उपस्थसत्। बोधा स्तोत्रे वयो दधत्॥ ५ ॥

'केतु' का प्रभु-स्तवन इन शब्दों के साथ समाप्त होता है—हे **अग्ने**=प्रकाश प्राप्त करानेवाले प्रभो! १. आप **विशाम्**=सब प्रजाओं को **केतुः**=प्रकाश प्राप्त करानेवाले **असि**=हो। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही वेद-ज्ञान द्वारा पूर्ण प्रकाश प्राप्त कराया है। २. वे प्रभु **प्रेष्ठः**=जीव के प्रियतम हैं। संसार में सभी प्रेमों में कुछ स्वार्थ निहित होता है, अतएव उनमें अपूर्णता आ जाती है। प्रभु का प्रेम पूर्ण निःस्वार्थ अतएव पूर्ण शुद्ध है। ३. वे प्रभु ही **श्रेष्ठः**=सर्वोत्तम हैं। 'केतु' प्रभु को ही अपना आदर्श बनाता है। उसी के अनुरूप अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करता हुआ यह प्रभु का सच्चा उपासक होता है। ४. **उपस्थसत्**—हे प्रभो! आप तो मेरे अत्यन्त निकट हो। वास्तव में तो प्रभु मुझसे भी मेरे अधिक समीप हैं, क्योंकि उनका मेरे अन्दर ही निवास है। मैं तो अपने अन्दर हो ही नहीं सकता। मेरे अन्दर रहनेवाले वे प्रभु सचमुच 'उपस्थसत्' हैं।

हे प्रभो! आप **स्तोत्रे**=अपने स्तोता के लिए **वयः**=सात्त्विक अन्न, शक्ति व स्वस्थ शरीर (Sacrificial food, Energy, Soundness of Constituition) को **दधत्**=धारण कराने के हेतु से **बोध**=उसे ज्ञान देते हैं।

प्रभु की प्रेरणा से स्तोता १. सात्त्विक अन्न का ही सेवन करता है। २. उसके द्वारा स्थिर शक्तिवाला होता है और ३. जीवन के अन्त तक उसका शरीर ठीक-ठाक बना रहता है। वेद-ज्ञान द्वारा प्रभु ने उस मार्ग का संकेत किया है, जिस मार्ग पर चलकर हम सचमुच जीवनों में सफल होंगे और विजेता बनकर प्रभु के समीप पहुँचने के अधिकारी होंगे।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों के प्रयोग से स्थिर शक्ति व स्वस्थ शरीरवाले हों।

सूक्त-१६

ऋषिः—**विरूप आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विरूप आङ्गिरस

१५३२. अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपां रेतांसि जिन्वति॥ १ ॥

२७ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

मन्त्र का ऋषि 'विरूप'=विशिष्टरूपवाला 'आङ्गिरस'=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला है। 'ऐसा क्यों?' इसलिए कि वह—

१. **अग्निः**=आगे और आगे चलता है, २. **मूर्धा**=शिखर पर पहुँचता है, ३. **दिवःककुत्**=ज्ञान के शिखर पर पहुँचनेवाला होता है, ४. **पृथिव्याः**=इस पार्थिव शरीर का **अयम्**=यह **पतिः**=पति=स्वामी होता है, अर्थात् जितेन्द्रिय होता है। यह ऐसा इसलिए बन पाया है कि **अपाम्**=जलों के सम्बन्धी **रेतांसि**=रेतस् की शक्ति को यह **जिन्वति**=अपने अन्दर प्रेरित करता है।

भावार्थ—संयम द्वारा हम 'विरूप आङ्गिरस' बनें।

ऋषि:—**विरूप आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु-स्तवन के द्वारा

१५३३. ईशिषे वार्यस्य हि दात्रस्याग्ने स्वःपतिः। स्तोता स्यां तव शर्मणि॥ २॥

हे प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **वार्यस्य दात्रस्य**=वरणीय वस्तु के देने के **ईशिषे**=ईश हो, सामर्थ्यवाले हो, जीव से चाहने योग्य सभी वस्तुओं के आप दाता हो। हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप प्रभो! **स्वः पतिः**=स्वर्ग के व प्रकाश के भी आप स्वामी हो। आप वरणीय धनों को तो प्राप्त कराते ही हो साथ ही प्रकाश व सुख को भी प्राप्त करानेवाले आप ही हैं! मैं **शर्मणि**=(शॄ हिंसायाम्) सब अशुभों की जहाँ इतिश्री हो जाती है, उस सुख की प्राप्ति के निमित्त (दुःख-संयोगवियोग=गीता) **तव**=आपका **स्तोता स्याम्**=स्तुतिकर्त्ता होऊँ। प्रभु के स्तवन से प्रभु के योग को प्राप्त करके हम उस स्थिति को प्राप्त करते हैं जो दुःखों के संयोग से विमुक्त है (सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्—गीता) जहाँ वह आत्यन्तिक सुख है जो बुद्धि से ही ग्राह्य है जो सामान्य इन्द्रियों का विषय नहीं बनता। इस सुख के प्रसाद को प्राप्त करके चमकते हुए प्रसन्न वदनवाला यह उपासक सचमुच विरूप विशिष्ट ही रूपवाला प्रतीत होता है।

भावार्थ—उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति के निमित्त हम प्रभु के उपासक बनें।

ऋषि:—**विरूप आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उन्नति के तीन तत्त्व

१५३४. उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतींष्यर्चयः॥ ३॥

अपने स्तोता 'विरूप' से प्रभु कहते हैं कि—हे **अग्ने**=उन्नतिशील, उन्नति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़नेवाले विरूप १. **तव**=तेरे **शुचयः**=पवित्र व उज्ज्वल **भ्राजन्तः**=चमकते हुए—तेरे जीवन को दीप्त बनाते हुए **शुक्राः**=वीर्यकण=शक्ति के बिन्दु **उद् ईरते**=सदा ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं और शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में व्याप्त होकर रोग-कृमियों को कम्पित कर तेरे शरीर को नीरोग बनाते हैं। रोग-कृमियों को उत्=बाहर (out) निकाल भगाते हैं, तभी तू विरूप बना है—तेरा चेहरा स्वास्थ्य की दीप्ति से चमक रहा है।

२. ये ही वीर्यकण मस्तिष्क में पहुँचकर ज्ञानाग्नि को समिद्ध करते हैं और **तव ज्योतींषि**=तेरी ज्ञान की ज्योतियाँ **भ्राजन्तः**=चमकती हुई होती हैं।

३. **तव**=तेरी **अर्चयः**=उपासना की (अर्च पूजायाम्) वृत्तियाँ भी **उदीरते**=उन्नत होती हैं। तुझमें अधिकाधिक प्रभु-स्तवन की प्रवृत्ति होती है।

एवं, इस मन्त्र में प्रभु ने उन्नति के तीन आवश्यक अङ्गों का संकेत किया है। १. प्रथम तो पवित्र व उज्ज्वल सोम=वीर्यकणों की ऊर्ध्वगति। यह इन्द्र का सोमपान है—इसके बिना 'इन्द्र' इन्द्र नहीं बन सकता। २. ज्ञान की ज्योति का दीप्त होना तथा ३. उपासना की वृत्ति का प्रबल होना।

भावार्थ—हम उन्नति के तत्त्वों को समझकर उन्नति के मार्ग को अपनाएँ। हम सोमपान करें, अर्थात् संयमी जीवनवाले बनें, ज्ञान की ज्योति को जगाएँ, अर्चनामय जीवन बनाएँ।

इति चतुर्दशोऽध्यायः, सप्तमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

सप्तमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वास्तविक बन्धु

१५३५. कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः। को ह कस्मिन्नसि श्रितः ॥ १ ॥

१५३६. त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः। सखा सखिभ्य ईड्यः ॥ २ ॥

साहित्य में एक शैली है कि आचार्य ही विद्यार्थी से पूछता है कि 'कौन तेरा आचार्य है ?' और उसे समझा भी देता है कि 'अग्नि तेरा आचार्य है।' इसी प्रकार वेद में कई बातें जीव को प्रभु प्रश्नोत्तर के प्रकार से समझाते हैं। यहाँ इसी शैली से कुछ बातें समझाई गयी हैं—

प्रश्न—१. **कः ते जनानां जामिः**=मनुष्यों में तेरा बन्धु कौन है ?

उत्तर—अग्ने त्वं जनानां जामिः=हे अग्रगति के साधक प्रभो! आप ही मनुष्यों के बन्धु हो। संसार में अन्य सब मित्रताएँ सामयिक हैं तथा कुछ प्रयोजन को लिये हुए होती हैं। केवल एक प्रभु की मित्रता ही स्वार्थ से शून्य तथा सार्वकालिक है। प्रभु हमारा साथ कभी भी छोड़ते नहीं। पत्नी भी, माता भी साथ छोड़ देती हैं, पक्के-से-पक्के मित्र विरोधी बन जाते हैं, परन्तु प्रभु की मित्रता में कभी अन्तर नहीं आता।

प्रश्न—२. **अग्ने**=हे उन्नतिशील जीव! **कः दाशु+अध्वरः**=कौन तुझे ये सब वस्तुएँ देनेवाला है (दाशृ दाने) तथा कौन हिंसारहित तेरा भला करनेवाला है ?

उत्तर—अग्ने प्रियः मित्रः असि=हे अग्रगति के साधक प्रभो! आप ही (प्री तर्पणे) सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराके मुझे तृप्त करनेवाले हैं। संसार में सबका दान सीमित है, परन्तु परमात्मा का दान असीम है, प्रभु ही हमें सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराते हैं।

प्रश्न—३. **कः ह**=वह प्रभु कौन हैं ? तेरे साथ उसका क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—सखा=वे तेरे मित्र हैं। वस्तुतः **'अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम्'**=जिसका कोई भी रक्षक नहीं होता प्रभु ही उसके रक्षक होते हैं। प्रभु ही अन्तिम व श्रेष्ठ मित्र हैं—वे ही सदा अन्त तक साथ देनेवाले हैं।

प्रश्न—४. **कस्मिन् असि श्रितः**=किसमें तू आश्रय पाये हुए है ?

उत्तर—सखिभ्यः ईड्यः=प्रभु ही मित्रों से स्तुति के योग्य हैं। हमें सदा उस प्रभु का ही आश्रय करना, प्रभु की ही उपासना करनी।

प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि इस तत्त्व को समझ लेता है कि १. प्रभु ही मेरे बन्धु हैं। २. वे ही मुझे सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करानेवाले और सब हिंसाओं से बचानेवाले हैं। ३. वे ही मेरे सखा हैं और ४. उस प्रभु का ही मुझे आश्रय है। इन सब बातों को समझकर वह सदा इन्द्रियों को प्रशस्त

कर्मों में लगानेवाला बना रहता है, परिणामतः 'गोतम' बनता है और संसार के सब मिथ्या आश्रयों को छोड़ने के कारण 'राहूगण' होता है, 'त्यागियों में गिनने योग्य'।

भावार्थ—हम इस तत्त्व का मनन करें कि 'हमारे सच्चे सखा प्रभु ही हैं।'

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मोक्षधाम की प्राप्ति

१५३७. यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋतं बृहत्। अग्ने यक्षि स्वं दमम्॥ ३॥

गोतम 'राहूगण' प्रभु से प्रार्थना करता है—१. हे **अग्ने**=मुझे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे साथ **मित्रावरुणौ**=प्राणापान को **यज**=सङ्गत कीजिए। मेरे प्राणापान ठीक कार्य करनेवाले होकर शरीर में ही सुरक्षित रहें।

२. **देवान् यज**=हमारे साथ अन्य सब देवों को भी सङ्गत कीजिए। 'सूर्य-चन्द्रादि सभी देवता हमारे शरीर में निवास कर रहे हैं। '**सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते**'=इसमें सब देव उसी प्रकार रह रहे हैं जैसे गौशाला में गौएँ। इन सब देवों का यहाँ उत्तम निवास बना रहे।

३. **बृहत् ऋतं यज**=हे प्रभो! आप वृद्धि की साधनभूत नियमितता (Strict regularity) को हमारे जीवनों के साथ जोड़िए। हमारा जीवन सूर्य और चन्द्रमा के समान बड़ी नियमित गति से चले। पूर्ण स्वास्थ्य का रहस्य इसी में तो है।

४. इस प्रकार 'प्राणापान, अन्य देवों तथा नियमित जीवन (बृहत् ऋतम्) से युक्त करके हमें हे **अग्ने**=आगे ले-चल रहे प्रभो! **स्वं दमं यक्षि**=अपने घर से सङ्गत कीजिए—हम आपके मोक्षधाम को प्राप्त करनेवाले बनें। वस्तुतः यह ब्रह्मलोक ही जीव का वास्तविक घर है। आज प्राणापान की साधना करके, अन्य देवांशों को भी अपने साथ जोड़कर तथा बड़ा नियमित जीवन बिताकर वह अपने घर को फिर प्राप्त कर पाया है।

भावार्थ—हम फिर से अपने मोक्षधाम को प्राप्त करनेवाले बनें।

सूक्त-२

ऋषिः—**देवश्रवा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु 'ईडेन्य' हैं

१५३८. ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः। समग्निरिध्यते वृषा॥ १॥

'देवश्रवा'=दिव्य गुणों के कारण श्रव=कीर्तिवाला 'देववातः' देवताओं से प्रेरणा प्राप्त करनेवाला कहता है कि हम सबसे वह प्रभु अपने हृदयों के अन्दर **समिध्यते**=समिद्ध किया जाता है जो—

१. **ईडेन्यः**=स्तुति के योग्य है। '**य एक इद् हव्यश्चर्षणीनाम्**' इत्यादि मन्त्रों में एकमात्र प्रभु को ही उपास्य कहा गया है। जब कभी मनुष्य प्रभु के स्थान में किसी मनुष्य की उपासना प्रारम्भ करता है तो उसका हृदय संकुचित होकर द्वेषादि से परिपूर्ण हो जाता है।

२. **नमस्यः**=वह प्रभु ही पूजा के योग्य हैं, उस प्रभु की महिमा का स्मरण कर मनुष्य का नतमस्तक होना स्वाभाविक है।

३. **तमांसि तिरः**=वे प्रभु 'तमसः परस्तात्' अन्धकार से परे हैं, आदित्यवर्ण हैं। सहस्रों सूर्यों की ज्योति के समान उनकी ज्योति है।

४. **दर्शतः**=वे दर्शनीय हैं—प्रभु का स्वरूप रमणीय है, उसमें किस प्रकार 'दयालुता व न्यायकारित्व', 'निर्गुण और सगुणत्व' आदि विरुद्ध प्रतीयमान गुणों का सुन्दर समन्वय है ?

५. '**अग्निः**'=वे अपने को सबसे अग्रस्थान में प्राप्त कराये हुए हैं।

६. **वृषा**=वे शक्तिशाली हैं और सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक बनकर मैं भी अन्धकार से दूर रहनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**देवश्रवा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हविष्मान् ही उसका 'ईडन' करते हैं

१५३९. वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईडते ॥ २ ॥

अग्निः=वह अग्रस्थान में स्थित 'परमेष्ठी प्रभु' **समिध्यते**=हमसे अपने हृदयों में समिद्ध किया जाता है। कौन-सा प्रभु ?

१. **वृषः**=जो सब कामनाओं का वर्षक है—सब मनोरथों का पूरक है।

२. **अश्वः न**=जो हमारी जीवन-यात्रा के लिए अश्व के समान है, जिसको आधार बनाकर हम जीवन-यात्रा को पूर्ण कर सकते हैं।

३. **देववाहनः**=जो देवों का वाहन है। जिस प्रभु को धारण करने से हम सब दिव्य गुणों को प्राप्त कर पाते हैं। वह देव हममें देवताओं के साथ ही तो आते हैं '**देवो देवेभिरागमत्**'।

एवं, प्रभु की उपासना से १. हमारी कामनाएँ पूर्ण होती हैं। २. हमारी जीवन-यात्रा निर्विघ्नता से पूर्ण होकर हम लक्ष्यस्थान पर पहुँचनेवाले बनते हैं तथा ३. हमारे अन्दर दिव्य गुणों का विकास होता है।

तम्=इस प्रभु की **हविष्मन्तः**=हविष्मान् लोग ही **ईडते**=उपासना करते हैं। हविष्मान् लोग वे हैं जो दानपूर्वक अदन=भक्षण करते हैं—जो यज्ञशेष खाते हैं। पञ्चयज्ञ करके बचे हुए का सेवन अमृत का सेवन है। ये अमृतसेवी ही उस प्रभु के सच्चे उपासक हैं। यही उस यज्ञरूप प्रभु की यज्ञ के द्वारा आराधना है '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**'।

भावार्थ—यज्ञमय जीवन के द्वारा यज्ञरूप प्रभु का हम यजन करें।

ऋषिः—**देवश्रवा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वृषन् की उपासना 'वृषन्' बनकर

१५४०. वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि। अग्ने दीद्यतं बृहत् ॥ ३ ॥

वृषन् शब्द के दो अर्थ हैं—१. शक्तिशाली तथा २. वर्षा करनेवाला। प्रभु में ये दोनों ही गुण निरपेक्षरूप में है। प्रभु की शक्ति निरपेक्ष (absolute) व अनन्त है। वे प्रभु जीवों पर अनन्त सुखों की वर्षा करनेवाले हैं। इस प्रभु की उपासना जीव भी यथासम्भव इन गुणों को अपने अन्दर धारण करके—वृषन् बनकर ही कर सकता है।

मन्त्र में कहते हैं कि हे **वृषन्**=सर्वशक्तिमन्=सब सुखों के वर्षक प्रभो ! **वृषणं त्वा**=वृषन् तुझे को **वयम्**=हम भी **वृषणः**=वृषन् बनते हुए **समिधीमहि**=अपनी हृदयवेदि पर समिद्ध करते हैं। हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो ! हम उस आपको समिद्ध करते हैं जो आप **बृहत् दीद्यतम्**=अतिशयेन देदीप्यमान हैं। 'वृषन्' शब्द उस वास्तविक शक्ति का संकेत करता है जो सदा

औरों का कल्याण करने में विनियुक्त होती है। इस शक्ति से युक्त पुरुष ही वीरत्व व दिव्य गुणों (virtues) का पोषण करके उनके कारण कीर्ति-सम्पन्न बनकर 'देवश्रवा' इस नाम को चरितार्थ करता है।

भावार्थ—हम सात्त्विक बल-सम्पन्न होकर उस देदीप्यमान वृषन् के सच्चे आराधक बनें।

सूक्त-३

ऋषिः—**विरूप आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ब्रह्म-दीप्ति से दीप्त 'विरूप'

१५४१. उत्ते बृहन्तो अर्चयः समिधानस्य दीदिवः। अग्ने शुक्रास ईरते ॥ १ ॥

हे **दीदिवः**=प्रकाशमान् प्रभो! **समिधानस्य**=हृदयस्थली में समिद्ध किये जाते हुए हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **ते बृहन्तः**=तेरी वृद्धि की कारणभूत **शुक्रासः**=शुद्ध **अर्चयः**=ज्ञानदीप्तियाँ—ज्वालाएँ **उत् ईरते**= उद्गत होती हैं।

जब भक्त प्रकाशस्वरूप प्रभु को अपनी हृदय-स्थली में दीप्त करने में समर्थ होता है तब यह हृदय-स्थली ज्ञान की किरणों से जगमगा उठती है। वे ज्ञान की ज्वालाएँ शुद्ध होती हैं और हमारे जीवन की वृद्धि का साधन होती हैं। हृदय में इन ज्ञान ज्वालाओं के प्रकाशित होने पर उनका प्रतिक्षेप इस भक्त के चेहरे पर भी व्यक्त होता है। यह सामान्य पुरुषों से अधिक दीप्त-वदनवाला प्रतीत होता है, और विशिष्टरूपवाला होने के कारण मन्त्र का ऋषि 'विरूप' कहलाता है। यह अपने जीवन में एक विशेष शक्ति का अनुभव करता है और अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिशाली होने के कारण 'आङ्गिरस' होता है। यह चेहरे से ही 'ब्रह्मवित्'-सा लगने लगता है।

भावार्थ—हृदयों में विकसित ज्ञान की दीप्ति हमारे मुखों पर प्रतिफलित होकर हमें यथार्थ में 'विरूप' बनाये।

ऋषिः—**विरूप आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मैं प्रभु को पुकारूँ, प्रभु मेरी पुकार सुनें

१५४२. उप त्वा जुह्वो ३ मम घृताचीर्यन्तु हर्यत। अग्ने हव्या जुषस्व नः ॥ २ ॥

हे **हर्यत**=सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले तथा सबका हित चाहनेवाले प्रभो! **मम**=मेरी **घृताचीः**=(घृत+अञ्च) दीप्ति से युक्त **जुह्वः**=चित्तवृत्तियाँ अथवा वाणियाँ **त्वा उपयन्तु**=तुझे समीपता से प्राप्त हों, जिस प्रकार घृत भरे चम्मच अग्नि को प्राप्त होते हैं।

हे **अग्ने**=मेरे जीवन को प्रकाशमय बनानेवाले प्रभो! आप हमारी **हव्या**=पुकारों का **जुषस्व**= प्रेमपूर्वक सेवन करें, अर्थात् हमारी प्रार्थनाओं को सुनें।

जो भी व्यक्ति अपनी चित्तवृत्ति को प्रभु-प्रवण करेगा वह अवश्य ही प्रभु का प्रिय बनेगा और प्रभु उसकी पुकार को सुनेंगे।

भावार्थ—मैं प्रभु को चाहूँ, प्रभु को पुकारूँ।

ऋषिः—**विरूप आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वह प्रभु अवश्य सुनता है

१५४३. मन्द्रं होतारमृत्विजं चित्रभानुं विभावसुम्। अग्निमीडे स उ श्रवत् ॥ ३ ॥

मैं **अग्निम्**=मेरे जीवन के पथ-प्रदर्शक प्रभु की **ईडे**=स्तुति करता हूँ, **सः**=वह प्रभु **उ**=निश्चय से **श्रवत्**=सुनते हैं। प्रभु से की गयी प्रार्थना व्यर्थ नहीं जाती, वहाँ हमारी पुकार अरण्यरोदन नहीं होतीं। मैं उस प्रभु को पुकारता हूँ जो—

१. **मन्द्रम्**=सदा आनन्दमय व आनन्दित करनेवाले हैं।

२. **होतारम्**=जो संसार में जीव को उन्नति के सब साधन प्राप्त करानेवाले हैं।

३. **ऋत्विजम्**=जो प्रत्येक समय पर उपासना के योग्य हैं।

४. **चित्रभानुम्**=जो अद्भुत दीप्तिवाले हैं।

५. **विभावसुम्**=जो ज्ञानरूप धनवाले हैं।

'ऋत्विजम्' शब्द का अर्थ ऋतु-ऋतु के अनुसार हमारे साथ भिन्न-भिन्न वस्तुओं का मेल करानेवाला भी है। प्रभु प्रत्येक ऋतु के योग्य वस्तुओं को हमें प्राप्त करनेवाले हैं। ऋतु के अनुसार ही सब आहार-विहार करनेवाला व्यक्ति इस मन्त्र का ऋषि विरूप=विशिष्टरूपवाला आङ्गिरस= शक्तिशाली बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनकर सदा प्रसन्नचित्त रहने का प्रयत्न करें।

सूक्त-४

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

चार वाणियों के द्वारा रक्षण

१५४४. पाहि नो अग्न एकया पाह्यू३त द्वितीयया।

पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ ३६ संख्या पर द्रष्टव्य है। सरलार्थ यह है—

हे **अग्ने! नः**=हमें **एकया**=अपनी ऋग्रूप वाणी से **पाहि**=रक्षित कीजिए, **उत**=और **द्वितीयया**= यजुः रूप दूसरी वाणी से भी **पाहि**=रक्षित कीजिए। हे **ऊर्जाम्पते**=शक्तियों के स्वामिन्! प्रभो! **तिसृभिः गीर्भिः**=ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदरूप तीनों ही वाणियों से **पाहि**=हमारी रक्षा कीजिए। **वसो**=हे उत्तम निवास देनेवाले प्रभो **चतसृभिः**=चारों वाणियों से **पाहि**=हमारी रक्षा कीजिए।

भावार्थ—हम चारों वेदवाणियों का श्रवण व मनन करें और निदिध्यासन द्वारा उसका साक्षात्कार करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

जीवन की परिपक्वता

१५४५. पाहि विश्वस्माद्रक्षसो अराव्णः प्र स्म वाजेषु नोऽव।

त्वामिद्धि नेदिष्ठं देवतातय आपिं नक्षामहे वृधे ॥ २ ॥

हे प्रभो! **विश्वस्मात्**=सब **रक्षसः**=अपने रमण के लिए औरों के क्षय (र+क्ष) की वृत्ति से तथा **अराव्णः**=न देने की—अदान की वृत्ति से (रा+दाने) **नः**=हमारी **पाहि**=रक्षा कीजिए। प्रभु की कृपा से हमारे अन्दर निम्न दो वृत्तियाँ कभी भी न आएँ—

१. अपने आनन्द के लिए हम औरों की हानि न करें। दूसरे को हानि पहुँचाकर अपने लाभ का विचार हममें कभी उत्पन्न न हो।

२. हममें न देने की वृत्ति न हो। हम सदा यज्ञों को करके यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले बनें। औरों की हानि करके अपने भोगों को बढ़ाने की तो बात ही क्या, हम अपनी आय को भी परहित में व्यय करनेवाले बनें, चाहे हमारे अपने आराम में कितनी ही कमी आ जाए।

हे प्रभो! आप **वाजेषु**=इन लोभादि शत्रुओं के साथ चल रहे संग्रामों में **नः**=हमारी **प्र अवस्म**=अवश्य रक्षा कीजिए। आपकी रक्षा में सुरक्षित होने पर ही हम इन्हें पराजित कर पाएँगे।

आप ही हमारे **नेदिष्ठम्**=निकटतम **आपिम्**=बन्धु हैं। हृदय में ही निवास करने के कारण आप हमारे निकटतम बन्धु हैं। **देवतातये**=दिव्य गुणों के विस्तार के लिए **त्वाम् इत् हि**=आपको ही निश्चय से **नक्षामहे**=हम प्राप्त होते हैं, **वृधे**=जिससे दिन-प्रतिदिन हमारी वृद्धि होती चले।

संक्षेप में प्रभु स्मरण से हमारा जीवन निम्न प्रकार का बनता है—

१. हमें अपने आनन्द के लिए औरों की हानि का कभी विचार भी नहीं होता।

२. हम लोकहित के सब कार्यों के लिए दान करते हुए यज्ञशेष ही खाते हैं।

३. लोभादि शत्रुओं से हम पराजित नहीं होते।

४. हममें व्यसनवृक्ष के मूल लोभ के नाश से दिव्य गुणों का विस्तार होता है।

५. सब दृष्टिकोणों से हमारी वृद्धि-ही-वृद्धि होती है।

इस प्रकार अपने जीवन में हम परिपक्व बनते हैं—हमारे जीवन का ठीक विकास होता है—और हम मन्त्र के ऋषि 'भर्गः' कहलाने के योग्य होते हैं (भ्रस्ज पाके)।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हमारे जीवन का ठीक परिपाक हो।

सूक्त-५

ऋषिः—**त्रित आप्त्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राप्त करनेवालों में उत्तम

१५४६. इनो राजन्नरतिः समिद्धो रौद्रो दक्षाय सुषुमाँ अदर्शि।
चिकिद्वि भाति भासा बृहतासिक्नीमेति रुशतीमपाजन्॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'आप्त्य'=प्राप्त करनेवालों में उत्तम तथा 'त्रि-त'=काम, क्रोध, लोभ तीनों को तैरे हुए है। इसका जीवन निम्न बातों से युक्त है।

१. **इनः**=स्वामी। यह इन्द्रियों का स्वामी बनता है न कि दास।

२. **राजन्**=(well regulated) यह नियमित जीवनवाला होता है। '**सूर्याचन्द्रमसाविव**'=सूर्य-चन्द्रमा की चाल से चलता है। 'कालभोजी' होता है।

३. **अ-रतिः**=किसी भी भौतिक वस्तु के प्रति यह आसक्त नहीं होता।

४. **समिद्धः**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक के पदार्थों के ज्ञान की समिधाओं से यह अपनी ज्ञानाग्नि को समिद्ध करता है।

५. **रौद्रः**=यह 'रुत्-र'=ज्ञान देनेवाला होता है।

६. **दक्षाय**=यह सब उन्नति, शक्ति व वृद्धि के लिए ही होता है। यह कभी अवनत नहीं होता।

७. **सुषुमान् अदर्शि**=(सु-उत्तम) उन्नति के लिए ही यह अच्छाईवाला होता चलता है—'सु'-'सु' वाला ही दिखता है, सब दुरितों को दूर करता चलता है।

८. **चिकित्**=यह नचिकेता न रहकर ज्ञानी तथा अनुभवी बनकर 'चिकित्' बन गया है।

९. **बृहता भासा विभासि**=यह विशाल ज्ञानदीप्ति से चमकता है।

१०. और **असिक्नीम्**=कृष्णवर्णा तमोमयी प्रकृति को **रुशतीम्**=जो इसका संहार करती है उसे **अपअजन्**=दूर फेंकता हुआ **एति**=गति करता है, अर्थात् आगे और आगे बढ़ता चलता है।

भावार्थ—हम 'इन' बनकर 'आप्त्य' बनें, जितेन्द्रिय बनकर प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**त्रित आप्त्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अ-रति (non attached)

१५४७. कृष्णां यदेनीमभि वर्पसाभूज्जनयन्योषां बृहतः पितुर्जाम्।
ऊर्ध्वं भानुं सूर्यस्य स्तभायन् दिवो वसुभिररतिर्वि भाति॥ २॥

***प्रकृति-विजय*—यत्**=जब मनुष्य **एनीम्**=इस रंग-बिरंगी—'लोहित, शुक्ल, कृष्णा' **कृष्णाम्**=तमोमयी होने से कृष्ण अथवा अपनी **वर्पसा**=चमक से आकृष्ट करनेवाली इस प्रकृति को **अभि अभूत्**=जीत लेता है, उस समय **अरतिः**=यह प्रकृति में न फँसनेवाला 'त्रित' **विभाति**=विशेषरूप से चमकता है।

प्रकृति एनी है—रंग-बिरंगी है। अपने सत्त्व, रज व तमोगुणों के कारण 'लोहित, शुक्ल, कृष्णा' है। अपने इस 'वर्पसा'=चमकीले रूप से यह हमें अपनी ओर आकृष्ट कर रही है, अतएव यह 'कृष्णा' कहलाती है। इसके इसी चमकीलेरूप से हमारी आँखों से सत्य का रूप छिपा रहता है। जिस दिन हम प्रकृति-प्रेम से ऊपर उठकर 'अ-रति' बनते हैं उसी दिन सत्य जीवनवाले बनकर हम चमक उठते हैं। अब प्रश्न यह है कि हम 'अ-रति' कैसे बन पाते हैं? वेद उत्तर देता है कि—

***वेदवाणी का विकास*—बृहतः पितुः**=उस बृहत् पिता—परमपिता परमात्मा से **जाम्**=उत्पन्न हुई-हुई इस **योषाम्**=वेदवाणी को (योषा वै वाक्—श० १.४.४.४) **जनयन्**=अपने में प्रकट करता है, अर्थात् जब एक व्यक्ति वेदवाणी को अपने अन्दर विकसित करता है तब वह प्रकृति के आकर्षण को जीत कर 'अ-रति' बन पाता है। वेदवाणी 'योषा' है—यह मनुष्य को पुण्य से जोड़ती है (यु-मिश्रणे) तथा पाप से पृथक् (यु-अमिश्रणे) करती है।

मस्तिष्क में सूर्य की दीप्ति—यह 'अरति' वेदवाणी के अध्ययन से निरन्तर अपनी दीप्ति को बढ़ाता चलता है और एक दिन इसके जीवन में वह आता है जब **सूर्यस्य भानुम्**=सूर्य के समान देदीप्यमान वेदवाणी के प्रकाश को **ऊर्ध्वं स्तभायन्**=ऊपर मस्तिष्करूप द्युलोक में धारण करता हुआ यह अ-रति **दिवः वसुभिः**=दिव्य गुणों की सम्पत्तियों से, अर्थात् दिव्य गुणों से युक्त हुआ-हुआ **विभाति**=विशेष ही शोभावाला होता है।

भावार्थ—वेदवाणी के अध्ययन से प्रकृति पर विजय पाकर हम ज्ञान की दीप्ति को धारण करें तथा दिव्य गुणों से दीप्त हो उठें।

ऋषिः—**त्रित आप्त्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'राम' की ओर

१५४८. भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्।
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन् रुशद्भिर्वर्णैरभि राममस्थात्॥ ३ ॥

गत मन्त्र में वर्णित **भद्रया**=कल्याण व सुख की साधनभूत वेदवाणी से **सचमानः**=अपना अटूट सम्बन्ध बनाता हुआ **भद्रः**=शुभ जीवनवाला यह 'आप्त्य त्रित' **आगात्**=जीवन में गतिवाला होता है। वह सदा उस वेदवाणी के जन्म देनेवाले प्रभु का स्तोता होने से (जरते इति जारः) 'जार' कहलाता है। यह **जारः**=स्तोता **स्वसारं** (स्वयं सरति)=किसी और से गति न दिये गये—सबको गति देनेवाले—उस प्रभु के **पश्चात् अभ्येति**=पीछे-पीछे उसी की ओर चलनेवाला होता है। प्रभु के पीछे चलने का अभिप्राय यह है कि प्रभु दयालु हैं तो यह भी दयालु बनने का प्रयत्न करता है। प्रभु न्यायकारी हैं तो यह भी न्यायकारी बनने के लिए यत्नशील होता है।

इस प्रकार आगे और आगे बढ़नेवाला यह **अग्निः**=उन्नतिशील जीव **सुप्रकेतैः**=उत्तम प्रकाशमय **द्युभिः**=ज्ञान-दीप्तियों के साथ **वितिष्ठन्**=विशेषरूप से स्थित हुआ-हुआ **उशद्भिः**=कामना व स्नेह से पगे (सिक्त) **वर्णैः**=प्रभु के गुणों के वर्णन करनेवाले स्तोत्रों से **रामम्**=उस सर्वत्र रममाण प्रभु की **अभि**=ओर **अस्थात्**=प्रस्थित होता है, अर्थात् यह अग्नि निरन्तर अपने ज्ञान को बढ़ाता चलता है तथा प्रभु के प्रेमभरे स्तोत्रों का उच्चारण करता हुआ प्रभु के अधिकाधिक समीप होता चलता है। 'अग्नि' शब्द आगे बढ़ने के द्वारा कर्म का संकेत कर रहा है—वे कर्म भद्र हैं न कि अभद्र। 'द्युभिः' शब्द ज्ञान का सूचक है तथा 'जारः' शब्द स्तवन व उपासना को कह रहा है। इस प्रकार इस 'त्रित' के जीवन में 'कर्म, ज्ञान व उपासना' तीनों का ही विस्तार हुआ है (त्रीन् तनोति), अतः यह त्रित सर्वत्र रममाण उस राम को प्राप्त क्यों न करेगा?

भावार्थ—वेदवाणी हमें भद्र कार्यों में प्रेरित करे। हम सबको गति देनेवाले प्रभु का अनुगमन करें। ज्ञान से अपने को दीप्त करें और प्रेमभरे स्तवनों से राम में रम जाएँ।

सूक्त-६

ऋषिः—**उशनाः काव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वे प्रभु 'वाचाम् अगोचर' हैं

१५४९. कया ते अग्ने अङ्गिर ऊर्जो नपादुपस्तुतिम्। वराय देव मन्यवे॥ १ ॥

गत मन्त्र में 'जार'=स्तोता उस स्व-सृ=किसी से गति न दिये गये और सबको गति देनेवाले unmoved mover प्रभु का वेदवाणी के द्वारा स्तवन कर रहा था। स्तुति करता हुआ वह अनुभव करता है कि वे प्रभु 'अग्नि' हैं—सारे संसार को गति देनेवाले हैं, वे 'अङ्गिरः'=हम सबके अङ्गों में रस का सञ्चार करनेवाले हैं, स्मरण किये जाने पर—विषयों से बचाने के द्वारा **ऊर्जो नपात्**=हमारी शक्तियों का पतन न होने देनेवाले हैं। इन सब कारणों से वे 'देव'=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु 'वर', श्रेष्ठ व वरणीय हैं—हमें उस प्रभु की श्रेष्ठता का विचार करते हुए उस प्रभु का ही वरण करना चाहिए। वे प्रभु 'मन्यु' ज्ञान के पुञ्ज व मनन करने योग्य हैं, हमें सदा उस प्रभु के गुणों का ही मनन करते हुए उन्हें धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रभु के गुणों का मनन करते हुए

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'उशनाः'=उन गुणों को अपनाने की प्रबल कामनावाला कह उठता है कि हे **अग्ने**=सारे संसार को आगे ले-चलनेवाले! **अङ्गिरः**=सब जीवों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस का संचार करनेवाले, **ऊर्जः नपात्**=अपने भक्तों की शक्ति को नष्ट न होने देनेवाले, **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **वराय**=श्रेष्ठ वरणीय **मन्यवे**=ज्ञान के पुञ्ज व मननीय **ते**=आपके लिए **कया**=किस वाणी से हम **उपस्तुतिम्**=स्तुति करें; आपके गुण व महिमा हमारी वाणी से अतीत है। आप महान् हो। आपकी महिमा का वर्णन इस वाणी से सम्भव नहीं।

भावार्थ—उस प्रभु की महिमा वाणी से अतीत है।

ऋषिः—**उशनाः काव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मन से भी अतीत

१५५०. दाशेम कस्य मनसा यज्ञस्य सहसो यहो। कदु वोच इदं नमः ॥ २ ॥

पिछले मन्त्र में प्रभु के वाणी से अतीत होने का उल्लेख था। इस मन्त्र में उसके मन से भी अतीत होने का वर्णन करते हैं। प्रभु के गुणों को अपनाने की प्रबल कामनावाला 'उशनाः' जितना-जितना प्रभु के गुणों का मनन करता है, उतना-उतना वे प्रभु उसे बड़े प्रतीत होते हैं। उसका मन प्रभु की महिमा का पूर्णतया आकलन नहीं कर पाता। 'उशना' देखता है कि वे प्रभु 'यज्ञ' रूप हैं—वे ही पूजनीय हैं—वे ही संसार के सारे पदार्थों के अन्दर सङ्गति स्थापित किये हुए हैं, जैसेकि एक सूत्र मणियों से एकता स्थापित किये हुए होता है। वे प्रभु हमारे लिए प्रत्येक आवश्यक वस्तु हमें दे रहे हैं। उशना इन 'यज्ञ' रूप प्रभु से कहता है कि हे **सहसः यहो**=बल के पुत्र—शक्ति के पुतले, सर्वशक्तिमान् प्रभो! **यज्ञस्य**=यज्ञरूप आपके प्रति **कस्य मनसा**=किसके मन से **दाशेम**=हम अपने को अर्पित करें। मैं आपका भक्त अपने मन को आपके प्रति अर्पित करना चाहता हूँ, परन्तु आपका पूर्ण चिन्तन न कर पा सकने से अपने कार्य में पूरा सफल नहीं होता। हे प्रभो! न जाने **कत्**=(कदा) कब **उ**=ही **इदं नमः**=इस नमस्कार के वचन को **वोचः**=मैं आपके प्रति बोल पाऊँगा? मैं तो आपको अपनी वाणी व मन से अतीत ही पाता हूँ। आपकी महिमा के चिन्तन में उलझा हुआ यह न आपकी महिमा का अन्त पाता है और न ही अन्यत्र जाने की उत्सुकतावाला होता है। आपकी महिमा के चिन्तन में ही यह उलझा रह जाता है।

भावार्थ—हे प्रभो! हमारा मन सदा आपके चिन्तन में ही उलझा रहे।

ऋषिः—**उशनाः काव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उशाना का स्तवन

१५५१. अधा त्वं हि नस्करो विश्वा अस्मभ्यं सुक्षितीः। वाजद्रविणसो गिरः ॥ ३ ॥

परमात्म-चिन्तन करता हुआ उशना अनुभव करता और कहता है कि हे प्रभो! **अध**=अब **हि**=निश्चय से **त्वम्**=आप ही **नः**=हमें **विश्वाः**=सम्पूर्ण **सुक्षितीः**=उत्तम-निवास-स्थानों को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **करः**=प्राप्त कराते हो। हमारे कर्मों व योग्यताओं के अनुसार जैसा भी लोक हमारे लिए हितकर होता है कृपा करके प्रभु हमें उस-उस उत्तम लोक में जन्म देते हैं। उन लोकों में जन्म देकर हे प्रभो! आप ही **वाजद्रविणसः**=ज्ञानरूप धन से परिपूर्ण **गिरः**=वेदवाणियों को **नः**=हमारे लिए **करः**=प्राप्त कराते हैं। एवं, प्रभु हमें उत्तम लोकों में जन्म देकर उत्तम ज्ञान प्राप्त करानेवाले हैं। प्राकृतिक साधनों का संकेत 'सुक्षितीः' शब्द कर रहा है और अध्यात्म साधनों का

उल्लेख 'गिरः' शब्द द्वारा हुआ है। इस प्रकार प्रभु ने हमारे भौतिक व अध्यात्म दोनों उन्नतियों की सुव्यवस्था कर दी है। उत्तम निवास-भूमियाँ हमारी सब भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए समुचित साधन उपस्थित कर देती हैं और ये वेदवाणियाँ हमारी आध्यात्मिक उन्नति का समुचित मार्ग हमें प्रदर्शित कर रही हैं। हम इन भूमियों से प्राप्त कराये गये पदार्थों का ठीक प्रयोग करते हुए और वेदवाणियों द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए ऐहिक व आमुष्मिक उन्नति करने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही उत्तम लोकों व उत्तम ज्ञानों को देनेवाले हैं।

सूक्त-७

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

परिपक्वता

१५५२. अग्न आ याह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे।
आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती यजिष्ठं बर्हिरासदे ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भर्गः' है—(भ्रस्ज् पाके) जिसने अपना ठीक परिपाक किया है। मता-पिता व आचार्यरूप अग्नियों में तो इसका उत्तम परिपाक हुआ ही था अब यह विद्वान् अतिथि व परमात्मारूप अग्नि में भी अपना परिपाक करना चाहता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=मेरे जीवन के ठीक परिपाक करनेवाले प्रभो! **अग्निभिः**=विद्वान् अतिथिरूप अग्नियों के द्वारा आप हमें सदा **आयाहि**=प्राप्त होओ। विद्वान् अतिथियों के उपदेश तो हमें धर्म-मार्ग पर परिपक्व करते ही रहें—आपका चिन्तन हमारी बुद्धियों को सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाला हो। इस प्रकार हम 'पञ्चाग्नि' बन पाएँ। 'माता, पिता, आचार्य, अतिथि व परमात्म'-रूप अग्नियों में अपना ठीक से परिपाक करनेवाले हों।

हे प्रभो! **होतारम्**=सब पदार्थों के देनेवाले **त्वा**=आपका ही हम **वृणीमहे**=वरण करें। आपके वरण से सांसारिक आवश्यक पदार्थ तो प्राप्त हो ही जाएँगे।

हे प्रभो! हमारी कामना यह है कि **यजिष्ठम्**=सर्वाधिक सङ्गति करने योग्य आपको **बर्हिः**=अपने हृदयान्तरिक्ष में **आसदे**=बिठाने के लिए **प्रयता**=पवित्र **हविष्मती**=त्याग की वृत्तिवाली हमारी चित्तवृत्ति **त्वाम्**=आपको **आ**=सर्वथा **अनक्तु**=प्राप्त हो। हमारी चित्तवृत्ति अपवित्र व स्वार्थपूर्ण होने पर ही प्रभु से दूर होती है। हम उसे अधिक-से-अधिक पवित्र व त्यागवाला बनाएँ। यह चित्तवृत्ति प्रभु के अभिमुख ले-जानेवाली हो। अन्त में वे प्रभु ही सर्वाधिक सङ्गति के योग्य हैं—वे ही हमारा अधिकाधिक कल्याण करनेवाले हैं। हम जितना प्रभु के समीप होंगे उतना ही परिपक्व बुद्धिवाले व तेजस्वी बन पाएँगे। यही 'भर्गः' (परिपक्व) बनने का प्रकार है।

भावार्थ—हमें पाँचों अग्नियाँ प्राप्त हों और हम ठीक परिपक्व बनें।

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अहिंसामय जीवन

१५५३. अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥ २ ॥

'भर्ग' ऋषि प्रभु की आराधना करते हुए कहते हैं कि हे **सहसः सूनो**=बल के पुत्र—शक्ति के

पुतले सर्वशक्तिमान् प्रभो! **अङ्गिरः**=हे अपने भक्तों के अङ्गों में रस का संचार करनेवाले प्रभो! **स्त्रुचः**=यजमान लोग—यज्ञ करने के स्वभाववाले व्यक्ति (यजमानः स्त्रुचः—तै० ३.३.७३) **अध्वरे**=अपने हिंसाशून्य जीवन में **त्वा अच्छ**=आपकी ओर **हि**=निश्चय से **चरन्ति**=गति कर रहे हैं। प्रभुभक्त अनुभव करते हैं कि प्रभु ही सम्पूर्ण शक्तियों के भण्डार हैं, वे ही हमें शक्ति देनेवाले हैं। ऐसा अनुभव करके वे यज्ञशील जीवनवाले बनकर हिंसा से ऊपर उठते हुए, प्रभु की ओर जाने का यत्न करते हैं। अहिंसा को अपनाना ही प्रभु को अपनाना है।

हे प्रभो! हम तो आपको ही **ईमहे**=पाने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि आप—

१. **ऊर्जो न पात**=हमारी शक्तियों को नष्ट नहीं होने देते हो। जिस भी व्यक्ति ने प्रभु को अपनाया, वह प्राकृतिक भोगों का शिकार न होने से कभी क्षीण शक्ति नहीं हुआ।

२. **घृतकेशम्**=(घृत+क+ईश) हे प्रभो! आप ज्ञान की दीप्ति (घृ+दीप्ति) तथा सुख व आनन्द के ईश हो। आपको अपनाकर मैं भी अपने ज्ञान व आनन्द में वृद्धि करनेवाला होता हूँ।

३. **अग्निम्**=आप मुझे सब प्रकार से आगे ले-चलनेवाले हो। प्रभु को अपनाने से ऐहिक व आमुष्मिक दोनों ही भाँति की उन्नति सिद्ध होती है।

४. **यज्ञेषु पूर्व्यम्**=हे प्रभो! आप यज्ञों को पूर्ण करनेवालों में उत्तम हो। आपकी कृपा से ही मेरे सब यज्ञ पूर्ण होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को अपनाएँ, जिससे १. शक्तिशाली बने रहें, २. ज्ञान व आनन्द प्राप्त करें, ३. उन्नत हों तथा ४. यज्ञों को उत्तमता से सिद्ध कर पाएँ। प्रभु को अपनाने का प्रकार यह है कि हम यजमान बनें तथा हमारा जीवन अहिंसामय हो।

सूक्त-८

ऋषिः—**सुदीतिपुरुमीढौ तयोर्वान्यतरः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

तृतीय नेत्र-ज्योति से काम-दहन

१५५४. अच्छा नः शीरशोचिषं गिरो यन्तु दर्शतम्।
अच्छा यज्ञासो नमसा पुरूवसुं पुरुप्रशस्तमूतये ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'पुरुमीढ' है औरों के पालन के लिए धनादि की वर्षा करनेवाला (पुरु=पृ पालने, मीढ=मिह सेचने)। यह कहता है कि **नः गिरः**=हमारी वाणियाँ **अच्छ यन्तु**=उस प्रभु की ओर जाएँ जो—१. **शीरशोचिषम्**=सब बुराइयों की संहारक दीप्तिवाले हैं (शॄ हिंसायाम्, शोचिः=दीप्ति)। २. **दर्शतम्**=जो प्रभु दर्शनीय हैं। प्रभु सब उत्तमताओं का केन्द्र होने से दर्शत हैं।

यज्ञासः=यज्ञशील लोग, जिन्हें गत मन्त्र में 'स्त्रुचः', (यजमान) शब्द से स्मरण किया था, **ऊतये**=रक्षा के लिए **नमसा**=नमन के द्वारा **अच्छ**=उस प्रभु की ओर जाते हैं जो—१. **पुरूवसुम्**=पालक व पूरक वसुओं—धनों के देनेवाले हैं तथा २. **पुरुप्रशस्तम्**=अत्यन्त प्रशस्त जीवनों का निर्माण करनेवाले हैं। प्रभु प्रार्थना से आवश्यक धन तो प्राप्त होता ही है, साथ ही जीवन अत्यन्त सुन्दर बन जाता है। हमें अपनी वाणियों से सदा प्रभु का स्मरण करना चाहिए जिससे प्रभु की ज्ञानदीप्ति से हमारे मल नष्ट हो जाएँ और हम उस दर्शनीय प्रभु का दर्शन कर पाएँ। यह प्रभु का

दर्शनेच्छु व्यक्ति प्रभु की आराधना सर्वभूतहित में लगने के द्वारा ही करता है और इसीलिए 'पुरुमीढ'=खूब बरसनेवाला कहलाता है। यह अपने तन, मन, धन से औरों की सेवा करने में तत्पर रहता है। इस सेवा की वृत्ति में यह कभी अहंकारी न होकर सदा विनम्र बना रहता है। नम्रता से प्रभु का आवाहन ही हमें सब अशुभों से बचानेवाला होता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील हों, मनन से प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु की ज्ञानदीप्ति हमारे मलों को नष्ट कर डाले।

ऋषिः—**सुदीतिपुरुमीढौ तयोर्वान्यतरः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दान देने का आनन्द

१५५५. अग्निं सूनुं सहसो जातवेदसं दानाय वार्याणाम्।
द्विता यो भूदमृतो मर्त्येष्वा होता मन्द्रतमो विशि॥ २॥

पिछले मन्त्र से 'गिरो यन्तु' इन शब्दों की आवृत्ति यहाँ अपेक्षित है। हमारी वाणियाँ उस प्रभु की ओर जाएँ जो—

१. **अग्निम्**=हमें आगे और आगे ले-चल रहे हैं।

२. **सहसः सूनुम्**=जो बल के पुत्र हैं—सर्वशक्तिमान् हैं तथा हममें भी बलों के प्रेरक (षू-प्रेरणे) हैं। प्रभु के सम्पर्क में आने पर जीव शक्ति का अनुभव करता ही है।

३. **जातवेदसम्**=(जाते जाते विद्यते) जो सर्वव्यापक हैं। (जातं जातं वेत्ति) सर्वज्ञ हैं, (जातं वेदो यस्मात्) जिनसे सम्पूर्ण धन की उत्पत्ति होती है। प्रभु के सम्पर्क में आने पर हमारी मनोवृत्ति व्यापक बनेगी, हमारा ज्ञान बढ़ेगा और हमें आवश्यक धन प्राप्त होंगे।

४. **दानाय वार्याणाम्**=जो प्रभु हमें सब वरणीय—चाहने योग्य आवश्यक श्रेष्ठ वस्तुओं के देनेवाले होते हैं।

५. **यः**=जो प्रभु **द्विता**=दो का विस्तार करनेवाले (द्वौ तनोति) **अभूत्**=होते हैं। प्रथम तो वे (क) **मर्त्येषु**=मरणधर्मा मनुष्यों में **अमृतः**=अमृत होते हैं, अर्थात् प्रभु का उपासक भी स्वाभाविक मृत्यु को छोड़कर अन्य मृत्युओं, अर्थात् रोगों का शिकार नहीं होता तथा (ख) यह प्रभु **विशि**=संसार में प्रविष्ट प्रजाओं में **मन्द्रतमः होता**=अत्यन्त प्रसन्नता से युक्त दाता होते हैं, अर्थात् सामान्य मनुष्य जहाँ धन के प्रति प्रेम के कारण प्रसन्नता से दान नहीं दे पाता, वहाँ यह प्रभु का उपासक धन में अनासक्ति के कारण और धन के ठीक स्वरूप व उपयोग को समझने के कारण दान देने में आनन्द का अनुभव करने लगता है। खूब दान देने के कारण यह अपने 'पुरुमीढ' नाम को चरितार्थ करता है। पुरु=खूब, मीढ=बरसनेवाला।

एवं, प्रभु की उपासना से १. हम आगे बढ़ते हैं। २. शक्तिशाली बनते हैं। ३. ज्ञान को बढ़ा पाते हैं। ४. वरणीय वस्तुओं का लाभ करते हैं। ५. नीरोग रहते हैं तथा ६. दान देने में आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-भक्त बनें, जिससे उन्नत हों और दान देने में प्रसन्नता का लाभ करें।

सूक्त-९

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अदाभ्य—सदा नव

१५५६. अदाभ्यः पुरएता विशामग्निर्मानुषीणाम्। तूर्णी रथः सदा नवः ॥ १ ॥

जिस भी व्यक्ति में प्रभु का निवास होता है उसका जीवन निम्न गुणों से युक्त हो जाता है—

अदाभ्यः=यह आसुर वृत्तियों से अहिंसनीय जीवनवाला होकर 'अदाभ्य' बन जाता है, 'हिंसितुमयोग्य' हो जाता है।

२. **पुरः एता**=यह अपने जीवन में सदा आगे और आगे चलनेवाला होता है।

३. **मानुषीणां विशाम् अग्निः**=मननशील तथा मानव हितकारिणी प्रजाओं का यह प्रमुख होता है। इसका जीवन चिन्तनशील तो होता ही है साथ ही वह मानवमात्र का हित करने की वृत्तिवाला होता है, इसीलिए तो इसका नाम (विश्वामित्र)=सभी को मृत्यु व पाप से बचानेवाला तथा सभी के साथ स्नेह करनेवाला हो गया है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि यह (विश्वामित्र) ही है।

४. **तूर्णी रथः**=यह त्वरायुक्त रथवाला होता है। यह अपने शरीर को रथ समझता है और सब प्रकार से आलस्यशून्य होने के कारण यह तीव्र गति से अपनी यात्रा पर आगे और आगे बढ़ता चलता है। इसके जीवन में 'थकावट, तमोगुण, तन्द्रा व गपशप' का कोई स्थान नहीं है।

५. **सदा नवः**=(नू स्तुतौ) यह उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते, श्वास-प्रश्वास लेते हुए भी सदा उस प्रभु का स्तवन करता है। प्रभु-स्मरण के साथ इसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ चलती हैं इसी से यह निरभिमान बना रहता है। 'अहं और मम' से ऊपर उठ जाने से यह पुण्य-पाप व सुख-दुःख से भी ऊपर उठ जाता है। यही जीव के विकास की चरम सीमा है।

भावार्थ—हम आसुरवृत्तियों से अहिंस्य बनकर 'अदाभ्य' बनें। 'अदाभ्य' बनने के लिए ही हम 'सदा नव' सदा प्रभु का स्तवन करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पवित्रता व प्रकाश

१५५७. अभि प्रयांसि वाहसा दाश्वाँ अश्नोति मर्त्यः। क्षयं पावकशोचिषः ॥ २ ॥

उसी विश्वामित्र का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—

६. **दाश्वान् मर्त्यः**=देने की वृत्तिवाला मनुष्य (दाश् दाने) यह विश्वामित्र **प्रयांसि**=अन्नों को—भोजनों को (प्रयस्=food) **वाहसा**=पञ्चयज्ञों द्वारा अन्य प्राणियों को प्राप्त कराने के साथ (वह्=प्रापणे) **अभ्यश्नोति**=सब प्रकार से प्राप्त करता है। '**भूताय त्वा नारातये**' किसी भी वस्तु को प्राप्त करता हुआ यह कहता है कि 'प्राणिमात्र के हित के लिए, नकि न देने के लिए मैं तुझे ग्रहण कर रहा हूँ। यह प्रभु का स्मरण करता है, परिणामतः सभी के साथ बन्धुत्व का अनुभव करता है और '**त्यक्तेन भुञ्जीथाः**'=यज्ञों द्वारा सभी को देकर बचे हुए को खाता है।

७. इस प्रकार त्यागपूर्वक उपभोग का जीवन बिताता हुआ यह **पावकशोचिषः**=पवित्र दीप्ति के **क्षयम्**=निवास-स्थान प्रभु को प्राप्त करता है, अर्थात् इसका जीवन पवित्रता व प्रकाश से परिपूर्ण हो उठता है।

वस्तुतः प्रकाश के अभाव में मनुष्य की मनोवृत्ति प्रकृति-प्रवण होती है। प्रकृतिप्रेम के कारण वह दान नहीं दे पाता। परिग्रहशील होता चलता है। यह परिग्रहशीलता का स्वभाव पवित्र भावना का भी अन्त कर देता है और मनुष्य जैसे-तैसे धन जुटाने में जुट जाता है।

भावार्थ—हम त्यागपूर्वक उपभोग करें। हमारा जीवन पवित्रता व प्रकाश से पूर्ण हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

तुवि-श्रवस्-तम

१५५८. साह्वान् विश्वा अभियुजः क्रतुर्देवानाममृक्तः। अग्निस्तुविश्रवस्तमः ॥ ३ ॥

८. यह विश्वामित्र **विश्वाः**=न चाहते हुए भी हमारे अन्दर घुस आनेवाले **अभियुजः**=सब ओर से हमपर आक्रमण करनेवाले काम, क्रोध, लोभ आदि आसुरभावों को **साह्वान्**=पराभूत करनेवाला होता है।

९. **देवानां क्रतुः**=देवताओं के सङ्कल्पवाला होता है। सदा दिव्य गुणों को अपने अन्दर बढ़ाने की वृत्तिवाला होता है।

१०. **अमृक्तः**=दिव्य गुणों के सतत सङ्कल्प के कारण ही यह आसुरवृत्तियों के आक्रमण से बचा (unhurt, safe) रहता है। 'प्रतिपक्षभावनम्'=आसुरवृत्तियों से बचने के लिए यह उनके प्रतिपक्ष—विरोधी दिव्य गुणों का सदा चिन्तन करता है।

११. **अग्निः**=दिव्य गुणों के चिन्तन के कारण वह सदा आगे और आगे बढ़ता चलता है इसका जीवन प्रगतिशील होता है और यह १२. **तुविश्रवस्तमः**=महान् श्रवस्=यशवाला (fame) होता है, महान् श्रवस्=धन-(wealth)-वाला होता है, महान् स्तोत्रों-(hymn)-वाला होता है तथा अत्यन्त श्रवस्=प्रशंसनीय कर्मोंवाला (praise wasthy action) होता है। यह कीर्ति, धन, स्तुति की वृत्ति तथा प्रशस्त कर्मोंवाला बनता है।

भावार्थ—हम भी अपने जीवनों में कीर्ति, धन, स्तुति तथा स्तुत्य कर्मोंवाले हों।

सूक्त-१०

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**काकुभः प्रगाथः (ककुबुष्णिक्)** ॥
स्वरः—**ऋषभः** ॥

समर्पण-विसर्जन-सव-स्तवन

१५५९. भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः। भद्रा उत प्रशस्तयः ॥ १ ॥

१११ संख्या पर इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार है—

प्रथमाश्रम में **आहुतः**=अर्पण किये हुए **अग्निः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ **नः**=हमारे लिए **भद्रः**=कल्याणकर हों।

द्वितीयाश्रम में **सुभग**=घर को सौभाग्यशील बनानेवाली **रातिः**=दान की वृत्ति **भद्रा**=हमारा शुभ करें।

तृतीयाश्रम में **अध्वरः**=यज्ञ **भद्रः**=हमारे लिए कल्याणकर हो।

उत=और अब चतुर्थाश्रम में **प्रशस्तयः**=प्रभु की स्तुतियाँ **भद्राः**=हमारा कल्याण करनेवाली हों।

भावार्थ—हमारे जीवन में क्रमशः समर्पण, दान, यज्ञ तथा प्रभुस्तवन हमारा कल्याण करनेवाले हों।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**काकुभः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वासना-विजय के लिए विशिष्ट निश्चय

१५६०. भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येना समत्सु सासहिः ।
अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धतां वनेमा ते अभिष्टये ॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'सोभरि'=जीवन का उत्तम प्रकार से भरण करनेवाले के प्रति प्रभु कहते हैं—

१. **वृत्रतूर्ये**=वृत्रों के संहार करने योग्य संग्राम में तू **मनः भद्रम्**=मन को शुभ **कृणुष्व**=कर। अपने मन में वृत्र=वासना के संहार का दृढ़ निश्चय कर ले। ऐसा निश्चय किये बिना वृत्र का जीतना कठिन है। दृढ़ सङ्कल्प कर लेने पर ही वृत्र का संहार सम्भव होगा **येन**=दृढ़ निश्चय से ही **समत्सु**=संग्रामों में **सासहिः**=तू शत्रु का पराभव कर लेनेवाला होगा। दृढ़ निश्चय के बिना साधारण कार्यों में भी सफलता मिलना कठिन होता है, वृत्रतूर्य जैसे महान् कार्य में दृढ़ निश्चय के बिना सफलता कैसे मिल सकती है?

२. **भूरि शर्धताम्**=खूब प्रबल आक्रमण करते हुए भी—अपनी शक्ति दिखाते हुए भी इन वृत्रों के **स्थिरा**=दृढ़ आस्त्रों को तू **अवतनुहि**=(Loosen, undo) ढीला कर दे। इनकी डोरी को धनुष से उतार दे, और इस प्रकार तू इनके आक्रमणों को व्यर्थ कर दे।

इसपर सोभरी प्रभु से कहता है कि—

अभिष्टये=हे प्रभो! इन शत्रुओं का विजेता (One who assails or overpowers an enemy) बनने के लिए हम **ते**=तेरा **वनेम**=सम्भजन—सेवन करते हैं। **'त्वया स्विद् युजा वयम्'**=तेरे साथ मिलकर ही तो हम इन शत्रुओं को जीत पाएँगे, अन्यथा यह कार्य हमारी शक्ति से साध्य नहीं।

भावार्थ—हम दृढ़ निश्चय करें तथा प्रभु के उपासक बनें और वृत्रों=वासनाओं का विनाश कर डालें।

सूक्त-११

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

त्याग-त्रयी

१५६१. अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो । अस्मे देहि जातवेदो महि श्रवः ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का व्याख्यान ९९ संख्या पर इस प्रकार है—

१. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! अब **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **वाजस्य**=बल को **अस्मे**=हममें **देहि**=दीजिए। आप **ईशानः**=स्वामी हैं।

२. हे **यहो**=महान् प्रभो! **सहसः**=आप हमें सहनशक्ति—सहिष्णुता दीजिए।

३. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **अस्मे**=हममें आप **महि**=महनीय **श्रवः**=उत्तम कर्म प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम भोगों को, असहिष्णुता को तथा निन्द्य कर्मों को छोड़ दें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

तेजस्विता व दिव्य गुण

१५६२. स इधानो वसुष्कविरग्निरीडेन्यो गिरा । रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥ २ ॥

हे प्रभो ! जो आप १. **इधानः**=(इन्ध दीप्ति, ताच्छील्य में चानश् प्रत्यय) स्वाभाविक दीप्तिवाले हैं—आपका ज्ञान स्वाभाविक है। २. **वसुः**=सर्वत्र निवास करनेवाले तथा सभी को निवास देनेवाले हैं। ३. **कविः**=(कौति सर्वा विद्याः) सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले हैं। ४. **अग्निः**=अग्रेणी—सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। ५. **गिरा इडेन्यः**=वेदवाणी के द्वारा स्तवन के योग्य हैं। **सः**=वे आप **पुर्वणीक**=(पुरु, अनीक=तेजस्) अत्यन्त तेजस्वी हैं। **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रेवत्**=(यद् बृहत्तद् रैवतम्—ऐ० ४.१३, रेवत्यः सर्वा देवताः—ऐ० २.१६) विशालता को तथा सब दिव्य गुणों को **दीदिहि**=दीजिए—प्राप्त कराइए।

प्रभु से सब दिव्य गुणों की प्राप्ति की प्रार्थना के समय प्रभु को 'पुर्वणीक'='अत्यन्त तेजस्वी' इस शब्द से स्मरण करना एक विशेष महत्त्व रखता है। तेजस्विता के साथ ही दिव्य गुणों का निवास है। इन दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए 'उत्तम दीप्तिवाला बनना, उत्तम निवासवाला होना, क्रान्तदर्शी बनना, आगे चलना तथा वेदवाणी द्वारा प्रभु-स्तवन करना' भी आवश्यक है। वाणी से सदा प्रभु-स्तवन करता हुआ यह प्रशस्तेन्द्रिय बनता है और गोतम=(उत्तम इन्द्रियोंवाला) इस यथार्थ नामवाला होता है।

भावार्थ—हम तेजस्वी बनें, जिससे दिव्य गुणों के पात्र बन सकें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

असुर-विध्वंस की उपाय-चतुष्टयी

१५६३. क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः। स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥ ३ ॥

हे **अग्ने**=अपने को आगे ले-चलनेवाले, **राजन्**=अत्यन्त नियमित जीवनवाले (Well regulated) जीव ! तू **उत**=निश्चय से **त्मना**=अपने मनोबल के द्वारा **क्षपः**=रात्रियों में **वस्तोः उत उषसः**=दिन के समय तथा उषःकालों में **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तियों को **प्रतिदह**=एक-एक करके जला दे।

राक्षसी व आसुरी वृत्तियों को समाप्त करने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं १. (अग्ने) मनुष्य आगे बढ़ने का प्रबल निश्चय करे। २. (राजन्) जीवन को सूर्य व चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से ले-चले—सब कार्यों को समय पर करे तथा ३. मन को आत्मा के द्वारा जीतकर प्रबल बनाए। आत्मा के द्वारा जीता हुआ मन आत्मा का मित्र होता है और आसुरी वृत्तियों से मुक्ति का साधन बनता है।

आसुरी वृत्तियों को दूर करके प्रशस्तेन्द्रिय बननेवाले इस गोतम से प्रभु कहते हैं कि **सः**=वह तू **तिग्मजम्भ**=तीव्र मुखवाला है। तेरे मुख में सदा वेदवाणी होती है, जिसके द्वारा तू तेजस्वी होता है और अपनी प्रबल हुंकार से ही इन शत्रुओं को परे भगा देता है। एवं, कामादि शत्रुओं को दूर भगाने के लिए तेजस्वी मुखवाला होना भी आवश्यक है। तेजस्वी मुख उसी का होता है जिसके मुख में प्रभु का नाम है। यह प्रभु-नाम ही रक्षो-दहन की सर्वोत्तम औषध है।

भावार्थ—१. आगे बढ़ने की वृत्ति, २. नियमित जीवन, ३. मनोबल तथा ४. तीव्र व तेजस्वी मुख हमें असुरों को पराजित करने में सशक्त करे।

सूक्त-१२

ऋषिः—**गोपवन आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आनुष्टुभः प्रगाथः (अनुष्टुप्)** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रणव जप व अर्थभावन

१५६४. विशोविशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम्।
अग्निं वो दुर्यं वच स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ ८७ संख्या पर इस प्रकार दिया है—

वः=तुममें से **विशः**=प्रत्येक प्रजा को **अतिथिम्**=निरन्तर प्राप्त होनेवाले **पुरुप्रियम्**=सबके पालक, पूरक व तृप्त करनेवाले **अग्निम्**=अग्रस्थान मोक्ष पर पहुँचनेवाले **शूषस्य**=बल व सुख के **दुर्यम्**=धाम प्रभु को **वः**=आपसे **वाजयन्तः**=शक्ति चाहते हुए या आपकी अर्चना करते हुए लोग **मन्मभिः**=मनन के साथ **वचः स्तुषे**=वचन कहते हैं, आपकी स्तुति करते हैं।

भावार्थ=हम प्रभु के नामों का जप करें और उन नामों के अर्थ का मनन करें।

ऋषिः—**गोपवन आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आनुष्टुभः प्रगाथः (गायत्री)** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मित्र के समान प्रेरक

१५६५. यं जनासो हविष्मन्तो मित्रं न सर्पिरासुतिम्। प्रशंसन्ति प्रशस्तिभिः ॥ २ ॥

गत मन्त्र में कहा था कि हम प्रभु के लिए मननपूर्वक स्तुतिवचनों का उच्चारण करते हैं। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि हम इन वचनों का उच्चारण उस प्रभु के लिए करते हैं **यम्**=जिस प्रभु को **जनासः**=अपना विकास करनेवाले **हविष्मन्तः**=(हु दानादनयोः) सदा दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले स्तोता लोग **प्रशस्तिभिः**=स्तुतिवचनों से **प्रशंसन्ति**=स्तुत करते हैं। जो प्रभु—

१. **मित्रं न**=पाप से बचानेवाले (प्रमीतेः त्रायते) सदा स्नेह करनेवाले (मिद् स्नेह) मित्र के समान **सर्पिः**=(सृप् गतौ) गतिदेनेवाला है। जिस प्रकार एक मित्र '**पापात् निवारयति योजयते हिताय**' पाप से निवारण करता है और हित में प्रवृत्त करता है उसी प्रकार ये अन्तःस्थित प्रभु सदा प्रेरणा के द्वारा हमें पापों से दूर कर रहे हैं और हित में प्रवृत्त कर रहे हैं। इस प्रकार वे प्रभु हमारे '**स नो बन्धुः**' सच्चे साथी हैं, '**प्रियम् इन्द्रस्य**'=जीवात्मा के प्रिय मित्र हैं।

२. इस प्रकार पाप से पृथक् तथा पुण्य में प्रवृत्त करके वे प्रभु **आसुतिम्**=(आ=Allround) व्यापक ऐश्वर्य (षु=ऐश्वर्य) को प्राप्त करानेवाले हैं। वे प्रभु ही अन्नमयकोष में तेज को, प्राणमयकोश में वीर्य को, मनोमयकोश में ओज व बल को, विज्ञानमयकोश में मन्यु को तथा आनन्दमयकोश में सहस् को प्राप्त कराके एक सच्चे भक्त को, 'आ-सुति' बना डालते हैं—सब कोशों के ऐश्वर्य=भूति से परिपूर्ण कर देते हैं। ऐश्वर्योत्पादक होने से वे प्रभु आसुति हैं। भक्त लोग प्रभु को 'मित्र के समान हित में प्रेरक तथा ऐश्वर्यजनक के रूप में ही स्मरण करते हैं। इस प्रकार प्रभु-प्रेरणा से पवित्र इन्द्रियोंवाले होकर ये भक्त इस मन्त्र के ऋषि 'गोपवन'—इन्द्रियों को पवित्र करनेवाले बन पाते हैं। '**कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्**'—इन सप्त इन्द्रियों को पूर्णतया वशीभूत कर लेनेवाले ये 'सप्तवध्रि' हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे सच्चे मित्र हैं, हम उनकी प्रेरणा को सुनें और व्यापक ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**गोपवन आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आनुष्टुभः प्रगाथः (गायत्री)** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

योगक्षेमावह हरि

१५६६. पन्यांसं जातवेदसं यो देवतात्युद्यता। हव्यान्यैरयद् दिवि ॥ ३ ॥

पन्यांसम्=स्तुति के योग्य **जातवेदसम्**=प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान अथवा सर्वज्ञ उस प्रभु का हम शंसन करते हैं **यः**=जो **देवताति उद्यता**=दिव्य गुणों के विस्तार में सदा उद्यत—दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील **दिवि**=प्रकाश व ज्ञान से द्योतित पुरुष में **हव्यानि**=दानपूर्वक अदन

के योग्य व पवित्र पदार्थों को **ऐरयत्**=प्राप्त कराते हैं।

नित्य अभियुक्त—योगमार्ग पर चलने के लिए सतत प्रयत्नशील पुरुषों को योगक्षेम प्राप्त करानेवाले वे प्रभु हैं। मनुष्य का कर्त्तव्य यह है कि वह दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहे—खाना-पीना तो प्रभुकृपा से चलता ही है। इस प्रकाशमय मार्ग पर चलनेवाले व्यक्तियों के लिए 'हव्य' पदार्थों को प्रभु सदा प्राप्त कराते हैं। हव्य का अभिप्राय उन पवित्र पदार्थों से है जिनका अदन (भक्षण) सदा दानपूर्वक होता है। एवं, प्रभु का सच्चा भक्त जीवन-यात्रा में निर्धनता से पीड़ित नहीं होता।

भावार्थ—हम सदा अपने अन्दर दिव्य-गुणों के विस्तार के लिए प्रयत्नशील हों।

सूक्त-१३

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

गृणे ईमहे (स्तवन तथा धारण)

१५६७. समिद्धमग्निं समिधा गिरा गृणे शुचिं पावकं पुरो अध्वरे ध्रुवम्।
विप्रं होतारं पुरुवारमद्रुहं कविं सुम्नैरीमहे जातवेदसम्॥ १॥

प्रभु का स्तवन अज्ञान में नहीं हो पाता। 'ज्ञान, दर्शन, प्रवेश' यह क्रम है। हम प्रभु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उससे बनाये इस संसार के पदार्थों के तत्त्व को समझने का प्रयत्न करते हैं—इन पदार्थों में प्रभु की रचना की विलक्षण महिमा का हमें आभास मिलता है। इस प्रकार ज्ञानवृद्धि के साथ हम प्रभु के ज्ञानीभक्त बनते चलते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति के द्वारा **गिरा**=वेदवाणियों से **गृणे**=मैं उस प्रभु का स्तवन करता हूँ, जो—

१. **समिद्धम्**=ज्ञान की ज्योति से (सम् इद्ध) सम्यक् दीप्त हैं, ज्ञानमय हैं—विशुद्धाचित् हैं।

२. **अग्निम्**=ज्ञानाग्नि में सब मलिनताओं को भस्म कर देनेवाले हैं, अतएव

३. **शुचिम्**=स्वयं तो पूर्ण पवित्र व उज्ज्वल हैं ही, वे

४. **पावकम्**=अपने भक्तों के जीवनों को भी पवित्र करनेवाले हैं।

५. **अध्वरे पुरः**=वे प्रभु यज्ञों में सबसे आगे हैं (पुरोहितं यज्ञस्य)। वे तो यज्ञरूप ही हैं।

६. **ध्रुवम्**=ध्रुव हैं—मर्यादाओं से डाँवाँडोल होनेवाले नहीं हैं। अपने बनाये हुए सृष्टिनियमों में कोई परिवर्तन करनेवाले नहीं है। केवल कृपा वा क्रोध के कारण कर्मफल में वे परिवर्तन नहीं करते।

हम इस प्रभु को **सुम्नैः**=स्तोत्रों (Hymn) के द्वारा **ईमहे**=(ई=to go) प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं तथा इस प्रभु को हम (ई=to desire) चाहते हैं तथा इस प्रभु की भावना से अपने को गर्भित (ई=to become pregnant with) कर लेते हैं। वे प्रभु—

७. **विप्रम्**=(वि-प्रा) विशेषरूप से सारे ब्रह्माण्ड का पूरण किये हुए हैं। वे प्रभु अपने भक्तों के जीवन की न्यूनताओं को दूर करके उनका पूरण करते हैं।

८. **होतारम्**=वे प्रभु जीवहित के लिए उसे सब पदार्थों को देनेवाले हैं। प्रभु ने तो जीवहित के लिए अपने को भी दे डाला है (य आत्मदा)।

९. **पुरुवारम्**=पालन व पूरण के लिए वे प्रभु सब विघ्नों व अमङ्गलों का वारण—निवारण

करनेवाले हैं।

१०. **अद्रुहम्**=वे प्रभु किसी की जिघांसा=मारने की इच्छा से रहित हैं। समय-समय पर प्रभु से प्राप्त करायी जानेवाली मृत्यु भी जीव को अमरता प्रापण के लिए ही होती है (यस्य मृत्युः अमृतम्)।

११. **कविम्**=वे प्रभु कवि=क्रान्तदर्शी हैं=प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जाननेवाले हैं और सृष्टि के प्रारम्भ में ही वेदज्ञान द्वारा सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले हैं (कौति सर्वा विद्याः)।

१२. **जातवेदसम्**=वे प्रभु प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान हैं (जाते-जाते विद्यते), वे सब पदार्थों व हमारे कर्मों को जानते हैं (जातं-जातं वेत्ति), सम्पूर्ण ऐश्वर्य उन्हीं से प्राप्त होता है (जातं वेदो यस्मात्)।

इस प्रकार इन बारह गुणों से युक्त प्रभु का स्तवन करनेवाला स्तोता इन गुणों को अपने अन्दर धारण करने का प्रयत्न करता है और १. भरद्वाज=अपने में शक्ति को भरनेवाला बनता है २. वीतहव्य=सदा पवित्र पदार्थों का सेवन करनेवाला होता है तथा ३. बार्हस्पत्यः=ज्ञानियों का मूर्धन्य बनता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा हम प्रभु के सच्चे स्तोता बनें (गृणे)। स्तोत्रों के द्वारा हम अपने हृदयों को प्रभु की भावना से ओत-प्रोत कर लें (ईमहे)।

नोट—*यहाँ प्रथम विशेषण 'समिद्धम्' है=ज्ञान से दीप्त, तथा अन्तिम विशेषण है 'जातवेदसम्', सर्वज्ञ। एवं, प्रारम्भ भी ज्ञान से है, समाप्ति भी ज्ञान पर। यह शैली ज्ञान के महत्त्व को सुव्यक्त कर रही है।*

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

दधिरे-निषेदिरे (धारण-निषदन)

१५६८. त्वां दूतमग्ने अमृतं युगेयुगे हव्यवाहं दधिरे पायुमीड्यम्।
देवासश्च मर्तासश्च जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा नि षेदिरे॥ २॥

हे **अग्ने**=सम्पूर्ण संसार को आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **त्वाम्**=तुझे **देवासः**=दिव्य गुणोंवाले व्यक्ति **च**=और **मर्तासः**=साधारण मनुष्य भी **दधिरे**=अपने में धारण करते हैं। दिव्य वृत्तिवाले लोग तो प्रभु का ध्यान करते ही हैं, सामान्य मनुष्य भी कष्ट आने पर उसका स्मरण करते हैं। किस प्रभु का? १. **दूतम्**=जो अपने भक्तों को कष्ट की अग्नि में तपाकर उज्ज्वल बनानेवाले अथवा (दु=to move) सारी गति के मूलकारण हैं, २. **अमृतम्**=कभी न मृत होनेवाले हैं तथा अमरता प्राप्त करानेवाले हैं, ३. **युगेयुगे**=समय-समय पर **हव्यवाहम्**=सब हव्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं, ४. **पायुम्**=सबके रक्षक हैं, ५. **ईड्यम्**=स्तुति के योग्य हैं, ६. **जागृविम्**=सदा जागरणशील हैं, अर्थात् अपने रक्षण कार्य में कभी प्रमाद न करनेवाले हैं, ७. **विभुम्**=सर्वव्यापक हैं, ८. **विश्पतिम्**=सब प्रजाओं के पालक हैं।

ऐसे प्रभु को **नमसा**=नमन के द्वारा **निषेदिरे**=देव लोग अपने हृदयासन पर विराजमान करते हैं। 'प्रभु का निवास हमारे हृदयों में हो, इसका सर्वोत्तम साधन 'नमन' ही है। नम्रता हमें प्रभु के समीप पहुँचाती है जबकि अभिमान से हम प्रभु से दूर हो जाते हैं।

भावार्थ—नम्रता के द्वारा हम प्रभु का धारण करनेवाले बनें—यह नम्रता हमारे हृदय को प्रभु का आसन बनाए।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

(त्रि-वरूथ=कवचत्रयी)

१५६९. विभूषन्नग्न उभयाँ अनु व्रता दूतो देवानां रजसी समीयसे।
यत्ते धीतिं सुमतिमावृणीमहेऽध स्मा नस्त्रिवरूथः शिवो भव ॥ ३ ॥

हे **अग्ने**=सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभो ! **उभयान्**=दोनों **अनुव्रता**=अनुकूल व्रतोंवाले—वेदोपदिष्ट कर्मों को करनेवाले देवों व मनुष्यों को **विभूषन्**=विभूतियुक्त करते हुए तथा **देवानां दूतः**=देवताओं को कष्टाग्नि में सन्तप्त करके चमकानेवाले आप **रजसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **समीयसे**=सम्यक् गति करते हैं।

सन्मार्ग में चलनेवाले सभी को प्रभु विभूति व ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। विशेषकर दिव्य वृत्तिवालों को कष्टाग्नि में सन्तप्त कर खूब ही उज्ज्वल बना देते हैं। इस सारे द्युलोक व पृथिवीलोक में उस प्रभु की ही सारी क्रीड़ा हो रही है। वे प्रभु ही सबको दे रहे हैं।

हे प्रभो ! **यत्**=जब **ते**=आपके **धीतिम्**=ध्यान को तथा **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **आवृणीमहे**=हम वरते हैं तो **अध**=अब आप **नः**=हमारे लिए **त्रिवरूथः**=तीन कवचोंवाले **शिवः**=कल्याणकारी **भव स्म**=अवश्य होओ। प्रभु के त्रिवरूथ से—तीन कवचों से—सुरक्षित होनेपर हमारे शरीर रोगों से, हमारे मन अशुभ वृत्तियों से तथा हमारी बुद्धियाँ कुण्ठता व कुविचार से आक्रान्त नहीं होते। नीरोग शरीर, शिव सङ्कल्प मन व तीव्र बुद्धिवाले होकर हम अपने सच्चे कल्याण का सम्पादन करते हैं। शरीर में हम भरद्वाज=शक्ति-सम्पन्न बनते हैं, मनों में हम वीतहव्य=पवित्र पदार्थों का ही प्रयोग करने की प्रवृत्तिवाले और मस्तिष्क में बार्हस्पत्य=ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के ध्यान व शुभ मति का वहन करें।

नोट—*यहाँ 'उभयान्' शब्द सकाम व निष्काम कर्म करनेवाले मनुष्यों व देवों का वाचक है। सकाम कर्म करनेवाले स्वर्गादि के ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं, निष्काम कर्मवाले सांसारिक भोगों से विरत होने से ब्रह्मानन्द का उपभोग करते हैं। इन्हें तीव्र कष्टों की परीक्षाओं से गुज़रना पड़ता है।*

सूक्त-१४

ऋषिः—**प्रयोगो भार्गवः; पावकोऽग्निर्बार्हस्पत्यो वा, गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरो वा** ॥
देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मारुति बनना

१५७०. उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः। वायोरनीके अस्थिरन् ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का व्याख्यान १३ संख्या पर इस प्रकार है—

हविष्कृतः=दानपूर्वक अदन को अपना स्वभाव बना लेनेवाले पुरुष की **त्वा उप**=तेरे समीप **जामयः**=गति करनेवाली **देदिशतीः**=निरन्तर तेरा निर्देश करती हुई **गिरः**=वाणियाँ भक्त को **वायोः अनीके**=वायु के समान शक्ति में **अस्थिरन्**=स्थिर करती हैं।

भावार्थ—हविष्कृत् भोगों का शिकार नहीं होता, अतः वायु के समान बलवाला होता है।

ऋषिः—**प्रयोगो भार्गवः; पावकोऽग्निर्बार्हस्पत्यो वा, गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरो वा॥**
देवता—**अग्निः॥** छन्दः—**गायत्री॥** स्वरः—**षड्जः॥**

हविष्कृत् का जीवन

१५७१. यस्य त्रिधात्ववृतं बर्हिस्तस्थावसन्दिनम्। आपश्चिन्नि दधा पदम्॥ २॥

गत मन्त्र में कहा था कि हविष्कृत को वायु के समान बल की प्राप्ति होती है। उसी हविष्कृत् के लिए कहते हैं कि यह वह है १. **यस्य**=जिसका **त्रिधातु**=प्रकृति, जीव व परमात्मा के ज्ञान को धारण करनेवाला मस्तिष्करूप द्युलोक **अवृतम्**=वासनाओं के मेघों से आवृत्त नहीं होता। इसकी ज्ञानाग्नि को वासना का धुँआ ढक नहीं लेता। कामरूप वृत्र से इसका ज्ञान आवृत्त नहीं हो जाता २. **बर्हिः**=इसका हृदयान्तरिक्ष **असन्दिनम्**=(असन्दितम्)=वासनाओं से अबद्ध **तस्थौ**=रहता है। इसके जीवन में परम प्रभु का स्मरण विषयरस को समाप्त कर देता है। ३. इसके शरीर में **आपः**=शक्तिरूप में रहनेवाले जल (आपः रेतो भूत्वा०—ऐ०) **पदम्**=पग को **चित्**=निश्चय से **निदधा**=रखते हैं, अर्थात् इसके शरीर में शक्ति सुरक्षित रहती है।

इस प्रकार यह मस्तिष्क में उत्कृष्ट ज्ञान के योगवाला होता है, हृदय में पवित्रता के योग को प्राप्त करता है और शरीर में शक्ति के योगवाला होकर सचमुच 'प्रयोग' प्रकृष्ट योगवाला होता है।

भावार्थ—हमारा जीवन उत्कृष्ट ज्ञान, पवित्रता व शक्ति से युक्त हो।

ऋषिः—**प्रयोगो भार्गवः; पावकोऽग्निर्बार्हस्पत्यो वा, गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरो वा॥**
देवता—**अग्निः॥** छन्दः—**गायत्री॥** स्वरः—**षड्जः॥**

प्रभु-पद-प्राप्ति

१५७२. पदं देवस्य मीढुषोऽनाधृष्टाभिरूतिभिः। भद्रा सूर्यइवोपदृक्॥ ३॥

गत मन्त्र के वर्णन के अनुसार **अनाधृष्टाभिः**=न धर्षणीय, न नष्ट करने योग्य **ऊतिभिः**=रक्षणों से मन्त्र का ऋषि प्रयोग **मीढुषः**=सब सुखों का सेचन करनेवाले **देवस्य**=दिव्य गुणयुक्त प्रभु के **पदम्**=स्वरूप को **सूर्यः इव**=सूर्य के समान **उपदृक्**=समीपता से देखनेवाला होता है।

यदि मनुष्य मस्तिष्क को काम से धर्षणीय नहीं होने देता, हृदय को वासनाओं से बद्ध नहीं होने देता और शरीर को भोगों का शिकार न होने देकर शक्तिमय बनाये रखता है तब वह प्रभु के पद को इस प्रकार देख पाता है जैसे हम सूर्य को स्पष्ट देखते हैं। यह सूर्य के समान प्रभु-दर्शन की स्थिति ही **भद्रा**=कल्याण व सुख से पूर्ण है। यही 'ब्राह्मीस्थिति' है। इसे प्राप्त कर किसी प्रकार का मोह नहीं रह जाता। इसका जीवन उत्तरोत्तर दिव्यता को प्राप्त कर श्रेष्ठ व श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम बन जाता है। वह प्रभु से की जा रही सुखों की वर्षा का पात्र होता है।

भावार्थ—हम उस सुखवर्षक देव प्रभु के पद को देखनेवाले बनें।

इति पञ्चदशोऽध्यायः, सप्तमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः॥

अथ षोडशोऽध्यायः

सप्तमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

पूर्वपीति के लिए

१५७३. अभि त्वा पूर्वपीतये इन्द्र स्तोमेभिरायवः ।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ २५६ संख्या पर इस प्रकार दिया गया है—

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो ! **पूर्व्यम्**—औरों में ऐश्वर्य का पूरण करनेवाले पुरुषोत्तम **त्वा**= आपको **स्तोमेभिः**=स्तुति-समूहों से **अभि**=दोनों ओर प्राकृतिक दृश्यों में बाहिर और शरीर की रचना में अन्दर **समस्वरन्**=स्तुत करते हैं। कौन ?

१. **आयवः**=गतिशील व्यक्ति, २. **समीचीनासः**=उत्तम निर्माणात्मक गति के कारण जो लोक में पूजित होते हैं। ३. **ऋभवः**=जिनका मनोमयकोश सत्य से दीप्त है। ४. **रुद्रः**=जो ज्ञान के ग्रहण करनेवाले हैं। ये लोग प्रभु का ज्ञान प्राप्त करके उस **पूर्व्यम्**=पूरण करनेवाले प्रभु का ही **गृणन्त**=उपदेश करते हैं। ये सब कार्य ये **पूर्वपीतिये**=अपना पूरण व पालन तथा रक्षा के लिए ही करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के सच्चे उपासक व उपदेष्टा बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सर्वोत्तम स्तुति

१५७४. अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि ।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ॥ २ ॥

इन्द्रः=सोमपान करनेवाला जीव **वृष्ण्यं शवः**=सब सुखों के वर्षक बल को—अङ्ग-प्रत्यङ्ग को, शक्तिशाली बनानेवाले बल को, **अस्य सुतस्य**=इस शरीर में उत्पन्न सोम को, **विष्णवि**=सारे शरीर में या सारे जीवन में व्याप्त होनेवाले **मदे**=उल्लास के निमित्त **इत्**=ही **वावृधे**=खूब बढ़ाता है।

जब इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर एक व्यक्ति अपने इन्द्र नाम को चरितार्थ करता है और जीवन के तीनों सवनों में, अर्थात् बाल्य, यौवन व वार्धक्य में सोम का पान करता है, अपनी वीर्यशक्ति की रक्षा करता है तब इसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग बड़ा दृढ़ बना रहता है और वह सुखी जीवनवाला होता है। **अद्य**=आज, अर्थात् सोमपान करनेवाले दिन ही **अस्य**=इस प्रभु की **तं महिमानम्**=उस प्रसिद्ध महिमा को, वीर्यादि अद्भुत वस्तुओं के निर्माण के माहात्म्य को, **आयवः**=क्रियाशील मनुष्य **पूर्वथा अनु स्तुवन्ति**=सर्वोत्तम प्रकार से (In a first class manner) स्तुति करते हैं। प्रभु की

महिमा के गायन का इससे उत्तम और क्या प्रकार हो सकता है कि हम उस प्रभु से दी गई सर्वोत्तम वस्तु को शरीर में सुरक्षित करके जीवन के अन्त तक सुदृढ़ शरीरवाले बने रहें। यही **पूर्वथा**=सर्वोत्तम प्रकार की स्तुति है।

भावार्थ—हम उस प्रभु के सर्वोत्तम स्तोता बनें।

सूक्त-२

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

१५७५. प्र वामर्चन्त्युक्थिनो नीथाविदो जरितारः। इन्द्राग्नी इष आ वृणे ॥ १ ॥

इस मन्त्र की व्याख्या १७०३ संख्या पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

१५७६. इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम्। साकमेकेन कर्मणा ॥ २ ॥

इस मन्त्र का व्याख्यान १७०४ संख्या पर देखें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

१५७७. इन्द्राग्नी अपसस्पर्युप प्र यन्ति धीतयः। ऋतस्य पथ्या ३ अनु ॥ ३ ॥

इस मन्त्र की व्याख्या के लिए मन्त्र संख्या १६९४ देखें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

१५७८. इन्द्राग्नी तविषाणि वां सधस्थानि प्रयांसि च। युवोरप्तूर्यं हितम् ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का अर्थ १६९५ संख्या पर द्रष्टव्य है।

सूक्त-३

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

१५७९. शग्ध्यू ३ षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥ १ ॥

हे प्रभो! **शग्धि**=आप शक्तिशाली हैं। **सु शचीपते**=उत्तम शक्तियों के स्वामिन्! **इन्द्र**=परमैश्वर्य-शाली प्रभो! आप **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों से युक्त हो। हम **न हि भगम्**=धन के पीछे नहीं, अपितु **शूर**=हे सब शत्रुओं के शीर्ण करनेवाले प्रभो! **यशसम्**=सब यशों से युक्त **वसुविदम्**=निवास के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त करानेवाले **त्वा**=आपका **अनुचरामसि**=अनुगमन करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के अनुयायी बनें।

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

हिरण्यय उत्स

१५८०. पौरो अश्वस्य पुरुकृद्गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः।
न किर्हि दानं परिमर्धिषत् त्वे यद्यद्यामि तदा भर ॥ २ ॥

प्रभु का अनुयायी बनकर मनुष्य तेजस्वी बनता है—तेजस्वी क्या वह 'भर्गः'=तेज ही बन जाता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आप मेरी **अश्वस्य**=कर्मेन्द्रियों का **पौरः**=पूरण करनेवाले हो तथा **गवाम् पुरुकृत् असि**=ज्ञानेन्द्रियों की भी पूर्णता करनेवाले हो। 'घोड़ों और गौवों को देनेवाले हो' यह अर्थ भी सङ्गत ही है। घोड़े शक्ति के प्रतीक हैं और गौवें ज्ञान की। प्रभु मेरी कर्मेन्द्रियों को सशक्त बनाते हैं और ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान से भरपूर। हे **देव**=ज्ञान से दीप्त प्रभो! आप तो **हिरण्ययः उत्सः**=ज्ञानमय स्रोत हो। ज्ञान के उस स्रोतरूप प्रभु से निरन्तर ज्योति का प्रवाह चलता है और मेरे जीवन को द्योतित करता है।

हे प्रभो! **त्वे दानम्**=आपके इस ज्योतिर्दान को **हि**=निश्चय से **न किः परिमर्धिषत्**=कोई भी नष्ट नहीं कर सकता। प्रभु से दी गयी ज्योति को मुझसे कौन छीन सकता है?

हे प्रभो! **यत् यत् यामि**=मैं, आपका सच्चा भक्त बनकर, जो कुछ माँगता हूँ **तत् आभार**=उसे आप मुझे प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु ज्योति के स्रोत हैं, उस स्रोत में स्नान कर मैं अधिक-से-अधिक निर्मल व तेजस्वी बनूँ।

सूक्त-४

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

धन के उत्तम विनियोग

१५८१. त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये।
उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये ॥ १ ॥

२४० संख्या पर मन्त्रार्थ इस रूप में दिया गया है—

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **चेरवे**=निरन्तर क्रियाशील मेरे लिए **एहि**=आइए और **वसुत्तये**=धन के दान के लिए (वसुदाति) मुझे **भगं विदाः**=ऐश्वर्य प्राप्त कराइए। हे **मघवन्**=निष्पाप ऐश्वर्यवाले प्रभो! **उत् वावृषस्व**=इस धन की आप मुझपर खूब ही वर्षा कीजिए, जिससे **गविष्टये**=मेरी ज्ञानेन्द्रियों का यज्ञ ठीक चले। हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **उत् (वावृषस्व)**= निश्चय से धन बरसाइए ही, जिससे **अश्वमिष्टये**=कर्मेन्द्रियों का यज्ञ ठीक चले।

भावार्थ—प्रभु से प्राप्त धन को मैं दान, ज्ञान-यज्ञ व कर्मयज्ञ में विनियुक्त करूँ।

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

पुरन्दर का गान

१५८२. त्वं पुरू सहस्राणि शतानि च यूथा दानाय मंहसे।
आ पुरन्दरं चकृम विप्रवचस इन्द्रं गायन्तोऽवसे ॥ २ ॥

हे प्रभो **त्वम्**=आप **पुरू सहस्राणि**=बहुत, हज़ारों व **शतानि च**=सैकड़ों **यूथा**=गौवों व अश्वों के समूहों को **दानाय**=दान के लिए **मंहसे**=देते हैं। हम **विप्रवचसः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले वचनोंवाले बनकर **गायन्तः**=गायन करते हुए **अवसे**=अपनी रक्षा के लिए **पुरन्दरम्**=असुरों की तीनों पुरियों का विदारण करके इन्द्रियों, मन व बुद्धि को शुद्ध करनेवाले **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली

प्रभु को **आ**=अपने सब ओर **चकृम**=करते हैं, प्रभु से सर्वतः व्याप्त होकर हम असुरों से आक्रान्त हो ही कैसे सकते हैं ?

यह मन्त्र भर्ग ऋषि के लिए निम्न बोध दे रहा है—

१. हम प्रभु से प्राप्त गौवों व अश्वों का दान करनेवाले हों।

२. हमारे वचन सदा उत्तम प्रेरणा देते हुए हमारा पूरण करनेवाले हों।

३. हम सदा प्रभु के गायन द्वारा अपनी रक्षा करें।

४. वे प्रभु पुरन्दर हैं। कामादि आसुर वृत्तियाँ इन्द्रियों, मन व बुद्धि में अपना अधिष्ठान बना लेती हैं और इस प्रकार वे तीन आसुर पुरियाँ बन जाती हैं। हम प्रभु की स्तुति करते हैं तो ये तीनों आसुर पुरियाँ नष्ट हो जाती हैं और हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि फिर से पवित्र हो जाते हैं।

५. हम सदा अपने चारों ओर प्रभु को अनुभव करें। उस अमृत से व्याप्त होकर हम मृत्यु का शिकार न होंगे।

भावार्थ—प्रभु-तेज से तेजस्वी बनकर हम सचमुच प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि भर्ग बनें।

सूक्त-५

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रथम कर्त्तव्य (प्रभु-प्रार्थना)

१५८३. यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम्।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये॥ १ ॥

४४ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार से हैं—

यः=जो **होता**=दाता **विश्वा वसु**=निवास के साधनभूत सब पदार्थों को **दयते**=देता है, और इस प्रकार **जनानाम्**=मनुष्यों को **मन्द्रः**=आह्लादित करनेवाला है, **अस्मै**=इस **अग्नये**=अग्नि के लिए **प्रथमानि**=सबसे पहले अतिथि को प्राप्त कराये जाते हुए **मघोः पात्रा न**=मधु के पात्रों की भाँति **स्तोमाः**=स्तुतिसमूह **प्रयन्ति**=प्रकर्षेण प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हमारे दैनन्दिन जीवन में हमारा प्रथम कर्त्तव्य यही है कि हम प्रभु-स्तवन करें।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

आत्म-शोधन

१५८४. अश्वं न गीर्भी रथ्यं सुदानवो मर्मृज्यन्ते देवयवः।
उभे तोके तनये दस्म विश्पते पर्षि राधो मघोनाम्॥ २ ॥

सुदानवः=उत्तम दान देनेवाले तथा **देवयवः**=दिव्य गुणों को अपने साथ जोड़ने की कामनावाले **गीर्भिः**=वेदवाणियों के द्वारा **रथ्यं अश्वं न**=रथ को खींचने में साधु अश्व के समान अपने को **मर्मृज्यन्ते**=खूब ही शुद्ध करते हैं।

आत्म-शुद्धि के लिए 'दान' और 'दिव्य गुणों की कामना' ये दोनों ही बातें आवश्यक हैं। तीसरी बात आत्मशोधन वेदवाणियों के द्वारा होता है, अर्थात् आत्मशोधन के लिए स्वाध्याय भी

उतना ही आवश्यक है। इन तीन बातों के अतिरिक्त आत्मशुद्धि के लिए यह विचार भी सहायक होता है कि मुझे रथ में जुते हुए घोड़े के समान अपने को समझना है—अपनी इस जीवन-यात्रा को मुझे अवश्य पूरा करना है। ऐसा निश्चय होने पर मनुष्य विलासों में नहीं फँसता।

हे **दस्म**=सब दुःखों के विनाशक व दर्शनीय प्रभो! **विश्पते**=सब प्रजाओं के पालन करनेवाले प्रभो! हमें **तोके तनये**=पुत्र व पौत्र **उभे**=दोनों के निमित्त **मघोनाम्**=पापशून्य ऐश्वर्यवालों का **राधः**= जीवन-यात्रा साधक धन (राध्=सिद्धि) **पर्षि**=दीजिए।

मनुष्य कई बार आर्थिक संघर्ष के कारण भी अध्यात्म मार्ग पर नहीं चल पाता। अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण भी हो जाती हैं तो पुत्र-पौत्रों के लिए धन जुटाने की कामना होती है, अतः मन्त्र में प्रार्थना है कि निर्धनता भी हमारे आत्मशोधन के मार्ग में रुकावट न हो! हमें परिवार-पोषण के लिए आवश्यक धन तो मिल ही जाए। इस ओर से निश्चिन्त होकर हम 'दान, दिव्य गुणों की कामना, स्वाध्याय तथा अपने को यात्री समझने की भावना के पोषण' से अपने जीवन को अधिकाधिक शुद्ध करने में लगे रहें।

भावार्थ—आत्मशोधन करते हुए हम सचमुच 'सोभरि'=(सु+भर=One who plays his part well) बनें।

सूक्त-६

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वरुण का आवाहन

१५८५. इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय। त्वामवस्युरा चके॥ १॥

हे **वरुण**=मेरे जीवन को श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! **मे इमं हवम् श्रुधि**=मेरी इस पुकार व प्रार्थना को आप सुनिए। **अद्य च**=और आज ही **मृडय**=मेरे जीवन को सुखी कीजिए। **अवस्युः**=आत्मरक्षण चाहता हुआ मैं **त्वाम् आचके**=आपकी स्तुति करता हूँ (कै शब्दे)।

उल्लिखित अर्थ में यह बात सुव्यक्त है कि यदि हम अपने जीवन को सुखी बनाना चाहते हैं तो प्रभु का सदा आवाहन करें। प्रभु की प्रार्थना हमारे जीवन-पथ को सुन्दर बनाकर हमें अवश्य सुखी करेगी।

जब हम प्रभु का गायन करते हैं तब आसुरी वृत्तियाँ हमारे समीप फटकने नहीं पातीं। फलस्वरूप हमारा जीवन अपवित्र न होकर पवित्र, पवित्रतर व पवित्रतम होता जाता है और उसी अनुपात में वह सुखी भी होता जाता है। इस प्रकार सुख का निर्माण करनेवाले हम 'शुनःशेप' होते हैं (शुन=सुख, शेप-निर्माण)।

भावार्थ—प्रभु वरुण हैं, सब बुराइयों का वारण करनेवाले हैं। उन्हीं की स्तुति हमारे अशुभ का निवारण कर हमें सुखी बनाएगी।

सूक्त-७

ऋषिः—**सुकक्षः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अचिन्त्य-रक्षण

१५८६. कया त्वं न ऊत्याभि प्र मन्दसे वृषन्। कया स्तोतृभ्य आ भर॥ १॥

वृषन्=हे सब सुखों की वर्षा करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **कया ऊत्या**=अनिर्वचनीय (Indescribable) या अत्यन्त आनन्दमय रक्षण के द्वारा **अभिप्रमन्दसे**=इहलोक व परलोक में आनन्दित करते हो। प्रभु की रक्षा से सुरक्षित होकर हम ऐहलौकिक व पारलौकिक हितसाधन कर पाते हैं। हे प्रभो! **कया**=अपने उसी आनन्दप्रद रक्षण से **स्तोतृभ्यः**=अपने स्तोताओं के लिए **आभर**=जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन का भरण करो। आप अपने भक्तों के योगक्षेम को चलाते ही हो। हम भक्तों को भी आप उदर-भरण के लिए व्यग्र न कीजिए। इस चिन्ता से मुक्त रहकर हम सदा आपके निर्देशों के अनुसार अपने जीवन को चलाने के प्रयत्न में लगे रहें। आपकी शरण ही सर्वोत्तम शरण है उसमें रहते हुए हम इस मन्त्र के ऋषि 'सुकक्ष' बनें।

भावार्थ—हम सदा प्रभु के रक्षण में विश्वास रखनेवाले आस्तिक पुरुष बनें।

सूक्त-८

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

चतुर्विध पुरुषार्थ

१५८७. इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥ १ ॥

देवतातये=देवत्व की वृद्धि के लिए हम **इन्द्रम्**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभु को **इत्**=ही **हवामहे**=पुकारते हैं। मानसक्षेत्र में **प्रयति**=चल रहे **अध्वरे**=हिंसाशून्य यज्ञिय भावना के निमित्त **इन्द्रम्**=आसुर भावनाओं का द्रावण करनेवाले प्रभु को पुकारते हैं। **समीके**=रोगों व वीर्यशक्ति में चलनेवाले संग्राम में **वनिनः**=विजय चाहनेवाले हम **इन्द्रम्**=शक्ति के पुञ्ज प्रभु को पुकारते हैं और अन्त में **धनस्य सातये**=धन की सम्प्राप्ति के लिए भी **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यवाले प्रभु को ही पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम देवत्व, यज्ञिय भावना, नीरोगता व धन प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शब्द से निर्माण

१५८८. इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत्।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दवः ॥ २ ॥

१. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली इन्द्र **मह्नाम्**=अपनी महिमा से **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **शवः पप्रथत्**=अपने बल का विस्तार करते हैं। ब्रह्माण्ड के कण-कण में उस प्रभु की शक्ति कार्य करती हुई दृष्टिगोचर होती है।

२. **इन्द्रः**=वह प्रभु ही तो **सूर्यम्**=सूर्य को **अरोचयत्**=प्रकाशवाला कर रहा है। '**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रदारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतो यमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**'—उस प्रभु को सूर्य, चन्द्र, तारे व विद्युत् प्रकाशित नहीं करते। इस अग्नि ने तो प्रकाशित करना ही क्या? उसी की दीप्ति से ये सब दीप्त हो रहे हैं, वही इन सबको दीप्त कर रहा है।

३. **ह**=निश्चय से **इन्द्रे**=उस महान् नियामक, शासक प्रभु में ही **विश्वा भुवनानि**=सब लोक-

लोकान्तर **येमिरे**=नियमित हुए हैं। उसी की व्यवस्था में ये सब लोक चल रहे हैं।

४. **इन्द्रे**=उस शक्तिशाली प्रभु में **इन्दवः**=बड़े शक्तिशाली **स्वानासः**=शब्द हैं। इन शब्दों से ही उस प्रभु ने पृथक्-पृथक् संस्थाओं (सूर्य आदि आकृतियों) का निर्माण किया है।

भावार्थ—मेधातिथि=समझदार व्यक्ति वही है जो कण-कण में प्रभु की शक्ति का अनुभव करता है।

सूक्त-९

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विश्वकर्मा भौवन

१५८९. विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व तन्वा३ स्वा हि ते।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वकर्मा भौवन' है—भुवन के हित के लिए व्यापक कर्मों में लगा हुआ। इस विश्वकर्मा से प्रभु कहते हैं—

१. हे **विश्वकर्मन्**=सदा कर्मों में प्रविष्ट तथा व्यापक कर्मोंवाले जीव! तू **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, त्यागपूर्वक उपभोग से, यज्ञशेष खाने से **वावृधानः**=सदा वृद्धि को प्राप्त करता हुआ **तन्वाम्**=इस शरीर में—इस मनुष्ययोनि में **स्वयम्**=आत्मा को—अपने आपको **यजस्व**=प्राणिहित में अर्पित कर दे। **हि**=निश्चय से **ते स्वा**=यही शरीर तेरा अपना है, अन्य पशु-पक्षियों के शरीर तो भोगयोनिमात्र हैं। वे कर्मयोनि न होने से स्वातन्त्र्यवाले नहीं हैं। इस मानवशरीर में ही तू स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म कर सकता है।

अभितः=तेरे आगे-पीछे **अन्ये जनासः**=सामान्य लोग **मुह्यन्तु**=बेशक नासमझ बनें। वे यज्ञमय जीवन के महत्त्व को न समझकर चाहे स्वार्थ में फँसे रह जाएँ, परन्तु **इह**=इस मानवजीवन में **अस्माकम्**=हमारा यह विश्वकर्मा तो **मघवा**=यज्ञमय जीवनवाला (मखवान् ह वै तं मघवान् इत्याचक्षते परोक्षन्—श० १४.१.१.१३) तथा **सूरिः**=विद्वान्, समझदार **अस्तु**=हो। यह स्वार्थ में ही रमे रहने की ग़लती न करे।

भावार्थ=समझदार पुरुष सदा परार्थ में ही स्वार्थ को देखता है और इसलिए इस मनुष्य-जन्म को पाकर अपने को यज्ञ के लिए अर्पित कर देता है। उसके चारों ओर स्वार्थ का साम्राज्य होता है परन्तु यह मूढ़ न बनकर यज्ञशील ही बना रहता है।

सूक्त-१०

ऋषिः—**अनानतः पारुच्छेपिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

१५९०. अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः।
धारा पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः। विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः
सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः॥ १ ॥

यह मन्त्र ४६३ संख्या पर व्याख्यात हो चुका है।

ऋषिः—**अनानतः पारुच्छेपिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अनानत पारुच्छेपिः

१५९१. प्राचीमनु प्रदिशं याति चेकितत्सं रश्मिभिर्यतते दर्शतो रथो दैव्यो दर्शतो रथः। अग्मन्नुक्थानि पौंस्येन्द्रं जैत्राय हर्षयन्। वज्रश्च यद्भवथो अनपच्युता समत्स्वनपच्युता ॥ २ ॥

मन्त्र का ऋषि 'अनानत'—शत्रुओं से न दबनेवाला, 'पारुच्छेपि'=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिवाला है। १. यह **चेकितत्**=उत्तम ज्ञानवाला—सदा चेतना में रहनेवाला होता हुआ—अपने स्वरूप को न भूलता हुआ **प्राचीं प्रदिशम्**=प्रकृष्ट पूर्व दिशा के **अनुयाति**=पीछे चलनेवाला होता है। प्राची दिशा (प्र अञ्च्=अग्रगति) आगे बढ़ने की दिशा है। इसमें उदय होकर सूर्य आदि ज्योतिष्पिण्ड आगे और आगे बढ़ते चलते हैं। यह भी अपने स्वरूप का स्मरण रखता हुआ निरन्तर आगे बढ़ने का ध्यान करता है।

२. इस अनानत—विघ्नों से न दबनेवाले का **दर्शतः रथः**=रमणीय शरीररूप रथ **रश्मिभिः**=ज्ञान-किरणों के साथ, अर्थात् प्रकाशयुक्त हुआ **संयतते**=सम्यक्तया अग्रगति के लिए यत्नशील होता है।

३. इसका यह **दर्शतः रथः**=दर्शनीय स्वस्थ शरीर **दैव्यः**=उस देव प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है। अनानत अपने शरीर को स्वास्थ्य के द्वारा सदा सुन्दर बनाता है, उसे ज्ञान की रश्मियों से प्रकाशित करता है और आगे बढ़ता हुआ प्रभु तक पहुँचने के लिए यत्नशील होता है।

४. इस अनानत को **पौंस्या**=शक्तिशाली **उक्थानि**=स्तोत्र **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं, अर्थात् यह सबल बनता है और प्रभु का स्तवन करता है।

५. इस **इन्द्रम्**=शक्ति से शत्रुओं का द्रावण करनेवाले अनानत इन्द्र को **जैत्राय**=विजय के लिए **हर्षयन्**=वे प्रभु उत्साहित करते हैं। जिस प्रकार उत्तम कार्य में लगे सन्तान को माता-पिता उत्साहित करते हैं, उसी प्रकार इस अनानत को प्रभु से उत्साह मिलता है।

६. बस अब तो **यत्**=जबकि इस अनानत को प्रभु का साहाय्य भी प्राप्त हो गया, **वज्रः च भवतः**=ये वज्र-तुल्य हो जाते हैं। अब तो **अनपच्युता**=ये किसी भी प्रकार शत्रुओं से नष्ट नहीं किये जा सकते। **समत्सु**=काम-क्रोधादि के साथ संग्रामों में **अनपच्युता**=ये नष्ट नहीं किये जा सकते। ये शत्रुओं के लिए अजय्य हो जाते हैं।

भावार्थ—हम भी अपना जीवन 'अनानत पारुच्छेपि' के जीवन-जैसा ही बनाएँ।

ऋषिः—**अनानतः पारुच्छेपिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अनानत की जीवनचर्या

१५९२. त्वं ह त्यत्पणीनां विदो वसु सं मातृभिर्मर्जयसि स्व आ दम ऋतस्य धीतिभिर्दमे। परावतो न साम तद्यत्रा रणन्ति धीतयः। त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो वयो दधे ॥ ३ ॥

सन्मार्ग से धन—१. हे अनानत! **त्वं ह**=तू निश्चय से **त्यत्**=उस **पणीनाम्**=स्तुत्य व्यवहार-

वालों के **वसु**=धन को **विदः**=प्राप्त करता है, अर्थात् अनानत उत्तम मार्ग से ही धन कमाता है।

गौओं से पवित्रता—२. **मातृभिः**=गौओं के द्वारा **स्वे दमे**=अपने घर में **सम् आ मर्जयसि**=सब ओर सम्यक् शुद्धि करता है। घर की पवित्रता यदि गोमय के लेपनादि से होती है तो गोदुग्ध के सेवन से शरीर की नीरोगता, मन की निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता का सम्पादन होता है।

सत्य—३. घर में पवित्रता का सम्पादन **ऋतस्य**=सत्य के **धीतिभिः**=धारण से भी होता है। जहाँ सत्य व्यवहार हो वहाँ पवित्रता बनी रहती है। 'ऋत' का अभिप्राय नियम-परायणता भी है। 'समय पर सब कार्य किये जाएँ' इससे भी शरीर पवित्र बना रहता है।

सामोच्चारण—४. **दमे**=घर में **परावतो न साम**=साम कभी दूर नहीं होता, अनानत के घर में सदा सामों का उच्चारण होता है। इस घर से **तत्**=वह साम **न परावतः**=दूर नहीं होता **यत्र**=जिस साम में **धीतयः**=ध्यान करनेवाले उपासक **आरणन्ति**=प्रभु के गुणों का उच्चारण करते हैं।

५. यह अनानत **अरुषीभिः**=न हिंसित करनेवाली **त्रिधातृभिः**=वात, पित्त व कफ़—इन तीन धातुओं से **वयः**=आयु को **दधे**= धारण करता है। **रोचमानः**=बड़ा चमकता हुआ—तेज से दीप्त होता हुआ **वयः दधे**=आयुष्य को धारण करता है।

भावार्थ—हमारे घरों में निम्न पाँच बातें अवश्य हों—१. उत्तम व्यवहार से कमाया हुआ धन, २. गौओं का निवास—गोदुग्ध सेवन, ३. सत्य व नियमित व्यवहार, ४. साममन्त्रों द्वारा प्रभु स्तवन तथा ५. धातुसाम्य द्वारा स्वस्थ, दीप्त जीवन।

सूक्त-११

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गौवें, अश्व व वाज

१५९३. उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत। नृवत्कृणुह्यूतये ॥ १ ॥

हे प्रभो! **नृवत्**=एक नेता (ना=leader), सञ्चालक की भाँति **नः**=हमारी **धियम्**=बुद्धि व कर्मों को **गोषणिम्**=ज्ञान का सम्भजन—सेवन करनेवाला **उत**=और **अश्वसाम्**=कर्मों का सेवन करनेवाला **उत**=और **वाजसाम्**=शक्ति प्राप्त करनेवाला **कृणुहि**=कीजिए, जिससे **ऊतये**=हमारी रक्षा हो। आसुरी वृत्तियों के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए आवश्यक है कि हम सदा ज्ञान, कर्म व शक्ति प्राप्त करने का विचार करें। इसके विचार व आचार (प्रज्ञान व कर्म) इन्हीं तीन की प्राप्ति के अनुकूल हों। हम सदा इन्हें ही अपना लक्ष्य बनाये रक्खें।

इन्हीं की प्राप्ति के लिए हम घरों में गौवों (ज्ञान के लिए) घोड़ों (कर्म के लिए) तथा अन्नों—वाजों (शक्ति के लिए) को प्राप्त करनेवाले बनें। हे प्रभो! नेता तो आप ही हैं—आप ही को मुझे इस मार्ग पर ले-चलना है। आपकी कृपा से ही मेरे विचार व आचार इन्हीं की प्राप्ति में लगे रहेंगे और मैं सब प्रकार की वासनाओं से बच जाऊँगा।

भावार्थ—वाजों को अपने अन्दर भरनेवाले हम इस मन्त्र के ऋषि भरद्वाज बनें।

सूक्त-१२

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

धर्माविरुद्ध काम

१५९४. शशमानस्य वा नरः स्वेदस्य सत्यशवसः। विदा कामस्य वेनतः ॥ १ ॥

अपनी इन्द्रियों को उत्तम बनानेवाले मनुष्य 'गो-तम'=प्रशस्तेन्द्रिय कहलाते हैं। ये ही अपने जीवन में आगे बढ़ने के कारण 'नरः' हैं (नृ नये)। इन नर व्यक्तियों से प्रभु कहते हैं—

नरः=हे मनुष्यो! **कामस्य विद**=तुम काम—इच्छा को प्राप्त करो, परन्तु किस पुरुष की इच्छा को? १. **शशमानस्य**=प्लुत गतिवाले मनुष्य की इच्छा को। उस मनुष्य की कामना को जो पुरुषार्थ में किसी प्रकार की कमी नहीं करता। २. **स्वेदस्य**=जो परिश्रम करके पसीने से तर-बतर हो जाता है—'**न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः**'=देवता इस परिश्रम से चूर-चूर हुए-हुए पुरुष की ही मित्रता के लिए होते हैं। ३. **सत्यशवसः**=सत्य के बलवाले की। तुम कभी भी उस पुरुष की कामना को प्राप्त मत करो जो असत्य से कमाने का प्रयत्न करता है। ४. **वा**=तथा **वेनतः**=मेधावी तथा यज्ञशील की। मूर्ख मनुष्य की कामना तो अनुपादेय है ही, परन्तु साथ ही स्वार्थ में रत पुरुष की कामना भी हमारी न हो।

कामना तभी ठीक है यदि यह निम्न बातों से समवेत हो—

१. क्रियाशीलता, २. श्रम, ३. सत्य तथा ४. बुद्धिमत्ता और लोकहित की भावना। इन बातों से युक्त 'काम' धर्माविरुद्ध है—यह हममें प्रभु का रूप है। यही काम पवित्र है। यही हमें सदा लोकहित के व्यापक कर्मों में प्रवृत्त रखता है और हमारी इन्द्रियाँ पवित्र बनी रहती हैं।

भावार्थ—हममें काम हो, परन्तु वह धर्माविरुद्ध हो। उसके साथ पुरुषार्थ, श्रम, सत्य, बुद्धिमत्ता तथा यज्ञिय भावना जुड़ी हुई हों।

सूक्त-१३

ऋषिः—**ऋजिश्वाः**॥ देवता—**विश्वदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'अमृत वाणी' के उपदेष्टा

१५९५. उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये। सुमृडीका भवन्तु नः॥ १॥

ये=जो **अमृतस्य गिरः**=अमृतवाणी के **सूनवः**=प्रेरक हैं वे **नः**=हमारी प्रार्थनाओं को **उपशृण्वन्तु**=समीपता से सुनें और इस प्रकार **नः**=हमारे लिए **सुमृडीकाः**=उत्तम सुख देनेवाले **भवन्तु**=हों।

प्रभु की वेदवाणी अमृत-वाणी है, '**न ममार न जीर्यति**'=यह न कभी मरती है, न जीर्ण होती है। सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा के हृदयों में प्रकाशित की जाती है और उनके द्वारा सर्वत्र इसका प्रचार होता है। प्रलय के प्रारम्भ में उसी प्रभुरूप कोश में यह फिर निहित हो जाती है। यह अजरामर वाणी जीव के हित के लिए सदा उपदिष्ट होती है।

हमारी यह कामना है कि इस वेदवाणी के उपदेष्टा लोग ध्यान से हमारी प्रार्थना को सुनें। हमारी प्रार्थना को सुनकर ये हमें उस वेदवाणी का श्रवण कराएँ तथा हमारा कल्याण सिद्ध करनेवाले हों।

ये वेदोपदेष्टा उस सरल मार्ग का हमें उपदेश दें जो हमें ब्रह्म की ओर ले-जाता है '**आर्जव ब्रह्मणः पदम्**=सरलता ही तो प्रभु का मार्ग है। इस सरल मार्ग पर चलकर हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'ऋजिष्वा' बनें जो ऋजुता=सरल मार्ग से श्वयति=चलता है।

भावार्थ—अमृतवाणी के उपदेष्टाओं से सरल मार्ग का ज्ञान प्राप्त करके हम प्रभु की ओर चलें और अपने कल्याण को सिद्ध करें।

सूक्त-१४

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

द्युलोक और पृथिवीलोक

१५९६. प्र वां महि द्यवी अभ्युपस्तुतिं भरामहे। शुची उप प्रशस्तये ॥ १ ॥

हे **महि द्यवी**=पृथिवीलोक और द्युलोक! **वाम्**=आप दोनों की **अभ्युपस्तुतिम्**=स्तुति का **प्र भरामहे**=खूब सम्पादन करते हैं। **शुची**=आप दोनों पवित्र व दीप्त हो। **उप प्रशस्तये**=आपकी समीपता से अपने जीवन को प्रशस्त बनाने के लिए हम ऐसा करते हैं।

द्युलोक व पृथिवीलोक की स्तुति का स्वरूप यही होता है कि "द्यौः उग्रा, पृथिवी च दृढा"= द्युलोक उग्र—तेजस्वी है तथा पृथिवीलोक बड़ा दृढ़ है। अध्यात्म में मस्तिष्क ही द्युलोक के समान ब्रह्म-विद्यारूप सूर्य से जगमगाता हो तथा विज्ञान के नक्षत्रों से वह चमकनेवाला हो, इसी प्रकार हमारा शरीर पृथिवी के समान दृढ़ हो। पृथिवी जैसे वर्षाकणों व ओलों के प्रहारों को सहती है और नाममात्र भी विकृत नहीं होती, उसी प्रकार हमारा यह शरीर सर्दी-गर्मी, वायु वा वर्षा को सहनेवाला हो! यह पृथिवी के समान ही (प्रथ विस्तारे) विस्तृत हो। 'मस्तिष्क दीप्त, शरीर दृढ़ व विस्तृत' यही तो आदर्श मनुष्य का लक्षण है। एवं, हम द्युलोक व पृथिवीलोक की उपासना से अपने जीवन को प्रशस्त बनाते हैं।

द्युलोक 'पुरुमीढ' है—यह पालन व पोषण करनेवाली (पुरु) वर्षा का (मीढ) सेचन करनेवाला है और पृथिवी 'अजमीढ' है 'अजाः=व्रीहयः, मीढाः=सिक्ता यज्ञे यत्र—जहाँ सप्त वार्षिक व्रीहि आदि ओषधियाँ यज्ञ में डाली जाती हैं। इनका स्तोता भी पालक ज्ञान की वर्षा करनेवाला होने से 'पुरुमीढ' होता है और अन्नादि दान करनेवाला होने से 'अजमीढ' होता है। द्युलोक की भाँति यह प्रकाश देता है और पृथिवीलोक की भाँति अन्नादि देनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम द्युलोक के स्तोता बनकर अपने मस्तिष्क को ज्ञान से द्योतित करें तथा पृथिवीलोक के स्तोता बनकर अपने शरीर को दृढ़ बनाएँ।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सनातन यज्ञ

१५९७. पुनाने तन्वा मिथः स्वेन दक्षेण राजथः। ऊह्याथे सनादृतम् ॥ २ ॥

द्युलोक वृष्टि व प्रकाश से पृथिवी को पवित्र करता है और पृथिवी 'अज' (व्रीहि) आदि यज्ञिय ओषधियों को जन्म देकर यज्ञों द्वारा द्युलोक को पवित्र करती है। इस प्रकार ये दोनों लोक एक-दूसरे के पावक हैं। मन्त्र में कहते हैं कि ये दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक **मिथः**=आपस में **तन्वा**=अपने शरीरों को (स्वरूपों को) **पुनाने**=पवित्र करते हुए **स्वेन दक्षेण**=अपने बल व वृद्धि से **राजथः**=दीप्त होते हैं। पृथिवी द्युलोक के बल को बढ़ाती है और द्युलोक पृथिवी के बल को बढ़ाता है। पृथिवी यज्ञिय ओषधियों को जन्म देकर अग्नि के मुख से उन ओषधियों को द्युलोक में पहुँचाती हैं, और द्युलोक वर्षा के द्वारा पृथिवी की उत्पादन शक्ति को बढ़ाता है। इस क्रम से ये दोनों लोक **सनात् ऋतम्**=इस सनातन यज्ञ को **ऊह्याथे**=वहन कर रहे हैं, अर्थात् इन दोनों लोकों का यह परस्पर भावन करनेवाला यज्ञ चल रहा है।

हम स्तोताओं के अध्यात्म में भी मस्तिष्क शरीर का धारण करनेवाला बने तथा शरीर मस्तिष्क

का। स्वस्थ विचार शरीर को स्वस्थ बनाएँ तथा शरीर का स्वास्थ्य मस्तिष्क की विचारशक्ति को पवित्र करे। (A Sound mind in a sound body) स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मनवाले बनकर हम भी द्युलोक व पृथिवीलोक के सच्चे स्तोता बनें।

भावार्थ—हमारा शरीर स्वस्थ हो, उस स्वस्थ शरीर में हम स्वस्थ मन को धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मित्र की साधना

१५९८. मही मित्रस्य साधथस्तरन्ती पिप्रती ऋतम्। परि यज्ञं नि षेदथुः ॥ ३ ॥

द्युलोक व पृथिवीलोक का उपासक 'मित्र' है १. यह ज्ञान व शरीर की दृढ़ता के द्वारा 'प्रमीतेः त्रायते'=असमय की मृत्यु से अपने को बचाता है। २. ज्ञान के कारण ही यह 'संमिन्वानो द्रवति'—इस संसार में प्रत्येक क्रिया को माप-तोल कर करता है तथा ३. इस मेदिनी=पृथिवी के सम्पर्क में आकर 'मेदयते' सबके साथ स्नेह करता है, यह सम्पूर्ण पृथिवी का नागरिक बन जाता है, इसे सभी से प्रेम होता है।

मही=ये महनीय द्युलोक व पृथिवीलोक **मित्रस्य**=इस मित्र की **साधथः**=साधना को पूर्ण करते हैं। **तरन्ती**=ये उसे सब विघ्न-बाधाओं से पार करते हैं और **ऋतम् पिप्रती**=उसके अन्दर यज्ञ की भावना को भरते हैं।

ये द्युलोक व पृथिवीलोक स्वयं भी तो **यज्ञं परिनिषेदथुः**=सर्वतः यज्ञ का आश्रय करते हैं। अपने उपासक के जीवन को भी ये यज्ञ की भावना से पूर्ण करते हैं।

भावार्थ—हम मित्र बनकर द्युलोक व पृथिवीलोक के सच्चे उपासक बनें। ज्ञान व दृढ़ता ही वे दो गुण हैं जो हमें सब विघ्न-बाधाओं से पार करेंगे।

सूक्त-१५

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान-नौका से भवसागर को तैरना

१५९९. अयमु ते समतसि कपोतइव गर्भधिम्। वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥ १ ॥

१८३ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

अयम् उ ते=मैं निश्चय से अब आपका हूँ। आप भी मुझे **सम् अतसि**=अच्छी प्रकार प्राप्त होते हो। अब मैं **गर्भधिम्**=इस जन्म-मरण के आवर्तोंवाले समुद्र को **इव**=उस व्यक्ति की भाँति पार कर लेता हूँ जिसने कि **कपोतः**=मस्तिष्क व ज्ञान को ही अपनी नाव बनाया है। हे प्रभो! **नः**=हमें **तत् वचः चित्**=वेदज्ञान के वचन भी तो **ओहसे**=आप ही प्राप्त कराते हो।

भावार्थ—ज्ञान-नौका से भवसागर को तैर कर हम सच्चे सुख का निर्माण करनेवाले 'शुनःशेप' बनें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूनृत विभूति

१६००. स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते। विभूतिरस्तु सूनृता ॥ २ ॥

गत मन्त्र में शुन:शेप ने ज्ञान के वचनों को प्राप्त कराने के लिए प्रार्थना की थी। उस प्रार्थना को स्वीकार करते हुए प्रभु शुन:शेप से कहते हैं—हे **वीर**=कामादि शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले! **राधानां पते**=सफलताओं के पति शुन:शेप! **गिरवाहः**=वेदवाणियों को धारण करनेवाले **यस्य ते**=जिस तेरा **स्तोत्रम्**=यह स्तुतिवचन है, अर्थात् जो तू प्रभु की स्तुति करने में प्रवृत्त है, उस तेरी **विभूतिः**=समृद्धि **सूनृता अस्तु**=प्रिय व सत्य हो।

प्रभु का स्तोता बनने के लिए आवश्यक है कि हम १. वीर हों—कामादि शत्रुओं को दूर भगानेवाले हों। २. कर्मों को इस प्रकार कुशलता व समझदारी से करें कि हमें सफलता-ही-सफलता मिले। ३. वेदवाणियों को धारण करनेवाले बनें तथा ४. हमारी समृद्धि प्रिय व सत्य हो—अर्थात् हम क्रूरता व अन्याय से धन जुटानेवाले न हों।

सच्चे स्तोता बनने के लिए आवश्यक ये चार बातें ही हमारे जीवन को सचमुच सुखी करेंगी और हम सच्चे अर्थों में 'शुन:शेप' बन पाएँगे।

भावार्थ—मैं वीर, राधानां पति, गिर्वाह तथा सूनृत विभूतिवाला बनूँ।

ऋषिः—**शुन:शेप आजीगर्तिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु के साथ वार्तालाप

१६०१. ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन् वाजे शतक्रतो। समन्येषु ब्रवावहै॥ ३॥

पिछले मन्त्र में प्रभु ने शुन:शेप को वीर=शत्रुओं को कम्पित करनेवाला कहा था, अत: 'शुन:शेप' प्रभु से कहता है कि हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व कर्मवाले प्रभो! **अस्मिन् वाजे**=इस संग्राम में—कामादि शत्रुओं से चल रहे युद्ध में **नः ऊतये**=हमारी रक्षा के लिए **ऊर्ध्वः तिष्ठ**=आप हमारे ऊपर स्थित होते हैं। आपकी छत्रछाया में ही तो हम विजय पा सकते हैं। आपका वरद हस्त हमपर न हो तो विजय सम्भव नहीं? इस युद्ध में मैंने आपकी कृपा से विजय पायी। मेरी प्रार्थना यह है कि **अन्येषु**=अन्य संग्रामों में भी हम **संब्रावहै**=मिलकर बातचीत कर सकें। मैं हृदयस्थ आपके मन्त्र को सूनूँ और तदनुसार ही कार्य करता हुआ विजय पानेवाला बनूँ।

हे प्रभो! जब-जब संग्राम का अवसर हो तब-तब मैं आपसे संलाप करनेवाला बनूँ और आपके निर्देश को जान पाऊँ और उसी मार्ग पर चलता हुआ सचमुच 'राधानां पति'=सफलता का स्वामी होऊँ।

भावार्थ—हमें विजय सदा प्रभु-कृपा से ही प्राप्त होती है। हम हृदयस्थ प्रभु से संवाद करनेवाले बनें।

सूक्त-१६

ऋषिः—**हर्यतः प्रागाथः** ॥ देवता—**अग्निर्हवींषि वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु बोलें और मैं सुनूँ

१६०२. गाव उप वदावटे मही यज्ञस्य रप्सुदा। उभा कर्णा हिरण्यया॥ १॥

हृदयस्थ प्रभु से बात करने का प्रसङ्ग गत मन्त्र में था। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि—हे प्रभो! आप **अवटे**=हृदयाकाश में **गावः**=वेदवाणियों का **उपवद**=समीपता से उच्चारण कीजिए। जो वाणियाँ **मही**=महनीय—अर्थ गौरववाली हैं, **यज्ञस्य रप्सुदा**=यज्ञों का उत्तम उपदेश देनेवाली है तथा **उभा कर्णा हिरण्यया**=दोनों कानों के लिए हित और रमणीय हैं।

नोट— *व्याख्या ११७ संख्या पर देखिए।*

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु हित-रमणीय बात का उपदेश दे रहे हैं, हम ध्यान से सुनें।

ऋषिः—**हर्यतः प्रागाथः** ॥ देवता—**अग्निर्हवींषि वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हृदय में मधु-सेचन

१६०३. अभ्यारमिदद्रयो निषिक्तं पुष्करे मधु। अवटस्य विसर्जने ॥ २ ॥

प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला व्यक्ति 'हर्यत' है। यह अपने मित्रों से कहता है कि **अद्रयः**=हे आदरणीय मित्रो! (अद्रयः आदरणीयाः—नि०) **अवटस्य**=काम-क्रोधादि शत्रुओं के आक्रमण से जिसकी रक्षा की गयी है उस हृदय के **विसर्जने**=प्रभु के प्रति अर्पण कर देने पर **पुष्करे**=उत्तम भावनाओं का पोषण करनेवाले इस हृदय में **मधु**=सारभूत तत्त्वज्ञान **निषिक्तम्**=प्रभु के द्वारा सिक्त हुआ है, अतः मैं **इत्**=निश्चय से **अभि**=उस मधु की ओर ही **आरम्**=जाता हूँ।

जिस समय मनुष्य शम-दम आदि के द्वारा अपने हृदय को काम-क्रोधादि के आक्रमण से बचाता है तब वह हृदय 'अवट' (अव रक्षणे) कहलाता है। कामादि के आक्रमण से सुरक्षित होकर उत्तम भावनाओं का पोषण करने से यह 'पुष्कर' होता है। जब जीव अपने हृदय को प्रभु के अर्पण कर देता है तब प्रभु उस हृदय को ज्ञान के मधु से सिक्त कर देते हैं। उस समय यह प्रभुभक्त जिस आनन्द व ज्योति का अनुभव करता है वह अवर्णनीय होता है। यह अपने मित्रों से कहता है कि भाई! मैं तो अब उस ज्योति की ओर चला। आप सब भी चाहो तो उधर ही चलो न? यह भक्त 'हर्यत' है—यह औरों को भी अपने साथ ले-चलने की कामना करता है। हम सब मिलकर प्रभु का स्तवन करें, यही इसकी कामना होती है, अतः यह 'प्रागाथ'='प्रकृष्ट गायनवाला' कहलाता है।

भावार्थ—हम अपने हृदय को परिमार्जित कर प्रभु के प्रति अर्पण करें, प्रभु इसे ज्ञान-मधु से परिपूर्ण कर देंगे।

ऋषिः—**हर्यतः प्रागाथः** ॥ देवता—**अग्निर्हवींषि वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

नम्रता से हृदय को सींचना

१६०४. सिञ्चन्ति नमसावटमुच्चाचक्रं परिज्मानम्। नीचीनवारमक्षितम् ॥ ३ ॥

प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'हर्यत प्रागाथ' **अवटम्**=कामादि के आक्रमण से सुरक्षित अपने हृदय को **नमसा**=नम्रता से **सिञ्चन्ति**=सींच देते हैं, अर्थात् ये बड़े ही नम्र बनते हैं। कामादि शत्रुओं के विजय का भी इन्हें गर्व नहीं होता। इसे तो यह प्रभु कृपा के रूप में ही देखते हैं।

परिज्मानम्=(परि=चारों ओर, ज्मा=गति) इस चारों ओर भटकनेवाले हृदय को ये **उच्चाचक्रम्**=ऊर्ध्वचक्रवाला, अर्थात् ऊर्ध्वगतिवाला करते हैं। ये प्रयत्न करते हैं कि इनका हृदय इधर-उधर विषयों में न भटकता रहे, अपितु उस परम स्थान में, परमपद में प्रतिष्ठित 'परमेष्ठी' की ओर ही गतिवाला हो।

नीचीनवारम्=नीचे की ओर द्वारोंवाले इस हृदय को **अक्षितम्**=ये अहिंसित बनाते हैं। नीचे की ओर जाना यह हृदय की प्रवृत्ति ही है। 'हर्यत' प्रयत्न करता है कि यह उन निचले द्वारों से न जाए, ऊर्ध्वगति को स्थिर रखकर सुरक्षित रहे—'अ-क्षित' रहे।

भावार्थ—१. हम हृदय को नम्रता से ओतप्रोत कर दें। २. इधर-उधर भटकने की बजाय इसे

प्रभु में लगाएँ। ३. इसकी निम्न प्रवृत्तियों को रोककर इसे नष्ट होने से बचाएँ।

सूक्त-१७

ऋषिः—**देवातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

देव की ओर कौन जा रहा है?

१६०५. मा भेम मा श्रमिष्मोग्रस्य सख्ये तव।
महत्ते वृष्णो अभिचक्ष्यं कृतं पश्येम तुर्वशं यदुम्॥ १॥

निरन्तर प्रभु की ओर चलनेवाला (देव+अत्) प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि देवातिथि प्रार्थना करता है कि—

१. **मा भेम**=हम अभय हों। हम न तो डरें, न किसी को डराएँ।

२. **मा श्रमिष्म**=हम थक न जाएँ, अर्थात् हम अनथक कार्य करनेवाले हों। हमारे अन्दर शक्ति हो और हम सदा कार्यों में लगे रहें।

३. हे प्रभो! **उग्रस्य तव**=उदात्त—उत्कृष्ट आपकी **सख्ये**=मित्रता में हमारा निवास हो।

४. **वृष्णः ते**=शक्तिशाली आपका **महत्**=महान् **अभिचक्ष्यम्**=रक्षण-साधन (means of defence) **कृतम्**=किया गया है, अर्थात् हे प्रभो! हमने तो आपको ही अपनी ढाल बनाया है। आपके द्वारा हमने अपने को आसुर आक्रमण से बचाया है।

५. हम अपने को **तुर् वशम्**=हमारी हिंसा करनेवाले इन आन्तर शत्रुओं का नाश करनेवाला तथा **यदुम्**=सदा प्रयत्नशील **पश्येम**=देखें, अर्थात् हम अपने को तुर्वश व यदु बना पाएँ।

मन्त्रार्थ से यह बात स्पष्ट है कि प्रभु की ओर वही व्यक्ति जा रहा है जो—१. निर्भय है। २. अनथक श्रम करनेवाला है। ३. प्रभु को ही अपना मित्र बनाता है। ४. प्रभु को ढाल बनाकर कामादि के आक्रमण से अपनी रक्षा करता है। ५. काम-क्रोधादि को शीघ्र वश में करता है, इसी कार्य के लिए प्रयत्न में लगा रहता है।

भावार्थ—प्रभु हमारी ढाल हों, फिर पराजय का क्या डर?

ऋषिः—**देवातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दूध व शहद

१६०६. सव्यामनु स्फिग्यं वावसे वृषा न दानो अस्य रोषति।
मध्वा सम्पृक्ताः सारघेण धेनवस्तूयमेहि द्रवा पिब॥ २॥

कटिप्रदेश में स्थित 'गर्भधानी' को 'सव्या स्फिग्य' कहा गया है। **सव्यां स्फिग्यं अनु**=गर्भधानी में निवास के पश्चात् जब जीव गर्भ से बाहर आता है तब १. **वृषा**=शक्तिशाली होता हुआ **वावसे**=निवास करता है तथा २. **अस्य**=इसके **दानः**=त्याग की भावना, **न रोषति**=नष्ट नहीं होती (दान का अभिप्राय 'बुराई का खण्डन' तथा 'शोधन' भी है), अतः इस व्यक्ति की बुराई भी सदा दूर होती रहती है तथा इसका शोधन भी होता रहता है, परन्तु यह सब कब और कैसे हो सकता है? इसके

लिए प्रभु का निर्देश है कि **सारघेण मध्वा**=मधु-मक्षिका से संचित किये हुए शहद से **धेनवः**=नवसूतिका गौवों के दूध **संपृक्ताः**=मिलाये गये हैं। **तूयम् एहि**=शीघ्रता से आओ **द्रव**=गतिशील बनो और **पिब**=इनका पान करो।

मनुष्य आलस्य छोड़कर कार्यों में लगे, कुछ व्यायाम करे और फिर शहद मिश्रित दुग्ध का पान करे। ये उपाय हैं ऐसी सन्तान को जन्म देने के जो सदा स्वस्थ, सबल, सुन्दर शरीरवाली रहे तथा शुद्ध मनोवृत्तिवाली बने। ऐसी सन्तानों को प्राप्त करना कौन न चाहेगा, परन्तु उसके निर्दिष्ट उपाय का भी ध्यान रखना चाहिए। दूध और शहद ही सर्वोत्तम भोज्य द्रव्य हैं। ताज़े दूध को तो संस्कृत में 'पीयूषोऽभिनवं पयः'=अमृत कहा गया है तथा शहद अश्विनी देवताओं की प्रिय औषध है—यह शरीर को न अधिक बोझल होने देती है, न अधिक पतला (emaciated)। एवं, दूध व शहद के प्रयोग से हम उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाले होते हैं। गर्भावस्था में सामान्यतः प्रभु की व्यवस्था से ही बच्चा सरदी-गरमी व कब्ज आदि से बचा रहता है और नीरोग रहता है। बाहर आकर भी वह स्वस्थ ही रहेगा—यदि हम दूध व शहद का उचित प्रयोग करेंगे।

स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनवाले ये हमारे सन्तान क्यों न देवातिथि बनेंगे? क्यों न प्रभु को प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—हम दूध व शहद का महत्त्व समझें।

नोटः—*'धेनु' नवसूतिका गौ को कहते हैं—सम्भवतः बाखरी हो जाने पर दूध में उतना गुण नहीं रह जाता चाहे चर्बी=fat अधिक निकलती है।*

सूक्त-१८

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

पावक-वर्ण

१६०७. इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत॥ १॥

मन्त्रार्थ २५० संख्या पर इस प्रकार है—

हे **पुरूवसो**=पालक व पूरक निवास देनेवाले प्रभो! **इमाः या मम गिरः**=ये जो मेरी वाणियाँ हैं **उ**=निश्चय से **त्वा वर्धन्तु**=आपका वर्धन करें—आपकी महिमा का प्रतिपादन करें। इस भक्तिरसायन के सेवक **पावकवर्णाः**=अग्नि के समान चमकनेवाले **शुचयः**=पवित्र तथा **विपश्चितः**=सूक्ष्म दृष्टिवाले होते हैं। ये लोग ही वस्तुतः **स्तोमैः**=स्तुतियों से **अभ्यनूषत**=प्रभु का स्तवन करते हैं।

भावार्थ—भक्तिरसायन का सेवन हमें शक्ति-सम्पन्न बनाए।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सहस्रगुणित शक्ति

१६०८. अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्रइव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥ २॥

अयम्=यह प्रभु ही **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टाओं से **सहस्रं सहस्कृतः**=अपना सहस्रगुणित बल बनाया गया है। वस्तुतः मनुष्य की तो शक्ति ही क्या है, जो वह काम-क्रोधादि शत्रुओं से संघर्ष करके विजय पा ले। '**त्वया स्विद् युजा वयम्**' प्रभु से मिलकर ही वह विजय पा सकता है। वस्तुतः कामादि का संहार प्रभु की शक्ति से होता है। प्रभु के स्मरण से अल्प-सामर्थ्य जीव को एक महान् शक्ति प्राप्त होती है और वह इन वासनाओं पर काबू पाने में समर्थ होता है। यह प्रभु तो **समुद्रः इव**=समुद्र के समान **पप्रथे**=विस्तृत हैं—प्रभु की शक्ति सर्वत्र है। उसी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर जीव विजय प्राप्त कर पाएगा। काम 'प्र-द्युम्न' है—प्रकृष्ट बलवाला है। उसके विजय के लिए प्रभु के बल से ही जीव को बलवाला होना होगा। **अस्य**=इस प्रभु की **सः महिमा**=वह महिमा **सत्यः**=सत्य है, **गृणे**=मैं इस महिमा का स्तवन करता हूँ।

'विप्रैः समृद्धं राज्यं विप्रराज्यम्'=ब्राह्मणों से समृद्ध बनाया गया राज्य 'विप्रराज्य' कहलाता है। 'ब्रह्म क्षत्रम् ऋध्नोति' वही राज्य फूलता-फलता है जिसका मूल ब्राह्मण होते हैं। ब्राह्मण क्षत्रियों को धर्म-मार्ग से विचलित नहीं होने देते। **विप्रराज्ये**=इन विप्रराज्यों में **यज्ञेषु**=ज्ञान-यज्ञों में तथा विविध क्रतुओं (हवनों) के प्रसङ्ग पर **अस्य शवः**=इस प्रभु के बल की स्तुति की जाती है। यज्ञों के अवसर पर प्रभु की महिमा का वर्णन होता है। इस स्तुति के द्वारा स्तोता प्रभु के बल को अपने में अवतीर्ण करता है और अपनी शक्ति को सहस्रगुणित हुआ अनुभव करता है। जब यह शक्ति का समुद्र उसके अन्दर उमड़ता है तभी वह कामादि शत्रुओं का संहार करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—प्रभु के बल की महिमा के स्तवन से मैं अपनी शक्ति को सहस्रगुणित करनेवाला बनूँ। 'मेधातिथि'=समझदार को यही उचित है।

सूक्त-१९

ऋषिः—**श्रुष्टिगुः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

तिरोहित प्रभु का व्यञ्जन (प्रकाश)

१६०९. यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः।
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत् सो अज्यते रयिः ॥ १ ॥

यस्य=जिस प्रभु का **अयम्**=यह **विश्वाः**=सारा ही संसार है; चाहे वह **आर्यः**=ब्राह्मण है—ज्ञान-प्रधान जीवन बितानेवाले हैं, चाहे **दासः**=वे शत्रुओं का नाश करनेवाले क्षत्रिय (those who destroy the enemy) हैं, चाहे **शेवधिपाः**=खजाने की रक्षा करनेवाले वैश्य हैं और चाहे **अरिः**=(ऋ गतौ) निरन्तर श्रम में लगे शूद्र हैं। सभी व्यक्ति प्रभु के हैं, उस प्रभु का किसी के प्रति पक्षपात नहीं।

वह प्रभुरूप सम्पत्ति तो हम सबके हृदयरूप कोशों में तिरः=छिपी पड़ी है। **सः**=वह **तिरश्चित् रयिः**=छिपे रूप में पड़ी हुई सम्पत्ति **तुभ्य इत् अज्यते**=तेरे ही लिए व्यक्त की जाती है, किस तेरे लिए—

१. **अर्ये**=जितेन्द्रिय के लिए। **अर्यः**=(स्वामी) जो इन्द्रियों का दास न बनकर इन्द्रियों का स्वामी बनता है।

२. **रुशमे**=जितेन्द्रिय (bright) बनकर शक्ति के संयम से चमकनेवाले के लिए **रुशमे**=वह शक्ति तेरी ज्ञानाग्नि का ईंधन बन जाती है।

३. **पवीरवि**=जो तू इस शक्ति के संयम से ही वज्र-तुल्य शरीरवाले के लिए (पवीरं=वज्र, पवीरु=वज्र-तुल्य शरीरवाला)।

प्रभु सर्वव्यापकता के नाते सब स्थानों पर विद्यमान हैं, हमारे शरीरों में भी प्रभु की सत्ता है, परन्तु प्रभु का दर्शन उसी को होता है जो अर्य=जितेन्द्रिय बनकर अपनी शक्ति द्वारा ज्ञानग्नि को समृद्ध करके (रुशम) बनता है और वज्रतुल्य शरीरवाला (पवीरु) होता है।

इस व्यक्ति की इन्द्रियाँ कभी क्षीणशक्ति नहीं होती, वह सदा पुष्ट गौवों—इन्द्रियोंवाला होने से 'पुष्टिगु' कहलाता है।

भावार्थ—मैं अन्दर छिपे प्रभु को ढूँढनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**श्रुष्टिगुः काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

तुरण्यु और विप्र में प्रभु का प्रकाश

१६१०. तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः।
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे स्वानास इन्दवः ॥ २ ॥

तुरण्यवः=(तूर्णमश्नुतेऽध्वानम्) शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले **विप्रासः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी उस प्रभु का **आनृचुः**=पूजन करते हैं, जो—१. **मधुमन्तम्**=माधुर्यवाले हैं—प्रभु क्रोधादि दुर्गुणों से दूर होने के कारण ही 'निर्गुण' संज्ञावाले हैं। प्रभु के उपासक को भी यथासम्भव संसार को माधुर्यवाला बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। २. **घृतश्च्युतम्**=दीप्ति टपकानेवाले हैं। जिसे भी प्रभु-दर्शन होता है, उसका हृदय प्रकाश से दीप्त हो जाता है। ३. **अर्कम्**=वे प्रभु मन्त्रों के पुञ्ज हैं। (अर्को मन्त्रः) वेदज्ञानरूप हैं। विशद्धाचित् होते हुए ज्ञानस्वरूप हैं। प्रभुभक्त ने भी इन मन्त्रों को अधिगत करके अपने को ज्ञानस्वरूप बनाना है।

जब हम 'तुरण्यु'=अनालस्य से कर्म करनेवाले तथा 'विप्र' विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले होते हैं तब **अस्मे**=हममें **रयिः पप्रथे**=धन का विस्तार होता है, **वृष्ण्यं शवः**=आनन्द की वर्षा करनेवाला बल विस्तृत होता है और **अस्मे**=हममें **इन्दवः स्वानासः**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले शक्ति-सम्पन्न वेदशब्दों का विस्तार होता है। एक सच्चे भक्त को धन, बल तथा विद्या तीनों ही प्राप्त होते हैं।

प्रभुभक्त वही है जो माधुर्यवाला, प्रकाश को फैलानेवाला वा ज्ञान का पुञ्ज बनता है। ये प्रभुभक्त तो स्वाभाविकरूप से 'पुष्टिगु' होते हैं। इनकी इन्द्रियशक्ति ने क्या क्षीण होना? ये तो वासनाओं से शतशः कोस दूर होते हैं।

भावार्थ—मैं 'तुरण्यु' कर्मशील (active) व 'विप्र' बनकर सच्चा प्रभुभक्त बनूँ।

सूक्त-२०

ऋषिः—**पर्वतनारदौ** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

देदीप्यमान जीवन

१६११. गोमन्न इन्दो अश्ववत् सुतः सुदक्ष धनिव। शुचिं च वर्णमधि गोषु धारय ॥ १ ॥

इसका व्याख्यान ५७४ संख्या पर इस प्रकार है—

हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **नः**=हमारे लिए **गोमत्**=

प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला, **अश्ववत्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला होकर **धनिव**=हमारे शरीर में गति कर यह सोम **सुदक्ष**=उत्तम बलवाला है। हे सोम! तू **गोषु**=हमारी ज्ञानेन्द्रियों में **शुचिं च वर्णम्**=खूब ही दीप्त रूप को **अधिधारय**=आधिक्येन धारण कर।

भावार्थ—सोम हमारे जीवन को चमकानेवाला हो।

ऋषिः—**पर्वतनारदौ** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

पर्वत व नारद

१६१२. स नो हरीणां पत इन्दो देवप्सरस्तमः। सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव॥ २॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **सः**=वह तू **नः**=हमारी **रुचे भव**=शोभा के लिए हो। पुत्र तभी पिता की शोभा के लिए होता है जब वह योग्य प्रमाणित होता है, सुपुत्र वही है जिससे वंश उज्ज्वल हो। एवं, प्रभु की महिमा सन्त प्रवृत्ति के लोगों में ही दीखती है, अतः हमारा जीवन प्रभु की शोभा को बढ़ानेवाला हो सकता है, जबकि—

१. **हरीणां पते**=मानव शरीर में हम इन्द्रियों के पति बनें। ये इन्द्रियाँ हरि=हमें विषयों में हृत करनेवाली हैं। ये हमें घसीटकर न जाने कहाँ ले-जाएँगी। हम प्रभु के प्रिय तभी बनेंगे जब इन इन्द्रियाश्वों को वश में कर लेंगे।

२. हे **इन्दो**=हम इन्द्रियों को काबू करके विषयों का शिकार न होने से दृढ़ शरीरवाले (strong) बनें। निर्बल प्रभु की शोभा को नहीं बढ़ाता।

३. **देव-प्सरस्-तमः**=देवताओं में भी हम सर्वाधिक दीप्तिवाले बनें। (प्सरस्-दीप्त) अपने ज्ञान को निरन्तर बढ़ाते हुए हम देवों के अग्रणी बनने का प्रयत्न करें। ज्ञानस्वरूप प्रभु के प्रिय हम ज्ञान को प्राप्त करके ही हो सकेंगे।

४. **सखा सख्ये इव नर्यः**=जैसे एक मित्र मित्र का हित करनेवाला होता है, उसी प्रकार तू मनुष्यमात्र का हित करनेवाला बन। प्राणिमात्र का हित करनेवाले प्रभु के हम और किस प्रकार प्रिय हो सकते हैं?

इस प्रकार प्रभुभक्त अपना पूरण करते हैं। अपनी कमियों को दूर करने का प्रयत्न करते हुए ये 'पर्वत' हैं और नरसमूह के हित के लिए अपने को दे डालनेवाले ये 'नारद' हैं (नार-द)।

भावार्थ—प्रभु की शोभा हमारे जीवनों से तभी बढ़ सकती है जब हम १. इन्द्रियों के पति बनें, २. शक्तिशाली हों, ३. उच्च ज्ञान को प्राप्त करके देवताओं में भी प्रथम बनें तथा ४. मनुष्यमात्र का इस प्रकार हित करनेवाले बनें, जैसे मित्र-मित्र का हित करता है।

ऋषिः—**पर्वतनारदौ** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

यमों का पालन

१६१३. सनेमि त्वमस्मदा अदेवं कं चिदत्रिणम्। साह्वाँ इन्दो परि बाधो अप द्वयुम्॥ ३॥

'सनेमि' शब्द के दो अर्थ हैं—'सनातन काल से' तथा 'शीघ्र'। जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्दो**=परमैश्वर्यवाले परम शक्तिशाली प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्मत्**=हमसे **सनेमि**=शीघ्र ही १. **अदेवम्**=देव-विरोधी भावना को, अर्थात् स्वार्थवश स्वयं सब-कुछ खा जाने की वृत्ति को **आसाह्वान्**=पूर्णरूप से पराभूत कर दीजिए। हमारा जीवन यज्ञमय हो—देव यज्ञप्रिय होते हैं। असुर

बिना यज्ञ किये सब-कुछ स्वयं खा जाते हैं। हम असुर न बनें। २. **कंचित्**=किसी अवर्णनीय शक्तिवाले **अत्रिणम्**=हमें खा जानेवाले (अद्+तृन्) इस काम को भी **आसाह्वान्**=पूर्ण पराभूत कीजिए। हमारा जीवन ब्रह्मचर्यवृत्तिवाला हो। ३. **बाधः**=औरों की हिंसा करना, इस वृत्ति को **परि**=हमसे दूर कीजिए। हम अहिंसा वृत्तिवाले हों। ४. **द्वयुम्**=अन्दर कुछ और बाहर कुछ—इस दोपने को, असत्य की वृत्ति को भी **अप**=हमसे दूर भगाइए।

एवं, प्रभुकृपा से हम स्तेय, अब्रह्मचर्य, हिंसा व असत्य की वृत्तियों से दूर होकर अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अहिंसा व सत्य में प्रतिष्ठित होते हैं। यही तो पर्वत बनना है। ऐसा ही व्यक्ति 'नारद' हो सकता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हममें यमों की प्रतिष्ठा हो।

सूक्त-२१

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

१६१४. अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मध्वाभ्यञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमप्सु गृभ्णते ॥ १ ॥

इस मन्त्र का व्याख्यान ५६४ संख्या पर देखिए।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

केंचुली का उतार फेंकना

१६१५. विपश्चिते पवमानाय गायत मही न धारात्यन्धो अर्षति।
अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचमत्यो न क्रीडन्नसरद् वृषा हरिः ॥ २ ॥

मन्त्र का ऋषि 'अत्रि' कहता है कि १. **विपश्चिते**=ज्ञानी **पवमानाय**=पवित्र करनेवाले प्रभु के लिए **गायत**=गान करो। उस ज्ञानी प्रभु का गायन व स्मरण हमारे जीवनों में निम्न परिणामों को पैदा करता है—

(क) **मही न धारा**=महनीय धारणशक्ति के समान, अर्थात् धारक प्रवाह के रूप में **अन्धः**=सोम=वीर्य **अति अर्षति**=पूजित गतिवाला होता है (अति पूजायाम्)। 'वीर्य का अपव्यय—विलास में विनाश' वीर्य की शास्त्रनिषिद्ध गति है, अतः यह उसकी तामस् गति है। सन्तानोत्पादन के लिए इसका प्रयोग राजस् गति है तथा ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाने के लिए इसकी ऊर्ध्वगति ही इसकी सात्त्विक व पूजित गति है। एवं, प्रभु का उपासक ऊर्ध्वरेता बनता है।

(ख) **अहिः न जूर्णां त्वं अतिसर्पति**=साँप जैसे जीर्ण त्वचा (कैंचुली) को उतार फेंकता है, इसी प्रकार यह प्रभुभक्त पिछले अशुभ जीवन को समाप्त कर नवजीवन से चमक उठता है। इसके जीवन में क्रोध का स्थान प्रेम ले-लेता है।

(ग) **अत्यः न**=निरन्तर गतिशील घोड़े के समान **क्रीडन्**=इन्द्रियों द्वारा इन्द्रिय-विषयों में खेलता हुआ यह प्रभुभक्त **असरत्**=सदा गतिशील होता है और इसी का परिणाम है कि यह **वृषा**=शक्तिशाली बना रहता है तथा **हरिः**=सबके दुःखों का हरण करनेवाला होता है। स्वार्थ व लोभ से यह सदा ऊपर उठा होता है।

काम क्रोध व लोभ से ऊपर उठे होने के कारण यह सचमुच 'अत्रि' होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का गायन करें, और अशुभों की बनी इस केंचुली को परे फेंक दें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

एकादश योग्ताएँ (Eleven Qualities)

१६१६. अग्रेगो राजाप्यस्तविष्यते विमानो अह्नां भुवनेष्वर्पितः।
हरिर्घृतस्नुः सुदृशीको अर्णवो ज्योतीरथः पवते राय ओक्यः ॥ ३ ॥

तविष्यते=अवश्य उस प्रभु को प्राप्त करेगा (to get, to attain) कौन? १. **अग्रेगः**=आगे चलनेवाला, उन्नति करनेवाला, २. **राजा**=सम्यक् नियमित (well regulated) जीवनवाला, ३. **आप्यः**=व्यापक, उत्तम कर्मों में साधु, ४. **अह्नां विमानः**=(अहन्—a day's work) दिन के कार्यों को विशेष मानपूर्वक बनानेवाला, ५. **भुवनेषु अर्पितः**=जिसने अपने जीवन को लोकहित के लिए अर्पित कर दिया है, ६. **हरिः**=जो औरों के दुःखों को हरण करनेवाला है, ७. **घृत-स्नुः**=ज्योति को प्रस्तुत करनेवाला, चारों ओर ज्ञान फैलानेवाला, ८. **सुदृशीकः**=उत्तम दर्शनवाला, जसकी आकृति सौम्य है, प्रियदर्शन है—(not fierce-looking), ९. **अर्णवः**=जो ज्ञान का समुद्र है, १०. **ज्योतीरथः**=ज्योतिर्मय रथवाला है, जिसके रथ का मार्ग अन्धकार में नहीं, ११. **ओक्यः**=घर में उत्तम निवासवाला है अथवा ब्रह्मरूप गृह का अधिकारी है। यह व्यक्ति **राये**=अभ्युदय व निःश्रेयसरूप सम्पत्ति के लिए **पवते**=गतिवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्म-प्राप्ति करानेवाले ग्यारह गुणों को हम सब अपनाएँ।

इति षोडशोऽध्यायः, सप्तमप्रपाठकश्च समाप्तः ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अष्टमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यज्ञ, ज्ञान व सन्तोष

१६१७. विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः। चनो धाः सहसो यहो ॥ १ ॥

प्रभु अग्नि हैं—अग्रेणी हैं—हम सबको आगे ले-चलनेवाले हैं, उनसे प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'शुनःशेप' (जो अपने जीवन में सुख का निर्माण करना चाहता है) प्रार्थना करता है कि—

हे **अग्ने**=अग्रगति के साधक प्रभो! आप **विश्वेभिः**=सब **अग्निभिः**=अग्नियों से (माता= दक्षिणाग्नि, पिता=गार्हपत्याग्नि, आचार्य=आहवनीयाग्नि), अर्थात् उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले माता-पिता व आचार्य के द्वारा **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **इदं वचः**=इस वेदवाणी को तथा **चनः**= सन्तोष व आनन्द की (Delight, satisfaction) वृत्ति को **धाः**=हममें धारण कीजिए। हे प्रभो! आप **सहसः**=बल के **यहो**=सन्तान हैं, अर्थात् बल के पुञ्ज हैं अथवा बलवान् से ही आप उपलभ्य होने योग्य हैं। इस बल को प्राप्त करने के लिए मैं अपने में यज्ञिय भावना को धारण करके विलास की वृत्ति से ऊपर उठूँ, व्यसनों से बचूँ तथा सन्तोष व सुख को धारण करता हुआ बल को क्षीण करनेवाली चिन्ता व असन्तोष की वृत्तियों से ऊपर उठूँ।

माता-पिता व आचार्य अग्नि हैं—आगे ले-चलनेवाले हैं। इनका कर्त्तव्य है कि सन्तान व विद्यार्थी में यज्ञ, ज्ञान व सन्तोष की भावना को भर दें। इससे ये सदा सबल बने रहेंगे और परमात्मा-प्राप्ति के अधिकारी बनेंगे। इसी प्रकार हमारा जीवन सुखी बन पाएगा। स्वार्थ, मूर्खता व असन्तोष ही सब दुःखों के मूल हैं। यज्ञ-विरोधी भावना स्वार्थ है, ज्ञानविरोधी भावना मूर्खता है, सन्तोष का विरोधी असन्तोष है। इन 'स्वार्थ, मूर्खता व असन्तोष' को दूर करके हम अपने जीवनों को सुखी बनाते हैं—और दूसरे शब्दों में 'शुनःशेप' बनते हैं। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम यज्ञ, ज्ञान व सन्तोष को अपनाएँ। हाथों से यज्ञ करें, मस्तिष्क ज्ञानपूर्ण हो तथा हृदय सन्तोष की वृत्तिवाला हो।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु की उपासना=दिव्य गुणों को अपने साथ जोड़ना

१६१८. यच्चिद्धि शश्वता तना देवंदेवं यजामहे। त्वे इद्धूयते हविः ॥ २ ॥

हे प्रभो! **यत्**=जब हम **चित् हि**=निश्चय से **शश्वता**=(शश् प्लुतगतौ) आलस्यशून्य क्रिया के द्वारा तथा **तना**=विस्तार के द्वारा **देवं-देवं**=एक-एक दिव्य गुण को **यजामहे**=अपने साथ सङ्गत करते हैं, तब वह **त्वे इत्**=आपमें ही **हविः हूयते**=हवि डाली जा रही होती है, अर्थात् वह आपकी ही उपासना की जा रही होती है।

उल्लिखित मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि १. प्रभु की उपासना का प्रकार यही है कि हम अपने साथ दिव्य गुणों का सम्बन्ध करें। जितना-जितना हम दिव्यता को अपनाते हैं, उतना-उतना ही प्रभु के उपासक बन रहे होते हैं। प्रभु की उपासना स्तोत्रों के उच्चारण व कीर्तन से नहीं हो जाती। उसके लिए तो जीवन को दिव्य बनाना होता है।

२. दिव्यता प्राप्ति के साधनों का भी संकेत मन्त्र में 'शश्वता' तथा 'तना' शब्दों से किया गया है। 'आलस्यशून्य क्रिया' तथा 'विस्तार' ही वे दो उपाय हैं, जो हमें दिव्यता को अधिगत करने में सहायक होते हैं। अकर्मण्यता और संकुचित हृदय हमें दस्यु बनानेवाले हैं।

भावार्थ—हम क्रियाशील तथा हृदय के विस्तार के द्वारा दिव्य जीवनवाले बनें और इस प्रकार प्रभु के सच्चे उपासक हों।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

हमें प्रभु प्रिय हों, हम प्रभु के प्रिय हों

१६१९. प्रियो नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः। प्रियाः स्वग्नयो वयम्॥ ३ ॥

गत मन्त्र में दिव्यता के धारण के द्वारा प्रभु की उपासना करनेवाला शुनःशेप कहता है कि **नः**=हमें वह प्रभु **प्रियः अस्तु**=प्रिय हो जो १. **विश्पतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक है। २. **होता**=प्रजाओं के हित के लिए सब-कुछ देनेवाला है ३. **मन्द्रः**=आनन्दस्वरूप है और उपासकों को आनन्दित करनेवाला है तथा ४. **वरेण्यः**=वरणीय है, चाहने योग्य है।

जिस उपासक को प्रभु का जो रूप प्रिय होता है, वह उपासक उसी रूप को जीवन का लक्ष्य बनाकर बहुत कुछ वैसा ही बन जाता है, अतः स्पष्ट है कि उपासक भी १. **विश्पतिः**=प्रजाओं का पालक बनेगा। वह सदा समाज व राष्ट्र का भला ही करेगा, बुरा नहीं। राष्ट्र की रक्षा के लिए वह प्रयत्नशील होगा। २. **होता**=यह राष्ट्रहित के लिए अधिक-से-अधिक त्याग करनेवाला बनेगा। ३. **मन्द्रः**=स्वयं सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला होता हुआ अपनी प्रसन्नता से औरों को प्रसादयुक्त करेगा तथा ४. **वरेण्यः**=लोगों से चाहने योग्य बनेगा—सदा लोकहित करता हुआ यह उनका प्रिय क्यों न होगा?

शुनःशेप कहता है कि **वयम्**=हम भी **स्वग्नयः**=उत्तम अग्नियोंवाले होते हुए, अर्थात् उत्तम माता-पिता व आचार्य को प्राप्त करनेवाले होते हुए अथवा उत्तम यज्ञोंवाले होते हुए **प्रियाः**=उस प्रभु के प्रिय बनते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु ने हमें सहयज्ञ=यज्ञों के साथ ही उत्पन्न किया, और कहा कि ये यज्ञ ही तुम्हारे उभयलोक का कल्याण करनेवाले होंगे। इन यज्ञों को अपनाने से हम प्रभु के प्रिय बनते हैं। '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**'=देव यज्ञरूप प्रभु की यज्ञों से ही उपासना करते हैं। इस यज्ञ को अपनाने से हम सचमुच 'शुनःशेप' होंगे। ऐहिक व पारत्रिक सुखों का निर्माण यज्ञों से ही सम्भव होगा।

भावार्थ—हमें प्रभु प्रिय हो, हम प्रभु के प्रिय हों।

सूक्त-२

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सर्वोत्तम इच्छा—केवल प्रभु की उपासना

१६२०. इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः। अस्माकमस्तु केवलः ॥ १ ॥

मधुच्छन्दाः (अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाला, प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि) कहता है कि हम तो **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से—क्या अभ्युदय व क्या निःश्रेयस—दोनों के ही विचार से **जनेभ्यः परि**=मनुष्यों को छोड़कर (परि=वर्जन, वर्जनार्थक परि के योग में ही 'जनेभ्यः' यह पञ्चमी है) **वः इन्द्रम्**=तुम सबके परमैश्वर्यदाता प्रभु को ही **हवामहे**=पुकारते हैं और चाहते हैं कि **अस्माकम्**=हमारा तो **केवलः अस्तु**=वह प्रभु ही एकमात्र हव्य व उपास्य हो। हम प्रभु के साथ किसी अन्य की उपासना को न जोड़ दें।

मन्त्र में 'केवलः' शब्द का प्रयोग है—अकेले प्रभु की उपासना नकि उसके साथ गुरु की भी। 'जनेभ्यः परि' मनुष्यों को छोड़कर हम केवल प्रभु की उपासना करते हैं। मनुष्य की उपासना आई और प्रभु की उपासना गयी। धर्म 'धर्म' न रहा, वह सम्प्रदाय बन गया। मधुच्छन्दा कहता है कि 'हम तो केवल प्रभु की उपासना करते हैं।'

भावार्थ—हम सब एक प्रभु की पूजावाले बनकर एक हो जाएँ। '**य एक इद्धव्यश्चर्षणीनाम्**'=इस वेदोपदेश को सुनें कि 'वह प्रभु ही एकमात्र मनुष्यों का उपास्य है।'।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

रहस्योद्घाटन Revelation

१६२१. स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि। अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ॥ २ ॥

हे प्रभो! आप **वृषन्**=शक्तिशाली हैं **सत्रादावन्**=(सत्यमेव ददाति) सत्य के ही प्राप्त करानेवाले हैं। **अप्रतिष्कुतः**=जिन आपका विरोध कोई भी नहीं कर सकता (अप्रतिष्कुतः) तथा जो आप कभी भी ग़लती नहीं कर सकते (अप्रतिस्खलितः) **सः**=ऐसे आप **नः**=हमें **अस्मभ्यम्**=हमारे हित के लिए **अमुं चरुम्**=उस चरु को (मृच्चयो भवति चरुः—यास्क), अर्थात् मिट्टी के ढेररूप इस मृण्मय पार्थिव शरीर को **अपावृधि**=उद्घाटित रहस्यवाला कीजिए। आपकी कृपा से हम इस शरीर के रहस्य को समझें।

इस शरीर के रहस्य को न समझने के कारण ही हम आत्मस्वरूप को नहीं पहचान रहे। हम इसे ही आत्मा समझे बैठे हैं। 'चारयति इति चरुः' (चर् to doubt)। यह शरीर हमें आत्मा के विषय में संशयवाला कर देता है। हे प्रभो! आपकी कृपा से ही हम इस शरीर के स्वरूप का विश्लेषण करके 'आत्म-स्वरूप' को पहचान पाएँगे। सत्य के दाता आप ही हैं, मैं तो अल्पज्ञतावश असत्य को ही सत्य समझ बैठता हूँ। मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि आपकी कृपा से मेरे समक्ष इस मृण्मय शरीर (चरु) का रहस्य स्पष्ट हो जाए।

भावार्थ—हम अपने को शक्तिशाली बनाएँ, सत्य के ग्रहण की वृत्तिवाले बनें और प्रभु-प्रार्थना से शरीर के स्वरूप को समझें, जिससे हम अपने को पहचान सकें।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ओज से प्रभु की प्राप्ति

१६२२. वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा। ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥ ३ ॥

वे प्रभु **वृषा**=शक्तिशाली हैं, **इव**=जैसे **वंसगः**=बैल **यूथा ईशानः**=गौओं के समूह का ईशान होता है, उसी प्रकार वे प्रभु सब जीवों के ईशान हैं। **अप्रतिष्कुतः**=आप अप्रतिष्कुत हैं, कोई भी

व्यक्ति आपकी व्यवस्था का विरोध नहीं कर सकता तथा साथ ही आप अप्रतिस्खलित हैं—आपसे कभी किसी ग़लती का सम्भव नहीं।

इस प्रकार शक्तिशाली वे प्रभु **ओजसा**=ओज के द्वारा **कृष्टीः**=श्रमशील व्यक्तियों को **ईयर्ति**=प्राप्त होते हैं। प्रभु ओज=बल के द्वारा ही प्राप्त होते हैं। इसी भाव के पोषण के लिए यहाँ मन्त्र में प्रभु को 'वृषा', 'ईशान', 'अप्रतिष्कुत' शक्तिशाली, स्वामी तथा अविरोध्य (matchless) कहा गया है। प्रभु अपनी शक्ति का प्रयोग जीवहित के लिए उसी प्रकार करते हैं जैसे झुण्ड में विचरनेवाला बैल झुण्ड की रक्षा करता है। जीव ने भी शक्तिशाली बनकर शक्ति का प्रयोग वृद्धि व रक्षा के लिए ही करना है। रक्षा व वृद्धि में विनियुक्त बल ही हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला होगा। 'ओज' उसी शक्ति का नाम है जो वृद्धि का कारण होता है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा' अपने बल का विनियोग औरों के पीड़न में करेगा ही नहीं। मधुर इच्छाओंवाला होने पर ऐसा सम्भव ही कैसे हो सकता है कि वह किसी का पीड़न करे।

भावार्थ—हम शक्तिशाली बनकर प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

सूक्त-३

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

प्रभु की प्राप्ति

१६२३. त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः ॥ १ ॥

मन्त्र संख्या ४१ पर मन्त्रार्थ इस रूप में हैं—

हे **वसो**=सबके बसानेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **ऊत्या**=रक्षा के हेतु से **चित्+रः**=ज्ञान देनेवाले हैं, अतः आप **राधांसि**=सर्वकार्यसाधक ज्ञानरूप धनों को **चोदय**=हमें प्राप्त कराइए। **अस्य रायः**=इस धन के तो **अग्ने**=हे उन्नत करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप ही **रथीः**=नियन्ता **असि**=हैं। आप **नः**=हमारे **तुचे**=नौजवान सन्तानों के लिए **तु**=भी **गाधम्**=गम्भीर ज्ञान को **विदा**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें और हमारे सन्तानों को गम्भीर ज्ञानरूप धन प्राप्त कराइए। इस धन के बिना हम कहीं 'तृण-पाणि' ही न रह जाएँ।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ज्ञान की तीन बात

१६२४. पर्षि तोकं तनयं पर्तृभिष्ट्वमदब्धैरप्रयुत्वभिः।
अग्ने हेडांसि दैव्या युयोधि नोऽदेवानि ह्वरांसि च ॥ २ ॥

गत मन्त्र में प्रभु से ज्ञान की याचना की गयी थी, अतः प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु तीन बातें कहते हैं और संकेत करते हैं कि जानने योग्य तो ये ही तीन बातें हैं—

१. **त्वम्**=तू **अदब्धैः**=ठीक, पवित्र व सत्य (unimpaired, pure, true) तथा **अप्रयुत्वभिः**=(अपृथग्भूत) निरन्तर **पर्तृभिः**=पालन-साधनों से **तोकं तनयम्**=पुत्र व पौत्र को **पर्षि**=पाल। एक

सद्गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह सन्तानों को प्रभु की धरोहर समझता हुआ सत्य तथा अविच्छिन्न पालन-साधनों से उत्तम बनाने का प्रयत्न करे।

२. दूसरे स्थान पर प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=हे उन्नति के साधक जीव! **नः**=हमारे **दैव्या**=वृष्टि, विद्युत् आदि देवों से होनेवाले **हेडांसि**=प्रकोपों को **युयोधि**=अपने से पृथक् कर, अर्थात् तू आधिदैविक कष्टों से भी बचने का प्रयत्न कर। दूसरे शब्दों में ये भूकम्प या अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दैविक आपत्तियाँ भी तेरे कर्मों का ही परिणाम हैं, अतः तू इसके लिए—

३. **अदेवानि**=अदिव्य **ह्वरांसि**=कुटिल भावनाओं को **च**=भी **युयोधि**=पृथक् कर। तुझमें कुटिल भावनाएँ न पनपें। तेरा जीवन सरल हो—छलछिद्र से ऊपर। ये छलछिद्र ही सब आधिदैविक कष्टों के कारण हुआ करते हैं। कुटिलता मृत्यु का मार्ग है और सरलता ही तुझे वह ज्ञान प्राप्त कराएगी जिसे तूने चाहा था।

वास्तव में तो ज्ञान यही है—१. सन्तान को प्रभु की सम्पत्ति समझते हुए निर्ममता तथा निरहन्ता से उनका पालन २. आधिदैविक आपत्तियों को दूर करना और ३. इसके लिए अदिव्य कुटिलता से दूर रहकर सरल बनना।

भावार्थ—जो भी व्यक्ति इस ज्ञान को प्राप्त नहीं करता, वह 'तृण-पाणि' ही रह जाता है।

सूक्त-४

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—विष्णुः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु का वह विलक्षण तेजोमय रूप

१६२५. किमित्ते विष्णो परिचक्षि नाम प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ॥ १॥

हे **विष्णो**=सर्वव्यापक व निराकार प्रभो! **ते**=तुझे **किम् नाम इत्**=किस नाम से **परिचक्षि**=सम्बोधित करूँ? (परिचक्ष् to address)। निराकार का नाम भी क्या रक्खूँ? और किस नाम से बुलाऊँ?

अच्छा, उसी नाम से ही बुलाऊँ **यत्**=जिस नाम से आप अपने को **प्रववक्षे**=प्रकर्षेण बारम्बार कहते हैं कि मैं **शिपिविष्टः**=किरणों से व्याप्त (शिपि=किरण, विष् to pervade) **अस्मि**=हूँ। वस्तुतः वे प्रभु प्रकाश-ही-प्रकाश हैं—प्रकाश की किरणों से व्याप्त हैं। वे प्रभु तो तेज-ही-तेज हैं। प्रभु हज़ारों सूर्यों के तेज के समान हैं। '**तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमम्**'=इस ईशोपनिषद् के मन्त्र में प्रभु के तेजस्वी रूप का ही प्रतिपादन है। वेद में अन्यत्र प्रभु को 'आदित्यवर्णम्' कहा है।

हे प्रभो! आप **अस्मत्**=हमसे **एतत् वर्पः**=इस तेजस्वी रूप को **मा अपगूह**=संवृत मत कीजिए। आपका यह तेजस्वीरूप हमारी आँखों से प्रकृतिरूप हिरण्मय पात्र के द्वारा ओझल हुआ-हुआ है। आप इस आवरण को हटाइए और अपने सत्यस्वरूप का हमें दर्शन कराइए।

आपका दर्शन मेरे लिए इसलिए आवश्यक है कि **यत्**=आप **समिथे**=वासनाओं के साथ होनेवाले संग्राम में **अन्यरूपः**=विलक्षणरूपवाले **बभूथ**=होते हैं। वासनाओं से संग्राम में आपका उग्ररूप ही तो हमारे उन शत्रुओं का नाश करनेवाला होता है। आपके बिना क्या कभी इन शत्रुओं को जीता जा सकता है? आपका दर्शन मुझे ऐसी शक्ति प्राप्त कराता है कि मैं इन शत्रुओं को वश करने में समर्थ

होकर इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ='वशिष्ठ' बनता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु के तेजस्वी रूप को देखें और उस तेज में वासनाओं को भस्म करनेवाले हों।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—विष्णुः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

कर्तृत्व में भी अकर्तृत्व

१६२६. प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट हव्यमर्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥ २ ॥

हे **शिपिविष्ट**=किरणों में प्रविष्ट, अर्थात् ज्ञानमय प्रभो! **अद्य**=आज **वयुनानि**=तेरे सृष्टि के उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयादि कर्मों का **विद्वान्**=विचार करनेवाला **अर्यः**=इन्द्रियों को वश में करनेवाला मैं **ते**=तेरे **तत्**=उस **हव्यम्**=(आह्वातव्यम्) पुकारने योग्य रूप का **प्रशंसामि**=खूब उच्चारण करता हूँ, अर्थात् मैं आपका खूब स्मरण करता हूँ।

अतव्यान्=निर्बल मैं **तम्**=उस **तवसम्**=बल के पुञ्ज **त्वाम्**=आपको **गृणामि**=स्तुत करता हूँ। आपकी स्तुति से मुझमें भी बल का संचार होता है। आप **अस्य रजसः**=इस सम्पूर्ण रजस् के **पराके**=परे—दूर देश में **क्षयन्तम्**=निवास कर रहे हैं। प्रभु इस सारे निर्माणादि कार्यों को करते हैं, परन्तु इन कार्यों को करते हुए भी वे इनसे परे हैं—इनमें वे फँसे हुए नहीं हैं। कर्त्ता होते हुए भी वे अकर्त्ता ही हैं। इस रजोगुण में न उलझने से ही वे शक्तिशाली बने हैं। रजोगुण में न उलझने का कारण उनका 'शिपिविष्ट' होना है। वे ज्ञानपुञ्ज हैं, अतः आसक्ति से परे हैं।

इस रूप में प्रभु का स्तवन करनेवाला व्यक्ति भी कर्त्ता होते हुए अकर्त्ता बन पाता है। आसक्ति को जीतकर मन पर प्रभुत्व स्थापित करनेवाला यह इस मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' होता है। प्रभु का स्तोता बनने के लिए आवश्यक है कि हम—

१. प्रभु के सृष्टि-निर्माणादि कार्यों पर विचार करें तथा २. जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करें। विचारक और संयमी ही प्रभु का स्तोता बन पाता है।

भावार्थ—प्रभु के तेजोमय रूप का चिन्तन कर हम भी तेजस्वी बनें।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—विष्णुः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'यज्ञ' की उपासना 'यज्ञ के द्वारा'

१६२७. वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम्।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३ ॥

सः=वह मैं हे **विष्णो**=व्यापक प्रभो! **ते वषट्**=तेरे स्वाहारूप यज्ञ को **आ**=सर्वथा **आकृणोमि**=कुछ-न-कुछ करता ही हूँ (आ=ईषत्)। प्रभु तो सर्वव्यापक हैं और इसी नाते वे सबका कल्याण कर रहे हैं—उनका यह लोकहित के लिए अपने को दे डालनारूप यज्ञ सब जगह पूर्णरूप से चल रहा है। प्रभु का स्तवन करनेवाला यह वसिष्ठ अपनी अल्पता के कारण उस यज्ञ को उतने विस्तार से नहीं कर सकता, अतः कहता है कि फिर भी मैं कुछ-न-कुछ यज्ञ तो करता ही हूँ। **मे**=मेरे **तत्**

हव्यम्=उस यज्ञ को आप **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। हे **शिपिविष्ट**=प्रकाश किरणों में प्रविष्ट, अतएव सदा दीप्त प्रभो! हव्यम्—मेरी इस पुकार को आप अवश्य सुनिए, अर्थात् आपकी कृपा से मैं यज्ञ–यात्रा से कभी विचलित न होऊँ, कुछ–न–कुछ यज्ञ करूँ ही।

मे=मेरी **सुष्टुतयः**=उत्तम स्तुतियोंवाली वाणियाँ **त्वा**=आपको **वर्धन्तु**=बढ़ाएँ। आपकी स्तुति के द्वारा मेरी वाणी सदा आपके गुण–कीर्तन करनेवाली बने और मेरा जीवन इन गुणों को लेकर, ऐसा बने कि हे देवो! **यूयम्**=आप सब **स्वस्तिभिः**=उत्तम स्थितियों से **सदा**=हमेशा **नः**=हमें **पात**=सुरक्षित करें।

भावार्थ—उस पूर्ण यज्ञरूप प्रभु की उपासना के लिए हम भी कुछ–न–कुछ यज्ञ करें। प्रभु का गुणगान करें—और अपने को इस योग्य बनाएँ कि सब देव हमारा त्राण करें।

सूक्त–५

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

मधुविद्या के शिखर पर

१६२८. वायो शुक्रो अयामि ते मध्वो अग्रं दिविष्टिषु।
आ याहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता॥ १॥

जिस समय वेद में 'इन्द्रवायू' का वर्णन होता है, उस समय अध्यात्म में 'इन्द्र' का अभिप्राय 'जीवात्मा' से है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है और 'वायु' से अभिप्राय 'प्राण' है जो जीवात्मा की उन्नति के लिए प्रभु द्वारा प्राप्त कराया गया है।

प्राणसाधना से शरीर में शुक्र=वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है, अतः यहाँ वायु को शुक्र ही कह दिया है। इस शुक्र की रक्षा से वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और मनुष्य ज्ञान के शिखर तक पहुँच पाता है। ज्ञान का शिखर ही मधुविद्या है। यह मधुविद्या ही ब्रह्मविद्या है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **वायो**=हे प्राण! **शुक्रः**=तू शुक्र है—वीर्य है, वीर्यरक्षा का मुख्य साधन है। **ते**=तेरे द्वारा मैं **दिविष्टिषु**=ज्ञान–यज्ञों में (दिव् इष्टि) **मध्वः अग्रम्**=मधुविद्या के शिखर पर **अयामि**=पहुँचता हूँ।

यह वायु अथवा प्राण **स्पार्हः**=स्पृहणीय है—इससे अधिक मधुर व चाहने योग्य कोई वस्तु नहीं है। प्राण की आकांक्षा करता हुआ प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि ''मा न भूवं, भूयासम्'=न होऊँ यह बात न हो—बना ही रहूँ। यह 'देव' है—दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाला है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे **देव**=दिव्य गुण–प्रापक वायो! तू **स्पार्हः**=स्पृहणीय है। आप **सोमपीतये**=सोम–पान के लिए **नियुत्वता**=स्तोता के साथ अथवा प्रशस्त इन्द्रियरूप घोड़ोंवालों के साथ **आयाहि**=हमारे इस जीवन–यज्ञ में आओ।

प्राण–साधना से ही सोमपान=वीर्यरक्षा होती है। वीर्यरक्षा से ही दीप्त ज्ञानाग्निवाले होकर हम मधुविद्या व ब्रह्मविद्या के शिखर पर पहुँचते हैं। प्राणसाधना करनेवाला व्यक्ति प्रशस्तेन्द्रियाश्वोंवाला प्रभु का स्तोता गोतम होता है। यह उत्तम दिव्य गुणोंवाला बनने से 'वामदेव' कहलाता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना पर बल दें। यही हमें शिखर पर पहुँचाएगी।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रवायू ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

इन्द्र और वायु का सोमपान

१६२९. इन्द्रश्च वायवेषां सोमानां पीतिमर्हथः ।
युवां हि यन्तीन्दवो निम्नमापो न सध्र्यक् ॥ २ ॥

हे **वायो**=प्राण! तू **च**=और **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव, जिसे पिछले मन्त्र में 'नियुत्वान्'=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाला कहकर स्मरण किया था, तुम दोनों **एषां सोमानाम्**=इन सोमों के **पीतिम् अर्हथः**=पान के योग्य हो। प्राणसाधना के बिना वीर्य व रेतस् की ऊर्ध्वगति नहीं होती और इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव (इन्द्र) ही प्राणसाधना करनेवाला होता है। एवं, इन्द्र और वायु मिलकर सोमपान करते हैं।

युवां हि=निश्चय से तुम दोनों को ही **इन्दवः**=ये सोमकण **यन्ति**=प्राप्त होते हैं **न**=उसी प्रकार स्वाभाविकरूप से जैसे **आपः**=जल **निम्नम् सध्र्यक्**=निम्न स्थान (slope) की ओर जानेवाले होते हैं। जैसे पानी सहजतया ढलान की ओर जाते हैं उसी प्रकार ये सोमकण इन्द्र और वायु की ओर स्वाभाविकरूप से जाते हैं। इस समय इनकी ऊर्ध्वगति उतनी ही स्वाभाविक हो जाती है जितनी कि पानी की निम्नगति स्वाभाविक है।

एवं, स्पष्ट है कि जीवात्मा 'इन्द्र' बने—इन्द्रियों का अधिष्ठाता बने और प्राणों की साधना करे। इस प्रकार जितेन्द्रियता व प्राणायाम द्वारा ही हम सोमरक्षा कर पाएँगे और यह सोमरक्षा ही हमारे जीवन-उत्थान का कारण बनेगी।

भावार्थ—मैं प्राणायाम द्वारा वीर्य की ऊर्ध्वगति करके सोमपान करनेवाला 'इन्द्र' बनूँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रवायू ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सोमपान के कुछ लाभ

१६३०. वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसस्पती ।
नियुत्वन्ता न ऊतय आ यातं सोमपीतये ॥ ३ ॥

प्रस्तुत मन्त्र में 'शवस्' व 'शुष्म' दोनों शब्द बलवाचक हैं। वह बल जो हमें सदा गतिशील बनाये रखता है 'शवस्' कहलाता है तथा शत्रुओं का शोषण करनेवाला बल 'शुष्म' होता है।

वायु और इन्द्र जब सोम की रक्षा करके सोमकणों को शरीर में ही व्याप्त करते हैं तब हम सदा क्रियाशील व क्रोधादि के शोषण करनेवाले, अर्थात् सरलता से क्षुब्ध (upset) नहीं होते, अतः कहते हैं कि **वायो**=हे प्राण! तू **इन्द्रः च**=और इन्द्र 'जीवात्मा' **शुष्मिणा**=शत्रु-शोषक बलवाले हो तथा **शवसस्पती**=सदा क्रियाशील बनाये रखनेवाली शक्ति से युक्त हो। **सरथम्**=तुम दोनों शरीररूप समान रथ पर आरूढ़ हुए-हुए **नियुत्वन्ता**=प्रशस्त इन्द्रियरूप अश्वोंवाले बनकर **सोमपीतये**=सोमपान के लिए **आयातम्**=आओ। फिर इस प्रकार **नः**=हमारी **ऊतये**=रक्षा के लिए होओ।

इस मन्त्र में सोमपान का लाभ इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

१. शुष्मिणा=ये हमें क्रोध आदि शत्रुओं का शोषण करने में सहायक होंगे।

२. शवसस्पती=ये हमें सदा क्रियाशील बने रहने के लिए शक्ति देंगे, अर्थात् हममें किसी

प्रकार की थकावट न आएगी।

३. नियुत्वन्ता=हमारे इन्द्रियरूप घोड़े प्रशस्त बनेंगे।

४. ऊतये=हम सब रोगों से बचे रहेंगे।

इस प्रकार सोमपान करके ही हम अपने जीवन को सुन्दर, दिव्य गुणों से युक्त करके मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' बनते हैं।

भावार्थ—सोमपान के द्वारा हम शक्तिशाली, क्रियाशील, उत्तम इन्द्रियोंवाले व नीरोग बनें।

सूक्त-६

ऋषिः—रेभसूनू काश्यपौ ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

व्रतों से शरीर-नैर्मल्य

१६३१. अध क्षपा परिष्कृतो वाजाँ अभि प्र गाहसे।
यदी विवस्वतो धियो हरिं हिन्वन्ति यातवे ॥ १ ॥

'क्षप्' धातु का अर्थ व्रत करना तथा कई वस्तुओं से अपने को अलग रखना (to fast, to be abstinent) है। गत मन्त्र में सोमपान का उल्लेख था। उसका प्रबल इच्छुक क्या करता है? **अध**=सबसे प्रथम तो **क्षपा**=व्रतों के द्वारा **परिष्कृतः**=परिशुद्ध शरीरवाला हुआ-हुआ तू **वाजान्**=शक्तियों का **अभिप्रगाहसे**=आलोडन करता है। व्रतों से शरीर के सब मल नष्ट होकर कायाकल्प-सा हो जाता है और शरीर में नवशक्ति का संचार हो जाता है।

यत ई=और निश्चय से यह व्रत करनेवाला **विवस्वतः**=सूर्य से—सूर्य के समान प्रकाशमय मस्तिष्कवाले आचार्य से **धियः**=ज्ञानों को (अभिप्रगाहसे)=प्राप्त करता है। 'विवस्वतः' यह पञ्चमी विभक्ति नियमपूर्वक ज्ञान की प्राप्ति का संकेत कर रही है।

ये नवशक्ति-सम्पन्न शरीरवाले व्यक्ति **यातवे**=राक्षसों के लिए, आसुरी वृत्तियों को दूर करने के लिए (मशकाय धूमः=मशक निवृत्ति के लिए धूँआ है) **हरिः**=उस सब दुःखहरणशील प्रभु को **हिन्वन्ति**=प्राप्त होते हैं। उस प्रभु की स्तुति करते हैं। प्रभु की स्तुति करने के कारण ही ये 'रेभ'=स्तोता कहलाते हैं। सदा उत्तम प्रेरणा को सुननेवाले होने से 'सूनु' नामवाले होते हैं। 'रेभः सूनु'=ही इस मन्त्र का ऋषि है। प्रभु-स्मरण के कारण इनके पास आसुरी वृत्तियाँ फटकतीं ही नहीं।

भावार्थ—हम व्रतों से परिष्कृत जीवनवाले बनकर—१. शक्ति का सम्पादन करें २. ज्ञान में सूर्य के समान चमकें तथा ३. आसुर वृत्तियों को दूर करने के लिए प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—रेभसूनू काश्यपौ ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ज्ञानेन्द्रियों के मुख से

१६३२. तमस्य मर्जयामसि मदो य इन्द्रपातमः।
यं गाव आसभिर्दधुः पुरा नूनं च सूरयः ॥ २ ॥

'सोम' शरीर में सर्वोत्तम रक्षक है। यह शरीर को नीरोग रखता है, मन को निर्मल करता है और बुद्धि को तीव्र बनाता है। वस्तुतः यह जीवन का आधार है। इसके अभाव में तो मृत्यु ही है,

इसीलिए इसे यहाँ 'इन्द्र-पात-मः'=जीवात्मा का सर्वोत्तम रक्षक कहा गया है। यह जीवन में उल्लास लानेवाला है, अतः इसे मदः—हर्षजनक कहा है। हम **अस्य**=इस जीव के **तम्**=उस सोम को **मर्जयामसि**=शुद्ध करते हैं **यः**=जो **मदः**=उल्लास को देनेवाला तथा **इन्द्रपातमः**=जीवात्मा का सर्वाधिक रक्षक है। **यः**=जिसको **गावः**=ज्ञानेन्द्रियाँ **आसभिः**=(असनम्=आसः) शत्रुओं के—काम-क्रोधादि के प्रक्षेपण के हेतु से **दधुः**=धारण करती हैं। जितना-जितना मनुष्य ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्त होता है, उतना-उतना ही सोम-रक्षण सम्भव होता है और मनुष्य वासनाओं के विनाश व दूर फेंकने में समर्थ होता है। ज्ञान-प्राप्ति एक ऐसा व्यसन है जो अन्य सब व्यसनों को नष्ट कर देता है।

च=और **सूरयः**=विद्वान् विवेकी समझदार लोग **नूनम्**=शीघ्र ही (now, immediately) **पुरा**=आत्मरक्षा के लिए (for the defence of) **दधुः**=इस सोम को धारण करते हैं। वेद में 'पुरा' शब्द का अर्थ 'रक्षा के लिए' होता है—यही अर्थ यहाँ सङ्गत है। विवेकशील पुरुष श्रेय और प्रेय का अन्तर समझकर सोम का विनियोग क्षणिक प्रेय के लिए न करके स्थायी श्रेय के लिए ही करता है और सोम की रक्षा में अत्यन्त सावधान हो जाता है। सोम की रक्षा यह 'ज्ञानेन्द्रियों के मुख' से ही कर पाता है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों को सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगाये रखकर ही सोम की रक्षा सम्भव होती है।

भावार्थ—ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगाये रखकर ही हम सोम की रक्षा कर पाते हैं।

ऋषिः—रेभसूनू काश्यपौ॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

पुराणगाथा से स्तवन

१६३३. तं गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत।
उतो कृपन्त धीतयो देवानां नाम बिभ्रतीः॥ ३॥

वेद यहाँ 'पुराणी गाथा' शब्द से कहा गया है, क्योंकि इसका गायन तो सृष्टि के प्रारम्भ में हुआ, परन्तु यह अत्यन्त प्राचीन होता हुआ भी सदा ही नवीन (पुरापि नवः) है। यह कभी बासा नहीं होता। सब सत्यविद्याओं के बीज का कोश होने से यह अनन्त ज्ञान का निधि है। मनुष्य कभी भी इसके अन्त को नहीं पहुँच पाता। इस **पुराण्या गाथया**=सनातन वेदवाणी के द्वारा **तं पुनानम्**=उस पवित्र करनेवाले प्रभु का **अभ्यनूषत**=विद्वान् लोग स्तवन करते हैं। प्रभु-स्तवन से जीवन में पवित्रता का संचार होता है।

'ये विद्वान् लोग प्रभु की केवल शाब्दिक स्तुति ही करते रहें', ऐसी बात नहीं है। **उत उ**=और निश्चय से इन विद्वानों की **धीतयः**=अंगुलियाँ (धीयन्ते कर्मसु) **कृपन्त**=सदा कर्मों में लगी रहकर अपने को समर्थ बनाती हैं (कृप् सामर्थ्ये)। कर्मों में लगे रहने से पवित्रता भी बनी रहती है और शक्ति भी स्थिर रहती है।

इन विद्वान् लोगों की अंगुलियाँ जैसे-तैसे कर्मों में प्रवृत्त हो जाएँ यह तो सम्भव ही नहीं, परन्तु वस्तुतः **देवानां नाम**=देवताओं के यश को **बिभ्रतीः**=धारण करती हुई ही ये कर्मों में लगी रहती हैं, अर्थात् इनके कर्म सदा यशस्वी होते हैं। यशस्वी कर्मों के करनेवाले ये अपने उत्तम कर्मों से उसे प्रसन्न करनेवाले सचमुच उसके 'सूनु' (Sons) हैं, ये ही सच्चे रेभ=स्तोता हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें और यशस्वी कर्मों में प्रवृत्त रहें।

सूक्त-७

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु ही हमारी जीवन-यात्रा पूरी करेंगे

१६३४. अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः। सम्राजन्तमध्वराणाम्॥ १॥

इस मन्त्र की व्याख्या संख्या १७ पर हुई है। सरलार्थ इस प्रकार है—

अध्वराणाम्=सब हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के **सम्राजम्**=सम्राट् **तम्**=उस **अग्निम्**=सबके अग्रेणी **वारवन्तम्**=प्रशस्तरूप से शत्रुओं के निवारणरूप कार्य को करनेवाले **अश्वं न**=जीवनयात्रा के लिए घोड़े के समान **त्वा**=आपका **नमोभिः**=नमस्कारों से, नम्रता से **वन्दध्या**=हम वन्दन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-वन्दना के द्वारा हम अपने जीवनों को सुखमय बनाएँ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वह प्रभु ही हमारा हो

१६३५. स घा नः सूनुः शवसा पृथुप्रगामा सुशेवः। मीढ्वाँ अस्माकं बभूयात्॥ २॥

सः=वह प्रभु **घ**=निश्चय से **अस्माकम्**=हमारा **बभूयात्**=हो। कौन-सा प्रभु? जो—

१. **नः सूनुः**=हमें प्रेरणा देनेवाला है (षू प्रेरणे)। पुत्र भी सूनु कहलाता है, क्योंकि वह हमें कमाने इत्यादि की प्रेरणा देता है। सन्तानों के लिए ही तो मनुष्य कमाता है। प्रभु इस दृष्टिकोण से भी सूनु हैं कि भक्त उन्हें अपने हृदय में जन्म देने का प्रयत्न करता है।

२. **शवसा पृथुप्रगामा**=गतिमय शक्ति (Dynamic energy=शवस्) के द्वारा वह प्रभु हमें विशाल क्रिया-क्षेत्र में चलानेवाला है।

३. **सुशेवः**=वह उत्तम सुखों को प्राप्त करानेवाला है।

४. **मीढ्वान्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति का सेचन करनेवाला है। (मिह् सेचने)

यदि हम प्रभु से अपना सम्पर्क जोड़ेंगे तो सदा उसकी उत्तम प्रेरणा को सुनेंगे, प्रबल क्रियाशक्ति-वाले होंगे, सुखमय जीवन का लाभ करेंगे तथा हमारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग शक्तिसम्पन्न होगा। इस प्रकार का जीवन बनाकर हम सचमुच इस मन्त्र के ऋषि 'शुनःशेप' होंगे—अपने जीवनों में सुखों का निर्माण करनेवाले होंगे।

भावार्थ—हमारा एकमात्र आधार प्रभु ही हो। हम तन्मय हो जाएँ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वे प्रभु कैसे रक्षा करते हैं?

१६३६. स नो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादघायोः। पाहि सदमिद्विश्वायुः॥ ३॥

गत मन्त्र में कहा था कि वे प्रभु हमारे जीवनों को 'सुन्दर, सुखी व सबल' बनाते हैं। 'वह किस प्रकार?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में दिया है कि 'पापियों के सङ्ग से बचाकर'। सङ्ग का प्रभाव जीवन पर अत्यधिक है। सुसङ्ग जीवन को बनाता है तो कुसङ्ग नष्ट कर डालता है। 'सुमतिकुमती सम्पदापत्तिहेतू'=सत्सङ्ग-जनित सुमति जीवन सम्पदा का कारण बनती है और कुसङ्ग-

जनित कुमति जीवन-विपदा का। साधुसङ्गम मोक्ष का हेतु है, दुर्जनसङ्ग व्यसनों में जकड़े जाने का, अतः मन्त्र में कहते हैं कि—

हे प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **दूरात् च आसात् च**=दूर से और समीप से **अघायोः**=पाप को चाहनेवाले **मर्त्यात्**=मनुष्य से **सदमित्**=सदा ही **विश्वायुः**=जीवनभर (अत्यन्त संयोग में यहाँ द्वितीया है) बिना किसी विच्छेद के निरन्तर **नि-पाहि**=निश्चयसे बचाइए। आपकी कृपा से हम सदा कुसङ्ग से बचे रहें। आप-जैसे जीवनवाले, अर्थात् आपकी दिव्यता को धारण करनेवाले साधु-पुरुषों से ही हमारा सङ्ग हो। उत्तम माता, पिता, आचार्य व विद्वान् अतिथियों को प्राप्त करके हम सदा उत्तम वृत्तिवाले बने रहें और इस प्रकार अपने जीवनों को सुखी बनानेवाले 'शुनःशेप' हों।

भावार्थ—सत्सङ्ग हमारे जीवन को 'सत्' बनाए।

सूक्त-८

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती)॥ स्वरः—मध्यमः॥

उत्साहजनक प्रेरणा

१६३७. त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः॥ १॥

संख्या ३११ पर इस मन्त्र का अर्थ इस रूप में है—

प्रभु जीव से कहते हैं कि **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठता जीव! **त्वम्**=तू **प्रतूर्तिषु**=अध्यात्म संग्रामों में **विश्वाः स्पृधः**=सब स्पर्धा करनेवाली कामादि वृत्तियों को **अभि असि**=जीत लेता है। **अशस्तिहा**=अशुभ का तू नाश करनेवाला है। **जनिता**=विकासशील है **वृत्रतूः असि**=मार्ग में आनेवाली सब रुकावटों को समाप्त करनेवाला है। **तरुष्यतः**=हिंसा करनेवाली इन अशुभ वृत्तियों को **त्वम्**=तू **तूर्य**=समाप्त कर डाल।

भावार्थ—हम प्रभु की इस उत्साहपूर्ण प्रेरणा को सुनें और कामादि शत्रुओं का विध्वंस करके आगे बढ़ें।

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)॥ स्वरः—पञ्चमः॥

सारे ब्रह्माण्ड की अनुकूलता

१६३८. अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि॥ २॥

न=जैसे **तुरयन्तम्**=गति करते हुए **शिशुं अनु**=बालक के पीछे **मातरा**=माता-पिता **ईयतुः**=चलते हैं—उसकी रक्षा व सहायता के लिए उसके साथ-साथ होते हैं, उसी प्रकार हे इन्द्र! **ते**=तेरे **तुरयन्तम्**=बल के पीछे **क्षोणी**=द्युलोक और पृथिवीलोक, अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड व सभी देव **ईयतुः**=गति करते हैं। जब तू अपने शत्रुओं का संहार करनेवाले बल से शत्रुओं को समाप्त करता है तब सारे देवता तेरे सहायक होते हैं। प्रभु उन्हीं की मदद करता है जो अपनी मदद आप करते हैं और देवता उसी के सख्य के लिए होते हैं जो थककर चूर-चूर हो जाता है। जीव कामादि के संहार में लगेगा तो सारा ब्रह्माण्ड उसका साथ देगा।

हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठता जीव ! **यत्**=जब तू **वृत्रम्**=इस ज्ञान के आवरणभूत काम को **तूर्वसि**=नष्ट करता है तब **ते**=तेरे **मन्यवे**=ज्ञान के लिए **विश्वाः स्पृधः**=बलात् अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाले ये क्रोधादि सब शत्रु **श्नथयन्त**=ढीले पड़ जाते हैं। 'काम' ही तो शत्रुओं का सम्राट् था, सम्राट् नष्ट हुआ तो ये छोटे-छोटे सेनापति तो ढीले हो ही जाते हैं। अपने सब शत्रुओं को समाप्त करके यह अपने को उन्नति के मार्ग पर आगे और आगे ले-चलता है—अपने को आगे ले-चलनेवाला यह 'ना' (नृ नये) कहलाता है। आगे और आगे बढ़ता हुआ यह प्रभु से मेल करनेवाला 'मेध' (मेधृ-सङ्गम) होता है और इस प्रकार यह 'नृमेध' कहलाता है।

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करता है तो सब देव भी उसकी सहायता करते हैं और वह सब आन्तर शत्रुओं के विध्वंस में समर्थ होता है।

सूक्त-९

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'यज्ञ' ही फूलने-फलने का साधन है

१६३९. यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद्भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र की व्याख्या संख्या १२१ पर इस प्रकार है—

यज्ञः=यज्ञ की भावना ने **इन्द्रम्**=आत्मा को **अवर्धयत्**=बढ़ाया है। **यत्**=इसीलिए तो **भूमिं व्यवर्तयत्**=इन्द्र ने यज्ञ के लिए सारी पार्थिव सम्पत्ति—सारी थैली को ही उलटा दिया है। इस यज्ञिय भावना के परिणामरूप यह इन्द्र **दिवि**=मस्तिष्क में **ओपशम्**=मस्तक के ज्ञानरूप आभरण को **चक्राणः**=बनानेवाला हुआ है।

भावार्थ—यज्ञ से सब प्रकार का वर्धन होता है और मस्तिष्क ज्ञान से अलंकृत होता है।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वल नामक असुर का संहार

१६४०. व्या३न्तरिक्षमतिरन् मदे सोमस्य रोचना। इन्द्रो यदभिनद्वलम् ॥ २ ॥

आधिदैविक जगत् में '**इन्द्र**'=सूर्य है तथा '**वल**' मेघ है। सूर्य अपनी किरणों से मेघ को छिन्न-भिन्न कर देता है। अध्यात्म में इन्द्र=जीवात्मा है तथा वल=वे सब आसुर वृत्तियाँ हैं जो (वल् to hurt) जीव की उन्नति में विघातक होती हैं। **यत्**=जब **इन्द्र**=जीवात्मा **वलम्**=इन आसुर वृत्तियों को **अभिनत्**=विदीर्ण करता है तब **सोमस्य मदे**=अन्तःस्थित वीर्यशक्ति-जनित उल्लास में **रोचना**=प्रकाशमय **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **वि आ अतिरत्**=मलों से सर्वथा मुक्त कर लेता है (तृ=to litbrate from)।

एवं, आसुर वृत्तियों के संहार के परिणाम निम्न हैं—

१. सोम की रक्षा होती है—उससे जीवन में एक विशेष उल्लास उत्पन्न होता है (सोमस्य मदे),

२. हृदयान्तरिक्ष प्रकाशमय होता है (रोचना),

३. हृदय राग-द्वेषादि मलों से रहित हो जाता है।

इस प्रकार हृदय नैर्मल्य से ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ भी ठीक काम करने लगती हैं। इनके ठीक

काम करने से यह ऋषि गोसूक्ति व अश्वसूक्ति बनता है।

भावार्थ—हम आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाले बनें।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

गुहास्थ गौवों का उदाजन

१६४१. उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन्गुहा सतीः। अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥ ३ ॥

इन्द्र और वल का हृदयस्थली पर एक सनातन युद्ध चल रहा है। इस युद्ध में जब इन्द्र **वलम्**=इस वल नामक आसुर वृत्ति को **अर्वाञ्चं नुनुदे**=नीचे ढकेल देता है, अर्थात् पराजित कर देता है (gives him a crushing defeat), उस समय इसके शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति का संचार हो जाता है। तब यह 'अङ्ग-अङ्ग में रसवाला' होने से आङ्गिरस कहलाता है। 'इसका शरीर ही सबल बन जाता हो', यही नहीं, प्रत्युत इसके ज्ञान पर आसुर वृत्तियों का जो पर्दा पड़ा हुआ था, जिसके कारण हृदयरूप गुहा में विद्यमान भी ज्ञान प्रकाशित नहीं हो रहा था, वह ज्ञान अब चमक उठता है। काव्यमय भाषा में इस बात को इस प्रकार कहते हैं कि—वे ज्ञान की वाणीरूप गौवें, जो इन असुरों ने हृदयरूप गुहा में छिपा रखी थीं, उनको यह बाहर ले-आता है। **गुहासतीः**=हृदयरूप गुहा में पहले से ही विद्यमान **गाः**=वेदवाणियों को **अङ्गिरोभ्यः**=इस अङ्गरसवाले शक्तिशाली पुरुषों के लिए **आविष्कृण्वन्**=प्रकट करता हुआ **उद्-आजत्**=बाहर ले-आता है, अर्थात् इनका वह दबा हुआ ज्ञान प्रकट हो जाता है—ज्ञान का बीज विकसित होकर ज्ञानवृक्ष बन जाता है। इस व्यक्ति की इन्द्रियाँ उस ज्ञान का कथन करने लगती हैं और यह सचमुच 'गोसूक्ति' तथा अश्वसूक्ति बन जाता है, जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ उत्तम ढंग (सु) से ज्ञान का कथन करती हैं (उक्ति)।

भावार्थ—हम भी गुहास्थ गौवों का उदाजन करनेवाले बनें, परन्तु यह तभी हो सकेगा जब हम वल नामक असुर का पराभव कर पाएँगे।

सूक्त-१०

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

रक्षा के लिए प्रभु का आवाहन

१६४२. त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम्। आ च्यावयस्यूतये ॥ १ ॥

१७० संख्या पर प्रस्तुत मन्त्र का यह अर्थ दिया गया है—

हे मनुष्य! तू **उ त्यम्**=उसी प्रभु को, जो **वः**=तुम्हारे **सत्रासाहम्**=सब शत्रुओं का पराभव करने-वाला है और जो **विश्वासु गीर्षु आयतम्**=सब वेदवाणियों में फैला हुआ है, **ऊतये**=रक्षा के लिए **आच्यावयसि**=अपने में अवतीर्ण कर।

भावार्थ—मैं प्रभु को हृदय में प्रतिष्ठित करूँ, जिससे कामादि उधर झाँकें ही नहीं।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

कैसे प्रभु का आवाहन ?

१६४३. युध्मं सन्तमनर्वाणं सोमपामनपच्युतम्। नरमवार्यक्रतुम् ॥ २ ॥

गत मन्त्र में प्रभु को अपने में अवतीर्ण करने का प्रसङ्ग था। उसी प्रसङ्ग को प्रस्तुत मन्त्र में इस रूप में कहते हैं—उस प्रभु का अपने में आवाहन करो जो—

१. **युध्मम्**=(warlike, martial) युद्धप्रिय हैं। प्रभु बुराई को दूर करने में, जीव की उन्नति के लिए, निरन्तर प्रेरणादि द्वारा प्रवृत्त हैं। जो भी जीव बुराई के साथ संघर्ष करके उसे दूर करता है वह प्रभु का प्रिय होता है। जैसे यज्ञों से प्रभु की उपासना होती है इसी प्रकार युद्धों से भी प्रभु पूजित होते हैं। **'इत्थं युद्धैश्च यज्ञैश्च भजामो विष्णुमीश्वरम्'।**

२. **सन्तम्**=जो प्रभु सत् हैं—श्रेष्ठ-ही-श्रेष्ठ हैं। प्रभु के उपासक को भी श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करना है।

३. **अनर्वाणम्**=प्रभु का किसी से द्वेष (not inimical) नहीं। प्रभुभक्त भी द्वेष से ऊपर उठकर बुराई को दूर करने में लगा रहता है और **सर्वभूतहिते रतः** होता है।

४. **सोमपाम्**=वे प्रभु सोम की रक्षा करते हैं अथवा विनीत पुरुष का रक्षण करते हैं। प्रभु-स्मरण द्वारा वासनाओं को भगाकर हम अपनी शक्ति को सुरक्षित कर पाते हैं और शक्ति के साथ नम्रता को धारण करते हुए प्रभु की रक्षा के पात्र बने रहते हैं।

५. **अनपच्युतम्**=जो प्रभु कभी नष्ट नहीं होते। प्रभुभक्त भी धर्म के मार्ग से अपच्युत नहीं होता।

६. **नरम्**=वे प्रभु नर हैं, सब मनुष्यों को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले हैं। भक्त ने भी तो स्वयं अपने को तथा अन्यों को उन्नति-पथ पर ले-चलना है।

७. **अवार्यक्रतुम्**=उस प्रभु का संकल्प अवार्य है—किसी से रोका नहीं जा सकता। प्रभु-भक्त भी 'अवार्यक्रतु' हुआ करता है। उसको उसके दृढ़ निश्चय से मृत्युभय भी हटा नहीं पाता।

प्रभु का उल्लिखितरूप में आवाहन करता हुआ मन्त्र का ऋषि 'सुकक्ष'=(उत्तम शरणवाला) भी अपने जीवन को युध्मादि विशेषणोंवाला बनाता है। सच्ची भक्ति तदनुरूप बनना ही तो है।

भावार्थ—प्रभु को युध्मादि रूपों में स्मरण करता हुआ मैं भी युध्मादि विशेषण-विशिष्ट जीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पार्य धन की प्राप्ति

१६४४. शिक्षा ण इन्द्र राय आ पुरु विद्वाँ ऋचीषम। अवा नः पार्ये धने॥ ३॥

यहाँ मन्त्र में सुकक्ष=उत्तम शरणवाला व श्रुतकक्ष=ज्ञानरूप शरणवाला प्रभु को सम्बोधित करता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! (इदि परमैश्वर्ये) **ऋचीषम्**=(ऋचा समः) ऋचाओं के तुल्य स्तुतिवाले, अर्थात् सब वेदों में गायी गयी स्तुतिवाले प्रभो! **पुरुविद्वान्**=आप पालक हैं—पूरक हैं और पूर्ण ज्ञानी हैं। आप **नः**=हमें **राये**=धन के लिए **आ**=सर्वथा **शिक्ष**=समर्थ कीजिए। हम अपनी आजीविका के लिए इस बाह्य धन को तो प्राप्त करें ही, परन्तु साथ ही **नः**=हमें **पार्ये धने**=संसार-सागर से पार लगानेवाले धन में **अवा**=(भागदुघ) भागी कीजिए। हम बाह्यधन कमाने में भी समर्थ हों, अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में अपनी टांगों पर खड़े हों—किन्हीं पर निर्भर न हो जाएँ, परन्तु साथ ही आपकी कृपा से हम उस ज्ञानरूप धन को भी प्राप्त करनेवाले हों जो हमें उस प्राकृतिक धन में उलझ जाने से बचाकर भवसागर के पार पहुँचाए। इस प्रकार मैं 'श्रुतकक्ष'

इस यथार्थ नामवाला बन पाऊँ।

भावार्थ—हम ऐहिक तथा पारत्रिक धन को प्राप्त करनेवाले हों।

सूक्त-११

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

इन्द्रिय, दक्ष, क्रतु व वज्र

१६४५. तव त्यदिन्द्रियं बृहत्तव दक्षमुत क्रतुम्। वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम्॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गोषूक्ति व अश्वसूक्ति' है—जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ दोनों ही उत्तम प्रकार से वेदवाणी का प्रतिपादन करती हैं, अर्थात् जो ज्ञानेन्द्रियों से उन्हें पढ़ता है और कर्मेन्द्रियों से उनका आचरण करता है। वेदवाणी का अध्ययन करते हुए यह अनुभव करता है कि **धिषणा**=यह वेदवाणी (धिषणा=वाङ्नाम) हे प्रभो! **तव**=तेरे **त्यत्**=उस प्रसिद्ध **बृहत् इन्द्रियम्**=वृद्ध इन्द्रियशक्ति को **शिशाति**=तीव्र करती है, अर्थात् प्रबल व सूक्ष्मरूप से वर्णन करती है। यह प्रभु इन भौतिक इन्द्रियों से रहित होता हुआ भी किस प्रकार **'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्'** सर्वत्र आँख, मुख, बाहु व पाँववाला है—इस बात का यह वेदवाणी प्रतिपादन कर रही है। सर्वेन्द्रियविवर्जित होते हुए भी वे प्रभु सर्वेन्द्रियगुणों के आभासवाले हैं।

१. **तव बृहत् दक्षम्**=हे प्रभो! यह वेदवाणी तेरे उस सदा वृद्ध बल का वर्णन करती है। इस संसार के धारण करनेवाले प्रभु का बल किस प्रकार अनन्त होगा?

२. **उत क्रतुम्**=यह वेदवाणी तेरे इस महान् सृष्टिरूप कर्म का भी वर्णन करती है (उत=भी, क्रतु=कर्म)

३. और अन्त में **वरेण्यम् वज्रम्**=वरणीय क्रियाशीलता का यह प्रतिपादन करती है (वज गतौ)। प्रभु की क्रिया स्वाभाविक है, अर्थात् उसका अपना कोई स्वार्थ इसमें निहित हो ऐसी बात नहीं है। स्तोता को भी चाहिए कि वह क्रिया को अपने लिए स्वाभाविक बनाये।

भावार्थ—वेदवाणी के अध्ययन से हम प्रभु की दर्शनादि शक्ति, बल व कर्म को तथा वरणीय निःस्वार्थ क्रियाशीलता को जानें और उसकी महिमा के प्रति नतमस्तक हों। उन गुणों को हम भी धारण करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

सारी सृष्टि प्रभु की महिमा है

१६४६. तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः। त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे॥ २॥

वेदवाणी के अध्ययन से विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करके गोषूक्ति कह उठता है कि—

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **द्यौः पृथिवी**=ये द्युलोक तथा पृथिवीलोक **तव**=तेरे **पौंस्यम्**=बल को तथा **श्रवः**=यश को **वर्धति**=बढ़ाते हैं। ये उग्र व तेजस्वी द्युलोक अपने चमकते सितारों से तेरी शक्ति व यश को ही तो प्रख्यात कर रहा है। यह दृढ़ पृथिवी अपने अक्ष पर घूमती हुई सूर्य की परिक्रमा करते हुए तेरी अद्भुत व्यवस्था को प्रकट कर रही है।

आपः=ये नदी व समुद्ररूप में विद्यमान जल, **पर्वतासः च**=और पर्वत **वाम्**=आपको ही **हिन्विरे**=

बढ़ा रहे हैं। समुद्र का अनन्त जल तथा हिमाच्छादित शिखरोंवाले पर्वत आपके ही यश को बढ़ा रहे हैं।

वस्तुतः इस ब्रह्माण्ड का प्रत्येक पदार्थ प्रभु की महिमा का ही तो गायन कर रहा है।

भावार्थ—द्युलोक, पृथिवीलोक, समुद्र व पर्वत उस प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करते हुए भक्त को प्रभु-प्रवण कर रहे हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

सूर्य, अन्तरिक्ष, दिन-रात तथा वायु

१६४७. त्वां विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः। त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम्॥ ३॥

गोषूक्ति ही कह रहा है कि—**त्वाम्**=आपको **विष्णुः**=यह आदित्य (श० १४.१.१.६) **बृहन् क्षयः**=विशाल निवासस्थानभूत यह अन्तरिक्ष **मित्रः वरुणः**=दिन तथा रात (अह वै मित्रः रात्रिर्वरुणः ऐ० ४.१०) अथवा शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष (य एव आपूर्यते स वरुणः, योऽपक्षीयते स मित्रः—श० २.४.४.१८) **गृणाति**=गा रहे हैं, ये सबके सब आपका ही उपदेश दे रहे हैं, **मारुतं शर्धः**=वायु सम्बन्धी बल भी **त्वाम् अनु**=आपकी शक्ति से ही शक्तिसम्पन्न होकर **मदति**=आनन्द को प्राप्त करा रहा है। 'वायु का प्रवाह' जीवन देता हुआ किस प्रकार आनन्दित करता है यह तो अनुभव का ही विषय है। उस आनन्द को अनुभव करनेवाला व्यक्ति वायु में इस शक्ति को रखनेवाले प्रभु के प्रति नतमस्तक क्यों न होगा?

भावार्थ—सूर्य, अन्तरिक्ष, दिन-रात व वायु सभी प्रभु का स्मरण कराते हैं।

सूक्त-१२

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु के ओज के प्रति नमन

१६४८. नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः। अमैरमित्रमर्दय॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र संख्या ११ पर इस प्रकार व्याख्यात हुआ है—

हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **ते ओजसे**=आपके ओज के लिए **नमः**=हम प्रणाम करते हैं। हे **देव**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **कृष्टयः**=कृषि आदि निर्माणात्मक कार्यों को करनेवाले ही वस्तुतः **गृणन्ति**=आपका स्तवन करते हैं। **अमैः**=शक्तियों से **अमित्रम्**=शत्रु को—अस्नेह आदि वृत्तियों को **अर्दय**=पीड़ित करके दूर भगा दीजिए।

भावार्थ—ओजस्वी प्रभु का स्मरण हमें भी ओजस्वी बनने की प्रेरणा दे। ओजस्वी बनकर हम सब कामादि अध्यात्म-शत्रुओं का संहार कर दें।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अन्वेषण के लिए धन (for the sake of research)

१६४९. कुवित्सु नो गविष्टयेऽग्ने संवेषिषो रयिम्। उरुकृदुरु णस्कृधि॥ २॥

हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **नः**=हमें **गविष्टये**=गवेषण के लिए (गो+इष्टि) ज्ञानयज्ञ के लिए, Research के लिए **कुवित्**=बहुत **रयिम्**=धन **सु**=उत्तम प्रकार से **संवेषिषः**=परोसिये, अर्थात् यथाभाग प्राप्त कराइए। १. सामान्यतः मनुष्य धन कमाता है और जीवन में प्राकृतिक सुख-साधनों को जुटाने में, दूसरे शब्दों में भोगविलास में उस धन का व्यय कर देता है। यह धन का राजस् विनियोग अन्त में उसके दुःख का ही कारण बनता है। भोगों के कारण रोग आते हैं और मनुष्य जीर्ण-शक्ति होकर कष्ट पाता है। २. कई बार तो बुरे-बुरे पापों में ही हम उस धन का व्यय करने लगते हैं। हमारी बुद्धि पर एक विचित्र-सा पर्दा पड़ जाता है और हम न जाने किधर बह जाते हैं। ३. कई बार ऐसा भी होता है कि हम भोगों में व पापों में तो व्यय नहीं करते, परन्तु धन की ममता के कारण उसे जुटाते ही चलते हैं और उसके रक्षक-से बने रहते हैं। हमारा मन कृपण हो जाता है। यह धन भी तो व्यर्थ ही होता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **उरुकृत्**=हे विशाल धनों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **नः**=हमें **उरु**=विशाल हृदयवाला **कृधि**=बनाइए। हम उदार हों और खुले दिल से ज्ञान के अन्वेषण में धन का विनियोग करनेवाले बनें। धन का इससे अधिक उत्तम विनियोग नहीं है।

भावार्थ—हम प्रभुकृपा से प्राप्त विशाल धनों का ज्ञान की खोज में विनियोग करनेवाले हों—और इस कार्य के लिए उदारता से धन का दान करें।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

कुली ही न बन जाएँ

१६५०. मा नो अग्ने महाधने परा वग्भारभृद्यथा। संवर्गं सं रयिं जय॥ ३॥

हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **नः**=हमें इस दिये हुए **महाधने**=महाधन—विशालधन राशि के लिए **यथा भारभृत्**=एक कुली की भाँति बोझा ढोनेवाले के समान **मा परावर्क्**=मत छोड़ दीजिए। हम धन का बोझा ढोनेवाले ही न बने रहें। हम अपने जीवनकाल में कृपणता को छोड़कर उदारता से ज्ञानान्वेषण (research) के कार्यों में धन का विनियोग करते हुए अपने बोझ को सदा हलका करते रहें। अन्यथा बोझ के नीचे दबकर हमारी शकल (मुखाकृति) ही विकृत हो जाएगी। हम 'विहीनरूप' वाले 'विरूप' बन जाएँगे। हमारी तो इच्छा है कि हम 'विशिष्टरूप' वाले विरूप, अर्थात् तेजस्वी बनें।

उल्लिखित कामनावाले विरूप से प्रभु कहते हैं कि तू **वर्गम्**=वर्जनीय शत्रुवर्ग को **संजय**=अच्छी प्रकार जीत। काम-क्रोधादि पर विजय पाने का यत्न कर और **रयिं संजय**=इस धन पर भी तू विजय प्राप्त करनेवाला बन। जब धन तुझे जीत लेता है तभी तो तू इसका 'भारभृत्' बन जाता है। यह तुझपर सवार हो जाता है। जब लोभ को जीतकर तू धन का स्वामी बनेगा तब तू अवश्य ज्ञानान्वेषण में इसका विनियोग करेगा, वस्तुतः उसी दिन तू तेजस्वी वा 'विरूप' बनेगा।

भावार्थ—हम धनों का बोझ ही न ढोते रह जाएँ, हम धन का विनियोग ज्ञानान्वेषण में करें।

सूक्त-१३

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

हम प्रभु के 'वत्स'=प्रिय बनें

१६५१. समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः। समुद्रायेव सिन्धवः॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र की व्याख्या संख्या १३७ पर इस रूप में है—

इव=जैसे **सिन्धवः**=बहनेवाली नदियाँ **समुद्राय**=समुद्र के लिए (संनमन्ति)=झुकती हैं, उसी प्रकार **विश्वाः**=इस संसार के अन्दर प्रविष्ट हुए-हुए और अब प्रभु की गोद में प्रवेश की इच्छावाले **कृष्टयः**=हृदयस्थली से वासनारूप घासफूस को उखाड़ देने की कामनावाले **विशः**=प्रजाजन **अस्य**=इस प्रभु के **मन्यवे**=ज्ञान के लिए **संनमन्त**=झुकते हैं, अर्थात् प्रभु से दिये गये वेदज्ञान के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करना हमारे लिए स्वाभाविक हो जाए तभी हम प्रभु के प्रिय बन पाएँगे।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

क्रुद्ध काम का कण्ठ कर्तन

१६५२. वि चिद् वृत्रस्य दोधतः शिरो बिभेद वृष्णिना। वज्रेण शतपर्वणा॥ २॥

गत मन्त्र के अनुसार वत्स ऋषि ज्ञान की ओर प्रवृत्तिवाला होकर प्रभु का प्रिय तो बनता ही है यह ज्ञानी बनकर आजीवन क्रियाशील बना रहता है। यह सौ-के-सौ वर्ष क्रियाशील बने रहना ही इसका 'शतपर्व वज्र' है, जो इसके जीवन को अत्यन्त सुखी बनाता है, यह 'वृष्णि' है—सुख का सेचक है।

इस **शतपर्वणा वृष्णिना वज्रेण**=शतपर्ववाले, जीवन को सुखी बनानेवाले वज्र से—क्रियामय जीवन से यह वत्स **दोधतः वृत्रस्य**=क्रुद्ध होते हुए वृत्र के, अर्थात् उग्ररूप धारण करते हुए काम के **शिरः**=सिर को **विचित्**=विशेषरूप से **बिभेद**=विदीर्ण कर देता है। क्रियामय जीवन का परिणाम वासना का विनाश है। आलसी को ही वासना सताती है, पुरुषार्थी को नहीं। '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः**'—कर्म करते हुए ही १०० वर्ष जीने की कामना करनी चाहिए।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्त करें और कर्मशील बनकर अपने को वासनाओं के आक्रमण से बचाएँ।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ओजस्वी कौन ?

१६५३. ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्त्तयत्। इन्द्रश्चर्मेव रोदसी॥ ३॥

अस्य ओजः तत् तित्विषे=इस वत्स का ओज तो तभी चमकता है **यत्**=जब **इन्द्रः**=यह जीवात्मा **चर्म इव**=चर्म की भाँति **उभे रोदसी**=दोनों द्युलोक और पृथिवीलोक को **समवर्तयत्**=धारण कर लेता है (to wrap up)।

'द्युलोक' मस्तिक का प्रतीक है और 'पृथिवीलोक' शरीर का। 'इन्द्र' जीवात्मा है, अर्थात् केवल शारीरिक विकास से जीवात्मा की पूरी शोभा नहीं होती और केवल मस्तिष्क के विकास से भी यह शोभामय जीवनवाला नहीं होता। जैसे चर्म—त्वचा में लिपटा हुआ शरीर सुरक्षित होता है उसी प्रकार ज्ञान और शक्ति में—ब्रह्म और क्षत्र में लिपटा हुआ इन्द्र शोभायमान और ओजस्वी होता है।

भावार्थ—हम ज्ञान और शक्ति को धारण करके ओजस्वी बनें और प्रभु के प्रिय हों।

सूक्त-१४

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—एकपदापङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

चतुष्टयी वेदवाणी

१६५४. सुमन्मा वस्वी रन्ती सूनरी ॥ १ ॥

गत तृच का ऋषि 'वत्स' जिस वेदवाणी का उच्चारण करता है, वह वेदवाणी चतुष्टयी है। यह चतुष्टयी वेदवाणी इसके जीवन को सुखी बनाती है। अपने जीवन को सुख-सम्पन्न बनाकर यह सचमुच 'शुनःशेप' बन जाता है। प्रस्तुत तृच का यही ऋषि है। यह वेदवाणी इसके लिए—

१. **सुमन्मा**=उत्तम (सु) विज्ञानों-(मन्म)-वाली है। उत्तम विज्ञानों के द्वारा ही मनुष्य प्राकृतिक शरीर की सब भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर पाएगा।

२. **वस्वी**=यह वेदवाणी सब वसुओंवाली है। निवास के लिए, जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ 'वसु' हैं। इन वसुओं को यह देनेवाली है। 'आयुः, प्राणं, प्रजां, पशुं, कीर्तिं, द्रविणं, ब्रह्मवर्चसम्' ये सब वसु हैं। वेदों में प्रतिपादित साधनों को क्रियान्वित करने पर हमें दीर्घायुष्य, प्राणशक्ति, उत्तम प्रजा व सन्तान, उत्तमपशु, यश, धन व ज्ञान सभी कुछ प्राप्त होगा।

३. **रन्ती**=यह वेदवाणी हमें प्रभु में रमण करानेवाली है। वेदों का अध्यात्म उपदेश हमें 'आत्माराम' बनानेवाला है।

४. **सूनरी**=इस प्रकार यह वेदवाणी हमें सदा उत्तम मार्ग से ले-चलनेवाली है। (सु-नृ नये) उत्तम मार्ग से चलते हुए हमारा जीवन यथार्थ में सुखमय बनता है और हम मन्त्र के ऋषि 'शुनःशेप' होते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी हमें उत्तममार्ग से चलाकर विज्ञान और वसु प्राप्त कराके अन्त में प्रभु में रमण कराती है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ये दोनों समीप आते हैं

१६५५. सरूप वृषन्ना गहीमौ भद्रौ धुर्यावभि। ताविमा उप सर्पतः ॥ २ ॥

मन्त्र संख्या १६५१ में 'ज्ञान' का उल्लेख था, १६५२ में 'कर्म का' और फिर १६५३ में दोनों का समन्वय था। इन दोनों का ही प्रतिपादन १६५४ में वर्णित वेदवाणी में हुआ है। प्रभु जीव से कहते हैं कि—

सरूप=मेरे समान रूपवाले **वृषन्**=शक्तिशाली जीव! तू **इमौ**=इन ज्ञान और कर्म दोनों को **अभि आगहि**=आभिमुख्येन प्राप्त हो। दोनों की ओर तेरा झुकाव हो और दोनों को तू अपनानेवाला बन। ये दोनों मिले हुए ही **भद्रौ**=कल्याण व सुख को प्राप्त करानेवाले हैं, **धुर्यौ**=ये तेरे जीवन को लक्ष्य स्थान पर पहुँचाने में धुरन्धर हैं। इन दोनों से ही तू अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँचेगा। **तौ इमौ**=ये दोनों **उपसर्पतः**=तुझे मेरे समीप ले-आते हैं। केवल ज्ञान एक पहिया है—इसी प्रकार केवल कर्म। दोनों पहिये अक्ष से मिले हुए होंगे तभी तेरे जीवन की गाड़ी लक्ष्य-स्थान पर पहुँच पाएगी। ये जीवरूपी पक्षी के दो पंख हैं। जीव दोनों पंखों से ही उड़ने में समर्थ बनेगा।

भावार्थ—हम पक्षी (सुपर्ण) हैं—ज्ञान और कर्म ही हमारे दो पर्ण—उत्तम पंख हैं। इनके द्वारा हम उड़कर प्रभु के समीप पहुँचेंगे।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दस चोटियोंवाला पर्वत

१६५६. नीव शीर्षाणि मृढ्वं मध्य आपस्य तिष्ठति। शृङ्गेभिर्दशभिर्दिशन्॥ ३॥

जीवों को प्रभु उपदेश करते हैं कि **शीर्षाणि**=शीर्षस्थ इन्द्रियों को (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्)=कानों, नासिका, आँखों व मुख को **नि मृढ्वम् इव**=पूर्णरूप से शुद्ध-सा कर डालो। इनमें किसी प्रकार का मल न रह जाए। अरे जीव तो **आपस्य मध्ये**=(आपो वै मेध्याः, आपः पुष्करम्) पवित्र हृदयान्तरिक्ष में **तिष्ठति**=निवास करता है। उस हृदयान्तरिक्ष को वासनाओं के बवण्डरों से मलिन मत होने दो।

हृदय में स्थित हुआ-हुआ यह जीव **दशभिः शृंगेभिः**=दस ऊँचाइयों के द्वारा, अर्थात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँचों कर्मेन्द्रियों को अत्यन्त उन्नत करके **दिशन्**=उस प्रभु की ओर संकेत कर रहा है। एक-एक इन्द्रिय को उच्चता के शिखर पर ले-जाकर ही तो यह प्रभु को प्राप्त कर पाता है। यदि यह किसी एक इन्द्रिय को उच्चता के शिखर पर ले-जाता है तो उसका जीवन अपूर्णता व अपरिपक्वता के कारण रसमय नहीं हो पाता। रसमयता के लिए दशों इन्द्रियों का शृङ्ग पर—चोटी पर पहुँचना आवश्यक है। बस, अब इन दश शृङ्गों के द्वारा यह अपने ब्रह्मलोकवास का संकेत कर रहा होता है—यह तो अवश्य ब्रह्म को पाएगा ही। सच्चे मोक्ष-सुख का लाभ करके यह सचमुच 'शुनःशेप' हो जाएगा।

भावार्थ—जीव का उन्नति-पर्वत दशशृङ्ग है—दस शिखरोंवाला है।

इति सप्तदशोऽध्यायः, अष्टमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

अष्टमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सात्त्विक भोजन

१६५७. पन्यंपन्यमित् सोतार आ धावत मद्याय। सोमं वीराय शूराय॥ १॥

यह मन्त्र १२३ संख्या पर व्याख्यात है। मन्त्र का सरलार्थ निम्न है—

सोतारः=हे प्रभु के उपासको! **इत्**=निश्चय से **पन्यंपन्यम्**=स्तुत्य और स्तुत्य ही, अर्थात् सात्त्विक भोजनों का ही ग्रहण करो और इस प्रकार **सोमं आ धावत**=सोम को सर्वथा शुद्ध रक्खो। यह सुरक्षित सोम **मद्याय**=हर्ष के लिए होगा, **वीराय**=वीरत्व (Virtue) व गुणों के उत्पादन के लिए होगा तथा **शूराय**=(शृ हिंसायाम्) सब रोगों का शीर्ण करनेवाला होगा।

भावार्थ—सोमरक्षा के लिए सात्त्विक भोजन आवश्यक है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्र का प्रभु को प्राप्त करना

१६५८. एह हरी ब्रह्मयुजा शग्मा वक्षतः सखायम्। इन्द्रं गीर्भिर्गिर्वणसम्॥ २॥

इह=गत मन्त्र में वर्णित सात्त्विक भोजन के द्वारा वीर्य के शरीर में सुरक्षित होने पर **हरी**=इन्द्रियाँ **ब्रह्मयुजा**=ज्ञान से व ज्ञानपुञ्ज ब्रह्म से मेल करानेवाली होती हैं। ये इन्द्रियरूप घोड़े **शग्मा**=सचमुच सुख देनेवाले होते हैं।

सोमरक्षा से सशक्त हुई-हुई इन्द्रियाँ जहाँ परमेश्वर से मेल कराकर निःश्रेयस को सिद्ध करती हैं, वहाँ सांसारिक कार्यों में सफलता प्राप्त करती हुई अभ्युदय को भी प्राप्त करानेवाली होती हैं। श्रेय व प्रेय दोनों की साधक ये इन्द्रियाँ **इन्द्रम्**=अपने अधिष्ठाता जीव को **गीर्भिः**=वेदवाणियों के द्वारा **गिर्वणसम्**=वेदवाणियों द्वारा उपासनीय उस **सखायम्**=निज सखा प्रभु को **आवक्षतः**=प्राप्त कराती हैं।

सोमरक्षा के द्वारा जीव सचमुच 'इन्द्र' बनता है। यह असुरों के संहार की शक्ति से सम्पन्न होता है। इसमें वेदवाणियों को समझने की शक्ति आती है। इन्हें पढ़ने से प्रभु की उपासना होती है। प्रभु की वाणी को पढ़ना प्रभु का आदर ही तो है। इस इन्द्र को उसकी इन्द्रियाँ प्रभु के समीप ले-जानेवाली होती हैं।

भावार्थ—इन्द्रियाँ इन्द्र को मित्र प्रभु के समीप ले-जाती हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मेधातिथि का जीवन

१६५९. पाता वृत्रहा सुतमा घा गमन्नारे अस्मत्। नि यमते शतमूतिः॥ ३॥

यह **सुतं पाता**=सोम का पान करनेवाला इन्द्र **वृत्रहा**=कामादि ज्ञान के आवरणों को सचमुच हनन करनेवाला होता है। संयमी पुरुष की ज्ञानाग्नि इस प्रकार दीप्त होती है कि वह कामरूप वायु से बुझ नहीं सकती। सोम का पान कर वासना को विनष्ट करने पर **घ**=निश्चय से वह प्रभु **अस्मत्**=हमसे **आरे**=दूर **न अगमत्**=नहीं जाता, अर्थात् हमें सदा प्रभु का सान्निध्य प्राप्त होता है।

यह **ऊतिः**=वासनाओं से अपनी रक्षा करनेवाला **शतम्**=सौ-के-सौ वर्ष **आनियमते**=अपने जीवन में सर्वथा संयमी बनता है। सौ वर्षों तक वासनाओं को वश में रखता है। संसार में यही तो बुद्धिमत्तापूर्वक चलने का मार्ग है। इसी से इसका नाम 'मेधातिथि' है। यह मेधातिथि वासनाओं का शिकार न होने से अन्त तक शक्तिशाली बना रहता है—अतः 'आङ्गिरस' है। संक्षेप में 'मेधातिथि आङ्गिरस' का जीवन यह है कि—

१. वह सोम का पान करता है—शक्ति की रक्षा करता है।
२. वासनाओं का विनाश करता है।
३. प्रभु से यह दूर नहीं जाता।
४. अपनी रक्षा करता है, सौ-के-सौ वर्षों तक संयमी जीवन बिताता है।

भावार्थ—हम संयमी जीवन बिताएँ, यही प्रभु-सान्निध्य का सर्वोत्तम साधन है।

सूक्त-२

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सबसे महान्

१६६०. आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः। न त्वामिन्द्राति रिच्यते॥ १॥

यह मन्त्र १९७ संख्या पर व्याख्यात है। सरलार्थ यह है—

प्रभु श्रुतकक्ष से कहते हैं कि **त्वा**=तुझमें **इन्दवः**=सोम इस प्रकार **आविशन्तु**=प्रवेश करें **इव**=जैसे **सिन्धवः**=नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र में। नदियाँ समुद्र से बाहर थोड़े ही जाती हैं—तुझसे भी सोमकण बाहर न जाएँ। जब ऐसा होता है तब हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठता जीव **त्वाम् न अतिरिच्यते**=तुझसे कोई अधिक नहीं होता है, अर्थात् तू शिखर पर पहुँच जाता है।

भावार्थ—शिखर पर पहुँचने के लिए मैं भी 'श्रुतकक्ष'=ज्ञान को शरण बनानेवाला होऊँ।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वीर्यरक्षा से महत्त्व की प्राप्ति

१६६१. विव्यक्थ महिना वृषन्भक्षं सोमस्य जागृवे। य इन्द्र जठरेषु ते॥ २॥

हे **वृषन्**=शक्तिशालिन्! **जागृवे**=सदा जागरणशील! **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **महिना**=महिमा के हेतु से **सोमस्य भक्षम्**=इस सोम के भोजन को **यः**=जो **ते**=तेरे **जठरेषु**=उदर में ही उत्पन्न होता है, उसे **विव्यक्थ**=अपने अन्दर ही व्याप्त कर।

भोजन का अन्तिम परिणाम जठर=उदर में वीर्य के रूप में होता है। वहाँ रस-रुधिरादि के क्रम से इसका निर्माण होता है। इसे जीव ने अपने अन्दर ही व्याप्त करना है। यह वीर्य ही उसे महिमा को प्राप्त करानेवाला होगा। इस विषय में इसे सदा जागरित—सावधान रहना है, क्योंकि तनिक भी

प्रमाद हुआ, और वासनाओं का शिकार होकर हम इसे गँवा बैठेंगे। इसके शरीर में व्याप्त होने पर ही हम शक्तिशाली बनेंगे।

लाभ=जो सोमपान करता है वह १. शक्तिशाली बनता है (वृषन्) और २. महिमा को प्राप्त करता है।

साधन=सोमपान कर वह सकता है १. जो सदा सावधान है (जागृवि) तथा २. जितेन्द्रिय बनता है (इन्द्र)।

प्रभु ने शरीर में रसों का रस निकालने की व्यवस्था करके इसका निर्माण किया है। इसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह वीर्य ही हमें रोगादि से बचानेवाला उत्तम 'कक्ष'=(shelter) है। इसको अपनानेवाला 'सुकक्ष' है।

भावार्थ—हम वीर्यरक्षा द्वारा महिमाशाली बनें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रकाश व प्रताप

१६६२. अरं त इन्द्र कुक्षये सोमो भवतु वृत्रहन्। अरं धामभ्य इन्दवः ॥ ३ ॥

हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! हे **वृत्रहन्**=ज्ञान के आवरणभूत वृत्र, अर्थात् वासनाओं को नष्ट करनेवाले आत्मन्! यह **ते**=तेरा **सोमः**=वीर्य (Semen) **कुक्षये** (कु=कुत्सित=खराबी) सब बुराइयों के क्षय के निमित्त **अरं भवतु**=समर्थ हो। ये **इन्दवः**=सोमकण **धामभ्यः**=प्रकाश (Light, Lustre) व प्रताप (Power) के लिए—अर्थात् ब्रह्म व क्षत्र के विकास के लिए **अरम्**—समर्थ हैं।

जीवात्मा को इन्द्र व वृत्रहन् बनना है—उसका लक्ष्य जितन्द्रिय होना तथा वासनाओं का विनाश कर डालना होना चाहिए। यह लक्ष्य होने पर वह सोम की रक्षा के लिए विशेषरूप से प्रवृत्त होता है। यह सोमरक्षा ही 'ब्रह्मचर्य' है। यह उसे ब्रह्म—बड़े की ओर चर्=ले-जाती है। इससे १. उसकी सब बुराइयाँ दूर हो जाती हैं (कु—क्षय) तथा २. उसे प्रकाश व प्रताप की (धामा) प्राप्ति होती है। दूसरे शब्दों में उसके ब्रह्म व क्षत्र का विकास होता है। जहाँ उसका ज्ञान बढ़ता है वहाँ उसकी शक्ति की भी वृद्धि होती है।

सोम को अपने जीवन का आधार बनाने से यह बुराइयों को दूर कर सका तथा शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बना। एवं, यह सोम उसके रक्षण के लिए कितनी सुन्दर वस्तु प्रमाणित हुई। क्या यह सचमुच सु-कक्ष=उत्तम शरण-(Shelter)-वाला नहीं? यह जहाँ सुकक्ष है वहाँ ज्ञान की वृद्धि करनेवाला 'श्रुतकक्ष' है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम मुझे पवित्रता, प्रकाश व प्रताप की प्राप्ति करानेवाला हो।

सूक्त-३

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दृश्य भक्ति न कि श्रव्य

१६६३. जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय। स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥ १ ॥

यह मन्त्र संख्या १५ पर द्रष्टव्य है। सरलार्थ यह है—**जराबोध**=हे बुढ़ापे में चेतनेवाले जीव!

विशेविशे यज्ञियाय=प्रत्येक प्राणी के साथ सम्पर्क रखनेवाले **रुद्राय**=(रुत्+र) उपदेश देनेवाले प्रभु के लिए **तत्**=उस **दृशीकं स्तोमम्**=आँखों से दीखनेवाली स्तुति को **विविड्ढि**=व्याप्त कर।

सामान्यतः मनुष्य वाणी से ही प्रभु के स्तोत्रों को बोलता रहता है—यह श्रव्यभक्ति है। सब प्राणियों के हित में लगना ही प्रभु की दृश्य भक्ति है—यही प्रभु को प्रीणित कर सकती है। वास्तविक सुख का निर्माण तो यही भक्त कर पाता है, अतः 'शुनःशेप' (शुनम्—सुख, शेप=to make) कहलाता है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान व शक्ति की प्रेरणा

१६६४. स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः। धिये वाजाय हिन्वतु॥ २॥

वे प्रभु १. **महान्**=महनीय—पूजनीय हैं। अथवा (महान्=strong) सर्वशक्तिमान् हैं, सदा वर्धमान हैं (to grow)। २. **अनि-मानः**=उनका कोई निश्चित माप नहीं है—वे अमेय व अनन्त हैं। ३. **धूमकेतुः**=(धूञ् कम्पने) उनका ज्ञान (केतु) सब बुराइयों को कम्पित करके दूर करनेवाला है। ४. **पुरुः चन्द्र**=वे पालक हैं, पूरक हैं और आह्लादमय होते हुए आह्लादित करनेवाले हैं।

सः=वे उल्लिखित स्वरूपवाले प्रभु **नः**=हमें **धिये**=बुद्धि व ज्ञान के लिए तथा **वाजाय**=शक्ति के लिए **हिन्वतु**=प्रेरित करें।

वस्तुतः जो भी व्यक्ति अपने जीवन को सुखी बनाना चाहता है—शुनःशेप बनना चाहता है, उसे प्रभु की शक्ति व ज्ञान का चिन्तन करना चाहिए और अपने अन्दर शक्ति व ज्ञान को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—मैं प्रभु के ज्ञान व बल का चिन्तन करता हुआ इनकी वृद्धि के लिए प्रेरणा प्राप्त करूँ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

न्यासी=ट्रस्टी न कि धनी ('रेवान् इव,' न कि 'रेवान्')

१६६५. स रेवाँइव विश्पतिर्दैव्यः केतुः शृणोतु नः। उक्थैरग्निर्बृहद्भानुः॥ ३॥

प्रभु कहते हैं कि **सः**=वह व्यक्ति १. **रेवान् इव**=बड़ा धनवान्-सा होता है। 'सा' (इव) का प्रयोग इसलिए है कि वह अपने को धनी थोड़े ही मानता है—उसे तो यह विचार बना रहता है कि धन प्रभु का है—मैं तो केवल उसका ट्रस्टी हूँ, उसकी प्रेरणा के अनुसार उसके धन का केवल विनियोग करनेवाला हूँ। २. **विश्पतिः**=यह प्रजाओं का पालन करनेवाला—रक्षक होता है। प्रभु के दिये हुए धन को प्रजा के पालन में विनियुक्त करता है। ३. **दैव्यः**=(देवस्य अयम्) देव का होता है—यह प्रभु का बनकर रहता है—प्रकृति का नहीं बन जाता। ४. **केतुः**=ज्ञान का पुञ्ज होता है—अथवा (कित निवासे रोगापनयने च) उत्तम निवासवाला होता है तथा रोगों से दूर रहता है। ५. **अग्निः**=यह सदा 'अग्रे-णीः'=होता है—अपने को आगे और आगे प्राप्त करानेवाला होता है। ६. **बृहत् भानुः**=अत्यन्त दीप्तिमय होता है—इसका ज्ञान इसकी वृद्धि का कारण बनता है।

प्रश्न यह है कि ऐसा कौन बनता है? उत्तर यह है कि--

१. **उक्थैः**=स्तोत्रों के साथ जो **नः शृणोतु**=हमारी वेदवाणी को सुनता है, अर्थात् अपने जीवन

को 'रेवान् इव' आदि विशेषणों से युक्त बनाने के लिए आवश्यक है कि १. जीव प्रभु के स्तोत्रों का गायन करे—प्रभु-नाम का स्मरण करे—प्रभु का उपासक हो तथा २. वह प्रभु की वेदवाणी को सुने और उसके द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाने का प्रयत्न करे। जो भी व्यक्ति इस प्रकार अपने जीवन में भक्तियोग व ज्ञानयोग को समन्वित करता है वह उल्लिखित प्रकार का सुन्दर जीवन प्राप्त करके सचमुच अपने जीवन को सुखी बनाता है और इस मन्त्र का ऋषि='शुन:शेप' होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें, उसकी वेदवाणी को सुनें और 'रेवान् इव' बनें (ट्रस्टी), न कि रेवान् (धनी)।

सूक्त-४

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु का गायन व शान्ति

१६६६. तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने। शं यद् गवे न शाकिने ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र की व्याख्या संख्या ११५ पर द्रष्टव्य है। सरलार्थ इस प्रकार है—

वः पुरुहूताय=जिसका आह्वान तुम्हारा पालन व पूरण करनेवाला है—उस **सत्वने**=कामादि शत्रुओं का शातन—विनाश करनेवाले के लिए तथा **गवे न**=गौ के समान निर्दोष के तथा **शाकिने**=शक्ति के मद में निर्बलों पर अत्याचारी के भी **शम्**=कल्याण करनेवाले प्रभु के लिए **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में अथवा उत्पादन के निमित्त **सचा**=मिलकर **तत्**=उस स्तोत्र का **गाय**=गायन कर।

यह गायन ही तेरी सच्ची शान्ति का साधन होगा और तू इस मन्त्र का ऋषि 'शंयु' बन पाएगा।

भावार्थ—हम प्रभु का गायन करें और सच्ची शान्ति प्राप्त करें।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शान्ति व ज्ञान का असीम दान

१६६७. न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः। यत् सीमुपश्रवद्गिरः ॥ २ ॥

'वासयति—वसति वासयति वा इति वसुः'=सबको अपने अन्दर निवास देने के कारण तथा सबमें निवास करने के कारण वे प्रभु 'वसु' हैं। ये **वसुः**=सबको बसानेवाले प्रभु **घ**=निश्चय से **गोमतः**= वेदवाणियोंवाले, अर्थात् ज्ञान से युक्त **वाजाय**=शक्ति के **दानम्**=दान को **नियमते**=सीमित **न**=नहीं करते, अर्थात् असीम ज्ञान व शक्ति देते हैं, परन्तु कब ? **यत्**=जब **सीम्**=निश्चय से जीव **गिरः**=प्रभु की वाणियों को **उपश्रवत्**=समीपता से सुनता है। जैसे संसार में पुत्र जब माता की बात को ध्यान से सुनता है तब वह उनका प्रिय बनता है, उसी प्रकार जीव भी जब प्रभु की बात सुनता है तब प्रभु का प्रिय होता है। जब प्रभु को जीव प्रीणित करता है तब प्रभु उसे प्रशस्तेन्द्रियों तथा प्रशस्त ज्ञानवाला बल प्राप्त कराते हैं। (गावः १. इन्द्रियाणि २. वेदवाचः)।

जीव का कर्त्तव्य है कि वह प्रभु की वाणी को सुने। जब जीव प्रभु की वाणी को सुनता है तब १. इसकी इन्द्रियाँ प्रशस्त होती हैं, २. उसका ज्ञान बढ़ता है तथा ३. वह शक्ति-सम्पन्न बनता है।

ज्ञान का सम्पादन करनेवाला यह 'बार्हस्पत्य' कहलाता है। शक्ति प्राप्त करके यह नीरोग व सुखी जीवनवाला 'शंयु' होता है। यह 'शंयु बार्हस्पत्य' प्रभु की आज्ञा में चलता है और परिणामतः 'असीम शक्ति व ज्ञान का लाभ करता है'।

भावार्थ—हम प्रभु के निर्देशों को ध्यान से सुननेवाले हों।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

जब मेरे बाड़े में प्रभु आते हैं

१६६८. कुवित्सस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत्। शचीभिरप नो वरत्॥ ३ ॥

जीव 'कुवित्स' है (कु-वित्)—इसका ज्ञान अल्प है, अतएव अप्रशस्त है—इस अल्पज्ञता के कारण ही जीव अनेक ग़लतियाँ भी कर बैठता है। इन ग़लतियों के परिणामरूप ही उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और इसे इस शरीररूप बाड़े में क़ैद होना पड़ता है। यह शरीररूप बाड़ा भी गौवोंवाला है—इन्द्रियाँ ही यहाँ गौवें हैं। 'गावः' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं—गौवें तथा इन्द्रियाँ। वे प्रभु 'दस्युहा' हैं—शरीररूप बाड़े में इन्द्रियरूप गौवों की चोरी के लिए कामादि दस्यु प्रवेश करते हैं—परन्तु वहाँ उपस्थित प्रभु उन दस्युओं का नाश कर देते हैं। वास्तव में तो जब प्रभू इस बाड़े में आते हैं तब इस बाड़े की आवश्यकता ही नहीं रहती। जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मोक्ष के लिए आवश्यक ज्ञान व कर्म प्रभु की कृपा से प्राप्त होता है और हम इस बाड़े को अपने से दूर कर पाते हैं। यदि काव्य के शब्दों में कहें तो कामादि दस्यु तो इन्द्रियरूप गौवों को ही चुरा रहे थे; दस्युहा प्रभु आते हैं और बाड़े का भी सफ़ाया कर देते हैं। मन्त्र में कहा है कि—

कुवित्सस्य=अल्पज्ञ जीव के **गोमन्तं व्रजम्**=इस इन्द्रियरूप गौवोंवाले शरीररूप बाड़े को जब **हि**=निश्चय से **दस्युहा**=कामादि दस्युओं का नाश करनेवाले प्रभु **आगमत्**=प्रकर्षेण प्राप्त होते हैं (सर्वव्यापकता के नाते तो वे यहाँ हैं ही, हमें जब उनका ज्ञान होता है तब यही उनका प्रकर्षेण प्राप्त होना कहलाता है) तब **शचीभिः**=प्रज्ञानों व शक्तिशाली कर्मों से (शची=१. प्रज्ञा २. कर्म) **नः**=हमसे **अपवरत्**=इस बाड़े को दूर कर देते हैं। वस्तुतः बाड़े में छिपकर रहने की अब आवश्यकता ही क्या है? उस सर्वशक्तिमान् प्रभु के सान्निध्य में कोई भय है क्या जो छिपकर रहा जाए? अब मन में किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता। यह व्यक्ति सचमुच 'शंयु' बन जाता है।

भावार्थ—मैं अपने इस बाड़े में प्रभु को आमन्त्रित करूँ।

सूक्त-५

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ देवता—विष्णुः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'त्रे—धा' नकि 'एक—धा'

१६६९. इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पांसुले॥ १ ॥

यह मन्त्र २२२ संख्या पर द्रष्टव्य है। सरलार्थ निम्न हैं—

विष्णुः=व्यापक उन्नति करनेवाला जीव **विचक्रमे**=पुरुषार्थ करता है, और **इदं पदं त्रेधा निदधे**=अपने इस चरण को तीन प्रकार से रखता है। यह केवल ज्ञान, केवल कर्म व केवल भक्ति को महत्त्व न देकर तीनों का ही अपने में समन्वय करने का प्रयत्न करता है। **पांसुले**=इस धूल भरे संसार में—अर्थात् जहाँ सार के स्थान में असार के ग्रहण की वृत्ति अधिक है—**अस्य**=इसने ही **सम्-ऊढम्**=अपने कर्त्तव्य भार का ठीक से वहन किया है। ज्ञान, कर्म व भक्ति तीनों के कणों को लेनेवाला यह 'काण्व' सचमुच मेधातिथि है—बुद्धिमत्ता से चलनेवाला है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में ज्ञान, कर्म व भक्ति तीनों का समन्वय करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ देवता—विष्णुः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

विष्णु—गोपाः—अदाभ्य

१६७०. त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्माणि धारयन् ॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि मेधातिथि **त्रीणि पदा**=तीन कदमों को **विचक्रमे**=चलता है। मेधातिथि एक कदम को न रखकर तीनों कदमों को रखने का ध्यान करता है। जैसाकि ऊपर के मन्त्र में कहा गया है। यह केवल ज्ञान, केवल कर्म व केवल भक्ति को महत्त्व न देकर तीनों को अपनाता है। १. **विष्णुः**=(विष् व्याप्तौ) यह व्यापक मनोवृत्तिवाला होता है। इसके उदार हृदय में सारी वसुधा के लिए स्थान होता है। २. **गो-पाः**=यह इन्द्रियों की रक्षा के द्वारा (गावः=इन्द्रियाणि) अपने मस्तिष्क में वेदवाणियों (गावः=वेदवाचः) का रक्षक बनता है। ३. **अ-दाभ्यः**=अपने कर्मों में यह पवित्र (pure-undefiled) रहने का प्रयत्न करता है। यह कभी दबकर अन्याय्य कर्म नहीं करता। यह न्याय्य मार्ग से ही चलता है—चाहे कुछ भी हो।

अतः=इसी उद्देश्य से कि वह 'विष्णु, गोपा और अदाभ्य' बना रहे यह **धर्माणि**=देवपूजा, सङ्गतीकरण व दानरूप मुख्य कर्मों को **धारयन्**=इस प्रकार धारण करता है कि ये उसके स्वभाव ही हो जाते हैं। 'बड़ों का आदर करना, बराबरवालों से मिलकर चलना तथा छोटों को कुछ-न-कुछ देना, उनके प्रति दया से चलना', यह इसका स्वभाव ही बन जाता है।

भावार्थ—हम मेधातिथि बनें तथा 'विष्णु, गोपाः, व अदाभ्य' बनने का यत्न करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ देवता—विष्णुः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्र का सदा सखा

१६७१. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३ ॥

प्रभु सर्वव्यापक हैं—सर्वव्यापक होने के नाते उनके कर्म भी व्यापकता को लिये हुए हैं—वे कर्म पूर्ण पवित्र हैं। इस व्यापकता के कारण प्रभु का नाम 'विष्णु' है। जीव को चाहिए कि कि उस प्रभु के कर्मों का विचार करे और अपने कर्त्तव्यों का निर्णय करे। **विष्णोः**=उस सर्वव्यापक प्रभु के **कर्माणि**=कर्मों को **पश्यत**=देखो, **यतः**=जिनसे, अर्थात् जिनको देखकर **व्रतानि**=अपने कर्त्तव्यों को जीव **पस्पशे**=स्पष्टरूप से देखता है। प्रभु के सब कर्म पक्षपात व भेदभाव से शून्य और न्याय्य हैं—यह देखकर जीव को न्याय्यमार्ग पर ही चलने का निश्चय करना चाहिए।

परमात्मा ही **इन्द्रस्य**=जीवात्मा का उसे **युज्यः**=उत्तमोत्तम कर्मों में लगानेवाला, उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाला **सखा**=मित्र है। प्रभु अपने उदाहरण से कर्मों की प्रेरणा दे रहे हैं—बशर्ते कि जीव उनका विचार करे। अन्तःकरण में स्थित हुए-हुए वे प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं—यदि हम उसे सुनें।

प्रभु ही जीव के सच्चे सखा हैं। उस 'सविता देव'=दिव्य गुणों के पुञ्ज, प्रेरक प्रभु के कामों को देख व विचार कर और उससे दी गयी प्रेरणा को सुनकर जीव अपने व्रतों (duties) का सम्यक् निश्चय कर सकता है।

भावार्थ—वे प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र हैं—उसके कर्म ही हमें हमारे कर्त्तव्यों का संकेत कर रहे हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ देवता—विष्णुः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

परमपद का दर्शन

१६७२. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥ ४ ॥

जब जीव प्रभु का शिष्य बनता है, अर्थात् उसके कर्मों को देखकर अपने कर्मों का निर्धारण करता है तब धीरे-धीरे पवित्र-जीवनवाला बनता हुआ वह अपने ज्ञान को बढ़ाने में भी समर्थ होता है; अतएव यह सूरिः=विद्वान् कहलाता है। ये **सूरयः**=ज्ञानी लोग **विष्णोः**=व्यापक परमात्मा के **तत्**=उस **परमं पदम्**=उत्कृष्ट पद को **सदा पश्यन्ति**=सदा देखते हैं। **इव**=उसी प्रकार जैसेकि **दिवि**=द्युलोक में **आततम् चक्षुः**=इस व्यापक आँख को, अर्थात् सूर्य को हम सामान्य लोग देखते हैं।

सूर्य हमें जितना स्पष्ट दीखता है उतना ही स्पष्ट ज्ञानी लोगों को परमात्मा का दर्शन होता है। हमें सूर्य के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं और ज्ञानियों को प्रभु की सत्ता के विषय में नाममात्र भी सन्देह नहीं। इस परमपद के दर्शन का साधन यही है कि हम प्रभु के कार्यों के अनुसार अपने कार्यों को बनाएँ।

भावार्थ—हम सूरि—ज्ञानी बनें और सूर्यवत् प्रभु के उस परमपद का दर्शन करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ देवता—विष्णुः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

परमपद का समिन्धन

१६७३. तद्विप्रासो विपन्युवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ५ ॥

विष्णोः=उस सर्वव्यापक प्रभु का **यत्**=जो **परमं पदम्**=सर्वोत्कृष्टरूप है **तत्**=उस रूप को **समिन्धते**=अपने अन्दर समिद्ध करते हैं, उस रूप का दर्शन करते हैं। कौन?

१. **विप्रासः**=(वि-प्रा=पूरणे) विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले लोग। वे लोग जो आत्मालोचन के द्वारा अपनी कमियों को जानकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

२. **वि-पन्यवः**=जो विशिष्टि स्तुतिवाले हैं। प्रभु की श्रव्य भक्ति, अर्थात् कीर्तन, नाम-स्मरणादि भी अपना महत्त्व रखते ही हैं, परन्तु 'आसक्ति को छोड़कर सर्वभूतहित में लगने का प्रयत्न करना'—यही उस प्रभु की विशिष्ट स्तुति है। ये विशिष्ट स्तोता ही प्रभु का निरूपण कर पाते हैं।

३. **जागृवांसः**=जो जागनेवाले हैं। जो अपने स्वरूप व कर्त्तव्य में मोह-निद्रा में सोये हुए नहीं हैं। जो अपने कर्त्तव्यों को स्पष्टरूप में देखते हैं और उनका आचरण करते हैं।

ये तीन व्यक्ति अपने अन्दर उस परमपद का समिन्धन करते हैं—दूसरे शब्दों में ये भी उस विष्णु-जैसे ही बन जाते हैं। विष्णु-जैसा बनना ही तो विष्णु की परमभक्ति है।

भावार्थ—हम अपनी न्यूनताओं को दूर करें, सर्वभूतहित में लगकर प्रभु के विशिष्ट स्तोता बनें, और सदा जाग्रत् व सावधान रहें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ देवता—विष्णुः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शिखर पर

१६७४. अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे । पृथिव्या अधि सानवि ॥ ६ ॥

यतः=क्योंकि **विष्णुः**=व्यापक मनोवृत्तिवाले ने **विचक्रमे**=विशेषरूप से तीन पगों को रक्खा है—उसने मस्तिष्क में ज्ञान को भरने का प्रयत्न किया है, हाथों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगाया है तथा हृदय को भक्ति से परिपूर्ण किया है, **अतः**=इसलिए **नः**=हमारे **देवाः**=दिव्य गुण **पृथिव्याः**=इस पार्थिव शरीर के **अधिसानवि**=शिखर पर **अवन्तु**=उन्नत करें, प्राप्त कराएँ।

उल्लिखित मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है कि तीन पगों को रखने के कारण यह मनुष्य 'विष्णु' है। ज्ञान, कर्म व भक्तिरूप तीन कदमों के कारण उसमें दिव्य गुणों की उत्पत्ति होती है, और ये दिव्य गुण उसे उन्नति के शिखर पर पहुँचाते हैं। इस पार्थिव शरीर में जितना ऊँचा उठना सम्भव है, उतना इसी प्रकार हम पहुँच सकते हैं।

उन्नति का अनुपात व्यापकता मूलक ही है। जितनी व्यापक हमारी मनोवृत्ति होगी उतनी ही अधिक उन्नति हम कर पाएँगे। व्यापाक मनोवृत्तिवाला व्यक्ति ही 'विष्णु' है—यह उन्नति के शिखर पर पहुँचता है।

भावार्थ—'ज्ञान, कर्म व भक्ति' की त्रयी, दिव्य गुणों को उत्पन्न करके, हमें उन्नति के शिखर पर ले-जानेवाली हो।

सूक्त-६

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती)॥ स्वरः—मध्यमः॥

समीपतम

१६७५. मो षु त्वा वाघतश्च नारे अस्मन्नि रीरमन्।
आरात्ताद्वा सधमादं न आ गहीह वा सन्नुप श्रुधि॥ १॥

यह मन्त्र २८४ संख्या पर व्याख्यात है। सरलार्थ यह है—

हे प्रभो! **वाघतः चन**=तेरा वहन करनेवाले विद्वान् भी **अस्मत् आरे**=हमसे दूर स्थान में **त्वा**=आपको **मा उ**=मत ही **सु**=उत्तम प्रकार से **निरीरमन्**=प्रीणित करें। आपकी चर्चा के द्वारा जब विद्वान् आपकी आराधना करें तब हमारे समीप ही आपकी चर्चा करें। इस प्रकार हम उस वातावरण में रहें जहाँ आपकी चर्चा चलती हो।

वा=अथवा **आरातात्**=इस दूर स्थान से भी **नः**=हमारे **सधमादम्**=आपके साथ मिलकर आनन्दित होने के उपासना स्थान में **आगहि**=आ जाइए।

और सबसे अच्छा तो यह है कि **इह वा**=यहाँ ही हमारे हृदयों में **सन्**=होते हुए **उपश्रुधि**=समीपता से हमें वेदवाणियों का श्रवण कराइए।

विद्वानों की सभाओं में हम आपकी चर्चा सुनें, अपने उपासना-गृहों में आपका जपन करें और अन्त में हृदयस्थ आपसे वेदवाणियों का श्रवण करें। इस प्रकार आपके अत्यन्त सामीप्य का अनुभव करें।

भावार्थ—हम प्रभु के अत्यन्त समीप होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ज्ञानी, स्तोता, वसुमान्

१६७६. इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमा दधुः ॥ २ ॥

***ज्ञानी*—इमे**=ये **हि**=निश्चिय से **ते**=वे ही **ब्रह्मकृतः**=ज्ञानी वेद-मन्त्रों के भाव को हृदयों में भरनेवाले हैं, जो **सचा**=मिलकर **सुते**=निर्माण के कार्य में **आसते**=स्थित होते हैं, उसी प्रकार **न** जैसेकि **मक्षः**=मक्खियाँ **मधौ**=शहद के निर्माण के निमित्त मिलकर एक छत्ते में **आसते**=स्थित होती हैं। ज्ञानियों का कार्य यही है कि वे मिलकर निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहें और मक्खियाँ जैसे शहद-जैसे मधुर पदार्थ को पैदा करती हैं, उसी प्रकार लोकहित की वस्तुओं को पैदा करें।

***स्तोता*—जरितारः**=स्तोता वे हैं जो **कामम्**=अपनी सब कामनाओं को **इन्द्रे**=प्रभु में अर्पित कर देते हैं। ये लोग 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण तथा ब्रह्मवर्चस्' की कामनाओं को छोड़कर प्रभु को ही चाहते हैं। अनन्य भक्त ही वस्तुतः भक्त होता है—यह सिवाय अपने भक्तिभाजन के किसी को नहीं चाहता। इसकी सब कामनाएँ प्रभु में **न**=उसी प्रकार निहित होती हैं जैसेकि धनेच्छु का पाँव रथ में।

***कर्मी*—इन** ज्ञानी और स्तोताओं के अतिरिक्त वे व्यक्ति हैं जो **वसूयवः**=धनों को चाहते हुए **रथे**=रथ में **पादम्**=पाँव को **आदधुः**=धारण करते हैं। ये व्यापारी लोग एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने के लिए सदा रथस्थ रहते हैं। इसी प्रकार स्तोता प्रभु में स्थित होते हैं तथा ज्ञानी निर्माण के कार्यों में लगे रहते हैं।

भावार्थ—मैं ज्ञानी, स्तोता तथा वसुमान् बनकर प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ बनूँ। मैं उत्तम निवासवाला होऊँ।

सूक्त-७

ऋषिः—आयुः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

स्तुति का लाभ

१६७७. अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत।
पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥ १ ॥

***स्तोत्र*—१. मन्म**=स्तोत्र **पूर्व्यम्**=उत्तम (Excellent) हैं, इस प्रकार **अस्तावि**=स्तुति किये जाते हैं। स्तोत्रों की महिमा यह है कि इनके द्वारा मानव-जीवन उत्तम बनता है—ये उसका पूरण करते हैं। स्तोत्रों के उच्चारण से तदनुरूप बनने की प्रेरणा मिलती है।

***किसके लिए?*—ब्रह्म**=स्तोत्रों को **इन्द्राय**=उस निरतिशय ऐश्वर्यवाले प्रभु के लिए **वोचत**=उच्चारण करो। प्रभु के लिए स्तोत्रों का उच्चारण करना चाहिए। जिसकी स्तुति करेंगे वही तो हमारा लक्ष्य बनेगा। स्तुत्य के अनुसार ही अन्त में हमारा जीवन होगा। ब्रह्म की स्तुति करेंगे तो ब्रह्म-जैसे ही बनेंगे। ब्रह्म-जैसा बनना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

***कौन-से?*—उस** प्रभु के लिए कौन-से स्तोत्रों का उच्चारण करें? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं कि **ऋतस्य**=सत्य की **पूर्वीः**=सनातन—अत्यन्त प्राचीन **बृहतीः**=वृद्धि की कारणभूत

वेदवाणियाँ **अनूषत**=उच्चारण की जाती हैं, अर्थात् वेदमन्त्रों के द्वारा हम प्रभु का स्मरण करते हैं। ये वेदमन्त्र सृष्टि के आरम्भ में दिये जाने से 'पूर्वी:'=सनातन हैं। इनमें उपदिष्ट बातें कार्यान्वित होने पर वृद्धि की कारणभूत होने से 'बृहती:' हैं। इन वेदवाणियों का ही हमें उच्च स्वर से उच्चारण करना चाहिए।

लाभ—इस प्रकार वेदमन्त्रों से प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करनवाला 'स्तोता' कहलाता है। **स्तोतुः**=इस स्तोता की **मेधाः**=बुद्धियाँ **असृक्षत**=उस प्रभु के द्वारा सृष्ट की जाती हैं, अर्थात् स्तुति करने का सर्वमहान् लाभ यही है कि स्तोता को उत्तम बुद्धि प्राप्त होती है। इस उत्तम बुद्धि को प्राप्त करके उत्तम कर्मों के अन्दर प्रवृत्त होनेवाला यह स्तोता 'आयु:' कहलाता है (एति गच्छति)। प्रभुभक्त अकर्मण्य थोड़े ही बैठ सकता है? कण-कण करके उन्नति करते चलने से यह 'काण्व' है।

भावार्थ—स्तोत्र उत्तम हैं, स्तोत्रों का उच्चारण प्रभु के लिए करना, वेदमन्त्रों के द्वारा स्तुति करने पर स्तोता को बुद्धि प्राप्त होती है।

ऋषिः—आयुः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु का स्तवन

१६७८. समिन्द्रो रायो बृहतीरधूनुत सं क्षोणी समु सूर्यम्।
सं शुक्रासः शुचयः सं गवाशिरः सोमा इन्द्रममन्दिषुः॥ २॥

इन्द्रः=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **बृहतीः रायः**=विशाल ऐश्वर्यों को **अधूनुत**=प्रेरित करता है (धू=to cause, to move) **क्षोणीः**=नाना पृथिवियों को **सम् अधूनुत**=अपने-अपने मार्ग पर प्रेरित करता है, **उ**=तथा **सूर्यम्**=सूर्य को **सम् (अधूनुत)**=सम्यक् प्रेरणा देता है।

स्तोता प्रभु का स्तवन करता है, उसके प्रति नतमस्तक होता है—उसकी महिमा का स्मरण करता है। इस श्रव्यभक्ति के साथ वह अपने जीवन को सुन्दर बनाकर उस प्रभु की दृश्य भक्ति के लिए भी उद्यत होता है। वस्तुतः यह दृश्यभक्ति ही प्रभु को प्रीणत करनेवाली होती है। श्रव्यभक्ति का परिणाम तो केवल एक लक्ष्यदृष्टि को पैदा करना है। लक्ष्यदृष्टि के उत्पन्न हो जाने पर ये स्तोता अपने जीवन को 'शक्तिशाली, पवित्र, निर्दोष व विनीत' बनाकर सचमुच प्रभु को आराधित कर पाते हैं।

शुक्रासः=शक्तिशाली—शक्ति के पुञ्ज (शुक्रम्=वीर्यम्) **शुचयः**=धन की दृष्टि से पवित्र (योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः) **गवाशिरः**=इन्द्रियों के मलों को सर्वथा नष्ट करनेवाले (गो, आ, शृ) **सोमाः**=विनीत पुरुष ही **इन्द्रम्**=उस निरतिशय ऐश्वर्य-सम्पन्न प्रभु को **सम् अमन्दिषुः**=सम्यक्तया प्रसन्न करते हैं, अर्थात् प्रभु की सच्ची स्तुति तो यही है कि १. पुरुष शक्तिशाली बने (शुक्रासः)। २. पवित्र मार्ग से ही धन कमाये (शुचयः)। ३. प्राणायामादि द्वारा इन्द्रिय-मलों को नष्ट करके इन्द्रियों को निर्दोष बनाये (गवाशिरः) तथा ४. विनीत बने (सोमाः)। इस प्रकार अपने जीवन को सदा सुन्दर बनाने में लगा हुआ 'आयुः'=क्रियाशील व्यक्ति ही प्रभु का सच्चा स्तोता है।

भावार्थ—प्रभु की महिमा का स्मरण करके हम विनीत बनें और सचमुच प्रभु के स्तोता हों।

सूक्त–८

ऋषिः—अम्बरीष ऋजिश्वा च ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सोमरक्षण से क्या होगा ?

१६७९. इन्द्राय सोम पातवे वृत्रघ्ने परि षिच्यसे ।
नरे च दक्षिणावते वीराय सदनासदे ॥ १ ॥

सोम=हे वीर्यशक्ते! तू **इन्द्राय पातवे**=इन्द्र के पान के लिए होता है। जितेन्द्रिय पुरुष ही तेरा पान करता है। सोम को शरीर में ही व्याप्त करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य जितेन्द्रिय बने। हे सोम! तू **परिषिच्यसे**=शरीर में ही सर्वत्र सिक्त होता है। किनके लिए? १. **वृत्र-घ्ने**=ज्ञान की आवरणभूत कामादि वासनाओं को नष्ट करनेवाले के लिए, अर्थात् जो मनुष्य कामादि वासनाओं को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील होता है उसके शरीर में यह सोम सम्पूर्ण रुधिर में व्याप्त होकर रहता है। २. **नरे च**=और (नृ=मनुष्य) उस मनुष्य के लिए जो अपने को आगे और आगे ले-चलने का निश्चय करता है। यह आगे बढ़ने की भावना भी सोम-सुरक्षा में सहायक होती है। ३. **दक्षिणावते**=दानशील मनुष्य के लिए यह सोम परिषिक्त होता है, अर्थात् दान की वृत्ति भी सोमरक्षा में सहायक है। यह वृत्ति मनुष्य को व्यसनों से बचाती है। व्यसनों से बचाने के द्वारा सोम-रक्षण में साधन बनती है। ४. **वीराय**=वीर पुरुष के लिए। वीर पुरुष अपनी वीरता को नष्ट न होने देने के लिए सोमरक्षण में प्रवृत्त होता है। ५. **सदनासदे**=सदन में बैठनेवाले के लिए। यहाँ सदन शब्द '**विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत**' इस मन्त्रभाग की 'सीदत' क्रिया का ध्यान करते हुए सब घरवालों के मिलकर बैठने के स्थान, अर्थात् यज्ञभूमि के लिए आया है। 'इस यज्ञभूमि में बैठने का है स्वभाव जिसका' उसके लिए यह सोमरक्षण सम्भव होता है।

यह सोमरक्षण करनेवाला व्यक्ति सदा सरल मार्ग से चलता है—दूसरे शब्दों में 'ऋजिश्वा' बनता है। यह ऋजिश्वा सोमरक्षण के लिए निम्न बातें करता है—

१. जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करता है (इन्द्राय)। २. वासनाओं को विनष्ट करता है (वृत्रघ्ने)। ३. आगे बढ़ने की वृत्ति को धारण करता है (नरे)। ४. दानशील बनता है (दक्षिणावते)। ५. वीर बनता है (वीराय)। ६. यज्ञशील बनता है (सदनासदे)।

सोमरक्षण होने पर ये बातें हममें फूलती-फलती हैं।

भावार्थ—हम सोमरक्षण के द्वारा वीर बनें।

ऋषिः—अम्बरीष ऋजिश्वा च ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

कान्ति व शक्ति का दाता सोम

१६८०. तं सखायः पुरूरुचं वयं यूयं च सूरयः ।
अश्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम् ॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'ऋजिश्वा' सोम के महत्त्व को समझने के कारण अपने सब मित्रों को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि **सखायः**=हे मित्रो! **वयं यूयं च**=हम और आप सब **सूरयः**=

विद्वान्—समझदार बनते हुए **तम्**=उस सोम को **अश्याम**=अपने अन्दर व्याप्त करने का प्रयत्न करें (अश् व्याप्तौ) जो सोम—१. **पुरूरुचम्**=बहुत अधिक दीप्तिवाला है—जिसकी दीप्ति हमारा पालन व पूरण करनेवाली है (पृ=पालन व पूरण) तथा २. **वाजगन्ध्यम्**=(वाज=शक्ति, गन्ध=सम्बन्ध) हमारे साथ शक्ति को सम्बद्ध करनेवालों में उत्तम है। वास्तव में चाहिए यह कि हम इस सोम का **सनेम**=पूजन करें, क्योंकि यह सोम ३. **वाजपस्त्यम्**=शक्ति का घर है। सोम ही शक्ति है। जब तक यह सोम है हम सशक्त हैं—इसके अभाव में अशक्त। इसकी विद्यमानता में ही शरीर में शक्ति व कान्ति है।

जो भी व्यक्ति कुछ समझदार होगा वह सोमरक्षण में अवश्य तत्पर होगा। सोमरक्षण ही वस्तुतः हमें उच्च ज्ञान के शिखर पर पहुँचने के योग्य बनाता है। सोम का रक्षक ही 'सूरि'=विद्वान् बनता है।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होकर हमें कान्ति दे, शक्ति प्राप्त कराए और इस प्रकार उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को हम प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—अम्बरीष ऋजिश्वा च॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

प्रभु चिन्तन व दिव्यता का लाभ

१६८१. परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण।
यो देवान्विश्वाँ इत् परि मदेन सह गच्छति॥ ३॥

यह मन्त्र ५५२ संख्या पर व्याख्यात है।

त्यम्=उस **हर्यतम्**=कामना करने योग्य—सचमुच चाहने योग्य **हरिम्**=सर्वदुःखहारक **बभ्रुम्**=भरण-पोषण करनेवाले प्रभु को **वारेण**=वासनाओं के निवारण के द्वारा **परिपुनन्ति**=विचारते हैं, अपने ज्ञान का विषय बनाते हैं। इस मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति वह होता है **यः**=जो **विश्वान् देवान्**=सब दिव्य गुणों को **मदेन सह**=प्रसन्नता व हर्ष के साथ **इत् परिगच्छति**=निश्चय से सर्वतः प्राप्त होता है।

भावार्थ—यदि हम वासनाओं को जीतकर प्रभु की सर्वव्यापकता का चिन्तन करेंगे तो हमें दिव्य गुण भी प्राप्त होंगे और हमारा जीवन सदा उल्लासमय होगा।

सूक्त-९

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती)॥ स्वरः—मध्यमः॥

अधर्षणीयता, प्रकाश व शक्ति

१६८२. कस्तमिन्द्र त्वा वसवा मर्त्यो दधर्षति।
श्रद्धा हि ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति॥ १॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **कः मर्त्यः**=कौन मनुष्य **तम्**=उसको **आदधर्षति**=धर्षित कर सकता है, जिसे **त्वा वसो**=आप बसानेवाले हो। हे **मघवन्**=निष्पाप ऐश्वर्यवाले प्रभो! **श्रद्धा हि ते**=निश्चय से आपपर की गयी श्रद्धा **पार्ये दिवि**=सब उलझनों से पार पहुँचानेवाले प्रकाश में प्राप्त कराती है और **वाजी**=सर्वशक्ति-सम्पन्न प्रभु इस श्रद्धालु को **वाजं सिषासति**=शक्ति से सम्भक्त

करते हैं।

भावार्थ—एक आस्तिक पुरुष १. अधर्षणीय होता है, अतएव निर्भीक २. वह सुलझे हुए दिमाग़वाला होता है तथा ३. शक्ति-सम्पन्न होता है।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दान 'दान' है (वृत्रों का विनाशक है)

१६८३. मघोनः स्म वृत्रहत्येषु चोदय ये ददति प्रिया वसु।
तव प्रणीती हर्यश्व सूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता ॥ २ ॥

उत्तम निवासवाला अथवा वशियों में श्रेष्ठ 'वशिष्ठ' प्रार्थना करता है कि हे **हर्यश्व**=(हृ, अश्) सर्वदुःखहारिन्! सर्वव्यापक प्रभो! आप **मघोनः**=उन धनियों को **ये**=जो **प्रिया वसु**=प्रिय धनों का **ददति**=दान देते हैं, **वृत्रहत्येषु**=वासनाओं के विनाश में **चोदय स्म**=अवश्य ही प्रेरित कीजिए। वस्तुतः धन कोई हेय व घृणित वस्तु नहीं है। हाँ, धन में आसक्त हो जानेवालों को धर्मज्ञान नहीं रहता। धन में असक्त को ही तो धर्म का ध्यान रहता है। **अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते,** अतः मनुष्य को धन तो कमाना चाहिए, परन्तु उसमें आसक्ति से ऊपर उठने के लिए सदा दान देते रहना चाहिए, दान का अर्थ 'देना' तो है ही, 'दान' का अर्थ 'खण्डन' (दो अवखण्डने) भी है। यह दान सचमुच वृत्रादि वासनाओं का खण्डन करनेवाला है।

धनों को पात्रों में दान देनेवाले सदा उत्तम सङ्ग प्राप्त करते हैं और उन **सूरिभिः**=विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके हम हे प्रभो! **तव प्रणीती**=तेरे प्रणयन में—आपके बतलाये हुए वेदमार्ग पर चलने से **विश्वा**=सब **दुरिता**=पापों को **तरेम**=तैर जाएँ।

संक्षेप में अभिप्राय यह है कि दान देने की वृत्ति से १. विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त होता है २. उनके उपदेशों के श्रवण से 'वेदज्ञान' मिलता है—प्रभु से प्रतिपादित वेदमार्ग का पता लगता है, और ३. उसपर चलकर हमारे सब दुरित दूर हो जाते हैं ४. अब हम सचमुच उत्तम निवासवाले 'वसिष्ठ' बनते हैं।

भावार्थ—हम दान दें और वासनाओं का विनाश करें। प्रभु-प्रतिपादित मार्ग पर चलकर दुरितों से दूर हों।

सूक्त-१०

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

मधु से अधिक मदिर

१६८४. एदु मधोर्मदिन्तरं सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः। एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥ १ ॥

यह मन्त्र ३८५ संख्या पर आ चुका है। सरलार्थ यह है—

हे **अध्वर्यो**=जीवन को यज्ञरूप बनानेवाले जीव! **मधोः**=पुष्परस व शहद से भी **मदिन्तरम्**=अधिक मद का अनुभव करानेवाले **अन्धसः**=आध्यातव्य सोम का **इत्**=निश्चय से **आसिञ्च**=अपने में सर्वतः सेचन कर। **एव**=इस प्रकार **हि**=निश्चय से १. **वीरः**=तू वीर होगा २. **सदावृधः**=सदा

वृद्धिवाला होगा। यह सदावृध वीर ही **स्तवते**=प्रभु से प्रशंसा को प्राप्त होता है। वस्तुत: यही व्यक्ति व्यापक मनोवृत्तिवाला बनकर 'विश्वमना' होता है, उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाला होने से 'वैयश्व' होता है।

भावार्थ—हम सोम का शरीर में सेचन करके वीर व सदा वर्धमान बनें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

जितेन्द्रियता

१६८५. इन्द्र स्थातर्हरीणां न किष्टे पूर्व्यस्तुतिम्। उदानंश शवसा न भन्दना॥ २॥

हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **हरीणाम्**=इन्द्रियरूप अश्वों के ऊपर **स्थात:**=स्थित होनेवाले! **ते**=तेरी **पूर्व्यस्तुतिम्**=मुख्य स्तुति को **न कि:**=न तो **शवसा**=बल से और **न**=न ही **भन्दना**=तेज व शुभ कर्मों से **उदानंश**=कोई भी पाता है।

अर्थात् जितना महत्त्व जितेन्द्रियता का है उतना न बल और तेज का और न ही शुभ कर्मों का है। वास्तविकता तो यह है कि जितेन्द्रियता के बिना न तो मनुष्य बलवान् और तेजस्वी हो सकता है और न ही उसकी शुभ कर्मों में प्रवृत्ति होती है। इस सारी बात का विचार करके ही आचार्य दयानन्द ने जितेन्द्रियता को सदाचार में प्रथम स्थान दिया है। मनु ने इसे सिद्धि की प्राप्ति के लिए आवश्यक माना है—'**सन्नियम्य तु तान्येव तत: सिद्धिं नियच्छति**'। जितेन्द्रियता वह केन्द्र है जिसके चारों ओर सदाचार के सब अङ्ग घूमते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मनुष्य जितेन्द्रियता को अपना मौलिक कर्त्तव्य समझे। ऐसा समझने पर ही तो वह इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर 'वैयश्व'=विशिष्ट इन्द्रियरूप अश्वोंवाला बनेगा। ऐसा होने पर ही यह विश्वमना:=व्यापक मनवाला भी बन पाएगा।

भावार्थ—हम अपने जीवन मैं जितेन्द्रियता को सर्वाधिक महत्त्व दें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

इष्टकामधुक् यज्ञ

१६८६. तं वो वाजानां पतिमहूमहि श्रवस्यवः। अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम्॥ ३॥

श्रवस्यव:=यश चाहनेवाले हम यशस्वी कर्म ही करें, अशुभ कर्मों से दूर रहें, इसलिए **तम्**=उस **व:**=तुम सबके **वाजनां पतिम्**=शक्तियों के पति प्रभु को हम **अहूमहि**=पुकारते हैं। सत्य यही है कि सब शक्तियों के देनेवाले वे प्रभु ही हैं। उस प्रभु से शक्ति प्राप्त करके ही कोई व्यक्ति शक्तिशाली कार्य कर पाता है और यश का भागी बनता है।

वे प्रभु **अप्रायुभि:**=निरन्तर होनेवाले (अप्रायु unceasing) **यज्ञेभि:**=यज्ञों से **वावृधेन्यम्**=हमें बढ़ानेवाले हैं। यदि हम अपने जीवन में यज्ञों को अपनाएँगे तो सदा फूलें-फलेंगे। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में हमें यज्ञ ही दिया था और यही कहा था कि यह तुम्हारी सब इष्ट-कामनाओं को पूर्ण करनेवाला होगा।

यज्ञों के द्वारा १. यश मिलता है (श्रवस्यव:), २. वृद्धि प्राप्त होती है (वावृधेन्यम्), ३. शक्ति बढ़ती है (वाज)। यज्ञ की मौलिक भावना 'स्वार्थत्याग' है। स्वार्थत्यागवाला व्यक्ति व्यापक मनोवृत्तिवाला होने से 'विश्वमना' है। यह यज्ञों में लगे रहने से उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाला बन

कर 'वैयश्व' कहलाता है।

भावार्थ—प्रभु से उपदिष्ट यज्ञों को अपनाकर हम इस संसार में फूलें-फलें और परलोक में कल्याण प्राप्त करें।

सूक्त-११

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (ककुबुष्णिक्)॥ स्वरः—ऋषभः॥

उपासना व सुखमय स्थिति

१६८७. तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे। देवत्रा हव्यमूहिषे॥ १॥

यह मन्त्र १०९ संख्या पर द्रष्टव्य है। सरलार्थ यह है—

तम्=उस **स्वर्णरम्**=सुखमय स्थिति में पहुँचानेवाले प्रभु का **गूर्धय**=अर्चन करो। **देवासः**=समझदार ज्ञानी लोग **देवम्**=उस दिव्य गुण परिपूर्ण **अरतिम्**=विषयों में अरममाण प्रभु की **दधन्विरे**=उपासना करते हैं। **देवत्रा**=देवताओं में **हव्यम्**=देने योग्य पदार्थों को **ऊहिषे**=प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करें, जिससे सुखमय स्थिति में पहुँचें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (सतोबृहती)॥ स्वरः—पञ्चमः॥

जीवन-यज्ञ की पूर्ति

१६८८. विभूतरातिं विप्र चित्रशोचिषमग्निमीडिष्व यन्तुरम्।
अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम्॥ २॥

हे **विप्र**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले! **सोभरे**=उत्तम ढंग से समाज का भरण करनेवाले सोभरि! तू **अध्वराय**=इस जीवनरूप यज्ञ के संचालक के लिए **ईम्**=निश्चय से **अग्निम्**=उस सबको आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **प्र ईडिष्व**=प्रकर्षेण स्तुत कर जो १. **विभूत-रातिम्**=(विभूत= mighty) महान् शक्तिशाली दानोंवाले हैं २. **चित्रशोचिषम्**=अद्भुत दीप्तिवाले हैं अथवा ज्ञानप्रद कान्तिवाले हैं ३. **अस्य**=इस **मेधस्य**=प्रभु के साथ मेल करनेवाले **सोम्यस्य**=विनीत पुरुष के **यन्तुरम्**=नियन्ता हैं तथा ४. **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम हैं।

मानव-जीवन के दो मुख्य सूत्र हैं १. अपना विशेषरूप से पूरण करना—कमियों को दूर करना (विप्र) २. केवल अपने में ही न रमकर समाज का उत्तम ढंग से पोषण करना (सोभरि)। इसी को यज्ञमय जीवन बिताना भी कहते हैं। इस प्रकार अपने जीवन को यज्ञमय बनाये रखने के लिए हमें प्रभु का स्मरण करना है (अध्वराय, अग्निम् ईडिष्व)। उस प्रभु का प्रकाश हमें ज्ञान देनेवाला है और वास्तव में तो वे प्रभु ही हमारी जीवन-यात्रा में हमारे रथ के सारथि होते हैं (यन्तुरम्) बशर्ते कि हम उस प्रभु से मेल करनेवाले हों (मेधस्य) तथा सदा सौम्य व विनीतवृत्ति रखते हों (सोम्यस्य)। अभिमानी पुरुष ने प्रभु से दिखाये मार्ग को क्या देखना ? वे प्रभु ही वस्तुतः हमारा पूरण करनेवालों में सर्वोत्तम हैं (पूर्व्यम्)। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'सोभरि' भी विनीतता से प्रभु सम्पर्क में रहता हुआ जीवन-यज्ञ को पूर्ण करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—मेरे जीवन-यज्ञ को निर्विघ्नरूप से समाप्ति तक वे प्रभु ही ले-चलेंगे। इसके लिए आवश्यक धन व ज्ञान भी प्रभु ही प्राप्त कराएँगे।

सूक्त-१२

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

वननीय वस्तुओं में स्थिति

१६८९. आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया।
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दध्रिषे ॥ १ ॥

५१३ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ इस रूप में दिया गया है—

हे **सोम**=सोम ! तू **अद्रिभिः**=अविदारणीय—स्थिर शरीर, मन व मस्तिष्क के द्वारा **आ सुआनः**=सारे शरीर को उत्तमता से प्रीणित करनेवाला है। **तिरः**=सारे रुधिर में छिपा हुआ यह सोम **अव्यया**=रक्षण के हेतु से **वाराणि**=सब रोगों का निवारण करता है। मन को वासनाओं से बचाकर शरीर को नीरोग करता है। **जनः न पुरि**=मनुष्य जैसे नगरी में प्रवेश करता है उसी प्रकार यह सोम **चम्वोः विशत्**=द्यावापृथिवी में, अर्थात् शरीर व मस्तिष्क में प्रवेश करता है। **हरिः**=शरीर में प्रविष्ट होकर शरीर के रोगों का हरण करने से यह 'हरि' है—मस्तिष्क की कुण्ठा का भी हरण करता है। **सदा उ**=सदा निश्चय से यह सोम हमें **वनेषु**=वननीय—सेवनीय उत्तम वस्तुओं में **दध्रिषे**=धारण करता है।

भावार्थ—सोम हमें नीरोग शरीरवाला व उज्ज्वल मस्तिष्कवाला बनाये।

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

मनीषी, विप्र व ऋक्वा

१६९०. स मामृजे तिरो अण्वानि मेष्यो मीढ्वान्त्सप्तिर्न वाजयुः।
अनुमाद्यः पवमानो मनीषिभिः सोमो विप्रेभिर्ऋक्वभिः ॥ २ ॥

सः सोमः=वह सोम **मनीषिभिः**=बुद्धि व विवेक के द्वारा मन को वश में करनेवालों से, **विप्रेभिः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवालों से और **ऋक्वभिः**=स्तुति करनेवालों से—सूक्तों का उच्चारण करनेवालों से **मामृजे**=शुद्ध किया जाता है। वस्तुतः जब तक यह सोम शुद्ध व पवित्र बना रहता है तभी तक यह शरीर के अन्दर व्याप्त होकर हमारी उन्नति का कारण बनता है। यह हमारे मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि को समिद्ध करके हमारे ज्ञान को उज्ज्वल बनाता है—और हम मनीषी—विद्वान् बनते हैं। इस सोम के द्वारा अपनी सभी न्यूनताओं को दूर करके हम विप्र बनते हैं और इसी से हम अधिक प्रभु-प्रवण बनकर स्तुति करनेवाले 'ऋक्वा' होते हैं। मनीषीत्व, विप्रत्व व ऋक्वत्व से सोम की रक्षा होती है और सोम की रक्षा होने पर ये तीनों विकसित होते हैं—इस प्रकार इनका परस्पर भावन (एक-दूसरे को बढ़ाना) चलता है।

सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम १. **तिरः**=शरीर के अन्दर रुधिर में व्याप्त होकर ऐसा छिपा रहता है जैसाकि दधि में सर्पि (घी) तथा तिलों में तैल। २. रुधिर में व्याप्त हुआ-हुआ यह सोम **अण्वानि मेष्यः**=प्राणशक्तियों का सेचन करनेवाला होता है। सोम ही तो वस्तुतः प्राण है। **'मरणं बिन्दुपातेन'**, इसके अभाव में तो मृत्यु है। ३. **मीढ्वान्**=यह सब सुखों का सेचन करनेवाला है। शरीर की नीरोगता

का कारणभूत यह सोम सुखप्रद क्यों न हो ? ४. **सप्तिः न वाजयुः**=घोड़े के समान यह हमारे अन्दर शक्ति का सम्पर्क करनेवाला है। ५. **अनुमाद्यः**=शक्ति के अनुपात में ही यह हमारे जीवन में हर्ष व उल्लास भरनेवाला होता है और ६. **पवमानः**=सबसे बड़ी बात यह कि यह हमें पवित्र बनाता है!

इस प्रकार इस सोम की रक्षा से निरन्तर उन्नति करता हुआ यह आगे और आगे बढ़ते चलने के कारण 'अग्नि' कहाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—सोम की रक्षा करनेवाले हम मनीषी, विप्र व ऋक्वा बनें।

सूक्त-१३

ऋषिः—कलिः प्रागाथः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

प्रभु का अध्ययन

१६९१. वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम्।
तस्मा उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ॥ १ ॥

२७२ संख्या पर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—

वयम्=हम **इत्**=निश्चय से **आ**=सब प्रकार से **ह्यः**=जैसे कल उसी प्रकार **इह**=आज के दिन भी **एनम्**=इस प्रभु को **अपीपेम**=आप्यायित करते हैं। वे प्रभु **वज्रिणम्**=वज्रवाले हैं। **तस्मा**=उस प्रभु के लिए **उ**=ही **अद्य**=आज **सवने**=यज्ञों में **सुतम्**=आहुतियों को **भर**=प्राप्त कराता हूँ और उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **नूनम्**=निश्चय से **श्रुते**=ज्ञान के क्षेत्र में **भूषत**=अपने को अलंकृत करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हम 'यज्ञों' तथा 'ज्ञान' के मार्ग को अपनाएँ।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

हृदय-मन्थन

१६९२. वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति।
सेमं नः स्तोमं जुजुषाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया धिया ॥ २ ॥

गत मन्त्र में कलि ने ठीक कलन—संख्यान—हिसाब-किताब लगाकर यह निश्चय किया कि हम यज्ञों व ज्ञान-सञ्चय द्वारा प्रभु को पाने का यत्न करेंगे। उसी प्रकरण में कहते हैं कि १. **अस्य चित् वृकः**=इस प्रभु का निश्चय से ग्रहण करनेवाला (वृक् आदाने) २. **वारणः**=इसी उद्देश्य से वासनाओं व अशुभ कर्मों का निवारण करनेवाला, ३. और वासनाओं के निवारण के विचार से **उरामथिः**=अपने हृदय का मन्थन करनेवाला व्यक्ति **वयुनेषु**=उत्तम प्रज्ञानों व कर्मों में **आभूषति**=अपने को सर्वथा अलंकृत करता है। एवं, प्रभु-प्राप्ति का क्रम स्पष्ट है—१. हृदय के मन्थन के द्वारा अन्दर छिपी वासनाओं को ढूँढ निकालना, २. उन वासनाओं को दूर करना और ३. अपने को उत्तम प्रज्ञानों व कर्मों से भूषित करना। इस विक्रमत्रयी से ही हम उस त्रिविक्रम विष्णु को आराधित कर सकते हैं। इस आराधित प्रभु को ही हम अपना धारण करता हुआ पाते हैं।

प्रभु अपना आदान करनेवाले 'वृक' से कहते हैं कि **सः**=वह तू **नः**=हमारे **इमम्**=इस **स्तोमम्**=वेदोपदिष्ट स्तुतिसमूह को **जुजुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **आगहि**=हमें प्राप्त

हो। हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! इस स्तोम के सेवन से ही तू **प्रचित्रया**=अत्यन्त उत्कृष्ट **धिया**=बुद्धि से **आगहि**=सङ्गत हो।

प्रभु के इस वेदोपदेश के ग्रहणरूपी आदेश का पालन करनेवाला यह 'कलि' प्रभु के स्तोमों का उच्चारण करता हुआ 'प्रागाथ' कहलाता है।

भावार्थ—हम उरामथि=हृदय का मन्थन करनेवाले बनें, वासनाओं के दूर करनेवाले बनकर प्रभु का आदान करनेवाले बनें। अपने को प्रज्ञानों से अलंकृत करें। प्रभु के स्तोम का सेवन करते हुए उत्कृष्ट बुद्धि को प्राप्त हों।

सूक्त-१४

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

इन्द्र और अग्नि

१६९३. इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूषथः। तद्वां चेति प्र वीर्यम्॥ १॥

वैदिक साहित्य में इन्द्राग्नी का अर्थ है १. प्राण और अपान (प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी—गो० २.१) अथवा २. ब्रह्म व क्षत्र (ब्रह्मक्षत्रे वा इन्द्राग्नी—कौ० १२.८) और वास्तव में तो ३. सब दिव्य गुण इन्द्राग्नी हैं (इन्द्राग्नी वै विश्वेदेवाः—श० १०.४.१.९)। ४. ये इन्द्राग्नी ही मूलभूत प्रतिष्ठा हैं (प्रतिष्ठे वा इन्द्राग्नी—कौ०) **इन्द्राग्नी**='इन्द्र' शक्ति का प्रतीक है तो 'अग्नि' प्रकाश व ज्ञान का। ये इन्द्र और अग्नि **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **रोचना**=चमकानेवाले हैं और ये दोनों **वाजेषु**=शक्तियों में, बलों में, अर्थात् शक्ति के द्वारा **परिभूषथः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सुभूषित करते हैं, शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण अङ्ग सौन्दर्य को लिये हुए होते हैं। इन्द्र और अग्नि तो वस्तुतः सम्पूर्ण जीवन के सौन्दर्य के आधार हैं। एक राष्ट्र में जैसे दिग्गज विद्वान् ब्राह्मण तथा शक्तिशाली क्षत्रिय उत्थान के कारण बनते हैं उसी प्रकार शरीर में ये इन्द्र और अग्नि=बल और प्रकाश शोभा का कारण बनते हैं। शरीर का जो सौन्दर्य है **तत्**=वह **वाम्**=आप दोनों (इन्द्राग्नी) का ही तो **वीर्यम्**=सामर्थ्य **प्रचेति**=समझा जाता है।

बलशून्य शरीर मृतप्राय-सा होगा और प्रकाश के अभाव में अन्धकारमय शरीर पशु-शरीर से उत्कृष्ट न होगा। इस स्थिति से ऊपर उठने के लिए हमें अपने शरीर में इन्द्र और अग्नि का विकास करना चाहिए। इस विकास को करनेवाला व्यक्ति ही 'विश्वामित्र' होता है।

भावार्थ—ज्ञान और बल हमें सब सद्गुणों से सुभूषित करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

इन्द्र व अग्नि का विकास

१६९४. इन्द्राग्नी अपसस्पर्युप प्र यन्ति धीतयः। ऋतस्य पथ्या३ अनु॥ २॥

धीतयः=ध्यानशील लोग, अर्थात् जो बहते चले जाने (drifting) की नीति को न अपनाकर अपनी उन्नति का ध्यान करते हैं, वे **ऋतस्य पथ्या अनु**=सत्य व नियमपरायणता (regularity) के मार्ग का अनुसरण करते हुए **अपसः**=स्वार्थ की भावना से ऊपर उठे हुए, व्यापक कर्मों के द्वारा **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के तत्त्वों को **परि उप प्रयन्ति**=सर्वथा समीपता से प्राप्त होते हैं।

पिछले मन्त्र में 'इन्द्र और अग्नि' की महिमा का वर्णन किया था कि ये शरीर को सशक्त व

प्रकाशमय बनाते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में इन दोनों तत्त्वों के विकास के लिए निम्न उपायों का संकेत किया है।

१. धीतयः—हम अपने जीवन की उन्नति का ध्यान करनेवाले हों।

२. ऋतस्य पथ्य अनु—सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमितता के मार्ग को अपनाएँ। हमारा 'खाना-पीना, सोना-जागना'—सब-कुछ नियमित (regular) हो। यह नियमितता ही तो सत्य है।

३. अपसः—लोक में हमारे कर्म कुछ स्वार्थ की भावना से ऊपर उठकर किये जाएँ। हमारे कर्म व्यापक मनोवृत्ति से हों।

उल्लिखित तीन बातों के होने पर ही इन्द्राग्नी का विकास सम्भव है। इन्होंने ही हमारे जीवन को सुभूषित करना है।

भावार्थ—मैं ज्ञान व बल की वृद्धि के लिए १. सदा इनके विकास का ध्यान करूँ २. मेरा जीवन नियमित हो तथा ३. मेरे कर्म व्यापक हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्र और अग्नि के विकास का लाभ

१६९५. इन्द्राग्नी तविषाणि वां सधस्थानि प्रयांसि च। युवोरप्तूर्यं हितम्॥ ३ ॥

इन्द्राग्नी के विकास का उल्लेख करके अब कहते हैं कि हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के तत्त्वो! **वाम्**=आप दोनों में ही **तविषाणि**=सब शक्तियाँ निहित हैं। १. **सध-स्थानि**=मिलकर ठहरने की भावनाएँ भी आप दोनों में ही निहित हैं। बल और प्रकाश के अभाव में पशु-प्रवृत्ति जन्म लेती है और मनुष्य परस्पर विरोध करते रहते हैं। बलवान् व ज्ञानी बनकर वे मिलकर चलना सीखते हैं। ३. **प्रयांसि**=आनन्द व प्रसन्नताएँ भी इन्हीं इन्द्राग्नी में आश्रित हैं। इन दोनों तत्त्वों के अभाव में मनुष्य आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता। ४. हे इन्द्राग्नी! **युवोः**=आप दोनों में ही **अप्तूर्यम्**=(Zeal) कर्मों के प्रति उत्साह (अप्तुर्=active) **हितम्**=रखा हुआ है। इन्द्राग्नी के अभाव में मनुष्य आलसी होता है—उसमें कर्मों के प्रति किसी प्रकार का उत्साह नहीं होता।

एवं, इन्द्राग्नी के चार लाभ हैं—१. शक्ति, २. मेल, ३. प्रसन्नता, ४. उत्साह।

भावार्थ—हम इन्द्राग्नी के विकास के द्वारा शक्ति-सम्पन्न बनें, मेल की भावनावाले हों, प्रसन्नता व उत्साह से हमारा जीवन भरपूर हो।

सूक्त-१५

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

केवलादी न बनने के लाभ

१६९६. क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥ १ ॥

२९७ संख्या पर मन्त्रार्थ इस रूप में दिया गया है—

कः=कौन **ईम्**=निश्चय से **वेद**=जानता है कि **सुते**=उत्पन्न जगत् में **सचा**=मिलकर; नकि

अकेले—**पिबन्तम्**=प्राकृतिक वस्तुओं का उपभोग करते हुए को १. **क-द्वयः**=इहलोक व परलोक दोनों लोकों का सुख **दधे**=धारण करता है। २. **अयं यः**=यह जो **पुरः**=असुरों की पुरियों को (काम, क्रोध, लोभ के दुर्गों को) **विभिनत्ति**=नष्ट कर डालता है। ३. **ओजसा मन्दानः**=ओज से सदा प्रसन्नतामय होता है और ४. **अन्धसः**=सोम के द्वारा **शिप्री**=शिरस्त्राणवाला होता है।

भावार्थ—हम अकेले खानेवाले न बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

महान् व ओजस्वी

१६९७. दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे।
न किष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महाँश्चरस्योजसा॥ २॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि मेधातिथि **दाना**=(दान् to cut) बुराइयों—स्वार्थ की वृत्तियों को काटनेवाला होता है। **मृगः**=इसी उद्देश्य से यह (मृग अन्वेषणे) अपना अन्वेषण, अर्थात् आत्मालोचन करनेवाला बनता है। इसी भावना को १६९२ मन्त्र में 'उरामथि' शब्द द्वारा कहा गया था। इस मार्ग पर चलते हुए कोई भी सांसारिक कार्य इसे **न वारणः**=रोकनेवाला नहीं होता। यह **पुरुत्रा**=पालन व पूरण के क्षेत्र में **चरथम्**=गति को **दधे**=धारण करता है, अर्थात् पालनात्मक व पूरणात्मक कार्यों में लगा रहता है।

प्रभु इस मेधातिथि से कहते हैं कि—**त्वा**=तुझे अपने इस पालनात्मक कार्य में **न किः नियमत्**=कोई भी रोकता नहीं। तू लोकस्तुति व लोकापवाद से अथवा धनागम के लोभ व धननाशभय से अपने इस न्यायमार्ग से विचलित नहीं होता। तू **सुते**=निर्माणात्मक कार्यों में **आगमः**=सर्वथा प्रवृत्त रहता है।

महान्=विशाल हृदयवाला बनकर तू **ओजसा**=बल के साथ **चरसि**=विचरण करता है। तेरी कार्यनीति ढिलमिल weak-kneed नहीं होती। तुझमें संकुचित-हृदयता तो नहीं होती, परन्तु साथ ही भय भी नहीं होता। 'किसी की नाराज़गी का भय ही बना रहे' तब तो किसी भी कार्य का करना सम्भव ही नहीं। यह मेधातिथि ओजस्वी बनकर चलता है तभी तो लोकहित करने में कुछ समर्थ हो पाता है।

भावार्थ—हम आत्मालोचन के द्वारा बुराइयों को ढूँढ-ढूँढकर काट डालें और महान् व ओजस्वी बनकर निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

प्रभु लोकसेवक का साथी है

१६९८. य उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत्॥ ३॥

यः=जो मेधातिथि **उग्रः**=ओजस्वी व उदात्त है—जिसे कायरता छू नहीं गयी, **सन्**=ऐसा होता हुआ यह **अनिष्टृतः**=शत्रुओं से तीर्ण नहीं किया जा सकता, अर्थात् शत्रु इसे दबा नहीं लेते। **स्थिरः**=यह अपने कार्य में स्थिर वृत्तिवाला होता है तथा स्थितप्रज्ञ होने से डाँवाँडोल नहीं होता। यह तो **रणाय**=युद्ध

के लिए **संस्कृतः**=पूर्णरूप से तैयारीवाला होता है। आन्तरिक शत्रुओं से तो इसने युद्ध किया ही है, बाहर भी बुराइयों को दूर करने के लिए यदि संघर्ष होता है तो यह घबरा नहीं जाता।

यही व्यक्ति वस्तुतः प्रभु का सच्चा स्तोता है। सर्वभूतहित में लगा हुआ व्यक्ति ही तो प्रभु का भक्ततम है। **यदि**=यदि यह स्तोता संकट में कभी प्रभु को सहायता के लिए पुकारता है तो **मघवा**=सम्पूर्ण ऐश्वर्योंवाला प्रभु **स्तोतुः**=इस स्तोता की **हवम्**=पुकार को **शृणवत्**=सुनता है और **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **न योषति**=अलग तमाशबीन की भाँति खड़ा नहीं रहता, अपितु **आगमत्**=इसकी सहायता के लिए आता ही है, अर्थात् प्रभु इन लोकसेवकों के साथी होते हैं और प्रभु के साहाय्य से ये उस-उस कार्य को करने में समर्थ हो जाते हैं। वस्तुतः इनका अपना तो कार्य होता ही नहीं—ये तो प्रभु के कार्य को उसके निमित्त (agent) बनकर कर रहे होते हैं।

भावार्थ—हम उदात्त, शत्रुओं से अनाक्रान्त, स्थिर वृत्ति के बनें। संसार संघर्ष को बड़े परिष्कृत प्रकार से चलानेवाले हों, सदा प्रभु के स्मरण से अपने में शक्ति का संचार करनेवाले हों।

सूक्त-१६

ऋषिः—निध्रुविः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

क्रान्तदर्शित्व की ओर

१६९९. पवमाना असृक्षत सोमाः शुक्रास इन्दवः। अभि विश्वानि काव्या॥ १॥

उल्लिखित प्रकार के लोकसेवकों के सब गुण सोमरक्षा से उत्पन्न होते हैं, अतः प्रस्तुत तृच 'सोम' का वर्णन करता है—

सोमाः असृक्षत=प्रभु की अचिन्त्य व्यवस्था के द्वारा शरीर में सोमकणों का निर्माण होता है। ये सोमकण—

१. **पवमानाः**=पवित्र करनेवाले होते हैं। इनके द्वारा जीवन में पवित्रता का संचार होता है, क्योंकि इनका रक्षक क्रोध-घृणा आदि वासनाओं का शिकार नहीं होता।

२. **शुक्रासः**=ये मनुष्य को शक्तिशाली बनाते हैं। वस्तुतः सोम ही तो शक्ति है।

३. **इन्दवः**=ये सोम मनुष्य को परम उत्कृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त करानेवाले होते हैं। ये शरीर में स्निग्धता, मन में स्नेह तथा बुद्धि में तीव्रता लानेवाले हैं।

४. **विश्वानि**=सब **काव्या अभि**=काव्यों की ओर ले-जानेवाले ये होते हैं, क्योंकि ये मनुष्य की ज्ञानाग्नि को तीव्र करते हैं, अतः ये मनुष्य को क्रान्तदर्शी बनाते हैं। यह प्रत्येक पदार्थ के वास्तविक रूप को देखनेवाला बनता है। इस कारण कोई भी वस्तु इसे डाँवाँडोल नहीं कर पाती। डाँवाँडोल न होने के कारण यह प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'निध्रुवि' कहलाता है।

भावार्थ—सोम हमें पवित्र, शक्तिशाली, उत्कृष्ट ऐश्वर्यवाला तथा क्रान्तदर्शी बनाता है।

ऋषिः—निध्रुविः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शिखर पर, त्रिलोकी का सजाना

१७००. पवमाना दिवस्पर्यन्तरिक्षादसृक्षत। पृथिव्या अधि सानवि॥ २॥

पवमानाः=पवित्र करनेवाले सोम **दिवः**=द्युलोक के हेतु से **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष के हेतु से

और **पृथिव्याः**=पृथिवी के हेतु से **परि असृक्षत**=इस शरीर में चारों और निर्मित हुए हैं। जब यह सोम शरीर में सारे रुधिर में व्याप्त हो जाता है, तब वह द्युलोक, अन्तरिक्ष व पृथिवी को सुन्दर बनानेवाला होता है, द्युलोक, अर्थात् मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता है, अन्तरिक्ष, अर्थात् हृदय को निर्मल बनाता है और पृथिवी, अर्थात् शरीर को दृढ़ बनाता है।

क्या शरीर, क्या मन और क्या मस्तिष्क सभी दृष्टिकोणों से यह उसे **अधि सानवि**=शिखर पर पहुँचानेवाला होता है। यह सोम द्युलोक को उग्र=तेजस्वी बनाता है, अर्थात् मस्तिष्क को दीप्त करता है, पृथिवी, अर्थात् शरीर को दृढ़ बनाता है और अन्तरिक्षरूपी हृदय में उचित राग का निर्माण करता है।

भावार्थ—सोम हमारी त्रिलोकी को सुभूषित करता है।

ऋषिः—निध्रुविः काश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

द्वेष की भावना से दूर

१७०१. पवमानास आशवः शुभ्रा असृग्रमिन्दवः। घ्नन्तो विश्वा अप द्विषः ॥ ३ ॥

पवमानासः=ये पवित्र करनेवाले सोम **असृग्रम्**=बनाये गये हैं—ये १. **आशवः**=मनुष्य को शीघ्रता से कार्य करनेवाला बनाते हैं, अर्थात् ये मनुष्य में स्फूर्ति बढ़ानेवाले हैं २. **शुभ्राः**=ये शरीर को नीरोग, मन को स्वस्थ तथा बुद्धि को तीव्र बनाकर शोभा की वृद्धि करनेवाले हैं। ३. **इन्दवः**=परमैश्वर्य को प्राप्त करानेवाले हैं तथा ४. **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **अपघ्नन्तः**=नष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—सोम की रक्षा करनेवाला पुरुष १. आलस्यरहित, स्फूर्ति-सम्पन्न होता है। २. उत्तम गुणों से शोभावाला बनता है। ३. परमैश्वर्य का लाभ करता है और ४. अपने में द्वेष की अपवित्र भावनाओं को नहीं पनपने देता।

सूक्त—१७

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्राण व अपान

१७०२. तोशा वृत्रहणा हुवे सजित्वानापराजिता। इन्द्राग्नी वाजसातमा ॥ १ ॥

'इन्द्राग्नी' का एक अर्थ प्राणापान भी है। इस शरीर में जब इन्द्र के सहायक अन्य सब देव सो जाते हैं अथवा कार्य करना बन्द कर देते हैं, ये प्राणापान तब भी अपना कार्य करते रहते हैं। ये जागते रहते हैं—सोते नहीं। मैं इन **इन्द्राग्नी**=प्राणापानों को **हुवे**=पुकारता हूँ—इनकी आराधना करता हूँ, जो—

१. **तोशा** (तुश् to destroy) शरीर में सब रोग-कृमियों को नष्ट करके मुझे आरोग्य देते हैं। प्राणापान की क्रिया ठीक होने पर शरीर में किसी भी प्रकार का रोग सम्भव ही नहीं और यदि रोग-कीटाणु शरीर में प्रविष्ट हो भी जाएँ तो ये उनका संहार कर देते हैं।

२. **वृत्र-हणा**=ज्ञान की आवरणभूत कामादि वासनाओं को, जो वृत्र कहलाती हैं, ये नष्ट कर देते हैं। प्राणापान की साधना शरीर को नीरोग बनाती है तो मन को वासनारहित।

३. **सजित्वाना**=एवं, ये प्राणापान शरीर व मन के क्षेत्र में (स) समानरूप से (जित्वाना) विजयशील होते हैं। शरीर के रोगों पर विजय पाते हैं और मन की वासनाओं पर।

४. **अपराजिता**=ये कभी पराजित नहीं होते। असुर प्राणापान पर आक्रमण करके ऐसे चकनाचूर हो जाते हैं जैसे पत्थर पर टकरा कर मिट्टी का ढेला।

५. **वाजसातमा**=ये प्राणापान हमें अतिशयित बल देनेवाले हैं। वस्तुतः प्राणापान ही शक्ति हैं। इस प्रकार इन प्राणापान से शक्ति-सम्पन्न होकर प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' सभी के साथ स्नेह करता है। घृणा का सिद्धान्त (cult) तो निर्बल का ही होता है।

भावार्थ—हम प्राणापान की साधना करें और अपने शरीर व मन दोनों को नीरोग करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्राणापान की अर्चना

१७०३. प्र वामर्चन्त्युक्थिनो नीथाविदो जरितारः। इन्द्राग्नी इष आ वृणे॥ २॥

गत मन्त्र में प्राणापान के लाभों का उल्लेख हो गया है, उनका ध्यान करते हुए 'विश्वामित्र' लोग हे प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों की **प्र अर्चन्ति**=खूब अर्चना करते हैं। आप दोनों की अर्चना करनेवाले ये लोग—

१. **उक्थिनः**=(वागुक्थम्—षड्० १.५) उत्तम वाणीवाले होते हैं। इनके मुख से कभी अशुभ शब्दों का उच्चारण नहीं होता।

(अन्नम् उक्थानि—कौ० ११.८) सात्त्विक अन्नों के सेवन की वृत्तिवाले होते हैं।

(प्रजा वा उक्थानि—तै० १.८.७.२) ये उत्तम सन्तानवाले होते हैं।

(पशव उक्थानि—ए० ४.१.१२) ये अपने घरों में उत्तम गाय आदि पशुओं के रखनेवाले होते हैं।

(उक्थमिति बह्वृचा उपासते—श० १०.५.२.२०) ये ऋग्वेद के द्वारा—विज्ञान के द्वारा प्रभु के उपासक होते हैं।

२. **नीथाविदः**=(नीथान् विनयान् विन्दन्ति—दयानन्द) ये प्राणोपासक लोग जीवन-यात्रा के मार्ग (नय) को ठीक-ठीक समझते हुए बड़ी विनीतता से जीवन-यापन करते हैं और इस प्रकार अपने उत्तम कर्मों के द्वारा (यजुर्वेद=कर्मवेद), अर्थात् यज्ञों के द्वारा प्रभु के उपासक बनते हैं।

३. **जरितारः**=(जरते-स्तौति) ये सामों के द्वारा प्रभु का स्तवन करनेवाले होते हैं।

इस प्रकार इनके जीवन में ऋग्, यजुः व साम तीनों ही का समावेश होता है, इसलिए विश्वामित्र कहता है कि हे **इन्द्राग्नी**=प्राणापानो! मैं आपके द्वारा **इषः**=प्रभु की प्रेरणाओं का **आवृणे**=सर्वथा वरण करता हूँ। वेदों में उस परम अक्षर से दी गयी प्रेरणाओं को यह प्राणोपासक सुनता है। दूसरे शब्दों में इसे प्रभु की वाणी सुनाई पड़ने लगती है—यही तो प्राणसाधना का सर्वोत्तम लाभ है।

भावार्थ—मैं प्राणोपासक बनकर प्रभु की वाणी को सुननेवाला बनूँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दासपत्नी-विधूनन

१७०४. इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम्। साकमेकेन कर्मणा॥ ३॥

मानव शरीर में काम-क्रोध आदि वासनाएँ न चाहते हुए भी प्रवेश कर जाती हैं। प्रविष्ट होकर ये उसका संहार करती हैं। संहार करने से इनका नाम 'दास' है (दस उपक्षये)। वैदिक साहित्य में शक्ति 'पत्नी' के रूप में चित्रित होती है, अतः इन कामादि दासों (दस्युओं) की शक्तियाँ ही दास पत्नियाँ हैं। अत्यन्त क्रियाशील (active) होने से ये नवति (नवन्ते गच्छन्ति) हैं। प्राणापान की साधना होने पर ही इन्हें कम्पित करके दूर करना सम्भव होता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि—

हे **इन्द्राग्नी**=प्राणापानो! आप **पुरः**=सर्वप्रथम **नवतिम्**=इस बड़ी चुस्त **दासपत्नीः**=कामादि दासों की शक्तियों को **अधूनुतम्**=कम्पित कर देते हो। प्राणापान की साधना से वासना-वृत्तियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, परन्तु 'इन्द्राग्नी'=प्राणापान इस कार्य को तभी कर पाते हैं जब **साकम्**=ये प्रभु के साथ होते हैं—जब श्वासोच्छ्वास के साथ 'ओ३म्' का जप चलता है। **'त्वया ह स्विद् युजा वयम्'**, प्रभु के साथ मिलकर ही तो इन वासनाओं को जीतना सम्भव है, **एकेन कर्मणा**=प्रभु के साथ समान कर्मों के द्वारा (एक=समान)। यह वासना-विनाश कार्य तभी होता है जब हम प्रभु के समान निमार्णात्मक कार्यों में लगते हैं—प्रभु के समान पक्षपातादि की भावनाओं से ऊपर उठते हैं।

एकेन कर्मणा=शब्दों का अर्थ (एक=मुख्य) 'मुख्य प्रयत्न के द्वारा' भी है। ढिलमिल निश्चय से ये वासनाएँ दूर नहीं हुआ करतीं—ये तो प्रबल निश्चय होने पर ही दूर होंगी।

भावार्थ—हम प्रभु के साथ मिलकर दास-पत्नियों को कम्पित कर डालें।

सूक्त-१८

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रयत्न के साथ स्तुति

१७०५. उप त्वा रण्वसन्दृशं प्रयस्वन्तः सहस्कृत। अग्ने ससृज्महे गिरः॥ १॥

प्रभु को प्रस्तुत मन्त्र में दो नामों से स्मरण किया है—१. **सहस्कृत**='सहस्' नामक बल को उत्पन्न करनेवाले। प्रभु हमारे अन्नमयकोश में तेज, प्राणमयकोश में वीर्य, मनोमयकोश में ओज और बल, विज्ञानमयकोश में मन्यु, तथा आनन्दमयकोश में 'सहस्' को स्थापित करते हैं। यहाँ 'सहस्कृत' सम्बोधन से सर्वोत्कृष्ट बल का उल्लेख करके अन्य बलों का भी आक्षेप हो ही गया है। प्रभु हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शक्ति से भरके हमें प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' बनाते हैं। २. **अग्ने**=शक्ति-सम्पन्न करके प्रभु हमें अग्रगति—उन्नति के योग्य बनाते हैं।

इस प्रभु का दर्शन रमणीय है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे बलों के उत्पन्न करनेवाले (सहस्कृत) हमारी उन्नति के साधक (अग्ने) प्रभो! **रण्वसंदृशम्**=रमणीय दर्शनवाले **त्वा**=आपके **उप**=समीप अर्थात् आपकी उपासना करते हुए हम **प्रयस्वन्तः**=(पूर्णप्रयत्नशीलाः-दयानन्द) पूर्ण प्रयत्नवाले होते हुए **गिरः ससृज्महे**=स्तुति-वाणियों का उच्चारण करते हैं। इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि हमें पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त ही प्रार्थना करनी चाहिए। बिना प्रयत्न के प्रार्थना व्यर्थ है। यदि हम प्रयत्नपूर्वक प्रार्थना करेंगे तो उन्नत होते-होते उस रमणीय दर्शन प्रभु का दर्शन कर पाएँगे। प्रयत्नशून्य स्तुति स्वामी दयानन्द के शब्दों में भाटों का गानमात्र है। उसकी कोई उपयोगिता नहीं।

भावार्थ—हम उन्नति के लिए प्रयत्नशील हों, अपने में शक्ति भरके आगे बढ़ें।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'प्रणव वृक्ष' की छाया में

१७०६. उप च्छायामिव घृणेरगन्म शर्म ते वयम्। अग्ने हिरण्यसन्दृशः ॥ २ ॥

वे प्रभु **घृणिः**=दीप्त हैं **हिरण्यसंदृक्**=ज्योतिर्मय दर्शनवाले हैं। **इव**=जिस प्रकार गर्मी से सन्तप्त मनुष्य **उपच्छायाम्**=वृक्ष की छाया में जाता है, उसी प्रकार इस संसार के सन्तापों से सन्तप्त हुए-हुए **वयम्**=हम हे **अग्ने**=हमारी अग्रगति के साधक प्रभो! **घृणेः**=दीप्ति के पुञ्ज **हिरण्यसंदृशः**=ज्योतिर्मय-स्वर्णतुल्य-दर्शनवाले **ते**=आपके **शर्म**=सुख व शरण को **अगन्म**=प्राप्त हों।

मनुष्य संसार में नाना प्रकार के संघर्षों से व्याकुल हो जाता है। उस समय प्रभु के चरण ही उसके शरण होते हैं। सूर्य-ताप से सन्तप्त व्यक्ति जैसे छाया में शरण पाता है, उसी प्रकार संसार-संघर्ष से व्याकुल हुआ पुरुष प्रभु के चरणों में शरण पाता है। संसार में कई बार हमारा जीवन अन्धकारमय हो जाता है—वे प्रभु ही दीप्त तथा ज्योतिर्मय हैं। उस प्रभु के दर्शन में मनुष्य प्रकाश का अनुभव करता है। प्रभु का दर्शन होते ही व्याकुलता समाप्त हो जाती है। यह उपासक एक शक्ति का अनुभव करता है और 'भरद्वाज' कहलाता है।

भावार्थ—अनन्त व्याकुलता भरे इस संसार में प्रभु-चरण ही हमारे शरण हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

त्रि-पुर-घ्न देव

१७०७. य उग्रइव शर्यहा तिग्मशृङ्गो न वंसगः। अग्ने पुरो रुरोजिथः ॥ ३ ॥

प्रभु की शरण में जानेवाला व्यक्ति वह होता है **यः**=जो **उग्रः इव**=उदात्त प्रकृति का होता है। शत्रुओं के साथ भी उसका बर्ताव कमीनेपन का नहीं होता। यह **शर्य-हा**=(शर्य-enemy) अपने आन्तर शत्रुओं को मारनेवाला होता है। **न**=जैसे **तिग्मशृङ्गः**=तेज सींगोवाला **वंसगः**=बैल अपने विरोधी शेर आदि शत्रुओं के पेट का विदारण कर देता है, उसी प्रकार यह प्रभु का उपासक अपने सब शत्रुओं को समाप्त करनेवाला होता है।

हे **अग्ने**=प्रभु के सम्पर्क से उन्नति को सिद्ध करनेवाले जीव! तू **पुरः**=शत्रु-नगरियों को **रुरोजिथ**=भग्न कर देता है। काम-क्रोधादि शत्रु 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आश्रय करके अपना अधिष्ठान बनाते हैं। ये वस्तुतः इनके क़िले बन जाते हैं—इन क़िलों का तोड़ना ही 'अग्नि' का लक्ष्य होता है। इन तीन पुरियों का भङ्ग करके यह 'त्रिपुरारि' बनता है।

भावार्थ—हम उदात्त प्रकृति के बनकर अनुदात्त (निकृष्ट) प्रकृतिवाले शत्रुओं का नाश कर दें।

सूक्त-१९

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वैश्वानर अग्नि

१७०८. ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्रं घर्ममीमहे ॥ १ ॥

अग्नि, अर्थात् आगे ले-चलनेवाला, वैश्वानर=(विश्वान् नरान् नयति) सब मनुष्यों के हित

के लिए उनका उत्थान करनेवाला। आजकल की भाषा में 'एक ऐसा नेता जो सबका भला चाहता हुआ, सबको उन्नति के मार्ग पर ले-चलता है। इस 'वैश्वानर अग्नि' का चित्रण प्रस्तुत मन्त्र में उपलभ्य है।

१. **ऋतावानम्**=(ऋतावान्-possessed of sacrifice, of true character)। (क) जो त्याग की भावना का पोषण करता है। (ख) जो सच्चरित्र है। वस्तुतः नेता के लिए सबसे प्रथम आवश्यक गुण यही है कि वह त्याग की भावनावाला हो तथा सत्य चरित्रवाला हो। त्याग की भावना के बिना वह कुछ कर नहीं सकता और चरित्र की उत्कृष्टता के बिना उसका जीवन व भाषण प्रभावशाली नहीं हो सकता।

२. **वैश्वानरम्**=(विश्व-नर-हितम्) वह सबका भला चाहनेवाला हो। नेता की संकुचित मनोवृत्ति व पक्षपात उसे नेतृत्व से ही नीचे ले-आती है। नेता को सबके प्रति हित की भावनावाला होना चाहिए।

३. **ऋतस्य ज्योतिषः पतिम्**=यह नेता ऋत का और ज्योति का पति होता है। यह अपने अन्दर नियमितता=regularity तथा ज्ञान का पोषण करता है। नियमितता इसे शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करती है और ज्ञान इसके मानस स्वास्थ्य को सिद्ध करता है। एवं, ऋत और ज्योति से यह 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मनवाला' आदर्श पुरुष बनता है।

४. **अजस्त्रं घर्मम्**=यह 'सतत घर्म' होता है। 'लगातार दीप्ति को फैलानेवाला' होता है। 'अजस्त्र' का अभिप्राय है 'बिना विच्छेद—रुकावट के' तथा 'घर्मम्' शब्द में दीप्ति व क्षरण की भावना है। 'क्षरण', अर्थात् मल को दूर करना। यह नेता निरन्तर प्रजाओं की मलिनताओं को दूर करके उनमें ज्ञान की दीप्ति फैलाता है।

ईमहे=हम ऐसे ही नेता को चाहते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें 'त्यागी, सच्चरित्र, सबका भला चाहनेवाले, नियमित जीवनवाले, दीप्तियुक्त, निरन्तर दीप्ति को फैलानेवाले नेता प्राप्त हों।'

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

घर-घर में यज्ञ का विस्तार

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३क २र ३२ ३ १ २र ३ २
१७०९. य इदं प्रतिपप्रथे यज्ञस्य स्वरुत्तिरन्। ऋतूनुत्सृजते वशी॥ २॥

गत मन्त्र के प्रकरण के अनुसार हमें वह नेता चाहिए **यः**=जो **स्वः**=सुख को **उत्तिरन्**=बढ़ाने के हेतु से (हेतौ शतृप्रत्ययः) **यज्ञस्य इदम्**=यज्ञ की भावना को **प्रतिपप्रथे**=प्रत्येक घर में विस्तृत करता है। 'यज्ञ के बिना कल्याण नहीं', इसमें तो शक है ही नहीं। अयज्ञ पुरुष का न यह लोक बनता है, न परलोक। यज्ञ से दोनों ही लोकों का भला होता है। यह नेता यज्ञ की भावना का घर-घर में विस्तार करता हुआ प्रजा के सुखों को बढ़ाता है।

वशी=अपनी इन्द्रियों व मन को वश में करनेवाला यह 'वैश्वानर अग्नि' **ऋतून्**=ऋतुओं को **उत्सृजते**=उत्कृष्ट बनाता है। वेद में भिन्न-भिन्न स्थानों में इस बात का प्रतिपादन है कि मनुष्य के आचरण-पतन का परिणाम ही 'आधिदैविक आपत्तियाँ' हुआ करती हैं। उत्कृष्ट आचरणवाले नेता ही इन आधिदैविक आपत्तियों का निराकरण करनेवाले होते हैं। वस्तुतः ऐसे श्रेष्ठ नेताओं से ही यह जगत् धारण किया जाता है।

संक्षेप में यह नेता दो बातें करता है— १. घर-घर में यज्ञ की भावना का प्रचार करता है, तथा २. अपना जीवन पूर्ण संयमवाला बनाता है।

इन दो बातों के दो परिणाम होते हैं—१. सुख की वृद्धि होती है तथा २. ऋतुएँ बड़ी उत्कृष्ट होती हैं, मानवजीवन के लिए अनुकूलतावाली होती हैं।

भावार्थ—हम भी यज्ञ का विस्तार करें और पूर्ण आत्मसंयम का अभ्यास करें।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रिय धाम, 'विट्-क्षत्र-ब्रह्म'

१७१०. अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति ॥ ३ ॥

'धाम' शब्द के वेद में तीन अर्थ हैं १. धन Wealth, २. शक्ति Power, ३. प्रकाश की किरण Ray of light। यहाँ तीनों ही अर्थ विवक्षित हैं। 'धामसु' यह बहुवचन इस बात का संकेत कर रहा है। 'वैश्वानर अग्नि' में ये तीनों ही धाम होते हैं। यह उचित मात्रा में धन का स्वामी होता है—शक्तिमान् होते हुए ज्ञान के प्रकाश का पोषण करता है। उसके ये धन, तेज व ज्ञान 'प्रिय' होते हैं—लोगों के तर्पण के लिए होते हुए कान्त होते हैं। (प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च)। **अग्निः**=यह वैश्वानर अग्नि **प्रियेषु धामसु**=प्रिय धामों में स्थित हुआ-हुआ **भूतस्य भव्यस्य**=राष्ट्र व समाज की पिछली अगली सब स्थितियों को **कामः**=उत्तम बनाने की कामनावाला होता है अथवा **भूतस्य**=प्राणिमात्र के **भव्यस्य**=(भावुकं भविकं भव्यम् कुशलम्) कल्याण की **कामः**=कामनावाला होता है। 'भूतस्य भव्यस्य' इन दोनों शब्दों के इकट्ठा आने से (Past or future) 'पिछला-अगला' यह अर्थ करने का सुझाव होता ही है। इस अर्थ में 'पिछले को कैसे अच्छा बनाना! यह शंका रह जाती है, परन्तु इसे तो मुहाविरा ही समझना चाहिए जैसे कि 'जिये-मरे का शोक नहीं करते' यह मुहाविरा है—जिये का कौन शोक किया करता है? पिछले अर्थ में तो इस शंका का अवसर ही नहीं रहता। (भूत=प्राणी, भव्य=कल्याण)। नेता वही ठीक है जो सभी का कल्याण चाहता है, सभी के कल्याण की भावना से प्रवृत्त होता है।

ऐसा नेता **सम्राट्**=प्रजाओं के हृदय का सम्राट् बनता है। यह (Uncrowned king)=बिना मुकुट के भी राजा ही होता है। **एकः**=यह राष्ट्र का मुख्य पुरुष होता है (एक=मुख्य) तथा **विराजति**=विशेषरूप से शोभावाला होता है। वस्तुतः ऐसा ही नेता प्रजा का कल्याण कर पाता है। यह अपने धन, बल व ज्ञान का लोकहित में ही विनियोग करता है। 'धन' नेता के वैश्यांश का प्रतीक है, 'बल' क्षत्रियांश का तथा ज्ञान 'ब्राह्मणांश' का। एवं, यह नेता अधिक-से-अधिक पूर्णता को लिये हुए होता है।

भावार्थ—राष्ट्र में उत्तम नेताओं का आविर्भाव सदा राष्ट्र को उत्तम बनाये रक्खे।

इत्यष्टादशोऽध्यायः, अष्टमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

अष्टमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शरीर को अलंकृत करना

१७११. अग्निः प्रत्नेन जन्मना शुम्भानस्तन्वां३ स्वाम्। कविर्विप्रेण वावृधे ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विरूप आङ्गिरस' है—विशिष्टरूपवाला अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिवाला। 'यह ऐसा कैसे बन पाया?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार दिया गया है—

१. **अग्निः**=यह अग्नि है—अपने को आगे और आगे प्राप्त करानेवाला है। 'उन्नति' इसके जीवन का मूल मन्त्र है।

२. **प्रत्नेन जन्मना**=देर से चले आ रहे सनातन विकास से (जनी प्रादुर्भावे) यह विरूप बना है। इसी एक जन्म में इसने यह सारी उन्नति कर ली हो, यह बात नहीं। अनेक जन्मों से यह इस उन्नति के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ रहा है।

३. **स्वां तन्वाम्**=अपने शरीर को यह **शुम्भानः**='दमन, दान, दया' आदि गुणों से अलंकृत करने में लगा है। जन्म-जन्मान्तरों से उन्नति-पथ पर बढ़ता हुआ यह अनेक उत्तम गुणों से अपने जीवन को सुशोभित कर सका है।

४. **कविः**=यह क्रान्तदर्शी है। पैनी दृष्टिवाला है—विषयों की आपातरमणीयता इसे उलझा नहीं सकती। कवि होने से यह उनके विषमय परिणाम को भी देख पाया है।

५. **विप्रेण वावृधे**=यह उस विशेष पूरण करनेवाले प्रभु के सम्पर्क से दिनों-दिन बढ़ पाया है। प्रभु के सम्पर्क ने ही इसे कामादि वासनाओं का शिकार नहीं होने दिया।

भावार्थ—विरूप के जीवन की पञ्चसूत्री यह है।

१. अग्निः='आगे बढ़ना', यह हमारा आदर्श वाक्य हो।

२. प्रत्नेन जन्मना=चाहे धीमे-धीमे चलें, परन्तु हम निरन्तर आगे बढ़ते चलें।

३. शुम्भानः=अपने जीवन को शुभ गुणों से सजाएँ।

४. कविः=क्रान्तदर्शी बनना। गहराई तक देखना।

५. विप्रेण=सदा प्रभु के सम्पर्क में चलना।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

विरूप द्वारा प्रभु का आह्वान

१७१२. ऊर्जो नपातमा हुवेऽग्निं पावकशोचिषम्। अस्मिन् यज्ञे स्वध्वरे ॥ २ ॥

यह 'विरूप' उस प्रभु (वि-प्र) के सम्पर्क में निरन्तर बढ़ता है और कहता है कि **अस्मिन्**=इस **स्वध्वरे**=उत्तम हिंसाशून्य **यज्ञे**=यज्ञरूप जीवन में (जीवन-यज्ञ में) **आहुवे**=मैं उस प्रभु को पुकारता

हूँ, जो—

१. **ऊर्जः न-पातम्**=मेरी शक्ति को नष्ट नहीं होने देते। प्रभु के स्मरण से जीवन में वासना को स्थान नहीं मिलता और परिणामतः शक्ति शीर्ण नहीं होती।

२. **अग्निम्**=वे प्रभु मुझे अक्षीण शक्ति बनाकर उन्नत्ति-पथ पर ले-चलनेवाले होते हैं। शक्ति की क्षीणता में किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं।

३. **पावकःशोचिषम्**=वे प्रभु पवित्र ज्ञान-दीप्तिवाले हैं। 'शक्ति की अक्षीणता, उन्नति व पवित्रता' यह क्रम है, जो इस मन्त्र में संकेतित हुआ है। अक्षीण शक्ति बनकर मैं आगे बढ़ता हूँ। मेरी इस आगे बढ़ने की प्रक्रिया में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं हो तो प्रभु से प्राप्त कराई गयी ज्ञान-दीप्ति मेरे मार्ग को पवित्र बनाये रखती है।

भावार्थ—'विरूप' बनने के लिए हम उस प्रभु का स्मरण करें जो हमारी शक्तियों को क्षीण नहीं होने देते—उन्नति-पथ पर आगे ले-चलते हैं और पवित्र ज्ञानदीप्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के आतिथ्य की तैयारी

१७१३. स नो मित्रमहस्त्वमग्ने शुक्रेण शोचिषा। देवैरा सत्सि बर्हिषि ॥ ३ ॥

हे **मित्रमहः**=प्रमीति व मृत्यु से त्राणकारक तेजवाले प्रभो! (मि-त्र-महस्) अथवा स्नेहपूर्वक प्राणिमात्र से प्रेम करने के कारण महनीय—पूजनीय प्रभो! हे **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **शुक्रेण शोचिषा**=निर्मल ज्ञान की दीप्ति से अथवा (शुक् गतौ) क्रिया में परिणत होनेवाली ज्ञान की दीप्ति से तथा **देवैः**=दिव्य गुणों से **नः**=हमारे **बर्हिषि**=हृदयान्तरिक्ष में **आसत्सि**= विराजमान होते हैं।

वे प्रभु 'मित्रमहः' व 'अग्नि' हैं। उनका तेज मेरे सब अशुभों को समाप्त करनेवाला है और वे मुझे आगे ले-चलनेवाले हैं। प्रभु की उपासना प्राणिमात्र के साथ स्नेह के द्वारा होती है।

ये प्रभु मेरे हृदय में विराजेंगे—यदि मैं १. उज्ज्वल ज्ञान की दीप्तिवाला बनकर क्रियाशील जीवनवाला बनूँगा तथा २. यदि मैं अपने अन्दर दिव्यता की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्नशील होऊँगा।

प्रभु का निवास 'बर्हिः' में होता है। 'बर्हि' उस हृदय का नाम है जिसमें से सब वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है। एवं, मुझे प्रभु की प्राप्ति के लिए ज्ञानी बनना, क्रियाशील होना, अपने में दिव्यता को बढ़ाना और हृदय में से वासनाओं का उन्मूलन करना होगा।

भावार्थ—मुझे ज्ञानवृद्धि, क्रियाशीलता, दिव्यता व वासनाओं के विनाश के द्वारा प्रभु के आतिथ्य की तैयारी करनी चाहिए।

सूक्त-२

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के आतिथ्य के परिणाम

१७१४. उत्ते शुष्मासो अस्थू रक्षो भिन्दन्तो अद्रिवः। नुदस्व याः परिस्पृधः ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अवत्सारः काश्यपः' है—'सार=शक्ति की रक्षा करनेवाला ज्ञानी', शरीर

में पहलवान तथा आत्मा में ऋषि। गत मन्त्र में इसने प्रभु के स्वागत की तैयारी की थी। प्रभु का आतिथ्य करने पर, प्रभु इससे कहते हैं—

१. **ते**=तेरे **शुष्मासः**=वासनारूप शत्रुओं का शोषण करनेवाले बल **उत् अस्थुः**=उन्नत होकर स्थित होते हैं। प्रभु के सम्पर्क में जीव में शक्ति का संचार न हो यह तो सम्भव ही नहीं।

२. **रक्षः भिन्दन्तः**=तेरे ये बल राक्षसवृत्तियों का विदारण करनेवाले हैं। प्रभु के सम्पर्क से प्राप्त होनेवाला सात्त्विक बल हमें अपने रमण (मौज) के लिए औरों का क्षय करनेवाली राक्षसी वृत्तियों के हनन व विदारण में समर्थ करता है।

३. हे **अद्रिवः**=अपने संकल्प से विचलित न होनेवाले इन्द्र! तू **नुदस्व**=परे ढकेल दे। किनको? **याः परिस्पृधः**=जो तेरी उन्नति की स्पर्धा करनेवाले हैं—जो तेरी उन्नति को समाप्त करने के लिए प्रबल उत्कण्ठावाले तेरे शत्रु हैं। काम, क्रोध, लोभ आदि मनुष्य के प्रमुख शत्रु हैं, ये उसकी उन्नति को समाप्त करने में लगे हैं। यह अवत्सार प्रभु के आतिथ्य के द्वारा इनको परे धकेल देता है—अपने समीप नहीं फटकने देता।

भावार्थ—हम प्रभु का आतिथ्य करनेवाले बनें। इसके हमारे जीवन में निम्न परिणाम होंगे—१. शक्ति की वृद्धि, २. राक्षसों का विदारण, ३. वासनाओं का विनाश।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु-स्मरण

१७१५. अया निजघ्निरोजसा रथसङ्गे धने हिते। स्तवा अबिभ्युषा हृदा॥ २॥

प्रभु अवत्सार से कह रहे थे कि तू उन्नति-विरोधी शत्रुओं को नष्ट कर डाल। अवत्सार उत्तर देते हुए कहता है कि—

१. **अया ओजसा**=आपके सम्पर्क से प्राप्त ओज से मैं **निजघ्निः**=शत्रुओं का कुचलनेवाला बनता हूँ। प्रभु के सम्पर्क से जीव में एक अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे वह अपने काम-क्रोधादि शत्रुओं का नाश कर पाता है।

२. हे प्रभो! मैं **रथसङ्गे**=इस मानवशरीररूपी रथ के सङ्ग होने पर तथा **धने हिते**=धन के विद्यमान होने पर **अबिभ्युषा हृदा**=निर्भीक हृदय से **स्तवै**=आपका स्तवन करता हूँ। वस्तुतः प्रभुकृपा से हमें जीवन-यात्रा को पूर्ण करने के लिए यह शरीररूपी रथ मिला है। अन्य पशु-पक्षियों के शरीर भोगयोनि हैं—वे शरीर 'रथ' नहीं, अतः वे जीवन-यात्रा की पूर्ति में साधक भी नहीं। इस शरीर को प्राप्त करने पर यदि प्रभुकृपा से शरीररक्षा के लिए आवश्यक धन प्राप्त हो तो मनुष्य को चाहिए कि व्यर्थ में और धन की प्राप्ति में न उलझकर निर्भीक हृदय से प्रभु का स्तवन करे और अधिक धन जुटाने में शक्ति को व्यय करने के स्थान में प्रभु की उपासना से शक्ति की वृद्धि करना अधिक श्रेयस्कर है।

भावार्थ—मानवशरीर को प्राप्त करके, आवश्यक धन प्राप्त होने पर, प्रभुस्तवन ही उचित है—इसी से हमारी शक्ति बढ़ेगी, अन्यथा हम क्षीणशक्ति हो जाएँगे।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु के व्रतों को न तोड़ना

१७१६. अस्य व्रतानि नाधृषे पवमानस्य दूढ्या। रुज यस्त्वा पृतन्यति॥ ३॥

अवत्सार निश्चय करता है **अस्य**=इस **पवमानस्य**=पवित्र करनेवाले प्रभु के **व्रतानि**=व्रतों का—प्रभु से उपदिष्ट कर्त्तव्यों का—**दूढ्या**=दुर्बुद्धि के कारण **न आधृषे**=मैं धर्षण नहीं करता, अर्थात् मैं प्रभु से उपदिष्ट व्रतों का पालन ही करता हूँ। वस्तुतः मानव-कल्याण तो इन व्रतों के पालन में ही है, परन्तु दुर्बुद्धि के कारण मनुष्य कभी-कभी इन व्रतों को तोड़कर अन्ततः अपना अकल्याण कर बैठता है। सम्पूर्ण भोग्य पदार्थ शरीररक्षा के लिए उपयोज्य हैं, परन्तु मनुष्य स्वाद के कारण उनका अतिमात्र सेवन करता है और नाना प्रकार की आधि-व्याधियों में फँस जाता है। प्रभु ने मनुष्य को भुजाएँ दीं, वेद में उनका 'बाहु' नाम रखा और संकेत किया कि तूने सदा (बाहृ प्रयत्ने) प्रयत्नशील बनना, परन्तु जीव कर्मशीलता के व्रत को छोड़कर आराम पसन्द हो गया। उसे '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि**' उपदेश भूल गया। प्रभु ने 'भोजन' शब्द का अर्थ ही यह बतलाया था कि जो पालन के लिए 'अभ्यवहृत' हो (भुज पालनाभ्यवहारयोः), परन्तु मनुष्य उसे स्वाद के लिए खाने लगा। इस प्रकार मनुष्य ने इस पवमान प्रभु के उपदिष्ट शतशः व्रतों को तोड़ा। अब इन व्रत-भङ्गों के परिणामस्वरूप कष्ट आने पर जब जीव व्याकुल हुआ और प्रभु की ओर झुका तब प्रभु उसे फिर कहते हैं—

हे जीव! **यः**=जो भी शत्रु **त्वा**=तुझे **पृतन्यति**=आक्रान्त करता है, तू **रुज**=उसे भङ्ग करने का प्रयत्न कर। काम, क्रोध व लोभ—जिसका भी तुझपर आक्रमण हो तू उसे जीतने का प्रयत्न कर। बस, इसी में तेरा कल्याण है।

भावार्थ—हम प्रभु के व्रतों को न तोड़ें। आक्रान्ता शत्रुओं का पराजय करें।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

किसकी ओर ? उस प्रभु की ओर

१७१७. तं हिन्वन्ति मदच्युतं हरिं नदीषु वाजिनम्। इन्दुमिन्द्राय मत्सरम्॥ ४॥

गत मन्त्र में कहा था कि—'दुर्धी' से—दुष्ट बुद्धि से मनुष्य प्रभु के व्रतों को तोड़ते हैं। व्रतों को तोड़ने पर कष्ट आते हैं, ये कड़वे अनुभव उन्हें फिर से 'सुधी' बनाते हैं और ये सुधी पुरुष **तम्**=उस प्रभु को **हिन्वन्ति**=प्राप्त करते हैं—उस प्रभु की ओर चलते हैं जो—

१. **मदच्युतम्**=सब अहंकार के नाशक है अथवा हर्ष की वर्षा करनेवाले हैं, 'मदच्युत्' शब्द के ये दोनों ही अर्थ हैं और इनमें कार्यकारणभाव है। जितना-जितना अहंकार नष्ट होता जाता है उतना-उतना आनन्द अभिवृद्ध होता चलता है।

२. **हरिम्**=सब दोषों व दुःखों का हरण करनेवाले हैं। प्रभु हमारे देषों को दूर करते हैं और इस प्रकार हमारे दुःखों को भी दूर कर देते हैं।

३. **नदीषु वाजिनम्**=अपने स्तोताओं में वाज=शक्ति का संचार करनेवाले हैं। हम प्रभु के स्मरण से उसके सम्पर्क में आते हैं और इस सम्पर्क से हममें प्रभु-शक्ति का प्रवाह होता है।

४. **इन्दुम्**=वे प्रभु परमैश्वर्यशाली हैं। उनका मित्र बन मैं भी इस परमैश्वर्य में भागीदार बनता हूँ।

५. **इन्द्राय मत्सरम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय भक्त के लिए वे प्रभु हर्ष देनेवाले हैं। प्रभु का सम्पर्क मुझे वासनाओं के विजय में समर्थ करता है। मैं इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता हूँ और '**सर्वमात्मवशं सुखम्**' इस नियम के अनुसार मेरा जीवन उल्लासमय होता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु की ओर चलनेवाले बनें।

सूक्त-३

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

रेगिस्तान का लाँघना

१७१८. आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा के चिन्नि येमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥ १ ॥

मन्त्र संख्या २४६ पर इसका विचार हो चुका है। सरलार्थ यह है—

प्रभु कहते हैं—हे **इन्द्र**=जीवात्मन्! **मन्द्रैः**=आह्लादमय **मयूररोमभिः**=दुष्टवृत्तियों के नाशक प्रभुवाचक शब्दों का उच्चारण करनेवाली **हरिः**=हरणशील चित्तवृत्तियों से **आयाहि**=तू मेरे समीप आ। **त्वा**=तुझे **केचित्**=ये कोई भी विषय **मा नियेमुः**=मत रोक लें। **इत्**=निश्चय से **पाशिनः न**=ये विषय पाशवालों की भाँति हैं, ये तुझे बाँध लेंगे। तू **तान्**=इन विषयों को **धन्वा इव**=मरुस्थल की भाँति **अति इहि**=लाँघ जा। रेगिस्तान के मृगतृष्णा के दृश्य की भाँति ये आकर्षक हैं, परन्तु कभी प्यास को बुझानेवाले नहीं। जो इनमें फँसता नहीं वही 'विश्वामित्र'=सभी का मित्र बन पाता है, इनमें फँसनेवाला तो 'विषयमित्र' हो जाता है।

भावार्थ—हम आह्लादमयी प्रभु-नामोच्चारण करनेवाली चित्तवृत्तियों से प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

इन्द्र के मुख्य गुण (Characteristics)

१७१९. वृत्रखादो वलं रुजः पुरां दर्मो अपामजः ।
स्थाता रथस्य हर्योरभिस्वर इन्द्रो दृढा चिदारुजः ॥ २ ॥

इन्द्र के लक्षण ये हैं—

१. **वृत्रखादः**=वृत्र का यह खा-जानेवाला होता है। यह वासना को कुचल डालता है। वासना ज्ञान पर पर्दा डाल देती है, अतः यह वृत्र कहलाती है। इन्द्र इसको उसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर देता है जैसे सूर्य मेघ को। सूर्य 'इन्द्र' है तो 'वृत्र' मेघ।

२. **वलं रुजः**=यह वल को नष्ट कर देता है। इन्द्र का एक नाम 'वलभित्' है। वस्तुतः 'वल' देवता है, जब तक कि यह निर्बलों के रक्षण में विनियुक्त होता है, परन्तु जब यह दूसरों के उत्पीड़न में विनियुक्त होता है तब यह राक्षस बन जाता है। इन्द्र इस राक्षस का विदारण करने के कारण 'वलभित्' कहलाता है। मनुष्य को बल के गर्व में कभी भी न्याय का गला नहीं घोंटना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो वह 'वलभित्' नहीं, बल्कि बल के मद से पराजित हो जाता है।

३. **पुरां दर्मः**=जीव को प्रभु ने निवास के लिए पाँच कोश व तीन शरीर दिये हैं—ये ही इसके पुर हैं। वस्तुतः यह इन पुरों के अन्दर बँधा हुआ है। इसने 'दमन, दान व दया' की साधना करके इन बन्धनों को तोड़ना है। इसी बात को यहाँ इस रूप में कहा गया है कि यह पुराम्=पुरों का दर्मः=विदारण करनेवाला होता है।

४. **अपाम् अजः**=यह सदा व्यापक कर्मों में (आप् व्याप्तौ) गतिशील होता है। हमारे कर्म दो प्रकार के होते हैं—एक स्वार्थपूर्ण और दूसरे स्वार्थरहित। जो कर्म जितना-जितना स्वार्थ से रहित होता है वह उतना-उतना व्यापक होता है। यह इन्द्र सदा इन व्यापक कर्मों में ही व्याप्त रहता है।

५. यह इन्द्र **रथस्य**=जीवन-यात्रा के लिए दिये गये शरीररूप रथ के **हर्योः**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों पर **स्थाता**=अधिष्ठित होता है। यह सदा उनपर क़ाबू पाये रहता है, उनके क़ाबू नहीं हो जाता। जीवन-यात्रा को पूर्ण करने के लिए यह आवश्यक है, अन्यथा यात्रा की पूर्ति सम्भव है ही नहीं। बेक़ाबू घोड़े तो किसी गड्ढे में ही गिरा देंगे।

६. **अभिस्वरः**=यह इन्द्र अपने जीवन में उपर्युक्त पाँचों बातों को लाने के लिए सदा प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाला होता है, (स्वृ शब्दे)। यही प्रभु-नामोच्चारण उसे प्रेरणा व उत्साह प्राप्त कराता है। इसी से वह अपने में एक शक्ति अनुभव करता है।

७. अब यह **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **दृढाचित्**=दृढ़-से-दढ़ विषय-बन्धनों को **आरुजः**=समन्तात् छिन्न-भिन्न कर डालता है, इनका ग़ुलाम नहीं बना रहता। विषय 'ग्रह' हैं—इन्होंने जीव को बुरी तरह से जकड़ा हुआ है, यह उनकी जकड़ से छूट जाता है।

भावार्थ—हमें चाहिए कि इन्द्र के उल्लिखित सात लक्षणों को अपने जीवन में अनूदित करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

चार प्रयाण

१७२०. गम्भीराँ उदधींरिव क्रतुं पुष्यसि गाइव।
प्र सुगोपा यवसं धेनवो यथा ह्रदं कुल्याइवाशत॥ ३॥

१. जीव 'क्रतु' है। '**ओ३म् क्रतो स्मर**' इस मन्त्रभाग में जीव को 'क्रतु' नाम से ही स्मरण किया गया है। 'यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति', इस उपनिषद्वाक्य के अनुसार क्रतु के अनुसार ही जीवन मिलने से जीव का नाम ही 'क्रतु' हो गया है। हे प्रभो! आप **क्रतुम्**=इस कर्मशील जीव को **गम्भीरान् उदधीन् इव**=गभीर समुद्रों की भाँति ज्ञान-जल से **पुष्यसि**=पुष्ट करते हो। समुद्र की भाँति अगाध ज्ञान ही तो जीव को ब्रह्मचर्याश्रम में प्राप्त करना है। यदि जीव 'क्रतु' व पुरुषार्थी बनता है तो प्रभु ऐसी परिस्थितियाँ प्राप्त कराते हैं जो ज्ञान-प्राप्ति के अनुकूल होती हैं और जीव का ज्ञान समुद्र की भाँति गम्भीर होता चलता है। अथर्ववेद में आचार्य को 'समुद्र' नाम दिया ही है।

२. इस ज्ञान को प्राप्त कर मनुष्य गृहस्थ बनता है और **इव**=जैसे **सुगोपाः**=उत्तम ग्वाला **गाः**=गौवों का **प्र**=प्रकर्षेण पोषण करता है, इसी प्रकार यह गृहस्थ अपनी सन्तानों का पोषण करता है और इस कर्त्तव्यपालन के कारण प्रभु गृहस्थ का पोषण करता है।

३. अब **धेनवः**=गौवें **यथा**=जैसे **यवसम्**=चरी को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार ये सद्गृहस्थ गृहस्थ को निभाकर, अपने सांसारिक कर्त्तव्यों का पालन करके, प्रभु को ही, जो (यु=मिश्रण व अमिश्रण) बुराई से पृथक् व भलाई से मिलानेवाले हैं, प्राप्त करता है। क्षुधित गौ को जैसे चरी ही रुचती है उसी प्रकार इस भक्त को प्रभु का नाम-स्मरण ही रुचिकर होता है। इसका परिणाम यह होता है कि यह सदा उस प्रभु का स्मरण करता हुआ—सदा तद्भाव से भावित होने के कारण अन्त समय में भी प्रभु का ही स्मरण करता है, और—

४. **इव**=जैसे **कुल्याः**=नालियाँ **ह्रदम्**=एक तालाब में **आशत**=व्याप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार यह भक्त अन्त में प्रभु से मेल करता है।

भावार्थ—मैं अपने को ज्ञान का समुद्र बनाऊँ, अपनी सन्तानों का उत्तम पालन करूँ, प्रभु के नाम को ही अपना भोजन बनाऊँ, और अन्त में प्रभु से मेल करूँ।

सूक्त-४

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

प्रभु का (मेहमान) अतिथि

१७२१. यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम्।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु सचा पिब ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र २५२ संख्या पर द्रष्टव्य है। सरलार्थ इस प्रकार है—

तृष्यन्=प्यास का अनुभव करता हुआ **यथा**=जैसे **गौरः**=प्रयत्नशील गौरमृग **अपाकृतम्**=समीप पहुँचने पर दूर और दूर हट जाते हुए **ईरिणम्**=ऊसर—मरुभूमि की ओर **अवएति**=दूर और दूर चलता जाता है, उसी प्रकार हे जीव! तू भी आनन्द की प्यास में प्रकृति की मरुभूमि में भटक रहा है। इस रास्ते को छोड़कर **तूयम्**=शीघ्र ही **नः**=हमारी **आपित्वे**=मित्रता में, मित्रता ही क्या **प्रपित्वे**=शरण में **आगहि**=आजा। वस्तुतः प्रभु को प्राप्त करने पर ही आनन्द मिलेगा। **कण्वेषु**=बुद्धिमानों में **सचा**=मिलकर रहता हुआ तू **सु-पिब**=उत्तम प्रकार से ज्ञान-जल का पान कर।

यह ज्ञान ही तो जीव को उस महान् देव=प्रभु को अतिथि=प्राप्त करनेवाला बनाएगा और जीव देवातिथि होगा।

भावार्थः=प्रकृति की मरु-मरीचिका में मरनेवाला मृग मैं न बनूँ। मैं प्रभु की मित्रता व शरण में आनन्द का अनुभव करूँ।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उस ज्येष्ठ बल का धारण

१७२२. मन्दन्तु त्वा मघवन्निन्द्रेन्दवो राधोदेयाय सुन्वते।
आमुष्या सोममपिबश्चमू सुतं ज्येष्ठं तद्दधिषे सहः ॥ २ ॥

हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य सम्पन्न देवातिथे! हे **इन्द्र**=शक्ति के सर्वकार्यों को करनेवाले शचीपते इन्द्र! **त्वा**=तुझे **इन्दवः**=ये सोमकण **मन्दन्तु**=आनन्दयुक्त करें। ये सोमकण **सुन्वते**=अपना अभिषव करनेवाले के लिए **राधो-देयाय**=सफलता देनेवाले होते हैं, अर्थात् जो भी व्यक्ति उत्तम भोजन द्वारा अपने में इन सात्त्विक सोमकणों का सम्पादन करता है, वह संसार में राधस्=सफलता प्राप्त करता है। ऐसा व्यक्ति जिस भी कार्य को प्रारम्भ करता है उसमें उसे सफलता प्राप्त होती है। 'मघवन्' और 'इन्द्र' ये सम्बोधन यह संकेत करते हैं कि यह व्यक्ति ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न बनता है और शक्ति-सम्पन्न कार्यों का करनेवाला होता है। ज्ञान और शक्ति ये सोम के परिणाम हैं तथा ज्ञान और शक्ति

मिलकर प्रत्येक कार्य में सफलता देते ही हैं। **अमुष्य**=उस प्रभु के **चमूसुतम्**=शरीर व मस्तिष्क के विकास के लिए उत्पन्न किये गये इस **सोमम्**=सोम को हे देवातिथे! तू **आ अपिबः**=समन्तात् इस शरीर में पी ले—व्याप्त कर ले। इसका परिणाम यह होगा कि **तत्**=तब तू **ज्येष्ठं सहः**=सर्वोत्कृष्ट सहोनामक बल को **दधिषे**=धारण करनेवाला होगा। सोमपान करनेवाला व्यक्ति दीप्त मस्तिष्क का होता है—उसका शरीर सबल बनता है और उसमें एक अद्भुत सहनशक्ति होती है। सोमपान के अभाव में ज्ञानाग्नि को ईंधन न मिलने से वह मन्द हो जाती है। शरीर में शक्ति=vitality की कमी से रोग होकर, शरीर निर्बल हो जाता है तथा मन सहनशक्तिशून्य होकर चिड़चिड़ा-सा हो जाता है। ऐसा व्यक्ति प्रभु का क्या अतिथि बन सकता है? देवातिथि को तो उज्ज्वल मस्तिष्क, सबल शरीर व शान्त-मनस्क बनना है।

भावार्थ—हम सोमपान द्वारा सर्वोत्कृष्ट बल को धारण करें।

सूक्त-५

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

जीवन के लिए दो महत्त्वपूर्ण बातें

१७२३. त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥ १ ॥

इस मन्त्र की व्याख्या २४७ संख्या पर हो चुकी है। सरलतार्थ यह है—

प्रभु कहते हैं—हे **अङ्ग!**=गतिशील अतएव प्रिय! **शविष्ठ**=शक्तिशालिन्! **त्वम्**=तू **मर्त्यम्**=इस दोषपूर्ण मनुष्य को **प्रशंसिषः**=प्रशंसित ही करता है—उसकी निन्दा नहीं करता। संसार में गुण-दोष तो सभी में हैं—निन्दा करके क्या करना। अकर्मण्य व निर्बल ही निन्दा किया करते हैं।

जीव कहता है कि—हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यपूर्ण प्रभो! **इन्द्र**=परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभो! **त्वत् अन्यः देवः मर्डिता न अस्ति**=वस्तुतः संसार में आपसे भिन्न कोई देव मुझे सुख देनेवाला नहीं है, अतः मैं **ते वचः ब्रवीमि**=तेरे ही स्तुति-वचनों का उच्चारण करता हूँ, तभी तो प्रशस्तेन्द्रि 'गोतम' बन पाता हूँ।

भावार्थ—मैं किसी की निन्दा न करूँ। सदा प्रभु का स्तवन करूँ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

गर्व से ऊपर

१७२४. मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान् कदा चना दभन्।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥ २ ॥

हे **वसो!**=बसानेवाले प्रभो! **ते**=तेरे **राधांसि**=साफल्य, कार्यों में प्राप्त कराई हुई सिद्धियाँ **अस्मान्**=हमें **कदाचन**=कभी भी **मा**=मत **आदभन्**=प्रतारित कर दें (दभ्=to cheat), अर्थात् हम कहीं इस आत्म-प्रवञ्चन में न पड़ जाएँ कि यह सफलता तो हमारी है। देवताओं को भी तो असुरों का पराजय करने पर यह गर्व हो गया था—मेरी तो बिसात ही क्या है? आपकी कृपा से मैं इन

सफलताओं को सदा आपकी शक्ति से होता हुआ ही अनुभव करूँ।

हे वसो! **ते**=तेरे **ऊतयः**=रक्षण **अस्मान् मा आदभन्**=हमें प्रतारित न करें। आप ही वस्तुतः हमारी रक्षा कर रहे हैं। 'असुरों के आक्रमणों से हम नष्ट नहीं हो जाते', उसका हेतु आपका रक्षण ही है। मुझे इसका घमण्ड न घेर ले। इस रक्षण का साधक मैं अपने को ही न मानने लगूँ।

हे **मानुष**=सदा मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभो! आप **नः चर्षणिभ्यः**=हम देखकर (चर्षणयः=द्रष्टारः) काम करनेवालों के लिए (चर्षणयः=कर्षणयः) **विश्वा वसूनि च**=निवास के लिए सब आवश्यक धनों को **उपमिमीहि**=समीपता से निर्माण कीजिए। **आ**=सर्वत्र आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराइए। वस्तुतः, जब मनुष्य समझ से श्रम करता है तब प्रभु उसे निवास के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराते ही हैं। यदि मनुष्य काम न करे—या नासमझी से ग़लत दिशा में काम करे तो 'प्रभु ही सब-कुछ कर देंगे' ऐसी बात नहीं है। प्रभु की सहायता के पात्र हम तभी बनते हैं जब हम श्रम व बुद्धिमत्ता को अपने साथ संयुक्त करते हैं।

भावार्थ—हम कभी सफलता व अपने रक्षणों का गर्व न करें। हम बुद्धिमत्ता व श्रम को अपनाएँ, जिससे प्रभु की कृपा के पात्र बनें।

सूक्त-६

ऋषिः—पुरुमीढाजमीढौ॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पुरुमीढ और अजमीढ

१७२५. प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः। दिवो अदर्शि दुहिता॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्रों के ऋषि 'पुरुमीढ और अजमीढ' हैं। मीढ का अर्थ है 'संग्राम'। 'पुरु' का अर्थ है—पालक व पूरक, और 'अज' का का अर्थ है गति के द्वारा अशुभ का परे क्षेपन करनेवाला। जिनका संग्राम सचमुच जीवन में पूरणता को लानेवाला तथा गति के द्वारा अशुभ को दूर करनेवाला है वे 'पुरुमीढ व अजमीढ' हैं। ये १. पड़ोसियों के साथ व्यर्थ में लड़ाई झगड़े में नहीं पड़े हुए, २. न ही ये आर्थिक संग्रामों में उलझे हैं। इनका संग्राम तो ३. अध्यात्मसंग्राम है—ये काम-क्रोधादि को नष्ट करने में तत्पर हैं। ये उषः को प्रकाशित होते देखकर उषा से भी प्रकाश व ज्ञान का उपदेश लेते हैं और कहते हैं कि—

स्य=अरे! वह उषा **अदर्शि**=दिख रही है, जो १. **प्रतिसूनरी**=एक-एक मनुष्य को उत्तम प्रकार से नेतृत्व देनेवाली है—आगे और आगे ले-चल रही है—सोये हुओं को मानो जगा रही है और क्रिया में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित कर रही है।

२. **जनी**=यह प्रादुर्भाव करनेवाली है—क्या क्रिया में प्रवृत्त करके यह मनुष्य का विकास न करेगी? विकास के लिए ही तो यह ३. **स्वसुः परि**=स्वसा के तुल्य अपनी बहिन रात्रि के उपरान्त **वि-उच्छन्ती**=विशेषरूप से अन्धकार को दूर कर रही है। अन्धकार में विकास का सम्भव न था। इस उषा ने उस अन्धकार को दूर कर दिया है ४. यह उषा तो **दिवः**=प्रकाश की **दुहिता**=पूरक है—दुह प्रपूरणे।

संक्षेप में कहने का अभिप्राय यह कि रात्रि में मनुष्य आराम से लेटा था। उसकी थकावट आदि दूर होकर तथा टूटे-फूटे घरों (Cells) का नवीनीकरण होकर मनुष्य रात में प्रफुल्ल हो जाता है। इसी से रात 'स्वसा' कहलाई है—उत्तम स्थितिवाली, परन्तु तरोताज़ा होकर भी मनुष्य

अन्धकार में किसी तरह की उन्नति नहीं कर सकता। उषा आती है १. अन्धकार को दूर करती है (वि उच्छन्ती), २. प्रकाश भरती है (दिवो दुहिता), ३. मनुष्य को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है (सूनरी), और ४. इस प्रकार उसके विकास को सिद्ध करती है (जनी)।

भावार्थ—हम उषःकाल के काव्यमय सौन्दर्य से प्रेरणा प्राप्त करके जीवन को सुन्दर बनाने का निश्चय करें।

ऋषिः—पुरुमीढाजमीढौ॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

इन्द्रियों की निर्मात्री उषा

१७२६. अश्वेव चित्रारुषी माता गवामृतावरी। सखा भूदश्विनोरुषाः॥ २॥

यह उषा=उषःकाल १. **अश्वा इव**=(अश् व्याप्तौ) जैसे मनुष्यों को बिस्तरा छोड़कर उठने व कर्मों में व्यापृत होने के लिए प्रेरित करती है, उसी प्रकार २. **चित्रा**=(चित्+रा) यह ज्ञान का प्रकाश भी देनेवाली है। उषा से कर्म व ज्ञान दोनों की प्रेरणा प्राप्त होती है। 'कर्मेन्द्रियाँ कर्मों में प्रवृत्त हों और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान से जगमगाने लगें' यही तो उषा कह रही है कि 'हे मनुष्य! तू उठ और कर्मों में लग तथा स्वाध्याय में प्रवृत्त हो।'

३. इस प्रकार यह उषा **गवां माता**=इन्द्रियों का (गाव इन्द्रियाणि) उत्तम निर्माण करनेवाली है। अपने-अपने कार्यों में लगी हुई इन्द्रियाँ ही तो उत्तम बनती हैं।

४. यह उषा **ऋतावरी**=है—(ऋत=pious act) पवित्र कर्मोंवाली है। इसमें सज्जन व्यक्ति यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं।

५. यह उषा **अश्विनोः**=प्राणापान की **सखा अभूत्**=मित्र होती है, अर्थात् योगी लोग इसमें ही मुख्यरूप से प्राणापान की साधना करते हैं। ६. इस प्रकार यह उषा **अरुषी**=तेजस्वी है। इससे प्रेरणा प्राप्त करनेवाले मनुष्य को यह तेजस्वी बनाती है।

इस प्रकार पुरुमीढ और अजमीढ=पालक व वासनाओं के नाशक युद्धोंवाले लोग इस उषा में १. क्रियाशील बनते हैं—आलस्य को त्यागते हैं, २. स्वाध्याय द्वारा ज्ञान की वृद्धि करते हैं, ३. कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को परिष्कृत करते हैं, ४. यज्ञादि कर्मों को विस्तृत करते हैं, ५. प्राणापान की साधना करते हैं और ६. अपने को तेजस्वी बनाते हैं।

भावार्थ—उषा मेरे जीवन को तेजस्वी बनाये।

ऋषिः—पुरुमीढाजमीढौ॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शक्ति, ज्ञान व धन

१७२७. उत सखास्यश्विनोरुत माता गवामसि। उतोषो वस्व ईशिषे॥ ३॥

१. हे **उषः**=उषःकाल! तू **उत**=एक तो **अश्विनोः सखा असि**=प्राणापान का सखा है। तुझमें योगीलोग प्राणापान की साधना किया करते हैं। प्रातःकाल शुद्ध वायु में भ्रमण भी स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उसमें ozone का अंश अधिक होता है, अतएव वह हमारे श्वासोच्छ्वास के लिए भी अधिक उपयोगी होती है। इस प्रकार उषा प्राणापान की मित्र है।

२. **उत**=और हे उषः!=तू **गवाम् माता असि**=हमारी इन्द्रियों की निर्मात्री है। तू उषर्बुद्धों को कर्मेन्द्रियों द्वारा यज्ञ में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरणा देती है तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पाँचों प्रकार से ज्ञान प्राप्ति

में जुट जाने के लिए कहती है। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी सशक्त बनती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ भी उज्ज्वल।

३. हे उषः ! तू **वस्वः उत**=निवास के लिए आवश्यक धन का भी **ईशिषे**=ईशन करती है, अर्थात् जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर अपने नित्यकृत्यों को ठीक से करता है वह शक्ति-सम्पन्न व समझदार बनकर जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन को भी ठीक से जुटा पाता है।

यह संसार एक संघर्ष का स्थान है। इस संघर्ष में विजयी बनने के लिए प्रातः जागरण आवश्यक है, इसीलिए इस संग्राम के करनेवाले, इन मन्त्रों के ऋषि पुरुमीढ और अजमीढ उषा से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। उस प्रेरणा का परिणाम शक्ति व ज्ञानवृद्धि तथा जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन की प्राप्ति के रूप में होता है।

भावार्थ—मैं उषःकाल से प्रेरणा प्राप्त कर शक्ति, ज्ञान व धन का विजेता बनूँ।

सूक्त-७

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पूर्णता व प्रकाश के लिए प्राणसाधन

१७२८. एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः। स्तुषे वामश्विना बृहत्॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रस्कण्व' है—अत्यन्त मेधावी। यह उषा को इस रूप में देखता है कि १. **एषा**=यह **उषाः**=उषा **उ**=निश्चय से **अपूर्व्या**=और पूरण करने योग्य नहीं है, अर्थात् यह पूर्ण है, इसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। इससे प्रेरणा प्राप्त करके मैं भी अपने जीवन को पूर्ण बनाऊँ। २. यह उषा **दिवः**=प्रकाश की **प्रिया**=प्रिय है और **व्युच्छति**=अन्धकार को दूर करती है। क्या मेरा भी यह कर्त्तव्य नहीं कि मैं अपने जीवन को उत्तरोत्तर प्रकाशमय बनाने का प्रयत्न करूँ?

इस सारे कार्य में प्राणापान ही हमारे सहायक होते हैं, उषा अश्विनियों की सखा है। उषा में प्राणापान की साधना से ही तो हमें अपने जीवन को पूर्ण तथा प्रकाशमय बनाना है। प्राणापान की साधना से जब प्रस्कण्व का जीवन उन्नत होता है तब वह इनको सम्बोधन करते हुए कहता है कि हे **अश्विनौ**=प्राणापानो ! मैं **वाम्**=आपके **बृहत्**=इस वृद्धि के साधनाभूत कार्य की **स्तुषे**=खूब ही स्तुति करता हूँ।

भावार्थ—उषा पूर्ण है—हम भी पूर्ण बनें। उषा अन्धकार को दूर भगाती है—हम भी प्रकाश के प्रिय हों। प्राणापान ही सब वृद्धि के साधन हैं—मैं उषःकाल में प्राणसाधना अवश्य करूँ।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्राण और अपान

१७२९. या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम्। धिया देवा वसुविदा ॥ २ ॥

ये प्राणापान तो वे हैं **या**=जो—

नैर्मल्य—१. **दस्रा**=(दसु उपक्षये)=इन्द्रियों के सब दोषों को नष्ट करनेवाले हैं। **'तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्'**। इन्द्रियों के दोष ही क्या, शरीर के रोगों तथा मन के मलों को भी ये दूर करनेवाले हैं, बुद्धि की कुण्ठा के भी ये विनाशक हैं। इन्हीं कारणों से (दस्रा-दर्शनीयौ) ये दर्शनीय व सुन्दर हैं।

स्वास्थ्य—२. **सिन्धुमातरा**=ये शरीर में रुधिर के ठीक प्रकार से स्यन्दन=प्रवाह (सिन्धु) के निर्माण करनेवाले हैं। इनकी साधना से उच्च और निम्न रक्तचाप High and Low blood pressure नहीं होता तथा रुधिर का अभिसरण सदा ठीक चलता है। इसी कारण तो प्राणापान स्वास्थ्य के मूलकारण हो जाते हैं।

धनलाभ—३. ये प्राणापान **मनोतरा रयीणाम्**=मनोबल के द्वारा धन के बढ़ानेवाले हैं। तृ धातु का प्रयोग बढ़ाने अर्थ में 'प्रायः तारिष्टम्' इत्यादि मन्त्रभागों में स्पष्ट है। प्राणापान की साधना से चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा मन की शक्ति दिव्य हो जाती है और उस दिव्य मानसशक्ति से हम जिस भी कार्य को करते हैं उसमें सफलता प्राप्त होती ही है। कर्मेन्द्रियों से कर्म करते हैं तो उसमें पूर्ण सफलता मिलती है—इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगते हैं तो ज्ञानधन की अद्‌भुत वृद्धि होती है। शक्ति और ज्ञान ही तो मनुष्य के उत्कृष्ट धन हैं। इनके लिए ही हम प्रभु से आराधना करते हैं—हे प्रभो! '**इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्**'=मेरा ज्ञान बढ़े, मेरी शक्ति फूले-फले।

प्रभु-प्राप्ति—४. ये प्राणापान **देवाः**=देव हैं—दिव्य शक्ति सम्पन्न हैं। **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा ये **वसुविदा**=सारे ब्रह्माण्ड में बसनेवाले व ब्रह्माण्ड के निवासभूत प्रभु को ये प्राप्त करानेवाले हैं। आराधना से मनुष्य देव बन जाता है और उस महादेव को प्राप्त करने का उसका अधिकार हो जाता है। तीव्र बुद्धि से ही तो उसका दर्शन होना है, '**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या**'। ज्ञान व पवित्र कर्मों से ही प्रभु की अर्चना सम्पन्न होती है '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**'। एवं, ज्ञानपूर्वक कर्मों से ये हमें प्रभु तक पहुँचाते हैं।

भावार्थ—प्राणापानों की साधना से १. इन्द्रियों में नैर्मल्य होगा, शरीर में स्वास्थ्य। २. शक्ति व ज्ञानधन की वृद्धि होगी तथा प्रभु की प्राप्ति के हम अधिकारी होंगे।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वृद्ध भी युवा (वृद्ध, पर युवा से भी युवा)

१७३०. वच्यन्ते वां ककुहासो जूर्णायामधि विष्टपि। यद्वां रथो विभिष्पतात्॥ ३॥

यह शरीर आयु के साथ धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है और एक दिन कहते हैं कि यह जीर्ण हो गया। अपने कर्मफलों को भोगने व नवीन कर्मों को करने के लिए हमने इस शरीर में प्रवेश किया था, अतः 'विशन्ति अत्र' इस व्युत्पत्ति से इसे 'विष्टप्' कहने लगे। जब यह विष्टप् दीर्घकाल की क्षति (wear and tear) से घिसकर क्षीण हो जाता है तब यह जीर्ण या 'जूर्णा विष्टप्' कहलाता है। यही विष्टप् 'रथ' है, क्योंकि जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए दिया गया है। **जूर्णायां अधि विष्टपि**=इस जीर्ण हो जानेवाले शरीर में **यत्**=यदि यह **वाम्**=हे अश्विनीदेवो! आपका **रथः**=रथ **विभिः**=पक्षियों से स्पर्धा करता हुआ **पतात्**=गतिशील होता है, अर्थात् यदि इस रथ में वृद्धावस्था से किसी प्रकार की क्षीणता नहीं आती, क्षीणता आनी तो दूर रही, यह पक्षियों की गति के समान तीव्रता व स्फूर्ति से आगे और आगे बढ़ता है तो **वाम्**=हे प्राणापानो! आपकी ही **ककुहासः**=महत्ताएँ (ककुभ् महान्) **वच्यन्ते**=कही जाती हैं। यह प्राणापानों की साधना का ही परिणाम है कि शरीर अन्त तक सशक्त बना रहता है—इसकी गति मन्द नहीं होती, यह तो पक्षियों की तरह फुदकता है। इसमें स्फूर्ति होती है—यह वृद्ध नहीं, युवा ही प्रतीत होता है। प्राणापान की साधना से शरीर नीरोग बना रहता है, वीर्य का संयम होता है, मन में चिड़चिड़ापन नहीं होता। ये सब बातें मनुष्य को युवा बनाये रहती हैं।

भावार्थ—मैं प्राणापन की साधना करूँ और इनकी कृपा से वृद्धावस्था में भी नवयुवक ही बना रहूँ।

सूक्त-८

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

सात्त्विक अन्न

१७३१. उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति। येन तोकं च तनयं च धामहे॥ १ ॥

वेद में 'वाजिनीवती' शब्द जब उषा के लिए प्रयुक्त होता है तब 'वाजिनी' शब्द का अर्थ 'अन्न' food होता है। मन्त्र का ऋषि 'गोतम' उषा से प्रार्थना करता है कि हे **वजिनीवति**=अन्नोंवाली **उषः**=उषे! तू **तत्**=वह **चित्रम्**=(चित्+र) ज्ञान देनेवाला, अर्थात् सात्त्विक अन्न **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **आभर**=प्राप्त करा, **येन**=जिस सात्त्विक अन्न से **तोकम्**=अपने पुत्रों को **तनयं च**=और अपने पौत्रों को **धामहे**=हम धारण कर सकें।

वस्तुतः उषःकाल की शान्ति व पवित्रता प्राप्त करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम सात्त्विक भोजन करनेवाले बनें। सात्त्विक भोजन ही हमारे ज्ञान की वृद्धि करके हमारा कल्याण करनेवाला होगा।

उषा 'वाजिनीवती' है=उत्तम सात्त्विक अन्नवाली है। हम इस सात्त्विक अन्न के सेवन के परिणामरूप जैसे जीवनवाले बनेंगे उसका कुछ चित्रण अगले मन्त्र में किया जाएगा।

'वाजिनम्' शब्द का अर्थ 'शक्ति' भी है। इस अर्थ को लेकर मन्त्रार्थ इस रूप में होगा— **वाजिनीवति**=शक्ति देनेवाली **उषः**=उषे! तू **अस्मभ्यम्**=हमें **तत्**=वह **चित्रम्**=ज्ञान भी **आभर**=प्राप्त करा **येन**=जिससे हम **तोकं तनयं च**=पुत्रों व पौत्रों को **धामहे**=धारण करें। सन्तानों के उत्तम निर्माण के लिए 'शक्ति व ज्ञान' दोनों ही अपेक्षित हैं।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न के सेवन से शक्ति व ज्ञान की वृद्धि करके सन्तानों का उत्तम धारण करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

अभ्युदय व निःश्रेयस

१७३२. उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरि। रेवदस्मे व्युच्छ सूनृतावति ॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्र में उषा को उन्हीं नामों से सम्बोधित किया है जो हमारे जीवन पर सात्त्विक अन्न के सेवन से होनेवाले प्रभावों को संकेतित करेंगे।

हे **उषः**=उषे! **अद्य**=आज **इह**=हमारे इस मानव-जीवन में तू **अस्मे**=हमारे लिए **रेवत्**=धनवाली होकर **व्युच्छ**=अन्धकार को दूर कर। तू कैसी है?

१. **गोमति**=हे उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाली! उषा से प्रेरणा प्राप्त करके यदि हम उसी अन्न का सेवन करेंगे जो 'उष् दाहे', ओषति अन्धकारम्=अन्धकार को नष्ट करता है तो वह सात्त्विक अन्न हमें 'प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला' (गो-तम, गावः=ज्ञानेन्द्रियाँ) बनाएगा। यही सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम हमारे जीवन में इस सात्त्विक अन्न के सेवन से होता है—प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि भी इसीलिए 'गोतम' कहलाता है।

२. **अश्वावति**=हे उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाली! यह सात्त्विक अन्न जहाँ ज्ञानेन्द्रियों को अच्छा बनाता

है वहाँ कर्मेन्द्रियों को भी शक्ति-सम्पन्न करता है और ये कर्मेन्द्रियाँ शीघ्रता से कर्मों में व्यापृत होती हैं, किसी प्रकार का आलस्य वहाँ नहीं होता।

३. **विभावरि**=हे प्रकाशवाली! सात्त्विक अन्न के सेवन का तीसरा परिणाम यह है कि हमारा मस्तिष्क सदा प्रकाशमय रहता है हम कभी किंकर्त्तव्यविमूढ नहीं बनते। हमारा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक ठीक बना रहता है।

४. **सूनृतावति**=उत्तम, दु:खपरिहारी, सत्यवाली! उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, उत्तम कर्मेन्द्रियों व प्रकाश को प्राप्त करके हमारी क्रियाएँ सूनृत होती हैं। वे उत्तम होती हैं—औरों का दु:ख दूर करनेवाली होती हैं तथा सत्य होती हैं।

५. **रेवत्**=धनवाली! उषा उपर्युक्त लाभों को देती हुई हमारे लिए धनवाली होती है। जहाँ इन्द्रियों की उत्तमता, प्रकाश व सत्य हमारे नि:श्रेयस के साधक होते हैं, वहाँ धन हमारे अभ्युदय को सिद्ध करता है। एवं, यह उषा अभ्युदय व नि:श्रेयस दोनों की साधिका है।

भावार्थ—हमारे लिए उषा अभ्युदय व नि:श्रेयस को सिद्ध करनेवाली हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

आरोचन अश्व

१७३३. युङ्क्ष्वा हि वाजिनीवत्यश्वाँ अद्यारुणाँ उषः।
अथा नो विश्वा सौभगान्या वह॥ ३॥

वाजिनीवति=उत्तम अन्नों के द्वारा शक्ति देनेवाली हे **उषः**=उषे! तू **अद्य**=आज **हि**=निश्चय से **अरुणान् अश्वान्**=आरोचन अश्वों को, अर्थात् तेजस्विता से चमकते हुए इन्द्रियरूपी घोड़ों को **युङ्क्ष्व**=हमारे इस शरीररूप रथ में जोत। वे इन्द्रियरूप घोड़े तेजस्वी हों, अरुण-आरोचन हों। रुग्ण होकर हमारे इस जीवन-रथ को ये बीच में ही खड़ा न कर दें।

अथ=इस प्रकार अब **नः**=हमें **विश्वा सौभगानि**=सब सौभाग्यों को **आवह**=तू प्राप्त करा। वस्तुत: इस शरीररूप रथ में इन घोड़ों के ठीक होने पर ही सब सौन्दर्य उत्पन्न होता है। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान में वृद्धि होती है तो कर्मेन्द्रियों से शक्ति में। ज्ञान और शक्ति ही मिलकर हमें श्रीसम्पन्न करते हैं। किसी भी रथ में शक्ति एंजिन का प्रतीक है तो ज्ञान प्रकाश का।

भावार्थ—मेरा शरीररूप रथ सशक्त व सप्रकाश हो।

सूक्त-९

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

गृह की उत्तमता

१७३४. अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद् दस्रा हिरण्यवत्।
अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतम्॥ १॥

प्राणापान='अश्विना' कहलाते हैं, क्योंकि १. (न श्वः) ये आज हैं और कल नहीं। तथा २. ये कार्यों में व्याप्त होते हैं—अश् व्याप्तौ। इन प्राणापानों की साधना पर ही इस शरीर की सारी उत्तमता निर्भर है। मन्त्र का ऋषि 'गोतम' इनसे कहता है—हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अस्मत्**=हमारा

वर्ति:=यह घर—यह शरीररूप रथ—**आगोमत्**=सब प्रकार से उत्तम इन्द्रियरूप घोड़ोंवाला हो। इन प्राणापानों की साधना से ही इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं। **हि**=निश्चय से ये प्राणापान **दस्रा**=(दसु उपक्षये) सब मलों का नाश करनेवाले हैं और इसी से वह रथ '**हिरण्यवत्**'=(हिरण्यं वै ज्योतिः) ज्योतिर्मय है। प्राणापान की साधना से ही बुद्धि तीव्र होती है।

हे प्राणापानो! **समनसा**=उत्तम मनवाले होते हुए आप **रथम्**=इस शरीररूप रथ का **अर्वाक्**=अन्दर की ओर ही **नियच्छतम्**=नियमन करो। प्राणापान की साधना चित्तवृत्तिनिरोध में भी सहायक होती है—इससे मन निर्मल होता है। इस निर्मल मन के साथ होते हुए ये प्राणापान इन्द्रियों को बाहर विषयों में जाने से रोकते हैं। सामान्यतः इन्द्रियों का स्वभाव बाहर जाने का है (पराङ् पश्यति), परन्तु प्राणापान के बल से इन्हें अन्दर ही नियमित करके मनुष्य उस आत्मतत्त्व का दर्शन करता है।

एवं, प्राणसाधना के हमारे जीवन पर निम्न परिणाम हैं—१. इन्द्रियों का उत्तम होना, २. ज्योति का जगना, ३. मन का उत्तम होना, ४. वृत्ति का अन्तर्मुखी होना।

भावार्थ—हम प्राणों की साधना से प्रभु से दिये गये मृण्मय शरीर को हिरण्मय (ज्योतिर्मय) बनाएँ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

शिवमय व ज्योतिर्मय गृह

१७३५. एह देवा मयोभुवा दस्रा हिरण्यवर्त्तनी। उषर्बुधो वहन्तु सोमपीतये॥ २॥

इह=इस मानव शरीर में **देवा**=प्रकाशमय—प्रकाश प्राप्त करानेवाले ये अश्विनीदेव **आ**=सर्वथा **मयोभुवा**=(यद्वै शिवं तन्मयः) शिव=कल्याण=सुख प्राप्त करानेवाले हैं। प्राणापान की साधना से शरीर के मल नष्ट होकर स्वास्थ्य व सुख प्राप्त होता है। **दस्रा**=(दस्=Destroy) ये सब कूड़ा करकट व मलों को नष्ट करनेवाले हैं। मल-नाश के द्वारा मन व बुद्धि को निर्मल करके ये **हिरण्यवर्त्तनी**=ज्योतिर्मय मार्गवाले हैं। शरीर को ये नीरोग बनाते हैं तो मन को निर्मल और बुद्धि को ज्योतिर्मय।

इस सारी बात का ध्यान करके, गोतम अपने मित्रों से कहते हैं कि आप सबको चाहिए कि—**उषर्बुधः**=प्रातःकाल जागरणवाले होकर आप **सोमपीतये**=अपने अन्दर सोम का पान करने के लिए **वहन्तु**=इन प्राणापानों को धारण करें। प्राणायाम का यह सर्वमहान् लाभ है कि इससे शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है, मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् बन पाता है। प्राणायाम के अभ्यास का सर्वोत्तम समय प्रातःकाल है—'उषर्बुधों को इसका अभ्यास करना चाहिए', ऐसा मन्त्र कह रहा है। ऐसा करने पर सोम=वीर्य हमारे शरीर में ही खप जाएगा और यह शरीर को दृढ़ व नीरोग बनाएगा। यह सुरक्षित वीर्य मानसवृत्ति को प्रसादमय बनाता है और मनुष्य की ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे प्रदीप्त करता है।

भावार्थ—प्राणायाम से १. शरीर स्वस्थ व शिवमय होगा, २. मलों का दाह हो जाएगा, ३. जीवन-मार्ग ज्योतिर्मय बनेगा तथा ४. मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् बन पाएगा।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

श्लोक-ज्योति-ऊर्ज (श्रद्धा-ज्ञान-बल)

१७३६. यावित्था श्लोकमा दिवो ज्योतिर्जनाय चक्रथुः।
आ न ऊर्जं वहतमश्विना युवम्॥ ३॥

हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यौ**=जो आप **इत्था**=सचमुच **श्लोकम्**=स्तोत्रमयी वाणी को तथा **आदिवः**=उस प्रकाशमय प्रभु तक **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश को **जनाय**=लोगों के लिए **चक्रथुः**=करते हो **युवम्**=आप दोनों **नः**=हमें **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति भी **आवहतम्**=प्राप्त कराओ।

मन्त्रार्थ से यह स्पष्ट है कि प्राण-साधना करने से हमारे जीवन में निम्न परिणाम दिखेंगे—

१. हमारी मनोवृत्ति अत्यन्त उत्तम होगी और मनुष्य सदा प्रभु का स्मरण करते हुए प्रभु के नामों व स्तोत्रों का उच्चारण करेगा।

२. उसकी बुद्धि सूक्ष्मातिसूक्ष्म होती हुई उसकी ज्ञानवृद्धि का कारण बनेगी और वह प्रकृति के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता हुआ इन पदार्थों में प्रभु की महिमा को देखेगा।

३. उसका शरीर बल व प्राणशक्ति से सम्पन्न होने के कारण रोगों व शत्रुओं का शिकार न होगा। रोगों से मुक़ाबला करने के लिए उसके शरीर में प्राणशक्ति होगी और बाह्य शत्रुओं से भयभीत न होने के लिए वह बल-सम्पन्न होगा।

भावार्थ—हमें प्राणों की साधना पर बल देना चाहिए। यह साधना ही हमें सबल, सज्ञान व श्रद्धामय बनाएगी।

सूक्त-१०

ऋषिः—वसुश्रुत आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

उत्तम घर

१७३७. अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र की व्याख्या ४२५ संख्या पर द्रष्टव्य है। सरलार्थ इस प्रकार है—

१. **अग्निं तं मन्ये**=मैं अग्नि=उन्नतिशील पुरुष उसे मानता हूँ **यः**=जो **वसुः**=रहने का ढंग जानता है। २. **अस्तम्**=(तं मन्ये) मैं घर उसको मानता हूँ **यं यन्ति**=जिसको प्राप्त होती हैं (क) **धनेवः**=दुधारू गौवें (ख) **आशवः अर्वन्तः**=तीव्रगामी घोड़े तथा (ग) **नित्यासो वाजिनः**=स्थिर शक्तिवाले पुरुष। स्तोता वे हैं **स्तोतृभ्यः**=जिन स्तोताओं के लिए आप **इषम्**=प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराते हैं तथा **स्तोतृभ्यः**=जिनसे आप लोक में समन्तात् प्रेरणा भरते हैं।

भावार्थ—हम अग्नि बनें, घर को उत्तम बनाएँ तथा सच्चे स्तोता बनें।

ऋषिः—वसुश्रुत आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

शक्ति, ऐश्वर्य, तेज व प्रेरणा

१७३८. अग्निर्हि वाजिनं विशे ददाति विश्वचर्षणिः।
अग्नी राये स्वाभुवं स प्रीतो याति वार्यमिषं स्तोतृभ्य आ भर॥ २॥

शक्ति—वह प्रभु **अग्निः**=अग्नि है—उपासकमात्र को आगे और आगे ले-चल रहा है।

विश्वचर्षणिः=वह प्रभु सबका द्रष्टा है—वे सबका ही ध्यान करते हैं looks after all और **हि**=निश्चय से **विशे**=संसार में प्रविष्ट प्रत्येक प्राणी को **वाजिनम्**=शक्ति **ददाति**=देते हैं, उन्नति के

लिए शक्ति प्राप्त कराते हैं। 'प्रभु ने शक्ति न दी हो'—यह बात नहीं—यह तो ठीक है कि हम उसका ठीक उपयोग नहीं करते और परिणामतः हमारी उन्नति में रुकावट आ जाती है।

***ऐश्वर्य*—अग्निः**=वह शक्ति देकर हमें आगे ले-चलनेवाले प्रभु **स्वाभुवम्**=स्वाश्रित व्यक्ति—औरों पर आश्रित न रहकर अपने पाँव पर खड़े होनेवाले को **राये**=ऐश्वर्य के लिए **याति**=प्राप्त कराते हैं। जो व्यक्ति औरों का मुँह न ताक कर स्वयं श्रम करता है, वह प्रभुकृपा से अवश्य सफल होता है और श्रीसम्पन्न बनता है।

***तेजः*—सुप्रीतः**=परिश्रम करनेवाले से प्रसन्न (प्रीत) हुआ-हुआ वह प्रभु **वार्यम्**=वरेण्यं (भर्गः) संसार में वरणीय वस्तु को **याति**=प्राप्त कराता है। सर्वोत्तम वरणीय वस्तु प्रभु का तेज ही है। परिश्रम करनेवाला तेज से चमकता तो है ही।

***प्रेरणा*—**ये स्वाश्रित श्रमशील व्यक्ति ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। वे प्रभु **स्तोतृभ्यः**=इन स्तोताओं के लिए **इषम्**=प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराते हैं। यह प्रेरणा ही तो स्तोता का सर्वोत्तम धन बनती है। इस श्रुत=प्रभु की सुनी गयी प्रेरणा को ही वास्तविक धन—वसु समझनेवाला इस मन्त्र का ऋषि 'वसुश्रुत' है।

भावार्थ—शक्ति, ऐश्वर्य तेज व प्रेरणा को प्राप्त करनेवाले हम भी इस मन्त्र के ऋषि 'वसुश्रुत' बनें।

ऋषिः—वसुश्रुत आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अग्नि, अस्त, व स्तोता

१७३९. सो अग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सं सुजातासः सूरय इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ ३॥

***अग्निः*—अग्निः सः**=जीवन-पथ पर आगे बढ़नेवाला वही है **यः**=जो **वसुः**=निवास के प्रकार को जानता है—जो जीवन में उत्तमता से रहता है।

***प्रशंसनीय घर*—**प्रभु कहते हैं कि **गृणे**=मैं उसी जीव की प्रशंसा करता हूँ। १. **यम्**=जिसको **धेनवः**=दुधारू गौवें **सम् आयन्ति**=सम्यक् प्राप्त होती हैं, अर्थात् जो अपने घर में दुधारू गौवों को रखता है। २. जिसको **रघुद्रुवः**=तीव्रगतिवाले **अर्वन्तः**=घोड़े **समायन्ति**=सम्यक्तया प्राप्त होते हैं, अर्थात् जिसके घर में उत्तम घोड़े विद्यमान हैं।

वैदिक संस्कृति में मनुष्य का दायाँ हाथ गौ है और बायाँ हाथ घोड़ा। गौ 'ब्रह्म'=ज्ञान की वृद्धि में सहायक है तो 'अश्व'='क्षत्र'=शक्ति की वृद्धि का साधन है। ब्रह्म और क्षत्र में विकास के साधनभूत होने से वैदिक पुरुष गौ और अश्व को भी घर का अङ्ग ही समझता है। पत्नी से यह भी कहा जाता है कि 'शिवा पशुभ्यः'=तूने घर में इन पशुओं के लिए भी हितकर होना।

३. प्रभु उसकी प्रशंसा करते हैं जिसे **सुजातासः**=(जनी प्रादुर्भावे) जीवन-विकास को साधनेवाले **सूरयः**=विद्वान् लोग **समायन्ति**=प्राप्त होते हैं। घर में इस प्रकार के विकसित जीवनवाले विद्वानों का आना आवश्यक है। इनके आते-जाते रहने से घर का वातावरण बड़ा सुन्दर बना रहता है।

एवं, प्रशंसनीय घर वही है जहाँ गौवें हैं, घोड़े हैं, जहाँ चरित्रवान् विद्वानों का आना-जाना है।

***स्तोता*—**हे प्रभो! आप **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **इषम्**=प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराइए तथा **स्तोतृभ्यः**=इन स्तोताओं से **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=लोगों में परिपूर्ण कीजिए। सच्चा स्तोता वही

है जो प्रेरणा को सुनाता है और औरों को सुनाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम अग्नि बनें, घर को उत्तम बनाए; प्रभु के सच्चे स्तोता बनें।

सूक्त-११

ऋषिः—सत्यश्रवा आत्रेयः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

हे उषे! हमें जगा

१७४०. महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते॥ १॥

हे **उषः**=उषे! तू **दिवित्मती**=प्रकाशवाली है **नः**=हमें **अद्य**=आज **महे राये**=महान् ज्ञानरूप ऐश्वर्य के लिए **बोधय**=जगा। **चित्**=निश्चय से **नः**=हमें **यथा**=जैसे तू **अबोधयः**=जगाती है, उससे हम निम्न रूपों में जागरित हो उठते हैं १. **सत्यश्रवसि**=उत्तम सत्य ज्ञान में २. **वाय्ये**=विस्तार में, मन को विस्तृत करने में ३. **सुजाते**=उत्तम विकास में तथा ४. **अश्वसूनृते**=व्यापक, उत्तम, दुःख-परिहारक सत्य कर्मों में।

उषा हमें इन बातों में जगाती है। इनमें जागकर हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'सत्यश्रवाः'=सत्य ज्ञानवाले तथा 'वत्स'=प्रभु के प्रिय बनते हैं।

भावार्थ—हम उषा से प्रेरणा प्राप्त करके 'सत्यज्ञान' वाले बनने का प्रयत्न करें।

सूचना—इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या ४२१ संख्या पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—सत्यश्रवा आत्रेयः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

किनका अन्धकार दूर होता है

१७४१. या सुनीथे शौचद्रथे व्यौच्छो दुहितर्दिवः।
सा व्युच्छ सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते॥ २॥

हे **दिवः दुहितः**=प्रकाश का पूरण करनेवाली उषे! **या**=जो तू **सुनीथे**=प्रशस्त मार्ग पर चलनेवाले में—इन्द्रियों को विषयपंक में न फँसने देनेवाले में तथा **शौचद्रथे**=देदीप्यमान रथवाले में, स्वास्थ्य को स्थिर रखने के द्वारा चमकते हुए तेजस्वी शरीररूप रथवाले पुरुष में **व्यौच्छः**=अन्धकार को दूर करती हैं; **सा**=वह तू निम्न पुरुषों में भी **व्युच्छ**=अन्धकार को दूर कर—

१. **सहीयसि**=उत्तम सहन-शक्तिवाले पुरुष में। आनन्दमय कोष के बल को सहस् कहते हैं। इस सहस् से युक्त पुरुष में अज्ञानान्धकार का निवास नहीं होता।

२. **सत्यश्रवसि**=सदा सत्यज्ञान का श्रवण करनेवाले में। जो व्यक्ति सत्सङ्ग के द्वारा उत्तम वेदज्ञान का श्रवण करता है, उसमें अज्ञानान्धकार का प्रसङ्ग नहीं रहता।

३. **वाय्ये**=जो अपने हृदय को विस्तृत बनाता है।

४. **सुजाते**=जो अपना उत्तम विकास करता है।

५. **अश्वसूनृते**=व्यापक उत्तम दुःखनाशक न्याय्य कर्म करनेवाले में।

उल्लिखित व्यक्तियों के आज्ञानान्धकार का उषा नाश करती है। वस्तुतः प्रातःकाल उठकर

हम इन शब्दों के अनुसार अपना जीवन बनाने का प्रयत्न करेंगे तो हम अवश्य अज्ञानान्धकार को नष्ट करके उस प्रकाश में पहुँचेंगे जहाँ हम प्रभु का साक्षात्कार कर रहे होंगे।

भावार्थ—हम उत्तममार्ग से चलनेवाले, देदीप्यमान शरीररूप रथवाले, सहनशील, विशाल हृदय, उत्तम विकासवाले तथा व्यापक सत्य कर्मोंवाले बनें। ऐसा बनने पर ही हमारा अज्ञानान्धकार विलीन हो पाएगा।

ऋषिः—सत्यश्रवा आत्रेयः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उषा हममें वसु भर दे

१७४२. सा नो अद्याभरद्वसुर्व्युच्छा दुहितर्दिवः।
यो व्यौच्छः सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥ ३ ॥

१. **सा**=वह उषा **नः**=हममें **अद्य**=आज **वसुः**=उत्तम धन को **आभरत्**=भर दे। हे **दिवः दुहितः**=प्रकाश को भरनेवाली उषे! तू **व्युच्छ**=हमारे अन्धकार को दूर भगा दे। **या उ**=जो तू निश्चय से **व्यौच्छः**=अन्धकार को दूर करती है। किस-किस में?

(क) **सहीयसि**=सहनशक्तिवाले में। (ख) **सत्यश्रवसि**=सत्य ज्ञानवाले में। (ग) **वाय्ये**=मन का विस्तार करनेवाले में। (घ) **सुजाते**=उत्तम विकासशील पुरुष में तथा (ङ) **अश्वसुनृते**=व्यापक सत्य कर्म करनेवाले में।

उषा प्रकाश प्राप्त कराती है तो वह वसु—निवास के लिए आवश्यक धन भी प्राप्त कराती ही है। वस्तुतः श्री और सरस्वती का विरोध लोकोक्तियों का विषय तो बन गया है, परन्तु ऐसे स्थलों में विलासमय श्री अभिप्रेत होती है। जीवन के लिए आवश्यक श्री तो 'वसु' है, वह स्वयं दिव्य है—उसका सरस्वती से अविरोध ही है।

भावार्थ—मैं उषा में जागूँ और वसु व प्रकाश को प्राप्त करूँ।

सूक्त-१२

ऋषिः—अवस्युरात्रेयः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अवस्यु की रथालंकृति

१७४३. प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम्।
स्तोता वामश्विनावृषि स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ १ ॥

४१८ संख्या पर यह मन्त्र व्याख्यात है। सरलार्थ यह है—

हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! **वाम्**=आपके **स्तोमेभिः**=एकत्रीकरण—एक स्थान में संयम के द्वारा अथवा आपकी सम्पत्ति के द्वारा (स्तोम=assemblage, riches) **स्तोता**=प्रभु का स्तवन करनेवाला **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा **प्रियतमम्**=इस अत्यन्त प्रिय—तर्पण के योग्य **वृषणम्**=शक्तिशाली **वसुवाहनम्**=अष्ट वसुओं के वाहनभूत **रथम्**=इस शरीररूपी रथ को **प्रतिभूषति**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में अलंकृत करता है **माध्वी**=हे मधुर प्राणापानो! **मम हवम् श्रुतम्**=मेरी पुकार को अवश्य सुनो। मैं आपकी कृपा से

अपने रथ को सचमुच शुभगुणों से सजा पाऊँ।

भावार्थ—प्राण-साधना द्वारा शरीर को उत्तमता से अलंकृत करता हुआ मैं प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अवस्यु' बनूँ।

ऋषिः—अवस्युरात्रेयः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु की प्राप्ति

१७४४. अत्यायातमश्विना तिरो विश्वा अहं सना।
दस्रा हिरण्यवर्त्तनी सुषुम्णा सिन्धुवाहसा माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ २ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **तिरः**=तिरोहित होकर—छिपकर रह रही **विश्वा**=सब कामादि वासनाओं को, हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर घुस आनेवाली आसुर वृत्तियों को आप **अति आयातम्**=लाँघ कर हमें प्राप्त होते हो। प्राणों की साधना से आसुर वृत्तियाँ पत्थर पर मिट्टी के ढेले के समान टकराकर नष्ट हो जाती हैं। २. इन वासनाओं के नाश के द्वारा ये प्राणापान **अहं सना**=उस अविनाशी प्रभु को प्राप्त करानेवाले हैं (अहम्-अहन्=अविनाशी, सन्=to acquire)। प्रभु-प्राप्ति का साधन वासना-विनाश ही तो है। ३. **दस्रा**=(दस् उपक्षये) ये प्राणापान शरीर के सब रोगों का और मन के सब मलों का नाश करनेवाले हैं। ४. **हिरण्यवर्तनी**=ये ज्योतिर्मय मार्गवाले हैं। वस्तुतः वीर्यरक्षा के द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके ये प्राणापान हमारे जीवन को ज्योतिर्मय बनाते हैं ५. **सुषुम्णा**=ये उत्तम सुख देनेवाले हैं। शरीर को नीरोग, मन को निर्मल तथा बुद्धि को प्रकाशमय बनाकर ये मानव-जीवन को सुखी करते हैं। ६. **सिन्धुवाहसा**=ये प्राणापान शरीर में रुधिर का अभिसरण (सिन्धु) करनेवाले हैं। रुधिर के ठीक अभिसरण से शरीर का स्वास्थ्य ठीक बना रहता है। ७. **माध्वी**=ये प्राणापान अत्यन्त मधुर हैं—जीवन को मधुर बनानेवाले हैं। ये **मम हवम् श्रुतम्**=मेरी पुकार को सुनें। मैं इनकी आराधना करूँ और ये मेरे जीवन को मधुर व सुन्दर बना दें।

भावार्थ—ये प्राणापान वासनाओं को परे भगाकर हमें प्रभु के समीप पहुँचाते हैं।

ऋषिः—अवस्युरात्रेयः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

रत्नों का लाभ

१७४५. आ नो रत्नानि बिभ्रतावश्विना गच्छतं युवम्।
रुद्रा हिरण्यवर्तनी जुषाणा वाजिनीवसू माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ ३ ॥

१. हे **अश्विाना**=प्राणापानो! **रत्नानि बिभ्रतौ**=रमणीय स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञान आदि—धनों को प्राप्त कराते हुए **नः**=हमारे प्रति **युवम्**=आप दोनों **आगच्छतम्**=आओ। **'प्राणापाना इह मे रमन्ताम्'**=प्राण और अपान जब शरीर में रमण करते हैं तब शरीर रमणीय रत्नों की खान बनता है। रत्नों के द्वारा ये प्राणापान इस शरीर-रथ को अलंकृत कर डालते हैं।

२. **रुद्रा**=ये प्राणापान रुद्र हैं—रोग व द्वेषादिरूप शत्रुओं के लिए भयंकर हैं। स्वास्थ्य व नैर्मल्य के साधक हैं।

३. **हिरण्यवर्तनी**=जीवन के मार्ग को ज्योतिर्मय बनानेवाले हैं।

४. **जुषाणा**=प्रीतिपूर्वक प्रभु का सेवन करनेवाले हैं। (जुष्=प्रीतिसेवनयोः)। प्राण-साधना से चित्तवृत्ति एकाग्र होती है और मन प्रभु में केन्द्रित होकर अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है।

५. **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धन को प्राप्त करानेवाले ये प्राणापान **माध्वी**=अत्यन्त मधुर हैं। प्राणसाधना से शक्ति की अत्यधिक वृद्धि होती हैं।

हे प्राणापानो! **मम हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार सुनो।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हम रमणीय धनों का लाभ करें।

सूक्त-१३

ऋषिः—बुधगविष्ठिरावात्रेयौ ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यात्रा-क्रम

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१७४६. अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
३ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
यह्वाइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सस्त्रते नाकमच्छ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र की व्याख्या ७३ संख्या पर दी गयी है। सरलार्थ यह है—

१. **समिधा**=पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोकरूप समिधाओं के द्वारा—इन पदार्थों के ज्ञान के द्वारा—आचार्यरूप अग्नि से **अग्निः**=विद्यार्थिरूप अग्नि **अबोधि**=प्रज्वलित की जाती है (अग्निना अग्निः समिध्यते), अर्थात् त्रिलोकी के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके एक ब्रह्मचारी अग्नि के समान प्रकाशमय होता है।

२. अब द्वितीयाश्रम में यह **प्रति आयतीम् उषासम्**=प्रत्येक आनेवाली उषा में **जनानां धेनुमिव**=मनुष्यों के लिए धेनु के समान होता है। धेनु जैसे दूध से, ये गृहस्थ उसी प्रकार दान से प्रजा का पालन करता है।

३. अब गृहस्थ के पश्चात् **यह्वाः इव**=जैसे पक्षी बड़ा होकर **वयाम्**=शाखा को **प्र उज्जिहानाः**=छोड़ने की इच्छावाले होते हैं, उसी प्रकार यह भी अब गृह को छोड़कर वनस्थ होने का संकल्प करता है।

४. वन में साधना के द्वारा **भानवः**=दीप्त बनकर—सूर्य के समान चमकता हुआ यह संन्यासी **नाकम् अच्छ**=मोक्ष की ओर **प्रसस्त्रते**=बढ़ चलता है।

भावार्थ—मेरी जीवन-यात्रा क्रमशः आगे और आगे बढ़ते हुए पूर्ण हो।

ऋषिः—बुधगविष्ठिरावात्रेयौ ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रारम्भ से अन्त तक कैसे?

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१७४७. अबोधि होता यजथाय देवानूर्ध्वो अग्निः सुमनाः प्रातरस्थात्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ १२
समिद्धस्य रुशददर्शि पाजो महान् देवस्तमसो निरमोचि॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि बुध=ज्ञानी व 'गविष्ठिर'=इन्द्रियों का अधिष्ठाता—जितेन्द्रिय है। 'यह ऐसा कैसे बन पाया?' इसका रहस्य निम्न चार बातों में छिपा है—

१. सबसे प्रथम तो यह **होता**=माता-पिता, आचार्य के प्रति अपना पूर्ण समर्पण करनेवाला **देवान् यजथाय**=देवों के साथ सङ्गतीकरण के द्वारा **अबोधि**=उद्बुद्ध हुआ (यजथाय=यजथेन)। ज्ञानी बनने के लिए दो बातें आवश्यक हैं (क) माता पिता व आचार्य के प्रति समर्पण—उनके निर्देशों का पूर्णरूपेण पालन तथा (ख) उनका सङ्गतीकरण—सदा उनके सम्पर्क में रहना। ५ वर्ष तक माता के शिक्षणालय में, ८ वर्ष तक पिता के शिक्षणालय में, फिर २४ वर्ष तक आचार्यकुल में रहकर यह उनके ज्ञान को अपने में संचरित करता है, तभी यह अग्नि के रूप में उद्बुद्ध होता है—ज्ञानवान् बनता है।

२. अब जीवन के द्वितीय प्रयाण में **अग्निः**=यह आगे और आगे बढ़नेवाला व्यक्ति **सुमनाः**=प्रशस्त मनवाला होता हुआ **प्रातः**=बहुत सवेरे **ऊर्ध्वः अस्थात्**=ऊपर उठ खड़ा होता है। गृहस्थ के लिए भी दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं (क) सदा उत्तम मनवाला होने का प्रयत्न करे, किसी से वैर-विरोध न करे, मधुर बनने के लिए प्रयत्नशील हो। (ख) प्रात:काल उठ खड़ा हो, अर्थात् आलस्य को दूर भगाकर सदा पुरुषार्थमय जीवन बिताये।

३. गृहस्थ के पश्चात् जीवन के तृतीय प्रयाण में यह वनस्थ होकर सतत स्वाध्याय में जीवन यापन करता है और **समिद्धस्य**=ज्ञान की दीप्ति से दीप्त हुए इस वनस्थ का **पाजः**=तेज **रुशत्**=चमकता हुआ **अदर्शि**=दिखता है।

वानप्रस्थ ने फिर से साधना करके (क) ज्ञान तथा (ख) तेज का सम्पादन करना है। ज्ञानी व तेजस्वी बनकर ही तो वह अब लोकहित में प्रवृत्त होगा।

४. ज्ञानी व तेजस्वी बनकर यह संन्यस्त होता है। प्रभु का प्रतिरूप-सा बनता है। यह **महान् देवः**=महादेव बना हुआ **तमसः**=अन्धकार से **निरमोचि**=स्वयं तो मुक्त हो ही जाता है—सम्पूर्ण जगत् को अन्धकार से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। यह (क) महान्=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाला है—सदा प्रभु का नाम-स्मरण करता है और (ख) देवः=(दीपनाद् वा द्योतनाद्वा) स्वयं ज्ञान से दीप्त होता है और संसार को ज्ञान से द्योतित करता है।

भावार्थ—मेरा जीवन आचार्यों के प्रति पूर्ण समर्पण व उनके सङ्गतीकरण से प्रारम्भ हो। गृहस्थ में प्रशस्त मनवाला व आलस्य को दूर भगानेवाला बनूँ। वनस्थ होकर मैं ज्ञान व तेज का संचय करूँ और अन्तिम प्रयाण में प्रभु-पूजा व ज्ञान-प्रसार ही मेरा ध्येय हो।

ऋषिः—बुधगविष्ठिरावात्रेयौ ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

लगाम को काबू करना 'रश्मिग्रहण'

१७४८. यदीं गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभिरग्निः ।
आद्दक्षिणा युज्यते वाजयन्त्युत्तानामूर्ध्वो अधयज्जुहूभिः ॥ ३ ॥

१. मन्त्र का ऋषि 'गविष्ठिर'=इन्द्रियों का अधिष्ठाता **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **गणस्य**=कर्मेन्द्रिय व ज्ञानेन्द्रिय पंचक के गणों की **रशनाम्**=मनरूप लगाम को **अजीगः**=(अजीगः=गृह्णातिकर्मा नि० ६.८) काबू करता है, तब गविष्ठिर बनता है। उत्तम सारथि लगाम के द्वारा ही तो घोड़ों को वश में रखता है—यह गविष्ठिर भी इन्द्रियरूप घोड़ों की लगाम 'मन' को वशीभूत करने के लिए

प्रयत्नशील होता है। मन वश में हुआ और इन्द्रियाँ वश में हुई। ब्रह्मचर्याश्रम की मुख्य साधना यही तो है कि 'मन को वश में करना' और एक महान् (ब्रह्म) लक्ष्य की ओर चलना (चर)।

२. **अग्निः**=लगाम को वश में करके अपने रथ को आगे ले-चलनेवाला व्यक्ति **शुचिभिः गोभिः**=पवित्र सात्त्विक गोदुग्धादि के सेवन से (गौः=पयः) **शुचिः**=धन की दृष्टि से पवित्र मनोवृत्तिवाला व्यक्ति **अङ्क्ते**=अपने जीवन को 'शुचिता, पवित्रता' इत्यादि दिव्य गुणों से अलंकृत करता है, अर्थात् गृहस्थ में यह प्रयत्न करता है कि यह सात्त्विक अन्न का ही सेवन करे और सात्त्विक वृत्तिवाला बने तथा परिणामतः धन की दृष्टि से पवित्र जीवन का ही यापन करे।

३. **आत्**=अब आर्थिक पवित्रता के साधन के पश्चात्, **वाजयन्ती**=शक्तिशाली बनाती हुई **दक्षिणा**=दान की वृत्ति **युज्यते**=इससे युक्त होती है। वानप्रस्थ में यह सब दान कर डालता है और यह धन का दे डालना इसे शक्तिशाली बनाता है।

४. अब यह **ऊर्ध्वः**=इस संसार के प्रलोभनों से ऊपर उठा हुआ या धन के आकर्षण से परे पहुँचा हुआ **उत्तानाम्**=इस अत्यन्त विस्तृत जगती को (अधश्चोर्ध्वं प्रसृताः)=संसार-वृक्ष जिसकी शाखाएँ ऊपर-नीचे सब ओर फैली हैं, **जुहूभिः**=इन आहुतियों=दान-कर्मों से **अधयत्**=पी-सा जाता है, अर्थात् इसके लिए यह संसार समाप्त हो जाता है—यह मोक्ष का अधिकारी होता है अथवा **अधयत्**=इन दान-कर्मों से जगती में स्थित प्रजा का यह पालन करता है।

भावार्थ—हमारा कार्यक्रम यह हो—मन द्वारा इन्द्रियों को वश में करना, आर्थिक पवित्रता का सम्पादन, दान से शक्ति वृद्धि, तथा पूर्णाहुति से जीवन-मरण को जीत लेना।

सूक्त-१४

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

रात्री-उषा, दिन (सूर्य)

१७४९. इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवायैवा रात्र्युषसे योनिमारैक्॥ १॥

जब मनुष्य साधना के मार्ग पर चलता है—जिसका कि साधारण स्वरूप 'आसन, प्राणायाम व मन को निर्विषय करना' है—तब एक दिन उसके जीवन में वह समय आता है कि वह कह उठता है—

इदम्=यह **श्रेष्ठम्**=सर्वोत्तम **ज्योतिषां ज्योतिः**=ज्योतियों की भी ज्योति (क्योंकि उसके उदय होने पर **'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः। तमेवभान्तनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति')** **आगात्**=उदय हो गयी है। यह तो **चित्रः**=अद्भुत है—(चित्-र) ज्ञान देनेवाली है—इसने तो मेरे ज्ञान-नेत्र ही खोल दिये। **प्रकेतः**=अरे! यह प्रभु तो प्रकृष्ट ज्ञानमय हैं—ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप हैं। यह **विश्वा**=सर्वव्यापक ज्योति **अजनिष्ट**=प्रादुर्भूत हो गयी है। इसका दर्शन कर आज मैं एकत्व का अनुभव कर रहा हूँ—**'अयुतोहम्'**=एकत्व का अनुभव करके मैं शोक-मोह से ऊपर उठ गया हूँ—**'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'**। मणियाँ बेशक अलग-अलग हों, वह सूत्र तो एक ही है (मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव)। ज्ञान के

अभाव में पृथक्ता थी, आज ज्ञानसूर्य के उदय होने पर सब एक हो गया है।

ब्रह्माण्ड में होनेवाली प्रतिदिन की घटना यही तो है कि—**यथा**=जैसे **प्रसूता**=उत्पन्न हुई-हुई उषा **सवितुः**=सूर्य के **सवाय**=उत्पन्न होने के लिए होती है **एव**=इसी प्रकार **रात्रि**=रात **उषसे**=उषा के लिए **योनिम्**=स्थान को **आरैक्**=खाली करती है। रात्रि उषा के लिए, उषा सूर्य के लिए अपने को समाप्त कर देती है। अब यह घटना ही इस पिण्ड में घटनी चाहिए। यही ब्रह्माण्ड व पिण्ड की अनुकूलता होगी। रात्रि का अभिप्राय है—अन्धकार व मौज (रात्रि—रमयित्री), अर्थात् तमस्। तमोगुण हमारे जीवन से नष्ट हो—हम प्रमाद, आलस्य व निद्रा को त्यागें। उषःकाल की क्रियाशीलता हममें आये। यह रजस् की प्रतीक है, परन्तु हम प्रतिक्षण धन के लिए क्रियाशील बने रहे तो यह धन का संसार भी हमें शान्ति प्राप्त नहीं कराता। यह उषा सूर्य को जन्म दे। सूर्य का प्रकाश, अर्थात् सत्त्वगुण—ज्ञान हममें प्रबल हो। हम गृहस्थ के सच्चे स्वरूप को समझें—और सदा इस मलाश्रम में न उलझे रहें। अपने उत्तराधिकारियों को यह बोझ देकर हम आगे बढ़ जाएँ। साधना करें—स्वाध्याय करें—सेवाकार्य में संलग्न रहें। यही जीवन की सार्थकता है। यही मार्ग हमें 'कुत्स'=सब बुराइयों की हिंसा करनेवाला बनाएगा।

भावार्थ—मैं साधना में चलूँ—स्वाध्यायशील बनूँ—सेवा कार्य में आनन्द का अनुभव करूँ। तम से ऊपर उठकर रज में, रज से भी ऊपर उठकर सत्त्व में अवस्थित होऊँ।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

तम और रज (रजस् व तमस्)

१७५०. रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने॥ २॥

मन्त्र में वर्णन हुआ है कि सूर्य उषा का पुत्र है। उषा सूर्य को जन्म देती है, तो यह उषा '**रुशद् वत्सा**'=चमकते हुए बछड़ेवाली है, स्वयं भी तो **रुशती**=चमकती हुई है। **श्वेत्या**=श्वेतवर्णवालों में उत्तम है। किस प्रकार रात्रि में अन्धकार-ही-अन्धकार था, उषा के आते ही चारों ओर प्रकाश हुआ और अन्धकार नष्ट हो गया। यह उषा **आगात्**=आई है। **कृष्णा**=अन्धकार के कारण कृष्ण वर्णवाली रात्रि सचमुच 'कृष्णा' तो है ही। इसलिए भी यह 'कृष्णा' है कि यह सबको अपने-अपने घर की ओर आकृष्ट करती है (कृष्ण=खैंचना) सभी कार्यों को बीच में ही छोड़कर घर आने की करते हैं। यह कृष्णा रात्रि **अस्याः सदनानि**=इसके (अपने) स्थानों को **उ**=निश्चय से **आरैक्**=खाली कर देती है। रात्रि समाप्त होती है और उषा आती है। इसके आते ही सब लोग अपने आहार की खोज में चल पड़ते हैं।

यह संसार में होनेवाली प्राकृतिक घटना अध्यात्म में भी इस रूप से चलती है कि तमोगुण की मोहमयी निद्रा रात्रि के समान होती है, और यह निरन्तर गतिवाले रजोगुणरूप उषाकाल के लिए स्थान खाली कर देती है। मनुष्य तमोगुण प्रधानावस्था में सोया होता है, रजोगुण के प्रबल होने पर उठता है और कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है—अर्थार्जन ही उसका मुख्य ध्येय हो जाता है।

ये तम और रज **समानबन्धू**=समानरूप से जीव को बाँधनेवाले हैं। **अमृते**=ये कभी मरते नहीं,

इनका पूर्ण विनाश सम्भव नहीं। इन्हें सत्त्वगुण से अभिभूत तो किया जा सकता है, परन्तु इन्हें समाप्त कर देना सम्भव नहीं। **अनूची**=ये एक-दूसरे के पीछे आनेवाले हैं—तमोगुण के पश्चात् रजोगुण, और रजोगुण के बाद तमोगुण। इस प्रकार एक-दूसरे के पीछे आते हुए ये **द्यावा**=प्रकाश के—सत्त्वगुण के—**वर्णम्**=स्वरूप को **आमिनाने**=कुछ हिंसित-सा करते हुए **चरतः**=हमारे जीवन में विचरण करते हैं। तमोगुण और रजोगुण सत्त्व को प्रबल नहीं होने देते। ये सत्त्व को नष्ट-सा किये रहते हैं। इनके कारण सत्त्वगुण दबा रहता है। कभी प्रभुकृपा से मनुष्य इन्हें जीतकर सत्त्वगुणवाला बन पाता है।

भावार्थ—हम प्रयत्न करें कि तम और रज से ऊपर उठकर सत्त्व में अवस्थित हों।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

समानबन्धू

१७५१. समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे॥ ३॥

रात्रि और उषा स्वसा=बहिनों के समान हैं। तमोगुण और रजोगुण समानरूप से जीव को बाँधनेवाले हैं—ये 'समानबन्धू' हैं, अतः आपस में बहिनों के तुल्य हैं। इन **स्वस्रोः**=बहिनों का **अध्वा**=मार्ग **समानः**=समान है—एक-जैसा है। ये दोनों ही तमोगुण और रजोगुणरूप मार्ग मनुष्य के पतन का कारण हैं। तमोगुण काम में और रजोगुण अर्थ में आसक्त करके मनुष्य को धर्मज्ञान से वंचित रखते हैं। इनका यह मार्ग **अनन्तः**=अनन्त है—इसका अन्त होना सुगम नहीं। रात्रि के पश्चात् उषा व उषा के पश्चात् फिर रात्रि ये आती ही रहती हैं—इनकी समाप्ति होती नहीं दिखती। यह **देवशिष्टे**=उस प्रभु से शासित हुई-हुई **तम्**=उस मार्ग पर **अन्या अन्या**=बारी-बारी, अलग-अलग **चरतः**=चलती हैं। मानवजीवन में भी कभी तमोगुण प्रबल है—कभी रजोगुण। इनका यह क्रम चलता-ही-चलता है। **न मेथेते**=ये एक-दूसरे की हिंसा नहीं करतीं। रात्रि व उषा एक दूसरे के लिए स्थान अवश्य खाली करती हैं—'परन्तु ये एक-दूसरे को नष्ट कर दें' ऐसी बात नहीं। कभी तमोगुण है तो कभी रजोगुण—कभी काम, कभी अर्थ। ये विरोधी नहीं। **न तस्थतुः**='ये रात्रि और उषा रुक जाएँ' ऐसा भी नहीं। ये तो चलते ही रहते हैं। तमोगुण व रजोगुण विरतगति तो होते ही नहीं। ये **नक्तोषासा सुमेके**=रात्रि व उषा उत्तम निर्माणवाले हैं—प्रभु ने इनको कितना सुन्दर बनाया है। तम व रज भी संसार के निर्माण के लिए आवश्यक हैं। संयत होने पर मानवजीवन में इनका सुन्दररूप प्रकट होता है।

विरूपे=ये रात्रि व उषा विरुद्धरूपवाली हैं—एक कृष्णा, दूसरी श्वेत्या; एक अन्धकारमय दूसरी प्रकाशपूर्ण; एक गतिशून्य दूसरी गतिमय, परन्तु हैं **समनसा**=समान मनवाली—अर्थात् समानरूप से जीव के बन्धन की कामनावाली। तमोगुण व रजोगुण आकृतिभेद होने पर भी एक ही कार्य करनेवाले हैं—दोनों ही जीव को बाँधते हैं। कुत्स तो हम उसी दिन बनेंगे जिस दिन इनके बन्धनों को काटकर हम सत्त्वगुण में अवस्थित होंगे, (कुत्स=हिंसा करनेवाला—बन्धनों को काटनेवाला)।

भावार्थ—हम तम व रज के आकर्षण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण को अपनाएँ। सत्त्वगुण ही हमें प्रभु-प्राप्ति कराएगा।

सूक्त-१५

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सत्त्वगुणी पुरुष के घर में

१७५२. आ भात्यग्निरुषसामनीकमुद्विप्राणां देवया वाचो अस्थुः ।
अर्वाञ्चा नूनं रथ्येह यातं पीपिवांसमश्विना घर्ममच्छ ॥ १ ॥

१. सत्त्वगुणी पुरुष के घर में **अग्निः आभाति**=अग्निकुण्डों में अग्नि दीप्त होती है, अर्थात् ये लोग अग्निहोत्र प्रारम्भ करते हैं। यह अग्निकुण्ड का अग्नि **उषसाम् अनीकम्**=उषःकालों का मुख है, अर्थात् उषःकाल में—सूर्योदय के समय—सबसे प्रथम कार्य अग्निहोत्र होता है।

स्वाध्याय—२. इन यज्ञों में **विप्राणाम्**=इन सात्त्विक ज्ञानी पुरुषों की **देवयाः**=प्रभु को प्राप्त करानेवाली (देवं यान्ति) **वाचः**=वाणियाँ **उदस्थुः**=ऊपर उठती हैं, अर्थात् ये सात्त्विक पुरुष वेदवाणियों का उच्चारण करते हैं। यज्ञानन्तर स्वाध्याय में वेद का अध्ययन करते हैं।

प्राणायाम—३. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **नूनम्**=निश्चय से आप **रथ्या**=शरीररूप रथ को उत्तम बनानेवाले हो। प्राण-साधना से शरीर नीरोग बनता है, मन निर्मल व बुद्धि तीव्र और इस प्रकार यह शरीररूप रथ बड़ा सुन्दर बन जाता है। आप **इह**=यहाँ—शरीर में ही **अर्वाञ्चा**=शरीर में ही गति करनेवाले (अर्वाङ्-अञ्चति) होकर **आयातम्**=आइए। (मापगातमितो युवम्, इहैव स्तं प्राणापानौ)=हे प्राणापानो! आप यहीं शरीर में होओ, यहाँ से दूर न जाओ।

दूध-रस—४. **पीपिवांसम्**=वृद्धि के साधनभूत (प्यायी वृद्धौ) **घर्मम्**=गोदुग्ध के या फलों के रस की **अच्छ**=ओर आनेवाले होओ, अर्थात् प्रातःकाल अग्निहोत्र, स्वाध्याय, व प्राणायाम के पश्चात् ये सात्त्विक पुरुष गोदुग्ध व फलों के रस का सेवन करते हैं। अब इन नित्यकृत्यों से निवृत्त होकर

५. **पीपिवांसं घर्मम् अच्छ**=वृद्धि के साधनभूत यज्ञों=लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं (घर्म-यज्ञ)। अपना दिन लोकसंग्रहात्मक कर्मों में ही बिताते हैं। स्वार्थ परिपूर्ण अतएव मलिन-अयज्ञिय कर्मों को नहीं करते।

इस प्रकार उत्तम जीवन बिताने का परिणाम यह होता है कि ये 'अत्रि'=काम, क्रोध व लोभ से बचे रहते हैं और आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक कष्टों के पात्र नहीं होते (अ-त्रि) और इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि अत्रि बनते हैं।

भावार्थ—हम सात्त्विक जीवन बितानेवाले बनें। हमारे जीवन का कार्यक्रम १. अग्निहोत्र, २. स्वाध्याय, ३. प्राणायाम, ४. गोदुग्ध व फल-रस का सेवन तथा ५. यज्ञिय कर्मों में प्रवृत्त होना हो।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मोक्ष की ओर

१७५३. न संस्कृतं प्र मिमीतो गमिष्ठान्ति नूनमश्विनोपस्तुतेह ।
दिवाभिपित्वे ऽवसागमिष्ठा प्रत्यवर्तिं दाशुषे शम्भविष्ठा ॥ २ ॥

ब्रह्मचर्य में—(गाव इन्द्रियाणि) **गमिष्ठा**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता प्राणापानो! आप मेरे जीवन के प्रारम्भिक काल में **संस्कृतम्**=संस्कार को, परिमार्जन को **न प्रमिमीतः**=हिंसित नहीं करते हो। प्राणापानों

के संयम से इन्द्रियों का संयम होता है। इस प्राणापान की साधना से परिमार्जन व शोधन की प्रक्रिया चलती ही रहती है। प्राणापान की साधना से इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं और इस प्रकार शरीर, मन व बुद्धि का संस्कार होता रहता है। इस संस्कार की प्रक्रिया को मेरे प्राणापान कभी समाप्त न करें। ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी ने इस प्राणसाधना से अपने जीवन को अधिकाधिक उत्तम बनाना है।

गृहस्थ—अब गृहस्थ में प्रवेश करने पर मन्त्र का ऋषि कहता है कि '*अश्विना*'=हे अश्विनी-देवो! **इह**=इस गृहस्थ में **नूनम्**=निश्चय से **अन्ति**=सदा उस प्रभु के समीप स्थित होकर **उपस्तुता**=उसकी उपासना करनेवाले बनो। यदि गृहस्थ सदा प्रभु की उपासना करता है तो जहाँ अपवित्रता से दूर रहता है, वहाँ अपने अन्दर एक शक्ति का अनुभव करता है।

वानप्रस्थ—अब गृहस्थ के पश्चात् **दिवा**=जीवन के दिन के **अभिपित्वे**=प्रस्थान के समय, अर्थात् जीवन ढलने, जीवन के उत्तरार्ध में प्रवेश करने पर **अश्विना**=हे अश्विनीदेवो! आप अपने **अवसा**=रक्षण के साथ **आगमिष्ठा**=हमें प्राप्त होओ। इस समय हमें निर्बल समझकर वासनाएँ हमारा अभिभव न कर लें। वासनाओं का शिकार न होकर हम अपने जीवन को सुरक्षित रख सकें।

संन्यास—यदि वानप्रस्थ में एक व्यक्ति अपने को प्राणापान की साधना के प्रति दे डालता है तो ये प्राणापान **दाशुषे**=इस दाश्वान् के लिए **अवर्तिम् प्रति**=फिर इस जन्म-मरण चक्र में न लौटने के लिए **शंभविष्ठा**=अत्यन्त शान्ति का भावन करनेवाले होते हैं। वानप्रस्थ में मुख्य कार्य प्राणायाम होता है। संन्यास में यह व्यक्ति अपने को लोकहित के लिए दे डालता है। यही कार्य इसके जीवन की पूर्ण शान्ति का कारण बनता है और जीवन की समाप्ति पर यह मोक्ष का भागी होता है। अवर्तिम्=फिर न लौटना—फिर जन्म न प्राप्त करना ही तो मोक्ष है। इस मार्ग से जीवन-यापन करने से यह व्यक्ति 'परान्तकाल' के लिए जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जाता है। यह सचमुच जन्म मरण का 'संन्यास' कर देता है।

भावार्थ—जीवन का संस्कार, प्रभु-स्तवन, आसुरी आक्रमणों से अपनी रक्षा तथा शान्त जीवन और मोक्ष का क्रमिक आविर्भाव हमारे जीवन में हो।

ऋषिः—अत्रिः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

दिन के पाँचों समयों में

१७५४. उता यातं सङ्गवे प्रातरह्नो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य।
दिवा नक्तमवसा शन्तमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान॥ ३॥

दिन पाँच भागों में विभक्त है। सबसे प्रथम भाग यहाँ '**उदिता सूर्यस्य**'='सूर्योदय के समय' इन शब्दों से सूचित हुआ है। दूसरा भाग '**सङ्गवे**' शब्द से कहा गया है जब गौवें अपने-अपने घरों से खुलकर चरागाहों में इकट्ठी (सङ्गव) होती हैं। तीसरा '**प्रातरह्नः**'=शब्द से कहा गया है—दोपहर से पहला forenoon समय '**मध्यन्दिने**'=शब्द चौथे भाग का संकेत करता है जब दिन का मध्य होता है। पाँचवें का संकेत '**दिवानक्तम्**'=शब्द से हुआ है—जब दिन रात में (नक्त) परिवर्तित होना प्रारम्भ होता है। इन सब समयों पर हे अश्विनीदेवो! **शन्तमेन**=अत्यन्त शान्ति देनेवाले **अवसा**=रक्षण से आप **उत आयातम्**=अवश्य आइए। हमें दिन के पाँचों भागों में प्राणापान की साधना का ध्यान करना है। इन्हीं की साधना पर हमारा 'अवस्' रक्षण निर्भर करता है। हम इनकी साधना करेंगे तभी इन्द्रियाँ विषयों के प्रति झुकाव से बच सकेंगी। साथ ही 'शन्तमेन'-जीवन में

सच्ची शान्ति को हम इन्हीं प्राणापानों की साधना से ही प्राप्त करेंगे। **इदानीम्**=अब इस स्थिति के होने पर **अश्विना**=हे प्राणापानो! **पीतिः**=इन्द्रियों से विषय-रसों का पान **न ततान**=नहीं विस्तृत किया जाता। अब इन्द्रियों का झुकाव विषयों की ओर नहीं रहता। वस्तुतः इस प्राणापान की साधना से उस वास्तविक रस—प्रभु के पी लेने से यह विषय-रस तो अत्यन्त तुच्छ हो जाता है। कहाँ वह महान् रस—और कहाँ यह तुच्छ विषय-रस। वह भी समय था जब इन्द्रियाँ इन विषयों से ऊपर उठ ही नहीं पाती थीं। अतिग्रहों के समान इन विषयों ने इन्द्रियों को बाँध रक्खा था, परन्तु अब तो यह विषयों के भोग का चक्र समाप्त हो गया है 'न इदानीं पीतिः अश्विना ततान'। आज ही तो यह सचमुच अत्रि=राग, भय, क्रोध से अतीत हो गया है।

भावार्थ—हम दिन के सब भागों में प्राणसाधना का ध्यान करें, विषय-रस से ऊपर उठें।

सूक्त-१६

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

रजोगुण व निर्माण

१७५५. एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः॥ १॥

ज्ञान—रात्रि यदि तमोगुण का प्रतीक है तो उषा रजोगुण का। **एताः**=ये **त्या उषसः**=वे रजोगुण प्रवृत्तियाँ **उ**=निश्चय से **केतुम्**=ज्ञान को **अक्रत**=उत्पन्न करती हैं, यद्यपि '**सत्त्वस्य लक्षणं ज्ञानम्**'=इस वाक्य के अनुसार ज्ञान सत्त्वगुण से ही उत्पन्न होता है तथापि इस उच्च ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त सम्पूर्ण विज्ञानों के लिए रजोगुण आवश्यक है। बिना रजस्=कर्मशीलता के ज्ञान थोड़े ही प्राप्त होगा? वस्तुतः संसार के निर्माण के लिए 'रजोजुषे जन्मनि'=प्रभु भी रजोगुण युक्त होते हैं, उसी प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के लिए एक विद्यार्थी ने भी इस रजोगुण को अपनाना है—बड़ा क्रियाशील (active) बनना है। इंग्लिश में student का अर्थ ही studious परिश्रमी होना है।

राजस्वृत्तियाँ—यह रजस् जहाँ विज्ञान को जन्म देता है, वहाँ **पूर्वे अर्धे**=जीवन के पूर्वार्ध में (गृहस्थ में)—अर्थात् युवावस्था में **रजसः भानुम्**=रजोगुण की कुछ झलक को **अञ्जते**=व्यक्त करता है। गृहस्थ में धन के प्रति कुछ प्रेम, जीवन को कुछ भौतिक आनन्दमय करने की प्रवृत्ति इस रजस् से ही तो उत्पन्न होती है।

निर्माण—इस गृहस्थ के बाद **इव**=जैसे **धृष्णवः**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले विजेता अपने **आयुधानि**=अस्त्रों को **निष्कृण्वानाः**=परिष्कृत कर चमकाने का प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार **गावः**=ये गतिशील राजस् वृत्तियाँ **अ-रुषीः**=जब क्रोधशून्य होती हैं तब **मातरः**=निर्माण करनेवाली होकर **प्रतियन्ति**=प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होती हैं, अर्थात् निर्माण तो इन्हीं राजस्वृत्तियों से होता है बशर्ते कि वे क्रोध की जनक न हों। क्रोध के साथ तो निर्माण सम्भव ही नहीं। इस प्रकार उत्तम निर्माणवाला होकर यह 'उषस्' नामक रजोगुण हमें 'गोतम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनाता है।

भावार्थ—रजोगुण का भी जीवन के निर्माण में महान् स्थान है। क्रोध के अभाव में यह निर्माण करता है—और क्रोध की सत्ता में विनाश, अतः हम अपनी उषाओं को—रजोगुण को—'अरुषी' क्रोधशून्य बनाएँ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

रजोगुण की स्वाभाविकता

१७५६. उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत।
अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः ॥ २ ॥

स्वाभाविक—**अरुणाः भानवः**=रजोगुण की लालवर्ण की किरणें **वृथा**=अनायास ही **उदपप्तन्**=हममें उदय हो जाती हैं। सत्त्वगुण की श्वेत किरणों की उत्पत्ति परिश्रम साध्य है—रजोगुण की किरणें तो अपने आप ही उत्पन्न हो जाती हैं।

प्रभु के साथ मेल—परन्तु यही राजस् वृत्तियाँ **अरुषीः**=जब क्रोधशून्य होती हैं तब **स्वायुजः**=(स्व आ युज्) मनुष्य को आत्मतत्त्व से जोड़नेवाली होती हैं। ये **गाः**=इन्द्रियों को **अयुक्षत**=आत्मतत्त्व के चिन्तन में लगाती हैं। रजोगुण ही सत्त्व की ओर झुककर शुभकार्यों में भी हमें प्रवृत्त करता है।

ज्ञानोत्पादन—यह **उषासः**=राजस् वृत्तियाँ **पूर्वथा**=पहले की भाँति **वयुनानि अक्रन्**=ज्ञान को करती हैं। रजोगुण के बिना ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं।

प्रभु-प्राप्ति—इस प्रकार यह रजस् **अरुषीः**=यदि क्रोधशून्य बना रहे, अर्थात् उसमें सत्त्व का उचित सम्पुट उसे अत्यन्त क्षुब्ध न होने दे तो मनुष्य **रुशन्तं भानुम्**=देदीप्यमान ज्योति को, अर्थात् परमात्मा का **अशिश्रयुः**=सेवन करता है।

भावार्थ—रजस् स्वाभाविक है, परन्तु हमें उसे सत्त्व के सम्पर्क से 'प्रभु की ओर ध्यानवाला और ज्ञानोत्पादन द्वारा प्रभु को प्राप्त करानेवाला' बनाना है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

कर्म और उपासना

१७५७. अर्चन्ति नारीरपसो न विष्टिभिः समानेन योजनेना परावतः।
इषं वहन्तीः सुकृते सुदानवे विश्वेदह यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

यहाँ रजोगुण की वृत्तियों को 'नारीः' कहा है, क्योंकि ये हमें (नृ नये) आगे और आगे ले-चलती है। इन वृत्तियों के होने पर मनुष्य शान्त नहीं पड़ा रहता। रजोगुण जैसे हमें कर्म में प्रवृत्त करता है, उसी प्रकार ये वृत्तियाँ हमें उपासना की ओर भी ले-जाती हैं। मन्त्र में कहते हैं कि **नः**=जैसे **अपसः**=कर्मों के **विष्टिभिः**=प्रवेशों के साथ **नारीः अर्चन्ति**=ये राजस् वृत्तियाँ उपासना भी कराती हैं।

समानेन योजनेन=इस कर्म और उपासना में समानरूप से लगाने के द्वारा **आपरावतः**=दूर-दूर तक भी **विश्वा इत् अह**=निश्चय से सब कालों में **इषम्**=अन्नों को **वहन्तीः**=प्राप्त कराती हैं, अर्थात् कर्म और उपासना में लगे व्यक्ति को कभी खानपान की चिन्ता नहीं होती।

'इषम्' शब्द का अर्थ 'प्रेरणा' भी है। इस कर्मोपासक को प्रेरणा भी प्राप्त होती है, परन्तु कब? जब यह अपने रजोगुण से, सत्त्व के सम्पर्क के कारण, उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होता है। मन्त्र में कहते हैं कि यह प्रेरणा प्राप्त होती है—

१. **सुकृते**=उत्तम कर्म करनेवाले के लिए। २. **सुदानवे**=उत्तम दान में प्रवृत्त हुए-हुए के लिए। ३. **यजमानाय**=यज्ञों में लगे हुए के लिए, और ४. **सुन्वते**=सोमाभिषव करनेवाले के लिए। अपने

अन्दर शक्ति का निर्माण करनेवाले के लिए।

भावार्थ—रजोगुण हमें उन्नति-पथ पर ले-जानेवाला हो।

सूचना—जब रजोगुण के साथ सत्त्व का सम्पर्क होता है तब मनुष्य का मार्ग उत्तम ही होता है। तमोगुण का सम्पर्क अधोगति का हेतु बनता है। रजोगुण के अभाव में तो क्रिया का ही अभाव है। उषा का रात्रि की ओर झुकाववाला पक्ष अन्धकारमय है, सूर्य की ओर झुकाववाला प्रकाशमय।

सूक्त-१७

ऋषिः—दीर्घतमा औचथ्यः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

संसार से ऊपर

१७५८. अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्यू३षाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा।
आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीद्देवः सविता जगत् पृथक् ॥ १ ॥

जब मनुष्य प्राणापान की साधना करता है तब १. **ज्म**=इस पार्थिव शरीर में **अग्निः अबोधि**=अग्नि उद्बुद्ध होती है। संस्कृत में 'शीतक' शब्द अलस का पर्याय है। प्राणापान मनुष्य को उष्णष्क=active बनाते हैं—यही अग्नि का उद्बुद्ध होना है। २. **सूर्यः उदेति**=मस्तिष्करूप द्युलोक में सूर्य का उदय होता है। प्राणापान की साधना का दूसरा परिणाम यह है कि ज्ञान का विकास होता है। शरीर क्रियाशील बनता है, तो मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से दीप्त। ३. **अर्चिषा**=इस ज्ञान की दीप्ति के सम्पर्क से हृदय में **उषा**=रजोगुण **चन्द्रा**=आह्लादमय तथा **मही**=पूजा की प्रवृत्तिवाला **वि आवः**=विशेषरूप से प्रकट होता है। एवं, प्राणापान की साधना शरीर में कर्म, मस्तिष्क में ज्ञान, तथा हृदय में पूजा की प्रवृत्ति को जन्म देती हुई मनुष्य के जीवन को कर्म, ज्ञान व उपासना से विभूषित करती है।

४. इस प्रकार **अश्विना**=प्राणापान **यातवे**=गति के लिए—जीवन-यात्रा के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए **रथम्**=शरीररूप रथ को **आयुक्षाताम्**=इन्द्रियरूप घोड़ों से जोतते हैं ५. इस मार्ग पर चलता हुआ **देवः**=यह दिव्य गुणसम्पन्न पुरुष **सविता**=अपने अन्दर कर्म, ज्ञान व उपासना के उत्तम ऐश्वर्यों को उत्पन्न करता हुआ **जगत्**=इस संसार को **पृथक्**=अपने से अलग **प्रासावीत्**=प्रेरित करता है, अर्थात् यह व्यक्ति संसार से मुक्त हो पाता है।

जिस भी व्यक्ति ने तमोगुण से ऊपर उठकर प्राणापान की साधना के द्वारा रजोगुण से सत्त्वगुण का सम्पर्क किया उसकी जीवन-यात्रा अवश्य ही पूर्ण होती है। तमोगुण को विदीर्ण करनेवाला यह (दीर्घ=दृ विदारणे) 'दीर्घ-तमाः' कहलाता है। इसने तमोगुण को अपने से दूर तो भगा ही दिया है।

भावार्थ—सत्त्वगुण से पवित्र किया हुआ रजोगुण हमें कर्म, ज्ञान व उपासना के द्वारा संसार से ऊपर उठने में समर्थ बनाए।

ऋषिः—दीर्घतमा औचथ्यः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

शक्तिशाली रथ

१७५९. यद्युञ्जाथे वृषणमश्विना रथं घृतेन नो मधुना क्षत्रमुक्षतम्।
अस्माकं ब्रह्म पृतनासु जिन्वतं वयं धना शूरसाता भजेमहि॥ २ ॥

यत्=जब **अश्विना**=प्राणापान **वृषणं रथम्**=शक्तिशाली रथ को **युञ्जाथे**=जोतते हैं, तब

नः=हमारे **क्षत्रम्**=बल को **घृतेन**=दीप्ति से (घृ=दीप्ति) **मधुना**=और माधुर्य से **उक्षतम्**=सींचते हैं। प्राणापान की साधना से शरीर शक्तिशाली बनता है—और हमारी शक्ति ज्ञान की दीप्ति तथा वाणी के माधुर्य से परिपूर्ण होती है। दण्ड-बैठकों व कुश्ती से उत्पन्न शक्ति में ज्ञान की दीप्ति का तो प्रायः अभाव ही है, वाणी का माधुर्य भी कम ही मिलता है। यह प्राणापान की साधना से जनित शक्ति ज्ञान व माधुर्य से सिक्त होती है।

ज्ञान का प्रचार—यह प्राणोपासक दीर्घतमा चाहता है कि वह ज्ञान का प्रकाश औरों को भी दे पाये अतएव वह प्राणापान को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि **अस्माकम्**=हमारे **ब्रह्म**=ज्ञान को **पृतनासु**=मनुष्यों में **जिन्वतम्**=दो। हमारे ज्ञान के द्वारा मनुष्य प्रीणित हों।

वीर-धन—यह प्राणोपासक यह भी चाहता है कि **वयम्**=हम **शूरसाता**=शूरों से सम्भजनीय **धना**=धनों का **भजेमहि**=सेवन करें। यह कभी माँगे हुए धन के द्वारा अपना पोषण नहीं करना चाहता। इसे पुरुषार्थ प्राप्त धन ही अपने गौरव के योग्य प्रतीत होता है। यह धन मनुष्य को अशक्त नहीं बनाता। यदि मनुष्य अशक्त हो जाए तो अपनी यात्रा को क्या पूरा करेगा? एवं, सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो शक्ति की प्राप्ति है। 'इस रथ को दुर्बल नहीं होने देना' ही हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।

भावार्थ—मैं प्राणोपासक बनूँ। परिणामतः 'शक्ति, ज्ञान, माधुर्य तथा वीर-धनों को प्राप्त करके ज्ञान का प्रचार करूँ।'

ऋषिः—दीर्घतमा औचथ्यः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

मधुवाहन रथ

१७६०. अर्वाङ् त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो जीराश्वो अश्विनोर्यातु सुष्टुतः।
त्रिबन्धुरो मघवा विश्वसौभगः शं न आ वक्षद् द्विपदे चतुष्पदे॥ ३॥

अन्तर्मुख यात्रा—यह **अश्विनोः**=प्राणापानों का **रथः**=शरीररूप रथ **अर्वाङ्**=अन्तर्मुख यात्रावाला **यातु**=अपने लक्ष्य-स्थान को प्राप्त करे। सामान्यतः रथ किसी बाह्य लक्ष्य की ओर तीव्र गति से आगे चले जाते दिखते हैं, परन्तु इस शरीररूप रथ की यात्रा तो अन्तर्मुख होती है। इसने सबसे अन्दर गुहा में स्थित—आनन्दमयकोश में विराजमान उस आत्मतत्त्व के दर्शन करने हैं।

तीन पहिये—**त्रिचक्रः**=कर्म, ज्ञान व उपासना—ये तीन इस रथ के चक्र हैं। किसी एक के भी अभाव में इसकी गति समाप्त हो जाती है।

माधुर्य—यह शरीररूपी रथ **मधुवाहनः**=माधुर्य के बोझ को ढोनेवाला है। यह माधुर्य-ही-माधुर्य को स्थानान्तर में सदा प्राप्त कराता है। प्रभु ने यात्रा के प्रारम्भ में यही तो कहा था '**भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः**', अतः हमें भद्र ही शब्द बोलने चाहिएँ।

जीराश्वः=यह रथ अत्यन्त तीव्र गतिवाले इन्द्रियरूप घोड़ों से जुता है **सुष्टुतः**=(शोभनं सुतं यस्मिन्) यह सदा प्रभु की उत्तम स्तुतिवाला हो। **त्रिबन्धुरः**=यह 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप तीन सीटोंवाला है। कभी-कभी असुरों का आक्रमण होने पर ये ही तीन असुरों के तीन दुर्ग बन जाते हैं। इनका संहार देवों के देव महादेव की कृपा से ही होता है।

मघवा=यह रथ जब प्राण-साधना द्वारा आसुर वृत्तियों से सुरक्षित होता है तब यह पापशून्य ऐश्वर्यवाला होता है।

विश्वसौभगः=उस समय यह सब सौन्दर्योंवाला होता है।

नः=हमारा यह रथ **द्विपदे चतुष्पदे**=दोपाये व चौपाये, अर्थात् मनुष्य व तद्भिन्न सभी प्राणियों के लिए **शम्**=शान्ति को **आवक्षत्**=प्राप्त कराये।

भावार्थ—प्रभु के आदेश के अनुसार हम अपने इस रथ को 'मधु-वाहन' बनाएँ, मधुर ही बोलें।

सूक्त-१८

ऋषिः—अवत्सारः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अपराभूत सोम

१७६१. प्र ते धारा असश्चतो दिवो न यन्ति वृष्टयः। अच्छा वाजं सहस्रिणम् ॥ १ ॥

शरीर में सोम—वीर्य वह धातु है जो धातुओं की भी धातु है। वास्तव में यही शरीर का मूल धारक है। जब तक यह शरीर में सुरक्षित होता है तब तक यह असश्चत्=अपराभूत (not defeated) होने से शरीर में किसी रोगादि का प्रवेश नहीं होने देता। शरीर को यह अत्यन्त सबल बनाता है। जैसे आकाश से वृष्टियाँ गिरती हैं और एक-एक दाने को शतगुणित दाने उत्पन्न करने योग्य बनाती हैं उसी प्रकार यह सोम मनुष्य को खूब सशक्त बनाकर उसे शतशः ज्ञानों का प्राप्त करनेवाला बनाते हैं।

प्रस्तुत मन्त्र 'अवत् सार' ऋषि के हैं जो इस सारभूत वस्तु की ध्यान से रक्षा करता है। वह अनुभव करता हुआ कहता है कि—हे सोम! **ते**=तेरी, जो तू **असश्चतः**=अपराभूत है—इस देवों की निवासस्थानभूत नगरी का ऐसा द्वारपाल है कि किसी भी रोगादि को व आसुर भावना को अन्दर नहीं आने देता—उस तेरी **धाराः**=धारण-शक्तियाँ **दिवः वृष्टयः न**=द्युलोक से वर्षा की भाँति **सहस्रिणं वाजं अच्छ**=सहस्रगुणा शक्ति की ओर **यन्ति**=गति करती हैं, अर्थात् मनुष्य को यह सोम अनन्त-शक्ति-सम्पन्न बनाता है। कल्पना भी करनी कठिन होती है कि इतनी शक्ति कहाँ से आ टपकी? मन्त्र कहता है कि 'अरे जैसे वर्षा टपकती है उसी प्रकार यह शक्ति भी आ टपकती है'।

यह सोमरक्षा का महत्त्व है। इसे ध्यान करके ही 'अवत्सार' ने इसे अपना मूलकर्त्तव्य समझा। इसे ही वैदिक साहित्य में 'ब्रह्मचर्यं परं तपः' व 'ब्रह्मचर्यं परो धर्मः' शब्दों में परं-तप व परं-धर्म कहा गया है।

भावार्थ—मैं सोमरक्षा द्वारा अजेय बनूँ तथा सहस्रगुणा शक्ति का लाभ करूँ।

ऋषिः—अवत्सारः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सर्वदुःख-हरणशील सोम

१७६२. अभि प्रियाणि काव्या विश्वा चक्षाणो अर्षति। हरिस्तुञ्जान आयुधा ॥ २ ॥

शरीर को सब रोगों से सुरक्षित करने से यह सोम 'हरि' है=सब दुःखों का हरण करनेवाला है। यह जीव को दिये गये 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप सब आयुधों को सुरक्षित करता है। इस जीवन-संग्राम में विजय के लिए प्रभु ने ये तीन ही तो आयुध=अस्त्र जीव को दिये हैं। सोम इन तीनों आयुधों को सशक्त बनाता है—इन्द्रियों की शक्ति को तो यह बढ़ाता ही है—मन के नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता का भी यह साधन है। बुद्धि को तीव्र बनाकर यह मनुष्य को इस योग्य बनाता है कि प्रभु के इन वेदमन्त्ररूप काव्यों को यह अच्छी प्रकार देख पाता है—उन्हें समझने की योग्यतावाला

होता है। मन्त्र में कहते हैं—

हरिः=सब दुःखों, रोगों व मलों को हरनेवाला यह सोम **विश्वा आयुधा**=सब आयुधों को—इन्द्रियों, मन व बुद्धि को **तुञ्जा नः**=[तुञ्ज to guard] सुरक्षित करता हुआ और इस प्रकार **प्रियाणि**=हित के साधक **काव्या**=मन्त्ररूप काव्यों का **अभिचक्षाणः**=प्रकृति व आत्मा दोनों के दृष्टिकोण से देखता हुआ **अर्षति**=शरीर में गति करता है और **अभि अर्षति**=उस प्रभु की ओर चलता है।

इस सोमरक्षा का यह परिणाम होता है कि १. रोग नहीं घेरते (हरिः), २. इन्द्रियाँ सशक्त, मन निर्मल व बुद्धि तीव्र रहती है (तुञ्जाना आयुधा), ३. वेद मन्त्रों का ठीक अर्थ दृष्टिगोचर होता है, तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है (काव्या चक्षाणः) और ४. जीव प्रभु की ओर गतिशील होता है (अभि अर्षति)।

भावार्थ—मैं सोम के हरित्व—सर्वदुःखहरणशीलता को समझूँ और दुःखों से ऊपर उठूँ।

ऋषिः—अवत्सारः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोम का निवास वन में

१७६३. स मर्मृजान आयुभिरिभो राजेव सुव्रतः। श्येनो न वंसु षीदति॥ ३॥

सः=वह सोम **आयुभिः**=(इ गतौ) गतिशील पुरुषों से **मर्मृजानः**=शुद्ध किया जाता हुआ होता है। जो व्यक्ति सदा क्रियाशील हैं वे ही इस सोम की रक्षा कर पाते हैं। अकर्मण्य पुरुष पर वासनाओं का आक्रमण होता है और वासनाओं के मन में प्रविष्ट होने पर सोम की रक्षा सम्भव नहीं। यह सोम गतिशील पुरुषों की ही निधि बनता है। यह उसे **इभः**=[feerless power] निर्भीक, शक्ति का पुतला बनाता है। सोम का रक्षक सदा अभय होता है—कोई भी शक्ति उसे भयभीत नहीं कर सकती। **राजा इव**=यह सुरक्षित सोम राजा के समान होता है—जैसे राजा अपने शासन के परिपालन से चमकता है इसी प्रकार यह सोम अपराभूत आज्ञावाला होता है। सोमरक्षक की आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं करता। इसीलिए ही वेद में राजा के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक ठहराया है '**ब्रह्मचर्येण राजा राष्ट्रं वि रक्षति**'। **सुव्रतः**=यह सोम अपने रक्षक को उत्तम व्रतोंवाला बनाता है।

यह सोम तो **श्येनः न**=श्येन के समान होता है। वेद में श्येन का अर्थ घोड़ा है। जैसे घोड़ा हमें अपनी यात्रा की पूर्ति में सहायक होता है, उसी प्रकार यह सुरक्षित सोम हमें अपनी जीवन-यात्रा की पूर्ति में सहायक है।

यह सोम **सीदति**=सुरक्षित होकर स्थित होता है—अपना आसन ग्रहण करता है। किनमें? **वंसु**=वन् पुरुषों में। वन् के अर्थ निम्न हैं—

१. वन् (to honour, to worship)=प्रभु की पूजा करनेवालों में।

२. वन् (to aid)=दूसरों की सहायता करनेवालों में—लोकहित के कार्यों में लगे रहनेवालों में।

३. वन् (to sound)=प्रभु का नाम जपनेवालों अथवा पवित्र वाणियों का पठन करनेवालों में।

४. वन् (to be occupied) जो सदा कार्यों में लगे रहते हैं—खाली न रहनेवालों में। सदा क्रियाशीलता सोम रक्षा की बड़ी सहायक है।

५. वन् (to seek for)—प्रभु के खोजनेवालों में या प्रकृति के तत्त्वों के ज्ञान में लगे हुओं में।

६. वन् (to conquer)—इन्द्रियों के विजेताओं में।

७. वन् (to love) जो सभी से प्रेम करें, उनमें तथा

८. वन् (to desire) जो सोमरक्षा की प्रबल इच्छावाले हैं, उनमें।

भावार्थ—हम 'वन्' बनें, जिससे हममें सोम सुरक्षित हो।

ऋषिः—अवत्सारः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

द्युलोक व पृथिवीलोक के वसु

१७६४. स नो विश्वा दिवो वसूतो पृथिव्या अधि। पुनान इन्दवा भर॥ ४॥

अवत्सार अपनी प्रार्थना की समाप्ति पर कहता है कि **इन्दो**=हे सोम! तू **सः**=वह **नः**=हमें **विश्वा वसु**=सब धनों को चाहे वह **दिवः**=द्युलोक के हैं **उत उ**=और चाहे **पृथिव्याः**=पृथिवी के हैं उन्हें **पुनानः**=पवित्र करता हुआ **अधि आभर**=आधिक्येन प्राप्त करा।

यहाँ मन्त्र में प्रकारान्तर से वही बात फिर कही गयी है कि यह सोम १. द्युलोक के वसु को प्राप्त कराता है। द्युलोक मस्तिष्क है—और मस्तिष्क का वसु 'ज्ञान' है। सोम से बुद्धि तीव्र होती है—यह ज्ञानाग्नि का ईंधन है। इसकी रक्षा से मनुष्य तीव्र बुद्धि होकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है। २. यह सोम पृथिवी के वसुओं को प्राप्त कराता है। पृथिवी 'शरीर' है—शरीर का वसु 'नीरोगता' है। सोम रोगों को शरीर में प्रवेश ही नहीं करने देता। इस प्रकार यह मानव-शरीर को सबल बनाता है। ३. पुनानः=यह सोम हृदय को पवित्र करता है, मन में अपवित्र भावनाएँ नहीं आ पाती।

इस प्रकार सोमरक्षा से शरीर नीरोग बनता है, मन निर्मल होता है और बुद्धि तीव्र होती है। ये ही वे वसु हैं जिन्हें सोम 'अवत्सार' को प्राप्त कराता है। इन्हें प्राप्त करके अवत्सार 'उत्तम निवासवाला' बनता है—उसका जीवन रमणीयतम बन जाता है।

भावार्थ—हम अवत्सार बनकर उत्तम जीवनवाले बनें।

इत्येकोनविंशोऽध्यायः, अष्टमप्रपाठकश्च समाप्तः॥

अथ विंशोऽध्यायः

नवमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—नृमेध आङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शक्ति व दिव्य गुण

१७६५. प्रास्य धारा अक्षरन् वृष्णः सुतस्यौजसः। देवाँ अनु प्रभूषतः ॥ १ ॥

प्रस्तुत तृच का देवता=विषय 'सोम' है। शरीर के अन्दर यह आहार से रस-रुधिरादि के क्रम से उत्पन्न होता है। **सुतस्य अस्य**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम की **धाराः**=धारण शक्तियाँ **प्र**=प्रकर्षेण **अक्षरन्**=शरीर में प्रवाहित होती हैं। 'क्षर' धातु में केवल गति का भाव ही नहीं, गति के साथ मल को धो डालना—मल को दूर कर देने की भावना भी है। सोम की ये धाराएँ शरीर का धारण करती हैं—धारण करने का प्रकार यही है कि ये शरीर के मलों को नष्ट कर डालती हैं। मलों के नाश के द्वारा ये शरीर को नीरोग और बलवान् बनाती हैं, इसीलिए यहाँ सोम को **वृष्णः**=शक्ति देनेवाला कहा है। इस वीर्यरक्षा से पुरुष 'वृषा' बनता है। **ओजसः**=यह सोम पुरुष को 'ओजस्वी' बनाता है 'ओज् to increase'। यह उन्नति करनेवाला होता है। सोमरक्षा के द्वारा मनुष्य की सभी क्षेत्रों में उन्नति होती है। शरीर में वह नीरोग बनता है—मलों व रोगकृमियों के नाश से यह सोम उसे स्वस्थ बनाता है। **देवान् अनु प्रभूषतः**=दिव्य गुणों को क्रम से सजाते हुए इस सोम की धाराएँ हममें प्रवाहित होती हैं। दूसरे शब्दों में हमारा मन भी इस सोम के द्वारा निर्मल होता है। यह उत्तरोत्तर दिव्य गुणों से अलंकृत होता जाता है। देवता इसीलिए तो सोम-पान करते हैं। देवलोक सोम को शरीर में ही विलीन करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं और परिणामतः नीरोग व निर्मल बन जाते हैं। यह नीरोग व निर्मल व्यक्ति शक्तिशाली होने से 'आङ्गिरस' कहलाता है और पवित्र मनवाला होने से सबके साथ प्रेमपूर्वक मिलने के कारण 'नृ-मेध' कहलाता है। यह सोम का पान ही हमें 'नृमेध आङ्गिरस' बना सकता है। सोमरक्षा के अभाव में हममें आसुर गुण पनपते हैं—हम स्वार्थी बन जाते हैं और देवपन से दूर हो जाते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षा द्वारा हम अपने जीवनों को शक्तिशाली व दिव्य गुणालंकृत बनाएँ।

ऋषिः—नृमेध आङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोम का शोधन

१७६६. सप्तिं मृजन्ति वेधसो गृणन्तः कारवो गिरा। ज्योतिर्जज्ञानमुक्थ्यम् ॥ २ ॥

वैदिक साहित्य में 'सोम' का नाम 'सप्ति' भी है क्योंकि १. 'यह प्राप्त करने योग्य होता है' (सप् to obtain) और २. अपने अन्दर पीने योग्य होता है (सप् to sip)। **वेधसः**=बुद्धिमान् लोग **सप्तिं मृजन्ति**=सदा इस सोम का शोधन करते हैं, इसे शुद्ध रखते हैं। अपवित्र विचारों से या उष्ण भोजनों से इसमें किसी प्रकार का उबाल व विकार नहीं आने देते। जो सोम (क) **ज्योतिः**

जज्ञानम्=ज्ञान के प्रकाश को निरन्तर उत्पन्न कर रहा है। यह सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर बुद्धि को सूक्ष्म करता है और ज्ञान की वृद्धि का कारण बनता है। (ख) **उक्थ्यम्**=यह सोम मनुष्य को उक्थों=प्रभु-स्तोत्रों में साधु बनाता है, अर्थात् सोमी पुरुष—सोम का पान करनेवाला पुरुष सदा प्रभु का भक्त होता है।

एवं, गत मन्त्र में सोमपान के लाभ 'वृष्णः, ओजसः' तथा 'देवां अनुप्रभूषतः' शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा था कि यह शरीर को सबल व नीरोग बनाता है तथा मन को दिव्य गुणों से अलंकृत करता है। प्रस्तुत मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि यह सोम, सोमपान करनेवाले के अन्दर ज्ञान के प्रकाश को बढ़ाता है तथा उसे प्रभु का स्तवन करनेवाला बनाता है। एवं, यह 'सोमपान' मानव जीवन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। इस सोमपान के साधन निम्न शब्दों से स्पष्ट हैं—

गृणन्तः=प्रभु के नाम का उच्चारण करते हुए, २. **कारवः**=(कारुः शिल्पिनि कारके) प्रत्येक वस्तु को कलापूर्ण ढंग से करनेवाले लोग, ३. **गिरा**=वेदवाणी के द्वारा उस सोम का पान करते हैं।

(क) प्रभु के नाम का उच्चारण सोमपान का प्रथम साधन हैं। जहाँ प्रभु का नाम उच्चरित होता है वहाँ 'काम' का संचार नहीं होता, अतः यह सोमरक्षा का सर्वप्रथम साधन है। वासनाविजय विष्णु-कीर्तन से होनी है।

(ख) जब तक मनुष्य कर्मों में लगा रहता है, वह वासनाओं का शिकार नहीं होता। कर्मों में कुशलता 'वासना-संहार' में भी मनुष्य को कुशल बना देती है।

(ग) मनुष्य जब वेदाध्ययन में लगता है तब सोम ज्ञानाग्नि का ही ईंधन बनता चलता है और अपव्ययित नहीं होता।

संक्षेप में, गृणन्तः=उपासना, कारवः=कर्म तथा गिरा=ज्ञान। एवं, उपासना, कर्म व ज्ञान में लगे रहना ही सोमरक्षा का साधन है। सोम का सद् व्यय हो जाने पर अपव्यय का प्रश्न ही नहीं रह जाता।

भावार्थ—हम बुद्धिमान् बनें और 'ज्ञान, कर्म व उपासना' द्वारा सोम की रक्षा में समर्थ हों जिससे हममें और अधिक ज्ञान का प्रकाश हो तथा हम प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—नृमेध आङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

आनन्द की वृद्धि (आनन्द-समुद्र में ज्वारभाटा)

१७६७. सुषहा सोम तानि ते पुनानाय प्रभूवसो। वर्द्धा समुद्रमुक्थ्य॥ ३॥

प्रस्तुत मन्त्र में सोम को 'प्रभूवसो' कहा है कि यह 'प्रभावजनक वसु' वाला है—सब रोगों को आधि-व्याधियों को—समाप्त करके यह मनुष्य का शरीर में उत्तम वास करनेवाला है। यह 'उक्थ्य' है—मनुष्य को प्रभु स्तवन में उत्तम बनाता है। इस सोम से कहते हैं कि **पुनानाय ते**=पवित्र करनेवाले तेरे लिए **तानि**=वे सब मानव-जीवन की प्रगति में आनेवाले विघ्न **सुषहा**=सुगमता से सहने योग्य हैं। चाहे शरीर के रोग हैं—चाहे मानस रोग हैं—सोम उन सभी को समाप्त कर देता है और हमें जीवन-पथ पर आगे बढ़ने के योग्य बनाता है।

यह सोम हमारे जीवन में **समुद्रम्**=सदा आनन्द से पूर्ण प्रभु को **वर्द्धा**=बढ़ाता है, अर्थात् सब प्रकार से नीरोग होकर यह मनुष्य भी प्रसन्न=cheerful मनोवृत्ति का बनता है और इस प्रकार उस समुद्र—आनन्द के सागर प्रभु के आनन्दकणों की अपने अन्दर अभिवृद्धि कर रहा होता है।

जीवन में आनन्द की वृद्धि का कार्यक्रम स्पष्ट है कि मनुष्य १. सोमरक्षा के द्वारा, २. रोग-

बीजों को नष्ट कर स्वस्थ बनें, ३. मानस पवित्रता का सम्पादन करके अपने निवास को उत्तम बनाये, ४. प्रभु के स्तवन की वृत्तिवीला हो और ५. अपने जीवन में आनन्द की अभिवृद्धि करे।

भावार्थ—सोम मेरे आनन्द को उसी प्रकार बढ़ानेवाला हो जैसे सोम (चन्द्र) से समुद्र में ज्वार आ जाता है।

सूक्त-२

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—द्विपदागायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ब्रह्मा

१७६८. एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे ॥ १ ॥

मनुष्य ने सोमरक्षा के द्वारा अपने जीवन में आगे और आगे बढ़ना है। तमोगुण से रजोगुण में, रजोगुण से सत्त्वगुण में, सत्त्वगुण में भी निकृष्ट सत्त्व से मध्यम सत्त्व में और मध्यम सत्त्व से उत्तम सत्त्व में उसने पहुँचना है। उत्तम सत्त्वगुण में भी यदि वह प्रथम स्थान में स्थित होता है तो यह उसकी इस मानव-जीवन में उन्नति की पराकाष्ठा होती है—**एषः ब्रह्मा**=यह 'ब्रह्म'=बढ़ा हुआ होता है। उसने उन्नति करते-करते यहीं तक तो पहुँचना था—अब यह 'ब्रह्म-प्राप्ति' का अधिकारी बन चुका। ब्रह्मा ही तो ब्रह्म को प्राप्त करता है। यही 'देवानां प्रथमः'=सब देवों में प्रथम स्थान में स्थित होता है।

अब प्रश्न यह है कि 'ब्रह्मा' बनता कौन है? इसका उत्तर मन्त्र में इस प्रकार देते हैं कि—१. **यः ऋत्वियः**=जो ऋतु-ऋतु के अनुकूल कार्य करनेवाला होता है। जिसका जीवन ऋतमय होता है—एकदम सूर्यचन्द्र की भाँति नियमित (regular) जीवनवाला ही ब्रह्मा बनता है। २. **इन्द्रः**=जो इन्द्र बनता है, अर्थात् इन्द्रियों का अधिष्ठाता होता है। जो इन्द्रिय-वासनाओं का शिकार नहीं होता ३. **नाम**=जो मन में सदा नमन की वृत्तिवाला होता है, जो अभिमान को अपने से दूर रखता है। ४. **श्रुतः**=(श्रुतमस्यास्ति इति)—जो शास्त्र के श्रवण की रुचिवाला ज्ञानी होता है। संक्षेप में जो जीवन के दैनिक कार्यक्रम में बड़ा नियमित है, इन्द्रियों का ग़ुलाम नहीं, विनीत है, जो शास्त्रों का पारद्रष्टा बना है, वही ब्रह्मा कहलाता है।

प्रभु कहते हैं कि **गृणे**=इस ब्रह्मा की मैं प्रशंसा करता हूँ। योग्य बनने पर पुत्र पिता से प्रशंसा व उत्साह प्राप्त करता है। ब्रह्म से यह ब्रह्मा क्यों न प्रशंसा पाएगा। हम भी इन सुन्दर दिव्य गुणों से अपने जीवन को अलंकृत करके प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' बनें।

भावार्थ—ब्रह्मा बनकर हम ब्रह्म से आदृत हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—द्विपदा गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

बद्ध पुरुष

१७६९. त्वामिच्छवसस्पते यन्ति गिरो न संयतः ॥ २ ॥

ब्रह्मा का ठीक विपरीत=opposite बद्ध पुरुष है। ब्रह्मा उन्नति के शिखर पर है तो यह बद्ध पुरुष अवनति के गर्त में गिरा है। नाना प्रकार के विषयों ने इसे अपने जाल में जकडा हुआ है। यह दुनियाभर के विषयों का ध्यान करता है, परन्तु प्रभु का स्मरण नहीं करता। यह विषयों से बुरी तरह से जकड़ा जा चुका है, अतः 'संयत' हो गया है। इस **संयतः**=विषयों से बद्ध पुरुष की **गिरः**=वाणियाँ **त्वाम्**=हे प्रभो! तेरे प्रति **इत्**=निश्चय ही **न यन्ति**=नहीं जातीं, यह कभी तेरा स्मरण नहीं करता।

शवसस्पते=हे सब बलों के स्वामिन् प्रभो ! आपका स्मरण करता हुआ मैं जितना-जितना आपके सम्पर्क में आता हूँ उतना-उतना ही अपने अन्दर शक्ति का अनुभव करता हूँ, परन्तु जब इस चमकीली प्रकृति—मोहक विषयों से मुग्ध बना हुआ मैं आपको भूल जाता हूँ और मेरी वाणी कभी आपका स्मरण नहीं करती तो मैं आपसे दूर हो जाता हूँ और शक्ति के स्रोत से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने से उत्तरोत्तर निर्बल होता जाता हूँ। मेरे जीवन के आनन्द की ज्योति भी टिमटिमाहट के बाद बुझ जाती है।

अत: प्रभो ! आप कुछ ऐसी कृपा करो कि मैं 'शवसस्पति' आपका स्मरण करूँ और आपके सम्पर्क में आकर शक्ति व आनन्द का लाभ करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं ब्रह्मा बनूँ न कि बद्ध। मेरी वाणियाँ सदा प्रभु का गायन करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—द्विपदा गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

बन्धनों का खण्डन

१७७०. वि स्रुतयो यथा पथ इन्द्र त्वद् यन्तु रातयः॥ ३॥

गत मन्त्र में विषयों से बद्ध एक पुरुष अन्ततोगत्वा अपनी दुर्गति को अनुभव करता हुआ प्रभु से कहता है कि हे प्रभो ! सब बलों के पति 'शवसस्पति' तो आप ही हैं। आपसे दूर होकर मैं तो सब शक्ति खो बैठा हूँ—मेरे आनन्द की ज्योति भी बुझ गयी है। मुझे अब क्या करना चाहिए? मेरे उद्धार का मार्ग क्या है? प्रभु उत्तर देते हैं कि—

इन्द्र=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ! तू यह मत भूल कि तू 'इन्द्र' है—'इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, न कि दास'। अब तू ऐसा प्रयत्न कर कि **रातयः**=दान **त्वत्**=तुझसे **यन्तु**=इस प्रकार चलें—प्रवाहित हों **यथा**=जैसे **पथः**=मार्ग से **विस्रुतयः**=विविध पर्वतीय जल-प्रवाह बहते हैं। ये जल-प्रवाह किस प्रकार चट्टानों को भी कुरेद कर अपना रास्ता बनाते हुए आगे बढ़ते जाते हैं, उसी प्रकार तेरे ये दान-प्रवाह भी तेरे जीवन-मार्ग में आई हुई इन विषय-चट्टानों को कुरेद कर तुझे आगे बढ़ा ले-चलेंगे। दान का अर्थ देना ही तो नहीं है; देने के साथ 'दो अवखण्डने' से बनकर 'दान' शब्द खण्डन की भावना को भी व्यक्त करता है। ये दान तेरे बन्धनों का सचमुच खण्डन करेंगे। विषय-वृक्ष के मूलभूत लोभ पर ही यह दान कुठाराघात करता है और 'दैप् शोधने' शुद्ध बना देता है। एवं, बन्धनों से बचने का या उत्पन्न बन्धनों के खण्डन का उपाय एक ही है—''दान'', अतः प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु की ओर से जीव को दान की प्रेरणा की गयी है। जितना-जितना हम इस प्रेरणा को सुनेंगे व अनुष्ठान में लाएँगे उतना-उतना ही बद्ध न रहकर ब्रह्मा बनने के लिए अग्रसर होंगे।

भावार्थ—मैं 'दान' का अविकल पाठ पढ़नेवाला बनूँ, जिससे बद्ध स्थिति से ब्रह्मा की स्थिति में पहुँच सकूँ।

सूक्त-३

ऋषिः—प्रियमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—आनुष्टुभः प्रगाथः (अनुष्टुप्)॥ स्वरः—गान्धारः॥

विश्वेश, न कि विषय

१७७१. आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्रं शविष्ठ सत्पतिम्॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रियमेध'='जिसको बुद्धि प्रिय है', वह प्रभु से कहता है कि हे **शविष्ठ**=

सर्वाधिकशक्तिमन् प्रभो! हम **त्वा**=आपको ही अपनी इस जीवन-यात्रा के **रथं आवर्तयामसि**=रथ के रूप में वर्त्तते हैं, जिससे **यथोतये**=यथायोग्य रक्षण होता रहे और हम **सुम्नाय**=सुखमय स्थिति को प्राप्त कर सकें। प्रभु 'शविष्ठ' है, उन्हें अपने रथ का सारथि बनाकर मैं अपनी शक्ति को कितना ही अधिक बढ़ा लेता हूँ। उस समय वासनाओं के आक्रमणों की आशंका नहीं रह जाती। मेरा यह रथ ठीक सुरक्षित बना रहता है और परिणामतः मेरा जीवन सुखी होता है।

मैं उस प्रभु को अपने जीवन-रथ का सारथि बनाता हूँ जो—

१. **तुविकूर्मिम्**=महान् कर्म करनेवाले हैं। अब मैं भी तो अपने जीवन में कोई-न-कोई महान् कर्म ही कर पाऊँगा।

२. **ऋतीषहम्**=जो दुर्गति का पराभव करनेवाला है। प्रभु की शरण में आ जाने पर किसी प्रकार की दुर्गति तो अब सम्भव ही नहीं है।

३. **इन्द्रम्**=वे प्रभु परमैश्वर्यशाली हैं—उन्हीं को अपना रथ बना लेने से मैं भी तो उस परमैश्वर्य का पानेवाला बनता हूँ।

४. **सत्पतिम्**=वे प्रभु सज्जनों के रक्षक हैं। प्रभु को जीवन-रथ बनाने पर सत्य की अभिवृद्धि तो मुझमें होगी ही और परिणामतः मैं प्रभु की रक्षा का पात्र अवश्य बनूँगा।

विश्वेश को अपना लेने पर किसी आवश्यक विषय की कमी का तो प्रश्न ही नहीं रह जाता। व्यर्थ की चिन्ताओं से ऊपर उठा हुआ जीवन आनन्दमय बनता चलता है।

भावार्थ—मेरी जीवन-यात्रा प्रभु-निर्भर होकर चले।

ऋषिः—प्रियमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आनुष्टुभः प्रगाथः (गायत्री) ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रियमेध का प्रभु-स्तवन

१७७२. तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते। आ पप्राथ महित्वना ॥ २ ॥

प्रियमेध प्रभु को ही जीवन-यात्रा का रथ बनाता है और आराधना करता है कि १. **तुविशुष्म**=हे प्रभो! आप 'अनन्त बल' हो। शत्रुओं का शोषण करनेवाला बल 'शुष्म' है। वे अनन्त शुष्मवाले प्रभु स्मरण किये जाने पर मेरे कामादि शत्रुओं का भी तो शोषण कर देते हैं। २. **तुविक्रतो**=आप महान् प्रज्ञान, संकल्प व कर्मवाले हैं। मैं आपको अपना रथ बनाता हूँ, तो इन प्रज्ञान, कर्म व संकल्पों के अंश का अपने में दोहन करनेवाला बनता हूँ। ३. **शचीवः**=वेदवाणीवाले! आपको अपनाते ही मुझे भी यह वेदवाणी प्राप्त होने लगती है। ४. **विश्वया मते**=आप सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्राप्त करनेवाली बुद्धिवाले हो। आपका आराधक भी अपनी मति का आधार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बनाता है। वह अपने निश्चय विश्वहित के दृष्टिकोण से करता है। ५. **महित्वना आपप्राथ**=हे प्रभो! आप अपनी महिमा से सर्वत्र फैले हुए हो। आपको अपना रथ बनाने पर मैं भी महान् बनने का प्रयत्न करता हूँ। इस महत्त्व ने ही तो मेरे मन के सारे मैल को धोना है। उदारता व विशालता ही मेरे हृदय को पवित्र करेगी। पवित्र जीवनवाला मैं सचमुच 'प्रिय-मेध' होऊँगा। अपवित्रता में ही ज्ञानातिरिक्त वस्तुएँ प्रिय हुआ करती हैं।

भावार्थ—मेरा प्रभुस्तवन इन शब्दों में हो—हे प्रभो! आप अनन्तबल हो, महान् प्रज्ञान, कर्म व संकल्पवाले हो। आप वेदवाणी के पति हो, व्यापक मतिवाले हो और अपनी महिमा से सर्वत्र व्याप्त हो। यह प्रभु-स्तवन मेरे जीवन को भी एक प्रबल प्रेरणा प्राप्त कराए।

ऋषिः—प्रियमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आनुष्टुभः प्रगाथः (गायत्री) ॥ स्वरः—षड्जः ॥

व्यापक व प्रकाशमय क्रिया

१७७३. यस्य ते महिना महः परि ज्मायन्तमीयतुः । हस्ता वज्रं हिरण्ययम् ॥ ३ ॥

प्रियमेध कहता है कि हे प्रभो ! मैं उन आपका स्मरण करता हूँ **महिना महः**=महिमा से महान् **यस्य ते**=जिस आपके **हस्ता**=हाथ **परिज्यायन्तम्**=चारों ओर सम्पूर्ण पृथिवी को अपनानेवाले **हिरण्ययम्**=ज्योतिर्मय **वज्रम्**=क्रियाशीलता को (वज गतौ) **ईयतुः**=प्राप्त होते हैं।

प्रभु की महिमा महान् है। जितना-जितना मैं संसार में भ्रमण करता हूँ, उतना-उतना आपकी महिमा से मेरा मन प्रभावित होता है। मेरी दृष्टि में आप अधिक और अधिक महान् होते जाते हैं। आपके हाथ निरन्तर क्रियाशील हैं—आपकी क्रिया स्वाभाविक है—वह किसी निजी प्रयोजन को लेकर नहीं हो रही। आपकी सारी क्रियाएँ जीवहित के लिए हैं। वे क्रियाएँ सारी पृथिवी को व्यापनेवाली हैं। उन क्रियाओं में बुद्धिमत्ता व प्रकाश झलक रहा है। आपकी क्रियाएँ सर्वव्यापक और प्रकाशमय हैं। आपकी एक-एक क्रिया आपकी महिमा को प्रकट कर रही है। आपकी एक-एक रचना को देखकर मैं आश्चर्य-निमग्न हो जाता हूँ। आपकी प्रत्येक रचना बुद्धिमत्ता से परिपूर्ण प्रतीत होती है।

भावार्थ—मैं आपकी रचना को बारीकी से देखूँ और आपकी महिमा का अनुभव करूँ। इस महिमा के दर्शन से प्रेरित होकर मैं भी अपनी क्रियाओं को व्यापक व प्रकाशमय बनाऊँ।

सूक्त-४

ऋषिः—दीर्घतमा औचथ्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडुष्णिक् ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शतात्मा

१७७४. आ यः पुरं नार्मिणीमदीदेदत्यः कविर्नभन्यो३ नार्वा ।
सूरो न रुरुक्वाञ्छतात्मा ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र में 'शतात्मा' का उल्लेख है—जो केवल अपने को ही 'मैं' नहीं समझता अपितु सभी में आत्मबुद्धि करके जो अनन्त आत्माओंवाला हो गया है—"**अयुतोऽहं सर्वः**"=मैं औरों से पृथक् थोड़े ही हूँ '**अयुतो म आत्मा**'=मेरा आत्मा औरों से अपृथक् है, ऐसा ही यह सदा चिन्तन करता है। इसका चित्रण निम्न शब्दों में हुआ है—

१. **यः**=जो **नार्मिणीम्**=क्रीड़ाओं की स्थली sport, pastimes बनी इस **पुरम्**=शरीररूप पुरी को **आ अदीदेत्**=समन्तात् दीप्त करता है, न मन में, न बुद्धि में ही मलिनता रहने देता है। यह शतात्मा ज्ञान की ज्योति से मस्तिष्क को उज्ज्वल करता है और मन को पवित्र करता है।

२. **अत्यः**=(अत् सातत्यगमने) यह निरन्तर गमन में लगा रहता है—सतत क्रियाशील होता है। यह कभी अकर्मण्य नहीं होता।

३. **कविः**=यह क्रान्तदर्शी है—वस्तुओं के स्वरूप व तत्त्व को जानने का प्रयत्न करता है—उनकी आपात रमणीयता में नहीं उलझ जाता।

४. **नभन्यः**=यह आकाश का होता है—पार्थिव नहीं, अर्थात् यह लक्ष्य की दृष्टि से एक ऊँची उड़ान लेता है, पार्थिव भोगों में नहीं फँसा रहता।

५. **न अर्वा**=पार्थिव भोगों में न फँसा होने के कारण ही यह हिंसा की वृत्तिवाला नहीं होता (अर्व हिंसायाम्)। यह औरों का घातपात करके अपने भोगों को बढ़ाए, इसकी ऐसी वृत्ति कभी नहीं होती।

६. **सूरो न रुरुक्वान्**=हिंसा की वृत्ति से ऊपर उठने का ही यह परिणाम होता है कि यह निरन्तर सूर्य की भाँति चमकता है। प्रभु 'आदित्यवर्ण' हैं—यह प्रभु के समीप पहुँचता हुआ उन-जैसा ही बनता चलता है।

७. **शतात्मा**=और अन्त में यह 'शतात्मा' बन जाता है। सबमें एकत्व देखता हुआ यह अनेक हो जाता है। इसका सब मोह=अज्ञानान्धकार=तम दूर हो चुका है, इसी से यह 'दीर्घतमा' नामवाला हो गया है।

भावार्थ—मैं शतात्मा बनूँ।

ऋषिः—दीर्घतमा औचथ्यः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिगुष्णिक्॥ स्वरः—पञ्चमः॥

द्विजन्मा

१७७५. अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानो अस्थात्।
होता यजिष्ठो अपां सधस्थे॥ २॥

उसी शतात्मा का वर्णन आगे चल रहा है—

१. **द्विजन्मा**=विज्ञान के नक्षत्रों व ज्ञान के सूर्य से अपने जीवन को प्रकाशमय बनाकर यह 'द्विजन्मा' बना है। माता-पिता से इसे **भौतिक जन्म** प्राप्त हुआ था। आज ज्ञान की ज्योति से जगमग होकर उसे '**अध्यात्म जीवन**' मिला है। इस प्रकार यह दो जन्मोंवाला हुआ है।

२. **त्री रोचनानि**=इसके शरीर, मन व बुद्धि तीनों ही दीप्त हैं, शरीर स्वास्थ्य की दीप्तिवाला है, मन नैर्मल्य की दीप्ति से दीप्त है और बुद्धि ज्ञान की ज्योति से जगमगा रही है। भौतिक जीवन में ही रोग, राग-द्वेष व मोह निवास करते हैं। अध्यात्म जीवन में शरीर रोगों से रहित है, मन राग-द्वेष से ऊपर है और बुद्धि मोह को लाँघ गयी है। इस प्रकार इस दीर्घतमा व द्विजन्मा के शरीर, मन व बुद्धि तीनों ही चमक उठे हैं।

३. अब **शुशुचानः**=ज्ञान-ज्योति से दीप्त होता हुआ यह **विश्वा**=शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाले **रजांसि**=रजोविकारों को, वासनाओं को **अभि अस्थात्**=पाँवों तले रोंद देता है, उनपर आक्रमण करके उन्हें जीत लेता है।

४. **होता**=रजोविकारों को जीतकर यह 'होता' बनता है। लोकहित के लिए यह 'तन, मन व धन' को देनेवाला होता है।

५. **यजिष्ठः**=यह सबके साथ सङ्गतीकरण करनेवाला होता है (यज्=सङ्गतीकरण) लोकहित करनेवाले को मिलकर चलना ही होता है।

६. **अपां सधस्थे**=यह कर्मों के साथ व प्रजाओं के साथ (आपः=कर्माणि, प्रजा वा) एक स्थान में स्थित होता है। यह लोगों को निकृष्ट स्थिति में देख, उनसे घृणा कर, उनसे दूर नहीं भाग जाता। उन्हीं के बीच में रहता हुआ उनकी स्थिति को उत्कृष्ट बनाने का यत्न करता है। स्वयं आप्तकाम होता हुआ भी लोगों के हित के लिए निरन्तर कर्म में लगा रहता है।

भावार्थ—मैं अध्यात्म जीवन को प्राप्त करके 'द्वि-जन्मा' बनूँ।

ऋषिः—दीर्घतमा औचथ्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

होता

१७७६. अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वा दधे वार्याणि श्रवस्या।
मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश ॥ ३ ॥

पिछले मन्त्र के द्विजन्मा के लिए ही कहते हैं कि—

१. **यः द्विजन्मा**=जो ज्ञानज्योति को प्राप्त करके 'द्विजन्मा' बनता है **अयं सः**=वह यह **होता**=सदा प्राजापत्य यज्ञ में अपने सर्वस्व की आहुति देनेवाला होता है।

२. यह सर्वस्व की आहुति देनेवाला होता **विश्वा**=सब **वार्याणि**=वरणीय पदार्थों को **दधे**=धारण करता है। होता बनने से इसके अपने जीवन में कोई कमी थोड़े ही आ जाती है। कमी आना तो दूर रहा, यह सब वरणीय=चाहने योग्य आवश्यक पदार्थों को धारण करनेवाला होता है।

३. यह वरणीय पदार्थों को प्राप्त करता है, और साथ ही **श्रवस्या**=(श्रवस्यं=fame, बहु वचन में श्रवस्यानि-श्रवस्या) कीर्तियों का लाभ करता है। होता न बनता और अन्याय से अर्थ-संचयों में लगा रहता तो शायद धनों को तो जुटा लेता, परन्तु कोई कीर्ति प्राप्त न करता। होता बनने से वार्य वस्तुएँ भी मिलती हैं और यश भी।

४. यह होता वह **मर्तः**=व्यक्ति है **यः**=जो **अस्मै**=(अव या अत से ड प्रत्यय करके 'अव' बना है) उस सर्वरक्षक व सातत्य गमनवाले प्रभु के लिए **ददाश**=अपने को अर्पित करनेवाला होता है और परिणामतः **सुतुकः**=उत्तम सन्तान व उत्तम वृद्धिवाला होता है (तुच्=सन्तान, वृद्धि)।

जो व्यक्ति सचमुच दीर्घतमा बनता है—अपने अज्ञानान्धकार को दूर करता है वह 'शतात्मा, द्विजन्मा, व होता' होता है और सचमुच सब वरणीय पदार्थों, यश, उत्तम सन्तति व समृद्धि को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम होता बनकर वार्य पदार्थों, कीर्तियों व समृद्धियों के पात्र बनें।

सूक्त-५

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पदपङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

व्यापकता व क्रियाशीलता

१७७७. अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्। ऋध्यामा त ओहैः ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि वामदेव कहता है कि **अग्ने**=हे सर्वोन्नतियों के साधक अग्रेणी प्रभो! **अश्वं न**=व्यापकता के अनुसार और **क्रतुं न**=संकल्प व क्रियाशीलता के अनुसार **भद्रम्**=कल्याण करनेवाले **तम्**=उन आपको **अद्य**=आज **स्तोमैः**=स्तुतियों से हम **ऋध्याम**=बढ़ाते हैं। मनुष्य की मनोवृत्ति जितनी व्यापक होगी, जितना वह क्रियाशील होगा उतना ही उसका कल्याण होगा। 'व्यापकता व क्रियाशीलता' इन दो तत्त्वों का अपनाना नितान्त आवश्यक है। हे प्रभो! आप तो **हृदिस्पृशम्**=प्रतिक्षण मेरे हृदय को छूनेवाले हो। मैं अच्छा कर्म करूँ तो उत्साह, बुरा करूँ तो 'भय शंका व लज्जा' के देनेवाले हो। आपसे निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करता हुआ मैं अपने जीवन में अधिकाधिक व्यापक मनोवृत्तिवाला तथा क्रियाशील बनूँ।

मैं उन स्तोमों से आपका स्तवन करूँ जो **ते ओहैः**=आपको प्राप्त करानेवाले हैं। आपकी स्तुतियों से मेरे हृदय में भी एक प्रेरणा उत्पन्न होती है—आप 'हृदिस्पृक्' तो हैं ही। उन प्रेरणाओं से प्रेरित होकर मैं जिस मार्ग पर चलता हूँ वह मार्ग मुझे आपके अधिक और अधिक समीप प्राप्त कराता है। मैं भी आपके समान 'दयालु व न्यायकारी' बनने का प्रयत्न करता हूँ और जितने अंश में बन पाता हूँ उतना आपके समीप हो जाता हूँ।

'आपकी प्रत्येक क्रिया किस प्रकार व्यापक है' यह विचार करता हुआ मैं भी अपनी क्रियाओं में व्यापकता लाने का प्रयत्न करता हूँ और जिस प्रकार आप स्वाभाविक रूप से क्रियाशील हैं उसी प्रकार मैं भी अपनी क्रियाओं में स्वाभाविकता लाने का प्रयत्न करता हूँ—क्रिया मेरा स्वभाव हो जाता है। अकर्मण्यता मेरे पास नहीं फटकती। अकर्मण्यता में पनपनेवाले अवगुणों को समाप्त कर मैं अपने को 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बना पाता हूँ।

भावार्थ—मेरी मनोवृत्ति व्यापक हो, मेरे हाथ सदा सुकर्मों में व्यापृत हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पदपङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वामदेव के जीवन की तीन बातें

१७७८. अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः। रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥ २ ॥

वामदेव कहता है—हे प्रभो! मैं आपके प्रापक स्तोमों से आपको बढ़ाता हूँ **अधा हि**=और तब निश्चय से हे **अग्ने**=मेरी उन्नति के साधक प्रभो! आप मेरे जीवन में निम्न तीन बातों के **रथीः**=नेता व प्रापक **बभूथ**=होते हो—

१. **भद्रस्य क्रतोः**=सर्वप्रथम मुझे 'भद्रक्रतु'=शिवसंकल्प व शुभ क्रियाशीलता को प्राप्त कराते हैं। मेरे हृदय में अशिव संकल्प कभी नहीं उठता और मेरा जीवन सदा शुभ क्रियाओं से ओत-प्रोत रहता है।

२. **साधोः दक्षस्य**=मेरा जीवन दक्षता dexterity=चतुरता से व्याप्त होता है, परन्तु यह चतुरता साधु की होती है, असाधु की नहीं—cleverness न कि cunningness चतुरता न कि चालाकी, कुशलता न कि कपटता। मैं अब किसी भी कार्य को अनाड़ीपन से नहीं करता।

३. **बृहतः ऋतस्य**=वृद्धि के साधनभूत ऋत=नियमितता=regularity को आप मुझमें बढ़ाते हैं। सूर्य और चन्द्रमा की गतियों के समान मेरा जीवन नियमित गति से चलता है। मैं प्रत्येक क्रिया को ठीक समय पर व ठीक स्थान पर करता हूँ।

उल्लिखित मन्त्र के शब्दों से यह स्पष्ट है कि प्रभुभक्त १. शुभ कर्म संकल्पों व शुभ क्रियाओंवाला होता है, २. वह उन क्रियाओं को साधु पुरुष की दक्षता के साथ करता है, और ३. उसकी प्रत्येक क्रिया ठीक समय पर व ठीक स्थान पर होती है।

मन्त्र के 'साधोः' शब्द पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। प्रभुभक्त कार्यों को कुशलता से करता है। इसकी यह कुशलता सदा कार्यों को सिद्ध करनेवाली होती है (साध्नोति)। यह तोड़-फोड़ की ओर झुकाव नहीं रखता।

भावार्थ—शुभ संकल्प, साधु दक्षता व बृहत् ऋत को अपनाकर मैं 'वामदेव' बनूँ और अपने को सच्चा प्रभुभक्त प्रमाणित करूँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पदपङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सुमनाः (उत्तम मनवाला)

१७७९. एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वा३र्ण ज्योतिः ।
अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः ॥ ३ ॥

हे प्रभो ! **नः**=हमारे **एभिः**=इन **अर्कैः**=स्तुतिमन्त्रों से, अर्चना-साधनभूत स्तोत्रों से आप **नः**=हमारे **अर्वाक्**=समीप व सम्मुख **भव**=होओ । हे प्रभो ! आप तो **स्वः न ज्योतिः**=सूर्य के समान ज्योतिर्मय हैं । जब भक्त अपने सत्य स्तोत्रों से प्रभु को अपने सम्मुख कर पाता है तब वह यही तो अनुभव करता है कि ये प्रभु सूर्य के समान ज्योतिर्मय हैं । वेद प्रभु को 'आदित्यवर्णम्'—सूर्य के समान वर्णवाला कहते हैं ।

हे **अग्ने**=मुझे आगे ले-चलनेवाले प्रभो ! **विश्वेभिः अनीकैः**=आप इन सब तेजों से (अनीक= splendour) **सुमनाः**=मुझे उत्तम मनवाला कीजिए । एक भक्त प्रभु का स्तवन करता है, सूर्य के समान ज्योतिर्मयरूप में उसे देखता है और प्रभु के तेज से उसके मन के सब मैल भस्म होकर उसका मन पवित्रता से चमक उठता है । 'प्रभु का तेज चमके और हृदय अपवित्र रहे' यह कभी सम्भव है ? भक्त प्रभु का स्तवन करता है, प्रभु उसके हृदयान्धकार को दूर करके उसके मन को ज्योतिर्मय करते हैं और भक्त 'सुमनाः' हो जाता है ।

भावार्थ—प्रभु-स्तोत्रों के गायन से मनुष्य 'सुमनाः' बनता है ।

सूक्त-६

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः ॥ देवता—अग्निरश्विनावुषाश्च ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

'अग्नि, अमर्त्य व जातवेद'

१७८०. अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य ।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रस्कण्व प्रभु को 'अग्ने, अमर्त्य तथा जातवेदाः' शब्दों से सम्बोधित करता है । वे प्रभु **अग्निः**=सब प्रकार की अग्रगति के साधक हैं—**अमर्त्य**=किसी भी चीज के पीछे मरनेवाले नहीं हैं, अर्थात् कहीं भी आसक्त नहीं हैं, क्योंकि **जातवेदः**=व प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ के तत्त्व को जानते हैं । इस प्रकार प्रभु का स्मरण करता हुआ प्रस्कण्व यह समझता है कि उसके जीवन का लक्ष्य भी निरन्तर उन्नति करना है, उस उन्नति के लिए आवश्यक है कि वह किसी भी वस्तु के पीछे अत्यन्त आसक्त न हो जाए और इस आसक्ति से बचने के लिए वह अपने ज्ञान को निरन्तर बढ़ाने में लगा रहे, इसीलिए वह प्रार्थना करता है कि आप **उषसः**=अज्ञानान्धकार के **विवस्वत्**=निवर्तक **चित्रं राधः**=(चित्=ज्ञान) ज्ञान प्राप्त करानेवाले बुद्धिरूप धन को **दाशुषे**=मुझ आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए **आवह**=प्राप्त कराइए । इस ज्ञान-धन को प्राप्त कराने के लिए ही **त्वम्**=आप **अद्य**=आज ही **उषर्बुधः**=प्रातःकाल जागरणशील अथवा आज्ञानान्धकार से जागरित हो चुके **देवान्**=प्रकाशमय और प्रकाश को प्राप्त करानेवाले देवों को **आवह**=प्राप्त कराइए । इन देवों के सम्पर्क में आकर ही तो मैं ज्ञान प्राप्त कर पाऊँगा, ज्ञान प्राप्त करने पर ही मेरी आसक्ति समाप्त होगी और मैं उन्नति-पथ

पर आगे बढ़नेवाला बनूँगा। प्रभु अपने भक्तों की रक्षा इसी प्रकार तो करते हैं कि वे उन्हें देवों का सङ्ग प्राप्त कराते हैं। विद्वानों के सम्पर्क के द्वारा वे उन्हें वह बुद्धि प्राप्त कराते हैं जो उन्हें ज्ञानधन देकर 'प्रस्कण्व'=मेधावी बनाती है। हमारा तो यही कर्त्तव्य है कि 'हमें अग्नि बनना है, अमर्त्य बनना है और जातवेद बनना है', अपने इस लक्ष्य-त्रय का स्मरण करते हुए हम अपने कर्त्तव्य कर्म में लगे रहें और परमेश्वरार्पण की भावना से जीवन-यापन करें।

भावार्थ—हमारा जप हो कि हम भी प्रभु की भाँति 'अग्नि, अमर्त्य, व जातवेद' बनेंगे।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः॥ देवता—अग्निरश्विनावुषाश्च॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्राणायाम से दोष-दहन

२ ३ २ ३ १ २र ३ २३ १ २ ३ १२ ३१ २
१७८१. जुष्टो हि दूतो असि हव्यवाहनोऽग्ने रथीरध्वराणाम्।

३ २३ १ २३१ २ ३ १२३ १ २३ १ २ ३२
सजूरश्विभ्यामुषसा सुवीर्यमस्मे धेहि श्रवो बृहत्॥ २॥

प्रस्कण्व ही प्रभु की आराधना कर रहा है कि हे **अग्ने**=सारे संसार-चक्र के चालक प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **अध्वराणाम्**=सब हिंसाशून्य यज्ञों के **रथीः**=संचालक **असि**=हैं। संसार-चक्र को चलानेवाले वे प्रभु ही हैं, परन्तु प्रभु की सम्पूर्ण क्रिया तो हिंसाशून्य यज्ञों को ही प्रोत्साहित करती है। बीच-बीच में जीव अपनी अल्पज्ञता से कर्म करने में दी गयी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करता है और हिंसा का कारण बन जाता है। यह सब ठीक उसी प्रकार होता है जैसे प्रभु पृथिवी में पुण्य गन्ध को प्रसारित करते हैं, परन्तु जीव उन फूलों को तोड़कर मसल-मसला कर लापरवाही से जलवाले स्थान में फेंकता है और सड़ाँद होकर दुर्गन्ध को उत्पन्न कर देता है।

हे प्रभो! **जुष्टः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये हुए आप **हि**=निश्चय से **दूतः असि**=सन्तापक हैं। आप अपने भक्त को आपत्ति की परीक्षाग्नि में डालकर शुद्ध कर देते हैं और तब **हव्यवाहनः**=सब हव्यों को—उत्तम पदार्थों को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

प्रस्कण्व याचना करता है कि हे प्रभो! **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के तथा **उषसा**=दोषदहन के (उष् दाहे) **सजूः**=साथ होनेवाले आप **अस्मे**=हममें **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को तथा **बृहत् श्रवः**=वृद्ध—निरन्तर बढ़ते हुए ज्ञान को **धेहि**=धारण कीजिए।

हम प्राणापान की साधना—प्राणायाम को अपनाकर इन्द्रियों के दोषों का दहन करें। उसी का यह परिणाम होगा कि हमें उत्तम शक्ति प्राप्त होगी तथा हमारी बुद्धि सूक्ष्म होकर हमारे ज्ञान की वृद्धि होगी।

भावार्थ—प्रभु-आराधना से मैं प्राणों की साधना करनेवाला बनूँ और शक्ति व ज्ञान को बढ़ा पाऊँ।

सूक्त-७

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अनासक्ति के लिए नश्वरता का चिन्तन

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र३ १ २ ३ १ २
१७८२. विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।

३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २३ १ २र
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान॥ १॥

संसार का संसरण भी खूब है! १. एक बच्चा **विधुम्**=चन्द्रमा के समान सुन्दर-ही-सुन्दर होता है, २. ज़रा बड़ा होता है और **बहूनां समने दद्राणम्**=माता पिता व घरवालों की उत्कण्ठा के निमित्त विविध 'बाल-लीलाओं' का करनेवाला होता है। ३. तनिक और बड़ा होता है और **युवानं सन्तम्**=युवा-'भरपूर नौजवान' होकर कितने ही व्यक्तियों की उत्कण्ठा का कारण बनता है, ४. परन्तु कुछ ही देर बाद इसे **पलितः जगार**=वार्धक्य की सफ़ेदी निगलने लगती है—इसके बाल सफ़ेद हो जाते हैं। ५. अब अत्यन्त वृद्ध होकर यह बड़ी दयनीय अवस्था में पहुँच जाता है। इस समय तनिक **महित्वा**=श्रद्धा की भावना से हम देखें तो सचमुच **देवस्य काव्यं पश्य**=यह प्रभु का कितना सुन्दर वर्णनीय कार्य है कि **अद्य ममार**=आज वह समाप्त हो जाता है **स ह्यः समान**=जोकि कल बड़ा अच्छा-भला था।

इस प्रकार जीवन का यह विचित्र-सा क्रम है—उत्पत्ति, बाल्यकाल, यौवन, वार्धक्य व समाप्ति। इस प्रकार यह संसार निरन्तर संसरण कर रहा है—इसमें कुछ भी स्थिर नहीं। इस नश्वरता का चिन्तन मनुष्य को संसार में आसक्त होने से बचाता है। यह इन्द्रिय-विषयों में आसक्त न होनेवाला सचमुच 'इन्द्र' बनता है और उस प्रभु के स्तोत्रों का गायन करनेवाला होने से 'बृहदुक्थ' कहलाता है।

भावार्थ—मैं संसार के स्वरूप का चिन्तन करूँ और इसमें आसक्त न होकर प्रभु का उपासक बनूँ।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

बृहदुक्थ का जीवन

१७८३. शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीडः।
यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता॥ २॥

गत मन्त्र का बृहदुक्थ=प्रभु का खूब स्तवन करनेवाला अपने जीवन को निम्न प्रकार से साधता है—

१. **शाक्मना शाकः**=यह शक्ति से शक्तिमान् होता है। प्रभु के स्तोता को स्वभावतः शक्तिसम्पन्न तो होना ही चाहिए। यह विषयों में आसक्त होकर अपनी शक्तियों को जीर्ण नहीं होने देता।

२. **अरुणः**=(ऋ+उनन्)=यह निरन्तर गतिशील होता है। शक्तिशाली हो और गतिशील न हो यह असम्भव है।

३. **सुपर्णः**=इस गतिशीलता से वह सु=उत्तम ढंग से पर्णः=अपना पालन करता है। अकर्मण्य पुरुष पर सभी वासनाओं का आक्रमण होता है—यह क्रियाशीलता के द्वारा उस आक्रमण से अपने को बचा लेता है। यह पाप से कह सकता है कि 'दूर भाग जा, मेरा मन तो घर के कार्यों व गौवों में लगा है न, मुझे फुरसत कहाँ?'

४. यह बृहदुक्थ वह है **यः**=जो **आ**=सब दृष्टिकोणों से **महः**=पूजा की वृत्तिवाला होता है। सुख है तो प्रभु का धन्यवाद करता है, दुःख है तो उसमें भी छिपे रूप में प्रभु की कल्याणी—वृत्ति को देखता है। यह अपने दिल को कभी छोटा नहीं करता, 'महान्' ही बना रहता है।

५. **शूरः**=यह आपत्तियों में घबराता नहीं, शूरवीर बनता है और हिम्मत से आपत्तियों का मुक़ाबला करता है।

६. **सनात् अनीडः**=यह सदा अ—नीड़=अ—देह=देहासक्ति से शून्य—विदेह बनने का प्रयत्न करता है। जिसे देह में आसक्ति है वह तो शूर बन ही नहीं सकता।

७. **यत् चिकेत**=यह जो ज्ञान प्राप्त करता है वह **सत्यम् इत्**=सत्य ही होता है **तत् न मोघम्**=वह व्यर्थ नहीं होता। यह कभी व्यर्थ के उपन्यासादि पढ़ने में अपने समय को नष्ट नहीं करता—सदा उपयोगी ज्ञान को ही प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। यह उसी ज्ञान को प्राप्त करता है जो उसके जीवन पर शुभ परिणाम को पैदा करे। यह शुभ परिणाम इस रूप में होता है कि यह ८. **स्पार्हं वसु जेता**=स्पृहणीय धन का ही विजय करनेवाला होता है। अवाञ्छनीय धन को यह कभी नहीं जुटाता। न अन्याय्य ढंगों से कमाता है और न ही जोड़ने के लिए कमाता है। ९. कमाता है **उत**=और **दाता**=देने के स्वभाववाला होता है। शतहस्त बनकर एकत्र करता है तो सहस्रहस्त बनकर बखेरनेवाला भी होता है—दान भी देता है। यह उस सूर्य की भाँति होता है जो रस का ग्रहण सहस्रगुण उत्सर्जन के लिए ही करता है।

इस प्रकार दान करता हुआ यह बृहदुक्थ धन का उपासक न बनकर प्रभु का ही उपासक बना रहता है। यह धन का दास न बनकर उसका पति बनने में ही श्रेय मानता है।

भावार्थ—मेरा जीवन शक्तिवाला हो और मैं दानशूर बनूँ।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

बृहदुक्थ शक्तिशाली बनता है (He Grows Strong)

१७८४. ऐभिर्ददे वृष्ण्या पौंस्यानि येभिरौक्षद् वृत्रहत्याय वज्री।
ये कर्मणः क्रियमाणस्य मह्न ऋतेकर्ममुदजायन्त देवाः॥ ३॥

गत मन्त्र में वर्णित **एभिः**=अपने गुणों व कर्मों से यह बृहदुक्थ **वृष्ण्या**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले अथवा शक्तिशाली **पौंस्यानि**=पौरुषों को **आददे**=स्वीकार करता है। यह अकर्मण्य तो कभी होता ही नहीं। **येभिः**=जिन पौरुषों से **वज्री**=सदा गतिशील (वज गतौ) यह बृहदुक्थ **औक्षत्**=(उक्ष=to become strong) अधिकाधिक शक्तिशाली बनता है, उन्हीं से यह **वृत्रहत्याय**=ज्ञान की आवरणभूत कामादि वासनाओं का संहार करनेवाला बनता है। निर्बल को वासना दबाती है और सबल से डरकर वह दूर रहती है।

इस प्रकार ये बृहदुक्थ वे व्यक्ति होते हैं **ये**=जो **क्रियमाणस्य कर्मणः मह्नः**=क्रियमाण कर्म की महिमा से **ऋतेकर्मम्**=और उस कर्म में आसक्ति व अहंकार न होने से नैष्कर्म्य के द्वारा **उद् अजायन्त**=उन्नति को प्राप्त करते हैं और **देवाः**=देव बन जाते हैं। ये भाग्यवादी न होकर अपना-अपना उत्कर्ष 'क्रियमाण कर्म' में ही देखते हैं—परन्तु साथ ही अनासक्ति व अनहंकार के कारण सदा नैष्कर्म्य को प्राप्त किये रहते हैं। करते हुए भी ये नहीं कर रहे होते। सतत क्रियाशील होते हुए भी उससे अलिप्त बने रहते हैं। 'प्रभु की शक्ति है, उसी से यह सारे कार्य हो रहे हैं, इसमें मेरा क्या ?' यह भावना इस बृहदुक्थ की सदा बनी रहती है—और यही उसके सतत उत्थान का कारण बनती है—यह मनुष्य से 'देव' बन जाता है।

भावार्थ—मैं निरन्तर कर्मों को करता हुआ 'देव' का उपासक बनूँ। दैव (भाग्य) का उपासक बनकर, अकर्मण्य हो, प्रभु से दूर न हो जाऊँ।

सूक्त-८

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वा ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पवित्र बलवाला

१७८५. अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः। उत स्वराजो अश्विना ॥ १ ॥

गत मन्त्र में उल्लेख था कि बृहदुक्थ शक्तिशाली बन जाता है। प्रस्तुत मन्त्र में उस शक्तिशालिता के रहस्य का ही प्रकाश करते हैं—**अयम्**=यह **सोमः**=सोम=वीर्य (Semen) **सुतः अस्ति**=उत्पन्न किया गया है। **अस्य पिबन्ति**=समझदार व्यक्ति इसका पान करते हैं। इसका पान करने में ही कल्याण है। शरीर की सारी वृद्धि इसी पर निर्भर करती है। शरीर की नीरोगता, मन की निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता का हेतु यह सोम ही है। इस सोम की रक्षा करनेवाला पुरुष ही 'विन्दतीति बिन्दुः'=उस प्रभु को प्राप्त करता है—और प्राप्त करनेवाला होने से 'बिन्दु' कहलाता है। यह अत्यन्त शक्तिशाली होता है—शक्ति का पुञ्ज ही बन जाता है, परन्तु इसकी शक्ति पवित्र होती है, यह उसका उपयोग कभी अपवित्र कर्मों में नहीं करता। परिणामतः इसका नाम 'पूतदक्ष' होता है। इस सोम का पान कैसे हो? इस प्रश्न का उत्तर वेद निम्न शब्दों में देता है—

१. **मरुतः**=मरुत् इसका पान करते हैं। इसका संयम व शरीर में व्यापन वे ही कर सकते हैं जो कि मरुत् हों—संसार की किसी भी वस्तु के पीछे मरनेवाले न हों, अर्थात् किसी भी विषय के प्रति आसक्त न होनेवाला पुरुष ही वीर्य का शरीर में व्यापन कर पाता है।

२. **उत**=और **स्वराजः**=अपने जीवन को बड़े नियमित करनेवाले व्यक्ति इसका पान करते हैं। जीवन की नियमितता ही ऋत का पालन कहलाती है और यह ऋत का पालन हमें सोमपान के योग्य बनाता है।

३. **अश्विना**=प्राणापान की साधना कर, प्राणापान के पुञ्ज बननेवाले व्यक्ति सोमपान करते हैं। प्राणायाम सोपान का सर्वोत्तम साधन है।

भावार्थ—मैं मरुत् बनूँ किसी भी वस्तु के पीछे न मरूँ, अर्थात् किसी भी वस्तु में फँस न जाऊँ; मेरा जीवन नियमित हो तथा सदा प्राणापान की साधना करूँ, जिससे सोमपान कर प्रभु को प्राप्त करनेवाला, प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि, 'बिन्दु' बन पाऊँ।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वा ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोम की स्थापना क्यों?

१७८६. पिबन्ति मित्रो अर्यमा तना पूतस्य वरुणः। त्रिषधस्थस्य जावतः ॥ २ ॥

सोम का पान करनेवालों का उल्लेख गत मन्त्र में इस रूप में हुआ था कि 'मरुत्, स्वराज्, व अश्विना' इसका पान करते हैं—किसी वस्तु में आसक्त न होनेवाले, अपने जीवन को नियमित बनानेवाले तथा प्राणापान की साधना करनेवाले प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **पिबन्ति**=इस सोम का पान करते हैं। कौन? १. **मित्रः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला, जिसका प्रेम व्यापक है। संकुचित प्रेम ही वासना का रूप धारण करता है और हमें सोमपान के अयोग्य बना देता है। २. **अर्यमा**=(अरीन् नियच्छति) काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन करनेवाला। कामादि से आक्रान्त हो जाने पर सोमपान सम्भव नहीं रहता। ३. **वरुणः**=जो अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधकर अपने जीवन को श्रेष्ठ

बनाने का प्रयत्न करता है। व्रती पुरुष ही सोमपान किया करता है। किस सोम का?

१. **तना पूतस्य**=(तन्-diffusion) शरीर में विस्तार व फैलाव के द्वारा जिसे पवित्र किया गया है। जब तक यह सोम सारे शरीर में रुधिर के साथ व्याप्त रहता है तभी तक पवित्र रहता है।

२. **त्रिषधस्थस्य**=जो तीनों ज्ञान, कर्म व उपासना के साथ स्थित होता है। सोमरक्षा के द्वारा मस्तिष्क में ज्ञान, हाथों में कर्म, व हृदय में भक्ति की भावना बनी रहती है।

३. **जावतः**=(जाः अपत्यम्) प्रजावाले सोम का। यह सोम मनुष्यों में प्रभु के द्वारा सन्तान-निर्माण के लिए ही तो रक्खा गया है। अथर्व में '**को न्वस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरा तायतामिति**' इस प्रश्न के द्वारा कि 'इसमें वीर्य की स्थापना किसने की जिससे प्रजातन्तु का विस्तार हो सके?' यह बात स्पष्ट है।

एवं, यह स्पष्ट है कि शरीर में सोम की स्थापना 'ज्ञान की तीव्रता, कर्म की शक्ति व श्रद्धा-भक्ति की पवित्रता तथा सन्तान के निर्माण' के लिए हुई है। इसी उद्देश्य से हमें सोम की सुरक्षा की व्यवस्था करनी है। उस सुरक्षा के लिए हमें १. अपने स्नेह को व्यापक बनाना है। २. काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन करना है। और ३. व्रती के बन्धनों में बँधकर अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाना है।

भावार्थ—हम सोम की स्थापना के उद्देश्य को समझें और उसी प्रकार उसका विनियोग करें।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वा॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

कौन, क्यों और कैसा

१७८७. उतो न्वस्य जोषमा इन्द्रः सुतस्य गोमतः। प्रातर्होतेव मत्सति॥ ३॥

इन्द्रः=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **अस्य**=इस **सुतस्य**=शरीर में उत्पन्न हुए-हुए **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले सोम के **उत उ**=निश्चय से **आजोषम्**=सर्वतः सेवन के **अनु**=पश्चात् **मत्सति**=उस प्रकार प्रसन्न होता है **इव**=जैसे **प्रातः**=अपने में उत्तमोत्तम भावनाओं का पूरण करनेवाला (प्रा पूरणे) **होता**=प्रभु का आह्वाता, प्रभु को पुकारनेवाला प्रसन्न होता है। इस प्रकार तीन बातें स्पष्ट हैं—

१. सोम का सेवन वही कर सकता है जो 'इन्द्र'=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बने। जितेन्द्रियता के बिना सोमपान का स्वप्न भी नहीं हो सकता। २. यह सोम सुरक्षित होने पर हमारी सब इन्द्रियों को शक्तिशाली व उत्तम बनाता है। ३. सोमपान से जीवन में वही आनन्द अनुभव होता है जो दैवी सम्पत्तिवाले प्रभु के आराधक को प्राप्त होता है।

यह सोम ही वस्तुतः सुरक्षित होकर हमें दैवी सम्पत्तिवाला बनाता है और हम प्रभु की आराधना करनेवाले बनते हैं। इसके सुरक्षित न रखने पर व्यक्ति की वृत्ति अदिव्य व आसुर होती जाती है और मनुष्य अधिकाधिक भौतिक वृत्तिवाला बनकर प्रभु को भूल जाता है। कई बार तो व्यर्थ के गर्व में 'ईश्वरोऽहम्' अपने को ही ईश्वर मानने लगता है। सोमपान करनेवाला व्यक्ति तो दिव्य, दिव्यतर व दिव्यतम जीवनवाला बनता हुआ प्रभु को पाता है, और 'बिन्दु'=(प्राप्त करनेवाला) इस यथार्थ नामवाला होता है।

भावार्थ—मैं सोमपान के द्वारा इन्द्रियों को उत्तम व सशक्त बनाऊँ और प्रभु-दर्शन करनेवाला बनूँ।

सूक्त-९

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती) ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

ज्योतिषां रविरंशुमान्

१७८८. बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम मह्ना देव महाँ असि ॥ १ ॥

गत मन्त्र का 'प्रातर्होता'=अपने में दिव्य गुणों को भरनेवाला और प्रभु को पुकारनेवाला प्रभु-दर्शन के लिए प्रभु की विभूतियों को देखता है और उनमें महान् विभूतिभूत सूर्य को देखता हुआ कहता है कि हे **सूर्य**=निरन्तर चलनेवाली ज्योति! तू **बट्**=सचमुच **महान् असि**=महान् है। मेरे लिए तो पृथिवी ही महान् है, उससे साढ़े तेरह लाख गुणा बड़ा होता हुआ तू तो कितना महान् है और फिर अपनी निरन्तर गतिशीलता से किस प्रकार चमक रहा है। तेरी गतिशीलता मुझे भी तो गतिशील बनने की प्रेरणा दे रही है।

वट्=सचमुच ही तू हे **आदित्य**=आदान करनेवाले सूर्य! **महान् असि**=महनीय है—आदरणीय है। आदान करनेवालों में तू महान् है। सारे-के-सारे समुद्र को तू ग्रहण करके अन्तरिक्षस्थ कर देता है। सब स्थानों से तू रस ले रहा है, परन्तु तेरे लेने में भी तो खूबी है कि खारे-पन को वहीं छोड़कर तू माधुर्य-ही-माधुर्य को लेता है। तुझसे पाठ पढ़कर मैं भी गुणग्राही व दोष-त्यागी बन सकूँ।

महः=तेजस्विता का पुञ्ज **सतः**=होते हुए **ते**=तेरी **महिमा**=महत्ता **पनिष्टमः**=अत्यन्त स्तुत्य है। तेजःस्वरूप तेरा ध्यान करते हुए मैं भी तेजस्विता का पाठ पढ़ूँ—तेजस्वी बनने का दृढ़ निश्चय करूँ।

देव=हे चमकने व चमकानेवाले सूर्य! आप **मह्ना**=अपनी महिमा से **महान् असि**=बड़े हो। मैं भी तो प्रतिदिन तुम्हारा दर्शन करता हुआ चमकने व चमकानेवाला बनूँ। ज्ञान की ज्योति से चमकूँ तथा उस ज्ञान-ज्योति का फैलानेवाला बनूँ। आप देव हैं—देनेवाले हैं—जिस रस को आप अपनी किरणों द्वारा ग्रहण करते हैं उसे फिर उस पृथिवी को लौटा देते हैं। मैं भी आपकी भाँति देनेवाला बनूँ। चमकने-चमकाने व देनेवाला ही तो देव होता है।

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'जमदग्नि' इस प्रकार सूर्य में प्रभु की महिमा को देखता हुआ प्रभु की विभुता का स्मरण करता है और उस 'रस'-मय प्रभु को देखता हुआ सांसारिक विषयों के रस से ऊपर उठ जाता है। इनसे ऊपर उठ जाने का परिणाम यह होता है कि वह रसमूलक व्याधियों से आक्रान्त नहीं होता और सदा 'जमद्-अग्नि' बना रहता है—इसकी जाठराग्नि सदा खाने की क्षमतावाली बनी रहती है, मन्द नहीं होती। यही तो स्वास्थ्य का रहस्य है। एवं, एक प्रभुभक्त सदा स्वस्थ रहता है।

भावार्थ—मैं सूर्य में प्रभु का दर्शन करूँ। **'योऽसावादित्ये पुरुषः सोहमस्मि'**='आदित्य में जो पुरुष है वह मैं ही हूँ' इन्हीं शब्दों में तो प्रभु अपना परिचय देते हैं।

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सूर्य में प्रभु-महिमा दर्शन

१७८९. बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥ २ ॥

सूर्य में प्रभु की महिमा का दर्शन करनेवाला 'जमदग्नि' कहता है—हे **सूर्य**=सूर्य! तू **बट्**=सचमुच **अवसा**=अपने यश से **महान् असि**=बड़ा है। किस प्रकार यह सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित कर रहा है—साढ़े नौ करोड़ मील दूर तो हमारी पृथिवी ही है—यहाँ सूर्य अपनी किरणों से किस प्रकार मलों को नष्ट करता है—रोगकृमियों को समाप्त करता है? सूर्य की इस सब महिमा को सोचकर आश्चर्य होता ही है।

हे **देव**=चमकनेवाले सूर्य! तू **सत्रा**=सचमुच ही **महान् असि**=महनीय—पूजनीय है। तू चमकता है—चमकाता है और सारे संसार को प्रकाश व आरोग्य प्रदान करता है।

हे सूर्य! तू **मह्ना**=अपनी महिमा से **देवानाम्**=सब देवों को **असुर्यः**=प्राणशक्ति देनेवालों में उत्तम तथा **पुरोहितः**=सबसे प्रथम स्थान में रक्खा हुआ है। ११ पृथिवीस्थ देव हैं, ११ अन्तरिक्षस्थ तथा ११ द्युलोकस्थ। इन ३३ देवों में सर्वप्रथम स्थान सूर्य का ही है—सबसे प्रथम रचना भी इसी की होती है, अतः यह 'पुरोहित' है और सब देवताओं में इसी से प्राणशक्ति की स्थापना होती है।

यह सूर्य वस्तुतः **अदाभ्यम्**=न दबाया जा सकनेवाला **विभु**=विशेष प्रभाववाला व व्यापक **ज्योतिः**=प्रकाश है। प्रातःसायं सूर्याभिमुख हो प्रभु का ध्यान करनेवाला स्तोता सूर्य की इस असुर्यता=प्राणदायिनी शक्ति का अनुभव करता है। उसे अनुभव होता है कि ये सूर्य-किरणें रोगकृमियों का संहार करती हुई अपने कार्य में किसी से दबती नहीं, अर्थात् 'रोगकृमि इनके मुक़ाबले में प्रबल हो जाएँगे', ऐसी सम्भावना नहीं है। **'उद्यन्नादित्यः कृमीन् हन्ति निम्लोचन् हन्ति रश्मिभिः'** यह सूर्य उदय व अस्त होता हुआ रोगकृमियों को नष्ट करता है।

'एक-एक सूर्य-किरण में किस प्रकार, क्या-क्या शक्ति रखी है' इस सबको वैज्ञानिक दृष्टि से देखता हुआ प्रभु का स्तोता इस सूर्य में प्रभु की महिमा का दर्शन करता है और उस महिमा की अनन्तता में विलीन हो जाता है।

भावार्थ—मैं सूर्य में प्रभु की महिमा का दर्शन करूँ।

सूक्त-१०

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सब आनन्दों का मूल

१७९०. उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते। उप नो हरिभिः सुतम्॥ १॥

संसार में नाना प्रकार के मद=हर्ष हैं। उन सब मदों व हर्षों को प्राप्त करानेवाले वे प्रभु ही हैं। इस प्रभु की शरण में जानेवाला व्यक्ति 'सुकक्ष' है—उत्तम शरणवाला है। यह सुकक्ष प्रभु से आराधना करता है—**मदानां पते**=आनन्द के स्वामिन् प्रभो! आप **हरिभिः**=इन्द्रियों के उद्देश्य से **नः**=हमें **सुतम्**=सोमशक्ति को **उपयाहि**=प्राप्त कराइए। इन्द्रियों की शक्ति का रहस्य सोम की रक्षा में है। यह सोम हमारी इन्द्रियों को सबल बनानेवाला है। इसके अपव्यय से इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं। दुर्बल इन्द्रियाँ दुर्गति व नरक का कारण बनती हैं। सारे रोग इसी के अभाव में उत्पन्न होते हैं और मनुष्य का जीवन कष्टमय हो जाता है।

'ये सशक्त बनी हुई इन्द्रियाँ यज्ञों में प्रवृत्त रहें' इसके लिए यह सुकक्ष प्रभु से आराधना करता है कि हे प्रभो! आप **नः**=हमें **हरिभिः**=इन इन्द्रियों से **सुतम्**=यज्ञ को **उप**=प्राप्त कराइए, अर्थात् हमारी सशक्त बनी हुई इन्द्रियाँ सदा यज्ञों में प्रवृत्त रहें।

भावार्थ—मनुष्य के दो ही महान् कर्त्तव्य हैं—१. इन्द्रियों को सशक्त बनाना, २. सशक्त इन्द्रियों को यज्ञों में प्रवृत्त रखना। ये ही दो बातें सब आनन्दों का मूल हैं।

ऋषिः—सुकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दो से चार

१७९१. द्विता यो वृत्रहन्तमो विद इन्द्रः शतक्रतुः। उप नो हरिभिः सुतम् ॥ २ ॥

यः=मनुष्य का जीवन **द्विता**=दो प्रकार से चलता है—एक तो 'इन्द्रियों को सशक्त बनाकर', दूसरे 'सशक्त इन्द्रियों को यज्ञों में प्रवृत्त करके'। वह व्यक्ति ही (क) **वृत्रहन्तमः**=वासनाओं का विनाश करनेवालों में उत्तम होता है। सशक्त इन्द्रियों को यज्ञों में लगाये रखना ही तो पापों से बचने का उपाय है। इन्द्रियाँ निर्बल हों तो भी चिड़चिड़ापन, क्रोध व खिझ इत्यादि सताते रहते हैं, और सशक्त होकर यज्ञों में प्रवृत्त न हों तो कामादि की ओर झुकाववाली हो जाती हैं, अतः दोनों ही बातें आवश्यक हैं—१. इन्द्रियों को सशक्त बनाना, २. सशक्त इन्द्रियों को यज्ञ में प्रवृत्त रखना। इन दोनों बातों के होने पर ही मनुष्य वासनाओं को समाप्त कर पाएगा। (ख) वासनाओं को समाप्त करके यह **विदः**=(वेत्ति इति विदः) ज्ञानी बनता है। वासना ही तो ज्ञान पर पर्दा डाले हुई थीं। आवरण के हटने पर वह ज्ञान चमकने लगता है। (ग) **इन्द्रः**=चमकते हुए ज्ञानैश्वर्यवाला यह 'सुकक्ष' सचमुच 'इन्द्र' होता है—परमैश्वर्यवाला होता है। (घ) **शतक्रतुः**=यह सैकड़ों प्रज्ञानों, कर्मों व संकल्पोंवाला होता है अथवा इसके सौ-के-सौ वर्ष प्रज्ञान, कर्म व संकल्पमय बीतते हैं।

इस जीवन की उन्नति के मूल में तो 'सोम' का ही स्थान है—उसी से जीवन शक्तिशाली बनता है, अतः सुकक्ष वही आराधना करता है कि **नः**=हमें **हरिभिः**=इन्द्रियों को सशक्त बनाने के उद्देश्य से **सुतम्**=सोम को=वीर्य को **उप (याहि)**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—मनुष्य सोम की रक्षा के द्वारा 'वृत्रहन्तम, विद, इन्द्र व शतक्रतु' बने। ये चारों बातें तभी होंगी यदि वह 'सशक्त बनना व सशक्त बनकर यज्ञ में प्रवृत्त होना' इन दो बातों का ध्यान करेगा।

ऋषिः—सुकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोम के द्वारा सोम की प्राप्ति

१७९२. त्वं हि वृत्रहन्नेषां पाता सोमानामसि। उप नो हरिभिः सुतम् ॥ ३ ॥

प्रभु इस सुकक्ष से कहते हैं कि हे **वृत्रहन्**=ज्ञान के आवरक कामादि के ध्वंसक! **त्वम्**=तू **हि**=निश्चय से **एषां सोमानां पाता असि**=इन उत्पन्न सोमों का पान करनेवाला है। तू शक्ति का दुरुपयोग न कर, उसे अपने अन्दर व्यापन के द्वारा पान करनेवाला बन। तू ही निश्चय से **नः**=हमारे **उप**=समीप प्राप्त होनेवाला है। वस्तुतः जो व्यक्ति वासनाओं का विनाश करता है और अपने सोम की रक्षा करता है यही प्रभु को पाने का अधिकारी होता है। यह सोम (वीर्य) ही तो सुरक्षित हुआ-हुआ उस सोम (प्रभु) को प्राप्त कराया करता है। इसके लिए तू **हरिभिः**=इन विषयों में हरण करनेवाली इन्द्रियों के द्वारा **सुतम्**=यज्ञ को **उप**=प्राप्त हो। मनुष्य यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा रहेगा तो सब व्यसनों से बचकर अवश्य प्रभु को प्राप्त करनेवाला होगा।

भावार्थ—सोम ही साधन है, सोम ही साध्य है। वीर्यरक्षा से प्रभु का दर्शन होता है।

सूक्त-११

ऋषिः—मैत्रावरुणि वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

तीन बातें

१७९३. प्र वो महे महेवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम्।
विशः पूर्वीः प्र चर चर्षणिप्राः ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मैत्रावरुणि वसिष्ठ' है—प्राणापान की साधना करनेवाला, इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में करनेवाला। यह अपने मित्रों से तीन बातें कहता है—

१. **वः**=तुम्हारी **महे वृधे**=महान् उन्नति के लिए अपने को **महे**=उस महान् प्रभु के प्रति **प्रभरध्वम्**= प्रकर्षेण ले-चलो (हृ=भृ)। प्रातःसायं नमन के द्वारा उस प्रभु के प्रति जाने से तुम्हारा जीवन अधिक और अधिक उन्नत होता चलेगा। वस्तुतः जिसके समीप उठते-बैठते हैं वैसे ही हम बन जाते हैं—दोनों समय उस प्रभु के समीप उठें-बैठेंगे तो कुछ उस-जैसे ही बन जाएँगे।

२. **प्रचेतसे**=अपने प्रकृष्ट ज्ञान के लिए—चेतना को ठीक बनाये रखने के लिए—सदा **प्र-सुमतिम्**=अत्यन्त प्रकृष्ट कल्याणी मति को **कृणुध्वम्**=कीजिए। हममें कभी भी अशुभ मति उत्पन्न न हो। यदि एक बार हम बदले की भावना से चल पड़े तो हमारी सब चेतना लुप्त हो जाएगी। हमें अपने जीवन का उद्देश्य भूल जाएगा और हम कहीं-के-कहीं पहुँच जाएँगे।

३. **चर्षणि-प्राः**=मनुष्यों का पूरण करनेवाला तू **पूर्वीः**=अपना पूरण करनेवाली **विशः**=प्रजाओं में **प्रचर**=उत्तम विचारों का प्रचार कर। तुझमें सबको उत्तम बनाने की भावना हो, तू लोगों में उन्नति की इच्छा उत्पन्न कर और उनमें उन्नति के साधक विचारों को फैलानेवाला बन।

भावार्थ—अपनी महान् उन्नति के लिए हम महान् प्रभु के चरणों में उपस्थित हों। अपने जीवन के लक्ष्य को विस्मृत न होने देने के लिए सदा कल्याणी मति बनाए रक्खें। मनुष्यों का पूरण करनेवाला बनकर, उन्नति की इच्छुक प्रजाओं में उत्तम विचारों का प्रचार करें।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रभु के व्रतों का पालन

१७९४. उरुव्यचसे महिने सुवृक्तिमिन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्राः।
तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः ॥ २ ॥

वि-प्राः=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले (प्रा-पूरणे) लोग **उरुव्यचसे**=महान् विस्तारवाले, **महिने**=विशेष महत्त्ववाले **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **सुवृक्तिम्**=जिसके द्वारा अन्यायाचरण व दुःखों का उत्तम वर्जन होता है (वृजी वर्जने) अथवा जिसके कारण जीवन की गति उत्तम होती है (व्रज गतौ), उस **ब्रह्म**=स्तोत्र को **जनयन्त**=उत्पन्न करते हैं।

गत मन्त्र में स्पष्ट कहा था कि अपनी महती उन्नति के लिए उस महान् प्रभु का सम्पर्क करो। प्रस्तुत मन्त्र में भी यही कहते हैं कि यदि अपने जीवन को विशेषरूप से पूरण करना चाहते हो, उसकी न्यूनताओं को दूर करना चाहते हो, यदि अपने जीवन से अन्यायाचरण को समाप्त करना चाहते हो तो प्रभु का स्तवन करो। यह प्रभु का स्तवन 'सुवृक्ति' है—उत्तम प्रकार से दोषों को दूर करनेवाला है।

यह जीवन के मार्ग को प्रशस्त बनानेवाला है (व्रज गतौ)। वे प्रभु महान् विस्तारवाले हैं, उनके स्तवन से स्तोता भी विशाल हृदयता को धारण करनेवाला होगा। वे प्रभु विशेष महिमावाले हैं—स्तोता भी महिमा को प्राप्त करेगा। वे प्रभु निरतिशय ऐश्वर्यवाले हैं, स्तोता भी परमैश्वर्य में भागी बनेगा।

इन सब बातों का विचार करके **धीराः**=ज्ञान में विचरण व रमण करनेवाले पुरुष **तस्य**=उस प्रभु के **व्रतानि**=व्रतों को **न मिनन्ति**=कभी हिंसित नहीं करते। प्रभु ने वेद में जो आदेश दिये हैं ये उनका पालन करते हैं। '**मन्त्रश्रुत्यं चरामसि**'='मन्त्रों में जैसा सुना है वैसा ही करते हैं', यह इनका निश्चय होता है।

भावार्थ—धीर पुरुष सदा प्रभु से उपदिष्ट व्रतों का पालन करते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

मित्रों को प्रभु-स्मरण की प्रेरणा

१७९५. इन्द्रं वाणीरनुत्तमन्युमेव सत्रा राजानं दधिरे सहध्यै।
हर्यश्वाय बर्हया समापीन्॥ ३॥

वाणीः=धीर पुरुषों की वाणियाँ अथवा वेदवाणियाँ **सत्रा**=सदा व सचमुच उस प्रभु को **एव**=ही **दधिरे**=धारण करती हैं जो—१. **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली है, बल के सब कर्मों को करनेवाला है, और सब असुरों का संहार करनेवाला है। २. **अनुत्तमन्युम्**=जिसका ज्ञान (मन्यु) परे धकेला नहीं जा सकता—खण्डित नहीं हो सकता। वे प्रभु शुद्ध, निर्दोष ज्ञानवाले हैं, अतः उस ज्ञान के खण्डन का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। ३. **राजानम्**=जो प्रभु सदा अपने ज्ञान व तेज से दीप्त हैं तथा सारे ब्रह्माण्ड को नियमित (regulated) करनेवाले हैं। ऐसे प्रभु को ये वेदवाणियाँ धारण करती हैं, धीरपुरुष भी सदा इन वाणियों के द्वारा 'इन्द्र, अनुत्तमन्यु, व राजा' कहलानेवाले उस प्रभु को ही धारण करते हैं। क्यों? **सहध्यै**=जिससे वे अपने शत्रुओं का पराभव कर सकें। जहाँ प्रभु का नामोच्चारण होता है वहाँ वासनाओं का प्रवेश ही नहीं हो पाता, उनके प्रबल होने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

एवं, प्रभु का स्मरण कितना आवश्यक है? इस बात का ध्यान करके ही वसिष्ठ कहते हैं कि हे मनुष्य! तू **आपीन्**=अपने मित्रों को **हर्यश्वाय**=उस दुःखों के हरण करनेवाले सर्वत्र व्याप्त प्रभु के लिए **संबर्हय**=सम्यक्तया आगे बढ़ानेवाला हो। हमें अपने मित्रों को भी सदा यही प्रेरणा देनी कि वे सदा उस प्रभु का ही स्मरण करें जो प्रभु उनके लिए वासनाओं का पराजय करनेवाले हैं। प्रभु-नाम-स्मरण के बिना इन वासनाओं का पराभव सम्भव नहीं, क्योंकि ये अत्यन्त प्रबल हैं। वे प्रभु ही 'इन्द्र' हैं—वे ही इनका संहार करेंगे।

भावार्थ—हम अपने मित्रों को भी प्रभु-नाम-स्मरण की प्रेरणा दें।

सूक्त-१२

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती)॥ स्वरः—मध्यमः॥

स्तोता का उपालम्भ

१७९६. यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय।
स्तोतारमिद्दधिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम्॥ १॥

जिस समय भक्त प्रभु की उपासना करते-करते कभी-कभी निराश होने लगता है तब वह इन शब्दों में उपालम्भ-सा देता हुआ कहता है—हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो ! **यत्**=यदि **यावतः**=जितने ज्ञानादि-ऐश्वर्यों के **त्वम्**=आप ईश हो **एतावत्**=इतने ऐश्वर्यों का **अहम्**=मैं **ईशीय**=ईश्वर होता तो **स्तोतारम्**=अपने स्तोता को **इत्**=निश्चय से **दधिषे**=धारण करता। मेरा स्तोता कभी आवश्यकताओं से वञ्चित नहीं रहता। उसकी वह-वह आवश्यकता अवश्य पूर्ण होती चलती। हे **रदावसो**=(रद् to rend, scratch) बड़े-बड़े अभिमानी, नास्तिक वृत्तिवाले धनी पुरुषों के धनों को समाप्त कर देनेवाले प्रभो ! मैं भी **पापत्वाय**=पाप की वृद्धि के लिए **न रंसिषम्**=धन को कभी न देता। आप भी पापवृद्धि के लिए न दें यह तो ठीक है, परन्तु मैं तो सब प्रकार की पापवृत्ति से दूर रहने का प्रयत्न करता हुआ आपका स्तोता हूँ। मेरी आवश्यकताएँ तो आप पूरी करें ही।

प्रभु संसार में अपने भक्तों की बड़ी कड़ी परीक्षा लेते हैं। यह ठीक है कि कोई भी कल्याणकृत् दुर्गति को प्राप्त नहीं हुआ करता, परन्तु उसे कड़ी परीक्षा में से उत्तीर्ण होकर अपने धैर्य का प्रमाण तो देना ही पड़ता है। यह धैर्य की परीक्षा में उत्तीर्ण होनेवाला व्यक्ति ही वशिष्ठ वशियों में श्रेष्ठ इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—'प्रभु स्तोता का धारण अवश्य करेंगे', ऐसे निश्चय से चलना ही 'धृतिमान्' होना है।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उपालम्भ का उत्तर

१७९७. शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद् विदे।
न हि त्वदन्यन्मघवन्न आप्यं वस्यो अस्ति पिता च न ॥ २ ॥

गतमन्त्र में स्तोता ने उपालम्भ दिया—उसे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि उसकी आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं हो रहीं और 'घृतलवणतण्डुलेन्धनचिन्ता' उसे सताने लगी है। प्रभु उत्तर देते हुए कहते हैं कि '**महयते**'=(मह पूजायाम्) लोकहित व सर्वभूतहित के द्वारा मेरी सच्ची उपासना करनेवाले के लिए मैं **इत्**=निश्चय से **रायः**=आवश्यक धनों को **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **शिक्षेयम्**=देता ही हूँ। **आ**=इस ब्रह्माण्ड में चारों ओर **कुहचित्**=कहीं भी **विदे**=(विद् सत्तायाम्) होनेवाले अपने भक्त के लिए मैं आवश्यक धनों को अवश्य देता ही हूँ।

यहाँ 'दिवे-दिवे' शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्रभु अपने भक्त की दैनन्दिन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए ही धन देते हैं। व्यर्थ में जोड़कर रक्षा करने की चिन्ता से भी उसे मुक्त रखते हैं। ग़लती से अज्ञानी पुरुष उसे अपनी निर्धनता के रूप में देखता है। भूतहित की भावना से कार्य में प्रवृत्त हुआ यह कहीं भी होगा, प्रभु उसका ध्यान करेंगे ही। जो प्रभु के प्राणियों का ध्यान कर रहा है तो यह कभी सम्भव है कि प्रभु उसका ध्यान न करें ?

इस उत्तर को सुनकर स्तोता साहस का संचय करके कहता है कि—

हे **मघवन्**=सब ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो ! **त्वत् अन्यत्**=आपसे भिन्न **नः**=हमारा **वस्यः**=उत्तम **आप्यम्**=मित्र **न हि**=है ही नहीं। आप ही तो हमारा कभी साथ न छोड़नेवाले मित्र हैं और वस्तुतः आपके सिवाय **पिता चन**=हमारा रक्षक भी तो **नहि अस्ति**=नहीं है। आप ही हमारे पिता हैं—आपने ही हमारा पालन करना है।

भावार्थ—प्रभुभक्त को चाहिए कि प्रभु पर विश्वास रखते हुए 'सर्वभूतहिते रतः' होने का

प्रयत्न करे। यही उसकी सच्ची उपासना होगी। प्रभु उसके सतत सेवक हैं जो औरों का सेवक बना है।

सूक्त-१३

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वसिष्ठ की प्रभु-अर्चना

१७९८. श्रुधी हवं विपिपानस्याद्रेर्बोधा विप्रस्यार्चतो मनीषाम्।
कृष्वा दुवांस्यन्तमा सचेमा ॥ १ ॥

१. हे प्रभो! आप **हवम्**=पुकार को **श्रुधी**=सुनिए। किसकी?

(क) **विपिपानस्य**=जो आपके दर्शन का अत्यन्त प्यासा है।

(ख) **अद्रेः**=जो आपके दर्शन के दृढ़ निश्चय से हटाया नहीं जा सकता।

वस्तुतः वसिष्ठ प्रभु-दर्शन के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित है। वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि आप मेरी पुकार सुनिए और मुझे दर्शन दीजिए। जैसे प्यासे को सिवाय पानी के और कुछ नहीं रुचता इसी प्रकार मेरा सन्तोष आपके दर्शन के सिवाय किसी भी और वस्तु से नहीं हो सकता। मुझे इस दर्शन के दृढ़ निश्चय से 'सन्तान-सम्पत्ति—आमोद, प्रमोद व दीर्घजीवन' आदि का कोई भी प्रलोभन पृथक् नहीं कर सकता। मैं अपने इस निश्चय पर चट्टान की भाँति दृढ़ हूँ—अद्रि हूँ।

२. **विप्रस्य**=विशेषरूप से अपने पूरण (प्रा-पूरणे) के लिए प्रयत्नशील और इसीलिए **अर्चतः**=आपकी अर्चना करते हुए मेरी **मनीषाम्**=बुद्धि को **बोध**=आप ज्ञान के प्रकाशवाला कीजिए।

हे प्रभो! आप अपने प्रिय का कल्याण करने के लिए उसकी बुद्धि को ही तो सुन्दर बना देते हैं। मैं भी आपका भक्त हूँ—आपकी अर्चना में लगा हूँ। आपकी अर्चना द्वारा अपनी न्यूनताओं को दूर करना चाहता हूँ। आप मेरी बुद्धि को बोधमय कीजिए—मुझे प्रकाश दिखाइए, जिससे मैं ठीक मार्ग का ही आक्रमण करूँ।

३. **कृष्वा दुवांसि**=(दुवस्=Wealth) आप मुझे धन प्राप्त कराइए। हे प्रभो! मैं क्यों इस धनार्जन में अपना समय नष्ट करूँ। मेरे लिए आवश्यक धन तो आपने ही प्राप्त कराना है। मेरा समय तो जीवन को पवित्र बनाने में, बुद्धि को प्रकाशमय करने में और आपकी आज्ञानुसार लोकहित में व्यतीत हो। यह प्राकृतिक शरीर आपका दिया हुआ है, इसका पोषण तो आपको ही करना है।

४. हम तो इस धन के धन्धे में न उलझकर आपको पाने के लिए ही प्रयत्नशील हों और **अन्तम्**=आपकी समीपता को **आ सचेम**=सर्वथा सेवन करनेवाले बनें।

भावार्थ—१. मेरी प्रभु-दर्शन की प्यास अत्यन्त तीव्र हो, २. मैं प्रभु-दर्शन के दृढ़ निश्चय से किसी भी प्रकार विदीर्ण (पृथक्) न किया जा सकूँ, ३. मुझमें अपने जीवन की पूर्णता के लिए सतत प्रयत्न हो, ४. इसीलिए मैं प्रभु का अर्चन करूँ, ५. प्रकाश को देखने का प्रयत्न करूँ, ६. धन को धन्धा न बनाकर प्रभु पर विश्वास से चलूँ; और ७. अन्त में प्रभु के सामीप्य का अनुभव करूँ।

वसिष्ठ की आराधना इससे भिन्न हो ही कैसे सकती है?

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'स्वयशः' नाम का जप

१७९९. न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान्।
सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि ॥ २ ॥

वसिष्ठ कहता है—१. **तुरस्य**=सब दुरितों के हिंसक प्रभो! मैं **ते**=तेरी **गिरः**=वेदवाणियों को **न**=नहीं **अपिमृष्ये**=(मृष्=forget, neglect) भूलता और न उपेक्षित करता हूँ। वसिष्ठ का तो निश्चय है कि '**मन्त्रश्रुत्यं चरामसि**'=जैसे प्रभु की मन्त्रात्मक वाणियों में हम सुनते हैं—वैसा ही करते हैं। श्रुति ही तो धर्म के लिए परम प्रमाण है। जैसा प्रभु कहते हैं—वैसा ही मैं करता हूँ। दुरित मेरे पास आ ही कैसे सकते हैं? दुरितों का तो वे प्रभु ध्वंस करनेवाले हैं।

२. हे प्रभो! **विद्वान्**=समझदार बनता हुआ मैं **असुर्यस्य**=(असुं राति) प्राणशक्ति को देनेवालों में सर्वोत्तम आपकी **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **न (मृष्ये)**=नहीं भूलता हूँ। आपकी स्तुति-कर्म में मैं कभी उपेक्षा नहीं करता। आपके सम्पर्क में रहने से तो मैं अपने में शक्ति को अनुभव करता हूँ। आपका सम्पर्क छूटा, और स्रोत से पृथक् हुई नदी की भाँति मेरा भी शक्तिजल सूखा। इसलिए ३. हे प्रभो! **सदा**=हमेशा ही मैं **ते**=आपके **स्वयशः**=स्वयं आत्मना यशवाले **नाम**=नाम का **विवक्मि**=विशेषरूप से उच्चारण करता हूँ। मैं सदा आपके स्वरूप को इस रूप में स्मरण करने का प्रयत्न करता हूँ कि आप किसी और के कारण यशवाले नहीं हैं—आपका यश आपके अपने कर्मों से हैं। मैं भी इस नाम का निरन्तर उच्चारण करता हुआ प्रयत्न करता हूँ कि ऐसे कर्म करूँ जिनसे यश का भागी बनूँ।

भावार्थ—१. मेरे कर्म वेदाज्ञानुसार हों, २. प्रभु की स्तुति द्वारा मैं प्रभु से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न न होने दूँ, ३. प्रभु के 'स्वयशः' इस नाम का उच्चारण करता हुआ मैं भी 'स्वयशः' बनने के लिए यशस्वी कर्मों को करूँ।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

भक्त की प्रभु-प्राप्ति के लिए आतुरता

१८००. भूरि हि ते सवना मानुषेषु भूरि मनीषी हवते त्वामित्।
मारे अस्मन्मघवञ्ज्योक्कः ॥ ३ ॥

वसिष्ठ ही अपनी अर्चना के अन्त में कहते हैं कि—

१. हे प्रभो! **ते**=आपके **मानुषेषु**=मनुष्यों के निमित्त **सवना**=उत्पादन **हि**=निश्चय से **भूरि**=अनन्त हैं। आपने मनुष्यों के हित के लिए अनन्त वस्तुओं का निर्माण किया है। मनुष्य से उनका परिगणन क्या सम्भव हो सकता है?

२. इसलिए **मनीषी**=बुद्धिमान् पुरुष **त्वामित्**=आपको ही **भूरि**=बार-बार **हवते**=पुकारता है। वह समझता है कि आप ही वस्तुतः उसका कल्याण करनेवाले हैं। सच्चे माता-पिता, भाई व बन्धु तो आप ही हैं। आपको पाया तो सभी कुछ पा लिया। आपको खोया तो वस्तुतः सर्वस्व ही खो दिया। ऐसा समझता हुआ यह कहता है कि—

३. हे **मघवन्**=सब ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! अब तो आप **अस्मत् आरे**=हमसे दूर **मा ज्योक् कः**=देर तक निवास मत कीजिए। मैं आपके सन्दर्शन में होऊँ, आपकी कृपा-दृष्टि मुझपर पड़े। मैं आपको अपने से ओझल न करूँ और आपकी कृपादृष्टि का पात्र बनूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आपके उपकार अनन्त हैं। मैं सदा आपको पुकारूँ और अपने को आपके समीप पाऊँ। मुझे तो तभी शान्ति होगी—तभी मेरी प्यास बुझेगी।

सूक्त-१४

ऋषिः—सुदाः पैजवनः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—शक्वरी॥ स्वरः—धैवतः॥

कामदेव का धनुष 'अधिज्य' न हो पाये

१८०१. प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत। अभीके चिदु लोककृत्सङ्गे समत्सु वृत्रहा। अस्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ १॥

१. **अस्मै इन्द्राय**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए, अर्थात् प्रभु की आराधना के लिए **पुरोरथम्**=इस शरीररूपी रथ को निरन्तर आगे ले-चलनेवाले **शूषम्**=बल को **प्र सु-अर्चत**=प्रकर्षेण उत्तमता से अलंकृत करो। (अर्च=to adorn)। प्रभु ने यह शरीररूप रथ जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए हमें दिया है। यदि हम इसका ठीक प्रयोग करते हैं तो प्रभु की अर्चना कर रहे होते हैं। किसी से दी गयी वस्तु का ठीक प्रयोग ही उसका आदर है। हम इस शरीररूप रथ को शक्ति से अलंकृत करें, जिससे यह हमें आगे और आगे ले-चलनेवाला हो। शरीररूप रथ का सशक्त रखना और इसे न बिगड़ने देना ही प्रभु का सच्चा आदर है।

२. **अभीके**=प्रभु की समीपता में रहने से **चित् उ**=निश्चय से ही वे **लोककृत्**=प्रकाश करनेवाले हैं। जब हम प्रभु की समीपता में रहते हैं तब हमारा मार्ग कभी अन्धकारमय नहीं होता।

३. **सङ्गे**=उस प्रभु का सम्पर्क होने पर **समत्सु**=संग्रामों में—कामादि वासनाओं के साथ युद्ध में **वृत्रहा**=ज्ञान को आवृत करनेवाले जीव वृत्रों को विनष्ट करनेवाला होता है।

४. **अस्माकं बोधि**=हे प्रभो! आप हमें सदा चेतानेवाले होओ **चोदिता**=आप हमारे प्रेरक होओ। वस्तुतः '**चोदनालक्षणो धर्मः**'=जिस बात की प्रेरणा वेद में है वही धर्म है। प्रभु की प्रेरणा ही मुझे धर्म के मार्ग पर ले-चलती है।

५. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो कि **अन्यकेषाम्**=इन हमारे विरोधी कामदेवादि की **ज्याकाः**=डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर ही **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ। कामदेव का तीर हमपर चल ही न सके। इसके लिए आवश्यक है कि हम प्रभु से अपना उत्तम (सु) बन्धन (दास्) बनाकर इस मन्त्र के ऋषि 'सुदास्' बन जाएँ।

भावार्थ—हम काम के शिकार न हो पाएँ।

ऋषिः—सुदाः पैजवनः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—शक्वरी॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु का आलिङ्गन

१८०२. त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम्। अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यम्। तं त्वा परि ष्वजामहे नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ २॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि—१. **त्वम्**=तूने **अधराचः**=नीचे की ओर जानेवाले (अधर+अञ्च्) **सिन्धून्**=(स्यन्दन्ते) जलों के अध्यात्मरूप रेत:कणों को **अवासृजः**=विषय-भोग का हेतु बनने से पृथक् किया है। ये रेत:कण अब ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे उज्ज्वल करने में लगे हैं। २. **अहिम्**=तू ने (अहि=navel) संसार की नाभिभूत यज्ञ को (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) **अहन्**=प्राप्त किया है। विषय-भोगों से दूर हटकर तूने अपने जीवन को यज्ञमय बनाने का प्रयत्न किया है। ३. हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप ऐश्वर्यशाली जीव! तू यज्ञों में प्रवृत्त होकर **अशत्रुः**=कामादि शत्रुओं से रहित **जज्ञिषे**=हो गया है। लोकहित में प्रवृत्त रहने से वैसे भी तेरा कोई शत्रु नहीं रहा। ४. इस यज्ञ प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ है कि **विश्वम्**=सब **वार्यम्**=वरणीय वस्तुओं का तू **पुष्यसि**=पोषण करनेवाला बना है। यज्ञ इहलोक व परलोक दोनों ही स्थानों में कल्याण करता है।

प्रभु ऐसे ही जीव से प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर कहते हैं कि **तं त्वा**=उस तुझे **परिष्वजामहे**=आलिङ्गन करते हैं। प्रसन्न पिता जैसे पुत्र को गले लगा लेता है, उसी प्रकार उल्लिखित जीवनवाला व्यक्ति भी प्रभु के आलिङ्गन को प्राप्त करता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **अन्यकेषाम्**=मेरे शत्रुओं की **ज्याकाः**=डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर ही **नभन्ताम्**=टूट जाएँ। उनका मुझपर आक्रमण न हो सके। जो व्यक्ति अपने को पूर्णरूप से प्रभु के प्रति दे डालता है, वह 'सुदाः' है और सदा क्रिया में लगे रहने से अपिजवन या पिजवन कहलाता है। यही प्रभु का प्रिय होता है और प्रभु का आलिङ्गन करता है।

भावार्थ—मैं वीर्य को भोग-साधन न बना यज्ञ-साधन बनाऊँ और प्रभु का प्रिय बनूँ।

ऋषिः—सुदाः पैजवनः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—शक्वरी॥ स्वरः—धैवतः॥

पिजवन की आराधना

१८०३. वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः। अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति। या ते रातिर्ददिर्वसु नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ ३॥

१. हे प्रभो! **विश्वाः**=हमारे न चाहते हुए भी हममें प्रवेश करनेवाले **अरातयः**=लोभादि शत्रु **वि-नशन्त**=विशेषरूप से नष्ट हो जाएँ। काम-क्रोध-लोभादि की अवाञ्छनीय वासनाएँ आपकी कृपा से हममें प्रविष्ट न हो पाएँ। हमारी हृदयस्थली से इनका विनाश हो जाए।

२. **नः**=हमें **अर्यः**=(अर्यस्य) जितेन्द्रिय=इन्द्रियों के स्वामी की **धियः**=बुद्धियाँ **सु नशन्त**=उत्तम प्रकार से प्राप्त हों। (नश्=to reach, attain) हम जितेन्द्रिय पुरुष की बुद्धि को प्राप्त करनेवाले हों।

३. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का द्रावण करनेवाले प्रभो! **यः**=जो शत्रु **नः**=हमें **जिघांसति**=मारना चाहता है **शत्रवे**=उस शत्रु के लिए आप ही **वधम्**=वध के साधनभूत अस्त्र को **अस्तासि**=फेंकनेवाले हैं। कामादि वासनाएँ हमारी शक्तियों को क्षीण करके हमारा नाश करती हैं, अतः वे हमारी शत्रु हैं। उन्हें प्रभु ही नष्ट करते हैं, मेरी शक्ति उन्हें नष्ट करने की नहीं। मेरे लिए तो वे बड़ी प्रबल हैं।

४. हे प्रभो! वस्तुतः **या**=जो **ते**=तेरी **रातिः**=देन है वह **वसु**=निवास के लिए आवश्यक धन को **ददिः**=देनेवाली है। जो भी व्यक्ति प्रभु का अनन्य भक्त बनता है—अनन्य भक्त बनकर कामादि वासनाओं के नाश के लिए प्रयत्नशील होता है, वह नित्याभियुक्त व्यक्ति भूखा थोड़े ही मरता है। प्रभु की देन उसे निवास के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराती है। उसका योगक्षेम कभी रुक नहीं जाता।

५. अन्त में पिजवन यही आराधना करता है कि **अन्यकेषाम्**=इन विलक्षण शक्तिवाले कामादि शत्रुओं की **ज्याकाः**=धनुषों की डोरियाँ **अधिधन्वसु**=इनके कमानों पर ही **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ। हे प्रभो! आपने ही इनसे मेरी रक्षा करनी है।

भावार्थ—मैं भी पिजवन की इस पञ्चविध प्रार्थना को करनेवाला बनूँ, परन्तु स्वयं भी (अपि) प्रयत्नशील (जवन) बना रहूँ।

सूक्त-१५

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः, प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'ब्रह्म' का उपासक 'ब्रह्म-सा' बन जाता है

१८०४. रेवाँ इद्रेवत स्तोता स्यात्त्वावतो मघोनः। प्रेदु हरिवः सुतस्य॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि काण्व प्रियमेध (आङ्गिरस)' हैं। इन दोनों की मौलिक भावना समान है। मेधातिथि का अर्थ है—'निरन्तर मेधा की ओर चलनेवाला' तथा प्रियमेध का अर्थ है—'प्रिय है बुद्धि जिसको'। बुद्धि को महत्त्व देनेवाला यह प्रियमेध प्रभु से कहता है कि संसार में सामान्यतः देखा जाता है कि **रेवतः**=धनवाले का **स्तोता**=उपासक **इत्**=निश्चय से **रेवान्**=धनवाला **स्यात्**=हो जाता है। वस्तुतः जो जिसका उपासक बनता है वह वैसा ही हो जाता है। **'हीयते हि मतिस्तात हीनैः सह समागमात्। समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम्'**, हीनबुद्धिवालों के समीप उठने-बैठने से मनुष्य हीनबुद्धिवाला हो जाता है, अपने-जैसों में रहने से वैसा ही बना रहता है और विशिष्ट पुरुषों के सम्पर्क में विशिष्टता का लाभ करता है। ऐसी स्थिति में हे **हरिवः**=सब प्रकार के अपकर्ष के हरण करनेवाले प्रभो! **त्वावतः**=आपके समान **मघोनः**=ज्ञानैश्वर्यसम्पन्न के तथा **सुतस्य**=सम्पूर्ण निर्माण व ऐश्वर्य के प्रभु के सम्पर्क में **प्र इत् उ**=आपका स्तोता निश्चय से प्रकर्ष को प्राप्त करेगा ही।

लौकिक धनी का उपासक धन की कमी से ऊपर उठ जाता है तो क्या प्रभु का उपासक सब प्रकार की कमियों से ऊपर न उठ जाएगा? हे प्रभो! क्या आप अपने उपासक की न्यूनता का हरण करके अपने 'हरिवान्' नाम को सार्थक न करेंगे? क्या 'मघवान्' के सम्पर्क में आकर यह स्तोता भी मघवान् न बनेगा? आप 'सुत' हैं—निर्माण व ऐश्वर्य के स्वामी हैं। आपका स्तोता भी निर्माता व ऐश्वर्य-सम्पन्न ही बनेगा। लौकिक धनी का स्तोता लौकिक धन प्राप्त करता है तो आपका स्तोता आपको ही प्राप्त करेगा।

भावार्थ—स्तोता, जिसकी स्तुति करता है, उस-जैसा ही बन जाता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः, प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु का ज्ञानीभक्त या उक्थशंस व गायत्र

१८०५. उक्थं च न शस्यमानं नागो रयिरा चिकेत। न गायत्रं गीयमानम्॥ २॥

२२५ संख्या पर इस मन्त्र का व्याख्यान हो चुका है। सामान्य अर्थ इस प्रकार है—

अ-गो-रयिः=जो ज्ञानरूप धनवाला नहीं है, वह व्यक्ति ऋग्वेद के **उक्थम्**=उक्थों को—पदार्थों के वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा प्रभु की महिमा के प्रतिपादक मन्त्रों को **च न**=तथा **शस्यमानम्**=यजुर्वेद के शंसों को—जीवों के कर्त्तव्यों में छिपी परस्पर सम्बद्धता के द्वारा प्रभु के रचना-सौन्दर्य

को **गीयमानम्**=गाये जाते हुए **गायत्रम्**=प्रभु के ज्ञान द्वारा त्राण करनेवाले सामों को **न आचिकेत**=पूरे रूप से नहीं समझता है। प्रभु की महिमा को ज्ञानधनी ही समझ पाता है।

भावार्थ—मैं ज्ञानी बनूँ, जिससे प्रभु का ज्ञानी भक्त बन पाऊँ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः, प्रियमेधश्चाङ्गिरसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

हमारी खाने-पीने की ही दुनिया न हो

१८०६. मा न इन्द्र पीयत्नवे मा शर्धते परा दाः। शिक्षा शचीवः शचीभिः ॥ ३ ॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हमें **पीयत्नवे**=(पीयते-drinks)=पीने में ही आनन्द लेनेवाले पुरुष के लिए **मा**=मत **परादाः**=अपने से दूर करके दे डालिए तथा **शर्धते**=जो खा-पीकर कुत्सित वायु को ही निकाल रहा है, उसके लिए भी **मा**=मत **परादाः**=दे डालिए, अर्थात् मेरा उठना-बैठना उन्हीं पुरुषों में न हो जिनकी दुनिया केवल खाने-पीने की है—जो खाते-पीते हैं और लेटे-लेटे कुत्सित शब्द ही करते रहते हैं। इनके सम्पर्क में रहकर मैं भी ऐसा ही न बन जाऊँ। वस्तुतः क्या यह मानव-जीवन है? नहीं, कभी नहीं। यह तो पशुओं से भी गया-बीता जीवन है। हे प्रभो! मुझे विषय-विलासमय इस तमोगुणी जीवन से ऊपर उठाइए। आप 'इन्द्र' हैं, आपका स्तोता बनकर मैं 'इन्द्रियों का अधिष्ठाता' बनूँ न कि 'इन्द्रियों का दास'।

शचीवः=हे प्रभो! आप 'शचीवन्' हैं। नि० ३-३, १-११, २-१ 'प्रज्ञा-वाङ्-कर्म' के पति हैं। आप ज्ञानस्वरूप तो हैं ही, वेदवाणी के आप पति 'ब्रह्मणस्पति' व 'बृहस्पति' कहलाते हैं, आपके अन्दर स्वाभाविक क्रिया है। हे शचीवन्! मुझे भी **शचीभिः**=प्रज्ञा, वेदवाणियों व वेदानुकूल कर्मों से **शिक्ष**=शिक्षित व शक्ति-सम्पन्न कीजिए। मैं प्रज्ञावाला होकर वेदवाणी का अध्ययन करूँ, वेदानुकूल कर्मों में अपने जीवन का यापन करूँ और इस प्रकार मेरा जीवन सात्त्विक हो।

भावार्थ—मैं खाने-पीने की ही दुनिया में न विचर कर बुद्धि, ज्ञान व कर्म के क्षेत्र में विचरण करूँ।

सूक्त-१६

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रकाशमय लोक की प्राप्ति

१८०७. एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम्।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र की व्याख्या ३४८ संख्या पर इस प्रकार की गयी है—

इन्द्र=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **हरिभिः**=इन हरणशील इन्द्रियों के द्वारा **कण्वस्य**=मेधावी पुरुष की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **उप-आयाहि**=समीपता से प्राप्त कर, अर्थात् मेधावी पुरुष की भाँति प्रभु के प्रसाद के लिए, न कि लौकिक प्रासादों के लिए, प्रार्थना कर और प्रयत्न करके **अमुष्य**=उस **दिवः**=प्रकाशमय **शासतः**=सारे ब्रह्माण्ड के शासक प्रभु के **दिवम्**=प्रकाशमय लोक को **यय**=प्राप्त कर। हे **दिवावसो!**=ज्ञानरूप वास्तविक धनवाले जीव! ऐसा ही तुझे करना उचित है।

भावार्थ—मनुष्य 'दिवावसु'=ज्ञानधनी बने।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

मर्यादामय जीवन

१८०८. अत्रा वि नेमिरेषामुरां न धूनुते वृकः ।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ २ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नीपातिथि'=(नीप deep) सदा गहराई की ओर चलनेवाला है, जो विषयों की आपातरमणीयता से आकृष्ट नहीं होता, अपितु उनके तत्त्व तक पहुँचकर अपने को कभी उनका शिकार नहीं होने देता। **एषाम्**=इन नीपातिथि-जैसे व्यक्तियों की **अत्र**=इस मानव-जीवन में **वि**=विशिष्ट **नेमिः**=मर्यादा होती है। ये नेमिवृत्ति होते हैं। वेदोपदिष्ट मार्ग से कभी विचलित नहीं होते। प्रत्येक क्षेत्र में इनका जीवन एक विशिष्ट मर्यादा को तोड़ नहीं देता। वासनाओं को तो ये **वि-धूनुते**=उस प्रकार विशेषरूप से कम्पित करके दूर फेंक देते हैं **न**=जैसे कि **वृकः**=भेड़िया **उराम्**=भेड़ को। भेड़िया भेड़ को नष्ट कर देता है—नीपातिथि निकृष्ट भावों को नष्ट करता है।

यह दिवावसु=ज्ञानरूप धनवाला बनता है और अपना आत्मोद्बोधन करता हुआ कहता है कि **दिवावसो**=हे दिवावसो! **दिवः**=ज्ञानमय **अमुष्य**=उस **शासतः**=सारे ब्रह्माण्ड के शासक प्रभु के **दिवं यय**=प्रकाशमय लोक को तू प्राप्त कर।

भावार्थ—वासना का क्षय ही प्रभु-प्राप्ति का साधन है।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

संयमी विद्वान् का उपदेश

१८०९. आ त्वा ग्रावा वदन्निह सोमी घोषेण वक्षतु ।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ ३ ॥

प्रभु कहते हैं कि हे नीपातिथे! (तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की इच्छावाले जीव!) **त्वा**=तुझे **सोमी**=सोम-शक्ति का (वीर्य-शक्ति का) अपने में संयम करनेवाला **ग्रावा**=विद्वान् (विद्वांसो हि ग्रावाणः श० ३.९.३.१४) **आवदन्**=ज्ञान-विज्ञान का उपदेश देता हुआ **घोषेण**=वेदमन्त्रों के उच्चारण से **इह**=इस प्रकाशमय लोक में **वक्षतु**=प्राप्त कराए।

आचार्य को विद्वान् तो होना ही चाहिए, विद्वत्ता के साथ उसका ब्रह्मचारी=संयमी जीवनवाला होना भी आवश्यक है। वह व्यापक ज्ञान को प्राप्त करानेवाला हो (आ)। वेदमन्त्रों के उच्चारण से आचार्य विद्यार्थी को ज्ञान देता है और उसे प्रकाशमय लोक में प्राप्त कराता है।

जीव का यही मौलिक कर्त्तव्य है कि वह 'दिवावसु'=ज्ञान धनवाला बने और उस प्रकाशमय ब्रह्माण्ड के शासक प्रभु के प्रकाशमय लोक को प्राप्त करे।

भावार्थ—हम संयमी विद्वान् के शिष्य बनें।

सूक्त-१७

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—द्विपदागायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

जीवन के संयम से प्रभु का संयम

१८१०. पवस्व सोम मन्दयन्निन्द्राय मधुमत्तमः ॥ १ ॥

१८११. ते सुतासो विपश्चितः शुक्रा वायुमसृक्षत ॥ २ ॥

१८१२. असृग्रं देववीतये वाजयन्तो रथाइव ॥ ३ ॥

'जमदग्निः भार्गवः' इन मन्त्रों का ऋषि है—जिसकी जाठराग्नि ठीक भक्षण (जमु अदने) करनेवाली है और जो बड़ा तेजस्वी है। यह गतमन्त्र के 'सोमी' आचार्य से सोमरक्षा का महत्त्व समझता है और इस सुरक्षित सोम के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहता है कि—

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू १. **मधुमत्तमः**=जीवन में सर्वाधिक माधुर्य को लानेवाली है। वस्तुतः सोम इस शरीर में अत्यन्त सारभूत वस्तु है। इस सोम का अपव्यय होने पर मनुष्य निर्बल व चिड़चिड़ा हो जाता है—इसके जीवन में से माधुर्य जाता रहता है। २. **मन्दयन्**=तू अपनी रक्षा करनेवाले को हर्षित करता है। सोम के सुरक्षित होने पर मनुष्य जीवन में उल्लास का अनुभव करता है। ३. हे सोम तू **इन्द्राय पवस्व**=इस सोमपान करनेवाले, इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को पवित्र बना। सोम की रक्षा से मनुष्य की प्रवृत्ति पाप की ओर न होकर जीवन में पवित्रता का संचार होता है। ४. **ते**=ये **सुतासः**=उत्पन्न हुए-हुए सोम **विपश्चितः**=मनुष्य को सूक्ष्म बुद्धिवाला बनाते हैं, जिससे वह प्रत्येक पदार्थ को विशेष सूक्ष्मता से देखता हुआ चिन्तनशील बनता है। ५. **शुक्राः**=(शुच दीप्तौ) ये सोम जीवन को अधिक और अधिक उज्ज्वल बनाते हैं। इनसे जीवन में दीप्ति का संचार होता है। 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी इससे चमक उठते हैं। ६. **वायुम् असृक्षत**=ये जीव को (वा गतौ) बड़ा गतिशील बनाते हैं। इनके अभाव में मनुष्य अकर्मण्य बन जाता है। ७. ये सोम **वाजयन्तः**=मनुष्य को शक्तिशाली बनानेवाले हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण शक्ति के मूल ये ही हैं। मूल क्या? ये ही तो शक्ति हैं। ८. **रथाः इव**=ये जीवन-यात्रा को पूर्ण करने के लिए रथ के समान हैं। इनके अभाव में जीवन नहीं—मृत्यु है। जीवन ही नहीं तो जीवन-यात्रा की पूर्ति का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। ९. ये जीवन-यात्रा को पूर्ण करके **देववीतये**=उस प्रभु को प्राप्त करने के लिए **असृग्रन्**=रचे गये हैं। सोम-सृजन का मुख्य उद्देश्य प्रभु-प्राप्ति है। ये सुरक्षित होकर, मनुष्य की ऊर्ध्वगति के द्वारा, उसे ब्रह्म के समीप पहुँचाते हैं। इन सोमों से उस सोम (परमात्मा) को ही तो प्राप्त करना है।

भावार्थ—मैं संयमी आचार्य से शिक्षित हो संयमी जीवनवाला बनूँ। जीवन के संयम से प्रभु का संयम (अपने में बाँधनेवाला) करनेवाला होऊँ।

सूक्त-१८

ऋषिः—परुच्छेपो दैवोदासिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अत्यष्टिः ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रभु की कृपा कब?

१८१३. अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोः सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशोचिष आजुह्वानस्य सर्पिषः ॥ १ ॥

४६५ संख्या पर इस मन्त्र का व्याख्यान हो चुका है। सरलार्थ इस प्रकार है—

'परुच्छेप'=अङ्ग-अङ्ग में—पर्व-पर्व में—शक्ति का निर्माण करनेवाला 'दैवोदासि'=उस देव का दास कहता है कि मैं १. **अग्निम्**=आगे ले-चलनेवाले प्रभु को २. **होतारम्**=सम्पूर्ण उन्नति-

साधक पदार्थों के देनेवाले, ३. **वसोः दास्वन्तम्**=निवास के लिए आवश्यक धन देनेवाले, ४. **सहसः सूनुम्**= बल-उत्पादक शक्ति पैदा करनेवाले ५. **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ ६. **विप्रं न जातवेदसम्**=विद्वान् ब्राह्मणों की भाँति मुझमें ज्ञान उत्पन्न करनेवाले उस प्रभु को **मन्ये**=जानने का प्रयत्न करता हूँ— **यः**=जो **ऊर्ध्वया**=उत्कृष्ट **देवाच्या**=देवों को प्राप्त होनेवाली **कृपा**=सामर्थ्य व दया से **देवः**=हमें सब पदार्थों को देनेवाला है तथा **स्वध्वरः**=हमारे जीवनों को उत्तम और हिंसारहित बनानेवाला है।

परन्तु यह प्रभुकृपा कब प्राप्त होती है—

घृतस्य=मलों का क्षरण करनेवाली (घृ=क्षरण) ज्ञानदीप्ति की (घृ=दीप्ति) **विभ्राष्टिम्**=चमक के **अनु**=पश्चात्। कैसी ज्ञानदीप्ति के—

१. **शुक्रशोचिषः**=शुद्ध निर्मल दीप्तिवाले

२. **आजुह्वनस्य**=सर्वथा त्यागशील पुरुष की तथा

३. **सर्पिषः**=(सृप् गतौ) गतिशील पुरुष की,

अर्थात् जो ज्ञान चमकता है, त्यागवाला है तथा गतिमयतावाला है, उस ज्ञान की चमक के पश्चात् प्रभु हमारे जीवनों को 'उत्तम व हिंसाशून्य बनानेवाले होते हैं।'

भावार्थ—मैं ज्ञान को दीप्त करूँ, त्यागशील व क्रियामय जीवनवाला बनूँ, जिससे प्रभु की कृपा प्राप्त करूँ।

ऋषिः—परुच्छेपो दैवोदासिः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अत्यष्टिः॥ स्वरः—गान्धारः॥

यजिष्ठ का यजन

१८१४. यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां विप्र मन्मभिर्विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः।
परिज्मानमिव द्यां होतारं चर्षणीनाम्।
शोचिष्केशं वृषणं यमिमा विशः प्रावन्तु जूतये विशः॥ २॥

परुच्छेप=अङ्ग-अङ्ग में शक्ति का निर्माण करनेवाला भक्त कहता है कि हे **अङ्गिरसां विप्र**=अङ्गरसवालों, अर्थात् शक्तिशालियों का विशेषरूप से पूरण करनेवाले प्रभो! **यजिष्ठम्**=सर्वाधिक दान देनेवाले **ज्येष्ठम्**=सदा सर्वाधिक वर्धमान **त्वा**=आपको **यजमानाः**=यज्ञ के स्वभाववाले हम **मन्मभिः**=मननीय स्तोत्रों के द्वारा **हुवेम**=पुकारते हैं। हे **शुक्र**=शुद्धस्वरूप परमात्मन्! उन **मन्मभिः**=मननीय स्तोत्रों से आपको पुकारते हैं जो **विप्रेभिः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। आपके स्तोत्रों से हमें ही तो प्रेरणा प्राप्त होती है और हमारे जीवन न्यूनताओं से रहित होकर पूर्ण होते हैं।

हे प्रभो! मैं आपका निम्नरूप में स्मरण करता हूँ—१. **परिज्मानम् इव द्याम्**=आप इस निरन्तर गतिशील प्रकाशमय सूर्य की भाँति हैं। आपका उपासक मैं भी गति और प्रकाश को अपनाऊँ।

२. **चर्षणीनाम्**=(कर्षणीनाम्) कृषि करनेवाले श्रमशील मनुष्यों को आप **होतारम्**=सब-कुछ देनेवाले हैं। मैं भी इस तत्त्व को समझूँ कि आपकी कृपा मुझे परिश्रम करने पर ही प्राप्त होगी और यह समझकर 'श्रम' को अपने जीवन का मूलतत्त्व बनाऊँ।

३. **शोचिष्केशम्**=(शोचि—केश) आप प्रकाशमय किरणोंवाले हैं अथवा (शोचिष्क+ईश)

सब ज्योतियों के ईश है। मैं भी अपने ज्ञान के प्रकाश को निरन्तर बढ़ाऊँ।

४. **वृषणम्**=आप शक्तिशाली हैं और सभी पर सुखों की वर्षा करनेवाले हैं। मैं भी ऐसा ही बनूँ।

५. **यम्**=जिस आपको **इमाः विशः**=ये सब प्रजाएँ **प्रावन्तु**=प्रकर्षेण अपने में दोहन का प्रयत्न करें (अव्=भागदुघे)। वस्तुतः प्रभु का अपने में दोहन किये बिना मनुष्य का उत्थान सम्भव कहाँ? **विशः**=सब प्रजाएँ **जूतये**=(going on) निरन्तर आगे बढ़ने के लिए **प्रावन्तु**=आपकी भावना को अपने में सुरक्षित करें। प्रभु के स्मरण से ही मनुष्य की निरन्तर उन्नति होती है।

भावार्थ—मैं प्रभु का स्मरण करूँ, जिससे १. निरन्तर गतिशील २. प्रकाशमय ३. श्रम को महत्त्व देनेवाला ४. ज्ञान की सम्पत्तिवाला तथा ५. शक्तिशाली बनूँ।

ऋषिः—परुच्छेपो दैवोदासिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अत्यष्टिः ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

परुच्छेप के जीवन की तीन बातें

१८१५. स हि पुरू चिदोजसा विरुक्मता दीद्यानो भवति द्रुहन्तरः परशुर्न द्रुहन्तरः।
वीडु चिद्यस्य समृतौ श्रुवद्वनेव यत्स्थिरम्।
निष्षहमाणो यमते नायते धन्वासहा नायते ॥ ३ ॥

१. **सः**=यह परुच्छेप **हि**=निश्चय से **विरुक्मता**=विशेष दीप्तिवाले **ओजसा**=ओज से **दीद्यानः**=चमकता हुआ **पुरुचित्**=बहुत बड़ी भी अथवा अपना पालन व पोषण करनेवाली **द्रुहम्**=द्रोह की भावना को **तरः**=तैरनेवाला होता है। यह परुच्छेप किसी व्यक्ति को नष्ट करके अपना महान् पोषण हो सकने पर भी द्रोह—जिघांसा की वृत्ति को तैर जाता है। परुच्छेप तो **परशुः न**=जैसे कुल्हाड़ा वृक्ष का काटनेवाला होता है, इसी प्रकार **द्रुहन्तरः**=द्रुहन्तर होता है—द्रोह की भावना को तैर जानेवाला होता है।

२. यह परुच्छेप वह होता है **यस्य**=जिसकी **समृतौ**=सङ्गति में **यत्**=जो **वीडु चित्**=अत्यन्त बलवान् भी **स्थिरम्**=स्थिर हृदय है वह भी **वना इव**=जलों की भाँति **श्रुवत्**=सुनाई पड़ता है। परुच्छेप के सम्पर्क में कठोर-से-कठोर हृदय भी पिघल जाता है और दयार्द्र हो उठता है। यह परुच्छेप स्वयं तो जिघांसा की वृत्ति से ऊपर उठा हुआ होता ही है, यह अपने सम्पर्क में आनेवाले दूसरे कठोर हृदय पुरुष को भी दयार्द्र व कोमल कर देता है।

३. **निःषहमाणः न अयते**=सब बुरी वृत्तियों का पराभव-सा करता हुआ यह अपने जीवन में गति करता है। **धन्वासहा न अयते**=अपने धनुष से शत्रुओं का पराभव करनेवाले के समान यह गति करता है। प्रणव-ओम् ही इसका धनुष है—इस प्रणवरूप धनुष के द्वारा यह कामादि सब शत्रुओं का पराभव कर डालता है। **यमते**=यह अपने जीवन में काम, क्रोध, लोभ—सभी का नियमन करके चलता है। ये कामादि उसपर प्रभुत्व नहीं करते, अपितु परुच्छेप ही इन्हें अपने वश में रखता है।

भावार्थ—परुच्छेप के जीवन में निम्न तीन बातें होती हैं—

१. यह द्रोह की भावना से ऊपर होता है। २. स्वयं दयार्द्र होता हुआ औरों को भी दयार्द्र बनाता है। ३. काम, क्रोध, लोभ को वश में रखता है।

इति नवमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

नवमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—अग्निः पावकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विष्टारपङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ज्ञान-कर्म-उपासना

१८१६. अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यां३ दधासि दाशुषे कवे ॥ १ ॥

प्रभु प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'अग्नि-पावक' से, जिसने अपने जीवन को उन्नतिशील व पवित्र बनाया है, कहते हैं—हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! हे **विभावसो**=ज्ञान को ही वास्तविक धन समझनेवाले जीव! **तव**=तेरे **श्रवः**=श्रवणसाध्य ज्ञान **वयः**=गतिरूप कर्म (वय=गतौ) तथा **अर्चयः**=(अर्च=पूजायाम्) उपासनाएँ **महि भ्राजन्ते**=खूब दीप्त होती हैं। अग्नि=प्रगतिशील जीव सदा अपने ज्ञान को बढ़ाने के दृष्टिकोण से ही क्रियाशील रहता है और इस प्रकार ज्ञान के साथ कर्मों को करता हुआ प्रभु का सच्चा उपासक बनता है। इसके 'ज्ञान, कर्म व अर्चन' सभी खूब चमकनेवाले—देदीप्यमान होते हैं।

परन्तु यह अग्नि=प्रगतिशील जीव इस प्रकार उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता हुआ भी पावक—पवित्र बना रहता है। किसी प्रकार के गर्व की भावना को अपने अन्दर उत्पन्न नहीं होने देता। यह प्रभु की अर्चना इन शब्दों में करता है—

हे **बृहद्भानो**=अत्यन्त बढ़े हुए—निरतिशय प्रकाशवाले प्रभो! हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन्—अन्तर्यामितया सब वस्तुओं के तत्त्व को जाननेवाले प्रभो! आप ही तो **दाशुषे**=आपके प्रति समर्पण करनेवाले जीव के लिए **शवसा**=(शवतिः गतिकर्मा) गति व क्रिया के साथ **वाजम्**=(वज गतौ, गतिः—ज्ञानम्) ज्ञान को तथा **उक्थ्यम्**=स्तोत्रों में साधुता को—अर्थात् उत्तम उपासना-वृत्ति को **दधासि**=धारण करते हैं। आपकी कृपा से ही तो 'क्रियाशीलता, ज्ञान व उपासना की वृत्ति' प्राप्त होती है। यह सब तो आपकी ही देन है (These are the blsessing bestowed upon us by Thee), इसमें हमारा तो कुछ है ही नहीं।

इस प्रकार निरहंकारता व सौम्यता के साथ इस अग्नि के 'कर्म, ज्ञान व उपासना' और भी अधिक चमक उठते हैं—उसका जीवन सुतरां पवित्र बन जाता है। वह दिव्यता को प्राप्त कर दिव्यता के दर्प से अभिभूत नहीं हो जाता और इस प्रकार उसकी दिव्यता और अधिक दिव्य बन जाती है।

भावार्थ—मैं ज्ञानी बनूँ, ज्ञानपूर्वक कर्म करूँ और इन कर्मों को प्रभु-चरणों में अर्पित करता हुआ प्रभु का सच्चा उपासक होऊँ।

ऋषिः—अग्निः पावकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विष्टारपङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

पवित्र व क्रियाशील तेजस्विता (प्रकृति के समीप)

१८१७. पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे ॥ २ ॥

'अग्नि-पावक'=प्रगतिशील-पवित्र जीव से ही प्रभु कहते हैं—

पावकवर्चाः=तू पवित्र करनेवाली तेजस्वितावाला है। वस्तुतः 'वर्चस्' शरीर में सब प्रकार के रोगकृमियों को समाप्त करता हुआ शरीर को अत्यन्त निर्मल बनाता है और मन को भी द्वेषादि मलों से मलिन नहीं होने देता। **शुक्रवर्चाः**=(शुक् गतौ) तू गतिशील तेजस्वितावाला है, तेरी तेजस्विता तुझे सदा क्रियामय बनाये रखती है। इस प्रकार तू **अनूनवर्चाः**=न्यूनता को उत्पन्न न होने देनीवाली तेजस्वितावाला है। तेज के दो ही कार्य हैं—१. प्रथम मल को दूर करके पवित्र बनाना और २. सब प्रकार की रुकावटों को दूर करके गतिशील बनाना। इन दोनों बातों के होने पर मनुष्य में न्यूनता नहीं आती।

प्रभु कहते हैं कि 'पावक, शुक्र व अनूनवर्चस्वाला' होता हुआ तू **भानुना**=ज्ञान की दीप्ति से **उत् इयर्षि**=ऊर्ध्वगतिवाला होता है। तेजस्विता व ज्ञान का प्रकाश—दोनों मिलकर तुझे उन्नत करनेवाले होते हैं।

पुत्रः=तू पुत्र है, **मातरा**=अपने माता-पिता—द्युलोक व पृथिवीलोक के अनुकूल **विचरन्**=गति करता हुआ, **उपावसि**=उनसे अपने को दूर न ले-जाता हुआ तू (उप) अपनी रक्षा करता है (अवसि)। द्यौष्पिता, पृथिवीमाता इन मन्त्रांशों से यह स्पष्ट है कि द्युलोक पिता है और पृथिवी माता है तथा जीव उनका पुत्र है। उनके अनुकूल चलता हुआ यह अपने को पु—पवित्र बनाता है, और त्र—अपना त्राण करता है। 'द्यौः उग्रा, पृथिवी च दृढा' द्युलोक सूर्य व सितारों से तेजस्वी है—यह भी अपने को ज्ञान से तेजस्वी बनाता है। पृथिवी दृढ़ है—यह भी अपने शरीर को शक्तिशाली बनाता है। अपने को ऐसा बनाने के लिए ही यह उप=उनके समीप रहता है। इसका जीवन कृत्रिम नहीं हो जाता, अपितु स्वाभाविक बना रहता है। भोजनाच्छादनादि में यह बहुत बखेड़ा नहीं करता, भोजनों को अधिक पकाता नहीं रहता, वस्त्रों की संख्या को बढ़ाता नहीं रहता। वस्तुतः 'पवित्रता व दीर्घजीवन का रहस्य' प्रकृति के समीप बने रहना ही है (उप)। आधुनिक युग में तथाकथित सभ्यता के विकास में जीव प्रकृति से सुदूर चला गया और कुछ कटु अनुभवों से उसने फिर (प्रकृति की ओर लौटने) 'Back to the Nature' का नारा लगाया।

वस्तुतः जीव अपने माता-पिता पृथिवीलोक व द्युलोक के समीप रहता हुआ ही **उभे**=दोनों **रोदसी**=लोकों का—द्यावापृथिवी का **पृणाक्षि**=पालन करता है। पिण्ड में शरीर ही पृथिवीलोक है तथा मस्तिष्क द्युलोक। जब हम अपने जीवन को प्रकृति से दूर व अस्वाभाविक नहीं बनने देते तब वस्तुतः अपने शरीर व मस्तिष्क को स्वस्थ, सुरक्षित व सुन्दर बनाये रखते हैं। अस्वाभाविकता ही हमें बीमार व कुण्ठमति बना देती है।

भावार्थ—मैं शारीरिक तेजस्विता व मस्तिष्क की दीप्ति प्राप्त करके उन्नत होऊँ। यथासम्भव स्वाभाविक जीवन बिताता हुआ स्वस्थ व सूक्ष्मबुद्धिवाला रहूँ।

ऋषिः—अग्निः पावकः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—सतोबृहती॥ स्वरः—पञ्चमः॥

सुन्दर जीवन

१८१८. ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः।
त्वे इषः सं दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः॥ ३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अग्नि-पावक', प्रभु का ध्यान करता हुआ कहता है—१. **ऊर्जः नपात्**=आप मेरी शक्ति को न गिरने देनेवाले हैं (ऊर्ज्=शक्ति, न=नहीं, पात=गिरने देनेवाला)। सदा आपके

समीप रहने से मैं व्यसनों से बचा रहता हूँ—भोगों में न फँसने से रोगों का शिकार भी नहीं होता, मेरी शक्ति स्थिर रहती है। २. **जातवेदः**=आप प्रत्येक उत्पन्न हुई वस्तु को जानते हैं—प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान हैं। मैंने कर्म किया और आपने जाना, किया ही क्या, करने की सोची और आपने मेरी भावना जानी। आपसे मेरा छिपा ही क्या है, अतः आपके सामने ही धर्म के मार्ग का उल्लंघन करके आपका निरादर थोड़े ही करूँगा ? ३. **सुशस्तिभिः मन्दस्व**=आप मेरे उत्तम शंसनों व स्तुतियों द्वारा आनन्दित हों। मेरी आराधनाएँ आपको रिझाने में समर्थ हों। मैं अपनी स्तुतियों से आपको प्रसन्न कर सकूँ। ४. **धीतिभिः हितः**=आप ध्यान-क्रियाओं के द्वारा मुझमें स्थापित होते हैं। सर्वव्यापकता के नाते आप सर्वत्र हैं, परन्तु मैं ध्यान से ही तो आपको अपने अन्दर प्रतिष्ठित कर पाता हूँ। मेरे लिए तो आपकी प्रतिष्ठा मेरे हृदय-मन्दिर में तभी होती है जब मैं ध्यानावस्थित होकर आपका दर्शन करने का प्रयत्न करता हूँ। ५. ऐसे ही लोग जोकि ध्यान से आपको हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित पाते हैं **त्वे इषः सन्दधुः**=आप में स्थित होते हुए प्रेरणाओं को धारण करते हैं। आपकी प्रेरणा को सुनते हैं और तदनुसार ही अपने जीवन को बनाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे ६. **भूरिवर्पसः**=(वर्पस्=form, figure या praise) बड़ी सुन्दर आकृतिवाले होते हैं—आपके दर्शन के आनन्द की झलक उनके चेहरों को भी दीप्त करती है और उनके मुख से आपका अधिकाधिक स्तवन होने लगता है ७. **चित्र-ऊतयः**=इनका जीवन अद्‌भुत रक्षणोंवाला होता है। उस अमृत प्रभु के रक्षण में इनपर कोई भी आसुर वृत्ति आक्रमण कर ही कैसे सकती है ? अमृत आपसे आवेष्टित होने पर मृत्यु इन तक पहुँच ही कैसे सकती है ? ८. **वाम-जाताः**=परिणामतः इनका जीवन (जात) बड़ा सुन्दर (वाम) बन जाता है। प्रभु के दर्शन में जीवन सुन्दर नहीं बनेगा तो बनेगा ही कब ?

भावार्थ—प्रभु की उपासना में मेरा जीवन सुन्दर, सुन्दरतर व सुन्दरतम होता चले।

ऋषिः—अग्निः पावकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—सतोबृहती ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

गोधन और जीवन-सौन्दर्य

१८१९. इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य।
स दर्शतस्य वपुषो वि राजसि पृणक्षि दर्शतं क्रतुम् ॥ ४ ॥

गत मन्त्र में सुन्दर जीवन का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में सुन्दर जीवन के निर्माण के प्रमुख साधन का संकेत है। प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=उन्नति के इच्छुक जीव! हे **अमर्त्य**=असमय में शरीर को न छोड़नेवाले अथवा लौकिक भोगों के पीछे न मरनेवाले जीव! तू **रायः इरज्यन्**=धनों का स्वामी होना चाहता हुआ (इरज्य=to be master of) **अस्मे जन्तुभिः**=हमारे इन 'गौ, अश्व, अजा, अवि=ewe)' आदि पशुओं से **प्रथयस्व**=सम्पत्ति को विस्तृत कर—सम्पत्ति को बढ़ा।

यहाँ 'अग्ने' और 'अमर्त्य' इन शब्दों से सम्बोधन करके जीव को स्पष्ट संकेत किया है कि यदि तू जीवन में प्रगति करना चाहता है, यदि तू दीर्घ जीवन का इच्छुक है, यदि तू चाहता है कि तेरे मन की भावनाएँ पवित्र बनी रहें, तू भोगासक्त न हो जाए तो तू अपनी सम्पत्ति को गौ आदि पशुओं के द्वारा ही बढ़ानेवाला बन। 'गोपालन, कृषि, ऊन व रेशम के कपड़ों का निर्माण'—ये सब कार्य पशुओं से सम्बद्ध होते हुए हमारे ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले हैं। वैश्य ने इन्हीं कार्यों के द्वारा धन को बढ़ाने का यत्न करना है। '**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व**'='जूआ मत खेल, खेती ही कर' यह वेद का स्पष्ट आदेश है। '**युनक्त सीराः**'=हल चलाओ यह वेद कह रहा है। '**ऊर्णासूत्रेण**

कवयो वयन्ति'=विद्वान् लोग ऊन के सूत से कपड़ा बुनते हैं—यह वेदवाक्य है। '**येन धनेन प्रपणं चरामि**'=इत्यादि मन्त्रों में धन के द्वारा क्रय-विक्रय व व्यापार का भी उल्लेख है, परन्तु सट्टे= speculation के ढंग के व्यापार का वेद में निषेध-ही-निषेध है। श्रम से प्राप्त धन ही ठीक है।

यदि जीव इस निर्देश का पालन करेगा तो प्रभु कहते हैं कि **सः**=वह तू **दर्शतस्य वपुषः**=दर्शनीय सुन्दर शरीर से **विराजसि**=विशिष्टरूप से चमकता है। श्रम से प्राप्त धन शरीर को सुन्दर बनाता है। इतना ही नहीं, ऐसा करने पर तू **दर्शतं क्रतुम्**=दर्शनीय सुन्दर संकल्पों को **पृणाक्षि**=मन में धारण करनेवाला होता है, सात्त्विक धन जहाँ शरीर को सुन्दर बनाता है वहाँ वह मन को भी पवित्र बनानेवाला होता है सात्त्विक धन के परिणामरूप मन में अशुभ संकल्प उत्पन्न नहीं होते।

इस मन्त्रार्थ से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक संस्कृति में 'गोपालन' का इतना महत्त्व क्यों है? ऋषियों के आश्रमों की गौवों के बिना हम कल्पना ही नहीं कर पाते। वेद तो कहता है कि 'वसु, रुद्र व आदित्यों' का निर्माण करनेवाली तो गौ ही हैं। यही धन सात्त्विक है। गोधन ही धन है। एक युग था जब पशुधन ही धन समझा जाता था 'pecuniary' यह इंग्लिश का शब्द भी उस युग का स्मरण कर रहा है। उस समय मनुष्यों के शरीर भी सुन्दर थे। उसी युग को लाने का हमें प्रयत्न करना है।

भावार्थ—प्रभु के आदेश को सुनते हुए हम गवादि पशुओं द्वारा ही धनी बनें और उनके दूध आदि के प्रयोग से सुन्दर, स्वस्थ, दर्शनीय शरीर व शिवसंकल्पात्मक मनोंवाले बनें।

ऋषिः—अग्निः पावकः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—सतोबृहती॥ स्वरः—पञ्चमः॥

कैसे धन को?

१८२०. इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः।
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिम्॥ ५॥

गत मन्त्र में प्रभु ने कहा था कि 'तू हमारे गौ आदि पशुओं से अपनी सम्पत्ति को विस्तृत कर'। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि 'तुझे कैसी सम्पत्ति मिलेगी?'—हे जीव! तू **रयिं दधासि**=उस सम्पत्ति को धारण करता है, जो—

१. **अध्वरस्य इष्कर्तारम्**=हिंसारहित यज्ञों को परिष्कृत करनेवाली हैं, अर्थात् जिसके द्वारा शतशः अध्वरों—यज्ञों का साधन होता है।

२. **प्रचेतसम्**=जो प्रकृष्ट चेतनावाली है। जो नमक-तेल-ईंधन की चिन्ता से बुद्धि को विलुप्त नहीं होने देती और न ही अपनी चकाचौंध से आँखों को चुँधिया ही देती है।

३. **महः राधसः क्षयन्तम्**=जो महान् सफलता का निवास-स्थान है, अर्थात् जिसके द्वारा हमारे संसार के आवश्यक कार्य पूर्ण होते हैं।

४. **वामस्य रातिम्**=सब सुन्दर वस्तुओं को देनेवाली है। सम्पत्ति इतनी चाहिए कि वह जीवन को सुन्दर बनाने के लिए सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करा सके।

५. **सुभगाम्**=जो सुन्दर है, अर्थात् जिसके प्राप्त होने से मेरे जीवन में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं आता कि वह अखरने लगे।

६. **महीम्**=जो सम्पत्ति (मह पूजायाम्) मुझे पूजा की भावना से पृथक् नहीं कर देती।

७. **इषम्**=जो मुझे गतिशील रखती है—अकर्मण्य नहीं बना देती।

८. **सानसिम्**=जो संविभाग के योग्य है, अर्थात् मुझे वह सम्पत्ति दीजिए जिसका यज्ञों में विनियोग करके बची हुई का खानेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं सम्पत्ति को प्राप्त करूँ, उस सम्पत्ति को जोकि यज्ञों को सिद्ध करनेवाली हो।

ऋषिः—अग्निः पावकः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पति-पत्नी का प्रभु-स्तवन

१८२१. ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः।
श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा॥ ६॥

जनाः=समझदार लोग **सुम्नाय**=सुख प्राप्ति के लिए **पुरा दधिरे**=सदा सामने रखते हैं—उस प्रभु को अपनी आँख से ओझल नहीं होने देते जो—

१. **ऋतावानम्**=ऋतों के द्वारा सेवनीय है (ऋत, वन्)। प्रभु की सच्ची उपासना यज्ञों से ही होती है। '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**'=देव लोग उस उपासनीय प्रभु को यज्ञ से उपासित करते हैं। 'सर्वभूतहिते रतः' होकर ही हम प्रभु के भक्ततम हो सकते हैं।

२. **महिषम्**=जो पूजा के योग्य हैं (मह पूजायाम्)। अधम-से-अधम व्यक्ति भी अन्त में अपनी कार्यसिद्धि के लिए उस प्रभु की शरण में जाता है।

३. **विश्वदर्शतम्**=संसार में सबसे अधिक सुन्दर है, अतएव सबसे देखने योग्य हैं।

४. **अग्निम्**=जो अपनी शरण में आये हुओं को आगे और आगे ले-चलनेवाला है।

५. **श्रुत्कर्णम्**=जो ज्ञान को (श्रुत्) अपने शरणागतों के हृदयों में विकीर्ण (कृ विक्षपे) करनेवाला है।

६. **सप्रथस् तमम्**=जो अत्यन्त विस्तार के साथ विद्यमान् है। उस प्रभु के परिवार में सभी के लिए स्थान है।

७. **दैव्यम्**=जो देव, अर्थात् आत्मा का सदा हितकर हैं।

हे प्रभो! ऐसे **त्वा**=तुझको **मानुषा युगा**=मनुष्य के जोड़े, अर्थात् पति-पत्नी **गिरा**=वेदवाणी के द्वारा सदा स्तुत करते हैं। स्तुति का अभिप्राय यही है कि वे स्तोता इन्हीं गुणों को अपने में धारण करते हैं। वे भी १. ऋत को धारण करते हैं। २. प्रभु की पूजा करते हैं। ३. अपने जीवन को बड़ा सुन्दर बनाते हैं। ४. आगे बढ़ने के लिए यत्नशील होते हैं। ५. ज्ञान को फैलाते हैं। ६. हृदय को विशाल बनाते हैं। ७. देवोचित कर्मों को ही करते हैं अथवा सदा देवहित में प्रवृत्त रहते हैं।

भावार्थ—हम मिलकर घरों में प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें।

सूक्त-२

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (ककुबुष्णिक्)॥ स्वरः—ऋषभः॥

संसार सागर से तर जाता है

१८२२. प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः।
यस्य त्वं सख्यमाविथ॥ १॥

हे **अग्ने**=सब प्रकार से अग्रगति के साधक प्रभो ! **यस्य**=जिसके **त्वम्**=आप **सख्यम्**=मैत्रीभाव को **आविथ**=प्राप्त होते हो **सः**=वह व्यक्ति **तव**=आपकी **सुवीराभिः**=उत्तम वीर बनानेवाले तथा **वाजकर्मभिः**=शक्तिशाली कर्मोंवाले **ऊतिभिः**=रक्षणों से **प्रतरति**=भवसागर को तैर जाता है।

जब जीव प्रभु को सदा अपनी आँखों के सामने रखने का प्रयत्न करते हैं तब वे प्रभु की मित्रता को प्राप्त करते हैं। प्रभु की मित्रता को प्राप्त करनेवाले इन व्यक्तियों को कभी कायरता नहीं छूती—प्रभु के रक्षण में कायरता का क्या काम ? पिता की गोद में स्थित बच्चा कभी घबराता नहीं, तो क्या उस अमर प्रभु से सर्वतोवेष्टित यह प्रभुभक्त कभी घबराएगा ? इस प्रभुभक्त के कर्म शक्तिसम्पन्न होते हैं। इसने प्रभुस्तवन के द्वारा प्रभु के अधिक और अधिक निकट होते हुए, कण-कण करके बड़े उत्तम प्रकार से (सु) अपने में शक्ति को भरा है (भर), इसी से इसका नाम 'काण्व सोभरि' पड़ गया है। वस्तुतः प्रभु की मित्रता से जीव अपनी शक्ति को उत्तरोत्तर बढ़ाता चलता है। यह शक्ति ही इसे इस जीवन-यात्रा में सफल करती है।

भावार्थ—मैं प्रभु का मित्र बनकर भवसागर को तैर जाऊँ।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (सतोबृहती) ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

मेरे जीवन में प्रभु चमकें

१८२३. तव द्रप्सो नीलवान् वाश ऋत्विय इन्धानः सिष्णवा ददे।
त्वं महीनामुषसामसि प्रियः क्षपो वस्तुषु राजसि ॥ २ ॥

ये प्रभु 'सिष्णु' हैं—अपनी ज्योति के प्रकाश से हमें बाँधनेवाले हैं। एक विचारक प्रभु की महिमा का अनुभव करता है और उस ओर आकृष्ट होता है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **सिष्णो**=अपने में बाँधनेवाले प्रभो ! **तव**=आपका **द्रप्सः**=ज्योतिष्कण (spark) **नीलवान्**=शुभ उद्घोषणावाला है (नील—An auspicious proclaimation)। यदि मैं प्रभु की ज्योति को देखता हूँ तो यह मेरे जीवन के शुभ के लिए सुन्दर घोषणा है। **वाशाः**=यह एक पुकार है, यह ज्योतिष्कण मुझे प्रभु की ओर चलने के लिए पुकार रहा है। **ऋत्वियः**=यह पुकार समय-समय पर होनेवाली है।

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि सोभरि कहता है कि **इन्धानः**=अपने अन्दर ज्ञान को दीप्त करता हुआ मैं **आददे**=इस ज्योतिष्कण को ग्रहण करता हूँ। प्रभु का जो प्रकाश, विद्युत् चमक की भाँति मुझे दिखता है, मैं उसे पकड़ने की कोशिश करता हूँ। इसी उद्देश्य से हे प्रभो ! **महीनाम्**=(मह पूजायाम्) पूजा के लिए उचिततम **उषसाम्**=उषःकालों में तो **त्वम्**=आप **प्रियः असि**=मुझे प्रिय हैं ही, उषःकालों में तो मैं आपका स्मरण करता ही हूँ आप तो **क्षपो वस्तुषु**=रात्रि और दिन के (वस्तु—day) सब कालों में **राजसि**=मेरे जीवन में चमकते हो, अर्थात् मैं सदा आपका ध्यान करने का प्रयत्न करता हूँ।

प्रभु की चमक कभी-कभी तो सभी को दिखती ही है, प्रयत्न यह करना चाहिए कि हम उस चमक को पकड़नेवाले बनें—वह चमक हमें विस्मृत न हो जाए। यह प्रकाश तो 'वाश' है—पुकार-पुकार कर हमारे कर्त्तव्य का हमें स्मरण करा रहा है। यह ऋत्वियः=उस-उस समय के ठीक अनुकूल होता है। इसका ग्रहण करना ही एक पुजारि का सच्चा कर्त्तव्य है। मैं उषःकालों में क्या दिन-रात प्रभु का स्मरण करूँ और उसके प्रकाश को देखूँ तथा उस-उस काल में होनेवाली पुकार

को सुनूँ।

भावार्थ—हमारे जीवन में प्रभु की ज्योति चमके, उसके न चमकने पर हमारा जीवन अन्धकारमय हो जाता है।

सूक्त-३

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वनस्पतियों व जलों में प्रभु-दर्शन

१८२४. तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त मातरः।
तमित्समानं वनिनश्च वीरुधोऽन्तर्वतीश्च सुवते च विश्वहा ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अरुण' है जो निरन्तर गतिशील (ऋ गतौ) है। यह संसार में सर्वत्र उस प्रभु की महिमा को देखता हुआ कहता है कि—**ओषधीः**=ओषधियाँ **तम्**=उस **ऋत्वियं गर्भम्**=समय पर होनेवाले गर्भ को **दधिरे**=क्या धारण करती हैं, ये तो **अग्निं दधिरे**=उस प्रभुरूप अग्नि को ही धारण करती हैं। **मातरः आपः**=मूलकारण होने से मातृरूप जल **तम् अग्निं जनयन्त**=उस अग्निरूप प्रभु को प्रकट कर रहे हैं। जलों में रस वे प्रभु ही तो हैं। **तम् च**=और उस **समानम्**=सम्यक् प्राणित करनेवाले प्रभु को ही **वनिनः**=वन के बड़े-बड़े वृक्ष प्रकट करते हैं। इन उत्तुङ्ग वृक्षों को देखकर किसको उस प्रभु की महिमा का स्मरण नहीं होता? **अन्तर्वतीः**=गर्भवाली **वीरुधः**=फैलनेवाली बेलें भी **विश्वहा**=सदा **सुवते**=उसी प्रभु-महिमा की भावना को जन्म देती हैं। इन फैलनेवाली लताओं में भी उस प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। सारा वानस्पतिक जगत् प्रभु का स्मरण कराता है। इसमें जल के नीचे से ऊपर की ओर जाने की प्रक्रिया ही एक अद्भुत रचना है। जल स्वयं एक विचित्र वस्तु है, जो ठण्डक के साथ अन्य वस्तुओं की भाँति सिकुड़ते जाते हैं, परन्तु ४ अंश पर आकर फिर फैलने लग जाते हैं—मछलियों के जीवन के लिए यह नितान्त आवश्यक भी तो था!

जब मनुष्य अरुण=निरन्तर गतिशील बनता है तब लोकत्रयी में भ्रमण करता हुआ प्रभु की महिमा को देखता है। **'परि द्यावापृथिवी सद्य इत्त्वा'**, **'परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च'** इन मन्त्रभागों में सर्वत्र भ्रमण करते हुए प्रभु की महिमा को देखने का स्पष्ट विधान है। 'अमाजूः'=घर में ही जीर्ण होनेवाला व्यक्ति प्रभु की महिमा को नहीं देख पाता।

भावार्थ—मैं अरुण बनूँ, सर्वत्र विचरता हुआ प्रभु की महिमा को देखूँ।

सूक्त-४

ऋषिः—अग्निश्चाक्षुषः प्रजापतिर्वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु की प्रवृत्ति जीव के लिए

१८२५. अग्निरिन्द्राय पवते दिवि शुक्रो वि राजति। महिषीव वि जायते ॥ १ ॥

सम्पूर्ण संसार के संचालक वे प्रभु 'अग्नि' हैं—'अग्रेणीः' हैं, वे सभी को आगे और आगे ले-चल रहे हैं। सम्पूर्ण संसार में वे व्याप्त हैं—सब स्थानों में पहले से ही प्राप्त हैं, अतः स्वयं गतिशून्य

होते हुए भी वे सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं। '**तदेजति तन्नैजति**'=वे स्वयं कूटस्थ हैं, परन्तु सबको कम्पित कर रहे हैं, परन्तु प्रभु में ये सारी क्रिया क्यों हैं? वे तो आप्त काम हैं, फिर वे किस कामना की पूर्ति के लिए गति कर रहे हैं? मन्त्र में कहते हैं कि **अग्निः**=गति के स्रोत वे प्रभु **इन्द्राय**=जीव के लिए—जीव के हित के लिए **पवते**=गति कर रहे हैं। प्रभु की सारी क्रिया जीवहित के लिए है।

वे प्रभु स्वयं तो **शुक्रः**=शुद्ध—दीप्तरूप हैं, वे अपने **दिवि**=द्योतनात्मकरूप में **विराजति**=शोभायमान हैं। ये सारा ब्रह्माण्ड उस प्रभु के द्योतमानरूप में अविकृतरूप से विद्यमान है (**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**)।

प्रभु से अधिष्ठित यह प्रकृति **महिषी इव**=महिषी के समान **विजायते**=विविध पदार्थों को जन्म देती है। जैसे पत्नी घर को धारण करने के लिए आवश्यक पदार्थों का निर्माण करने में लगी रहती है उसी प्रकार परमेश्वर से अधिष्ठित हुई-हुई प्रकृति जीवहित के लिए विविध आवश्यक पदार्थों को जन्म देती है।

प्रभु पिता है और प्रकृति माता। ये प्रकृति माता महिषी और प्रभु 'शुक्र' हैं। यह प्रकृति प्रभु की योनि है। इसमें वे 'शुक्र' प्रभु बीज का आधान करते हैं और चराचर जगद्रूप सन्तान का जन्म होता है।

एवं, प्रभु स्वयं निर्विकार होते हुए भी जीवहित के लिए प्रकृति द्वारा विविध पदार्थों को जन्म दिला रहे हैं। प्रभु की चेष्टा जीव के लिए है, न कि अपने लिए। प्रभु का भक्त भी यह अनुभव करता हुआ यत्न करता है कि उसकी प्रवृत्ति प्रजाहित के लिए हो, स्वार्थ के लिए नहीं। प्रभु की सृष्टि भी उसे यही उपदेश देती प्रतीत होती है, क्योंकि "**स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः**"=वृक्ष अपने फलों को स्वयं नहीं खाते। '**पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः**'=नदियाँ अपने पीने के लिए पानी प्रवाहित नहीं करतीं, '**नादन्ति सस्यं खलु वारिवाहाः**' बादल निश्चय से स्वयं अनाज को नहीं खाते। इन बातों को देखकर यह प्रभुभक्त भी 'प्रजापति' बनता है और इसी कारण उन्नति करते-करते सचमुच 'अग्नि' बन जाता है। इस प्रकार इन्द्र (जीव) ने अग्नि (ब्रह्म) बनना है। यही उसके जीवन का ध्येय हो। प्रजाहित के लिए प्रवृत्त होता हुआ वह उलझे नहीं—अपने ज्ञानमयस्वरूप में दीप्त रहने का ध्यान करें।

भावार्थ—प्रजाहित में लगा हुआ व्यक्ति ही सच्चा प्रभुभक्त है।

सूक्त-५

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अवत्सार का जागरण—जागना

१८२६. यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अवत्सार' है—इसका शब्दार्थ है 'सार की रक्षा करनेवाला'। वस्तुतः जो व्यक्ति इस शरीर के अन्दर आहार के सार रस, रस के सार रुधिर, रुधिर के सार मांस, मांस के सार अस्थि, अस्थि के सार मज्जा, मज्जा के सार मेदस् और मेदस् के भी सार 'वीर्य' की रक्षा करता

है, वह 'अवत्सार' है। इसे शरीर में 'सोम' भी कहते हैं। इस सोम की रक्षा से ही उस महान् सोम—प्रभु की प्राप्ति होती है। इस सोम की रक्षा कर कौन सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर है— **यो जागार**=जो जागता है, अर्थात् जो सावधान है। जो सोया, जिसने प्रमाद किया, उसने इस सारभूत सोम को भी खो दिया, इसीलिए यजुर्वेद में प्रभु ने कहा कि "**भूत्यै जागरणम्**", "**अभूत्यै स्वप्नम्**"= जागना कल्याण के लिए है, सोना अकल्याण के लिए। यह संसार का मार्ग '**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति**' छुरे की धार के समान तेज व बड़ा दुर्गम है—इसपर चलना सुगम नहीं—यहाँ सोने का क्या काम ?

***विज्ञान*—यो जागार**=जो जागता है **ऋचा**=सब विज्ञान **तम्**=उसको ही **कामयन्ते**=चाहते हैं। जागनेवाले को ही सम्पूर्ण विज्ञान प्राप्त होता है। संसार की सारी वैज्ञानिक उन्नति वे ही कर पाये जो सोये हुए न थे। जो राष्ट्र जितना जागरित है उतना ही विज्ञान-पथ पर आगे बढ़ रहा है। ज्ञान प्रमादी को प्राप्त नहीं होता। '**सुखार्थिनः कुतो विद्या**'=आराम से पड़े रहने की इच्छावाले से विज्ञान दूर रहता है। '**स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां मा प्रमदः**' इस पठन-पाठन का तो मूलमन्त्र अप्रमाद ही है।

***उपासना व शान्ति*—यो जागार**=जो जागता है **तम् उ**=उसको ही **सामानि**=उपासनाएँ व शान्तियाँ **यन्ति**=प्राप्त होती हैं। अप्रमादी ही प्रभु की उपासना व शान्तिलाभ का पात्र बनता है।

***सोम-सख्य*—यो जागार**=जो जागता है **तम्**=उसको **अयम्**=यह **सोमः**=सोम **आह**=कहता है कि **अहम्**=मैं **तव**=तेरी **सख्ये**=मित्रता में **न्योका अस्मि**=निश्चित निवासवाला हूँ। सोम का अर्थ वीर्य व प्रभु दोनों ही है। वीर्यरक्षा प्रभु-प्राप्ति का साधन है। वीर्यरक्षा द्वारा प्रभु-प्राप्ति होती उसे ही है जो जागता है। इस प्रकार जागनेवाला ही 'विज्ञान, शान्ति, व वीर्यरक्षा द्वारा प्रभु-प्राप्ति' कर पाता है। ये ही संसार में सारभूत वस्तुएँ हैं। एवं, यह जागनेवाला ही सचमुच 'अवत्सार' है।

भावार्थ—मैं जागूँ और विज्ञान, शान्ति व प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

सूक्त-६

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

कौन जागता है ?

१८२७. अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥ १॥

अग्निः जागार=अग्नि जागता है **तम्**=उसको **ऋचः**=विज्ञान **कामयन्ते**=चाहते हैं। **अग्निः जागार**=अग्नि जागता है **तम् उ**=उसको ही **सामानि**=उपासनाएँ व शान्तियाँ **यन्ति**=प्राप्त होती हैं। **अग्निः जागार**=अग्नि जागता है, **तम्**=उसको **अयम्**=यह **सोमः**=सोम (वीर्य व प्रभु) **आह**=कहता है कि **तव**=तेरी **सख्ये**=मित्रता में **अहम्**=मैं **न्योकाः अस्मि**=निश्चित निवासवाला हूँ।

एवं, 'इस मन्त्र में 'यो जागार'=जो जागता है' इस बात का स्पष्टीकरण है कि 'अग्निः जागार' अग्नि ही जागता है। यह अग्नि कौन है ? इसका उत्तर यास्क इन शब्दों में देते हैं—

१. **अग्रणीः भवति**=अपने को आगे प्राप्त करानेवाला होता है। यह अपने जीवन में सदा उन्नत होनेवाला होता है। 'आगे और आगे' यही इसके जीवन का लक्ष्य होता है। ऊँचा लक्ष्य हुए

बिना जागना सम्भव कहाँ ? उच्च लक्ष्यवाला व्यक्ति ही सदा सावधान रहता है। कोई ऊँचा ध्येय न होने पर तो मनुष्य प्रमाद में चला ही जाता है।

२. **अक्नोपनो भवति**—न क्नोपयति न स्नेहयति=अग्नि वह होता है जो संसार के विषयों से अपना स्नेह नहीं जोड़ता। विषयों से स्नेह जोड़ा और मनुष्य का अग्नित्व समाप्त हुआ। विषय तो विषवृक्ष हैं, इनका फल खाया और मनुष्य मोह की मूर्च्छा में गया।

३. **तपो वा अग्निः**—शत० ३.४.३.२—अग्नि वह है जो अपने जीवन को तपस्वी बनाता है। आरामपसन्द जीवन मनुष्य को मोहनिद्रा में ले-जाता है। यह पतन का मार्ग है।

४. **अग्निर्वै पाप्मनोऽपहन्ता**—शत० २.३.३.१३—अग्नि वह है जो पाप का नाश करे। वस्तुतः जब मनुष्य इस लक्ष्य से चलता है कि 'मैंने पाप को अपने समीप नहीं फटकने देना' तभी वह सदा जागरित रहता है।

५. **अयं वा अग्निः ब्रह्म च क्षत्रं च**—शत० ६.२.३.१५—अग्नि वह है जिसका लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति व बल का संचय करना है। इस उच्च लक्ष्य के कारण अग्नि कभी सो थोड़े ही सकता है ?

६. **अग्निर्वै ब्रह्मणो वत्सः**—जैमिनी० ३.२.२३.१—अग्नि प्रभु का प्रिय है। प्रभु का प्रिय बनने के लिए वह सदा जागरित रहता है।

७. **अग्निर्वै स्वर्गस्य लोकस्य अधिपतिः**—जैमिनी० ३.४२—यह अग्नि स्वर्गलोक का अधिपति बनता है। इसे आराम से लेटने का अवकाश ही कहाँ ?

८. **अग्निर्ह वा अबन्धुः**—जैमिनी० ५.३.६.७—यह अग्नि अपने को कहीं बँधने नहीं देता, अर्थात् कहीं आसक्त (attached) नहीं होता, अनासक्त (Detached) रूप से आगे और आगे बढ़ता चलता है।

९. **प्रजापतिः अग्निः**—शत० ६.२.१.२३—अग्नि अनासक्त है, परन्तु प्रजाओं के हित व रक्षण में सदा सक्त है, इस प्रजापति ने क्या सोना ? 'अग्निर्वैधाता' तैत्ति० ३.३.१०.२। यह अग्नि सबका धारण करता है और इसी उद्देश्य से 'विश्वकर्मायमग्निः'—शत० १.२.२.२—यह अग्नि सदा कर्मों में व्यापृत रहता है।

कर्मों में व्यापृत रहनेवाला यह अग्नि सदा जागता है और परिणामतः 'विज्ञान, शान्ति व प्रभु' को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम अग्नि बनें, सदा जागरणशील हों। विज्ञान, शान्ति व प्रभु-प्राप्ति के पात्र बनें।

सूक्त-७

ऋषिः—मृगः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शतपदी वाणी का प्रयोग

१८२८. नमः सखिभ्यः पूर्वसद्भ्यो नमः साकंनिषेभ्यः। युञ्जे वाचं शतपदीम् ॥ १ ॥

गत मन्त्र का 'अग्नि'—जो सदा जाग रहा है, वह अपने जीवन का सतत निरीक्षण करता है। मेरे जीवन में कहीं शत्रुओं का डेरा तो नहीं पड़ गया ? उनके अधिष्ठानों को ढूँढ-ढूँढकर यह नष्ट करता है, अतः इसका नाम ही मृग हो जाता है। यह 'मृग'=आत्मान्वेषण करनेवाला व्यक्ति देखता है कि कितने ही व्यक्ति इस कल्याण के मार्ग पर चलनेवाले हुए हैं और उसके अपने जीवन की

तुलना में कितनी ऊँची स्थिति को उन्होंने प्राप्त किया है। यह उनके प्रति नतमस्तक होता है और कहता है कि **पूर्वसद्भ्यः**=मुझसे आगे ठहरनेवाले **सखिभ्यः**=इन सखाओं के लिए—कल्याण के मार्ग पर चलनेवाले मित्रों के लिए **नमः**=मैं नमस्कार करता हूँ। इस समय जो **साकंनिषेभ्यः**=मेरे साथ ही बैठे हैं, उन कल्याण-मार्ग के पथिकों के लिए भी **नमः**=मैं नमः कहता हूँ और निश्चय करता हूँ कि **शतपदीम् वाचम्**=इस शत-पथवाली यजुर्वेदरूप कर्मों की प्रतिपादक वाणी का **युञ्जे**=मैं प्रयोग करता हूँ। इसमें प्रभु से उपदिष्ट अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हूँ।

यजुर्वेद में अध्याय ४० ही हैं परन्तु उसका व्याख्यान याज्ञवल्क्य ऋषि ने 'शत-पथ' के रूप में ही किया है। १ से लेकर १०० वर्ष तक हमारे जो भी कर्त्तव्य हैं सभी का प्रतिपादन तो यजुर्वेद में हुआ है, इसलिए इस वाणी का 'शतपदी' नाम उपयुक्त ही है। प्रसङ्गवश यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि 'एक शतमध्वर्युशाखाः'=इस यजुर्वेद की शाखाएँ भी १०० हैं। 'मृग' निश्चय करता है कि मेरा जीवन इस वाणी का प्रयोग करता हुआ ही व्यतीत होगा और इस प्रकार मैं अपने उन पूर्वसद् सखाओं से जाकर मिलने का सतत प्रयत्न करूँगा।

भावार्थ—हम अपने जीवन में सन्मार्ग पर आगे बढ़े हुए व्यक्तियों का आदर करके उनके मार्ग का अनुगमन करनेवाले बनें। इस समय के भी अपने सत्सङ्गी साथियों को आदर देते हुए आगे बढ़ते चलें। वेदानुसार अपने जीवन को बनाएँ।

ऋषिः—मृगः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सहस्रवर्तनि वाणी का गायन

३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २र ३ १ २
१८२९. युञ्जे वाचं शतपदीं गाये सहस्रवर्तनि। गायत्रं त्रैष्टुभं जगत्॥ २॥

गत मन्त्र का 'मृग' निश्चय करता है कि मैं **शतपदीं वाचं युञ्जे**=शतपदी वाणी का प्रयोग करता हूँ, अर्थात् अपने सारे क्रियाकलाप को इस कर्मवेद (यजुर्वेद) के अनुसार बनाता हूँ। मेरा सारा जीवन इसके निर्देशों का प्रयोग ही बन जाएगा। इसके शतपथ ही मेरे जीवन के शतवर्षों के पथ होंगे और साथ ही 'इन कर्मों को करते हुए, इनमें सफलता का लाभ करते हुए मुझे कहीं मिथ्याभिमान न हो जाए' मैं **सहस्रवर्तनि**=सहस्रों मार्गोंवाली—हज़ारों प्रकार से गायन की जानेवाली इस प्रभु की उपासनामयी सामवाणी का **गाये**=गायन करता हूँ। यह गायन मुझे सदा प्रभु का स्मरण कराता है और कर्मों में सिद्धि के मिथ्याभिमान से बचाता है।

सामवेद—उपासना वेद है। इसमें प्रभु का सतत गायन है। यह प्रभु-स्मरण 'मृग'=आत्मान्वेषक को कर्तृत्व के अहंकार से बचानेवाला होता है।

यह प्रभु का गायन करता है और साथ ही **गायत्रं त्रैष्टुभं जगत्**=गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्द के मन्त्रों से भरे हुए ऋग्वेद=विज्ञानवेद का भी अध्ययन करता है। कर्मों की उत्तमता के लिए 'विज्ञान' आवश्यक ही है। ज्ञानपूर्वक होनेवाला कर्म कुशल कर्म होता है—अन्यथा वह अनाड़ीपन से किया जाकर हमें असफल व अपवित्र करता है।

ऋग्वेद को यहाँ 'गायत्रं त्रैष्टुभं जगत्' इसलिए कहा है कि ऋग्वेद के १०५२२ मन्त्रों में गायत्री छन्द के २४४९ मन्त्र हैं, त्रिष्टुप् के ४२५१ तथा जगती के १३४६। इस प्रकार ८०४६ मन्त्र 'गायत्री, त्रिष्टुप् व जगती छन्द के हैं और शेष १३ छन्दों के मिलकर कुल २४७६ मन्त्र हैं। इस प्रकार गायत्र्यादि की मुख्यता के कारण ऋग्वेद का स्मरण 'गायत्रं त्रैष्टुभं जगत्' शब्दों से किया है। इसका

गायन भी आवश्यक है, क्योंकि विज्ञान के बिना कर्म कभी ठीक हो ही नहीं सकता।

भावार्थ—१. यजु के अनुसार कर्म करना, २. साम द्वारा प्रभु का गायन करना जिससे कर्मों का गर्व न हो और ३. ऋग्वेद का अध्ययन करना जिससे हमारे कर्मों में ज्ञानाभाव से अनाड़ीपन न आ जाए।

नोट—सामवेद माना भी 'सहस्रवर्त्मा' ही जाता है।

ऋषिः—मृगः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

देवों का निवास-स्थान

१८३०. गायत्रं त्रैष्टुभं जगद्विश्वा रूपाणि सम्भृता। देवा ओकांसि चक्रिरे॥ ३॥

ऋग्वेद का नाम यहाँ 'गायत्रं त्रैष्टुभं जगत्' दिया गया है, क्योंकि इसमें इन्हीं छन्द के मन्त्रों की प्रधानता है। ऋग्वेद में कुल ३,९४,२२१ अक्षर हैं, जिनमें ३,१०,३८२ अक्षर इन तीन छन्दों के हैं, शेष ८३,८४१ अक्षर अन्य छन्दों के हैं। इससे ऋग्वेद का यह नाम उपयुक्त ही है। ७७ प्रतिशत मन्त्र इन्हीं छन्दों के हैं, शेष कुल मन्त्र २३ प्रतिशत हैं। अक्षरों के दृष्टि से तो ७८ प्रतिशत अक्षर इन्हीं छन्दों में हैं, शेष कुल २२ प्रतिशत हैं।

ऋग्वेद विज्ञानवेद है इसमें **विश्वा रूपाणि संभृता**=सब आकृतिमान् पदार्थों का संग्रह है। इसमें तृण से लेकर सूर्यपर्यन्त सभी पदार्थों का ज्ञान दिया गया है। ११ पृथिवीस्थ, ११ अन्तरिक्षस्थ व ११ द्युलोकस्थ तेतीस के तेतीस **देवाः**=देवताओं ने इस ऋग्वेद में **ओकांसि**=अपने घरों को **चक्रिरे**=बनाया है, अर्थात् सभी देवों का इसमें प्रतिपादन है। इस विज्ञानवेद के अध्ययन से ही हम इन सब प्राकृतिक देवों को अच्छी प्रकार समझ सकेंगे, इन्हें ठीक-ठीक समझकर इनका सदुपयोग कर पाएँगे और हमारा यह शरीर भी 'देवानां पूः'=देवनगरी बन सकेगा।

इन देवों के ज्ञान से ही इनके अधिष्ठाता महादेव का ज्ञान होता है और इस प्रकार प्रभु के ज्ञान के लिए भी वेदों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

हम 'ऋग्, यजुः व साम' इन तीनों प्रकार के मन्त्रों का अध्ययन करें, जिससे हमारे जीवन में पूर्णता आ सके। विज्ञानपूर्वक होने से हमारे कर्म उत्तम हों और प्रभु-स्मरण से अहंकारशून्य हों। तीन ही प्रकार के ये मन्त्र हैं। ये ही तीन प्रकार के मन्त्र 'अथर्ववेद' में भी हैं। भिन्न प्रकार के मन्त्र न होने से अथर्व का अलग उल्लेख नहीं किया गया है।

भावार्थ—मैं उन ऋचाओं का अध्ययन करूँ, जिनमें पदार्थमात्र का ज्ञान दिया गया है।

नोट—'देवों ने इसमें निवास किया है' वाक्य का अभिप्राय यह है कि इसमें सारे पदार्थों का ज्ञान दिया गया है और 'रूपाणि संभृता' से ऐसा स्पष्ट है कि वस्तुओं के निर्माण का—उन्हें रूप देने का भी इसमें ज्ञान दिया गया है।

सूक्त-८

ऋषिः—अवत्सारो वत्सप्रीर्वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सर्वमुख्य वस्तु ज्योतिः

१८३१. अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्रः। सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः॥ १॥

गत मन्त्र में यह उल्लेख था कि ऋग्वेद में सारे देवों का ज्ञान दिया गया है। यहाँ प्रसङ्गवश उन देवों का व देवों के मुख्य गुण का उल्लेख करते हैं।

देवताओं को वैदिक साहित्य में तीन भागों में बाँटते हैं। ११ देवता पृथिवीस्थ हैं, ११ अन्तरिक्षस्थ और ११ द्युलोकस्थ। पृथिवीस्थ देवताओं का अग्रणी 'अग्नि' है, अन्तरिक्षस्थ देवों का मुखिया इन्द्र=विद्युत् और द्युलोकस्थ देवों में सूर्य प्रमुख है।

इन देवों का मुख्य गुण (main characteristic) 'प्रकाश' है। मन्त्र में इसे इस रूप में कहते हैं कि 'अग्निः ज्योतिः' है, और वस्तुतः ज्योति को अग्नि से भिन्न करना सम्भव ही नहीं, ज्योति ही 'अग्निः' है। **अग्निः ज्योतिः** और **ज्योतिः अग्निः** इस प्रकार कहकर अग्नि और ज्योति का अभेद-सम्बन्ध व्यक्त किया गया है। बिना ज्योति के हम अग्नि की कल्पना नहीं कर सकते। इसी प्रकार **इन्द्रः**=विद्युत् ज्योतिः है और ज्योतिः ही **इन्द्रः**=विद्युत् है। ज्योति से भिन्न विद्युत् है ही क्या? **सूर्यः**=सूर्य भी ज्योति है और **ज्योतिः**=ज्योति ही **सूर्यः**=सूर्य है। क्या सूर्य कोई वस्तु है जिसमें ज्योति रहती है? नहीं ज्योति ही सूर्य हैं।

इस प्रकार वेद देवों के मुख्य गुण का संकेत करके जीव को बोध दे रहा है कि 'तू भी ज्योतिर्मय बन'। मनुष्य शब्द का अर्थ ही 'अवबोध=ज्ञानवाला है। अब तक उत्पन्न होते ही जीव के कान में '**वेदोऽसि**'=तू ज्ञानमय है—यह कहने की परिपाटी है। प्रभु भी तो विशुद्धा-चित्=pure knowledge हैं—मैं ज्ञानी बनकर ही तो प्रभु को पा सकूँगा। सारे देव 'ज्योतिर्मय' है, वे महादेव 'ज्योतिरूप', मुझे भी इसी ज्योति को प्राप्त करना है।

बिना इस ज्योति के मैं 'प्रजापति' नहीं बन सकता? मैं जितना-जितना ज्ञान प्राप्त करूँगा उतना-उतना अधिक लोकहित कर सकूँगा और प्रभु का सान्निध्य प्राप्त करूँगा।

भावार्थ—मैं ज्योतिर्मय बनने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—अवत्सारो वत्सप्रीर्वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

निवर्तन—लौटना

१८३२. पुनरूर्जा नि वर्तस्व पुनरग्न इषायुषा। पुनर्नः पाह्यंहसः॥ २॥

जीव इस संसार में न जाने कब से भटक रहे हैं। इस संसार के आवर्त्त से उसका निकलना ही नहीं होता। 'इस संसार-चक्र से मुक्त होकर वह अपने वास्तविक घर में कैसे लौट सकता है?' इस विषय का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में है। लौट सकने के उपाय निम्न हैं—

१. **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति के द्वारा **पुनः निवर्तस्व**=तू फिर लौट जा, अर्थात् यदि हम अपने वास्तविक घर में फिर से वापस पहुँचना चाहते हैं तो हमें अपने बल और प्राणशक्ति को स्थिर रखना होगा। भोगमार्ग पर चलने से इनका ह्रास होता है। '**भोगे रोगभयम्**'=भोगों में ही रोग का भय है '**सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः**'=ये भोग सब इन्द्रिय-शक्तियों को क्षीण कर देते हैं। भोगों से दूर रहेंगे तो बल और प्राणशक्ति भी स्थिर रहेगी।

२. भोगों से बचने का उपाय दूसरे वाक्य में संकेतित है। क्रियामय जीवन ही हमें भोगों से बचाता है, अतः कहते हैं—हे **अग्ने**=आगे चलनेवाले जीव! तू **इषा**=तीव्र गति से युक्त **आयुषा**=जीवन के द्वारा **पुनः**=फिर निवर्तस्व=अपने घर में लौट आ। भोगों से बचना आवश्यक है, भोगों से बचने के लिए क्रियामय जीवन आवश्यक है। मन में पाप की वृत्ति अकर्मण्यता में ही उठती है। '**गृहेषु**

गोषु मे मनः '='हे पाप! मेरा मन तो घरों में व गौओं में लगा है—तू यहाँ क्योंकर आएगा।' ऐसा कर्मनिष्ठ व्यक्ति ही तो कह सकता है।

३. पाप से बचने का ही परिणाम है कि हम प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। वेद कहता है कि **अंहसः**=अंहो विमुच्य=पाप को छोड़कर—कुटिलता को त्यागकर **नः**=हमें **पुनः**=फिर **पाहि**=observe देख। जितना-जितना हम पाप व कुटिलता को त्यागते जाएँगे उतना-उतना ही मृत्यु से दूर होकर उस अमृत प्रभु के समीप होते जाएँगे '**आर्जवं ब्रह्मणः पदम्**'।

एवं, संसार-चक्र से बचने के तीन साधन हुए—

१. बल और प्राणशक्ति को स्थिर रखना, २. क्रियामय जीवन बनाना और ३. कुटिलता को छोड़कर प्रभु-दर्शन करना।

भावार्थ—हम घर लौटने का ध्यान करें।

ऋषिः—अवत्सारो वत्सप्रीर्वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

निवर्तन का चौथा उपाय

१८३३. सह रय्या नि वर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि॥ ३॥

घर में लौटने के तीन उपायों का गत मन्त्र में संकेत किया था। चौथे उपाय का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं **रय्या सह**=धन के साथ **निवर्तस्व**=तू अपने घर में लौट आ, परन्तु इसके लिए तू हे **अग्ने**=पथ पर आगे बढ़नेवाले जीव! **धारया**=धारण करनेवाले धन से **पिन्वस्व**=परिवाहित (overflow) हो। जैसे एक भरे तालाब से पानी प्रवाहित होता रहता है, इसी प्रकार तुझसे भी धन का प्रवाह बहे और वह सबका धारण करनेवाला हो। वह धारा=धारण-प्रक्रिया कैसी हो? **विश्वतः परि**=चारों ओर **विश्वप्स्न्या**=सबको भोजन देनेवाली है। (प्स=food)। तू पक्षपात व भेदभाव को छोड़कर अपने धन से सबका धारण करनेवाला बन। तेरा धन चन्द्रमा की चाँदनी की भाँति हो। जिस प्रकार चन्द्रमा चाण्डाल के गृह से अपनी ज्योत्स्ना को संकुचित नहीं कर लेता, उसी प्रकार तू भी अपने धन से सभी का धारण करनेवाला बन। 'इसका धारण करना है, और इसका नहीं' ऐसा भेदभाव वहाँ न हो। चारों ओर सभी से भोगने योग्य तेरा धन हो। जो धन औरों का धारण करता है वह धन भी मनुष्य को प्रभु के समीप ले-जानेवाला होता है। दूसरे शब्दों में दान हमारे भव-बन्धनों का अवदान (खण्डन) करके हमें प्रभु को प्राप्त कराता है। यही दान तो यज्ञ की चरम सीमा है—इसी के द्वारा देवताओं ने उस यज्ञरूप विष्णु की उपासना की थी। जो व्यक्ति इस प्रकार अपने धन से भूखे को रोटी देता है और प्यासे को पानी पिलाता है तथा रोगी की चिकित्सा करता है वह सचमुच प्रभु के आदेश का पालन करता हुआ सच्चे अर्थों में 'प्रजापति' बनता है। यह प्रजापति ही उस महान् प्रजापित को पाने का अधिकारी होता है।

भावार्थ—मेरा धन सभी भूखों को भोजन देनेवाला हो और इस प्रकार मुझे प्रभु का प्रिय बनाये।

सूक्त-९

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वेदरूपी गौ का चित्र

१८३४. यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्। स्तोता मे गोसखा स्यात्॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गोषूक्ति व अश्वसूक्ति' है, जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सदा उत्तम ही कथन करती हैं, अर्थात् इसके ज्ञान व कर्म दोनों ही पवित्र होते हैं। यह वेदज्ञान को प्राप्त करने के लिए पूर्ण प्रयत्न करता है, परन्तु जब एक लम्बे समय तक उसे 'अन्दर का प्रकाश' प्राप्त नहीं होता तब यह प्रभु को इन शब्दों में उपालम्भ देता है—हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! **यत्**=यदि **अहम्**=मैं **यथा त्वम्**=तेरी भाँति **वस्वः**=इस ज्ञान-धन का **ईशीय**=स्वामी होता तो **मे स्तोता**=मेरा भक्त **गोसखा स्यात्**=वेदवाणियों का मित्र बन चुकता। तूने मुझे वेदज्ञान देने के लिए किसी से पूछना थोड़ा ही है '**एक इत्**'=आप तो एकेले ही इसके स्वामी हो। मैं आपका भक्त इस ज्ञान के बिना तरसता रह जाऊँ, यह क्या आपको शोभा देता है?

उल्लिखित प्रकार से उपालम्भ वही व्यक्ति दे सकता है जो इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रबल इच्छा रखता हो और जिसने पूर्ण प्रयत्न किया हो। प्रबल इच्छा और पूर्ण प्रयत्न के उपरान्त ही यह उपालम्भ शोभा देता है। इनके अभाव में उपालम्भ का मतलब ही क्या? इसीलिए यह भक्त अपनी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को बड़ा अच्छा बनाने के लिए प्रयत्नशील होता है। यह 'गोषूक्ति' और 'अश्वसूक्ति' है। इसकी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों सभी से उत्तमता झलक रही है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए यह प्रयत्न आवश्यक भी तो है।

भावार्थ—हम अपनी इन्द्रियों को उत्तम बनाएँ, जिससे ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मनीषी ही ज्ञान का अधिकारी है

१८३५. शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे। यदहं गोपतिः स्याम्॥ २॥

उल्लिखित उपालम्भ को दुहराता हुआ ही यह 'गोषूक्ति' कहता है—हे **शचीपते**=(शची=१. वाणी, २. शक्ति) वाणियों के पति, शक्तिशाली प्रभो! **यत्**=यदि **अहम्**=मैं **गोपतिः**=वेदवाणियों का पति **स्याम्**=होऊँ तो **अस्मै**=इस **मनीषिणे**=मन का शासन करनेवाले बुद्धिमान् के लिए **शिक्षेयम्**=इन वाणियों का अवश्य शिक्षण करूँ (शिक्ष्=to teach), **दित्सेयम्**=अवश्य देने की इच्छा करूँ। यह तो है ही नहीं कि आप वेदवाणियों के पति न हों, यह भी नहीं कि आपमें सामर्थ्य न हो। यही हो सकता है कि मेरे मनीषित्व में कुछ कमी हो। वस्तुतः मन का शासन किये बिना ज्ञान की प्राप्ति सम्भव भी तो नहीं, परन्तु हे प्रभो! मुझे मनीषी बनने की शक्ति भी तो आपको ही देनी है। आपकी कृपा से मैं मनीषी बनूँ, जिससे आप मुझे वेदवाणी देने की इच्छा करें।

भावार्थ—मनीषी ही ज्ञान-प्राप्ति का अधिकारी है। हम मनीषी=मन के शासक बनें और वेदज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सूनृता धेनु

१८३६. धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते। गामश्वं पिप्युषी दुहे॥ ३॥

हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप परमैश्वर्य को प्राप्त प्रभो! **ते**=तेरी **धेनुः**=यह ज्ञान-दुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणीरूप गाय **सूनृता**=(सु+ऊन्+ऋता) उत्तम ज्ञान को देनेवाली है, दुःखों को ऊन (न्यून) करनेवाली है और सत्य व यथार्थ है। यह आपकी **पिप्युषी**=ज्ञानरूप दुग्ध से आप्यायन=वर्धन

करनेवाली वेदवाणी **यजमानाय**=यज्ञशील व्यक्ति के लिए और **सुन्वते**=निर्माणात्मक कार्यों को करनेवाले के लिए अथवा अपने में सोम का उत्पादन करनेवाले के लिए **गाम्**=ज्ञानेन्द्रियों को और **अश्वम्**=कर्मेन्द्रियों को **दुहे**=पूरण करती है।

वेदवाणी 'धेनु' है—नवसूतिका गौ के समान है—उसे जैसे बछड़े से प्रेम होता है उसी प्रकार वेदवाणी को हमसे प्रेम है। यह वेदज्ञानरूप दुग्ध के द्वारा बछड़े की भाँति हमारा वर्धन करती है। वर्धन का स्वरूप यह कि यह ज्ञान उत्तम है—हमारे जीवन को उत्तम बनाता है; यह ज्ञान 'ऊन' हमारे कष्टों को न्यून करता है और यह ज्ञान ऋत है, हमें यथार्थ मार्ग का दर्शन कराता है।

वेद यदि 'धेनु' है तो इसका बछड़ा यजमान व सुन्वन् है, अर्थात् वेद के द्वारा पोषण वही प्राप्त करता है जो यज्ञ के स्वभाववाला बनता है—जिसमें देवपूजा=बड़ों का आदर करना, सङ्गतीकरण= बराबरवालों से मिलकर चलना व दान=छोटों को सदा कुछ देने की भावना है तथा इस पोषण का अधिकारी वह है जो 'सुन्वन्' है—निर्माणात्मक कार्यों की रुचिवाला है और अपने में सोम=वीर्य व शक्ति का सम्पादन करनेवाला है।

पिछले मन्त्र के साथ मिलकर यह मन्त्र वेदज्ञान का अधिकारी उसे मानता है जो—

१. मनीषिणे=मन का शासन करनेवाली बुद्धि से सम्पन्न है।

२. यजमानाय=मन को सदा यज्ञात्मक भावनाओं से भरता है।

३. सुन्वते=जो शरीर में शक्ति का सम्पादन करता है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि जो शरीर, मन व बुद्धि का विकास करने का प्रयत्न करता है, वही वेदज्ञान का अधिकारी है। स्वस्थ शरीर में, निर्मल मन में व डाँवाँडोल न होनेवाली बुद्धि में वेदज्ञान का आभास होता है

भावार्थ—हम शरीर को स्वस्थ बनाएँ, मन को यज्ञिय भावनाओं से पूर्ण करें और बुद्धि को सूक्ष्म व स्थिर करें, जिससे वेदज्ञान के पात्र हों—वेद के प्रकाश को देखें।

सूक्त-१०

ऋषिः—त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः॥ देवता—आपः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ज्ञानरूप दुग्ध

१८३७. आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥ १॥

'ब्रह्मवर्चसम् आपः' (ऐ० ८.८)। इस वाक्य में 'आपः' का अर्थ ज्ञान की शक्ति है। 'आपो हि पयः' (कौ० ५.४) में आप्यायन करनेवाले ज्ञान को आपः कहा गया है। 'यदापो असौ द्यौस्तत्' (श० १४.१.२.९) इस शतपथवाक्य में आपः और द्युलोक पर्याय हैं। द्युलोक मूर्धा है। एवं 'ज्ञान' व 'आपः' पर्यायवाची है। कौषीतकी में 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' (१८.२)। इन शब्दों में आपः को चतुर्थ देवलोक कहा है। अन्नमयकोश पहला लोक है, प्राणमय दूसरा, मनोमय तीसरा और विज्ञानमय चतुर्थ लोक है। एवं, आपः का अर्थ ज्ञान भी है। प्रस्तुत वेदवाणीरूपी धेनु का ही ज्ञानरूप दुग्ध यह 'आपः' है। ये **आपः**=ज्ञानजल की धाराएँ **हि**=निश्चय से **मयोभुवः**=कल्याण करनेवाली **स्थ**=हों, **ताः**=ये ज्ञानजल की धाराएँ ही **नः**=हमें **ऊर्जे**=बल और प्राणशक्ति में **दधातन**= धारण करें। यह ज्ञान **महे**=हमें महत्त्व प्राप्त करानेवाला हो—हमारे अन्दर (मह पूजायाम्) प्रभु-पूजा की वृत्ति को धारण करनेवाला हो। **रणाय**=यह हमारे जीवन की रमणीयता के लिए हो अथवा

हमें वासनाओं से संग्राम करके ही इनके पराभव के द्वारा **चक्षसे**=हमें प्रभु का दर्शन कराने के लिए हो।

ज्ञान का परिणाम हमारे जीवन में इस रूप में होता है कि ये हमें कल्याण , बल न प्राणशक्ति, महत्त्व—पूजा की वृत्ति, रमणीयता व संग्रामशक्ति और प्रभु-दर्शन प्राप्त करानेवाले बनते हैं। वेदवाणी 'सूनृता धेनु' है तो उसका दूध ऐसा होना ही चाहिए। विज्ञानमयकोश के पश्चात् ही आनन्दमयकोश है। एवं, ज्ञान से ही कल्याण होता है, यह स्पष्ट है। आनन्दमयकोश में आत्मा का निवास है, अतः प्रभुदर्शन भी ज्ञान से ही होगा। ज्ञान से ही हम प्राकृतिक पदार्थों को अपने सुखों का साधन बना पाते हैं। जिस-जिस पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, वही-वही हमारे दुःख का कारण बन जाता है। 'ज्ञान शक्ति है' इसे सिद्ध करने की इस वैज्ञानिक युग में आवश्यकता नहीं है। यह ज्ञान हमें भोगों से बचाकर भी बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न करता है। ज्ञान से लोक में महिमा होती है और हमारी मनोवृत्ति प्रभु-महिमा को देखती हुई प्रभु-प्रवण होती है। इससे हमारा जीवन रमणीय बनता है और हम वासनाओं से संग्राम के लिए भी समर्थ हो पाते हैं।

भावार्थ—हम 'सूनृता धेनु' के 'ज्ञानदुग्ध' का पान करें। इस ज्ञान-दुग्ध का पान करने से ही हम प्रस्तुत तृच के तीन मन्त्रों के ऋषि 'त्रिशिराः' बन पाएँगे। 'त्रयः शिरांसि यस्य' प्रकृति, जीव व परमात्मा तीनों जिसके मस्तिष्क में हैं।

ऋषिः—त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः॥ देवता—आपः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

माता के समान हितकर ज्ञान

१८३८. यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥ २॥

ज्ञान प्रारम्भ में नीरस लगता है—इसकी प्राप्ति बड़े तप व परिश्रम से होने के कारण यह आनन्दमय नहीं लगता, इसीलिए सामान्यतः विद्यार्थी अनध्याय प्रिय होता है, परन्तु जितना-जितना ज्ञान प्राप्त होता है उतना-उतना ही यह रसमय होता जाता है। इनका यह रस 'परिणामे अमृतोपमम्' परिणाम में अमृततुल्य होता है। यह त्रिशिराः=प्रकृति, जीव व परमात्मा—तीनों का ज्ञान प्राप्त करनेवाला—इन ज्ञानदुग्धों को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि **यः**=जो **वः**=आपका **शिवतमः रसः**=अत्यन्त कल्याणकारक रस है **तस्य**=उसका **नः**=हमें **इह भाजयत**=इस मानव-जीवन में भागी बनाइए **इव**=जैसे **उशतीः**=कामना करती हुई **मातरः**=माताएँ बच्चे को दूध पिलाती हैं। माता बच्चे का अधिक-से-अधिक हित चाहती हुई उसे पुष्टिकर दूध पिलाती है, उसी प्रकार यह ज्ञान भी हमारा हित चाहता हुआ हमें अपना अत्यन्त कल्याणकर रस प्राप्त कराए। ज्ञान का शिवतम तत्त्व हमें प्राप्त हो।

ये ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा से प्रवाहित होने के कारण 'सिन्धु' कहलाते हैं (स्यन्दते)। ये सिन्धु दो प्रकार से—ऐहलौकिक व पारलौकिक दृष्टिकोण से—'विज्ञान व ज्ञान' के दृष्टिकोण से—जिसे प्राप्त हुए हैं, वह 'सिन्धुद्वीप' है। इस ज्ञान के द्वैविध्य को ही ईशोपनिषद् में 'अविद्या व विद्या' शब्दों से स्मरण किया है। इन दोनों को प्राप्त करनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि सिन्धुद्वीप वस्तुतः मृत्यु से बचकर अमरता को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—मैं ज्ञानजलों के इहामुत्र—उभयत्र कल्याण करनेवाले रस को प्राप्त करके सचमुच 'सिन्धुद्वीप' बनूँ।

ऋषिः—त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान का परिणाम 'विकास'

१८३९. तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

आपः=हे ज्ञान-जलो! **यस्य**=जिस रस के **क्षयाय**=निवास के कारण आप **जिन्वथ**=हमें प्राणित करते हो, हम **वः**=आपके **तस्मा**=उस रस के लिए **अरं गमाम**=पर्याप्तरूप से प्राप्त हों। वस्तुतः ज्ञान हममें जीवन का संचार करता है—इस ज्ञान से हम सदा अपने को उन्नत होता हुआ अनुभव करते हैं, अतः ज्ञान-जल के रस को हम जितना ही प्राप्त करें, उतना थोड़ा ही है। हे ज्ञान-जलो! आप **नः**=हमें **च**=और **जनयथा**=विकसित करो। हम ज्ञान के द्वारा अपने जीवन का अधिक और अधिक विकास करनेवाले बनें।

ज्ञान का क्रमिक विकास करके हम महान् बनते हैं और उस महान् प्रभु को प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान-जल हमें प्राणित करें और जीवन-विकास करने में सक्षम करें।

सूक्त-११

ऋषिः—उलो वातायनः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु की प्रेरणा

१८४०. वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे। प्र न आयूँषि तारिषत् ॥ १ ॥

'प्रेरणा' शब्द में 'प्र' उपसर्ग व ईर गतौ धातु है—ईर गतौ के स्थान में 'वा गतौ' धातु को लेकर भाव में क्त प्रत्यय करके 'वात' शब्द बना है। इसका अर्थ भी 'प्रेरणा' ही है। अपने इस जीवन में जब कभी धर्म-संशय उत्पन्न होता है, उस समय जो व्यक्ति इस प्रभु-प्रेरणा पर ही आश्रय करता है वह (वात+अयन)='वातायन' कहलाता है। यह अपने सब संशयों व वासनाओं को जलानेवाला होता है—इससे यह 'उल' (उल्=to burn) कहलाने लगता है।

यह 'वातायन उल' प्रभु से प्रार्थना करता है—हे प्रभो! **वातः**=आपकी यह प्रेरणा **भेषजम्**=औषध द्रव्य को **आवातु**=प्राप्त कराए, अर्थात् जितने भी व्यसनरूप मानस रोग हमारे अन्दर उत्पन्न हो जाते हैं आपकी प्रेरणा उनका औषध हो। सब व्यसनों को दूर करके यह प्रेरणा **नः**=हमें **शम्भु**=शान्ति देनेवाली हो **नः**=हमारे हृदय मैं **मयोभु**=कल्याण को भावित करनेवाली हो।

व्यसनों का अभाव, शान्ति व कल्याण की भावना, हृदय में द्वेष आदि का न होना—ये वे बातें हैं जो **नः**=हमारे **आयूँषि**=जीवनों को **प्र-तारिषत्**=खूब लम्बा करते हैं।

संक्षेप में, प्रभु प्रेरणा १. व्यसनों व रोगों का औषध है—प्रभु-प्रेरणा सुननेवाले के समीप व्यसन नहीं फटकते, २. यह प्रेरणा शान्ति प्राप्त कराती है—व्यर्थ की चिन्ताओं से दूर कर चित्त को शान्त करती है, ३. मयोभु=हृदय में कल्याण का भावन करती है—सब प्रकार के द्वेषों से ऊपर उठा देती है और ४. इस प्रकार हमारे जीवनों को दीर्घ करती है।

भावार्थ—हम सदा हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनें।

ऋषिः—उलो वातायनः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु प्रेरणा ही पिता, भ्राता व सखा है

१८४१. उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि ॥ २ ॥

उत=और **वात**=हे प्रभु-प्रेरणे! तू ही **नः**=हमारी **पिता असि**=रक्षक है, पालन करनेवाली है। संशय से आन्दोलित मन में प्रेरणा ही प्रकाश प्राप्त कराती है और हमें विनाश से बचाती है। **उत**=और यह प्रेरणा ही **नः**=हमारी **भ्राता**=धारण व पोषण करनेवाली है। इसके अभाव में हमें चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखता है और हम संशय-समुद्र में ही डूबकर समाप्त हो जाते हैं। **उत**=और यह प्रेरणा ही **नः**=हमारी **सखा**=मित्र है—पाप से बचानेवाली है। इसके अभाव में हम न जाने किन-किन पापों में फँस जाते हैं।

इस प्रकार हे प्रेरणे! **सः**=वह तू **नः**=हमारे **जीवातवे**=जीवन के लिए **कृधि**=सब आवश्यक उपायों को कर। हमपर वासनाओं का आक्रमण होता है और हम उनके शिकार बन जाते यदि इस प्रेरणा ने 'पिता' की भाँति हमारी रक्षा न की होती। इस संसार-समुद्र में कितने ही चमकते विषय-रत्नों ने हमें अत्यधिक बोझल कर डुबो दिया होता, यदि यह प्रेरणा हमें पार लगानेवाले 'भ्राता' का काम न करती (भृ=to bear across)। इस संसार की अश्मन्वती नदी को हम न लाँघ पाते यदि इस प्रेरणा ने सखा बनकर हमारा हाथ न पकड़ा होता। एवं, यह प्रेरणा पिता है, भ्राता है और हमारा सखा है। यह हमें मृत्यु से बचाकर अमृत प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्रभु-प्रेरणा को ही हम अपना जीवन जानें।

ऋषिः—उलो वातायनः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रेरणा में अमरता निहित है

१८४२. यददो वात ते गृहे३ऽमृतं निहितं गुहा। तस्य नो धेहि जीवसे ॥ ३ ॥

हे **वात**=प्रेरणे! **ते गृहे**=तेरे ग्रहण करने में **यत्**=जो **अदः**=वह **अमृतम्**=अमरता या अविनाश **गुहा-निहितम्**=छिपा हुआ सुरक्षित रखा है **तस्य**=उस अमरता को **जीवसे**=जीवन के लिए **नः**=हमें **धेहि**=धारण कराइए।

जो भी व्यक्ति इस प्रेरणा का ग्रहण करता है वह सचमुच उस अमरता का ही ग्रहण कर रहा होता है जो इस प्रेरणा में सुरक्षितरूप से रक्खी हुई है। प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति कभी अधर्म की ओर नहीं झुकता। अधर्म ही वह वस्तु है जो मनुष्य का धारण न कर विनाश करती है। गिरानेवाली होने के कारण ही इसका नाम 'पातक' है। यह अघ—पाप सचमुच अघ—पीड़ा ही है। यह दुरित मनुष्य की बड़ी दुर्गति कर देता है। प्रेरणा इस विनाश, पतन, पीड़ा व दुर्गति से बचानेवाली है। इसी से 'इसमें अमृत छिपा है' ऐसा कहा गया है।

इस प्रेरणा का सुनना जीवन का हेतु है और न सुनना ही मृत्यु का कारण है। जो व्यक्ति वातायन=प्रेरणा को ही अपना अयन बनाता है वह 'उल' होता है—जीवन के सब विघ्नों को भस्मसात् कर देनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रभु-प्रेरणा को सुनें और अमरता का लाभ करें।

सूक्त-१२

ऋषिः—सुपर्णः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सूर्य के तेज का धारण

१८४३. अभि वाजी विश्वरूपो जनित्रं हिरण्ययं बिभ्रदत्कं सुपर्णः ।
सूर्यस्य भानुमृतुथा वसानः परि स्वयं मेधमृज्रो जजान ॥ १ ॥

सुपर्ण—प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला यह वातायन 'सुपर्ण' बन जाता है—बड़े उत्तम ढंग से (सु) आसुर वृत्तियों के आक्रमण से अपना पालन करनेवाला (पर्ण) होता है। यह **वाजी**=शक्तिशाली तथा **विश्वरूपः**=सब पदार्थों का सुन्दर निरूपण करनेवालाहोता है। वस्तुतः शक्ति और ज्ञान इसके दो सुन्दर पंखों के समान होते हैं—इन्हीं से यह ऊपर की ओर उड़ता है, ऊर्ध्वगतिवाला होता है। **जनित्रम्**=विकासवाले **हिरण्ययम्**=तेजोरूप **अत्कम्**=कवच को **अभिबिभ्रत्**=धारण करता हुआ यह सचमुच **सुपर्णः**=सुपर्ण होता है। शक्ति और ज्ञान—दोनों हिरण्मय=तेजोरूप हैं। ये दोनों ही तेज इसके कवच बन जाते हैं। एक तेज इसे व्याधियों से बचाता है तो दूसरा तेज इसे आधियों से बचाता है। एक (शक्ति) शरीर-रोगों के लिए कवच है तो दूसरा (ज्ञान) मानस रोगों के लिए। इस कवच से सुरक्षित यह सचमुच सुपर्ण है।

***सूर्य के तेज को*—ऋतु-था**=समयानुसार प्रत्येक कार्य को करने के कारण **सूर्यस्य भानुम्**=सूर्य के तेज को **वसानः**=धारण करता हुआ यह सुपर्ण **ऋज्रः**=ऊर्ध्व गतिवाला होता है—सदा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता है।

यज्ञमय—यह ऋज्र उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता है का अभिप्राय यह है कि **स्वयम्**=आत्मा से, अपने से **मेधम्**=यज्ञ को **परिजजान**=सर्वतः प्रादुर्भूत करता है, अर्थात् अपने जीवन को यज्ञमय बना डालता है। यज्ञमय जीवन बनाना ही उन्नति करना है। जो जितना-जितना स्वार्थ को जीतकर परार्थ को अपनाता जाता है, वह उतना-उतना उन्नत होता जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा को सुनेंगे तो प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'सुपर्ण' बनेंगे। सब व्यसनों से बचने के कारण शक्ति हमारा एक पंख होगा तो ज्ञान दूसरा। इस शक्ति व ज्ञानमय कवच को धारण करके हम सूर्य की भाँति चमक रहे होंगे। सूर्य की भाँति ही हमारे कर्म भी स्वार्थशून्य हो जाएँगे।

ऋषिः—सुपर्णः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुपर्ण के जीवन की चार बातें

१८४४. अप्सु रेतः शिश्रिये विश्वरूपं तेजः पृथिव्यामधि यत् सम्बभूव ।
अन्तरिक्षे स्वं महिमानं मिमानः कनिक्रन्ति वृष्णो अश्वस्य रेतः ॥ २ ॥

अप्सु=जलों में **रेतः**=वह तेज **शिश्रिये**=निवास करता था **यत्**=जो अब **पृथिव्यां अधि**=इस पार्थिव शरीर में **सम्बभूव**=सम्यक् प्रकट हुआ है, जिसे **विश्वरूपं तेजः**=शरीर में अनेक प्रकार से व्यापक तेज का नाम दिया गया है।

उपनिषद् में हम पढ़ते हैं कि 'आपः रेतो भूत्वा'=जल 'वीर्य' का रूप धारण करके शरीर में रहने लगे। ये जल ही जीव की २४ प्रकार की शक्ति के रूप में हो गये। 'आपोमयाः प्राणाः'=' प्राण

आपोमय हैं' ये शब्द भी ऊपर की भावना को ही दूसरे प्रकार से कह रहे हैं। शरीर में यह शक्ति २४ प्रकार से विभक्त होकर कार्य करती है।

वृष्णः=शक्तिशाली **अश्वस्य**=कार्यों में शीघ्रता से व्याप्त होनेवाले पुरुष का यह **रेतः**=तेज **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **स्वमहिमानम्**=अपनी महिमा को **मिमानः**=निर्मित करता हुआ **कनिक्रन्ति**= प्रभु की महिमा का उच्चारण करता है, अर्थात् यह विश्वरूप तेज १. मनुष्य को शक्तिशाली बनाता है (वृष्णः), २. उसमें स्फूर्ति पैदा करता है, जिसके कारण इसे आलस्य कभी नहीं घेरता (अश्वस्य), ३. इसके हृदय को विशाल बनाता है। विश्वरूप तेजवाला व्यक्ति कभी कृपण व संकुचित हृदय नहीं होता (महिमानम्), ४. यह सदा प्रभु की स्तुति करनेवाला होता है। निराशावाद की मनोवृत्ति से यह सदा दूर रहता है। आशावाद से पूर्ण यह आस्तिक मनोवृत्ति को धारण करता है।

भावार्थ—मैं जलों के ठीक प्रयोग से शक्तिशाली बनूँ, मेरा जीवन शक्ति-सम्पन्न, स्फूर्तिमय, विशाल व पूजा की वृत्तिवाला हो।

ऋषिः—सुपर्णः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्क

१८४५. अयं सहस्रा परि युक्ता वसानः सूर्यस्य भानुं यज्ञो दाधार।
सहस्रदाः शतदा भूरिदावा धर्ता दिवो भुवनस्य विश्पतिः ॥ ३ ॥

अयम्=प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि यह सुपर्ण **युक्ता**=अपने साथ सम्बद्ध **सहस्रा**=हज़ारों व्यक्तियों को **परि**=चारों ओर **वसानः**=आच्छादित करता हुआ और **यज्ञः**=इस प्रकार यज्ञमय जीवनवाला **सूर्यस्य भानुम्**=सूर्य की दीप्ति को **दाधार**=धारण करता है।

सुपर्ण केवल अपना पालन नहीं करता, यह तो अपने आसपास के सभी व्यक्तियों को धारण करने का प्रयत्न करता है। औरों के जीवन को सुखी बनाने के द्वारा ही यह अपने जीवन को सुखी बनाता है। सूर्य का प्रकाश अपने लिए न होकर औरों के लिए होता है, इसी प्रकार इसकी शक्तियाँ भी औरों का धारण करती हैं। परिणामतः यह भी सूर्य के समान तेजस्वी बनता है।

यह **स-हस्रदाः**=प्रसन्नता के साथ औरों को सहायता देनेवाला होता है। **शतदाः**=सौ-के-सौ वर्ष—आजीवन—यह औरों की सहायता करता है। **भूरिदावा**=इसका देने का प्रकार ऐसा होता है कि यह दान औरों का भरण-पोषण बड़े उत्तम ढंग से करता है (भूरि=भृ=धारण-पोषण)।

यह अपने निजू जीवन में **दिवः**=प्रकाश का **धर्ता**=धारण करनेवाला बनता है और **भुवनस्य**= (Abode, Residence) अपने निवास-स्थानभूत इस शरीर का धारण करनेवाला होता है। यह मस्तिष्क को दीप्त रखता है और शरीर को स्वस्थ। इसी का परिणाम है कि यह **विश्पतिः**=सब प्रजाओं का पालन करनेवाला बनता है। जिस व्यक्ति का शरीर स्वस्थ नहीं वह शक्त्यभाव से लोकहित नहीं कर सकता और स्वस्थ व्यक्ति भी मस्तिष्क के प्रकाशमय न होने पर ग़लत दिशा में प्रयत्न करके लाभ के स्थान में हानि कर देता है। स्वस्थ व सज्ञान (सुलझा हुआ) यह सुपर्ण प्रसन्नतापूर्वक जीवनभर उत्तम ढंग से प्रजा के पालन-पोषण में प्रवृत्त रहता है।

भावार्थ—मैं मस्तिष्क में प्रकाश और शरीर में स्वास्थ्य को धारण करूँ, जिससे 'विश्पति' बन पाऊँ।

सूक्त-१३

ऋषिः—वेनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु-दर्शन

१८४६. नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्॥ १ ॥

इस मन्त्र का ऋषि 'वेन' है—प्रबल इच्छावाला। **हृदा वेनन्तः**=हृदय से तेरी प्राप्ति की प्रबल कामना करते हुए व्यक्ति ही हे प्रभो! **त्वा**=आपको **अभ्यचक्षत**=देखते हैं। कैसे आपको?

१. **नाके सुपर्णम्**=मोक्ष-सुख में उत्तम पालन करनेवाले को। जो भी जीव (वेन्=Reflect, consider, worship) उस प्रभु का चिन्तन व स्तुति करता हुआ संसार से ऊपर उठता है—और मोक्षलोक का अधिकारी बनता है, वह प्रभु के उत्तम पालन का भी साक्षात् करता है।

२. **यत् उप-पतन्तम्**=समीप आते हुए आपको। यह वेन जितना-जितना प्रभु का चिन्तन करता है, उतना-उतना प्रभु को समीप आता अनुभव करता है। '**तदु अन्तिके**' वे प्रभु तो मेरे समीप हैं—ऐसा इसे अनुभव होता है।

३. **हिरण्यपक्षम्**=ज्योति का परिग्रह करनेवाले को (पक्ष परिग्रहे)। वे प्रभु ज्योतिर्मय हैं। उनकी समीपता में यह वेन भी अपनी ज्योति को बढ़ता देखता है।

४. **वरुणस्य दूतम्**=श्रेष्ठता के सन्देशवाहक को। यह वेन प्रभु का चिन्तन करता है, इसे वे प्रभु श्रेष्ठता का सन्देश देते प्रतीत होते हैं।

५. **यमस्य योनौ शकुनम्**=संयम के स्थान में शक्ति-सम्पन्न बनानेवाले वे प्रभु हैं, अर्थात् अपने भक्त को संयमी बनाकर वे सशक्त कर देते हैं।

६. **भुरण्युम्**=वस्तुतः वे प्रभु सबका भरण-पोषण करनेवाले हैं।

इस रूप में वेन उस प्रभु का दर्शन करता है।

भावार्थ—मैं चिन्तन करूँ, उपासक बनूँ और प्रभु का दर्शन करूँ।

ऋषिः—वेनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गन्धर्व की स्वर्ग-प्राप्ति

१८४७. ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थात् प्रत्यङ् चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि।
वसानो अत्कं सुरभिं दृशे कं स्वा३र्ण नाम जनत प्रियाणि॥ २ ॥

गन्धर्वः=(गां वेदवाचं धरति) वेदवाणी का धारण करनेवाला यह (गाव इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को संयम में रखनेवाला व्यक्ति, जिसके लिए गत मन्त्र में 'यमस्य योनौ'='संयम के स्थान में' इन शब्दों का प्रयोग हुआ था। यह ज्ञानी व संयमी पुरुष **ऊर्ध्वः**=संसार के विषयों से ऊपर उठा हुआ **अधिनाके**=मोक्ष-सुख में **अस्थात्**=स्थित होता है।

यह गन्धर्व **प्रत्यङ्**=अपने अन्दर **चित्रा**=अद्भुत **अस्य आयुधानि**=अपने अस्त्रों को **बिभ्रत्**=धारण करता है। 'ज्ञान, कर्म व उपासना' ये तीन इसके अस्त्र हैं। इनका अद्भुतत्व यही है कि ये

काम-क्रोधादि सब आसुर वृत्तियों का सुन्दरता व पूर्णता से समापन कर देते हैं। यह गन्धर्व तो इस प्रकार **अत्कम्**=कवच को **वसानः**=धारण किये हुए होता है। यह कवच इसे काम-क्रोधादि के आक्रमण से सदा सुरक्षित करता है और यह गन्धर्व उस **सुरभिम्**=सुन्दर-ही-सुन्दर, देदीप्यमान (Shining) **कम्**=सुखस्वरूप प्रभु को **दृशे**=देखने में समर्थ होता है और **स्वः न नाम**=स्वर्गलोक की भाँति (नाम इति वाक्यालंकारे) **प्रियाणि**=आनन्दों को **जनत**=उत्पन्न करता है।

संक्षेप में संयमी, ज्ञानी पुरुष, 'ज्ञान, कर्म व उपासना' रूप आयुधों को धारण किये हुए मोक्ष सुख में स्थित होता है। वासनाओं से सुरक्षित करनेवाले कवच को धारण किये हुए वह उस सुन्दर, सुखमय प्रभु का दर्शन करता है और स्वर्गीय आनन्दों का अनुभव करता है।

भावार्थ—संयमी जीवन से मैं प्रभुदर्शन का पात्र बनूँ और मोक्षसुख का अनुभव करूँ।

ऋषिः—वेनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्रप्स (Drop) समुद्र (Ocean) को

१८४८. द्रप्सः समुद्रमभि यज्जिगाति पश्यन् गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन्।
भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानस्तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥ ३ ॥

प्रभु की तुलना में जीव उसी प्रकार है जैसे समुद्र की तुलना में एक कण। जीव अणु है। उपनिषद् के शब्दों में '**बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते**', जीव छोटे-से-छोटे कण के समान है। प्रभु सर्वव्यापक हैं, कण की दृष्टि से समुद्र हैं। 'स-मुद्र' इसलिए भी कि सदा आनन्द (मुद) के साथ (स) हैं। जीव तो सुख-दुःख में फिरता रहता है (Drops)—इसी से द्रप्स है। यह **द्रप्सः**=कण-तुल्य अणु जीवात्मा **यत्**=जब **समुद्रम् अभि**=उस व्यापक परमात्मा की ओर **जिगाति**=जाता है तब **गृध्रस्य**=प्रभु-प्राप्ति के लिए अत्यन्त लालायित पुरुष की **चक्षसा**=दृष्टि से **पश्यन्**=प्रभु को देखता हुआ वह **विधर्मन्**=विशिष्ट धर्मों में अपने को स्थापित करता है, सदा व्रतमय जीवन बिताता है।

भानुः=व्रतों से पवित्र हुआ-हुआ वह चमकनेवाला 'वेन' **शुक्रेण**=दीप्त **शोचिषा**=चमक से—ज्ञान की ज्योति से—**चकानः**=चमकता हुआ **तृतीये रजसि**=तीसरे लोक में, अर्थात् तमोगुण से ऊपर उठकर रजोगुण और रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में स्थित हुआ-हुआ यह **प्रियाणि**=सदा प्रिय कर्मों को ही—प्रभु को प्रीणित करनेवाले कर्मों को ही—**चक्रे**=करता है।

अपने कर्मों से प्रीणित करके ही तो पुत्र पिता का प्रिय बनता है। इसी प्रकार यह वेन भी परमपिता प्रभु का अपने प्रिय कर्मों से—सात्त्विक कर्मों से—प्रभु का प्यारा होता है, प्रभु इसे अपनी गोद में लेते हैं और इस प्रकार यह बिन्दु-तुल्य जीव समुद्र-तुल्य प्रभु में छिप जाता है। यह अमृत प्रभु से आवृत हुआ-हुआ दुःखों के नाम को भी नहीं जानता।

भावार्थ—बूँद समुद्र को प्राप्त करती है—मैं प्रभु को प्राप्त करूँ।

इति विंशोऽध्यायः, नवमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ॥

अथैकविंशोऽध्यायः

नवमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः

सूक्त-१

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

एक आदर्श उपासक का जीवन

१८४९. आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः ॥ १ ॥

१. सामवेद का अन्तिम अध्याय होने से यह उपासना का अन्त है। उपासनान्त=उपासना की चरम सीमा Climax। 'एक आदर्श उपासक कैसा होता है?' यह प्रस्तुत मन्त्र का विषय है।

(क) **आशुः**=यह शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है, इसमें ढील नहीं होती। इसका जीवन स्फूर्तिमय होता है।

(ख) **शिशानः**=(शो तनूकरणे) यह निरन्तर अपनी बुद्धि को तीव्र करने में लगा है। इस तीव्र बुद्धि ने ही तो इसे प्रभु-दर्शन कराना है। '**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**'।

(ग) **वृषभः**=यह वृषभ के समान शक्तिशाली होता है। परमात्मा के सम्पर्क में आकर क्या यह निर्बल रहेगा?

(घ) **न भीमः**=भयंकर नहीं होता। शक्ति है, परन्तु सौम्यता। इसकी शक्ति परपीड़न के लिए थोड़े ही है।

(ङ) **घनाघनः**=यह कामादि शत्रुओं का बुरी तरह से हनन करने में लगा है।

(च) **चर्षणीनां क्षोभणः**=मनुष्यों में क्रान्तिकारी विचार देकर—इसने उथल-पुथल मचा दी है। यह गङ्गोत्री में एकान्त, शान्त-जीवन का ही आनन्द नहीं ले रहा।

(छ) **संक्रन्दनः**=(क्रदि आह्वाने) सदा प्रभु का आह्वान कर रहा है। जहाँ प्रभु का नाम घोषित होता है, वहाँ काम थोड़े ही आता है?

(ज) **अनिमिषः**=एक पलक भी नहीं मारता—ज़रा भी नहीं सोता, सदा सावधान alert है, सोएगा तो वासनाओं का आक्रमण न हो जाएगा? पुष्पधन्वा, पुष्पसायक, पञ्चबाण (काम) अपने पाँच बाणों से पाँचों इन्द्रियों को मुग्ध करने का प्रयत्न करता है। यही उसका क्लोरोफार्म सुँघाना है, जिसने सूँघ लिया वह काम का शिकार हो गया। यह उपासक तो जागरूक है।

(झ) **एकवीरः**=यह अद्वितीय वीर है तभी तो इसने इन प्रबल वासनाओं से संग्राम किया है—मोर्चा लिया है।

(ञ) **इन्द्रः**=यह सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता है और

(ट) **शतं सेना साकम् अजयत्**=वासनाओं की सैकड़ों सेनाओं को एकसाथ ही जीत लेता

है अथवा उस प्रभु को साथी बनाकर इन वासनाओं की सेना को जीतता है।

सब वासनाओं को जीतकर यह लोकहित में प्रवृत्त रहता है, तभी 'प्रजापति' कहलाता है?

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हममें उपासक के ये ग्यारह लक्षण घट पाएँ।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

युधिष्ठिर

१८५०. सङ्क्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥ २॥

वासनाओं को जीतना सुगम तो क्या असम्भव-सा प्रतीत होता है। इनके साथ युद्ध करनेवाला मनुष्य 'युधः' है। यह अपने को निरन्तर आगे प्राप्त कराने के कारण 'नरः' (नृ नये) है। यह अपने आत्मा, अर्थात् अपने को एक आदर्श उपासक के रूप में ढालता है और उस आत्मा से वासनाओं का पराभव करता है।

कैसी आत्मा से? (क) **संक्रन्दनेन**=सदा प्रभु का आह्वान करनेवाली आत्मा से। प्रभु के आह्वान ने ही तो इसे सबल बनाना है और वासनाओं को भयभीत करना है। (ख) **अनिमिषेण**=कभी पलक न मारनेवाले से। यह सदा अप्रमत्त रहता है। नाममात्र भी प्रमाद हुआ और वासनाओं का आक्रमण हुआ (ग) **जिष्णुना**=विजय के स्वभाववाले से। यह प्रभु का आह्वान करनेवाला अप्रमत्त जीतेगा नहीं तो क्या हारेगा? (घ) **युत्कारेण**=युद्ध करनेवाले से और (ङ) **दुश्च्यवनेन**=युद्ध से पराङ्मुख न किये जानेवाले से। यह इसलिए भी विजयी होता है कि यह युद्ध से कभी पराङ्मुख नहीं होता। (च) **धृष्णुना**=पराङ्मुख न होने के कारण शत्रुओं का धर्षण करनेवाले से। जो युधिष्ठिर (युधि+स्थिर) युद्ध में स्थिर रहनेवाला होता है वह अनन्त विजय को तो प्राप्त करता ही है। (छ) **इषुहस्तेन**=(इषु—प्रेरणा) प्रभु-प्रेरणा जिसने हाथ में ली हुई है, उससे। यह प्रभु की प्रेरणा को सुनता है और उसके अनुसार हाथों से कार्य करता है, इसलिए यह 'इषुहस्त' कहलाता है। (ज) **वृष्णा**=शक्तिशाली से। प्रभु के उपासक की आत्मा शक्ति-सम्पन्न तो होती ही है।

ऐसे इन्द्र से—आत्मा से ही नर जीता करता है। मन्त्र में कहते हैं कि **तदिन्द्रेण**=इस इन्द्र से **जयत**=शत्रुओं को जीत लो और **तत् सहध्वम्**=इस वासनाओं के समूह को पराभूत कर दो।

भावार्थ—हम अपने में युद्ध में स्थिर रहने की भावना को भरें और विजयी बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा

१८५१. स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।
संसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्यू३ग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता॥ ३॥

सः=वह उपासक **इषुहस्तैः**=प्रेरणारूप हाथों से और **सः**=वह **निषङ्गिभिः**=असङ्ग नामक शस्त्रों से (न=अ, नहीं, सङ्ग=आसक्ति) अनासक्ति से उपलक्षित=मुक्त हुआ-हुआ **वशी**=इन्द्रियों को वश में करनेवाला **गणेन संस्रष्टा**=समाज के साथ मेल करनेवाला—एकाकी जीवन न बितानेवाला

सः=वह **युधः**=वासनाओं से युद्ध करनेवाला **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता उपासक **संसृष्टजित्**=सब संसर्गों को, विषय-सम्पर्कों को जीतनेवाला होता है। विषय-सम्पर्क को जीतकर ही यह **सोमपा**=सोम का पान करनेवाला होता है। **बाहुशर्धी**=सोमपान के कारण यह अपनी बाहुओं से पराक्रम करनेवाला होता है। इन्द्र ने इस सोम का पान करके ही तो कहा था कि 'भूमि को यहाँ रख दूँ या वहाँ रख दूँ।' सोम semen=शक्ति का पान—अपने अन्दर खपाना है। **उग्रधन्वा**=('प्रणवो धनुः') ओम् या प्रणव ही इसका धनुष है, इससे **उग्र**=उदात्त धनुष हो ही क्या सकता है? इस प्रणव के जप से ही इसने वासनाओं को विद्ध करना है।

यह **अस्ता**=शत्रुओं को परे फेंकनेवाला है (असु क्षेपण), परन्तु यह शत्रुओं को परे फेंकने की क्रिया '**प्रतिहिताभिः**'=प्रत्याहृताभिः=इन्द्रियों के वापस आहरण के द्वारा होती है। सामान्यतः शस्त्रों को फेंककर शत्रुओं को भगाया जाता है, परन्तु यहाँ इन्द्रियों को वापस लाकर शत्रुओं को परे फेंका जाता है। 'वापस करना और परे फेंकना' यह काव्य का विरोधाभास अलङ्कार है। उपासक का जीवन भी इस वर्णन के अनुसार काव्यमय है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम अनासक्ति के द्वारा इस संसारवृक्ष का छेदन करनेवाले बनें।

सूक्त-२

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

युद्ध में विजय द्वारा ऊर्ध्वा दिक् का अधिपति बनना

१८५२. बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम्॥ १ ॥

प्रभु जीव से कहते हैं **बृहस्पते**=हे ज्ञान के स्वामिन्! तू **रथेन**=इस शरीररूप रथ के द्वारा **परिदीया**=चमकनेवाला बन (दी=to shine) और आकाश में उड़नेवाला बन, अर्थात् उन्नति की ओर चल। जीव ने उन्नत होने के लिए ज्ञानी बनना है, बिना ज्ञान के किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। यह बृहस्पति उन्नति करते-करते ऊर्ध्वादिक् का अधिपति बनता है। यह अपने शरीररूप रथ के द्वारा ऊर्ध्वगति करनेवाला बनता है (दी=to soar)। यह उन्नति की ओर चलता हुआ '**रक्षोहा**'=रमण के द्वारा (र) क्षय (क्ष) करनेवाली वृत्तियों का संहार करता है। इनका संहार करके ही यह अपनी ऊर्ध्वगति को स्थिर रख पाएगा। यह अपनी यात्रा में आगे बढ़ता है—**अमित्रान्**=द्वेष की भावनाओं को **अपबाधमानः**=दूर करता हुआ। ईर्ष्या-द्वेष से मन मृत हो जाता है—मन के मृत हो जाने पर उन्नति सम्भव कहाँ? हे बृहस्पते! तू **सेनाः**=इन वासनाओं के सैन्य को **प्रभञ्जन्**=प्रकर्षेण पराजित करता हुआ (रणे भङ्गः पराजयः) **प्रमृणः**=कुचल डाल। इस प्रकार **युधा**=इन वासनाओं के साथ युद्ध के द्वारा **जयन्**=विजयी बनता हुआ तू **अस्माकम्**=हमारे दिये हुए इन **रथानाम्**=रथों का **अविता**=रक्षक **एधि**=हो। इस रथ को तू इन राक्षसों, अमित्रों और वासना-सैन्यों का शिकार न होने दे। इसी प्रकार तू इस रथ के द्वारा 'ऊर्ध्वा दिक्' का अधिपति 'बृहस्पति' बन सकेगा।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनकर इस रथ से यात्रा को ठीक रूप में पूर्ण करनेवाले बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जैत्र रथ—विजयी रथ

१८५३. बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः।
अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोवित् ॥ २ ॥

'प्रजापति', अर्थात् नेता को कैसा बनना चाहिए, यह इस मन्त्र में इन शब्दों में बतलाते हैं—

१. **बलविज्ञायः**=तू बल के कारण प्रसिद्ध—known for his vigour तथा

२. **गोवित्**=(गावः=वेदवाचः) वेदवाणियों को जानने व प्राप्त करनेवाला बनकर **जैत्रं रथमातिष्ठ**=विजयशील रथ पर आरूढ़ हो। शरीर ही रथ है जो जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए दिया गया है। जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए बल व ज्ञान दोनों ही तत्त्व आवश्यक हैं। बल रजोगुण का प्रतीक है और ज्ञान सत्त्वगुण का। केवल सत्त्व व केवल रज से नहीं, अपितु दोनों के समन्वय से ही सफलता मिलनी है। इसी बात को मन्त्र में ३.-४. **अभिवीरः अभिसत्वा**=इन शब्दों से पुनः कहा है, वीरता की ओर चलनेवाला और सत्त्व की ओर चलनेवाला। सत्त्व का लक्षण ज्ञान है। एवं, वीरता व ज्ञान का अपने में समन्वय करेवाला ही विजयी बनता है। प्रारम्भ 'बलविज्ञायः'=शक्ति से है और समाप्ति 'गोवित्=' ज्ञान से है। बल और ज्ञान=क्षत्र और ब्रह्म मिलकर हमें विजयी बनाएँगे। वीरता की ओर चलो—सत्त्वगुण की ओर चलो तथा

५. **स्थविरः**=स्थिर मति का बनना। डाँवाँडोल व्यक्ति कभी विजयी नहीं होता। ६. **प्रवीरः**=प्रकृष्ट वीर बनना, कायर नहीं। क्या कायर कभी जीतता है? ७. **सहस्वान्**=सहनशील=Tolerant बनें। छोटी-छोटी बातों से क्षुब्ध हो गये तो सफल न हो पाएँगे। ८.-९. **सहमानः उग्रः**=हम शत्रुओं का पराभव करनेवाले बनें, परन्तु उग्र=उदात्त बने रहें—कमीनेपन पर कभी न उतर आएँ और सबसे बड़ी बात यह कि १०. **सहौजाः**=हम एकता के बलवाले हों—हम परस्पर मिलकर चलें। सारा विज्ञान हमारा कल्याण तभी करेगा जब हम संज्ञानवाले होंगे। 'संघ में शक्ति है', इस तत्त्व को हम कभी भूल न जाएँ। घर में पति-पत्नी का मेल होता है तो वहाँ अवश्य सफलता उपस्थित होती है। ११. **वाजी**='Sacrifice'=त्यागवाला। त्याग के बिना विजय सम्भव नहीं—मेल भी सम्भव नहीं।

एवं, प्रस्तुत मन्त्र में विजय प्राप्ति के ११ तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है। इनको अपनाकर हम सच्चे प्रजापति बनें।

भावार्थ—हमारे जीवन का एक सिरा शक्ति हो और दूसरा ज्ञान। इनके द्वारा हम यथार्थ प्रजापति बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्र क्या करता है? धन के Complex से ऊपर

To follow whom?

A man can do what a man has done

१८५४. गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा।
इमं सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ॥ ३ ॥

प्रभु कहते हैं—हे **सजाताः**=समान जन्मवाले जीवो! **इयम्**=इस इन्द्र के **अनुवीरयध्वम्**=अनुसार तुम भी वीरतापूर्ण कर्म करो। उस इन्द्र के जो १. **गोत्रभिदम्**=(गोत्र=wealth) धन का विदारण करनेवाला है, अर्थात् हिरण्मय पात्र द्वारा डाले जानेवाले आवरण को सुदूर नष्ट करनेवाला है। २. **गोविदम्**=ज्ञान को प्राप्त करनेवाला है। धन के लोभ को दूर करके ही ज्ञान प्राप्त होता है। ३. **वज्रबाहुम्**=जिसकी बाहु में वज्र है, 'वज गतौ' से वज्र बनता है, 'बाहृ प्रयत्ने' से बाहु। वज्रबाहुं की भावना यही है कि गतिशील होने के कारण जो सदा प्रयत्नशील है। ४. **अज्म जयन्तम्**=युद्ध को जीतनेवाला है। निरन्तर क्रियाशीलता ने ही इसे वासना-संग्राम में विजयी बनाया है। ५. **ओजसा प्रमृणन्तम्**=जो (क्रियाशीलता से उत्पन्न) ओज के द्वारा काम-क्रोधादि शत्रुओं को कुचल रहा है। वस्तुतः इन पाँच विशेषताओंवाला व्यक्ति ही इन्द्र है और इस इन्द्र के समान जन्म लेनेवाले सभी को चाहिए कि वे भी इन्द्र के समान ही वीर बनें और संग्राम में शत्रुओं को कुचल डालें। प्रभु कहते हैं कि हे **सखायः**=इन्द्र के समान ख्यानवाले जीवो! **इन्द्रम् अनु**=इस इन्द्र के अनुसार **संरभध्वम्**=दृढाङ्ग Robust बनों, बहादुरी का परिचय दो। इन्द्र असुरों का संहार करता है तुम भी उसके **सजात**=समान जन्मवाले **सखा**=समान ख्यान-(नाम)-वाले होते हुए क्या ऐसा न करोगे? इन्द्र के कर्म सदा बलवाले हैं। क्या तुम निर्बलता प्रकट करोगे? नहीं, तुम भी उसके अनुसार वीर बनो। जो इन्द्र ने किया है वह तुम भी कर सकते हो। तुम भी तो इन्द्र हो—तभी तो महेन्द्र (परमात्मा) के उपासक बने हो। प्रभु का उपासक कायर नहीं होता, अतः वीर बनों, बहादुरी का परिचय दो और वासनारूप शत्रुओं को कुचल डालो।

भावार्थ—हम इन्द्र हैं—हम असुरों का संहार करनेवाले हैं। धन के आकर्षण से हम ऊपर उठेंगे और ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करेंगे।

नोट—यह इन्द्र भी तुम्हारे-जैसा ही एक मनुष्य है, **सजाताः**=तुम इसके समान जन्मवाले हो **सखायः**=तुम इसके समान ख्यानवाले हो। एक ही योनि में तुमने जन्म लिया है, एक ही शिक्षणालय में तुमने शिक्षा पाई है, वह विजेता बना है—उसने धन के complex को जीत लिया है। तुम भी धन से तो नहीं, परन्तु धन के लोभ से ऊपर उठकर वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनो।

सूक्त-३

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

कमाएँ पर जोड़े नहीं

१८५५. अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्यो३ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु॥ १॥

इन्द्रः=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **गोत्राणि**=धनों को **सहसा**=प्रसन्नतापूर्वक (with a smiling face) **अभिगाहमानः**=सर्वतः अवगाहन करता हुआ, अर्थात् सब सुपथों से प्राप्त करता हुआ **अदयः**=(देङ् रक्षणे) उन्हें अपने पास सुरक्षित रखनेवाला नहीं होता। क्या पेट, जो रुधिर बनता है, उस रुधिर को अपने पास रख लेता है? अपने पास न रखने से ही वह वस्तुतः स्वस्थ रहता है। इसी प्रकार यह इन्द्र धनों को कमाता है, उनमें अवगाहन करता है=rolls in wealth, परन्तु उन्हें जोड़कर अपने पास नहीं रख लेता, इसीलिए तो वह प्रसन्न भी रहता है। **वीरः**=यह दानवीर बनता है। धन के प्रति आसक्ति न होने से यह कमाता है और देता है **शतमन्युः**=यह सैकड़ों क्रतुओं व

प्रज्ञानोंवाला होता है। धनों का यह यज्ञों व ज्ञानप्राप्ति में विनियोग करता है।

दुश्च्यवनः=यह अपने इस यज्ञ-मार्ग से सुगमता से हटाया नहीं जा सकता। धन का लोभ इसे अयज्ञिय नहीं बना पाता यह **पृतनाषाट्**=काम-क्रोधादि शत्रु-सेनाओं का पराभव करनेवाला होता है **अयुध्यः**=काम-क्रोधादि इसे कभी युद्ध में पराजित नहीं कर पाते।

यह इन्द्र **प्रयुत्सु**=इन उत्कृष्ट आध्यात्मिक संग्रामों में **अस्माकं सेना**=हमारी दिव्य गुणों की सेनाओं को **अवतु**=सुरक्षित करे। काम-क्रोधादि का पराजय हो, प्रेम व मित्रता की भावना की विजय हो।

भावार्थ—हम धन कमाएँ, परन्तु उसे जोड़ें नहीं, जिससे हमारे दिव्य गुण उसमें नष्ट न हो जाएँ।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवसेनाएँ और उनका सेनापति

१८५६. इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥ २ ॥

देवसेनाएँ—दिव्य और आसुर गुणों को वेद में 'देवसेना' व 'असुरसेना' कहा गया है। ये देवसेनाएँ प्रबल होकर असुरों का पराजय करती हैं। क्रोध पर दया विजय पाती है, लोभ पर सन्तोष व दान, और काम प्रेम के रूप में परिवर्तित हो जाता है। **देवसेनानाम्**=इन देवसेनाओं के, **अभिभञ्जतीनाम्**=जो चारों ओर आसुर भावनाओं का विदारण व भङ्ग कर रही हैं और **जयन्तीनाम्**=आसुरी वृत्तियों पर विजय पाती चलती हैं, **अग्रम्**=आगे **मरुतः यन्तु**=मरुत्—प्राणों की साधना करनेवाले मनुष्य चलें, अर्थात् ये देवसेनाएँ प्राण-साधना करनेवालों के पीछे चला करती हैं। प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष क्षीण होते हैं, मन का मैल नष्ट होता है और गन्दगी में उत्पन्न होनेवाले मच्छरों की भाँति अपवित्रता से जन्म लेनेवाली आसुर वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। एवं, स्पष्ट है कि मरुतों की प्राण-साधना देव-सेनाओं के विजय के लिए आवश्यक है।

आसाम्=इन विजयशील देव-सेनाओं का **नेता**=सेनापति **इन्द्रः**=इन्द्र है। इन्द्र है 'इन्द्रियों का अधिष्ठाता', जो इन्द्रियों का दास न होकर 'हृषीकेश' है। हृषीक=इन्द्रिय, ईश=स्वामी। देवराट् यह इन्द्र ही है। यदि जीभ ने चाहा और हमने खाया, आँख ने चाहा है और हमने देखा, कान ने चाहा और हमने सुना तब तो हम इन इन्द्रियों के दास बन जाएँगे, हम इन्द्र न रहेंगे।

देवसेना के प्रमुख व्यक्ति—इस देव सेना के **पुरः**=प्रथम स्थान में—अग्रस्थान में **एतु**=चलें। कौन?

१. **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति=ज्ञान का स्वामी, देवताओं का गुरु, ज्ञानियों का भी ज्ञानी। दिव्य गुणों में ज्ञान का सर्वोच्च स्थान है। वास्तविकता तो यह है कि ज्ञान के अभाव में ही तो कामादि वासनाएँ पनपती हैं। ज्ञानाग्नि इन्हें भस्म कर देती है। कामादि को भस्म करके ज्ञान मनुष्य को पवित्र बनाता है। यह बृहस्पति ही ऊर्ध्वादिक् का अधिपति है। ज्ञान से ही मनुष्य अध्यात्म उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचता है। देव तो स्वयं दीप्त हैं औरों को ज्ञान-दीप्ति से द्योतित करते हैं। **'देवो दीपनाद्वा द्योतनाद्वा'।**

२. **दक्षिणा**=दान। दान लोभ से विपरीत वृत्ति का नाम है। लोभ व्यसन-वृक्ष का मूल है। दान उसके मूल का अवदान=खण्डन करता है। देव इसीलिए सदा दिया करते हैं, 'देवो दानात्'।

३. **यज्ञः**=दिव्य गुणों की सेना में प्रथम स्थान ज्ञान का है और द्वितीय दान का तो तृतीय स्थान

यज्ञ का है। यज्ञ की मौलिक भावना निःस्वार्थ कर्म है। देव यज्ञशील होते हैं, वे तो हैं ही 'हविर्भुक्'।

४. **सोमः**=सौम्यता चौथा देव है। सौम्यता यह चौथा होता हुआ भी सर्वाधिक महत्त्व रखता है। सारे दिव्य गुणों के होने पर भी यदि यह सौम्यता न हो तो वे सब दिव्य गुण अखरने लगते हैं। गीता में दैवी सम्पत्ति का चरमोत्कर्ष 'नातिमानिता' में है—यहाँ 'सोम'=सौम्य बनने में।

सोम का दूसरा अर्थ vitality=शक्ति semen भी है। मनुष्य ने शक्ति का संयम करके ही दिव्य गुणों को विकसित करना है। यही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म को प्राप्त करने का मार्ग है।

भावार्थ—हम प्राण-साधना करें, जिससे हममें दिव्य गुण उत्पन्न हों। इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें, जिससे देवसेनाओं के सेनापति बनें। ज्ञान, दान, निःस्वार्थता व सौम्यता इन चार दिव्य गुणों को न भूलें।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवों के तीन महारथी

१८५७. इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम्।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्॥ ३ ॥

देवताओं का जयघोष उठे—गत मन्त्र में प्राण-साधना तथा इन्द्रियों के वशीकरण के द्वारा देवसेनाओं की उत्पत्ति, उद्गति व प्रगति का उल्लेख हुआ था। वे असुरों पर विजय पाती हुई आगे बढ़ रही थीं। प्रस्तुत मन्त्र में विजय पानेवाली उन्हीं देवसेनाओं के जयघोष का वर्णन हैं—

१. **वृष्णः इन्द्रस्य**=शक्तिशाली व औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले, जितेन्द्रिय—इन्द्रियों के अधिष्ठाता इन्द्र का तथा २. **राज्ञः वरुणस्य**=(well regulated) अति नियमित जीवनवाले वरुण का, जिसने सब बुराइयों का वारण किया है तथा ३. **आदित्यानां मरुताम्**=अपने अन्दर निरन्तर उत्तमता का ग्रहण करनेवाले (आदानात् आदित्यः) प्राण-साधक मरुतों का (मरुतः प्राणाः) **शर्धः**=बल **उग्रम्**=बड़ा उदात्त व तीव्र होता है।

इन्द्र का विशेषण वृषन् है—जो भी जितेन्द्रिय बनेगा वह अवश्य शक्तिशाली व औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होगा।

वरुण श्रेष्ठ का विशेषण 'राज्ञः' है—उत्तम प्रकार से नियमित जीवनवाला। वस्तुतः नियमित जीवन ही हमें उत्तम बनाता है।

मरुत्—प्राण-साधना करनेवाले आदित्य हैं—अपने अन्दर निरन्तर दिव्यता का आदान कर रहे हैं। आदित्य अदिति-पुत्र हैं—'अदीना देवमाता' के पुत्र हैं। देवमाता इन दिव्य गुणरूप आदित्यों को जन्म देती है।

इन्द्र, वरुण व मरुतों का, जो देवताओं के तीन महारथी हैं, बल (शर्धः) बड़ा उदात्त (उग्रम्) होता है, इन महारथियों का अनुगमन करनेवाले **महामनसाम्**=विशाल मनवाले **भुवनच्यवानाम्**=भुवनों का भी त्याग कर देनेवाले, अर्थात् लोकहित के लिए अधिक-से-अधिक त्याग करने के लिए उद्यत **देवानाम्**=देवताओं का **जयताम्**=जो सदा जय प्राप्त करनेवाले हैं, उनका **घोषः**=विजयघोष **उदस्थात्**=मेरे जीवन में सदा उठे, अर्थात् मेरे जीवन में सदा देवों का विजय हो और असुरों का पराजय।

यहाँ प्रसङ्गवश देवों की दो विशेषताओं का उल्लेख हुआ है एक तो वे 'विशाल मनवाले' होते हैं और दूसरा वे 'अधिक-से-अधिक त्याग के लिए उद्यत' होते हैं। विशाल हृदयता व त्याग के

बिना कोई देव नहीं बन पाता।

भावार्थ—मैं इन्द्र बनूँ, वरुण बनूँ, मरुत् होऊँ। हृदय को विशाल बनाऊँ, सदा त्याग के लिए उद्यत रहूँ।

सूक्त-४

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

आयुधों का उद्धर्षण (Brightening of the weapons)

१८५८. उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत् सत्वनां मामकानां मनांसि।
उद् वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥ १॥

आयुधों का तेज करना—प्रभु ने जीव को इस जीवन-संग्राम में विजयी बनाने के लिए मुख्यरूप से 'शरीररूप रथ, इन्द्रियरूप घोड़े तथा मन जिसमें बुद्धि भी सम्मिलित है' ये आयुध प्राप्त कराये हैं। इन शस्त्रों के सदा तीक्ष्ण व कार्यक्षम रहने पर ही विजय-प्राप्ति सम्भव है। जिस योद्धा के अस्त्र जङ्ग खा जाते हैं वह कभी विजय प्राप्त नहीं किया करता। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु जीव को 'मघवन्' विजय व ऐश्वर्य=उच्च ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाला तथा 'वृत्रहन्'=वृत्रों ज्ञान पर पर्दा डालनेवाले शत्रुओं को मारनेवाला—इन दो शब्दों से सम्बोधन करते हुए संकेत करते हैं कि यदि तूने सचमुच ऐश्वर्य प्राप्त करना है तो इन वृत्रों का विनाश कर। इनके विनाश के लिए अपने सभी आयुधों को चमकाये रख—इन्हें मलिन न होने दे। प्रभु कहते हैं कि हे **मघवन्**=निष्पाप ऐश्वर्यवाले इन्द्र! तू **आयुधानि**=इन शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि आयुधों को **उद्धर्षय**=खूब दीप्त कर। **मामकानाम्**=मेरे भक्त बनकर रहनेवाले, प्रकृति में न उलझनेवाले **सत्वनाम्**=सत्त्वगुणवाले मेरे भक्तों के **मनांसि**=मन (मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार=गौरव की भावना) **उत्**=उत्कृष्ट बनें—दीप्त हों। वस्तुतः मन व अन्तःकरण के अच्छा बने रहने का उपाय यही है कि मनुष्य प्रभु-भक्त बनने का प्रयत्न करे। प्रभुभक्ति से सत्त्वगुण की प्रबलता रहती है और सत्त्वगुण का उत्कर्ष मन को मलिन नहीं होने देता।

इन्द्रियाँ—प्रभु कहते हैं कि हे **वृत्रहन्**=काम का ध्वंस करनेवाले! **वाजिनाम्**=तेरे इन्द्रियरूप घोड़ों के **वाजिनानि**=वेग **उत्**=उत्कृष्ट हों। काम ही तो सर्वमहान् रुकावट है—'वृत्र' है। इसके दूर हो जाने पर इन्द्रियरूप घोड़ों की शक्ति व वेग चमक उठता है।

शरीर—शरीर रथ है। यदि यह कभी रोगाक्रान्त नहीं होता, तो यह अवश्य अपनी जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ता चलता है। प्रभु कहते हैं कि चाहिए तो यही कि **जयताम्**=विजयशील होते हुए **रथानाम्**=शरीररूप रथों के **घोषाः**=विजयघोष **उद्यन्तु**=ऊपर उठें—आकाश को गुँजा दें।

भावार्थ—जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति के लिए हमारे मन, इन्द्रिय व शरीररूप आयुध खूब दीप्त हों।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

आस्तिक मनोवृत्ति व विजय

१८५९. अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ उ देवा अवता हवेषु॥ २॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में चार बातें कही गयी हैं। पहली बात तो यह कि **ध्वजेषु समृतेषु**=ध्वजाओं व पताकाओं को ठीक प्रकार से प्राप्त कर लेने पर **अस्माकम्**=हम आस्तिक बुद्धिवालों का **इन्द्रः**=परमात्मा हो, अर्थात् हम प्रभु को ही अपना आश्रय मानकर चलें। 'ध्वजा' एक लक्ष्य का प्रतीक है। जब हम एक लक्ष्य बना लें तब प्रभु को अपना आश्रय बनाकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जुट जाएँ। वस्तुतः संसार में प्रभु का आश्रय मनुष्य को कभी निरुत्साहित नहीं होने देता। आस्तिक मनुष्य प्रभु को सदा अपनाता है और किसी प्रकार से निरुत्साहित न हो अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता चलता है।

२. प्रभु से दूसरी प्रार्थना यह है कि **अस्माकम्**=हम आस्तिक वृत्तिवालों की **याः**=जो **इषवः**= प्रेरणाएँ हैं—अन्तःस्थित प्रभु से दिये जा रहे निर्देश हैं **ताः**=वे निर्देश और प्रेरणाएँ ही **जयन्तु**=जीतें। प्रभु की प्रेरणा होती है कि 'उषाकाल हो गया, उठ बैठ। क्यों सो रहा है?' उसी समय एक इच्छा पैदा होती है कि कितनी मधुर वायु चल रही है, रात को नींद भी तो पूरी नहीं आई, दिन में सुस्ताते रहोगे, थोड़ा और सो ही लो। सामान्यतः यह इच्छा उस प्रेरणा को दबा देती है और व्यक्ति सोया रह जाता है। इसी को हम वैदिक शब्दों में इस रूप में भी कहते हैं कि दैवी प्रेरणा को आसुर कामना दबा लेती है। हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हमारी प्रेरणाएँ ही विजयी हों—इच्छाएँ नहीं।

३. तीसरी प्रार्थना यह है कि **अस्माकम्**=हम आस्तिक वृत्तिवालों में **वीराः**=वीरता की भावनाएँ न कि कायरता की प्रवृत्ति **उत्तरे भवन्तु**=उत्कृष्ट हों—प्रबल हों। हम कायरता से कोई कार्य न करें। दबकर कार्य करना मनुष्यत्व से गिरना है। हमारे कार्य वीरता का परिचय दें।

४. हे **देवाः**=देवो! **अस्मान्**=हम आस्तिकों को **आहवेषु**=इन संग्रामों में **उ**=निश्चय से **अवत**=रक्षित करो। देव हमारे रक्षक हों। जब हम प्रभु में पूर्ण आस्था से चलेंगे, जब हम सदा अन्तःस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनेंगे, जब हम सदा वीरता के कार्य ही करेंगे तो क्यों देवताओं की रक्षा के पात्र न होंगे। जब मनुष्य अपनी वृत्ति को अच्छा बनाता है और पुरुषार्थ में किसी प्रकार की कमी नहीं आने देता तब वह देवों की रक्षा का पात्र होता है।

भावार्थ—१. जीवन-लक्ष्य को ओझल न होने देते हुए हम प्रभु को अपना आश्रय समझें, २. हममें प्रेरणा की विजय हो न कि इच्छा की, ३. हम सदा वीरतापूर्ण कार्य करें और ४. हम सदा अध्यात्म-संग्रामों में देवों की रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

कामादि की सेना मूर्च्छित हो जाए

१८६०. असौ या सेना मरुतः परेषामभ्येति न ओजसा स्पर्धमाना।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथैतेषामन्यो अन्यं न जानात्॥ ३॥

जब हमपर काम-क्रोधादि अशुभ वासनारूप शत्रु आक्रमण करते हैं, तब कभी काम प्रबल होता है तो कभी क्रोध और कभी लोभ। इस प्रकार परस्पर स्पर्धा-सी करते हुए ये अधिकाधिक उग्र होते जाते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि **असौ**=वह **या**=जो **परेषाम्**=पराये, अर्थात् शत्रुभूत कामादि की **सेना**=फ़ौज **स्पर्धमाना**=परस्पर स्पर्धा-सी करती हुई **नः ओजसा अभ्येति**=हमारी ओर प्रबलता से आती है—हमपर आक्रमण-सा करती है **ताम्**=उस शत्रु-सैन्य को **तमसा**=अन्धकार से **गूहत**= संवृत कर दो। हम कामादि को त्यागनेवाले बनें। मन्त्र में तमस् का विशेषण 'अप-व्रतने' दिया है—उसकी भावना 'न करने के व्रत से' है (अप-away)। हम प्रतिदिन व्रत लें कि 'मैं क्रोध नहीं

करूँगा, काम में न फसूँगा, लोभ से दूर रहूँगा'। यह कामादि से दूर रहने का व्रत ही 'अपव्रत' है। यही तमस्=इनके छोड़ने की प्रबल इच्छा है (तम्=to desire)। 'तम' में अक्रियाशीलता की भी भावना है—कामादि के विषय में मैं अक्रिय बन जाऊँ। मैं इनको इस प्रकार अपने से दूर भगा दूँ **यथा**=जैसे **एतेषाम्**=इनमें से **अन्यः**=एक **अन्यम्**=दूसरे को **न**=नहीं **जानात्**=अनुज्ञात कर सके—अनुगृहीत कर सके।

कामादि का यह स्वभाव है कि ये एक-दूसरे के लिए सहायक होते हैं। 'लोभ' काम को जन्म देता है तो 'काम' क्रोध को पैदा करता है। मैं इनको इस प्रकार छोड़ने का—दूर भगाने का—व्रत लूँ, जिससे इनमें ऐसी भगदड़ मच जाए कि ये अपनी-अपनी रक्षा की चिन्ता में भाग खड़े हों। एक-दूसरे के लिए किसी भी प्रकार से सहायक न हो पाएँ। शत्रु-सैन्य को परेशान करने का उपाय 'अपव्रत' ही है—इनको न करने का दृढ़ निश्चय ही है।

भावार्थ—हम कामादि को अपने जीवन में स्थान न देने का दृढ़ निश्चय करें और इस प्रकार बड़े ओज से—बड़ी प्रबलता से—आक्रमण करती हुई इस शत्रु-सेना का संहार कर दें।

सूक्त-५

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः॥ देवता—अप्वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

लोभ (Desire of attainment) का परिणाम

१८६१. अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥ १॥

लोभ की प्रवृत्ति बड़ी विचित्र है। १. यह कम-से-कम प्रयत्न से अधिक-से-अधिक लेना चाहती है। २. यह प्रवृत्ति आवश्यकता को नहीं देखती। इसमें धन के प्रति लोभ (लुभ=Love)—एक प्रेम-सा होता है, जिसके कारण एक लोभी किसी अन्य बन्धु-बान्धव या प्राणी से प्रेम नहीं कर पाता। ३. इतना ही नहीं यह किसी अन्य की सम्पत्ति को देखकर जलता है—'इसके हृदय में उनके प्रति स्नेह न रहे', यही नहीं; यह उनके प्रति 'दुर्हृद्=अमित्र' हो जाता है और उनको नष्ट करने का प्रयत्न करता है, या स्वयं ही उस ईर्ष्याग्नि में जलता रहता है। एवं, लोभ ईर्ष्याजनक होता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अप्वे**=हे (आप्=प्राप्त करना) अधिक और अधिक धन को प्राप्त करने की इच्छा! तू **अमीषाम्**=इन तेरे शिकार बने हुए लोगों के **चित्तम्**=चित्त को **प्रतिलोभयन्ती**=प्रत्येक ऐश्वर्य के प्रति लुब्ध करती हुई **अङ्गानि गृहाण**=इनके अङ्गों को जकड़ ले—इनको अपने वश में कर ले। लोभाविष्ट हुआ-हुआ मनुष्य इस प्रकार धन का दास बन जाता है कि उसको धनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं सूझता। वह धन के लिए अपने आराम को समाप्त कर देता है—वह धन के लिए अपने बन्धुत्व की बलि दे देता है—आत्मा-परमात्मा के स्मरण का तो प्रश्न ही नहीं रहता। एक ही शब्द उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग से सुनाई पड़ता है—धन-धन और धन। **परा इहि**=हे अप्वे! तू हमसे परे जा—हमारा पीछा छोड़। जो **अमित्राः**=किसी से स्नेह न करनेवाले लोग हैं उनका **अभि-प्र-इहि**=लक्ष्य करके तू खूब गतिशील हो, अर्थात् उन्हें तू प्राप्त कर। उन्हें ही तू **हृत्सु**=हृदयों में **शोकैः**=शोकाग्नियों से **निर्दह**=नितरां जलानेवाली बन। लोभी व ईर्ष्यालु पुरुषों के ही मन जलते रहें। हमपर तो तू कृपा कर, हमसे दूर रह और हमें जलानेवाली न हो।

ये **अमित्राः**=प्राणियों के प्रति स्नेहशून्य हृदयवाले लोग ही **अन्धेन तमसा**=इस अन्धी इच्छा से

(तमस्=Desire) **सचताम्**=संयुक्त हों। यह इच्छा अन्धी तो है ही। साध्य व साधन Ends व means का विचार न करती हुई यह साधन को ही साध्य समझ लेती है और परिणामतः धन की ही उपासक हो जाती है। धन की देवता भग तो अन्धी है—ये भी धन के पीछे अन्धे हो जाते हैं। अच्छा यही है कि इस अन्धी इच्छा से मुक्त होकर हम 'चक्षुष्मान्' बने रहें—अपने लक्ष्य को पहचानें और उसे प्राप्त करने के लिए अग्रसर हों। हे अप्वे! धनाहरणाभिलाषे! तू **परेहि**=कृपया हमसे परे ही रह।

भावार्थ—हम लोभ की भावना से ऊपर उठें, जिससे हृदयों में शोकाग्नि से सन्तप्त न होते रहें।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रो मरुतो वा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

उत्कृष्ट प्रयत्न=प्रशंसनीय श्रम

१८६२. प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥ २ ॥

'नर' शब्द की भावना 'न-रम्'=इस संसार में ही न रम जाने की है। संसार में रहते हुए भी इसमें न फँसना—आवश्यकता से अधिक धन की भावना को अपने में दृढ़मूल न होने देनेवाला मनुष्य ही 'नर' है। ये लोग ही संसार में आकर आध्यात्ममार्ग में भी आगे बढ़ा करते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि **नरः**=अपने को आगे और आगे ले-चलनेवाले मनुष्यो! (नृ नये) **प्रेत**=आगे बढ़ो, यह धन तुम्हारे जीवन-यात्रा के मार्ग में रुकावट बनकर न खड़ा हो जाए। **जयत**=इस विघ्न को जीत लो, बस यही तो सबसे बड़ा विघ्न है। इसका मोहक स्वरूप यह है कि "इसके बिना तुम्हारी संसार-यात्रा नहीं चलेगी, नमक भी तो न मिल सकेगा। कोई बन्धु-बान्धव तुम्हें पूछेगा नहीं, समाज में तुम्हारी प्रतिष्ठा न होगी", परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। धन सीमितरूप में सहायक है, लोभ को जन्म देकर यह महान् विघ्न बन जाता है। वेद कहता है कि **इन्द्रः**=वह सब ऐश्वर्यों का स्वामी प्रभु **वः**=तुम्हें **शर्म यच्छतु**=शरण दे। धन ने क्या शरण देनी। धनों के स्वामी के चरणों की शरण प्राप्त हो जाने पर इस तुच्छ धन का महत्त्व ही क्या रह जाता है?

जब मनुष्य धन का दास नहीं रहता, तब उसे कभी भी टेढ़े-मेढ़े साधनों से नहीं कमाता। वेद का यही आदेश है कि **वः**=तुम्हारे **बाहवः**=प्रयत्न (बाहृ प्रयत्ने) **उग्राः सन्तु**=उत्कृष्ट हों। वस्तुतः धन का दास न रहने पर मनुष्य कभी भी अन्याय्य मार्ग से इसका सञ्चय नहीं करता। वेद कहता है कि प्रभु की शरण पकड़ो—उत्कृष्ट श्रम करो **यथा**=जिससे तुम **अनाधृष्याः**=लोभादि से न कुचले जानेवाले **असथ**=हो जाओ। मनुष्य का यही ध्येय होना चाहिए कि वह कभी अन्याय से अर्थ का संचय करना न चाहे। यही उन्नति का मार्ग है।

भावार्थ—हम आगे बढ़ें, लोभ को जीतें, प्रभु की शरण ग्रहण करें, उत्कृष्ट श्रम करते हुए ही धनार्जन करें।

ऋषिः—पायुर्भारद्वाजः ॥ देवता—इषवः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

लक्ष्यदृष्टि

१८६३. अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।
गच्छामित्रान् प्र पद्यस्व मामीषां कं च नोच्छिषः ॥ ३ ॥

संसार में न फँसने व निरन्तर आगे और आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने सामने एक ध्येय—लक्ष्य रक्खे। लक्ष्य ओझल हुआ और मनुष्य भटका। यह लक्ष्य ही 'शरव्या' है। यह लक्ष्य बड़ा सोच-समझकर बनाया जाए—यह 'ब्रह्मसंशित' ज्ञान से तीव्र किया हुआ हो। मन्त्र में कहते हैं कि **ब्रह्मसंशिते**=ज्ञान से तीव्र **शरव्ये**=हे लक्ष्य! तू **अवसृष्टा**=(अवसृज्=to make, to create) हमारे जीवनों में उत्पन्न होकर **परापत**=खूब दूर बढ़ चल। लक्ष्य के सदा सामने होने पर हमारी तीव्रगति व 'शीघ्र प्रगति' क्यों न होगी? उन्नति का अभाव तो तभी तक था जब तक कोई लक्ष्य नहीं था। लक्ष्य का न होना व लक्ष्य का भूला हुआ होना दोनों एक ही परिणाम को पैदा करते हैं।

'हमारा लक्ष्य क्या हो?' इसका थोड़ा-सा संकेत मन्त्र के उत्तरार्ध में इस प्रकार है कि **गच्छ**=तू जा **अमित्रान्**=स्नेह न करने की भावना को—ईर्ष्या-द्वेषादि की भावना को—(अमित्र दुर्हृद्)—औरों से जलने की भावना को तू **प्रपद्यस्व**=विशेषरूप से आक्रान्त कर (पद गतौ, क्रम-गतौ)। **अमीषाम्**=इन द्वेषादि की निकृष्ट भावनाओं में से **कंचन**=किसी को **मा उच्छिषः**=शेष मत छोड़। तू इन भावनाओं में से एक-एक को ढूँढकर समाप्त कर दे। जो मनुष्य प्रतिदिन आत्मालोचन करता है वह अपने अन्दर छिपे रूप में रहनेवाली इन बुरी भावनाओं को समाप्त करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हमारा जीवन निरुद्देश्य न हो। हम दुर्हृदता की भावना को समूल नष्ट कर दें।

सूक्त-६

ऋषिः—पायुर्भारद्वाजः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

कामादि का संहार

१८६४. कङ्काः सुपर्णा अनु यन्त्वेनान् गृध्राणामन्नमसावस्तु सेना।
मैषां मोच्यघहारश्च नेन्द्र वयांस्येनाननुसंयन्तु सर्वान्॥ १॥

गत मन्त्रों में 'अमित्रों' का उल्लेख हो रहा था। 'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर' ये मनुष्यों के प्रधान अमित्र=शत्रु हैं। इनको नष्ट करना ही मनुष्य का महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ है। मनुष्यों को चाहिए कि इनको दृढ़ निश्चय करके अपने से दूर भगा दे। मन्त्र में इस बात को इस प्रकार कहा है कि **एनान् अनुयन्तु**=इनके पीछे ही पड़ जाएँ, अर्थात् इनको समाप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लें। कौन? १. **कङ्काः**=(कंक्—गतौ, गतेस्त्रयोर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च) ज्ञानी लोग तथा २. **सुपर्णाः**= उत्तम ढंग से अपना पालन करनेवाले। ज्ञानी तथा आसुर आक्रमणों से अपनी रक्षा करनेवाले पुरुष अपने जीवन का यह मुख्य ध्येय बना लेते हैं कि कामादि वासनाओं को अपने में पनपने नहीं देना। वे सब प्रकार से इन्हें नष्ट करने के प्रयत्न में लग जाते हैं। इनके पीछे ही पड़ जाते हैं। वस्तुतः 'ज्ञान और क्रियाशीलता' वे दो मुख्य साधन हैं जो कामादि को समाप्त कर देते हैं। इनमें क्रियाशीलता का बड़ा महत्त्व है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी क्रियाशीलता चाहिए। इससे मन्त्र की समाप्ति पर फिर से कहेंगे कि **एनान् सर्वान्**=इस सब कामादि के **अनु संयन्तु**=पूरी तरह से पीछे पड़ जाएँ। कौन? **वयांसि**=गतिशील व्यक्ति। क्रियाशील मनुष्य पर कामादि का आक्रमण नहीं होता। आलसी व्यक्ति ही इनका शिकार बनता है। सुपर्ण, कङ्क और वयस् ही वस्तुतः इन्द्र कहलाने के योग्य हैं। इन्द्र आत्मा वही है जो अपने को उत्तम ढंग से आसुर आक्रमणों से बचाता है, ज्ञानी और क्रियाशील है।

मन्त्र में कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जीवात्मन्! इस बात का तू ध्यान कर कि **एषाम्**=इन कामादि में से **अघहारः चन**=पाप-प्रवृत्ति को लानेवाला कोई भी **मा मोचि**=मत छूट जाए—मत बच जाए। इन्द्र की मनोवृत्ति यही होनी चाहिए कि कामादि का संहार हो जाए। परन्तु 'इन्द्र' से विपरीत जो 'गृध्र'=(greed गृध्) लालची होते हैं उन **गृध्राणाम्**=लालच—लोभ से आविष्ट व्यक्तियों की **असौ सेना**=यह कामादि की फ़ौज **अन्नम् अस्तु**=अन्न हो—enjoyment की वस्तु हो। वे ही इनमें आमोद-प्रमोद का अनुभव करें। वस्तुतः लोभ ही व्यसनवृक्ष का मूल है। सारे कामज व क्रोधज व्यसन लोभ मूलक ही हैं। लोभ होने पर ही ये पनपते हैं।

इसलिए इन्द्र का मुख्य आक्रमण इस लोभरूप मूल पर ही होता है। वैदिक संस्कृति में यज्ञ की भावना पर अत्यधिक बल इसीलिए दिया गया है कि यह भावना लोभ का प्रतिपक्ष है। 'लोभ समाप्त, तो वासनाएँ समाप्त' इस तत्त्व को समझकर ही दान को महान् धर्म कहा गया है। दान=देना, वस्तुतः सब वासनाओं का दान=खण्डन कर देता है। लोभ का नाश करके ही व्यक्ति प्रजा का अधिक-से-अधिक कल्याण व पालन करता है, इससे वह अपने में शक्ति का भरण करके 'भारद्वाज' कहलाता है और 'पायुः'=अपना रक्षक बनता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें, आसुर भावनाओं से अपनी रक्षा का निश्चय करें और क्रियाशील हों। लोभ को दूर भगाने का प्रयत्न करें और इस प्रकार हम कामादि के शिकार कभी न हों।

ऋषिः—पायुर्भारद्वाजः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

इन्द्र और अग्नि अमित्र-सेना को भस्म कर दें

१८६५. अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रुयतीमभि।
उभौ तामिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति॥ २॥

काम, क्रोध आदि की एक फ़ौज है। यह हमपर सदा आक्रमण करती है और हमारी शक्तियों को छिन्न-भिन्न (Shatter) करती रहती है। ज्ञान के ऐश्वर्यवाला जीव ही इसे नष्ट कर सकता है, बशर्ते कि वह सब वृत्रों—वासनाओं का नाश करनेवाले अग्निरूप प्रभु को अपना साथी बनाये। जीव स्वयं ज्ञान-प्राप्ति आदि उद्योगों में लगा रहे और प्रभु का सदा स्मरण करे तभी इन कामादि का दहन (विनाश) हो सकता है। मन्त्र में इस सारी भावना को इस प्रकार कहते हैं कि हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य से सम्पन्न **इन्द्र**=जीवात्मन्! हे **वृत्रहन्**=वृत्रों के विनाश करनेवाले जीव! तू **अग्निः च**=और यह अग्निरूप परमात्मा **उभौ**=आप दोनों **ताम्**=उस **अमित्रसेनाम्**=कामादि शत्रुओं की सेना को **प्रतिदहतम्**=एक-एक करके जला दो जो **अस्मान् अभिशत्रुयतीम्**=हमारी शक्तियों को नष्ट-भ्रष्ट कर रही है।

वस्तुतः वासनाओं की सेना का विनाश तो तभी होगा जब १. मघवन्=जीव ज्ञान-ऐश्वर्य-सम्पन्न बनेगा। २. वृत्रहन्=इन वासनाओं को नष्ट करने का दृढ़ संकल्प करेगा। ३. अग्निः च=उस प्रभु को अपना अगुआ बनाएगा (अग्रेणीः)। प्रभु को अपना साथी बनाये बिना अकेला जीव इस कार्य में कभी समर्थ नहीं हो सकता।

भावार्थ—प्रभु को अपना सारथि बनाने पर विजय निश्चित है।

ऋषिः—पायुर्भारद्वाजः ॥ देवता—संग्रामाशिषः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

पूर्ण प्रयत्न और कल्याण

१८६६. यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखाइव।
तत्र नो ब्रह्मणस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु॥ ३॥

प्रस्तुत मन्त्र में 'बाणाः' शब्द जीवात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। उपनिषद् में 'प्रणव' को धनुष कहा है, ब्रह्म को 'लक्ष्य' और आत्मा को 'शर' (शरो ह्यात्मा)। वह जीव जो निरन्तर (वण्-to sound) उस प्रभु का गुणगान कर रहा है 'बाण' है। ये 'बाण' प्रभु के नाम जपने में लगे हों और हाथ-पर-हाथ रखकर बैठे हों, ऐसी बात नहीं; वे निरन्तर क्रियाशील हैं। ये हां कामादि शत्रुओं को बुरी तरह से मारनेवाले होने से 'कुमार' है। ये अपने जीवन में वासनाओं के विनाश के लिए बद्ध-प्रतिज्ञ हैं, ये अपनी शिखा को उसी दिन बाँधेंगे जिस दिन अपनी प्रतिज्ञा को पूरा कर लेंगे। इसी से यहाँ मन्त्र में इन्हें 'विशिख' कहा है। जब मनुष्य अपना जीवन इस प्रकार का बनाता है तभी वह ज्ञान का पति, विनाशरहित प्रभु उनका कल्याण करते हैं। **यत्र**=जिस समय में **बाणाः**=प्रभु के नाम जप करनेवाले **सम्पतन्ति**=सम्यक् गतिशील होते हैं, अपने को सदा उत्तम कार्यों में व्याप्त रखते हैं, और इस प्रकार **कुमाराः**=कामादि वासनाओं को बुरी तरह से मारनेवाले होते हैं और **वि-शिखा-इव**=ऐसे प्रतीत होते हैं कि इन्होंने वासना-विजय के लिए प्रतिज्ञा-सी धारण की है और प्रतिज्ञापूर्ति तक अपनी शिखा न बाँधने का निश्चय किया है **तत्र**=उस समय **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का पति परमात्मा **अदितिः**=जिसकी शरण में जाने पर खण्डन या नाश का भय नहीं (अविद्यमाना दितिर्यस्मात्) **नः**=हमें **शर्म**=कल्याण व सुख **यच्छतु**=प्राप्त कराए और अब तो **विश्वाहा**=सब दिन, अर्थात् सदा **शर्म यच्छतु**=वे प्रभु हमें कल्याण प्राप्त कराएँ।

वस्तुतः जिस दिन हम १. वाणाः=प्रभु स्तवन में रत होंगे, २. सम्पतन्ति=उत्तम क्रियाशील होंगे। ३. कुमाराः=वासनाओं को कुचलनेवाले बनेंगे, ४. विशिखा इव—वासनाविनाश के लिए वद्धप्रतिज्ञ होंगे, उसी दिन हम प्रभु की कृपा के पात्र होंगे और कल्याण के भागी होंगे। बिना जीव के पूर्ण प्रयत्न के प्रभु अपने आप ही हमारा कल्याण नहीं कर देते।

भावार्थ—हम वासना-विनाश के लिए पूर्ण प्रयत्न करते हुए प्रभु के कृपापात्र बनें।

सूक्त-७

ऋषिः—शासो भारद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

लोभ, काम व क्रोध का भङ्ग (crushing)

१८६७. वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः॥ १॥

संसार में 'अप्रतिरथ'=अद्वितीय योद्धा (a matchless warrior) तो वही है जो बाह्य शत्रुओं को जीतने की भाँति आन्तर शत्रुओं को कुचलने का ध्यान करता है। कामादि वासनाओं का अनुशासन=

नियन्त्रण करने के कारण यह 'शास' कहलाता है, इसी के परिणामरूप अपने जीवन में शक्ति भरनेवाला होने से यह 'भारद्वाज' है। इसने प्रभु की इस प्रेरणा को सुना है व इस आदेश का पालन किया है—

१. **रक्षः**=अपने रमण के लिए (र) औरों के क्षय (क्ष) की वृत्ति को, **मृधः**=औरों की हत्या कर देने की भावना को तू **विजहि**=विशेषरूप से नष्ट कर डाल। मनुष्य जिस समय अपने आमोद-प्रमोद (enjoyment) को प्रधानता दे देता है तब वह इसके प्रधान साधनभूत धन का दास बन जाता है और सभी टेढ़े-मेढ़े साधनों से धन कमाने लगता है—औरों की हत्या करनी पड़े तो उसमें भी हिचकता नहीं। लोभ उससे क्या पाप नहीं करवा डालता? इसी से इस लोभ की वृत्ति को यहाँ 'रक्षः व मृधः' शब्दों से स्मरण किया है।

२. हे जीव! तू **वृत्रस्य**=ज्ञान के ऊपर पर्दा (आवरण) डाल देनेवाले इस वृत्र वा काम के **हनू**=जबड़ों को **रुज**=तोड़ डाल। काम की शक्ति को नष्ट कर दे। काम तुझपर प्रबल न हो जाए।

३. **वृत्रहन्**=काम का हनन करनेवाले! **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! अब तू **अमित्रस्य**=स्नेह के अभावरूप द्वेष के, **अभिदासतः**=जो तुझे सब ओर से अन्दर व बाहर से उपक्षीण (दसु=क्षये destroy) करता है, इस द्वेष से उत्पन्न **मन्युम्**=क्रोध को **विजहि**=पूर्णरूप से नष्ट कर।

मनुष्य में संकुचित हृदयता के कारण ईर्ष्या-द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है। उत्पन्न होकर यह मनुष्य को नाश की ओर ले-जाती है। वह अन्दर-ही-अन्दर जलता रहता है—क्षीणशक्ति हो जाने से या शक्ति के दुरुपयुक्त होने से वह ऐहलौकिक उन्नति भी नहीं कर पाता। एवं, यह ईर्ष्या उसे अन्दर-बाहर दोनों ओर से हानि पहुँचाती है। क्रोध को जन्म देकर यह उसे जलाती चलती है और सदा अशान्त रखती है। यह द्वेष उत्पन्न इसलिए होता है कि हम औरों के प्रति स्नेह की भावना को जागरित नहीं करते। मन्त्र में इसे 'अमित्र' से उत्पन्न कहा है। सच्चा उपासक सभी से प्रेम करता है और ईर्ष्या का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रभु के सच्चे उपासक बनें। 'लोभ, काम, क्रोध' से ऊपर उठें।

ऋषिः—शासो भारद्वाजः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

तमोगुण का अधरीकरण

१८६८. वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः॥ २॥

प्रभु ने जीव को आदेश दिया था कि 'लोभ, काम, क्रोध' को दूर भगा दे। प्रभु का उपासक इस आदेश को सुनता है और प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हमारी **मृधः**=हत्या करनेवाले इन लोभ, काम, क्रोधादि भावों को **विजहि**=आप पूर्णरूप से नष्ट कर दें। **पृतन्यतः**=सेना के रूप में हमपर आक्रमण करनेवाले इन आसुर भावों को **नीचा यच्छ**=नीचा दिखाओ, अर्थात् युद्ध में हम इनसे हार न जाएँ—हम सदा इनके पराजित करनेवाले बनें।

हे प्रभो! **यः**=जो **तमः**=तमोगुण अथवा अज्ञान **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=सब प्रकार से अपना दास बना लेता है और इस प्रकार हमारे दोनों लोकों का क्षय करनेवाला होता है, उस तम को **अधरं**

गमय=आप इस अध्यात्म-संग्राम में नीचा दिखाइए—पराजित करा दीजिए। आपकी कृपा से मैं इनसे पराजित न होऊँ और आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर इन्हें पराजित करनेवाला बनूँ—**'त्वा युजा वनेम तत्'**=आप मित्र के साथ मैं इन्हें जीत लूँ।

वासनाओं का जीतना आवश्यक है नहीं तो ये हमारा नाश कर देंगी, इनकी विजय प्रभु की सहायता के बिना सम्भव नहीं।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा भक्त इसी रूप में प्रार्थना करता है कि आप कामादि को नष्ट कीजिए। इनके नाश के लिए मेरे तम को दूर कीजिए, अज्ञान के नाश से ही इनका नाश होगा।

ऋषिः—शासो भारद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड् जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

असुरों के महान् बल का पराजय

१८६९. इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ युवानावनाधृष्यौ सुप्रतीकावसह्यौ।
तौ युञ्जीत प्रथमौ योग आगते याभ्यां जितमसुराणां सहो महत्॥ ३॥

इन्द्रस्य=इन्द्र की **बाहू**=दो बाहुएँ हैं। इन्द्र को चाहिए कि **योगे आगते**=प्रयोग का अवसर आने पर **तौ**=उन दोनों भुजाओं का **युञ्जीत**=प्रयोग करे। ये बाहुएँ वे हैं **याभ्याम्**=जिनसे **असुराणाम्**=असुरों का **महत् सहः**=महान् बल भी **जितम्**=जीत लिया जाता है; इनके द्वारा इन्द्र असुरों के महान् बल को भी पराजित कर देता है। वासनाओं को जीतना सुगम नहीं। इनका बल महान् है, इसमें तो शक ही नहीं, परन्तु इनको जीतना आवश्यक भी है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि इन्द्र यदि अपनी दो बाहुओं का समय पर प्रयोग करता है तब ये असुरों का बल भी कुचल दिया जाता है। अब विचारणीय विषय यह है कि इन्द्र की ये दो बाहुएँ हैं क्या? प्रस्तुत मन्त्र में 'योग' तथा 'युञ्जीत' इन शब्दों को देखकर योग-सम्बद्ध प्राण-अपान की ओर ध्यान जाता है कि इन प्राणापानों का प्रयोग करें। प्राणापानों की साधना का महत्त्व योगमार्ग में स्पष्ट है, परन्तु 'बाहु' शब्द 'बाह्र प्रयत्ने' से बनकर संकेत कर रहा है कि ये प्राणापान न होकर 'ज्ञान और श्रद्धारूप दो प्रयत्न हैं जिनके द्वारा इन्द्र को प्रत्येक कर्म करना है। इनसे किया हुआ कर्म ही वीर्यवत्तर होता है। एवं, यहाँ बाहू शब्द से 'ज्ञान और श्रद्धा' ही अपेक्षित हैं। इन्द्र के ये ही दो महान् प्रयत्न हैं—इन्हें अपनाकर ही वह असुरों पर प्रबल हो पाता है। प्रसङ्ग आने पर इन्द्र को इनका ठीक विनियोग करना है। इन्द्र के ये दोनों 'बाहु' कैसे हैं? यह मन्त्र के निम्न शब्दों से स्पष्ट है—

१. **स्थविरौ**=ये स्थविर हैं—मनुष्य को स्थित-प्रज्ञ बनानेवाले हैं। उसकी चंचलता को समाप्त करके उसे स्थिरशील बनाते हैं। २. **युवानौ**=ये ज्ञान और श्रद्धा पाप से पृथक् (यु=अमिश्रण) और पुण्य से संयुक्त करनेवाले हैं (यु=मिश्रण), ३. **अनाधृष्यौ**=ज्ञान और श्रद्धा मनुष्य को विषयों से अधर्षणीय बनाते हैं, ४. **सुप्रतीकौ**=ये दोनों सुन्दर मुखवाले हैं, अर्थात् इन्द्र के जीवन को सुन्दर बनानेवाले हैं, ५. **असह्यौ**=इन्द्र की शक्ति को कोई भी वासना सह नहीं सकती और परिणामतः कुचली जाती है, ६. **प्रथमौ**=ये मनुष्य को प्रथम श्रेणी को प्राप्त करानेवाले हैं। मनुष्यों में प्रथम स्थान 'ब्रह्मा' का है। ये ज्ञान और श्रद्धा अपने आधारभूत मनुष्य को 'ब्रह्मा' ही बना देते हैं। यह मानव-जीवन की सर्वोच्च स्थिति है। ब्रह्मा ही तो देवताओं में प्रथम है, यही उत्तम सात्त्विक गति में प्रथम स्थान रखता है।

भावार्थ—मैं श्रद्धा और ज्ञान को अपनाकर ब्रह्मा की स्थिति को प्राप्त करूँ।

सूक्त–८

ऋषिः—शासो भारद्वाजः ॥ देवता—संग्रामाशिषः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तीन बातें

१८७०. मर्माणि ते वर्मणा च्छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम्।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ १ ॥

व्यवहार—पहली बात यह है कि १. संसार में कितने ही व्यक्ति बड़े संवेदनशील होते हैं, छोटी-सी बात भी उन्हें चुभ जाती है। अंग्रेजी में कहें तो वे बड़े sensitive होते हैं। जैसे थोड़ी-सी चोट से बड़ी वेदना का अनुभव करनेवाले स्थल 'मर्मस्थल' कहलाते हैं, इसी प्रकार ये व्यक्ति भी 'मर्मस्थल'-से ही बन जाते हैं। मन्त्र कहता है कि **ते मर्माणि**=तेरे मर्मस्थलों को **वर्मणा**=कवच से **छादयामि**=ढक देता हूँ—तुझे कुछ कठोर चमड़ी का बना देता हूँ। मनुष्य को संसार के व्यवहार में कुछ कठोर चमड़ी का बनना ही चाहिए। बहुत संवेदनशील व्यक्ति संसार में नहीं चल सकता 'पल में रत्ती, पल में सेर' कैसे जी पाएगा? ऐसा व्यक्ति सदा क्षुब्ध रहता है।

शरीर—दूसरी बात यह है **त्वा**=तुझ **राजा सोमः**—शरीर में दीप्ति देनेवाला (राज दीप्तौ) सोम=वीर्य (Semen) **अमृतेन**=अमरता से **अनुवस्ताम्**=आच्छादित करे, अर्थात् हमारा शरीर वीर्य-शक्ति के कारण मृत्यु व रोगों से सदा दूर रहे। स्वस्थ-शरीर मनुष्य ही तो संसार में आगे बढ़ सकता है। '**मरणं विन्दुपातेन**'=इस शक्ति के अपव्यय के परिणामस्वरूप ही हम जीतेजी मृत-से हो जाते हैं—और हमारा जीवन निरानन्द हो जाता है।

मन—वरुणः=सब बुराइयों को रोकनेवाला प्रभु **ते**=तुझ **उरोः**=विशाल हृदयवाले के लिए **वरीयः**=उत्कृष्ट सुख को **कृणोतु**=करे। हृदय की विशालता में ही पवित्रता व प्रसन्नता है, संकोच में अपवित्रता व खिझ है। विशालता से ही हम वासना को प्रेम में परिवर्तन कर लेते हैं और काम को जीत जाते हैं।

इस प्रकार **जयन्तम्**=जीतते हुए **त्वा**=तुझे **देवाः**=देव **अनुमदन्तु**=उत्साहित करें। जीतनेवाले सदाचारी पुरुष का देव स्वागत करते हैं। पूर्णविजयी ब्रह्म का अतिथि बनता है। प्रथम नम्बर लेनेवाले पुत्र का जैसे माता-पिता स्वागत करते हैं, इसी प्रकार यह विजेता देवों से स्वागत किया जाता है।

भावार्थ—हम अत्यधिक वेदनाशील न हों, शरीर में स्वस्थ व मन में विशाल बनकर देवताओं के प्रिय हों।

ऋषिः—शासो भारद्वाजः ॥ देवता—संग्रामाशिषः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रेम का पाठ पढ़ो (Those who do not love)

१८७१. अन्धा अमित्रा भवताशीर्षाणोऽहयइव।
तेषां वो अग्निनुन्नानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २ ॥

अमित्र वे हैं जिन्होंने (ञिमिदा स्नेहने) स्नेह का पाठ नहीं पढ़ा। यदि ये कुछ भी सोचते तो

इनका व्यवहार ऐसा स्नेहशून्य न होता। छोटों के साथ स्नेह से चलना ही चाहिए, क्योंकि वे न जाने कब तक हमारे साथ रहें। यदि वे छोटी अवस्था में चले गये तो हमें उनके प्रति बोले गये कटु शब्द काटते रहेंगे और उन्होंने सदा बच्चे भी तो नहीं बने रहना। ये कटु शब्द ही उनके हृदयों में हमारे लिए निरादर के भाव में परिणत हो जाएँगे।

अपने बराबरवालों के साथ तो कटु शब्द बोलने ही नहीं चाहिएँ, क्योंकि वे कटु शब्द द्विगुणित होकर हमारे प्रति ही लौटेंगे। इस प्रकार परस्पर वैर बढ़ता चलेगा। वृद्धों के साथ भी कटु शब्द नहीं बोलने, क्योंकि उनका जीवन अब थोड़ा ही तो बचा है, हम उन्हें अन्तिम समय अशान्त क्यों करें? इस प्रकार स्पष्ट है कि अ-मित्र वे ही हैं जो द्वेष के कटु शब्दों के परिणामों को देखते नहीं। वेद कहता है कि **अमित्राः**=कटुता से वर्तनेवालो! **अन्धाः भवत**=क्या अन्धे हुए हो—कटुता का दुष्परिणाम तुम्हें दिखता नहीं? **अ-शीर्षाणः**=तुम्हारा दिमाग़ है या नहीं; क्या विचारशक्ति में तुमने ताला ही लगा दिया है। तुम तो '**अहयः इव**'=साँपों-जैसे हो गये हो। या तो औरों को डसते ही फिरना या फिर अपने विष से स्वयं अन्दर-ही-अन्दर जलना। तुम्हारे जीवन का लक्ष्य भी तो औरों से बदला लेते रहना या फिर अन्दर-ही-अन्दर द्वेषाग्नि से जलते रहना हो गया है।

इस प्रकार के व्यक्तियों के लिए ऐसी व्यवस्था हो कि अग्नि के समान प्रकाश की दीप्तिवाले ब्राह्मण इन्हें द्वेष के मार्ग को छोड़कर प्रेम का मार्ग अपनाने का उपदेश दें, परन्तु यदि अचानक कुछ ऐसे हतवृत्त व्यक्ति हों जो किसी प्रकार के उपदेश से नहीं सुधर सकते हों तब राजा उन्हें दण्डित करे, जिससे प्रजा को उनके क्रोध का पात्र न होना पड़े। वेद कहता है कि **तेषां वः**=उन तुममें से **अग्नि-नुन्नानाम्**=जिनको अग्रणी ब्राह्मणों ने प्रेरणा प्राप्त कराई, परन्तु जिन्होंने उस प्रेरणा को नहीं सुना ऐसे दुष्टों में जो **वरंवरम्**=उत्तम हैं, अर्थात् firstclass rogues हैं, प्रथम श्रेणी के धूर्त हैं, उन्हें **इन्द्रः**=राजा **हन्तु**=दण्डित करे। दण्ड का नियम सदा यही है कि पहले ब्राह्मण समझाए और फिर विवशता में राजा दण्ड दे।

भावार्थ—हम सोचें, समझें और प्रेम का पाठ पढ़ें।

ऋषिः—अप्रतिरथ इन्द्रः॥ देवता—संग्रामाशिषः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'ब्रह्म व शर्म' रूप कवच

१८७२. यो नः स्वोऽरणो यश्च निष्ठ्यो जिघांसति।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरं शर्म वर्म ममान्तरम्॥ ३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अप्रतिरथ इन्द्र' है—यह इन्द्रियों को वश में करनेवाला अनुपम योद्धा हृदय में चल रहे देवासुर संग्राम का ध्यान करते हुए कहता है **यः**=जो भी **स्वः**=अपना, **अरणः**=पराया (परभूत-शत्रुभूत) **च**=और **यः**=जो **निष्ठ्यः**=परदेशी, बाहर का (foreign, exotic) शत्रु बनकर **नः जिघांसति**=हमें मारने की कामना करता है, **तम्**=उसको **सर्वे देवाः**=सब दिव्य भाव **धूर्वन्तु**=नष्ट कर दें। 'काम, लोभ व मोह' ये हमारे 'स्व' (अपनों) की भाँति वर्त्तते हुए हमारा विनाश करते हैं। 'क्रोध, मद व मत्सर' ये अरण (पराये) होते हुए हमें विनाश की ओर ले-जाते हैं और कई बाह्य शत्रु भी किन्हीं स्वार्थों की पूर्ति के लिए समय-समय पर हमपर आक्रमण किया करते हैं। अप्रतिरथ प्रार्थना करता है कि 'मैं अपने हृदय में दिव्य वृत्तियों का विकास करता हुआ इन सब शत्रुओं को समाप्त कर सकूँ। **ब्रह्म वर्म मम आन्तरम्**=ज्ञान मेरा आधार कवच हो। अपने सारे अतिरिक्त समय

को ज्ञान-प्राप्ति में लगाता हुआ मैं इन शत्रुओं से आक्रान्त न किया जा सकूँ। '**शर्म वर्म मम आन्तरम्**'=सदा प्रसन्नता की मनोवृत्ति मेरा आन्तर कवच बने। सब घटनाचक्रों में मैं अपने मन:प्रसाद को नष्ट न होने दूँ। ये 'ब्रह्म और शर्म' मुझे सब शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित करें। इस प्रकार इन शत्रुओं से आक्रमणीय न होता हुआ मैं सचमुच इस मन्त्र का ऋषि 'अप्रतिरथ' बनूँ। यह अप्रतिरथ अपने जीवन में काम को प्रेम से, क्रोध को करुणा से, लोभ को त्याग से, मोह को चेतना से, मद को विनीतता से तथा मत्सर को मुदिता से पराजित करके सचमुच देवराट् इन्द्र बन जाता है।

भावार्थ—हम अपने अतिरिक्त समय को ज्ञान-प्राप्ति में लगाते हुए 'काम, लोभ व मोह' से अपने को बचाएँ तथा मानस सन्तुलन को स्थिर रखते हुए हम 'क्रोध, मद व मत्सर' से अनाक्रान्त होते हुए बाह्य शत्रुओं का शिकार न हों!

सूक्त-९

ऋषिः—जय ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऐन्द्रावायवः

१८७३. मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताढि वि मृधो नुदस्व ॥ १ ॥

यह उपासना वेद का अन्त है, अर्थात् उपासनान्त है—उपासना की चरम सीमा है। सर्वोत्कृष्ट उपासना यही है कि मनुष्य प्रभु के कथनानुसार अपने जीवन को बनाये। प्रभु का उपदेश निम्न नौ शब्दों में दिया गया है। नौ ही तो अंक हैं, वेद में कितने ही स्थानों में जीव के लिए नौ वाक्यों में ही उपदेश दिये गये हैं।

१. **मृगः**=(मृग अन्वेषणे) आत्मनिरीक्षण करनेवाला मृग है। आत्मनिरीक्षण ही उन्नति का प्रथम पग है। इसके विना अध्यात्म उन्नति सम्भव नहीं, इसीलिए शास्त्रकार लिखते हैं कि '**प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः। किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति ॥**' उपनिषत्कारों ने इसी बात को '**आत्मा वारे द्रष्टव्यः**' शब्दों में कहा है। सुकरात ने इसी बात को 'know thyself' इस रूप में कहा। सामान्यतः मनुष्य दूसरों को ही देखता है, अपने को नहीं। दूसरों में दोष दिखने से उनसे घृणा होती है, अपने न दिखने से अभिमान आ जाता है।

२. **न भीमः**=किसी भी प्रकार भयङ्कर न बन। हमारा व्यवहार मृदु हो, न कि क्रूरतावाला।

३. '**कुचरो गिरिष्ठाः**' में विरोधाभास अलंकार है 'भूमि पर चलनेवाला और पर्वत पर ठहरा हुआ', परन्तु 'कुचरः' की भावना यह है कि हम हवाई क़िले न बनाएँ—शेखचिल्ली न बनें और वास्तविक स्थिति को समझकर वर्तें।

४. **गिरिष्ठाः**=सदा वेदवाणी में स्थिति हों। वेदवाणी के अनुसार अपना जीवन बनाएँ। '**उद्यन् सूर्यइव सुप्तानां वर्च आददे**' यह वाक्य पढ़ें तो प्रातःकाल उठने का भी संकल्प करें। '**प्रातर्यावाणो देवाः**' इस वाक्य को पढ़कर प्रातः भ्रमण को महत्त्व दें।

५. **परस्याः परावतः आजगन्थ**=जो तेरा मन दूर-से-दूर भटकता रहता है वह तुझमें ही लौट आये, अर्थात् तू मन को एकाग्र कर। एकाग्रता में दिव्य शक्ति है। मन को पूर्ण एकाग्र कर लेने पर मनुष्य को वेदार्थ दिखने लगता है—वह ऋषि बन जाता है।

६. **सृकं संशाय**=तू अपनी गति को तीव्र कर। इतनी लम्बी जीवन-यात्रा ढिलमिल चाल से पूरी नहीं होगी। **'न मा तमन्न श्रमन्नोत तन्द्रन्न वोचाम'** न तम में चला जाऊँ, न थकूँ, न तन्द्रालु बनूँ और न ही गपशप मारूँ। कल-कल की उपासना न करूँ और तीव्रगति से अपने मार्ग पर चलता जाऊँ।

७. हे **इन्द्र**=जीवात्मन्! **पविम्**=अपनी वाणी को **तिग्मम्**=तीक्ष्ण बना। तेरी वाणी तेजस्वी हो। 'मौनान् मुनिः' कम बोलने से तू मुनि होगा। सत्य से तेरी वाणी में अद्भुत शक्ति आ जाएगी। लौकिक साधु पुरुषों की वाणी अर्थ के अनुसार होती हैं तो आद्य ऋषियों की वाणी के अनुसार अर्थ हो जाता है।

८. **विशत्रून् ताढि**=तू ईर्ष्या-द्वेष आदि की उन भावनाओं को, जो हमारी शक्ति को तितर-बितर (Shattered) कर देने से शत्रु हैं, विशेषरूप से नष्ट कर डाल।

९. **वि मृधः विनुदस्व**=मार डालनेवाली काम आदि की भावनाओं को तू विशेषरूप से दूर धकेल दे उन्हें सात समुद्र पार पहुँचा दे। यह काम 'मार' है—मृध murderer है। इसे तू अपनी ज्ञानाग्नि से भस्म करने का प्रयत्न कर।

इन नौ बातों का पालन करने पर ही तू वस्तुतः 'इन्द्र'=परमैश्वर्यवाला व इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनेगा। तू जय=निरन्तर जयशील होने से सचमुच जय नामवाला होगा। इस प्रकार तू इस मन्त्र का ऋषि 'जय एन्द्र' होगा।

भावार्थ—हम उल्लिखित नौ बातों का पालन करके प्रभु के सच्चे उपासक बनें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

भद्र श्रवण, भद्र दर्शन

१८७४. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ २॥

देवाः=ज्ञान-ज्योति देनेवाले विद्वानो! आपकी उपदेशवाणियों से प्रेरित होकर हम **कर्णेभिः**=कानों से **भद्रम्**=कल्याण व सुखकर शब्दों को ही **शृणुयाम**=सुनें। हम निन्दात्मक बातों को सुनने की रुचि से ऊपर उठ जाएँ। हे **यजत्राः**=(यज+त्रा) अपने सङ्ग व ज्ञानदान से हमारा त्राण करनेवाले विद्वानो! **अक्षभिः**=प्रभु से दी गयी इन आँखों से **भद्रम्**=शुभ को ही **पश्येम**=देखें, हम कभी किसी की बुराई को न देखें। शहद की मक्खी की भाँति सब स्थानों से रस व सारभूत वस्तु को ही लेने का प्रयत्न करें। मल का ग्रहण करनेवाली मक्खी न बन जाएँ। हँस की भाँति दोषरूप जल को छोड़कर गुणरूप दूध का ही ग्रहण करें। सूअर की तरह मल ही हमारे स्वाद का विषय न बन जाए। एवं, शुभ ही सुनें और शुभ ही देखें। परिणामतः अपनी शक्तियों को जीर्ण न होने देते हुए **स्थिरैः अंगैः**=दृढ़ अंगों से तथा **तनूभिः**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीरों से **तुष्टुवांसः**=सदा प्रभु का स्तवन करते हुए उस आयु को **व्यशेमहि**=प्राप्त करें **यत् आयुः**=जो जीवन **देवहितम्**=देव के उपासन के योग्य है, अर्थात् जो अपने कर्त्तव्यों को करने के द्वारा प्रभु की अर्चना में बीतता है। इस प्रकार ही हम प्रशस्त इन्द्रियोंवाले 'गोतम' बनेंगे, और बुराइयों को त्यागनेवालों में गिनती के योग्य बनकर राहूगण होंगे।

भावार्थ—देवों से प्रेरणा प्राप्त करके हम कानों से भद्र ही सुनें, आँखों से भद्र ही देखें तथा

स्थिर अंगोंवाले शरीरों से प्रभु का स्तवन करते हुए देवोपासन योग्य जीवन बिताएँ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः ॥ देवता—विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—विराट्स्थानात्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

कल्याण का मार्ग

१८७५. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।
ओं स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ३ ॥

नः=हमारे लिए **वृद्धश्रवाः**=सदा से बढ़े हुए ज्ञानवाला **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् व सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **स्वस्ति**=कल्याण करनेवाला हो, अर्थात् प्रभुकृपा से हमारा ज्ञान बढ़े। उस प्रज्वलित ज्ञानाग्नि में सब वासनाओं का दहन होकर हमें वास्तविक शान्ति का लाभ हो और हमारी जीवन-स्थिति उत्तम हो। **नः**=हमारे लिए **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण धनों का स्वामी **पूषा**=सबका पोषण करनेवाला प्रभु पोषण के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराता हुआ **स्वस्ति**=कल्याणकर हो, अर्थात् प्रभुकृपा से हम पुरुषार्थ करते हुए आवश्यक धनों की प्राप्ति के द्वारा जीवन की स्थिति को उत्तम कर सकें। **नः**=हमारे लिए **तार्क्ष्यः**=(तृक्ष गतौ) गति में उत्तम—स्वाभाविकी क्रियावाला—पूर्णरूप से निःस्वार्थ क्रियावाला **अरिष्टनेमिः**=अहिंसित मर्यादावाला प्रभु **स्वस्ति**=कल्याणकर हो, प्रभु की भाँति सतत निःस्वार्थ गतिवाले बनकर—सदा मर्यादा में चलते हुए हम कभी हिंसित न हों और इस मर्यादित जीवन में कल्याण-ही-कल्याण प्राप्त करें। **नः**=हमारे लिए **बृहस्पतिः**=बृहत् (बड़े-बड़े) आकाशादि का पति वह प्रभु **स्वस्ति**=कल्याण को **दधातु**=धारण करे। बृहस्पति प्रभु की उपासना करते हुए हम भी बृहस्पति बनें—उदार हृदयाकाशवाले बनें। यह उदारता हमें कृपण (miser) की कृपणता (misery) से ऊपर उठाकर कल्याणमय स्थिति में प्राप्त कराए।

इस प्रकार बढ़े हुए ज्ञानवाले व शक्तिसम्पन्न होकर हम 'गोतम' होंगे—प्रशस्त इन्द्रियोंवाले होंगे और सब बुराइयों को छोड़कर, मर्यादित जीवन को अपनाकर 'राहूगण' होंगे।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हुए १. बढ़े हुए ज्ञानवाले व काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करनेवाले बनें। २. पोषण के लिए आवश्यक धन प्राप्त करें। ३. निरन्तर क्रियाशील जीवन बिताते हुए कभी मर्यादा का उल्लंघन न करें। ४. उदार हृदय बनकर कल्याण को सिद्ध करें।

इत्येकविंशोऽध्यायः, नवमप्रपाठकश्च समाप्तः ॥

इत्त्युत्तरार्चिकः ॥

इति सामवेदभाष्यम् ॥